॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
२९

श्रीविश्वनाथकविराजप्रणीतः

साहित्यदर्पणः

'शशिकला' हिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याकार :—

डॉ॰ सत्यव्रत सिंह

एम. ए., पी-एच. डी.

(अध्यापक : संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय)

प्राक्कथन-लेखक :—

माननीय पं॰ कमलापति त्रिपाठी

(मन्त्री—गृह, शिक्षा तथा सूचना विभाग, उत्तर-प्रदेश)



चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी



॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

२६

श्रीविश्वनाथकविराजप्रणीतः

साहित्यदर्पणः

सविमर्श 'शशिकला' हिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याकार :—

डॉ० सत्यव्रत सिंह

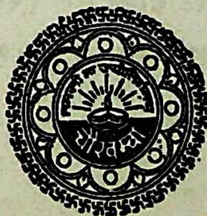
एम. ए., पी-एच. डी.

(अध्यापक : संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय)

प्राक्कथन-लेखक :—

माननीय पं० कमलापति त्रिपाठी

(मन्त्री—गृह, शिक्षा तथा सूचना विभाग, उत्तर-प्रदेश)





चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक-विक्रेता)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),

पोस्ट बाक्स नं० ६९

वाराणसी २२१००१

पञ्चम संस्करण

१९७९

मूल्य
- सम्पूर्ण ३५-००
- १-६ परि० २४-००
- ७-१० परि० १२-००

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक-विक्रेता)

के० ३७/११७ गोपाल मन्दिर लेन

पोस्ट बाक्स नं० १२९

वाराणसी २२१००१

मुद्रक—

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE

VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

29



SĀHITYADARPAṆA

OF

ŚRĪ VIŚWANĀTHA KAVIRĀJA



Edited with the

'SHASHIKALA' HINDI COMMENTARY AND NOTES

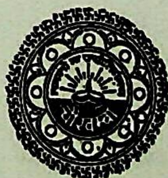
By

Dr. Satyavrat Singh,
M. A. Ph. D.

With a Foreword

By

Hon'ble Pt. Kamalapati Tripathi



CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

© CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(*Oriental Booksellers & Publishers*)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 69
VARANASI 221001

Fifth Edition
1979

Price Rs.		
	Complete	35-00
	1-6	24-00
	7-10	12-00

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURABHARATI PRAKASHAN
(*Oriental Booksellers & Publishers*)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 129
VARANASI 221001





प्राक्कथन

श्रीमान् माननीय पं० कमलापति जी त्रिपाठी
मंत्री—गृह, शिक्षा तथा सूचना विभाग, उत्तर-प्रदेश

स्वतन्त्र भारत की राष्ट्र-भाषा को सम्पन्न बनाने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि उच्चतम ज्ञान, विज्ञान, शिल्प, कला आदि समस्त विषयों के प्रौढ़ एवं उच्च साहित्य के ग्रन्थों से हिन्दी का भाण्डार परिपूर्ण किया जाय। साथ ही यह भी आवश्यक है कि विश्व की समस्त भाषाओं में रचित विशिष्ट कृतियों को हिन्दी के माध्यम से प्रस्तुत किया जाय। इन सब दिशाओं में अभी बहुत कार्य करना है। अभी तो भारतीय भाषाओं के सब महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी हिन्दी में नहीं आ सके हैं। संस्कृत के विशाल साहित्य की समस्त महत्त्वपूर्ण कृतियों का हिन्दीमाध्यम से प्रस्तुतीकरण अभी नहीं हो सका है। यह कार्य हिन्दी के सांस्कृतिक चिन्तन-प्रवाह की अनुकूल गतिशीलता के लिए अनिवार्य है। संस्कृतज्ञ हिन्दी प्रेमियों का यह कर्तव्य हो गया है कि इस महान् राष्ट्रीय अनुष्ठान में निष्ठा के साथ योग दें।

डा० सत्यव्रतसिंहजी इस दिशा में कार्य आरम्भ कर चुके हैं। 'हिन्दी-काव्य-प्रकाश' के प्रणयन के अनन्तर 'हिन्दी-साहित्यदर्पण' उनकी दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति है। संस्कृत साहित्य शास्त्र के ग्रन्थों में 'साहित्यदर्पण' का अपना विशिष्ट स्थान है। दृश्य एवं श्रव्य—उभयविध काव्यों के तत्त्वभूत अङ्गों का सरल शैली में प्रौढ़ और पूर्ण विवेचन इस ग्रन्थ की विशिष्टता है। नाट्य-शास्त्रीय तत्त्वों एवं नायक-नायिकादि का निरूपण उपलब्ध होने से यह ग्रन्थ सर्वांगीण हो गया है। संस्कृत-साहित्य का पठन-पाठन करने वालों में यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रिय एवं व्युत्पत्तिदायक माना जाता है। डा० सत्यव्रतजी ने इसमें अनुवाद मात्र नहीं किया है वरन् भाषात्मक व्याख्याशैली में दुरूह एवं विवादास्पद विषयों की समस्या पर शास्त्रीय ढङ्ग से विस्तृत विवेचन करके इस ग्रन्थ को प्रौढ़, उपयोगी एवं पूर्ण बना दिया है; यही इस ग्रन्थ की विशेषता है। मुझे विश्वास है कि डा० सिंह की प्रस्तुत कृति का हिन्दी में समुचित स्वागत होगा और साहित्य शास्त्र की भारतीय दृष्टि का परिचय देने में इस कृति से पर्याप्त सहायता मिलेगी।

विधान भवन, लखनऊ,
जनवरी २५, १९५८

समर्पणम्

पद्मावतीं नमस्कृत्य कृपास्रोतस्विनीं सदा ।
समर्प्यते कृतिरियं पद्मायै परया मुदा ॥

उपोद्घात

'साहित्यदर्पण' संस्कृत अलङ्कारशास्त्र का एक आवश्यक अङ्ग है। अलङ्कारशास्त्र के पढ़ने वाले 'वाग्भटालङ्कार' अथवा 'चन्द्रालोक' से अपना अध्ययन प्रारम्भ करते हैं और उसके बाद 'साहित्यदर्पण' के अध्ययन से ही इन प्रारम्भिक ग्रन्थों के विषयों का क्रमबद्ध किंवा प्रौढ परिचय प्राप्त करते हैं। 'काव्यप्रकाश' और 'रसगङ्गाधर' का अध्ययन तो अलङ्कारशास्त्र के विशेष ज्ञान के लिये ही हुआ करता है। काव्य-साहित्य के प्रेमी-जन के लिये तो 'साहित्यदर्पण' से बढ़कर और कोई ऐसा अलङ्कार ग्रन्थ है ही नहीं, जिससे सरलता और सरसता के साथ, काव्य-साहित्य के समस्त विषयों का परिचय मिल सके। 'साहित्यदर्पण का जो महत्त्व इसकी रचना के समय था वही आज भी है। 'साहित्यदर्पण' के रचयिता 'विश्वनाथ कविराज' के आत्मज 'अनन्तदास' ने जो यह लिखा था—

'स्वल्पाक्षरः सुबोधार्थः प्रध्वस्ताशेषदूषणः।
साहित्यदर्पणो नाम ग्रन्थः............॥'

वह वस्तुतः आज भी अक्षरशः सत्य है। पहले 'साहित्यदर्पण' 'प्रध्वस्ताशेषदूषण' अवश्य माना गया होगा और इसमें अतिशयोक्ति का कोई बहुत बड़ा पुट भी नहीं। यह एक दूसरी बात है कि 'रसगङ्गाधर' के आविर्भाव के बाद इसमें कुछ कमी दिखायी देने लगी। किन्तु यह बात तो अलङ्कारशास्त्र के सिद्धान्तों के समान उनके प्रतिपादक ग्रन्थों के देश-काल-परिवर्तन आदि से सम्बद्ध है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'साहित्यदर्पण' के अवलोकन से काव्य-साहित्य के समस्त तत्त्वों का साक्षात्कार अनायास सम्भव हो जाता है।

'साहित्यदर्पण' की टीकाओं की संख्या 'काव्यप्रकाश' की टीकाओं की संख्या से बहुत कम है। इसका एक कारण 'साहित्यदर्पण' की सरलता और सुबोधता भी है। अस्तु, 'साहित्यदर्पण' की सबसे पहली 'लोचन टीका' सम्भवतः साहित्यदर्पणकार के आत्मज अनन्तदास की ही लिखी है। दूसरी 'विज्ञप्रिया' नाम की टीका भट्टाचार्य महेश्वर तर्कालङ्कार कृत है। श्री रामचरण तर्कवागीश की लिखी 'साहित्यदर्पणविवृति' और श्री दुर्गाप्रसाद द्विवेदी द्वारा विरचित 'साहित्यदर्पण-विवृतिपूर्ति' साहित्यदर्पण की संस्कृत टीकाओं में अधिक प्रसिद्ध हैं। साहित्यदर्पण की चौथी टीका 'विमला' श्री जीवानन्द विद्यासार की लिखी है। महामहोपाध्याय श्री हरिदाससिद्धान्तवागीश की लिखी, 'कुसुम-प्रतिमा' टीका का भी पूर्व के प्रान्तों में प्रचलन है। साहित्यदर्पण की इन संस्कृत टीकाओं में आचार्य कृष्णमोहन शास्त्री की 'लक्ष्मी' टीका का प्रचार आजकल सर्वत्र अत्यधिक है।

उपर्युक्त संस्कृत टीकाओं के अतिरिक्त, साहित्याचार्य श्री शालग्राम शास्त्री की लिखी 'विमला' नामक हिन्दी व्याख्या भी है। अंग्रेजी में 'साहित्यदर्पण' का व्याख्यान (सम्पूर्ण का नहीं) महामहोपाध्याय काणे ने किया है जो एक प्रामाणिक और विचारपूर्ण व्याख्यान है। 'साहित्यदर्पण' का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

इन सब के रहते भी 'साहित्यदर्पण' की इस 'सविमर्श-शशिकला' हिन्दी व्याख्या की क्या आवश्यकता ? ऐसी बात नहीं। 'साहित्यदर्पण' जैसे काव्यशास्त्र के ग्रन्थ की 'व्याख्या' अनावश्यक नहीं। अलङ्कारशास्त्र के पूर्वापर अध्ययन से ही किसी भी अलङ्कार-ग्रन्थ की मान्यताओं और उपादेयताओं का प्रामाणिक मूल्याङ्कन सम्भव है। इस 'व्याख्या' में यही दृष्टि अपनायी गयी है। विश्वनाथ कविराज ने पूर्वाचार्यों से क्या लिया ? क्या नहीं लिया ? विश्वनाथ कविराज ने पूर्वसंचित अलङ्कारशास्त्र की निधि का कैसा उपयोग किया ? और अपनी ओर से उसमें क्या अर्पित किया ? साहित्यदर्पण की मूल धारणायें कहाँ से निकलती हैं ? और किस ओर जाती हैं ? अलङ्कारशास्त्र के प्रस्थान-ग्रन्थों और अन्य प्रकरण-ग्रन्थों से साहित्यदर्पण का क्या साम्य और क्या वैषम्य है ?— ये और इसी प्रकार के अन्य प्रश्न भी तो 'साहित्यदर्पण' के श्रवण के बाद उसके मनन-चिन्तन में उठा ही करते हैं। इस 'व्याख्या' में यथास्थान और यथासम्भव, इन प्रश्नों के समाधान का प्रयत्न किया गया है। यह प्रयत्न कहाँ तक सफल हुआ है इसकी चिन्ता लेखक का काम नहीं अपितु विचारक पाठकजन का है।

मैं श्रीमान् माननीय पण्डित कमलापति जी त्रिपाठी (मंत्री—गृह, शिक्षा तथा सूचना-विभाग, उत्तरप्रदेश) का हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने अपनी स्वाभाविक साहित्यप्रियता के वशीभूत हो अपना बहुमूल्य समय देकर इस ग्रन्थ का प्राक्कथन लिखकर मुझे अनुगृहीत किया है।

—सत्यव्रत सिंह

संक्षिप्त ग्रन्थालोचन

(विश्वनाथ कविराज का 'साहित्यदर्पण' जिन-जिन विषयों का विवेचन करता है उनमें परिच्छेदानुसार निम्न विषय मुख्य हैं)

प्रथम परिच्छेद

प्रथम परिच्छेद में 'काव्य क्या है ?' इसका विचार है। काव्यस्वरूप के इस विचार में, साहित्यदर्पणकार ने 'काव्यप्रकाश'कार मम्मट को आड़े हाथों लिया है। यहाँ ध्वनिकार भी विश्वनाथ कविराज की कटु आलोचना से नहीं बच पाये हैं। 'रसात्मक वाक्य काव्य है'—यह निष्कर्ष ध्वनिवादी आलङ्कारिकों की आलोचना के परिणामरूप से ही यहाँ निकाला गया है। १–३०

द्वितीय परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद का विषय अभिधा-लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियों का विमर्श है। इस विमर्श में भी काव्यप्रकाशकार की भूल-चूक (?) का प्रदर्शन कराया गया है। ३१–९८

तृतीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद में 'रस' और रसास्वाद' का विशद वर्णन है। इसमें काव्यप्रकाश के साथ-साथ अभिनवभारती के भी रसविषयक विचारों का पर्याप्त स्पष्टीकरण किया हुआ है। इसमें नायक-नायिका-निरूपण का प्रसङ्ग 'दशरूपक' के आधार पर प्रतिपादित है। ९९–२७८

चतुर्थ परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद में 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' रूप के द्विविध रसात्मक वाक्यों अथवा महावाक्यों का विस्तृत निरूपण है। इसमें काव्यप्रकाशकार की 'चित्रकाव्य' सम्बन्धी काव्यभेद-मान्यता पर कटाक्ष किया गया है। २७९–३३७

पञ्चम परिच्छेद

पञ्चम परिच्छेद 'व्यञ्जना' वृत्ति और 'रसनावृत्ति' (रसास्वाद में व्यञ्जना ही रसना कही जाती है) की स्वरूप-मीमांसा का एक महान् और सफल परिश्रम है। इस पर काव्यप्रकाश के 'व्यञ्जना-प्रस्थापन'-प्रकरण की छाप अमिट रूप से पड़ी है। ३३८–३५८

षष्ठ परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद नाट्यशास्त्र के नाट्य-संबन्धी विषयों का एक विस्तृत सार-संक्षेप है। इसमें 'दशरूपक'कार की नाट्यसम्बन्धी मान्यतायें ही प्रायः प्रामाणिक रूप से प्रतिपादित की गयी हैं। ३५९—५५८

सप्तम परिच्छेद

सप्तम परिच्छेद काव्यदोष-निरूपण का परिच्छेद है। इस पर काव्यप्रकाश का पूरा प्रभाव पड़ा है। ५५९—६४१

अष्टम परिच्छेद

अष्टम परिच्छेद गुण निरूपण करता है। इस परिच्छेद में साहित्यदर्पणकार की गुणविषयक अपनी मान्यतायें भी प्रकाशित की गयी हैं। ६४२—६५७

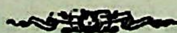
नवम अरिच्छेद

नवम परिच्छेद में 'रीतितत्त्व' का निरूपण है। इसकी विचार-धाराओं के देखते यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि या तो विश्वनाथ कविराज को वक्रोक्तिजीवित का 'रीतिनिरूपण' चतुरस्र नहीं लगा या उन्होंने इस ओर दृष्टि भी नहीं घुमायी। ६५८—६६४

दशम परिच्छेद

दशम परिच्छेद अलङ्कार-निरूपण के लिए सुरक्षित है। इसमें रसध्वनिवादी विश्वनाथ कविराज ने 'अलङ्कारसर्वस्व' का आधार लिया है और आचार्य रुय्यक की भाँति एक आध नये अलङ्कारों का भी आविष्कार और रूपनिर्देश किया है। 'रसवत्' आदि को रसध्वनिवाद की दृष्टि से भी अतिरिक्त अलङ्कार सिद्ध करने में विश्वनाथ कविराज ने आचार्य जयरथ (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनीकार) का सहारा लिया है और आचार्य मम्मट की मान्यताओं को तिलाञ्जलि दे दी है। ६६५—८९२

(इस प्रकार साहित्यदर्पण की रचना काव्यप्रकाश की ही भाँति १ से १० परिच्छेद पर्यन्त चलती है किन्तु काव्यप्रकाश की अपेक्षा अधिक साहित्यिक विषयों पर प्रकाश डालती है।)



भूमिका

साहित्यदर्पण : विवेच्य विषय

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'

'साहित्यदर्पण'कार की काव्य-परिभाषा है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'। इसमें काव्य का लक्षण नहीं अपितु काव्य की प्रशस्ति है। जब कभी हम पढ़ते हैं—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' तो ऐसा ही अनुभव करते हैं मानो हम किसी विशिष्ट काव्य-कृति की अनुभूतियों के आनन्द का प्रकाशन कर रहे हों। जैसे किसी सुन्दर दृश्य के देखने अथवा मधुर ध्वनि के सुनने से 'ओह' अथवा 'अहो' का विस्मयाभिव्यंजक शब्द निकल पड़ता है वैसे ही 'रामायण' और 'रघुवंश', 'महाभारत' और 'किरातार्जुनीय' आदि सुन्दर और सुमधुर कृतियों के अनुभव से 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का 'अहो'कार हो उठता है। इसमें सन्देह नहीं कि जिसे वस्तुतः 'काव्य' अथवा 'कविता' कहते हैं उसकी आनन्दात्मक अनुभूति के देखते 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की परिभाषा उपनिषद्-वाक्य सी लगती है। इसमें काव्य की रहस्यमयी भावनाएँ छिपी हैं, कवियों की कला के रहस्य का संकेत छिपा है, सहृदयों की सहृदयता की कसौटी छिपी हैं और अन्त में विश्वनाथ कविराज की वह रसमयी काव्य-संवेदना छिपी है जो बताना तो चाहती है कि 'काव्य क्या है ?' किन्तु यह न बताकर कविता पर 'कविता' करने लगती है। यदि हम विश्वनाथ कविराज के काव्य-लक्षण को 'काव्य'विषय का 'ध्वनि'काव्य कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं।

इसकी सबसे पहली ध्वनि है—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।' (काव्यप्रकाश : १-४)

कैसे ? ऐसे—यहाँ कहा गया है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' अर्थात् 'काव्य' वह वाक्य है जो रसात्मक हो अथवा जिसका अन्तस्तत्त्व 'रस' हो। किन्तु ऐसा कहने से यह जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि 'वाक्य' क्या वस्तु है जिसमें 'रस'रूप आत्मा का अस्तित्व रहा करता है। कहना पड़ेगा कि 'वाक्य' वह पदकदम्ब है जिसमें आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति के तत्त्व विराजमान रहा करते हैं (वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः—साहित्यदर्पण २-१)। 'वाक्य' की इससे विशद परिभाषा क्या होगी ? यह 'वाक्य' जब रसात्मक हो तो 'काव्य' है। इस प्रकार का 'वाक्य' कैसे 'रसात्मक' हो ? यह एक समस्या है। 'वाक्य' अपने आप 'रसात्मक' नहीं हो सकता चाहे वह कैसे भी साकांक्ष, योग्य और आसत्तिमय पदों का सन्दर्भ अथवा समूह क्यों न हो। 'वाक्य' में 'रस'रूप आत्मतत्त्व का आधान भी कवि का ही काम है। कवि ही 'वाक्य' बनाता है और वही उसमें 'रस'रूप अनुभव-परमार्थ का आधान करता है जो कि अन्त में सहृदय के रसानुभव का स्रोत बन जाता है। जब तक कवि वाक्य-रचना न करे तब तक अपनी रसरूप आत्मा को कहाँ बैठावे ! कहाँ ले जाय ! इसलिए कवि को 'वाक्य' तो बनाना ही पड़ेगा। कवि का काम प्रतिदिन के व्यवहारवाले 'वाक्य' की रचना नहीं अपितु ऐसे 'वाक्य' की रचना है जो कि 'रस'रूप आत्मतत्त्व का 'दिव्यमंगलविग्रह' बन जाय, ऐसा बन जाय, जिसे कम से कम, 'रस'रूप राष्ट्रपति का धर्मासन कहा जाय। ऐसा वाक्य कवि कैसे बनाता है ? यह तो एक अलग प्रश्न है।

किन्तु जब कवि ऐसा 'वाक्य' बना लेता है तब उसके विश्लेषण में यही पता चलता है कि ऐसे 'वाक्य' अथवा 'पदकदम्ब' में अदोषता, सगुणता और औचित्यपूर्ण अलंकारयोजना के काव्यात्मक तत्त्वों का हाथ अवश्य है। तात्पर्य यह है कि अदोष, सगुण और समुचित रूप से अलंकृत शब्दार्थ-युगल ही वह 'वाक्य' है जो कि 'रस'रूप आत्मतत्त्व के अभिव्यञ्जन का साधन हो सकता है अथवा जिसमें कवि 'रस' का आधान किया करता है। 'रसात्मक' होने के लिए, 'रस'रूप आन्तर तत्त्व का आधार होने के लिए, वाक्य को केवल साकांक्ष, योग्य और संसृष्ट पदों का 'कदम्ब' होना अपेक्षित नहीं अपितु अदोष, सगुण और सुरुचिपूर्ण ढंग से अलंकृत होना अपेक्षित है। निष्कर्ष यही निकलता है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की काव्य-परिभाषा से 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणा-वनलंकृती पुनः क्वापि' का काव्य-लक्षण ध्वनित होता है जिसमें कवि की कृति के रूप में 'काव्य' का रहस्य निर्दिष्ट है।

कवि की कृति में ही 'रसयोग' की भी कला का स्थान है क्योंकि 'रसयोजना' के अभाव में वाक्य का रसात्मक होना असंभव है। हम जिसे 'रसात्मक' मान बैठें वह वाक्य काव्य हो या न हो किन्तु कवि जिस वाक्य में 'रसयोजना' करता है वह वाक्य 'रसात्मक' अवश्य है और 'रसात्मक' होने के नाते 'काव्य' तो है ही। वस्तुतः कवि वही है जो 'रससमाहितचित्त' हुआ करता है और 'रससमाहितचित्त' होकर ही शब्दार्थ-रचना में तत्पर हुआ करता है। 'रससमाहितचित्त' रचनाकार की रचना सर्वत्र अलंकार-योजना को अनावश्यक समझती है। माधुर्य आदि गुण तो कवि की 'रससमाधि' के कारण उसकी रचना में अवश्यम्भावी हैं, जिन्हें रस के अपकर्षकारक दोष कहते हैं वे या तो कवि की शक्ति अथवा उसकी रससमाधि के प्रभाव से उसकी रचना के पास फटकते ही नहीं या यदि यदा-कदा लुकते छिपते आ भी जायँ तो उनका पता नहीं चलता और इसलिए वे खटकते भी नहीं। फिर कवि की 'शक्ति' में 'व्युत्पत्ति' को भी तो वश में करने की शक्ति निहित है।

कहने का अभिप्राय यह है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की काव्य-परिभाषा अपनी उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का संकेत करती रहती है जिसमें काव्य अदोष, सगुण और उचित रूप से अलंकृत शब्दार्थ-सन्दर्भ के रूप में दिखायी देता है।

इस काव्य-परिभाषा की दूसरी ध्वनि है—**'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** (रस-गंगाधर : काव्य-लक्षण)। यह ध्वनि वस्तुतः इस काव्य-परिभाषा के ऐतिहासिक विकास की सूचना है। बात यह है कि जब रसात्मक 'वाक्य' को काव्य कहा जाय तब 'वाक्य' के रचनात्मक उपकरण तक पहुँचना आवश्यक हो जाता है। 'रस' से बढ़कर रमणीय अर्थ और क्या हो सकता है? यह रमणीय अर्थ, जिसे 'रस' कहते हैं, काव्य की आत्मा है। इसलिए 'रसात्मक वाक्य' को काव्य कहने से यही अभिप्राय निकलता है कि 'रमणीयार्थप्रतिपादक वाक्य' काव्य है। यह 'वाक्य' पद-समूह है किन्तु समूह तो 'पद' का ही समूह है इसलिए यदि रमणीय अर्थ के प्रतिपादक 'पद' को काव्य कहा जाय तो आपत्ति क्या? और यदि 'पद' के बदले 'शब्द' कहा जाय, जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा ही है, तब तो सोने में सुगन्ध आ गयी। 'पद' से वर्णध्वनियों के उस संहतक्रम-स्वरूप का अभिप्राय है जो कि अर्थ-प्रतिपादक हुआ करता है किन्तु 'शब्द' में उन वर्ण-ध्वनियों की संगीत-माधुरी और चित्र-वैचित्री का भी रहस्य छिपा है जिसमें रसाभिव्यञ्जन की तन्मात्रायें रहा करती हैं। और सभी कवि अथवा काव्यालोचक यही मानते हैं कि काव्य का परमाणु शब्द अथवा वर्णध्वनि है जिसके आधार पर रसानुकूल पदरचना अथवा शब्दार्थ-योजना

की जाया करती है और जिसके विश्लेषण में, कविता में सङ्गीतात्मकता अथवा चित्रात्मकता की विशेषताओं का विश्लेषण किया जा सकता है।

'रसात्मकता' का विश्लेषण कीजिए। क्या कीजियेगा? यही कहियेगा कि 'विभावादियोजना' की गयी है। 'विभावादियोजना' किस साधन से की गयी? 'पद' के द्वारा की गयी। 'पद' एक दृष्टि से अर्थ का प्रतिरूप है और दूसरी दृष्टि से वर्ण-ध्वनियों और उनकी विशेषताओं का आधार है, शब्द है। अब यह स्पष्ट है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की समीक्षा करते-करते 'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' के निष्कर्ष तक पहुँच गये। किन्तु क्या काव्य का यही लक्षण किया जाय कि 'काव्य रसात्मक वाक्य है'? रसिकों की रस-संवेदना की दृष्टि से तो यही काव्य-लक्षण चतुरस्र लगता है। किन्तु कवि की रस-योजना की दृष्टि से इसे समञ्जस नहीं माना जा सकता। कवि की रस-योजना की दृष्टि से तो 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' को ही काव्य का निर्दुष्ट लक्षण मानना पड़ जाता है और यदि दोनों दृष्टियों की समन्वयात्मक दृष्टि अपनायी जाय तब 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' के काव्य-लक्षण में ही पूर्णता प्रतीत होती है। वैसे तो भगवान् विष्णु को 'शब्दमूर्तिधर' कहा गया है किन्तु कविजन शब्द-मूर्तिधर विष्णु की उपासना के रूप में काव्य नहीं रचा करते। कविजन की देवी वाग्देवता सरस्वती है और उसकी सबसे बड़ी विशेषता 'वीणा-सङ्गीत' है। यह 'वीणा-सङ्गीत' वर्ण-ध्वनियों की मधुरता और ओजस्विता एवं प्रसन्नता का एक 'रूपक' है। सरस्वती की कृपा से ही, जैसा कि कवियों का विश्वास है, कविता रची जाती है। सरस्वती की सबसे बड़ी कृपा यही हो सकती है कि वह किसी कवि को अपनी वीणा सुना दे। वैसे तो सरस्वती की वीणाझङ्कार सर्वत्र हो रही है और सदा से हो रही है किन्तु उसे सुन सकने का भाग्य विरलों का ही है। किन्तु जो कवि उसे सुना करता है उसका ध्यान पदों की अपेक्षा वर्णध्वनियों पर ही अधिक जमा रहा करता है। सरस्वती की शब्द-वीणा सुनकर कवि उसका स्वयं अभ्यास करता है और उसकी कविता में उसकी शब्दवीणा की ऐसी झङ्कार पैदा हो जाती है जो 'रस' के अवतार की 'माङ्गल्य शङ्ख-ध्वनि' सी लगा करती है।

इसमें सन्देह नहीं कि 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' में कवि की उस शब्दवीणा का संकेत किया जा रहा है जो कि 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' की परिभाषा के रूप में झलक उठता है अथवा शब्दवीणा की उस वादन-शैली की सूचना दी जा रही है जिसे 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणा-वनलंकृती पुनः क्वापि' के मन्त्र की साधना के रूप में समझा जा सकता है।

खास बात तो यह है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का काव्य-लक्षण कुछ ऐसा विचित्र है कि जब तक इसका भावनात्मक निरूपण करते रहिये तब तक तो बड़ा भावपूर्ण और अर्थ-निर्भर लगता रहेगा किन्तु जब बौद्धिक विश्लेषण के अणुवीक्षण-यन्त्र से देखिये तब इसके तत्त्व कपूर की भाँति उड़ते दिखायी देने लगेंगे। कारण यह है कि यह 'काव्य'लक्षण काव्य के उपकरण-तत्त्वों, जैसे कि अलङ्कार, गुण, दोषाभाव और रीति को वाक्य की 'रसात्मकता' का उपकरण नहीं सिद्ध करता अपितु 'रसात्मक वाक्य' का उत्कर्षाधायक मात्र मान बैठता है—'दोषास्तस्यापकर्षकाः। उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालङ्काररीतयः'—साहित्यदर्पण १-३। अलङ्कार, गुण और रीति को यदि रसात्मक वाक्य अथवा 'काव्य' का उत्कर्षाधायक तत्त्व ही माना जाय तब 'प्रतिभा' को भी तो काव्य का उत्कर्षाधायक तत्त्व ही मानना पड़ेगा न कि उत्पादक तत्त्व अथवा परम तत्त्व! यह तो 'कविप्रतिभा' है जो क्या शब्दग्राम, क्या अर्थसार्थ, क्या अलङ्कारतन्त्र और क्या उक्तिमार्ग— सब कुछ को कवि हृदय में प्रतिभासित किया करती है—

'या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरुद्र-कुमारदासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते, केचन महाकवयोऽपि देशद्वीपान्तरकथापुरुषादिदर्शनेन तत्रत्यां व्यवहृतिं निबध्नन्तिस्म।' (राजशेखर : काव्यमीमांसा : ४र्थ अध्याय)

यह कैसा काव्यलक्षण जिससे कविप्रतिभा भी काव्य का उत्कर्षाधायक तत्त्व बना दी जाय ?

इतना ही क्यों ? इस काव्यलक्षण से काव्य के भेदों का निष्कर्ष निकालना असम्भव है। 'लक्षण' ऐसा होना चाहिये जिससे वस्तु का सामान्य स्वरूप पहचान लिया जाय और जो वस्तु के विशेषों अथवा भेदों में भी अनुगत हो सके। यह काव्यलक्षण 'काव्यसामान्य' का लक्षण कदापि नहीं हो सकता क्योंकि इसमें 'काव्यविशेष' की ही पहचान दी हुई है। यह काव्यविशेष और कोई काव्य नहीं अपितु रसध्वनिकाव्य ही अथवा रसादिध्वनिकाव्य ही हो सकता है। तब 'काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यं चेति द्विधा मतम्' (साहित्यदर्पण ४. १) कैसे कह दिया गया ? बात यह है कि पहला काव्यप्रकार अर्थात् रसादिध्वनिरूप काव्यप्रकार तो लक्षण में ही आ गया है। उसे लक्षण से बाहर कैसे किया जा सकता है और दूसरे काव्यप्रकार अर्थात् 'गुणीभूतव्यङ्ग्य'रूप काव्यप्रकार को 'रसात्मक वाक्य'रूप भी एक साँस में कैसे कहा जा सकता है। 'गुणीभूतव्यङ्ग्य'काव्य का वह भेद और वस्तुतः उस भेद का भी एक अंश ही रसात्मक कहा जा सकता है जिसे 'इतराङ्ग' व्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य कहा गया है—

(इतराङ्गमितरस्य रसादेरङ्गं रसादिव्यङ्ग्यम् , यथा—

'अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥'

अत्र श्रृङ्गारः करुणस्याङ्गम्—साहित्यदर्पण : ४. १३)।

फिर कवि-परम्परा से चले आते शब्दचित्र और अर्थचित्र की रचनाओं को कहाँ रखा जायगा ? इन्हें काव्य तो कहा नहीं जा सकता क्योंकि ये ऐसे वाक्य हैं जो रसात्मक नहीं प्रतीत हुआ करते। इनके लिये अकाव्य की एक नयी श्रेणी बनानी पड़ेगी। यदि यह कहा जाय कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' में ही यह भी कह दिया गया है कि 'वाक्यमरसात्मकमकाव्यम्' और इसलिये 'चित्रकाव्य' के लिये कोई चिन्ता नहीं, तब भी इतना तो पूछना ही पड़ेगा कि बड़े-बड़े आलङ्कारिक क्योंकर शब्दचित्र और अर्थचित्र की रचनाओं को 'कविकृति' मानते आये हैं ? 'कवेः कर्म काव्यम्'—काव्य वह है जो कवि की कृति है अथवा कविता-कला द्वारा उत्पाद्य कलात्मक वस्तु है। कविकृति के रूप में जैसे 'रसात्मक वाक्य' की पहचान काव्यमर्मज्ञता की एक परीक्षा है वैसे ही 'चित्रात्मक वाक्य' की भी पहचान काव्यमर्मज्ञता की दूसरी परीक्षा है। जो आलंकारिक दूसरी परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकता है वही पहली परीक्षा में बैठ सकता है। दूसरी परिक्षा में बैठना ही 'आलङ्कारिकता' का पहला अभ्यास है। इसमें बैठने का अर्थ यह नहीं कि इसे तुच्छ समझा जाय अपितु यह है कि इसकी उपयोगिताओं का पूरा-पूरा लाभ उठाया जाय। तभी तो काव्यप्रकाशकार ने अवर, मध्यम और उत्तम काव्य का श्रेणीविभाग मन में रखते 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' के लक्षण में काव्य-सामान्य का स्वरूप निर्देश किया है। और चलिये—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' अवश्य कहिये किन्तु फिर 'साक्षात् रसात्मकम्' और 'परम्परया रसात्मकम्' का भी अभिप्राय मन में

रखिये, नहीं तो, इस काव्यलक्षण से 'रसध्वनि' और गुणीभूतव्यङ्ग्य'रूप काव्य-विशेषों अथवा काव्य-भेदों की संगति कैसे बैठ पायेगी ? 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का काव्यलक्षण 'ध्वनि'काव्य से तो सर्वथा संगत कदापि नहीं माना जा सकता क्योंकि 'ध्वनि'काव्य का लक्षण है—

'वाच्यातिशयिनी व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम्। वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यङ्ग्यार्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ध्वनिर्नामोत्तमं काव्यम् !

भेदौ ध्वनेरपि द्वावुदीरितौ लक्षणाभिधामूलौ।
अविवक्षितवाच्योऽन्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च ॥'

(साहित्यदर्पण : ४, १-२)

और इसमें 'रसात्मकता' का सम्बन्ध केवल अभिधामूलक ध्वनिकाव्य से ही जुड़ पाता है न कि लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य से भी। अब जब कि 'काव्य' अथवा 'रसात्मक वाक्य' का पहला ही भेद ऐसा है जिसमें केवल रसात्मकता ही नहीं अपितु वस्तु और अलङ्कार आदिरूप ध्वन्यात्मकता भी है तब यह कैसे मान लिया जाय कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का काव्यलक्षण बड़ा सुन्दर है, बड़ा मार्मिक है और बड़ा युक्तिपूर्ण है। यह काव्यलक्षण तो गड़बड़ सा लगता है। अच्छा है इसे काव्य का लक्षण न माना जाय।

फिर 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का क्या किया जाय ? अलङ्कारशास्त्र में इसे स्थान दिया जाय या नहीं ? इतना तो निश्चित है कि अलङ्कारशास्त्र में 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' ने अपना एक स्थान बना लिया है और यह स्थान एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस 'काव्यलक्षण' के महत्त्व के कई एक कारण हैं। सबसे पहला कारण यह है कि इसमें आनन्दवर्धनाचार्य की 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' की विचारधारायें केन्द्रित दिखायी दिया करती हैं। आनन्दवर्धन ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' की उक्ति में काव्य का लक्षण नहीं किया क्योंकि उनका कार्य काव्य का लक्षण-निर्माण नहीं अपितु कलाकृति के रूप में 'काव्य' का रचनात्मक और रसनात्मक विश्लेषण था। यह महान् कार्य जब हो चुका और अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में 'ध्वनिवाद' एक 'काव्यवाद' के बदले 'काव्यदर्शन' और 'काव्यसाधना' के रूप में प्रतिष्ठित हो गया तब उसकी मान्यताओं के स्पष्टीकरण में, एक काव्य-लक्षण का निर्माण, एक ऐतिहासिक आवश्यकता बन गया। इस ऐतिहासिक आवश्यकता की सर्वप्रथम पहचान विश्वनाथ कविराज ने ही की और अपनी साहित्यिक प्रवृत्तियों और संवेदनाओं के आधार पर, इसकी पूर्त्ति का भी सर्वप्रथम भगीरथ-प्रयत्न उन्हीं का कार्य है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के रूप में विश्वनाथ कविराज ने केवल अपने युग की ही साहित्यिक संवेदनाओं की सूचना नहीं दी अपितु बाद के युगों की साहित्यिक संविदाओं को भी पर्याप्त रूप से प्रेरित किया।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की काव्य-परिभाषा के महत्त्व का दूसरा कारण यह है कि इससे इस बात की पुष्टि हो जाती है कि 'काव्य' की कोई भी परिभाषा काव्य का चतुरस्र लक्षण नहीं बना सकती। काव्य को कोई भी परिभाषा न बन पाय—यह तो काव्य का सौभाग्य है, दुर्भाग्य नहीं। प्रत्येक आलङ्कारिक अपने-अपने युग की काव्यात्मक चेतनाओं को काव्यलक्षण के रूप में प्रकट किया करता है। उसका काव्य-लक्षण उसके युग के लिये ठीक है किन्तु सभी युगों के लिये वही एक आदर्श हो ऐसी बात ठीक नहीं मानी जा सकती। विश्वनाथ कविराज के समसामयिक काव्यरसिक 'रस' की आलोचना-प्रत्यालोचना में आनन्द लिया करते थे। ये काव्यरसिक काव्यमर्मज्ञ भी थे। इन काव्यमर्मज्ञों में कुछ की विचारधाराओं से हम परिचित भी हैं। जैसे कि विश्वनाथ कविराज के प्रपितामह ही 'विस्मय' की अनुभूति' को 'रसानुभूति' के रूप में सिद्ध करने में दत्तचित्त थे—

'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ।'

(साहित्यदर्पण : तृतीय परिच्छेद)

अथवा जैसे कि विश्वनाथ कविराज के सगोत्र, कविपण्डितमुख्य श्री चण्डीदास ने काव्य में 'रसास्वाद' की अवस्था में 'रसध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' के विवेक की असंभावना का सिद्धान्त स्थापित किया था—

'काव्यार्थस्याखण्डबुद्धिवेद्यस्य तन्मयीभावेनास्वाददशायां गुणप्रधानभावावभासस्ताव-न्नानुभूयते, कालान्तरे तु प्रकरणादिपर्यालोचनया भवन्नप्यसौ न काव्यव्यपदेशं व्याहन्तु-मीशः, तस्यास्वादमात्रायत्तत्वात् ।'

(साहित्यदर्पण : चतुर्थ परिच्छेद)

'रस' की इन विचारधाराओं में जिसका हृदय डूबता-उतराता हो, उसके लिए 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के अतिरिक्त और काव्यलक्षण क्योंकर अभिप्रेत हो ? इस काव्यलक्षण में वहाँ काव्य-विषयक रहस्य निभिन्न अथवा अनिर्भिन्न पड़ा है जिसे रसविषयक विचार-विमर्श में देखा जा सकता है ।

विश्वनाथ कविराज की काव्य-परिभाषा के महत्त्व के तीसरे कारण के रूप में जो बात दिखायी देती है वह यह है कि इसी परिभाषा के द्वारा 'रसात्मक वाक्य और रसात्मक महावाक्य' अथवा 'महाकाव्य की रसात्मक एकवाक्यता' का सिद्धान्त सबसे पहले प्रवर्तित हुआ । विश्वनाथ कविराज के पहले के सभी आलङ्कारिक 'महाकाव्यप्रबन्ध' की दृष्टि से काव्य-लक्षण न कर काव्यवाक्य की दृष्टि से ही काव्यलक्षण किया करते थे । वैसे 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' का काव्य-लक्षण भी महाकाव्य-प्रबन्ध की दृष्टि से काव्यलक्षण माना जा सकता है क्योंकि अदोष, सगुण और औचित्य के साथ अलंकृत शब्दार्थयुगल समस्त महाकाव्य-प्रबन्धरूप शब्दार्थयुगल सिद्ध हो सकता है किन्तु 'महाकाव्य-प्रबन्ध' को केवल अदोष, सगुण और उचित रूप से अलंकृत 'शब्दार्थ-समुच्चय' कहना महाकाव्य-प्रबन्धविषयक अनभिज्ञता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के काव्यलक्षण सेही विश्वनाथ कविराज की वह समीक्षादृष्टि परिष्कृत हुई जिसे हम उनकी निम्न महाकाव्य-प्रबन्ध भावना में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित देख सकते हैं—

'ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिनां केषाञ्चिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं न स्यादिति चेन्न । रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात् ।'

(साहित्यदर्पणः : प्रथम परिच्छेद)

ऐसा लगता है जैसे अन्य आलङ्कारिकों ने 'मुक्तक' की दृष्टि से काव्य की परिभाषा की, और विश्वनाथ कविराज ही ऐसे सर्वप्रथम एक आलङ्कारिक हैं जिनकी दृष्टि 'महाकाव्यप्रबन्ध' के आधार पर 'काव्य'स्वरूप के निरूपण में प्रवृत्त हुई ।

काव्यलक्षण करने में किस कवि अथवा रसिक के मन में उद्विग्नता नहीं पैदा होगी ? ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने 'काव्यलक्षण' की ये संभावनायें निर्दिष्ट की थीं—

(१) शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्' (ध्वन्यालोक : उद्योत १) । इस काव्यलक्षण में जो कमी थी उसे भी उन्होंने ही इस प्रकार निर्दिष्ट किया—

'तत्र च शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धाः एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति।'

यह काव्यलक्षण **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'** (भामह) का संकेत करता है। इसमें काव्यशरीर का निरूपण अवश्य है और काव्यशरीर के सौन्दर्याधायक किंवा सौन्दर्यवर्धक तत्त्वों का भी संकेत निर्विवाद है किन्तु इसमें एक कमी है और वह है काव्य के 'आत्मतत्त्व' की कमी। इस काव्य-लक्षण पर चार्वाकदर्शन का प्रभाव स्पष्ट है किन्तु इसी की दृष्टि से 'काव्य' का स्वरूप परमार्थ नहीं बताया जा सकता।

(२) **'सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्'** (ध्वन्यालोक : प्रथम उद्योत)। किन्तु यहाँ भी सहृदयहृदय की आह्लादजनकता के रूप में शब्द और अर्थ के ही सौन्दर्य और वैचित्र्य का संकेत है न कि काव्य के किसी अन्तस्तत्त्व का।

(३) **'काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थः'**···(ध्वन्यालोक : प्रथम उद्योत)। यह 'काव्यलक्षण' रसध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन को मान्य है क्योंकि इसमें 'साररूप से अवस्थित रसरूप आत्मतत्त्व के अभिव्यञ्जन के आधाररूप में' 'शब्दार्थयुगल' को 'काव्य' माना गया है। विश्वनाथ कविराज का काव्यलक्षण इन सम्भावनाओं को सामने रखकर चल रहा है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' और **'काव्यं हि ललितोचितसन्निवेशचारुसहृदयहृदयाह्लादिसाररूपरसात्मकं शब्दार्थयुगलम्'** में तात्पर्यतः कोई भेद नहीं।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के सम्बन्ध में इतना अवश्य कहना पड़ता है कि यह काव्यलक्षण 'रस-ध्वनिप्रबन्ध' का ही लक्षण है न कि 'काव्यप्रबन्ध' का। ध्वनिकार के लिये तो 'रसध्वनिप्रबन्ध' का ही लक्षण आवश्यक था किन्तु साहित्यदर्पणकार के लिए काव्य-प्रबन्ध का ही लक्षण अपेक्षित प्रतीत होता है। इस दृष्टि से देखते इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'रसध्वनिप्रबन्ध' के लिए तो 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का लक्षण सर्वथा चतुरस्र है किन्तु इस लक्षण के साथ 'साहित्यदर्पण' के अनेक विवेच्य विषयों का सम्बन्ध टूटता दिखाई देता है। इसमें साहित्यदर्पणकार का दोष कम और 'काव्य' स्वरूप की स्वसंवेद्यता और अनिर्वचनीयता का गुण अधिक है।

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि। काव्यादेव··· ॥

सभी काव्य मर्मज्ञों ने 'काव्य' के प्रयोजन की चिन्ता और चर्चा की है। किन्तु 'अलङ्कारशास्त्र' के प्रयोजन की चिन्ता किसी को न हुई। विश्वनाथ कविराज ने ही सर्वप्रथम स्पष्टतया 'काव्य' और 'काव्यालोचना' अथवा 'कवि' और 'काव्यालोचक' के एकरस प्रयोजन अथवा उद्देश्य का विचार-विमर्श किया है। **'अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्यफलान्याह'** (साहित्यदर्पण : १म परिच्छेद) की भूमिका के साथ, काव्य-प्रयोजन के रूप में 'चतुर्वर्गप्राप्ति' की प्रतिष्ठा अलङ्कारशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र में एक महत्त्व रखती है। यशःप्राप्ति, अर्थलाभ, व्यवहारज्ञान, अमङ्गलनिवारण, रसास्वाद और सरसोपदेश के काव्य-प्रयोजनों को 'चतुर्वर्ग' अथवा 'पुरुषार्थचतुष्टय' में अन्तर्भूत करना एक आवश्यक काव्यविषयक विचार है। मनुष्य की सभी क्रियाएँ चतुर्वर्ग के भीतर समा जाती हैं। काव्य भी मनुष्य की क्रिया है और काव्यसमीक्षा

काव्य क्रिया का एक अङ्ग है—इस दृष्टि से काव्य और काव्यसमीक्षा का उद्देश्य वैयक्तिक और सामाजिक चतुर्वर्गप्राप्ति ही हो सकता है। वैसे 'वक्रोक्तिजीवितकार' आचार्य कुन्तक ने भी 'चतुर्वर्गप्राप्ति' को ही कवि और सहृदय के प्रयोजनरूप से माना है—

'धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥'

हृदयाह्लादकारकश्चित्तानन्दजनकः काव्यबन्धः सर्गबन्धादिर्भवतीति सम्बन्धः। कस्येत्याकांक्षायामाह—अभिजातानाम्। अभिजाताः खलु राजपुत्रादयः धर्माद्युपेयार्थिनी विजिगीषवः क्लेशभीरवश्च सुकुमाराशयत्वात्तेषाम्। तथा सत्यपि तदाह्लादकत्वे काव्यबन्धस्य क्रीडनकादिप्रख्यता प्राप्नोतीत्याह—धर्मादिसाधनोपायः। धर्मादेरुपेयभूतस्य साधने सम्पादने तदुपदेशरूपत्वादुपायस्तत्प्राप्तिनिमित्तम्। तथापि तथाविधपुरुषार्थोपदेशपरैरपरैरपि शास्त्रैः किमपराद्धमित्यभिधीयते—सुकुमारक्रमोदितः। सुकुमारः सुन्दरः सहृदयहृदयहारी क्रमः परिपाटीविन्यासस्तेनोदितः कथितः सन्। अभिजातानामाह्लादकत्वे सति प्रवर्तकत्वात् काव्यबन्धो धर्मादिप्राप्त्युपायतां प्रतिपद्यते। शास्त्रेषु पुनः कठोरक्रमाभिहितत्वात् धर्माद्युपदेशो दुरवगाहः। तथाविधे विषये विद्यमानोऽप्यकिञ्चित्कर एव।······ तदेवं शास्त्रातिरिक्तं प्रगुणमस्त्येव प्रयोजनं काव्यबन्धस्य।' (वक्रोक्तिजीवित : १म उन्मेष)

किन्तु अलङ्कारशास्त्र के प्रयोजन के रूप में उन्होंने 'लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धि' का ही संकेत किया है। वक्रोक्तिजीवितकार ने 'चतुर्वर्गप्राप्ति' के बाद काव्य के 'लोकयात्राप्रवर्त्तननिमित्त' प्रयोजन और 'तदात्वरमणीय' प्रयोजन—क्योंकि चतुर्वर्गप्राप्तिरूप प्रयोजन समयान्तरभावी ही प्रयोजन हो सकता है—का अलग परिगणन किया है—

'व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥

तदिदमुक्तं भवति—महतां हि राजादीनां व्यवहारे वर्ण्यमाने तदङ्गभूताः सर्वे मुख्यामात्यप्रभृतयः समुचितप्रातिस्विककर्त्तव्यव्यवहारनिपुणतया निबध्यमानाः सकलव्यवहारिवृत्तोपदेशतामापद्यन्ते। ततः सर्वः कश्चित् कमनीयकाव्ये कृतश्रमः समासादितव्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यातिशयः श्लाघनीय फलभाग् भवति।

योऽसौ चतुर्वर्गलक्षणः पुरुषार्थस्तदुपार्जनविषयव्युत्पत्तिकारणतया काव्यस्य पारम्पर्येण प्रयोजनमित्याम्नातः, सोऽपि समयान्तरभावितया तदुपभोगस्य तत्फलभूताह्लादकारित्वेन तत्कालमेव पर्यवस्यति। ततस्तदतिरिक्तं किमपि सहृदयहृदयसंवादसुभगं तदात्वरमणीयं प्रयोजनान्तरमभिधातुमाह—

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥

योऽसौ चतुर्वर्गफलास्वादः प्रकृष्टपुरुषार्थतया स्वशास्त्रप्रयोजनत्वेन प्रसिद्धः सोऽप्यस्य काव्यामृतचर्वणचमत्कारकलामात्रस्य न कामपि साम्यकलानां कर्तुमर्हतीति।······

'कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आह्लाद्यमृतवत्काव्यमविवेकगदापहम्॥'

(वक्रोक्तिजीवित : १म उन्मेष)

विश्वनाथ कविराज ने आचार्य कुन्तक से बहुत कुछ लिया है किन्तु 'चतुर्वर्ग' अथवा 'पुरुषार्थ-चतुष्टय' के बाहर 'लोकयात्राप्रवर्तन'रूप किसी अतिरिक्त काव्यप्रयोजन की मान्यता उन्हें खटक जाती है। विश्वनाथ कविराज 'रसास्वाद' को 'तदात्वरमणीय' काव्यप्रयोजन कैसे मान सकते हैं? उनके लिये काव्य 'रसात्मक वाक्य' है। सहृदय का रसास्वाद काव्य के स्वरूप की ही पहचान है। 'रसास्वाद' को पृथक् रूप से काव्य का प्रयोजन तो वह माने जो काव्य को अदोष, सगुण तथा समुचित रूप से अलंकृत शब्दार्थ-सन्दर्भ कहे। 'रसास्वाद'रूप काव्यप्रयोजन तो वस्तुतः काव्य-स्वरूप-संस्पर्शी प्रयोजन है। यह तो काव्य की एक अपनी विशेषता है। काव्य के प्रयोजन रूप से उसी का निर्देश आवश्यक है जो मानव जीवन का प्रयोजन है, मनुष्य की कृतियों का उद्देश्य है। यह उद्देश्य अथवा प्रयोजन 'पुरुषार्थचतुष्टय' की प्राप्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? 'पुरुषार्थचतुष्टय' में ही 'लोकयात्राप्रवर्तन' समा जाता है। इस दृष्टि से 'चतुर्वर्गप्राप्ति' को रसात्मक वाक्यरूप काव्य की रचना, रसना और समीक्षा का समान प्रयोजन सिद्ध करना अत्यन्त उपयुक्त है।

'रामादिवद्वर्तितव्यम् न रावणादिवत्'—यह काव्य का प्रयोजन चतुर्वर्गप्राप्ति-रूप प्रयोजन का ही एक संकेत है। शास्त्र का भी प्रयोजन चतुर्वर्ग-प्राप्ति है किन्तु चतुर्वर्ग-प्राप्ति के लिये शास्त्रमार्ग का अवलम्बन कष्टकारक और आयासमय है। काव्य के द्वारा चतुर्वर्गप्राप्ति में सर्वसाधरण का अधिकार है क्योंकि काव्य के अधिकारी की योग्यता वर्णाश्रम-धर्म का अनुपालन नहीं अपितु सहृदयता की योग्यता है। विश्वनाथ कविराज ने इसीलिये कहा है—

'चतुर्वर्गप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते। परमानन्दसंदोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव। ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्नः करणीय इत्यपि न वाच्यम्। कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात्।' (साहित्यदर्पण : १म परिच्छेद) अर्थात् शास्त्र से चतुर्वर्गप्राप्ति दुःखसाध्य है और सभी के लिये सम्भव नहीं। काव्य का स्वरूप ही आनन्दात्मक है जिसके कारण काव्य से चतुर्वर्गप्राप्ति सुखसाध्य है और मनुष्यमात्र के लिये सम्भव है। वेदादिशास्त्र तो मानव जीवन् के ताप-संताप के निवारणार्थ 'कड़वी औषध' हैं किन्तु काव्य वह 'मीठी खांड़' है जिसके आस्वाद में ही ताप-संताप अनायास शान्त हो जाते हैं।

वैसे काव्य के इस सरस चतुर्वर्गप्राप्तिरूप काव्यप्रयोजन का निर्देश आचार्य रुद्रट का ही किया हुआ है—

'ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नोरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥'

जिसे आचार्य मम्मट ने इस उक्ति में दुहराया है—

'कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद् वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्।'

(काव्यप्रकाश : १म उल्लास)

किन्तु विश्वनाथ कविराज की यहाँ एक और ही विशेषता दिखाई देती है और वह यह है कि उन्होंने कवि और सहृदय के अतिरिक्त आलङ्कारिक अथवा काव्यसमीक्षक के लिये भी, काव्य के प्रयोजनरूप से 'चतुर्वर्गप्राप्ति' का ही उल्लेख किया है।

कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा

प्राचीन अलङ्कारशास्त्र में, काव्यकृति के हेतुरूप में, प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के विचार-विमर्श की परिपाटी सी चलती आयी है। साहित्यदर्पणकार की साहित्यिक समीक्षाओं के प्रेरक आचार्य मम्मट ने काव्य-हेतु के सम्बन्ध में कहा ही है—

'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥' (काव्यप्रकाश : १. २)

साहित्यदर्पणकार ने इस विषय पर अपना कोई मत नहीं दिया। इसका कोई विशेष कारण समझ में नहीं आता। बहुत सम्भव है साहित्यदर्पणकार इस विषय में काव्य-प्रकाशकार से सहमत रहे हों और इसीलिए इस विषय पर अपना विशेष विचार छोड़ दिया हो। अथवा यह भी सम्भव है कि उन्होंने 'रसास्वाद' के लिये अपेक्षित 'इदानींतनी' और 'प्राक्तनी' वासना को ही रसात्मकवाक्यरूप काव्य के निर्माण का भी हेतु सोचा हो—

'न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्......

वासना चेदानींतनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः। तत्र यद्याद्या न स्यात्तदा श्रोत्रियजरन्मीमांसकादीनामपि सा स्यात्, यदि द्वितीया न स्यात्तदा यद्रागिणामपि केषाञ्चिद्रसोद्बोधो न दृश्यते तन्न स्यात्।'(साहित्यदर्पण : ३य परिच्छेद)

रत्यादिवासना-वासित कवि-हृदय ही रसात्मक वाक्य की रचना करने में समर्थ हो सकता है। विश्वनाथ कविराज ने वस्तुतः अपने समय के ही कुछ काव्यप्रेमियों को लक्ष्य में रखकर यह कहा है कि 'कुछ लोग ऐसे भी हुआ करते हैं जो इस जन्म में तो बड़े रागी दिखायी देते हैं किन्तु पूर्व जन्म के काव्यास्वाद के अभाव में इस जन्म में भी रसास्वाद से वञ्चित रह जाते हैं।' इससे यह निष्कर्ष अवश्य निकल जाता है कि विश्वनाथ कविराज की दृष्टि में 'कवि' और 'काव्यरसिक' एक जन्म में कोई नहीं बन पाता। कविता और रसिकता जन्म-जन्मान्तर से आने वाली—ईश्वरीय देन है। कविता और रसिकता को विशिष्ट व्यक्तियों की आत्मिक शक्ति मानना ही ठीक है। इस मान्यता की ही पुष्टि के लिये विश्वनाथ कविराज ने अग्निपुराण की यह सूक्ति उद्धृत की है—

'नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥

जिसका अभिप्राय यह कि 'कई जन्मों में कोई प्राणी मानवशरीर धारण कर पाता है, मानव होने पर भी कई जन्म विद्याभ्यास के लिये बीत जाते हैं, कई जन्मों में कोई विद्वान् कविता कर पाता है और कवित्व शक्ति के लिये यदि और भी बीत जायँ तो सन्देह क्या?'

इस सूक्ति के बल पर विश्वनाथ कविराज ने काव्य की उपादेयता सिद्ध की है। 'काव्य की उपादेयता' का अभिप्राय प्रत्येक सहृदय को कवि बनने और कवित्व शक्ति की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होने का उपदेश है। साथ ही साथ यहाँ यह संकेत भी है कि केवल विद्या होने से ही 'कवित्व' कार्यकर नहीं हुआ करता। 'कवित्व' का कार्यकर होना 'कवित्वशक्ति' के हाथ में है। यह 'कवित्वशक्ति' क्या है? यह कवित्वशक्ति काव्य की उत्पत्ति का बीज है जैसा कि आचार्य मम्मट ने कहा है—

'शक्तिः कवित्वबीजभूतः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वोपहसनीयं स्यात्।' (काव्यप्रकाश : १म उल्लास)

विश्वनाथ कविराज इस 'शक्ति' को ही 'रसात्मक वाक्य' रूप काव्य के निर्माण और समुल्लास का हेतु मान सकते हैं, और वस्तुतः इसी दृढ़ धारणासे उन्होंने काव्य-निर्माण के हेतु का अलग कोई विचार नहीं किया है। 'शक्ति' कविता के उद्भव में एकमात्र हेतु है और काव्यालोचना भी 'शक्ति' का ही कृपा-प्रसाद है। हृदय में काव्यतत्त्वों के अवभासन के लिए 'शरदिन्दुसुन्दररुचि' वाग्देवी की वन्दना का भी यही संकेत है कि 'वाग्देवी' ही कवित्व और रसिकत्व-शक्ति के प्रदान की अधिष्ठात्री देवी हैं।

तिस्रः शब्दस्य शक्तयः

ध्वनिवादी काव्याचार्यों की भाँति विश्वनाथ कविराज ने भी शब्द की तीन शक्तियों का स्वरूप-निरूपण किया है। शब्द की ये तीन शक्तियाँ उसकी तीन उपाधियाँ हैं जिन्हें 'अभिधा', 'लक्षणा' और 'व्यञ्जना' के रूप में पहचाना जा सकता है और जिनके कारण शब्द 'वाचक', 'लाक्षणिक' और 'व्यञ्जक' रूप से प्रतीत हुआ करता है—

**'अभिधादित्रयोपाधिवैशिष्ट्यात् त्रिविधो मतः।
शब्दोऽपि वाचकस्तद्वल्लक्षको व्यञ्जकस्तथा॥** (सा० द० : २. १९)

विश्वनाथ कविराज ने 'अभिधा' शक्ति को 'वाच्य-अर्थ की बोधिका' अग्रिमा शक्ति कहा है। (**वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यः, अग्रिमाऽभिधा**—साहित्यदर्पण : २. ३, ४)। काव्यप्रकाशकार भी 'अभिधा' को शब्द का 'मुख्य व्यापार' कह चुके हैं। दोनों में कोई वास्तविक भेद नहीं है। जो कुछ भी थोड़ा भेद है वह अभिधा के प्रतिपादन प्रकार में है। काव्यप्रकाशकार ने 'संकेतग्रह' के उपायों में केवल 'वृद्धव्यवहार' का ही उल्लेख किया है जो कि अभिहितान्वय और अन्विताभिधान—दोनों वादों में समान रूप से मान्य है। किन्तु विश्वनाथ कविराज ने 'वृद्धव्यवहार' के अतिरिक्त 'आप्तोपदेश' और 'प्रसिद्धार्थपदसमभिव्याहार' को भी 'शक्तिग्रह' के उपाय रूप से प्रतिपादित किया है। यहाँ विश्वनाथ कविराज की दृष्टि वही है जो 'शक्तिग्रह' के उपाय-प्रतिपादक निम्नलिखित श्लोक-वाक्य में दिखायी देती है—

**शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥'**

काव्यप्रकाशकार ने उपाधि-शक्तिवाद के साथ-साथ जाति शक्तिवाद, जाति-विशिष्ट-व्यक्तिशक्तिवाद और साथ ही साथ अपोहशक्तिवाद का भी निर्देश कर दिया है जिससे काव्यशास्त्र के पाठक, शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में, इन विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं से परिचित रहें। किन्तु विश्वनाथ कविराज केवल उपाधि-शक्तिवाद का निरूपण करते हैं जो कि अलङ्कार शास्त्र के लिये विशेषरूप से उपयुक्त है।

'अभिधा' के बाद दूसरी शब्दशक्ति 'लक्षणा' है जिसके लक्षण में काव्यप्रकाशकार ने यह कहा है—

**'मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया॥'** (का० प्र० : २. ९).

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'लक्षणा' के प्रयोजक-रूप से 'मुख्यार्थबाध', 'मुख्यार्थयोग', 'रूढि अथवा प्रयोजन' का स्पष्ट परिगणन किया हुआ है। किन्तु विश्वनाथ कविराज की इस 'लक्षणा'-परिभाषा अर्थात्—

> मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
> रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥ (सा० द० : २.५)

में लक्षणा के जिन प्रयोजकों का निर्देश है उनमें 'मुख्यार्थबाध' और 'रूढि अथवा प्रयोजन' ही आते हैं। यहाँ यही प्रतीत होता है कि वह शब्द, जिसका मुख्य अर्थ अनुपपन्न होगे लगता है रूढि अर्थात् प्रयोग-प्रवाह अथवा प्रयोजन-प्रतिपादन के कारण, अपने मुख्य अर्थ से, किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध एक अन्य अर्थ को देने लगता है और ऐसा करने में उसमें जो शक्ति उत्पन्न हो जाया करती है उसका नाम 'लक्षणा' है। 'अभिधा' तो शब्द की स्वाभाविक शक्ति है और लक्षणा आरोपित अथवा काल्पनिक शक्ति क्योंकि शब्द और उसके लक्ष्यार्थ के बीच अनुपपन्न मुख्यार्थ का व्यवधान अनिवार्य है।

वैसे काव्यप्रकाश के लक्षणा-लक्षण में 'मुख्यार्थबाध' और 'मुख्यार्थयोग'—दोनों को लक्षणा-प्रयोजक मानने में, गौरव होने पर भी, कुछ स्पष्टता अवश्य है कन्तु साहित्यदर्पण की लक्षणा-परिभाषा में 'मुख्यार्थबाध' होने पर, रूढि या प्रयोजनवश, मुख्यार्थ सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति को जो 'लक्षणा' माना गया है उसमें 'लाघव' होने पर भी कुछ क्लिष्टता दिखायी ही दे जाती है। 'लाघव' भी हो तो ऐसा हो जैसा 'रसगङ्गाधर'कार के लक्षणा-निरूपण में है—'शक्यसम्बन्धे लक्षणा'।

तस्याश्चार्थोपस्थापकत्वे मुख्यार्थतावच्छेदके तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदकताया अभावो न तन्त्रम्। शक्यतावच्छेदकरूपेण कथ्यमाणस्य स्वीकारात्। किन्तु तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिकताया अभावो रूढिप्रयोजनयोरन्यतरच्च तन्त्रम्। मुख्यार्थान्वयानुपपत्तेः तन्त्रत्वे तु 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र लक्षणोत्थानं न स्यात्। 'गङ्गायां घोष' इत्यत्र 'सामीप्यम्', 'मुखचन्द्रः' इत्यादौ सादृश्यम्, व्यतिरेक-लक्षणायां विरोधः, 'आयुर्घृत'मित्यादौ कारणत्वादयश्च सम्बन्धा यथायोगं लक्षणा-शरीराणि।

(रसगङ्गाधर : २य आनन)

अर्थात् 'लक्षणा' के प्रयोजकरूप से मुख्यार्थबाध की मान्यता अनावश्यक है। कारण यह है कि 'गङ्गायां घोषः' आदि में 'शैत्य-पावनत्व आदिरूप प्रयोजन की प्रतीति तभी मानी जा सकती है जब कि 'गङ्गा' आदि शब्दों के 'तटादि' अर्थों को 'मुख्यार्थतावच्छेदक' रूप से प्रतीत माना जाय अर्थात् यह समझा जाय कि 'तटादि'रूप अर्थ मुख्यार्थ (गङ्गात्व अथवा प्रवाह) के बाधक नहीं हैं। लक्षणा का प्रयोजक तो रूढि अथवा प्रयोजन में किसी एक को माना जाना चाहिये या यह माना जाना चाहिये कि 'लक्षणा' में मुख्यार्थ अन्वित होने पर भी मुख्यार्थरूप से अन्वित नहीं होता, क्योंकि यदि मुख्यार्थ की अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का प्रयोजक माना जाय, तब 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' में लक्षणा नहीं मानी जा सकती, जिसे माना जाया करता है क्योंकि 'काक' पद का मुख्यार्थ 'दधि' की रक्षण-क्रिया में बाधित नहीं, अपितु अबाधित ही प्रतीत होता है।

विश्वनाथ कविराज ने 'लक्षणा' के सम्बन्ध में कतिपय ऐसी बातों का भी निर्देश किया है जिन्हें 'काव्यप्रकाश'कार ने सोच-समझकर छोड़ दिया है। जैसे कि 'काव्यप्रकाश'कार ने व्यङ्ग्यार्थ-

गर्भता के आधार पर लक्षणा के दो ही भेद गिनाये हैं—(१) गूढव्यङ्ग्या और (२) अगूढव्यङ्ग्या। किन्तु विश्वनाथ कविराज ने इनमें भी प्रयोजन के 'धर्मिगत' और 'धर्मगत' भेद निर्दिष्ट कर दिये हैं जिससे प्रयोजनवती लक्षणा की भेद संख्या बढ़ गयी है। यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा की भेद-संख्या के घटनेबढ़ने का कोई विशेष महत्त्व नहीं, यहाँ तो 'लक्षणा' और 'व्यञ्जना' की स्वरूप-सङ्कीर्णता का प्रश्न है। विश्वनाथ कविराज ने निम्न सूक्ति अर्थात्—

'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव॥'

में प्रयुक्त 'राम' शब्द में, धर्मिगत प्रयोजनवती गूढव्यङ्ग्या लक्षणा का और 'गङ्गायां घोषः' के 'गङ्गा'पद में, धर्मगत प्रयोजनवती गूढव्यङ्ग्या लक्षणा का स्वरूप देखा है। 'स्निग्धश्यामल' आदि सूक्ति का 'राम' पद ध्वनिकार, लोचनकार और काव्यप्रकाशकार की भी दृष्टि में 'व्यञ्जक' पद है। यह अवश्य है कि इस पद की व्यञ्जना 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यव्यञ्जना' है। लोचनकार का स्पष्ट निर्देश है—

'रामशब्दार्थध्वनिविशेषावकाशदानाय कठोरहृदयपदम्··· ।'

(ध्वन्यालोकलोचन : २य उद्योत)

अर्थात् 'कठोरहृदय' पद का प्रयोग 'राम' शब्द के द्वारा उन-उन अर्थों की व्यञ्जना में बड़ा उपकारक है। वस्तुतः इसी दृष्टि से लोचनकार ने यह भी कहा है—

'रामशब्देनानुपयुज्यमानार्थेनेति भावः। व्यङ्ग्यं धर्मान्तरं प्रयोजनरूपं राज्यनिर्वासनाद्यसंख्येयम्। तच्चासंख्यत्वादभिधाव्यापारेण शक्यसमर्पणम्। क्रमेणार्प्यमाणमप्येकधीविषयभावाभावान्न चित्रचर्वणापदमिति न चारुत्वातिशयकृत्। प्रतीयमानं तु तदसंख्यमनुद्भिन्नविशेषत्वेनव किं किं रूपं न सहत इति चित्रपानकरसापूपगुडमोदकस्थानीयविचित्रचवणापदं भवति।

यथोक्तम्—

'उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद्ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्॥'

(ध्वन्यालोकलोचन : २य उद्योत)

ऐसी परिस्थिति में, 'राम' पद को व्यञ्जक मानने से इस रसात्मक वाक्यरूप काव्य का स्वरूप-विमर्श किया जा सकता है या 'लाक्षणिक' मानने से ? विश्वनाथ कविराज भी यहाँ यही कहेंगे कि 'राम' पद व्यञ्जक है। फिर 'धर्मिगत प्रयोजनवती लक्षणा' की मान्यता यहाँ किस काम की ? 'गङ्गायां घोषः' से भी लक्षणीय अर्थ और व्यञ्जनीय प्रयोजन की प्रतिपत्ति लक्षणा द्वारा ही सम्भव नहीं मानी जाती। फिर 'गङ्गा' पद में 'धर्मगत प्रयोजनवती लक्षणा' के विमर्श का क्या रहस्य ?

कहने का तात्पर्य यह है कि 'व्यञ्जना'वादी काव्याचार्यों के लिये 'लक्षणा'-निरूपण में बाल की खाल निकालना अपेक्षित नहीं क्योंकि तब तो 'व्यञ्जना' का बहुत बड़ा क्षेत्र इसीमें समा जायगा !

अस्तु, विश्वनाथ कविराज का 'व्यञ्जनाशक्ति'-निरूपण बड़ा सुबोध और सारगर्भित बन पड़ा है। इस एक श्लोक में वाच्य' और 'व्यङ्ग्य' अर्थों का परस्पर विवेक कितना स्पष्ट और सुन्दर है—

'बोद्धृ-स्वरूप-संख्या-निमित्त-कार्य-प्रतीति-कालानाम्।
आश्रय-विषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः॥' (सा० द० : ५-२)

अर्थात् वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों में आकाश-पाताल का अन्तर है—वाच्यार्थ के बोद्धा पद-पदार्थवित् हो सकते हैं किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के बोद्धा सहृदय हुआ करते हैं; वाच्यार्थ यदि कहीं विधिरूप होता है तो वहीं व्यङ्ग्यार्थ 'निषेध'रूप हो जाया करता है; वाच्यार्थ यदि एक है तो व्यङ्ग्यार्थ अनेक—अनन्त रूपों का हुआ करता है; वाच्यार्थ का बोध शब्दोच्चारण मात्र से संभव है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के बोध के लिए भावयित्री प्रतिमा की अपेक्षा हुआ करती है; वाच्यार्थ से 'प्रतीति' उत्पन्न होती है और व्यङ्ग्यार्थ से चमत्कार; वाच्यार्थ आपात में प्रतीत होता है और व्यङ्ग्यार्थ अन्त में; वाच्यार्थ का आश्रय शब्द हुआ करता है और व्यङ्ग्यार्थ का शब्द के अतिरिक्त वर्ण, अर्थ, रचना आदि-आदि और इतना ही क्यों वाच्यार्थ का विषय कुछ हुआ करता है और व्यङ्ग्यार्थ का कुछ।

काव्य के परम रमणीय अर्थ-रस, भाव आदि 'तट' आदि रूप अर्थों की भाँति पूर्वसिद्ध नहीं, जिससे, व्यञ्जना के माने बिना भी, लक्षणा से काम चल जाय।

रसभावादिरूप व्यङ्ग्य अर्थ न तो 'अनुमेय'रूप अर्थ है और न 'स्मृति'रूप अर्थ जिससे अनुमान अथवा स्मृति में ही व्यञ्जना अन्तर्भूत कर दी जाय। 'व्यञ्जना' को तो मानना ही पड़ेगा चाहे इसके न मानने के लिए जितनी दूर भी जाया जाय और जितनी भी कष्ट कल्पना की जाय—

'वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधा-तात्पर्य-लक्षणाख्यानाम्।
अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम्॥' (सा० द० : ५-१)

रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्

पूरी कारिका है—

'विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्॥' (सा० द० : ३)

इस कारिका में विश्वनाथ कविराज का 'रसध्वनि-वाद' स्पष्ट रूप से झलक रहा है। विश्वनाथ कविराज का यह 'रसमत' रसध्वनिवादी काव्याचार्यों की रसविषयक मान्यताओं का सारसंक्षेप और पुष्टीकरण है। यहाँ यह स्पष्ट है कि 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव' तथा 'स्थायीभाव' में व्यङ्ग्यव्यञ्जक-संबन्ध माना गया है। विभावादि वर्ग से स्थायीभाव की अभिव्यक्ति, दूध से दही की निष्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति सी मानी जा सकती है न कि दीप से घट की अभिव्यक्ति-सी। वैसे 'घटप्रदीपन्याय' भी व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव में लागू है जैसा कि ध्वनिकार का कथन है—

न, च पदार्थवाक्यार्थन्यायो वाच्यव्यङ्ग्ययोः। यतः पदार्थप्रतीतिरसत्यैवेति कैश्चिद्-विद्वद्भिरास्थितम् यैरप्यसत्यत्वमस्या नाभ्युपेयते तैर्वाक्यार्थपदार्थयोर्घट-तदुपादानकारण-न्यायोऽभ्युपगन्तव्यः। यथा हि घटे निष्पन्ने तदुपादानकारणानां न पृथगुपलम्भस्तथैव वाक्ये तदर्थे वा प्रतीते पद-तदर्थानाम्, तेषां तदा विभक्ततयोपलम्भे वाक्यार्थबुद्धिरेव दूरीभवेत्। न त्वेष वाच्यव्यङ्ग्ययोर्न्यायः। न हि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरी-भवति, वाच्यावभासाविनाभावेन तस्य प्रकाशनात्। तस्माद् घट-प्रदीपन्यायस्तयोः। यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतौ उत्पन्नायां न प्रदीप-प्रकाशो निवर्तते तद्वत् व्यङ्ग्यप्रतीतौ

वाच्यावभासः। यत्तु प्रथमोद्योते—'यथा पदार्थद्वारेण' इत्याद्युक्तम्, तदुपायत्वमात्रात् साम्यविवक्षया।' (ध्वन्यालोक : ३य उद्योत)

अर्थात् वाच्य और व्यङ्ग्यरूप दार्ष्टान्तिक की सिद्धि के लिए 'पदार्थ-वाक्यार्थ-न्याय' अथवा 'पदार्थ और वाक्यार्थ का दृष्टान्त' ठीक नहीं। वाच्य और व्यङ्ग्यरूप दार्ष्टान्तिक के लिए तो 'घट-प्रदीप-न्याय' अथवा 'प्रदीप और घट का ही दृष्टान्त' ठीक है। जैसे प्रदीप के द्वारा घट के साक्षात्कार होने पर प्रदीप का प्रकाश विद्यमान रहा करता है वैसे ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होने पर वाच्यार्थ का अवभास निवृत्त नहीं हुआ करता। किन्तु 'घटप्रदीपन्याय' से 'विभावादिवर्ग और रसप्रतीति' का विश्लेषण विश्वनाथ कविराज की दृष्टि में एक खटकनेवाली बात है। बात ठीक भी है क्योंकि जैसे 'घट' पूर्वसिद्ध वस्तु है वैसे 'रस' को पूर्वसिद्ध मानना रसध्वनिवाद को तिलाञ्जलि दे देने के बराबर ही है। 'रस' तो एकमात्र 'आस्वाद्य' अथवा 'प्रतीतिसार' है, 'रस' कोई ऐसी वस्तु नहीं जो पहले से हो और जिसे हम न जानते हों तथा जो विभावादि द्वारा प्रकाशित हो उठे। 'विभावादिवर्ग' और 'रस' में 'दधिन्याय' ही लागू हो सकता है। 'दधिन्याय' से 'रस' को समझाने का अर्थ यह है कि जैसे दूध का ही रूपान्तर-परिणाम दही है वैसे ही रत्यादिरूप स्थायीभाव का ही रूपान्तर-परिणाम शृङ्गारादि 'रस' है। रत्यादि स्थायी भाव का यह 'रस'रूप रूपान्तर-परिणाम 'दधिन्याय' से सरलता से समझाया तो जा सकता है किन्तु इस 'दधिन्याय' को आस्वादमात्र सार 'रस' तक नहीं खींचा जा सकता। वस्तुतः विश्वनाथ कविराज ने इसीलिए कहा है कि 'रस' एक अलौकिक और सहृदयमात्र संवेद्य काव्यार्थतत्त्व है। इसे एक 'अखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय', 'वेद्यान्तरसंस्पर्शशून्य', 'ब्रह्मास्वादसहोदर', 'लोकोत्तरचमत्कारप्राण' किंवा 'आत्मस्वरूप से अभिन्न' आनन्दानुभव ही माना जा सकता है। (साहित्यदर्पण ३. २-३)

'रस' की प्रतीति का हेतु 'सत्त्वोद्रेक' है। 'सत्त्व' का अभिप्राय 'रजस् और तमस् से अस्पृष्ट मन' का अभिप्राय है। रजस् और तमस् से अस्पृष्ट मन आत्मरत हुआ करता है, बाह्य मय पदार्थों के प्रति विमुख रहा करता है। अलौकिक काव्यार्थ का परिशीलन करनेवाले सहृदय सामाजिक के हृदय में यह 'अनन्योन्मुखता'—यह 'सत्त्वोद्रिक्तता' स्वभावतः उत्पन्न होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विश्वनाथ कविराज ने यहाँ जिस रसानुभवप्रक्रिया का विश्लेषण किया है उसमें काश्मीर के शैवदर्शन की विचारधारा की कोई झलक नहीं अपितु सांख्य और अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों का आधार झलकता है।

कवि-वर्णित विभावादि के 'व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव'रूप संयोग से रत्यादिभावों का यह रूपान्तर-परिणाम 'चिदानन्दचमत्कार'-स्वरूप होता है और इसीलिए इसे 'रस' कहते हैं। यह रत्यादि-भाव जो कि 'चिदानन्दचमत्कार'रूप से परिणत होता है, काव्य-पुरुष अथवा नाटक-पुरुष का रत्यादिभाव नहीं, अपितु 'साधारणीकृत' रत्यादिभाव है—

> 'व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।
> तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः॥
> प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।
> उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः॥
> नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति।
> साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत् प्रतीयते॥'

(सा० द० : ३. ९-११)

अर्थात् ऐसा रत्यादिभाव है जिसे सहृदय सामाजिक की वासना में विराजमान रत्यादि भाव कहा करते हैं। (सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितो रत्यादिर्भावः–काव्यप्रकाश, ४र्थ उल्लास)

यह 'रस' अनुकार्यगत नहीं अर्थात् जैसा कि भरत-भाष्यकार आचार्य लोल्लट का कथन है। उसके अनुसार 'रस' को लोकजीवन के राम आदि का 'रस' नहीं कहा जा सकता—

'पारिमित्याल्लौकिकत्वात् सान्तरायतया तथा।
अनुकार्यस्य रत्यादेरुद्बोधो न रसो भवेत्॥' (सा० द० : ३. १८)

कारण यह है कि काव्य-नाट्य का जो 'रस' है वह तो असंख्य सामाजिकों का 'आस्वाद्य' है और राम आदि का 'रस' रामादिगत ही लौकिक सुख दुःख का अनुभवरूप हो सकता है। काव्य-नाट्य का 'रस' अलौकिक विभावादि के संयोग से अभिव्यक्त होता है जब कि रामादिगत रत्यादि-भाव की उत्पत्ति उन-उन लौकिक सीतादिरूप कारणों, कार्यों और सहकारी कारणों से हुआ करती है। काव्य-नाट्य के 'रस' के लिए काव्यश्रवण और नाट्यदर्शन की आवश्यकता है और रामादि के रत्यादिभाव के अनुमान के लिए रामादि का समकालीन होना अपेक्षित है। रामादि के रत्यादि-भाव के अनुभव से सहृदय सामाजिक में लज्जा-आतङ्क आदि उत्पन्न हो सकते हैं किन्तु अपने वासनास्थित रत्यादिभाव के 'आस्वाद' में सहृदय चमत्कृत हुआ करता है।

यह 'रस' श्री शङ्कुक की मान्यता के अनुसार 'अनुकर्तृ'गत भी नहीं—

'शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः सरूपताम्।
दर्शयन्नर्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत्॥
काव्यार्थभावनेनायमपि सभ्यपदास्पदम्।' (सा० द० : ३. १९-२०)

कारण यह है कि अनुकर्ता अथवा नट तो अङ्ग, वाणी, वेश और सत्त्व के अभिनय की कला और अभ्याससिद्धि के ही द्वारा अपने आप को राम के 'सरूप' अथवा 'सदृश' दिखाया करता है, न कि विभावादि की भावना किया करता है। जो 'नट' अथवा अभिनेता विभावादि की भावना में बह जाय, वह अभिनय क्या करेगा? वह तो नाट्यप्रदर्शक न रह कर नाट्य-दर्शक बन जायगा।

इस 'रस' की निष्पत्ति-सिद्धि के लिये भट्टनायक की सी कल्पना भी अनावश्यक है। 'काव्य में भावकत्वव्यापार और भोगीकरण-व्यापार रहा करते हैं'—इसके बदले यही मानना युक्तियुक्त है कि 'काव्य में 'व्यञ्जना' शक्ति स्फुरित हुआ करती है'। वस्तुरूप और अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा रसरूप काव्य-परमार्थ में आनन्दातिरेक के देखते इस 'व्यञ्जना' शक्ति को 'रसना' कहिये, कोई आपत्ति नहीं—

'तदेवमनुभवसिद्धस्य तत्तद्रसादिलक्षणार्थस्याशक्यापलापतया तत्तच्छब्दाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायितया चानुमानादिप्रमाणावेद्यतया चाभिधादिवृत्तित्रयाबोध्यतया च तुरीया वृत्तिरुपास्यैवेति सिद्धम्। तत्किन्नामिकेयं वृत्तिरित्युच्यते—

सा चेयं व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः।
रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिं रसनाख्यां परे विदुः॥' (सा० द० परिच्छेद ५)

इस 'रस' के आस्वाद में विभाव आदि का पृथक्-पृथक् प्रतिभास उसी प्रकार नहीं हुआ करता जिस प्रकार प्रपाणक-रस के आस्वाद में शर्करा, मरिच, कर्पूर और आमिक्षा का पृथक्-पृथक् आस्वाद नहीं मिला करता। जैसे प्रपाणक-रस अपने निष्पादक तत्त्वों से निष्पन्न होने पर भी उनके पृथक्-पृथक् स्वाद से सर्वथा विलक्षण 'आस्वाद हुआ करता है वैसे ही काव्य अथवा नाट्य-रस भी विभा-

वादि तत्त्वों से अभिव्यक्त होने पर भी, उनकी पृथक् पृथक् अभिव्यक्ति से सर्वथा भिन्न एक अपूर्व 'अभिव्यक्ति' अथवा आस्वाद चमत्काररूप रहा करता है—

'यथा खण्डमरिचादीनां संमेलनादपूर्व इव कश्चिदास्वादः प्रपाणकरसे संजायते, विभावादिसंमेलनादिहापि तथेत्यर्थः।' (साहित्यदर्पण : ३-१६)

विलक्षण एवायं कृतिज्ञप्तिभेदेभ्यः स्वादनाख्यः कश्चिद् व्यापारः

जब 'रस' स्वयंप्रकाश आनन्द-चैतन्य है तब इसकी व्यञ्जना का क्या अर्थ ? 'रस' की व्यञ्जना का अर्थ 'रस' का आस्वाद है। रसास्वाद का उपाय 'रसना' व्यापार अथवा 'आस्वादन' व्यापार है। यह 'आस्वादन'-व्यापार कोई अन्य वस्तु नहीं अपितु 'व्यञ्जना'-व्यापार है। यह एक अलौकिक व्यापार है जिसके लिए किसी भी लौकिक व्यापार का दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता। लोक की वस्तुओं में या तो 'कृति' रूप व्यापार देखा जा सकता है या 'ज्ञप्ति' रूप व्यापार। विभावादि में 'कृति' रूप व्यापार नहीं जिससे 'रस' उत्पन हुआ करे। 'रस' तो 'विभावादि-समूहालम्बन' रूप आनन्दानुभव है। विभावादि में 'कृति' व्यापार तब कहीं माना जा सकता यदि 'रस' को उत्पन्न करने के बाद विभावादि का अस्तित्व नष्ट हो जाता अथवा यदि 'रस' ही विभावादिसमूह के अतिरिक्त अपना पृथक् अस्तित्व रख सकता। विभावादि में 'ज्ञप्ति' रूप व्यापार भी नहीं माना जा सकता क्योंकि इनमें 'ज्ञप्ति' रूप व्यापार मानने का अभिप्राय यह होगा कि विभावादि के द्वारा पूर्वसिद्ध 'रस' का ज्ञापन किया जाया करता है। 'रस' घट-पट आदि की भाँति कोई पूर्वसिद्ध वस्तु नहीं जो किसी अज्ञानावरण से प्रतीत न हो रही हो और प्रदीप की भाँति विभावादि रूप प्रकाशक के संयोग से प्रकट हो जाय। इस प्रकार विभावादि-प्रतिपादक काव्य में 'कृति' और 'ज्ञप्ति' रूप व्यापार की कल्पना असंभव प्रतीत होती है। वस्तुतः इसीलिये 'रस' को न तो 'कार्य' माना जाता है और न 'ज्ञाप्य'—

'नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां प्रतीत्यव्यभिचारतः।'

यो हि ज्ञाप्यो घटादिः स सन्नपि कदाचिदज्ञातो भवति न ह्ययं तथा, प्रतीतिमन्तरेणाऽभावात्।

यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मकः तस्मान्न कार्यः।

यदि रसः कार्यः स्यात्तदा विभावादिज्ञानकारणक एव स्यात्, ततश्च रसप्रतीतिकाले विभावादयो न प्रतीयेरन्। कारणज्ञान-तत्कार्यज्ञानादीनां युगपददर्शनात्। न हि चन्दनस्पर्शज्ञानं तज्जन्यसुखज्ञानं चैकदा भवति। रसस्य च विभावादिसमूहालम्बनात्मकतयैव प्रतीतेर्न विभावादिज्ञानकारणकत्वमित्यभिप्रायः।' (साहित्यदर्पण : ३-२०)

अर्थात् 'रस' न तो 'घट,' 'पट' आदि की भाँति कोई 'कार्य' द्रव्य है और न 'ज्ञाप्य' द्रव्य। रस को 'कार्य' इसलिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि विभावादि को इसका 'कारण' कहना असंभव है।

ऐसा देखा जाता है कि लोक में कारण-वस्तु और कार्य-वस्तु का एककालिक ज्ञान नहीं हुआ करता। चन्दन के स्पर्श का अनुभव और चन्दनस्पर्शजन्य सुख का अनुभव—एक समय में असंभव है। किन्तु रसादि-प्रतीति विभावादि प्रतीति के साथ ही हुआ करती है। 'रस' रूप अलौकिक काव्यार्थ 'ज्ञाप्य' भी नहीं क्योंकि यदि यह 'ज्ञाप्य' होता तो 'घट', 'पट' आदि की भाँति हमारी अनुभूति के पहले भी अपना अस्तित्व रख सकता। रस तो प्रतीति-परमार्थ है, प्रतीति के अतिरिक्त, प्रतीति के पहले या पीछे इसका अस्तित्व नहीं रहा करता।

अन्ततः विभावादि में 'कृति' और 'ज्ञप्ति' के व्यापारों से सर्वथा विलक्षण व्यापार की मान्यता अनिवार्य हो जाती है। 'कृति' और 'ज्ञप्ति' से विलक्षण व्यापार एक अलौकिक व्यापार ही हो सकता है और इसीलिये इसे 'अभिव्यञ्जन' अथवा 'चर्वणा' कहा जाया करता है—

'अतश्चर्वणात्राभिव्यञ्जनमेव, न तु ज्ञापनम्, प्रमाण-व्यापारवत्। नाप्युत्पादनम्, हेतु-व्यापारवत्।

ननु यदि नेयं ज्ञप्तिर्न वा निष्पत्तिः तर्हि किमेतत्? नन्वयमसावलौकिको रसः। ननु विभावादिरत्र किं ज्ञापको हेतुः उत कारकः? न ज्ञापको न कारकः, अपितु चर्वणोपयोगी। ननु क्वैतद् दृष्टमन्यत्र? यत एव न दृष्टं तत एवालौकिकमित्युक्तम्। नन्वेवं रसोऽप्रमाणः स्यात्? अस्तु, किं ततः? तच्चर्वणाद् एव प्रीतिव्युत्पत्तिसिद्धेः किमन्यदर्थनीयम्। नन्वप्रमाणकमेतत्? न, स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। ज्ञानविशेषस्यैव चर्वणात्मकत्वादित्यलं बहुना।'

(ध्वन्यालोकलोचन : प्रथम उद्योत)

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः

विभावादियोजनारूप काव्य में लोक-विलक्षण किंवा शास्त्र-विलक्षण (वस्तुतः ललितकला से ही सम्बद्ध) एक 'शक्ति रहा करती है जिसका नाम 'भावकता' शक्ति है। सर्वप्रथम इस 'भावकता-शक्ति' का विश्लेषण करने वाले काव्याचार्य अथवा नाट्याचार्य 'भट्टनायक' हैं जिनके रसविषयक सिद्धान्त के संक्षेप में 'अभिनवभारती'कार आचार्य अभिनव गुप्त ने यह कहा है—

'भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता, सीतादेरविभावत्वात्, स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्, देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्, समुद्रलंघनादेरसाधारण्यात्, न च तत्त्वतो रामस्य स्मृतिः अनुपलब्धत्वात्; न च शब्दानुमानादिभ्यः तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता युक्ता, प्रत्यक्षादिव नायकयुगलकावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सा-स्पृहादिस्वोचितचित्तवृत्त्यन्तरोदयव्यग्रतया आभासत्वमथापि स्यात्; तन्न प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता। उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम्। शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यतापत्तिः। स्वगत-परगतत्वादि च पूर्ववद् विकल्प्यम्। तस्मात्काव्ये दोषाभाव-गुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसङ्कटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः अनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलात् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते इति।' (अभिनवभारती : अध्याय ६)

अर्थात् काव्य-नाट्य में एक अलौकिक शक्ति है जिसे 'भावकत्व' व्यापार के रूप में देखा जा सकता है। इस 'भावकत्व' व्यापार की ही महिमा से सहृदय सामाजिक कविवर्णित विषयों के प्रति 'स्वगत-परगत' का भेदभाव भूल जाया करता है और कविवर्णित विषय सर्व-सहृदय-साधारण के विषय बना दिये जाया करते हैं। इस 'भावकत्व' व्यापार का स्वरूप 'विभावादि का साधारणीकरण' है। काव्य-नाट्य के 'भावकत्व' व्यापार से ही 'विभावादि के साधारणीकरण' होने पर, सहृदय सामाजिक का मनोमोह अथवा काव्यवर्णित विषयों के प्रति 'स्वता-परता' का भेदभाव निवृत्त हो जाया करता है और सामाजिक हृदय में उस 'भोजकत्व-व्यापार' का आविर्भाव हो उठता है जिससे रसास्वाद का आनन्द मिलने लगता है।

यहाँ यह देखना है कि विश्वनाथ कविराज ने क्या भट्टनायक-प्रतिपादित 'भावकत्व' व्यापार को विभावादि के व्यापाररूप में माना है या अभिनवगुप्त-वर्णित 'व्यञ्जना'-व्यापार को विभावादि का वह विलक्षण व्यापार माना है जिससे सहृदय सामाजिक काव्यवर्णित विभावादि को 'साधारणीकृत मानने लगता है। विश्वनाथ कविराज काव्य और रस में 'भाव्यभावकसम्बन्ध' नहीं मानते। उनकी दृष्टि से काव्य और रस में व्यङ्गय-व्यञ्जकसम्बन्ध ही मान्य है। इसलिये यहाँ उन्होंने विभावादि में 'भावकत्व व्यापार' का प्रतिपादन नहीं किया है अपितु विभावादि के विभावनादि व्यापार का एक नाम रखा है जिसे 'साधारणीकरण' अथवा 'साधारणीकृति' कहा जा सकता है। किन्तु यह 'साधारणीकृति' 'व्यञ्जना'रूप ही विलक्षण व्यापार है न कि अन्य कुछ जैसा कि विश्वनाथ कविराज के इस 'रससिद्धान्त' से स्पष्ट है—

'विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्॥' (सा० द० : ३. १)

यह सब तो ठीक है किन्तु जैसे काव्य के रसविषयक व्यञ्जनाव्यापार को 'व्यञ्जना' के बदले 'रसना कहने में विश्वनाथ कविराज को आनन्द मिलता है वैसे ही उसके साधारणीकरण व्यापार को 'व्यञ्जना' के बदले, 'भावना' (साधारणीकृति) कहने में भी वे मन ही मन पुलकित प्रतीत होते हैं। यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि विश्वनाथ कविराज रसप्रतीति की सिद्धि के लिये 'व्यञ्जना के बदले भावना (साधारणीकृति) और 'भुक्ति' के व्यापार की रसध्वनि-विरोधी मान्यता का समर्थन कर रहे हैं। 'व्यञ्जना' पद में 'वस्तु' और 'अलङ्कार' की भी व्यञ्जना का अर्थ अन्तर्गर्भित है। रस 'वस्तु' और 'अलङ्कार' से सर्वथा विलक्षण व्यङ्गयार्थ है। इस विलक्षणता के ही प्रतिपादन के लिए विश्वनाथ कविराज ने काव्य के रसविषयक व्यञ्जनाव्यापार का नाम 'भावना' अथवा 'रसना' व्यापार रखा है जो कि उचित ही है।

सर्वत्राप्यद्भुतो रसः

रस का प्राण 'लोकोत्तरचमत्कार' है। यह 'लोकोत्तरचमत्कार' सहृदय सामाजिक के चित्त का विस्तार है। अलौकिक काव्यार्थ के परिशीलन से सहृदय सामाजिक के हृदय में एक ऐसी ज्ञानधारा सी प्रवाहित होने लगती है जिससे ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे हृदय विस्तृत हो गया है। यह हृदय का विस्तार ही 'चमत्कार' है जिसे हृदय की 'विस्मयाविष्टता' भी कह सकते हैं। यह 'चमत्कार' अथवा यह 'विस्मयावेश' अद्भुत रस का स्वरूप है। प्रत्येक रस के अनुभव में यह 'विस्मयावेश' हुआ करता है। इसलिये यदि यह कहा जाय कि अद्भुत रस ही समस्त शृङ्गारादि रसों की 'प्रकृति' है जिसकी अपेक्षा अन्य शृङ्गारादि रस 'विकृति' रूप हैं तो सर्वथा युक्तियुक्त ही होगा। विश्वनाथ कविराज के प्रपितामह कविपण्डित नारायण की यही मान्यता थी कि— 'चमत्कार' के ही रससर्वस्व होने के कारण अद्भुत रस को ही समस्त रसों की 'प्रकृति' मानना रसास्वाद का वास्तविक विश्लेषण है—

'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।'

(सा० द० : परिच्छेद ३)

अर्थात् यदि रस का सार चमत्कार (हृदयविस्तार अथवा विस्मय) है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'चमत्कार' ही रस का सार है तब यह निःसंदिग्ध है कि समस्त रसों के अनुभवों में

'विस्मय' का ही अनुभव हुआ करता है और 'अद्भुत' ही वह रस है जिसे 'शृङ्गार' आदि सभी रसों का रस माना जा सकता है।

चित्त की 'द्रुति' और 'दीप्ति' के रूप में रसास्वाद का जो विश्लेषण है उसमें भी 'चित्तविस्तृति' अथवा 'विस्मय' के अनुप्राणन का विश्लेषण किया जा सकता है। शृङ्गार-करुण आदि में 'चित्तद्रुति' और वीर-रौद्र आदि में 'चित्तदीप्ति' वस्तुतः 'चमत्कार' का ही स्वरूप है अथवा 'विस्मय' का ही स्वभावपरिस्पन्द है। सभी रसों के आस्वाद में 'विस्मय' के इस अनुप्राणन के ही कारण, कविपण्डित नारायण ने 'अद्भुत' रस को समस्त रसों में अनुप्रविष्ट, समस्त रसों में अन्तर्व्याप्त, समस्त रसों का अन्तर्नियामक और समस्त रसों का सार माना है। संभवतः कविपण्डित नारायण की ही इस मान्यता का प्रभाव आलङ्कारिक भानुदत्त पर पड़ा है जिससे उन्होंने अपनी 'रसतरङ्गिणी' (१म) में, शृङ्गारादि रसों के आनन्दचमत्कार में, 'चित्तविस्तृति' अथवा 'विस्मय' को ही अंगरूप से स्वीकार किया है—

'शृङ्गारादौ चमत्कारदर्शनाद् यत्र मनोविस्तृतिरङ्गतया भासते तत्र शृङ्गारादयो रसाः। प्राधान्येन यत्र भासते तत्राद्भुत एव रसः।'

विश्वनाथ कविराज ने यद्यपि स्पष्टतया यह नहीं कहा कि 'अद्भुत' ही सभी रसों का 'प्रकृति'भूत रस है किन्तु जिस उल्लास से उन्होंने अपने प्रपितामह द्वारा प्रतिपादित, समस्त रसों में 'चमत्कार' और 'अद्भुतानुप्राणन' के सिद्धान्त का उल्लेख किया हैं उसे देखते यह कहना असंगत नहीं कि विश्वनाथ कविराज भी इसी सिद्धान्त के समर्थक अथवा पक्षपाती हैं।

नाट्यशास्त्र के रससिद्धान्त के प्रवर्तन-काल से ही रसों के 'प्रकृतिविकृतिभाव' पर नाट्याचार्यों का विचार-विमर्श चलता आ रहा है। महाकवि लोग भी नव रसों में एकरसता की सूक्ष्म सूचना देते आ रहे हैं। महाकवि भवभूति ने आनन्दातिरेक के साथ 'करुण' को ही कूटस्थ रस और अन्य रसों को 'करुण' का 'विवर्त' माना है—

'एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समस्तम्॥' (उ० रा० : ३. ४७)

इस सूक्ति की 'वीरराघव'रचित व्याख्या यह है—

'एक इति। रस्यते स्वाद्यते इति रसः काव्यानुशीलनाभ्यासवशविशदीभूतवर्णनीय-तन्मयीभवनयोग्यसामाजिकमनोमुकुरभाव्यमानतया निर्भरानन्दसंविद्रूपः। करुण इष्ट-जनवियोगजन्यदुःखातिशयः। एक एव सन्नपि निमित्तभेदाद्व्यञ्जकविभावादिविच्छित्ति-विशेषाद् भिन्नः विलक्षणः। पृथक्पृथग्विवर्तान् परस्परविलक्षणशृङ्गाराद्यात्मना परि-णामान्। 'व्यस्तपरिणामः स्याद् विवर्तः' इति कपिलः। श्रयते भजते...। इदमत्र कवेर्मतम्—यद्यपि शृङ्गार एव एको रस इति शृङ्गारप्रकाशकारादिमतम् तथापि प्राचुर्या-द्रागिविरागिसाधारण्यात् करुण एक एव रसः, अन्ये तु तद्विकृतमया' इति।

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि महाकवि भवभूति के अनुसार शृंगारादि रस एक करुण रस के ही 'विवर्त' हैं और उसी प्रकार 'विवर्त' हैं जिस प्रकार बुद्बुद-तरङ्ग आदि एक सलिलरूप तत्त्व के 'विवर्त' हुआ करते हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार प्रकृतिभूत 'रस' शान्त है और शृंगारादि रस शान्त के ही 'विकृति'रूप हैं। भरतनाट्यशास्त्र की ये पंक्तियाँ भी इसी ओर निर्देश करती हैं—

'भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते॥
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्त्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥'

(नाट्यशास्त्र : ६. ३३५-३३६, गायकवाड संस्करण, प्रथम)

इन धारणाओं के ही कारण आचार्य अभिनवगुप्त ने यह कहा है—

'तत्र सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादः, विषयेभ्यो विपरिवृत्त्या।'

(अभिनवभारती : अध्याय ६)

किन्तु शृङ्गार-प्रकाशकार भोजराज ने 'करुण' और 'शान्त' को रस-'प्रकृति' न मानकर शृंगार को ही रसों का प्रकृतिभूत एक रस माना है—

'आभावनोदयमनन्यधिया जनेन
यो भाव्यते मनसि भावनया स भावः।
यो भावनापथमतीत्य विवर्तमानः
साहङ्कृतौ हृदि परं स्वदते रसोऽसौ॥'

अर्थात् रति, हास आदि तो 'भाव'रूप हैं जो सहृदय सामाजिक की भावना में भावित हुआ करते हैं और जो 'रस' है वह इन भावों और इनकी भावनाओं से परे, उस 'अहंकार'रूप शृङ्गार का आस्वाद है जिसे एक कूटस्थ 'रस'ब्रह्म कहा जा सकता है।

अग्निपुराण की ये पंक्तियाँ भी इसी शृङ्गाररूप प्रकृतिभूत रस का निर्देश करती हैं—

'अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभु।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दस्सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिस्सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः।
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम्॥
अभिमानाद्रतिस्सा च परिपोषमुपेयुषी।
व्यभिचार्यादिसामान्यात् शृङ्गार इति गीयते॥
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।
स्वस्वस्थायिविशेषोत्थपरिपोषस्वलक्षणाः॥'

(अग्निपुराण : अध्याय ३३९. १-६)

वस्तुतः विश्वनाथ कविराज के समय में इस रसविषयक 'प्रकृतिविकृतिभाव' का विचारविमर्श पर्याप्त रूप से प्रचलित दिखाई देता है। विश्वनाथ कविराज के प्रपितामह ने करुण, शान्त और शृङ्गार की अपेक्षा 'अद्भुत' में ही चमत्कार-रहस्य का दर्शन किया था और उसी को रसास्वाद की कसौटी माना था जो कि क्या चित्त की द्रुति और क्या चित्त की दीप्ति—दोनों में अन्तर्व्याप्त देखा जा सकता है।

सम्भवतः 'अद्भुतदर्पण' के रचयिता कवि महादेव (१७ वीं शताब्दी) की यह सूक्ति कवि-पण्डित नारायण के 'अद्भुत'-रहस्य का ही उन्मीलन करती प्रतीत होती है—

'यत्सत्यमभितः स्तब्धैरिन्द्रियैरिन्द्रजालवत्।
अद्भुतैकरसावृत्तिरन्तर्मीलयतीव माम्॥' (काव्यमाला : ५५. ४. ८)

'एकरसवाद' की यह मर्यादा आचार्य अभिनवगुप्त की इस उक्ति से सर्वथा प्रमाणित है—

'ततश्च मुख्यभूतान्महारसात् स्फोटद्दशीव असत्यानि वा, अन्विताभिधान द्दशीव उभयात्मकानि सत्यानि वा, अभिहितान्वयद्दशीव तत्समुदायिरूपाणि वा रसान्तराणि भागाभिनिवेशदृष्टानि रूप्यन्ते।' (अभिनवभारती १. पृष्ठ २६९)

करुणादिषु च सुखमयत्वमेव

'रस' आह्लाद अथवा आनन्दरूप है। रसों में 'करुण' की गणना आदिकाव्य रामायण की रचना के बाद से ही होती आ रही है। रामायण को आदिकवि वाल्मीकि की करुणवेदिता का शब्दावतार माना जाता है। महाकवि कालिदास ने स्वयं कहा है—

'निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थश्श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः।'

(रघुवंश : १४. ७०)

अर्थात् क्रौञ्चद्वन्द्व के वियोग के दुःखद दृश्य से उत्पन्न महर्षि वाल्मीकि का शोक ही रामायण की कविता बन गया। महाकवि कालिदास की इस धारणा के समान ही ध्वनिकार आनन्दवर्धन की भी धारणा रही है—

'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥' (ध्वन्यालोक : १. ५)

अर्थात् 'रस' ही सहृदय-हृदय-संवेद्य काव्य का सारतत्त्व है। महाकवि वाल्मीकि के रामायण काव्य का जो 'करुण'रूप परमार्थ है वही उसका 'रस' अथावा आह्लाद अथवा आनन्द है।

किन्तु तब भी 'करुण' की रसरूपता अथवा आह्लादमयता के सम्बन्ध में दो प्रकार की विचार-धारायें प्रवर्तित हुई हैं। पहली तो वह है जिसे हम आचार्य आनन्द-वर्धन की विचारधारा रूप में ऊपर देख चुके हैं और दूसरी वह जिसकी प्राचीन परम्परा इन उक्तियों में परिपुष्ट प्रतीत होती है—

(१) 'सुखदुःखात्मको रसः' (अर्थात् रसों में 'करुण' की गणना के देखते यह मानना आवश्यक है कि 'रस' केवल सुखात्मक नहीं अपितु दुःखात्मक भी है।)

(नाट्यदर्पण : पृष्ठ १५८)

(२) 'द्रवीभावस्य सत्त्वधर्मत्वात्, तं विना च स्थायिभावासम्भवात्, सत्त्वगुणस्य च सुखरूपत्वात्, सर्वेषां भावानां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोंऽश–मिश्रणात् तारतम्यमवगन्त-व्यम्। अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखानुभवः।'
(अर्थात् वैसे समस्त रत्यादि स्थायी भावों का आस्वाद सुखास्वाद है किन्तु शोक आदि कतिपय स्थायी भावों के आस्वाद में सुख का किञ्चिन्मात्र न्यूनत्व अवश्य मानना चाहिये)। (मधुसूदन-सरस्वती : भक्तिरसायन : पृष्ठ २२)

विश्वनाथ कविराज आचार्य आनन्दवर्धन की मर्यादा के मानने वाले हैं। साथ ही साथ दशरूपककार की यह 'करुण'समीक्षा उनके लिये इस बात का प्रमाण है कि 'करुण' आह्लादमय है, दुःखात्मक नहीं—

'ननु च युक्तं श्रृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाक्यार्थसम्भेदादानन्दोद्भव इति' करुणादौ तु दुःखात्मके कथमिवासौ (आनन्दः) प्रादुष्यात्? तथा हि तत्र करुणात्मक-काव्यश्रवणाद्दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति, न चैतदानन्दात्म-

कत्वे सति युज्यते। सत्यमेतत्, किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगावस्थाया कुट्टमिते स्त्रीणाम्, अन्यश्च लौकिकात् करुणात् काव्यकरुणः, तथा ह्यत्रोत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तयः। यदि च लौकिककरुणवद् दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात्तदा न कश्चिदत्र प्रवर्तेत, ततः करुणैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत्।······तस्माद्रसान्तरवत् करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव।' (दशरूपक : ४र्थ प्रकाश)
अर्थात् वैसे तो लोगों ने 'शृङ्गरादि' को प्रमोदात्मक और 'करुण' को दुःखात्मक मान रखा है किन्तु बात वस्तुतः यह है कि 'करुण' भी शृङ्गारादि रसों की ही भाँति 'प्रमोदात्मक' अथवा आनन्दसार रस है। जिन लोगों ने 'करुण' में दुःखात्मकता मान ली है उन्होंने लौकिक 'करुण' से काव्य-नाट्य के 'करुण' का स्पष्टतया विवेक नहीं किया है। यदि काव्य-करुण आनन्दमय न होता तो आदिकाव्य रामायण के प्रति कौन सहृदय सामाजिक उन्मुख होता ? 'करुण'रस है और 'करुण' को लेकर रस की 'दुःखात्मकता' की मान्यता अनुचित है।

विश्वनाथ कविराज ने इसीलिये कहा है—

'करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्॥
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।
किं च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः॥

न हि कश्चित् सचेतन आत्मनो दुःखाय प्रवर्त्तते। करुणादिषु च सकलस्यापि साभिनिवेशप्रवृत्तिदर्शनात् सुखमयत्वमेव।

अनुपपत्त्यन्तरमाह—

तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता।

···ननु कथं दुःखकारणेभ्यः सुखोत्पत्तिरित्याह—

हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात्॥
शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः।
अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात्॥
सुखं संजायते तेभ्यस्सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः।'

(साहित्यदर्पणः ३. ४-८)

तात्पर्य यह है कि जो काव्य-मर्मज्ञ 'करुण' को आनन्दात्मक नहीं मानते वे या तो 'करुण' के आनन्दचमत्काररूप अनुभव से वंचित हैं या 'करुण' के विभावादि में विभावनादि-व्यापार के बदले कारणत्वादि का ही व्यापार मान लेते हैं जो कि सर्वथा अनुचित है। लोक के 'शोक' से दुःख होना स्वाभाविक है किन्तु काव्य-नाट्य के 'शोक' से तो सुख का ही संवेदन संभव है जिसमें सहृदयों का हृदय साक्षी है और रामायण आदि महाकाव्य का आनन्द-चमत्कार प्रमाण है।

'करुण' की आह्लादात्मकता की इस परम्परागत प्रबल धारणा का प्रवाह 'रसगङ्गाधर'कार की इस उक्ति में दिखाई दे रहा है—

'नन्वेवमपि रतेरस्तु नाम दुष्यन्त इव सहृदयेऽपि सुखविशेषजनकता, करुणरसादिषु तु स्थायिनः शोकादेर्दुःखजनकतया प्रसिद्धस्य कथमिव सहृदयाह्लादहेतुत्वम्। प्रत्युत नायक इव सहृदयेऽपि दुःखजननस्यैवौचित्यात्। न च सत्यस्य शोकादेर्दुःखजनकत्वं क्लृप्तं न कल्पितस्येति नायकानामेव दुःखं, न सहृदयस्येति वाच्यम्। रज्जुसर्पादेर्भयकम्पाद्युत्पादकतापत्तेः। सहृदये रतेरपि कल्पितत्वेन सुखजनकतानुपपत्तेश्चेति चेत्।

सत्यम् । शृङ्गारप्रधानकाव्येभ्य इव करुणप्रधानकाव्येभ्योऽपि यदि केवलाह्लाद एव सहृदय-हृदयप्रमाणकस्तदा कार्यानुरोधेन कारणस्य कल्पनीयत्वाल्लोकोत्तरकाव्यव्यापारस्यैवाह्लाद-प्रयोजकत्वमिव दुःखप्रतिबन्धकत्वमपि कल्पनीयम् । अथ यथाह्लाद इव दुःखमपि प्रमाणसिद्धं तदा प्रतिबन्धकत्वं न कल्पनीयम् । स्व-स्वकारणवशाच्चोभयमपि भविष्यति । अथ तत्र कवीनां कर्तुम्, सहृदयानां च श्रोतुं कथं प्रवृत्तिः ? अनिष्टसाधनत्वेन निवृत्तेरुचितत्वादिति चेत् । इष्टस्याधिक्यादनिष्टस्य च न्यूनत्वाच्चन्दनद्रवलेपनादाविव प्रवृत्तेरुपपत्तेः । केवलाह्लादवादिनां तु प्रवृत्तिरप्रत्यूहैव । अश्रुपातादयोऽपि तत्तदानन्दानुभवस्वाभाव्यात्, न तु दुःखात् । अत एव भगवद्भक्तानां भगवद्वर्णनाकर्णनादश्रुपातादय उपपद्यन्ते । न हि तत्र जात्वपि दुःखानुभवोऽस्ति । न च करुणरसादौ स्वात्मनि शोकादिमद्दशरथादि-तादात्म्यारोपे यद्याह्लादस्तदा स्वप्नादौ संनिपातादौ वा स्वात्मनि तदारोपेऽपि स स्यात्, आनुभविकं च केवलं तत्र दुःखमितीहापि तदेव युक्तमिति वाच्यम् । अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा, यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति । विलक्षणो हि कमनीयः काव्यव्यापारज आस्वादः प्रमाणान्तरजादनुभवात् ।'
(रसगङ्गाधर : १म आनन)

अर्थात् 'करुण' रस है—यह मान्यता ही 'लोक' और 'काव्य' के वैलक्षण्य का एक प्रबल प्रमाण है । लोक के 'दुःष्यन्तादि' के हृदय में, इष्टजन के नाश के कारण उत्पन्न 'शोक' भले ही दुःखात्मक हो, जैसा कि हुआ ही करता है, किन्तु काव्य नाट्य के दुःष्यन्तादि के हृदय के जिस 'शोक' का अभिव्यञ्जन कवि करता है वह प्रमोदात्मक ही हो सकता है । काव्य-नाट्य की लोकोत्तर शक्ति की ही यह महिमा है कि लोक के दुःखात्मक शोकादिरूप पदार्थ भी काव्य-नाट्य में अवतीर्ण होकर आह्लादात्मक ही प्रतीत होने लगते हैं । भगवद्गुणकीर्तन से साधु सन्तों की आँखों से आंसू वह निकलते हैं किन्तु ये आंसू दुःख के आंसू नहीं अपितु आनन्दातिरेक के आंसू हुआ करते हैं । 'करुण'-काव्य के श्रवण अथवा 'करुण'-नाट्य के दर्शन से भी सहृदय सामाजिकों के हृदय और नेत्र आर्द्र हो जाते हैं किन्तु इनकी यह आर्द्रता दुःख के कारण नहीं अपितु सुख के ही कारण हुआ करती है । 'करुण' रस है, आनन्दानुभवरूप काव्यार्थ है । जो करुण को रस अथवा आनन्द-चमत्कार न मान सके वह कला और काव्य के क्षेत्र में विचरण करने का अधिकारी नहीं । जो 'करुण' में दुःख मानता है उसे 'कविता' और 'कला' की कोई पहचान नहीं ।

शान्तः शमस्थायिभावः

विश्वनाथ कविराज शान्तरस के समर्थक काव्याचार्यों में हैं । आचार्य मम्मट भी शान्तरस का समर्थन कर चुके हैं । किन्तु दोनों आचार्यों में शान्तरस के स्थायीभाव के संबन्ध में मतभेद है । आचार्य मम्मट के अनुसार शान्तरस का स्थायीभाव 'निर्वेद' है—

'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।' (काव्यप्रकाश : ४र्थ उल्लास)

आचार्य मम्मट ने 'निर्वेद' को शान्त का स्थायीभाव इसलिये माना है क्योंकि नाट्याचार्य भरत ने अमङ्गलास्पद भी 'निर्वेद' शब्द से ३३ व्यभिचारिभावों की गणना प्रारम्भ की थी और ऐसा करने में उनका यही उद्देश्य था कि 'निर्वेद' स्थायीभाव के भी रूप में अभिव्यक्त हो सकता है और जिसे शान्त रस के रूप में नवम रस माना जाया करता है वह यही अभिव्यक्त स्थायीरूप 'निर्वेद' है ।

आचार्य मम्मट की इस मान्यता का आधार अभिनवभारती की यह उक्ति है—

'तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायी। एतदर्थमेव उभयधर्मोपजीवित्व (स्थायित्वव्यभिचारित्वरूपधर्मोपजीवित्व) ख्यापनाय अमङ्गलभूतोऽप्यसौ पूर्वं निर्दिष्टः।'

(अभिनवभारती : पृष्ठ २६९–७०)

जिसे अभिनवभारती (पृष्ठ ३३४) की यह उक्ति और भी स्पष्ट कर रही है—

'या चासौ तथाभूता (मोक्षरूपपरमपुरुषार्थोचिता) चित्तवृत्तिः सैवात्र (शान्तरसे) स्थायिभावः। एतत्तु चिन्त्यम्—किन्नामाऽसौ ? तत्त्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति केचित्। तथा हि दारिद्र्यादिप्रभवो यो निर्वेदः ततोऽन्य एव, हेतोस्तत्त्वज्ञानस्य वैलक्षण्यात्। स्थायिसंचारिमध्ये च एतदर्थमेवायं पठितः, अन्यथा माङ्गलिको मुनिस्तथा न पठेत्।'

किन्तु विश्वनाथ कविराज 'निर्वेद' के स्थान पर 'शम' को ही शान्तरस का स्थायीभाव मानने के पक्षपाती हैं—

'शान्तः शमस्थायिभावः उत्तमप्रकृतिर्मतः॥' (साहित्यदर्पण : ३य परिच्छेद)

विश्वनाथ कविराज के सामने 'अभिनवभारती' का वह उल्लेख प्रमाण है जिसमें कतिपय नाट्याचार्यों की मान्यता के अनुसार, शान्तरस के स्थायीभाव के रूप में, 'शम' भी प्रतिपादित किया गया है—

'शमशान्तयोः पर्यायत्वं तु हासहास्याभ्यां व्याख्यातम्। सिद्धसाध्यतया लौकिकालौकिकत्वेन साधारणासाधारणतया च वैलक्षण्यं शमशान्तयोरपि सुलभमेव।' (अभिनवभारती : पृष्ठ ३३६)

किन्तु इससे भी बढ़कर प्रमाण दशरूपककार का यह 'शान्त-विमर्श' है जिसमें 'शम' शान्त के स्थायी रूप से निरूपित किया गया है—

'निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।' (द० रू० : ४. ३६)

'शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता।' (द० रू० : ४. ४५)

यद्यपि विश्वनाथ कविराज 'शान्तरस के सम्बन्ध में' दशरूपककार के इस मत का खण्डन करते हैं कि शान्त नाट्य का रस नहीं अपितु काव्य का ही 'यथाकथञ्चित्' रस हो सकता है किन्तु 'निर्वेद' के बदले 'शम' को शान्तरस का स्थायीभाव मानने में उन्होंने दशरूपककार का अनुसरण भी किया है।

अस्तु, यहाँ यह देखना है कि 'शम' और 'निर्वेद' में, शान्तरस के स्थायी भाव के रूप में कौन अधिक मान्य है। 'निर्वेद' का अभिप्राय, साधरणतया, 'स्वावमानन' हुआ करता है। दशरूपककार ने इसीलिये कहा है—

'तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्।
तत्र चिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः॥' (दशरूपक : ४. ९)

विश्वनाथ कविराज भी दशरूपककार का ही अनुसरण करते हुए कहते हैं—

'तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्।
दैन्यचिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वसितादिकृत्॥' (सा० द० : ३. १४२)

और आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार भी 'निर्वेद' की उत्पत्ति में 'तत्त्वज्ञान' के अतिरिक्त दारिद्र्य आदि ही कारणरूप से रहा करते हैं—

'तत्र निर्वेदो नाम दारिद्र्यव्याध्यवमानाधिक्षेपाक्रुष्टक्रोधताडनेष्टजनवियोगतत्त्वज्ञानादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।' (अभिनव भारती : १ भाग, पृष्ठ ३५७)
किन्तु आचार्य मम्मट ने जिस 'निर्वेद' को शान्त का स्थायीभाव माना है वह 'स्वावमानन' नहीं हो सकता, क्योंकि उनके उद्धृत उदाहरण—

'अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः
क्वचित् पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः॥'

(काव्यप्रकाश : ४र्थ उल्लास)

में 'स्वावमानन' का कोई अभिप्राय प्रकट नहीं होता। यहाँ तो 'आत्मानात्मविवेक' से भी ऊँची भूमिका में स्थित तत्त्वज्ञानी की वह भावना अभिव्यक्त हो रही है जो सर्वत्र शिवाद्वैत का दर्शन कर रही है। यह शिवाद्वैत की भावना सर्वत्र 'समदर्शिता' का प्रतीक है। 'तत्त्वज्ञान' और 'समदर्शिता' में यहाँ उस एकरसता का अभिप्राय प्रकट हो रहा है जो कि श्रीमद्भगवद्गीता की इस सूक्ति से प्रमाणित है—

'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥'
'इहैव तैर्जितस्सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥'

(श्रीमद्भगवद्गीता : ५. १८, १९)

जहाँ 'पण्डितत्व' का अभिप्राय 'आत्मयाथात्म्यवेदन' अथवा 'ज्ञान के द्वारा आत्मविषयक अज्ञान का नाश' है और 'समदर्शिता' का अभिप्राय 'एक अविक्रिय ब्रह्म का दर्शन' है जैसा कि श्रीभगवत्पादक शङ्कर का मत है अथवा 'प्रकृति के विषम आकारों से विलक्षण ज्ञानैकाकाररूप एक आत्मा का दर्शन है जैसा कि श्री भगवद्रामानुजाचार्य का सिद्धान्त है और जहाँ 'आत्मसाम्य में स्थिति का अभिप्राय ब्रह्म में स्थिति का अभिप्राय है जो कि संसारविजय के समान है।'

अब, यदि यह निर्वेद 'स्वावमानन'रूप नहीं तब इसका क्या स्वरूप है? वैसे आचार्य मम्मट ने 'निर्वेद' का लक्षण नहीं किया है किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि शान्तरस का स्थायी यह 'निर्वेद' दारिद्र्य-व्याधि-अवमान-अधिक्षेप-इष्टजनवियोग आदि-आदि कारणों से उत्पन्न 'निर्वेद' नहीं अपितु तत्त्वज्ञानसम्भूत ही 'निर्वेद' हो सकता है। किन्तु 'तत्त्वज्ञान' से होनेवाला 'निर्वेद' स्वावमानरूप नहीं हुआ करता। यह 'निर्वेद' अभावरूप नहीं अपितु एक भावरूप पदार्थ है। समदर्शी पुरुष ब्रह्मभूत हुआ करते हैं। समदर्शिता ब्रह्मभाव है जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता का वचन है—

'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समस्सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥'

(श्रीमद्भगवद्गीता : १८. ५४)

इस 'निर्वेद' का ही नामान्तर 'तृष्णाक्षयसुख' है जिसका उल्लेख आचार्य आनन्दवर्धन ने किया है—

'शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव। तथा चोक्तम्—
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥' (ध्व० लो० उद्योत ३)

इस 'निर्वेद' और 'तृष्णाक्षयसुख' का समीकरण आचार्य अभिनवगुप्त के शब्दों में इस प्रकार है—

'तृष्णानां विषयाभिलाषाणां यः क्षयः सर्वतो निवृत्तिरूपो निर्वेदस्तदेव सुखं तस्य स्थायिभूतस्य यः परिपोषः रस्यमानताकृतस्तदेव लक्षणं यस्य स शान्तो रसः।' (ध्वन्यालोकलोचन : ३. २६)

इस प्रकार शान्त के स्थायी भाव के रूप में आचार्य आनन्दवर्धन का तृष्णाक्षयसुख' के प्रति पक्षपात और आचार्य मम्मट का 'निर्वेद' के प्रति पक्षपात—एक ही तत्त्व के प्रति पक्षपात है। 'तृष्णाक्षयसुख' के स्थान पर आचार्य मम्मट ने 'निर्वेद' का नाम इसलिये लिया है क्योंकि 'निर्वेद' नाट्यशास्त्र में परिगणित ४९ भावों में आता है किन्तु आचार्य मम्मट का निर्वेद 'न शोचति न कांक्षति' अथवा 'तृष्णाक्षयसुख' का ही अभिप्राय रखता है। ध्वनिकार ने 'निर्वेद' के अभिप्राय के प्रकाशनार्थ 'तृष्णाक्षयसुख' का उल्लेख किया है। जोकि सर्वथा युक्तियुक्त है, जैसा कि लोचनकार की उपर्युक्त धारणा से स्पष्ट है।

अब यह देखना है कि विश्वनाथ कविराज ने जिस 'शम' को शान्त का स्थायी माना है वह 'शम' क्या है ? विश्वनाथ कविराज के अनुसार 'शम' का अभिप्राय 'निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम्' का अभिप्राय है न कि 'वैराग्य आदि के द्वारा निर्विकारचित्तता' का। यह 'शम' आत्मस्वभावरूप है, तत्त्वज्ञान अथवा आत्मज्ञानरूप है और निर्वेदरूप है जैसा कि आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है—

'शम आत्मस्वभावः स शमशब्देन मुनिना व्यपदिष्टः। यदि तु स एव शमशब्देन व्यपदिश्यते, निर्वेदशब्देन वा, तत्र कश्चिद् बाधः।···तदिदमात्मस्वरूपमेव तत्त्वज्ञानं शमः तथा च यत्कालुष्योपरागविशेषा एवात्मनो रत्यादयः।···तत्त्वज्ञानलक्षणस्य च स्थायिनः समस्तोऽयं लौकिकालौकिकचित्तवृत्तिकलापो व्यभिचारितामभ्येति।···तत्त्वास्वादोऽस्य कीदृशः ? उच्यते—उपरागदायिभिः उत्साहरत्यादिभिरुपरक्तं यदात्मस्वरूपं तदेव विरलोऽभितरत्नान्तरालनिर्भासमानसिततरसूत्रवद्भाभातस्वरूपं सकलेषु रत्यादिषु उपरञ्जकेषु तथाभावेनापि सकृद् विभातोऽयमात्मेति न्यायेन भासमानं पराङ्मुखतात्मकसकलदुःखजालहीनं परमानन्दलाभसंविदेकत्वेन काव्यप्रयोगप्रबन्धाभ्यां साधारणतया निर्भासमानं अन्तर्मुखावस्थाभेदेन लोकोत्तरानन्दानयनं तथाविधहृदयं विधत्ते इति। (अभिनवभारती)

यहाँ आचार्य अभिनवगुप्त ने 'शम' और 'निर्वेद' का भी समीकरण स्थापित किया है क्योंकि जैसे 'शम' आत्मस्वभाव है वैसे ही 'निर्वेद' भी आत्मस्वभाव-रूप ही है।

श्रीमद्भगवद्गीता (२. ५२) की इस सूक्ति अर्थात्—

'यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥'

की व्याख्या में श्री आचार्य आनन्दतीर्थ ने भी 'निर्वेद' का अभिप्राय 'नितरां लाभ' अथवा 'निरतिशयलाभ' ही लिया है। यह 'निरतिशयलाभ' आत्मारामता-रूप महालाभ है।

इन उपर्युक्त विचारधाराओं के देखते 'निर्वेद' अथवा उसके समानार्थक 'शम' या 'तृष्णाक्षय-सुख' या 'आत्मज्ञान' आदि को शान्तरस के स्थायी मानने में कोई तात्त्विक भेद नहीं अपितु अन्ततोगत्वा शब्द-भेद ही प्रतीत होता है।

इस 'शम' के 'दृश्य' अथवा 'श्रव्य' काव्य के बन्ध से अभिव्यञ्जन में कोई वैषम्य नहीं जैसा कि विश्वनाथ कविराज ने स्पष्ट कहा है—

'युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।
रसतामेति तदस्मिन् संचार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा॥

यश्चास्मिन् सुखाभावोऽप्युक्तस्तस्य वैषयिकसुखपरत्वान्न विरोधः।'

(साहित्यदर्पण : ३. २५०)

विशिष्टाद्वैतदर्शन के आचार्य वेदान्तदेशिक भी यही मानते हैं कि 'शम' के अभिनय अथवा वर्णन में कोई भेद नहीं और न कोई अनुपपत्ति ही है—

'असभ्यपरिपाटिकामधिकरोति शृङ्गारिता
परस्परतिरस्कृतिं परिचिनोति वीरायितम्।
विरुद्धगतिरद्भुतस्तदलमल्पसारैः परैः
शमस्तु परिशिष्यते शमितचित्तखेदो रसः॥

न हि वयमवधूतनिखिलधर्माणामलेपकानां मतमभिनेष्यामः।···सन्ति खलु भगवता गीताचार्य्येण सहस्रशः प्रतिपादिताः सात्त्विकेन त्यागेन परिकर्मिता निवृत्तिधर्मपद्धति-नियता विविधा व्यापाराः यदभिनयेन रंगोपजीविनामाजीवावकाशः।'

(सङ्कल्पसूर्योदय : १. १९)

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः

काव्यप्रकाशकार ने 'वत्सल' रस का स्वरूपनिर्देश इसलिये नहीं किया क्योंकि उनकी दृष्टि में पुत्रादिविषयक रतिभाव की अभिव्यक्ति रसध्वनि नहीं अपितु भावध्वनि है। साहित्यदर्पणकार ने केवल काव्यप्रकाशकार से नवीनता के प्रदर्शनार्थ 'वत्सल' रस का उल्लेख नहीं किया है अपितु अपने समय के सहृदयों की विचारधाराओं के अनुमोदन में 'वात्सल्य' की अभिव्यक्ति को 'वत्सल' रस माना है। नव रसों के अतिरिक्त 'वत्सल' को भी रस मानने की एक प्राचीन ही परम्परा है जिसका उल्लेख विश्वनाथ कविराज ने स्वयं इस प्रकार किया है—

'अथ मुनीन्द्रसम्मतो वत्सलः,
स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥···'

(साहित्यदर्पण : ३. २५१)

'वत्सल' रस मुनीन्द्रसम्मत रस है—यह बात नाट्यशास्त्र की इस उक्ति से ही प्रमाणित है—

'तत्र हास्यशृङ्गारयोः स्वरितोदात्तैः, वीररौद्राद्भुतेषु उदात्तकम्पितैः, करुणवात्सल्य-भयानकेषु अनुदात्तस्वरितकम्पितैर्वर्णैः पाठ्यमुपपादयति।'

(नाट्यशास्त्र : काव्यमालासंस्करण : पृष्ठ १२७)

'वत्सल' रस का एक क्रमिक इतिहास भी है जिसे देखते वत्सल रस के प्रति विश्वनाथ कविराज का अभिनिवेश उचित ही लगता है। कतिपय प्राचीन काव्याचार्य रतिभाव में 'सांप्रयोगिक' और 'असांप्रयोगिक' भेद मानकर, सांप्रयोगिक रति की 'अभिव्यक्ति' में 'शृङ्गार' की भाँति, 'असांप्रयोगिक' रति की अभिव्यक्ति में 'प्रेयान्' को भी रसरूप में मान चुके हैं जिसका स्थायीभाव 'स्नेह' है। 'स्नेह'रूप स्थायीभाव का अभिप्राय 'सुहृत्प्रेम' है। रामायण में राम और सुग्रीव का 'स्नेह' अथवा मुद्राराक्षस में राक्षस और चन्दनदास का 'सुहृत्प्रेम' सांप्रयोगिक रति नहीं अपितु इससे सर्वथा विलक्षण प्रेमभाव है जिसकी पूर्णाभिव्यक्ति को पृथक् 'रस' मानना आवश्यक है। इसी प्रकार 'वत्सलता' भी सांप्रयोगिक रतिभाव से एक विलक्षण भाव है जिसकी अभिव्यक्ति 'वात्सल्य' रस के रूप में स्वाभाविक है। नृपविषयक अथवा गुरुविषयक रतिभाव को सांप्रयोगिक रति कैसे माना जाय! इसे 'प्रीति' कहना अधिक उपयुक्त है। इसी भाँति भगवद्विषयक रतिभाव को 'भक्ति' कहना उचित है।

रतिभाव के इन विलक्षण रूपों के अभिव्यंजन में भिन्न-भिन्न रसों की मान्यता की आलोचना भी होती आयी है जैसा कि अभिनवभारती की इन पंक्तियों से स्पष्ट है—

'आर्द्रतास्थायिकः स्नेहो रस इति त्वसत्। स्नेहो ह्यभिषङ्गः। स च रत्युत्साहादावेव, पर्यवस्यति। तथा हि बालस्य माता-पित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्तः, यूनोः मित्रजने रतौ भ्रातरि धर्मवीर एव। एवं वृद्धस्य पुत्रादावपि द्रष्टव्यम्।'

(अभिनवभारती : १. ३४२)

जिसका तात्पर्य यह है कि वात्सल्य आदि को पृथक् रस न मानकर शृङ्गारादि में ही अन्तर्भूत मानना नाट्यशास्त्र की मर्यादा का अनुसरण है।

काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र का भी यही मत है—

'स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति हि रतेरेव विशेषाः। तुल्ययोः या परस्परं रतिः स स्नेहः। अनुत्तमस्य उत्तमे रतिः प्रसक्तिः सैव भक्तिपदवाच्या। उत्तमस्य अनुत्तमे रतिः वात्सल्यम्। एवमादौ च विषये भावस्यैवास्वाद्यत्वम्।'

'संगीतरत्नाकर'कार श्री शार्ङ्गदेव भी उपर्युक्त मत के ही समर्थक हैं—

'भक्तिं स्नेहं तथा लौल्यं केचित् त्रीन् मन्वते रसान्।
श्रद्धार्द्रताभिलाषांश्च स्थायिनस्तेषु ते विदुः॥
तदसत्, रतिभेदौ हि भक्तिस्नेहौ नृगोचरौ।
व्यभिचारित्वमनयोः, नृनार्योः स्थायिनौ तु तौ॥'

किन्तु इन विचार-धाराओं के रहते हुए भी अनेक काव्यमर्मज्ञ 'वात्सल्य' आदि को पृथक् रसरूप में ही मानना उचित मानते हैं। इन काव्यमर्मज्ञों में विश्वनाथ कविराज 'वात्सल्य' रस को दशम रस मानने के पक्षपाती हैं। विश्वनाथ कविराज के अनुसार 'वात्सल्य' का स्थायी वत्सलतारूप स्नेह है। किन्तु 'कारुण्य' को 'वात्सल्य' का स्थायी मानने वाले भी लोग हैं। 'मन्दारमरन्दचम्पू' के रचयिता ने 'कारुण्य' को वात्सल्य का स्थायी कहा है—

'अन्ये तु करुणस्थायी वात्सल्यं दशमोऽपि च।'

(मन्दारमरन्दचम्पू : पृष्ठ १००)

कवि कर्णपूर के अनुसार 'वात्सल्य' का स्थायी 'ममकार' है। चाहे 'वात्सल्य' के स्थायी के नामों में विवाद क्यों न हो किन्तु विश्वनाथ कविराज द्वारा प्रतिपादित 'वात्सल्य' रस दसवें रस के रूप में मान्य अवश्य है।

अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः

रसध्वनिवादी काव्याचार्य 'रस'-'भाव' और 'रसाभास'-'भावाभास' का विवेक आवश्यक मानते हैं। आनन्दवर्धनाचार्य ने ही इस 'विवेक' का निर्देश किया है—

> 'अनौचित्यादृते नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम्।
> प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥' (ध्वन्यालोक)

अर्थात् 'रसभङ्ग' का एक ही कारण है और वह 'अनौचित्यप्रवृत्ति' है। औचित्य का अनुसरण तो रसयोजना की सफलता का रहस्य है। किन्तु यह 'अनौचित्य' क्या है जो 'रसभङ्ग' का कारण है? विश्वनाथ कविराज ने, जैसा कि प्राचीन आलङ्कारिकपरम्परा है, रसभाव के अनौचित्यप्रवृत्त होने से 'रसाभास' और 'भावाभास' की सिद्धि की है—'अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः' (साहित्यदर्पण : ३. २६२) किन्तु साथ ही साथ यह भी कहा है कि रसनात्मकता की दृष्टि से रसाभास और भावाभास—सभी उपचारतः 'रस'रूप हैं 'रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ। सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः ॥ रसनधर्मयोगित्वाद्भावादिष्वपि रसत्वमुपचारादित्यभिप्रायः।' (साहित्यदर्पण : ३. २६०) किन्तु क्या इसका यह भी अभिप्राय है कि रसनधर्म के योग से, औचित्य और अनौचित्य-प्रवृत्त काव्यरचनायें 'रसात्मक वाक्य' में ही उपचारतः अन्तर्भूत हैं? यहाँ सबसे पहले यह देखना है कि रसभङ्ग का कारणभूत 'अनौचित्य' और 'रसाभास-भावाभास' का कारणभूत 'अनौचित्य' एक ही वस्तु है या भिन्न-भिन्न। विश्वनाथ कविराज ने 'रसाभास-भावाभास'सम्बद्ध 'अनौचित्य' का यह स्वरूप-परिष्कार किया है—

'अनौचित्यं चात्र रसानां भरतादिप्रणीतलक्षणानां सामग्रीरहितत्वे त्वेकदेशयोगित्वोपलक्षणपरं बोध्यम्। तच्च बालव्युत्पत्तये एकदेशतो दर्श्यते—

> उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
> बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम् ॥
> प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते।
> शृङ्गारेऽनौचित्यं रौद्रे गुर्वादिगतकोपे ॥
> शान्ते च हीननिष्ठे गुर्वाद्यालम्बने हास्ये।
> ब्रह्मवधाद्युत्साहेऽधमपात्रगते तथा वीरे ॥
> उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ज्ञेयमेवमन्यत्र।'

(साहित्यदर्पण : ३. २६३-२६६)

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'आभास' का अभिप्राय वही लिया गया है जिसे ध्वनिकार ने माना है। ध्वनिकार के अनुसार 'आभास' का अभिप्राय 'अनुकृति' अथवा 'अमुख्यता' का अभिप्राय है। शुक्ति में रजत के 'आभास' की भाँति हास्य में शृङ्गार का 'आभास' स्वाभाविक है। विभावाद्याभास से रत्याद्याभास की अभिव्यक्ति और उसकी चर्वणाभास में विश्रान्ति जहाँ भी हो, 'रसाभास' ही है।

रसाभास-भावाभास का कारण यह अनौचित्य विभावादि के बदले विभावाभास आदि के उपनिबन्ध से ही सम्बद्ध प्रतीत होता है। विश्वनाथ कविराज ने नायक-नायिकादि-निरूपण तथा रसों के वर्ण-दैवतादिनिरूपण का यही अभिप्राय लिया है कि इनके अनुसरण से काव्यरचना होने पर 'विभावाद्याभास' से बचा जा सकता है। यह 'अनौचित्य' रसभङ्ग का कारण नहीं अपितु 'रसाभास' का कारण है। 'रसभङ्ग' का कारण जो अनौचित्य है वह 'ध्वनिकार' के अनुसार

अनुचित विभावादि की योजना से ऐसी रसाभिव्यञ्जना में देखा जा सकता है जो 'ग्राम्य' सी प्रतीत होती हो और ऐसी लगती हो जिसमें कवि की 'अशक्ति' का पता चल जाय—

'रतिर्हि भारतवर्षोचितेनैव व्यवहारेण दिव्यानामपि वर्णनीयेति स्थितिः। तथा हि अधमप्रकृत्यौचित्येनोत्तमप्रकृतेः श्रृङ्गारोपनिबन्धे का भवेन्नोपहास्यता......तस्मादभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे वा काव्ये यदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतीभिर्नायिकाभिः सह ग्राम्यसम्भोगवर्णनं तत् पित्रोः सम्भोगवर्णनमिव सुतारामसभ्यम्। तथैवोत्तमदेवतादिविषयम्। यस्त्वेवंविधविषये महाकवीनामप्यसमीक्ष्यकारिता लक्ष्ये दृश्यते स दोष एव। स तु शक्तितिरस्कृतत्वान्न लक्ष्यत इत्युक्तमेव।......तथा हि महाकवीनामप्युत्तमदेवताविषयप्रसिद्धसम्भोगश्रृङ्गारनिबन्धनाद्यनौचित्यं शक्तितिरस्कृतत्वात् ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासते यथा कुमारसम्भवे देवीसम्भोगवर्णनम्।' (ध्वन्यालोक : ३य उद्योत)

यहाँ यह स्पष्ट निर्देश है कि 'रसाभास' तो क्षम्य है किन्तु 'रसभङ्ग' नहीं। 'रसाभास' और 'भावाभास' में रसभङ्ग नहीं होता। रसभङ्ग वहाँ होता है जहाँ असभ्यता सी प्रतीत होती है। और रस-प्रतीति में सहृदय-हृदय उद्विग्न हो उठता है। रसाभास और भावाभास में 'रसना' हुआ करती है जिससे यहाँ रसभङ्ग का प्रश्न नहीं उठता। रसाभासात्मक, भावाभासात्मक काव्य भी 'रसात्मक वाक्य' हैं, अरसात्मक नहीं। किन्तु जहाँ 'रसभङ्ग' हो वह काव्य नहीं अपितु काव्याभास हो जायगा। विश्वनाथ का यही मत है जैसा कि निम्नपंक्तिओं से स्पष्ट है—

'प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्चेति। तेषां धीरोदात्तादिता। तेषामप्युत्तमाधममध्यमत्वम्। तेषु च यो यथाभूतस्तस्यायथावर्णने प्रकृतिविपर्ययो दोषः। यथा धीरोदात्तस्य रामस्य धीरोद्धतवच्छद्मना बालिवधः। यथा वा कुमारसम्भवे उत्तमदेवतयोः पार्वतीपरमेश्वरयोः सम्भोगश्रृङ्गारवर्णनम्। 'इदं पित्रोः सम्भोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचित' मित्याहुः। अन्यदनौचित्यं देशकालादीनामन्यथा यद् वर्णनम्। तथा सति हि काव्यस्यासत्यताप्रतिभासेन विनेयानामुन्मुखीकारासम्भवः।' (साहित्यदर्पण : ७म परिच्छेद)

किन्तु यहाँ विश्वनाथ कविराज ने 'कुमारसंभव' के पार्वतीपरमेश्वर-संभोग-वर्णन में 'प्रकृतिविपर्यय' का ही दर्शन किया है जिससे यहाँ रसभंग की ही मान्यता सिद्ध होती है। किन्तु ध्वनिकार ने इस संभोगवर्णन को 'अग्राम्य' और 'कविशक्तितिरस्कृत' कहा है क्योंकि यहाँ 'रसभंग' नहीं होता और न 'रसाभास' ही संभव है।

'रसाभास' के उदाहरणों में, जिन्हें विश्वनाथ कविराज ने उद्धृत किया है, यह स्पष्ट नहीं है कि 'अनौचित्य' पुरुषार्थचतुष्टय का विपर्यय है या और कुछ। जिस 'अनौचित्य' से पुरुषार्थचतुष्टय के प्रति सहृदय सामाजिक की भ्रान्त धारणा संभव है उसका कारण विश्वनाथ कविराज ने 'प्रकृतिविपर्यय' माना है जो कि रसभंग और काव्य की 'असत्यता' में परिणत हो जाता है। इससे यह अनुमान संभव है कि विश्वनाथ कविराज के अनुसार रसाभास-भावाभासविषयक 'अनौचित्य' 'असत्यत्व'-प्रतिपादक अनौचित्य नहीं अपितु 'अयोग्यत्व'-प्रतिपादक अनौचित्य है। 'असत्यत्व'-प्रतिपादक अनौचित्य का संबन्ध 'रसभंग' से ही है न कि रस-भावाभासात्मक रचनाओं से।

काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यं चेति द्विधा मतम्

विश्वनाथ कविराज ने अपने काव्य-लक्षण—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—की दृष्टि से 'चित्र'काव्य को काव्यभेद न मान कर 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' को ही काव्य-भेद माना है। उनकी दृष्टि में ध्वनिकाव्य का स्वरूप यह है—

'वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम् ।

वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यङ्ग्यार्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ध्वनिर्नामोत्तमं काव्यम् ।' (सा० द० : ४. १)

अर्थात् 'ध्वनि' वह काव्य है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यरूप अर्थ अतिशय चमत्कारजनक प्रतीत हुआ करता है। यह काव्य ही 'उत्तम' काव्य है।

यहाँ यदि 'ध्वनि' से 'रसादि' रूप व्यङ्ग्यार्थ का अभिप्राय लिया जाय, क्योंकि सर्वाधिक चमत्कारपूर्ण अर्थ रसादिरूप ही व्यङ्ग्यार्थ हुआ करता है, तब तो, इसमें 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का सामान्य लक्षण अनुगत हो जाता है, किन्तु यदि इसका वही अभिप्राय लिया जाय जो कि काव्यप्रकाशकार की इस कारिका अर्थात्—

'इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिः कथितः ।' (का० प्र० : १. ४)

का अभिप्राय है, तब यह स्पष्ट है कि यहाँ वस्तु और अलङ्कृतिरूप व्यङ्ग्यार्थ भी अभिप्रेत हैं जो कि वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक हुआ करते हैं। वस्तुतः विश्वनाथ कविराज भी ऐसा ही मानते हैं—

'वस्त्वलङ्काररूपत्वाच्छब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ।' (सा० द० : ४. ७)

किन्तु तब यह मानना आवश्यक हो जाता है कि विश्वनाथ कविराज का यह काव्यलक्षण तो 'रसध्वनि' काव्य का ही लक्षण है और ध्वनि अथवा उत्तम काव्य के भेदप्रभेद के निरूपण में, उन्होंने 'न्यग्भावित-वाच्यव्यञ्जनक्षम शब्दार्थयुगल' (काव्यप्रकाश : १. ४) को काव्य का लक्षण मान कर काम चलाया है।

'रसात्मक वाक्य काव्य है'—यह काव्यलक्षण गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य की दृष्टि से तो और भी अधिक अनुपयुक्त और अनुपपन्न लगता है। कारण यह है कि रस का संस्पर्श तो केवल अपराङ्ग अथवा इतराङ्ग नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के एक रूप के ही साथ दिखायी देता है और काक्वाक्षिप्त, वाच्यसिद्ध्यङ्ग, संदिग्ध-प्राधान्य, तुल्यप्राधान्य, अस्फुट, अगूढ आदि गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य-भेद ऐसे हैं जिनमें रसरूप व्यङ्ग्यार्थ के गुणीभाव का अभिप्राय घटित ही नहीं हो सकता।

ऐसा लगता है जैसे 'साहित्यदर्पण' के शरीरसंस्थान में कुछ कमी रह गयी है। विश्वनाथ कविराज की यह कृति अलङ्कारशास्त्र में एक अपूर्व महत्त्व रखती यदि इसके उपक्रम और उपसंहार में सामञ्जस्य रहता। किन्तु ऐसा नहीं हो पाया। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के उद्घोष के साथ साहित्यदर्पण प्रारम्भ हुआ; किन्तु कुछ ही दूर आगे चलने पर, इसका यह उद्घोष **'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि'** के रूप में परिणत हो गया।

'रसात्मक वाक्य' को 'काव्य' मानकर चलने से, काव्य के भेद-प्रभेदों में, दसों रसों के अभिव्यञ्जक दस प्रकार के 'वाक्य' और इनके समुच्चयरूप 'दस महाकाव्य' का विचार-विमर्श ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है। यह काव्यालोचन-प्रक्रिया अपनायी जा सकती थी किन्तु इसके अपनाने, पर 'वस्तु-ध्वनि' और 'अलङ्कार-ध्वनि' का क्षेत्र अछूता रह जाता और जब तक इन्हें न अपनाया जाता, तब तक 'ध्वनि' काव्य का स्वरूप-निरूपण भी कैसे किया जाता? वस्तुतः यही सोचकर ध्वनिकार ने काव्य के सामान्य लक्षण के रूप में 'ललितोचितसंनिवेश-विशिष्ट-शब्दार्थयुगल' का निरीक्षण किया है और विशेष-लक्षण के रूप में 'रसादिध्वन्यात्मक शब्दार्थयुगल' का दर्शन किया है। यही बात 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' के रूप में काव्यलक्षण बनाने वाले

आचार्य मम्मट की भी है। इस लक्षण के आधार पर काव्य-कृतियों के तारतम्य का अनुशीलन और उसके आधार पर उनकी विभाग-व्यवस्था संगत बैठ जाती है।

अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम्

विश्वनाथ कविराज ने, रसभावादिरूप परम काव्यार्थ के अवबोधन में जिस 'तुर्या' अथवा 'चतुर्थी' वृत्ति या शक्ति का निर्देश किया है वह वृत्ति या शक्ति क्या है? यहाँ यही कहा जा सकता है कि यह वृत्ति 'व्यञ्जना' वृत्ति है क्योंकि विश्वनाथ कविराज की इस उक्ति अर्थात्—

'वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधा-तात्पर्य-लक्षणाख्यानाम्।
अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम्॥ (सा० द० : ५. १)

का और कोई स्वारस्य क्या हो सकता है? रसादिबोध में 'अभिधा' व्यापार का प्रवेश असंभव है, क्योंकि रसादिरूप अर्थ सामयिक अथवा संकेतित जात्यादिरूप चतुर्विध अर्थों से सर्वथा विलक्षण प्रकार का ही हुआ करता है। यदि शब्द और रसादिरूप अर्थ में वाच्यवाचकभावसंबन्ध हो सकता तब तो रामायणादि महाकाव्यों में 'करुणरसोऽयम्' का उल्लेख अनिवार्यरूप से रहा करता! किन्तु रसादिरूप अर्थ ऐसा कहाँ कि 'करुण' आदि शब्दों के प्रयोग से प्रतीत हो जाय! 'अभिधा' की भाँति, अभिहितान्वयवादी मीमांसकों अथवा उनके अनुयायी आलङ्कारिकों की मान्यता की 'तात्पर्य-वृत्ति' भी रसादिरूप रम्य काव्यार्थ के अवबोध में असमर्थ ही दिखाई देती है। अभिहितान्वयवादी लोगों की तात्पर्यवृत्ति केवल अन्वयबोध में ही सारी शक्ति समाप्त कर देती है। रसादिरूप अर्थ और अन्वयबोध में क्या संबन्ध! जिन्हें अन्वयबोध हो सकता है वे रसादिरूप अर्थ की पहचान नहीं रखा करते। 'लक्षणा' शक्ति के साथ भी रसादिरूप रम्य काव्यार्थों का कोई संबन्ध नहीं क्योंकि न तो रसादिरूप रम्य काव्यार्थ की प्रतीति में शब्दों के मुख्यार्थ-बाध की ही कोई संभावना हुआ करती है और न शब्दों के मुख्यार्थ और रसादिरूप रम्य अर्थों में सामीप्य, सादृश्य, वैपरीत्य आदि-आदि सम्बन्ध ही दिखायी दिया करते हैं। रसादिरूप अर्थों के प्रतिपादन में शब्द की न तो कोई रूढि है और न प्रयोजन। रूढि और प्रयोजन तो व्यावहारिक जीवन के शब्द-प्रयोगों के प्रयोजक हैं और रसादिरूप अर्थ कलात्मक जीवन की प्राप्ति है जिसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति से उत्तीर्ण आह्लाद अथवा आनन्द ही लक्ष्यरूप से प्रतीत होता है।

'शब्द' और 'रस' के संबन्ध में यह समस्या एक बहुत प्राचीन समस्या है। इस समस्या के समाधान में ही ध्वनिदर्शन का जन्म हुआ। विश्वनाथ कविराज एक ध्वनिदार्शनिक काव्याचार्य हैं। उन्होंने ध्वनिकार की मान्यता के प्रमाण पर काव्यरूपशब्द और रसादिरूप अर्थों के संबन्ध का निर्धारण किया है। ध्वनिदर्शन की दृष्टि से काव्य और रसादिरूप अर्थों में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूप संबन्ध ही सर्वतोभद्र प्रतीत होता है। इसीलिये विश्वनाथ कविराज ने इस संबन्ध को न मानने वाले आचार्यों की तीव्र आलोचना भी की है जिनमें 'दशरूपककार' का उल्लेख स्पष्टतया किया हुआ है। दशरूपककार यह मानते हैं—

'काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशय-सुखास्वाद-व्यतिरेकेण प्रतिपाद्य-प्रतिपादकयोः (स्थायिविभावाद्ययोः) प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते, तदनुभूतिनिमित्तत्वञ्च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते, अतो वाक्यस्याभिधानशक्तिस्तेन तेन रसेनाकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तर-

विभावादि-प्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते, तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः। तदेतत् काव्यवाक्यं यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ।'

(दशरूपक : ४. ३७)

अर्थात् काव्यशब्दों का प्रयोजन एक विशेष प्रकार की प्रवृत्ति का उत्पादन है। यह प्रवृत्ति सहृदय-हृदय का आह्लाद है जो कि विभावादि-संसृष्ट रत्यादिरूप स्थायीभावों का कार्य है। काव्य-वाक्य के विश्लेषण में यही दिखायी दे सकता है कि विभावादि पदार्थरूप हैं और रत्यादिरूप स्थायीभाव, वाक्यार्थरूप। इस दृष्टि से काव्यवाक्य और रस अथवा आह्लाद में, व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव नामक नये संबन्ध की कल्पना अनावश्यक है क्योंकि यहाँ भाव्यभावक भावरूप संबन्ध से ही कार्य चल जाता है जैसा कि नाट्यशास्त्र का संकेत है—

'भावाभिनयसंबन्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥'

विश्वनाथ कविराज ने इस उपर्युक्त मान्यता का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। उनका कहना यह है कि 'यदि रसादिबोध विषयक वृत्ति को तात्पर्यवृत्ति कहा जाय, तब, यह तो कहा नहीं जा सकता कि यह 'तात्पर्यवृत्ति' अभिहितान्वयवादी मीमांसकों की मान्यता की वृत्ति है, इसलिये अन्ततोगत्वा इसे या तो 'भावना' (भट्टनायक की भावकता) कहना पड़ेगा या 'व्यञ्जना' कहना पड़ेगा। ऐसी परिस्थिति में भावना-व्यञ्जना और रसादि-विषयक तात्पर्यवृत्ति एक ही वृत्ति के तीन नाम होंगे, जिसमें, व्यञ्जनावाद को कोइ आपत्ति नहीं। यहाँ दूसरी बात यह भी है कि 'रसभावादि' रूप अर्थ प्रवृत्त्यात्मक नहीं अपितु ऐसे अर्थ हैं जिनके संबन्ध में 'प्रवृत्ति' की चर्चा ही असंगत है। रसभावादिरूप अर्थ यदि प्रवृत्त्यात्मक माने गये तो काव्य और शास्त्र का भेद ही मिट गया! रसभावादि को विलक्षण प्रवृत्ति भी मानना असंभव है क्योंकि रसभावादि के 'आस्वाद' में 'प्रवृत्ति' भी विश्रान्त हो जाती है। रस अथवा आह्लाद तो ब्रह्मास्वादसविध तत्त्व है जिसमें 'प्रवृत्ति' का प्रवेश ही असंभव है।

यह तुर्या अथवा चतुर्थी वृत्ति 'व्यञ्जना' वृत्ति ही है जिसे विशेषतः रसानुभव की दृष्टि से 'रसना' भी कहा गया है। नाम के सम्बन्ध में विवाद का कोई महत्त्व नहीं। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसीलिये कहा है—

'तस्मादभिधा-तात्पर्य-लक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वनन-द्योतन-व्यञ्जन-प्रत्यायन-अवगमनादि-सोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः।'

(ध्वन्यालोक : १. ४)

और रसानुभव की दृष्टि से भी व्यञ्जना के विविध नामों का उल्लेख कर दिया है—

'अलौकिके द्रुतिविस्तरविकासात्मनि भोगे कर्तव्ये लोकोत्तरो ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः।'

'यथा प्रतीतिमात्रत्वेनाविशिष्टत्वेऽपि प्रात्यक्षिकी, आनुमानिकी, आगमोत्था, प्रतिभानकृता, योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिरुपायवैलक्षण्यादन्यैव, तद्वदियमपि प्रतीतिश्चर्वणास्वादनभोगापरनामा भवतु।···सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव।' (ध्वन्यालोकलोचन : २य उद्योत)

बोध की दृष्टि से जैसे व्यञ्जना और रसना एकरूप हैं, वैसे ही व्यापार की दृष्टि से भी इनमें एकरूपता ही रहा करती है। ध्वनिवादी आलङ्कारिक 'चतुर्थी वृत्ति' की मान्यता को अनिवार्य

मानते हैं न कि इस वृत्ति के 'नाम' पर उनका कोई वादविवाद अथवा आग्रह है। यह एक दूसरी बात है कि कुछ लोग वस्तुरूप और अलङ्काररूप प्रतीयमान अर्थों की भी प्रतिपत्ति के लिये, जिनमें रसभावादिरूप अर्थों की अपेक्षा चमत्कार की न्यूनता स्वाभाविक है, इस चतुर्थी वृत्ति को व्यञ्जना कहें और रसभावादिरूप निरतिशय-सुखास्वादमय काव्यार्थ के लिये, इसे ही 'रसना' कहें—

'सा चेयं व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः।
रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिं रसनाख्यां परे विदुः॥' (सा० द० : ५. ५)

भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः

'दृश्य' काव्य को 'अभिनेय' काव्य कहा जाता है और 'अभिनेय' काव्य को 'रूपक'। 'दृश्य', 'अभिनेय' और 'रूपक' शब्दों में एक ही वस्तु के तीन दृष्टिकोणों से देखे जाने के अभिप्राय अन्तर्भूत हैं। 'दृश्य' शब्द से सामाजिक द्वारा नाट्यरूप वस्तु के चाक्षुष प्रत्यक्ष का अभिप्राय निकलता है, 'अभिनेय' शब्द से यह पता चलता है कि नाट्यरूप वस्तु नट की कला के प्रदर्शन का विषय है और 'रूपक' शब्द से यह संकेत होता है कि नाट्यरूपवस्तु की सृष्टि तभी होती है जब कि कवि नट पर रामादि का अभेदारोप कर दे। चाहे नाट्यरूप वस्तु 'दृश्य' हो या 'अभिनेय' हो या 'रूपक' हो या भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखी गयी एक ही वस्तु हो, जो कि वह वस्तुतः है, इतना निश्चित है कि विना 'अभिनय' के उसका अस्तित्व असंभव है। यह 'अभिनय' क्या है? विश्वनाथ कविराज ने 'अभिनय' को 'अवस्थानुकार' कहा है—

'भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः' (सा० द० ६. २)

यह 'अवस्थानुकार' क्या है? 'अवस्थानुकार' का अभिप्राय राम-युधिष्ठिर आदि के साथ नट की 'तादात्म्यापत्ति' है जिसका साधन अङ्ग, वाणी, वेश और सत्त्व का अभिनयचतुष्टय है जो कि नट की कला है। अङ्ग-वाणी-वेश और सत्त्व के अभिनयचतुष्टय का नाम क्रमशः आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनय है—

'..............................स चतुर्विधः।
आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा॥' (सा० द० : ६. २)

इनमें पहला अर्थात् 'आङ्गिक' अभिनय वह है जिसमें नट अपने सिर, हाथ, उरः-स्थल, पार्श्व, कटि और पैर–इन ६ अङ्गों तथा नेत्र, भ्रुकुटि, नासिका, अधर, कपोल और चिबुक–इन ६ उपाङ्गों द्वारा रामादि के साथ 'तादात्म्य' अथवा 'अभेद' का अनुसंधान किया करता है। नाट्यशास्त्रकार ने स्पष्ट कहा है—

'अभिपूर्वस्तु णीञ्धातुराभिमुख्यार्थनिर्णये।
यस्मात् पदार्थान्नयति तस्मादभिनयः स्मृतः॥
विभावयति यस्माच्च नानार्थान् हि प्रयोगतः।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः॥' (ना० शा० : ८. ६,७)

दूसरे अभिनय-प्रकार अर्थात् 'वाचिक' अभिनय का तात्पर्य 'संगीतचूडामणि' के अनुसा यह है—

'रामानुषङ्गि यद् वाक्यं नाट्ये तद् वाचिकं स्मृतम्।'

अर्थात् वाचिकाभिनय वह अभिनय है जिसमें नट, रसोचित राग-लय आदि से समन्वित, 'वाणी' द्वारा, रामादि के साथ, तादात्म्यारोप से, सहृदय-हृदय में विभावादि की अभिव्यञ्जना किया करता है।

तीसरा अभिनय-प्रकार 'आहार्याभिनय' है जिसका साधारण लक्षण यह है—

'आहार्याभिनयो नाट्योचितालङ्कारधारणम्।'

अर्थात् आहार्याभिनय वह अभिनय है जिसमें नट, वेशभूषा के द्वारा, रामादि के साथ, अपने तादात्म्यारोप को सामाजिकों पर अभिव्यक्त किया करता है।

चौथा अभिनय-प्रकार 'सात्त्विक' अभिनय है। नाट्याचार्य भरत ने 'सत्त्व' को इस प्रकार समझाया है—

किमन्ये भावाः सत्त्वेन नाभिधीयन्ते येनैते सात्त्विका उच्यन्ते? अत्रोच्यते—इह हि सत्त्वं नाम मनःप्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते। मनःसमाधानाच्च सद्यो निर्वृतिरिति। तस्य योऽसौ स्वभावो रोमाञ्चास्वादिकृतः स न शक्यतेऽन्यमनसा कर्तुमिति। लोकस्वभावानुकरणाच्च नाट्यस्य सत्त्वमीप्सितम्। को दृष्टान्तः? इह हि नाट्यधर्मप्रवृत्ताः सुखदुःखकृतो भावास्तथा सत्त्वविशुद्धाः कार्या यथा सरूपा भवन्ति। दुःखं नाम रोदनात्मकम् तत्कथमदुःखितेन, सुखं च प्रहर्षात्मकं तत् कथं दुःखितेनाभिनेयम्। एतदेवास्य सत्त्वं यद् दुःखितेन सुखितेन वाऽश्रुरोमाञ्चौ दर्शयितव्याविति कृत्वा सात्त्विका भावा इत्यभिव्याख्या।'

जिसके देखते 'सात्त्विक' अभिनय में 'स्तम्भ', 'स्वेद' आदि के प्रदर्शन द्वारा, नट में, रामादि के तादात्म्यारोप की संपन्नता का अभिप्राय लिया जाया करता है।

विश्वनाथ कविराज ने इस 'अभिनय'-चतुष्टय का संकेतमात्र किया है क्योंकि उनका उद्देश्य केवल इतना बताना है कि 'अभिनय' रूपक अथवा दृश्यकाव्य के विभावादि के 'अभिनयन' अथवा 'अभिव्यञ्जन' में समर्थ अभिनेता अथवा नट की कला है।

सर्गबन्धो महाकाव्यम्

आचार्य दण्डी ने भी 'महाकाव्य' की परिभाषा की है। उनके अनुसार महाकाव्य का स्वरूप यह है—

'सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्॥
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम्॥
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः॥
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि॥
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।

सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसंधिभिः ॥
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जकम् ।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायेत सदलंकृति ॥'

(काव्यदर्श : १. १४-१९)

अलङ्कार-वाद के आचार्य दण्डी के लिये, 'महाकाव्य' के लक्षणों में, उन सभी विशेषताओं का निर्देश कर देना स्वामाविक है जो कि 'रघुवंश' आदि सर्गबन्धात्मक रचनाओं की विशेषतायें हैं। किन्तु रसध्वनिवादी कविराज विश्वनाथ ने, अपने महाकाव्यलक्षण में उन बातों का भी निर्देश कर दिया है जो कि रसध्वनिवाद की दृष्टि से ही महाकाव्य में देखी जा सकती हैं। 'रसध्वनि'-वाद की दृष्टि से ही, विश्वनाथ कविराज ने, महाकाव्य के लिये, श्रृङ्गार, वीर और शान्त में से किसी एक को अङ्गी और दूसरे रसों को अङ्गरूप से निर्दिष्ट किया है—

'श्रृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः.................।'

(सा० द० : ६. ३१७)

विश्वनाथ कविराज का 'महाकाव्य'लक्षण कई बातों में सर्वमान्य हो चुका है। केवल कुछ थोड़ी सी बातें रह गयी हैं जिनका निर्देश संभवतः इसलिये नहीं किया जा सका, क्योंकि प्राचीन अलङ्कारशास्त्र का प्रभाव रसध्वनिवादी आलङ्कारिकों पर भी प्रायः जमा ही रहा। ये थोड़ी सी बातें वे हैं जिन्हें ध्वनिकार आनन्दवर्धन की इन उक्तियों में देखा जा सकता है—

'संधिसंध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्र-स्थितिसंपादनेच्छया ॥
अलंकृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम् ।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥'

(ध्वन्यालोक : ३. १२, १४)

अर्थात् दृश्य अथवा श्रव्य काव्य में संधि-संध्यङ्ग-घटना का अभिप्राय शास्त्राज्ञा का पालन नहीं लेना चाहिये। सन्धि-संध्यङ्ग-घटना का प्रयोजन तो रसभाव की अभिव्यञ्जना है। इस दृष्टि से उतनी ही संधियों और उतने ही संध्यङ्गों की योजना अपेक्षित है जिससे रसभाव की अभिव्यक्ति में सहायता मिले। इसके अतिरिक्त अलंकृति-योजना में भी रसाभिव्यञ्जन की ही अपेक्षा नियामक रूप से रहनी चाहिये।

इस कमी के रहने पर भी, विश्वनाथ कविराज का महाकाव्य-लक्षण, ऐसे महाकाव्यलक्षण से कई गुना उत्तम और उपादेय है जिसे इन पंक्तियों में देखा जा सकता है—

'नगरार्णव-शैलर्तु-चन्द्रार्कोदय-वर्णनम् ।
उद्यान-सलिल-क्रीडा-मधुपान-रतोत्सवाः ॥
विप्रलम्भो विवाहश्च कुमारोदयवर्णनम् ।
मन्त्रद्यूतप्रयाणानि नायकाभ्युदया अपि ॥
एतानि यत्र वर्ण्यन्ते तन्महाकाव्यमुच्यते ।'

(विद्याधर : प्रतापरुद्रीय : काव्यप्रकरण)

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यम्

विश्वनाथ कविराज ने 'गद्य' को 'वृत्तगन्धोज्झित' रचना कहा है। ध्वनिकार भी 'गद्य' को 'छन्दोनियमवर्जित' रचना कह चुके हैं। गद्य को 'अपाद-पदसंतान' कहने का भी अभिप्राय यही है कि गद्य कवियों का वह प्रबन्ध-प्रस्थान है जो 'वृत्त' अथवा 'छन्दोबन्ध' से भिन्न प्रकार का हुआ करता है। किन्तु इतने से ही 'गद्यकाव्य' का स्वरूप-निरूपण संभव नहीं। 'गद्यकाव्य' के स्वरूप-निरूपण के लिये तो ध्वनिकार की इस मान्यता का निर्देश करना आवश्यक था—

'रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद्विभेदवत्॥

'अथवा पद्यवद्गद्यबन्धेऽपि रसबन्धोक्तमौचित्यं सर्वत्र संश्रिता रचना भवति। तत्त विषयापेक्षं किञ्चिद् विशेषवद् भवति, न तु सर्वाकारम्। तथा हि गद्यबन्धेऽप्यतिदीर्घसमासा रचना न विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोराख्यायिकायामपि शोभते।...विषयापेक्षं त्वौचित्यं प्रमाणतोऽपकृष्यते प्रकृष्यते च। तथा ह्याख्यायिकायां नात्यन्तमसमासा।'

(ध्वन्यालोक : ३. ९)

जिसका अभिप्राय यह है कि 'गद्य' और 'पद्य' तो काव्य के माध्यम हैं। गद्यकाव्य में भी रसबन्ध-विषयक उसी औचित्य का अनुसरण आवश्यक है जो कि पद्यकाव्य के लिये अपेक्षित है। यहाँ भी एक रस की अङ्गीरूप से अभिव्यक्ति और उसके उपस्कारक रसों की योजना का वही स्थान और महत्त्व है जो कि पद्यकाव्य में रहा करता है। गद्यकाव्य के विषयों अर्थात् कथा-आख्यान-आख्यायिका आदि-आदि भेदों की दृष्टि से कुछ थोड़ा रचना-परिवर्तन यदि हो भी तो भी कोई आपत्ति नहीं।

'गद्य' के चार भेद, जिन्हें मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक कहा गया है, गद्यकाव्य के भेद नहीं अपितु गद्यबन्ध के भेद हैं। ध्वनिकार ने तो 'दीर्घसमासा', 'अल्पसमासा' और 'असमासा' रचना को ही गद्य के भेदरूप से निर्दिष्ट किया था, किन्तु बाद की गद्यकाव्यात्मक प्रवृत्तियों के देखते, 'वृत्तगन्धि' बन्ध मी गद्य के एक प्रकाररूप में मान लिया गया जिसका विश्वनाथ कविराज ने इस प्रकार उल्लेख किया है—

'............गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम्॥ (सा० द० : ६. ३३०)

रसापकर्षका दोषाः

विश्वनाथ कविराज का दोष-स्वरूप-निरूपण उनके काव्य-स्वरूप-निरूपण से संगत हो जाता है 'रसात्मक वाक्य' काव्य है और जिसे उसका 'दोष' कहते हैं वह रसरूप आत्मतत्त्व के अपकर्ष का हेतु है। किन्तु इस दृष्टि से तो उन्हीं दोषों का निरूपण किया जा सकता है जो रसापकर्षक दोष हैं। रसापकर्षक दोषों में विशेषतया इन्हीं की गणना है—

'रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसञ्चारिणोरपि।
परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः॥
आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः॥

अङ्गिनोऽननुसंधानमनङ्गस्य च कीर्तनम्।
अतिविस्तृतिरङ्गस्य प्रकृतीनां विपर्ययः॥
अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः॥'

(साहित्यदर्पण : ७. १२-१५)

ऐसी परिस्थिति में; पद, पदांश, वाक्य और अर्थ-दोषों का विवेक, जिसे साहित्यदर्पणकार ने किया है, किस प्रकार समञ्जस हो सकता है ? क्या यहाँ आचार्य मम्मट की काव्य-परिभाषा का प्रभाव नहीं दिखायी देता ? किन्तु यहाँ यह बात भी है कि जब पद, पदांश, वाक्य और अर्थ के दोषों से 'वाक्य' दूषित हो जाय तब 'रस' रूप आत्मतत्त्व के समीचीन अभिव्यञ्जन में भी तो कमी आ ही जायगी। इसलिये पञ्चविध दोषतत्त्व के निरूपण में कोई अनुपपत्ति नहीं। इन दोषों में, कुछ इसलिये 'रसविघातक' हैं क्योंकि उनके द्वारा 'रसादि की प्रतीति' में रुकावट पड़ जाती है, कुछ इसलिये वर्जनीय हैं क्योंकि वे 'रसादि-प्रकर्ष की प्रतीति' में बाधक हैं और कुछ इसलिये रसापकर्षक हैं क्योंकि वे 'रसादि-प्रतीति' में विलम्ब लगा दिया करते हैं।

कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातविरुद्धता

विश्वनाथ कविराज ने 'कविसमय' का भी निरुपण किया है। 'कविसमय' का विशद विचार सर्वप्रथम कविराज राजशेखर का किया हुआ है। राजशेखर ने 'कविसमय' का अभिप्राय यह बताया है—

'अशास्त्रीयमलौकिकञ्च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः। 'नन्वेष दोषः कथङ्कारं पुनरुपनिबन्धनार्हः' ? इत्याचार्याः। 'कविमार्गानुग्राही कथमेष दोषः' इति यायावरीयः। 'निमित्तं तर्हि वाच्यम् ?' इति आचार्याः। 'इदमभिधीयत' इति यायावरीयः। पूर्वे हि विद्वांसः सहस्रशाखं साङ्गं च वेदमवगाह्य, शास्त्राणि चावबुद्ध्य, देशान्तराणि द्वीपान्तराणि च परिभ्रम्य, यानर्थानुपलभ्य प्रणीतवन्तस्तेषां देशकालान्तरवशेनान्यथात्वेऽपि तथात्वेनोपनिबन्धो यः स कविसमयः। कविसमयशब्दश्चायं मूलमपश्यद्भिः प्रयोगमात्रदर्शिभिः प्रयुक्तो रूढश्च। तत्र कश्चिदायत्त्वेन व्यवस्थितः कविसमयेनार्थः, कश्चित् परम्परोपक्रमार्थं स्वार्थाय धूर्तैः प्रवर्तितः। स च त्रिधा स्वर्ग्यो भौमः पातालीयश्च। स्वर्ग्यपातालीययोः भौमः प्रधानः। स हि महाविषयकः। स च चतुर्धा जाति-द्रव्य-गुण-क्रियारूपार्थतया। तेऽपि प्रत्येकं त्रिधा—असतो निबन्धनात्, सतोऽप्यनिबन्धनात्, नियमतश्च'। (काव्यमीमांसा : १४वाँ अध्याय)

इससे यह स्पष्ट है कि राजशेखर के पहले 'कविसमय' की मीमांसा समीचीन नहीं हो पायी थी। 'कविसमय' को 'कविपरम्परा' कह सकते हैं। कवि-परम्परा लोक और शास्त्र के अनुसार भी हो सकती है और विरुद्ध भी। लोक अथवा शास्त्र के अनुसार चलने वाली कवि-परम्परा 'कवि-समय' में नहीं आती। 'कविसमय' के भीतर अलौकिक और अशास्त्रीय पदार्थ-वर्णन ही आता है। अशास्त्रीय और अलौकिक पदार्थ-वर्णन काव्यरचना को सुविधा प्रदान करता है। 'कविसमय' में कुछ बातें तो 'प्राचीन व्यवस्था' वाली हैं और कुछ ऐसी भी हैं जिन्हें 'नवीन व्यवस्था' कह सकते हैं, जिनका प्रवर्तन-प्रामाणिक नहीं। स्वर्ग, पाताल और भूलोक के देखे-अनदेखे पदार्थ-सार्थ का उपनिबन्ध लोकावेक्षण और शास्त्रावेक्षण का परिणाम नहीं, अपि तु काव्यावेक्षण का परिणाम हो

सकता है। ऐसे पदार्थवर्णन में वस्तुसत्ता और वस्तु-स्वभाव का विपर्यय स्वाभाविक है। नदियों में नीलकमल, जलमात्र में हंस, पर्वतमात्र में रत्न–सुवर्ण आदि-आदि का वर्णन 'असत्' का उपनिबन्ध है किन्तु परम्परा से चला आ रहा है, इसलिये इसका अनुसरण काव्य-दोष नहीं अपि तु 'गुण' है। इसी प्रकार वसन्त में मालती के न खिलने, चन्दन वृक्ष में फल-फूल के न होने आदि का वर्णन 'सत्' का भी अवर्णन अथवा अनिबन्धन है। 'नियमतः उपनिवन्ध' भी कतिपय वस्तुओं का देखा जाता है जैसे कि मकर का वर्णन समुद्र–वर्णन में ही हुआ करता है, मौक्तिक का वर्णन ताम्रपर्णी नदी के वर्णन-प्रसङ्ग में ही किया जाता है आदि-आदि।

विश्वनाथ कविराज के समय तक 'कविसमय' का अनुपालन कविजन का कर्तव्य हो चला था। विश्वनाथ कविराज के लिये 'कविसमय' आलोच्य विषय नहीं अपि तु 'प्रतिपाद्य' विषय है। 'कविसमय' के देखते 'ख्यातविरुद्धता' का दोष 'दोष' नहीं अपि तु 'गुण' हो जाया करता है—इस सिद्धान्त के समर्थन में विश्वनाथ कविराज ने 'कविसमय' का निर्देश किया है। वैसे काव्यप्रकाशकार ने भी 'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' दोष के निदर्शन में यह कहा है—

'सुसितवसनालङ्कारायां कदाचन कौमुदी-
महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः।
तदनु भवतः कीर्तिः केनाप्यगीयत येन सा
प्रियगृहमगान्मुक्ताशङ्का क्व नासि शुभप्रदः॥

अत्रामूर्ताऽपि कीर्तिः ज्योत्स्नावत् प्रकाशरूपा कथितेति लोकविरुद्धमपि कविप्रसिद्धेर्न दुष्टम्।' (काव्यप्रकाश : ७म उल्लास)

किन्तु इसमें 'कविसमय' का कोई पता नहीं चलता। 'कविप्रसिद्धि' ही रूढमूल होकर 'कविसमय' बन जाती है—इतना निष्कर्ष यहाँ अवश्य निकल जाता है।

यहाँ यह देखना है कि विश्वनाथ कविराज के 'कविसमय' और 'रसात्मक वाक्यरूप काव्य' में परस्पर क्या संबन्ध हो सकता है। विश्वनाथ कविराज ने 'लोकशास्त्रादि के अवेक्षण से उत्पन्न व्युत्पत्ति अथवा निपुणता' को काव्योत्पत्ति के हेतुरूप में कहीं नहीं बताया। आचार्य मम्मट के लिये तो 'कविप्रसिद्धि' भी 'व्युत्पत्ति' का ही परिणाम मानी जा सकती है। किन्तु केवल 'शक्ति' को रसमयी रचना के हेतुरूप में मानने वाले आचार्य के लिये 'कविसमय' की मान्यता का क्या अर्थ ? ऐसा लगता है कि रसवाद की स्थापना के बाद, कविजन, विभावादियोजना के लिये, 'सत्' और 'असत्' के उपनिबन्ध में कोई भेदभाव करना उचित नहीं समझते होंगे। नदियों और समुद्रों में कमलों और कुमुदों का वर्णन, प्राकृतिक दृश्य के वर्णन की दृष्टि से तो महान् अनर्थ सा ही लगता है किन्तु यदि इसमें उचित रस-भाव की अभिव्यक्ति का सामर्थ्य है तब यह सब उपादेय है अनुपादेय नहीं। कवियों का रस और भाव जब तक नाट्यशास्त्र का ही रस-भाव न मान लिया जाय तब तक 'कविसमय' की मान्यता समझ में नहीं आती। जो कवि अपनी आँखों से प्रकृति-दर्शन करें अथवा अपनी भावना से वस्तु-स्वभाव का सौकुमार्यपरिस्पन्द देखे वह 'कविसमय' का अनुमोदक कदापि नहीं हो सकता। 'कविसमय' का अनुमोदन तो 'शास्त्र-स्थिति-संपादनेच्छया' ही हो सकता है और वही कवि कर सकता है जो नाट्यशास्त्र और अलङ्कारशास्त्र के अध्ययन से रसात्मक वाक्यों की रचना करे। सत्कवि-प्रबन्धों में व्योम की कालिमा अथवा पाप की कालिमा, यश की शुभ्रता

अथवा हास की शुभ्रता आदि को 'कविप्रौढोक्ति' क्यों न माना जाय ? हाँ, यदि इसका अनुकरण होने लगे तब 'कविप्रसिद्धि' से 'कविसमय' का अद्भुत जीव अवश्य उत्पन्न हो जाता है और इसके रहते 'रसात्मक वाक्य' भी वस्तुतः काव्य नहीं हो सकते, चाहे प्रत्येक पद-पदार्थ रसाभिव्यञ्जक ही क्यों न प्रतीत हों ? जब कि रसवाद के अनुसार लोक के ही कारण-कार्य और सहकारी तत्त्व, जो लोकगत चित्तवृत्तियों के उत्पादन में समर्थ हुआ करते हैं, काव्य में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के रूप में प्रतीत हुआ करते हैं, तब 'कविसमय' कहाँ से उत्पन्न हो जाता है ? यह 'कविसमय' यदि ऐसे 'काव्यलोक' की कल्पना कराता है जिसमें कुछ भी कुछ हो सकता है तब 'लोक' और 'काव्य' में संबन्ध कहाँ और रसभाव की अभिव्यञ्जना के लिये, लोकजीवन के स्पर्श का क्या अवसर ? रसध्वनिवादी आचार्य के लिये तो 'कविसमय' की आलोचना अपेक्षित थी क्योंकि 'रसयोजना' और 'प्रकृत्याचौचित्य' का संबन्ध अटूट रहा करता है। प्रकृत्याचौचित्य के सिद्धान्त के देखते 'कविसमय' की मान्यता को प्रोत्साहित करना उचित नहीं लगता।

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा। गुणाः······

सभी रसध्वनिवादी आलङ्कारिकों की भाँति विश्वनाथ कविराज भी माधुर्य, ओज और प्रसाद को 'रसमात्रधर्म' मानते हैं। इन गुणों को 'शब्दार्थधर्म' मानना, जैसा कि रीतिवादी काव्याचार्यों का कथन है, ठीक नहीं। 'रसात्मकता' में 'गुणात्मकता' समन्वित है क्योंकि माधुर्य आदि गुणत्रय रसों के स्वरूपविशेष हैं। 'रसात्मक' अथवा रसभावाभिव्यञ्जक पद-संदर्भ काव्य है और माधुर्य आदि गुणत्रय साक्षात् रस के उत्कर्षवर्धक होने से, परम्परया, रसात्मक वाक्य अथवा रसाभिव्यञ्जक पदकदम्ब के उत्कर्षवर्धक माने जा सकते हैं।

माधुर्यादि गुणत्रय के स्वरूप-निरूपण में विश्वनाथ कविराज अन्य ध्वनिवादी काव्याचार्यों के साथ मतभेद रखते प्रतीत होते हैं। आचार्य मम्मट के अनुसार 'माधुर्य' करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार और शान्त रसों में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट रूप से अनुभव किया जाया करता है। इन रसों का स्वरूप यह 'माधुर्य' एक 'आह्लाद'-विशेष है जिसके द्वारा सहृदय सामाजिक के हृदय में 'द्रुति' उत्पन्न होती है अर्थात् सहृदय सामाजिक का चित्त एक अलौकिक आनन्द से पिघल सा पड़ता है—

> 'आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।
> करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्॥'
>
> (काव्यप्रकाश : ८म उल्लास)

यही 'माधुर्य'-स्वरूप ध्वनिकार को भी अभीष्ट है। वैसे ध्वनिकार की दृष्टि में इसके उत्तरोत्तर उत्कृष्ट अनुभव का क्रम बदला हुआ है—

> 'शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
> माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः॥' (ध्वन्या० : २. ८.)

विश्वनाथ कविराज के मत में 'आह्लाद और 'चित्त का द्रवीभाव' एक ही वस्तु है न कि भिन्न-भिन्न, जिससे इनमें कार्यकारणभाव की कल्पना, जिसे ध्वनिकार और काव्यप्रकाशकार ने की है, असंगत मानी जानी चाहिये। विश्वनाथ कविराज की दृष्टि में माधुर्य की अनुभूति का प्रकर्ष-तारतम्य भी भिन्न है क्योंकि उनके अनुसार संभोगशृङ्गार, करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार और शान्तरस के आस्वाद में 'माधुर्य' अथवा 'चित्तद्रुति' का उत्तरोत्तर उत्कर्ष-क्रम अधिक उचित है—

> 'चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।
> संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात्॥' (सा० द० : ८. २)

यही बात 'ओज' के स्वरूप के संबन्ध में भी दिखायी देती है। आचार्य आनन्दवर्धन और काव्यप्रकाशकार के अनुसार 'ओज' का तात्पर्य 'दीप्ति' है जिसे वीरादि रसों के अनुभव में अनुभव किया जाया करता है और जिसके द्वारा सहृदय सामाजिक 'अपने 'चित्त-विस्तार' का अनुभव किया करता है—

'दीप्त्याऽऽत्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति।' (काव्यप्रकाश : ८म उल्लास)

किन्तु विश्वनाथ कविराज की दृष्टि में 'चित्तविस्तार' ही ओज है और 'दीप्ति' और 'चित्तविस्तार' में कार्यकारणभाव-संबन्ध की मान्यता असंगत है—

'ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते।
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु॥' (सा० द० : ८. ४)

'ओज' के उत्तरोत्तर अनुभव-प्रकर्ष के संबन्ध में भी ध्वनिकार और काव्यप्रकाशकार तथा साहित्यदर्पणकार में मतभेद है। ध्वनिकार के अनुसार रौद्ररस ओजस्वी है किन्तु उसकी अपेक्षा वीर अधिक ओजस्वी है, काव्यप्रकाशकार ने वीर को ओजस्वी और उसकी अपेक्षा बीभत्स और रौद्र को अधिक ओजस्वी माना है। विश्वनाथ काव्यप्रकाशकार की इस मान्यता से सहमत हैं।

'प्रसाद' गुण के स्वरूप-दर्शन में साहित्यदर्पणकार और काव्यप्रकाशकार में मतभेद नहीं दिखायी देता। काव्यप्रकाशकार के अनुसार 'प्रसाद' का स्वरूप यह है—

'शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥' (का० प्र० : उल्लास ८)

और साहित्यदर्पणकार के अनुसार यह—

'चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च॥' (सा० द० : ८. ७, ८)

तात्पर्य यह है कि दोनों काव्याचार्यों के मत में 'प्रसाद' एक समस्तरससाधारण 'धर्म' है जिससे कि उन-उन रसों के आस्वाद में सहृदय सामाजिक का हृदय प्रसन्न तथा निर्मल अथवा तन्मय बना रहा करता है।

अन्त में निष्कर्ष यह निकलता है कि रसध्वनिवाद के अनुसार माधुर्य और ओजरूप गुणद्वय का रहस्य शृङ्गार और वीर आदि रसों की चर्वणा के द्वारा उत्पन्न सहृदय सामाजिक की 'चित्तद्रुति' और 'चित्तदीप्ति' का रहस्य है और 'प्रसाद' सभी रसों में सहृदय सामाजिक के हृदय के 'विकास' अथवा 'तन्मयीभवन' से संबद्ध है जिसके बिना न तो 'द्रुति' संभव है और न 'दीप्ति'।

यहाँ पण्डितराज जगन्नाथ ने कुछ और ही मर्म प्रकाशित किया है। उनका कहना यह है कि जब कि मधुर और ओजस्वी 'शृङ्गार' और 'वीर' ही 'चित्तद्रुति' और 'चित्तदीप्ति' के कारणरूप से दिखायी देते हैं तब 'द्रुति' और 'दीप्ति' के कारणरूप से 'माधुर्य' और 'ओज' की मान्यता अनावश्यक मानी जानी चाहिये (प्रातिस्विकरूपेणैव रसानां कारणतोपपत्तौ गुणकल्पने गौरवात्— रसगङ्गाधर : १म आनन)। साथ ही साथ 'माधुर्य' को 'द्रुति' और 'ओज' को 'दीप्ति' का कारण मानना भी ठीक नहीं क्योंकि मधुरतरता को द्रुततरता और मधुरतमता को द्रुततमता तथा ओजस्वितरता को दीप्ततरता और ओजस्वितमता को दीप्ततमता का भी पृथक् रूप से कारण मानना पड़ जाता है जिसमें 'गौरव' स्पष्ट है। शृङ्गार को मधुर और वीर को ओजस्वी मानने का अर्थ शृङ्गार के अनुभव में चित्त की द्रुति और वीर के अनुभव में चित्त की दीप्ति का अनुभव है। अन्ततोगत्वा

शब्द और अर्थ में भी द्रुति और दीप्ति की मान्यता औपचारिक नहीं अपि तु वास्तविक ही मानी जानी चाहिये। जब तक शब्द और अर्थ में द्रुति और दीप्ति की प्रयोजकता न मानी जाय तब तक शब्द और अर्थ द्वारा अभिव्यङ्ग्य रस में द्रुति और दीप्ति की प्रयोजकता कैसे मानी जा सकती है!

पदसंघटनारीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्

विश्वनाथ कविराज के अनुसार ध्वनिवाद में 'रीतितत्त्व' का भी निरूपण आवश्यक है। 'रीति' का अभिप्राय माधुर्यादि गुण के अभिव्यञ्जक पदविन्यास का अभिप्राय है। माधुर्यादि गुण का अभिव्यञ्जन करनेवाली पदरचना इसलिये 'रीति' है क्योंकि इसी पदरचना से माधुर्य आदि का स्वरूप विशेष जाना जाया करता है। रीतितत्त्व के सम्बन्ध में महाकवि राजशेखर ने इसीलिये कहा है—

'सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु॥'

अर्थात् 'रीति' ही वह काव्य-तत्त्व है जिसमें रस-प्रवाह का सामर्थ्य रहा करता है। शब्द और अर्थ रसात्मक वाक्यरूप काव्य के 'अङ्ग' रूप हैं और शब्दार्थ-संघटना अथवा रीति काव्य का शरीर-संस्थान है जिसमें 'रस'रूप आत्मतत्त्व का स्फुरण सम्भव है। काव्यप्रकाशकार ने 'वैदर्भी' का नामोल्लेख तो नहीं किया किन्तु 'माधुर्य' के अभिव्यञ्जन के साधनरूप से असमासा अथवा अल्पसमासा मधुर 'घटना' को अवश्य माना है—

'मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा॥' (का० प्र० : उल्लास ८)

विश्वनाथ कविराज ने इसी 'घटना' को 'वैदर्भी' रीति के नाम से स्पष्ट निर्दिष्ट किया है—

'माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥' (सा० द० : ९. २)

इसी प्रकार जिस 'घटना' को काव्यप्रकाशकार ने ओजस्विता का अभिव्यञ्जक माना है—

'योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि॥' (का० प्र० : उल्लास ८)

वही साहित्यदर्पणकार के मत में 'गौडी' रीति है—

'ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः।
समासबहुला गौडी……… ॥' (सा० द० : ९. ३)

काव्यप्रकाशकार के अनुसार प्रसाद गुण का अभिव्यञ्जन करनेवाली 'घटना' कोई अलग घटना नहीं क्योंकि 'प्रसाद' गुण समस्त प्रकार की संघटना का गुण है। विश्वनाथ कविराज भी यही मानते हैं—

'स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।
शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः॥' (सा० द० : ८. ८)

फिर 'पाञ्चाली' और 'लाटी' रीतियों की मान्यता का क्या आधार है? इनमें प्रसाद गुण का अभिव्यञ्जन सामर्थ्य तो माना नहीं जा सकता क्योंकि प्रसाद तो सर्वसंघटनासाधारण गुण है।

इसीलिये विश्वनाथ कविराज ने 'पाञ्चाली' रीति को वैदर्भी और गौडी का सम्मिश्रण और 'लाटी' रीति को वैदर्भी और पाञ्चाली का सम्मिश्रण माना है। यहाँ यह स्पष्ट है कि यह रीति-निरूपण रीति-वादी आचार्यों के रीति-निरूपण का अनुसरण कर रहा है क्योंकि 'पाञ्चाली' और 'लाटी' को किसी रसविशेष का अभिव्यञ्जन करनेवाली 'पदसंघटना' नहीं माना गया। रसध्वनिवाद और रीतिवाद के समन्वय की इन कठिनाइयों के ही कारण काव्यप्रकाशकार ने रसाभिव्यञ्जक तत्त्व के रूप में 'रीति' का विवेचन नहीं किया। विश्वनाथ कविराज ने आधा समन्वय किया और आधा वे न कर सके। जब तक कोई रसध्वनिवादी आलङ्कारिक यह न कहे कि पाञ्चाली रीति शृङ्गारादि मधुररस और वीरादि दीप्त रसों के 'संकर' का अभिव्यञ्जन साधन है तब तक 'पाञ्चाली' रीति और 'रस' का व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो जाय। कोई भी रसध्वनिवादी काव्याचार्य शृङ्गार और वीर का साङ्कर्य नहीं मान सकता और इसलिये रसध्वनिवाद में पाञ्चाली की मान्यता भी निरर्थक सिद्ध हो जाती है। लाटी रीति में तो रसाभिव्यञ्जन की चर्चा और भी असम्भव है क्योंकि यह रीति वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली का सम्मिश्रण है। जब तक मधुर और दीप्त और मधुर-दीप्त रसों का एकत्र सम्मिश्रण असम्भव है तब तक 'लाटी' रीति की कल्पना रसध्वनिवाद के सर्वथा विपरीत ही मानी जायगी।

यहाँ स्पष्ट है कि विश्वनाथ कविराज रसवाद और रीतिवाद का समन्वय करने चले हैं किन्तु उनके लिये यह कार्य अशक्य हो गया है। विश्वनाथ कविराज का यह 'रस-रीति'समन्वय-प्रयास रसगङ्गाधरकार की इस कल्पना को जन्म देता है कि 'रचनाविशेष को रसाभिव्यञ्जक मानना एक गौरव है और अप्रामाणिक भी है' (**'वर्णरचनाविशेषाणां माधुर्यादिगुणाभिव्यञ्जकत्वमेव न रसाभिव्यञ्जकत्वम्, गौरवान्मानाभावाच्च'** रसगङ्गाधर : १म आनन)।

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः। रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्काराः…

अलङ्कारवाद के अनुसार काव्य में अलङ्कारतत्त्व का महत्त्व सर्वाधिक है। आचार्य भामह ने स्पष्ट कहा है—

'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।' (काव्यालङ्कार : १. १३)

अर्थात् जैसे किसी रमणी का सुन्दर भी मुख विना अलङ्कार के मनोरम नहीं प्रतीत होता वैसे ही सुन्दर भी कविता विना अलङ्कार के मनोहर नहीं लगती। किन्तु रीतिवादी आचार्य वामन ने इसमें कुछ परिवर्तन किया है—

'युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनबन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते॥'

(काव्यालङ्कार : ३. १. २)

अर्थात् जैसे लावण्य आदि गुणों से विशिष्ट रमणी का रूप कटक-कुण्डल आदि अलङ्कारों की सुन्दर योजना से और भी चमक उठता है वैसे ही माधुर्य आदि गुणों से युक्त कविता का स्वरूप अनुप्रास-उपमा आदि अलङ्कारों की समुचित योजना से और भी मनोरम बन जाता है। कविता के माधुर्य आदि गुण तो रमणी के लावण्य आदि गुणों की भाँति हैं जिनके अभाव में अनुप्रास-उपमा आदि अलङ्कार वैसे ही निःश्रीक प्रतीत होते हैं जैसे कि लावण्य आदि के अभाव में रमणी के कटक-कुण्डल आदि अलङ्कार हतप्रभ लगा करते हैं।

आचार्य वामन ने, रीतिवाद में, अलङ्कार-प्राधान्य के स्थान पर गुण-प्राधान्य की जो धारणा प्रवर्तित की वह क्रमशः ध्वनिवाद में, अलङ्कारों की अप्रधानता के सिद्धान्त में परिणत हो गयी। ध्वनिकार की दृष्टि में काव्य के लिये 'अलङ्कार' का महत्त्व यह है—

'तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥' (ध्वन्या० : २. ७)

काव्यप्रकाशकार ने इसी का अनुमोदन किया है—

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥' (का० प्र० : ८. १-२)

विश्वनाथ कविराज की भी यही दृढ धारणा है कि 'गुण' तो रसरूप काव्यात्मतत्त्व के 'स्थिर' धर्म हैं और जिन्हें 'अलङ्कार' कहा जाता है वे रसरूप काव्यात्मतत्त्व के आधारभूत शब्दार्थशरीर के 'अस्थिर' धर्म हैं।

यहाँ एक बात विचारणीय है और वह यह है कि काव्यप्रकाशकार ने तो काव्यसाहित्य की सूक्तियों के विचार-विमर्श से यह स्पष्ट कर दिया है कि अलङ्कार क्योंकर काव्य में 'चलस्थिति' (अस्थिर) हैं अथवा सर्वदा और सर्वथा उपादेय नहीं हुआ करते। 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' (शब्दार्थौ काव्यम्) की मान्यता रसध्वनिवादी काव्यालोचना की एक महत्त्वपूर्ण मान्यता है। किन्तु विश्वनाथ कविराज ने 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि (शब्दार्थौ काव्यम्)' का खण्डन किया है और जिस 'यः कौमारहरः' आदि रचना को, काव्यप्रकाशकार ने, 'स्फुटालङ्कारविरह' में भी (स्पष्ट रूप से कवि द्वारा किसी अलङ्कार की योजना के अभाव में भी) रसमयी कविता के रूप में देखा है, उसे ही उन्होंने, दो-दो अलङ्कारों अर्थात् 'विभावना' और 'विशेषोक्ति' के परस्पर सङ्कर द्वारा अलङ्कृत होने पर ही 'कविता' के रूप में देखे जाने का संकेत किया है। विश्वनाथ कविराज की इस धारणा से क्या निष्कर्ष निकल सकता है ? यहाँ तो ऐसा समझने के लिये हम विवश हो जाते हैं कि 'अलङ्कार' काव्य के अस्थिर धर्म नहीं अपि तु स्थिर धर्म हैं। विश्वनाथ कविराज ने एक भी ऐसी सूक्ति नहीं उद्धृत की जिसमें यह दिखायी दे सके कि अलङ्कार काव्य के 'अस्थिर' धर्म हैं।

वैसे काव्यप्रकाश पर भी यह आक्षेप किया जा सकता है कि यदि अलङ्कार काव्य के 'चलस्थिति' धर्म हैं तो दशम उल्लास में अलङ्कारविचार का इतना विस्तार क्यों किया गया। काव्यप्रकाश के दशम उल्लास के देखने से ध्वनिकार की इस धारणा की पुष्टि नहीं होती कि—

'रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥
विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कथञ्चन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादेरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्॥' (ध्वन्या० : उद्योत २)

किन्तु तब भी काव्यप्रकाशकार के लिये विशद अलङ्कारविचार आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि उनका कार्य ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्ररूप से त्रिविध काव्य का स्वरूपनिरूपण है।

कविराज की दृष्टि में 'चित्र' काव्य नहीं। फिर दशम परिच्छेद में शब्दचित्र और अर्थचित्ररूप काव्यप्रकार की विविध रूपरेखाओं के प्रदर्शन का क्या अभिप्राय ? साहित्यदर्पण के दशम परिच्छेद की विचारधारायें इस ओर भी संकेत नहीं करतीं कि जिन-जिन अलङ्कारों का विचार-विमर्श किया गया है उन-उन के द्वारा 'रसात्मक वाक्य' की शोभा कैसे बढ़ती दिखायी देती है। यहाँ तो वस्तुतः ऐसा लगता है कि 'ध्वनि' के 'सिद्धान्त' और 'व्यवहार' में कोई संबन्ध नहीं।

साथ ही साथ विश्वनाथ कविराज ने, जैसा कि 'अलङ्कार-सर्वस्वकार' के प्रति उनके पक्षपात के देखते स्वाभाविक प्रतीत होता है, अपने अलङ्कार-परिच्छेद में, अलङ्कारों की विभाग-व्यवस्था का कोई संकेत नहीं किया है। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने अर्थालङ्कारों की यह विभाग-व्यवस्था की थी—

(१) **सादृश्यमूलक अर्थालङ्कार** (उपमा, रूपक आदि)
(२) **विरोधमूलक अर्थालङ्कार** (विरोध, विभावना आदि)
(३) **काव्यन्यायमूलक अर्थालङ्कार** (पर्याय, परिवृत्ति आदि)
(४) **लोकन्यायमूलक अर्थालङ्कार** (प्रत्यनीक, मीलित आदि)
(५) **शृङ्खलाबन्धमूलक अर्थालङ्कार** (कारणमाला, एकावली आदि)
(६) **तर्कन्यायमूलक अर्थालङ्कार** (काव्यलिङ्ग, अनुमान आदि)
(७) **गूढार्थप्रतीतिमूलक अर्थालङ्कार** (व्याजोक्ति, सूक्ष्म आदि)

यह विभाग-व्यवस्था ध्वनिवादी अलङ्कारशास्त्र के लिए अत्यन्त उपयोगी है क्योंकि इसके द्वारा अर्थालङ्कारों में यथास्थान और यथासंभव 'अलङ्कार'रूप प्रतीयमान अर्थ का विवेक सरलता से किया जा सकता है। काव्यप्रकाशकार भी इस विषय में चुप हैं। संभवतः काव्यप्रकाशकार के अनुसरण में ही विश्वनाथ कविराज ने इस विषय में चुप्पी साध ली है।

विश्वनाथ कविराज ने 'शब्द-अर्थ' और 'अलङ्कार' में आचार्य रुय्यक के 'आश्रयाश्रयिभाव'रूप संबन्ध का भी उल्लेख कर दिया है और आचार्य मम्मट के 'अन्वयव्यतिरेकभाव'रूप संबन्ध का भी निर्देश कर दिया है। दोनों में भेद है। दोनों का एक साँस में मानना ठीक नहीं। वैसे रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानने वाले आलङ्कारिक आचार्य के लिये कुछ इस प्रकार की अर्थालङ्कार-व्यवस्था का प्रतिपादन अधिक अपेक्षित था—

अर्थालङ्कारों का वर्गत्रयविभाग :—

(१) **प्रतीयमानवस्तुरूप अर्थालङ्कार,** जिस श्रेणी में समासोक्ति-पर्यायोक्ति-आक्षेप-व्याजस्तुति आदि-आदि अर्थालङ्कार अन्तर्भूत दिखायी देते हैं।

(२) **प्रतीयमानौपम्यरूप अर्थालङ्कार,** जिस श्रेणी में रूपक, परिणाम, संदेह, भ्रान्तिमान् आदि-आदि समा जाते हैं। और—

(३) **प्रतीयमानरसभावरूप अर्थालङ्कार,** जिस श्रेणी में रसवत्, प्रेय आदि की गणना की जा सकती है।

अथवा आचार्य कुन्तक की मान्यता के अनुसार रसभावाद्यात्मक वाक्य के उत्कर्षाधायक उपमा आदि का ही 'रसवती उपमा' आदिरूप से प्रतिपादन अच्छा होता।

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदाऽलङ्कृतयस्तदा॥

विश्वनाथ कविराज 'रसवत्' आदि अलङ्कारों को भी अतिरिक्त अलङ्कार रूप से प्रतिपादित करते हैं। आचार्य मम्मट ने प्राचीन आलङ्कारिकों के द्वारा प्रतिपादित इन 'रसवत्' आदि को

अलङ्कारश्रेणी में रखना 'रसध्वनिवाद' की दृष्टि से अनुचित और असंगत माना है क्योंकि 'रसवद्' आदि अलङ्कार नहीं अपितु अपराङ्गव्यङ्ग्य गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के रूप हैं। वैसे विश्वनाथ कविराज भी गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के 'इतराङ्ग' (अथवा अपराङ्ग) नामक भेद के उदाहरण में 'रसवद्' आदि अलङ्कार-सूक्तिओं को ही उदाहृत करते हैं किन्तु तब भी 'रसवद्' आदि की अतिरिक्त अलङ्काररूप में मान्यता उन्हें अभीष्ट है। ऐसी बात क्यों? ऐसा लगता है कि उन्होंने 'अलङ्कार-सर्वस्वकार' के अनुसरण अथवा अनुकरण में ही इन परस्पर विरुद्ध बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया और अपने नवीन मत के रूप में, 'रसवदादि' अलङ्कारों की मान्यता के लिये, ध्वनिकार को प्रमाणरूप से रख दिया—

'अभियुक्तास्तु—स्वव्यञ्जकवाच्यवाचकाद्युपकृतैरङ्गभूतै रसादिभिरङ्गिनो रसादेर्वाच्यवाचकोपस्कारद्वारेणोपकुर्वद्भिरलङ्कृतिव्यपदेशो लभ्यते। समासोक्तौ तु नायिकादिव्यवहारमात्रस्यैवालङ्कृतिता, न त्वास्वादस्य, तस्योक्तरीतिविरहादिति मन्यन्ते। अत एव ध्वनिकारेणोक्तम्—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥' इति

(साहित्यदर्पण : १०-९६)

यहाँ यह देखना है कि ध्वनिकार की 'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे' आदि उक्ति का तात्पर्य क्या 'रसवद्' आदि अलङ्कारों की सिद्धि है या 'रसवद्' आदि अलङ्कारों में 'रसध्वनि' के अन्तर्भाव की असम्भावना की सिद्धि? आचार्य मम्मट ने भी तो इस उक्ति पर कुछ सोचा ही होगा? इस उक्ति के निष्कर्षरूप से ध्वनिकार ने यह कहा है—

'तस्माद् यत्र रसादयो वाक्यार्थीभूताः स सर्वः न रसादेरलङ्कारस्य विषयः, स ध्वनेः प्रभेदः, तस्योपमादयोऽलङ्काराः। यत्र तु प्राधान्येनार्थान्तरस्य वाक्यार्थीभावे रसादिभिश्चारुत्वनिष्पत्तिः क्रियते, स रसादेरलङ्कारताया विषयः।'

(ध्वन्यालोक : २.५)

यहाँ 'रसादेरलङ्कारताया विषयः' के व्याख्यान में 'लोचन'कार आचार्य अभिनवगुप्त का यह कथन है—

'रसादेरलङ्कारताया इति व्यधिकरणषष्ठ्यौ, रसादेर्याऽलङ्कारता तस्या स एव विषयः। एतदनुसारेणैव पूर्वत्रापि वाक्ये योज्यम्, रसादिकर्तृकस्यालङ्करणक्रियात्मनो विषय इति।' इनके देखते तो यही प्रतीत होता है कि ध्वनिकार और 'लोचन'कार की दृष्टि में एक 'रस' के द्वारा दूसरे 'रस' के अलङ्कृत करने का अभिप्राय रसों के अङ्गाङ्गिभावरूप से अवस्थान-सौन्दर्य का अभिप्राय है। वाक्यार्थीभूत रस भाव के लिये पदार्थीभूत रसभाव को 'अलङ्कार' कहा जा सकता है किन्तु इसका यह निष्कर्ष नहीं कि रसध्वनिवाद की दृष्टि से, पदार्थीभूत रस-भाव 'रसवदादि' अलङ्काररूप में, मान्य हैं। जब कि 'अलङ्कार' का वस्तुतः अभिप्राय काव्य के शब्दार्थरूप शरीर का शोभाधान है तब अङ्गभूत 'रस' को उपचारतः ही अलंकार माना जा सकता है, मुख्यतः नहीं। यही बात 'लोचन'कार की इस उक्ति में भी दिखायी देती है—

'ननु रसेन किं कुर्वता प्रकृतोऽर्थोऽलङ्क्रियते। तर्हि उपमयाऽपि किं कुर्वत्याऽलङ्क्रियते। ननु तयोपमीयते प्रस्तुतोऽर्थः। रसेनाऽपि तर्हि सरसीक्रियते सोऽर्थ इति स्वसंवेद्यमेतद्।' (ध्वन्यालोकलोचन : २.५)

और इस उक्ति में भी—

'यस्मिन् काव्ये ते पूर्वोक्ता रसादयोऽङ्गभूता वाक्यार्थीभूतश्चान्योऽर्थः,...तस्य काव्यस्य सम्बन्धिनो ये रसादयोऽङ्गभूतास्ते रसादेरलङ्कारस्य रसवदाद्यलङ्कारशब्दस्य विषयाः, स एवालङ्कारशब्दवाच्यो भवति योऽङ्गभूतः नत्वन्य इति यावत्।' (ध्वन्यालोकलोचन : २.५)

तात्पर्य यह है कि ध्वनिकार का यह निर्देश कि 'रसादिध्वनि, रसवत् आदि अलंकार और उपमादि अलङ्कारों के विषय भिन्न-भिन्न हैं (**एवं ध्वनेरुपमादीनां रसवदलङ्कारस्य च विभक्तविषयता भवति**—ध्वन्यालोकः २. ५), इस निष्कर्ष में प्रमाण नहीं माना जा सकता कि ध्वनिकार ने भामहादिसम्मत 'रसवत्' आदि को अलङ्कार माना है।

विश्वनाथ कविराज ने 'रसवत्' आदि को अलङ्काररूप से मान्य होने के लिये जो यह कहा है कि 'रसवत्' आदि इसलिये अलङ्कार हैं क्योंकि ये अङ्गिभूत रस के वाच्यवाचकप्रपञ्च के उत्कर्षवर्धक हैं' यह भी सर्वथा चतुरस्र नहीं लगता। कारण यह है कि यदि 'अयं स रशनोत्कर्षी' आदि सूक्ति ही देखी जाय, जिसमें रसयोग के कारण 'रसवद'लङ्कार (रसयोगाद्रसवदलङ्कारः—साहित्यदर्पण १०. ९६) माना गया है, तो यहाँ यह बात तो समझ में आती है कि 'अङ्गरूप से अवस्थित शृङ्गार के द्वारा प्रधानतया प्रतीयमान करुण का सौन्दर्य बढ़ाया जा रहा है' किन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि अङ्गभूत शृङ्गार जो कि अपने वाच्यवाचकवर्ग से अभिव्यक्त हो रहा है, अङ्गीरूप से अभिव्यङ्ग्य करुण के वाच्यवाचकवर्ग का शोभावर्धन कर रहा है। यहाँ क्या अङ्ग और क्या अङ्गी—दोनों रसों के अभिव्यञ्जक वाच्यवाचकप्रपञ्च एक रूप ही हैं, भिन्नरूप नहीं। फिर 'रस' को, चाहे वह अङ्गतया ही अभिव्यक्त क्यों न हो, अङ्गी रस के 'वाच्यवाचकवर्ग का अलङ्कार' मानना उस काव्याचार्य के लिये तो अनुचित ही है जो कि 'रस' को काव्य का आत्मतत्त्व मानता है। यदि सरस वाक्य को 'रसवत्' आदि अलङ्कार माना जाय तब 'रसाभिव्यञ्जक वाक्य' को ही 'रसवत्' आदि अलङ्कार मानने में क्या आपत्ति? किन्तु ऐसा मानने पर तो समस्त अनुप्रास-उपमादि शब्दार्थालङ्कारों को एक 'रसवत्' अलङ्कार में ही अन्तर्भूत करना उचित होगा। यह सब अनुपपत्ति तभी दूर हो सकती है जब कि या तो 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' के 'इतराङ्ग' भेद में 'रसों के अङ्गभाव' का कोई अभिप्राय न लिया जाय या 'रसवत्' आदि को अलङ्कार न सिद्ध किया जाय।

साहित्यदर्पणममुं सुधियो विलोक्य साहित्यतत्त्वमखिलं सुखमेव वित्त।

विश्वनाथ कविराज उन आलङ्कारिकों में हैं जो 'अलङ्कारशास्त्र' को 'साहित्यशास्त्र' मानने के पक्षपाती हैं। 'साहित्यदर्पण' की रचना में उनका यही अभिप्राय है कि काव्यसाहित्य के अध्ययन-अनुशीलन के लिये, सब को साहित्यशास्त्र का परिचय हो जाय। 'साहित्यदर्पण' में 'काव्यप्रकाश' की सी प्रौढ़ता भले ही न हो किन्तु लोकप्रियता अवश्य है। सरलता, सुबोधता और सरसता के साथ इस ग्रन्थ में साहित्यशास्त्र के अनेकानेक विषय प्रतिपादित हैं। किन्तु क्या किसी आलङ्कारिक के लिये यह संभव है कि वह साहित्यशास्त्र के समस्त विषयों का एक ग्रन्थ में प्रतिपादन कर जाय? विश्वनाथ कविराज ने इस दिशा में महान् प्रयास किया है और बहुत कुछ सफलता भी पाई है किन्तु यदि हम साहित्यशास्त्र के कतिपय निम्नलिखित विषयों पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि 'साहित्यदर्पण' में कितने साहित्यतत्त्व अप्रतिपादित रह गये हैं—

(१) ध्वनिवादी अलङ्कारशास्त्र में 'काव्य-संवाद' अथवा 'कवियों की रचनाओं में परस्पर सादृश्य' एक ऐसा विषय है जो कि रसध्वनिवाद की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस विषय की यहाँ कोई भी चर्चा नहीं हुई है।

(२) ध्वनिवादी आलङ्कारिक 'औचित्य'सिद्धान्त का प्रतिपादन करते रहे हैं। अलङ्कारयोजना में इस 'औचित्य' का नाम रसभावादिविषयक औचित्य है। साहित्यदर्पणकार ने इस विषय को अछूता छोड़ दिया है।

(३) 'रस'सिद्धान्त के साथ-साथ 'काव्य-पाक' का सिद्धान्त साहित्यशास्त्र का एक प्राचीन विषय है। कविराज राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' इस पर प्रकाश डाल चुकी है। इस विषय का भी विश्वनाथ कविराज ने कोई संकेत नहीं किया है।

(४) प्राचीन अलङ्कारशास्त्र में 'शब्दहरण' और 'अर्थहरण' (काव्य में शब्द की चोरी और अर्थ की चोरी) का एक महत्त्वपूर्ण विवेच्य विषय है। यह विषय भी यहाँ छोड़ दिया गया है।

विश्वनाथ कविराज ने इन्हें जान-बूझकर छोड़ा है क्योंकि उनके समय के कवि और रसिक इन विषयों के प्रति विशेष उन्मुख नहीं थे। 'अलङ्कार' और 'गुण', 'वृत्ति' और 'रीति', 'रस' और 'रसना', 'दोष' और 'अदोषता', 'काव्य' और 'नाट्य' आदि-आदि विषय साहित्यशास्त्र के लोकप्रसिद्ध विषय हैं जिनके प्रति साधारण सहृदय सामाजिक की उन्मुखता स्वाभाविक है। विश्वनाथ कविराज ने वस्तुतः इस दृष्टि से ही 'साहित्यदर्पण' की रचना की थी। 'साहित्यदर्पण' के रचना काल में, जैसा कि साहित्यदर्पण के संकेतों से स्पष्ट है, 'रस' और 'आस्वाद' विषय पर तथा काव्य-साहित्य की अन्य विविध मान्यताओं पर कई काव्याचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थ लिखे थे। किन्तु आज 'साहित्यदर्पण' को छोड़कर इन अन्य ग्रन्थों का कुछ पता नहीं चलता। 'साहित्यदर्पण' अपनी सबलता और प्राणशक्ति के कारण अभी भी जीवित-जागृत है और संस्कृत काव्य-साहित्य और संस्कृत के साहित्यशास्त्र के अध्ययन-अनुशीलन करने वालों के लिये मार्ग-प्रदर्शन का कार्य कर रहा है। विश्वनाथ कविराज की आशा और तदनुरूप सफलता का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है कि 'काव्यप्रकाश' के साथ-साथ 'साहित्यदर्पण' भी अलङ्कारशास्त्र में अमर हो गया है।

'साहित्यदर्पण'कार विश्वनाथ कविराज : समयनिर्णय

विश्वनाथ कविराज का समयनिर्णय वस्तुतः निःसंदिग्ध है। विश्वनाथ कविराज को १३वीं-१४वीं शताब्दी का कवि और आलंकारिक माना गया है। एक सूक्ति है जिसको विश्वनाथ कविराज ने 'अस्फुट' व्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के स्वरूप-निरूपणार्थ उद्धृत किया है—

'सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।
अल्लावदीननृपतौ न संधिर्न च विग्रहः॥'

यह सूक्ति संभवतः विश्वनाथ कविराज के समय के किसी कवि की रचना है। यह इस बात का एक प्रबल प्रमाण है कि विश्वनाथ कविराज का युग १३वीं-१४वीं शताब्दी का पूर्ववर्ती युग नहीं हो सकता। एक और भी सूक्ति है जिसका उद्धरण विश्वनाथ कविराज ने 'क्रियोत्प्रेक्षा' के उदाहरणरूप से दिया है—

गङ्गाम्भसि सुरत्राण ! तव निःशाननिस्वनः।
स्नातीवारिवधूवर्गगर्भपातनपातकी ॥'

इस सूक्ति के भी देखते हुए, विश्वनाथ कविराज को १३वीं-१४वीं शताब्दी का ही कवि और आलङ्कारिक मानना आवश्यक हो जाता है। सुलतान अलाउद्दीन खिलजी का शासनकाल १२९६-१३१६ ई० है। अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति मलिक काफूर की दक्षिण-भारत-विजय भी एक ऐतिहासिक घटना है। 'उत्कल' प्रान्त के रहने वाले विश्वनाथ कविराज और उनके समय के कवियों को मलिक

काफूर की विजयगाथायें और उनके साथ ही साथ भारत के प्रथम मुसलिम सम्राट् अलाउद्दीन के आतङ्ककारी अत्याचारों की भी कहानी सुनने को मिली होगी। जिस किसी भी कवि ने अलाउद्दीन खिलजी के उग्र स्वभाव के प्रकाशनार्थ 'सन्धौ सर्वस्वहरणम्' आदि सूक्ति रची हो अथवा जिस किसी भी कवि ने सुलतान् (सुरत्राण) अलाउद्दीन खिलजी की पराक्रम-गाथाओं की स्मृति में 'गङ्गाम्भसि सुरत्राण' आदि की रचना की हो, वस्तुतः बात यह है कि इन सूक्तिओं में ऐतिहासिक तथ्य का संकेत किया हुआ है और विश्वनाथ कविराज इस ऐतिहासिक तथ्य से पूर्णतया परिचित प्रतीत होते हैं।

इस अन्तःसाक्ष्य के आधार पर इतना निश्चित है कि साहित्यदर्पण के रचयिता का समय १२९६-१३१६ ई० के पहले कदापि नहीं हो सकता।

और भी अन्तःसाक्ष्य इसी समय को प्रमाणित करते हैं—

(१) साहित्यदर्पण की एक हस्तलिखित प्रति का समय विक्रम संवत् १४४० (१३८४ ई०) है। इस हस्तलिखित प्रति का उल्लेख डाक्टर स्टीन द्वारा संगृहीत, जम्मू-काश्मीरदरबार के पुस्तकालय की हस्तलिखित पुस्तकों की सूची में 'अलङ्कारशास्त्र' (पृष्ठ ६४) शीर्षक में किया गया है। 'साहित्यदर्पण' की इस हस्तलिखित प्रति से यह निर्विवाद सिद्ध है कि विश्वनाथ कविराज का समय १३८४ ई० के बाद का नहीं हो सकता।

(२) साहित्यदर्पण में एक सूक्ति उद्धृत है—

'हृदि बिसलताहारो, नायं भुजंगमनायकः
कुवलयदलश्रेणी कण्ठे, न सा गरलद्युतिः।
मलयजरजो, नेदं भस्म, प्रियारहिते मयि
प्रहर न हरभ्रान्त्याऽनङ्ग क्रुधा किमु धावसि ॥'

यह सूक्ति 'गीतगोविन्द' के प्रसिद्ध महाकवि जयदेव की कृति है। महाकवि जयदेव को वंगराज्य के प्रतापी शासक लक्ष्मणसेन के दरबार का एक 'रत्न' माना जाता है। कवि उमापति, आचार्य गोवर्धन और धोयी कवि के समकालीन महाकवि जयदेव का समय विक्रम संवत् ११७३ (ई० ११६६) है। गीतगोविन्द की इन पंक्तिओं में महाकवि जयदेव और उनके पार्षद कविओं की स्मृति सुरक्षित है—

'वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः।
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयवचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतधरो धोयी कविक्ष्मापतिः ॥'

इस सूक्ति का उद्धरण विश्वनाथ कविराज के समयनिर्णय का एक बहुत बड़ा प्रमाण है।

(३) साहित्यदर्पण में एक और उद्धरण है—

'कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्त्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः ॥'

यह सूक्ति 'प्रसन्नराघव' नाटक के रचयिता जयदेव कवि की रचना है जिनका समय १२००-१२५० के लगभग निश्चित है। इस उद्धरण से विश्वनाथ कविराज के कार्यकाल के सम्बन्ध में सन्देह नहीं रह जाता।

(४) विश्वनाथ कविराज ने 'नैषध'कार महाकवि श्रीहर्ष (११६७-११७४ ई०) की निम्न सूक्ति उद्धृत की है—

> 'धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
> इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति॥'

और साथ ही साथ 'हनूमदाद्यैर्यशसा सितीकृतः' आदि उद्धरण भी नैषधीय महाकाव्य की ही सूक्ति का उद्धरण है। इसके देखते भी विश्वनाथ कविराज के कालनिर्णय में अनिश्चय नहीं रह जाता।

(५) विश्वनाथ कविराज के प्रपितामह कविपण्डितप्रवर नारायण के अनुज श्रीचण्डीदास ने 'काव्यप्रकाश' की 'दीपिका' टीका लिखी है। इनके और विश्वनाथ कविराज के समय में अधिक से अधिक ५० वर्ष का ही अन्तर पड़ सकता है।

(६) कलिङ्गनरेश नरसिंह, (१२७०-१३०३ ई०) जिनके शिलालेखों में उन्हें 'कविप्रिय' कहा गया है, के दरबार में विश्वनाथ के प्रपितामह अथवा पितामह 'नारायण' और 'धर्मदत्त' के शास्त्रार्थ की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। विश्वनाथ कविराज ने कविपण्डित 'धर्मदत्त' के नामोल्लेख के साथ उनकी यह सूक्ति भी साहित्यदर्पण में उद्धृत की है—

> 'तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे—
> रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
> तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥
> तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।'

इस उदाहरण से साहित्यदर्पणकार का कालनिर्णय १३ वीं-१४ वीं शताब्दी ही सिद्ध होता है।

कुछ बहिःसाक्ष्य भी हैं जिनके देखते उपर्युक्त समय के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता—

(१) १५ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध काव्य-व्याख्याकार मल्लिनाथ के पुत्र 'कुमारस्वामी' की 'रत्नापण' टीका में, जो कि 'प्रतापरुद्रीय'की व्याख्या है, 'साहित्यदर्पण' का नामोल्लेख मिलता है—

> 'सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगजः।
> अमुना चोत्तमः शेते मध्यो हसति गायति॥
> अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति। इति साहित्यदर्पणे।'
>
> (प्रतापरुद्रीय : रत्नापण : रसप्रकरण)

> 'मोहो विचित्रता भीतिदुःखवेगानुचिन्तनैः।
> घूर्णनागात्रपतनभ्रमणादर्शनादिकृत् ॥ इति साहित्यदर्पणे॥'
>
> (प्रतापरुद्रीय : रत्नापण : रसप्रकरण)

(२) १५ वीं शताब्दी के ही व्याख्याकार गोविन्द ठक्कुर की 'काव्यप्रकाश-प्रदीप' व्याख्या में साहित्यदर्पण की विचारधाराओं का यह उल्लेख आया है—

'अर्वाचीनास्तु 'यथोक्तस्य काव्यलक्षणत्वे काव्यपदं निर्विषयं प्रविरलविषयं वा स्यात्। दोषाणां दुर्वारत्वात्। तस्मात् 'वाक्यं रसात्मकं काव्य'मिति तल्लक्षणम्। तथा च दुष्टेऽपि रसान्वये काव्यत्वमस्त्येव। परं त्वपकर्षमात्रम्। तदुक्तम्—'कीटानुविद्धरत्नादि' इत्यादि। एवमलङ्कारादिसत्त्वे उत्कर्षमात्रम्। नीरसे तु चित्रादौ काव्यव्यवहारो गौण इत्याहुः।'

इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रदीपव्याख्याकार की दृष्टि में 'साहित्यदर्पण' अलङ्कारशास्त्र का एक अर्वाचीन (काव्यप्रकाश आदि की अपेक्षा अर्वाचीन) ग्रन्थ है। इससे यह निश्चित है कि विश्वनाथ कविराज का समय न तो १३-वीं १४ वीं शताब्दी के पहले जा सकता है और न बाद में।

विश्वनाथ कविराज का वंशगौरव और व्यक्तित्व

विश्वनाथ कविराज के पूर्वज उत्कल के 'कविपण्डित' होते आये हैं। इनके प्रपितामह का नाम कविपण्डितप्रवर 'नारायण' था। इनके प्रपितामह साहित्यशास्त्र के पारंगत विद्वान् और अलङ्कारशास्त्र के ग्रन्थप्रणेता रह चुके हैं जैसा कि साहित्यदर्पण की निम्नलिखित उक्ति का संकेत है—

'चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः। तत्प्राणत्वं चास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नारायणपादैरुक्तम्।' (साहित्यदर्पण : ३. ३)

साथ ही साथ विश्वनाथ कविराज-रचित काव्यप्रकाशदर्पण की यह युक्ति—

'यदाहुः श्रीकलिङ्गभूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराजश्रीनरसिंहदेव-सभायां धर्मदत्तं स्थगयन्तः······अस्मत्पितामहश्रीनारायणपादाः'

इसी ओर संकेत करती है कि कविपण्डितप्रवर नारायण का साहित्यशास्त्र पर पर्याप्त अध्ययन-मनन और स्वतन्त्र विचारविमर्श समसामयिक पण्डितसमाज पर प्रसिद्ध था।

विश्वनाथ कविराज ने अपने पिता का भी नामोउल्लेख किया है—

'श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनुश्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम्।
साहित्यदर्पणममुं सुधियो विलोक्य साहित्यतत्त्वमखिलं सुखमेव वित्त॥'

(साहित्यदर्पण : १०. १००)

विश्वनाथ कविराज के पिता श्रीकविपण्डित चन्द्रशेखर थे। श्रीचन्द्रशेखर कविपण्डित की दो कृतिओं—'पुष्पमाला' और 'भाषार्णव' का उल्लेख साहित्यदर्पण में मिलता है। 'पुष्पमाला' का यह उद्धरण—

'द्वादशपदा (नान्दी) यथा मम तातपादानां पुष्पमालायाम्—

शिरसि धृतसुरापगे स्मरारावरुणमुखेन्दुरुचिर्गिरीन्द्रपुत्री।
अथ चरणयुगानते स्वकान्ते स्मितसरसा भवतोऽस्तु भूतिहेतुः॥'

(साहित्यदर्पण : ६. २५)

इस बात को प्रमाणित करता है कि श्री चन्द्रशेखर नाटककार थे। साहित्यदर्पण में श्रीचन्द्रशेखर के 'भाषार्णव' का उल्लेख यह है—

'भाषालक्षणानि मम तातपादानां भाषार्णवे।' (साहित्यदर्पण : ६. १६९)

इससे यह स्पष्ट है कि श्री चन्द्रशेखर कविपण्डित शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी आदि भाषाओं के वैयाकरण थे। साहिदर्पण के परिच्छेदों की समाप्ति में विश्वनाथ कविराज के नाम के साथ इन विरुदों का उल्लेख मिलता है—

१—नारायणचरणारविन्दमधुव्रत।
२—साहित्यार्णवकर्णधार।
३—ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य।
४—कविसूक्तिरत्नाकर।
५—अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग।
७—महापात्र।

इनमें 'अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजंग' का विरुद (प्रशंसास्पद पद) यह प्रमाणित करता है कि विश्वनाथ कविराज को संस्कृत के अतिरिक्त अन्य समस्त प्राकृत भाषाओं का अध्ययन एक पैतृक देन के रूप में मिला था।

विश्वनाथ कविराज ने अपने पिता श्री चन्द्रशेखर कविपण्डित की अन्य भी कतिपय सूक्तियाँ उद्धृत की हैं—

'मध्यस्य प्रथिमानमेति जघनं वक्षजयोर्मन्दता
दूरं यात्युदरं च, रोमलतिका नेत्रार्जवं धावती।
कंदर्पं परिवीक्ष्य नूतनमनोराज्याभिषिक्तं क्षणा-
दङ्गानीव परस्परं विदधते निर्लुण्ठनं सुभ्रुवः॥'

(साहित्यदर्पण : ३. ५८)

'नो चाटुश्रवणं कृतं न च दृशा हारोऽन्तिके वीक्षितः
कान्तस्य प्रियहेतवो निजसखीवाचोऽपि दूरीकृताः।
पादान्ते विनिपत्य तत्क्षणमसौ गच्छन्मया मूढया
पाणिभ्यामवरुध्य हन्त सहसा कण्ठे कथं नार्पितः॥'

(साहित्यदर्पण : ३. ८२)

'क्षेमं ते ननु पक्ष्मलाक्षि किसअं खेमं महङ्गं दिढं
एतादृक् कृशता कुतः तुह पुणो पुठ्ठं सरीरं जदो।
केनाहं पृथुलः प्रिये प्रणइणीदेहस्स सम्मीलणात्
त्वत्तः सुभ्रु न काऽपि मे जइ इदं खेमं कुदो पुच्छसि॥'

(साहित्यदर्पण : ३. २१३)

'चिन्ताभिः स्तिमितं मनः, करतले लीना कपोलस्थली
प्रत्यूषक्षणदेशपाण्डु वदनं श्वासैकखिन्नोऽधरः।
अम्भःशीकरपद्मिनीकिसलयैर्नापैति तापः शमं
कोऽस्याः प्रार्थितदुर्लभोऽस्ति सहते दीनां दशामीदृशीम्॥'

(साहित्यदर्पण : ३. २०७)

इन सूक्तिओं के देखते, इनके रचनाकार का एक रसिक और श्रृंगारी कवि होना अनायास सिद्ध हो जाता है।

विश्वनाथ कविराज के पिता कलिङ्ग राज्य के एक प्रतिष्ठित पदाधिकारी रहे होंगे। विश्वनाथ कविराज भी अपने पिता के उत्तराधिकारी प्रतीत होते हैं। दोनों के नामों के साथ 'सांधिविग्रहिक' और 'महापात्र' का विरुद जुड़ा मिलता है।

वैष्णव धर्म में विश्वनाथ कविराज की आस्था की सूचना साहित्यदर्पण के इस अन्तमङ्गल-श्लोक से मिल जाती है—

'यावत्, प्रसन्नेन्दुनिभानना श्रीर्नारायणस्याङ्कमलङ्करोति।
तावन्मनः सम्मदयन् कवीनामेष प्रबन्धः प्रथितोऽस्तु लोके॥'

साथ ही साथ 'राघवविलास' नामक विश्वनाथ कविराज-रचित 'महाकाव्य' की यह सूक्ति अर्थात्—

'विपिने क्व जटानिबन्धनं तव चेदं क्व मनोहरं वपुः।
अनयोर्घटना विधेः स्फुटं ननु खड्गेन शिरीषकर्तनम्॥'

भी, जिसका साहित्यदर्पण (३. २२५) में उल्लेख है, यही सिद्ध करती है कि विश्वनाथ कविराज वैष्णव थे।

साहित्यदर्पण का रचयिता सबसे पहले कवि हो सकता है और बाद में ही आलंकारिक। रसिकता विश्वनाथ कविराज के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता है। विश्वनाथ कविराज का पाण्डित्य भी उनकी रसिकता से विरुद्ध नहीं पड़ता। विश्वनाथ कविराज को 'कविसूक्तिरत्नाकर' की जो पदवी मिली थी उससे भी यही स्पष्ट है कि विश्वनाथ कविराज अपने समय के उत्कल (उड़िसा) प्रान्त के एक रसिकशिरोमणि हो चुके हैं। विश्वनाथ कविराज की एक सूक्ति है—जो कि साहित्यदर्पण (८. ३) में 'मधुर रचना' के निदर्शन रूप में उद्धृत की गयी है और वह सूक्ति यह है—

'लताकुञ्जं गुञ्जन्मदवदलिपुञ्जं चपलयन्
समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन्।
मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि॥'

इस एक सूक्ति से ही यह निःसंदिग्धरूप से माना जा सकता है कि विश्वनाथ कविराज को 'वर्णों के संमोहक संगीत' का कितना प्रगाढ़ परिचय था और 'वर्णों की माधुरी' से कितना प्रेम था। विश्वनाथ कविराज का कवित्वमय व्यक्तित्व साहित्यदर्पण की विचारधाराओं पर भी प्रतिबिम्बित दिखायी देता है।

विश्वनाथ कविराज की साहित्यिक कृतियाँ

विश्वनाथ कविराज का 'साहित्यदर्पण' तो अलङ्कारशास्त्र के एक प्रसिद्ध ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध ही है किन्तु उनकी और भी कृतियाँ हैं जिनकी स्मृति साहित्यदर्पण के पृष्ठों पर अंकित है। इन कृतिओं में 'राघवविलास' का उल्लेख किया जा चुका है जो कि संस्कृत भाषा के एक 'महाकाव्य' के रूप में रचा गया था। 'राघवविलास' की 'विपिने क जटानिबन्धनम्' आदि उद्धृत सूक्ति के देखते यह अनुमान असंभव नहीं प्रतीत होता कि विश्वनाथ कविराज कालिदास के 'कुमारसंभव' और भवभूति के 'उत्तररामचरित' के पूरे रसिक थे।

विश्वनाथ कविराज ने प्राकृत भाषा में भी एक काव्य रचा था जिसका नाम 'कुवलयाश्वचरित' है, जैसा कि साहित्यदर्पण (३. १४८) के इस उद्धरण से स्पष्ट है—

'अथ जडता—

अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णींभावादयस्तत्र॥

यथा मम कुवलयाश्वचरिते प्राकृतकाव्ये—

'णवरिअ तं जुअजुअलं अण्णोण्णं णिहिदसजलमन्थरदिट्ठिम्।
आलेक्ख ओपिअं विअ खणमेत्तं तत्थ संट्ठिअं मुअ सण्णम्॥'

यह काव्य एक 'शृङ्गाररस' प्रधान काव्य प्रतीत होता है।

विश्वनाथ कविराज की तीसरी कृति एक नाटिका है जिसका नाम 'प्रभावतीपरिणय' है जैसा निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

प्रथमावतीर्णमदनविकारा यथा 'प्रभावतीपरिणये'—

'दत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं निर्याति नान्तःपुराद्,
नोद्दामं हसति, क्षणात् कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि।

किञ्चिद् भावगभीरवक्रिमलवस्पृष्टं मनाग्भाषते,
सभ्रूभङ्गमुदीक्षते प्रियकथामुल्लापयन्तीं सखीम् ॥'

यह 'प्रभावतीपरिणय' नाटिका विश्वनाथ कविराज की शृङ्गार-रसिकता की एक देन ही है—
विश्वनाथ कविराज की चौथी रचना 'चन्द्रकला' नाटिका है जिसका उन्होंने साहित्यदर्पण (३. ९६) में इस प्रकार स्मरण किया है—

कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते।
यथा मम चन्द्रकलानामनाटिकायां चन्द्रकलावर्णनम्—
'तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसंपदो हासः।
धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम् ॥'

इस नाटिका से भी इसके रचयिता का नायिका-भेदविज्ञान और शृङ्गाररस-प्रेम स्पष्ट प्रतीत होता है।

विश्वनाथ कविराज की पाँचवीं रचना 'प्रशस्तिरत्नावली' है जिसमें १६ भाषाओं में संभवतः कलिङ्गनरेश नरसिंह १म और २य की प्रशस्तियाँ लिखी गयी हैं। इसका उल्लेख विश्वनाथ कविराज ने इन शब्दों में किया है—

'करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम्।
यथा मम—षोडशभाषामयी प्रशस्तिरत्नावली ॥' (साहित्यदर्पण ७. ३३७)

कलिङ्गनरेश नरसिंह (संभवतः नरसिंह २य) के विजयगौरवगान के रूप में विश्वनाथ कविराज ने 'नरसिंहविजय' नामक काव्य की भी रचना की है जिसका निर्देश विश्वनाथ कविराज के पुत्र अनन्तदास ने साहित्यदर्पण की 'लोचन' नामक अपनी व्याख्या में इन शब्दों में किया है—

'यथा मम तातपादानां विजयनरसिंहे।'

साहित्यदर्पण के निर्माण के बाद 'काव्यप्रकाशदर्पण' नामक 'काव्यप्रकाश' की व्याख्या भी विश्वनाथ कविराज की एक और कृति है।

इन कृतियों से, जिनमें 'साहित्यदर्पण' और 'काव्यप्रकाशदर्पण' के अतिरिक्त अन्य अप्राप्य हैं, विश्वनाथ कविराज की साहित्य-साधना का संकेत स्पष्ट रूप से मिल जाता है।

साहित्यदर्पण की विशेषता

साहित्यदर्पण अलङ्कारशास्त्र का प्रस्थान-ग्रन्थ नहीं और न इसमें ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश और रसगङ्गाधर की प्रवाहपूर्ण, वैज्ञानिक और विचारात्मक शैली ही अपनायी गयी है। साहित्यदर्पण की एक ही मौलिक विशेषता है और वह उसकी एक महत्त्वाकांक्षा है जिसका लक्ष्य काव्य-साहित्य-संबन्धी समस्त विषयों का एकत्र प्रतिपादन है। इस महत्त्वाकांक्षा में विश्वनाथ कविराज को पर्याप्त सफलता भी मिली है। वैसे इतना निश्चित है कि काव्य साहित्य के समस्त विषय एक अलङ्कार-ग्रन्थ में नहीं आ सकते।

साहित्यदर्पण कोई मौलिक अलङ्कार-ग्रन्थ नहीं क्योंकि आदि से अन्त तक इसमें प्राचीन आलङ्कारिकों की ही मान्यताओं का प्रकाशन है और प्राचीन अलंकारग्रन्थों के ही उदाहरणों के उद्धरण भरे पड़े हैं। किन्तु तब भी सरस और सरल भाषा के द्वारा विषयप्रतिपादन की शैली जैसी इसकी है वैसी दूसरे अलङ्कार-ग्रन्थों की नहीं।

'साहित्यदर्पण' बड़ा लोकप्रिय अलङ्कार ग्रन्थ है। 'काव्यप्रकाश' की दुरूहता से लोग घबड़ा जाते हैं किन्तु 'साहित्यदर्पण' अपनी सुबोधता से साधारण काव्यप्रेमी को भी आकृष्ट कर लेता है। यदि 'साहित्यदर्पण' न रचा गया होता तो भारत के पूर्वी प्रान्तों के संस्कृत काव्य-नाट्य-प्रेमी नाट्यशास्त्र के विषयों से अपरिचित ही रह जाते। मौलिक न होने पर भी, संग्रह-प्रधान होने पर भी, 'साहित्यदर्पण' साधारण सहृदय सामाजिक के लिये, वस्तुतः 'साहित्यदर्पण' है जिसमें साहित्यशास्त्र के तत्त्व प्रतिबिम्बित हैं। साहित्यदर्पण से साहित्यशास्त्र के विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद, इन विषयों के मौलिक ग्रन्थों का अनुशीलन लाभप्रद माना जाया करता है।

परवर्ती अलङ्कारशास्त्र पर साहित्यदर्पण का प्रभाव

साहित्यदर्पण ने अपने परवर्ती अलङ्कार-शास्त्र को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। साहित्य-दर्पण का सबसे बड़ा प्रभाव 'रसगङ्गाधर' की रचना के रूप में देखा जा सकता है। वैसे इसमें कोई सन्देह नहीं कि रसगङ्गाधरकार की आलोचनात्मक प्रतिभा साहित्यदर्पण में नहीं थी किन्तु यह भी निस्सन्दिग्ध है कि साहित्यदर्पण की रचना ने ही पण्डितराज जगन्नाथ को अलङ्कारशास्त्र के पुनरालोचन में प्रेरित किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के काव्य-लक्षण की समीक्षा में ही 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' का अपना काव्यलक्षण रचा है—

'यत्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम् तन्न। वस्त्वलङ्कारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः, महाकविसम्प्रदायस्याकुलीभावप्रसङ्गात्। तथा च जलप्रवाहवेगनिपतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि कपिबालादिविलसितानि च। न च तत्रापि यथाकथञ्चित् परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवेति वाच्यम्। ईदृशरसस्पर्शस्य 'गौश्चलति' 'मृगो धावति' इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात्। अर्थमात्रस्य विभावानुभाव-व्यभिचार्यन्यतमत्वादिति दिक्।' (रसगङ्गाधर : १म आनन)

साथ ही साथ विश्वनाथ कविराज ने 'चित्र' काव्य को काव्यभेद न मानने का जो तर्क दिया है उसकी समीक्षा ही रसगङ्गाधरकार की चतुर्विध का काव्य-भेद मीमांसा की पूर्वपीठिका है। पण्डित-राज जगन्नाथ ने काव्य के ४ प्रकार सिद्ध किये हैं—

(१) उत्तमोत्तम—**'शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्।'**
(२) उत्तम—**'यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयम्।'**
(३) मध्यम—**'यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत् तृतीयम्।'**
(४) अधम—**'यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम्।'** (रस-गङ्गाधर : १म आनन)

ये चारों काव्य-प्रकार **'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** की काव्यपरिभाषा से स्वभावतः सङ्गत है। 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' की काव्यपरिभाषा से काव्य-प्रकार का निष्कर्ष नहीं निकल सकता। इस परिभाषा के ही कारण विश्वनाथ कविराज ने 'चित्रकाव्य' की मान्यता का खण्डन किया है। इस काव्य-परिभाषा की मीमांसा के रूप में जब **'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** की काव्यपरिभाषा बन गयी तब काव्य के प्रकार-चातुर्विध्य का निरूपण स्वयं सिद्ध हो गया।



विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
प्रथम परिच्छेद	
आरम्भ मङ्गल	१
वाग्देवी-वन्दना	,,
अलङ्कारशास्त्र का प्रयोजन : काव्य-प्रयोजन से भिन्न	२
काव्य-प्रयोजन : पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति	,,
चतुर्वर्ग प्राप्तिरूप काव्य-प्रयोजन का तात्पर्य	,,
चतुर्वर्ग-प्राप्ति का सरल सुखद साधन काव्य ही है	,,
काव्य-प्रयोजन की प्रामाणिकता	४
साहित्यदर्पण का अनुबन्ध-चतुष्टय	५
काव्यस्वरूपविवेक की भूमिका : काव्यप्रकाशकृत काव्यलक्षण निर्देश	,,
उपर्युक्त काव्य-लक्षण का समीक्षण : दोषरहित शब्दार्थ युगल को काव्य मानने में 'अव्याप्ति'	,,
'सगुण' शब्दार्थयुगल को काव्य मानने में अनुपपत्ति	१०
सर्वत्र अलङ्कृत शब्दार्थयुगल को काव्य मानने में अनौचित्य	१३
प्रसक्तानुप्रसक्त्या वक्रोक्तिजीवितकार का खण्डन	,,
अलङ्कार की अस्फुट प्रतीति में काव्य की मान्यता-काव्यप्रकाशकार का व्यामोहमात्र	१४
सरस्वतीकण्ठाभरणसम्मत काव्य-लक्षण उपर्युक्त विचार-विमर्श की दृष्टि से स्वयं खण्डित	१७
ध्वनिकार-कृत काव्य लक्षण का खण्डन	१७
वामनकृत काव्य-लक्षण का खण्डन	२०
ध्वनिकार-सम्मत काव्यात्मवाद में दोष-दर्शन	२१
स्वसम्मत काव्य-स्वरूप	२३
काव्य-रसात्मक वाक्य के निदर्शन	२६
दोष-स्वरूप का सङ्केत	२८
रसात्मक वाक्यरूप काव्य और उसके अपकर्षकारक दोष का सम्बन्ध	,,
गुण-अलङ्कार और रीति-स्वरूप : एक संकेत	२९
काव्यात्मभूत 'रस' और गुण-अलङ्कार-रीतितत्व : परस्पर सम्बन्ध	,,
द्वितीय परिच्छेद	
वाक्य-विचार	३१
वाक्यरूप पदसमूह की विशेषता-योग्यता आदि	,,
महावाक्य का स्वरूप-निरूपण	३६
वाक्योच्चयरूप महावाक्य की विशेषता	,,
वाक्य-द्वैविध्य	३७
वाक्य-द्वैविध्य की प्रामाणिकता	,,
वाक्य-द्वैविध्य का उदाहरण	,,
वाक्यस्वरूपनिरूपक पदोच्चय का विशेषण	३८
अर्थ-प्रकार-निरूपण	३९
त्रिविध अर्थ का स्वरूप-विचार	,,
अभिधा-शक्ति-निरूपण	४०
संकेतग्रह के उपाय	४१
संकेत का क्षेत्र	४३
चतुर्विध संकेत-क्षेत्र का व्यवस्था-निरूपण	,,

लक्षणाशक्ति-निरूपण ४८
लक्षणा-विवेक ४९
लक्षणा के भेद-प्रभेद : प्रथम उपादान-लक्षणा ५२
उदाहरण-निरूपण ५३
द्वितीय लक्षणलक्षणा ५४
उदाहरण-निरूपण ५५
उपर्युक्त लक्षणाओं के निमित्त-भेद से अन्य भेद ५६
सारोपा और साध्यवसाना लक्षणायें ५८
उपर्युक्त लक्षणा-भेदों के उदाहरण ५९
निमित्तभेद से उपर्युक्त लक्षणा-भेदों के अन्य प्रभेद ६२
शुद्धा और गौणी लक्षणाओं के दृष्टान्त ,,
प्रयोजनमूलक उपर्युक्त लक्षणाओं के अन्य भेद ६८
गूढव्यङ्ग्या और अगूढव्यङ्ग्या लक्षणाओं के दृष्टान्त ,,
उपर्युक्त १६ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणाओं के अन्य भेद ७०
प्रयोजनवती लक्षणाओं में धर्मिगत और धर्मगत प्रयोजन के निदर्शन ,,
निर्दिष्ट लक्षणाभेद-संकलन ७२
लक्षणा के ४० भेदों का निरूपण ,,
एक अन्य निमित्त से लक्षणा का प्रकार-निरूपण ७४
लक्षणा के ८० भेद—उपसंहार ,,
व्यञ्जनाशक्ति : लक्षण ७५
व्यञ्जनालक्षण-परिष्कार ,,
व्यञ्जना के प्रकारों का निरूपण : शाब्दी व्यञ्जना ७६
१—अभिधामूलक व्यञ्जना ,,
२—अभिधानियामक तत्त्व और अभिधामूलक व्यञ्जना :—स्वरूप-परिष्कार ७७
३—लक्षणामूलक व्यञ्जना ८५
आर्थी व्यञ्जना ८७
आर्थी व्यञ्जना के तीन प्रकार ९२
उपर्युक्त प्रकारत्रय का निरूपण ,,
शाब्दी और आर्थी व्यञ्जना में अर्थ और शब्द का क्रमशः उपयोग ९३
व्यञ्जकता की दृष्टि से शब्द और अर्थ की परस्पर सहकारिता की आवश्यकता ,,
शब्द का उपाधि-त्रैविध्य ९४
उपाधि-त्रैविध्य : स्पष्टीकरण ,,
एक अन्य वृत्ति-तात्पर्य ९५
अभिहितान्वयवाद और तात्पर्यवृत्ति ,,

तृतीय परिच्छेद

काव्यात्मतत्व : रसस्वरूपनिरूपण ९९
विभावादि द्वारा सहृदय-हृदय में अभिव्यक्त रत्यादिरूप स्थायी भाव ही 'रस' है ,,
रस प्रक्रिया : विभावादियोजना और स्थायी भाव की रसरूप में अभिव्यक्ति १००
रसास्वाद के स्वरूपनिर्णय की प्रतिज्ञा १०५
रस और रस का आस्वाद ,,
काव्यार्थपरिशीलन : सत्त्वोद्रेक : रसास्वाद ,,
'रस' और 'आस्वाद' का तादात्म्य १०९
आस्वादस्वरूप रस और व्यञ्जनावृत्ति का तादात्म्य १११
रस की आनन्दरूपता और शोक-स्थायिभावात्मक करुण : सामञ्जस्य ११२
करुण आदि के 'रस'-आनन्दास्वाद रूप होने में अन्य प्रमाण ,,
करुणादि रसों के दुःखात्मक मानने में महान् अनर्थ ११४
शोकस्थायिभावात्मक करुण में आनन्दानुभव की सिद्धि ११५

काव्य-नाट्य के आँसू आनन्द के आँसू हुआ करते हैं। ११६
रसास्वाद का अधिकार : समान अथवा विशिष्ट? ११७
रसास्वाद की भूमिका : साधारणीकरण : तन्मयीभवन ११८
काव्य-नाट्य के नायक और सामाजिक जन का साधारणीकरण ११९
सामाजिकों की रत्यादिवासनाओं और नायकों के रत्यादिभावों का साधारणीकरण ,,
विभावादि का साधारणीकरण १२०
लोक से काव्य-नाट्य (कला) का वैलक्षण्य : साधारणीकरण १२१
विभावादि की कारणता और रसोद्बोध १२२
रसास्वाद में विभावादित्रय का संवलित अनुभव १२३
रसोद्बोध में विभावादित्रितय की कारणता का रहस्य १२४
रस अनुकार्य (नायकादि) गत नहीं १२५
रस अनुकर्तृ (नटादि) गत भी नहीं १२६
रस कोई ज्ञाप्य वस्तु नहीं १२८
रस कार्य (कारणजन्य) रूप वस्तु भी नहीं ,,
रस 'नित्य' वस्तु भी नहीं १२९
रस एक अनिर्वचनीय तत्त्व है ,,
रस न तो परोक्ष है न प्रत्यक्ष १३१
अनिर्वचनीयस्वरूप रस का निरूपण-प्रकार ,,
अनिर्वचनीयस्वरूप रस के अस्तित्व में प्रमाण ,,
नाट्य-सूत्रनिर्दिष्ट 'रसनिष्पत्ति' का रहस्य १३२
रस एकमात्र 'व्यङ्ग्य' तत्त्व है १३३
रस की स्वप्रकाशता किंवा अखण्डता में सन्देह का निर्मूलन १३३
विभावादि वर्ग में विभावरूप तत्त्व : स्वरूपनिर्देश १३५
विभाव के दो भेद १३७
'नायक' का स्वरूप-निरूपण १३८
नायक के भेदोपभेद ,,
१—धीरोदात्त १३९
२—धीरोद्धत १४०
३—धीरललित ,,
४—धीरप्रशान्त १४१
शृङ्गाररस में उक्त चतुर्विध नायकों के अन्य चार प्रकार ,,
१—दक्षिण १४२
२—धृष्ट १४३
३—अनुकूल ,,
४—शठ १४४
उपर्युक्त नायक-भेद-परिगणन १४५
नायक के सहायक ,,
शृङ्गारी नायक के सहायक १४६
१—विट ,,
२—चेट १४७
३—विदूषक ,,
नायक के अर्थ-सहायक ,,
,, ,, अन्तःपुर-सहायक १४८
,, ,, दण्ड-सहायक १४९
,, ,, धर्म-सहायक १५०
उपर्युक्त सहायकों में उत्तमाधम-मध्यम-व्यवस्था ,,
नायक के दूत १५१
दूत-भेद-निरूपण ,,
नायक के सात्त्विक गुण १५२
१—शोभा ,,
२—विलास ,,
३—माधुर्य १५३

४–गाम्भीर्य १५३
५–धैर्य १५४
६–तेज ,,
७–ललित ,,
८–औदार्य ,,
नायिका-निरूपण १५५
स्वीया नायिका-निरूपण १५६
,, ,, भेद-निर्देश ,,
१–मुग्धा ,,
२–मध्या १५९
३–प्रगल्भा १६०
मध्या और प्रगल्भा-स्वीया नायिका के अवान्तर भेद १६२
'मध्या' के त्रिविध भेद : सोदाहरण निरूपण ,,
प्रगल्भा धीरा नायिका १६३
,, धीराधीरा नायिका १६४
,, अधीरा नायिका ,,
मध्या-प्रगल्भा नायिकाओं के अन्य-निमित्तक भेद १६५
'स्वीया' भेद-परिगणन ,,
'परकीया'-नायिका : भेदनिर्देश १६६
'सामान्या' नायिका-निरूपण १६७
उपर्युक्त नायिकाओं के अवस्था-भेद से अन्यान्य भेद-प्रभेद १६८
१–स्वाधीनभर्तृका ,,
२–खण्डिता ,,
३–अभिसारिका : स्वरूप किं वा प्रकार-निरूपण १६९
४–कलहान्तरिता १७१
५–विप्रलब्धा १७२
६–प्रोषितभर्तृका ,,
७–वासकसज्जा १७३
८–विरहोत्कण्ठिता १७४
पूर्वोक्त नायिका-भेद-सङ्कलन १७४
नायिकाओं के यौवनालङ्कार १७७
१–भाव १७८
२–हाव ,,
३–हेला १७९
४–शोभा १८०
५–कान्ति १८१
६–दीप्ति ,,
७–माधुर्य ,,
८–प्रगल्भता १८२
९–औदार्य १८३
१०–धैर्य ,,
११–लीला १८४
१२–विलास ,,
१३–विच्छित्ति १८५
१४–बिब्बोक ,,
१५–किलकिञ्चित १८६
१६–मोट्टायित ,,
१७–कुट्टमित १८७
१८–विभ्रम १८८
१९–ललित ,,
२०–मद १८९
२१–विहृत ,,
२२–तपन १९०
२३–मौग्ध्य ,,
२४–विक्षेप १९१
२५–कुतूहल ,,
२६–हसित ,,
२७–चकित १९२
२८–केलि ,,
प्रेम-चेष्टायें : 'मुग्धा' और 'कन्या' नायिकागत प्रेम-चेष्टा-निरूपण १९३
अन्य नायिकागत चेष्टा-निर्देश ,,
युवतियों की भावाभिव्यक्ति के उपाय १९५

दूती	१९६
दूती के गुण	”
प्रतिनायक-निरूपण	१९८
उद्दीपन-विभाव-निरूपण	१९९
अनुभाव-निरूपण	२००
सात्त्विकभाव-निर्देश	२०१
व्यभिचारिभाव : लक्षण-निरूपण	२०३
” प्रकार-संख्यान	२०५
” स्वरूप-विवेक	”
१—निर्वेद	”
२—आवेग	२०६
३—दैन्य	२०७
४—श्रम	२०८
५—मद	”
६—जड़ता	२०९
७—उग्रता	२१०
८—मोह	२११
९—विबोध	”
१०—स्वप्न	२१२
११—अपस्मार	”
१२—गर्व	२१३
१३—मरण	”
१४—आलस्य	२१४
१५—अमर्ष	२१५
१६—निद्रा	”
१७—अवहित्था	२१६
१८—औत्सुक्य	”
१९—उन्माद	२१७
२०—शङ्का	२१८
२१—स्मृति	”
२२—मति	२१९
२३—व्याधि	”
२४—त्रास	२२०
२५—व्रीडा	”
२६—हर्ष	२२१
२७—असूया	”
२८—विषाद	२२२
२९—धृति	”
३०—चपलता	२२३
३१—ग्लानि	२२४
३२—चिन्ता	”
३३—तर्क	२२५
स्थायी भाव-निरूपण	२२६
स्थायी भावों के प्रकार	२२७
स्थायी भावों का क्रमशः लक्षण-निरूपण	”
भाव : सामान्यलक्षण	२२९
रसभेद-संख्यान	”
शृङ्गार : स्वरूप-निरूपण	२३०
शृङ्गार के भेद : विप्रलम्भ और संभोग	२३२
विप्रलम्भशृङ्गार : स्वरूप और प्रकार-निरूपण : प्रथम भेद पूर्वराग	”
अभिलाष-दशा का पूर्वराग-विप्रलम्भ	२३३
चिन्ता-दशा ” ”	२३४
स्मृति-दशा ” ”	”
उद्वेग-दशा ” ”	”
प्रलाप-दशा ” ”	”
उन्माद-दशा ” ”	”
व्याधि-दशा ” ”	२३५
जड़ता-दशा ” ”	”
गुणकथन की कामदशा ”	”
विप्रलम्भशृङ्गार में वर्जित कामदशायें	”
मानविप्रलम्भ : सप्रभेद निरूपण	२३९
प्रवास-विप्रलम्भ : सप्रभेद वर्णन	२४३
करुण विप्रलम्भ	२४७
शृङ्गारभेद : सम्भोग-शृङ्गार : सप्रकार स्वरूप-निरूपण	२४८
हास्य : स्वरूप और भेद-निरूपण	२५१

करुण रस २५३
करुण और करुण विप्रलम्भ शृङ्गार : भेद निर्देश २५५
रौद्र रस „
रौद्र और युद्धवीर : परस्पर भिन्न रस २५६
वीररस : सप्रभेद-स्वरूप विवेक २५७
भयानक २५९
बीभत्स २६०
अद्भुत २६२
शान्त २६३
शान्त और दयावीर : परस्पर भिन्न प्रकार के रस २६४
वत्सल रस : भरतमुनि की मान्यता २६६
रसों का परस्पर विरोध २६८
परस्पर विरुद्ध रस : विरोध-परिशमन-संकेत „
भावादिप्रधान वाक्य भी काव्य ही है २६९
'भाव' (भावकाव्य) निरूपण २७०
रसाभास और भावाभास २७२
भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता २७६

चतुर्थ परिच्छेद

काव्य-प्रकार-निरूपण २७९
प्रथम काव्य-प्रकार : 'ध्वनि'काव्य „
ध्वनिकाव्य के दो भेद : अविवक्षित-वाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य २८०
अविवक्षितवाच्यध्वनि के दो भेद २८१
१—'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य'ध्वनि „
२—'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' ध्वनिकाव्य २८३
'अभिधामूलध्वनि'में लक्षणामूलध्वनि का भ्रम और उसका निवारण २८४
अर्थान्तरसंक्रमित और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि में परस्पर भेद २८५
विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के दो भेद : असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य २८५
असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि : रसादिरूप एक प्रकार का ही २८६
संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि : तीन प्रकार : शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव और शब्दार्थशक्त्युद्भव २८८
शब्दशक्त्युद्भवध्वनि : दो भेद : वस्तु-ध्वनि और अलङ्कारध्वनि २८९
अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि : १२ भेद २९१
कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढोक्तिसिद्धव्यञ्जक अर्थ का स्वरूपविश्लेषण २९७
अलङ्कार-ध्वनि का रहस्य : अलङ्करण न कि अलङ्कृत वस्तु २९८
शब्दार्थशक्त्युद्भवध्वनि-भेद „
व्यङ्ग्यार्थ-विश्लेषण में काव्यप्रकार-विश्लेषण २९९
उपर्युक्त ध्वनिभेद-संकलन „
उपर्युक्त ध्वनि-भेदों के 'पदगत' और 'वाक्यगत' भेद ३०१
अर्थशक्त्युद्भवध्वनिकीप्रबन्ध व्यङ्ग्यता ३०८
असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि की भिन्न-भिन्न व्यञ्जक भूमियाँ ३११
पूर्वनिरूपित-ध्वनि-प्रभेद-संकलन ३१५
द्वितीय काव्यप्रकार : गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य ३१९
गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के आठ प्रकार ३२०
१—अपराङ्गव्यङ्ग्य „
२—काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्य ३२३
३—वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्य ३२४
४—सन्दिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य „
५—तुल्यप्रधान्यव्यङ्ग्य ३२५
६—अस्फुटव्यङ्ग्य ३२६

७—अगूढव्यङ्ग्य ३२६

८—असुन्दरव्यङ्ग्य ३२७

गुणीभूतव्यङ्ग्य की अन्यान्य प्रकार-सम्भावनाएँ ३२८

काव्य की ध्वनिरूपता और गुणीभूत-व्यङ्ग्यता : एक अभिज्ञान ३३०

काव्यप्रकाशकार-सम्मत तृतीय काव्य-भेद-चित्रकाव्य-का खण्डन ३३२

पञ्चम परिच्छेद

व्यञ्जनावृत्ति : स्वरूप निर्देश ३३८

व्यङ्ग्यार्थावबोध में 'अभिधा' का असामर्थ्य ”

अभिहितान्वयवादसम्मत तात्पर्यवृत्ति में व्यङ्ग्यावबोधन की अशक्ति ३३९

अभिधा के दीर्घदीर्घतर व्यापार में भी व्यञ्जना का अन्तर्भाव असंभाव्य ३४०

दशरूपककार सम्मत धनिक के तात्पर्यवृत्ति में भी व्यञ्जना का अन्तर्भाव असम्भव ३४१

लक्षणा में व्यञ्जना का अन्तर्भाव अयुक्तियुक्त ३४३

वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के मौलिक भेदों में व्यञ्जना की मान्यता का बीज ३४४

१—बोद्धृ-भेद ”

२—स्वरूप-भेद ३४५

३—इयत्ता-भेद ”

४—निमित्त-भेद ३४६

५—प्रभाव-भेद ”

६—प्रतीति-भेद ”

७—काल-भेद ३४७

८—आश्रय-भेद ”

९—विषय-भेद ”

रसानुभाव के लिए व्यञ्जना की अनिवार्य मान्यता ३४८

अनुमिति अथवा स्मृति के द्वारा रसास्वाद की असंभावना ३५०

व्यक्तिविवेककार (महिमभट्ट) सम्मत व्यङ्ग्यार्थानुमितिवाद का खण्डन ”

व्यञ्जनावृत्ति की मान्यता अनिवार्य है ३५७

व्यञ्जना : रसना : चतुर्थी वृत्ति के दो नाम और रूप ३५८

षष्ठ परिच्छेद

काव्य के अन्यनिमित्तक भेद : दृश्य-काव्य और श्रव्यकाव्य ३५९

'दृश्य'काव्य की 'रूपक' संज्ञा ”

'अभिनय' का स्वरूप-निरूपण ३६०

रूपक के १० भेद ३६१

'रूपक' के अतिरिक्त 'उपरूपक' सामान्य स्वरूपनिर्देश ”

प्रथम रूपक-प्रकार : नाटक : स्वरूपनिरूपण ३६२

नाटकीय परिच्छेद : अङ्कस्वरूप और महत्त्व ३६५

अङ्कान्तर्गत अङ्क : गर्भाङ्क ३६७

नाटक-प्रयोग की प्रक्रिया : पूर्वरङ्गविधान ३६८

पूर्वरङ्ग : नान्दीगायन ३६९

नान्दी क्या है ”

पूर्वरङ्ग का अङ्ग : नान्दी अथवा रङ्गद्वार ३७०

स्थापना ३७२

स्थापना में भारती वृत्ति ३७४

भारती वृत्ति का स्वरूप-संकीर्तन ३७५

भारती वृत्ति के अङ्ग ”

१ प्ररोचना ”

२ वीथी ३७६

३ प्रहसन ”

४ आमुख : प्रस्तावना ”

प्रस्तावना के पाँच भेद ३७७

१–'उद्घात्यक' ३७७
२–'कथोद्घात' ३७८
३–'प्रयोगातिशय' ३७९
४–'प्रवर्तक' ३८०
५–'अवलगित' ३८१
आमुखोपयुक्त वीथ्यंग ३८२
नखकुट्ट के मत में प्रस्तावना का अन्य प्रकार ,,
वस्तु : इतिवृत्त : आधिकारिक और प्रासंगिक ,,
पताकास्थानक : नाटकीय उपयोग ३८४
प्रथम पताकास्थानक ३८५
द्वितीय ,, ३८६
तृतीय ,, ३८७
चतुर्थ ,, ३८८
पताकास्थानक की योजना में नाटककार का स्वातन्त्र्य ३८९
रूपक की इतिवृत्त-रचना : चरित-चित्रण अथवा रस के अनुकूल ३९०
अर्थोपक्षेपक की योजना : कवि-स्वातन्त्र्य का एक प्रकारविशेष ,,
अर्थोपक्षेपक : स्वरूप और प्रकारनिर्देश ३९१
प्रथम अर्थोपक्षेपक : विष्कम्भक : दो भेद ३९२
द्वितीय अर्थोपक्षेपक : प्रवेशक ,,
तृतीय ,, चूलिका ३९३
चतुर्थ ,, अङ्कावतार ,,
पंचम ,, अङ्कमुख ३९४
'अङ्कास्य' क्या है ,,
विष्कम्भक आदि की योजना-व्यवस्था ३९६
अर्थप्रकृति-पञ्चक : नामनिर्देश ३९७
प्रथम अर्थप्रकृति : बीज ३९८
द्वितीय ,, बिन्दु ३९९
तृतीय ,, पताका ४००
पताका की नाटकपर्यन्त योजना ,,
चतुर्थ अर्थप्रकृति–प्रकरी और उसकी विधान-व्यवस्था ४०१
पंचम अर्थप्रकृति : कार्य ४०२
अवस्थापञ्चक स्वरूप और प्रकार-निर्देश ४०४
१–आरम्भ ४०५
२–यत्न ,,
३–प्राप्त्याशा ४०६
४–नियताप्ति ४०७
५–फलागम ,,
'सन्धि'-स्वरूप-निरूपण ४०८
सन्धिपञ्चक ,,
१–मुखसन्धि ४०९
२–प्रतिमुख ४१०
३–गर्भसन्धि ४११
४–विमर्शसन्धि ४१२
५–निर्वहणसन्धि ४१३
सन्ध्यङ्ग-निरूपण : 'मुख'सन्धि के १२ अङ्ग ४१४
१–उपक्षेप ,,
२–परिकर ४१५
३–परिन्यास ४१६
४–विलोभन ,,
५–युक्ति ४१७
६–प्राप्ति ,,
७–समाधान ४१८
८–विधान ४१९
९–परिभावना ,,
१०–उद्भेद ४२०
११–करण ,,
१२–भेद ४२१
प्रतिमुखसन्धि के १३ अङ्ग : निर्देश ,,
१–विलास ४२२
२–परिसर्प ४२३
३–विधुत ,,

४–तापन ४२४
५–नर्म ”
६–नर्मद्युति ४२५
७–प्रगमन ४२६
८–विरोध ”
९–पर्युपासन ४२७
१०–पुष्प ”
११–वज्र ४२८
१२–उपन्यास ”
१३–वर्णसंहार ४२९
गर्भसन्धि के १३ अङ्गः निर्देश ४३०
१–अभूताहरण ४३१
२–मार्ग ”
३–रूप ४३२
४–उदाहरण ”
५–क्रम ४३३
६–संग्रह ”
७–अनुमान ४३४
८–प्रार्थना ”
९–क्षिप्ति ४३५
१०–त्रोटक ”
११–अधिबल ४३६
१२–उद्वेग ”
१३–विद्रव ”
विमर्शसन्धि के १३ अङ्ग : निर्देश ४३७
१–अपवाद ”
२–सम्फेट ४३८
३–व्यवसाय ”
४–द्रव ४३९
५–द्युति ”
६–शक्ति ४४०
७–प्रसङ्ग ”
८–खेद ४४१
९–प्रतिबोध ४४२
१०–विरोधन ”
११–प्ररोचना ४४३
१२–आदान ”
१३–छादन ४४४
निर्वहणसन्धि के १४ अङ्ग : निर्देश ”
१–सन्धि ४४५
२–विबोध ”
३–ग्रथन ४४६
४–निर्णय ”
५–परिभाषण ४४७
६–कृति ४४८
७–प्रसाद ”
८–आनन्द ”
९–समय ४४९
१०–उपगूहन ”
११–भाषण ४५०
१२–पूर्ववाक्य ”
१३–काव्यसंहार ”
१४–प्रशस्ति ४५१
सन्ध्यङ्ग निवेश में मतभेद ”
सन्ध्यङ्गयोजना-विषयक परिनिष्ठित सिद्धान्त ४५२
सन्ध्यङ्गनिवेश की उपयोगिता ४५३
रसाभिव्यञ्जन के लिये सन्ध्यङ्गयोजना ४५४
वृत्ति-विचार ४५५
कैशिकी वृत्ति ४५७
कैशिकी के अङ्ग ”
१–नर्म ”
२–नर्मस्फूर्ज ४५८
३–नर्मस्फोट ४५९
४–नर्म-गर्भ ४६०
सात्वती वृत्ति : अङ्गचतुष्टय : स्वरूप-निरूपण ”
आरभटी वृत्ति : साङ्गोपाङ्ग वर्णन ४६४
भारती वृत्ति ४६७
नाट्योक्तिनिर्देश ”

नाटकपात्रों का नाम-निर्देश	४६८
नाटक का नामकरण	४६९
'प्रकरण' का नाम-निरूपण	,,
'नाटिकादि' का नामकरण	,,
नाटक के कतिपय प्रयोग-विशेष : निर्देश	,,
नाटक के पात्रों के सम्बोधन-प्रकार	,,
रूपकों का भाषा-विभाग	४७१
नाट्य-'लक्षण' और नाट्य-'अलङ्कार'	४७३
३६ लक्षणों का नाम-निर्देश	४७४
१–लक्षण-प्रकार : भूषण	४७५
२–अक्षरसंघात	४७६
३–शोभा	,,
४–उदाहरण	४७७
५–हेतु	४७८
६–संशय	,,
७–दृष्टान्त	,,
८–तुल्यतर्क	४७९
९–पदोच्चय	,,
१०–निदर्शन	४८०
११–अभिप्राय	,,
१२–प्राप्ति	,,
१३–विचार	४८१
१४–दिष्ट	,,
१५–उपदिष्ट	४८२
१६–गुणातिपात	,,
१७–गुणातिशय	,,
१८–विशेषण	४८३
१९–निरुक्ति	,,
२०–सिद्धि	४८४
२१–भ्रंश	,,
२२–विपर्यय	,,
२३–दाक्षिण्य	,,
२४–अनुनय	४८५
२५–माला	,,
२६–अर्थापत्ति	,,
२७–गर्हण	४८६
२८–पृच्छा	,,
२९–प्रसिद्धि	,,
३०–सारूप्य	४८७
३१–संक्षेप	,,
३२–गुणकीर्तन	,,
३३–लेश	४८८
३४–मनोरथ	,,
३५–अनुक्तसिद्धि	,,
३६–प्रियोक्ति-प्रियवचन	४८९
नाट्यालङ्कार : नामनिर्देश	,,
१–आशीः	४९०
२–आक्रन्द	,,
३–कपट	४९१
४–अक्षमा	४९२
५–गर्व	,,
६–उद्यम	,,
७–आश्रय	,,
८–उत्प्रासन	४९३
९–आकांक्षा	,,
१०–क्षोभ	,,
११–पश्चात्ताप	४९४
१२–उपपत्ति	,,
१३–आशंसा	,,
१४–अध्यवसाय	,,
१५–विसर्प	४९५
१६–उल्लेख	,,
१७–उत्तेजन	,,
१८–परीवाद	४९६
१९–नीति	,,
२०–अर्थ-विशेषण	,,
२१–प्रोत्साहन	४९७
२२–साहाय्य	,,
२३–अभिमान	,,
२४–अनुवर्तन	४९८

२५—उत्कीर्तन ११ ४९८
२६—याच्ञा ४९९
२७—परिहार ,,
२८—निवेदन ,,
२९—प्रवर्तन ५००
३०—आख्यान ,,
३१—युक्ति ,,
३२—प्रहर्ष ५०१
३३—उपदेशन ,,
नाट्यलक्षण और नाट्यालङ्कार; उपयोग-भेद और अनिवार्य योजना ५०२
वीथ्यङ्ग-संकेत ५०४
लास्य के अङ्ग : निर्देश ,,
१—गेयपद ,,
२—स्थितपाठ्य ५०५
३—आसीन ,,
४—पुष्पगण्डिका ,,
५—प्रच्छेदक ,,
६—त्रिगूढग ५०६
७—सैन्धव ५०७
८—द्विगूढक ,,
९—उत्तमोत्तमक ५०८
१०—उक्तप्रत्युक्त ,,
महानाटक क्या है ? ,,
१—रूपक-प्रकार : नाटक ३६२
२— ,, प्रकरण : सभेद-निरूपण ५०९
३— ,, भाण ५११
४— ,, व्यायोग ५१२
५— ,, समवकार ५१३
६— ,, डिम ५१६
७— ,, ईहामृग ५१७
८— ,, अङ्क ५१९
९— ,, वीथी ५२०
वीथी के १३ अङ्ग ५२०
१—उद्घात्यक ५२१
२—अवलगित ,,
३—प्रपञ्च ,,
४—त्रिगत ५२२
५—छल ५२३
६—वाक्केलि ५२४
७—अधिबल ५२५
८—गण्ड ,,
९—अवस्यन्दित ५२६
१०—नालिका ५२७
११—असत्प्रलाप ५२८
१२—व्याहार ,,
१३—मृदव ५२९
रूपकों में वीथ्यङ्गों का निवेश और उपयोग ,,
दशम रूपक-प्रकार : प्रहसन : सप्रभेद-निरूपण ५३०
१—भेद : शुद्ध प्रहसन ,,
२—भेद : सङ्कीर्ण प्रहसन ,,
'संकीर्ण' प्रहसनविषयक मतभेद तथा 'विकृत' नायक प्रहसननिरूपण ५३१
उपरूपक-निरूपण ५३२
१—नाटिका ,,
२—त्रोटक ५३३
३—गोष्ठी ५३४
४—सट्टक ,,
५—नाट्यरासक ५३५
६—प्रस्थानक ५३६
७—उल्लाप्य ,,
८—काव्य ५३७
९—प्रेङ्खण ५३८
१०—रासक ५३९
११—संलापक ५४०

१२—श्रीगदित ५४०
१३—शिल्पक ५४१
१४—विलासिका ५४२
१५—दुर्मल्लिका ५४३
१६—प्रकरणिका ५४४
१७—हल्लीश „
१८—भाणिका ५४५
'श्रव्य' काव्य-निरूपण ५४६
प्रथम श्रव्यकाव्य-प्रकार : पद्यमय अथवा पद्य-काव्य ५४७
पद्यात्मक काव्य के भेद „
१—मुक्तक „
२—युग्मक ५४८
महाकाव्य : स्वरूप-विनिश्चय ५४९
महाकाव्य-सम्बन्धी कतिपय आनुषंगिक विशेषतायें : आर्ष-महाकाव्य में 'सर्ग' के बदले 'आख्यान' रचना ५५३
प्राकृत भाषा में रचित महाकाव्य में 'सर्ग' के बदले 'आश्वास' की रचना ५५४
अपभ्रंश भाषा में रचित महाकाव्य में 'सर्ग' के बदले 'कुडवक' की रचना „
काव्य : स्वरूप-निरूपण „
खण्डकाव्य : लक्षण और उदाहरण ५५५
'कोष'रूप पद्य-प्रबन्ध : स्वरूप-निर्देश „
द्वितीय श्रव्यकाव्य-प्रकार : गद्यमय अथवा गद्य-काव्य „
गद्यकाव्य के अवान्तर भेद ५५६
१—कथा „
२—आख्यायिका ५५७
गद्यपद्यात्मक काव्य-प्रबन्ध ५५८
१—चम्पू „
२—विरुद „
३—करम्भक „
अन्यान्य काव्यप्रकारों का निर्दिष्ट काव्यभेदों में अन्तर्भाव „

सप्तम परिच्छेद

काव्य के दोष : स्वरूप-निरूपण ५५९
दोषतत्त्व : प्रकार-निरूपण „
पद-पदांश-वाक्यगत दोष-निर्देश ५६०
पददोष-निरूपण „
१—दुःश्रवत्व „
२—अश्लीलत्व : त्रिविध „
क. व्रीडाभिव्यञ्जनरूप ५६१
ख. जुगुप्साभिव्यञ्जनरूप „
ग. अमङ्गलाभिव्यञ्जनरूप „
३—अनुचितार्थत्व „
४—अप्रयुक्तत्व „
५—ग्राम्यत्व ५६२
६—अप्रतीतत्व „
७—सन्दिग्धत्व ५६३
८—नेयार्थत्व „
९—निहतार्थत्व ५६४
१०—अवाचकत्व „
११—क्लिष्टत्व ५६५
१२—विरुद्धमतिकृत्त्व „
१३—अविमृष्टविधेयांशत्व „
नञ् का 'प्रसज्यप्रतिषेध'रूप अभिप्राय और समासाभाव में इसकी रक्षा ५६७
क्लिष्टत्व-विरुद्धमतिकारित्व और अविमृष्टविधेयांशत्व की पदगतता की व्यवस्था ५७०
वाक्यगत दोष-निरूपण „
१—दुःश्रवत्व „
२—अश्लीलत्व „
३—नेयार्थत्व „
४—क्लिष्टत्व ५७१
५—अविमृष्टविधेयांशत्व „
अविमृष्टविधेयांशत्व (विधेयाविमर्श) की अन्यान्य सम्भावनायें „
१—प्रक्रान्तवाचक 'तत्' के प्रयोग में ५७२

२–प्रसिद्धि-बोधक 'तत्' के प्रयोग में ५७३
३–पूर्वानुभूत पदार्थ के स्मारक-रूप 'तत्' के प्रयोग में ,,
भिन्न विभक्ति में, 'यत्' शब्द के सन्निकट 'तत्' शब्द की निराकांक्षता ५७४
पदांश-गत दोष ५७५
१–दुःश्रवत्व : स्वरूप तथा निदर्शन ,,
२–निहतार्थत्व ,,
३–अवाचकत्व ५७६
४–अश्लीलत्व ,,
५–नेयार्थत्व ,,
पदांशगत दोष : उपसंहार ५७७
निरर्थकत्व दोष ,,
असमर्थत्व दोष ,,
च्युतसंस्कृतित्व दोष ,,
कतिपय दोषों के स्वरूप-भेद ५७८
वाक्यदोष : स्वरूप तथा भेद-निरूपण ५७९
वाक्यगतदोष ५८०
१–प्रतिकूलवर्णत्व ,,
२–लुप्तविसर्गत्व ५८१
३–आहतविसर्गत्व ,,
४–अधिकपदत्वः विशेष विचार ,,
५–न्यूनपदत्व ५८२
६–कथितपदत्व ,,
७–हतवृत्तत्व ५८३
८–पतत्प्रकर्षत्व ५८५
९–सन्धिविश्लेष ,,
१०–संध्यश्लीलत्व ५८६
११–सन्धिकष्टत्व ,,
१२–अर्धान्तरैकपदत्व ५८७
१३–समाप्तपुनरात्तत्व ,,
१४–अभवन्मतसंबन्धत्व ,,
१५–अक्रमत्व ५९०
१६–अमतपरार्थत्व ५९१
१७–वाच्यानभिधान ,,
१८–भग्नप्रक्रमत्व ५९३
१९–प्रसिद्धित्याग ५९५
२०–अस्थानस्थपदत्व ५९६
२१–अस्थानस्थसमासत्व ५९७
२२–सङ्कीर्णत्व ५९८
२३–गर्भितत्व ,,
अर्थदोष : स्वरूप तथा भेद ५९९
१–अपुष्टत्व ,,
२–दुष्क्रमत्व ६००
३–ग्राम्यत्व ,,
४–व्याहतत्व ,,
५–अश्लीलत्व ६०१
६–कष्टत्व ,,
७–अनवीकृतत्व ६०२
८–निर्हेतुत्व ६०३
९–प्रकाशितविरुद्धत्व ,,
१०–संदिग्धत्व ,,
११–पुनरुक्तत्व ६०४
१२–प्रसिद्धिविरुद्धत्व ६०५
१३–विद्याविरुद्धत्व ,,
१४–साकाङ्क्षत्व ६०६
१५–सहचरभिन्नत्व ,,
१६–अस्थानयुक्तत्व ,,
१७–अविशेष में विशेष ६०७
१८–अनियम में नियम ,,
१९–विशेष में अविशेष ,,
२०–नियम में अनियम ६०८
२१–विध्ययुक्तत्व ६०९
२२–अनुवादायुक्तत्व ,,
२३–निर्मुक्तपुनरुक्तत्व ६१०
रसदोष : स्वरूप तथा प्रकार-निरूपण ,,
१–रस की स्वशब्दवाच्यता ६११
२–स्थायिभाव की ,, ,,
३–व्यभिचारिभाव की ,, ,,
४–प्रकृत रस-विरुद्ध विभावादि-योजना ६१२

५–अनुभाव की कष्ट-कल्पना ६१२
६–विभाव की ,, ६१३
७–अकाण्ड में रसविस्तार ,,
८–अकाण्ड में रसच्छेद ,,
९–पुनः पुनः रसदीप्ति ,,
१०–अङ्गी रस का अननुसंधान ,,
११–प्रकृत रस के अनुपकारक का विस्तृत वर्णन ६१४
१२–अङ्गभूत रस-भावादि का अतिविस्तार ,,
१३–प्रकृतिविपर्यय ,,
१४–अर्थानौचित्य ,,
अलङ्कार-दोष : पूर्वनिरूपित दोष-वर्ग में अन्तर्भाव, उपमादिगत दोष 'अनुचितार्थत्व' ६१५
यमक-दोष : अप्रयुक्तत्व ६१६
उत्प्रेक्षागत दोष : अवाचकत्व ,,
अनुप्रासगत दोष : प्रतिकूलवर्णत्व ,,
उपमागत दोष : अधिकपदत्व, न्यून-पदत्व ६१७
उपमागत दोष : भग्नप्रक्रमत्व ,,
अनुप्रासगत दोष : अपुष्टार्थत्व ६१९
समासोक्ति तथा अर्थान्तरन्यास दोष : पुनरुक्तत्व ६२०
अनुप्रासगत अन्य दोष : ख्याति-विरुद्धत्व ६२१
उपर्युक्त दोष : अनित्यत्वव्यवस्था, 'दुःश्रवत्व' की अनित्यता ,,
अश्लीलत्व की अनित्यत्व-व्यवस्था ६२२
निहतार्थत्व-अप्रयुक्तत्व : अनित्यत्व-नियम ६२३
अप्रतीतत्व : अनित्यता-नियम ६२४
कथितपदत्व : अनित्यत्व-व्यवस्था ६२५
सन्दिग्धत्व : अनित्यता-नियम ६२६
कष्टत्व : गुणव्यवस्था ,,
ग्राम्यत्व : अनित्यत्व-व्यवस्था ६२७
'निर्हेतुत्व' की गुणव्यवस्था ६२८
'ख्यातिविरुद्धत्व' की गुणव्यवस्था, 'कविसमय-कीर्तन' ,,
'पुनरुक्तत्व' की अदोषता ६३०
न्यूनपदत्व ,, ६३१
अधिकपदत्व ,, ६३३
समाप्तपुनरात्तत्व ,, ,,
गर्भितत्व ,, ६३४
पतत्प्रकर्षत्व ,, ,,
रसगत दोषों की अनित्यत्व-व्यवस्था ,,
सर्वदोष-प्रतिप्रसव : समस्त दोषों की अनित्यत्वव्यवस्था ६४०

अष्टम परिच्छेद

काव्य में गुण-तत्त्व : स्वरूप और उपयोग ६४२
गुणविभाग : माधुर्य, ओज तथा प्रसाद ,,
माधुर्य-निरूपण ६४३
माधुर्य का अभिव्यक्ति-क्षेत्र ६४४
माधुर्य के अभिव्यञ्जन-साधन ६४५
ओजोगुण : स्वरूप तथा क्षेत्र-निरूपण ६४६
ओजोगुण के अभिव्यञ्जन-साधन ,,
प्रसादगुण : स्वरूप तथा क्षेत्र-निर्देश ६४७
प्रसाद गुण के अभिव्यञ्जन साधन ६४८
माधुर्यादि गुणत्रय की शब्दगुणता : औपचारिक ,,
प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत श्लेष, समाधि, औदार्य तथा प्रसाद का ओजोगुण में अन्तर्भाव ६४९
प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत 'पृथक्-पदत्व'रूप माधुर्य का 'माधुर्य' गुण में अन्तर्भाव ६५१
प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत अर्थव्यक्ति का 'प्रसाद' में अन्तर्भाव ,,

प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत 'कान्ति' तथा 'सुकुमारता' : दोषत्यागरूप ६५२
प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत 'समता' : गुणत्रय में अन्तर्भाव ,,
प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत अर्थगुण : गुणत्रय में अन्तर्भाव ६५३

नवम परिच्छेद

काव्यमें रीतितत्त्व : स्वरूप और उपयोग ६५८
रीतिभेद : वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली तथा लाटी ,,
वैदर्भी : सोदाहरण स्वरूप-निरूपण ६५९
आचार्य रुद्रट-सम्मत वैदर्भी-स्वरूप-निर्देश ६६०
गौडीरीति : सोदाहरण स्वरूप-निर्देश ,,
आलङ्कारिक पुरुषोत्तम-सम्मत गौडी-स्वरूप-संकेत ,,
पाञ्चाली रीति : सोदाहरण स्वरूप-निरूपण ६६१
भोजराज-सम्मत पाञ्चाली-स्वरूप ,,
लाटी रीति : सोदाहरण स्वरूप-विवेक ,,
अन्य काव्याचार्य-सम्मत लाटी-स्वरूप ६६२
अन्य आलङ्कारिक-सम्मत रीतिचतुष्टय-स्वरूप ,,
रचना के नियामक ,,

दशम परिच्छेद

काव्य में अलङ्कार-तत्त्व : स्वरूप और उपयोगिता ६६५
शब्दालङ्कार ६६६
१—पुनरुक्तवदाभास ,,
२—अनुप्रास : भेद-प्रभेद-निर्देश ६६७
क. छेकानुप्रास ,,
ख. वृत्त्यनुप्रास ,,
ग. श्रुत्यनुप्रास ६६९
घ. अन्त्यानुप्रास ६७०
ङ. लाटानुप्रास ६७१
३—यमक ६७२
पदावृत्तिरूप यमक ६७३
४—वक्रोक्ति : काकुवक्रोक्ति ६७४
५—भाषायमक ६७५
६—श्लेष ,,
क. वर्णश्लेष ६७६
ख. प्रत्ययश्लेष ,,
ग. लिङ्गश्लेष ६७७
घ. प्रकृतिश्लेष ,,
ङ. पदश्लेष ,,
च. विभक्तिश्लेष ,,
छ. वचनश्लेष ,,
ज. भाषाश्लेष ६७९
श्लेषगत भेद-प्रभेद ,,
श्लेषविषयक शास्त्रार्थ ६८०
७—चित्रालङ्कार ६८७
प्रहेलिका : अलङ्कारत्वखण्डन ६९१
अर्थालंकार : ६९२
१—उपमा ,,
उपमा के भेद-प्रभेद : पूर्णोपमा : श्रौती और आर्थी ६९३
पूर्णोपमागत भेद : तद्धितगा, समासगा और वाक्यगा पूर्णोपमा ६९५
तद्धितगा, समासगा और वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा ,,
तद्धितगा, समासगा और वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा ६९६
लुप्तोपमा : भेद-प्रभेद ,,
धर्मलुप्तोपमा के पाँच प्रकार ६९८
आधार और कर्म से विहित 'क्यच्' प्रत्यय के प्रयोग में धर्मलुप्तोपमा ,,
उपमानलुप्तोपमा : वाक्यगा तथा समासगा ७०१
वाचकलुप्तोपमा : समासगा और क्विप्प्रत्ययगा ,,
समासगा वाचकलुप्तोपमा ७०२

क्रिया वाचकलुप्तोपमा ७०२
धर्मोपमान लुप्तोपमा : भेदद्वय ,,
धर्मवाचक ,, ,, ७०३
उपमेय ,, ,,
धर्मोपमेय ,, ७०४
त्रिलुप्तोपमा ७०५
उपमाभेद-संकलन ,,
उपमा में साधारण धर्म : स्वरूप तथा प्रकार-निर्देश ७०७
उपमा के अन्यान्य वैचित्र्य ७०८
क. एकदेशविवर्तिनी उपमा ,,
ख. रसनोपमा ७०९
ग. मालोपमा ,,
उपमा के अनन्त वैचित्र्य : वर्गीकरण की असंभावना ७१०
२–अनन्वय ,,
३–उपमेयोपमा ७१२
४–स्मरण ७१३
५–रूपक ७१५
परम्परितरूपक : सप्रभेद निरूपण ७१६
साङ्गरूपक : समस्तवस्तुविषय और एकदेशविवर्ति ७१९
निरङ्गरूपक : भेदद्वय ७२१
रूपकभेद : संकलन ,,
रूपक-वैचित्र्य ७२२
६–परिणाम ७२६
७–संदेह : सप्रभेदनिरूपण ७२८
८–भ्रान्तिमान् ७३०
९–उल्लेख ७३२
ज्ञातृभेदनिबन्धन : उल्लेख ,,
विषयभेदनिबन्धन : उल्लेख ७३४
१०–अपह्नुति ७३५
अपह्नवपूर्वक आरोप में 'अपह्नुति' ,,
आरोपपूर्वक अपह्नव में ,, ,,
अपह्नुति का प्रकारान्तर ७३६
११–निश्चय ७३८
१२–उत्प्रेक्षा : सप्रभेदनिरूपण ७३९
वाच्योत्प्रेक्षा ७४०
वाच्यगुणोत्प्रेक्षा ,,
वाच्यक्रियोत्प्रेक्षा ७४१
वाच्यद्रव्योत्प्रेक्षा ,,
उत्प्रेक्षावैचित्र्य ७४८
१३–अतिशयोक्ति : सप्रभेद निरूपण ७५३
१४–तुल्ययोगिता ७५८
प्रस्तुत पदार्थों में एकक्रियारूप धर्म के योग में तुल्ययोगिता ,,
दो अप्रस्तुत पदार्थों में एकगुणरूप धर्म के योग में तुल्ययोगिता ,,
१५–दीपक ७६०
१६–प्रतिवस्तूपमा ७६२
१७–दृष्टान्त ७६३
१८–निदर्शना ७६५
१९–व्यतिरेक : सप्रभेद निरूपण ७६९
२०–सहोक्ति ७७३
२१–विनोक्ति ७७५
२२–समासोक्ति ७७७
२३–परिकर ७८७
२४–श्लेष ७८८
२५–अप्रस्तुतप्रशंसा : सप्रभेज निरूपण ७८९
सामान्य से विशेष की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' ,,
विशेष से सामान्य की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' ७९०
कार्य से कारण की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' ,,
कारण से कार्य की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' ७९१
समान वस्तु से समान वस्तु की 'अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा ,,

समासोक्ति की भाँति केवल विशेषण की श्लिष्टता में श्लेषमूला 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' ७९१
श्लेष की भाँति विशेस्य की भी श्लिष्टता में श्लेषमूला 'अप्रस्तुतप्रशंसा' ७९२
२६—व्याजस्तुति ७९४
व्याजेन स्तुतिः=निन्दा के बहाने स्तुति ७९५
व्याजरूपा स्तुति=स्तुति का बहाना मात्र ,,
२७—पर्यायोक्ति ७९६
२८—अर्थान्तरन्यास ७९९
साधर्म्य के द्वारा सामान्य का विशेष से समर्थन ,,
,, ,, विशेष का सामान्य से समर्थन ,,
,, ,, कार्य का कारण से समर्थन ,,
,, ,, कारण का कार्य से समर्थन ८००
२९—काव्यलिङ्ग ८०२
३०—अनुमाना ८०६
३१—हेतु ८०७
३२—अनुकूल ८०८
३३—आक्षेप ८०९
सामान्यतया सूचित वस्तु का सर्वात्मना निषेधरूप वक्ष्यमाणविषयगत आक्षेप ८१०
एक अंश के वर्णन और दूसरे अंश के निषेध में वक्ष्यमाण विषयगत आक्षेप ,,
वस्तुस्वरूप के निषेध में उक्त विषयगत आक्षेप ,,
वस्तुकथन के निषेध में उक्त वस्तुगत आक्षेप ८११
आक्षेप का प्रकारान्तर ,,
३४—विभावना : भेद-प्रभेद ८१४
उक्तनिमित्ता विभावना ८१४
अनुक्तनिमित्ता ,, ,,
३५—विशेषोक्ति ८१५
३६—विरोध : सप्रभेद निरूपण ८१८
गुण का गुण से विरोधवर्णनरूप विरोध ,,
जाति का जाति से ,, ,,
क्रिया के साथ गुण का ,, ८१९
गुण का द्रव्य से ,, ,,
क्रिया के साथ क्रिया का ,, ,,
क्रिया का द्रव्य के साथ ,, ,,
द्रव्य का द्रव्य के साथ ,, ,,
३७—असङ्गति ८२१
३८—विषम : सप्रभेद निरूपण ८२३
कारणगुण से कार्य-गुण के विरोध में 'विषम' ८२४
कारण की क्रिया से कार्य की क्रिया के विरोध में 'विषम' ,,
आरब्ध कार्य के वैफल्य में अनर्थोत्पत्तिरूप 'विषम' ,,
विरूपसंघटना में 'विषम' ,,
३९—सम ८२६
४०—विचित्र ८२७
४१—अधिक ८२८
४२—अन्योन्य ८२९
४३—विशेष ,,
४४—व्याघात ८३१
व्याघात : प्रकारान्तर ,,
४५—कारणमाला ८३३
४६—मालादीपक ८३४
४७—एकावली ,,
पूर्व-पूर्ववर्णित के विशेषणरूप सेउत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु के स्थापन में एकावली ८३५
४८—सार ८३६
४९—यथासंख्य ८३७

५०—पर्याय ८३८

एक वस्तु के अनेक स्थान पर क्रमशः अवस्थान-वर्णन में 'पर्याय' ,,

अनेक वस्तुओं के एकत्र क्रमशः अवस्थान-वर्णन में 'पर्याय' ,,

एक वस्तु के अनेक स्थान पर क्रमशः संपादन अथवा विधान-वर्णन में 'पर्याय' ८३९

अनेक वस्तुओं के एकत्र संपादन अथवा विधान-वर्णन में 'पर्याय' ,,

५१—परिवृत्ति ८४०

'समान' और 'न्यून' वस्तु के साथ विनिमय में 'परिवृत्ति ,,

अधिक के साथ 'विनिमय' में 'परिवृत्ति' ,,

५२—परिसंख्या ८४२

शब्दव्यपोह में 'परिसंख्या' ,,

अर्थव्यपोह में ,, ,,

अर्थलभ्य व्यावृत्ति में ,, ८४३

५३—उत्तर ८४४

५४—अर्थापत्ति ८४५

प्राकरणिक से अप्राकरणिक अर्थ की आपत्ति में 'अर्थापत्ति' ८४६

अप्राकरणिक से प्राकरणिक अर्थ की आपत्ति में 'अर्थापत्ति' ,,

५५—विकल्प ८४८

५६—समुच्चय : सप्रभेद-निरूपण ८५०

५७—समाधि ८५३

५८—प्रत्यनीक ८५४

५९—प्रतीप ८५५

प्रसिद्ध उपमान की उपमेय-कल्पना में 'प्रतीप' ८५६

प्रसिद्ध उपमान की निष्फलता के प्रतिपादन में 'प्रतीप' ,,

प्रतीप : प्रकारान्तर ८५७

६०—मीलित ८५८

सहज रूप की तुल्यलक्षण वस्तु के द्वारा गोपन में 'मीलित' ,,

आगन्तुक रूप की तुल्यलक्षण वस्तु द्वारा गोपन में 'मीलित' ८५९

६१—सामान्य ,,

६२—तद्गुण ८६०

६३—अतद्गुण ८६१

६४—सूक्ष्म ८६२

६५—व्याजोक्ति ८६४

६६—स्वभावोक्ति ८६५

६७—भाविक ८६७

६८—उदात्त ८७१

लोकोत्तर वैभव का वर्णनरूप 'उदात्त' ,,

अङ्गभूत उदात्त चरितका ,, ,, ८७२

६९—रसवत् ८७३

७०—प्रेय ,,

७१—ऊर्जस्वि ,,

७२—समाहित ,,

७३—भावोदय ८७८

७४—भावसन्धि ,,

७५—भावशबलता ,,

भावोदय ,,

भावसन्धि ८७९

भावशबलता ,,

उपर्युक्त अलङ्कार-सम्मिश्रण और उसके भेद ८८२

१—संसृष्टि ,,

२—सङ्कर ८८५

ग्रन्थसमाप्ति ८९१

उदाहृत श्लोकानुक्रमणिका ८९३

॥ श्रीः ॥

साहित्यदर्पणः

विमर्शाख्य-हिन्दीव्याख्याविभूषितः

प्रथमः परिच्छेदः

(आरम्भ-मङ्गल)

ग्रन्थारम्भे निर्विघ्नेन प्रारिप्सितपरिसमाप्तिकामो वाङ्मयाधिकृततया वाग्देवतायाः सांमुख्यमाधत्ते—

(वाग्देवी-वन्दना)

शरदिन्दुसुन्दररुचिश्चेतसि सा मे गिरां देवी ।
अपहृत्य तमः सन्ततमर्थानखिलान्प्रकाशयतु ॥ १ ॥

अनुवाद—ग्रन्थकार (साहित्यदर्पण के रचयिता कविराज विश्वनाथ) अपने ग्रन्थ (साहित्यदर्पण) की निर्विघ्नसमाप्ति की कामना से, ग्रन्थारम्भ के पहले, वाङ्मय की एकमात्र अधिकारिणी भगवती वाग्देवी की दया-दीक्षा का ध्यान कर रहा है—

शरच्चन्द्र की कान्ति से भी बढ़ी-चढ़ी कान्ति वाली, वह (त्रिभुवनवन्दिता) वाग्देवी सरस्वती हमारे हृदय का अज्ञानान्धकार दूर करती रहे और उसमें समस्त (काव्यात्मक) अर्थ-तत्त्वों को अवभासित करती रहे ।

विमर्श—साहित्यदर्पण की 'विमला', 'तर्कवागीशविरचित' किंवा 'लक्ष्मी' टीकाओं में 'अखिलान् अर्थान्' का अभिप्राय 'वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्यरूप अर्थ' बताया गया है। किन्तु वस्तुतः यहाँ कविराज विश्वनाथ का अभिप्राय 'काव्यविषयक विविध तत्त्व' है। 'काव्यविषयक विविध तत्त्व' का तात्पर्य रस-भाव, गुणावगुण, वृत्ति-रीति, अलङ्कार-उपचार आदि-आदि हैं। वाच्य और लक्ष्यरूप अर्थों के अवबोध के लिये वाग्देवी की दया-दीक्षा का चिन्तन उतना महत्त्व नहीं रखता जितना कि काव्य-तत्त्वों के निःसन्दिग्ध अवबोध के लिये। संस्कृत का अलङ्कारशास्त्र 'साहित्यदर्पण' के पहले ही रचा जा चुका था। भिन्न-भिन्न आलंकारिकों की समीक्षा में काव्य के भिन्न-भिन्न तत्त्व पहचाने जा चुके थे। साहित्यदर्पणकार के लिये इन विविध काव्य-तत्त्वों का वास्तविक अवबोध आवश्यक ही है जिसके लिये वाग्देवी की प्रार्थना भी अपेक्षित है। 'अखिलानर्थान् प्रकाशयतु' में जिस निस्सीम काव्यार्थतत्त्व के प्रकाशन की प्रार्थना है उसका स्वरूप ध्वनिकार की इस कारिका में निर्दिष्ट है—

'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥' (ध्वन्यालोक : १. ६)

(अलङ्कारशास्त्र का प्रयोजन : काव्य-प्रयोजन से अभिन्न)

अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्यफलान्याह—

(काव्य-प्रयोजन : पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति)

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥ २ ॥

(चतुर्वर्गप्राप्तिरूप काव्य-प्रयोजन का तात्पर्य)

चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतो 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादि कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव ।

उक्तं च (भामहेन)—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्ति प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥' इति ।

(चतुर्वर्ग-प्राप्ति का सरल सुखद साधन काव्य ही है)

किञ्च काव्याद्धर्मप्राप्तिर्भगवन्नारायणचरणारविन्दस्तवादिना, 'एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति' इत्यादिवेदवाक्येभ्यश्च सुप्र-

---

अनुवाद—जो काव्य के प्रयोजन हैं वे ही अलङ्कारशास्त्र के भी हैं। यह ग्रन्थ (साहित्यदर्पण) काव्य का अङ्ग है (क्योंकि काव्य की समीक्षा का शास्त्र–अलङ्कारशास्त्र–काव्य का अङ्ग हुआ करता है) और इसके भी वे ही प्रयोजन हैं जो काव्य के हुआ करते हैं। इसलिये यहाँ काव्य-प्रयोजन का निर्देश किया जा रहा है—

काव्य एक ऐसी वस्तु है जिससे अल्पबुद्धि मानव को, विना किसी कष्ट-साधना के, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति हुआ करती है। इसलिये 'काव्य' क्या है ? इसका निरूपण किया जा रहा है।

पुरुषार्थचतुष्टय-प्राप्तिरूप काव्य-प्रयोजन वस्तुतः सर्वविदित है क्योंकि यह सभी जानते हैं कि काव्य उपदेश दिया करता है—'राम के ऐसा आचार-व्यवहार बनाओ, रावण के ऐसा आचार-व्यवहार न बनाओ।' काव्य का यह उपदेश 'कृत्य'–धर्मादिरूप कर्त्तव्य-कर्म–की ओर हमारी प्रवृत्ति और 'अकृत्य' अधर्मादिरूप अकर्त्तव्य–अकर्म–की ओर से हमारी निवृत्ति का कारण है (और इस प्रकार चतुर्वर्ग–प्राप्ति का अन्यतम उपाय है)।

इसीलिये तो कहा गया है—

'सत्काव्य का अनुशीलन अथवा निर्माण एक ऐसी वस्तु है जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का तात्त्विक ज्ञान हुआ करता है, कलाओं में व्युत्पत्ति बढ़ा करती है, विदग्ध अथवा सहृदय होने का सुयश मिला करता है और उसकी प्राप्ति हुआ करती है जिसे हृदय का आह्लाद कहा जाता है।' (भामह : काव्यालंकार तथा अग्निपुराण)।'

और वस्तुतः यह बात स्वयंसिद्ध है—काव्य से धर्मप्राप्ति तो इसलिए सिद्ध है क्योंकि भगवान् विष्णु के चरणारविन्द की स्तुति (स्तोत्र-काव्य-भावना अथवा स्तोत्र काव्य-रचना) धर्म का ही तो लाभ है। यहाँ 'एकः शब्दः' इत्यादि वेद–वाक्यों का प्रमाण भी दिया जा सकता है जिसका तात्पर्य है—'एक ही शब्द (विष्णु–वाचक प्रणव

सिद्धैव। अर्थप्राप्तिश्च प्रत्यक्षसिद्धा। कामप्राप्तिश्चार्थद्वारैव। मोक्षप्राप्तिश्चैतज्जन्य-धर्मफलाननुसंधानात्, मोक्षोपयोगिवाक्ये व्युत्पत्त्याधायकत्वाच्च।

चतुर्वर्गप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते। परमानन्दसंदोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव।

ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्नः करणीय इत्यपि न वक्तव्यम्। कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात्?

अथवा ओङ्काररूप शब्द–वस्तुतः शब्दमात्र,क्योंकि समस्त शब्द अन्ततोगत्वा भगवद्वाचक ही हैं) जिसका सोच-समझ कर प्रयोग किया जाय और ठीक-ठीक अर्थ-रहस्य समझा जाय, क्या इहलोक और क्या परलोक–दोनों से सम्बद्ध हमारे मनोरथों का पूरक हुआ करताहै।'

काव्य से अर्थ-प्राप्ति तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है ही। काव्य से कामरूप पुरुषार्थ की सिद्धि इसलिये संभव है क्योंकि जब काव्य से अर्थ-लाभ हुआ तो उसके द्वारा काम-सुख तो अवश्य ही प्राप्त होगा।

काव्य मोक्ष-प्राप्ति का भी साधन है क्योंकि काव्य के द्वारा सहृदय सामाजिक के हृदय में उस अनासक्ति योग की भावना भरी जाया करती है जो काव्य–संभूत धर्मादि-फल–भोग के प्रति स्वाभाविक है (क्योंकि अनासक्ति–योग ही मोक्ष–प्राप्ति है)। काव्य से मोक्ष-प्राप्ति का एक यह भी अभिप्राय है—काव्य हम में मोक्ष–शास्त्र–सम्बन्धी विषयों की व्युत्पत्ति उत्पन्न किया करता है। वैसे तो वेदादिशास्त्र पुरुषार्थचतुष्टय के प्रापक माने गये हैं, किन्तु वेदादिशास्त्रों में कोई रस नहीं मिला करता और इसलिये इनके द्वारा पुरुषार्थचतुष्टय की जो प्राप्ति है वह एक दुःखद साधना है और प्रौढ़बुद्धि लोगों के लिये है संभव है। काव्य तो परमानन्दसंदोह–रस–का जनक है और इसलिये काव्य से ज पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति हुआ करती है वह एक सुखद साधना है और कोमलबुद्धि लोग के भी वश में है।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि परिपक्व बुद्धि वालों के लिये, जब कि उन्हें वेदशास्त्रों से ही पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति हो सकती है, काव्य की कोई उपयोगिता नहीं। क्योंकि बात तो वस्तुतः यह है कि जब कि कड़वी–कसैली औषध (वेदशास्त्र मनुष्य के ताप–संताप की कड़वी–कसैली औषध हैं) से होने वाली रोग–शान्ति मीठी खांड (काव्य मानव के ताप–संताप की मीठी खांड सरीखी औषध है) से ही हो सकती हो, तब भला कौन ऐसा होगा जो अपने ताप-शमन के लिये मीठी खांड (काव्य) के प्रति लालायित न हो उठे!

विमर्श—(क) काव्य के प्रयोजनों का निरूपण तो आलंकारिक आचार्य परम्परा से करते आ रहे हैं किन्तु काव्य-समीक्षा के प्रयोजनों का विचार संभवतः सर्वप्रथम विश्वनाथ कविराज ने ही किया है। काव्य और काव्य-समीक्षा की विभिन्न कृतियों में, कवि और समीक्षक की प्रतिभा की एकता और एकरसता का अनुसंधान कर, विश्वनाथ कविराज ने जो प्रयोजनैक्य सिद्ध किया है वह एक मौलिक कृत्य है और काव्य किंवा अलंकारशास्त्र की अपृथक्सिद्धता को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है।

(ख) साहित्यदर्पणकार के पूर्ववर्ती आलंकारिक आचार्य मम्मट द्वारा निर्दिष्ट काव्य-प्रयोजन तो ये रहे—१-यशःप्राप्ति, २-अर्थलाभ, ३-लोकव्यवहारज्ञान, ४-अमङ्गलनाश, ५-रसास्वाद

(काव्य-प्रयोजन की प्रामाणिकता)

किञ्च काव्यस्योपादेयत्वमग्निपुराणेऽप्युक्तम्—

'नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥' इति ।

'त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्' इति च । विष्णुपुराणेऽपि—

'काव्यालापाश्च ये केचिद्गीतकान्यखिलानि च ।
शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः ॥' इति ।

और ६–सरसोपदेश । साहित्यदर्पणकार ने इस उपर्युक्त प्रयोजन-षट्क की समीक्षा में काव्य और काव्यालोचन के पुरुषार्थप्राप्तिरूप समान प्रयोजन का निष्कर्ष निकाला है । वैसे तो मम्मट-निर्दिष्ट 'षट्-प्रयोजना' में ही पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति का रहस्य समाया हुआ है और इस दृष्टि से मम्मट-प्रतिपादित प्रयोजन-षट्क का खण्डन नहीं हो सकता । किन्तु इतना अवश्य है कि जो बात मम्मट के मत में गूढ़ रूप से है वह विश्वनाथ कविराज के समीक्षण में स्पष्ट हो गयी है ।

(ग) प्राचीन अलंकारशास्त्र में 'शास्त्र' के अधिकारियों और 'काव्य' के सामाजिकों में कोई बौद्धिक भेद-भाव नहीं बताया गया है । किन्तु विश्वनाथ कविराज ने 'शास्त्र' के अधिकारियों को 'परिणतबुद्धि' और 'काव्य' के सामाजिकों को 'सुकुमारबुद्धि' मानकर दोनों के व्यक्तित्व का भेद स्वीकार किया है । विश्वनाथ कविराज की इस मान्यता का आधार संभवतः समानदेशीय किंवा समानकालीन जन-समाज की प्रवृत्तियों का विश्लेषण है । यह भी संभव है कि प्राचीन आलंकारिकों की ये सूक्तियाँ, जैसे कि—

'ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ॥' (रुद्रट : काव्यालङ्कार १२. १)

अथवा

'धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः ।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥' (कुन्तक : वक्रोक्तिजीवित १. ४)

इत्यादि, जिनमें 'शास्त्र' और 'काव्य' का नैसर्गिक भेद-भाव प्रतिपादित है, विश्वनाथ कविराज की समीक्षा में 'शास्त्र' और 'काव्य' के अधिकारियों के वैयक्तिक भेद-भाव को भी प्रमाणित करती प्रतीत हुईं । चाहे जो भी हो, विश्वनाथ कविराज ने 'शास्त्र' और 'काव्य' के अधिकारियों के व्यक्तित्व का जो भेद-प्रतिपादन किया है वह कोई कपोल-कल्पना नहीं, किन्तु एक मनोवैज्ञानिक सत्य है । आधुनिक मनोविज्ञानशास्त्रियों ने भी कवि किंवा सहृदय को Introvert (अन्तर्मुखी वृत्तिवाले) और वैज्ञानिक किंवा विज्ञान-प्रेमी को Extrovert (बहिर्मुखी वृत्तिवाले) सिद्ध किया है । कविराज विश्वनाथ की धारणा में 'सुकुमारबुद्धि' और 'परिणतबुद्धि' का जो अभिप्राय है उसमें आधुनिक मनोविज्ञानशास्त्र के उपर्युक्त व्यक्तित्व-विश्लेषण का भी रहस्य बहुत कुछ अन्तर्निहित है ।

अनुवाद— इतना ही क्यों ? काव्य की उपयोगिता में तो शास्त्रों और पुराणों का भी प्रमाण है । अग्निपुराण का यह कथन है—

'सबसे पहले तो संसार में मानव-जन्म दुर्लभ है, इससे भी दुर्लभ है विद्यालाभ, उससे भी दुर्लभ है कवित्व और जिसे कवि-प्रतिभा कहते हैं वह तो अत्यन्त दुर्लभ है ।'
(अग्निपुराण ३२७. ३)

और यह भी—

'नाट्य एक ऐसी वस्तु है जिससे धर्म, अर्थ और काम रूप पुरुषार्थ की प्राप्ति हुआ करती है ।' (अग्निपुराण ३३८. ७)

तेन हेतुना तस्य काव्यस्य स्वरूपं निरूप्यते ।

(साहित्यदर्पण का अनुबन्ध-चतुष्टय)

एतेनाभिधेयं च प्रदर्शितम् ।

(काव्य-स्वरूप-विवेक की भूमिका : 'काव्यप्रकाश'-कृत काव्यलक्षण-निर्देश)

तत्किंस्वरूपं तावत्काव्यमित्यपेक्षायां कश्चिदाह—'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' इति ।

(उपर्युक्त काव्य-लक्षण का समीक्षण : दोषरहित शब्दार्थयुगल को काव्य मानने में 'अव्याप्ति')

एतच्चिन्त्यम् ।

तथाहि—यदि दोषरहितस्यैव काव्यत्वाङ्गीकारस्तदा—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राऽप्यसौ तापसः

इस सम्बन्ध में विष्णुपुराण (१. २२. ८४.) का यह उल्लेख है—

'समस्त काव्य-साहित्य किंवा समस्त संगीत वस्तुतः शब्दमूर्ति भगवान् विष्णु के ही अंश हैं।'

अब जबकि यह सिद्ध है कि काव्य जीवन के लिये अत्यन्त उपयोगी है तब काव्य क्या है ? इसका विचार-विमर्श तो आवश्यक ही है ।

अनुवाद—इस उपर्युक्त विचार-विमर्श से यह स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ (साहित्यदर्पण) का 'अभिधेय' अथवा विषय क्या है (अर्थात् काव्यस्वरूप-विचार इसका विषय है) और साथ ही साथ यह भी कि इसका 'प्रयोजन' क्या है (अर्थात् चतुर्वर्गप्राप्ति इसका प्रयोजन है), इसका 'अधिकारी' कौन है (अर्थात् काव्य-प्रेमी सामाजिक जन इसके अधिकारी हैं) और इसका 'सम्बन्ध' क्या है (अर्थात् साहित्यदर्पण और काव्य में प्रतिपादक और प्रतिपाद्य का सम्बन्ध है) ।

विमर्श—किसी भी विषय के शास्त्रीय ग्रन्थ में 'अनुबन्धचतुष्टय' का रहना अनिवार्य माना गया है। 'अनुबन्धचतुष्टय' की मर्यादा की रक्षा इसी उद्देश्य से की जा रही है जिसमें किसी भी विषय का ग्रन्थकार अपने विषय से इधर उधर न बहक जाय। 'अनुबन्धचतुष्टय' का अभिप्राय है—अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन—इन चार तत्त्वों का (तत्रानुबन्धो नामाधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि—वेदान्तसार) । यहाँ साहित्यदर्पण जैसे काव्यालोचनात्मक ग्रन्थ के 'अधिकारी' वे लोग बताये गये हैं जो 'काव्यतत्त्व' के जिज्ञासु हैं। वस्तुतः ऐसे ही लोगों को ध्यान में रखकर विश्वनाथ कविराज ने यह ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ का विषय है—काव्य-साहित्य। इस विषय के श्रवण, मनन और निदिध्यासन का मानवजीवन में एक महान् उपयोग है क्योंकि यह एक 'पुरुषार्थ' है और इसकी 'प्राप्ति' मानव-जीवन की एक पूर्णता है। इस विषय और इसके प्रयोजन में एक घनिष्ठ 'सम्बन्ध' है क्योंकि इस विषय के अवबोध से पुरुषार्थप्राप्ति संभव है।

अनुवाद—'काव्य क्या है ?' इस प्रश्न के समाधान में एक काव्याचार्य (काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट) का यह कथन है—

'काव्य वह शब्दार्थयुगल है जो दोषरहित हो, गुणसहित हो और यथासंभव किंवा यथास्थान अनलंकृत भी हो तो कोई क्षति नहीं।'

किन्तु काव्य-स्वरूप का उपर्युक्त निरूपण इसलिये युक्तियुक्त नहीं कि यदि दोषरहित ही शब्दार्थयुगल 'काव्य' हुआ करे-तब यह सूक्ति तो 'काव्य' होने से

सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥' इति।

अस्य श्लोकस्य विधेयाविमर्शदोषदुष्टतया काव्यत्वं न स्यात्। प्रत्युत ध्वनि(स)त्वेनोत्तमकाव्यताऽस्याङ्गीकृता, तस्मादव्याप्तिर्लक्षणदोषः।

ननु कश्चिदेवांशोऽत्र दुष्टो न पुनः सर्वोऽपीति चेत्, तर्हि यत्रांशे दोषः सोऽकाव्यत्वप्रयोजकः, यत्र ध्वनिः स उत्तमकाव्यत्वप्रयोजक इत्यंशाभ्यामुभयत आकृष्यमाणमिदं काव्यमकाव्यंवा किमपि न स्यात्। न च कंचिदेवांशं काव्यस्य दूषयन्तः श्रुतिदुष्टादयो दोषाः, किं तर्हि सर्वमेव काव्यम्। तथाहि—काव्यात्म-

---

रही-'अपमान तो वस्तुतः सर्वप्रथम यह है मेरा कि मेरे (मुझ लोक-विद्रावण रावण के) भी शत्रु पैदा होने लगे! इससे बढ़कर मेरा और क्या अपमान कि इन शत्रुओं में एक तापस भी शत्रु बन बैठा! और तो और, यह तापस भी, इस लङ्का में ही, राक्षसवंश के विनाश में जुट गया! ओह! क्या रावण मैं जी रहा हूँ। धिक्कार है इन्द्रविजयी मेघनाद को! नींद से उठा कुम्भकर्ण भी अब किस काम का! और, और मेरे ये भुजदण्ड किस काम के, जो 'स्वर्ग' कहे जाने वाले किसी छोटे-मोटे टोले की लूट-खसोट में, व्यर्थ के लिये ही फूले बने बैठे हैं।'

यह सूक्ति इसलिये काव्य नहीं हो सकती क्योंकि यहाँ 'विधेयाविमर्श' दोष आ पड़ा है ('विधेयाविमर्श' दोष इसलिये आ पड़ा है क्योंकि यहाँ कवि ने वाक्य-रचना के सामान्य सिद्धान्त-उद्देश्य-विधेयभाव-के पूर्वपश्चाद्भाव के नियम—

'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्।
न ह्यलब्धास्पदं किञ्चित् कुत्रचित् प्रतितिष्ठति॥'

का स्पष्ट उल्लंघन किया है। एक वार तो इस नियम का उल्लंघन 'अयमेव न्यक्कारः' के स्थान पर 'न्यक्कारो ह्ययमेव' करके किया गया है और दूसरी बार किया गया है 'एभिर्भुजैः वृथा' के बदले '···वृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः' इत्यादि रूप से वाक्य-विन्यास करके, जहाँ 'वृथा'रूप विधेयांश, जिसे प्रधानता देनी चाहिये, समास में डालकर अप्रधान बना दिया गया है। होना तो चाहिये इस उपर्युक्त सूक्ति को उत्तम काव्य जैसा कि रसभावादि की अभिव्यञ्जना के कारण इसे माना भी गया है! इससे तो यही निष्कर्ष निकला कि 'दोषरहित शब्दार्थयुगल काव्य है'-यह काव्य-लक्षण 'अव्याप्ति' दोष से दूषित है क्योंकि जिस शब्दार्थयुगल, जैसे कि 'न्यक्कारो ह्ययम्' आदि, को काव्य होना चाहिये वह इस लक्षण की कसौटी पर काव्य ही नहीं ठहरता!)।

यहाँ यह समाधान भी अकिञ्चित्कर ही रहा कि यह (न्यक्कारो ह्ययम् आदि) सूक्ति जितने अंश में दोषयुक्त है उतने अंश में भले ही काव्य न हो किन्तु अन्यत्र अर्थात् रसभावादि की अभिव्यञ्जना के अंश में तो काव्य ही रहेगी क्योंकि समस्त शब्दार्थयुगल तो यहाँ दूषित नहीं ठहरा। क्यों? इसलिये कि एक ओर से तो दोषयुक्त अंश और दूसरी ओर से दोषमुक्त अंश से अपनी-अपनी ओर खींची गयी यह सूक्ति 'अकाव्य' अथवा 'काव्य' कुछ भी नहीं हो पायेगी!

और साथ ही साथ यहाँ यह बात भी तो है कि श्रुतिदुष्ट (अथवा विधेयाविमर्श)

भूतस्य रसस्यानपकर्षकत्वे तेषां दोषत्वमपि नाङ्गीक्रियते। अन्यथा नित्यदोषानित्यदोषत्वव्यवस्थाऽपि न स्यात्! यदुक्तं ध्वनिकृता—

'श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः॥' इति।

किञ्च एवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसंभवात्।

नन्वीषदर्थे नञः प्रयोग इति चेत्तर्हि 'ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्' इत्युक्ते निर्दोषयोः काव्यत्वं न स्यात्। सति संभवे 'ईषद्दोषौ' इति चेत्, एतदपि काव्यलक्षणे न वाच्यम्, रत्नादिलक्षणे कीटानुवेधादिपरिहारवत्। नहि कीटानु-

---

आदि दोष किसी शब्दार्थयुगल को अंशतः ही नहीं अपितु पूर्णतया दूषित करने वाले हुआ करते हैं (और इसलिये 'न्यक्कारो ह्ययम्' आदि में 'विधेयाविमर्श' को आंशिक दोष कह देने से कोई उद्देश्य नहीं सिद्ध हो जायगा)। ऐसा इसलिये (क्योंकि वस्तुतः इन दोषों से काव्य के आत्मभूत रस का अपकर्ष हुआ करता है) क्योंकि यदि इन दोषों से काव्य के आत्मभूत रस का कोई विघात नहीं हो पाता तब इन्हें दोष भी तो नहीं माना गया होता! दोष को तो काव्य के आत्मतत्त्व रस की सर्वात्मना अपकर्षक मानना ही पड़ेगा क्योंकि बिना ऐसा माने नित्यदोष और अनित्यदोष की विभाग-व्यवस्था कैसे सिद्ध हो सकेगी जो कि ध्वनि-दार्शनिक आचार्य की इस उक्ति में सिद्ध की जा चुकी है—

'श्रुतिकटु आदि जो दोष नित्य और अनित्य-दोनों माने गये हैं इसीलिये माने गये हैं क्योंकि शृंगारादिरस-प्रधान काव्य में तो ये सर्वथा हेय हैं (किन्तु रौद्रादिरस-प्रधान काव्य में उपादेय भी हैं)।'

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि 'दोषरहित शब्दार्थयुगल' को काव्य मानने में या तो काव्य का क्षेत्र बहुत सङ्कुचित हो जाता है या काव्य का कोई क्षेत्र ही नहीं बच रहता। क्योंकि ऐसा असभव है कि कोई भी सूक्ति ऐसी बन पड़े जिसमें दोष का ऐसा अभाव हो जो ऐकान्तिक और आत्यन्तिक—दोनों हों।

अब यदि इस संकट से पिण्ड छुड़ाने के लिये 'अदोषौ' के नञ् (अ) का अभिप्राय 'अभाव' न लेकर 'ईषत्' 'स्वल्प' लिया जाय क्योंकि नञ् (अ) का अभिप्राय 'ईषत्' भी हुआ करता है तब तो इससे भी भयंकर संकट उपस्थित हो जायगा जिसका रूप यह होगा कि 'निर्दोष शब्दार्थयुगल' काव्य नहीं कहा जा सकेगा (क्योंकि काव्य तो उसी शब्दार्थयुगल को कहेंगे जिसमें कुछ थोड़ा दोष अवश्य हो)। इससे भी छुटकारा पाने के लिये यदि यह कहा जाय कि 'काव्य वह शब्दार्थयुगल है जिसमें यदि दोष हों तो बहुत थोड़े हों' तब तो इसका यही सीधा उत्तर होगा कि काव्य-लक्षण में इस प्रकार की बात कहनी ही नहीं चाहिये (क्योंकि दोष का होना या न होना अथवा थोड़ा होना या अधिक होना काव्य के स्वरूप का नियामक अथवा अनियामक नहीं अपितु उसकी उपादेयता के वर्द्धन या अवर्द्धन का ही कारण हो सकता है)। जैसे कि जब हमें किसी रत्न के स्वरूप का विवेचन करना होता है तब यह नहीं कहना होता कि 'रत्न वह है जिसमें कीटानुवेध का दोष न लगा हो'। इसी प्रकार काव्य के स्वरूप का विवेचन करते

वेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशाः किन्तूपादेयतारतम्यमेव कर्तुम्। तद्वदत्र श्रुतिदुष्टादयोऽपि काव्यस्य। उक्तं च—

'कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥' इति।

हुये यह नहीं कहना चाहिये कि 'काव्य वह शब्दार्थयुगल है जिसमें दोष न हो'। 'कीटानुवेध' होने या न होने से रत्न की 'उपादेयता' में न्यूनाधिक्य भले ही हो 'रत्नता' में क्योंकर कोई क्षति होने लगी! श्रुतिदुष्टादि दोषों के सद्भाव अथवा अभाव में भी शब्दार्थयुगलरूप काव्य की उपादेयता में घटती–बढ़ती तो संभव है किन्तु 'काव्यता' में कोई क्षति क्योंकर होने लगी! तभी तो ऐसा कहा गया है—

'जिस प्रकार कोई रत्न कीटानुवेध के होने पर भी रत्न ही रहा करता है, उसी प्रकार कोई काव्य रसभावाभिव्यञ्जक शब्दार्थयुगल–श्रुतिदुष्टादि दोष के होने पर भी काव्य ही रहा करता है।'

विमर्श—(क) काव्यप्रकाशकार के काव्यलक्षण—'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' की पदशः आलोचना विश्वनाथ कविराज ने इसीलिये की हैं जिससे उनका अपना काव्यलक्षण—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' अक्षरशः सर्वमान्य सिद्ध हो जाय। यहाँ सर्वप्रथम आक्षेप शब्दार्थयुगलरूप काव्य की पहली विशेषता अर्थात् अदोषता पर किया गया है। मम्मट के 'अदोषौ शब्दार्थौ काव्यम्' इस कथन में 'अदोषौ' का वह अभिप्राय लिया गया है जो लिया तो जा सकता है किन्तु मम्मट के आशय के प्रतिकूल है। 'यदि दोषरहितस्यैव काव्यत्वाङ्गीकारस्तदा 'न्यक्कारो ह्ययमेव''''''' अस्य श्लोकस्य विधेयाविमर्शदोषदुष्टतया काव्यत्वं न स्यात्' आदि युक्तियाँ वस्तुतः मम्मट के काव्यलक्षणवाक्य के 'अदोषौ' पद पर भले ही कटाक्ष करें किन्तु यह निश्चित है कि इनसे मम्मट की 'काव्यभावना' में कोई दोष नहीं निकल पाया। मम्मट के लिये 'न्यक्कारो ह्ययमेव' आदि सूक्ति 'ध्वनिकाव्य' का एक सुन्दर उदाहरण है क्योंकि यहाँ एक एक पद व्यञ्जना से ओतप्रोत है। यहाँ क्या वाच्य और क्या व्यङ्ग्य–दोनों अर्थों के सौन्दर्य और चमत्कार परस्पर स्पर्धा में पड़े एक रमणीय काव्य की रूपरेखा का निर्माण कर रहे हैं। यहाँ मम्मट को और मम्मट के पूर्ववर्त्ती ध्वनिदार्शनिक आचार्यों को कोई दोष न दिखाई पड़ा। जहाँ विश्वनाथ कविराज को यहाँ 'विधेयाविमर्श' का दोष दिखायी पड़ रहा है वहाँ वस्तुतः तो यह दोष है ही नहीं क्योंकि अनुवाद्य अथवा उद्देश्य के पहले विधेय के प्रयोग में ही कवि अपने प्रस्तावित चरित (रावण) की विशेषता का प्रकाशन उचित समझ रहा है। यहाँ बात यह है कि 'न्यक्कार' पद के, जो वस्तुतः विधेय है, उद्देश्य-पद (अयमेव) के पहले प्रयोग में ही कवि लोकविद्रावण रावण के उग्र स्वभाव को अभिव्यक्त करना चाहता है। यदि उद्देश्य–विधेय–भाव के सिद्धान्त का यहाँ अनुसरण किया गया होता तो क्रोधान्ध रावण और किसी पद–वाक्य–प्रमाण–पारावारीण पण्डित का भेद ही क्या रहता! साथ ही साथ समास में पड़ा 'वृथा' पद विधेय क्यों हो? वह तो उच्छूनता का एक सार्थक विशेषण है। 'स्वर्गरूपी छोटे से टोले की लूट–खसोट से व्यर्थ के लिये फूले न समाये इन मेरे भुजदण्डों का भी अब क्या काम?'–यही यहाँ अभिप्राय है। इस अभिप्राय की दृष्टि से यदि 'वृथोच्छून' पद न प्रयुक्त किया गया होता तो 'स्वर्गग्रामटिका' पद का क्या स्वारस्य रह जाता? 'स्वर्गग्रामटिका'–विलुण्ठन के ही कारण तो भुजदण्डों को 'वृथोच्छून' कहा गया है। यदि कहीं स्वर्ग को 'दुर्ग्रह दुर्ग' कहा गया होता तब भले ही 'वृथा' पद व्यर्थ लगा करता! यह सब स्वारस्य होने पर भी यदि 'विधेयाविमर्श' के दोष के देखने का दुराग्रह रह ही जाय तब भी मम्मट के अनुसार यह काव्यकृति निर्दुष्ट ही कही जायगी क्योंकि यहाँ के

रसभाव की महिमा से यह दोष भी गुण का ही काम करेगा। इस प्रकार इस काव्यसूक्ति के आधार पर मम्मट के काव्यलक्षण में प्रयुक्त 'अदोषौ' पद में कोई दोष नहीं निकाला जा सकता। जब तक और कोई उदाहरण न दिया जाय तब तक मम्मट के काव्यलक्षण में 'अव्याप्ति' कहाँ से खटकने लगे! **'न्यक्कारो ह्ययमेव'** आदि के आधार पर मम्मट की काव्यपरिभाषा अव्याप्त नहीं अपितु सर्वथा निर्दुष्ट प्रतीत हो रही है।

(ख) 'दोषरहित' ही 'शब्दार्थयुगल' को काव्य मानने में दूसरी आपत्ति है—काव्य के क्षेत्र का संकुचित हो जाना या सर्वथा लुप्त हो जाना। कविराज विश्वनाथ ने इसीलिये कहा—**'किं चैवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसंभवात्'**। जब मम्मट ने अपना काव्य-लक्षण बनाया होगा तब यह सब भी अवश्य सोच लिया होगा। मम्मट के अनुसार उत्तम-मध्यम और अधम-इन तीन प्रकार की काव्यकृतियों में शब्दार्थयुगल की 'अदोषता' एकरूप नहीं अपितु त्रिविधरूप है। विश्वनाथ कविराज ने इस पर ध्यान न दिया। उनका ध्यान एकमात्र 'अदोष' पद में 'नञ्' के अर्थ-अभाव-पर ही गया और काव्यसाहित्य की काञ्चनराशि की परख के लिये मम्मट की बतायी काव्यलक्षण की कसौटी एक अनर्थ के रूप में दिखायी देने लगी। किन्तु यह सब एक दुराग्रहमात्र ही है और कुछ नहीं। यदि 'दोषहान' को काव्यरचना के लिये अनिवार्य न माना जाय और काव्यसाहित्य की प्रसिद्ध कृतियों में 'दोषहान' की विशेषता को प्रमाणरूप से न प्रस्तुत किया जाय तब तो काव्य-क्षेत्र में ऐसी उच्छृङ्खलता पैदा हो जाय कि **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** का मन्त्रजाप करते हुये जो भी उलटा-सीधा लिखा जाय, वह सब काव्य ही हो जाय! मम्मट के काव्य-लक्षण में 'शब्दार्थयुगल की अदोषता' पर जो सर्वप्रथम ध्यान रखा गया है वह संस्कृतकाव्यसाहित्य की ऐतिहासिक और वास्तविक-दोनों दृष्टियों से युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। मम्मट ने 'दोषरहित शब्दार्थयुगल' को जो काव्य माना है उसके साथ यह सार्वभौम सिद्धान्त भी समञ्जस रखा है कि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो सर्वथा निरवद्य-निर्दुष्ट-हो **(नास्त्येव तज्जगति सर्वमनोहरं यत्)**।

(ग) मम्मट के काव्यलक्षण में 'अदोषौ' के अर्थ के रूप में 'ईषद्दोषयुक्तौ' की कल्पना विश्वनाथ कविराज की दुराग्रहपूर्ण दृष्टि का ही परिणाम है। इस अभिप्राय में तो मम्मट ने शब्दार्थयुगल की अदोषता कभी भी न मानी थी! विश्वनाथ कविराज की यह आलोचना व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट की आलोचना से प्रभावित तो अवश्य प्रतीत हो रही है किन्तु जहाँ महिमभट्ट ने एक सिद्धान्त-विशेष के अनुसंधान के लिये ध्वनिकार की पद-योजनाओं पर आक्षेप किया है वहाँ विश्वनाथ कविराज ने विना किसी सिद्धान्तविशेष के प्रतिपादन के ही काव्यप्रकाशकार की पद-योजना पर कटाक्ष किया है।

(घ) **'अदोषौ शब्दार्थौ'** में **'सति सम्भवे ईषद्दोषौ'** की कल्पना मम्मट के काव्यलक्षण पर विश्वनाथ कविराज द्वारा किये गये कटाक्षों का वैचित्र्य भले ही प्रकट किया करे किन्तु मम्मट के काव्यमत में जब यह बात ही नहीं तो खण्डन किसका! एक बात तो विश्वनाथ कविराज की यहाँ जंच रही है किन्तु वह उनकी बात नहीं अपितु उनके द्वारा उद्धृत इस सूक्ति अर्थात्—

'कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥'

की बात है। बिना कुछ कहे हुये भी यदि इसी सूक्ति को पुरस्कृत कर साहित्यदर्पणकार ने कहा होता कि काव्य का लक्षण होना चाहिये—**'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** तब भी बात कुछ बन गयी होती। 'रत्न' के लक्षणकार यह कभी नहीं कहा करते कि 'रत्न' वह है जिसमें काकपद, मक्षिकाकृति आदि-आदि दोष न हों। वे तो केवल इतना ही कहा करते हैं कि जिस रत्न में,

('सगुण' शब्दार्थयुगल को काव्य मानने में अनुपपत्ति)

किञ्च। शब्दार्थयोः सगुणत्वविशेषणमनुपपन्नम्। गुणानां रसैकधर्मत्वस्य 'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः' इत्यादिना तेनैव प्रतिपादितत्वात्। 'रसाभिव्यञ्जकत्वेनोपचारत उपपद्यत इति चेत्? तथाऽप्ययुक्तम्। तथाहि—तयोः काव्यस्वरूपेणाभिमतयोः शब्दार्थयो रसोऽस्ति, न वा? नास्ति चेत्, गुणवत्त्वमपि नास्ति, गुणानां तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्। अस्ति चेत्? कथं

काकपद अथवा मक्षिकाकृति आदि कोई दोष हो वह 'शुभ' नहीं हुआ करता जैसा कि बृहत्संहिताकार आचार्य वराहमिहिर का ही कथन है—

'काकपदमक्षिकाकेशधातुयुक्तानि शर्करैर्विद्धम्।
द्विगुणाश्रिदग्धकलुपत्रस्तविशीर्णानि न शुभानि॥'

इसी प्रकार काव्य के लक्षणकारों को भी यह कभी नहीं कहना चाहिये कि 'काव्य वह शब्दार्थयुगल है जिसमें कोई दोष न हो'। उनके लिये तो यही कहना उचित है कि 'काव्य वह शब्दार्थयुगल है जो रसात्मक हो'। इसके बाद ही यह कहा जा सकता है कि जिस काव्य में विधेयाविमर्श आदि दोषों में से कोई दोष हो वह काव्य उच्चकोटि का काव्य नहीं हुआ करता। विश्वनाथ कविराज का यह 'साहित्यदर्पण' वस्तुतः व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट की कल्पना में आ चुका है। महिमभट्ट ने स्पष्ट कहा था—

'काव्यमात्रस्य·········रसात्मकत्वोपगमात्।·········अस्य (काव्यस्य) रसात्मकत्वमवश्यमभ्युपगन्तव्यम्। तन्मात्रप्रयुक्तश्च ध्वनिव्यपदेशः।' (व्यक्तिविवेक, पृष्ठ ९३, ९७) किन्तु 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की परिभाषा एकाङ्गी ही परिभाषा है। आचार्य मम्मट ने अलंकारशास्त्र के ऐतिहासिक और वास्तविक तत्त्वों की पूर्वापर समीक्षा में अपनी काव्य-परिभाषा प्रस्तुत की है। इस व्यापक दृष्टि से देखते 'शब्दार्थयुगल की अदोषता' पर कोई दोष नहीं पड़ता।

अनुवाद—(काव्यप्रकाश-कृत उपर्युक्त काव्यलक्षण में 'शब्दार्थयुगल की अदोषता' में तो अव्याप्ति-दोष है ही, किन्तु) साथ ही साथ यहाँ 'शब्दार्थयुगल की सगुणता' में काव्य-स्वरूप की मान्यता भी युक्तिसंगत नहीं क्योंकि 'शब्दार्थयुगल' को 'सगुण' तब कहा जाय जब कि 'गुण' शब्द और अर्थ के धर्म माने जा सकें! गुण तो एकमात्र रस के धर्म हैं और उपर्युक्त काव्यलक्षणकार (आचार्य मम्मट) ने ही इन्हें रस-धर्म के रूप में प्रतिपादित किया है—

'जैसे शौर्य आदि आत्मा के अपृथक्सिद्ध गुण अथवा धर्म हुआ करते हैं (न कि शरीर के) वैसे ही माधुर्य आदि रसरूप काव्यात्मतत्त्व के अपृथक सिद्ध गुण अथवा धर्म हुआ करते हैं (न कि शब्द और अर्थ रूप काव्य-शरीर के)।' (काव्यप्रकाश. ८)

अब यदि इस अड़चन से छुटकारा पाने के लिये यह कहा जाय कि 'शब्दार्थयुगल की सगुणता' का अभिप्राय 'शब्दार्थयुगल की रसाभिव्यञ्जकता' है क्योंकि रसाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ को उपचारतः सगुण शब्द और अर्थ कहा ही जा सकता है', तब तो यही कहना पड़ता है कि ऐसी बात यहाँ बहुत ठीक नहीं बैठती। क्यों? इसलिये कि जिस शब्दार्थयुगल को काव्य-रूप मान लिया गया उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ सकता है कि 'उसमें रस है या रस नहीं है?' यदि इसका उत्तर यह दिया गया कि

नोक्तं रसवन्ताविति विशेषणम्। गुणवत्त्वान्यथानुपपत्त्यैतल्लभ्यत इति चेत्? तर्हि सरसावित्येव वक्तुं युक्तम्, न सगुणाविति। नहि प्राणिमन्तो देशा इति केनाऽप्युच्यते। ननु 'शब्दार्थौ सगुणौ' इत्यनेन गुणाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ काव्ये प्रयोज्यावित्यभिप्राय इति चेत्? न, गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थवत्त्वस्य काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वम्, न तु स्वरूपाधायकत्वम्। उक्तं हि—'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्' इति।

'उसमें रस नहीं है' तब तो यही सिद्ध हो गया कि उसमें 'गुणवत्ता' भी नहीं है क्योंकि जहाँ रस रहेगा वहाँ ही गुण रहेंगे और जहाँ रस न होगा वहाँ गुण भी न होंगे! अब यदि यहाँ यह उत्तर सोचा गया कि 'उसमें रस है (इसलिये गुण भी हैं)' तब तो यह पूछना पड़ेगा कि 'शब्दार्थयुगल की सगुणता के' बदले 'शब्दार्थयुगल की रसवत्ता' को काव्यस्वरूप का नियामक क्यों न बताया गया? यदि यहाँ यह कहा जाय कि 'शब्द और अर्थ की सगुणता' का अभिप्राय 'शब्द और अर्थ की सरसता' ही निकलना चाहिये क्योंकि रस के विना गुण की स्थिति ही असंभव है' तब तो इसका सीधा उत्तर यह दिया जायगा कि 'शब्दार्थयुगल की सगुणता' के बदले 'शब्दार्थयुगल की सरसता' को काव्य-स्वरूप का नियामक क्यों न माना जाय? भला यह कौन सा तुक कि कहना हो 'ये वे भूभाग हैं जहाँ प्राणी रहा करते हैं' और कहा जाय 'ये वे भूभाग हैं जहाँ शौर्यादि (गुण) रहा करते हैं!' (भला शब्द और अर्थ की 'सरसता' को मन में रख कर शब्द और अर्थ की 'सगुणता' के प्रतिपादन की बुझौवल कोई बुद्धिमानी हुई!)

यहाँ यह समाधान भी कि 'सरस शब्दार्थयुगल' के बदले 'सगुण शब्दार्थयुगल' का औपचारिक प्रयोग काव्य में गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ के प्रयोग पर जोर देने के उद्देश्य से किया गया, कोई समाधान नहीं क्योंकि गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ काव्य के उत्कर्षवर्द्धक भले ही हों, स्वरूप-नियामक तो कदापि नहीं हो सकते। तभी तो ऐसा कहा गया है—

'शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस-भाव आत्मतत्त्व है, माधुर्यादिगुण शौर्यादि की भाँति रसरूप आत्मतत्त्व के अपृथक् सिद्ध धर्म हैं, श्रुतिदुष्टादि दोष काणत्व (काना होने) आदि की भाँति रसरूप आत्मतत्त्व के सौन्दर्यापकर्षक हैं, वैदर्भी आदि रीतियाँ शरीर-संस्थान (अङ्गरचना) के समान काव्य-संस्थान हैं और (अनुप्रास-) उपमादि अलङ्कार कटक, कुण्डल आदि आभूषणों की भाँति शब्द और अर्थ के सौन्दर्यवर्द्धक हैं।'

विमर्श—(क) काव्यप्रकाशनकार की काव्य-परिभाषा शब्दार्थयुगलरूप काव्य में 'दोषाभाव' के बाद 'गुणसद्भाव' के तत्त्व का दर्शन करती है। साहित्यदर्पणकार ने इसे भी अनावश्यक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में काव्यप्रकाशकार की 'सगुणौ शब्दार्थौ' की उक्ति और उन्हीं की—

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥' (काव्यप्रकाश ८. १)

इत्यादि उक्ति में परस्पर विरोध प्रदर्शित किया गया है और यह निष्कर्ष निकाला गया है कि मम्मट की काव्यपरिभाषा युक्तिसंगत नहीं। किन्तु वस्तुतः बात यह है कि यहाँ भी खींचातानी से ही काम निकालने का प्रयास दिखायी दे रहा है। मम्मट ने जहाँ माधुर्यादि गुणत्रय को

मुख्यतः 'रसधर्म' माना है वहाँ यह भी स्वीकार किया है कि उपचारतः गुण शब्दार्थगत भी कहे जा सकते हैं **'—गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता'** (काव्यप्रकाश, ८. ६)। इस प्रकार मम्मट के काव्यमत में परस्पर विरोध का देखना-दिखाना कोई युक्तिपूर्ण बात नहीं प्रतीत होती। मम्मट की दृष्टि में शब्द और अर्थ में माधुर्यादि गुणों के होने का एकमात्र अभिप्राय शब्द और अर्थ का मधुर शृङ्गारादि रसों के अभिव्यञ्जन का सामर्थ्य ही है, अन्य कुछ नहीं।

(ख) विश्वनाथ कविराज की एक और युक्ति यह है—यदि उपचार का आश्रय लेकर 'रसाभिव्यञ्जक' शब्द और अर्थ को 'सगुण' शब्द और अर्थ कहा जा सकता है तो इसी दृष्टि से उन्हें (शब्द और अर्थ को) 'रसवत्' अथवा 'सरस' कहने में क्या आपत्ति है। युक्ति तो यह ठीक ही है क्योंकि विश्वनाथ कविराज को 'सगुण शब्दार्थयुगल' के स्थान पर 'रसात्मक वाक्य' को काव्य सिद्ध करना है। मन में रखा जाय—'सरस शब्दार्थयुगल काव्य है' और कहा जाय 'सगुण शब्दार्थयुगल काव्य है।' ऐसा कहना ठीक ऐसे ही है जैसे कहा तो जाय 'यहाँ शूरता रहा करती है' और समझा जाय 'यहाँ लोग रहा करते हैं!' किन्तु ऐसा लगता है कि इस तर्कचातुर्य में कहीं कुछ चूक है और वह यह है—'सगुण' शब्दार्थयुगल में 'रसाभिव्यञ्जक' शब्दार्थयुगल का अभिप्राय तो अन्तर्निहित है क्योंकि अभिव्यञ्जना की कड़ी 'शब्द और अर्थ–रस–गुण' इस रूप से परम्परया जुड़ी है अर्थात् ध्वनिवादी आचार्यों की यह मान्यता कि–'शब्दार्थयुगल तो रस के अभिव्यञ्जक हैं और माधुर्यादि गुण रसानुभव में अभिव्यङ्ग्य हृदयावस्थारूप हैं'–यहाँ अक्षुण्ण विराज रही है, किन्तु यदि इसके बदले 'रसवत्' अथवा 'सरस' पद को शब्दार्थयुगल का विशेषण रखा जाय तो इससे 'रसाभिव्यञ्जक शब्दार्थयुगल' का भाव भले ही निकल जाय 'रसानुभव में अभिव्यङ्ग्य गुण' का अभिप्राय तो कदाचित् अनायास नहीं निकल सकता। **'सगुणौ शब्दार्थौ'** कहने पर तो **'साक्षात् रसाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ'** तथा **'परम्परया गुणाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ'** का रहस्य समझा जा सकता है किन्तु **'सरसौ शब्दार्थौ'** अथवा **'रसवन्तौ शब्दार्थौ'** कहने से **'रसाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ'** का ही अभिप्राय निकल सकता है न कि **'परम्परया गुणाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ'** का भी। रसध्वनिवादी काव्यालोचना की दृष्टि से यदि काव्यलक्षण किया जाय तब तो मम्मट का ही काव्यलक्षण एकमात्र निर्दुष्ट काव्यलक्षण प्रतीत होता है क्योंकि इसमें 'शब्दार्थ-रस-गुण' का परस्पर सम्बन्ध एकत्र ही निर्दिष्ट किया हुआ है। 'रसवत्' अथवा 'सरस' शब्दार्थयुगल कहने पर 'शब्दार्थ-रस' का सम्बन्ध भले ही सूचित हो जाय 'गुण' तो बाहर निकला प्रतीत हो रहा है।

(ग) माधुर्यादि गुणों को काव्य का 'उत्कर्षाधायक' मात्र मानकर विश्वनाथ कविराज ने मम्मट की काव्यपरिभाषा में 'शब्दार्थ की सगुणता' पर जो आक्षेप किया है वह भी सर्वथा समीचीन नहीं प्रतीत होता। गुण काव्य के स्वरूपाधायक नहीं अपितु उत्कर्षाधायकमात्र हैं **(गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थवत्त्वस्य काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वं न तु स्वरूपाधायकत्वम्)**–इस युक्ति पर यदि विचार करें तो ऐसा लगता है जैसे रसात्मक वाक्य को काव्य सिद्ध करने वाले आचार्य ने काव्यप्रकाश के खण्डन के आवेश में पड़कर गुण और अलङ्कार का भेदभाव ही भुला दिया है। रसध्वनिवादी आचार्य तो गुणाभिव्यञ्जक शब्दार्थयोजना को काव्य का स्वरूपाधायक और उत्कर्षाधायक दोनों माना करते हैं। गुण यदि रस के धर्म हुये–और साहित्यदर्पणकार की भी यही मान्यता है—

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा।
गुणा माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा॥ (साहित्यदर्पण ८. १)

तब गुणाभिव्यञ्जक शब्दार्थरचना काव्यस्वरूप न हुई तो और क्या हुई? गुण तो काव्य के स्वरूपाधायक होकर ही उसके उत्कर्षाधायक हुआ करते हैं। यह तो अलङ्कारों की बात है कि

(सर्वत्र अलङ्कृत शब्दार्थयुगल को काव्य मानने में अनौचित्य)

एतेन 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' इति यदुक्तम्, तदपि परास्तम्। अस्यार्थः- सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्त्वस्फुटालङ्कारावपि शब्दार्थौ काव्यमिति। तत्र सालङ्कार· शब्दार्थयोरपि काव्ये उत्कर्षाधायकत्वात्।

(प्रसक्तानुप्रसक्त्या वक्रोक्तिजीवितकार का खण्डन)

एतेन 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' इति वक्रोक्तिजीवितकारोक्तमपि परास्तम्। वक्रोक्तेरलङ्काररूपत्वात्।

वे काव्य के स्वरूपाधायक नहीं अपितु यथास्थान किंवा यथासंभव एकमात्र उत्कर्षाधायक हुआ करते हैं। काव्यप्रकाशकार की तभी तो यह स्पष्ट उक्ति है—

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥' (काव्यप्रकाश ८. १)

अनुवाद—उपर्युक्त उद्धरण की विचारधारा के देखते काव्यप्रकाशकृत काव्य-लक्षण में शब्द और अर्थ को 'अनलंकृती पुनः क्वापि'—सर्वत्र अलंकृत किन्तु कदाचित् अनलंकृत कहना भी किसी काम का नहीं। 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का अर्थ क्या है ? यही न कि सर्वत्र तो अलङ्कारसहित शब्दार्थयुगल काव्य है ही किन्तु कहीं-कहीं ऐसा भी शब्दार्थयुगल काव्य ही समझना चाहिए जहाँ कोई भी अलङ्कार स्फुटतया दिखाई न दे। अब जहाँ तक 'सर्वत्र अलङ्कृत शब्द और अर्थ को' काव्य मानने का आग्रह है उसके सम्बन्ध में तो यही कहा जायगा कि यह आग्रह ठीक नहीं क्योंकि अलङ्कृत शब्द और अर्थ काव्य के स्वरूपाधायक नहीं-काव्य-रूप नहीं-अपितु एकमात्र काव्य के उत्कर्षाधायक हुआ करते हैं-काव्य की उत्कृष्टता के साधन हैं।

विमर्श—आचार्य मम्मट की काव्य-परिभाषा में शब्दार्थयुगल की 'सर्वत्र अलंकृतता तथा साथ ही साथ यथास्थान अलंकारशून्यता' की जो बात है उसकी आलोचना भी सर्वथा चतुरस्र नहीं। इसका कारण यह है कि विश्वनाथ कविराज ने मम्मट के अक्षरों को पकड़ कर मम्मट के कान खींचे हैं न कि उनके आशयों को पकड़ कर। शब्दार्थयुगलरूप काव्य की सर्वत्र अलंकृतता का जो मम्मट का मत है उसमें यह निःसन्दिग्ध है कि 'रसभावविवक्षा' का रहस्य छिपा है और इसी प्रकार 'शब्दार्थयुगल की यत्र कुत्रचित् अलंकारशून्यता' में भी यही 'रसभावविवक्षा' झांक रही है। तब भला मम्मट के इस गूढाशय को भुलाकर 'सर्वत्र अलंकृतता' की दोषोद्भावना किस उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है ?

अनुवाद—जब कि यह सिद्ध है कि अलङ्कृत शब्द और अर्थ 'काव्य' नहीं तब वक्रोक्तिजीवितकार (कुन्तक) का यह कथन कि 'वक्रोक्ति अथवा भङ्गीभणिति (विचित्र अभिधान और अभिधेय) काव्य का जीवन है' स्वयं असिद्ध हो गया। भला 'वक्रोक्ति', जो एक अलङ्कार है, काव्य का आत्मतत्त्व क्योंकर होने लगे !

विमर्श—यहाँ विश्वनाथ कविराज ने मम्मट के काव्यलक्षण के अंश 'शब्दार्थ युगल के सर्वत्र अलङ्कार-योग' की आलोचना करते हुए वक्रोक्तिजीवितकार की जिस दृष्टि से आलोचना कर डाली है उसमें भी वस्तुतः कोई विशेष सार नहीं दिखायी देता। यह कहना तो ठीक है कि 'वक्रोक्ति' काव्य का 'जीवित' (जीवन) नहीं है किन्तु यह कैसे कहा जा सकता है कि वक्रोक्तिजीवितकार की

(अलङ्कार की अस्फुट प्रतीति में काव्य की मान्यता–काव्यप्रकाशकार का व्यामोहमात्र)

यच्च क्वचिदस्फुटालङ्कारत्वे उदाहृतम्—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥ इति ।

एतच्चिन्त्यम् । अत्र हि विभावनाविशेषोक्तिमूलस्य संदेहसङ्करालङ्कारस्य स्फुटत्वम् ।

'वक्रोक्ति' (भङ्गीभणिति) अलङ्कार रूप ही है। वक्रोक्तिजीवितकार ने न तो 'वक्रोक्ति' को 'श्लेष-वक्रोक्ति' मानकर ही 'काव्य-जीवित' कहा और न 'काकुवक्रोक्ति' ही मानकर। वक्रोक्तिजीवितकार की 'वक्रोक्ति' तो इस रूप की रही—

'वक्रोक्तिजीवितकारः पुनर्वैदग्ध्यभङ्गीभणितिस्वभावां बहुविधां वक्रोक्तिमेव प्राधान्यात् काव्यजीवितमुक्तवान् । व्यापारस्य प्राधान्यञ्च काव्यस्य प्रतिपेदे । अभिधानप्रकारविशेषा एव चालङ्काराः । सत्यपि त्रिभेदे प्रतीयमाने व्यापाररूपा भणितिरेव कविसंरम्भगोचरः । उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः । केवलमुक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्यं न व्यङ्ग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम् ।' (अलङ्कारसर्वस्व. पृ. ८)

अर्थात् काव्य तो कलाकार कवि की कृति है। कवि की कला क्या है ? कवि की कला है—वैदग्ध्य-भङ्गीभणिति अथवा उक्तिविचित्रता। यह 'उक्तिविचित्रता' वह कला है जिसके द्वारा कवि ध्वनि-साम्राज्य का संचालन किया करता है। वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, प्रत्ययाश्रयवक्रता, वाक्य-वक्रता, प्रकरणवक्रता, प्रबन्धवक्रता आदि-आदि वक्रता–प्रकारों वाली कविकला यदि काव्य का सर्वस्व नहीं जिस पर समस्त काव्यानुभूति अवलम्बित है तो काव्य का सर्वस्व और क्या है ?

वक्रोक्ति के इस उपर्युक्त रहस्योद्घाटन से यह स्पष्ट है कि वक्रोक्तिजीवितकार ने 'वक्रोक्ति' और 'अलङ्कार' को एक नहीं माना है अपितु 'अलङ्कार' को ही वक्रोक्ति का एक प्रकार माना है।

अनुवाद—काव्यप्रकाशकार ने 'अनलंकृती पुनः क्वापि शब्दार्थौ काव्यम्' के उदाहरण रूप में जो यह सूक्ति उद्धृत की है—

'पता नहीं क्या बात है कि मेरा पति भी वही जिसने मेरे कुमारीपन में ही मेरे हृदय में प्रेम उत्पन्न किया, वसन्त की रातें भी वही जिनका आनन्द अबतक भोग चुकी हूँ, खिली वासन्ती लताओं की सुगन्ध से भीनी भीनी कदम्बवन की उद्दीपक वायु भी वही जिसने मुझे सदा उन्मत्त बनाया है और मैं भी वही जो पहले हो चुकी हूँ, किन्तु ज्यों ही रेवातीर के वेतसनिकुञ्जों की याद आ जाती है त्यों ही चित्त वहाँ राग–रंग के लिए अकस्मात् मचल उठता है !' जिसके लिए यह कहा है कि किसी भी अलंकार की यहाँ स्फुट प्रतीति न होने पर भी यह (शब्दार्थयुगल) काव्य है वह सब वस्तुतः ठीक नहीं। क्यों ? इसलिए कि यहाँ तो विभावना और विशेषोक्ति अलङ्कारों का 'संदेह संकर' निःसन्दिग्धरूप से दिखायी दे रहा है।

विमर्श—(क) वस्तुतः तो काव्यप्रकाशकार की उद्धृत सूक्ति (यः कौमारहरः आदि) 'अलंकार की अस्फुटप्रतीति' का ही उदाहरण नहीं अपितु सुकुमार रसभाव के सौन्दर्यभार की

ही संभालने में लगी उस कविता की मधुर मूर्ति का निदर्शन है जिसे अलंकार की कोई आवश्यकता नहीं, किन्तु विश्वनाथ कविराज ने यहाँ भी, मम्मट के काव्यलक्षण का अक्षर-विश्लेपण करके ही, मम्मट के काव्यमत का खण्डन करना चाहा है। किसी के चाहने से किसी का क्या बिगड़ता है? मम्मट ने लिखा—**'सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। यथा–'यः कौमारहरः······समुत्कण्ठते।'अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः रसस्य च प्राधान्यान्नालङ्कारता'**–(काव्यप्रकाश, पृष्ठ ११-१२) और विश्वनाथ कविराज ने इसका खण्डन किया—

'यत्र क्वचिदस्फुटालङ्कारत्वे उदाहृतम्—'यः कौमारहरः······समुत्कण्ठते॥' इति। एतच्चिन्त्यम्।'

जब तक 'यः कौमारहरः' आदि काव्यसूक्ति पर मम्मट की समस्त विचारधारा खण्डित नहीं हो जाती तब तक विश्वनाथ कविराज का यह खण्डनोद्योग क्योंकर सर्वात्मना सफल माना जाय!

(ख) विश्वनाथ कविराज ने 'यः कौमारहरः' आदि काव्यसूक्ति पर यह निर्देश तो कहीं नहीं किया कि यहाँ रसध्वनिसौन्दर्य है किन्तु यह अवश्य कहा कि यहाँ विभावना-विशेषोक्तिमूलक संदेहसंकर का चमत्कार स्पष्ट प्रतीत होता है। तो क्या 'यः कौमारहरः' आदि वाक्य रसात्मक नहीं? या मम्मट ने इसे रसनिर्भर कह दिया इसलिये इसे अलंकार-सुन्दर ही मानना पड़ गया? इस काव्यवाक्य की रसमाधुरी के पान में तो विश्वनाथ कविराज भी **'विभावनाविशेषोक्तिमूलक संदेहसंकर'** की स्फुट प्रतीति से वञ्चित ही हुये होंगे! यहां 'वाद' का आश्रय न लिया गया! 'वितण्डा' के सहारे सिद्धान्त का अपलाप किया गया!

(ग) अब रही 'यः कौमारहरः' आदि सूक्ति में 'विभावना-विशेषोक्तिमूलक संदेहसंकर' की स्फुट प्रतीति की बात। इसका उत्तर काव्यप्रकाश के विज्ञ व्याख्याकारों ने ही बड़े विचार के साथ दिया है जिसका सारसंक्षेप यह है—

'अत्र हि 'हरो वरः' इत्याद्यनुप्रासस्य स्फुटस्यापि प्रकृतश्रृङ्गाररसप्रतिकूलवर्णघटितत्वेन नालङ्कारता। यद्यपि विभावनाविशेषोक्ती तावत् संभवतः (तथाहि—कारणाभावेऽपि कार्योत्पत्तिकथनं विभावना। अत्र च वरोपकरणादीनामनुपभुक्तत्वस्य कारणस्याभावेऽपि उत्कण्ठारूपस्य कार्योत्पत्तिकथनाद्विभावना। एवं कारणसत्त्वेऽपि कार्याभावकथनं विशेषोक्तिः) तथापि न ते स्फुटे कारणकार्ययोरभावकथनस्य आर्थिकस्य सत्त्वेऽपि तद्वाचकनञादिनाऽनुपात्तत्वात्। यदि चेतोऽनुत्कण्ठितं नेत्यभिधीयेत तदा विशेषोक्तेः स्फुटत्वं भवेदिति बोध्यम्। अनयोरस्फुटत्वेन एतन्मूलकसंदेहसंकरोऽप्यस्फुट इति निर्विवादम्। न चास्मीति क्रियायाः विभक्तिविपरिणामेन सर्वत्र वरादावन्वयेन क्रियादीपकमेव स्फुटमिति वाच्यम्। अस्मीत्यस्याहमर्थकाव्ययत्वात्। क्रियापदत्वेऽपि न दीपकत्वम्। तदन्वयिनां सर्वेषामेव प्राकरणिकत्वात्। दीपकस्य तु प्राकरणिकाप्राकरणिकविषयत्वात्। विभक्तिविपरिणामकल्पनाया एवास्फुटात्मकत्वाच्च। एवकारस्याभेदपरत्वेनेतरनिषेधपरत्वायोगाच्च न परिसंख्या। वरादीनां गुणक्रियायौगपद्याभावान्न समुच्चयः। वरादीनामुपमानोपमेयभावाभावान्न तुल्ययोगिता। सदृशदर्शनाप्रयोज्यत्वाच्च। 'स एव हि' इत्यादेः प्रत्यभिज्ञाशरीरत्वाच्च न स्मरणालङ्कारः। यतः सुरभयोऽतः प्रौढाः स्वकार्यसमर्था इति काव्यलिङ्गमप्यस्फुटम्। अशब्दत्वादिति।' (काव्यप्रकाश बालबोधिनी टीका पृष्ठ १८)

अर्थात् 'यः कौमारहरः' आदि सूक्ति के काव्य-सौन्दर्य में तो कोई सन्देह ही नहीं क्योंकि यहाँ विप्रलम्भश्रृङ्गार की सर्वाङ्गीण अभिव्यञ्जना एक सर्वसहृदयसंवेद्य तत्त्व है। साथ ही साथ इस सूक्ति में एक और भी विचित्रता है और वह है इसकी विलक्षण अलङ्कारयोजना (!) इसकी अलङ्कारयोजना इतनी विलक्षण है कि चाहे जितना भी ढूँढ़ें इसमें कोई अलङ्कार स्पष्ट दीख

नहीं पड़ता। ऐसा लगता है जैसे यहाँ कविता किसी भी अलंकार को भार समझ रही है और अनलंकृतता में ही निरन्तर सुन्दर लग रही है। यहाँ 'हरो वरः' में 'र' वर्ण की स्फुट आवृत्ति अनुप्रास कही जा सकती थी किन्तु यह आवृत्ति यहाँ अलंकार नहीं मानी जा सकती क्योंकि इसे कवि के रसभाव के अनुकूल कैसे सिद्ध किया जाय? यहाँ अर्थालंकारों में कतिपय अलंकारों की संभावना भी एक निरर्थक कष्ट-कल्पना ही है। जैसे कि यदि यहाँ 'विभावना' मानें अर्थात् यह छानबीन करें कि कवि ने वर, वसन्त की रात्रि, मलय समीर आदि २ विषयों के अनुपभोग रूप कारण के अभाव में भी उत्कण्ठारूप कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया है तब यह बात खटक उठती है कि इस प्रकार के कारणाभाव और कार्यसद्भाव (अनुपभोग के अभाव और उत्कण्ठा) को एक बुझौवल के रूप में क्योंकर बुझाया गया। जब तक अनुपभोग के अभाव का वाचक कोई शब्द न हो तब तक विभावनारूप वाच्यालंकार की गवेषणा काकदन्त-परीक्षा के अतिरिक्त और क्या! विभावना को व्यङ्ग्य मानने में तो इस रसमयी सूक्ति की अस्फुटालंकार-योजना ही प्रमाणित हो गयी। इसी प्रकार यदि यहाँ 'विशेषोक्ति' अलंकार को देखना चाहें तो वह भी ऐसा लगता है जैसे एक बार मृगमरीचिका की भाँति झलक कर गायब हो गया हो। 'विशेषोक्ति' कहते हैं कारण के होने पर भी कार्य के न होने की कल्पना और वर्णना को। यहाँ नायिका के द्वारा वर आदि विषयों के उपभोग को कारण रूप से मानकर कार्य अर्थात् अनुत्कण्ठा के अभाव का वर्णन विशेषोक्ति के रेखाचित्र-सा दिखलायी दे सकता था, किन्तु कवि को यह पसन्द नहीं। यदि कवि ने यहाँ 'विशेषोक्ति' की योजना की होती तब तो **'चेतोऽनुत्कण्ठितं न'** इस प्रकार की ही पदयोजना को स्थान दिया होता। यहाँ तो अनुत्कण्ठा का अभाव-वर्णन वाच्य न होकर आक्षिप्त हो गया और तब विशेषोक्ति रूप वाच्यालंकार कहाँ? और अलंकारों जैसे कि स्मरण, दीपक, तुल्ययोगिता आदि २ की खोज भी अंधेरे में काजल की खोज सी ही है। इन अलंकारों की असंभावना में 'सदेह संकर' की संभावना भी संदिग्ध ही क्यों सर्वथा निर्मूल किंवा निष्प्रयोजन ही है।

(घ) साहित्यदर्पणकार का यह विचार-विमर्श वस्तुतः अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक की इस उक्ति का ऋणी है—

'कार्यानुत्पत्तिश्चात्र (विशेषोक्तौ) क्वचित् कार्यविरोधोरपरया निबध्यते। एवं विभावनायामपि कारणाभावः कारणविरुद्धमुखेन क्वचित् प्रतिपाद्यते। तथा च सति 'यः कौमारहरः' इत्यत्र विभावनाविशेषोक्त्योः संदेहसंकरः। तथा ह्युत्कण्ठाकारणं विरुद्धं यः कौमारहर इत्यादि निबद्धमिति विभावना। तथा यः कौमारहर इत्यादेः कारणस्य कार्यं विरुद्धं चेतः समुत्कण्ठत इत्युत्कण्ठाख्यं निबद्धमिति विशेषोक्तिः। विरुद्धमुखेनोपनिबन्धात् केवलमस्पष्टत्वम्। साधकबाधकप्रमाणाभावाच्चात्र संदेहसंकरः।'

(अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ १६१-१६२)

अर्थात् 'कारण के सद्भाव में कार्य की अनुत्पत्ति' का वर्णन तो 'विशेषोक्ति' है ही किन्तु कार्य की अनुत्पत्ति का वर्णन दो प्रकार से संभव है—(१) कार्य के अविरुद्ध धर्म के द्वारा और (२) कार्य के विरोधक धर्म के उपन्यास के द्वारा। इसी प्रकार 'विभावना' में भी जहाँ 'कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति' का वर्णन हुआ करता है यह आवश्यक नहीं कि कारण का अभाव कारण के अविरुद्ध धर्म के उपन्यास के साथ ही वर्णित हुआ करे। कारण का अभाव तो कारण के विरुद्ध धर्म के उपन्यास में भी वर्णित हो सकता है जिसमें कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जा सकता है और विभावनालंकार की योजना सम्पूर्ण हो सकती है। वस्तुतः **'यः कौमारहरः'** आदि सूक्ति ऐसी सूक्ति है जिसमें विभावना और विशेषोक्ति-दोनों की एक

(सरस्वतीकण्ठाभरण-सम्मत काव्य-लक्षण उपर्युक्त विचार-विमर्श की दृष्टि से स्वयं खण्डित)

एतेन—

'अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥'

इत्यादीनामपि काव्यलक्षणत्वमपास्तम्।

(ध्वनिकार-कृत काव्यलक्षण का खण्डन)

यत्तु ध्वनिकारेणोक्तम्—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः–' इति तत्किं वस्त्वलङ्कार-रसादिलक्षणस्त्रिरूपो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, उत रसादिरूपमात्रो वा? नाद्यः,–प्रहेलिकादावतिव्याप्तेः। द्वितीयश्चेदोमिति ब्रूमः।

विचित्र योजना है। विचित्र इसलिये क्योंकि ये दोनों अलंकार यहाँ स्पष्ट नहीं झलक रहे हैं। इन दोनों अलंकारों की अस्पष्टता ही यहाँ 'संदेहसंकर' की रूपरेखा प्रदर्शित कर रही है। यहाँ (विभावना की दृष्टि से) कारण के अभाव का स्वरूप है—'यः कौमारहरः'आदि रूप से उत्कण्ठा के कारण विरुद्ध धर्म का उपन्यास जिसमें कार्य अर्थात् उत्कण्ठा की उत्पत्ति वर्णित है। और (विशेषोक्ति की दृष्टि से) कार्य की अनुत्पत्ति के वर्णन का स्वरूप है—'यः कौमारहरः' आदि रूप कारण के कार्य अर्थात् उत्कण्ठाभाव के विरुद्ध धर्म 'चेतः समुत्कण्ठते' (चित्त के उत्कण्ठित होने) का वर्णन।

किन्तु काव्यप्रकाशकार ने यहाँ इसीलिये संदेहसंकर नहीं समझा क्योंकि विभावना और विशेषोक्ति जब अस्फुट हैं तब विभावना-विशेषोक्तिमूलक 'संदेह संकर' क्यों स्पष्ट झलक जाय।

अनुवाद—उपर्युक्त विचार-विमर्श से यह भी सिद्ध हो गया है कि कतिपय काव्य-लक्षण जैसे कि भोजराज (सरस्वतीकण्ठाभरणकार) का यह काव्यलक्षण—

'काव्य वह (शब्दार्थयुगल) है जो निर्दुष्ट हो, गुणयुक्त हो, अलङ्कारों से अलङ्कृत हो और रससमन्वित हो और कवि वह है जो इस प्रकार के काव्य की रचना किया करता है और कीर्ति किंवा प्रीति पाया करता है। (सरस्वतीकण्ठाभरण)' और इसी प्रकार के अन्य काव्य-लक्षण किसी भी काम के नहीं।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के काव्यलक्षण को यदि स्वतन्त्ररूप से खण्डित किया होता तब तो कोई आपत्ति न होती क्योंकि **'अदोषं गुणवत् काव्यम्'** आदि वाक्य काव्य-लक्षण नहीं अपि तु अलङ्कारशास्त्र की काव्य-सम्बन्धी समस्त मान्यताओं का सूचीपत्र है। किन्तु काव्यप्रकाशकार के काव्यलक्षण को सरस्वतीकण्ठाभरण के काव्यलक्षण सा ही मान लेना सर्वथा अनुचित है। काव्यप्रकाशकार ने काव्य का लक्षण किया है, कवि और सहृदय की दृष्टि से काव्य के असाधारण धर्म का निरूपण किया है, यह कहा है कि 'काव्य वह शब्दार्थयुगल है जो दोषरहित हो………।' सरस्वतीकण्ठाभरणकार के काव्यलक्षण (?) में यह बात अर्थाक्षिप्त भले ही हो स्पष्टतः प्रतिपादित नहीं।

अनुवाद—अब प्रश्न यह उठता है कि ध्वनिकार (आनन्दवर्धन) का यह कथन कि 'ध्वनि काव्य का आत्मतत्त्व है' क्योंकर काव्य का निर्दुष्ट लक्षण न माना जाय! किन्तु यहाँ सब से पहले तो यह देखना है कि क्या वस्तु-अलङ्कार और रसरूप से त्रिविध ध्वनि को काव्य का आत्मतत्त्व माना गया है? या केवल रसभावादिरूप ध्वनि को ही! यदि

ननु यदि रसादिरूपमात्रो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, तदा—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि।
मा पहिअ रत्तिअन्धिअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि॥
[श्वश्रूरत्र निमज्जति, अत्राहं, दिवस एव प्रलोकय।
मा पथिक राज्यन्ध, शय्यायां मम निमङ्क्ष्यसि॥]

इत्यादौ वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत्? न,–अत्रापि रसाभासवत्तयैवेति ब्रूमः, अन्यथा 'देवदत्तो ग्रामं याति' इति वाक्ये तद्भृत्यस्य तदनुसरणरूपव्यङ्ग्यावगतेरपि काव्यत्वं स्यात्। अस्त्विति चेत्? न, रसवत एव काव्यत्वाङ्गीकारात्।

काव्यस्य प्रयोजनं हि रसास्वादमुखपिण्डदानद्वारा वेदशास्त्रविमुखानां

यहाँ यह कहा जाय कि 'वस्तु-अलङ्कार और रसरूप त्रिविध ध्वनि काव्य का आत्मतत्त्व है' तब तो यही उत्तर दिया जायगा कि इस काव्य-लक्षण के अनुसार ऐसे भी शब्दार्थ-सन्दर्भ जैसे कि प्रहेलिका बन्ध (पहेली) आदि, जो कि ध्वनिवाद के अनुसार कदापि काव्य नहीं, काव्य-कोटि में स्थान पाने लगेंगे (क्योंकि प्रहेलिकाबन्ध आदि में भी तो वस्तुरूप अर्थ प्रतीत ही हुआ करता है और चमत्कारकारक भी लगा करता है)! अब यदि इस अड़चन से पिण्ड छुड़ाने के लिये यह कहा जाय कि 'रसभावादिरूप ध्वनि ही केवल काव्य का आत्मतत्त्व है' तब तो यही कहा जायगा कि इसमें हमारा (साहित्यदर्पणकार) का भी ऐकमत्य है (किन्तु तब काव्य का लक्षण 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' नहीं हो पायगा जिसमें दो २ सम्भावनायें हों और एक निरर्थक हो जाय)।

यदि कोई पूछे कि 'यदि रसभावादिरूप ही ध्वनि काव्य का आत्मतत्त्व हो तो इस रचना अर्थात्—

'अरे रतौंधी वाले बटोही! आँखें खोल कर दिन में ही देख लो कि यहाँ मेरी सास सोया करती है और यहाँ मैं सोया करती हूँ। ऐसा न कर बैठना कि बिना देखे-भाले मेरी खाट पर ही लेट लगाने लग जाओ।' को क्योंकर 'काव्य' माना जाय जिसमें केवल वस्तु-मात्र ही ध्वनित हो रहा है (अर्थात् यह प्रतीत हो रहा है कि ऐसा कहने वाली नायिका आगन्तुक पुरुष को अपनी खाट पर ही अपने साथ लेटने का संकेत कर रही है) न कि रसभावादि!, तब इसका समाधान यह रहा कि 'इस रचना को इसलिये काव्य नहीं मान लिया गया कि यहाँ वस्तु रूप व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो रहा है अपि तु इसलिये कि यहाँ भी रसाभास की ही ध्वनि स्पष्ट प्रतीत हो रही है (क्योंकि परपुरुष के साथ किसी नायिका के रतिभाव का प्रकाशन शृंगाररस का आभास नहीं तो और क्या)!, निष्कर्ष यह निकला कि जिस किसी भी शब्दार्थसन्दर्भ को 'काव्य' माना जायगा, रसादिरूप अर्थ के अभिव्यञ्जक होने के ही कारण माना जायगा। क्योंकि यदि वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ के ही अभिव्यञ्जक होने से कोई शब्दार्थयुगल काव्य होने लगे तब तो यह वाक्य भी जैसे कि 'देवदत्त गाँव जा रहा है' काव्य बन बैठेगा क्योंकि यहाँ भी एक वस्तुरूप व्यङ्ग्य अर्थ जैसे कि 'देवदत्त के पीछे २ उसका नौकर भी चला जा रहा है' निकल ही सकता है! अब यहाँ यह कह बैठना कि 'देवदत्त गाँव जा रहा है' आदि वाक्य भी काव्य बन जाय तो कोई आपत्ति नहीं, वस्तुतः एक उलटी-पुलटी बात होगी, क्योंकि वही शब्दार्थयुगल काव्य कहे जाने योग्य हो सकता है जो रसमय हो–रसाभिव्यञ्जक हो।

सुकुमारमतीनां राजपुत्रादीनां विनेयानां 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादिकृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेश इति चिरन्तनैरप्युक्तत्वात्। तथा चाग्नेयपुराणेऽप्युक्तम्—'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्' इति।

व्यक्तिविवेककारेणाऽप्युक्तं—'काव्यस्यात्मनि अङ्गिनि, रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः' इति। ध्वनिकारेणाऽप्युक्तम्—'नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मपदलाभः, इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः' इत्यादि।

ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिनां केषांचिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं न स्यादिति चेत्? न, रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन, प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात्। यत्तु नीरसेष्वपि गुणाभिव्यञ्जकवर्णसद्भावाद्दोषाभावादलङ्कारसद्भावाच्च काव्यव्यवहारः स रसादिमत्काव्यबन्धसाम्याद्गौण एव।

तभी तो प्राचीन काव्याचार्यों का यह कथन है कि काव्य का यही उद्देश्य है कि वह कोमल बुद्धिवाले और इसीलिये वेदशास्त्र के अनुशीलन से जी चुराने वाले राजकुमारों और ऐसे ही सुखलिप्त अन्य पुरुषों को, जिनके लिये आचार-व्यवहार का ज्ञान अनिवार्य रूप से अपेक्षित है, पहले तो अपने रसरूप मधुर प्रसाद से लुभा ले और तब 'राम जैसे महापुरुषों के समान आचरण करना चाहिये न कि रावण जैसे नीचों के समान' आदि रूप से धर्म-कर्म के प्रति प्रवर्त्तन और अधर्म-अकर्म से निवर्तन के उपदेश दिया करे।

'रसादि रूप व्यङ्ग्य अर्थ के प्रकाशक ही शब्दार्थयुगल काव्य हो सकते हैं (न कि वस्तु और अलङ्काररूप व्यङ्ग्य अर्थ के भी) यह एक ऐसी बात है जिसमें साक्षात् अग्निपुराण (३३६. ३३) का यह वचन प्रमाण है—

'काव्य में, चाहे उसमें जितना भी उक्ति-वैचित्र्य झलका करे, रस ही एक मात्र आत्मभूत तत्त्व है।'

इसीलिये तो व्यक्तिविवेककार (आचार्य महिमभट्ट) ने कह रखा है—'जहाँ तक काव्य के जीवन-तत्त्व रसभावादि की बात है, कोई भी काव्याचार्य ऐसा नहीं जो किसी प्रकार का मतभेद रखता हो (यहाँ जो भी मतभेद है वह केवल रसभावादिरूप काव्यात्मतत्त्व की संज्ञाओं जैसे कि 'कार्य', 'अनुमेय', 'भोग,' 'व्यङ्ग्य' आदि २ में है न कि इन संज्ञाओं से सूचित 'रसभावादि' रूप काव्यात्मतत्त्व में है।)'

यही क्यों? स्वयं ध्वनिकार (आचार्य आनन्दवर्धन) का यह कथन है और इसी भाँति अन्य भी कथन हैः—

'कवि का महान् पद (काव्य के) कथा-शरीर मात्र के निर्माण पर किसी को नहीं मिला करता (वह तो वस्तुतः रसानुगुण काव्य-प्रबन्ध-निर्माण पर मिला करता है) क्योंकि कथा-शरीर तो इतिहास आदि में ही बना-बनाया रहता है।'

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है—यदि रसमय वाक्य ही काव्य हो तब किसी काव्य-प्रबन्ध के भीतर जो कतिपय नीरस पद्य-वाक्य हुआ करते हैं वे तो काव्य नहीं हो सकते न? किन्तु इसका यह समाधान होगा—जैसे किसी पद्य-काव्य की रसमयता से उसके भीतर आने वाले कतिपय नीरस पदों में भी सरसता झलका करती है वैसे ही किसी काव्य-प्रबन्ध की सरसता से उसके भीतर यदि कुछ नीरस भी पद्य-वाक्य प्रयुक्त हों, तो वे भी सरसता ही टपकाने वाले मान लिये जाया करते हैं।

तात्पर्य यह है कि काव्य वस्तुतः वही शब्दार्थ-सन्दर्भ है जो सरस हो, रसभाव का

(वामनकृत काव्य-लक्षण का खण्डन)

यत्तु वामनेनोक्तम्—'रीतिरात्मा काव्यस्य' इति, तन्न; रीतेः संघटनाविशेषत्वात्। संघटनायाश्चावयवसंस्थानरूपत्वात्, आत्मनश्च तद्भिन्नत्वात्।

अभिव्यञ्जक हो। कभी २ नीरस सी शब्दार्थ-सन्दर्भ काव्य कह दिये जाया करते हैं किन्तु ऐसा कहना उपचारतः ही होता है न कि मुख्यतः, क्योंकि सरस काव्य-बन्ध की भाँति इनमें भी ऐसा लगा करता है मानो वर्ण-ध्वनियाँ गुणाभिव्यञ्जक हो रही हैं, दोष फटक नहीं पा रहे हैं और अलङ्कारों की भी छटा छिटक रही है।

विमर्श—ध्वनिकार की काव्यसम्बन्धी जिस मान्यता का यहाँ साहित्यदर्पणकार ने खण्डन किया है उसमें कोई नवीनता नहीं। बात यह है कि व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट को ही सबसे पहले यह सूझी थी कि जो आचार्य 'ध्वनि' को एक सांस में काव्य का आत्मतत्त्व कह डालते हैं-और ध्वनि को काव्यात्मतत्त्व कहने का अभिप्राय होता है वस्तु, अलंकार और रसादि-रूप त्रिविध ध्वनि में काव्यात्मतत्त्व की भावना का-वे 'रस' को क्योंकर काव्यसर्वस्व कह सकते हैं? अर्थात् 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' (ध्वन्यालोक १-१) यह सिद्धान्त और—

'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥' (ध्वन्यालोक १-५)

यह सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध दिशा की ओर चलते प्रतीत होते हैं। ध्वनिमात्र को काव्यात्मतत्त्व मानने पर तो प्रहेलिका-बन्ध भी, जिनमें कुछ न कुछ वस्तुरूप ध्वनि अवश्य ही खींचीतानी जा सकती है, ध्वनिकाव्य में ही स्थान पाया करेंगे! वस्तुतः व्यक्तिविवेककार की निम्नाङ्कित उक्ति—

'तदियम् (अनुमेयार्थप्रतिपत्तिः) उपायपरम्परोपारोहनिःसहा न रसास्वादान्तिकमुपगन्तुमलमिति प्रहेलिकाप्रायमेतत् काव्यमित्यतिव्याप्तिः'—(व्यक्तिविवेक, पृष्ठ ८६)

इसी ओर निर्देश कर रही हैं। किन्तु इस आक्षेप के आशय का समाधान भी पहले का ही किया हुआ है क्योंकि आचार्य अभिनवगुप्त ने ही इस प्रकार के आक्षेप की कल्पना का उत्तर दिया है—

'एवं प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इतीयता ध्वनिस्वरूपं व्याख्यातम्। अधुना काव्यात्मत्वमितिहासव्याजेन च दर्शयति-काव्यस्यात्मेति। स एव इति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम्, इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थार्थबलाच्च। तेन रस एव वस्तुतः आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण 'ध्वनिः काव्यस्यात्मे'ति सामान्येनोक्तम्।' (ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ८४)

इस प्रकार ध्वनिकार के सिद्धान्त की प्राचीन आलोचना-प्रत्यालोचना के इतिहास की इस पुनरावृत्ति में न तो कोई विशेषता ही है और न कोई मौलिकता ही।

अनुवाद—उपर्युक्त काव्य-स्वरूप-विवेक से यह भी स्पष्ट है कि आचार्य वामन (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिकार) का यह कथन कि 'रीति (गुणविशिष्ट पदरचना) ही काव्य का आत्मतत्त्व-सारतम पदार्थ-है' कदापि युक्तियुक्त नहीं।

'रीति' क्या है? 'रीति' है एक संघटना-विशेष-ऐसी पदरचना जो गुणवती हो। जो भी संघटना हो अथवा जैसी भी संघटना हो उसका यही अभिप्राय है कि वह एक प्रकार का अङ्ग-विन्यास-विशेष है। और जो आत्म-तत्त्व है वह अङ्ग-रचना नहीं-शरीरसंस्थान

(ध्वनिकार-सम्मत काव्यात्मवाद में दोष-दर्शन)

यच्च ध्वनिकारेणोक्तम्—

'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥' इति ।

अत्र वाच्यात्मत्वं 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः–' इति स्ववचनविरोधादेवापास्तम् ।

विशेष नहीं अपि तु उससे सर्वथा विलक्षण वस्तु है। अब जब कि 'रीति' काव्य की अङ्ग-रचना है तो उसे काव्य का आत्मतत्त्व क्यों कर माना जाया करे।

विमर्श—आचार्य वामन 'रीतिवाद' के प्रवर्त्तक आलङ्कारिक हैं। आचार्य भामह और दण्डी ने भी 'वैदर्भ' और 'गौडीय' मार्गों का उल्लेख किया है (भामह : काव्यालंकार १.३१–३३ तथा दण्डी : काव्यादर्शः १.४०) किन्तु इन कवि-कि वा काव्य-मार्गों में काव्यसर्वस्व के स्वरूपचिन्तन की परम्परा रीतिवादी आचार्य वामन से ही प्रारम्भ हुई है। वामन के अनुसार 'रीति' है एक विशेष प्रकार की पद-रचना (विशिष्टा पदरचना रीतिः–काव्यालंकार सूत्र १.२.७) है और पद रचना की विशेषता माधुर्यादि गुणों पर निर्भर है। यह गुण-विशिष्ट पदरचना (रीति) ही काव्य की आत्मा है (रीतिरात्मा काव्यस्य–काव्यालंकार सूत्र १.२.६)। वामन के इस रीत्यात्मवाद की विशद,आलोचना ने रसात्मवाद का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। सर्वप्रथम आनन्दवर्धनाचार्य ने ही यह सिद्ध किया है कि 'रीति' को काव्य की आत्मा मानना आत्मतत्त्व के अपरिज्ञान का परिणाम है। ध्वनिवादी आलंकारिकों ने इस विषय को अधिकाधिक स्पष्ट किया है। साहित्यदर्पणकार का रीत्यात्मवाद खण्डन ध्वनिवाद का ही समर्थन है।

अनुवाद—ध्वनिकार (आनन्दवर्धनाचार्य) ने काव्य के आत्मतत्त्व का दिग्दर्शन तो अवश्य किया-कराया है किन्तु एक स्थान पर ऐसी बात कह दी है, अर्थात्—

'काव्य का वही अर्थ वस्तुतः काव्य का आत्मभूत–सारतम–अर्थ है जिसे सहृदय-हृदय सराहते नहीं थकते। और वह अर्थ ऐसा है जिसके दो भेद स्पष्ट हैं—१ ला–वाच्यरूप अर्थ और २ रा–प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) रूप अर्थ आदि, जिसमें वाच्यरूप अर्थ काव्य का आत्म-तत्त्व बना दिखाई दे रहा है और अन्यत्र यह कह रखा है कि 'काव्य का जो आत्मभूत तत्त्व है वह ध्वनि (व्यङ्ग्य रूप अर्थ) ही है।' अब ये दोनों परस्पर विरुद्ध कथन क्योंकर काव्य–स्वरूप के निरूपण में प्रमाण होने लगे ?

विमर्श—(क) ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने व्यङ्ग्यार्थ की पृष्ठभूमि का स्वरूप बताते हुए लिखा था—

'तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते—

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदय-श्लाघ्यो योऽर्थस्तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ ।

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः काव्यलक्ष्मविधायिभिः।
ततो नेह प्रतन्यते ॥

केवलमनूद्यते पुनर्यथोपयोगमिति ।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥' (ध्वन्यालोक ४२-४९)

और ऐसा लिखने का उनका यही अभिप्राय था कि काव्य में अर्थ, वाच्य और व्यङ्ग्य-इन दो अंशों अथवा भागों में विभक्त रहा करता है और इन दोनों अर्थ-भागों में वही अर्थ काव्य का सारतम-आत्मभूत-अर्थ माना जाया करता है जो सहृदयहृदयश्लाघ्य हुआ करता है। वस्तुतः ध्वनिकार के इसी आशय का स्पष्टीकरण लोचनकार की इन पंक्तियों में हुआ है—

'तत्र ध्वनिस्वरूपे प्रतीयमानाख्ये निरूपयितव्ये निर्विवादसिद्धवाच्याभिधानं भूमिः। तत्पृष्ठेऽधिकप्रतीयमानांशोल्लिङ्गनात्। वाच्येन समशीर्षिकया गणनं तस्याप्यनपह्नवनीयत्वं प्रतिपादयितुम्।......तत्र शब्दस्तावच्छरीरभाग एव सन्निविशते सर्वजनसंवेद्यधर्मत्वात् स्थूलकृशादिवत्। अर्थः पुनः सकलजनसंवेद्यो न भवति। न ह्यर्थमात्रेण काव्यव्यपदेशः, लौकिकवैदिकवाक्येषु तदभावात्। तदाह—सहृदयश्लाघ्य इति। स एक एवार्थो द्विशाखतया विवेकिभिर्विभागबुद्ध्या विभज्यते। तथा हि तुल्येऽर्थरूपत्वे किमिति कस्मैचिदेव सहृदयाः श्लाघन्ते। तद्भवितव्यं तत्र केनचिद् विशेषेण। यो विशेषः स प्रतीयमानभागो विवेकिभिर्विशेषहेतुत्वादात्मेति व्यवस्थाप्यते। वाच्यसंवलनाविमोहितहृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चार्वाकैरिवात्मपृथग्भावे। अत एव अर्थ इत्येकतयोपक्रम्य सहृदयश्लाघ्य इति विशेषणद्वारा हेतुमभिधायापोद्धारदृशा तस्य द्वौ भेदावंशावित्युक्तम् न तु द्वावप्यात्मानौ काव्यस्येति।......तस्येत्यादिना तदभ्युपगम (रसध्वनेर्जीवितत्वाभ्युपगम) एव द्व्यंशत्वे सत्युपपद्यते इति दर्शयति।' (ध्वन्यालोकलोचन पृ० ४२-४६)

जिनका अभिप्राय यह है—'जब तक वाच्य और व्यङ्ग्य का परस्पर भेद न सिद्ध हो जाय तब तक यह कैसे पता चले कि काव्य का आत्मभूत अर्थतत्त्व क्या है ? काव्य के अर्थ को द्विरूप अर्थात् वाच्य और व्यङ्ग्यरूप कहना भी आवश्यक है क्योंकि निर्विवाद सिद्ध वाच्य की भाँति व्यङ्ग्य भी निर्विवाद सिद्ध ही अर्थ है। इन दोनों निर्विवादसिद्ध अर्थों में, वे लोग तो शरीर-शरीरिभाव का दर्शन करने से रहे जिन्हें वाच्यार्थ के मायाजाल ने घेर रखा है किन्तु जो काव्यतत्त्वज्ञानी हैं उन्हें तो यह स्पष्ट पता चला करता है कि वाच्यरूप अर्थ शरीरवत् है जिसमें व्यङ्ग्यार्थरूप आत्मतत्त्व अन्तर्व्याप्त रहा करता है।'

यह सब होते हुए भी विश्वनाथ कविराज का यहाँ 'दोष-दर्शन' एक दुराग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

(ख) वस्तुतः विश्वनाथ कविराज ने यहाँ खण्डन की शिक्षा व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट से ली है। महिमभट्ट का भी यहाँ यही आक्षेप था—

'केवलमत्रैवार्थस्योभयात्मनः सामान्येन यः काव्यात्मत्वेन व्यपदेशः सोऽनुपपन्नः। स हि प्रतीयमानार्थैकविषयो युक्तः, तस्यैव काव्यजीवितभूतस्य प्रधानतया ध्वनित्वेनेष्टत्वात्। यत् स एवाह—काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति। काव्यस्यात्मा स एवार्थ इति। प्रतीयमाना त्वन्यैव भूषा लज्जेव योषित इति च। तेन 'यः काव्यस्य व्यवस्थितः' इति तत्रोचितः पाठः।' (व्यक्तिविवेक १ म विमर्श)

किन्तु यह आक्षेप भी **'शङ्कितपददूषणप्रपञ्च'** होने के कारण 'निरुत्थान' ही है जैसा कि व्यक्तिविवेकव्याख्याकार आचार्य रुय्यक ने सिद्ध किया है क्योंकि जो बात ध्वनिकार के मन में नहीं उसका खण्डन निष्प्रयोजन नहीं तो और क्या है ?

(स्व-सम्मत काव्यस्वरूप)

तत्किं पुनः काव्यमित्युच्यते—

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—

रसस्वरूपं निरूपयिष्यामः। रस एवात्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य। तेन विना तस्य काव्यत्वानङ्गीकारात्। 'रस्यते इति रसः' इति व्युत्पत्तियोगाद्भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते।

अनुवाद—काव्य-स्वरूप के सम्बन्ध में आलङ्कारिकों के इस मति-भ्रम के निवारण के लिये अब यह बताना आवश्यक है कि काव्य क्या है?

काव्य क्या है? 'काव्य वह वाक्य है जो रसात्मक हो।'

'रस क्या है? इसका निरूपण तो आगे (तृतीय परिच्छेद में) किया ही जायगा। यहां 'रसात्मक' वाक्य का अभिप्राय बता देना उचित है। 'रसात्मक' वाक्य उस वाक्य को कहते हैं जिसका आत्मतत्त्व 'रस' हुआ करता है। अथवा जिसे जीवित-जागृत रखने वाला एकमात्र सारतम तत्त्व 'रस' है। 'रस' के विना कोई भी वाक्य काव्य नहीं हो सकता—यह ऐसी बात है जो पहले ही बता दी जा चुकी है। यहाँ 'रस' का अभिप्राय केवल (शृङ्गारादि) रस नहीं अपि तु वह है जो आस्वादविषय हो' इस 'रस' शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर जो भी सहृदयों के आस्वाद के विषय हुआ करते हैं जैसे कि भाव, रसाभास और भावाभास आदि २ वे सभी यहाँ विवक्षित और समुच्चित हैं।

विमर्श—(क) आचार्य मम्मट के काव्यलक्षण की समीक्षा से ही विश्वनाथ कविराज को 'रसात्मक वाक्य काव्य है' यह काव्यदृष्टि मिली है। जैसा हम देख चुके हैं आचार्य मम्मट के काव्यलक्षण के खण्डन में साहित्यदर्पणकार ने कोई नया काव्य-सिद्धान्त नहीं ढूँढा है। काव्यप्रकाशकार का काव्यलक्षण तो ध्वनिवाद की दृष्टि से काव्य के स्वरूप का ऐसा निर्वचन है जिसमें एक ओर तो अन्य आलंकारिक-वादों की विचारधाराओं का सामञ्जस्य स्थापित हो गया है और दूसरी ओर संस्कृत के समस्त काव्य-साहित्य की विशेषताओं का समावेश भी स्वभावतः दिखाई दे रहा है। किन्तु साहित्यदर्पणकार का काव्यलक्षण एकमात्र रसध्वनिकाव्य का ही चिन्तन-मन्त्र है। 'रसगङ्गाधर' के महासाधक पण्डितराज जगन्नाथ ने तभी तो यह कहा है—

'यत्तु रसवदेव काव्यम् इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न। वस्त्वलङ्कारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः। महाकविसम्प्रदायस्याकुलीभावप्रसङ्गात्। तथा च जलप्रवाहवेगनिपतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि। कपिवालादिविलसितानि च। न च तत्रापि यथाकथञ्चित् परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवेति वाच्यम्। ईदृशरसस्पर्शस्य 'गौश्चलति' 'मृगो धावति' इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात्। अर्थमात्रस्य विभावानुभावव्यभिचार्यन्यतमत्वादितिदिक्।' (रसगङ्गाधर पृ. ७८)

अर्थात् साहित्यदर्पण का यह निर्णय कि 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है' सर्वथा युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। बात यह है कि यदि रस-प्रधान रचना में ही काव्य हो तब वस्तु किं वा अलंकारप्रधान रचनाओं की क्या गति होगी? भला यह कैसे कहा जाय कि वस्तु किं वा अलंकारप्रधान रचनायें काव्य ही नहीं हुआ करतीं! संस्कृत का काव्य-साहित्य वस्तु किंवा अलंकारप्रधान

रचनाओं से भरा पड़ा है। संस्कृत के बड़े-बड़े कवियों ने परम्परा से ऐसी रचनाओं में सफलता पायी है और संस्कृत के काव्य-भण्डार को अक्षय बनाया है। प्रकृति के भीम और रम्य दृश्यों का वर्णन क्या काव्य नहीं ? पशु-पक्षियों और बालक-बालिकाओं की लीलाओं का स्वभावरम्य चित्रण क्या काव्य नहीं ? यदि इस आपत्ति से बचने के लिये साहित्यदर्पणकार ने यह कहा कि वस्तु अथवा अलंकारप्रधान रचनायें भी काव्य-कोटि में आ जायेंगी क्योंकि इनमें भी परम्परया रसात्मकता मान ली जायगी तब तो इससे.यही अन्त में सिद्ध हुआ कि **'गौश्चलति', 'मृगो धावति'** आदि वाक्य भी काव्य बन गये क्योंकि यहाँ भी किसी प्रकार रस की फुहार पड़ती देख ली जायगी ? ऐसा भी क्या काव्यलक्षण जिसमें लक्ष्य का कोई स्वरूप ही न निर्धारित हो ?

(ख) 'रसात्मक वाक्य काव्य है'—यह काव्यलक्षण लक्षणकार विश्वनाथ-कविराज के 'साहित्यदर्पण' में अविकलरूप से प्रतिफलित होता नहीं प्रतीत होता। आचार्य मम्मट ने एक विशिष्ट प्रकार के शब्द और अर्थ—शब्दार्थयुगल—को काव्य कहा है। इस विचारस्रोत के क्रमिक प्रवाह में काव्यप्रकार, शब्दार्थस्वरूप, दोषदर्शन, गुणवर्णन, अलंकारयोजना आदि-आदि विषयों की धारायें स्वभावतः प्रवाहित होती दिखायी दिया करती हैं। किन्तु रसात्मक वाक्यरूप काव्यवाद के प्रवर्त्तक आचार्य का विचारस्रोत 'वाक्य' की भाषाशास्त्रसम्मत व्याख्या में ही विच्छिन्न हो जाता है। यह तो ठीक है कि योग्यता-आकांक्षा-आसत्तियुक्त पदोच्चय ही 'वाक्य' है और ऐसा 'वाक्योच्चय' ही महावाक्य है। किन्तु ऐसे वाक्य और ऐसे महावाक्य तो प्रतिदिन के जीवन में व्यवहृत हुआ करते हैं। इन्हें तो 'काव्य' कहा नहीं गया ! और जबतक आकांक्षा और योग्यता और आसत्ति को 'रसाभिव्यञ्जनात्मकता' की विशेषता से विशिष्ट न किया जाय तबतक **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** की परिभाषा क्योंकर परिष्कार की ओर बढ़ने लगी ? पता यही चलता है कि पहले 'वाक्य' और बाद में वाक्य की 'रसात्मकता' की ही बात साहित्य-दर्पणकार को कहनी है। यही बात तो **'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'** इस काव्यलक्षणविधायक आचार्य ने कही थी ! किन्तु साहित्यदर्पणकार ने इसे न माना। अब मानना तो कठिन है। किन्तु बिना माने काम भी नहीं चलता। 'निर्दुष्ट, गुणयुक्त तथा अलंकृत (किंवा यथासंभव अनलंकृत भी) शब्दार्थयुगल काव्य है'—इस कथन में रसात्मक वाक्यरूप काव्य की रचना-प्रक्रिया पर तो प्रकाश अवश्य पड़ रहा है किन्तु **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** इस उक्ति में काव्य का रहस्य अनिर्भिन्न-सा ही रह जाता है। वस्तुतः महामहोपाध्याय डाक्टर काणे ने इसीलिये कहा है :—

The definitions of a few writers, particularly early ones, treat शब्द and अर्थ as equally prominent, while others give more prominence to शब्द; some give a definition of काव्य which is more difficult than the thing to be defined (such as that of विश्वनाथ **(वाक्यं रसात्मकं काव्यम्)**।

—History of Sanskrit Poetics, पृष्ठ ३३८।

अर्थात् 'प्राचीन आलंकारिकों में अधिक संख्या उनकी है जो काव्य में शब्द और अर्थ का समान महत्त्व माना करते हैं, कुछ ऐसे भी हैं जो अर्थ की अपेक्षा शब्द का ही काव्य में प्राधान्य स्वीकार करते हैं किन्तु एक-आध आचार्यों ने काव्य की ऐसी परिभाषा की है जैसे कि विश्वनाथ कविराज ने ही, जिसके देखने से यही प्रतीत होता है कि काव्य क्या है ? यह समझना तो सरल है किन्तु काव्य की परिभाषा क्या कह रही है ? यह समझना असंभव है।'

(ग) **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** का अर्थ क्या ? कवि की दृष्टि से तो 'रसात्मक वाक्य' का अभिप्राय एकमात्र 'विभावादि-योजनात्मक वाक्य' ही हो सकता है। इस प्रकार जब अन्ततोगत्वा

'रसात्मक' का अभिप्राय 'विभावादियोजनात्मक' ही हुआ तो सीधे इसे ऐसा न कहकर बुझौवल बुझाने का क्या तात्पर्य ? यदि काव्य की परिभाषा हो-'**विभावादियोजनात्मकं वाक्यं काव्यम्**' तब तो यह निर्विवाद सिद्ध है कि सहृदय यहाँ 'रसात्मक वाक्य' का निगूढार्थ समझ लेंगे। व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट ने वस्तुतः 'विभावादियोजनात्मक वाक्य' को ही काव्य माना था—

'अपि च काव्यविशेष इत्यत्र काव्यस्य विशिष्टत्वमनुपपन्नम्, काव्यमात्रस्य ध्वनिव्यपदेशविषयत्वेनेष्टत्वात् तस्य रसात्मकत्वोपगमात्।

यतः स एवाह—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा॥
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

न च तस्य विशेषः संभवति निरतिशयसुखास्वादलक्षणत्वात्तस्य।

यदाहुः—

पाठ्यादथ ध्रुवागानात्ततः संपूरिते रसे।
तदास्वादभरैकाग्रो हृष्यत्यन्तर्मुखः क्षणम्॥
ततो निर्विषयस्यास्य स्वरूपावस्थितौ निजः।
व्यज्यते ह्लादनिष्यन्दो येन तृप्यन्ति योगिनः।

इति। तदभावे चास्य काव्यतैव न स्यात् किमुत विशेष इति अनारम्भणीयमेवैतत् प्रेक्षावतां स्याद् वैफल्यात्।

कविव्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी काव्यमुच्यते। ....'काव्यारम्भस्य साफल्यमिच्छता तत्प्रवृत्तिनिबन्धनभावेनास्य रसात्मकत्वमवश्यमुपगन्तव्यम्। तन्मात्रप्रयुक्तश्च ध्वनिव्यपदेशः॥'

(व्यक्तिविवेक पृ. ९२-९७)

अर्थात् वस्तुतः जिसे भी काव्य कहते हैं वह रसात्मक ही हुआ करता है। ऐसी कोई भी रचना जो रसात्मक न हो काव्य नहीं कही जा सकती। 'रसात्मक रचना', 'काव्य', 'ध्वनि'-ये सभी शब्द एक ही ओर निर्देश करते हैं। सहृदय सामाजिक की यह काव्य-दृष्टि कवि की ही देन है क्योंकि कवि का ही कर्म तो काव्य है-कवेः कर्म काव्यम्। यह कविकर्म क्या है ? यह कविकर्म है विभावादिसंयोजनात्मक शब्दार्थरचना। जो भी शब्दार्थरचना विभावादिसंयोजनरूप रचना होगी वह नियमतः रसाभिव्यञ्जक होगी-रसात्मक होगी।' उपर्युक्त अनुमितिवादी काव्यमत के देखते यही प्रतीत होता है कि अभिव्यक्तिवादी कविराज विश्वनाथ ने 'विभावादियोजनात्मक वाक्य' को ही वस्तुतः काव्य माना है। किन्तु व्यक्तिविवेककार से भेद प्रदर्शित करने के लिये इसे उनके शब्दों में न कहकर अपने शब्दों में प्रकट किया है-**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।** व्यक्तिविवेककार को तो ध्वनिदार्शनिक आनन्दवर्धन के '**काव्यविशेषः ध्वनिः**'-इस कथन का खण्डन करना था और यह बताना था कि 'काव्यसामान्य ध्वनि है'। और काव्यसामान्य क्या है ? काव्यसामान्य है रसात्मक रचना। यह रसात्मक रचना क्या है ? यह है विभावादिसंयोजनात्मक शब्दार्थसंघटना ! किन्तु विश्वनाथ कविराज ने मम्मट के काव्यमत के खण्डन में वह तत्व खोज लिया जो महिमभट्ट ने ध्वनिकार के शब्द-प्रयोग (**काव्यविशेषः ध्वनिः**) के समीक्षण में खोजा था।

(काव्य-रसात्मकवाक्य-के निदर्शन)

तत्र रसो यथा—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
 निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
 लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

अत्र हि संभोगश्रृङ्गाराख्यो रसः।

भावो यथा महापात्रराघवानन्दसान्धिविग्रहिकाणाम्—

(घ) जब कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का निष्कर्ष **'विभावादिसंयोजनात्मकं वाक्यं काव्यम्'** है और 'विभावादिसंयोजनात्मक वाक्य' की रचना निर्दुष्ट गुणाभिव्यञ्जक किंवा रसभावाभिव्यक्ति की दृष्टि से अलंकृत अथवा निरलंकृत शब्दार्थसंदर्भ है तब तो यही सिद्ध है कि मम्मट का काव्यमत ही नये परिधान में साहित्यदर्पणकार का काव्यमत बना दिखायी पड़ रहा है। मम्मट ने बहुत कुछ सोचविचार कर **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** यह काव्य-परिभाषा न बनायी थी। विश्वनाथ कविराज ने व्यक्तिविवेककार का नामोल्लेख किये बिना ही उनकी विचारधारा का अनुसरण करते ध्वनिवादी आचार्यों की काव्य-परिभाषा का खण्डन किया किन्तु अन्त में जो निष्कर्ष निकला उससे 'रसध्वनिदर्पण' की रचना भले ही समञ्जस हुई होती 'साहित्यदर्पण' का निर्माण तो कदाचित् असमञ्जस-सा ही लग रहा है।

(ङ) चाहे जो कुछ भी हो विश्वनाथ कविराज की काव्य-परिभाषा अलंकारशास्त्र में अपना स्थान रखती है। विश्वनाथ कविराज की चिन्तनधारा ने पण्डितराज जगन्नाथ के विचारसागर को प्रभावित किया है। **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** की मान्यताओं के अनुसन्धान में ही **'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** का रसगङ्गाधर-सिद्धान्त निकलता है। विश्वनाथ कविराज नवीनता के पुजारी हैं! कविता-सरस्वती को जैसे 'काव्यप्रकाश' की आवश्यकता है वैसे ही 'साहित्यदर्पण' की भी। 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' में भले ही कुछ मनमुटाव हो किन्तु वाग्देवी के समक्ष तो दोनों का समान ही मान है और दोनों में समान ही भाव और स्फूर्ति है।

अनुवाद—जैसे कि यह (प्राचीन) सूक्ति जिसमें 'रस' ही सारतम तत्त्व है—

'नवोढा सुन्दरी ने देखा कि शयनगृह से और सभी लोग जा चुके हैं, वह अपनी सेज से कुछ-कुछ धीरे-धीरे उठी, उसने नींद का बहाना बनाये सोने वाले अपने प्रियतम का मुँह बड़े ध्यान से देखा, उसे सचमुच सोया समझ कर निश्चिन्तता के साथ, उसका मुख-चुम्बन कर लिया और जैसे ही उसके कपोलों पर आनन्द का रोमाञ्च देखती वह लज्जा से अपना मुँह झुकाये खड़ी हुई कि उसने (प्रियतम ने) हँस-हँसकर, बड़ी देर तक, उस पर चुम्बनों की बौछार शुरू कर दी।'

यहाँ ज़ो वाक्य है वह 'काव्य' है क्योंकि इसमें इसका जीवनाधायक संभोगश्रृङ्गाररस साक्षात् विराजमान है।

अथवा

सान्धिविग्रहिक महापात्र श्री राघवानन्द कविराज की यह सूक्ति, जिसमें 'भाव' की जीवनाधायकता स्पष्ट है—

यस्यालीयत शल्कसीम्नि जलधिः पृष्ठे जगन्मण्डलं,
दंष्ट्रायां धरणी, नखे दितिसुताधीशः, पदे रोदसी।
क्रोधे क्षत्रगणः, शरे दशमुखः, पाणौ प्रलम्बासुरो,
ध्याने विश्वमसावधार्मिककुलं, कस्मैचिदस्मै नमः॥

अत्र भगवद्विषया रतिर्भावः।

रसाभासो यथा—

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥

अत्र सम्भोगशृङ्गारस्य तिर्यग्विषयत्वाद्रसाभासः। एवमन्यत्।

'उस अवाङ्मनसगोचर तत्त्व को शतशत प्रणाम जिसके (मत्स्यावतार रूप में) शल्क (छिलके) की किसी कोर में अपार पारावार छिप गया, जिसके (कूर्मावतार रूप में) पृष्ठ पर समस्त ब्रह्माण्ड का भार सम्हल गया, जिसकी (वराह मूर्ति में) दाढ़ों पर धरती की जान बच गयी, जिसके (नृसिंहावतार रूप में) नख में दानवराज हिरण्यकशिपु का सर्वस्व लुप्त हो गया, जिसके (वामन रूप में) पग में द्यावापृथिवी (आकाश और धरती) नप गये, जिसके (परशुराम रूप में) क्रोध में समस्त क्षत्रगण (क्षत्रिय जाति के लोग) भस्मीभूत हो गये, जिसके (रामावतार रूप में) बाण में दशानन रावण का लोप हो गया, जिसके (कृष्णावतार रूप में) हाथ में प्रलम्बासुर प्रलीन हो गया, जिसके (बुद्धावतार रूप में) ध्यान में भूत-भौतिक किंवा चित्त-चैतसिक समस्त जगत् विलीन हो गया और जिसके (कल्कि रूप में) खड्ग में अधर्मी लोग लुप्त हो गये।'

यहाँ जो वाक्य है वह 'काव्य' है क्योंकि इसका सारभूत तत्त्व इसमें अभिव्यक्त भगवद्विषयक (कविनिष्ठ) रतिभाव है।

अथवा

यह सूक्ति जिसमें 'रसाभास' का अनुप्राणन सर्वसंवेद्य है—

'स्मरबान्धव वसन्त का आगमन क्या हुआ एक ओर तो प्रेमातुर भ्रमर ने, पुष्प-चषक में, प्रियतमा भ्रमरी को, पुष्परस की मदिरा पिलानी शुरू की और स्वयं उच्छिष्ट मदिरा को प्रेम से पीने लगा और दूसरी ओर कामातुर कृष्णसार मृग अपनी प्रियतमा मृगी से जा सटा और आनन्दसे आँखें मीचे खड़ी उसे सींगोंसे खुजलाते प्रेम करने लगा!

यहाँ जो वाक्य है वह 'काव्य' है क्योंकि इसमें प्रेमी पक्षियुगल किंवा पशुयुगल के हृदय का रतिभाव अभिव्यक्त हो रहा है। इसी भांति अन्यान्य रस और भाव और उन दोनों के आभासों से अनुप्राणित जो वाक्य हों उन्हें भी 'काव्य' मानना चाहिये।

विमर्श—(क) 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'—इस काव्यलक्षण में विश्वनाथ कविराज ने 'रस' का व्यापक अभिप्राय स्वीकार किया है और ऐसा करना उचित ही है। वस्तुतः इसी दृष्टि से उन्होंने आगे (तृतीय परिच्छेद में) स्पष्ट कहा है—

(दोष-स्वरूप का संकेत)

दोषाः पुनः काव्ये किंस्वरूपा ? इत्युच्यन्ते—

(रसात्मक वाक्यरूप काव्य और उसके अपकर्षकारक दोष का सम्बन्ध)

दोषास्तस्यापकर्षकाः ।

श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादयः काणत्वखञ्जत्वादय इव, शब्दार्थद्वारेण देहद्वारेणेव, व्यभिचारिभावादेः स्वशब्दवाच्यत्वादयो मूर्खत्वादय इव, साक्षात्काव्यस्यात्मभूतं रसमपकर्षयन्तः काव्यस्यापकर्षका इत्युच्यन्ते । एषां विशेषोदाहरणानि वक्ष्यामः ।

'रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ ।
सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः ॥'

अर्थात् रस और भाव, रसाभास और भावाभास, भावोदय और भावप्रशम, भावसन्धि और भावशबलता—ये सभी के सभी 'रस' ही हैं क्योंकि इन सबमें आस्वाद अथवा आनन्दानुभव सहृदय संवेद्य है ।'

(ख) 'शून्यं वासगृहम्' आदि काव्यसूक्ति अमरुशतक की एक परममधुर सूक्ति है। इसमें महाकवि ने नवोढा नायिका के अभिनव समागम का वर्णन किया है। इस वर्णन में संभोगशृङ्गार प्रवाहित हो रहा है। नवोढा नायिका की रति का यहाँ अत्यन्त सुन्दर अभिव्यञ्जन है। रति-मन्दिर के सूनापन, व्याजसुप्त नायक के कपोलचुम्बन किंवा लज्जावश नायिका के मुख के अवनत हो जाने के वर्णन में रति के उद्दीपन विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव की संयोजना बड़ी स्वाभाविकता किंवा रोचकता से की गयी दिखायी दे रही है। अमरुशतक ऐसी सूक्तियों का खजाना है। तभी तो रसध्वनितत्त्वदर्शी आचार्य आनन्दवर्धन ने अमरुशतक को 'मुक्तक' होते हुये भी शृङ्गाररस का 'महाकाव्य' कहा है।

अनुवाद—जिस 'रसात्मक वाक्य' को काव्य कहा गया है उसकी अपकृष्टता जिनके द्वारा हुआ करती है वे ही (काव्य के) दोष कहे जाते हैं।

दोष वस्तुतः वे हैं जो रसात्मक वाक्यरूप काव्य की उत्कृष्टता (अथवा सुन्दरता) के विघातक हुआ करते हैं। इन दोषों में ये दोष जैसे कि श्रुतिकटुत्व, अपुष्टार्थत्व आदि तो ऐसे हुआ करते हैं जो मानव-शरीर की उत्कृष्टता के विघातक काणत्व (कानेपन), खञ्जत्व (लङ्ङेपन) आदि की भांति काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ की उत्कृष्टता के विघातक होते हुये (अर्थात् परम्परया न कि साक्षात्) काव्य के रसादिरूप आत्मतत्त्व के अपकर्षकारक हुआ करते हैं और कुछ ऐसे भी हुआ करते हैं जिन्हें रस-दोष कहा करते हैं जैसे कि निर्वेदादि व्यभिचारिभावों का, उनके वाचक शब्दों से अभिधान आदि जो मूर्खत्व आदि दोषों की भांति रसादिरूप काव्यात्मतत्त्व के साक्षात् (न कि परम्परया) अपकर्षजनक बना करते हैं। रसात्मकवाक्य के साक्षात् अथवा परम्परया अपकर्षकारक इन दोषों के अपने-अपने उदाहरण तो आगे यथावसर दिये ही जायेंगे।

विमर्श—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इस काव्य-लक्षण के साथ जबतक 'दोषास्तस्यापकर्षकाः' तथा 'उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालङ्काररीतयः' की कड़ी न जोड़ी जाय तब तक 'साहित्यदर्पण' की विशद रचना का सूत्र नहीं मिल सकता। इसीलिये वस्तुतः विश्वनाथ कविराज ने काव्यलक्षणवाक्य में ही इन्हें भी जोड़ दिया है। किन्तु एक बात यहाँ खटकती है और वह

(गुण-अलङ्कार और रीति-स्वरूप : एक संकेत)

गुणादयः किंस्वरूपा इत्युच्यन्ते—

उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः ॥ ३ ॥

(काव्यात्मभूत 'रस' और गुण-अलङ्कार—रीतितत्त्व : परस्पर सम्बन्ध)

गुणाः शौर्यादिवत् , अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत् , रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत् , देहद्वारेणेव शब्दार्थद्वारेण तस्यैव काव्यस्यात्मभूतं रसमुत्कर्षयन्तः काव्यस्योत्कर्षका इत्युच्यन्ते। इह यद्यपि गुणानां रसधर्मत्वं तथापि गुणशब्दोऽत्र गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थयोरुपचर्यते। अतश्च 'गुणाभिव्यञ्जकाः शब्दा रसस्योत्क-

---

यह है कि जब 'रसात्मकवाक्य' बन गया और वह 'काव्य' हो गया तब गुण, अलंकार और रीति के द्वारा उसका उत्कर्षवर्धन होने पर वह 'काव्यविशेष' क्यों न कहा गया ? मम्मट का काव्यप्रकाश तो उनके काव्यलक्षणवाक्य की ही पूर्वापर-अनुस्यूत महाव्याख्या है—इस धारणा से ही विश्वनाथ कविराज ने अपना भी काव्यलक्षणवाक्य रचा था और इसी विश्वास से रचा था जिसमें साहित्यदर्पण की रूपरेखा उसीमें (लक्षणवाक्य में) झलक जाय। किन्तु कुछ चूक अवश्य हो गयी है। 'रसात्मक वाक्य' के बन जाने पर और उसके काव्यरूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर 'दोष' उसका क्या करेंगे ? **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** कह कर **'दोषास्तस्यापकर्षकाः'** कहने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं प्रतीत होता !

अनुवाद—अब काव्यात्मभूत रस के उत्कर्षकारक जो तत्त्व हैं जैसे कि गुण आदि, उनका स्वरूप बता देना आवश्यक है—

गुण, अलङ्कार और रीति वे काव्यतत्त्व हैं जो रसात्मक वाक्य-रूप काव्य की उत्कृष्टता के कारण हुआ करते हैं।

काव्यात्मभूत रस के उत्कर्षकारक तत्त्व ही रसात्मक वाक्य-रूप काव्य के उत्कर्षकारक तत्त्व हुआ करते हैं। ये ही वे तत्त्व हैं जिन्हें गुण, अलङ्कार और रीति कहा करते हैं। इनमें माधुर्य आदि गुण, अनुप्रास-उपमादि अलङ्कार और वैदर्भी आदि रीतितत्त्व काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ के उत्कर्षकारक होते हुये उसी प्रकार काव्य के आत्मभूत रस के उत्कर्षकारक माने जाया करते हैं जिस प्रकार शौर्य आदि गुण, कटककुण्डलादि अलङ्कार और अवयव-विन्यास आदि शरीर-संस्थान मानवशरीर के उत्कर्षक होते हुये मानव-व्यक्तित्व के उत्कर्षक माने जाया करते हैं।

यहाँ गुणों के काव्यशरीरभूत शब्द और अर्थ के उत्कर्षकारक होनेमें एक विशेष बात है और वह यह है—वस्तुतः तो माधुर्य आदि गुण रस-रूप काव्यात्मतत्त्व के धर्म हैं किन्तु उपचारतः इन्हें काव्य-शरीरभूत शब्द और अर्थ का भी धर्म माना जा सकता है क्योंकि रस के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ रसधर्मभूत गुण के भी अभिव्यञ्जक हुआ ही करते हैं। इस प्रकार गुण के रसोत्कर्षकारक कहे जाने का अभिप्राय गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ का रसोत्कर्षकारक कहा जाना है जैसा कि पहले भी (अर्थात् मम्मटकृत काव्य-लक्षण की समीक्षा के प्रसङ्ग में) कहा ही जा चुका है। इन रसोत्कर्षक

र्षकाः' इत्युक्तं भवतीति प्रागेवोक्तम्। एषामपि विशेषोदाहरणानि वक्ष्यामः।

इति साहित्यदर्पणे काव्यस्वरूपनिरूपणो नाम प्रथमः परिच्छेदः।

अत्र मूलकारिकाः = ३। उदाहरणश्लोकाः = ६।

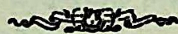


गुणों, अलङ्कारों और रीतियों के सोदाहरण निरूपण आगे यथावसर किये ही जायेंगे।

विमर्श—(क) गुण, अलंकार और रीति—ये काव्य के उत्कर्षकारक तत्त्व हैं—यह बात 'रसात्मक वाक्य' रूप काव्यवादी आचार्य के मुख से शोभा नहीं देती। गुण और अलंकार का साम्यवाद तो ध्वनिवाद के पूर्ववर्ती आलंकारियों का काव्यवाद है और अलंकारसर्वस्वकार आचार्य रुय्यक ने इसका स्पष्ट संकेत भी किया है। यहाँ रसात्मक वाक्यरूप काव्य के उत्कर्षाधायक तत्त्वों में अलंकारों के साथ गुणों की गणना रसध्वनिवादी आचार्य के लिये कुछ उलटी सी बात लगती है। साथ ही साथ ध्वनिवाद में गुण और रीति का सामञ्जस्य स्थापित किया हुआ है। यहाँ गुण के अतिरिक्त रीति का परिगणन इस बात की सूचना देता है कि गुण और रीति परस्पर पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं!

(ख) ध्वनिवादी आलंकारिक रीति को 'रसाभिव्यञ्जक' तत्त्व माना करते हैं न कि 'रसोत्कर्षक' तत्त्व। विश्वनाथ कविराज के अनुसार जब कि 'रसात्मक वाक्य' काव्य है और रीति 'रसोत्कर्ष-कारक' तत्त्व है तब क्या ऐसा तो नहीं कि 'रसात्मक वाक्य' की रचना के हो चुकने पर 'रीति' आया करती है और उस रचना पर उत्कर्ष का पानी चढ़ा जाया करती है? यह सब तो ऊटपटाँग सी बात हुई! आचार्य मम्मट ने गुणों को रसरूप आत्मतत्त्व के साथ 'अचलस्थिति' रहकर उत्कर्षकारक माना और अलंकारों को रसरूप आत्मतत्त्व के साथ 'चलस्थिति' देखकर गुणों और अलंकारों का प्रविभाग सिद्ध किया। किन्तु आचार्य विश्वनाथ कविराज का मम्मट-खण्डन-संरम्भ कुछ ऐसा उग्र हो उठा कि गुण और अलंकार एक ही कक्षा में रख दिये गये और गुण और रीति दो पृथक् पृथक् तत्त्व के रूप में प्रतीत होने लगे! अस्तु, इस विषय का विचारविमर्श तो यथास्थान होगा ही। यहां इतना ही सही।

इति साहित्यदर्पणे······काव्यस्वरूपनिरूपणो नाम प्रथमः परिच्छेदः।



द्वितीयः परिच्छेदः

(वाक्य-विचार)

वाक्यस्वरूपमाह—

वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ।

(वाक्यरूप पदसमूह की विशेषता–योग्यता आदि)

योग्यता पदार्थानां परस्परसंबन्धे बाधाभावः । पदोच्चयस्यैतदभावेऽपि वाक्यत्वे 'वह्निना सिञ्चति' इत्याद्यपि वाक्यं स्यात् । आकाङ्क्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः । स च श्रोतुर्जिज्ञासारूपः । निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वे 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादीनामपि वाक्यत्वं स्यात् । आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः । बुद्धिविच्छेदेऽपि

अनुवाद—('वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'–इस काव्य-लक्षण की प्रतिपद परीक्षा की दृष्टि से, सर्वप्रथम) अब 'वाक्य क्या है ?' इसका विचार किया जा रहा है—

'वाक्य' ऐसे पदों का समूह है जिसमें योग्यता, आकाङ्क्षा और आसत्ति का रहना अनिवार्य है ।

वाक्यरूप पदसमूह की विशेषताओं में 'योग्यता' वह विशेषता है जिसे पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में किसी बाध अथवा विरोध (अनुपपत्ति) का अभाव कहा जाता है । यदि इस विशेषता के अभाव में भी पदसमूह 'वाक्य' होने लगे तब तो ऐसे भी पदसमूह जैसे कि 'वह्निना सिञ्चति' (आग से सींच रहा है) आदि (जहाँ आग और सींचना इन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में विरोध ही सर्वानुभवसिद्ध है) वाक्य बनने लगेंगे ! वाक्यरूप पदोच्चय की दूसरी विशेषता है 'आकाङ्क्षा' अर्थात् एक-एक पदों के अर्थ की प्रतीति में अभिप्रेत-प्रतीति की समाप्ति का अभाव एक पदार्थ की प्रतीति में अभिप्रेत-प्रतीति की समाप्ति का जो अभाव है वह वस्तुतः श्रोता की एक जिज्ञासा है जो कि एक पद से अन्वित दूसरे पद को ढूँढा करती है क्योंकि यदि परस्पर निराकाङ्क्ष अर्थ वाले भी पदसमूह वाक्य माने जाने लगे तब तो ऐसे भी पदसमूह जैसे कि 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' (गौ, अश्व, पुरुष, हाथी) आदि (जहाँ किसी भी पद का अर्थ किसी दूसरे पद के अर्थ की आकाङ्क्षा रखता नहीं प्रतीत हो रहा और प्रत्येक पद पूर्णतया अपने आप में ही समाप्त है) वाक्य होने लगेंगे ! वाक्यरूप पदकदम्ब की तीसरी जो विशेषता है वह 'आसक्ति' है । आसत्ति क्या है ? 'आसत्ति' है किसी अभिप्राय के उपस्थापक पदार्थों की अविच्छिन्न अथवा अव्यवहित उपस्थिति । यदि किसी अभिप्राय के उपस्थापक पदार्थों की विच्छिन्न अथवा व्यवहित उपस्थिति में भी कोई पदोच्चय वाक्य कहा जाने लगे तब तो अभी बोले गये 'देवदत्तः' (देवदत्त) पद और दूसरे दिन बोले गये 'गच्छति' (जाता है) पद का मिलाव भी वाक्य ही बनने लगे !

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि 'आकाङ्क्षा' और 'योग्यता' को वाक्यरूप पदोच्चय अथवा पदसमूह का जो धर्म बताया गया है वह मुख्यरूप से नहीं अपितु औपचारिक रूप से ही बताया गया है । क्यों ? इसलिये कि 'आकाङ्क्षा' । अथवा एक पद से अन्वित होनेवाले दूसरे पद के ज्ञान की स्वाभाविक इच्छा तो वस्तुतः श्रोता का धर्म है न कि पद का । इसी प्रकार 'योग्यता' भी पद-धर्म नहीं किन्तु पदार्थ-धर्म ही है क्योंकि

वाक्यत्वे इदानीमुच्चारितस्य देवदत्तशब्दस्य दिनान्तरोच्चारितेन गच्छतीति पदेन सङ्गतिः स्यात्। अत्राकाङ्क्षायोग्यतयोरात्मार्थधर्मत्वेऽपि पदोच्चयधर्मत्वमुपचारात्।

उपपत्ति का सद्भाव अथवा असद्भाव पदों से नहीं अपितु पदार्थों से सम्बद्ध रह सकता है। किन्तु जब कि उपचार का आश्रय लिया जाय तब तो यह कहा ही जा सकता है कि आकाङ्क्षा और योग्यता वाक्यरूप पदोच्चय-धर्म हैं। 'आकाङ्क्षा' तो इसलिये वाक्यरूप पदोच्चय धर्म है क्योंकि आकाङ्क्षा और पदोच्चय में परम्परया जन्य-जनकभाव सम्बन्ध रहा करता है (अर्थात् 'आकाङ्क्षा' और 'वाक्यार्थ' और वाक्यार्थ 'पदोच्चय' में जब साक्षात् जन्यजनक-भाव सम्बन्ध है तब आकाङ्क्षा और पदोच्चय में तो यह परम्परया रहेगा ही)। इसी प्रकार 'योग्यता' को वाक्यरूप पदोच्चय-धर्म इसलिये माना जाया करता है क्योंकि 'योग्यता' और 'पदार्थ' तथा 'पदार्थ' और 'पदोच्चय' में जब साक्षात् आश्रयाश्रयिभाव-सम्बन्ध है तब 'योग्यता' और 'पदोच्चय' में तो इसे परम्परया मानना ही चाहिये।

विमर्श—(क) 'रसात्मक वाक्य 'काव्य' है'—इस काव्य-परिभाषा के समीक्षण में विश्वनाथ कविराज ने 'वाक्य' का जो स्वरूप निर्दिष्ट किया है वह पदवाक्यप्रमाणवित् आचार्यों द्वारा प्रमाणित है। 'अभिधित्सित अर्थ के गुम्फन करने वाले पदों का सन्दर्भ वाक्य है'–राजशेखर–काव्यमीमांसा। **(पदानामभिधित्सितार्थग्रन्थनाकरः संदर्भो वाक्यम्)** यह वाक्य का एक सरल स्वरूप–निरूपण है। पदों के द्वारा अभिधित्सित (जिसके प्रतिपादन की इच्छा हो, ऐसे) अर्थ का गुम्फन किन-किन बातों की अपेक्षा किया करता है—यह विचार मनोविज्ञान और तर्क और भाषाविज्ञान–तीनों का विषय है। मनोविज्ञान की दृष्टि 'आकाङ्क्षा'–तत्त्व का दर्शन करती है, तर्क के द्वारा 'योग्यता' का निर्धारण होता है और भाषाविज्ञान 'आसत्ति' की उपादेयता पर जोर देता है। इस प्रकार 'आकाङ्क्षा', 'योग्यता' और 'आसत्ति' की विशेषतायें ही अभिधित्सित अर्थ के गुम्फन करने वाले पद-सन्दर्भ की विशेषताओं के रूप में स्वीकार की गयी हैं।

(ख) 'आकाङ्क्षा', 'योग्यता' और 'आसत्ति'– ये तीनों ही उपचारतः वाक्यरूप पदोच्चय-धर्म माने जाया करते हैं किन्तु यदि मीमांसक 'आकाङ्क्षा' को प्रथम स्थान देते हैं तो नैयायिक 'योग्यता' को और वैयाकरण 'आसत्ति' को। विश्वनाथ कविराज ने नैयायिक मान्यता का अनुसरण करते हुए 'योग्यता' का प्राथम्य माना है। **'योग्यता'** क्या है? योग्यता है–एक पद के अर्थ के साथ दूसरे पद के अर्थ का सम्बन्ध—**'एकपदार्थेऽपरपदार्थसम्बन्धो योग्यता'** (सिद्धान्त-मुक्तावली : शब्दखण्ड का० ८३) अथवा 'योग्यता' वह धर्म है जिसके द्वारा एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ अन्वय (सम्बन्ध) सम्भव है—**'योग्यता परस्परान्वयप्रयोजकधर्मवत्त्वम्। तेन पयसा सिञ्चतीति वाक्यं योग्यम्। अस्ति च सेकान्वयप्रयोजकद्रवद्रव्यत्वं योग्यता जले कारणत्वेन जलान्वयप्रयोजकार्द्रीकरणत्वं योग्यता सेकक्रियायाम्। अत एव वह्निना सिञ्चतीति वाक्यमयोग्यम्। वह्नेः सेकान्वयप्रयोजकद्रवद्रव्यत्वाभावात्'**।

(परमलघुमञ्जूषा पृ० २९)

अर्थात् 'योग्यता' पदों के द्वारा उपस्थापित अर्थों का वह धर्म है जो उनके परस्पर अन्वय अथवा सम्बन्ध का प्रयोजक हुआ करता है। वस्तुतः इसी धर्म के कारण यह सम्भव है कि **'पयसा सिञ्चति'** यह पदसमूह तो 'वाक्य' हो सकता है किन्तु **'अग्निना सिञ्चति'** इत्यादि सरीखे पदोच्चय 'वाक्य' नहीं हो सकते। 'पयस्' इस पद के अर्थ (जलरूप द्रव्य) में एक योग्यता है और वह है जलरूप द्रव्य का 'द्रवत्व' जो कि सींचने की क्रिया के साथ इसके अन्वय अथवा सम्बन्ध का स्वभावतः प्रयोजक है। इसी प्रकार 'सिञ्चति' पद के अर्थ अर्थात् सिञ्चन की क्रिया में

भी एक योग्यता हैं और वह है उसका (सेकक्रिया का) किसी वस्तु को आर्द्र करना अथवा भिगोना जो कि अपने साथ जलरूप द्रवद्रव्य को अपने करण (साधकतम) रूप से अन्वित करने में अनायास समर्थ है। इससे यह स्पष्ट है कि वे ही पदोच्चय, जैसे कि **'पयसा सिञ्चति'** आदि, जो योग्य हैं (अर्थात् ऐसे पदार्थों के उपस्थापक हैं जिनमें परस्पर अन्वित अथवा सम्बद्ध होने का सामर्थ्य है) 'वाक्य' कहे जा सकते हैं और ऐसे पदोच्चय जैसे कि **'वह्निना सिञ्चति'** आदि, जिनके पदार्थों में परस्परान्वय का प्रयोजक कोई धर्म नहीं—क्योंकि आग है एक तैजस पदार्थ और सेचन की क्रिया का अन्वय संभव है ऐसे पदार्थ से जो 'द्रव' रूप हो! अयोग्य होने से 'वाक्य' नहीं कहे जा सकते। यह 'योग्यता' यद्यपि अर्थधर्म है किन्तु इसे पदोच्चय-धर्म माना जा सकता है और ऐसा मानना उपचार का ही आश्रय लेना है। अर्थ और योग्यता का साक्षात् सम्बन्ध है जिससे यह सिद्ध हैं कि पद और योग्यता परम्पराया सम्बद्ध है।

'आकाङ्क्षा' का अभिप्राय है श्रोता की यह जिज्ञासा कि किस पद का अर्थ किस पद के अर्थ का स्मारक हैं। सिद्धान्तमुक्तावलीकार (शब्दप्रकरण का. ८४) ने आकाङ्क्षा की यह परिभाषा की हैं— **'येन पदेन विना यत्पदस्यान्वयाननुभावकत्वं तेन पदेन सह तस्याकांक्षेत्यर्थः। क्रियापदं विना कारकपदं नान्वयबोधं जनयतीति तेन तस्याकाङ्क्षा।'**

वाक्यरूप पदोच्चय में 'आकाङ्क्षा' का होना आवश्यक है और वस्तुतः स्वाभाविक भी है। एक पद दूसरे पद की आकाङ्क्षा किया करता है क्योंकि विना उसके उसके अर्थ का स्मरण क्योंकर हो। जैसे किसी ने कहा–'घटमानय' यहाँ 'घटम्' यह कर्मकारक पद 'आनय' इस क्रियापद के विना किसी प्रकार का अन्वयबोध नहीं करा सकता। इसलिये यह स्पष्ट है कि 'घटम्' पद को 'आनय' पद की आकाङ्क्षा है और 'आनय' पद को 'घटम्' पद की। वस्तुतः तो यह आकाङ्क्षा श्रोता की जिज्ञासा है जिसका विषय पदों की परस्पर अर्थस्मारकता है। किसी वाक्य में एक पद दूसरे पद की आकाङ्क्षा रखा करता है—इसका वस्तुतः तात्पर्य यही है कि वाक्यवर्ती पद परस्पर साकाङ्क्ष अर्थ के बोधक हैं। महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने इसीलिये कहा है—

'परस्परव्यपेक्षां सामर्थ्यमेके। का पुनः शब्दयोर्व्यपेक्षा ?
न ब्रूमश्शब्दयोरिति किं तर्हि अर्थयोरिति।' (महाभाष्यः समर्थसूत्रभाष्य)

महावैयाकरण नागेशभट्ट ने आकाङ्क्षा' का उपर्युक्त भाष्यसम्मत अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है–

'वाक्यसमयग्राहिका आकाङ्क्षा। साचैकपदार्थज्ञाने तदर्थान्वययोग्यार्थस्य यज्ज्ञानं तद्विषयेच्छा 'अस्यान्वय्यर्थः कः' इत्येवंरूपा पुरुषनिष्ठैव, तथापि तस्याः स्वविषयेऽर्थे आरोपः। अयमर्थोऽर्थान्तरमाकाङ्क्षति इति व्यवहारात्। इदमेवाभिधानापर्यवसानमित्युच्यते—(परमलघुमञ्जूषा)'

अर्थात् 'आकांक्षा' श्रोता की वह इच्छा है जिसका विषय किसी एक पद के अर्थज्ञान में उससे सम्बद्ध किसी दूसरे पद का अर्थज्ञान है। वस्तुतः आकांक्षा ही वह सर्वप्रथम तत्त्व है जिससे कोई पदसमूह वाक्यरूप में पहचाना जाया करता है। इस अर्थ से अन्वित होने वाला अर्थ कौन है—यह जिज्ञासा तो श्रोता के मन की बात है किन्तु अर्थ पर इसका आरोप इसलिये कर दिया जाया करता है क्योंकि अर्थ ही यहाँ वक्ता की जिज्ञासा का विषय है। पदोपस्थापित अर्थों की परस्पर आकांक्षा को ही पदार्थप्रतीति का अपर्यवसान भी कह सकते हैं।

'पयसा 'सिञ्चति'—यह पदसमूह सर्वप्रथम इसीलिये वाक्य है क्योंकि यहाँ 'आकांक्षा' है क्योंकि इसका जो भी श्रोता है वह 'पयसा' इस पद के सुन लेने के बाद 'सिञ्चति' इस पद के सुनने की इच्छा रखा करता है और 'सिञ्चति' इस पद के सुनने पर 'पयसा' इस पद के सुनने अथवा स्मरण करने का इच्छुक हुआ करता है। इन दोनों पदों में साध्य-साधन भावरूप सम्बन्ध है और इसीलिये ये पद परस्पर साकांक्ष है और वाक्यरूप हैं।

आकांक्षा श्रोतृधर्म होने पर भी पदधर्म है—इस सम्बन्ध में 'तर्कभाषा' की यह युक्ति ध्यान देने योग्य है—

'...पदानि न साकांक्षाणि किंत्वर्थाः, फलादीनामाधेयानां तीराद्याधाराकांक्षितत्वात्। न च विचार्यमाणे अर्था अपि साकांक्षाः। आकाङ्क्षाया इच्छात्मकत्वेन चेतनधर्मत्वात्। सत्यम्। अर्थास्तावत् स्वपदश्रोतुरन्योन्यविषयाकांक्षाजनकत्वेन साकांक्षा उच्यन्ते। तद्द्वारेण तत्प्रतिपादकानि पदान्यपि साकांक्षाणीत्युपचर्यन्ते। एवमर्थाः सकांक्षाः परस्परान्वययोग्याः। तद्द्वारा पदान्यपि योग्यानीत्युपचर्यन्ते।'

अर्थात् पद क्योंकर साकांक्ष होने लगे? ये तो पदोपस्थापित अर्थ हैं जो साकांक्ष हो सकते हैं। किन्तु विचार करने पर अर्थ भी साकांक्ष नहीं दिखायी देते! 'आकांक्षा' तो एक प्रकार की इच्छा है और इच्छा है चेतनधर्म! तब भी उपचारतः अर्थों को परस्पर साकांक्ष कहा जा सकता है क्योंकि ये तो अर्थ ही हैं जो कि अपने-अपने उपस्थापक पदों के श्रोता के मनमें अपने परस्परान्वय की आकांक्षा उत्पन्न किया करते हैं। इसी प्रकार परस्पर साकांक्ष अर्थोंके उपस्थापक पदों को भी यदि साकांक्ष कहा जाया करे तो आपत्ति क्या है? यहाँ भी उपचार-दृष्टि उचित ही है और युक्तियुक्त भी है। इसी प्रकार परस्पर साकांक्ष अर्थ ही परस्पर सम्बन्ध-योग्य हो सकते हैं और इसलिये योग्यता भी अर्थगत ही हुआ करती है किन्तु परस्पर योग्य-अर्थों के प्रतिपादक पदों को भी उपचारतः 'योग्य' कहना ठीक ही है।

'आसत्ति'—को भी वाक्यार्थबोध का एक आवश्यक उपाय माना गया है और इसीलिये इसे वाक्यरूप पदोच्चय में समन्वित धर्म कहा गया है। 'आसत्ति' का अभिप्राय है **'बुद्ध्यविच्छेद'** अर्थात् श्रोता में पदप्रतीति का अविच्छिन्न प्रवाह। पदप्रतीति के प्रवाह की विच्छिन्नता दो कारणों से सम्भव है—(१) कालव्यवधान और (२) अन्वयानुपयुक्त पदान्तरव्यवधान। 'कालव्यवधान' का उदाहरण तो साहित्यदर्पणकार ने दे ही दिया है और वह है आज उच्चरित **'देवदत्तः'** पद का कल उच्चरित **'गच्छति'** पद से संगति का अभाव। **'अन्वयानुपयुक्तपदान्तरव्यवधान'** के उदाहरण के रूप में **'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन'** आदि पदोच्चय वैयाकरणों किंवा नैयायिकों द्वारा दिये गये हैं जहाँ **'गिरिः'** और **'अग्निमान्'** के बीच **'भुक्तम्'** इस अन्वयायोग्य पद के व्यवधान तथा **'भुक्तम्'** और **'देवदत्तेन'** के बीच **'अग्निमान्'** इस अनन्वयी (सम्बन्ध के अयोग्य) पद के व्यवधान में शाब्दबोध का होना असम्भव माना गया है। महावैयाकरण नागेशभट्ट ने 'आसत्ति' का यही लक्षण किया है—

'प्रकृतान्वयबोधानुकूलपदाव्यवधानमासत्तिः। गिरिरग्निमानित्यासन्नम्। अनासन्नं च गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेनेति। (परमलघुमञ्जूषा)'

अर्थात् प्रकृत अन्वयबोध के प्रतिकूल पद का अव्यवधान ही 'आसत्ति है। जैसे कि **'गिरिरग्निमान्'** अथवा **'भुक्तं देवदत्तेन'** आदि पदोच्चय में 'आसत्ति' स्पष्ट दिखाई देती है। इस 'आसत्ति' से ही ये पदोच्चय वाक्य हैं क्योंकि इसीसे इनका शाब्दबोध अनायास हुआ करता है। जहाँ 'आसत्ति' नहीं हुआ करती जैसे कि **'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन'** आदि सरीखे पदोच्चयों में, वहाँ शाब्दबोध भी नहीं हुआ करता और न वाक्य की रूपरेखा ही रहा करती है।

सिद्धान्तमुक्तावलीकार ने भी 'आसत्ति' का यही आशय प्रकट किया है—**'यत्पदार्थेन यत्पदार्थस्यान्वयोऽपेक्षितस्तयोरव्यवधानेनोपस्थितिः शाब्दबोधे कारणम् तेन 'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन' इत्यादौ न शाब्दबोधः—(शब्दप्रकरणः का० ८२)'**

अर्थात् 'आसत्ति' शाब्दबोध का एक आवश्यक कारण है और 'आसत्ति' है परस्पर अन्वययोग्य पदार्थों की (और इसीलिये पदों की) अव्यवहित उपस्थिति। यदि कहीं परस्पर सम्बन्ध

शील पदार्थों की उपस्थिति में किसी प्रकार की विघ्नबाधा पड़ जाय तब न तो वहाँ वाक्यार्थ बोध हो सके और न वाक्य ही बन पाय।

(ग) साहित्यदर्पणकार ने वाक्य की उपर्युक्त मीमांसा में काव्यप्रकाशकार के 'शब्दार्थौ' (**तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि**-काव्यप्रकाश १.१)-इस लक्षण-खण्ड की ही वस्तुतः आलोचना की है। मम्मट ने 'दोषरहित, गुणसहित, अलङ्कृत किंवा यथास्थान अनलङ्कृत शब्दार्थयुगल' को काव्य स्वीकार किया था। मम्मट ने यह नहीं कहा था कि 'दोषरहित, गुणसहित, अलङ्कृत किंवा यथास्थान अनलङ्कृत वाक्य' काव्य है। विशिष्ट 'वाक्य' के बदले विशिष्ट शब्दार्थयुगल (शब्दार्थौ) को 'काव्य' मानने में आचार्य मम्मट का सर्वप्रथम उद्देश्य 'साहित्य' में 'काव्य' की सीमा का विभाजन है। अलङ्कारशास्त्र के आरम्भ-युग से ही काव्य को 'शब्दार्थसाहित्य' (**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**—भामहः काव्यालंकार १.) कहा जा रहा था। मम्मट को काव्य की यह परिभाषा 'अव्याप्ति' दोष से दूषित लगी। इस के निराकरण के लिये मम्मट ने 'विशिष्ट शब्दार्थसाहित्य काव्य है'. यह काव्यलक्षण प्रवर्त्तित किया। साहित्यदर्पणकार भी वाक्य को काव्य नहीं मानते। उनके लिये भी एक विशिष्ट वाक्य ही काव्य है। किन्तु उन्होंने 'विशिष्ट शब्दार्थयुगल' में काव्य की मान्यता के बदले 'विशिष्टवाक्य' (रसात्मकवाक्य) में काव्य की मान्यता पर जो बल दिया-वह एक नयी बात है। इस का क्या रहस्य? इसका एकमात्र रहस्य यही प्रतीत होता है कि साहित्यदर्पणकार ने रस को शरीरी मानकर उसके शरीर के रूप में 'वाक्य' की स्थापना की है। 'रस काव्य की आत्मा है'—यह तो रसध्वनिवाद का बीजमन्त्र है जिसमें यह स्पष्ट है कि 'रस' और 'काव्य' में शरीर-शरीरिभाव का दर्शन किया गया है। किन्तु साहित्यदर्पणकार ने 'रस' और 'वाक्य' में ही शरीरात्मभाव की सिद्धि और साधना के सिद्धान्त का जो प्रतिपादन किया है वह एक विचित्र बात है। यदि वाक्य-शरीर और रसरूप आत्मतत्त्व का सम्बन्ध एक अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध है—क्योंकि यहाँ और किसी प्रकार का सम्बन्ध मानना तो अर्थ का ही अनर्थ करना होगा—तब तो यही परिणाम निकलता है कि जो भी योग्यता-आकांक्षा-किंवा आसत्ति-युक्त पदोच्चय होगा—क्योंकि आकांक्षादि विशिष्ट पदोच्चय को ही तो 'वाक्य' कहा गया है-वह अवश्य ही आत्मतत्त्व का अधिष्ठान होगा। किन्तु ऐसे वाक्य का कविकला से क्या संबन्ध? वागव्यवहार में जो भी पदोच्चय प्रयुक्त होते हैं आकांक्षादि विशिष्ट ही होते हैं और वाक्य रूप में ही रहा करते हैं। किन्तु ऐसे पदोच्चयों में रसरूप आत्मतत्त्व कहाँ रहा करता है! मम्मट की काव्य-परिभाषा तो काव्यात्मभूत रस को शब्दार्थयुगलरूप काव्य-शरीर की विशिष्टता के रूप में भी सोचना अनुचित समझती है और इसीलिये अदोषता-सगुणता और अलंकृतता की विशेषताओं को ही शब्दार्थशरीर की विशेषता के रूप में निर्धारित किया करती है। साहित्यदर्पणकार के लिये आकांक्षा-योग्यता और आसत्ति की ही विशेषतायें वाक्य की विशेषता के रूप में बच जाती हैं क्योंकि आत्मस्थानीय रस को तो वाक्य की विशेषता कहना ठीक नहीं लगता!

(घ.) साथ ही साथ यहाँ एक और भी बात ध्यान देने की है और वह यह है कि **'शब्दार्थौ'** अथवा **'सम्पृक्तौ वागर्थौ** (कालिदासः रघुवंश १.१) के सम्बन्ध में तो शंका का कोई आतंक कहीं से नहीं दिखायी देता किन्तु 'वाक्य' के सम्बन्ध में भारतीय अथवा विदेशीय विचारक अभी तक एकमत नहीं हो पाये। 'वाक्य' रूप तत्व की अविश्लेषणीयता न्यायमञ्जरीकार आचार्य जयन्तभट्ट के मुँह से सुनिये—

तत्र चेयं कल्पना-वर्णक्रमेण तावत् प्रथमपदज्ञानं ततः संकेतस्मरणं संस्कारश्च युगपद् भवतः, ज्ञानयोर्हि यौगपद्यं शास्त्रे प्रतिषिद्धं न संस्कारज्ञानयोः, ततः पदार्थज्ञानं तेनापि संस्कारः, पुनर्वर्णक्रमेण द्वितीयपदज्ञानं ततः संकेतस्मरणं पूर्वसंस्कारसहितेन च तेन पटु-

(महावाक्य का स्वरूप-निरूपण)

वाक्योच्चयो महावाक्यम्—

(वाक्योच्चयरूप महावाक्य की विशेषता)

योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्त इत्येव ।

तरः संस्कारः पुनः पूर्ववर्णक्रमेण तृतीयपदज्ञानं संकेतस्मरणं पूर्वसंस्कारापेक्षः पटुतरः संस्कार इत्येवं पदज्ञानजनिते पीवरे संस्कारे पदार्थज्ञानजनिते च तादृशि संस्कारे स्थितेऽन्त्यपदार्थज्ञानानन्तरं पदसंस्कारात् सर्वपदविषयस्मृतिः पदार्थसंस्काराच्च पदार्थविषया स्मृतिरिति संस्कारक्रमात् क्रमेण द्वे स्मृती भवतः,तत्रैकस्यां स्मृतावुपारूढः पदसमूहो वाक्यमितरस्यामुपारूढः पदार्थसमूहो वाक्यार्थः ।.........अथवा कृतं स्मरणकल्पनया, अन्त्यपदार्थज्ञानानन्तरं सकलपदार्थविषयो मानसोऽनुव्यवसायःशतादिप्रत्ययस्थानीयो भविष्यति, तदुपारूढानि पदानि वाक्यं तदुपारूढश्च पदार्थो वाक्यार्थः, तथाविधश्च मानसोऽनुव्यवसायः सकललोकसाक्षित्वादप्रत्ययाख्येयः,...........इत्थं स्मर्यमाणारूढं संकलनाज्ञानविषयीभूतं चेदं पदनिकुरम्बं वाक्यं तथाविधश्चैव वाक्यार्थः । (न्यायमञ्जरी-पृष्ठ ३६३, ३६४) अर्थात् जिसे 'वाक्य' कहते हैं वह एक इस प्रकार का पदनिकुरम्ब (पद समूह) है जिसमें अन्तिम पद तो अनुभव का विषय रहा करता है और उसके पूर्ववर्ती समस्त पद स्मृति-कोष से निकला करते हैं। अथवा 'वाक्य' के सम्बन्ध में यही मानना ठीक है कि वह एक ऐसा पदकदम्ब है जिसमें अन्तिम पद का अनुव्यवसाय (मानस प्रत्यक्ष) समस्त पूर्ववर्त्ती पक्षों का भी संग्रह कर लिया करता है ।

इसी प्रकार पाश्चात्य विचारक भी वाक्य का विश्लेषण अशक्य ही मानते हैं—

'Grammarians, philosophers and psychologists for the past two thousand years have been unable to agree upon the definition of the sentence. The reason for this lies in part in the complexity and variability of the language processes. Just as protoplasm assumes innumerable forms and is continuously undergoing change as long as it is living, so those vital processes, which we call language, being the manifestations of that same protoplasm and being equally protean in their transformations, defy the efforts of the philologist to reduce them to fixed and rigid formulas, and like protoplasm, they lose their identity when killed and sliced with the mental microtone. They are there like a microscopic preparation, stained beyond recognition by philological theories and methods-Pillsbury : The Psychology of Language (Page 254-55)'

इस उपर्युक्त विचार-विमर्श से तो यही सिद्ध है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की अपेक्षा 'रसात्मकं शब्दार्थनिकुरम्बं काव्यम्' कहना अधिक उचित है क्योंकि 'वाक्य' का विश्लेषण भले ही अभी तक अपूर्ण हो और संभवतः ऐसा ही रह भी जाय, 'शब्दार्थ निकुरम्ब' (शब्दार्थों) के सम्बन्ध में तो कोई सन्दिग्धता नहीं दिखायी देती ।

अनुवाद—'महावाक्य' वह है जो कि वाक्यों का उच्चय अथवा समूह हुआ करता है। जैसे योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त पद समूह ही 'वाक्य' हो सकता है वैसे

(वाक्य-द्वैविध्य)

इत्थं वाक्यं द्विधा मतम् ॥ १ ॥

इत्थमिति वाक्यत्वेन महावाक्यत्वेन च ।

(वाक्य-द्वैविध्य की प्रामाणिकता)

उक्तं च तन्त्रवार्तिके—

'स्वार्थबोधसमाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया ।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते ॥' इति ।

(वाक्य-द्वैविध्य का उदाहरण)

तत्र वाक्यं यथा—'शून्यं वासगृहम्-' इत्यादि (२६ पृ०) । महावाक्यं यथा-रामायण-महाभारत-रघुवंशादि ।

पदोच्चयो वाक्यमित्युक्तम् ।

ही वही वाक्यसमूह 'महावाक्य' हो सकता है जो योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त हो ।

इस प्रकार 'वाक्य' के दो भेद स्पष्ट हैं। यहाँ 'इत्थम्'-(इस प्रकार से) का अभिप्राय है-'वाक्य रूप से और महावाक्य रूप से' वाक्य के द्वैविध्य का ।

'वाक्य' और 'महावाक्य' के सम्बन्ध में प्राचीनाचार्यों की यह उक्ति प्रमाण है—

'अपने अपने अर्थबोधन में समाप्त (आकांक्षादि विशिष्ट) वे सभी पद-सन्दर्भ रूप 'वाक्य' जब परस्पर अङ्गाङ्गि भाव-सम्बन्ध से संबद्ध हो जाया करते हैं तब 'एक वाक्य' अथवा 'महावाक्य' रूप में दिखायी दिया करते हैं ।'

'वाक्य' के उदाहरण के रूप में 'शून्यं वासगृहम्' आदि श्लोकवाक्य देखे जा सकते हैं और 'महावाक्य' के उदाहरण तो रामायण, महाभारत, रघुवंश आदि महाकाव्य हैं ही ।

विमर्श—रसात्मक वाक्य को काव्य मानने वाले काव्याचार्य के लिये मीमांसक के 'एकवाक्यत्व-' सिद्धान्त का ध्यान रखना स्वाभाविक ही है। 'एकवाक्यता' का मीमांसा-सिद्धान्त मन्त्र-ब्राह्मणात्मक शब्दराशिरूप वेद में 'धर्म' रूप परमार्थतत्व की सिद्धि के लिये प्रवर्तित हुआ था । कविराज विश्वनाथ ने काव्यरूप शब्दार्थ राशि में 'एकवाक्यता' का इसीलिये संकेत कर दिया है जिसमें 'रस' रूप काव्यार्थतत्व की सिद्धि में संदेह न रह जाय । काव्यवाक्य किंवा महाकाव्यरूप महावाक्य में 'एकवाक्यता' की सत्ता एकप्रकार से ध्वनि दार्शनिक आचार्यों ने भी मान रखी है । आनन्दवर्धनाचार्य की यह उक्ति—

'रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूचितः 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येवंवादिना । निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगं पर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता । महाभारतेऽपि शास्त्ररूपे काव्यच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डवविरसावसानवैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबन्धता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षा विषयत्वेन सूचिता ।' (ध्वन्यालोक : उद्योत ४ र्थ) वस्तुतः काव्य की 'एकवाक्यता' का एक सूक्ष्म सूचना है । किन्तु एक बात यहाँ अवश्य ध्यान देने की है और वह यह है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने जिस 'एकवाक्यता' का यहाँ संकेत किया है वह काव्याचार्यों की मान्यता की एकवाक्यता है किन्तु विश्वनाथ कविराज ने जिस

(वाक्यस्वरूप निरूपक पद्योच्चय का विश्लेषण)

तत्र किं पदलक्षणमित्यत आह—

वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः ।

यथा—घटः । प्रयोगार्हेति प्रातिपदिकस्य व्यवच्छेदः । अनन्वितेति वाक्य-महावाक्ययोः । एकेति साकाङ्क्षानेकपदवाक्यानाम् । अर्थबोधका इति कचटत-पेत्यादीनाम् । वर्णा इति बहुवचनमविवक्षितम् ।

'एकवाक्यता' का प्रतिपादन किया है वह मीमांसाचार्यों की 'एकवाक्यता' है। आनन्दवर्धनाचार्य की दृष्टि तो रसों के अङ्गाङ्गिभाव में महाकाव्यों की 'एकवाक्यता' का दर्शन करती है किन्तु विश्वनाथ कविराज ने आकांक्षादियुक्त पदोच्चयों और वाक्योच्चयों के अङ्गाङ्गिभाव में ही काव्य-वाक्य और महाकाव्यरूप महावाक्य को 'एकवाक्य' मान लिया है।

अनुवाद—पहले यह बताया जा चुका है कि पद-सन्दर्भ 'वाक्य' है किन्तु जिसका सन्दर्भ वाक्य है उसका अर्थात् 'पद' का स्वरूप क्या है ? इसका बताना आवश्यक है। इसलिये 'पद' का लक्षण किया जा रहा है—

'पद' वे वर्ण हैं जो प्रयोग-योग्य हुआ करते हैं और किसी एक अनन्वित (किसी दूसरे पद के अर्थ से जिसका सम्बन्ध न हो, ऐसे) अर्थ के बोधक हुआ करते हैं।

उदाहरण के लिये, 'घटः' (घड़ा) यह वर्ण-समुदाय (जो कि प्रयोग के योग्य है और एक अनन्वित अर्थ का अवबोधक है) पद है। यहाँ (कारिका में, वर्णों के) 'प्रयोगार्ह'-'प्रयोगयोग्य' कहने का अभिप्राय यह है कि प्रातिपादिक को-प्रत्ययरहित प्रकृति मात्र को-(जैसे कि 'घट' इस वर्ण-समुदाय को) पद न मान लिया जाय, 'अनन्वित अर्थ के बोधक' कहने का जो तात्पर्य है वह यह है कि 'वाक्य' और महावाक्य' को (जो कि परस्पर अन्वित अर्थ के अवबोधक पद-समुदाय हैं) 'पद' न समझ लिया जाय और 'एक अर्थ के बोधक' कहने का प्रयोजन यह है कि परस्पर साकांक्ष पद-समूह (जो कि अनेक अर्थ के अवबोध कराने वाले हुआ करते हैं) 'पद' के रूप में न देख लिये जाँय। साथ ही साथ 'अर्थबोधक' वर्णों को ही जो 'पद' कहा गया है वह इसीलिये जिसमें क, च, ट, त, प इत्यादि निरर्थक वर्ण पद की श्रेणी से बाहर गिने जाँय। यहाँ (कारिका में) 'वर्णाः' इस बहुवचन का अभिप्राय, अर्थात् वर्ण-बाहुल्य विवक्षित नहीं (क्योंकि प्रयोग-योग्य किंवा एक अनन्वित अर्थ के बोधक एक या दो भी वर्ण पद हुआ करते हैं)।

विमर्श—यह पद-विचार इस बात का प्रमाण है कि साहित्यदर्पणकार को शब्द-दार्शनिकों का स्फोटवाद अभिप्रेत नहीं जिसके अनुसार वर्णों को पद नहीं माना जाया करता अपितु वर्ण और पद में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव की कल्पना की जाती है। साहित्यदर्पणकार की दृष्टि में 'पद' का जो स्वरूप है वह मीमांसा-दर्शनकारों का निर्धारित स्वरूप है। मीमांसक वर्ण समुदाय को वाचक मानते हैं जैसा कि महामीमांसक कुमारिल स्वामी का कथन है—

'द्वये सत्यपि तेनात्र विज्ञेयोऽर्थस्य वाचकः ।
वर्णाः किंतु क्रमोपेताः किंतु वर्णाश्रयः क्रमः ॥

(अर्थ-प्रकार-निरूपण)

अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्ग्यश्चेति त्रिधा मतः ॥ २ ॥

(त्रिविध अर्थ का स्वरूप-विचार)

एषां स्वरूपमाह—

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः ।
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः ॥ ३ ॥

ता अभिधाद्याः ।

क्रमः क्रमवताभङ्गमिति किं युक्तिसाध्यता ।
धर्ममात्रमसौ तेषां न वस्त्वन्तरमिष्यते ॥'

(श्लोकवार्तिक : शब्दनित्यताधिकरण २६५-२६६)

अर्थात् 'स्फोट की कल्पना तो निरर्थक ही है। वर्णसमुदाय ही पद है। यहाँ क्रमविशिष्ट वर्ण वाचक हैं या वर्णक्रम वाचक है—ये दो सम्भावनाएँ भले ही होतीं रहें किन्तु वस्तुतः जो बात है वह यही है कि क्रमविशिष्ट वर्ण भी वाचक हैं क्योंकि जो वर्णक्रम है वह कोई वर्ण-भिन्न वस्तु नहीं अपितु एक प्रकार का वर्णधर्म है।

अथवा—

विश्वनाथ कविराज की इस पद-मीमांसा पर नैयायिकों के पद-विचार का प्रभाव देखा जा सकता है। नैयायिक भी स्फोटवाद को नहीं मानते क्योंकि उनके अनुसार भी वर्ण ही वाचक हैं जैसा कि न्यायमञ्जरीकार ने स्पष्ट कहा है—

'इति विततया वर्णा एते धिया विषयीकृतां
दधति पदतां वाक्यत्वं वा त एव च वाचकाः ।
न च तदपरः स्फोटः श्रोत्रे विभात्यवबोधने
न च विधिहतो वाच्ये बुद्धिं विधातुमसौ क्षमः ॥' (न्यायमञ्जरी, पृ० ३५५)

अनुवाद—(पद जिस 'अनन्वित एक अर्थ' के बोधक हुआ करते हैं वह) अर्थ तीन प्रकार का हुआ करता है—१ ला-वाच्यार्थ, २ रा-लक्ष्यार्थ और ३ रा-व्यङ्ग्यार्थ।

इन त्रिविध अर्थों के स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है—

इनमें 'वाच्य' अर्थ वह है जो अभिधा शक्ति द्वारा प्रतिपादित किया जाया करता है, 'लक्ष्य' अर्थ वह अर्थ है जो लक्षणाशक्ति द्वारा बोधित हुआ करता है और 'व्यङ्ग्य' अर्थ उसे कहते हैं जो व्यञ्जना शक्ति द्वारा अवगत किया जाया करता है। इस प्रकार शब्द की जो शक्तियाँ हैं वे भी तीन ही हुआ करती हैं।

यहाँ कारिका में 'ताः'-उन (शक्तियों) का अभिप्राय है शब्द की अभिधा आदि (अर्थात् लक्षणा और व्यञ्जना) शक्तियों का।

विमर्श—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना को विश्वनाथ कविराज ने शब्द की त्रिविध शक्तियाँ माना है। अन्य आचार्य इन्हें 'वृत्तियाँ' अथवा 'व्यापार' कहा करते हैं। महावैयाकरण नागेश भट्ट ने स्पष्ट कहा है—

'सा च वृत्तिस्त्रिधा शक्तिर्लक्षणा व्यञ्जना च'—(परमलघुमंजूषा)

अर्थात् शब्द की वृत्तियाँ तीन हैं—शक्ति (अभिधा), लक्षणा और व्यञ्जना। वस्तुतः शब्द-दर्शन

(अभिधा शक्ति-निरूपण)

तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा ।

के आचार्य 'शक्ति' को 'अभिधा वृत्ति' का ही पर्याय माना करते हैं जैसा कि वैयाकरण सिद्धान्त-मंजूषाकार का कथन है—

'शक्तिस्त्रिधा रूढिर्योगो योगरूढिश्च ।'

अर्थात् 'शक्ति' अथवा 'अभिधा' त्रिविध हुआ करती है—रूढ़ि, योग और योगरूढ़ि ।

'वृत्ति' के लिये 'व्यापार' शब्द का भी प्रयोग प्रचुर रूप से पाया जाता है । काव्यप्रकाशकार ने 'अभिधा व्यापार' का प्रयोग किया है—**'स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते'**–(काव्यप्रकाश, उल्लास २य) ।

अभिधादि को 'वृत्ति' अथवा 'व्यापार' के बदले 'शक्ति' कहने में विश्वनाथ कविराज का कुछ उद्देश्य-विशेष है ।

मीमांसाचार्यों ने शब्द और अर्थ में नित्य अथवा स्वाभाविक वाच्यवाचक भावरूप सम्बन्ध माना था और यह सिद्ध किया था कि पद में पदार्थप्रतिपादन की स्वाभाविक शक्ति है । आचार्य आनन्दवर्धन ने व्यञ्जना को पद-पदार्थ की औपाधिक शक्ति कहा था । शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ मानने वाले मीमांसक हैं । नैयायिकों का मीमांसकों से शक्ति की अतिरिक्त मान्यता पर पर्याप्त विवाद होता रहा है । आलङ्कारिकों ने इस विवाद से अपने आप को पृथक् रखते हुए 'व्यापार' 'वृत्ति' किंवा 'शक्ति' को समानार्थक माना । ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन ने 'अभिधा' को 'अभिधानशक्ति' किंवा 'व्यञ्जना' को 'अवगमनशक्ति' कहा है—

'न हि यैवाभिधानशक्तिः सैवावगमनशक्तिः ।' (ध्वन्यालोक-तृतीय उद्योत)

आचार्य अभिनव गुप्त भी अभिधादि को 'व्यापार' अथवा 'शक्ति' दोनों कहा करते हैं—

'त्रयो ह्यत्र व्यापाराः संवेद्यन्ते—पदार्थेषु सामान्यात्मस्वभिधाव्यापारः, समयापेक्षयार्थावगमनशक्तिर्ह्यभिधा' (ध्वन्यालोक लोचन, पृष्ठ ५६)

'तेन समयापेक्षा वाच्यावगमशक्तिरभिधाशक्तिः । तदन्यथानुपपत्तिसहायार्थावबोधनशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः । मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणाशक्तिः । तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः ।' (ध्वन्यालोक लोचन, पृष्ठ ६२)

इस प्रकार विश्वनाथ कविराज का अभिधादि को शक्ति कहना सर्वथा युक्तियुक्त है । 'अभिधा शक्ति है जिसका स्फुरण अभिधान है'–इत्यादि विचारधारा इसी बात को प्रमाणित करती है कि शब्द और अभिधादि शक्ति में शक्तिमान और शक्ति का सम्बन्ध है । इस 'शक्तिशक्तिमद्भाव' के ही कारण शब्द और अर्थ एक आत्मतत्त्व के अपृथक सिद्ध भाग हैं—

'यदन्तः शब्दतत्त्वं तु नादैरेकं प्रकाशितम् । तदाहुरपरे शब्दं तस्य वाक्ये तथैकता ॥
अर्थभागैस्तथा तेषामान्तरोऽर्थः प्रकाशते । एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ ॥'

(भर्तृहरिः, वाक्यपदीय)

अनुवाद—**इन त्रिविध शब्द-शक्तियों में 'अभिधा शक्ति' वह शक्ति है जिससे संकेतित (प्रसिद्ध) अर्थ का अवबोध हुआ करता है और इसीलिए जिसे शब्द की प्रथम (मुख्य) शक्ति कहा करते हैं ।**

(संकेतग्रह के उपाय)

उत्तमवृद्धेन मध्यमवृद्धमुद्दिश्य 'गामानय' इत्युक्ते तं गवानयनप्रवृत्तमुपलभ्य बालोऽस्य वाक्यस्य 'सास्नादिमत्पिण्डानयनमर्थः' इति प्रथमं प्रतिपद्यते, अनन्तरं च 'गां बधान' 'अश्वमानय' इत्यादावावापोद्वापाभ्यां गोशब्दस्य 'सास्नादिमानर्थः' आनयनपदस्य च 'आहरणमर्थः' इति संकेतमवधारयति। क्वचिच्च प्रसिद्धपदसमभिव्याहारात्, यथा—'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः

(किसी पद के संकेतित अथवा प्रसिद्ध अर्थ का बोधन कराने वाली शक्ति तो 'अभिधा' हुई और) किसी पद के संकेत (शक्ति) का ग्रहण जिन उपायों से हुआ करता है वे ये हैं—

(१) वृद्ध व्यवहार—किसी परिवार में किसी गृहस्वामी ने किसी गृहसेवक को आदेश दिया—'गामानय'–गौ लाओ'। इस वाक्य के सुनते गृहसेवक गौ लाने लगा। अब परिवार का बालक, जो अपने बड़े-बूढ़ों का यह व्यवहार देख रहा है, सर्वप्रथम केवल इतना समझा करता है कि 'गामानय'–'गौ लाओ' इस वाक्य का अर्थ 'एक सास्नादि विशिष्ट प्राणिविशेष का लाना' है। इसके बाद उसने ऐसे भी वाक्य सुने—'गां बधान'-'गौ बांध दो' 'अश्वमानय'–'घोड़ा लाओ' आदि आदि। अब जब उसे यह पता चला कि 'गामानय'–'गौ लाओ' के प्रयोग से सास्नादियुक्त प्राणिविशेष लाया गया और 'अश्वमानय'-'घोड़ा लाओ' के प्रयोग से एक दूसरे प्रकार का प्राणिविशेष तब उसे शब्दों के इस आवापोद्वाप-(रखने–हटाने) से गो पद का (और इसी भाँति अश्व पद का) सास्नादिविशिष्ट प्राणिरूप अर्थ (और इसी भाँति केसरादिविशिष्ट प्राणिरूप अर्थ भी) का पता चल गया। इसी प्रकार 'गामानय' और 'गां बधान' आदि वाक्य प्रयोग में 'आनयन' और 'बन्धन' की भिन्न-भिन्न क्रियाओं का दर्शन करते बालक को इसी आवापोद्वाप से यह भी पता चल गया कि 'आनय' का अर्थ 'आहरण'—'ले आना' हुआ करता है (और 'बधान' का अर्थ 'बन्धन'–बाँधना' हुआ करता है)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बालक को 'गाम्', 'आनय' 'अश्वम्', बधान' आदि आदि पदों के सकेत (शक्ति) का ग्रहण वृद्ध व्यवहार से ही सबसे पहले संभव हुआ करता है।

(२) कहीं-कहीं 'प्रसिद्धार्थपदसमभिव्याहार'–अर्थात् किसी प्रसिद्धार्थक पद के—ऐसे पद के, जिसका अर्थ पहले से जाना जा चुका हो—समभिव्याहार अथवा सान्निध्य से भी संकेत का ग्रहण हुआ करता है जैसे कि इस वाक्य अर्थात् 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति'–'इस खिले कमल के भीतर मधुकर (भ्रमर) मधु-पान कर रहा है' में (जहाँ 'कमल' इस पूर्वपरिज्ञातार्थक पद के समभिव्याहार (साहचर्य) से 'मधुकर' इस पद का, भ्रमररूप अर्थ में, संकेतग्रह हुआ करता है।

(३) कहीं पर 'आप्तोपदेश' अर्थात् आप्त अथवा किसी प्रामाणिक व्यक्ति के उपदेश से भी संकेत का अवधारण किया जाया करता है जैसे कि 'अयमश्वशब्दवाच्यः'–'यह प्राणी वह है जिसे अश्व कहा करते हैं' इत्यादि स्थलों पर (जहाँ किसी श्रेष्ठ प्रामाणिक व्यक्ति ने 'अश्व' पद का संकेतग्रह किसी बालक को अपने कथन-मात्र से, मानो अंगुली पकड़ कर, करा दिया है)।

पिबति' इत्यत्र। क्वचिदाप्तोपदेशात्, यथा—'अयमश्वशब्दवाच्यः' इत्यत्र। तं च सङ्केतितमर्थं बोधयन्ती शब्दस्य शक्त्यन्तरानन्तरिता शक्तिरभिधा नाम।

अब इन्हीं उपायों से जाने गये संकेतित अर्थ का अवबोधन कराने वाली जो शब्द-शक्ति है वही शक्ति 'अभिधा' नाम की शक्ति है। यह शक्ति इस लिये शब्द की मुख्यशक्ति मानी जाया करती है क्योंकि किसी शब्द और उसके अभिधान के बीच अन्य कोई भी शब्द-शक्ति नहीं आया करती (जब कि शब्द और उसकी अन्य शक्तियों जैसे कि लक्षणा के ही बीच में अभिधा का व्यवधान पड़ा करता है क्योंकि अभिहित अर्थ में बाधादि के ही कारण तो लक्षणा का स्वरूपोत्थान सम्भव है)।

विमर्श—(क) शब्द और अर्थ में परस्पर सम्बन्ध है-यह सिद्धान्त तो सर्वमान्य है। किन्तु यह सम्बन्ध औत्पत्तिक अथवा स्वाभाविक है या साङ्केतिक अथवा कृत्रिम है-इस विषय में विचारकों का मतभेद है। पूर्वमीमांसादर्शन का एक सूत्र है—**'कर्मके तत्र दर्शनात्'** (मीमांसासूत्र-१. १. ६.) जिसका अभिप्राय यह है कि अपने आप में किसी शब्द का किसी अर्थ से कोई संबंध नहीं किन्तु सङ्केत के द्वारा ही कोई शब्द किसी अर्थ का बोध करवाया करता है जिससे यही निष्कर्ष निकल सकता है कि सङ्केत के कारण ही कोई शब्द किसी अर्थ का वाचक हो सकता है न कि स्वतः। यह सिद्धान्त न्यायदर्शन के शब्दार्थविषयक सिद्धान्त का पूर्वरूप था जिसके विरोधमें मींमांसादर्शनकार महर्षि जैमिनि ने **'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः'** इत्यादि (मींमांसा-सूत्र १. १. ५) सूत्र में यह सिद्ध किया था कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है न कि अनित्य अथवा कार्य। यद्यपि इन उपर्युक्त परस्पर विरुद्ध मतों का उत्थान वेदरूप शब्दराशि और अर्थराशि की अपौरुषेयता या पौरुषेयता (परमपुरुषकृतता) की सिद्धि के रूप में ही हुआ था किन्तु इनका प्रभाव इतना व्यापक रहा कि 'शब्दार्थसम्बन्ध' के विषय में ये ही दो मत रूढमूल हो गये और सभी पदवाक्यप्रमाणवित् इन्हीं दोनों में से किसी एक के पक्षपाती बनकर दो दलों में बंट गये। न्यायदर्शनकार महर्षि गौतम के अनुसार 'शब्दार्थव्यवस्था' का आधार 'समय' (संकेत) है जैसा कि **'न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य'**-इस (न्यायदर्शन २. १. ५५) सूत्र से सिद्ध है। शब्द से अर्थ के सम्प्रत्यय अथवा बोध के 'सामयिक' होने का अभिप्राय है—**'अभिधानाभिधेय-नियमनियोग'** (वात्स्यायनभाष्य २. १. ५५) का। यह 'अभिधानाभिधेयनियमनियोग' क्या है? अभिधान (शब्द) और अभिधेय (अर्थ) के 'नियम' का अभिप्राय है-'गो शब्द का अर्थ सास्नादियुक्त प्राणिविशेष है, अश्व शब्द का अर्थ केसरादियुक्त प्राणिविशेष है'-इत्यादि प्रकार की व्यवस्था का। इस नियम अथवा व्यवस्था के सम्बन्ध में 'नियोग' का तात्पर्य है—सृष्टि के आरम्भ में ही, इस व्यवस्था के लिये, परमेश्वर के किये गये 'समय' अथवा 'संकेत' का (**अभिधानाभिधेययोर्नियमो गोशब्दस्य सास्नादिमाने वार्थ एवमश्वशब्दस्य केसरादिमानें वेति। तस्मिन्नियोगो बोद्धव्य इति भगवतः परमेश्वरस्य सर्गादौ सोऽयं समय इति**—न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका-२. १. ५५) न्यायदर्शन की इस प्राचीन विचारधारा का अनुसरण करने वाले नैयायिकों ने शब्दार्थविषयक इस 'संकेत' अथवा 'ईश्वरेच्छा' को शक्ति के रूप में स्वीकार किया। नव्यन्याय ने इसमें इतना परिवर्तन कर दिया कि 'ईश्वरेच्छा' को शक्ति न मानकर 'इच्छामात्र' को शक्ति मान लिया। इस प्रकार नैयायिकों की दृष्टि में शक्ति (अभिधा) और संकेत (समय अथवा ईश्वरेच्छा या इच्छा मात्र) एक ही तत्त्व के दो भिन्न भिन्न नाम हैं।

किन्तु नैयायिकों की यह उपर्युक्त मान्यता न तो मीमांसकों को मान्य हुई और न वैयाकरणों को। मीमांसकों के अनुसार और साथ ही साथ वैयाकरणों की भी दृष्टि में 'शक्ति' और 'संकेत'

(संकेत का क्षेत्र)

सङ्केतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च ॥ ४ ॥

(चतुर्विध संकेत-क्षेत्र का व्यवस्था-निरूपण)

जातिर्गोपिण्डादिषु गोत्वादिका । गुणो विशेषाधानहेतुः सिद्धो वस्तुधर्मः । शुक्लादयो हि गवादिकं सजातीयेभ्यः कृष्णगवादिभ्यो व्यावर्तयन्ति । द्रव्यशब्दा

एक नहीं अपि तु दो भिन्न वस्तुयें हैं । 'शक्ति' संकेत नहीं किन्तु संकेत 'ग्राह्य' है । शब्द में अभिधा शक्ति है यह बात संकेत के जानने से जानी जा सकती है । शक्ति अथवा अभिधा 'संकेत' नहीं है । (उद्योत, पृष्ठ ९) ने मीमांसकों और वैयाकरणों के अनुसार शक्ति अथवा अभिधा का यहीं पार्थक्य निर्दिष्ट किया है—

'संकेतग्राह्यं शक्याख्यपदार्थान्तरमभिधा'

परमलघुमञ्जूषाकार महावैयाकरण नागेश भट्ट (प. ल. म-शक्तिविचार) ने स्पष्ट ही कहा है—

'उक्त ईश्वरसंकेत एव शक्तिरिति नैयायिकमतं न युक्तम् । 'अयमेतच्छक्यः' 'अत्रास्य शक्तिः' इत्यस्य संकेतस्य शक्तितः पार्थक्येन प्रसिद्धत्वात् ।'

(ख) साहित्यदर्पणकार ने मीमांसक-वैयाकरण-सम्मत शक्तिसिद्धान्त का अनुसरण किया है । 'अभिधा संकेतित अर्थ का बोधन कराने वाली शक्ति है' **(तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाऽभिधा)**-इस विश्वनाथ कविराजकृत अभिधालक्षणों में यह स्पष्ट है कि 'संकेत और अभिधा' एक नहीं किन्तु भिन्न-भिन्न हैं 'उन-उन संकेतित अर्थों का बोधन कराने वाली जो शब्दशक्ति है वह अभिधा नाम की शक्ति है' **(तं तं संकेतितमर्थं बोधयन्ती शब्दस्य..............शक्तिरभिधा नाम)**-इस अभिधालक्षणपरिष्कार से इसका भी संकेत कर दिया गया है कि 'अभिधा' और 'शक्ति' पर्यायशब्द नहीं । साहित्यदर्पणकार का यह संकेत युक्तियुक्त किंवा विचारपूर्ण है । अलंकारशास्त्र में 'शक्ति विचार' के लिये तो यह परमावश्यक है कि 'अभिधा' और 'शक्ति' इन पदों को भिन्नार्थक रखा जाय । अन्यथा 'संकेतित अर्थ का बोधन कराने वाली जो शक्ति है वह 'शक्ति' है-इस प्रकार के शक्ति (अभिधा)-लक्षण में लक्ष्यलक्षणसांकर्य क्योंकर मिटाया जा सके !

(ग) साहित्यदर्पणकार ने 'संकेतग्रह' के उपायों में वृद्धव्यवहार, प्रसिद्धपद समभिहार तथा आप्तोपदेश—इन तीन उपायों का ही निर्देश किया है किन्तु साहित्यदर्पण के व्याख्याकारों ने इस उपायत्रय को उपलक्षण मानकर अन्य समस्त उपायों का यहाँ समावेश कर दिया है । संकेतग्रह के निम्नलिखित आठ उपाय परम्परा से माने जाते आ रहे हैं—

'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥'

अर्थात् व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवचन, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति और प्रसिद्धपदसान्निध्य-ये आठ उपाय शक्तिग्रह अथवा संकेतज्ञान के प्रयोजक हैं । विश्वनाथ कविराज ने इन में से तीन का ही जो उल्लेख किया है वह इसीलिये क्योंकि वाक्य में ही पद का संकेतग्रह युक्तियुक्त हुआ करता है और साथ ही साथ अलंकार शास्त्र में 'शक्तिग्रह' के विवेचन में इन तीन उपायों का ही विवेचन समीचीन है ।

अनुवाद—इन उपर्युक्त उपायों से जिस संकेत का ग्रहण हुआ करता है उस के चतुर्विध क्षेत्र हैं जैसे कि (१) जाति, (२) गुण, (३) द्रव्य और (४) क्रिया ।

इस चतुर्विध संकेत-क्षेत्र में 'जाति' वह है (जिसे पदार्थ का प्राणप्रद नित्य वस्तुधर्म कहा करते हैं और उदाहरण के लिए) जिसे 'गो' आदि व्यक्तियों में 'गोत्व' आदि के रूप

एकव्यक्तिवाचिनो हरिहर-डित्थडवित्थादयः। क्रियाः साध्यरूपा वस्तुधर्माः पाकादयः। एषु हि अधिश्रयणावश्रयणान्तादिपूर्वापरीभूतो व्यापारकलापः पाकादिशब्दवाच्यः। एष्वेव हि व्यक्तेरुपाधिषु संकेतो गृह्यते, न व्यक्तौ; आनन्त्यव्यभिचारदोषापातात्।

में देखा जाया करता है। 'गुण' उसे कहते हैं जो एक नित्य वस्तुधर्म है और जिसके द्वारा सजातीय वस्तु व्यक्तियाँ एक दूसरे से पृथक् रूप से पहचानी जाया करती हैं। उदाहरण के लिये 'शुक्ल' आदि गुण। ये 'शुक्ल' आदि गुण ऐसे वस्तुधर्म हैं (जो नित्य हैं, वस्तु-व्यक्तियों में समवेत रहा करते हैं और) जिनसे शुक्ल वर्णवाली वस्तु-व्यक्तियां कृष्णादि-वर्णवाली वस्तु-व्यक्तियों से व्यावृत्त की जाया करती हैं जैसे कि किसी गोव्यक्ति का शुक्ल-गुण उसे सजातीय कृष्णादिवर्ण वाली गोव्यक्तियों से व्यावृत्त किया करता है। 'द्रव्य' वह है जिसे वस्तु-व्यक्ति की 'संज्ञा' कह सकते हैं और ऐसे शब्द जैसे कि हरिहर, डित्थ, डवित्थ आदि द्रव्यवाचक अथवा संज्ञावाचक (यदृच्छात्मक) शब्द माने जाया करते हैं क्योंकि ये एक व्यक्ति के ही वाचक हुआ करते हैं। (चतुर्थ संकेत-क्षेत्र अर्थात्) 'क्रिया' उसे कहते हैं जो एक ऐसा वस्तुधर्म है जो सिद्ध नहीं अपितु साध्य रहा करता है जैसे कि 'पाक' आदि। 'पाक' आदि शब्द इसलिए क्रियावाचक शब्द हैं क्योंकि ये अधिश्रयण (चूल्हे पर बरतन चढ़ाने) से लेकर अवश्रयण (सिद्ध अन्न के पात्र के चूल्हे से उतारने) तक के क्रमशः होने वाले जितने भी कार्यकलाप हुआ करते हैं उन सब का अभिप्राय अपने में रखा करते हैं।

ये उपर्युक्त जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में वस्तुतः व्यक्तियों की चतुर्विध उपाधियां हैं और इन्हीं में शब्दों का संकेत-ग्रह संभव है न कि व्यक्तियों में। व्यक्तियों में संकेतग्रह इसलिये युक्तियुक्त नहीं क्योंकि कहाँ तो 'गो' शब्द एक और कहाँ गोव्यक्तियाँ अगणित (आनन्त्य दोष)! यदि एक किसी गोव्यक्ति में गोपद का संकेतग्रह हो चुके तो अन्य गोव्यक्तियाँ, जहाँ संकेतग्रह नहीं हुआ, क्योंकर 'गो' पद से अभिहित होने लगें (व्यभिचार दोष)!

विमर्श—(क) जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया-इन चारों को शब्द का संकेतित अर्थ सिद्ध करने वाले जो विचारक हैं वे वैयाकरण हैं। वैयाकरणों ने शब्दों की 'चतुष्टयी प्रवृत्ति' मानी है जिसका आधार महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलिका वचन है—

'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' (महाभाष्यः ऋलृक्सूत्रवार्तिक व्याख्यान)

यह वैयाकरणमत 'उपाधिशक्तिवाद' कहा जाता है। इसके अनुसार भाषा की समस्त शब्दराशि का यह वर्गीकरण है—

१—जातिशब्द, २—गुणशब्द,
३-क्रिया शब्द, ४-द्रव्यशब्द अथवा यदृच्छाशब्द।

'उपाधिशक्तिवाद' की दृष्टि में 'जाति' वह नित्य वस्तुधर्म है जो प्रत्यक्षसिद्ध है किंवा वस्तुसंस्थान विशेष के द्वारा अभिव्यङ्ग्य है। इस वस्तु धर्म को 'पदार्थ का प्राणप्रद' कहा जाता है क्योंकि इसीके द्वारा शब्द व्यवहारयोग्य हुआ करते हैं। यद्यपि यह ठीक है कि जातिरूप वस्तुधर्म से किसी प्रकार का प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप प्रयोजन नहीं संपन्न हो सकता किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि 'व्यक्ति' को शब्द का संकेतित अर्थ मान लिया। यदि 'व्यक्ति' को शब्द का संकेतित अर्थ माना जाय तब प्रश्न यह उठता है कि क्या गो शब्द यावद्विश्वव्याप्त समस्त गोव्यक्तियों को

उपस्थापित करता है या किसी (पुरोदृश्यमान) गो व्यक्ति को ? अब गोशब्द का संकेतग्रह समस्त गोव्यक्तियों में तो हो नहीं सकता क्योंकि कहाँ तो एक 'गो' शब्द और कहाँ **अनन्तानन्त गोव्यक्तियाँ !** भला एक गोशब्द में यह सामर्थ्य कहाँ जो अनन्त गोव्यक्तियों को हमारे मानस-पटल पर अंकित कर सके ! किन्तु इसका यह निष्कर्ष नहीं कि एक गोव्यक्ति ही गोशब्द के अर्थ के रूप में प्रतीत हुआ करे । यदि ऐसा होने लगे तब तो एक गोरूप पिण्डविशेष को छोड़कर और किसी भी गोरूप पिण्डविशेष के लिये गोशब्द का प्रयोग नहीं हो सकता ! इस प्रकार 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार'–इन दोनों दोषों की संभावना और उपस्थिति में व्यक्ति तो कदापि शब्द का अर्थ नहीं । इसके अतिरिक्त 'व्यक्ति-शक्तिवाद' में एक और भी बड़ी आपत्ति यह है कि सभी जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक किंवा संज्ञावाचक शब्द पर्यायवाचक बन जाते हैं और किसी प्रकार का वाक्यविश्लेषण अथवा शब्द-वर्गीकरण निरर्थक हो जाता है। जैसे कि '**गौः, शुक्लः, चलो, डित्थः**' यह शब्दप्रयोग, जिसका 'उपाधिशक्तिवाद' के अनुसार तो अर्थ असंकीर्णरूप से स्पष्ट है (क्योंकि यहाँ 'गौः शुक्लवर्णवान् चलनक्रियावान् डित्थसंज्ञकः' यह अर्थ विवक्षित है), 'व्यक्ति-शक्तिवाद' में इसलिये संकीर्ण किंवा एकार्थक हो जाता है क्योंकि जब व्यक्ति ही पदार्थ है और प्रस्तुत प्रसंग में गोव्यक्ति एक ही है तब तो यह निश्चित ही है कि 'गौः' 'शुक्लः' 'चलः' और 'डित्थः' में कोई विषयविभाग नहीं और ये चारों शब्द 'घट' और 'कलश' शब्दों की भाँति एकार्थक हैं और एक साथ कदापि प्रयोग-योग्य नहीं । 'उपाधिशक्तिवाद' में ऐसी बात नहीं क्योंकि इसके अनुसार–'गौ', 'शुक्ल', 'चल' और 'डित्थ'–इन चतुर्विध शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा का उपाधि-चतुष्टय हुआ करता है जिसकी दृष्टि से न तो इनमें पर्यायशब्द का ही भ्रम संभव है और न प्रयोग-सांकर्य की ही कोई संभावना है।

उपाधिशक्तिवाद की दृष्टि में शब्द का 'जाति' रूप प्रवृत्तिनिमित्त वह नित्य, एक किंवा 'अनेकानुगत सामान्य' रूप धर्म है जिसके कारण पदात्मक शब्दों का एक महासमुदाय 'जाति-वाचक' शब्द के रूप में पृथक् पहचाना जाया करता है। कतिपय विचारक जैसे कि मीमांसक लोग केवल 'जाति' को ही शब्दमात्र का प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं और 'जातिशक्तिवाद' को ही सर्वमान्य सिद्ध करते हैं। इन 'केवल जातिशक्तिवादी' लोगों की विचारधारा का जो रूप है उसे न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्ट ने इस प्रकार अंकित किया है—

'ननु जातिं विशेषणत्वेन व्यक्तिं च विशेष्यत्वेन वक्ष्यति गोशब्दः ? न शक्नोति वक्तु-मतिभारप्रसङ्गात् । न च व्यक्त्यवगतौ गतिरन्या नास्ति यत इयन्तं शब्दे भारमारोपयामः, न हि वयं व्यक्तिप्रतीतिं भवन्तीमपह्नुमहे नापि भवन्तीं जातिप्रतीतिमपह्नुमहे, उभयप्रतीतेः प्रत्यात्मवेदनीयत्वात्, उभयत्र चाभिधात्री शक्तिरतिभारः, शब्दस्यान्यतरप्रतीत्या चान्यतर-प्रतीतिसिद्धेः, तत्र गोशब्दः किं जातौ वर्तमानो व्यक्तिमाहोस्विद्व्यक्तौ वर्तमानो जाति-माक्षिपत्विति विचारणायां जातोर्विशेषणत्वात् पूर्वतरं प्रतिपत्तिरिति सैव शब्दार्थो भवितु-मर्हति तस्यां च शब्दादवगतायां तत एव व्यक्त्यवगमःसेत्स्यतीति नोभयत्र शाब्दो व्यापारः।' ....'तदिदमात्मप्रत्यक्षं यच्छब्दे उच्चरिते व्यक्तिरवगम्यते स किं शब्दादुत जातेरिति विवेको न प्रत्यक्षः स युक्त्याऽवगम्यते, शब्दस्य द्वयाभिधाने यत्नगौरवाद्विरस्य व्यापारस्य चाऽसंवेदनात्, अन्तरेणापि च शब्दं जात्यवगमाद् व्यक्तिप्रतीतिदर्शनाच्च जातित एवैषा व्यक्तिप्रतीतिः जातिप्रतीतिश्च शब्दादिति निश्चीयते।' (न्यायमञ्जरी, पृष्ठ २९२–२९३)

अर्थात् वैसे तो जाति और व्यक्ति दोनों की ही प्रतीति शब्द से ही हुआ करती है किन्तु यहाँ विचार यह करना है कि शब्द की अभिधाशक्ति किसे सर्वप्रथम उपस्थित किया करती है— जाति को ? या व्यक्ति को ? यह तो निश्चित है कि दोनों की अभिधा द्वारा एक साथ उपस्थिति युक्तियुक्त नहीं क्योंकि ऐसा मानने का यही अभिप्राय है कि अभिधा पर दो-दो अर्थों के

उपस्थापन का बोझ लाद दिया गया। यह भी कहना विचारपूर्ण नहीं कि शब्द की अभिधा पहले जातिरूप अर्थ को उपस्थापित किया करती है। और तत्पश्चात् व्यक्तिरूप अर्थ को जो हमारे समस्त प्रयोजनों के संपादन में समर्थ है क्योंकि जब अभिधा जातिरूप अर्थ के अवबोधन में अपना सामर्थ्य समाप्त कर चुकी जो कि उसके लिये स्वाभाविक ही है तब व्यक्तिरूप अर्थ का अवबोध कराने के लिये कहाँ से पुनरुज्जीवित हो उठी! इस समस्या के सुलझाने का एक मात्र उपाय यही मानना है कि शब्द से तो जातिरूप ही अर्थ अभिहित होता है और यह विशेषणरूप अर्थ अपने विशेष्यभूत व्यक्तिरूप अर्थ का आक्षेप कर लेता है क्योंकि व्यक्तिरूप अर्थ का अवगम जातिरूप अर्थ के अवबोध के बिना नहीं हो सकता। वैशेषिक दर्शनकार का तभी तो यह कथन है—**'समवायिनः श्वैत्याच्छ्वैत्यबुद्धेश्च श्वेते बुद्धिस्ते कार्यकारणभूते'** (वैशेषिकसूत्र ८-१-९)।

उपर्युक्त 'केवल जातिशक्तिवाद' के विरोध में 'केवल व्यक्तिवाद' भी प्रचलित है जो कि जयन्तभट्ट के शब्द में इस प्रकार है—

चयापचयसंघात-स्वस्वामित्वादिकल्पनाः।
यान्ति व्यक्त्यभिधेयत्वपक्षे झडिति संगतिम्॥ न व्यक्तिलक्षणाद्वारमियत्कार्यं च युज्यते।
वक्रः पन्था न गन्तव्यः पृष्ठे वहति वर्त्मनि॥ उपलक्षणमाश्रित्य जातिसम्बन्धवेदनम्।
प्रसेत्स्यतीति नानन्त्यव्यभिचारकृतो ज्वरः॥ प्रत्यक्षविषये वृत्तिः पदस्येष्टा परैरपि।
निष्कृष्टं न च सामान्यमात्रं प्रत्यक्षगोचरः॥ व्यक्तेरेव पदार्थत्वं तस्मादभ्युपगम्यताम्।
तथा च बुद्धिस्तत्रैव श्रुतशब्दस्य जायते॥ (न्यायमञ्जरी, पृष्ठ २९२)

अर्थात् 'यह छोटी गौ है', 'यह बड़ी गौ है', 'यह मेरी गौ है', 'यह तेरी गौ है' आदि आदि वाक्यों में प्रयुक्त 'गोशब्द' तभी सार्थक कहा जा सकता है जब कि गोपद का अर्थ गोव्यक्तिरूप ही अर्थ माना जाय। आनन्त्य और व्यभिचार दोषों के छुटकारे का तो सीधा उपाय यह सोचना है कि गोत्वरूप सामान्य समस्त गोव्यक्ति पर आश्रित रहा करता है। गोशब्द का अर्थ सीधे गोव्यक्ति न मानकर पहले गोत्व मानना और तब गोव्यक्ति को उससे आक्षिप्त मानना तो ऐसा ही है जैसे राजमार्ग पर न चलकर टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियों पर गिरते-पड़ते चलना!

अस्तु, उपाधिशक्तिवाद के अनुसार भाषा के अनेकानेक शब्द ऐसे हैं जो गुणवाचक हुआ करते हैं। यह गुण क्या है? गुण एक वस्तुधर्म है जिसे पदार्थों का 'विशेषाधानहेतु' कहा गया है। जातिरूप वस्तुधर्म और गुणरूप वस्तुधर्म में जिस बात की समानता है वह है दोनों की नित्यता। अन्यथा जाति और गुण परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। प्रदीपकार ने इसीलिये कहा है—

'यद्यपि शुक्लत्वादेर्नित्यत्वाभ्युपगमे गोत्वादिना समकालमेव सम्बन्धित्वम्, तथापि तस्य संबन्धः कदाचिदपैत्यपि, न तु गोत्वादेरिति विशेषः।'

अर्थात् 'गौः शुक्लः' सरीखे जातिवाचक और गुणवाचक पदों के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि गोत्व और शुक्लत्व एक ही समय में गोरूप पिण्डविशेष में समवेत (समन्वित) हुआ करते हैं और एक ही समान सिद्धरूप वस्तुधर्म भी हैं किन्तु गोत्वरूप धर्म (जाति अथवा सामान्य) तो ऐसा है जो गोव्यक्तियों में सदा अनुगत रहा करता है और शुक्लत्व रूप धर्म (गुण) ऐसा जो कदाचित् गोव्यक्ति से पृथक् भी रह सकता है। इसीलिये गुण की परिभाषा इस प्रकार भी की जाया करती है—

'सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग् जातिषु दृश्यते। आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः॥'

अर्थात् वस्तुतः 'गुण' वह धर्म है जो द्रव्य पर आश्रित रहा करता है, अपने आश्रयभूत द्रव्य से भिन्न हुआ करता है और साथ ही साथ भिन्न जातीय द्रव्यों में ही दिखायी दिया करता है। यह उत्पाद्य (जैसे कि 'रक्तो घटः' आदि में रक्तत्व) और अनुत्पाद्य (जैसे कि 'आकाशो महान्'

आदि में महत्त्व)-दो प्रकारों वाला है। इसकी सर्वप्रथम पहचान यही है कि यह 'असत्त्वप्रकृति' अथवा अद्रव्यरूप है।

'गुण' शब्दों की संक्षिप्त मीमांसा निम्नांकित पंक्तियों में है—

'गुणैकनियतास्तावद् गन्धरूपरसादयः। गन्धत्वादिव्यवच्छिन्नगन्धादिगुणवाचिनः।
तेषां न द्रव्यपर्यन्ता वृत्तिः क्वचन दृश्यते। न गन्धः पद्म इत्यस्ति सामानाधिकरण्यधीः॥

(न्यायमञ्जरी-पृष्ठ २९८)

जिनका अभिप्राय यह है—गन्ध, रूप, रस आदि अनेकानेक शब्द ऐसे हैं जो एक मात्र गुण के ही वाचक हैं। ये शब्द कदापि द्रव्यवाचक नहीं हो सकते यदि गन्धादि शब्द द्रव्यवाचक हो सकते तब 'गन्धः पद्मः' कहा जाया करता न कि 'पद्मे गन्धः'।

उपाधिशक्तिवाद की दृष्टि में तीसरी जो 'उपाधि' है वह 'क्रिया' है। क्रिया एक वस्तुधर्म है किन्तु जाति और गुण की भाँति सिद्धरूप वस्तुधर्म नहीं अपि तु ऐसा वस्तुधर्म है जो 'साध्य' है। इसलिये क्रिया को 'भावना' भी कहा जाता है—

'व्यापारो भावना सैवोत्पादना सैव च क्रिया।'

इसके 'साध्य' होने का तात्पर्य है इसकी क्रमरूपता का—

'यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते। आश्रितक्रमरूपत्वात्सा क्रियेत्यभिधीयते॥'

क्योंकि 'पचति', 'अपचत्', 'पक्ष्यति' (पकाता है, पका चुका, पकायेगा) इत्यादि जो पद हैं वे क्रिया के लिये रूढ हो गये हैं क्योंकि इनके द्वारा ऐसे अर्थ का ही अभिधान हुआ करता है जो कि 'असत्त्व' रूप-अद्रव्यभूत-वस्तुतः साध्यरूप अर्थ है। साथ ही साथ 'क्रिया' पद का अवयवार्थ भी निर्दिष्ट करता है कि यह क्रमशः सम्पन्न होने वाली वस्तु है।

आचार्य भर्तृहरि (वाक्यपदीय) ने इसीलिये कहा है—

'गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्। बुद्ध्या प्रकल्पिता भेदः क्रियेति व्यपदिश्यते॥

अर्थात् डित्थ आदि शब्द तो यदृच्छा शब्द ही माने जायेंगे क्योंकि इन शब्दों में इनका कोई अर्थगत प्रवृत्तिनिमित्त नहीं रहा करता। ये शब्द तो एकमात्र वक्ता के द्वारा केवल अपनी इच्छा से ही व्यक्तियों में संकेतित रहा करते हैं।

यह उपर्युक्त 'उपाधिशक्तिवाद' आलंकारिकों के लिए सर्वथा मान्य है और साहित्यदर्पणकार ने 'संकेतग्रह के विषय' के रूप में इसे ही स्वीकार किया है।

(ख) आलंकारिकों के द्वारा **'चतुष्टयीशब्दानां प्रवृत्तिः'** के सिद्धान्त का अनुसरण अत्यन्त आवश्यक है और इसीलिये आलंकारिकों ने इसे माना भी है। वस्तुतः बात यह है कि जब कि अर्थालंकारों के हृदय में 'विचित्र अभिधा' का स्पन्दन ही काव्याचार्यों का सर्वतन्त्र सिद्धान्त है तब तो अभिधा के द्वारा उपस्थापित अर्थों का चातुर्विध्य सिद्ध ही है। शब्दप्रवृत्ति के क्षेत्रचतुष्टय के ही आधार पर जाति-गुण-क्रिया किंवा द्रव्यरूप धर्मिचतुष्टय में विभक्त चतुर्विध 'साधारणधर्म'-रूप बीज से उपमादि अलंकृतियों का उत्थान माना गया है। उदाहरण के लिये यदि इस निम्नांकित सूक्ति को देखें—

'वनोद्यानच्छायामिव मरुपथाद्दावदहनात् तुषाराम्भोवापीमिव विषविपाकादिव सुधाम्।
प्रवृद्धादुन्मादात्प्रकृतिमिव निस्तीर्य विरहाद् लभेय त्वद्भक्तिं निरुपमरसां शङ्कर कदा॥'

जिसमें उपमा की स्वरूपसमीक्षा इसी बात को प्रमाणित करती है कि यहाँ कवि की छाया-वापी-सुधा किंवा प्रकृतिरूप उपमानचतुष्टय की कल्पना जाति, गुण, द्रव्य किंवा रूप 'चतुष्टयी शब्द-प्रवृत्ति' के आधार पर खड़ी है तो यह निःसन्दिग्ध सिद्ध हो जाता है कि काव्य-शास्त्र में शब्दों के संकेतग्रह का क्षेत्र 'उपाधिशक्तिवाद' के द्वारा निर्दिष्ट क्षेत्र है। काव्याचार्यों ने 'महाभाष्य-

(लक्षणाशक्ति-निरूपण)

अथ लक्षणा—

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते ।
रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ॥ ५ ॥

प्रक्रिया' का ही अनुसरण करते हुये संकेतित अर्थ का चातुर्विध्य माना है जिस पर उपमादि अलंकारों की रूपरेखा का समीचीन विश्लेषण निर्भर है।

अनुवाद—लक्षणाशक्ति क्या है ?

लक्षणाशक्ति वह शब्द-शक्ति है जो कहीं मुख्यार्थ के (अन्वयबोध के) बाधित अथवा अनुपपन्न हो जाने पर वहाँ एक ऐसे अर्थ का अवबोधन करवाया करती है जो कि मुख्यार्थ से (सर्वथा असंबद्ध नहीं अपितु) किसी न किसी रूप से सम्बद्ध तो अवश्य रहा करता है किन्तु मुख्यार्थ के स्वभाव से भिन्न स्वभाव का ही हुआ करता है और ऐसा होने का कारण या तो 'रूढि' (प्रयोग-प्रवाह) है (जो वक्ता के वश में नहीं) या 'प्रयोजन-विवक्षा' (जो वक्ता के अधिकार की बात है)।

विमर्श—(क) लक्षणाशक्ति की मान्यता का इतिहास ब्राह्मणयुग से क्रमरूप से मिलता चला आ रहा है। निरुक्तकार यास्क ने ब्राह्मणग्रन्थों में 'भक्तिवाद' का प्रायः सर्वत्र' आश्रयण स्वीकार किया है (**बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति**)। मीमांसासूत्रकार भगवान् जैमिनि के कतिपय सूत्र 'लक्षणा' की मान्यता किंवा उपयोगिता के सूचक हैं। न्यायदर्शनकार महर्षि गौतम का यह सूत्र—

'सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधवाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्न पुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः ।' (न्यायदर्शन २-२-६१)

'लक्षणा' की रूपरेखा का एक स्पष्ट संकेत है। कालान्तर में की गयी लक्षणा की यह मीमांसा—

'अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः ।
वैपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षणा पञ्चधा मता ॥'

वस्तुतः लक्षणाविषयक प्राचीन मान्यताओं का ही एक सार-संक्षेप है। आलंकारिकों के लिये लक्षणा का स्वरूपचिन्तन तो रूपकादि अर्थालंकारों के भाषागत मूलबीज का ही दर्शन है। पदो की लाक्षणिकता की भित्तिपर काव्यभवन की कतिपय कक्षाओं का उत्थान काव्याचार्य माना ही करते हैं।

(ख) 'मुख्यार्थबाध', 'मुख्यार्थयोग' किंवा 'रूढि अथवा प्रयोजन'—ये तीनों लक्षणाशक्ति के उत्थान के समुदित अथवा संवलितरूप से हेतु माने गये हैं। साहित्यदर्पणकार की लक्षणा-परिभाषा भी इसी 'हेतुत्रय' को लक्षणाहेतुरूप में मानती प्रतीत हो रही है। यहाँ 'मुख्यार्थबाध' के दो अभिप्राय लिए जा सकते हैं—(१) अन्वयानुपपत्ति और (२) तात्पर्यानुपपत्ति। इन दोनों में पहले अर्थात् 'अन्वयानुपपत्ति' में कुछ कमी है क्योंकि यदि लक्षणा के मूल में 'अन्वयानुपपत्ति' को ही देखा जाय तब **'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'** (चिड़ियों से दही बचाओ) आदि प्रयोगों में लक्षणा नहीं हो सकती। **'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'** जैसे प्रयोग लाक्षणिक प्रयोग हैं। यहाँ जैसा लक्षणा का बीजभूत 'मुख्यार्थबाध' है उसमें 'अन्वय अथवा संसर्ग बोध की अनुपपत्ति' नहीं अपितु वक्ता के तात्पर्यभूत वाक्यार्थ के अवबोध का अभाव (तात्पर्यानुपपत्ति) स्पष्ट है। इसीलिये कतिपय आचार्य 'मुख्यार्थबाध' में 'अन्वयानुपपत्ति' के बदले 'अन्वयाद्यनुपपत्ति' का प्रतिसंधान

(लक्षणा-विवेक)

'कलिङ्गः साहसिकः' इत्यादौ कलिङ्गादिशब्दो देशविशेषादिरूपे स्वार्थेऽ-

मानकर 'तात्पर्यानुपपत्ति' का भी यहाँ समावेश कर लेते हैं जिसके बिना लक्षणा-विवेक ही असम्भव है। कुछ आचार्य केवल 'तात्पर्यानुपपत्ति' के प्रतिसंधान को ही लक्षणाबीज मानते हैं। विश्वनाथ कविराज ने व्यस्त अथवा समस्तरूप से, दोनों अभिप्रायों में यहाँ 'मुख्यार्थबाध' को लक्षणा का मूल माना है।

'मुख्यार्थयोग' के ही विश्लेपण में तात्स्थ्य, ताद्धर्म्य, तत्सामीप्य, तत्साहचर्य और तादर्थ्य इस 'लक्षणापञ्चक' का सिद्धान्त निकला है जिसे साहित्यदर्पणकार ने लक्षणा के उदाहरणों में घटितरूप से निर्दिष्ट किया है। जैसे कि तात्स्थ्यसम्बन्ध से लक्षणा—**'कलिङ्गः साहसिकः'**; ताद्धर्म्यसम्बन्ध से लक्षणा—**'गौर्वाहीकः'**, तत्सामीप्यसम्बन्ध से लक्षणा—**'गङ्गायां घोषः'**; तत्साहचर्यसम्बन्ध से लक्षणा—**'कुन्ताः प्रविशन्ति'** और तादर्थ्यसम्बन्ध से लक्षणा—**(इन्द्रार्थासु स्थूणासु)—'अमी इन्द्राः'**।

काव्यप्रकाशकार की भांति साहित्यदर्पणकार ने भी 'रूढि' और 'प्रयोजन' को लक्षणा के द्विविध नियामक किंवा विभाजकोपाधि के रूप में स्वीकार किया है और लक्षणाभेदों में रूढि किंवा प्रयोजन की उपाधियों को अनुस्यूत मानकर दोनों के पृथक्-पृथक् उदाहरण दिये हैं।

लक्षणा को शब्द की 'अर्पिता' शक्ति कहा जाता है 'सहजा' नहीं। काव्यप्रकाशकार ने भी लक्षणा को 'आरोपिता क्रिया' ही कहा है—**'लक्षणारोपिता क्रिया'** (काव्यप्रकाश २. ९)। लक्षणा के शब्द पर 'अर्पित' अथवा 'आरोपित' होने के दो अभिप्राय लिये गये हैं जो कि वस्तुतः 'अभिधा' के सम्बन्ध में दो सिद्धान्तों के सूचक हैं। मीमांसकों के अनुसार यदि 'अभिधा' शब्द की स्वाभाविक शक्ति है क्योंकि शब्द और अर्थ का वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध भी स्वाभाविक है तो लक्षणा के 'अर्पित' अथवा 'आरोपित' शक्ति होने का अभिप्राय होगा उसके 'स्वाभाविकेतर' होने का। इसी प्रकार यदि नैयायिकों के अनुसार अभिधा ईश्वरोद्भावित शब्दशक्ति हुई क्योंकि पदपदार्थ का 'अभिधानाभिधेयनियम' ईश्वरेच्छारूप है तो लक्षणा के 'अर्पित' अथवा 'आरोपित' कहे जाने का तात्पर्य होगा उसके 'ईश्वरानुद्भावित' (मनुष्यकृत) होने का। दोनों दृष्टियों से लक्षणा 'अर्पिता' है, अभिधा की भांति 'सहजा' नहीं। नीचे की पङ्क्तियाँ 'अभिधा' और 'लक्षणा' के इस तारतम्य को स्पष्ट कर रही हैं—

'अभिधानाभिधेयत्वमतः शब्दार्थयोः स्थितम्।
सम्बन्धोऽत्राभिधा द्वेधा बोध्या मुख्यजघन्यतः॥
अभिधार्थावगत्यात्मा शब्दं व्यापारयिष्यतः।
शब्दशक्तिनिमित्ता सा स्वार्थे मुख्याभिधीयते॥
स्वार्थाभिधानद्वारास्याजघन्यार्थान्तरे मता॥' (न्यायपरिशुद्धि-शब्दाध्याय)

अर्थात् शब्द की जो स्वाभाविकी शक्ति अर्थात् अभिधा है वही मुख्य और जघन्य (सहजा और अर्पिता अथवा आरोपिता) दोनों रूपों में कृतकार्य हुआ करती है।

अनुवाद—उदाहरण के लिये 'कलिङ्गः साहसिकः'-'कलिङ्ग साहसी है' इत्यादि प्रसङ्ग यदि लिये जांय तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि 'कलिङ्ग' आदि शब्द की अभिधाशक्ति के द्वारा 'कलिङ्ग' आदि का जो अर्थ निकलेगा वह 'एक देशविशेष आदि' रूप ही अर्थ होगा और यह अर्थ ऐसा अर्थ होगा जो यहाँ बाधित अथवा अनुपपन्न होगा (क्योंकि अचेतन-कलिङ्ग आदि देश और साहसादिरूप चेतन-धर्म का परस्पर सम्बन्ध कैसा ?)। अब जिस शक्ति के द्वारा (ऐसी अनुपपत्ति दूर की जाया करती है और)

संभवन् यथा शब्दशक्त्या स्वसंयुक्तान् पुरुषादीन् प्रत्याययति, यथा च 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ गङ्गादिशब्दो जलमयादिरूपार्थवाचकत्वात्प्रकृतेऽसंभवन् स्वस्य सामीप्यादिसंबन्धसंबन्धिनं तटादिं बोधयति, सा शब्दस्यार्पिता स्वाभाविकेतरा ईश्वरानुद्भाविता वा शक्तिर्लक्षणा नाम। पूर्वत्र हेतू रूढिः प्रसिद्धिरेव। उत्तरत्र 'गङ्गातटे घोषः' इति प्रतिपादनालभ्यस्य शीतत्वपावनत्वातिशयस्य बोधनरूपं प्रयोजनम्। हेतुं विनापि यस्य कस्यचित्संबन्धिनो लक्षणेऽतिप्रसङ्गः स्यात्, इत्युक्तम्—'रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ' इति।

केचित्तु 'कर्मणि कुशलः' इति रूढावुदाहरन्ति। तेषामयमभिप्रायः—कुशाँ-

---

'कलिङ्ग' आदि शब्द अपने देशविशेषादिरूप मुख्य अर्थ से संयोगसम्बन्ध से सम्बद्ध पुरुषादिरूप अर्थ का अवबोध करवाया करते हैं शब्द की वह शक्ति है जिसे 'लक्षणाशक्ति' समझा जाना चाहिये। इसी प्रकार ऐसे स्थलों जैसे कि 'गङ्गायां घोषः'–'गंगा पर कुटिया है' आदि में, जहाँ शब्द की अभिधाशक्ति से 'गङ्गा' आदि का अर्थ प्रवाहादिरूप ही निकल सकता है जो कि यहाँ अनन्वित अथवा असंगत प्रतीत हो रहा है (क्योंकि 'गङ्गा'–जलप्रवाह और 'घोष'–कुटिया में आधाराधेयभावरूप सम्बन्ध क्योंकर स्थापित हो जाय?) यह लक्षणाशक्ति का ही महत्त्व है कि 'गङ्गा' आदि शब्द अपने मुख्यार्थभूत जलप्रवाहादिरूप अर्थ के साथ सामीप्यादि सम्बन्ध से सम्बद्ध 'तटादि' रूप अर्थ की प्रतीति करवाया करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि (अभिधाशक्ति जहाँ शब्द की स्वाभाविक अथवा ईश्वरप्रदत्त शक्ति है, वहाँ) लक्षणा वह शक्ति है जो शब्द की स्वाभाविक शक्ति नहीं और न जिसे ईश्वरप्रदत्त ही कह सकते हैं क्योंकि वह तो एक ऐसी शब्दशक्ति है जिसे काल्पनिक कहा जा सकता है और ऐसा इसलिये क्योंकि यह तो बाधित मुख्यार्थ की शक्ति है जिसे वह शब्द के लिये समर्पित कर दिया करता है। पहले (अर्थात् 'कलिङ्गः साहसिकः' आदि) उदाहरण में लक्षणा का जो हेतु है वह 'रूढि' अथवा प्रयोग-प्रवाह है और दूसरा जो उदाहरण है (अर्थात् 'गङ्गायां घोषः') उसमें जो लक्षणा का हेतु है वह है शीतलता, पवित्रता आदि की उत्कटता का अवबोधनरूप प्रयोजन, जो कि 'गङ्गातटे घोषः'–'गंगा के तीर पर कुटिया है' इस प्रकार के प्रयोग में कदापि प्रतीत नहीं हो सकता (क्यों? इसलिये कि शीतता और पवित्रता आदि की विशेषतायें गङ्गा की धारा की विशेषतायें हैं न कि गङ्गा के तीर की और 'तीर' का तात्पर्य गङ्गा की धारा से अत्यन्त संयुक्त स्थलभाग ही नहीं अपितु कुछ दूरस्थ भूभाग भी हो सकता है जहाँ गङ्गा की धारा की शीतता और पावनता का कोई सम्बन्ध नहीं)। विना किसी रूढि अथवा प्रयोजनविवक्षा के केवल मुख्यार्थ से यथाकथञ्चित् सम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन ही लक्षणारूप शब्दशक्ति का कार्य नहीं क्योंकि तब तो किसी भी शब्द का कुछ भी लक्ष्यार्थ निकलने लगे? इसलिये (इस बौद्धिक अराजकतता को रोकने के लिये) रूढि अथवा प्रयोजन-विवक्षा को लक्षणा के हेतुरूप से मानना नितान्त आवश्यक है जैसा कि 'रूढेः प्रयोजना-द्वापि' इस कारिकांश से स्पष्ट है।

लक्षणा के रूढिरूप हेतु का उदाहरण कुछ लोग (अर्थात् काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट) 'कर्मणि कुशलः' (कार्य में दक्ष) दिया करते हैं और इसका यह अभिप्राय बताया करते हैं—'यहाँ 'कुशल' शब्द लाक्षणिक शब्द है क्योंकि इस शब्द की 'कुशान्

ज्ञातीति व्युत्पत्तिलभ्यः कुशग्राहिरूपो मुख्योऽर्थः प्रकृतेऽसंभवन् विवेचकत्वादि-साधर्म्यसम्बन्धसम्बन्धिनं दक्षरूपमर्थं बोधयति। तदन्ये न मन्यन्ते। कुशग्राहि-रूपार्थस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि दक्षरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात्। अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्। व्युत्पत्तिलभ्यस्य मुख्यार्थत्वे 'गौः शेते' इत्यत्रापि लक्षणा स्यात्। 'गमेर्डोः' (उणादि–२।६७) इति गमधातोर्डोप्रत्ययेन व्युत्पादितस्य गोशब्दस्य शयनकालेऽप्रयोगात्।

लाति (छिनत्ति) इति कुशलः' इस व्युत्पत्ति से सिद्ध जो 'कुश उखाड़ने वाला' यह मुख्य अर्थ है वह यहाँ असङ्गत किंवा अनुपपन्न है और इस असङ्गति अथवा अनुपपत्ति के निराकरण में यह शब्द 'दक्ष' अथवा 'निपुण' रूप लक्ष्यार्थ का प्रतिपादन किया करता है क्योंकि इस शब्द के 'कुशोत्पाटक' रूप मुख्यार्थ और 'दक्ष' अथवा 'निपुण' रूप लक्ष्यार्थ में एक सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध 'साधर्म्य' का सम्बन्ध है क्योंकि कुश उखाड़ने वाले में जैसी विवेचकता हुआ करती है वैसी ही विवेचकता किसी कार्य के सुचारु रूप से सम्पादन करने वाले में भी आवश्यक है।' किन्तु दूसरे लोग (जिनके साथ साहित्य-दर्पणकार भी सहमत हैं) यहाँ यह सब ठीक नहीं समझते और उनका ऐसा समझना उचित भी है क्योंकि भले ही 'कुशल' शब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ 'कुश का उखाड़ने वाला' हो, इसका जो प्रसिद्ध अर्थ है वह तो 'दक्ष' अथवा 'निपुण' ही है। क्योंकि बात यह है कि शब्दों की व्युत्पत्ति और शब्दों की प्रवृत्ति ('व्यवहार) के निमित्त एक नहीं अपितु भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। (इस प्रकार 'कुशल' शब्द की व्युत्पत्ति—प्रकृति-प्रत्यय-विभागकल्पना से 'कुशोत्पाटक' अर्थ भले ही निकला करे किन्तु इस शब्द का व्यवहार तो एकमात्र 'दक्ष' अथवा 'निपुण' अर्थ में ही हुआ करता है। इसमें क्या प्रमाण कि व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ ही मुख्यार्थ हो और वह अर्थ जो प्रवृत्तिनिमित्तक हो मुख्यार्थ न हुआ करे ! इससे यही सिद्ध है कि 'कुशल' शब्द का मुख्यार्थ 'दक्ष' है।) क्योंकि व्युत्पत्तिनि-मित्तक अर्थ ही यदि सर्वत्र मुख्यार्थ हुआ करे तब तो 'गौः शेते'-'गौ सोती है' यहाँ भी लक्षणा ही हुआ करेगी क्योंकि 'गौ' शब्द की व्युत्पत्ति है—'गच्छतीति गौः', जिसमें गम-नार्थक 'गम्लृ' (गम्) धातु से 'गमेर्डोः' इस उणादि (२—६७) सूत्र के अनुसार 'डो' प्रत्यय लगा हुआ है जिससे इसका वाचकरूप से प्रयोग तभी उचित है जब कि गौ चलती रहा करे। गाय-बैल के लिये उनके सोते समय तो 'गौः' शब्द का प्रयोग हो ही नहीं सकता (और यदि होता है और अवश्य होता है तब तो यही मानना पड़ेगा कि 'गौः शेते' आदि प्रयोग लाक्षणिक प्रयोग हैं)।

विमर्श—(क) लक्षणा को **'समारोपित शब्दव्यापार'** कहने का वही अभिप्राय है जो कि उसे **'सान्तरार्थनिष्ठ'** कहने का है। काव्यप्रकाश के व्याख्याकार आचार्य कमलाकर ने लक्षणा के **'सान्तरार्थनिष्ठ'** होने का यही अभिप्राय लिया है—

'अन्तरं मुख्येन व्यवधानं तेन सहितो योऽर्थस्तीरादिस्तन्निष्ठः स्वनिरूपितसम्बन्धस्य स्वावृत्तित्वात् लक्ष्यनिष्ठः। ······मुख्यार्थधीपूर्वकत्वात् व्यवहितार्थनिष्ठापि मुख्यसम्बन्धि-तीरविषयत्वाद्वृत्तेर्विषयतासंबन्धेन शब्दनिष्ठेत्यर्थः।'

अर्थात् वस्तुतः तो लक्षणा अर्थव्यापार है क्योंकि यह तो मुख्यार्थ ही है जो कि अपने तात्पर्य के अनुपपन्न हो जाने पर अपने से किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध अर्थ का अवबोधक हुआ करता है। किन्तु इस मुख्यार्थ के व्यापार को शब्द में इसलिये आरोपित कर दिया जाया करता है क्योंकि अन्ततोगत्वा 'बाधितमुख्यार्थ' शब्द ही तो लक्ष्यार्थ का उत्थापक हुआ करता है।

(लक्षणा के भेद-प्रभेदः १ म=उपादानलक्षणा)

तद्भेदानाह—

मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये ।
स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादानलक्षणा ॥ ६ ॥

प्रदीपकार का भी यही कथन है—

'शक्यव्यवहितलक्ष्यार्थविषयत्वाच्छब्दे आरोपित एव स व्यापारः । वस्तुतोऽर्थनिष्ठ एव । तदेतदुक्तम्—'सान्तरार्थनिष्ठः इति ।'

अर्थात् वस्तुतः तो लक्षणा अर्थनिष्ठ शक्ति है। इसे शब्दशक्ति इसलिये कहा करते हैं क्योंकि अर्थव्यापार को शब्दव्यापार के रूप में मान लिया करते हैं। अभिधा जैसे शब्द का 'शक्यार्थ-विषयक' व्यापार है वैसे ही लक्षणा शब्द का **'शक्यव्यवहितलक्ष्यार्थविषयक'** व्यापार है।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने रूढि को लक्षणाप्रयोजक तो अवश्य माना है किन्तु **'कर्मणि कुशलः'** इस प्रयोग में मम्मटनिर्दिष्ट रूढिलक्षणा के खण्डन के लिये यह सिद्ध किया है कि 'कुशल' शब्द लाक्षणिक नहीं अपि तु वाचक है। काव्यप्रकाशकार ने तन्त्रवार्तिककार आचार्य कुमारिल भट्ट की मान्यता के आधार पर 'कुशल' शब्द में निरूढलक्षणा मानी है और सर्वदर्शनसंग्रहकार आचार्य सायणमाधव ने काव्यप्रकाशकार का ही समर्थन किया है—

'तत्र कर्मणि कुशल इत्यादि रूढिलक्षणाया उदाहरणम् । कुशांल्लातीति व्युत्पत्त्या दर्भादानकर्तरि यौगिकं कुशलपदं विवेचकत्वसारूप्यात् प्रवीणे प्रवर्तमानमनादिवृद्ध-व्यवहारपरम्परानुपातित्वेनाभिधानवत् प्रयोजनमनपेक्ष्य प्रवर्तते तदाह–'निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्' इति ।' (सर्वदर्शनसंग्रह : पातञ्जलदर्शन)

यहाँ साहित्यदर्पणकार की यह युक्ति है—'शब्द का मुख्यार्थ व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही नहीं अपि तु प्रवृत्तिलभ्य भी हुआ करता है। और इस प्रकार 'कुशल' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भले ही लक्षणा का उत्थापक हो किन्तु उसका जो प्रवृत्तिलभ्य अर्थ है अर्थात् दक्ष अथवा प्रवीण वह तो यहाँ सिद्ध करता है कि कुशल शब्द वाचक शब्द है, लाक्षणिक नहीं।'

अनुवाद—**जिस शक्ति के द्वारा किसी शब्द का मुख्यार्थ, किसी वाक्यार्थ में, अपने स्वरूप का परित्याग किये बिना भी, अपने अन्वय अर्थात् अन्य पदार्थ के साथ युक्तियुक्त सम्बन्ध की सिद्धि के लिये, अपने से भिन्न किसी अर्थ का आक्षेप अथवा प्रत्यायन किया करता है वह शक्ति 'उपादानलक्षणा' कही जाया करती है।**

विमर्श—'उपादानलक्षणा' का शब्दार्थ ही यह बता देता है कि इस प्रकार की लक्षणा में शब्द अपने मुख्यार्थ का परित्याग नहीं किया करता (उपादीयते मुख्यार्थोऽप्यनयेति उपादान-लक्षणा)। काव्यप्रकाशकार ने इसीलिये 'उपादान' का यह अभिप्राय बताया है—

'स्वसिद्धये पराक्षेपः............उपादानम्' (काव्यप्रकाश २. १०)

अर्थात् 'उपादान' वह है जिसे वाच्यार्थ का, अपने अन्वय की उपपत्ति अथवा सिद्धि के लिये, अपने से भिन्न अर्थ का आक्षेप करना कहा जाता है। काव्यप्रकाशकार के इसी अभिप्राय का 'प्रदीप'कार ने इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है—

'स्वार्थापरित्यागेन परार्थलक्षणमुपादानम्'

अर्थात् स्वार्थपरित्याग के बिना ही स्वार्थभिन्न अर्थ का प्रत्यायन 'उपादान' है।

यह 'उपादानलक्षणा' ही वैयाकरणों की **'अजहत्स्वार्था वृत्ति'** है जिसका बड़ा सुन्दर उदाहरण **'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'** यह प्रयोग है जहां 'काक' शब्द अपने वाच्यार्थ को

(उदाहरण-निरूपण)

रूढावुपादानलक्षणा यथा—'श्वेतो धावति'। प्रयोजने यथा—'कुन्ताः प्रविशन्ति'। अनयोर्हि श्वेतादिभिः कुन्तादिभिश्चाचेतनतया केवलैर्धावनप्रवेशनक्रिययोः कर्तृतयान्वयमलभमानैरेतत्सिद्धये आत्मसम्बन्धिनोऽश्वादयः पुरुषादयश्चाक्षिप्यन्ते। पूर्वत्र प्रयोजनाभावाद्रूढिः, उत्तरत्र तु कुन्तादीनामतिगहनत्वं प्रयोजनम्। अत्र च मुख्यार्थस्यात्मनोऽप्युपादानम्। लक्षणलक्षणायां

रखते हुए ही एक वाच्यार्थभिन्न अर्थ अर्थात् 'दध्युपघातक प्राणिमात्र' का अवबोध कराया करता है। आचार्य भर्तृहरि—(वाक्यपदीय २. ३१४) की इस प्रसङ्ग में यह उक्ति बड़ी सुन्दर है—

'काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिरिति बालोऽपि चोदितः।
उपघातपरे वाक्ये न श्वादिभ्यो न रक्षति॥'

अर्थात् यदि किसी बालक को भी कहा जाय—'काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिः' (अथवा-दधि) तो वह यही समझता है—'उपघातकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिः'। इससे यही स्पष्ट है 'काक' पद की जो वृत्ति है वह 'अजहत्स्वार्था वृत्ति' है अर्थात् मुख्यार्थ के ग्रहणपूर्वक मुख्यार्थभिन्न अर्थ के अवबोधन की वृत्ति (शक्ति) है।

अनुवाद—यह उपादानलक्षणा 'रूढि' अथवा प्रयोग-प्रवाह की दृष्टि से 'श्वेतो धावति—"सफ़ेद दौड़ रहा है' इत्यादि प्रसङ्गों में और 'प्रयोजन' अथवा अभिप्राय-विशेष के प्रकाशन की दृष्टि से 'कुन्ताः प्रविशन्ति—"भाले प्रवेश कर रहे हैं'—इत्यादि प्रसङ्गों में देखी जा सकती है। यहां पहले अर्थात् 'श्वेतो धावति' और दूसरे अर्थात् 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यादि उदाहरणों में यह स्पष्ट है कि 'श्वेत' (सफेद रंग) और 'कुन्त' (भाला) दोनों चेतना-शून्य वस्तुएँ हैं और इसलिये अपने आप में न तो 'श्वेत' ही दौड़ने की क्रिया के कर्ता के रूप में सम्बद्ध प्रतीत हो सकता है और न 'कुन्त' को ही प्रवेश करने की क्रिया के कर्ता के रूप में समन्वित समझा जा सकता है। अब इन वाक्यों में 'श्वेत' और 'कुन्त' रूप पदार्थों के दौड़ने और प्रवेश करने की क्रियाओं के कर्ता के रूप में समन्वित होने के लिए यह आवश्यक है कि ये अपने से भिन्न किन्तु किसी न किसी सम्बन्ध (समवाय अथवा संयोग) से सम्बद्ध अर्थों जैसे कि 'घोड़े' और 'मनुष्य' आदि का आक्षेप अथवा प्रत्यायन करा दें। यहां पहला अर्थात् 'श्वेतो धावति' आदि उदाहरण तो रूढि में उपादानलक्षणा का उदाहरण है क्योंकि इसमें किसी अभिप्रायविशेष का प्रकाशन नहीं किया जा रहा (इस प्रकार की भाषा तो वस्तुतः प्रतिदिन के व्यवहार में दिखायी दिया करती है) है। किन्तु दूसरे अर्थात् 'कुन्ताः प्रविशन्ति' आदि के सम्बन्ध में तो यह स्पष्ट ही है कि यहाँ एक अभिप्राय-विशेष का प्रकाशन किया जा रहा है और वह अभिप्राय-विशेष है—'कुन्तों (भालों) की अतिगहनता—किसी घने जंगल के वृक्षों की सी असंख्येयता' (जिसके देखते लोग भाग खड़े हों)।

'उपादानलक्षणा' इस नाम से ही यह सिद्ध है कि इस लक्षणा में शब्द का मुख्यार्थ अपने से भिन्न अर्थ को तो लक्षित किया ही करता है किन्तु अपने आप को भी छोड़ा नहीं करता। वस्तुतः इसीलिए यह लक्षणा, 'लक्षणलक्षणा' से, (जिसका अभी प्रतिपादन किया जायगा) जिसमें शब्द का मुख्यार्थ, अपने आप को छोड़-छाड़कर अपने से भिन्न अर्थ को ही केवल लक्षित किया करता है, सर्वथा भिन्न प्रकार की लक्षणा

तु परस्यैवोपलक्षणमित्यनयोर्भेदः। इयमेवाजहत्स्वार्थेत्युच्यते।

(२य : लक्षणलक्षणा)

अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये।
उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षणलक्षणा ॥ ७ ॥

हुआ करती है। 'उपादानलक्षणा' को ही 'अजहत्स्वार्था वृत्ति' भी कहा करते हैं (क्योंकि 'उपादान'-मुख्यार्थ का अपने स्वरूप को ग्रहण किये रहना और 'स्वार्थ का परित्याग न करना' दोनों एक ही बातें हैं)।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'उपादानलक्षणा' और 'अजहत्स्वार्था वृत्ति' को एक ही शब्दशक्ति मान कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आलंकारिकों और वैयाकरणों में लक्षणा के स्वरूप के सम्बन्ध में ऐकमत्य है और जो भी भेद है वह व्यपेक्षाभेद से नाम का ही भेद है। महावैयाकरण नागेशभट्ट ने भी 'अजहत्स्वार्था वृत्ति' के विवेचन में 'उपादान' का अभिप्राय अन्तर्भूत ही रखा है—

'स्वार्थसंवलितपरार्थाभिधायिकाऽजहत्स्वार्था। तेन 'छत्रिणो यान्ति,' 'कुन्तान् प्रवेशय,' 'यष्टीः प्रवेशय,' 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादौ छत्रिसहितसेना-कुन्तास्त्र-सहितपुरुष-यष्टिसहितपुरुष-काकसहितसर्वदध्युपघातकबोधः।'

(परमलघुमञ्जूषा : लक्षणाविचार)

अर्थात् जिस वृत्ति को 'अजहत्स्वार्था वृत्ति' कहा जाया करता है उसमें स्वार्थसंवलित पराथ के प्रत्यायन का ही रहस्य छिपा रहता है।

यह **'स्वार्थसंवलितपरार्थाभिदान'** और 'उपादान' **'स्वसिद्धये पराक्षेपः······उपादानम्'** वस्तुतः एक ही वस्तु के दो नाम हैं।

अनुवाद—**जिस शक्ति के द्वारा किसी शब्द का मुख्यार्थ, किसी वाक्यार्थ में, अपने स्वरूप का इसलिये सर्वथा परित्याग कर दिया करता है जिससे वहां उससे भिन्न (किन्तु किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध) किसी अर्थ का युक्तियुक्त समन्वय स्थापित हो जाय और ऐसा करते हुए वह (मुख्यार्थ) एकमात्र लक्ष्यार्थ का उपलक्षक बन जाया करता है, वह शब्दशक्ति 'लक्षणलक्षणा' कही जाया करती है।**

विमर्श—'लक्षणलक्षणा' में 'उपादान' के विपरीत 'लक्षण' का सिद्धान्त लागू हुआ करता है। 'लक्षण' का अभिप्राय है—**'परार्थं स्वसमर्पणम्'** (काव्यप्रकाश २-१०) अर्थात् अनुपपन्न होने वाले मुख्यार्थ का, मुख्यार्थभिन्न अर्थ के लिये आत्मसमर्पण। प्रदीपकार ने इसीलिए 'लक्षण' की यह परिभाषा की है—

'स्वार्थपरित्यागेन परार्थलक्षणं लक्षणम्।'

अर्थात् 'उपादान' तो 'स्वार्थापरित्यागपूर्वक' परार्थ को लक्षित करना है और जो 'लक्षण' है उसका अभिप्राय है 'स्वार्थपरित्यागपूर्वक' परार्थ को लक्षित करना।

यह 'लक्षणलक्षणा' ही 'जहत्स्वार्था वृत्ति' कही जाती है। काव्य-शास्त्र-व्याख्याता आचार्य मल्लिनाथ ने 'उपादान' और 'लक्षण' अर्थात् 'स्वार्थापरित्याग' और 'स्वार्थपरित्याग' पर आश्रित लक्षणाओं के भेदद्वय का इसी प्रकार निर्देश किया है—

'स्वार्थत्यागे समानेऽपि सह तेनान्यलक्षणा।
यत्रेयमजहत्स्वार्था जहत्स्वार्था तु तं विना॥'

(उदाहरण-निरूपण)

रूढिप्रयोजनयोर्लक्षणलक्षणा यथा–'कलिङ्गः साहसिकः' 'गङ्गायां घोषः' इति च। अनयोर्हि पुरुषतटयोर्वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये कलिङ्गगङ्गाशब्दावात्मानमर्पयतः।

यथा वा—

'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे! सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्॥'

परमलघुमंजूषाकार की भी दृष्टि 'लक्षणलक्षणा' अथवा 'जहत्स्वार्था वृत्ति' का यही स्वरूप है—

'स्वार्थपरित्यागेनेतरार्थाभिधायिकाऽन्त्या (जहत्स्वार्था) तत्परित्यागश्च शक्यार्थस्य लक्ष्यार्थान्वयिनाऽनन्वयित्वम्।'

अर्थात् 'जहत्स्वार्था वृत्ति' वह वृत्ति है जो कि स्वार्थपरित्यागपूर्वक परार्थ की अभिधायिका वृत्ति है। जैसे कि 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में 'गङ्गा' पद में 'जहत्स्वार्था वृत्ति' है क्योंकि यहाँ गङ्गापद अपने (शक्यार्थरूप) 'प्रवाह' अर्थ का परित्याग कर रहा है। 'गङ्गा' शब्द के 'स्वार्थपरित्याग' का यही तात्पर्य है कि यहां 'गङ्गा' शब्द अपने लक्ष्यार्थभूत तट के साथ आधाराधेयसम्बन्ध से संबद्ध घोषरूप अर्थ से अनन्वित ही रह जाता है क्योंकि प्रवाह और घोष में आधाराधेयभावरूप से क्या सम्बन्ध! निष्कर्ष यही है कि 'जहत्स्वार्था वृत्ति' अथवा 'लक्षणलक्षणा' केवल परार्थमात्र का प्रतिपादन करने वाली शब्दशक्ति है।

अनुवाद—यह लक्षणा भी 'रूढि' और 'प्रयोजन' दोनों अवस्थाओं में हुआ करती है। जैसे कि रूढि में—'कलिङ्गः साहसिकः'–'कलिङ्ग साहसी है' और प्रयोजन के प्रतिपादनार्थ, जैसे कि—'गङ्गायां घोषः'–'यह कुटी (अथवा आभीरपल्ली) गङ्गा पर है।' यहाँ पहली अर्थात् 'रूढलक्षणलक्षणा' में यह स्पष्ट है कि 'कलिङ्ग' शब्द (जिसका मुख्यार्थ एक प्रान्तविशेष–एक जड वस्तु–है और इसलिए जिसमें 'साहस' जैसे चेतन-पदार्थ के धर्म का समन्वय असंभव है) अपने स्वरूप और स्वभाव को इसलिये सर्वथा छोड़ चुका है जिससे इससे लक्षित होने वाला, इससे सर्वथा भिन्न अर्थ अर्थात् कलिङ्गनिवासी व्यक्तिविशेषरूप अर्थ यहाँ (जैसा कि युक्तियुक्त ही है) समन्वित हो जाय। दूसरी अर्थात 'प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा' में भी यह निःसंदिग्ध है कि 'गङ्गा' शब्द (जिसका मुख्यार्थ जल की धारा है जो कि कुटी अथवा आभीरपल्ली के अधिकरण (आधार) होने के कदापि योग्य नहीं) अपने आपको, अपने लक्ष्यार्थ अर्थात् 'तट' रूप अर्थ के लिये सर्वथा सौंप चुका है क्योंकि 'तट' रूप लक्ष्यार्थ ही यहाँ वाक्यार्थ में युक्तियुक्त हो सकता है जैसा कि वस्तुतः प्रतीत ही हो रहा है ('गङ्गातटे घोषः' के बदले 'गङ्गायां घोषः' का प्रयोग इसीलिये किया जाया करता है जिसमें गङ्गा की शीतलता और पवित्रता कुटी के वातावरण के रूप में प्रतीत हो जाया करे)।

अथवा निम्न उदाहरण में 'प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा' देख ली जाय:—

(किसी कुटिल व्यक्ति के प्रति उसके किसी सहृदय मित्र की मार्मिक उक्ति)—अरे मित्र! तुमने जो मेरी भलाइयाँ की हैं उनका कहाँ तक बखान करूँ। अरे! तुमने तो अपना सभी सौजज्य मुझ पर प्रकट कर दिया!! बस ऐसा ही करते जाओ और जीवनभर, भगवान् करे, सुखी रहा करो!!!'

अत्रापकारादीनां वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये उपकृतादयः शब्दा आत्मानमर्पयन्ति। अपकारिणं प्रत्युपकारादिप्रतिपादनान्मुख्यार्थबाधो वैपरीत्यलक्षणः सम्बन्धः, फलमप्यपकारातिशयः। इयमेव जहत्स्वार्थेत्युच्यते।

(उपर्युक्त लक्षणाओं के निमित्त-भेद से अन्य भेद)

आरोपाध्यवसानाभ्यां प्रत्येकं ता अपि द्विधा।

ताः पूर्वोक्ताश्चतुर्भेदलक्षणाः।

यहाँ 'उपकृत,' 'सुजनता' आदि-आदि शब्द अपने मुख्यार्थ से सर्वथा भिन्न अर्थ जैसे कि 'अपकार,' 'दुर्जनता' आदि-आदि के आगे आत्मसमर्पण किये पड़े हैं क्योंकि यहाँ वाक्यार्थ में इन लक्षित अर्थों का ही समन्वय संभव है और युक्तिसिद्ध भी है। यहाँ 'लक्षणा' का स्वरूप इस प्रकार प्रकाशित हो रहा है—(मुख्यार्थबाध) 'उपकृत', 'सुजनता' आदि शब्दों का अपना-अपना मुख्यार्थ अनुपपन्न होने से बाधित है क्योंकि कुटिलता का व्यवहार करने वाले को भला क्योंकर कोई उपकारी और सौजन्यपूर्ण कह सके! साथ ही साथ (मुख्यार्थ योग) यहाँ 'उपकार' और 'अपकार', 'सुजनता' और 'दुर्जनता' आदि-आदि मुख्य और लक्ष्य अर्थों में एक सम्बन्ध भी स्पष्ट है जो कि 'वैपरीत्य' रूप सम्बन्ध है। इस प्रकार के प्रयोग का एक प्रयोजन भी है जो कि यहाँ कुटिल मित्र की कुटिलता (और वक्ता की सुजनता) की पराकाष्ठा का प्रतिपादन है।

यह लक्षणलक्षणा ही 'जहत्स्वार्था वृत्ति' कही जाया करती है क्योंकि 'लक्षण'—अर्थात् शब्द का स्वार्थसमर्पणपूर्वक परार्थ का प्रतिपादन तथा 'अपने अर्थ को छोड़-छाड़ देना' दोनों एक ही बातें हैं।

विमर्श—'उपकृतम्' आदि सूक्ति में साहित्यदर्पणकार ने 'लक्षणलक्षणा' का जो दिग्दर्शन किया है वह आचार्य मम्मट के 'शब्दव्यापारविचार' (पृष्ठ ४) में इस प्रकार विशद रूप से निर्दिष्ट है—

'यथा वा 'उपकृतम्'······बहुभिरपकारस्ताप्यमानस्य कस्यचिदुक्तिरियम्। अतो वक्तृमहिम्ना मूर्खे बृहस्पतिशब्देन मूर्खत्वमिवापकारिणि दुर्जनत्वाद्यत्र लक्ष्यते।' और इसका जो तात्पर्य है वह यह है—'यत् त्वया बहु उपकृतं तद्विषये किं वाच्यम्। बहुत्वादुपकाराणां वक्तुं न शक्यते इत्यर्थः। भवता परं केवलं सुजनता प्रथिता प्रकटीकृता······हे सखे! तस्मादीदृशमेव सदा विदधत् शरदां वर्षाणां शतं सुखितं सुखयुक्तं यथा स्यात्तथा आस्स्व तिष्ठेति मुख्योऽर्थः। स च प्रकरणादिना बुद्ध्यापकारभावं प्रति बाधितः सन् विपरीतं लक्ष्यति। तद्यथा—उपकृतमपकृतम् सुजनता दुर्जनता।'(उदाहरण चन्द्रिका)

ऐसे प्रसङ्गों में लक्षणा के स्वरूपविचार के लिये मम्मट द्वारा उद्धृत यह वचन स्मरण रखना चाहिये—

'वक्तुर्वाक्यस्य वाच्यस्य रूपभेदाद्विभिद्यते।'

अनुवाद—उपर्युक्त लक्षणाओं में भी 'आरोप' और 'अध्यवसान' के कारण दो-दो भेद दिखायी दिया करते हैं।

यहाँ 'उपर्युक्त लक्षणाओं' का अभिप्राय है—चारों प्रकारों की लक्षणाओं का।

विमर्श—'आरोप' और 'अध्यवसान' उपचार के ही रूपभेद किंवा प्रकारभेद हैं। उपचार का व्यापक अर्थ भी है पारिभाषिक भी। व्यापक अर्थ में उपचार का तात्पर्य है—

'...**अतद्भावेऽपि तदुपचारः'** (न्यायसूत्र २. २. ६१) अर्थात् किसी सम्बन्ध-विशेष के कारण किसी वस्तु का उसके अवाचक पद द्वारा व्यपदेश अथवा अभिधान। न्यायभाष्यकार आचार्य वात्स्यायन ने इसे इस प्रकार समझाया है—'**अतद्भावेऽपि तदुपचार इति-अतच्छब्दस्य तेन शब्देनाभिधानमिति। सहचरणाद् यष्टिकां भोजयेति, यष्टिकासहचरितो ब्राह्मणोऽभिधीयते।** आचार्य उद्योतकर के अनुसार उपर्युक्त 'उपचार' का यह स्वरूप है—

'**निमित्तादतद्भावेऽपि तदुपचारः।......यथा यष्टिकाशब्देन द्रव्यविशेषोऽभिधीयते इति यष्टिकाशब्दात्तु पुनः साहचर्याद् ब्राह्मणविशेषोऽभिधीयते।...किं पुनरत्रोपचारबीजं यष्टिका ब्राह्मण इति।......यष्टिकायां तावदयं यष्टिकाशब्दो जातिनिमित्तः यष्टिकात्वं जातिः सा यष्टिकायां वर्तते तया यष्टिकात्वयुक्तया यष्टिकया ब्राह्मणस्य योगः साहचर्यात् संयुक्तसमवेतां जातिं ब्राह्मणेऽध्यारोप्य ब्राह्मणं यष्टिकेत्याह। एवं शेषाण्युपचारबीजानि स्वयमुत्प्रेक्षणीयानि।'** —(न्यायवार्तिक २. २. ६१)

अर्थात् किसी न किसी निमित्तविशेष से किसी अन्य वस्तु के लिये किसी अन्य वस्तुवाचक शब्द का प्रयोग करना 'उपचार' है। जैसे कि '**यष्टिकां भोजय**' आदि प्रयोगों में निमन्त्रित ब्राह्मणादि के लिये 'यष्टिका' शब्द का प्रयोग 'उपचार' है। उपचार के अनेकानेक बीज अथवा निमित्त संभव हैं। 'यष्टिका' शब्द जातिवाचक शब्द है जिसका अर्थ है 'छड़ी'। 'ब्राह्मण' के लिये 'यष्टिका' (छड़ी) शब्द के प्रयोग में 'ब्राह्मण' और 'यष्टिका' का साहचर्य ही निमित्त है। इसी प्रकार अन्य औपचारिक प्रसङ्गों में अन्य उपचार बीज देखे जा सकते हैं।

अलङ्कारशास्त्र में 'उपचार' शब्द एक पारिभाषिक शब्द है। साहित्यदर्पणकार के अनुसार 'उपचार' का अभिप्राय है—'...**अत्यन्तं विशकलितयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्**' अर्थात् परस्पर भिन्न दो वस्तुओं में, उनके सादृश्यातिशय के कारण, भेद के अवभास का स्थगित हो जाना। 'उपचार के अमिश्रण में लक्षणा 'शुद्धा' कही जाती है।' **उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्**—(काव्यप्रकाश उल्लास २)—यह काव्यप्रकाशकार का 'उपचार-विचार' साहित्यदर्पणकार के 'उपचारलक्षण' से एकरूप है। 'प्रदीप'कार ने इसीलिये दोनों का सामञ्जस्य निर्दिष्ट किया है—

'**उपचारश्च सादृश्यसंबन्धेन प्रवृत्तिः, सादृश्यातिशयमहिम्ना भिन्नयोर्भेदप्रतीतिस्थगनं वा।**' अर्थात् सादृश्यसम्बन्ध से शब्दप्रयोग 'उपचार' है अथवा यह भी कह सकते हैं कि सादृश्यातिशय के कारण परस्पर भिन्न दो वस्तुओं के भेद की प्रतीति का स्थगित होना ही 'उपचार' है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आलङ्कारिकों ने, व्यापक किंवा पारिभाषिक दोनों अर्थों में 'उपचार' शब्द का प्रयोग किया है। जैसे कि काव्यप्रकाशकार ने ही अपनी उपर्युक्त वृत्ति में तो 'उपचार' का अभिप्राय सादृश्यातिशय से किसी वस्तु के लिये किसी अन्यवस्तुवाचक शब्द का प्रयोग किया है किन्तु '**क्वचित्तादर्थ्यादुपचारः......**' आदि वृत्ति-वाक्य में उपचार को अन्यनिमित्तक भी निर्दिष्ट कर दिया है। प्राचीन अलङ्कारशास्त्र में 'उपचार' के सम्बन्ध में दोनों विचारधारायें दिखायी देती हैं। अभिधावृत्तिमातृकाकार आचार्य मुकुल भट्ट ने 'उपचार' के सामान्य और पारिभाषिक दोनों अर्थों को मिला कर 'शुद्धोपचार' और 'गौणोपचार' का सिद्धान्त स्थापित किया था। वस्तुतः इसी का प्रभाव काव्यप्रकाशकार के उपचारसम्बन्धी अभिप्रायद्वैविध्य पर पड़ा है। साहित्यदर्पणकार ने केवल 'सादृश्यातिशय'-निमित्तक उपचार को ही उपचार माना है। किन्तु शुद्धा लक्षणाओं में भी 'आरोप' और 'अध्यवसान' को मानते हुए उपचार का सामान्य अर्थ भी स्वीकार किया है।

(सारोपा और साध्यवसाना लक्षणायें)

विषयस्यानिगीर्णस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत् ॥ ८ ॥
सारोपा स्यान्निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका ।

अनुवाद—वह लक्षणा 'सारोपा' लक्षणा कही जाया करती है जिसमें 'विषय (अर्थात् आरोप विषय–जिस पर आरोप किया जाय) अपने स्वरूप में विराजमान रहते हुये भी अपने से भिन्न अर्थात् विषयी (अर्थात् आरोप्यमाण–जिसका आरोप किया जाय, उस) के साथ एकरूप-अभिन्न-प्रतीत हुआ करता है। और वह लक्षणा जिसे 'साध्यवसानिका' लक्षणा कहा करते हैं ऐसी हुआ करती है जिसमें 'विषयी' के द्वारा आच्छन्न-स्वरूप 'विषय' के अभेद का अनुभव हुआ करता है।

विमर्श—'आरोप' (अध्यारोप) का अभिप्राय है दो परस्पर भिन्न पदार्थों का 'सामानाधिकरण्य' द्वारा निर्देश। परस्पर भिन्न दो पदार्थों का 'सामानाधिकरण्य' द्वारा निर्देश तभी संभव है जब कि सादृश्यातिशय के कारण उनमें अभेद अभिप्रेत हो। आचार्य मुकुलभट्ट ने 'आरोप' का उपर्युक्त अभिप्राय इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'यत्राध्यारोप्यारोपविषययोर्भेदमनपह्नुत्यैव वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते, तत्रानपह्नुतस्वरूप एव वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरस्याधिकस्यारोप्यमाणत्वादध्यारोपः।···तथा हि–आयुर्घृतमित्यत्र नायुर्लक्षणकार्यान्तर्लीनतया कारणभूतस्य घृतस्य प्रतिपत्तिः। स्वरूपेणैव तस्य प्रतिपत्तेः। स्वरूपेणैव तु तस्य प्रतीयमानस्यायुःकारणत्वादायुष्ट्वं प्रतीयते। तेनाऽत्राध्यारोपः। एवं गौर्वाहीक इत्यत्राप्युपमानोपमेयस्वरूपानपह्नवात्। तदेवं यत्रोपचर्यमाणेनोपचर्यमाणविषयस्य स्वरूपं नापह्नूयते तत्राध्यारोपः।' (अभिधावृत्तिमातृका, पृष्ठ ८)

अर्थात् आरोप का अभिप्राय है 'अध्यारोप' का। 'अध्यारोप' दो की अपेक्षा करता है—(१) अध्यारोप्य और (२) आरोपविषय। जब 'अध्यारोप्य' और 'आरोपविषय' के परस्पर भेद को बिना छिपाये ही पहली वस्तु पर दूसरी वस्तु का, जो उससे अधिक गुण वाली हो आरोप किया जाय, पहली के लिए दूसरे के वाचक पद का प्रयोग किया जाय, तब वहाँ यह समझा जाता है कि 'अध्यारोप' हुआ हैं जैसे कि—'आयुर्घृतम्' इस प्रयोग में 'अध्यारोप' है। यहाँ यह स्पष्ट है कि 'घृत' और 'आयु' परस्पर भिन्न वस्तुयें हैं। 'घृत' आयुवृद्धि का कारण हैं और 'आयु' घृत-सेवन का फल है। अब 'घृत' को अर्थात् (आयुष्य के) कारण को 'आयु' अर्थात् कार्य कहना उपचार के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ! यह उपचार ऐसा है जिसमें विषय और विषयी दोनों अपने-अपने वाचक शब्दों द्वारा उपस्थित किये गये हैं। इसी प्रकार 'गौर्वाहीकः' आदि प्रयोगों में भी 'उपचार' ही है जहाँ उपचर्यमाण–विषय (आरोपविषय) 'वाहीकः' किंवा उपचर्यमाण (आरोप्यमाण अथवा विषयी) 'गौः'–दोनों अपने स्वरूप में विद्यमान हैं और दोनों का 'सामानाधिकरण्य' भेद में भी अभेदावभास का साधक बन रहा है।

'अध्यवसान' का तात्पर्य है–आरोप विषय (जैसे कि 'गौरयम्' में 'अयम्'–कोई निर्दिष्ट पुरुष-विशेष) का आरोप्यमाण (जैसे कि 'गौरयम्' में गौः) में अन्तर्लय, जिसमें 'आरोपविषय' का स्वरूप पृथक् न प्रतीत हुआ करे। आचार्य मुकुलभट्ट के शब्दों में 'अध्यवसान' का यही स्वरूप निर्दिष्ट है—

'यत्र तूपचर्यमाणविषयस्योपचर्यमाणेऽन्तर्लीनतया विवक्षितत्वात् स्वरूपापह्नवः क्रियते तत्राध्यवसानम्।'—(अभिधावृत्तिमात्रिका, पृष्ठ ८)

(उपर्युक्त लक्षणा-भेदों के उदाहरण)

विषयिणा अनिगीर्णस्य विषयस्य तेनैव सह तादात्म्यप्रतीतिकृत्सारोपा। इयमेव रूपकालङ्कारस्य बीजम्।

रूढावुपादानलक्षणा सारोपा यथा—'अश्वः श्वेतो धावति'। अत्र हि श्वेतगुणवानश्वोऽनिगीर्णस्वरूपः स्वसमवेतगुणतादात्म्येन प्रतीयते।

प्रयोजने यथा—'एते कुन्ताः प्रविशन्ति'। अत्र सर्वनाम्ना कुन्तधारिपुरुष-निर्देशात्।

आरोप' और 'अध्यवसान' की सरल परिभाषा यह है—

आरोपविषयविषयिणोर्भेदेनोपन्यासः आरोपः।

अर्थात् आरोप-विषय और आरोप्यमाण (विषयी) का भेदपूर्वक जो उपन्यास है वह 'आरोप' है।

अध्यवसानविषयिणा विषयतिरोभावोऽध्यवसानम्।

अर्थात् आरोप्यमाण (विषयी) के द्वारा आरोप-विषय का जो तिरोभाव अथवा स्वरूपापह्नव है वह 'अध्यवसान' है।

अनुवाद – लक्षणा के 'सारोपा' होने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार की लक्षणा आरोप के विषय और उसके विषयी में ऐसा अभेद बतलाया करती है जिसमें 'विषय' का स्वरूप 'विषयी' के द्वारा ढँका-ढँकाया नहीं प्रतीत हुआ करता। यही लक्षण वस्तुतः रूपक–अलङ्कार का बीज है। उदाहरण के लिये, रूढि में आरोपगर्भित उपादान लक्षणा (रूढोपादानसारोपा)—'अश्वः श्वेतो धावति' 'सफेद घोड़ा दौड़ रहा है' इत्यादि में देखी जा सकती है। यहाँ सफेद रंग वाला घोड़ा दौड़ रहा है यही अभिप्राय निकला करता है। वस्तुतः बात यह है कि 'सफेद रंग वाला घोड़ा' न कहकर 'सफेद घोड़ा' ही कहा जाया करता है क्योंकि इस प्रकार के प्रयोग की एक रूढि अथवा परम्परा चली आ रही है। साथ ही साथ यहाँ 'श्वेत' शब्द एक रंगविशेष का अभिप्राय रखने के कारण 'दौड़ता है' इस क्रिया के साथ असम्बद्धार्थक सा होकर, इस वाक्यार्थ में समन्वित हो सकने के लिये, अपने मुख्यार्थ को बिना छोड़े-छाड़े भी, अपने से भिन्न (किन्तु समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध) 'श्वेत गुण युक्त' रूप पदार्थ का बोधक हो रहा है और इस प्रकार यहाँ 'उपादान' का सिद्धान्त सर्वथा लागू दिखायी दे रहा है। इसके अतिरिक्त यहाँ 'आरोप' भी स्पष्ट है क्योंकि आरोप के विषय 'अश्व' का स्वरूप विषयी अर्थात् 'श्वेत' से ढका नहीं है (क्योंकि दोनों साक्षात् शब्दतः प्रतिपादित हैं) और तब भी 'अश्व' रूप द्रव्य और उसमें समवायसम्बन्ध से रहने वाला श्वेत रूप गुण दोनों परस्पर अभिन्न रूप से बतःये जा रहे हैं (क्योंकि बिना ऐसा हुये 'श्वेत' और 'अश्व' शब्दों का समानाधिकरण्य = समान विभक्ति द्वारा उपादान-कदापि नहीं हो सकता)।

प्रयोजन की विवक्षा में, उपादानवती सारोपा लक्षणा (प्रयोजनवती सोपादान सारोपा लक्षणा) इस प्रकार के प्रयोगों, जैसे कि 'एते कुन्ताः प्रविशन्ति'–'ये भाले प्रवेश कर रहे हैं' आदि में देखी जा सकती है। यहाँ 'आरोप' स्पष्ट है क्योंकि 'एते'–'ये'–इस सर्वनाम शब्द से निर्दिष्ट लोगों (अनिगीर्ण स्वरूप विषय) और 'कुन्ताः'–'भाले' (विषयी) इन दोनों के तादात्म्य (अभेद) का पता चल रहा है (जिससे इस दृश्य की भयावहता बढ़ती प्रतीत हो रही है)।

रूढौ लक्षणलक्षणा सारोपा यथा—'कलिङ्गः पुरुषो युध्यते'। अत्र कलिङ्ग-पुरुषयोराधाराधेयभावः सम्बन्धः।

प्रयोजने यथा—'आयुर्घृतम्'। अत्रायुष्कारणमपि घृतं कार्यकारणभावसम्बन्धसम्बन्ध्यायुस्तादात्म्येन प्रतीयते। अन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेणायुष्करत्वं प्रयोजनम्।

यथा वा—राजकीये पुरुषे गच्छति 'राजासौ गच्छति' इति। अत्र स्व स्वामिभावलक्षणः सम्बन्धः। यथा वा—अग्रमात्रेऽवयवभागे 'हस्तोऽयम्'। अत्रावयवावयविभावलक्षणसम्बन्धः। 'ब्राह्मणोऽपि तक्षाऽसौ'। अत्र तात्कर्म्यलक्षणः।

इसी प्रकार रूढि में आरोप गर्भित लक्षण लक्षणा (रूढ सारोपा लक्षण लक्षणा) ऐसे प्रयोगों, जैसे कि 'कलिङ्गः पुरुषो युध्यते'—'यह कलिङ्ग पुरुष लड़ रहा है'–इत्यादि में देखी जा सकती है। जहाँ 'कलिङ्ग' (देश विशेष) और 'पुरुष' में 'आधार' और 'आधेय' का सम्बन्ध होने के कारण 'कलिङ्ग' (विषयी) और 'पुरुष' (विषय) का अभेद भी (समानाधिकरण्य अर्थात् एक विभक्ति के प्रयोग में) स्पष्ट पता चल रहा है (और यह तो निश्चित ही है कि 'कलिङ्ग' शब्द अपने देशविशेष रूप मुख्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर एकमात्र 'कलिङ्ग निवासी' रूप अर्थ का उपलक्षक हो रहा है अन्यथा यहाँ वाक्यार्थ में इसका समन्वय कैसे ?)

प्रयोजन के प्रतिपादन में आरोप गर्भित लक्षण लक्षणा (प्रयोजनवती सारोपा लक्षण लक्षणा) का उदाहरण है—'आयुर्घृतम्'–'घी आयु है'। यहाँ 'आरोप' का अभिप्राय है—'घृत', जो दीर्घ जीवन का कारण है और 'आयु'–'दीर्घजीवन', जो घृत के सेवन का परिणाम है—दोनों में तादात्म्य अथवा अभेद की प्रतीति (साथ ही साथ यहाँ 'आयु' शब्द अपने मुख्यार्थ (दीर्घ जीवन) का सर्वथा परित्याग कर इस मुख्यार्थ से कार्यकारण-भावरूप सम्बन्ध से सम्बद्ध, 'आयु के कारण' रूप अर्थ का उपलक्षक हो रहा है)। यहाँ जिस उद्देश्यविशेष के बोध के लिये 'आयुर्घृतम्' कहा गया है वह है अन्य पौष्टिक पदार्थों की अपेक्षा घृत की संजीवन शक्ति का आधिक्य।

इसी प्रकार मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में अन्यान्य अनेकों सम्बन्ध जहां–तहां दिखाई पड़ा करते हैं जिनके आधार पर लक्षणा टिका करती है जैसे कि जब कोई राज–कर्मचारी जा रहा हो तो लोग कह उठते हैं—'वह राजा साहब जा रहे हैं' (राजाऽसौ, गच्छति)। अब यहां जो बात है वह है 'असौ'–'वह' (राजकर्मचारी) और 'राजा'-दोनों (अर्थात् विषय और विषयी (का स्पष्टतया अपने-अपने शब्दों द्वारा उपादान किंवा दोनों में अभेद का प्रत्यायन, जिसका कारण है दोनों का स्वस्वामिभाव रूप सम्बन्ध से सम्बद्ध रहना (इस प्रकार यहां भी सारोपा प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा स्पष्ट दिखायी दे रही है)। अथवा जब केवल अपने या किसी दूसरे के हाथ के अगले हिस्से को लक्ष्य कर कहा जाता है—'यह हाथ' (हस्तोऽयम्) तब भी वस्तुतः रूढ सारोपा लक्षणलक्षणा का ही आश्रय लिया गया प्रतीत होता है क्योंकि 'हाथ' और 'हाथ के अगले हिस्से' में अवयवावयविभाव सम्बन्ध विराजमान है (हाथ तो अवयवी है और उसका अगला हिस्सा उसका अवयव है) जिसके कारण 'अयम्'-'यह' (विषय) और 'हस्तः'–'हाथ' (विषयी) का अभेदारोप स्पष्ट प्रतीत होता है। इसी प्रकार जब तक्षण-कला में कुशल किसी ब्राह्मण के लिये कहा जाता है—'वह तो बढ़ई है (तक्षाऽसौ) तब वहां भी

इन्द्रार्थासु स्थूणासु 'अमी इन्द्राः'। अत्र तादर्थ्यलक्षणः सम्बन्धः। एवमन्यत्रापि। निगीर्णस्य पुनर्विषयस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत्साध्यवसाना। अस्याश्चतुर्षु भेदेषु पूर्वोदाहरणान्येव। तदेवमष्टप्रकारा लक्षणा।

प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा स्पष्ट दिखायी दिया करती है क्योंकि 'असौ'–'वह ब्राह्मण' और 'तक्षा'–'बढ़ई'–दोनों में 'तात्कर्म्य' (जो जिसका कार्य न हो उसका उस कार्य में सामर्थ्य) रूप सम्बन्ध विद्यमान है जिसके कारण दोनों में अभेद-प्रतीति स्पष्ट है और साथ ही साथ यहाँ निर्दिष्ट व्यक्ति के तक्षण-कौशल के भी प्रकाशित करने का उद्देश्य झलक रहा है। इसी भांति जब यज्ञ में इन्द्र के उद्देश्य से स्थापित 'स्थूणाओं' (स्तम्भों) को लक्ष्य कर कहा जाता है—'अमी इन्द्राः'–'ये रहे इन्द्र' तब वहां भी प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा ही दिखायी दिया करती है क्योंकि 'अमी' अर्थात् स्थूणाओं (स्तम्भों) और 'इन्द्राः'–'इन्द्र' दोनों में 'तादर्थ्य' (एक के, दूसरे के उद्देश्य से, प्रतीक रूप से अवस्थान) का सम्बन्ध विराजमान है जिसके कारण दोनों में तादात्म्य की प्रतीति करवायी गयी है और साथ ही साथ इन्द्र की पूज्यता के भाव को स्थूणाओं में प्रतिष्ठित करने का उद्देश्य भी स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। इसी भांति के अनेकानेक अन्य प्रयोग हुआ करते हैं जहाँ सारोपा लक्षणलक्षणा का दर्शन किया जा सकता है।

अब वह लक्षणा जिसमें 'अध्यवसान' का सिद्धान्त लागू रहा करता है (साध्यवसाना लक्षणा) ऐसी हुआ करती है जिसमें 'विषयी' के द्वारा अन्तर्हित किये हुये (और इसीलिये शब्दतः अनुपात्त) 'विषय' का 'विषयी' के साथ तादात्म्य अथवा अभेद बताया जाया करता है। इस लक्षणा के चारों प्रकारों को उपर्युक्त सारोपा लक्षणा के उदाहरणों-(के किंचित परिवर्तन) द्वारा समझा जा सकता है (जैसे कि रूढ़ साध्यवसाना उपादान-लक्षणा–'श्वेतो धावति'—'सफेद दौड़ रहा है' प्रयोजनवती साध्यवसाना उपादान लक्षणा 'कुन्ताः प्रविशन्ति'–'भाले प्रवेश कर रहे हैं'। यहां 'श्वेतः' और 'कुन्ताः' ये विषयी तो शब्दतः उपात्त हैं किन्तु 'अश्वः' और 'एते' ये आरोप-विषय अन्तर्हित हैं और इसलिये शब्दतः प्रतिपादित नहीं किये गये)। इसी प्रकार रूढ साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा–'कलिङ्गः साहसिकः'–'कलिङ्ग साहसी है'–और प्रयोजनवती साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा–'गङ्गायां घोषः'–'गङ्गा पर कुटी है' यहां भी 'कलिङ्गः' और 'गङ्गायां'–ये दोनों 'विषयी' तो विद्यमान हैं किन्तु आरोप विषय जैसे कि 'असौ' और 'अत्र' विद्यमान नहीं। किन्तु दोनों में अभेद का बोध स्वभावतः हो रहा है।

विमर्श—(क) 'सारोपा लक्षणा रूपक अलङ्कार का बीज है' (**इयमेव रूपकालङ्कारस्य बीजम्**) यह अलङ्कारशास्त्र की परम्परागत मान्यता है। 'रूपक' अलङ्कार के स्वरूपोत्थान में प्रकृत और अप्रकृत (उपमेय और उपमान) का 'अभेदप्राधान्य' कारणरूप से रहा करता है। उपमेय और उपमान में 'अभेदप्राधान्य' तभी संभव है जब कि उनके भेद का वास्तविक सद्भाव अक्षुण्ण हो। 'प्रधान' और 'अप्रधान' शब्द परस्पर सापेक्ष शब्द हैं। 'अभेद की प्रधानता' से ही भेद की अप्रधानता (और इसीलिये भेद-सद्भाव) का निष्कर्ष निकल पड़ता है। अभेद की प्रधानता (किंवा भेद-सद्भाव की अवश्यंभाविता) 'आरोप' में ही संभव है, 'अध्यवसान' में नहीं। 'आरोप' में ही यह संभव है कि विषय और विषयी (उपमेय और उपमान) पृथक् भी निर्दिष्ट हों और अभिन्न रूप से भी प्रतीत हुआ करें (**विषयविषयिणोः पृथङ्निर्दिष्टयोरभेद आरोपः**-रसगङ्गाधर-द्वितीय आनन)। 'आरोप' भी शब्दारोप नहीं अपि तु अर्थारोप है।

(निमित्तभेद से उपर्युक्त लक्षणा-भेदों के अन्य प्रभेद)

सादृश्येतरसंबन्धाः शुद्धास्ताः सकला अपि।
सादृश्यात्तु मता गौण्यस्तेन षोडश भेदिताः॥ ९॥

(शुद्धा और गौणी लक्षणाओं के दृष्टान्त)

ताः पूर्वोक्ता अष्टभेदा लक्षणाः। सादृश्येतरसंबन्धाः कार्यकारणभावादयः। अत्र शुद्धानां पूर्वोदाहरणान्येव। रूढावुपादानलक्षणा सारोपा गौणी यथा—

'मुखं चन्द्रः' में आरोप है अर्थात् प्रकृत (विषय अथवा उपमेय) 'मुख' और अप्रकृत (विषयी अथवा उपमान) 'चन्द्र' में, भेद के सद्भाव में भी, अभेद विवक्षित है किन्तु यहां 'मुख' शब्द पर 'चन्द्र' शब्द का आरोप नहीं क्योंकि दोनों शब्द पृथक्-पृथक् अपने-अपने स्वरूप में प्रत्यक्ष विद्यमान हैं। यहां जो बात है वह है मुखरूप उपमेयभूत पदार्थ पर चन्द्ररूप उपमानभूत पदार्थ का आरोप। ऐसा 'आरोप' भ्रान्तिवश नहीं अपि तु प्रयोजनवश-ही किया जाया करता है। इस प्रकार 'आरोप' अथवा अपने-अपने स्वरूप में विराजमान 'विषय' और 'विषयी' (उपमेय और उपमान) के अभेदावभास के ही फलक पर रूपकालङ्कार की रूपरेखा खिंचा करती है। इसी प्रकार विषय और विषयी (आरोपविषय और आरोप्यमाण) में उनके परस्पर पृथक् रूप से उपस्थित होने पर भी तादात्म्य प्रतीति सारोपा लक्षणा की प्रतीति है। 'रूपक' में आरोप चमत्कार का कारण हुआ करता है इसलिये रूपक को 'अलङ्कार' कहा जाया करता है। 'लक्षणा' में आरोप वाग्व्यवहार का स्वभाव हुआ करता है इसलिये उसे लोकयात्रा का निर्वाहक माना गया है।

(ख) 'आरोप' की भांति 'अध्यवसान' में भी 'तादात्म्य' अथवा 'अभेद' की ही प्रतीति हुआ करती है किन्तु 'आरोप' में होने वाली अभेदप्रतीति की अपेक्षा 'अध्यवसान' में होने वाली अभेदप्रतीति अधिक उत्कृष्ट हुआ करती है (**आरोपादभेदेऽध्यवसायः प्रकृष्यते**-अलङ्कार-सर्वस्व)। इसका कारण यही है कि 'अध्यवसान' में विषय (उपमेय) और विषयी (उपमान) पृथक् रूप से निर्दिष्ट नहीं रहा करते। 'अध्यवसान' में तो विषयी (उपमान) अपने विषय (उपमेय) को ऐसे ढक लिया करता है कि विषयी के अतिरिक्त विषय का अस्तित्व ही नहीं रह पाता (**अपृथङ्निर्दिष्टे विषये विषय्यभेदोऽध्यवसानम्**-रसगङ्गाधर-द्वितीय आनन)। यह 'अध्यवसान' उत्प्रेक्षालङ्कार का बीज है (**तदेवं विषयस्य निगीर्यमाणत्वाद्विषयिणश्च निश्चयात् सिद्धमध्यवसायमूलत्वमस्या (उत्प्रेक्षाया) इति यथोक्तमेव (उत्प्रेक्षा-) लक्षणं पर्यालोचिताभिधानम्**—जयरथ-अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी)।

अनुवाद—**ये उपर्युक्त अष्टविध (चार प्रकार की सारोपा और चार प्रकार की साध्यवसाना) लक्षणायें भी 'शुद्धा' और 'गौणी'-इन दो भेदों में विभक्त होकर १६ प्रकार की हुआ करती हैं। 'शुद्धा' का अभिप्राय है-उपर्युक्त अष्टविध लक्षणाओं में सादृश्यरूप सम्बन्ध से भिन्न प्रकार के ही सम्बन्ध जैसे कि कार्यकारणभावादिरूप सम्बन्ध का पाया जाना और 'गौणी' का तात्पर्य है उपर्युक्त अष्टविध लक्षणाओं में सादृश्य सम्बन्ध का ही प्रयोजक होना।**

अनुवाद—**यहां कारिका में 'ताः'-'उन' (लक्षणाओं) का अभिप्राय है पूर्वोक्त आठों प्रकारों की (४ प्रकार की सारोपा+४ प्रकार की साध्यवसाना) लक्षणाओं का। 'सादृश्येतरसम्बन्धाः'-'सादृश्य रूप सम्बन्ध से भिन्न प्रकार के सम्बन्धों से सम्बद्ध होने' का तात्पर्य है कार्यकारणभाव आदि-आदि रूप सम्बन्धों से सम्बद्ध होने का। इन लक्षणाओं में 'शुद्धा' लक्षणाओं के तो उदाहरण वे ही हैं जिन्हें अभी-अभी निर्दिष्ट किया जा चुका है**

'एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि'। अत्र तैलशब्दस्तिलभवस्नेहरूपं मुख्यार्थमुपादायैव सार्षपादिषु स्नेहेषु वर्तते। प्रयोजने यथा—राजकुमारेषु तत्सदृशेषु च गच्छत्सु 'एते राजकुमारा गच्छन्ति'। रूढावुपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी यथा–'तैलानि हेमन्ते सुखानि'। प्रयोजने यथा–'राजकुमारा गच्छन्ति'। रूढौ लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी यथा—'राजा गौडेन्द्रं कण्टकं शोधयति'।

(जैसे कि 'अश्वः श्वेतो धावति' आदि-आदि)। अब 'गौणी' लक्षणाओं के जो उदाहरण हैं वे ये हैं जैसे कि—रूढि में गौणी सारोपा उपादानलक्षणा—'एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि'–ये वे तेल हैं जो हेमन्तऋतु में सुखकर हुआ करते हैं।

यहाँ लक्षणा के उपादानवती (और साथ ही साथ रूढि में गौणी सारोपा) होने का अभिप्राय यह है कि 'तैल' शब्द अपने मुख्य अर्थ अर्थात् तिलों से निकाले गये स्नेहन-पदार्थरूप अभिप्राय को विना छोड़े हुए ही सरसों आदि-आदि से निकाले गये स्नेहन पदार्थों का बोधक हो रहा है (क्योंकि तिल और सरसों आदि पदार्थों में स्निग्धता का सादृश्य सर्वविदित है) साथ ही साथ यहाँ रूढि भी स्पष्ट है क्योंकि 'तैल' शब्द प्रायः समस्त स्निग्ध पदार्थों के निचोड़ के लिये व्यवहृत हुआ करता है। इसके अतिरिक्त 'एतानि' (विषय) और 'तैलानि' (विषयी)-दोनों पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट हैं और दोनों में अभेद का भी अनुभव हो रहा है जो कि 'सामानाधिकरण्य' से वस्तुतः प्रतिपादित किया हुआ है)।

प्रयोजन में गौणी सारोपा उपादानलक्षणा जैसे कि—'एते राजकुमाराः गच्छन्ति'–'ये राजकुमार लोग चले जा रहे हैं'—यह वाक्य। ऐसा वाक्य वस्तुतः राजकुमारों को ही जाते हुए निर्दिष्ट कर नहीं बोला जाया करता अपि तु राजकुमारों जैसे लगने वाले सुन्दर नवयुवकों को भी लक्ष्य कर बोला जाया करता है (यहाँ यह स्पष्ट है कि 'एते' (विषय) और 'राजकुमाराः' (विषयी) दोनों का, पृथक् निर्देश होने से, अभेदारोप किया गया है और ऐसे आरोप में सादृश्यसम्बन्ध के ही एकमात्र निमित्त होने से लक्षणा का गौणी होना भी स्वयंसिद्ध है। साथ ही साथ यहाँ 'राजकुमाराः' यह शब्द अपने मुख्यार्थ को विना छोड़े हुए भी अपने मुख्यार्थ से भिन्न सजे-धजे सुन्दर युवकों को लक्षित कर रहा है जिसमें उपादान का स्वरूप स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। ऐसे प्रयोग का एक प्रयोजन भी है और वह है यहाँ निर्दिष्ट लोगों की रोबीली चाल-ढाल आदि की ओर संकेत करना)।

रूढि में साध्यवसाना गौणी उपादानलक्षणा जैसे कि—'तैलानि हेमन्ते सुखानि'—'तेल हेमन्त ऋतु में आनन्द दिया करते हैं' और प्रयोजन में साध्यवसाना गौणी उपादानलक्षणा जैसे कि—'राजकुमाराः गच्छन्ति'—'राजकुमार लोग चले जा रहे हैं' (यहाँ दोनों उदाहरणों में रूढि और प्रयोजन-प्रतिपादन तो क्रमशः स्पष्ट ही है। साथ ही साथ 'तैलानि' और 'राजकुमाराः' (विषयी) के द्वारा 'एतानि' और 'एते' (विषय) का स्वरूप अन्तर्निगीर्ण है जिसमें अध्यवसानमूलक अभेद सिद्ध हो रहा है)।

रूढि में गौणी सारोपा लक्षणलक्षणा जैसे कि—'राजा गौडेन्द्रं कण्टकं शोधयति'—'राजा अपने कांटे गौडराज को उखाड़ रहा है'। [यहाँ 'कण्टक' शब्द अपना आत्मसमर्पण कर रहा है क्योंकि बिना ऐसा किये यहाँ के वाक्यार्थ में 'गौडेन्द्र' शब्द की संगति नहीं बैठ सकती। भला 'कण्टकम्' और 'गौडेन्द्र'–में कैसा सामानाधिकरण्य ! यह सामा-

प्रयोजने यथा—'गौर्वाहीकः'। रूढौ लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी यथा—'राजा कण्टकं शोधयति'। प्रयोजने यथा—'गौर्जल्पति'।

नाधिकरण्य तो गौडराज और कांटे में दुःखदायी होने के सादृश्य के ही कारण संभव है। इस प्रकार 'कण्टक' शब्द वस्तुतः 'दुःखद नीच शत्रु'-इस अर्थ का ही उपलक्षक मात्र है (गौणी लक्षणलक्षणा)। यहाँ रूढि है क्योंकि क्षुद्र शत्रु के लिये 'कण्टक' शब्द प्रयोग-प्रवाह में पड़ निकला है। साथ ही साथ पृथक-पृथक् निर्दिष्ट 'कण्टकम्' (विषयी) और 'गौडेन्द्रम्' (विषय) दोनों में तादात्म्य अथवा अभेद भी प्रतीत ही हो रहा है—सारोपा लक्षणा]।

प्रयोजन में, गौणी सारोपा लक्षणलक्षणा जैसे कि—'गौर्वाहीकः'-'वाहीक (पञ्जाबी) बैल है, (यहाँ 'गौः'-'बैल' और 'वाहीक'—'पञ्जाबी किसी व्यक्ति'—में मूर्खता का सादृश्य होने से गौणी लक्षणा का स्वरूप स्पष्ट दिखायी दे रहा है। इस प्रकार के प्रयोग से उस व्यक्ति की अत्यधिक मूर्खता का प्रकाशन ही यहाँ वक्ता का प्रयोजन है। साथ ही 'गौ' शब्द मूर्ख का ही उपलक्षण करने में चरितार्थ है जिसमें लक्षणलक्षणा की रूपरेखा स्पष्ट झलक रही है)।

रूढि में, गौणी साध्यवसाना लक्षणलक्षणा जैसे कि—'राजा कण्टकं शोधयति'—'राजा कांटे को उखाड़ रहा है' (यहाँ रूढि तो इसलिये है क्योंकि 'कण्टक' शब्द क्षुद्रशत्रु के अर्थ में साधारणतया प्रयुक्त हुआ करता है; साथ ही यहाँ अध्यवसान के सिद्धान्त को भी लागू देख सकते हैं क्योंकि 'कण्टक'-इस 'विषयी' के द्वारा 'गौडेन्द्र'-यह विषय अन्त-र्निगूढ पड़ा है जिसमें दोनों का सर्वथा भेदाभाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है, इसके अति-रिक्त 'कण्टक' और 'गौडेन्द्र' के बीच लक्षणा-प्रयोजक दुःखदायित्वरूप गुण का सादृश्य भी स्पष्ट है और साथ ही साथ 'कण्टक' शब्द एकमात्र क्षुद्रशत्रु का ही उपलक्षक हो रहा है क्योंकि अपने मुख्यार्थ में तो इसका यहाँ के वाक्यार्थ में, समन्वय होने से रहा)।

प्रयोजन में, गौणी साध्यवसाना लक्षणलक्षणा जैसे कि—'गौर्जल्पति'-'बैल बोल रहा है' (यहाँ किसी मूर्ख व्यक्ति को बोलते देख वक्ता ने जो 'गौर्जल्पति' जैसा वाक्य प्रयुक्त किया है उसमें उसका उद्देश्य वस्तुतः उस व्यक्ति की मूर्खता की पराकाष्ठा का ही प्रतिपादन है। निर्दिष्ट व्यक्ति और बैल में मूर्खता के गुण का सादृश्य ही यहां लक्षणा का प्रयोजक है। साथ ही साथ 'गौ' इस विषयी के द्वारा आरोप के विषय—'वाहीक'—के स्वरूप के सर्वथा अन्तर्हित होने से लक्षणा का साध्यवसाना होना भी निःसंदिग्ध है। इसके अतिरिक्त 'गौ' शब्द एकमात्र मूर्खरूप अर्थ का ही उपलक्षण है जिसमें 'लक्षण' भी अथवा 'किसी शब्द के, अपने अर्थ से भिन्न अर्थ के लिये, आत्मस-मर्पण' का अभिप्राय स्पष्ट प्रतीत हो जाता है)।

'गौर्वाहीकः' किं वा 'गौर्जल्पति' आदि लाक्षणिक प्रयोगों में लक्षणा के रहस्य के उद्घाटन में विद्वानों का कुछ मतभेद है। जैसे कि कुछ लोगों का कहना है—'वाहीक बैल है'—इस प्रयोग में लक्षणा के द्वारा केवल जड़ता और मन्दता आदि गुणों का ही बोध हो सकता है क्योंकि ये गुण ऐसे हैं जो कि 'गौ' शब्द के मुख्यार्थ के साथ उसके नित्य-संपृक्त धर्म के रूप में विराजमान रहा करते हैं। अब जब कि 'गौ' शब्द अपनी लक्षणा-शक्ति के द्वारा जाड्य, मान्द्य आदि गुणों को लक्षित कर चुका तब इन्हीं गुणों की महिमा से यह संभव है कि 'गौ' शब्द की अभिधाशक्ति 'वाहीक' रूप अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ हो जाय क्योंकि वस्तुतः जड़ता, मन्दता आदि के गुण ही तो यहाँ 'गौ' शब्द के

अत्र केचिदाहुः—गोसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यन्ते। ते च गोशब्दस्य वाहीकार्थाभिधाने निमित्तीभवन्ति। तदयुक्तम्—गोशब्दस्यागृहीतसङ्केतं वाहीकार्थमभिधातुमशक्यत्वाद् गोशब्दार्थमात्रबोधनाच्च। अभिधाया विरतत्वाद् विरतायाश्च पुनरुत्थानाभावात्।

अन्ये च पुनर्गोशब्देन वाहीकार्थो नाभिधीयते, किन्तु स्वार्थसहचारिगुणसाजात्येन वाहीकार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते। तदप्यन्ये न मन्यन्ते। तथाहि- अत्र गोशब्दाद्वाहीकार्थः प्रतीयते, न वा? आद्ये गोशब्दादेव वा? लक्षिताद्वा गुणाद्? अविनाभावाद्वा? तत्र, न प्रथमः, वाहीकार्थेऽस्यासंकेतित्वात्। न द्वितीयः,—अविनाभावलभ्यस्यार्थस्य शाब्देऽन्वये प्रवेशासंभवात्। शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते। न द्वितीयः,—यदि हि गोशब्दाद्वाहीकार्थो न प्रतीयते, तदाऽस्य वाहीकशब्दस्य च सामानाधिकरण्यमसमञ्जसं स्यात्।

वाहीक के अर्थ में व्यवहृत होने के निमित्त (प्रवृत्तिनिमित्त) हैं।' किन्तु ऐसी बात ठीक नहीं लगती। 'गो' शब्द अभिधा के द्वारा 'वाहीक' अर्थ का उपस्थापक कदापि नहीं माना जा सकता क्योंकि इस शब्द का इस अर्थ में कहीं कोई संकेत नहीं दिखायी देता। साथ ही साथ 'गो' पद की अभिधा तो अपने मुख्यार्थमात्र के अवबोधन में ही समाप्त हो चुकी है और यहाँ उसके मुख्यार्थ की अनुपपत्ति से ही लक्षणा को प्रोत्साहन मिला है। अब जब एक बार अभिधा की शक्ति समाप्त हो चुकी और उसके पुनरुज्जीवित होने का कोई कारण नहीं तो फिर 'गो' पद की अभिधा की क्या चर्चा!

कुछ दूसरे लोगों का यह कहना है 'गौर्वाहीक'-जैसे प्रयोग में ऐसी बात नहीं कि 'गो'पद अपनी अभिधाशक्ति के द्वारा 'वाहीक' रूप अर्थ का बोध करवाया करता है क्योंकि यहाँ तो वस्तुतः 'गो' पद की लक्षणाशक्ति से ही वाहीकरूप अर्थ के साथ संगत वे जाड्य-मान्द्य आदि गुण बताये जाया करते हैं जिनका गोपद के मुख्यार्थ के साथ नित्य संबद्ध जाड्य-मान्द्य गुणों आदि के साथ सादृश्य रहा करता है।' किंतु इस मत से भी कई लोग सहमत नहीं हैं। उनका यहां यह अभिप्राय है—'पहले तो यह निर्णय होना चाहिये कि गोपद से वाहीकरूप अर्थ का बोध होता है या नहीं होता? यदि ऐसा कहा जाय कि गोपद से वाहीकरूप अर्थ का बोध हुआ करता है तब यह बताना आवश्यक है कि वाहीकरूप अर्थ का बोध क्या केवल गोपद से ही हुआ करता है या गोपद से लक्षित उन जाड्य, मान्द्य आदि गुणों के द्वारा जो कि गोपद के मुख्यार्थ के साथ अपृथक्सिद्धरूप से रहा करते हैं? अब ऐसा तो कहा नहीं जा सकता कि गोपद से ही वाहीकरूप अर्थ का अभिधान हुआ करता है क्योंकि गोपद और वाहीकअर्थ में वाच्यवाचकभाव रूप सम्बन्ध कैसे! यहाँ यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं कि गोपद से लक्षित जाड्य, मान्द्य आदि गुण ही गोपद के द्वारा वाहीक रूप अर्थ के अभिधान में प्रवृत्तिनिमित्त बना करते हैं क्योंकि आक्षेपतः प्रतीत होने वाले, गोपद के मुख्यार्थ से नित्यसम्बद्ध जाड्य, मान्द्य आदि गुण यहाँ शाब्द-बोध में क्योंकर समाविष्ट मान लिये जायँ! शाब्दबोध का तो सिद्धान्त ही यह है कि शब्द से सम्बद्ध आकांक्षा शब्द से ही पूर्ण की जाय (न कि अर्थ के आक्षेप अथवा अध्याहार से)! यहाँ इन झंझटों से यह कह कर नहीं बचा जा सकता कि गोपद से वाहीक रूप अर्थ का बोध नहीं हुआ करता। क्योंकि जब कि गोपद से वाहीक-रूप अर्थ की प्रतीति ही नहीं हो सकती तब 'गौः' और 'वाहीकः' में सामानाधिकरण्य

तस्मादत्र गोशब्दो मुख्यया वृत्त्या वाहीकशब्देन सहान्वयमलभमानोऽज्ञत्वादिसाधर्म्यसंबन्धाद्वाहीकार्थं लक्षयति। वाहीकस्याज्ञत्वाद्यतिशयबोधनं प्रयोजनम्।

इयं च गुणयोगाद्गौणीत्युच्यते। पूर्वा तूपचारामिश्रणाच्छुद्धा। उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः शब्दयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्। यथा—'अग्निर्माणवकयोः'। शुक्लपटयोस्तु नात्यन्तं भेदप्रतीतिः, तस्मादेवमादिषु शुद्धैव लक्षणा।

कैसे? अन्ततोगत्वा निष्कर्ष यही है कि यहाँ अभिधा से 'गौः' और 'वाहीकः' में कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सकता। यह तो लक्षणा की ही शक्ति है जो यहां मूर्खता आदि के सादृश्य को अपना प्रयोजक बनाकर गोपद से वाहीकरूप अर्थ को लक्षित किया करती है। यहां लाक्षणिक गोपद के प्रयोग में वक्ता का एक उद्देश्य छिपा है और वह है-वाहीक की अत्यधिक मूर्खता का अवबोधन अथवा अभिव्यञ्जन। लक्षणा के 'गौणी' कहे जाने का ही यह अभिप्राय है कि इस प्रकार की लक्षणा में, शब्द के मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में जो योग अथवा सम्बन्ध रहा करता है वह साधर्म्य अथवा सादृश्यरूप ही योग अथवा सम्बन्ध हुआ करता है। गौणी के अतिरिक्त जो लक्षणा है अर्थात् शुद्धा उसे इसीलिये 'शुद्धा' कहा करते हैं क्योंकि उसमें किसी प्रकार के 'उपचार' का अभिप्राय नहीं रहा करता। 'उपचार' क्या है? 'उपचार' है—दो सर्वथा भिन्न पदार्थों में, उनके अधिकाधिक साधर्म्य अथवा सादृश्य के कारण, उनकी परस्पर भिन्नता की प्रतीति का स्थगित हो जाया करना। जैसे कि 'अग्निर्माणवकः' इत्यादि प्रयोगों में 'अग्नि' और 'माणवक' (बालक) रूप पदार्थों में, तेजस्विता आदि के गुणों के सादृश्य के कारण, परस्पर भिन्नता की प्रतीति स्थगित है (क्योंकि बिना ऐसा हुये दो भिन्नार्थक पदों में सामानाधिकरण्य क्योंकर दिखाई दे!)। इसका यह अभिप्राय नहीं कि जहां भी सामानाधिकरण्य हो वहां 'उपचार' ही रहा करे। 'शुक्लः पटः' में सामानाधिकरण्य है किन्तु 'उपचार' नहीं क्योंकि यहां 'शुक्ल' और 'पट' रूप पदार्थ (गुण और द्रव्य होने के नाते) भले ही भिन्न हों किन्तु ऐसे परस्पर सर्वथा भिन्न नहीं जैसे कि 'अग्नि' और 'माणवक' रूप पदार्थ हैं। इसलिये 'शुक्लः पटः' आदि प्रयोगों में (गौणी की कोई संभावना नहीं अपि तु) केवल शुद्धा लक्षणा ही मानी जाया करती है (गौणी लक्षणा तो वस्तुतः 'उपचार' पर निर्भर है)।

विमर्श—(क) मीमांसक लोग गौणी को लक्षणा से भिन्न वृत्ति माना करते हैं। आचार्य कुमारिल भट्ट की इस सम्बन्ध में यह उक्ति है—

'अथवा गौण्या वृत्तेरिह निमित्तमभिधीयते न लक्षणायाः। किं चानयोर्भेदोऽप्यस्ति। बाढमस्ति। कुतः—

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता॥

तत्र यथैवाकृतिवचनः शब्दस्तत्सहचरितां व्यक्तिं लक्षयति तथैव यष्टिमञ्चाश्वादयस्तत्संबद्धपुरुषलक्षणार्था भवन्ति। अग्निर्माणवक इति तु नाग्नित्वाविनाभावेन माणवकः प्रतीयते। किं तर्हि—

वह्नित्वलक्षितादर्थाद् यत् पैङ्गल्यादि गम्यते।
तेन माणवके बुद्धिः सादृश्यादुपजायते॥

(तन्त्रवार्तिक, पृष्ठ ३१८)

अर्थात् 'गौणी' और 'लक्षणा' एक ही वृत्ति के दो नाम नहीं अपि तु भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियां हैं। लक्षणा तो वह वृत्ति है जिससे अभिधेय से अविनाभूत अथवा सामीप्यादि सम्बन्ध से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति हुआ करती है जैसे कि 'मञ्चाः क्रोशन्ति' में। 'मञ्चाः क्रोशन्ति' में मञ्च का अभिधेयार्थ मचान है जिसके साथ क्रोशन (चिल्लाने) की क्रिया की संगति के लिये मञ्च का लक्ष्यार्थ–'मञ्चस्थ पुरुष'–लिया जाया करता है। 'मञ्च' शब्द में लक्षणा का नियामक सम्बन्ध 'संयोग' सम्बन्ध है। किन्तु गौणी वृत्ति वह वृत्ति है जिसके लिये अभिधेय और लक्ष्य अर्थों का अविनाभाव नियामक नहीं अपि तु लक्ष्यमाण गुण–सादृश्य ही नियामक रहा करता है जैसे कि **'अग्निर्माणवकः'** में। **'अग्निर्माणवकः'** में गौणी वृत्ति का यही अभिप्राय है कि यहां अग्नि शब्द के लक्ष्यार्थ और माणवक शब्द के वाच्यार्थ में अविनाभावरूप सम्बन्ध नहीं माना जाया करता। यहां तो अग्नि शब्द से लक्षित होने वाले तेजस्वितादि गुणों के साथ 'माणवक' का सादृश्य सम्बन्ध ही एक मात्र नियामक संबन्ध रहा करता है।

(ख) किन्तु आलङ्कारिकों ने गौणी को लक्षणा में ही अन्तर्भूत सिद्ध किया है। ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य की इस उक्ति अर्थात्—**'भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः।'** की व्याख्या में लोचनकार अभिनवगुप्तपादाचार्य ने स्पष्ट कहा है—

'गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः, तत आगतो गौणोऽर्थो भाक्तः। भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः, तां प्रयोजनत्वेनोद्दिश्य तत आगतो भाक्त इति गौणो लाक्षणिकश्च। मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्तिरित्येवं मुख्यार्थबाधा, निमित्तं, प्रयोजनमिति त्रयसद्भाव उपचारबीजमित्युक्तं भवति। ......गुणाः सामीप्यादयो धर्मास्तैक्ष्ण्यादयश्च। तैरुपायैर्वृत्तिरर्थान्तरे यस्य, तैरुपायैर्वृत्तिर्वा शब्दस्य यत्र स गुणवृत्तिः शब्दोऽर्थो वा। गुणद्वारेण वा वर्तनं गुणवृत्तिरमुख्योऽभिधाव्यापारः।

—(ध्वन्यालोकलोचन–प्रथम उद्योत)

अर्थात् 'भाक्त' शब्द और अर्थ को ही गौण अथवा लाक्षणिक शब्द और अर्थ कहा जाया करता है। जैसे कि **'सिंहो माणवकः'** में 'सिंह' शब्द गौण अथवा लाक्षणिक शब्द है। यहाँ 'सिंह' शब्द गौण अथवा लाक्षणिक इसलिये है क्योंकि यह अपने मुख्यार्थ अर्थात् सिंहत्वजाति या सिंहत्वविशिष्ट व्यक्तिरूप अर्थ का अभिधायक होने पर भी अपने अर्थ से सदा सम्बद्ध शौर्यादिगुणों का भी आक्षेपतः प्रतिपादन कर रहा है। इसे 'गौण' अथवा 'लाक्षणिक' इसलिये भी कहना चाहिये क्योंकि इसका प्रयोग एकमात्र शौर्यादि गुणों के अवबोध के लिये किया गया है।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह निःसंदिग्ध है कि 'गौणी' और 'लक्षणा' दो भिन्न-भिन्न शब्दशक्तियां नहीं। गौणी और लक्षणा वृत्तियों का पार्थक्य आलंकारिकों ने जिस दृष्टि से मिटाया है वह है 'लक्षणा' का शुद्धा और गौणी इन दो भेदों में विभाजन। साथ ही साथ लक्षणानियामक सम्बन्धों में 'सादृश्य सम्बन्ध' की प्राचीन मान्यता भी इसी बात का प्रमाण है कि लक्षणा के अतिरिक्त गौणी को पृथक् वृत्ति मानने की अपेक्षा लक्षणा का ही शुद्धा और गौणी रूप से विभाजन अधिक युक्तियुक्त है। लक्षणा, चाहे वह 'शुद्धा' हो या 'गौणी' हो, मुख्यार्थ की अनुपपत्ति के साथ साथ मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के परस्पर सम्बन्ध पर ही अवलम्बित है। 'अनुपपत्ति' (मुख्यार्थबाध) 'सम्बन्ध' (मुख्यार्थयोग) किं वा 'प्रयोजन' की दृष्टि से **'अग्निर्माणवकः'** और **'गङ्गायां घोषः'**—इन गौणी और शुद्धा लक्षणा-प्रयोगों में कोई भेद नहीं। जैसे **'अग्निर्माणवकः'**

(प्रयोजनमूलक उपर्युक्त लक्षणाओं के अन्य भेद)

व्यङ्ग्यस्य गूढागूढत्वाद्द्विधा स्युः फललक्षणाः ॥ १० ॥

(गूढव्यङ्ग्या और अगूढव्यङ्ग्या लक्षणाओं के दृष्टान्त)

प्रयोजने या अष्टभेदा लक्षणा दर्शितास्ताः प्रयोजनरूपव्यङ्ग्यस्य गूढागूढतया प्रत्येकं द्विधा भूत्वा षोडश भेदाः। तत्र गूढः, काव्यार्थभावनापरिपक्वबुद्धि-

---

में 'अग्नि' का अभिप्राय 'अग्निसादृश्यविशिष्ट' निकला करता है वैसे ही **'गङ्गायां घोषः'** में **'गङ्गायाम्'** का अभिप्राय **'गङ्गासम्बन्धविशिष्टतीरे'** हुआ करता है। **'गङ्गायां घोषः'** में **'गङ्गायाम्'** का अर्थ **'गङ्गासम्बन्धोपलक्षिततीरे'** कदापि नहीं हो सकता क्योंकि तब तो **'गङ्गायां घोषः'** और **'गङ्गातीरे घोषः'** में कोई भेद ही नहीं बताया जा सकता। इस प्रकार जब कि 'गौणी' और 'लक्षणा' में 'विशेषणवैशिष्ट्यसंबन्ध' ही नियामक रूप से पड़ा है तब 'गौणी' और 'लक्षणा' का भेद ही क्या रहा! 'गौणी' तो 'लक्षणा' का एक प्रकार सिद्ध हुई। शुद्धा से गौणी का भेद 'सादृश्य' से 'सादृश्येतर सम्बन्ध' के भेद पर ही निर्भर रहा। जब लक्षणा 'सादृश्यनिबन्धन' और 'सम्बन्धनिबन्धन' रूप से दो प्रकार की हुई तब लक्षणा में गौणी का अन्तर्भाव तो अनायास ही सिद्ध हो गया।

(ग) **'गौर्वाहीकः जल्पति'** किं वा **'गौर्जल्पति'** ये प्रयोग गौणी सारोपा लक्षणलक्षणा तथा गौणी साध्यवसाना लक्षणलक्षणा के प्रयोग हैं। इनमें लक्ष्यार्थनिष्पत्ति के सम्बन्ध में जो विभिन्न मत हैं उनका निर्देश काव्य-प्रकाशकार ने भी किया है। यहाँ साहित्य-दर्पणकार का मत वही है जो कि काव्य-प्रकाशकार का है क्योंकि **'गौर्वाहीकः'** अथवा **'गौर्जल्पति'** में दोनों आचार्यों ने लक्षणा का एक ही अभिप्राय लिया है। आचार्य मम्मट का निर्देश है—**'साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थं एव लक्ष्यत इत्यपरे'**—(काव्य-प्रकाश-द्वितीय उल्लास) और विश्वनाथ कविराज का कथन है—**'तस्मादत्र गोशब्दो मुख्यया वृत्त्या वाहीकशब्देन सहान्वयमलभमानोऽज्ञत्वादि-साधर्म्यसंबन्धाद् वाहीकार्थं लक्षयति।'** दोनों का तात्पर्य यहाँ है कि **'गौर्वाहीकः'** आदि प्रयोगों में जो 'सामानाधिकरण्य' है वह अभिधा की दृष्टि से नहीं किन्तु लक्षणा की ही दृष्टि से ठीक-ठीक समझा जा सकता है। यहाँ उपचार है जिसके कारण दो भिन्न वस्तुओं की भेद-प्रतीति स्थगित हो रही है। **'गौर्वाहीकः'** का सीधा अर्थ **'गोसादृश्यविशिष्टः वाहीकः'** है और **'जडः वाहीकः'** के बदले **'गौर्वाहीकः'** का प्रयोग करने वाला व्यक्ति वाहीक की अज्ञता नहीं अपितु अज्ञता-पराकाष्ठा का अभिप्राय प्रकाशित किया करता है। **'गौर्वाहीकः'** में 'गोत्व' और गोत्व-सम्बद्ध जाड्य-मान्द्यादि गुण दोनों को गो-शब्द का 'प्रवृत्तिनिमित्त' मानना अनुचित है क्योंकि ऐसा करने से यहाँ के उपचार का रहस्योद्घाटन क्योंकर होने लगा! यहाँ ऐसा भी नहीं कि लक्षणा से गोगत जाड्यादिसदृश वाहीकगत जाड्यादि गुण ही पता चला करें क्योंकि ऐसा होने से भी 'उपचारक' का रहस्य अनिर्भिन्न ही रह जायगा।

अनुवाद—उपर्युक्त आठों प्रकारों की प्रयोजनवती लक्षणाओं के भी दो-दो भेद स्पष्ट हैं—(१) गूढ (प्रयोजन) व्यंग्या लक्षणायें और (२) अगूढ (प्रयोजन) व्यंग्या लक्षणायें।

प्रयोजनवती लक्षणाओं के द्विविध भेद का तात्पर्य यह है—

आठ प्रकार की जो प्रयोजनवती लक्षणायें बतायी जा चुकी हैं उनमें प्रयोजनरूप व्यङ्ग्यार्थ के गूढ (सहृदयजनसंवेद्य) किं वा अगूढ (सर्वजनसंवेद्य) होने के कारण, प्रत्येक के दो-दो भेद हुआ करते हैं जिससे इनके सोलह भेद सिद्ध होते हैं। प्रयोजनरूप

विभवमात्रवेद्यः। यथा—'उपकृतं बहु तत्र—' इति। अगूढः, अतिस्फुटतया सर्वजनसंवेद्यः। यथा—

उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि॥'

अत्र 'उपदिशति' इत्यनेन 'आविष्करोति' इति लक्ष्यते। आविष्कारातिशयश्चाभिधेयवत्स्फुटं प्रतीयते।

व्यङ्ग्यार्थ के 'गूढ' होने का अभिप्राय है उसके एकमात्र ऐसे व्यक्तियों के द्वारा वेद्य होने का जिनकी बुद्धि काव्यार्थतत्त्व के सतत मनन-चिन्तन से परिपक्व हो चुकी है। गूढव्यङ्ग्या लक्षणा के उदाहरण के लिये—'उपकृतं बहु तत्र' आदि सूक्ति पर्याप्त है (जहाँ सहृदयों को वक्ता की उदारहृदयता की सूक्ष्म प्रतीति स्वभावतः हुआ करती है)। प्रयोजनरूप व्यङ्ग्यार्थ के 'अगूढ' होने का तात्पर्य है उसके सभी लोगों के द्वारा अत्यन्त स्फुटतया प्रतीत हो जाने का, जैसा कि—

'यौवन का मद ही रमणियों को समस्त हाव-भावों का उपदेश दिया करता है' इत्यादि सूक्ति में स्पष्ट है जहाँ 'उपदिशति'–'उपदेश दिया करता है'—का अभिप्राय 'आविष्करोति'–'प्रकट किया करता है'—निकला करता है (जो कि वाच्य नहीं अपितु लक्ष्यरूप अर्थ है) और जहाँ वक्ता का प्रयोजन अर्थात् हावभावों के प्रकाशन की विचित्रता और पूर्णता का अभिप्राय वाच्यार्थ की भाँति अत्यन्त स्पष्ट है।

विमर्श—(क) जैसे आठ प्रकार लक्षणाओं के भेदप्रयोजक रूप में आरोप आदि निर्दिष्ट किये जा चुके हैं वैसे ही इनमें प्रत्येक के दो-दो भेदों के प्रयोजक रूप में व्यङ्ग्यार्थ की गूढ़ता और अगूढ़ता का निर्देश उचित ही है और युक्तियुक्त भी है। काव्यप्रकाश की 'प्रदीप' व्याख्या के रचयिता ने स्पष्ट कहा है—'लक्षणाभेदप्रयोजक आरोपादिर्यथा भिद्यते तथा तत्प्रयोजकं व्यङ्ग्यमपीति…'।

(ख) 'गूढव्यङ्ग्य' का अभिप्राय है सहृदयसंवेद्य व्यङ्ग्य का और सहृदय वह है जो 'काव्यभावनापरिपक्वबुद्धि' हो (काव्यभावनापरिपक्वबुद्धिः सहृदयः—काव्यप्रदीप, पृष्ठ ३६)। गूढव्यङ्ग्या-सहृदयसंवेद्या-लक्षणा का बड़ा सुन्दर उदाहरण आचार्य मम्मट ने दिया है—

'मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिम प्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते॥'—(काव्यप्रकाश)

जिसमें व्यङ्ग्यार्थ की गूढ़ता का अभिप्राय प्रदीपकार के शब्दों में इस प्रकार है—

'अत्र विकासः पुष्पधर्मः स्मितेऽनुपपन्न इति प्रसृतत्वं लक्षयता विकसितपदेन लोकोत्तररमणीयतातिशयो व्यज्यते। स च गूढः। एवं वशितसमुच्छलितापास्तसंस्थामुकुलितोद्धुरमोदनशब्दैरायतत्वोल्लसितत्वानेकविषयसञ्चारित्वोद्भिन्नत्वयोग्यत्वानियन्त्रितत्वानि लक्षयद्भिर्युक्तानुरागित्व-सकलवशीकारित्वानुरागातिशयालिङ्गनयोग्यत्वरमणीयत्वस्पृहणीयत्वानि गूढानि व्यज्यन्ते।'—(काव्यप्रदीप, पृष्ठ ३७)

इस प्रसङ्ग में साहित्यदर्पणकार ने 'उपकृतं बहु तत्र' आदि सूक्ति को जो उद्धृत किया है उसमें आचार्य मम्मट की दृष्टि से ऐसी कोई गूढव्यङ्ग्यता नहीं दिखायी देती। मम्मट ने 'उपकृतम्' आदि के संबन्ध में स्पष्ट कहा है—'वक्तृमहिम्ना मूर्खे बृहस्पतिशब्देन मूर्खत्वमिवापकारिणि दुर्जनत्वायत्र लक्ष्यते'—(शब्दव्यापारविचार, पृष्ठ ४)। 'उपकृतं बहु तत्र' आदि में जो

(उपर्युक्त १६ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणाओं के अन्य भेद)

धर्मिधर्मगतत्वेन फलस्यैता अपि द्विधा ।

(प्रयोजनवती लक्षणाओं में धर्मिगत और धर्मगत प्रयोजन के निदर्शन)

एता अनन्तरोक्ताः षोडशभेदा लक्षणाः फलस्य धर्मिगतत्वेन धर्मगतत्वेन च प्रत्येकं द्विधा भूत्वा द्वात्रिंशद्भेदाः ।

दिङ्मात्रं यथा—

'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाकाघना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥'

वैपरीत्य लक्षणा है उसका अनुभव 'काव्यभावनासंभूत बुद्धिपरिपाक' पर निर्भर नहीं अपितु 'वक्तृस्वभावपर्यालोचनमात्र' पर ही अवलम्बित है। विश्वनाथ कविराज ने भी वस्तुतः यही मानकर **'उपकृतम्'** आदि सूक्ति उद्धृत की है (साहित्यदर्पण २.७ की वृत्ति) ऐसा लगता है जैसे मम्मट द्वारा उद्धृत **'मुखं विकसितस्मितम्'** आदि सूक्ति के पुनरुद्धरण के भय से और साथ ही साथ कुछ नवीनता की भी दृष्टि से साहित्यदर्पणकार ने **'उपकृतम्'** आदि को ही दुहरा दिया है।

अगूढव्यङ्ग्या लक्षणा को काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण ने एक ही उदाहरण—**'उपदिशति'** आदि से समझाया है। यहाँ दोनों आलङ्कारिक आचार्यों ने **'उपदिशति'** इस लाक्षणिक पद के प्रयोग का प्रयोजन 'अगूढ' निर्दिष्ट किया है जो कि सर्वथा युक्तियुक्त है। 'उपदेश' का अभिप्राय 'किसी अज्ञात वस्तु के ज्ञान की अनायास सिद्धि' है जो कि सहृदय और असहृदय सबके लिये समान रूप से एक प्रसिद्ध अर्थ है। 'उदाहरणचन्द्रिका' में इसीलिये कहा गया है—

'ललितज्ञानेऽनायासो व्यङ्ग्यः । प्रयोजनं सहृदयासहृदयवेद्यमित्यगूढव्यङ्ग्योदाहरणम् । उपदेशादनायासेन ज्ञानमित्यस्य प्रसिद्धत्वात् ।'

अनुवाद—ये उपर्युक्त १६ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणायें भी अपने व्यङ्ग्यरूप प्रयोजन के धर्मिगत किं वा धर्मगत होने के कारण दो-दो भेदों में विभक्त हो जाया करती हैं।

इन अभी-अभी प्रतिपादित १६ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणाओं में प्रत्येक के पुनः द्विविध होने का अभिप्राय है इनमें प्रत्येक में व्यङ्ग्यरूप से विराजमान प्रयोजन के धर्मिगत किं वा धर्मगत–दो रूपों में प्रतीत होने का, जिसके कारण इन लक्षणाओं के ३२ भेद बन गये। संक्षिप्त निदर्शन के लिये यह सूक्ति पर्याप्त है—

'मैं तो राम ठहरा ! भले ही विहार करती बकपंक्ति से भरे बादल अपनी स्निग्ध श्यामल कान्ति से आकाश को रँगते हुये उमड़ पड़ें, भले ही शीतल मन्द समीर चतुर्दिक् झूमती चले और भले ही मेघों के प्रेमी मयूरों की मादकताभरी केकाध्वनि सर्वत्र गूंज उठे, मैं तो यह सब कुछ सह लूंगा ! मेरा हृदय तो पत्थर का ठहरा ! लेकिन सुकुमार, कोमल हृदय वाली सीता क्या करेगी ? हा देवि ! सीते ! धीरज धरना !'

अत्रात्यन्तदुःखसहिष्णुरूपे रामे धर्मिणि लक्ष्ये तस्यैवातिशयः फलम्। 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र तटे शीतत्वपावनत्वरूपधर्मस्यातिशयः फलम्।

यहाँ जो प्रयोजन अभिव्यक्त हो रहा है अर्थात् एक के बाद एक अनेकों दुःखों के सहन करते-करते दुःख की पीडा से शून्य-चेतन एक संकटापन्न-व्यक्तित्व, वह धर्मिगत है क्योंकि यह वस्तुतः अनेकानेक दुःखों के सहन करने वाले रामरूप धर्मी—यहाँ 'राम' पद का एक मात्र अर्थ दुःखों का भोगने वाला ही है—को ही सहृदयों के हृदयपटल पर उत्कटता से अंकित कर देता है (न कि धर्मों को अर्थात् राम के सहे सब दुःखों को)। प्रयोजन का धर्मगत होना 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में देखा जा सकता है जहाँ शीतलता और पवित्रता के धर्मों पर ही सहृदयों का ध्यान अँटकता है (न कि तटरूप धर्मी पर जो कि 'गङ्गा' शब्द का लक्ष्यार्थ है)।

विमर्श—(क) व्यङ्ग्यरूप प्रयोजन के 'धर्मिगत' किं वा 'धर्मगत' होने से लक्षणाभेदों के द्वैविध्य का विचार काव्यप्रकाशकार ने नहीं किया। साहित्यदर्पणकार का यह विश्लेषण एक विशेषता अवश्य रखता है किन्तु **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** के प्रवर्त्तकाचार्य द्वारा लक्षणा के भेद-प्रभेदों का यह निष्कृष्ट निरूपण औचित्यपूर्ण होने के बदले पाण्डित्यपूर्ण लग रहा है। रसात्मक वाक्य की रचना लाक्षणिक पदों की अपेक्षा व्यञ्जक तत्त्वों पर निर्भर रहा करती है। **'स्निग्धश्यामल'** आदि सूक्ति में ध्वनिवादी आचार्यों ने 'अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि' का दर्शन किया है। यहाँ ध्वनिकार का यह कथन है—

'स्निग्धश्यामल······देवि धीरा भव॥' इत्यत्र रामशब्दः। अनेन हि व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतः संज्ञी प्रत्याय्यते न संज्ञिमात्रम्।'

और लोचनकार का इस पर यह व्याख्यान है—'स्निग्धया जलसंबन्धसरसया श्यामलया द्रविडवनितोचितासितवर्णया कान्त्या चाकचक्येन लिप्तमाच्छुरितं वियन्नभो यैः। वेल्लन्त्यो विजृम्भमाणास्तथा चलन्त्यः परभागवशात् प्रहर्षवशाच्च बलाकाः सितपक्षिविशेषाः येषु त एवं विधा मेघाः। एवं नभस्तावद्दुरालोकं वर्तते। दिशोऽपि दुःसहाः, यतः सूक्ष्मजलकणोद्गारिणो वाता इति मन्दमन्दत्वमेषामनियतदिगागमनं च बहुवचनेन सूचितम्। तर्हि गुहासु क्वचित् प्रविश्यास्यतामित्यत आह—पयोदानां ये सुहृदस्तेषु च सत्सु ये शोभनहृदया मयूरास्तेषामानन्देन हर्षेण कलाः षड्जसंवादिन्यो मधुराः केकाः शब्दविशेषाः ताश्चसर्वं पयोदवृत्तान्तं दुःसहं स्मारयन्ति। स्वयं च दुःसहा इति भावः। एवमुद्दीपनविभावोद्बोधितविप्रलम्भः···प्रियतमां हृदये निधायैव स्वात्मवृत्तान्तं तावदाह—कामं सन्त्विति। दृढमिति सातिशयम् कठोरहृदय इति। रामशब्दार्थध्वनिविशेषावकाशदानाय कठोरहृदयपदम्।···अन्यथा रामपदं दशरथकुलोद्भवत्वकौसल्यास्नेहपात्रत्वबाल्यचरितजानकीलाभादिधर्मान्तरपरिणतमर्थं कथं न ध्वनेदिति। अस्मीति। स एवाहं भवामीत्यर्थः। भविष्यतीति क्रियासामान्यम्। तेन किं करिष्यतीत्यर्थः। अथ च भवनमेवास्या असंभाव्यमिति। उक्तप्रकारेण हृदयनिहितां प्रियां स्मरणशब्दविकल्पपरम्परया प्रत्यक्षीभावितां हृदयस्फोटनोन्मुखीं ससंभ्रममाह—हहा हेति। देवीति। युक्तं तव धैर्यमित्यर्थः। अनेनेति। रामशब्देनानुपयुज्यमानार्थेनेति भावः। व्यङ्ग्यं धर्मान्तरप्रयोजनरूपं राज्यनिर्वासनाद्यसंख्येयम्। तच्चासंख्यत्वादभिधाव्यापारेणाशक्यसमर्पणम्। क्रमेणार्प्यमाणमप्येकधीविषयभावाभावान्न चित्रचर्वणापदमिति न चारुत्वातिशयकृत्। प्रतीयमानं तु तदसंख्यमनुद्भिन्नविशेषत्वेनैव किं किं रूपं न सहत इति चित्रपानकरसापूपगुडमोदकस्थानीयविचित्रचर्वणापदं भवति।······एष एव प्रयोजनस्य प्रतीयमानत्वेनोत्कर्षहेतु-

(निर्दिष्ट लक्षणाभेद-संकलन)

तदेव लक्षणाभेदाश्चत्वारिंशन्मता बुधैः ॥ ११ ॥

(लक्षणा के ४० भेदों का निरूपण)

रूढावष्टौ फले द्वात्रिंशदिति चत्वारिंशल्लक्षणाभेदाः ।

मन्तव्यः । मात्रग्रहणेन संज्ञी नात्र तिरस्कृत इत्याह'''तेन शुद्धेऽर्थे मुख्ये बाधानिमित्तं तत्रार्थे तद्धर्मसमवायः। तेन निमित्तेन रामशब्दो धर्मान्तरपरिणतमर्थं लक्षयति। व्यङ्ग्यान्यसाधारणान्यशब्दवाच्यानि धर्मान्तराणि ।'—(ध्वन्यालोकलोचन-द्वितीय उद्योत)

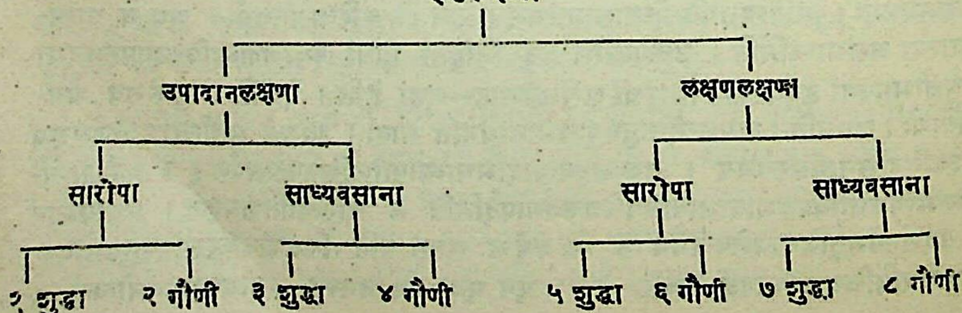
वस्तुतः इन सब बातों का ही ध्यान रख कर साहित्यदर्पणकार ने 'राम' पद की लक्षणा के गूढव्यङ्ग्य प्रयोजन का 'धर्मिगत' रूप निर्दिष्ट किया है ।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने **'गङ्गायां घोषः'** में 'गङ्गा' पद की लक्षणा का प्रयोजन 'धर्मगत' माना है अर्थात् यह प्रतिपादित किया है कि 'गङ्गायां घोषः' कहने में शैत्यपावनत्वादि धर्मों के अतिशय का प्रत्यायन ही वक्ता का प्रयोजन है । इस पर साहित्यदर्पण के 'विमला' व्याख्याकार ने आक्षेप किया है और कविराज विश्वनाथ के इस अभिमत को **'स्ववचनविरोधादेवापास्तम्'** ('विमला', पृष्ठ ५५) कह दिया है । किन्तु यह आक्षेप निर्मूल है । साहित्यदर्पण का वाक्य है— **'अत्रात्यन्तदुःखसहिष्णुरूपे रामे धर्मिणि लक्ष्ये तस्यैवातिशयः फलम् । 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र तटे शीतत्वपावनत्वरूपधर्मस्यातिशयः फलम् ।'** यहाँ यह निःसंदिग्ध है कि गंगा पद का लक्ष्यार्थ शीतत्वपावनत्वादि नहीं अपि तु 'तट' कहा गया है क्योंकि **'तटे'** के बाद 'लक्ष्ये' अध्याहृत है. ऐसी परिस्थिति में 'विमला' व्याख्या की यह उक्ति कि **'गङ्गायां घोषः'** इस उदाहरण में धर्म लक्ष्य है ही नहीं; प्रत्युत तटरूप धर्मी लक्ष्य है । काव्यप्रकाश में लिखा है— **'गङ्गायां घोष इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते'** और स्वयं विश्वनाथजी भी **'गङ्गादिशब्दो जलमयादिरूपार्थवाचकत्वात् प्रकृतेऽसंभवन्'''''तटादिं बोधयति'** लिख चुके हैं', निरर्थक ही लग रहो है । विश्वनाथ कविराज ने लक्षणा में व्यङ्ग्य वक्तृप्रयोजन के 'धर्मगत' होने को **'गङ्गायां घोषः'** इस उदाहरण से जो समझाया है वह सर्वथा चतुरस्र लग रहा है । विश्वनाथ कविराज का यह अभिप्राय है—**'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतः'** आदि सूक्ति में तो 'राम' पद की लक्षणा दुःखसहिष्णु राम को ही अधिकाधिक दुःखसहिष्णु रूप में प्रकाशित करना चाहती है किन्तु **'गङ्गायां घोषः'** में 'गङ्गा' पद की लक्षणा शैत्यपावनत्वादिरूप धर्म की ही उत्कृष्टता प्रकाशित कर रही है न कि इस धर्म से युक्त तटरूप धर्मी की ।

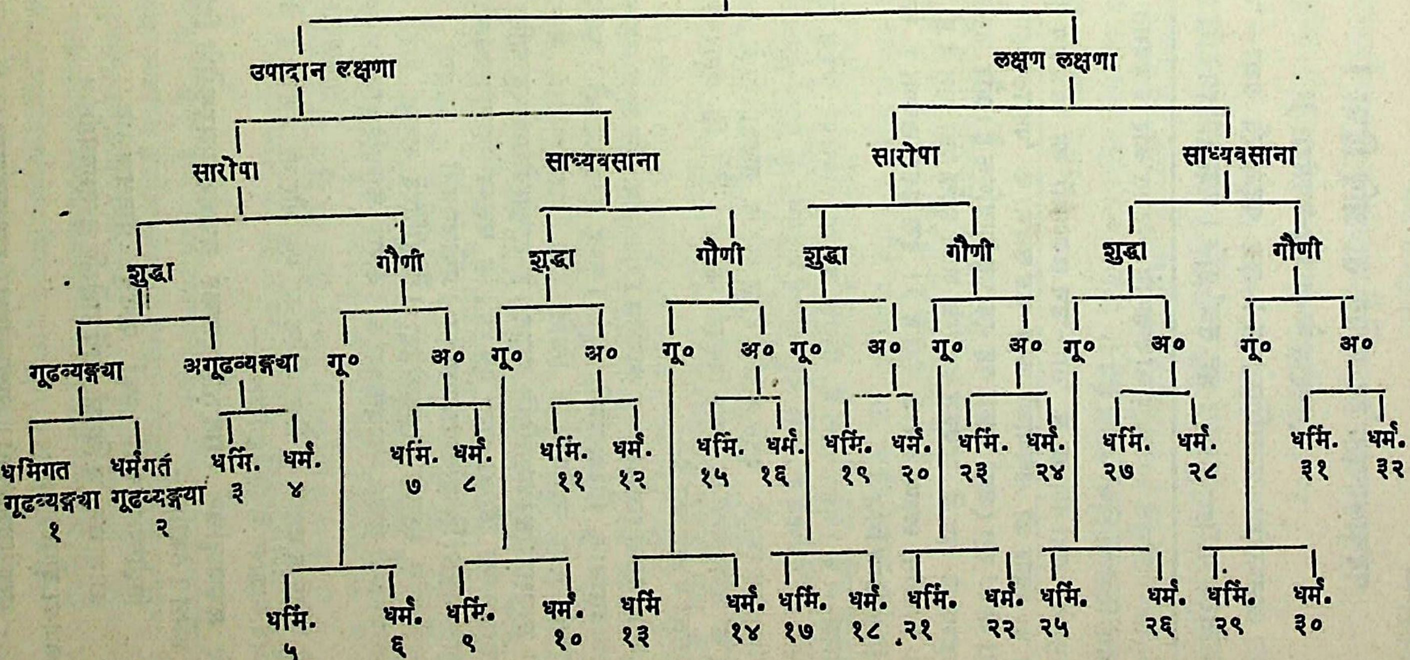
अनुवाद—**इस प्रकार जैसा कि काव्याचार्यों का मत है, लक्षणा के ४० भेद सिद्ध होते हैं।**

यहां लक्षणा के ४० भेद यों सिद्ध हैं—८ प्रकार की रूढ लक्षणायें + ३२ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणायें = ४० प्रकार की लक्षणायें ।

विमर्श—(क) रूढि में लक्षणा का साहित्यदर्पण-सम्मत कक्षाविभाग यह है—



(ख) प्रयोजनवती लक्षणा का साहित्यदर्पणकार ने यह श्रेणी-विभाजन किया है—



(एक अन्य निमित्त से लक्षणा का प्रकार-निरूपण)

किञ्च—

पदवाक्यगतत्त्वेन प्रत्येकं ता अपि द्विधा ।

(लक्षणा के ८० भेद-उपसंहार)

ता अनन्तरोक्ताश्चत्वारिंशद्भेदाः। तत्र पदगतत्वे यथा—'गङ्गायां घोषः'। वाक्यगतत्वे यथा—'उपकृतं बहु तत्र' इति। एवमशीतिप्रकारा लक्षणाः।

अनुवाद—उपर्युक्त ४० प्रकार की लक्षणायें, 'पदगत' और 'वाक्यगत' रूप से, दो प्रकार से विभक्त दिखायी दिया करती हैं।

अनुवाद—यहां कारिका में 'ताः'—'उन लक्षणाओं' का अभिप्राय है अभी-अभी प्रतिपादित ४० प्रकार की लक्षणाओं का। अब लक्षणा के 'पदगत' होने का उदाहरण तो 'गङ्गायां घोषः' रहा (जहां 'गङ्गा' यह एक पद लाक्षणिक है) और उसके 'वाक्यगत' होने के उदाहरण के रूप में 'उपकृतं बहु तत्र' आदि सूक्ति पूर्वोद्धृत है ही (जहां अनेकानेक पदों में विपरीत लक्षणा विराज रही है)। इस प्रकार लक्षणा के सब मिला कर ८० प्रकार निःसंदिग्ध सिद्ध हैं।

विमर्श—(क) लक्षणा-शक्ति के उपर्युक्त बहुविध विवर्त्त का निर्देश साहित्यदर्पणकार की समीक्षादृष्टि का परिणाम है। इस पर आचार्य महिमभट्ट के पदार्थ-वाक्यार्थ-वैविध्यनिरूपण का पर्याप्त प्रभाव पड़ रहा है। इससे प्रभावित होकर बाद के आलङ्कारिकों ने 'लक्षणा और रूपकादि अलङ्कार के भूमिकाबन्ध' का पर्याप्त विवेचन किया है। जैसे कि श्रीमदच्युतराय ने ही अपने 'साहित्यसार' में स्पष्ट कहा है—

'गौणी प्रयोजनवती सारोपा चन्द्र आननम्। गौर्वाहीक इति ज्ञेया रूपकालङ्कृतौ हिता॥
सैव साध्यवसाना तु गौरेवायमिति स्फुटा। चन्द्र एवेदमित्यादौ रूपकातिशयोक्तिकृत्॥
प्रयोजनवती शुद्धा सारोपायुर्घृतं त्विति। सैव साध्यवसाना चेदायुरेवेदमित्यपि ॥
उन्मादो मृत्युरासोक्तिरेवामृतमिति क्रमात्। हेत्वलङ्कारबोधायोपयुक्तास्ति द्विधाप्यसौ ॥
अथ प्रयोजनवती विरुद्धा धन्य एव सः। किं वक्तव्यमिहेत्यादावधन्यो लक्ष्यतेऽनया॥
व्याजस्तुतिरलङ्कारः सिध्यत्यस्याः प्रसादतः। प्रयोजनवती तद्वदेपा लक्षितलक्षणा ॥
वैदेहीमवलोक्यैव स्तब्धो रघुकुलोद्वहः। वैदेहीतिपदे लक्ष्यो विदेह स्ततपिता ततः॥
विदेहकैवल्यानन्दो लक्ष्यः स्तब्धत्वकारकः। कारणं काव्यलिङ्गाख्यालङ्कृतेरियमीक्ष्यते ॥

(साहित्यसार : ऐरावतरत्न २य)

इसके अतिरिक्त लक्षणा के विशद विवेक का एक और भी प्रयोजन है जैसा कि 'त्रिवेणिका'-कार आचार्य आशाधर ने निर्दिष्ट किया है—

'यदि लक्षणावृत्तिर्न स्यात् तर्हि घृणाकरं त्रपाकरणममङ्गलञ्चेति त्रिविधमश्लीलं वारयितुं कः क्षमेत। तथाहि—

विष्ठोत्सारणकर्ता मर्ता कार्येषु पादचार्यनुगः ।
कृतयाभना च विटघ्नी कार्ये गर्ह्येऽपि तुच्छमूल्यानि ॥

अत्र लक्षणया दोषोद्धारः—

मलसंमार्जनकर्ता त्यक्तात्मेहश्च पादचार्यनुगः ।
कृतगमना च विटघ्नी कार्ये गुह्येऽपि तुच्छमूल्यानि ॥

(व्यञ्जनाशक्ति : लक्षण)

अथ व्यञ्जना—

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः ॥ १२ ॥
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।

(व्यञ्जना लक्षण-परिष्कार)

'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इति नयेनाभिधालक्षणातात्पर्याख्यासु तिसृषु वृत्तिषु स्वं स्वमर्थं बोधयित्वोपक्षीणासु यया अपरोऽन्योऽर्थो बोध्यते सा शब्दस्यार्थस्य प्रकृतिप्रत्ययादेश्च शक्तिर्व्यञ्जनध्वननगमनप्रत्यायनादिव्यपदेशविषया व्यञ्जना नाम ।

एत एवाहुः—

शक्तिं भजन्ति सरलाः लक्षणां चतुरा नराः ।
व्यञ्जनां नर्ममर्मज्ञाः कवयः कमना जनाः ॥

अनुवाद—व्यञ्जनाशक्ति शब्द और अर्थ आदि की वह शक्ति है जो अभिधा आदि शक्तियों के शान्त हो जाने पर (अपने-अपने कार्य कर चुकने के बाद क्षीण सामर्थ्य हो जाने पर) एक ऐसे अर्थ का अवबोधन कराया करती है जो (वाच्य, लक्ष्यादिरूप अर्थों से) सर्वथा एक विलक्षण प्रकार का अर्थ हुआ करता है ।

अनुवाद—यहाँ अभिधादि शक्तियों के शान्त हो जाने का अभिप्राय यह है—एक सामान्य सिद्धान्त है—'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' अर्थात् एक बार जब शब्द, बुद्धि और कर्म अपना अपना व्यापार कर चुकते हैं तब फिर उनमें कोई व्यापार नहीं हो सकता। इस सिद्धान्त के अनुसार यह मानना अनिवार्य है कि अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य की शक्तियां जब एक बार अपना-अपना अर्थ उपस्थित कर चुकीं तब फिर किसी अर्थ का उपस्थापन कदापि नहीं कर सकतीं। अब यदि कहीं वाच्य, लक्ष्य और तात्पर्य रूप अर्थों से सर्वथा भिन्न अर्थ प्रतीत हो रहा हो जैसा कि हुआ ही करता है तब यह निश्चित है कि जिस शक्ति के द्वारा वह अर्थ उपस्थापित किया जा रहा है वह शक्ति व्यञ्जनाशक्ति है। इस शक्ति को व्यञ्जन कहें, ध्वनन कहें, गमन कहें, प्रत्यायन कहें या और जो चाहें कहें किन्तु इसे अभिधादि से विलक्षण ही मानना पड़ेगा क्योंकि यह शक्ति केवल शब्द की नहीं, किन्तु अर्थ की (और अर्थ की ही क्यों) प्रकृति की, प्रत्यय की, उपसर्ग की और निपात आदि आदि की शक्ति के रूप में स्फुरित हुआ करती है।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार की यह व्यञ्जना-परिभाषा आचार्य अभिनवगुप्त की निम्न उक्ति का सारांश है—

'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्' इत्यादिनाभिधाव्यापारस्य विरम्य व्यापारासंभवाभिधानात्।""प्रतिपत्तिश्चान्वयस्य नाभिधाशक्त्या, तस्याः पदार्थप्रतिपत्त्युपक्षीणाया विरम्याव्यापारात् इति तात्पर्यशक्त्यैवान्वयप्रतिपत्तिः। ······'सिंहो माणवकः' इत्यत्र द्वितीयकक्ष्यानिविष्टतात्पर्यशक्तिसमर्पितान्वयबाधकोल्लासातन्तरमभिधातात्पर्यशक्तिद्वयव्यतिरिक्तातावत्तृतीयैव शक्तिस्तद्बाधकविधुरीकरणनिपुणा लक्षणाभिधाना समुल्लसति।""न चैवं भक्तिरेव ध्वनिः, भक्तिर्हि लक्षणाव्यापारस्तृतीयकक्ष्यानिवेशी। चतुर्थ्यां तु कक्ष्यायां ध्वननव्यापारः।"'तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारोध्वननद्योतनव्यञ्जन-

(व्यञ्जना के प्रकारों का निरूपण : शाब्दी व्यञ्जना)

तत्र—

अभिधालक्षणामूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा ॥ १३ ॥

(१–अभिधामूलक व्यञ्जना)

अभिधामूलामाह—

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते ।
एकत्रार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना साऽभिधाश्रया ॥ १४ ॥

प्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः।' (ध्वन्यालोकलोचन, १म उद्योत)।

अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ-प्रतिपत्ति में अभिधा-तात्पर्य किंवा लक्षणाशक्तियों का कोई हाथ नहीं हो सकता। अभिधा का हाथ तो इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ सांकेतिक अर्थ नहीं हुआ करता। तात्पर्यवृत्ति के द्वारा व्यङ्ग्यार्थप्रत्यायन इसलिए असम्भव है क्योंकि जिसे व्यङ्ग्यार्थ कहते हैं वह पदार्थों का परस्पर संसृष्ट अथवा अन्वित अर्थ नहीं अपितु एक लोकोत्तर कमनीय अर्थ हुआ करता है। लक्षणा व्यङ्ग्यार्थ में क्योंकर प्रवेश करने लगी जब कि यहाँ उसके लिए कोई स्थान नहीं और न कोई हेतु अथवा प्रयोजन है। इन तीनों व्यापारों के अतिरिक्त किंवा इन तीनों व्यापारों से सर्वथा उत्तीर्ण व्यञ्जन अथवा ध्वनन का व्यापार ही वह व्यापार है जिसे व्यङ्ग्यावबोध के लिए अनिवार्यरूप से मानना पड़ता है।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने अभिधेयादि अर्थ से सर्वथा विलक्षण अर्थ के अवबोध में अभिधादि के व्यापार-विराम और व्यञ्जना के सामर्थ्य का जो उल्लेख किया है उसका आधार लोचनकार की यह उक्ति है—

'योऽप्यन्विताभिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति, तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोऽसाविति कुतः ? भिन्नविषयत्वात्। अथानेकोऽसौ ? तद्विषयसहकारिभेदादसजातीय एव युक्तः। सजातीये च कार्ये विरम्यव्यापारः शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां पदार्थविद्भिर्निषिद्धः असजातीये चास्मन्नय एव। (ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ६४, चौखम्बा)'।

(ग) 'साहित्यसार' के रचयिता अच्युतराय ने ध्वनिवादी आलङ्कारिकों की इस 'व्यञ्जनादृष्टि' का इस प्रकार विश्लेषण किया है—

'अशक्यालक्ष्यसंबोधादमन्दानन्ददायिनी। दृशोश्चुम्बनतः किं न व्यञ्जना रञ्जनं जनाः॥
ततो निमित्तादिभिदा सिद्धा दृष्टिद्वयेतरा। धीरैकगम्या वदने व्यञ्जना च स्मितद्युतिः॥
पद वाक्यं पदार्थश्च वाक्यार्थो धातुरप्यथ। सुप् तिङ् च प्रातिपदिकं कालो वचनमेव च॥
अपि पूर्वनिपातश्च विभक्तिः कापि तद्धितः। निपाताश्चादयः प्राद्या उपसर्गास्तथैव च॥
सर्वनामाव्ययीभाव इमनिच् प्रत्ययस्तथा। आधारः कर्मभूताख्यो वर्णाश्च रचनास्तथा॥
प्रबन्धाश्च कविप्रौढोक्ती रसो वस्त्वलङ्कृतिः। संकरश्चापि संसृष्टिरिति दिग् दृक्स्थलेऽस्ति सा॥

जिसमें 'व्यञ्जना' के २८ आधारों का स्थिरीकरण है।

अनुवाद—इस व्यञ्जना के सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि शब्द की व्यञ्जना दो प्रकार की हुआ करती है—(१) अभिधामूलक व्यञ्जना और (२) लक्षणामूलक व्यञ्जना।

अनुवाद—अभिधामूलक व्यञ्जना का निरूपण यह है—अभिधामूलक व्यञ्जना शब्द

(२–अभिधानियामक तत्त्व और अभिधामूलक व्यञ्जना : स्वरूप-परिष्कार)

आदिशब्दाद्विप्रयोगादयः।

उक्तं हि—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥' इति।

'सशङ्खचक्रो हरिः' इति शङ्खचक्रयोगेन हरिशब्दो विष्णुमेवाभिधत्ते। 'अशङ्खचक्रो हरिः' इति तद्वियोगेन तमेव। 'भीमार्जुनौ' इति अर्जुनः पार्थः। 'कर्णार्जुनौ' इति कर्णः सूतपुत्रः। 'स्थाणुं वन्दे' इति स्थाणुः शिवः। 'सर्व

की वह शक्ति है जो कि संयोगादिरूप अभिधानियामकों में से किसी के द्वारा कहीं किसी अनेकार्थक शब्द के किसी एक प्राकरणिक अर्थ में नियन्त्रित कर दिये जाने पर एक ऐसे अर्थ को उपस्थित किया करती है जो कि वाच्यार्थ से सर्वथा विलक्षण अर्थ हुआ करता है।

अनुवाद—यहां 'संयोगाद्यैः' इत्यादि कथन से अभिधानियामक तत्त्वों में 'संयोग' के अतिरिक्त जिन अन्यान्य तत्त्वों का समावेश अपेक्षित है उनमें 'विप्रयोग' आदि-आदि समझे जाने चाहिये। वस्तुतः इस प्रगङ्ग में (आचार्य भर्तृहरि की) यह सूक्ति स्मरणीय है—

'ऐसे प्रसङ्गों में, जहां किसी (अनेकार्थक) शब्द के अर्थ का परिच्छेद अथवा निर्णय न हो रहा हो, जिन कारणों से किसी अर्थ-विशेष का ज्ञान संभव है वे हैं—संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, शब्दान्तरसान्निध्य, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर आदि।'

उपर्युक्त अर्थ विशेष-स्मारक तत्त्वों के उदाहरण—

(१) संयोग—जैसे कि, 'सशङ्खचक्रो हरिः'। यहां (अनेकार्थक) 'हरि' शब्द इसलिये केवल भगवान् विष्णु का ही अर्थ दे सकता है क्योंकि शङ्ख और चक्र का सम्बन्ध इसी अर्थ में उपपन्न है (न कि अन्य अर्थों जैसे कि यम, अनिल, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, सिंह, भेक आदि आदि में)।

(२) विप्रयोग—जैसे कि 'अशङ्खचक्रो हरिः'। यहाँ शङ्ख और चक्र के विश्लेष के कारण 'हरि' शब्द एकमात्र विष्णुवाचक ही बन रहा है (क्योंकि जैसे शङ्ख और चक्र का संयोग विष्णु से ही स्वभावतः सिद्ध है वैसे ही इनका विश्लेष अथवा वियोग भी विष्णु से ही संभव है न कि यमादि से)।

(३) साहचर्य—जैसे लि 'भीमार्जुनौ'। यहाँ अर्जुन पद अनेकार्थक है (क्योंकि 'अर्जुन' के अर्थ पृथापुत्र पाण्डवप्रवीर किंवा एक वृक्षविशेष-दोनों हैं)। किन्तु 'साहचर्य' के कारण अर्थात् 'भीम' पद के भीमसेनरूप और 'अर्जुन' पद के पाण्डवप्रवीर भीमानुज अर्जुनरूप अर्थों में ही सहचरभाव की संगति के कारण 'अर्जुन' पद का अर्थ एकमात्र पृथापुत्र अर्जुन ही हो सकता है (न कि वृक्षविशेष)।

(४) विरोधिता—जैसे कि 'कर्णार्जुनौ'। यहाँ 'विरोधिता' अर्थात् पारस्परिक वैरवि-

जानाति देवः' इति देवो भवान्। 'कुपितो मकरध्वजः' इति मकरध्वजः कामः। 'देवः पुरारिः' इति पुरारिः शिवः। 'मधुना मत्तः पिकः' इति मधुर्वसन्तः। 'पातु वो दयितामुखम्' इति मुखं सांमुख्यम्। 'विभाति गगने चन्द्रः' इति चन्द्रः शशी। 'निशि चित्रभानुः' इति चित्रभानुर्वह्निः। 'भाति रथाङ्गम्' 'रथाङ्गम्' इति नपुंसकव्यक्त्या रथाङ्गं चक्रम्। स्वरस्तु वेद एव विशेषप्रतीतिकृन्न काव्य इति तस्य विषयो नोदाहृतः।

रोध के भाव के कारण 'कर्ण' पद का अर्थ केवल सूतपुत्र कर्ण ही हो सकता है (न कि कान आदि आदि)।

(५) अर्थ—जैसे कि 'स्थाणुं वन्दे'। यहां 'अर्थ' अर्थात् वन्दना के अर्थ अथवा प्रयोजन की दृष्टि से 'स्थाणु', पद का अभिप्राय एक मात्र भगवान् शिव हो सकता है (न कि और कुछ जैसे कि ढूंढ आदि।

(६) प्रकरण—जैसे कि 'सर्वं जानाति देवः'। यहाँ 'देव' पद, जो कि अनेकार्थक है, प्रकरण के कारण एक मात्र 'आप' इस अर्थ का ही उपस्थापक हो रहा है (न कि देवता आदि आदि का)।

(७) लिङ्ग—जैसे कि 'कुपितो मकरध्वजः'। यहाँ लिङ्ग अर्थात् मीनध्वजरूप धर्मविशेष के कारण 'मकरध्वजशब्द' का अर्थ एकमात्र 'कामदेव' ही हो सकता है (न कि 'समुद्र' आदि) क्योंकि समुद्ररूप अर्थ में यह धर्मविशेष साक्षात् संगत नहीं)।

(८) शब्दान्तरसान्निध्य—जैसे कि 'देवः पुरारिः'। यहाँ 'अन्यशब्दसन्निधि' के कारण अर्थात् 'देव' शब्द के समीप्य से 'पुरारिः' पद केवल शिव का ही वाचक हो सकता है (न कि किसी शत्रुनगरसंहारक अन्य राजवीर आदि का)।

(९) सामर्थ्य—जैसे कि 'मधुना मत्तः पिकः'। यहाँ सामर्थ्य के कारण अर्थात् कोकिल को उन्मत्त बनाने के सामर्थ्य के कारण 'मधु' पद का एकमात्र अर्थ वसन्त ऋतु ही हो सकता है (न कि और कुछ जैसे कि दैत्यविशेष, मधु आदि)।

(१०) औचिती—अथवा औचित्य, जैसे कि 'पातु वो दयितामुखम्'। यहाँ औचित्य के कारण अर्थात् कामार्त्त प्रेमी के परित्राण की योग्यता की दृष्टि से 'मुखम्' पद का अर्थ एक मात्र 'साम्मुख्य' अथवा अनुकूलता ही निकल सकता है (न कि मुंह जिसमें प्रेमी के परित्राण की कोई योग्यता नहीं)।

(११) देश—जैसे कि 'विभाति गगने चन्द्रः'। यहाँ 'देश' के कारण अर्थात् आकाशरूप देश अथवा स्थान के विवक्षित होने की दृष्टि से 'चन्द्र' पद (जो कि कर्पूर आदि अर्थों का भी वाचक है) एक मात्र 'चन्द्रमा' का अर्थ रख सकता है।

(१२) काल—जैसे कि 'निशि चित्रभानुः' पद (जो कि अग्नि और सूर्य दोनों अर्थों का वाचक है) केवल 'अग्नि' का ही अर्थ रख सकता है।

(१३) व्यक्ति—जैसे कि 'भाति रथाङ्गम्'। यहाँ 'रथाङ्ग' पद (जो कि चक्र और चक्रवाक दोनों अर्थों जा वाचक है) व्यक्ति अर्थात् नपुंसकलिङ्ग के कारण एकमात्र रथ के चक्र (पहिये) का ही अर्थ दे सकता है।

(१४) स्वर—'स्वर' के द्वारा अनेकार्थक पद के अर्थ का निर्णय केवल वेद में ही संभव है न कि काव्य-साहित्य में। स्वर की अर्थ-नियामकता का उदाहरण इसीलिये यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

इदं च केऽप्यसहमाना आहुः—स्वरोऽपि काक्वादिरूपः काव्ये विशेषप्रतीतिकृदेव। उदात्तादिरूपोऽपि मुनेः पाठोक्तदिशा शृङ्गारादिरसविशेषप्रतीतिकृदेव' इति एतद्विषये उदाहरणमुचितमेव इति, तन्न; तथाहि—स्वराः काक्वादयः उदात्तादयो वा व्यङ्ग्यरूपमेव विशेषं प्रत्याययन्ति, न खलु प्रकृतोक्तमनेकार्थशब्दस्यैकार्थनियन्त्रणरूपं विशेषम्। किञ्च यदि यत्र क्वचिदनेकार्थशब्दानां प्रकरणादिनियमाभावादनियन्त्रितयोरप्यर्थयोरनुरूपस्वरवशेनैकत्र नियमनं वाच्यं, तदा तथाविधस्थले श्लेषानङ्गीकारप्रसङ्गः; न च तथा, अत एवाहुः श्लेषनिरूपणप्रस्तावे—'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते' इति च नयः, इत्यलमुपजीव्यानां मान्यानां व्याख्यानेषु काटक्षनिक्षेपेण। आदिशब्दात् 'एतावन्मात्रस्तनी' इत्यादौ हस्तादिचेष्टादिभिः स्तनादीनां कमलकोरकाद्याकारत्वम्।

किन्तु कतिपय काव्याचार्य यह मानने को तैयार नहीं कि स्वर केवल वेद में ही अर्थ नियामक हुआ करता है। उनका यह कहना है—'स्वर अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार का ध्वनिविकाररूप कण्ठस्वर तो काव्य में अर्थविशेष का परिच्छेदक हुआ ही करता है (क्योंकि भरतनाट्यशास्त्र की यही मर्यादा है)। साथ ही साथ उदात्तादि रूप स्वर भी, जैसा कि (नाट्यशास्त्रकार) भरतमुनि ने पाठ्य के धर्म के रूप में प्रतिपादित किया है, शृङ्गारादि भिन्न-भिन्न रस-भावों के प्रत्यायन करने में समर्थ ही हैं। ऐसी परिस्थिति में, काव्य–साहित्य में स्वर की अर्थनियामकता का उदाहरण देना तो उचित ही है।' किन्तु वस्तुतः यह कथन युक्तियुक्त नहीं। क्यों? इसलिये कि ध्वनि विकार अथवा उदात्तादिरूप स्वर भले ही व्यङ्ग्यरूप अर्थविशेष के प्रत्यायक हों, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकल सकता कि इनके द्वारा किसी अनेकार्थक शब्द का किसी एक अर्थ में नियन्त्रण भी, जिसका यहां प्रतिपादन अभीष्ट है, किया जाया करता है। यहां एक और भी बात ध्यान देने की है और वह यह है—किसी श्लिष्ट प्रसङ्ग को लें, जहां प्रकरणादि के द्वारा किसी अनेकार्थक शब्द के अर्थ का निर्णय सम्भव नहीं और उस शब्द के दो (अथवा दो से अधिक) अर्थ विना किसी रोकटोक के निकल रहे हों। अब यदि यह कहा जाय कि उस शब्द का पाठ्योचित स्वर उस शब्द के दोनों अर्थों में से किसी एक अर्थ का निर्णायक बन जाया करता है तब तो इसके बदले यही कहा जायगा कि ऐसे प्रसङ्गों में श्लेषालङ्कार नाम की कोई चीज़ ही नहीं हुआ करती। किन्तु बात तो यह है कि ऐसे प्रसङ्ग श्लेषालङ्कार के ही प्रसङ्ग हुआ करते हैं। वस्तुतः इसीलिये श्लेषालङ्कार–निरूपण के प्रसङ्ग में यह कहा गया है (जैसा कि काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने ही कहा है) 'काव्य का क्षेत्र ऐसा है जहां स्वर का कोई काम नहीं'। अन्ततोगत्वा सिद्धान्त यही निकला कि काव्य में स्वर को अर्थनियामक नहीं माना जा सकता (और इसलिये इसके उदाहरण न दिये जाने की जो बात कही गयी वह ठीक ही कही गयी)। इस सम्बन्ध में और भी बहुत कुछ कहा जा सकता है किन्तु अच्छा है न कहा जाय क्योंकि ऐसा करना प्राचीन प्रामाणिक काव्याचार्यों की समीक्षाओं पर कटाक्ष करना ही होगा।

(१५) स्वर के अतिरिक्त जिन अन्य अर्थनियामक तत्त्वों को 'आदि' शब्द द्वारा समुच्चित किया गया है ('स्वरादयः' इत्यादि में) उनमें चेष्टा अथवा अभिनयमुद्रा आदि-आदि अन्तर्भूत हैं। चेष्टा अथवा हाथ आदि की मुद्राओं के द्वारा अर्थ का निर्णय, जैसे कि—'एतावन्मात्रस्तनी' आदि में। यहां हाथ की चेष्टाओं से ही 'एतावद्' शब्द

एवमेकस्मिन्नर्थेऽभिधया नियन्त्रिते या शब्दार्थस्यान्यार्थबुद्धिहेतुः शक्तिः साऽभिधामूला व्यञ्जना ।

यथा मम तातपादानां महापात्रचतुर्दशभाषाविलासिनीभुजङ्गमहाकवीश्वर-श्रीचन्द्रशेखरसांधिविग्रहिकाणाम्—

'दुर्गालङ्घितविग्रहो मनसिजं संमीलयंस्तेजसा
प्रोद्यद्राजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः ।
नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारयन्
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः ॥'

अत्र प्रकरणेनाभिधया उमावल्लभशब्दस्योमानाम्नीमहादेवीवल्लभभानुदेव-नृपतिरूपेऽर्थे नियन्त्रिते व्यञ्जनयैव गौरीवल्लभरूपोऽर्थो बोध्यते । एवमन्यत् ।

कमलकोरक आदि-आदि अभिप्रायों को दिया करता है जिनसे यहां नायिका के स्तनों की रूप-रेखा का निर्देश विवचित है ।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि अभिधामूला व्यञ्जना वह शक्ति है जिसके द्वारा किसी शब्द का एक अन्य ही अर्थ निकला करता है और वहाँ निकला करता है जहां उस शब्द की अभिधा (किसी न किसी अभिधा-नियामक तत्त्व के द्वारा) किसी एक अर्थ में नियन्त्रित कर दी गयी होती है । अभिधामूला व्यञ्जना के उदाहरण के रूप में चतुर्दशभाषाविलासिनीभुजङ्ग, महाकवीश्वर, महापात्र पूज्य पितृचरण श्रीचन्द्रशेखर सांधिविग्रहिक की यह सूक्ति पर्याप्त है—

'(दुर्गालङ्घितविग्रहः) जिसकी सामरिक शक्ति को बड़े-बड़े दुर्ग भी नहीं रोक सकते, (मनसिजं तेजसा संमीलयन्) जिसके सौन्दर्य से कामदेव भी परास्त पड़ा है, (प्रोद्यद्राजकुलः) जिसने कितने ही अभ्युदयशील राजगणों को अपना वशवर्ती बना रखा है, (गृहीतगरिमा) जिसके आगे गौरव अथवा महत्त्व भी पराजित रहा करता है, (विष्वग्वृतो भोगिभिः) जिसके चतुर्दिक् महावैभवशाली लोग रहा करते हैं, (नक्षत्रेशकृतक्षणः) जो बड़े-बड़े राजाओं पर भी उपेक्षादृष्टि रखा करता है, (गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारयन्) जिसकी भगवान् शिव में प्रगाढ भक्ति है, (गामाक्रम्यविभूतिभूषिततनुः) और जो कि दिग्विजय करने के कारण अपने समस्त ऐश्वर्य में सुशोभित है वह (उमावल्लभः) महारानी उमा का प्राणपति महाराज श्री भानुदेव (राजति) सदा विराजमान रहे ।'

यहां अभिधामूला व्यञ्जना इसलिये है क्योंकि प्रकरण ने भले ही 'उमावल्लभ' शब्द को एकमात्र 'उमा नाम की महारानी के पति महाराज श्री भानु देव' के अर्थ में निमन्त्रित कर रखा हो जैसा कि वस्तुतः कर ही रखा है, किन्तु यह निश्चित है कि इसका यहां एक अन्य ही अर्थ अर्थात् पार्वतीपति शिवरूप अर्थ निकल पड़ता है (और अन्त में महाराज भानुदेव और भगवान् शिव का परस्पर औपम्य भी स्पष्ट अभिव्यक्त हो उठता है)। इसी भांति इस व्यञ्जना के अन्यान्य उदाहरण स्वयं देखे जा सकते हैं ।

विमर्श—(क) शक्तिनियामक तत्त्वों का उदाहरणपूर्वक लक्षण 'साहित्यसार' (ऐरावत-रत्न, २य प्रकरण) के इन श्लोकों में स्पष्ट है—

'नानार्थवाचके शब्दे शक्तिग्रहनियामकाः । संयोगादय एवात्र ज्ञेया प्राचीनसम्मताः ॥
हरिः सशङ्खचक्रोऽत्र संयोगाद्विष्णुरुच्यते । अशङ्खचक्रो हरिरित्यत्रेन्द्रः स्याद्वियोगतः ॥
श्री रामलक्ष्मणावत्र सीतेशः साहचर्यतः । हरिर्नागं हिनस्त्यत्र विरोधात्सिंहदन्तिनौ ॥

स्थाणुं भवच्छिदे पश्येत्यत्र शंभुः प्रयोजनात्। सैन्धवं स्वानयेत्यत्र क्षारः प्रकरणाद् भवेत्॥
माधवस्तुष्यतीत्यत्र लिङ्गान्नारायणः खलु। देवस्त्रिपुरहेत्यत्र शिवोऽन्यपदसन्निधेः॥
मधुना कोकिलो मत्तोऽत्र सामर्थ्याद्वसन्तकः। औचित्यात्सा मुखं यातीत्यत्र सांमुख्यमुच्यते॥
हंसः सरसि भातीति देशयोगान्मरालकः। चित्रभानुः स्फुरत्यत्र दिवाकों निशि पावकः॥
मित्रमस्तीत्यत्र सुहृद्व्यक्त्या मित्रः प्रभाकरः। इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीरिति चेष्टावशात्स्वयम्॥'

(ख) शक्तिनियामक तत्त्वों का सर्वप्रथम दिग्दर्शन महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि का किया हुआ है। 'वाक्यपदीय' के रचयिता आचार्य भर्तृहरि ने **'संयोगो विप्रयोगश्च'** आदि कारिका में शब्द-दार्शनिकों की शक्तिनियामकतासम्बन्धी धारणाओं का संग्रह किया है। आचार्य भर्तृहरि की इस सम्बन्ध में अपनी धारणा यह है।

'वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद् देशकालतः।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात्॥' (वाक्यपदीय २, ३१६)

अर्थात् वाक्य, प्रकरण, अर्थ, औचित्य, देश और काल-ये वे अर्थनियामक तत्त्व हैं जो किसी शब्द के अर्थ के निर्धारक हुआ करते हैं। कोई शब्द अपने स्वरूप मात्र से अपने अर्थ का निर्धारण नहीं किया करता।

कतिपय आचार्य केवल 'सामर्थ्य' को ही मुख्य अर्थनिर्णायक माना करते हैं और संयोगादि को सामार्थ्य का ही व्यञ्जक-प्रपञ्च सिद्ध करते हैं। महावैयाकरण नागेशभट्ट ने **'संयोगो विप्रयोगश्च'** का यह अभिप्राय लिया है—

'एते संयोगादयः शब्दार्थस्यानवच्छेदे सन्देहे तदपाकरणद्वारेण विशेषस्मृतिहेतवो निर्णयहेतव इत्यर्थः। उपस्थितानामनेकेषामेकतरमात्रार्थतात्पर्यनिर्णयद्वारा तन्मात्रार्थविषयकान्वयबोधजनका इति भावः। (वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, पृष्ठ १०९)

अर्थात् संयोगादि को **'शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः'** कहने का जो अभिप्राय है वह यह है—कतिपय शब्द अनेकार्थक हुआ करते हैं। ऐसे शब्दों के अर्थों के निर्धारण में संदेह का होना स्वाभाविक है। संयोग, विप्रयोग आदि आदि के द्वारा ही ऐसा संभव है कि अनेकार्थक शब्द के अनेकों अर्थों में एक अर्थ का निर्णय हो सके। इसीलिये संयोगादि को 'विशेषस्मृतिहेतु' अर्थात् 'अर्थनिर्णयहेतु' कहा जाया करता है।

संयोगादि के द्वारा अनेकार्थक शब्द के 'अर्थनियमन' अथवा 'अर्थनियन्त्रण' का यही अभिप्राय है कि एक अर्थ का शब्दबोध पहले हो। किन्तु इसका यह निष्कर्ष नहीं कि यदि बाद में दूसरे अर्थ का शाब्दबोध हो तो वह भी अभिधा द्वारा ही हो। इसलिये नागेशभट्ट का कथन है—

'क्वचित् प्राकरणिकार्थबोधोत्तरं वक्तृबोद्धव्यवैशिष्ट्यप्रतिभादिसहकारेण द्वितीयार्थबोधोऽपि।'

अर्थात् प्राकरणिकार्थबोध के बाद यदि वक्तृवैशिष्ट्य अथवा बोद्धव्यादिवैशिष्ट्य के कारण प्रतिभासम्पन्न लोगों के मन में किसी अप्राकरणिक वाच्यार्थभिन्न अर्थ का बोध हो तो वहाँ अभिधा नहीं अपितु व्यञ्जना का ही हाथ मानना चाहिये। इसलिये व्यञ्जना का यह स्वरूप है—

'मुख्यार्थबोधग्रहनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थसंबद्धासंबद्धसाधारणप्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयको वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्धसंस्कारविशेषो व्यञ्जना। वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा पृष्ठ १५९।'

अर्थात् नैयायिकों द्वारा लक्षणा में व्यञ्जना का अन्तर्भाव युक्तियुक्त नहीं। वस्तुतः व्यञ्जना तो अर्थविषयक एक संस्कार विशेष है, जिसका कारण प्रतिभा है नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा है। लक्षणा में यह बात कहाँ? व्यङ्ग्यार्थ का स्वरूप, क्या मुख्यार्थ और क्या अमुख्यार्थ, दोनों से भिन्न

है। मुख्यार्थ और अमुख्यार्थ की प्रतीति के सहायक तत्त्व कुछ और हैं और व्यङ्ग्यार्थ-प्रतीति के सहायक तत्त्व और।

(ग) संयोगादि जो शक्तिनियामक अथवा अभिधानियामक तत्त्व हैं उनमें प्रत्येक का स्वरूप असंकीर्ण है। जैसे कि 'संयोग' और 'साहचर्य' एक नहीं अपितु परस्पर भिन्न तत्त्व है। 'संयोग' का अभिप्राय है प्रसिद्ध 'संवन्ध-सामान्य' और यह संयोगवाचक शब्द द्वारा प्रकट किया जाया करता है। जैसे कि **'सशङ्खचक्रो हरिः'** आदि में। **'सशङ्खचक्रो हरिः'** आदि में शङ्ख और चक्र का भगवान् विष्णु से जो संबन्ध है वह प्रसिद्ध है किंवा साक्षात् शब्दोपात्त है। 'साहचर्य' में संयोग का अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि 'साहचर्य' का अभिप्राय स्वस्वामिभाव, जन्यजनकभाव, स्वामिभृत्यभाव आदि २ विशिष्ट सम्बन्धों से संवद्ध और इसीलिये द्वन्द्वादिसमासगत परस्परसंबन्धी पदार्थों का है जैसे कि 'रामलक्ष्मणौ' आदि में, यहाँ 'लक्ष्मण' का साहचर्य राम शब्द की अभिधा का 'राघव' अर्थ में नियामक है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने स्पष्ट कहा है—**'संयोगशब्दस्य संबन्धसामान्यपरतया यत्र शब्दोपात्तं प्रसिद्धं संबन्धसामान्यं शक्तिनियामकं तदाद्यस्य (संयोगस्य), यत्र तु द्वन्द्वादिगतः संबन्ध्येव केवलस्तदा तत्साहचर्यस्योदाहरणमिति प्राचामाशयात्। इत्थं च 'सगाण्डिवोऽर्जुनः' इति संयोगस्य, गाण्डिवार्जुनाविति साहचर्यस्योदाहरणम्।'**

(रसगङ्गाधरः, पृष्ठ १४९)

'संयोग' और 'विप्रयोग' को पृथक् २ मानने का अभिप्राय यह है कि 'अशङ्खचक्रो हरिः' आदि में विभाग अथवा विप्रयोग के संयोग-पूर्वक किंवा संयोग-सापेक्ष होने से वस्तुतः तो 'संयोग' ही अभिधानियामक माना जाना चाहिये किन्तु 'संयोग' के गौण होने और 'विप्रयोग' के प्रधान होने के कारण 'विप्रयोग' को ही अभिधानियामक मानना उचित है और माना भी गया है। रसगङ्गाधरकार ने इसीलिये कहा है—**'यद्यप्यत्र गुणतया वर्तमानस्तादृशसंयोग एवाभिधा-नियमनायालम्, तथापि गुणप्रधानयोः संनिपाते प्रधानानुरोध एव न्याय्य इत्याशयेन विप्रयोगस्य नियामकत्वमुक्तम्'**।

विरोधिता का तात्पर्य प्रसिद्ध वैर किंवा सहानवस्थान (साथ न रहना)। **'रामार्जुनगति-स्तयोः'** इस प्रयोग में विरोधिता अथवा प्रसिद्ध वैर के द्वारा ही राम और अर्जुन पद की अभिधा भार्गव और कार्तवीर्य अर्थों में एक समय नियन्त्रित की जाया करती है। 'सहानवस्थान' के द्वारा अभिधानियन्त्रण का उदाहरण 'छायातपौ' है। **'रामार्जुनगतिस्तयोः'** में प्रकरण द्वारा अभिधा का नियन्त्रण नहीं क्योंकि यहाँ प्रकरण से दो व्यक्तियों के पारस्परिक विरोध का भाव भले ही निकले, भार्गव और कार्तवीर्य के विरोध का भाव यहाँ प्रकरण-प्राप्त कहाँ? पण्डितराज जगन्नाथ ने इसीलिये कहा है—**'न च प्रकरणादविशेषः। विरोधस्य प्रक्रान्तत्वेऽपि भार्गव-कार्तवीर्ययोः शक्तिनियमाधिकरणयोरप्रक्रान्तत्वात्।'**

'अर्थ' और 'लिङ्ग' एक नहीं अपितु भिन्न भिन्न अभिधानियामक हैं। **'स्थाणुं भज भवच्छिदे'** में 'अर्थ' को अभिधानियामक कहने और **'कुपितो मकरध्वजः'** में 'लिङ्ग' को अभिधानियामक मानने का पृथक्-पृथक् उद्देश्य है। **'स्थाणुं भज भवच्छिदे'** में तो भवच्छेद कारणभूत भजन एक ऐसा विशिष्ट धर्म है जो शाब्दबोध का विषय नहीं अपि तु मानस-बोध का विषय है किन्तु **'कुपितो मकरध्वजः'** में जो कोपरूप धर्म है वह साक्षात् शब्दवेद्य है। रसगङ्गाधर के व्याख्याकार आचार्य नागेशभट्ट ने इसीलिये कहा है—

'एवं चासमस्ताखण्डैकपदार्थो लिङ्गमिति फलितम्। भवच्छेदनादिकं च भजनादि-रूपभिन्नपदार्थान्वितमेव भवधर्म इति भावः। (रसगङ्गाधर: गुरुमर्मप्रकाश, पृष्ठ १५२)

'प्रकरण' का अर्थ है वक्ता और श्रोता की 'बुद्धिस्थता' का-**वक्तृश्रोतृबुद्धिस्थता** (वृत्तिवार्तिक, ६) जैसे कि यदि किसी राजा को संबोधित कर कोई कहे-**'सर्वं जानाति देवः'** तो 'देव' पद का अर्थ संबोध्य व्यक्ति ही होगा क्योंकि वक्ता और श्रोता दोनों के मन में इस पद का यही अर्थ है।

'अन्य शब्दसन्निधि' के अभिधानियामक होने का तात्पर्य यह है—यदि कहीं किसी अनेकार्थक पद के साथ किसी ऐसे निश्चितार्थक पद का सामानाधिकरण्य हो जो कि उस (अनेकार्थक पद) के किसी एक अर्थ से ही अन्वित अथवा संबद्ध हो सके तो वहाँ वह (अनेकार्थवाचक पद) अपने समानाधिकरण पद के द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रित किया जाया करता है—**'शब्दस्यान्यस्य सन्निधिर्नियतार्थकशब्दान्तरसामानाधिकरण्यम्'**–(काव्यप्रकाशप्रदीप, पृष्ठ ४४) जैसे कि **'देवस्य पुरारातेः'** अथवा **'देवस्य त्रिपुरारातेः'** आदि प्रयोगों में 'पुराराति' अथवा 'त्रिपुराराति' पद के सामानाधिकरण्य से अनेकार्थक 'देव' पद की अभिधा महादेव शंकर के अर्थ में नियमित की हुई है क्योंकि 'देव' शब्द के राजविशेष आदि अर्थ के साथ 'त्रिपुरान्तकता' का कोई संबन्ध नहीं हो सकता। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'शब्दान्तरसंनिधि' का यह लक्षण किंवा उदाहरण ठीक नहीं माना है। उनका यहाँ यह कहना है कि **'देवस्य त्रिपुरारातेः'** में 'शब्दान्तर सान्निध्य' नहीं अपि तु 'लिङ्ग' ही अभिधा का नियन्त्रण करता है क्योंकि 'त्रिपुराराति' पद ही साक्षात् महादेव शंकर की 'त्रिपुरान्तकता' के धर्म को प्रकट कर देता है। 'शब्दान्तरसन्निधि' का उदाहरण तो **'करेण राजते नागः'** आदि है। जहाँ 'कर' पद की अभिधा 'नाग' पद के सान्निध्य और 'नाग' पद की अभिधा 'कर' पद के सान्निध्य से शुण्डादण्ड (सूँड़) और गज (हाथी) रूप अर्थों में एक साथ ही नियन्त्रित हुआ करती है। यहाँ ऐसा नहीं कि दोनों पदों के परस्पर शक्तिनियमन में परस्पर सापेक्षता होने से अन्योन्याश्रय दोष पड़ता हो क्योंकि यहाँ तो एक साथ ही दोनों पदों की शक्ति नियमित हुआ करती है। यदि ऐसा न हो तो 'कर' शब्द के 'हाथ' और 'नाग' शब्द के 'साँप' अर्थ लेने पर किस प्रकार का अन्वय यहाँ युक्तियुक्त हो ? इसलिये 'शब्दान्तरसन्निधि' का तात्पर्य है—**'शब्दस्यान्यस्य सन्निधिर्नानार्थपदैकार्थमात्रसंसर्ग्यर्थान्तर-वाचकपदसमभिव्याहारः'** (रसगंगाधर, पृष्ठ १५२)। अर्थात् 'शब्दान्तरसन्निधि' वह है जिसे किसी अनेकार्थक पद के साथ एक ऐसे भिन्नार्थक पद का समभिव्याहार (साथ प्रयोग) कहना चाहिये जो उस अनेकार्थक पद के एक ही अर्थ से अन्वित हो सके।

'सामर्थ्य' का अभिप्राय है 'कारणता' का। **'मधुना मत्तः पिकः'** आदि में अनेकार्थक 'मधु' पद की अभिधा वसन्त ऋतु रूप अर्थ में इसलिये नियन्त्रित है क्योंकि पिक की उन्मत्तता की कारणता वसन्त ऋतु में ही देखी जा सकती है न कि मधु पद के अन्य अर्थों जैसे कि सुरा आदि में।

'औचिती' की अभिधानियामकता का अभिप्राय रसगंगाधरकार के शब्दों में यह है—

'औचिती योग्यता'। यथा 'पातु वो दयितामुखम्' इत्यत्र दयितामुखकर्तृकरक्षणकर्मत्वा-च्छिसकामार्तानां संबोध्यपुरुषाणां त्राणं हि तस्याः सांमुख्येनैव भवति, न तु मुखमात्रेण, वैमुख्ये तेन त्राणायोगात्। अतस्त्राणार्हत्वं वदन-सांमुख्योभयप्रत्यायकस्य मुखशब्दस्य।' अर्थात् **'पातु वो दयितामुखम्'** आदि प्रसङ्गों में मुख और अनुकूलता दोनों के अर्थ रखने वाले 'मुख' पद की अभिधा अनुकूलता (सांमुख्य) के अर्थ में जिसके द्वारा नियन्त्रित हुआ करती है वह औचिती अथवा योग्यता है क्योंकि कामार्त्त पुरुषों की रक्षा का संबन्ध कामिनियों के मुखमात्र से नहीं अपि तु 'सांमुख्य' (अनुकूलता) से है।

'देश' का अभिप्राय नगर, ग्राम आदि स्थानविशेष का है। **'भात्यत्र परमेश्वरः'** आदि प्रयोगों में 'अत्र' (यहाँ) का अर्थ 'राजधानी' है जिससे 'परमेश्वर' पद का अर्थ एक 'राजविशेष'

ही निकल सकता है न कि 'भगवान्' आदि। पण्डितराज जगन्नाथ ने अभिधानियामकों में 'देश' का यही अभिप्राय लिया है—**'देशो नगरादिः। 'भात्यत्र परमेश्वरः' इत्यादौ परमेश्वरादिशब्दस्य राजादौ। तस्य नगरादिसंबन्धतदभावयोः संभवेनाभावव्यावृत्त्यर्थमधिकरणकीर्तनस्य सार्थक्यात्। परमात्मनस्तु सर्वगतस्य व्यावर्त्याभावात्तदुक्तिवैयर्थ्यापत्तेः'।**

(रसगंगाधर, पृष्ठ १५५)

'स्वर' की अभिधानियामकता वेद-वाङ्मय में मानी जाती है। संस्कृत काव्य-साहित्य में 'स्वर' की अभिधानियामकता का कोई दृष्टान्त इसलिए नहीं क्योंकि परम्परा से काव्यमार्ग में स्वर की कोई महत्ता नहीं मानी गयी—**'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते।'** वेद में स्वर की शक्तिनियामकता शतपथब्राह्मण (१.६.३.१) की इस उक्ति से स्पष्ट है—

'अथ यदब्रवीत् इन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति तस्मादु हैनम् इन्द्र एव जघान। अथ यद्ध शश्वद्वक्ष्यदिन्द्रस्य शत्रुर्वर्धस्वेति शश्वदुह स एवेन्द्रमहनिष्यत्।'

अर्थात् 'इन्द्रशत्रु' में अन्तोदात्त स्वर के प्रयोग से (क्योंकि **'इन्द्रस्य शत्रुः इन्द्रशत्रुः'** इस तत्पुरुष समासान्त पद में 'समासस्य' 'पाणिनिः अष्टाध्यायी ६.१.२२३' इस सूत्र के अनुसार पद का अन्तवर्ण ही 'उदात्त' स्वरयुक्त होगा) तो इन्द्र के शत्रु वृत्रासुर की ही विजयाकांक्षा पूर्ण हुई होती, किन्तु 'यहीं पूर्व पद पर उदात्त स्वर **(इन्द्रशत्रुः)** के प्रयोग के कारण (क्योंकि 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्-पाणिनिः अष्टाध्यायी ६.२.१'—इस सूत्र से **'इन्द्रः शत्रुर्यस्य'** इस बहुव्रीहि समासान्त पद में पूर्व पद पर उदात्त सर्वथा उचित ही है) वृत्रहन्ता इन्द्र की ही विजय मनायी गयी।

स्वर के द्वारा वेद में अर्थ-परिच्छेद का यह सिद्धान्त काव्यप्रकाशकार मम्मट को भी मान्य है—

'इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेदे एव न काव्ये स्वरोऽर्थविशेषप्रतीतिकृत्' अर्थात् **'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व'** आदि वेद-वाक्यों में ही स्वर के द्वारा किसी पद का अर्थनिर्णय संभव है काव्य में नहीं।

यहाँ साहित्यदर्पणकार ने आचार्य मम्मट की धारणा को अपनाया है और इस विषय में मम्मट के आलोचकों की आलोचना की है। मम्मट के आलोचकों की यहाँ यह धारणा थी कि उदात्तादिरूप स्वर अथवा काकुरूप स्वर काव्य में भी अर्थनिश्चायक हुआ करते हैं। इस धारणा का आधार नाट्यशास्त्र (१९.४३) की यह उक्ति थी—

'उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः कम्पितस्तथा।
वर्णाश्चत्वार एव स्युः पाठ्ययोगे तपोधनाः॥

तत्र हास्यशृङ्गारयोः स्वरितोदात्तैर्वीररौद्राद्भुतेषु उदात्तकम्पितैः करुणावात्सल्यभयानकेषु अनुदात्तस्वरितकम्पितैर्वर्णैः पाठ्यमुपपादयेत्'।

किन्तु विश्वनाथ कविराज ने नाट्यशास्त्र की इस उक्ति का दूसरा अभिप्राय लिया। उनका कहना है—'काव्य-नाट्य में उदात्तादि अथवा काक्वादि स्वर अभिधानियामक नहीं अपितु अर्थविशेष के अभिव्यञ्जक हुआ करते हैं'—इस दृष्टि से ही भरत मुनि ने पाठ्य गुणों का निरूपण किया है और यही आचार्य मम्मट की भी दृष्टि है। तब तो यह निश्चित ही है कि काव्य-नाट्य में स्वर को अनेकार्थक पद का अर्थनियामक नहीं माना जा सकता।

प्रदीपकार का भी यहाँ यही अभिमत है—

'काकुस्थले तु न नानार्थाभिधानियमनं किं त्वपदार्थस्यैव व्यञ्जनम्' (काव्यप्रदीप पृ.४५)
अर्थात् काकुरूप स्वर का काव्य-नाट्य में प्रयोग भले ही हो किन्तु इसका उद्देश्य अनेकार्थ पदों का अभिधानियन्त्रण नहीं अपितु एक ऐसे अर्थ का अभिव्यञ्जन हुआ करता है जो वाच्यार्थ

(२—लक्षणामूलक व्यञ्जना)

लक्षणामूलामाह—

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम् ।
यया प्रत्याय्यते सा स्याद्व्यञ्जना लक्षणाश्रया ॥ १५ ॥

'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ जलमयाद्यर्थबोधनादभिधायां तटाद्यर्थबोधनाच्च

नहीं अपितु वाच्यार्थ से विलक्षण अर्थ हुआ करता है। अभिनय (विवक्षितार्थाकृतिप्रदर्शको हस्तादिव्यापारः अभिनयः—वृत्तिवार्तिक, पृष्ठ ८) अथवा हस्तादिचेष्टा द्वारा किसी पद के अर्थनिर्णय का उदाहरण 'एद्दहमेत्तावत्था' आदि है जो कि काव्यप्रकाशकार का ही दिया उदाहरण है। उदाहरणचन्द्रिका (पृष्ठ ५४) में इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या दी हुई है—

'सौन्दर्यातिशयशालिन्या नयनगोचरमगताया गुणश्रवणमात्रजनितानुरागेण नायकेनावस्थायां पृष्टायां दूत्या इयमुक्तिः।......एतावत्परिमाणौ आमलकादिपरिमाणौ स्तनौ यस्याः सा एवमेतावत् परिमाणं ययोस्ते एतावन्मात्रे विवक्षितकमलदलादिपरिमाणे ताभ्यामक्षिपत्राभ्यां नयनदलाभ्याम्। उपलक्षितेत्यर्थः। उपलक्षणे तृतीयानुशासनात्। तथा एतावन्मद्विवक्षितपरिमाणं दीर्घादि यस्यास्तथाभूता अवस्था स्वरूपं यस्याः सा एवमेतावद् बुद्धिस्थं परिमाणं संख्या येषां तथाविधैर्दिवसैर्लक्षणया संवत्सरैरुपलक्षिता। परिच्छिन्नेति यावत्। वर्षकथनस्यैव प्रायशो लोकव्यवहारसिद्धत्वात्। दिवसैरिति करणे वा तृतीया। अत्र मुकुलाकारहस्ताभिनयेन स्तनपरिमाणविशेषे, पद्मदलाकृतिना तेन नेत्रपरिमाणविशेषे अङ्गुल्यङ्कधारणादिरूपेण च दिवससंख्याविशेषे बुद्धिस्थमात्रशक्त्या एतावच्छब्दाः नियमितशक्तयः।'

अभिनय के अतिरिक्त 'अपदेश' को भी अर्थपरिच्छेदक मानने का अभिप्राय यह है—अपदेश कहते हैं विवक्षित अर्थ के स्पष्ट निर्देश को (विवक्षितार्थस्य शृङ्गग्राहिकया निर्देशः अपदेशः)। 'इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीः' (कुमारसंभव २. ५५) आदि में 'इतः' का अभिप्राय 'वक्ता' ही निकलता है क्योंकि वक्ता ही इस पद के प्रयोग में अपने वक्षःस्थल पर अपना हाथ रखकर अपना निर्देश कर रहा है।

इस प्रकार इन उपर्युक्त अभिधानियामकों में से किसी एक के द्वारा किसी पद के अर्थनिर्णय के हो चुकने पर भी यदि कोई विलक्षण अर्थ प्रतीत हो उठे तो यह निश्चित है कि यहाँ अभिधा व्यापार की कोई संभावना नहीं। यहां तो एक मात्र व्यञ्जना का ही साम्राज्य है जो कि अभिधा-व्यापार के मस्तक पर चढ़ी, वस्तुतः हृदय में बसी, एक चमत्कारजनक अर्थ का प्रत्यायन किया करती है।

अनुवाद—अब लक्षणामूलक व्यञ्जना का निरूपण किया जा रहा है—

लक्षणामूलक व्यञ्जना वह है जिसके द्वारा उस प्रयोजन का प्रत्यायन करवाया जाया करता है जिसकी दृष्टि से लाक्षणिक पद का प्रयोग हुआ करता है।

(लाक्षणिक पद-प्रयोगों में लक्षणामूलक व्यञ्जना के द्वारा प्रयोजन के प्रत्यायन का रहस्य यह है-'गङ्गायां घोषः'-'गंगा पर कुटी' जैसे प्रसंग में, जहां 'गङ्गा' शब्द ऐसा प्रयुक्त है जिसकी अभिधाशक्ति तो प्रवाहरूप अर्थ के अवबोध में ही क्षीण हो चुकी है और लक्षणा का व्यापार (सामीप्य-सम्बन्ध की प्रयोजकता से) अधिक से अधिक तट-रूप अर्थ का ही उपस्थापन कर पाता है, यह तो एकमात्र यहां की लक्षणाश्रित व्यञ्जना

लक्षणायां विरतायां यथा शीतत्वपावनत्वाद्यतिशयादिर्बोध्यते सा लक्षणामूला व्यञ्जना।

का ही सामर्थ्य है जिसके द्वारा यहां शीतलता और पवित्रता के सुन्दर वातावरण की उत्कट प्रतीति करवायी जाया करती है (जिसको लक्ष्य में रखकर 'गङ्गातटे' इस वाचक पद के बदले 'गङ्गायाम्' इस लाक्षणिक पद का व्यवहार हुआ करता है)।

विमर्श—(क) शाब्दीव्यञ्जना के प्रथम भेद अर्थात् अभिधामूलक व्यञ्जना का स्वरूप-परिज्ञान उसके द्वितीय भेद अर्थात् लक्षणामूलक व्यञ्जना के विशद परिचय के लिये आवश्यक है और इसीलिए साहित्यदर्पणकार ने इसी क्रम से शाब्दी व्यञ्जना के प्रकारों का निरूपण भी किया है। व्यञ्जना को 'लक्षणामूलक' कहने से यह स्पष्ट सिद्ध है कि विना व्यञ्जना के माने लक्षणा का भी रहस्य अनिर्भिन्न ही रह जायगा। काव्यप्रकाशकार ने इसीलिये कहा था—

'यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया॥

अर्थात् प्रयोजन के प्रत्यायन के लिये यदि वाचक पदों को छोड़कर लाक्षणिक पदों का प्रयोग हुआ करता है तब तो यह निश्चित है कि व्यञ्जना को लक्षणा से पृथक् शब्दशक्ति माना जाय क्योंकि लक्षणा-ज्ञान और व्यङ्ग्यभूत लक्षणा-ज्ञानफल (जैसे कि 'गङ्गायां घोषः' में तटरूप लक्षणाज्ञान और शैत्यादिरूप व्यङ्ग्य लक्षणा-ज्ञानफल, दोनों को लक्षणा द्वारा उपस्थापित मानना ज्ञान और ज्ञानफल के स्वरूपगत भेद की दार्शनिक मीमांसा से अनभिज्ञता प्रदर्शित करने के ही बराबर है—'ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्।' इसलिये कहा गया है—

'अन्वयानुपपत्त्या हि लक्षणा प्रसरन्ती यावदन्वयोपपादकं तावदेव विषयीकरोति, न त्वनुपपादकमपीति कथं तटे पावनत्वमपि विषयीकुर्यात्। नन्वन्वयानुपपत्त्या कल्प्यमानापि सानुद्देश्यमपि शैत्यं विषयीकरोति, यथा तापोपशमायोपादीयमानं चन्दनं शैत्यमपि जनयतीति चेत्, न। चन्दनस्य संनिधिमात्रेण शैत्यजनकत्वम्; लक्षणायास्त्वनुपपत्तिप्रसारितयेति वैषम्यात्।'

अर्थात् लक्षणा, जो कि अन्वय की अनुपपत्ति के कारण प्रवृत्त होती है, उतने ही अर्थ को अपना विषय बना सकती है जो अन्वय की अनुपपत्ति को दूर किया करे। ऐसा भला कैसे कि लक्षणा द्वारा वह अर्थ भी प्रतीत हुआ करे जिसमें अन्वय की कोई उपपादकता नहीं। 'गङ्गायां घोषः' आदि प्रयोगों में लक्षणा द्वारा 'तट' रूप अर्थ ही प्रतिपादित हो सकता है। क्योंकि इसी अर्थ से अन्वय की स्वभावतः उपपत्ति हो जाया करती है। शैत्यादिरूप अर्थ का प्रतिपादन लक्षणा द्वारा क्यों हो? इस अर्थ में यहाँ अन्वय की क्या उपपादकता?

इसी विचारधारा का प्रसार 'अलङ्कारमहोदधि (२य तरङ्ग)' में इस प्रकार दृष्टिगत होता है—

'शब्दैरत्रोपचारेण विषयः प्रतिपाद्यते।
क्रियान्तरस्यासद्भावाद् व्यक्त्यैवातिशयः पुनः॥

अत्रास्यामुपचारविचित्रतायामारोपस्य विषयस्तटादिः शब्दैर्गङ्गादिभिरुपचारेणोपचाराख्यव्यापारेण प्रतिपाद्यते प्रतिपत्तिगोचरतां नीयते। पावनत्वादिधर्मप्रतीतिरूपस्त्वतिशयो व्यक्त्यैव व्यञ्जनाव्यापारेणैव प्रतिपाद्यते। कुतः? क्रियान्तरस्य व्यापारान्तरस्यासद्भावादसत्वात्। यतः पावित्र्यादिधर्माणां प्रतीतौ नाभिधा प्रवर्त्तते। गङ्गादिशब्दानां तेष्वसंकेतितत्वात्। नाप्युपचारस्तन्निमित्तानां मुख्यार्थबाध-तत्प्रत्यासत्त्यतिशयप्रतीतीनामभावात्। न ह्यत्र लक्षणीयं तटादि मुख्योऽर्थः। नाप्यत्र प्रवाहादिवत् कश्चिद्बाधः। न चास्य पावित्र्या-

(आर्थी व्यञ्जना)

एवं शाब्दीं व्यञ्जनामुक्त्वार्थीमाह—

वक्तृबोद्धव्यवाक्यानामन्यसंनिधिवाच्ययोः ।
प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च ॥ १६ ॥

घ्यतिशयेन कापि प्रत्यासत्तिः । न चाप्यतिशये लक्ष्ये किञ्चिदतिशयान्तरारोपणमस्ति । नाप्यत्र तटादाविव गङ्गादिशब्दाः स्खलद्गतयः, तत् कथं पावित्र्यादयो लक्ष्याः ? एवं स्थितेऽपि यद्यतिशयभूतास्ते लक्ष्यन्ते, तद् केनाप्यतिशयेन सोऽप्यतिशयान्तरेणेत्यनवस्थाप्रसङ्गः ।'

(ख) काव्यप्रकाशकार ने लक्षणामूलक व्यञ्जना का निरूपण पहले किया है और अभिधा-मूलक व्यञ्जना का स्वरूप बाद में बताया है। काव्यप्रकाशकार के लिये यही प्रतिपादन-क्रम अपेक्षित था क्योंकि उन्हें 'व्यञ्जना' की प्रतिष्ठा करनी थी। 'लक्षणा' की सम्पूर्ण मान्यता व्यञ्जना के बिना युक्तियुक्त नहीं-इसलिये लक्षणामूलक व्यञ्जना की सिद्धि काव्यप्रकाशकार के लिये अपेक्षित ही है। साहित्यदर्पणकार को 'व्यञ्जना' की सिद्धि नहीं करनी है क्योंकि वह तो प्राचीन आचार्यों द्वारा ही सिद्ध की जा चुकी थी। साहित्यदर्पणकार ने इसीलिये अभिधामूलक व्यञ्जना के निरूपण के बाद लक्षणामूलक व्यञ्जना का निरूपण किया है। **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** के सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्यके लिये व्यञ्जना द्वारा 'अर्थातिशय' का प्रत्यायन मानना स्वाभाविक है और युक्तिसंगत भी है। अलङ्कारमहोदधिकार ने व्यञ्जनावृत्ति के सम्बन्ध में इसीलिये कहा है—

'तेन व्यञ्जनवैचित्र्यमप्यास्ते शब्दगोचरम् ।
विदग्धत्वं कवीन्द्राणां यस्मिन् परिसमाप्यते ॥

यतो व्यञ्जनेनातिशयं शब्दः प्रत्याययति तेन कारणेन शब्दगोचरं शब्दाश्रयं न केवल-मभिधोपचारवैचित्र्यं व्यञ्जनवैचित्र्यमप्यास्ते इति प्रतीयते । यस्मिन् व्यञ्जनवैचित्र्ये कवीन्द्राणां विदग्धत्वं नैपुण्यं परिसमाप्यते परां काष्ठामधिरोहति । व्यञ्जनव्यापारभूषिता हि भारती कवीनां महन्माहात्म्यमुन्मुद्रयति ।'

अर्थात् अभिधामूलक और लक्षणामूलक शब्दाश्रित व्यञ्जना व्यापार तो है ही किन्तु स्वतन्त्र-रूप से भी व्यञ्जना का व्यापार-वैचित्र्य काव्य-साहित्य की एक अतिरिक्त विशेषता है और यह ऐसी विशेषता है जिसके कारण कवियों की कला चमकती है और काव्य का आन्तरिक सौन्दर्य निखरता है।

अनुवाद—इस प्रकार शाब्दी व्यञ्जना का विश्लेषण करके अब आर्थी व्यञ्जना का विचार किया जा रहा है—

'अर्थसंभवा अथवा आर्थी व्यञ्जना वह व्यञ्जना है जो कि इन निम्नांकित कारणों से किसी अन्य ही अर्थ का प्रत्यायन कराया करती है—

१. कारण—वक्तृवैशिष्ट्य
२. „ —बोद्धव्यवैशिष्ट्य
३. „ —वाक्यवैशिष्ट्य
४. „ —अन्यसंनिधिवैशिष्ट्य
५. „ —वाच्यवैशिष्ट्य
६. „ —प्रस्ताववैशिष्ट्य
७. कारण—देशवैशिष्ट्य
८. „ —कालवैशिष्ट्य
९. „ —काकुवैशिष्ट्य
१०. „ —चेष्टावैशिष्ट्य
११. „ —अन्यान्यवैशिष्ट्य

व्यञ्जनेति सम्बध्यते।

तत्र वक्तृवाक्यप्रस्तावदेशकालवैशिष्ट्ये यथा मम—

'कालो मधुः कुपित एष च पुष्पधन्वा
धीरा वहन्ति रतिखेदहराः समीराः।
केलीवनीयमपि वञ्जुलकुञ्जमञ्जु-
र्दूरे पतिः कथय किं करणीयमद्य॥'

अत्रैतं देशं प्रति शीघ्रं प्रच्छन्नकामुकस्त्वया प्रेष्यतामिति सखीं प्रति कयाचिद् व्यज्यते।

बोद्धव्यवैशिष्ट्ये यथा—

'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि ! दूति ! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥'

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति विपरीतलक्षणया लक्ष्यम्। तस्य च रन्तु-मिति व्यङ्ग्यं प्रतिपाद्यं दूतीवैशिष्ट्याद् बोध्यते।

यहाँ कारिका में 'सा'-'वह' इस (सर्वनाम) पद के साथ 'व्यञ्जना' इस पद का सम्बन्ध है (न कि और किसी का)। इस प्रकार जिस शक्ति से ऐसा हुआ करता है वह शक्ति व्यञ्जना शक्ति ही है अन्य कोई शक्ति नहीं।

जैसे कि वक्तृवैशिष्ट्य, वाक्यवैशिष्ट्य, प्रस्ताववैशिष्ट्य, देशवैशिष्ट्य और काल-वैशिष्ट्य के कारण किसी अर्थ के द्वारा अन्य अर्थ के प्रत्यायन में आर्थी व्यञ्जना का स्वरूप इस स्वरचित सूक्ति में स्पष्ट है—

'वसन्त की मादक ऋतु आ पहुँची है, कामदेव की त्यौरियाँ चढ़ गयी हैं, रतिश्रम को दूर भगाने वाली हवा बहने लगी है, क्रीडावन भी ऐसा है जिसका अशोककुञ्ज बड़ा मनोहर दीख रहा है और पति भी पास नहीं। अरी सखी ! तू ही बता कि अब किया भी जाय तो क्या किया जाय !'

यहाँ वस्तुतः बात यह है कि कोई नायिका अपनी सखी के प्रति यह अभिप्राय प्रकट करना चाहती है 'यथाशीघ्र तू इस एकान्त स्थान पर मेरे प्रच्छन्नकामुक को भेज' (और यह अर्थ ऐसा है जो इस समस्त सूक्ति के आपाततः प्रतीत अर्थ से सर्वथा भिन्न प्रकार का ही अर्थ है किन्तु वक्तृवैशिष्ट्यादि के कारण इसकी प्रतीति अवश्य हो उठती है और इसी में इस सूक्ति का सौन्दर्य भी झलक उठता है)।

बोद्धव्यवैशिष्ट्य के कारण किसी अर्थ के द्वारा अन्यार्थ की प्रतीति, जैसे कि—

'तेरे स्तनों के किनारे ऐसे जिनमें चन्दन का नामोनिशान नहीं बचा ! तेरा अधर ऐसा जिसका रंग बिलकुल फीका हो गया ! तेरी आँखें ऐसी जिनकी कोर में अंजन की छुआछूत न रही और तेरी दुबली-पतली देह ऐसी जो पुलकित हो उठी है ! अरी मुझ सरीखे सखीजन की व्यथा को कुछ न समझने वाली, झूठी दूती ! तू यहाँ से वापी में नहाने के लिये गयी थी, उस नीच के पास भला तू कहाँ गयी !'

यहाँ पहले तो (अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ में वैपरीत्य रूप सम्बन्ध के रहने से)

अन्यसंनिधिवैशिष्ट्ये यथा—

'उअ णिच्चल णिप्पन्दा, भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ (दा)सङ्खसुत्ति व्व ॥'

[पश्य निश्चलनिस्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शंखशुक्तिरिव ॥]

अत्र बलाकाया निस्पन्दत्वेन विश्वस्तत्वम्, तेनास्य देशस्य विजनत्वम्, अतः संकेतस्थानमेतदिति कयापि संनिहितं प्रच्छन्नकामुकं प्रत्युच्यते। अत्रैव स्थाननिर्जनत्वरूपं व्यङ्ग्यार्थवैशिष्ट्यं प्रयोजनम्।

'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते' इत्युक्तप्रकारायाः काकोर्भेदा आकरेभ्यो ज्ञातव्याः। एतद्वैशिष्ट्ये यथा—

'गुरुपरतन्त्रतया बत दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम्।

विपरीतलक्षणा द्वारा लक्ष्यार्थ निकल रहा है—'तू उसी (नीच) के पास गयी थी' और इस लक्ष्यार्थ के द्वारा व्यंग्यार्थ निकल रहा है 'रमण करने के लिये' (गयी थी)। इस प्रकार के व्यंग्यार्थ का बोध यहाँ 'बोद्धव्यवैशिष्ट्य' अथवा प्रतिपाद्य दूती के व्यक्तित्व की विशेषता के ही कारण संभव है।

अन्य सन्निधिवैशिष्ट्य के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतिपत्ति जैसे कि—

'अरे देखो तो कैसा दृश्य है ! कमलिनी के पत्ते पर चुपचाप बैठी यह बलाका (मादा बगुला) ऐसी सुन्दर दीख रही ही है मानो किसी निर्मल नीलम की थाली में शंख शुक्ति (अंजन रखने की शंख की बनी सितुही) पड़ी हो।'

यहाँ बलाका की निष्पन्दता अथवा बिना हिले-डुले बैठने के अभिप्राय से यह व्यंग्यार्थ निकल रहा है कि इस स्थान पर निःशंकता विराज रही है जो वस्तुतः इस व्यंग्यार्थ का व्यञ्जक है कि यह स्थान ऐसा है जहाँ किसी के आने-जाने की संभावना नहीं। यह व्यंग्यार्थ भी अन्ततोगत्वा इस विचित्र व्यंग्यार्थ में लीन हो जाता है कि यही वह स्थान है जो प्रेम-मिलन के लिये अत्यन्त उपयुक्त है। अब यह अन्तिम व्यंग्यार्थ इसलिये प्रतीत हो रहा है क्योंकि यहाँ 'अन्यसंनिधिवैशिष्ट्य' की व्यंग्यार्थ-प्रयोजकता विराजमान है क्योंकि यहाँ नायिका अपने समीप खड़े प्रच्छन्न प्रेमी के प्रति यह सब कुछ कहना चाह रही है। यहाँ एक और भी बात है और वह यह है कि यहाँ अभिव्यंग्य 'इस स्थान की निर्जनता' का जो अभिप्राय है वह भी (वाच्यवैष्ट्यि की प्रयोजकता से) उपर्युक्त अन्तिम व्यंग्यार्थ अर्थात् 'यह स्थान ही प्रेम-मिलन का अत्यन्त सुन्दर स्थान है' इस अभिप्राय का ही अभिव्यञ्जक देखा जा सकता है।

काकुवैशिष्ट्य से व्यंग्यार्थ की प्रतीति के उदाहरण के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि 'काकु' (किसी भावावेश अथवा उद्देश्य विशेष के कारण) कण्ठ की बदली ध्वनि को कहा करते हैं और इसके अनेकानेक भेद आकर-ग्रन्थों जैसे कि नाट्यशास्त्र आदि काव्यालङ्कारशास्त्र के प्रामाणिक आधारभूत ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं। काकुवैशिष्ट्य में किसी अर्थ की व्यङ्ग्यार्थप्रत्यायकता यहाँ अर्थात्—

अरी सखी ! भौंरों की गुञ्जार और कोयलों की कूक से सुहावने इस वसन्त समय में

अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि! सुरभिसमयेऽसौ ॥'

अत्र नैष्यति, अपि तर्हि एष्यत्येवेति काका व्यज्यते—

चेष्टावैशिष्ट्ये यथा—

'संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥'

अत्र संध्या संकेतकाल इति पद्मनिमीलनादिचेष्टया कयाचिद्द्योत्यते। एवं वक्त्रादीनां व्यस्तसमस्तानां वैशिष्ट्ये बोद्धव्यम्।

वे तो नहीं आवेंगे जो कि अपने माता-पिता के वशंवद होने के कारण कहीं दूर जाने को उद्यत हैं?'

इत्यादि सूक्ति में देखी जा सकती है जहां 'नैष्यति' 'नहीं आवेंगे' पर पढ़ने वाली 'काकु अथवा ध्वनि-विकृति' के द्वारा 'एष्यति' 'अवश्य आवेंगे' का अभिप्राय अभिव्यक्त हो उठता है।

चेष्टावैशिष्ट्य में किसी अर्थ की व्यङ्ग्यार्थबोधकता जैसे कि—

'नायिका भी कितनी चतुर निकली कि जैसे ही उसने यह देखा कि उसका कामुक प्रेममिलन की वेला के जानने के लिये उत्सुक है वैसे ही उसने अपनी हँसती आंखों के इशारे से अपने हाथ में लिये लीलाकमल की पंखुड़ियों को बन्द कर दिया।'

यहाँ किसी नायिका की, लीलाकमल की पंखुड़ियों के बन्द करने की चेष्टा से यही स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि वह सायंकाल को अपने प्रेम-मिलन का समय बताना चाह रही है।

अर्थव्यञ्जकता के उपकरणों के ये उपर्युक्त उदाहरण रहे, इन्हीं के ऐसे भी उदाहरण देखे जा सकते हैं जिनमें या तो ये (व्यस्त रूप से) अलग अलग या (समस्त रूप से) मिले-जुले व्यङ्ग्यार्थप्रत्यायन के सहायक हुआ करें।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार ने व्यञ्जना को शाब्दी और आर्थी भेदों में विभक्त किया है और शाब्दी व्यञ्जना के अभिधामूलक और लक्षणामूलक दो भेद बताये हैं। यह विश्लेषण काव्यप्रकाशकार मम्मट द्वारा प्रमाणित है। काव्यप्रकाश के 'प्रदीप' व्याख्याकार का इसीलिये यह कथन है—

'सा (व्यञ्जना) च द्वेधा–शब्दनिष्ठा अर्थनिष्ठा च।
आद्या तु द्वेधा–अभिधामूला लक्षणामूला च ॥'

'एवं शब्दे निरूपिते उपोद्घातेन शब्दव्यञ्जनायां निरूपितायां प्रसङ्गेनार्थव्यञ्जना निरूपणीया (काव्यप्रदीप ३ उल्लास)।

प्राचीन अलङ्कारशास्त्र में काव्य-साहित्य के शब्द-वैचित्र्य की मान्यता तो अवश्य थी किन्तु इस शब्द-वैचित्र्य का विश्लेषण नहीं हुआ था। ध्वनिवाद ने सर्वप्रथम शब्दवैचित्र्य के रहस्य का उद्घाटन किया और इसके मूल में शाब्दी व्यञ्जना का स्वरूप दिखाई दिया। अलङ्कारमहोदधिकार ने इसीलिये कहा है—

'न शब्दवैचित्र्यमिदं विनाऽश्नुते श्रियं कवीनां भणितिर्महत्यपि।
मरीचयश्चण्डरुचो हि दर्पणे निपेतिवांसो विकसन्ति नाश्मनि ॥'

अर्थात् कोई भी कविता अपने उपकरणभूत शब्दवैचित्र्य से ही सुन्दर लगा करती है। इस शब्द-वैचित्र्य के मूल में कवि-प्रतिभा छिपी है। जब तक वाचक और लाक्षणिक शब्दों के हृदय में

व्यञ्जकता की झंकार न हो तब तक 'कविता' कहां से आ जाय ! सूर्यरश्मियां दर्पण पर गिर कर सहस्रधा प्रतिफलित हुआ करती हैं, पत्थर पर नहीं।

'आर्थीव्यञ्जना' का एक अलग महत्त्व है। अर्थवैचित्र्य के कारण कविजन महाकवि बना करते हैं। यह अर्थवैचित्र्य वस्तुतः आर्थीव्यञ्जना के कारण संभव है जैसा कि अलङ्कार-महोदधिकार का कथन है—

'अक्लिष्टप्रतिभादृष्टः सौकुमार्यमनोरमः।
रससंवलितानेकभङ्गीसर्वाङ्गभूषितः ॥
अयोनिरपरच्छायायोनिर्वा परभागभाक् ।
स चेतनचमत्कारी धत्तेऽर्थः कविताङ्गताम् ॥

अर्थोऽभिधेयं वस्तु कविताङ्गतां काव्यकारणत्वं धत्ते धारयति। कीदृशः ? अक्लिष्टप्रतिभादृष्टः अक्लिष्टा कदर्थनारहिता या प्रतिभा नवनवोन्मेषशाली प्रज्ञाविशेषस्तया दृष्टो विभावितोऽत एव सौकुमार्यमनोरमः। सुकुमारसंभूतं हि वस्तु सुकुमारमेव भवति। पुनः कीदृशः ? रसैः श्रृङ्गारादिभिः संवलिता मिश्रीभावशालिनी याऽनेका भङ्गी विच्छित्तिस्तया सर्वाङ्गमामूलचूलं भूषितः समलंकृतः अर्थो हि रसकल्लोलिनीं नवनवां विच्छित्तिमुररीकुर्वन्नूनेव चारिमाणमारोहति……।'

अर्थात् काव्य के दो अर्थ हैं—१. आपातरम्य अर्थ और २ पर्यन्तरम्य अर्थ। आपातरम्य अर्थ काव्य नहीं अपि तु काव्य का उपकरण है। काव्य में इस उपकरणभूत अर्थ का उपनिबन्ध इसीलिये है जिसमें इसके द्वारा उस चमत्कारजनक अर्थ का अवभास हुआ करे जो कि काव्य का सर्वस्व है और जिसमें कविप्रतिभा का उन्मेष है। इस उपकरणभूत अर्थ का वैचित्र्य ही वक्तृबोद्धव्यादि वैशिष्ट्य के रूप में अलङ्कारशास्त्र के विश्लेषण का आधार है। आर्थी व्यञ्जना के रूप से वस्तुतः कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा ही अपना प्रसार किया करती है और पूर्व प्रतिपादित काव्यार्थों को भी नवीन बनाया करती है।

(ख) आर्थी व्यञ्जना के प्रयोजक वक्तृ-बोद्धव्यादि-वैशिष्ट्य माने गये हैं। एक शब्द में कविविवक्षा और सहृदय-वैदग्ध्य को आर्थी व्यञ्जना का नियामक कह सकते हैं। इसीलिये सभी आलङ्कारिक कविकृति और काव्यानुशीलन दोनों को अर्थव्यञ्जकता के कारण रूप से प्रतिपादित करते रहे हैं। आचार्य मम्मट ने आर्थीव्यञ्जना के निरूपण में स्पष्ट कहा है—

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसंनिधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥ (काव्यप्रकाश १-२१, २२)

अर्थात् 'वक्तृवैशिष्ट्य आदि कविहृदयगत नानाविध नियामकों के ही कारण प्रतिभासम्पन्न काव्यानुशीलकों को जहां-तहां एक विलक्षण अर्थ प्रतीत हुआ करता है। यह अर्थ वस्तुतः आपाततः प्रतीत अर्थ की ही अभिव्यञ्जना का परिणाम है।'

किन्तु विश्वनाथ कविराज ने वक्तृवैशिष्ट्य आदि को ही आर्थी व्यञ्जना का नियामक माना है—

वक्तृबोद्धव्यवाक्यानामन्यसंनिधिवाच्ययोः ।
प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च॥
वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत्सार्थसंभवा ।

जिससे ऐसा लगता है जैसे आपाततः प्रतीत अर्थ से अभिव्यङ्ग्य अन्तरमणीय अर्थ का अनुभव किसी प्रकार की काव्यानुशीलनप्रतिभा की अपेक्षा नहीं किया करता। यहां विश्वनाथ कविराज के

(आर्थी व्यञ्जना के तीन प्रकार)

त्रैविध्यादियमर्थानां प्रत्येकं त्रिविधा मता ॥ १७ ॥

(आर्थी व्यञ्जना के उपर्युक्त प्रकारत्रय का निरूपण)

अर्थानां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यत्वेन त्रिरूपतया सर्वा अप्यनन्तरोक्ता व्यञ्जनास्त्रिविधाः। तत्र वाच्यार्थस्य व्यञ्जना यथा—'कालो मधुः-' इत्यादि। लक्ष्यार्थस्य यथा—'निःशेषच्युतचन्दनम्'-इत्यादि। व्यङ्ग्यार्थस्य यथा—'उअ णिच्चल-'-इत्यादि। प्रकृतिप्रत्ययादिव्यञ्जकत्वं तु प्रपञ्चयिष्यते।

मन में दो बातें हो सकती हैं—१. यह कि काव्यानुशीलन प्रतिभा की सहायता शाब्दी व्यञ्जना में भी अपेक्षित है और इसीलिये इसे आर्थीव्यञ्जना की ही विशेषता नहीं माना जा सकता और २. यह कि आर्थीव्यञ्जनाओं में व्यङ्ग्य अर्थ वस्तु अथवा अलङ्कार रूप भो हो सकता है न कि रसभावादि रूप ही और इसलिये इस व्यञ्जना की प्रतिभा-संवेद्य मानना रसात्मक वाक्यरूप काव्य की आनन्दानुभूति को इसके समकक्ष सिद्ध करने की 'धृष्टता करने के बराबर है। यहां विश्वनाथ कविराज की यह धारणा सर्वथा युक्तियुक्त है। यहां 'काव्यप्रकाश' के महान् व्याख्याकार महामहोपाध्याय श्री गोविन्द ठक्कुर की यह उक्ति असंगत सी लगती है—

'प्रतिभाजुषामित्यनेन नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा या वासनेत्युच्यते। तस्यां सत्यामेव वक्तृवैशिष्ट्यादिसत्त्वेऽपि व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति प्रतिपादितम्। अत एव वैयाकरणादीनां न तथा रसप्रतीतिः। तथा चोक्तम्—

सवासनानां नाट्यादौ रसस्यानुभवो भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तर्वेश्मकुड्याश्मसंनिभाः॥ (काव्यप्रदीप ३ उल्लास)

यह उक्ति असंगत इसलिये है क्योंकि यहां आर्थी व्यञ्जना की अनुभूति और रसानुभूति को समकक्ष मान लिया गया है।

अनुवाद—(अपने विविध व्यञ्जकता-नियामक तत्त्वों से उपकृत) ये आर्थी व्यञ्जनायें भी इसलिये तीन प्रकार की हुआ करती हैं क्योंकि व्यञ्जक अर्थ के तीन प्रकार हुआ करते हैं।

अभी जिन आर्थी व्यञ्जनाओं का निरूपण किया जा चुका है उनमें 'प्रकारत्रय' मानना इसलिये उचित है क्योंकि उनके अभिव्यञ्जक अर्थ भी वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य रूप से तीन प्रकार के हुआ करते हैं। जैसे कि १. वाच्यार्थ की व्यञ्जना—'कालो मधुः' इत्यादि, २. लक्ष्यार्थ की व्यञ्जना—'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि और ३. व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जना—'उअ णिच्चल' (पश्य निश्चल) इत्यादि। इसके अतिरिक्त प्रकृति की व्यञ्जना, प्रत्यय की व्यञ्जना आदि आदि भी व्यञ्जना के प्रकार ही हैं जिनका विवेचन आगे (चतुर्थ परिच्छेद में) किया ही जायगा।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने वाच्य-लक्ष्य किंवा व्यङ्ग्य रूप त्रिविध अर्थों की व्यञ्जकता तो मानी है किन्तु इसके आधार पर आर्थी व्यञ्जना के तीन भेदों का कोई विश्लेषण नहीं किया है। विश्वनाथ कविराज ने व्यञ्जक अर्थों के त्रैविध्य के कारण अर्थ की व्यञ्जकता शक्ति को भी त्रिविध मान लिया है। वस्तुतः यहां आर्थी व्यञ्जना का त्रैविध्य-निरूपण उतना युक्तियुक्त नहीं लगता जितना कि त्रिविध अर्थों की व्यञ्जकताओं में एकविध व्यञ्जना का स्फुरण-निरूपण। वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ स्वयं व्यञ्जक नहीं हुआ करते। इन्हें व्यञ्जक बनाना तो कविकला का काम है। तभी तो अलङ्कारमहोदधिकार का यह कहना है—

(शाब्दी और आर्थी व्यञ्जना में अर्थ और शब्द का क्रमशः उपयोग)

शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः ।
एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता ॥ १८ ॥

(व्यञ्जकता की दृष्टि से शब्द और अर्थ की परस्पर सहकारिता की आवश्यकता)

यतः शब्दो व्यञ्जकत्वेऽप्यर्थान्तरमपेक्षते, अर्थोऽपि शब्दम्, तदेकस्य व्यञ्जकत्वेऽन्यस्य सहकारितावश्यमङ्गीकर्तव्या ।

'वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसंनिधेः । प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ॥
मुख्योपचरितव्यङ्ग्याः क्वचिदर्थास्त्रयोप्यमी । बिभ्रति व्यञ्जकीभावं निजप्रागल्भ्यसंपदा ॥

मुख्याद्यास्त्रयोप्यर्थाः प्रतिभाजुषां वैदग्ध्यशालिनां विदग्धान् प्रतीत्यर्थः व्यञ्जकत्वं धारयन्ति । कया ? निजप्रागल्भ्यसंपदा । तत् किञ्चित् सन्निवेशनैपुण्यमुन्मीलति येन ते व्यञ्जका जायन्ते— (अलङ्कारमहोदधि, ३ य तरंग)

अर्थात् आर्थी व्यञ्जना के निमित्तदर्शक जैसे कि वक्तृवैशिष्ट्य आदि वस्तुतः वाच्य-लक्ष्य किवा व्यङ्ग्य अर्थों के सन्निवेश-वैचित्र्य से सम्बद्ध कविकला के ही आविष्करणमात्र हैं और तभी यह संभव है कि प्रतिभावान् काव्यभावक इनका सूत्र पकड़ कर कवि के हृद्गत अभिप्राय तक पहुँच जाय और वही अनुभव करे जिसे कवि कर चुका है और जिसकी प्रेरणा से एक विशेष प्रकार का अर्थसन्निवेश उपस्थित हुआ है जिसकी सतह से काव्य-सौन्दर्य की तरंगें उठा करती हैं और सहृदयों के हृदयों का स्पर्श किया करती हैं ।

अनुवाद—(आर्थी व्यञ्जना में) वही अर्थ अभिव्यञ्जक हुआ करता है जो शब्द द्वारा बोधित हो और (शाब्दी-व्यञ्जना में) वही शब्द अभिव्यञ्जक हुआ करता है जो एक से अधिक अर्थ का आश्रय हो—इसलिये जहां एक (शब्द अथवा अर्थ) प्रधान रूप से अभिव्यञ्जक रहा करता है वहां दूसरा (अर्थ अथवा शब्द) उसका सहायक हुआ करता है।

(शाब्दी व्यञ्जना के क्षेत्र में) शब्द की व्यञ्जकता अर्थ की अपेक्षा किया करती है और (आर्थी व्यञ्जना के क्षेत्र में) अर्थ की व्यञ्जकता शब्द की अपेक्षा किया करती है—इससे यही मानना पड़ता है कि एक की व्यञ्जकता में दूसरे की व्यञ्जकता का हाथ अवश्य रहा करता है ।

विमर्श—(क) शब्द की व्यञ्जकता में अर्थ—साहाय्य और अर्थ की व्यञ्जकता में शब्द-साहित्य का सिद्धान्त व्यञ्जनावाद का एक मौलिक सिद्धान्त है। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा है—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥' (ध्वन्यालोक १-१३)

और इसीलिये आचार्य अभिनवगुप्त ने इसका यह अभिप्राय लिया है—

व्यङ्क्त इति द्विवचनेनेदमाह—यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जकस्तथाप्यर्थस्यापि सहकारिता न त्रुट्यति, अन्यथाऽज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद्व्यञ्जकः स्यात् विवक्षितान्यपरवाच्ये च शब्दस्यापि सहकारित्वं भवत्येव, विशिष्टशब्दाभिधेयतया विना तस्यार्थस्याव्यञ्जकत्वादिति सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननं व्यापारः ।······अर्थः शब्दो वेति विकल्पाभिधानं प्राधान्याभिप्रायेण ।'

(शब्द की उपाधि-त्रैविध्य)

अभिधादित्रयोपाधिवैशिष्ट्यात्त्रिविधो मतः ।
शब्दोऽपि वाचकस्तद्वल्लक्षको व्यञ्जकस्तथा ॥ १९ ॥

(उपाधि-त्रैविध्य : स्पष्टीकरण)

अभिधोपाधिको वाचकः । लक्षणोपाधिको लक्षकः । व्यञ्जनोपाधिको व्यञ्जकः ।

यही सिद्धान्त काव्यप्रकाशकार का भी है—

'(तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः) यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥' (काव्यप्रकाश २-२०)
'शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥' (काव्यप्रकाश ३-२३)

विश्वनाथ कविराज ने इसी सिद्धान्त की परिपुष्टि में कहा है—

'तदेकस्य व्यञ्जकत्वेऽन्यस्य सहकारितावश्यमङ्गीकर्त्तव्या ।'

पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी विषय को अपनी शैली में इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

'यद्यपि शब्दशक्तिमूलकत्वमर्थशक्तिमूलकत्वं चेत्युभयमपि सकलव्यङ्ग्यसाधारणम्, शब्दार्थयोरनुसन्धानं विना व्यङ्ग्यस्यैवानुल्लासात्, तथापि परिवृत्त्यसहिष्णूनां शब्दानां प्राचुर्ये तत्प्रयुक्तात् प्राधान्यात् सत्या अप्यर्थशक्तेरप्राधान्याच्च व्यङ्ग्यस्य शब्दशक्तिमूलकत्वेनैव व्यपदेशः । परिवृत्तिसहिष्णूनां तु प्राचुर्येऽर्थशक्तेरेव प्राधान्यात् सत्या अपि शब्दशक्तेः प्रधानानुगुण्यार्थतया मल्लग्रामादिवत् प्रधानेनैव व्यपदेशः ।

अर्थात् चाहे ध्वनि शब्दमूलक हो या अर्थमूलक हो, इतना निर्विवाद है कि बिना दोनों अर्थात् शब्द और अर्थ के अनुसन्धान के ध्वनि का स्वरूप नहीं पहचाना जा सकता। शब्द और अर्थ की परस्पर सहकारिता ही शब्दव्यञ्जकता और अर्थव्यञ्जकता का मूलभूत सिद्धान्त है। यह तो शब्द-व्यञ्जना के उन्मेष में अर्थव्यञ्जना का निमेष है और इसी प्रकार अर्थव्यञ्जना के उन्मेष में शब्द-व्यञ्जना का निमेष जिसके कारण शाब्दी और आर्थी व्यञ्जनाओं का स्वरूपभेद किया जाया करता है।

अनुवाद—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना—इन तीन उपाधिओं अथवा धर्मों की विशेषता के कारण शब्द भी तीन प्रकार के हुआ करते हैं जैसे कि १. वाचक, २. लक्षक और ३. व्यञ्जक ।

'वाचक' शब्द वह शब्द है जिसमें अभिधाधर्म सम्बद्ध रहा करता है (अभिधोपाधिक), 'लक्षक', वह जिसमें लक्षणाधर्म का सम्बन्ध है (लक्षणोपाधिक) और 'व्यञ्जक' वह जिसमें व्यञ्जनाधर्म सम्बद्ध रहा करता है ।

विमर्श—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना को आलङ्कारिकों ने उपाधि अथवा धर्म माना है जिसके कारण किसी शब्द को वाचक अथवा किसी को लाक्षणिक अथवा किसी को व्यञ्जक कहना अनुचित है क्योंकि कोई भी शब्द अपने अभिधादि व्यापारों के कारण वाचक अथवा लाक्षणिक अथवा व्यञ्जक हो सकता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने शब्द और अर्थ के वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध को शब्द का स्वाभाविक धर्म और व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध को शब्द का नैमित्तिक धर्म माना है। काव्यप्रकाशकार ने स्पष्ट कहा है—

(एक अन्य वृत्ति–तात्पर्य)

किञ्च—

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने ।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे ॥ २० ॥

(अभिहितान्वयवाद और तात्पर्यवृत्ति)

अभिधाया एकैकपदार्थबोधनविरामाद्वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य बोधिका तात्पर्यं नाम वृत्तिः । तदर्थश्च तात्पर्यार्थः । तद्बोधकं च वाक्यमित्यभिहितान्वयवादिनां मतम् ।

इति साहित्यदर्पणे वाक्यस्वरूपनिरूपणो नाम द्वितीयः परिच्छेदः ।
अत्र मूलकारिकाः=२० । पूर्वाभिः सह २३ ।
उदाहरणश्लोकाः=९ । पूर्वैः सह १५ ।



'स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।' (काव्यप्रकाश २-१) जिसका अभिप्राय यही है कि अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना की त्रिविध उपाधियों के कारण शब्द भी वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक हुआ करते हैं । यहां अभिधादि उपाधिओं का त्रित्व मानना युक्तियुक्त है जिसके कारण उपाधेय का (उसका, जिसकी अभिधादि उपाधि है अर्थात् शब्द का) त्रित्व प्रतीत होता है ।

साहित्यदर्पणकार को भी अभिधादि उपाधियों का त्रित्व अभिप्रेत है न कि उपाधेय का । उपाधेय (शब्द) का त्रित्व तो उपाधित्रित्व के कारण है ।

अनुवाद—इसके अतिरिक्त कतिपय पदवाक्यतत्त्ववित् लोग (जैसे कि श्रीकुमारिल भट्ट आदि मीमांसक) तात्पर्य नामक एक और भी शक्ति माना करते हैं जो (वाक्यगत) पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों के परस्पर अन्वय अथवा सम्बन्ध का बोध करवाया करती है, और जिसके द्वारा उपस्थापित अर्थ (वाक्यार्थ) तात्पर्यार्थ कहा जाया करता है । यह तात्पर्यार्थ (पृथक्-पृथक् पदों का अर्थ नहीं अपि तु) वाक्य का अर्थ हुआ करता है ।

तात्पर्यवृत्ति के मानने वाले लोग वे मीमांसाचार्य हैं जो 'अभिहितान्वयवादी' कहे जाते हैं । अभिहितान्वयवादी (भाट्टमतानुयायी) मीमांसकों की दृष्टि में 'तात्पर्यवृत्ति' की मान्यता इसलिये आवश्यक है क्योंकि अभिधावृत्ति तो पृथक्-पृथक् पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों के बोध कराने में ही क्षीणशक्ति हो जाया करती है और वाक्यार्थ पृथक्-पृथक् पदों का पृथक्-पृथक् अर्थ नहीं अपितु पदार्थों का परस्पर सम्बद्धरूप अर्थ हुआ करता है । अब इस वाक्यार्थस्वरूप पदार्थसंसर्ग अथवा परस्पर पदार्थ-सम्बन्ध के अवबोध के लिये कोई न कोई वृत्ति अवश्य होनी चाहिये । यह पदार्थसंसर्ग की बोधिका वृत्ति तात्पर्यवृत्ति ही है (अन्य कोई वृत्ति नहीं) । जो अर्थ इस तात्पर्यवृत्ति के द्वारा प्रतिपाद्य हुआ करता है वह तात्पर्यार्थ कहा जाया करता है । यह तात्पर्यार्थ पृथक्-पृथक् पदों द्वारा नहीं अपितु वाक्य द्वारा ही उपस्थापित किया जाया करता है ।

विमर्श—(क) 'तात्पर्यवृत्ति' को अतिरिक्त वृत्ति मानने वाले भाट्टमीमांसक हैं । काव्य-

प्रकाशकार ने भी 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्' (काव्यप्रकाश २-१) कहकर भाट्टमीमांसकों के तात्पर्यार्थ और तात्पर्यव्यापार का संकेत किया है। विश्वनाथ कविराज का अभिप्राय इन्हीं मीमांसकों की इस मान्यता का निर्देश है।

तात्पर्यवृत्ति के मानने वाले मीमांसक 'अभिहितान्वयवाद' के पक्षपाती हैं। 'अभिहितान्वयवाद' का अभिप्राय यह है—प्रत्येक शब्द अर्थ-सामान्य के देने वाले हुआ करते हैं न कि अर्थ-विशेष के। वाक्यबद्ध शब्दों का भी यही हाल है। वाक्यरूप में व्यवहृत शब्द अपना-अपना अर्थ भले हीं प्रतिपादित करें, परस्पर सम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन तो वाक्यवर्ती पदों की तात्पर्यवृत्ति पर निर्भर है। 'तात्पर्यवृत्ति' की रूपरेखा तो वाक्य और वाक्यार्थ की रूपरेखा में ही रची जाया करती है। आकाङ्क्षा, योग्यता और आसन्ति की मनोवैज्ञानिक, युक्तिसिद्ध किंवा भाषानुषक्त तत्त्व-सामग्री ही 'तात्पर्यवृत्ति' की आधार-शिला है। जिसे वाक्यार्थ कहते हैं वह पृथक्-पृथक् पदार्थ नहीं अपि तु पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध अथवा अन्वयरूप अर्थ है, वस्तुतः तात्पर्यार्थ है। उदाहरण के लिये यदि 'गामानय' इस वाक्य को ही लें तो यह स्पष्ट है कि यहाँ गोपद का अर्थ 'सास्नादिमान् पदार्थ' है और यह अर्थ एक सामान्यरूप अर्थ है न कि विशेषरूप। इसी प्रकार 'अम्' प्रत्यय का अभिप्राय सामान्य 'कर्मत्व' है और 'नी' इस क्रियापद से गतिसामान्य का ही बोध हुआ करता है। यहाँ गोपद के लिये वक्तृविवक्षित 'कर्मत्व' के आश्रयभूत सास्नादिमान् प्राणिरूप अर्थविशेष का प्रतिपादन संभव नहीं। यह तो आकाङ्क्षा, योग्यता और आसत्ति की ही महिमा है जो यहाँ एक पद के अर्थ के साथ दूसरे पद के अर्थ का सम्बन्ध बताया करती है और जब पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध पता चल जाता है तभी वह अर्थ प्रतीत हुआ करता है जिसे 'तात्पर्यार्थ' कहा करते हैं जो कि पदार्थरूप नहीं अपि तु वाक्यार्थरूप अर्थ है। आचार्य कुमारिल भट्ट के श्लोक वार्तिक (२४२-३४३) की ये पंक्तियाँ—

'साक्षाद् यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्।
वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले॥
वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥

यही निर्देश कर रही हैं कि वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति पदार्थ की प्रतिपत्ति के द्वारा ही हुआ करती है और इसलिये पृथक्-पृथक् पदार्थ वाक्यार्थ नहीं अपि तु 'पदार्थसम्बन्ध' वाक्यार्थ है।

'अभिहितान्वयवाद' की संक्षिप्त सरल मीमांसा मीमांसाचार्य पार्थसारथिमिश्र की 'न्यायरत्नमाला' (पृष्ठ १७) इस प्रकार किया करती है—

'अभिहितान्वय एव ज्यायान्। तथा च सूत्रकारः 'अर्थस्य तन्निमित्तत्वात्' (पूर्वमीमांसा दर्शनसूत्र १-१-२५) इति व्यक्तमेव पदार्थनिमित्तकत्वं वाक्यार्थस्य दर्शयति। भाष्यकारोऽपि हि (शबरस्वामी) 'अमूनि पदानि स्वं स्वमर्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि, अथेदानीं पदार्था अभिहिताः सन्तो वाक्यार्थमवबोधयन्ति' इत्याह।'

आचार्य मम्मट ने 'अभिहितान्वयवाद' का यही सरांश लिया है—

'आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्।

(काव्यप्रकाश द्वितीय उल्लास)

जिसकी विशद व्याख्या प्रदीपकार के शब्दों में यह है—

'लाघवात् पदानां पदार्थमात्रे शक्तिः, न त्वन्वयांशेऽपि। गौरवादन्यलभ्यत्वाच्च। तदंशो हि तात्पर्यार्थो वाच्याद्यर्थविलक्षणशरीरः आकाङ्क्षायोग्यतासत्तिवशादपदार्थोऽपि प्रतीयते। न चापदार्थप्रतीतावतिप्रसङ्गः। स्वरूपसतः शक्यान्वयत्वस्य नियामकत्वात्। इत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्।' (काव्यप्रदीप, पृष्ठ १७)

(ख) 'अभिहितान्वयवाद' का प्रतिपक्ष वह वाक्यार्थवाद है जिसे 'अन्विताभिधानवाद' कहते हैं। यह वाद प्रभाकर-मतानुयायी मीमांसाचार्यों का वाद है। 'अभिहितान्वयवाद' और 'अन्विताभिधानवाद'–ये शब्द ही वाक्यार्थसम्बन्धी द्विविध वादों का अर्थ स्पष्ट कर देते हैं। 'अभिहितान्वयवाद' है—'अभिहितानां पदार्थानामर्थाभिधायिनां वा पदानामन्वय इति यो वादः सः अभिहितान्वयवादः'। अर्थात् पदों द्वारा प्रतिपादित उन-उन अर्थों अथवा अपने-अपने अर्थों के प्रतिपादक पदों के अन्वय अथवा सम्बन्ध का जो सिद्धान्त है वह 'अभिहितान्वयवाद' है और 'अन्विताभिधानवाद' है—'अन्वितानामेव पदार्थानामभिधानं शब्दैः प्रतिपादनमिति यो वादः स अन्विताभिधानवादः'। अर्थात् परस्पर स्वयं अन्वित अथवा संबद्ध पदार्थों के शब्दों द्वारा प्रतिपादन का जो सिद्धान्त है वह है अन्विताभिधानवाद। प्रदीपकार के शब्दों में 'अन्विताभिधानवाद' का यही स्वरूप है—

'अन्वयरूपे वाक्यार्थेऽपि पदार्थानां शक्तिः। व्यवहारेणान्वितस्यैवोपस्थापनात्तत्रैव शक्तिग्रहात्। किं चान्वयभागस्याशक्यत्वेऽनुभवविषयत्वं न स्यात्। तद्विषये शक्यत्वस्य प्रयोजकत्वात्। अशक्यस्याप्यनुभवप्रवेशेऽतिप्रसङ्गात्।' (काव्यप्रदीप, पृष्ठ १७)

जिससे स्पष्ट है कि तात्पर्यवृत्ति की अतिरिक्त मान्यता अनावश्यक है क्योंकि जब कि पद परस्पर अन्वित अर्थ के ही अभिधायक हों और शक्तिग्रह भी अन्वित अर्थ में ही हो तो अन्वय के लिये अभिधाभिन्न किसी वृत्ति का क्या काम? अभिधावृत्तिमातृकाकार आचार्य मुकुल भट्ट ने इन दोनों वाक्यार्थविषयक वादों और इनके समुच्चयवाद का बड़ा सुन्दर संक्षेप अपने ही ढंग से किया है—

'इह केषाञ्चिदन्वयव्यतिरेकावसेयसामान्यभूतस्वार्थमात्रविश्रान्तेषु पदेषु पदार्थाकाङ्क्षासंनिधियोग्यतामहिम्ना वाक्यार्थस्यानभिधेयभूतस्य हर्षशोकादिवदवसेयत्वमेव। यदा हि 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः, ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी'ति यथाक्रमं पुत्रजन्मकन्यागर्भिणीत्वनिमित्तौ हर्षशोकौ स्वशब्देनानभिहितावपि शब्दाभिधेयभूतवस्तुसामर्थ्यादाक्षिप्येते, एवं वाक्यार्थस्यानभिधेयभूतस्यैव पदार्थाक्षेप्यत्वं द्रष्टव्यम्। एषां चैवंवादिनां मतेनार्थानामभिहितानामुत्तरकालं परस्परान्वयादभिहितान्वयवादः। अपरे त्वाहुः—'वृद्धव्यवहारात् शब्दार्थसम्बन्धावसायः। स च वृद्धव्यवहारः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपः। प्रवृत्तिनिवृत्ती च विशिष्टार्थनिष्ठे। अतो विशिष्ट एवार्थे पदानां सम्बन्धावधृतिः। ततश्च विशिष्टा एव पदार्था न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्। एवं च परस्परान्वितानां वाक्यार्थरूपतापन्नानां तत्तत्सामान्याच्छादितत्वेन गृहीतस्ववाचकसंबन्धानां पदैः प्रत्यायनादन्विताभिधानमिति। अन्येषां तु मते पदानां तत्तत्सामान्यभूतो वाच्योऽर्थः। वाक्यस्य तु परस्परान्विताः पदार्था इति पदापेक्षयाऽभिहितान्वयः, वाक्यापेक्षया त्वन्विताभिधानम्। एवं चैतयोरभिहितान्वयान्वित ाभिधानयोः समुच्चय इति। (अभिधावृत्तिमातृका-पृष्ठ १५)

अर्थात् कुछ वाक्यार्थवादी आचार्यों का यह कहना है कि वाक्यवर्ती पद तो सामान्यभूत अर्थमात्र का ही उपस्थापन किया करते हैं और जो वाक्यार्थ है वह पदों का सामान्यभूत अर्थमात्र नहीं अपि तु परस्परसंसृष्ट पदार्थभिन्न अर्थ हुआ करता है। यह परस्परसंसृष्ट अर्थरूप वाक्यार्थ आकाङ्क्षा, योग्यता और आसत्ति की महिमा से प्रतीत हुआ करता है न कि पदों की अभिधान-

शक्ति से। इन आचार्यों के अनुसार वाक्यार्थ 'अभिहितान्वय' रूप है अर्थात् ऐसा है जिसमें पदों द्वारा अभिहित अर्थ बाद में तात्पर्य द्वारा परस्परान्वय में परिणत हुआ करता है। दूसरे वाक्यार्थवादी आचार्यों की यह मान्यता है कि सामान्यभूत अर्थमात्र में शब्दार्थसम्बन्ध का अवधारण नहीं हुआ करता। पद-पदार्थ-सम्बन्ध का अवधारण तो प्रतिदिन के भाषाप्रयोग में किया जाया करता है। इसलिये वाक्यार्थ 'अन्विताभिधान' है अर्थात् ऐसा है जिसे स्वयं परस्पर संसृष्ट पदार्थरूप कह सकते हैं। इन दोनों प्रकार के आचार्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी हैं जो 'अभिहितान्वय' और 'अन्विताभिधान' के समुच्चय में ही वस्तुतः वाक्यार्थप्रतिपत्ति का रहस्य देखा करते हैं। इनकी दृष्टि में पदों का अर्थ तो सामान्यभूत वाच्यरूप अर्थ हुआ करता है और वाक्य का जो अर्थ है वह परस्पर संबद्ध पदार्थरूप अर्थ है। वस्तुतः पद की दृष्टि से तो वाक्यार्थ 'अभिहितान्वय स्वरूप' है किन्तु वाक्य की दृष्टि से इसे 'अन्विताभिधान रूप' कहा जाया करता है।

(ग) ध्वनिवादी आलङ्कारिकों को 'अन्विताभिधानवाद' की अपेक्षा 'अभिहितान्वयवाद' का सिद्धान्त अधिक अभिप्रेत है। कारण यह है कि 'अभिहितान्वयवाद' में 'तात्पर्यवृत्ति' की जो अतिरिक्त मान्यता है वह व्यञ्जनावृत्ति की सिद्धि में सहयोग प्रदान किया करती है। 'परस्पर संसर्ग जब अभिधाबोध्य नहीं तब व्यङ्ग्यरूप अर्थ अभिधेय कैसे ?' यह युक्ति व्यञ्जना की अनिवार्य मान्यता की एक प्रेरणा है।

इति साहित्यदर्पणे वाक्यस्वरूपनिरूपणो नाम द्वितीयः परिच्छेदः।

(साहित्यदर्पण वाक्यस्वरूपनिरूपणनामक दूसरा परिच्छेद)



तृतीयः परिच्छेदः

(काव्यात्मतत्त्व : रस-स्वरूपनिरूपण)

अथ कोऽयं रस इत्युच्यते—

(विभावादि द्वारा सहृदय-हृदय में अभिव्यक्त रत्यादिरूप स्थायीभाव ही 'रस' है)

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम् ॥ १ ॥

अनुवाद—अब (काव्यात्मभूत) 'रस' क्या है ? इसका निरूपण किया जा रहा है—

सहृदय-हृदय में (वासनारूप से विराजमान) रत्यादिरूप स्थायीभाव जब (कविवर्णित) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के द्वारा अभिव्यक्त हो उठते हैं तब आस्वाद अथवा आनन्दरूप हो जाते हैं और 'रस' कहे जाया करते हैं ।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार की यह रस-परिभाषा नाट्याचार्य भरत मुनि के रस-सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' की एक सुन्दर सरल विवृति है । इस रस-परिभाषा में 'कविकृत विभावादियोजना और सहृदयहृदय की रत्यादिवासना की रसमयता' में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूप सम्बन्ध की अनिवार्य मान्यता का वही रहस्य झलक रहा है जो कि रस-ध्वनि के प्राचीन आचार्यों की भावना में आ चुका है । आचार्य अभिनवगुप्त ने कविकृत विभावादिवर्णना द्वारा सहृदयहृदय में रत्यादिस्थायी भाव की रसरूप में अभिव्यक्ति की यही सिद्धि की है—

'तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा । सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते । वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव । ·········तस्माद् व्यञ्जकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालङ्कारौचित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयतीति त्र्यंशायामपि भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति । भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपि तु घनमोहान्ध्यसंकटतानिवृत्तिद्वारेणास्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तरविकासात्मनि भोगे कर्त्तव्ये लोकोत्तरो ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः । 'रस्यमानतोदितचमत्कारानतिरिक्तत्वाद्भोगस्येति । (ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ १८९–१९०)

अर्थात् 'नाट्य अथवा काव्य में रसना रूप प्रतीति तो निर्विवाद है । नाट्य अथवा काव्य पर कवि और सहृदय दोनों की दृष्टियों से दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि 'रसभावना ही' एक मात्र नाट्य अथवा काव्य का साध्य है और नाट्यकाव्य का अभिव्यञ्जना–व्यापार ही इस रस-भावना का साधन है जिसमें समुचित शब्दार्थयोजनादि की इतिकर्तव्यता (उपकारिता) भी स्वभावतः सिद्ध है । काव्य–नाट्य को रस के 'भावक' कहने में वस्तुतः यही अभिप्राय मन में रखना चाहिये कि काव्य–नाट्य रस का व्यञ्जक है । रस का भोग अथवा आस्वाद भी काव्य–नाट्य के इस अलौकिक अभिव्यञ्जनव्यापार से ही सम्भव है । 'रसभोग' और 'रस की व्यङ्ग्यता' का एक ही अभिप्राय है, एक ही रहस्य है ।

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट की भी यही रसदृष्टि है—

'कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥

(रसप्रक्रिया : विभावादियोजना और स्थायीभाव की रसरूप में अभिव्यक्ति)

विभावादयो वक्ष्यन्ते। सात्त्विकाश्चानुभावरूपत्वात् न पृथगुक्ताः, व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसो न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते।

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तस्स तैर्विभावाद्यैस्स्थायीभावो रसः स्मृतः॥' (काव्यप्रकाश ४-२७,२८)

जिसका यह लक्ष्य है—'यद्यपि लोकजीवन ही काव्य-नाट्य में प्रतिबिम्बित हुआ करता है किन्तु 'बिम्ब' में जो विशेषता नहीं वह 'प्रतिबिम्ब' से लिपट जाती है। लोकजीवन में रत्यादि चित्त-वृत्तियों के कारणभूत पदार्थ काव्य-नाट्य में प्रतिफलित होने पर सहृदयहृदय की रत्यादि वासनाओं को अभिव्यक्त करने लगते हैं। लोक के राम-सीतादि कवि किं वा नाटककार की कला से नायक-नायिका रूप में उपस्थित होकर काव्य-नाट्य के सामाजिकों के हृदय में रत्यादिभावों को रस रूप में इसीलिये अङ्कुरित करने लगते हैं क्योंकि लोकजीवन में रत्यादि भावों के कारण काव्य-नाट्य में आते ही विभावन का व्यापार प्रारम्भ कर देते हैं। लोक के राम-सीतादि का सीमित व्यक्तित्व काव्य-नाट्य में असीम हो उठता है। सहृदय सामाजिक 'राम' के साथ तन्मयीभाव नहीं स्थापित कर सकता, इसलिये कवि अथवा नाटककार की कला 'राम' को एक प्रेमी जीव के रूप में बदल डाला करती है जिसके साथ प्रत्येक काव्यरसिक एकरूपता का अनुसंधान करने में समर्थ हो उठता है। इसी प्रकार लोकजीवन में रत्यादि भावों के वाचिक-मानसिक किं वा शारीरिक स्वेदादिविकार काव्य-नाट्य में 'अनुभावन' की शक्ति रखने लगते हैं और सहृदय सामाजिक के हृदय में अकुरित रत्यादिवासनाओं को उत्तरोत्तर प्रकाशित करने में लग जाते हैं। लोकजीवन के रत्यादि भावों के आनुषङ्गिक भाव काव्य-नाट्य के क्षेत्र में प्रवेश पाकर काव्यरसिक के हृदय में उद्बुद्ध स्थायीभावों का पोषण अथवा सर्वतोभावेन अभिव्यञ्जन करने लगते हैं। इस प्रकार सहृदयहृदय में स्थायी भावों की अभिव्यक्ति अथवा सहृदयहृदय के लिये चर्वणा का समर्पण ही काव्य-नाट्य में विभाव-अनुभाव और व्यभिचारिभाव की योजना का परम निष्कर्ष है और जो 'रस' है वह वस्तुतः काव्य-नाट्य की अभिव्यञ्जना अथवा चर्वणा की अलौकिक विशेषता से विशिष्ट सहृदयहृदय का रत्यादि रूप स्थायीभाव ही है। चर्वणाविशिष्ट रत्यादिस्थायीभाव एक लोकोत्तर आनन्दात्मक अनुभव है।

(ख) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव—इन तीन पारिभाषिक पदों में 'लोक' और 'काव्य' का भेद स्पष्ट है। लोक में रत्यादि मनोभावों के कारण, कार्य और सहकारी तत्त्व काव्य में रत्यादि स्थायीभावों के विभावन अनुभावन और व्यभिचारण अथवा एक शब्द में अभिव्यञ्जन का व्यापार करने लगते हैं। आचार्य मम्मट के लिये तो यह आवश्यक था—क्योंकि उन्हें आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की रस-मीमांसा का सार खींचना था—कि वे लोक और काव्य के रत्यादिभावों के कारणादि किंवा विभावादि का वैलक्षण्य बताकर लोकानुभव से रस-रूप-काव्यानुभव का वैधर्म्य भी सिद्ध करते जैसा कि उन्होंने अपने रस-लक्षण में किया ही है, किन्तु विश्वनाथ कविराज के लिये यही युक्तियुक्त है कि वे पूर्वनिर्दिष्ट रस-प्रक्रिया का अपने शब्दों में समर्थन करें और उन्होंने ऐसा किया भी है। 'विभावादि द्वारा अभिव्यक्त ही रत्यादिस्थायीभाव 'रस' हुआ करता है'—इस साहित्यदर्पणकारसम्मत रस-स्वरूपदर्शन से यह स्पष्ट है कि यह अनुभव लौकिक नहीं अपितु अलौकिक है।

अनुवाद—(सहृदय-हृदय में वासनारूप से अवस्थित रत्यादि स्थायीभावों के अभिव्यञ्जक) ये विभावादि तत्त्व क्या हैं? यह सब विचार-विमर्श तो आगे यथावसर किया

तदुक्तं लोचनकारैः—'रसाः प्रतीयन्त इति त्वोदनं पचतीतिवद् व्यवहारः' इति। अत्र च रत्यादिपदोपादानादेव प्राप्ते स्थायित्वे पुनः स्थायिपदोपादानं रत्यादीनामपि रसान्तरेष्वस्थायित्वप्रतिपादनार्थम्। ततश्च हासक्रोधादयः शृङ्गार-वीरादौ व्यभिचारिण एव। तदुक्तम्—

'रसावस्थः परम्भावः स्थायितां प्रतिपद्यते' इति।

ही जा रहा है। यहाँ (विभावादि वर्ग में) सात्त्विकभावों का (जिनका नाट्याचार्य भरतमुनि ने स्पष्ट निर्देश किया है) परिगणन इसलिये नहीं किया क्योंकि ये अनुभाव के अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं। यहाँ रत्यादि स्थायीभावों के 'व्यक्त' होने का अभिप्राय है उनके, एक दूसरे रूप में-'रस' रूप में—परिणत होने का। रत्यादि स्थायीभावों की 'रस' रूप में जो अभिव्यक्ति है, वह दुग्ध की दधिरूप में अभिव्यक्ति (परिणति) सरीखी ही समझी जानी चाहिये। ऐसा इसलिए क्योंकि 'रस' कोई ऐसी वस्तु नहीं जो घट-पट की भाँति) पहले से ही विद्यमान हो जिसे विभावादि दीप की भाँति अभिव्यक्त किया करें। वस्तुतः यही बात लोचनकार (आचार्य अभिनवगुप्त) ने इस प्रकार कही है—लोगों का यह कहना कि 'रस अनुभव में पता चला करते हैं'। ऐसा ही है जैसे कि यह कहना कि 'भात पका रहे हैं'। यहाँ ('रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्' इस उक्ति में) 'रत्यादि' के विशेषणरूप से 'स्थायीभाव' का निर्देश एक उद्देश्यविशेष से किया गया है। बात यह है कि वैसे तो केवल 'रत्यादिः' कहने से ही 'रत्यादि रूप स्थायी चित्तवृत्तियों' का अभिप्राय निकल जाता है किन्तु फिर भी-'रत्यादिः स्थायी भावः' कहना इसलिये आवश्यक है क्योंकि इससे यह निर्दिष्ट होता है कि एक रस में यदि रतिरूप चित्तवृत्ति स्थायी है तो दूसरे में वह अस्थायी अथवा व्यभिचारी रूप में ही रहेगी। उदाहरण के लिए, हासरूप चित्तवृत्ति अथवा क्रोधादिरूप चित्तवृत्ति (जो कि हास्य अथवा रौद्रादि रसों में स्थायी है) शृङ्गार अथवा वीरादि रसों में व्यभिचारीरूप में ही पड़ी रहती है। वस्तुतः इसीलिये कहा गया है—'वही भाव वस्तुतः स्थायीभाव हुआ करता है—जो कि 'रस' रूप में अभिव्यक्त हो उठता है'।

विमर्श—(क) नाट्याचार्य भरतमुनि ने स्तम्भ, स्वेद आदि आठ 'सात्त्विक' भावों का पृथक् परिगणन किया है।

'स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः॥' (नाट्यशास्त्र ६.२२)

नाट्यशास्त्रकार की दृष्टि में सात्त्विकभावों का एक अपना ही महत्त्व है और इसीलिए नाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय में इनका भी विशद विवेचन किया हुआ है। सात्त्विकभावों का अनुभावों में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता-इसके सम्बन्ध में काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने नाट्यशास्त्र की मर्यादा का यह उल्लेख किया है—

'स्तम्भस्वेदरोमाञ्चस्वरभेदकम्पवैवर्ण्याश्रुप्रलया अष्टौ सात्त्विकाः। सीदत्यस्मिन् इति व्युत्पत्तेः सत्त्वगुणोत्कर्षात् साधुत्वाच्च प्राणात्मकं वस्तु सत्त्वम्, तत्र भवाः सात्त्विकाः, भावा इति वर्तते। तेऽत्र प्राणभूमिप्रसृतरत्यादिसंवेदनवृत्तयो बाह्यजडरूपभौतिकनेत्रजलादि-विलक्षणा विभावेन रत्यादिगतेनैवातिचर्वणागोचरेणाहृता अनुभावैश्च गम्यमाना भावा भवन्ति। तथा हि पृथ्वीभागप्रधाने प्राणे संक्रान्तश्चित्तवृत्तिगणः स्तम्भो विष्टब्धचेतनत्वम्। जलभागप्रधाने तु बाष्पः। तेजसस्तु प्राणनैकट्यादुभयथा तीव्रातीव्रत्वेन प्राणानुग्रह

इति द्विधा स्वेदो वैवर्ण्यं च। तद्धेतुत्वाच्च तथा व्यवहारः। आकाशानुग्रहे गतचेतनत्वं प्रलयः। वायुस्वातन्त्र्ये तु तस्य मन्दमध्योत्कृष्टावेशात् त्रेधा रोमाञ्चवेपथुस्वरभेदभावेन स्थितिरिति भरतविदः। बाह्यास्तु स्तम्भादयः शरीरधर्मा अनुभावाः। ते चान्तरालिकान् सात्त्विकान् भावान् गमयन्तः परमार्थतो रतिनिर्वेदादिगमका इति स्थितम्। एवं च नवस्थायिनस्त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणोऽष्टौ सात्त्विका-इति पञ्चाशद्भावाः।'

(काव्यानुशासन २. ५३)

इससे स्पष्ट है कि नाट्य में अनुभाव और सात्त्विकभाव का अपना २ स्थान है, अपना २ उपयोग है और अपना २ रसार्पणसामर्थ्य है।

साहित्यदर्पणकार ने सात्त्विक भावों को अनुभावरूप मान लिया है। आचार्य मम्मट के रसलक्षण में सात्त्विक भावों के समावेश न होने का तो एक युक्तियुक्त कारण मिल जाता है क्योंकि वहाँ रसके काव्यानन्द रूप का निरूपण है न कि नाट्यानन्द रूप का। किन्तु नाटकलक्षणकार कविराज विश्वनाथ के लिए रस-सृष्टि किंवा रसानुभूति में सात्त्विक भावों की सहयोगिता का अनिर्देश और साथ ही साथ इनका अनुभावों में अन्तर्भाव कुछ विचित्र सी बात है। सात्त्विक भावों की एक प्रकार की अनुभावरूपता का निर्देश दशरूपककार आचार्य धनञ्जय (८वीं शताब्दी) ने किया है—

'पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः।
सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम्॥

जिसका स्पष्टीकरण आचार्य धनिक के शब्दों में इस प्रकार है—

'परगतदुःखहर्षादिभावनायामत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं सत्त्वं यदाह—सत्त्वं नाम मनः-प्रभवं तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते, एतदेवास्य सत्त्वं यतः खिन्नेन प्रहर्षितेन चाश्रुरोमाञ्चादयो निर्वर्त्यन्ते तेन सत्त्वेन निर्वृत्ताः सात्त्विकास्त एव भावास्तत उत्पद्यमानत्वादश्रु-प्रभृतयोऽपि भावा भावसंसूचनात्मकविकाररूपत्वाच्चानुभावा इति द्वैरूप्यमेषाम्।'

(दशरूपक—४ थं)

'वस्तुतः 'दशरूपक' के इस सिद्धान्त का ही सूत्र पकड़ कर विश्वनाथ कविराज ने सात्त्विकभावों को अनुभावरूप मान लिया है। किन्तु जहाँ दशरूपक में स्तम्भादि को सात्त्विकभाव और अनु-भाव—दोनों रूपों में देखा गया है वहाँ साहित्यदर्पण में दोनों की एकरूपता निर्धारित कर दी गयी है। संभवतः भारतीय रंग-मंच की बदलती परिस्थितियाँ ही इस प्रकार के मतभेद को जन्म देनेवाली हैं।

(ख) 'विभावादि द्वारा रत्यादिस्थायीभाव की रस रूप में 'अभिव्यक्ति' रत्यादिरूप चित्त-वृत्तियों का एक अवस्थापरिणाम है'—यह साहित्यदर्पणकार का रसाभिव्यक्तिवाद आचार्य महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक' से प्रभावित प्रतीत हो रहा है। आचार्य महिमभट्ट ने 'व्यक्ति' अथवा 'अभिव्यक्ति' को सद्विषयक किंवा असद्विषयक रूप से द्विविध मान कर सद्विषयक अभिव्यक्ति की ये निम्न संभावनायें की हैं—

१ ली अभिव्यक्ति—'तत्र कारणात्मनि कार्यस्य शक्त्यात्मनावस्थानात् तिरोभूतस्येन्द्रिय-गोचरत्वापत्तिलक्षण आविर्भाव एका (अभिव्यक्तिः), यथा क्षीराद्यवस्थायां दध्यादेः। तथावस्थानानुपगमे तु सैवोत्पत्तिरित्युच्यते कैश्चित्।' अर्थात् प्रथम अभिव्यक्ति वह सद्विषयक अभिव्यक्ति है जिसे कारण में शक्तिरूप से अवस्थित कार्य का आविर्भाव कहना चाहिए। जैसे कि दूध से दही का आविर्भाव। दही दूध से कोई सर्वथा भिन्न वस्तु नहीं अपितु दूध का ही एक अवस्थापरिणाम है। 'कारण में कार्य शक्तिरूप से अवस्थित रहा करता है'—इस सिद्धान्त के न मानने वाले 'आविर्भाव' अथवा 'अवस्थापरिणाम' को ही 'उत्पत्ति' कहा करते हैं।

२ री अभिव्यक्ति—**'तस्यैवाविर्भूतस्य कुतश्चित् प्रतिबन्धादप्रकाशमानस्य प्रकाशके-नोपसर्जनीकृतात्मना सहैव प्रकाशो द्वितीया यथा प्रदीपादिना घटादेः।'** अर्थात् किसी कारणवश अनभिव्यक्त किन्तु पूर्वाविर्भूत वस्तु का किसी ऐसे अभिव्यञ्जक के द्वारा जो कि अभिव्यञ्जक होने के नाते अप्रधान है और अपने साथ साथ अपने अभिव्यङ्ग्य को प्रकट किया करता है, प्रकाशित होना दूसरी अभिव्यक्ति है। जैसे किसी संतमसावृत घट का प्रदीप द्वारा प्रकाशन। प्रदीप द्वारा घट की जो अभिव्यक्ति है उसमें प्रदीप अपने आप को प्रकाशित करते हुए ही घट का प्रकाशक अथवा अभिव्यञ्जक हुआ करता है।

३ री अभिव्यक्ति—**'तस्यैवानुभूतपूर्वस्य संस्कारात्मनान्तर्विपरिवर्तिनः कुतश्चिदव्यभि-चारिणोऽर्थान्तरात् तत्प्रतिपादकाद्वा संस्कारप्रबोधमात्रं तृतीया, यथा धूमादग्नेः, यथा चालेख्यपुस्तकप्रतिविम्बानुकरणादिभ्यः, शब्दाच्च गवादेः।'** अर्थात् तीसरी अभिव्यक्ति उस प्रकार की अभिव्यक्ति है जिसे किसी पूर्वानुभूत किंवा संस्काररूप से हृदय में विराजमान वस्तु का, उससे सम्बद्ध (अविनाभूत) किसी दूसरी वस्तु अथवा उसके प्रतिपादक द्वारा, संस्कारोद्बोधन कहना चाहिये। जैसे कि धूम के द्वारा अग्नि का अनुभव। धूमदर्शन से अग्नि का अनुभव एक अभिव्यक्ति है जिसमें पूर्वानुभूत और संस्कार रूप में हृदय में विराजमान अग्नि का संस्कार प्रबोधमात्र हुआ करता है। इसी प्रकार आलेख्य अनुकरण किंवा शब्दादि प्रतिपादकों के द्वारा किसी वस्तु का अनुभव भी यही तीसरी अभिव्यक्ति है जिसमें अभिव्यञ्जक का कार्य केवल पूर्वानुभव के संस्कारों का जागरणमात्र हुआ करता है। इन उपर्युक्त अभिव्यक्तिविषयक संभावनाओं में 'रत्यादिस्थायीभाव की रसरूप में अभिव्यक्ति' केवल पहली अभिव्यक्तिसंभावना में आ सकती है न कि दूसरी अथवा तीसरी में। विश्वनाथ कविराज ने इन तीनों अभिव्यक्ति-संभावनाओं पर विचार कर 'रस' को 'दध्यादिन्याय' से ही अभिव्यक्त माना है 'घटादिन्याय' अथवा 'अग्न्यादि-न्याय' से नहीं। 'दध्यादिन्याय' का अभिप्राय है—जिस प्रकार दूध किसी अम्लद्रव्य (जामन) के संयोग से रूपान्तर परिणत होकर दही बना करता है उसी प्रकार सहृदयहृदयावस्थित रत्यादिरूप स्थायीभाव ही कविवर्णित विभावादि के संयोग से रूपान्तर परिणत होकर 'रस' बन जाया करता है। इस दृष्टि से 'घटादिन्याय' से रस को अभिव्यक्त मानना अनुचित है क्योंकि 'रस' घट की भांति कोई पूर्वसिद्ध पदार्थ नहीं जो कहीं छिपा हो और जिसे, दीपशिखा की भांति, विभावादियोजना प्रकाशित कर जाय। 'अग्न्यादिन्याय' से रस की अभिव्यक्ति भी युक्तिसंगत नहीं क्योंकि न तो अग्नि की भांति रस को लोकजीवन में पूर्वानुभूत मान सकते हैं और न विभावादियोजना को ही इस रसानुभव के सञ्चित संस्कारों का उद्बोधक कह सकते हैं। रसाभिव्यक्ति के लिए दध्यभिव्यक्ति को ही दृष्टान्त रूप से उपस्थित किया जा सकता है क्योंकि रसप्रक्रिया की समञ्जस व्यवस्था इसी से ठीक ठीक समझी जा सकती है।

(ग) जो वस्तु पूर्वसिद्ध हो, जैसे कि घट-पटादि, उसके लिए यह कहना ठीक है कि उसका अनुभव हुआ करता है किन्तु जिस वस्तु की पहले से कोई सत्ता नहीं, जैसे कि रस की, उसके लिये यह कहना कि उसका अनुभव हुआ करता है, प्रलापमात्र ही लगता है। तात्पर्य यह है कि जबतक 'घटादिन्याय' से रस की अभिव्यक्ति न सिद्ध की जाय तबतक यह कहना कि 'रस का अनुभव होता है' (रसाः प्रतीयन्ते) निरर्थक सा ही है। इस आशंका का समाधान आचार्य अभिनवगुप्त के शब्दों में, यह है—

'सर्वपक्षेषु च प्रतीतिरपरिहार्या रसस्य। अप्रतीतं हि पिशाचवदव्यवहार्यं स्यात्। किन्तु यथा प्रतीतिमात्रत्वेनाविशिष्टत्वेऽपि प्रात्यक्षिकी आनुमानिकी आगमोत्था प्रतिभान-कृता योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिरुपायवैलक्षण्यादन्यैव, तद्वदियमपि प्रतीतिश्चर्वणास्वादन-

भोगापरनामा भवतु। तन्निदानभूताया हृदयसंवादाद्युपकृताया विभावादिसामग्र्या लोकोत्तररूपत्वात्। 'रसाः प्रतीयन्त' इति 'ओदनं पचती'ति-वद् व्यवहारः, प्रतीयमान एव हि रसः। प्रतीतिरेव विशिष्टा रसना। स च नाट्ये लौकिकानुमानप्रतीतेर्विलक्षणा; तां च प्रमुखे उपायतया संदधाना, एवं काव्ये अन्यशब्दप्रतीतेर्विलक्षणा, तां च प्रमुखे उपायतयापेक्षमाणा।'

—(ध्वन्यालोकलोचन, २ य उद्योत)

अर्थात् इसमें तो कोई संदेह हो नहीं सकता कि काव्य अथवा नाट्य के सहृदय सामाजिकों को रस का अनुभव हुआ करता है। यह एक और बात है कि रसानुभव एक लोकविलक्षण अनुभव है जिसे न तो प्रत्यक्ष कह सकते हैं न अनुमान, न तो प्रातिभ ज्ञान मान सकते हैं और न योगज साक्षात्कार। रसानुभव के साधन अलौकिक साधन हैं और इसलिये रसानुभव की अलौकिकता स्वयं सिद्ध है। 'रस का अनुभव हुआ करता है'—ऐसा कहने से यह नहीं सिद्ध हो जाता कि रस घट-पट की भाँति एक पूर्वसिद्ध वस्तु है। 'रस का अनुभव' तो रसचर्वणा, रसास्वाद, रसभोग आदि-आदि का पर्याय शब्द है जिससे यह स्पष्ट है कि सहृदय की रत्यादिवासना ही चर्वणा अथवा रसना के संबन्ध से 'रस' हैं। जैसे पाकक्रिया के संबन्ध से तण्डुल (चावल) को 'ओदन' (भात) कहा जाया करता है (ओदनं पचति) वैसे ही रसना क्रिया के संबन्ध से सामाजिकवासना भी 'रस' कही जाया करती है (रसाः प्रतीयन्ते); पाक के पहले जैसे चावल को 'भात' नहीं कहा करते वैसे ही रसना अथवा चर्वणा के पहले रत्यादिवासना भी 'रस' नहीं कही जाया करती।

(घ) साहित्यदर्पणकार ने **'रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्'** आदि अपनी उक्ति की जो सार्थकता बतायी है उसका आधार व्यक्तिविवेककार का यह कथन है—

'ये चैते स्थायिव्यभिचारिसात्त्विकभेदादेकोनपञ्चाशद्भावा उक्तास्ते सर्वे व्यभिचारिण एव। केवलमेषां प्रतिनियतरूपापेक्षो व्यपदेशभेदः। तथा हि स्थायित्वं स्थायिष्वेव प्रतिनियतं, न व्यभिचारिसात्त्विकेषु। व्यभिचारित्वं व्यभिचारिष्वेव, नेतरयोः। सात्त्विकत्वमपि सात्त्विकेष्वेव, नेतरयोरिति। तत्र स्थायिभावानामुभयी गतिः। न व्यभिचारिसात्त्विकानाम्। ते हि नित्यं व्यभिचारिण एव न जातुचित् स्थायिनः प्रकल्पन्ते।'

—(व्यक्तिविवेक, १ म विमर्श)

अर्थात् नाट्यशास्त्र के भावाध्याय में परिगणित समस्त भाव वस्तुतः व्यभिचारिभाव ही हैं। इन ४९ भावों में रत्यादिभाव इसलिये स्थायीभाव कहे जाया करते हैं क्योंकि रसरूप में ये ही उद्बुद्ध हुआ करते हैं।

वस्तुतः स्थायीभावों की रसरूपता का सिद्धान्त नाट्याचार्य भरतमुनि का ही सिद्धान्त है जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

'कथमिदानीमेते स्थायिनोऽष्टौ भावा रसत्वमाप्नुवन्तीत्युच्यते। एवमेतदिति। कस्मात्? यथाहि समानलक्षणास्तुल्यपाणिपादोदरसमानाः समानप्रत्यया अपि पुरुषाः कुलशीलविद्याकर्मशिल्पविचक्षणत्वयुक्ता राजत्वमाप्नुवन्ति तत्रैव चान्येऽल्पबुद्धयस्तेषामेवानुचरा भवन्ति। तथा विभावानुभावव्यभिचारिणः स्थायिभावानुपाश्रिता भवन्तीत्याश्रयत्वात्स्वामिभूताश्च स्थायिनो भावाः। तद्वत् स्थायिनि वपुषि गुणीभूता अन्ये भावाः। तान् गुणवत्तयाश्रयन्ते परिजनभूता व्यभिचारिणो भावाः। को दृष्टान्त इति? यथा नरेन्द्रो बहुजनपरिवारोऽपि सन् स एव नाम लभते नान्यः सुमहानपि पुरुषः। तद्वद् गवाक्षस्तु कश्चित्

(रसास्वाद के स्वरूपनिर्णय की प्रतिज्ञा)

अस्य स्वरूपकथनगर्भं आस्वादनप्रकारः कथ्यते—

(रस और रस का आस्वाद)

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥ २ ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥ ३ ॥

(काव्यार्थपरिशीलन : सत्त्वोद्रेक : रसास्वाद :)

'रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते' इत्युक्तप्रकारो बाह्यमेयविमुख-

---

कश्चित् पृच्छति कोऽयमिति। स च तमाह-राजेत्येव। तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायी भावो रसनाम लभते नरेन्द्रवत्।'

—(नाट्यशास्त्र–सप्तमाध्याय)

अर्थात् स्थायीभाव ही सामाजिकों की रसना के संवन्ध से 'रस' रूप धारण कर सकते हैं न कि अन्यान्यभाव। वैसे तो रत्यादिभाव भी भाव ही हैं। किन्तु उनमें अन्यभावों को अपना अनुचर बनाने का सामर्थ्य है और इसलिये ये ही 'रस' रूप में अभिव्यक्त हो पाते हैं। मनुष्यमात्र का अंग-प्रत्यङ्ग समान हुआ करता है किन्तु कोई अपने कुल-शीलादि के वैलक्षण्य से राजा हो जाता है और दूसरे लोग उसकी प्रजा बन जाते हैं। भाव के नाते सभी भाव समान हैं किन्तु इन भावों में स्थायीभाव ही ऐसे हैं जो एकमात्र 'रस' का पद पा सकते हैं क्योंकि इन्हीं में वह शक्ति है जो अन्यभावों को उनका आश्रित बनाया करती है।

अनुवाद—अब रस का आस्वाद कैसे हुआ करता है इसका ऐसा विचार किया जा रहा है जिसमें यह भी पता चल जाय कि रस का स्वरूप कैसा है—

कुछ विरले लोग (सहृदय सामाजिक-जन) ही उस काव्यानन्द (अथवा नाट्यानन्द) का अनुभव किया करते हैं जिसे 'रस' कहा जाया करता है। इस 'रस' का अनुभव उन्हें तभी हो पाता है जबकि उनके हृदय में (काव्यनाट्यपरिशीलन की महिमा से) सत्त्व का उद्रेक अथवा प्राबल्य हो जाया करता है। यह सहृदय हृदय के अनुभव का विषय 'रस' एक अखण्ड (क्योंकि इसमें विभावादि का पृथक्-पृथक् अनुभव असंभव है), स्वयंप्रकाश (क्योंकि रस रूप अनुभव स्वयं प्रकाशित हुआ करता है न कि किसी अन्य ज्ञान का विषय बना करता है) किंवा आनन्दमय रत्यादि-संवेदन रूप है; यह एक ऐसा अनुभव है जिसके साथ अन्य किसी भी ज्ञेय वस्तु का स्पर्श नहीं हो सकता, इसे यदि किसी भी अन्य अनुभव के समान बताया जा सके तो वह अनुभव एक मात्र आत्मसाक्षात्कार ही हो सकता है अन्य नहीं; इस अनुभव का सार एक अलौकिक चमत्कार है और यह अनुभव, यह आस्वाद ऐसा है जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का कोई भेद उसी प्रकार नहीं आभासित हुआ करता जिस प्रकार आत्मस्वरूप के साक्षात्कार अथवा ब्रह्मानन्द के अनुभव में।

उपर्युक्त रसास्वाद निरूपण में 'सत्त्व' का अभिप्राय है मन की एक ऐसी अवस्था का जो सहृदय सामाजिकों को अन्य समस्त घट-पटादि वस्तुओं के ज्ञान के प्रति विमुख अथवा वीतराग बना दिया करती है। वस्तुतः इसीलिये 'सत्त्व' की यह परिभाषा दी गयी है—

तापादकः कश्चनान्तरो धर्मः सत्त्वम् । तस्योद्रेको रजस्तमसी अभिभूय आविर्भावः । अत्र च हेतुस्तथाविधालौकिककाव्यार्थपरिशीलनम् ।

अखण्ड इत्येक एवायं विभावादिरत्यादिप्रकाशसुखचमत्कारात्मकः । अत्र हेतुं वक्ष्यामः । स्वप्रकाशत्वाद्यपि वक्ष्यमाणरीत्या । चिन्मय इति स्वरूपार्थे मयट् ।

चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्य्यायः । तत्प्राणत्वञ्चास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नारायणपादैरुक्तम् । तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे—

'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राऽप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राऽप्यद्भुतो रसः ।
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्' ।। इति ।

कैश्चिदिति प्राक्तनपुण्यशालिभिः ।

'सत्त्व' मन का वह स्वरूप है जिसमें रजोगुण और तमोगुण का कोई स्पर्श—कोई संपर्क—नहीं रहा करता—(सरस्वती कण्ठाभरण)। इस प्रकार सत्त्व के उद्रेक अथवा प्राबल्य का तात्पर्य है सत्त्व के इस रूप में विराजमान हो जाने का जिसमें रजोगुण और तमोगुण दबे दबाये रह जाँय और अपने-अपने कार्य (अर्थात् चाञ्चल्य और मोहसंकट आदि) के निष्पादन में असमर्थ बना दिये जाँय । यह 'सत्त्वोद्रेक' जिसके द्वारा संभव है और कुछ नहीं अपितु विभावादि रूप अलौकिक काव्यार्थ में सहृदय-हृदय का अलौकिक अभिनिवेश अथवा अन्तर्लय है ।

(इस सत्त्वोद्रेक की महिमा से सहृदयों को जिस रस का आस्वाद हुआ करता है वह) रस अखण्ड है। रस 'अखण्ड' है—इसका अभिप्राय यह है कि रस व्यञ्जक विभावादि किंवा व्यङ्ग्य रत्यादि का एक आनन्दघन, चमत्कारमय, अलौकिक संवेदन अथवा अनुभव है। रस के विभावादि किंवा रत्यादिमय एक आनन्दात्मक अनुभव होने का जो कारण है उसका तो विचार आगे किया ही जायगा। साथ ही साथ इसके 'स्वयंप्रकाश' होने का रहस्य भी, जैसा कि आगे बताया जायगा, स्पष्ट ही हो जायगा। रस के 'चिन्मय' होने का अभिप्राय यह है कि रस चिद्रूप है—स्वप्रकाशानन्द रूप है,—क्योंकि यहाँ 'चिन्मय' पद में जो 'मयट्' प्रत्यय है वह 'स्वरूप' का अर्थ रखता है (नकि 'प्राचुर्य' का)।

रस 'लोकोत्तरचमत्कारप्रमाण' है—इस उक्ति में 'चमत्कार' शब्द 'विस्मय' शब्द का समानार्थक है। और 'विस्मय' क्या है ? विस्मय है सहृदय सामाजिक का चित्तविस्तार अथवा मनोविकास। 'चमत्कार' ही रस रूप अनुभव का प्राणभूत है—इसका बड़ा सुन्दर निर्देश हमारे (साहित्यदर्पणकार के) वृद्धप्रपितामह, रसिक समाज के अग्रणी किंवा कविपण्डितशिरोमणि आचार्य नारायण ने किया था जिसे आलङ्कारिक धर्मदत्त ने अपने अलङ्कार ग्रन्थ में इस प्रकार उट्टङ्कित किया है—

'चाहे कोई भी रस हो, यह तो चमत्कार ही है जो उसमें साररूप से प्रतीत हुआ करता है। और जबकि चमत्कार ही रस का सार है तब तो यही सिद्ध है कि सभी रसों में अद्भुत रस का ही आस्वाद मिला करता है। वस्तुतः महासहृदय आचार्य नारायण ने इसीलिये तो रस को अद्भुत अथवा चमत्कारसार कहा है।'

यहाँ 'कैश्चित्'—'कुछ विरले लोगों के द्वारा ही' (रस का आस्वाद लिया जाया करता

यदुक्तम्—

'पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससन्ततिम्' । इति ।

है) इस कथन का अभिप्राय यह है कि रसास्वाद के भागी वे ही लोग हुआ करते हैं जो पूर्वजन्म के सञ्चित (काव्यार्थपरिशीलन अथवा काव्यार्थभावनरूप) पुण्य परिपूत रहा करते हैं ।

कहा भी गया है—'वे लोग रससंदोह का आनन्द लिया करते हैं जो कि ब्रह्मदर्शी योगियों की भाँति पुण्यात्मा हुआ करते हैं ।'

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार ने काव्यार्थरूप रसास्वाद के अधिकारी लोगों को 'प्राक्तन-पुण्यशाली' कहा है। अभिव्यञ्जनावादी सभी आचार्य रसभोक्ता के लिए, काव्यार्थपरिशीलन के जन्मजन्मार्जित पुण्यसञ्चय को आवश्यक मानते हैं। रस का सार यदि 'चमत्कार' है और वस्तुतः ऐसा है भी और 'चमत्कार' यदि 'सकलविघ्नविनिर्मुक्तसंवेदन' है क्योंकि इसका और कोई रूप नहीं, तब तो यह स्वयं सिद्ध है कि रस का आस्वाद लेने वाले सामाजिक योगियों की भाँति पुण्यात्मा हैं और रसानुभव में स्वप्रकाशानन्दरूप आत्मानुभव का आनन्द लिया करते हैं।

(ख) रसास्वाद में सहृदय सामाजिक की मनोदशा विचित्र हुआ करती है। इसमें विचित्रता इसलिए रहा करती है क्योंकि अन्य किसी भी अनुभव में ऐसी बात नहीं हुआ करती। यह मनोदशा मन के सत्त्वोद्रेक की दशा है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि सामाजिक जन का वह मन ही 'सत्त्व' है जिसके रजोगुण और तमोगुण काव्यार्थपरिशीलन के द्वारा, अपने-अपने प्रभावोंके प्रकाशन में, असमर्थ हो जाया करते हैं। रजोमय मन चञ्चल हुआ करता है और तमोमय मन पर मोह संकट की घटा छायी रहती है। मन की चञ्चलता और मोहान्धता के निवारण के लिये योगीजन समाधि का सहारा लिया करते हैं किन्तु काव्यरसिक किंवा नाट्यप्रेमी लोगों के मन का मोह–संकट काव्य अथवा नाट्य के भोग से ही भगाया जाया करता है। सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र-व्याख्याकार आचार्य भट्टनायक ने ही 'रसास्वाद में मन की दशा' का एक मनोवैज्ञानिक निरूपण किया था। भट्टनायक के अनुसार काव्य–नाट्य की भावकताशक्ति तो सामाजिकों में 'सहृदयता' का संचार किया करती है और जब सहृदयता का सञ्चार होने लगता है तब सामाजिकों में वह भोग सञ्चरित होने लगता है जो एक विचित्र अनुभव, एक अलौकिक मानस अध्यवसाय है। यह नाट्यानन्द, यह रसभोग ऐसा है जो 'परब्रह्मास्वादसविध' हुआ करता है। इसके स्वरूप का यदि विश्लेषण किया जा सके तो यही कहा जा सकता है कि यह **'सत्त्वोद्रेक-प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिसलक्षण'** है, ऐसा है जिसे साक्षात् एक अहंपरामर्श कह सकते हैं। यह अहंपरामर्श ऐसा है जिसमें मन का सत्त्वगुण, रजस् और तमस् से अनुविद्ध होते हुए भी, रजस् और तमस् को दबाकर, अपने पूर्णस्वरूप में प्रकाशित रहा करता है। मन का यह सत्त्वोद्रेक एकमात्र आनन्दात्मक आत्मसंवेदनस्वरूप है।

भट्टनायकसम्मत यह 'भोग', यह 'सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्ति'रूप अनुभव अभिव्यक्तिवादी आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार रसास्वाद की साधन–सामाग्री नहीं अपितु साक्षात् रस का प्राणभूत चमत्कार अथवा आस्वाद अथवा आत्मलय है। साहित्यदर्पणकार ने आचार्य अभिनवगुप्त का ही अनुसरण करते हुए 'रस' को अखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय' कहा है। यह 'अखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय' रस सहृदय सामाजिकों में 'सत्त्वोद्रेक' के कारण संभव है अथवा यह 'रस', यह अनुभव, सहृदय सामाजिकों का साक्षात् आत्मसाक्षात्काररूप है जिसके होते हुए मन की चञ्चलता किंवा मोहान्धता भाग जाया करती है—ये दोनों संभावनायें साहित्य-दर्पणकार को मान्य हैं जिसमें भट्टनायक और अभिनवगुप्त दोनों आचार्यों की विचारधाराओं का संगम स्थापित किया प्रतीत हो रहा है।

(ग) रस 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्य' है और इसी लिये 'ब्रह्मास्वादसहोदर' है—यह साहित्यदर्पण-कारकृत रसस्वरूप-विवेक रसमर्मज्ञ आचार्य अभिनवगुप्त किंवा आचार्य मम्मट आदि के रसविषयक विचारों द्वारा सर्वथा प्रमाणित किंवा अनुप्राणित है। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'रस' को चर्व्यमाण-तैकसार कहा है। रस चर्व्यमाणतैकसार है—ऐसा कहने का यही अभिप्राय है कि रसरूप अनुभव में किसी भी अन्य वेद्यवस्तु का कोई भी अनुवेद्य, कोई भी संसर्ग संभव नहीं। रस के निर्भरानन्द आत्मस्वरूप होने से ही यह सिद्ध है कि यह एक ऐसा अनुभव है जिसमें ज्ञेय-ज्ञातृ-भाव का विश्लेषण असंभव है। रस 'ज्ञेय' नहीं और न रसप्रमाता 'ज्ञाता' है, वह तो साक्षात् स्वप्रकाशानन्दात्मक आत्मानुभव है और जब ऐसी बात है तब तो रस की 'वेद्यान्तरसंपर्कशून्यता' स्वयं सिद्ध है। 'वेद्यान्तरसंपर्कशून्य' होने के ही कारण रस को 'ब्रह्मानन्दसहोदर' कहा गया है। रस ब्रह्मानन्द नहीं अपितु ब्रह्मानन्दसदृश है ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि जहां ब्रह्मानुभव शुद्ध चिदानन्दात्मक अनुभव है वहां रसानुभव रत्यादि संवलित चिदानन्दरूप अनुभव है।

(घ) रस 'लोकोत्तर चमत्कार प्राण' है—यह साहित्यदर्पणकारकृत रसस्वरूप-निर्देश सभी प्राचीन रसध्वनितत्त्वदर्शी आचार्यों की परम्परा से प्रमाणित होता है। 'चमत्कार' को सकलविघ्नविनिर्मुक्त संवित् कहा जाता है। काव्य-नाट्यतत्त्वदर्शी आचार्य अभिनवगुप्त ने 'चमत्कार' को एक निर्विघ्न संवेदन माना है। इसी के आशय के स्पष्टीकरण में 'काव्यानुशासन' के अज्ञातनामा व्याख्याकार का कथन है—

'अद्भुतभोगात्मस्पन्दावेशरूपो हि चमत्कारः। स च साक्षात्कारस्वभावो मानसाध्यव-सायो वा संकल्पो वा स्मृतिर्वा तथात्वेनास्फुरन्स्त्वस्तु। यदाह—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्, पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥

'अत्र हि स्मरतीति या स्मृतिरूपदर्शिता सा न तार्किकप्रसिद्धा पूर्वमेतस्यार्थस्याननु-भूतत्वात्। अपितु प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावेयमिति।' (काव्यानुशासन २. १)

अर्थात् जिसे चमत्कार कहते हैं वह एक ऐसा अनुभव है जो कि, चाहे वह साक्षात्कार हो या प्रतिभान हो या स्मृतिवैचित्र्य हो, एक विचित्र प्रकार का आनन्दावेश है जिसके होते एक विचित्र सुख-विस्मय हुआ करता है 'रसे सारश्चमत्कारस्सर्वत्राप्यनुभूयते'—इस उद्धरण से साहित्यदर्पणकार ने यही सिद्ध किया है कि रसानुभव अथवा रसभोग एक अलौकिक संवेदन है, ऐसा संवेदन है जिसे एक शब्द में 'चमत्कार' कहा जा सकता है।

(ङ) **'स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः'** यह साहित्यदर्पणकार का रसास्वादविषयक संकेत एक प्राचीन-संकेत है। आचार्य अभिनवगुप्त की रसमीमांसा का सारांश प्रकट करते हुये आचार्य मम्मट ने रसास्वाद को 'स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतः' कहा था। साहित्यदर्पणकार ने इसे 'स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः' इस रूप में प्रकट किया है। यहां साहित्यदर्पण की तर्कवागीशरचित टीका का यह मत है—

'स्वाकारवदिति—यथा स्वस्माद्भिन्नोऽपि देहोऽहं स्थूल इत्यादिभेदोल्लेखाभावेन प्रतीयते, तथा रसोऽपि ज्ञातृज्ञानभेदोल्लेखाभावेनास्वाद्यते इत्यर्थः। घटादिज्ञाने जाते वेद्मीति यथा ज्ञातृज्ञानभेदः प्रतीयते तथाऽत्र नेति भावः। यद्वा स्वाकारवत् = स्वविषय-वत्। परिणामवादिभिर्ज्ञानतद्विषययोर्भेदानङ्गीकारादिति भावः।'

अर्थात् जैसे 'अहं स्थूलः'–'मैं मोटा हूँ' यह अनुभव आत्मतत्त्व और शरीर के भेदोल्लेख के अभाव में हुआ करता है वैसे ही रस भी ज्ञाता और ज्ञान के भेदोल्लेख के अभाव में हुआ करता है। घट-पटादि के अनुभव में तो वेद्य और वेदन का भेद स्पष्ट रहा करता है किन्तु रसानुभव में

('रस' और 'आस्वाद' का तादात्म्य)

यद्यपि 'स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः' इत्युक्तदिशा रस-

'रस' और 'अनुभव' का कोई भेद नहीं हुआ करता। साथ ही साथ 'स्वाकारवत्' का एक दूसरा भी अभिप्राय संभव है और वह यह है—जैसे ज्ञान और ज्ञानविषय में अभेद माना गया है, जैसा कि परिणामवादी दार्शनिकों का सिद्धान्त है, वैसे ही रसदार्शनिकों के अनुसार आस्वाद और आस्वादविषय 'रस' भी भिन्न नहीं, अपि तु एक अभिन्न तत्त्व है।

कुछ लोगों ने जैसे कि तर्कवागीशरचित साहित्यदर्पण-टीका के टिप्पणीकार ने ही स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः' इस उक्ति में एक और ही अभिप्राण ढूंढा है—

'यथा ज्ञानस्यैवाकारो घटादिस्तस्मादभिन्नोऽपि तद्विषयो बाह्यैरङ्गीक्रियते तथात्रापीत्यर्थः। अत्रेदं तत्त्वम्—स्वयं वेदनं तावदङ्गीकार्यम्। अन्यथा जगदान्ध्यं प्रसज्येत। एवं च स्वव्यतिरिक्तग्राह्यविरहात्तत्तदात्मिका बुद्धिः स्वयमेव स्वात्मरूपप्रकाशिका प्रकाशवदिति। तदुक्तम्—

'नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्याऽस्ति तस्या नानुभवोऽपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते॥' इति।

ग्राह्यस्य बाह्यविषयजातस्य ग्राहकं स्वयं वेदनापरपर्यायं बुद्धितत्त्वं तयोर्वैधुर्यं नाम ग्राह्यत्वेन ग्राहकत्वेन च रूपेण भेदराहित्यम्। तयोरभेदश्चानुमातव्यः। येन वेदनेन यद् वेद्यते तत्ततो न भिद्यते। यथा ज्ञानेनात्मानः। (चक्षुरादीनि पञ्चेन्द्रियाणि) तैश्च नीलादयो वेद्यन्ते। भेदे सति वेदनेन सहार्थस्य संबन्धित्वं न स्यात्। तादात्म्यस्य संबन्धनियमहेतोरभावात्। तस्माद् बुद्धिरेवानादिवासनावशादनेकाकारावभासत इति स्थितम्।'

(साहित्यदर्पण : निर्णयसागरसंस्करण, पृष्ठ ७२)

अर्थात् घट-पटादि वेद्यवर्ग वस्तुतः वेदन अर्थात् ज्ञान के ही आकार हैं और इसलिये ज्ञेय और ज्ञान का भेद काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। यदि ज्ञान से ज्ञेय कोई सर्वथा भिन्न तत्त्व हो तब ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध क्या ? ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध तो तादात्म्य-सम्बन्ध है। इस प्रकार 'आस्वाद' और 'रस' भिन्न-भिन्न तत्त्व नहीं अपि तु तादात्म्य-सम्बन्ध से संबद्ध तत्त्व हैं। किन्तु विश्वनाथ कविराज का यहां वास्तविक अभिप्राय संभवतः कुछ और है। 'कैश्चित् प्रमातृभिः स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः'-इस पद-संदर्भ में सर्वप्रथम तो रसप्रमाता के परिमित प्रमातृभाव के विगलित होने का अर्थ अन्तर्निहित है क्योंकि तभी रसप्रमाता के रसानुभवकालीन लोकोत्तर व्यक्तित्व का संकेत किया जा सकता है जैसा कि 'कैश्चित्' इस पद के द्वारा किया भी गया है। इस प्रकार 'स्वाकारवदभिन्नत्वेन' आदि के अर्थ-रहस्य में जो बात झलकती है वह यह है-जैसे स्वप्रकाशरूप आत्मतत्त्व का उसके आकार अर्थात् स्वरूपानन्द के साथ कोई भेद नहीं वैसे ही स्वप्रकाशरूप रस का उसके आकार अथवा चमत्कारात्मक आस्वाद के साथ कोई भेद नहीं। 'सहृदय सामाजिकों को रसास्वाद मिला करता है'—इसका यह रहस्य है कि 'सहृदय सामाजिक स्वप्रकाशानन्दरूप आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किया करते हैं।' यहां यह अभिप्राय भी संगत है-जैसे भिन्न-भिन्न प्रमाताजनों में स्वप्रकाशानन्दमय आत्मतत्त्व अभिन्न है वैसे ही भिन्न-भिन्न सहृदयों का अनुभूत रस भी भिन्न नहीं अपि तु एकरूप, एकरस, अभिन्न हुआ करता है।

अनुवाद—यद्यपि प्राचीन रसमर्मज्ञ आचार्यों का यह निर्देश कि (सहृदय सामाजिक द्वारा अनुभूत काव्य-नाट्य का) 'आस्वाद विभावादि-संवलित रत्यादि रूप काव्यार्थ से अनुविद्ध

स्यास्वादानतिरिक्तत्वमुक्तम्, तथापि 'रसः स्वाद्यते' इति काल्पनिकं भेदमुररीकृत्य कर्मकर्त्तरि वा प्रयोगः। तदुक्तम्—'रस्यमानतामात्रसारत्वात् प्रकाशशरीरादनन्य एव हि रसः' इति। एवमन्यत्राप्येवंविधस्थलेषूपचारेण प्रयोगो ज्ञेयः।

सहृदय सामाजिक के आत्मानन्द का आस्वाद है' इसी बात को सिद्ध करता है कि जिसे 'रस' कहते हैं वह 'आस्वाद' के अतिरिक्त (आस्वादभिन्न) कोई और तत्त्व नहीं किन्तु तब भी यह कहा जा सकता है कि 'रस का आस्वाद लिया जाया करता है'। 'रस का आस्वाद लिया जाया करता है'—इस कथन में 'रस' और 'आस्वाद' में भेद की कल्पना कर ली गयी है (जो कि उचित ही है क्योंकि 'राहोः शिरः' 'राहु का सिर' आदि आदि रूप से अभेद में भेद-कल्पना की ही जाया करती है)। अथवा 'रसः स्वाद्यते'—'रस का आस्वाद लिया जाया करता है'—इस उक्ति में कर्मकर्तृप्रक्रिया मान सकते हैं जिससे 'रसः स्वाद्यते' का अभिप्राय यह निकलता है कि 'रस स्वयं ही अपने स्वरूपभूत, अपने से अभिन्न आस्वाद का विषय हुआ करता है'।

वस्तुतः इसीलिये कहा भी गया है—'रस का सारतम तत्त्व तो रस्यमानता अथवा आस्वादमयता है और इसीलिये जिसे 'रस' कहते हैं वह स्वप्रकाशानन्दमय संवित्तत्त्व (आत्मतत्त्व) से भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं।' इस भांति अन्यत्र भी, जहां ऐसा प्रयोग हो 'जिसमें 'रस' और 'आस्वाद' का भेद प्रतीत हुआ करे, यही समझना चाहिये कि उपचार का-काल्पनिक भेद का-आश्रय लिया गया है (अथवा कर्मकर्तृप्रक्रिया का व्यवहार किया गया है)।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः' आदि उदाहरण दशरूपक (४·४३) का दिया है। दशरूपक की पंक्तियाँ ये हैं :

'कथं च काव्यात् स्वानन्दोद्भूतिः किमात्मा चासाविति व्युत्पाद्यते—

> 'स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः।
> विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः॥
> शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्।
> हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि॥
> अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम्।

काव्यार्थेन = विभावादिसंसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः संभेदे = अन्योन्यसंवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः स्वादः' तस्य च सामान्यात्मकत्वेऽपि प्रतिनियतविभावादिकारणजन्येन संभेदेन चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति। तद्यथा-शृङ्गारे विकासः, वीरे विस्तरः, बीभत्से क्षोभः, रौद्रे विक्षेप इति।'

अर्थात् जिसे काव्य-नाट्य का आस्वाद कहते हैं वह वस्तुतः आत्मानन्द का ही विलास है। यह आस्वाद तभी संभव है जबकि काव्य-नाट्य के सामाजिक के हृदय में विभावादि-संवलित रत्यादिरूप काव्यार्थ की महिमा से सहृदयता का स्रोत उमड़ पड़े और स्वगत-परगत का भेदभाव मिट जाय।

यद्यपि दशरूपककार की यह उक्ति 'रस' को 'आस्वाद' (स्वाद) रूप सिद्ध करने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करती किन्तु इसके आधार पर विश्वनाथ कविराज ने जो 'रस' और 'आस्वाद' की अभिन्नता प्रमाणित की है उसमें कोई ऐसी विप्रतिपत्ति नहीं, जो खटकनेवाली हो। दशरूपककार की उपर्युक्त उक्ति में तो 'रस' और 'स्वाद' के भेद का ही पता चलता है अन्यथा अष्टविध रस और चतुर्विध स्वाद के उल्लेख का क्या अभिप्राय! संभवतः कविराज विश्वनाथ को दशरूपककार

(आस्वादस्वरूप रस और व्यञ्जनावृत्ति का तादात्म्य)

नन्वेतावता रसस्याज्ञेयत्वमुक्तं भवतीति व्यञ्जनायाश्च ज्ञानविशेषत्वाद् द्वयोरैक्यमापतितम्। ततश्च—

स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः।
यथा दीपोऽन्यथाभावे को विशेषोऽस्य कारकात् ॥'

इत्युक्तदिशा घटप्रदीपवद्व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः पार्थक्यमेवेति कथं रसस्य व्यङ्ग्यतेति चेत्, सत्यमुक्तम्। अत एवाहुः-'विलक्षण एवायं कृतिज्ञप्तिभेदेभ्यः स्वादनाख्यः कश्चिद्व्यापारः। अत एव हि रसनास्वादनचमत्करणादयो विल-

---

उपर्युक्त पंक्तियों में केवल प्रथम पंक्ति का ही ध्यान है जिसमें उन्हें 'स्वाद' पद 'रस' का समानार्थक प्रतीत हुआ है।

अनुवाद—यहाँ एक प्रश्न उठता है और वह यह है कि यदि 'रस' और 'आस्वाद' की उपर्युक्त एकरूपता मान ली जाय और 'रस' अथवा 'आस्वाद'को स्वप्रकाशानन्दरूप संवित् स्वीकार कर लिया जाय तब यह कैसे संभव है कि रस को अनुभव का विषय सिद्ध किया जाय! (यह कैसे संभव है कि रस अथवा आस्वाद प्रकाशरूप भी हो जाय और प्रकाश अथवा संवेदन का विषय भी बन जाय!) यहाँ यह तो कहा नहीं जा सकता कि रस अथवा आस्वाद व्यञ्जना द्वारा वेद्य है क्योंकि जैसे रस अथवा आस्वाद एक ज्ञानविशेष है वैसे ही व्यञ्जना भी एक ज्ञानविशेष ही है और ऐसा होने से यही सिद्ध है कि रस और व्यञ्जना दोनों एक अभिन्न तत्त्व हैं। रस और व्यञ्जना जब एक तत्त्व हुये तब क्यों कर रसको व्यङ्ग्य—व्यञ्जनावेद्य—कहा जा सके। रस को तो तभी व्यङ्ग्य कह सकते हैं जब व्यञ्जना उससे एक पृथक् तत्त्व हो। व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव तो वस्तुभेद में ही संभव है जैसे कि घट और प्रदीप में जो व्यङ्ग्य,व्यञ्जकभाव है वह इसीलिये है क्योंकि व्यञ्जक प्रदीप और व्यङ्ग्य घट परस्पर भिन्न वस्तुयें हैं। तभी तो कहा गया है—

'व्यञ्जक वह तत्त्व है जो अपने आप को प्रकाशित करते हुये अपने से भिन्न किसी पूर्वसिद्ध वस्तु को प्रकाशित किया करे। उदाहरण के लिये 'प्रदीप' को इसीलिये व्यञ्जक कहा जाया करता है क्योंकि वह अपने आप को प्रकाशित करते हुये, अपने से भिन्न घट-पटादि को प्रकाशित किया करता है। यदि ऐसी बात न हो तो 'कारक' रूप हेतु से 'व्यञ्जक' रूप हेतु का भेद ही क्या रह जाय?' (ध्वन्यालोक)

यह प्रश्न तो संगत सा लगता है। तभी वस्तुतः रसमर्मज्ञ-शिरोमणि आचार्य अभिनवगुप्त ने ऐसा कहा है—

'आस्वादन रूप व्यापार एक सर्वथा विलक्षण, अलौकिक, अनिर्वचनीय व्यापार है। यह व्यापार जैसे कारकहेतु के कृतिरूप व्यापार से विलक्षण है वैसे ही ज्ञापक (व्यञ्जक) हेतु के ज्ञप्ति (व्यञ्जक) रूप व्यापार से भी विलक्षण है। वस्तुतः इसीलिए इस आस्वादनात्मक व्यापार को (जिससे रस अथवा आस्वाद संभव है) रसन, आस्वादन, चमत्करण आदि-आदि अलौकिक शब्दों द्वारा सूचित किया जाया करता है।'

अब यदि 'रस' को व्यङ्ग्य कहा जाय, जैसा कि रसमर्मज्ञ आलङ्कारिकों द्वारा कहा ही जाया करता है तो वहाँ यही अभिप्राय समझना चाहिए कि काव्य-नाट्य के परमार्थभूत रसभावादिरूप अर्थ की प्रतीति के लिये व्यञ्जना नाम की एक ऐसी अलौकिक वृत्ति को स्वीकार करना है जो अभिधा और लक्षणा किंवा तात्पर्य नामक वृत्तियों से सर्वथा

क्षणा एव व्यपदेशाः' इति अभिधादिविलक्षणव्यापारमात्रप्रसाधनग्रहिलैरस्माभी रसादीनां व्यङ्ग्यत्वमुक्तं भवतीति।

विलक्षण वृत्ति हुआ करती है। रस 'व्यङ्ग्य' है—इसका रहस्य यही है कि रस (एक विलक्षण रसनात्मक व्यापार का विषय है। और यह रसनात्मक व्यापार और कुछ नहीं अपितु, अनिर्वचनीय व्यञ्जना-व्यापार है)।

विमर्श—रस के 'ज्ञान' रूप होने और 'व्यङ्ग्य' (व्यञ्जना-वेद्य) कहे जाने में जिस अनुपम वृत्ति का निर्देश यहाँ साहित्य-दर्पणकार ने किया है उसे प्राचीन रसवेदी आचार्य अभिनवगुप्त ने ही निर्दिष्ट कर दिया है। और 'रसना' रूप प्रतीति उत्पन्न हुआ करती है तथा इस रसनात्मक प्रतीति में व्यञ्जना का ही हाथ रहा करता है।

(तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा। सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव—

—ध्वन्यालोकलोचन—२ या उद्योत)

इस युक्ति से 'रस' की व्यङ्ग्यता की अनुपपत्ति का भी निराकरण आचार्य अभिनवगुप्त का ही किया हुआ है। 'रस' व्यङ्ग्य है, इसका अभिप्राय यही है कि काव्य-नाट्य की अभिधादि-विलक्षण व्यञ्जना शक्ति की ही यह महिमा है जिससे रसनात्मक प्रतीति को जन्म मिला करता है। इस प्रकार यदि यह कहा जाय कि 'रस व्यङ्ग्य है' तो यही समझा जायगा कि रसनात्मक प्रतीति व्यञ्जना-जन्य हुआ करती है। इस सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त का और भी कथन है—

भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत् किञ्चित्। भावकत्वमपि समुचितगुणालंकारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते। किमेतदपूर्वम्? काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते, तत्र भवतैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरेणार्प्यमाणत्वे तदयोगात्। द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्—'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यंक्त' इत्यत्र। तस्माद् व्यंजकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालंकारौचित्यादिकयेतिकर्त्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति, इति त्र्यंशायामपि भावनायां कारणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपि तु घनमोहान्ध्यसंकटतानिवृत्तिद्वारेणास्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तरविकासात्मनि भोगे कर्त्तव्ये लोकोत्तरो ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः तच्चेदं भोगकृत्त्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम्। रस्यमानतोदितचमत्कारानतिरिक्तत्वाद् भोगस्येति।'

(ध्वन्यालोकलोचन—२ य उद्योत)

अर्थात् रस प्रक्रिया का यदि विश्लेषण किया जाय तो जो बात अन्ततोगत्वा सिद्ध होती है वह यह है—

काव्य-नाट्य रसभावक हुआ करता है। काव्य-नाट्य में एक विचित्र शक्ति रहा करती है जो कि उसकी भावना अथवा भावकता शक्ति है। काव्य-नाट्य की यह भावना वस्तुतः उसकी व्यञ्जना है अन्य कुछ नहीं। काव्य-नाट्य की भावना में भी साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता के तीनों अंशों के स्वरूपों का स्पष्ट पता चला करता है। रस अथवा आनन्दमय अनुभव तो इसका साध्य है और व्यञ्जना-साधन। इतिकर्त्तव्यता (उपकारकतत्त्व) के रूप में भी काव्य-नाट्य की ही व्यञ्जकता सामग्री (अर्थात् गुण—अलंकार आदि की औचित्यपूर्ण योजना) दिखाई दिया करती है। यह काव्य-नाट्य की व्यञ्जना ही है जो कि विभावादि की साधारणीकृति से लेकर रसनारूप प्रतीति

(रस की आनन्दरूपता और शोकस्थायिभावात्मक करुण : सामञ्जस्य)

ननु तर्हि करुणादीनां रसानां दुःखमयत्वाद्रसत्वं (तदुन्मुखत्वं) न स्यादित्युच्यते—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥ ४ ॥

आदिशब्दाद् बीभत्सभयानकादयः ।

(करुण आदि के 'रस'—आनन्दास्वाद-रूप होने में अन्य प्रमाण)

तथाऽप्यसहृदयानां सुखमुद्रणाय पक्षान्तरमुच्यते—

तक स्फुरित रहा करती है। 'रस' और 'रसना' रूप प्रतीति में औपचारिक अभेद मानकर रस को व्यञ्जना-जन्य कहने में कोई आपत्ति नहीं।

अनुवाद—यदि उपरिनिर्दिष्ट विचारधारा के अनुसार यही सिद्ध है कि रस आनन्दरूप है तो प्रश्न यह उठता है कि करुण, जिसमें शोकरूप स्थायीभाव की भावना अथवा रसना हुआ करती है, रस है या नहीं? इसका समाधान यह है—

'जब कि सहृदय सामाजिकों को करुण आदि रसों में भी अनिर्वचनीय आनन्द ही मिला करता है तब तो यही सिद्ध है कि करुण आदि भी रस ही हैं, आनन्दरूप आस्वाद ही हैं।'

यह 'करुण आदि' कहने का यह अभिप्राय है कि जैसे सहृदयों के अनुभव के आधार पर शोक-स्थायिभावात्मक करुण 'रस' है वैसे ही जुगुप्सा-स्थायिभावात्मक बीभत्स अथवा भय-स्थायिभावात्मक भयानक आदि भी 'रस' ही हैं—काव्य-नाट्य के आनन्दात्मक चमत्कार ही हैं।

विमर्श—शृङ्गार की भाँति करुण भी एक आनन्दात्मक आस्वाद है—यह करुण-मीमांसा प्राचीन रसमर्मज्ञों की परम्परा से चली आयी है। 'शोकः श्लोकत्वमागतः' की चिरप्रसिद्ध सूक्ति भी यही सिद्ध किया करती है कि करुण दुःखात्मक नहीं किन्तु एकमात्र सुखात्मक अनुभव है। महाकवि भवभूति की यह स्मरणीय उक्ति—

'एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम् ॥'

करुण के ही आनन्द को एकमात्र काव्य-नाट्य का अनिर्वचनीय आनन्द माना करती है।

यहाँ विश्वनाथ कविराज ने रस के आह्लाद रूप और करुण के शोकास्वाद रूप की मान्यता में जो अनुपपत्ति दूर की है उसमें लौकिक शोकानुभव से अलौकिक शोकास्वाद—लोक-करुण से काव्य-करुण—का वैलक्षण्य भी स्पष्ट रूप से झलक रहा है।

अनुवाद—यद्यपि करुणादि रसों के आनन्दात्मक होने में सहृदयों के स्वानुभव को प्रमाण मानना सर्वथा युक्तियुक्त है किन्तु सम्भव है कि वे लोग, जो सहृदय नहीं, ऐसा न मानें। इसलिये, ऐसे लोगों को निरुत्तर करने के लिये, करुणादि की रसरूपता की सिद्धि में दूसरा प्रमाण दिया जा रहा है—

किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः ।

नहि कश्चित् सचेता आत्मनो दुःखाय प्रवर्त्तते। करुणादिषु च सकलस्यापि साभिनिवेशप्रवृत्तिदर्शनात् सुखमयत्वमेव।

(करुणादि रसों के दुःखात्मक मानने में महान् अनर्थ)

अनुपपत्त्यन्तरमाह—

तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ॥ ५ ॥

करुणरसस्य दुःखहेतुत्वे करुणरसप्रधानरामायणादिप्रबन्धानामपि दुःखहेतुताप्रसङ्गः स्यात्।

'करुणादि रस का अनुभव तो वस्तुतः सब के लिये आनन्दात्मक ही अनुभव हुआ करता है क्योंकि यदि ऐसी बात न होती तो असहृदय की तो बात ही क्या! कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना भी सहृदय क्यों न हो, करुणादि रस के आस्वाद के लिये लालायित ही क्यों हुआ करता, जैसाकि वस्तुतः हुआ करता है?'

सहृदय होने अथवा असहृदय होने की बात तो दूर रहे, कोई भी व्यक्ति जो समझदार हो, अपने आप अपने पास शोक-सन्ताप को क्यों बुलाये? अब जब कि करुणादि रस के आस्वाद के प्रति सामाजिक मात्र का आग्रह दिखायी पड़ता है तब तो यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि करुणादि रस भी आनन्दमय, सुखास्वादरूप ही हुआ करते हैं।

विमर्श—'लोक-करुण में हृदयोद्वेग हुआ करता है और काव्य-करुण में हृदयसम्वाद। लौकिक शोक में कोई भी व्यक्ति तन्मय होना नहीं चाहता। अलौकिक अर्थात् काव्य-नाट्योत्थापित शोकवासना में सभी तन्मय हुआ करते हैं। लौकिक करुण में आस्वाद्यमानता कहां? काव्य-करुण एकमात्र आस्वादसार हुआ करता है' यह विचारधारा जो कि विश्वनाथ कविराज ने यहाँ प्रवाहित की है 'रस' अथवा काव्यात्मक किंवा कलात्मक अनुभूति की बड़ी सुन्दर विचारधारा है जिसका उद्गम रसध्वनिवादी प्राचीन आचार्यों जैसे कि आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त का ही मनन-चिन्तन है जैसा कि निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है—

'शोक इति। क्रौञ्चस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन साहचर्यध्वंसेनोत्थितो यः शोकः स्थायिभावो निरपेक्षविभावत्वाद्विप्रलम्भशृङ्गारोचितरतिस्थायिभावादन्य एव, स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः, करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नः.........'। (ध्वन्यालोकलोचन : १ म उद्योत)

अनुवाद—साथ ही साथ करुणादि रसों के दुःखात्मक मानने में जो सबसे बड़ी अनुपपत्ति है उसका भी निर्देश कर देना आवश्यक है—

'करुणादि को यदि दुःखात्मक मान लें, तब रामायणादि महान् काव्य अथवा नाट्य-ग्रन्थों को दुःखदायी मानना पड़ जायगा! तात्पर्य यह है कि रामायणादि काव्य-प्रबन्ध अथवा नाट्य-प्रबन्ध तो सबके लिये रसात्मक-आनन्द-निष्यन्दी-प्रबन्ध हैं और इन प्रबन्धों का जो रस है वह करुण रस है। अब यदि करुण को दुःखात्मक मान लिया जाय तब तो यह भी मानना पड़ेगा कि करुणरसप्रधान रामायणादि प्रबन्ध सहृदय सामाजिक के लिये दुःखदायक, दुःखात्मक प्रबन्ध हैं। किन्तु ऐसा भला कौन मानने लगे?

(शोकस्थायिभावात्मक करुण में आनन्दानुभव की सिद्धि)

ननु कथं दुःखकारणेभ्यः सुखोत्पत्तिरित्याह—

हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात् ।
शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः ॥ ६ ॥
अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात् ।
सुखं सञ्जायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः ॥ ७ ॥

विमर्श—करुण के आनन्दात्मक अनुभव होने में विश्वनाथ कविराज ने जो युक्ति दी है उस पर 'दशरूपक' की इस विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है—

'ननु च युक्तं शृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु काव्यार्थसम्भेदादानन्दोद्भव इति, करुणादौ तु दुःखात्मके कथमिवासौ प्रादुष्यात्? तथा हि-तत्र करुणात्मककाव्यश्रवणाद् दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति, न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते। सत्यमेतत् किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणाम्, अन्यश्च लौकिकात् करुणात् काव्यकरुणः, तथा ह्युत्रोत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तयः। यदि च लौकिककरुणवद् दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात्तदा न कश्चिदत्र प्रवर्तेत, ततः करुणैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत्। अश्रुपातादयश्चेतिवृत्त-वर्णनाकर्णनेन विनिपातितेषु लौकिकवैक्लव्यदर्शनादिवत् प्रेक्षकाणां प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते, तस्माद्रसान्तरवत् करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव।' (दशरूपक-४ थे प्रकाश)

अर्थात् शृङ्गारादि रसों की आनन्दात्मकता तो निःसन्दिग्ध ही है किन्तु करुण रस का आनन्दात्मक होना भी स्वयं सिद्ध है। काव्य का करुण 'रस' है। लोक का करुण रस नहीं। यदि काव्य का करुण 'रस' न होता, आनन्दात्मक अनुभव रूप न माना जाता, तब रामायणादि करुणरसप्रधान महाकाव्यों के प्रति लोगों की अभिरुचि क्योंकर दिखायी देती? रामायण का करुण यदि आनन्दचमत्कार है तो जहां भी करुण की अभिव्यक्ति है वहाँ आनन्द की ही अनुभूति हुआ करती है। काव्य-करुण के आँसू आनन्द के आँसू हुआ करते हैं। सहृदय सामाजिकों का संवेदन ही करुण के आनन्दात्मक होने का प्रमाण है।

अनुवाद—यह ठीक है कि करुण का स्थायीभाव शोक है और शोक केवल दुःख का ही जनक हो सकता है न कि सुख का। किन्तु काव्य-नाट्य में शोक से सुख मिला करता है (और करुण आनन्दचमत्कार है) यह भी एक परम तथ्य है और इसका विचार इस प्रकार है—

'भले ही शोक-विषाद और हर्ष-प्रहर्ष के उन-उन लौकिक कारणों से प्रतिदिन के जीवन में लोगों को दुःख और सुख मिला करें किन्तु लोक-जीवन के वे ही हर्ष-विषाद और उनके वे ही कारण जब काव्य-नाट्य की वर्णना के विषय बन जाया करते हैं और सहृदय सामाजिक के हृदय की शोकादि वासनाओं को उद्बुद्ध करने लगते हैं तब उनसे सुख अथवा आनन्द की ही सृष्टि हुआ करती है और यह बात ऐसी है जिसमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं (क्योंकि जैसे लोक और काव्य-नाट्य परस्पर विलक्षण हैं वैसे ही लोक के शोक-हर्ष और काव्य-नाट्य के शोक-हर्ष भी तो एक नहीं)।

ये खलु रामवनवासादयो लोके 'दुःखकारणानि' इत्युच्यन्ते त एव हि काव्यनाट्यसमर्पिता अलौकिकविभावनव्यापारवत्तया कारणशब्दवाच्यतां विहाय अलौकिकविभावशब्दवाच्यत्वं भजन्ते। तेभ्यश्च सुरते दन्तघातादिभ्य इव सुखमेव जायते। अतश्च 'लौकिकशोकहर्षादिकारणेभ्यो लौकिकशोकहर्षादयो जायन्ते' इति लोक एव प्रतिनियमः। काव्ये पुनः 'सर्वेभ्योऽपि विभावादिभ्यः सुखमेव जायते' इति नियमान्न कश्चिद्दोषः।

(काव्य-नाट्य के आँसू आनन्द के आँसू हुआ करते हैं)

कथं तर्हि हरिश्चन्द्रादिचरितस्य काव्यनाट्ययोरपि दर्शनश्रवणाभ्यामश्रुपातादयो जायन्त इत्युच्यते—

अभिप्राय यह है कि लोक-जीवन की दृष्टि से राम-वनवास आदि-आदि घटनायें दुःखद घटनायें ही हैं किन्तु ये ही घटनायें जब काव्य-नाट्य के क्षेत्र में उतारी जाया करती हैं तब दुःख देना तो दूर रहा, सुख देने लग जाती हैं। काव्य में लोक का यह आमूलचूल परिवर्तन इसलिये हुआ करता है क्योंकि लोक में तो वनवासादि घटनायें दुःख का 'कारण' हुआ करती हैं और ऐसी कही भी जाया करती हैं किन्तु काव्य-नाट्य में आते ही इनमें विभावन की शक्ति का संचार हो उठता है जिससे सहृदय सामाजिक अपनी शोकवासना का एक अलौकिक आस्वाद लेने लग जाता है और इसीलिये इन्हें एक अलौकिक शब्द जैसे कि 'विभाव' शब्द से संकेतित किया जाया करता है। काव्य-नाट्य की ये विभावरूप दुःखद घटनायें एकमात्र आनन्द की ही सृष्टि किया करती हैं। दुःख-हेतु से सुख की सृष्टि कदाचित् लोक में भी दिखायी देती है जैसे कि रतिप्रसङ्ग में दन्तक्षत और नखक्षत दुःख नहीं अपितु सुख के ही देनेवाले हुआ करते हैं। निष्कर्ष यह निकलता है कि लोक का नियम कुछ और है और काव्य-नाट्य का और। लोक का नियम है—लौकिक दुःख अथवा सुख के जनक तत्त्व लोक-जीवन में दुःख अथवा सुख दिया करते हैं। इसके विपरीत काव्य-नाट्य (कला) का नियम है—लोकजीवन की समस्त दुःखद किंवा सुखद वस्तुयें काव्य-नाट्य में आते ही विभावादिरूप में बदल जाया करती हैं और एकमात्र परमानन्द-सन्दोहरूप रस की सृष्टि किया करती हैं। इस प्रकार जब कि काव्य लोक से विलक्षण तत्त्व है तब इसमें क्या आपत्ति कि काव्य की शोक-वर्णना से आनन्द भावना हुआ करती है ?

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार ने लोक और काव्य के वैलक्षण्य के आधार पर लौकिक शोक और अलौकिकशोक, लोक-करुण और काव्यकरुण का परस्पर वैलक्षण्य सिद्ध किया है जो कि सर्वथा युक्तियुक्त किंवा प्राचीन आचार्यों की विचारधारा द्वारा प्रमाणित है। यहाँ करुण की रसरूपता की सिद्धि का एकमात्र अभिप्राय रस के स्वरूप का सर्वतोभद्र उन्मीलन है। रस की अनिर्वचनीयता जितनी करुण की रसरूपता की सिद्धि में सिद्ध होती है उतनी शृङ्गार की रसरूपता की सिद्धि में नहीं होती।

अनुवाद—उपर्युक्त रीति से करुण यदि आनन्दरूप है तो ऐसा क्यों है कि काव्य-नाट्य में उपस्थापित कतिपय करुण-चरित, जैसे कि महाराज हरिश्चन्द्र आदि के ही चरित, के देखने अथवा सुनने से सामाजिकों की आँखों से आँसू गिरने लगते हैं ? इसका उत्तर यह है—

अश्रुपातादयस्तद्वद् द्रुतत्वाच्चेतसो मताः

(रसास्वाद का अधिकार : समान अथवा विशिष्ट ?)

तर्हि कथं काव्यतः सर्वेषामीदृशी रसाभिव्यक्तिर्न जायत इत्यत आह—

न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम् ॥ ८ ॥

वासना चेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः, तत्र यद्याद्या न स्यात्तदा श्रोत्रियजरन्मीमांसकादीनामपि स स्यात्। यदि द्वितीया न स्यात्तदा यद्रागिणामपि केषाञ्चिद्रसोद्बोधो न दृश्यते तन्न स्यात्।

उक्तञ्च धर्म्मदत्तेन—

'सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तःकाष्ठकुड्यश्मसन्निभाः' ॥ इति ।

'जैसे लोकगत हृदयविदारक दृश्य के देखने अथवा सुनने से लोगों का हृदय पिघल जाता है और उनकी आँखों से दुःख के आँसू निकल पड़ते हैं वैसे ही काव्य-नाट्यगत करुण दृश्य के देखने अथवा सुनने से भी सहृदय सामाजिकों का हृदय पिघल पड़ता है और उनकी आँखों से आनन्द के स्रोत बने आँसू बह चलते हैं।'

अनुवाद—यहाँ यह भी प्रश्न स्वाभाविक है कि जब कि रस आनन्दरूप-आह्लादमय-हुआ करता है तो उन सभी लोगों को जो कि काव्य अथवा नाट्य के पढ़ने अथवा देखने वाले हुआ करते हैं, क्योंकर काव्य अथवा नाट्य से यह आह्लादानुभव, यह आनन्दास्वाद नहीं मिलता करता ? इसका भी समाधान है—

'जब तक काव्य-नाट्य के सामाजिकों में रत्यादिरूपवासना—जन्मजन्मान्तर से संचित सूक्ष्मरत्यादिसंस्कार—न हो तब तक उन्हें रत्यादि का आस्वाद (रस) भी क्योंकर मिलने लगे।'

यहाँ अभिप्राय यह है—रसास्वाद के लिये 'वासना' का होना नितान्त आवश्यक है। यह 'वासना' दो प्रकार की हुआ करती है—पहली आधुनिक (इदानीन्तनी) और दूसरी प्राचीन (प्राक्तनी)। रसास्वाद के लिये जैसे पहली वासना आवश्यक है वैसे ही दूसरी भी। क्योंकि यदि पहले प्रकार की वासना रसास्वाद के लिये आवश्यक न हो तब तो शुष्कहृदय श्रोत्रिय और वेदवादरत मीमांसापण्डितों को भी रसास्वाद हुआ करे ! इसी प्रकार यदि दूसरे प्रकार की वासना को रसास्वाद की भूमिका न माना जाय तब इस प्रकार की घटना जैसे कि रसिकहृदय सामाजिकों में भी रसास्वाद की असंभावना आदि न घटा करे। वस्तुतः इसीलिये आलङ्कारिक धर्मदत्त ने कहा है—

'रस का आस्वाद तो उन्हीं सामाजिकों को हुआ करता है जिनके हृदय में रत्यादि-वासनाओं का भण्डार भरा है। उन्हें भला रस का आस्वाद कैसे जिनमें वासना ही नहीं ! ऐसे लोग सामाजिक नहीं अपितु रंगशाला के खम्भे, दीवार और पत्थर के समान सर्वथा काव्यार्थानुभव से वञ्चित ही रहने योग्य हैं।

विमर्श—मनुष्य मात्र के चित्त में चित्र-विचित्र वासनायें विराजमान हैं किन्तु सभी रसास्वाद के भागी नहीं हुआ करते। रसास्वाद के भागी तो वे लोग ही हुआ करते हैं जिनमें पूर्वजन्म की रत्यादि-वासना (प्राक्तनी वासना) रहा करती है जैसा कि महाकवि कालिदास ने स्पष्ट कहा है—

(रसस्वाद की भूमिका : साधारणीकरण : तन्मयीभवन)

ननु कथं रामादिरत्याद्युद्बोधकारणैः सीतादिभिः सामाजिकरत्याद्युद्बोध इत्युच्यते—

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः ।
तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः ॥ ९ ॥
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ।

'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥'

'इदानीन्तनी' वासना को भी रसास्वाद के लिये आवश्यक मानना युक्तियुक्त ही है। यदि सबको काव्य-नाट्य के प्रति आरंभिक औत्सुक्य से लेकर अन्तिम अभिनिवेश तक का समान अवसर मिला करता तो वैयाकरणों और मीमांसकों को शुष्कहृदय न कहा जाया करता। वैयाकरणों और मीमांसकों को रसास्वाद नहीं मिला करता—इसका अभिप्राय यही है कि—जब इस जन्म में काव्यार्थभावना का अवसर न मिले तो भावी जन्म भी रसास्वादशून्य ही व्यतीत होंगे! इस जन्म में वैयाकरणों और मीमांसकों के लिए काव्यार्थभावना के अवसर के अभाव का कारण मध्यकालीन भारतीय शिक्षाप्रणाली में खोजा जा सकता है। विश्वनाथ कविराज का यह संकेत एक विचारणीय संकेत है।

अनुवाद—यह सब तो हुआ किन्तु एक प्रश्न यह है—नाट्य अथवा काव्य में उपस्थापित रामादि नायकों के रत्यादिभावों के उद्बोधन-कारण सीतादि नायिकाओं के दर्शन अथवा श्रवण से सामाजिक जन के हृदय की रत्यादिवासनायें क्योंकर उद्बुद्ध हो सकती हैं? इसका समाधान इस प्रकार है—

'काव्य-नाट्य में वर्णित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों में 'साधारणीकरण' की अलौकिक शक्ति रहा करती है। इस शक्ति की ही यह महिमा है कि प्रत्येक सामाजिक अपनी-अपनी वैयक्तिक सीमाओं से परे पहुँच जाता है और अपने आपको उन महावीर राम आदि नायकों के समान, वस्तुतः उनसे अभिन्न मानने लग जाता है जिनकी समुद्र-संतरण, रावणवध आदि-आदि लीलायें लोक-जीवन में अत्यन्त असाधारण, लोकोत्तर मानी गयी हैं और वस्तुतः हैं भी।'

विमर्श—काव्यनाट्य के सामाजिकों को 'सहृदय' कहा जाया करता है। वस्तुतः काव्य-नाट्य की यह महिमा ही है जो लोगों को सहृदय बनाया करती है। काव्यनाट्य की यह महिमा उसकी व्यञ्जकता शक्ति है जो उससे प्रभावित होनेवालों के भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व को एक सहृदय व्यक्तित्व के रूप में बदल दिया करती है। लोकगत रत्यादि भावों की कारण-सामग्री से भिन्न-भिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न प्रकार का अनुभव हुआ करता है किन्तु काव्यनाट्यगत विभावादि-सामग्री रसरूप अनुभव को ही जन्म देती है। विभावादि में साधारणीकृति की शक्ति वस्तुतः काव्य-नाट्य की व्यञ्जनाशक्ति ही है, अन्य कुछ नहीं। यहाँ विश्वनाथ कविराज ने व्यञ्जना का नामोल्लेख न कर उसके महाप्रभाव का उल्लेख किया है जिससे व्यञ्जना के वैभव का पता चल जाय और उसके स्वरूप-साक्षात्कार के लिये पाठक उत्कंठित हो जायें।

(काव्य-नाट्य के नायक और सामाजिक जन का साधारणीकरण)

ननु कथं मनुष्यमात्रस्य समुद्रलङ्घनादावुत्साहोद्बोध इत्युच्यते—

उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः ॥ १० ॥
नृणामपि समुद्रादिलङ्घनादौ न दुष्यति ।

(सामाजिकों की रत्यादिवासनाओं और नायकों के रत्यादिभावों का साधारणीकरण)

रत्यादयोऽपि साधारण्येनैव प्रतीयन्त इत्याह—

साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते ॥ ११ ॥

रत्यादेरपि स्वात्मगतत्वेन प्रतीतौ सभ्यानां व्रीडातङ्कादिर्भवेत् । परगतत्वेन त्वरस्यतापातः ।

अनुवाद—यहाँ यह पूछा जा सकता है कि काव्य-नाट्य के सामाजिकों के लिये जो कि लोकजीवन में साधारण मनुष्य हुआ करते हैं, यह कैसे संभव है कि महावीर राम आदि नायकों की भांति समुद्रलंघन आदि वीर कर्मों के अनुष्ठान में उत्साह का भाव उद्बुद्ध हो जाय ! किन्तु इसका उत्तर सरल है और वह यह है—

'जब कि काव्य-नाट्य की 'साधारणीकृति' की शक्ति से सामाजिकों के हृदय में महावीर रामादि नायकों के साथ अभेद अथवा तादात्म्य की भावना जाग उठी तब यदि प्रत्येक सामाजिक का हृदय, भले ही वह लोक-जीवन का एक साधारण मानव-हृदय हो, समुद्रसंतरण सरीखे भयंकर वीरकर्मों के प्रति भी उत्साहादि महाभावों से भर उठे और असंभव को संभव बनाने की शक्ति का अनुभव करने लगे तो आश्चर्य क्या और आपत्ति क्या ?'

विमर्श—यहाँ रसिक के साधारणीकृत व्यक्तित्व का जो निरूपण है वह अत्यन्त सुन्दर किंवा महत्त्वपूर्ण है । सहृदय सामाजिक की रामादि नायकों के साथ यह तादात्म्य-स्थापना रसास्वाद की भूमिका तो है ही साथ ही साथ 'रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्' के सरस कर्त्तव्योपदेश की भी भूमिका है ।

अनुवाद—काव्य-नाट्य की 'साधारणीकृति' की शक्ति किस प्रकार रामादिगत रत्यादि भावों को भी सामाजिकों की रत्यादिवासनाओं से एकरूप-एकरस-बना दिया करती है—इसका विचार किया जा रहा है—

'जैसे काव्य-नाट्य के 'साधारणीकरण' व्यापार से सामाजिकों में, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, समुद्रलंघन आदि के प्रति उत्साहादि का महाभाव जाग उठता है वैसे ही उनमें रत्यादिभाव भी उद्बुद्ध हो जाया करते हैं ।'

यहाँ आशय यह है—काव्य-नाट्य में उपस्थापित रत्यादिभाव न तो सामाजिकों को अपने वैयक्तिक रत्यादिभाव के रूप में प्रतीत होते हैं और न रामादि नायकों के ही वैयक्तिक रत्यादि भाव के रूप में । क्योंकि यदि कोई भी सामाजिक काव्य-नाट्य में वर्णित रत्यादि भाव को अपना (स्वगत) रत्यादि भाव मानने लगे तब उसे, रसास्वाद मिलना तो दूर रहा उलटे लज्जित होना पड़ेगा (यदि उसके पास कोई बड़ा-बूढ़ा हो) अथवा सशङ्क बने बैठना पड़ेगा (यदि कोई और उसकी बराबरी का दिखायी दे) अथवा आतङ्कित रहना पड़ेगा । इसके अतिरिक्त यदि सामाजिकों ने इन रत्यादि भावों को

(विभावादि का साधारणीकरण)

विभावादयोऽपि प्रथमतः साधारण्येन प्रतीयन्त इत्याह—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते॥ १२॥

नायकादिगत (परगत) ही मान लिया तब उन्हें उनसे रसास्वाद तो मिलने से रहा, उल्टे उनके प्रति उदासीनता और उपेक्षा ही उत्पन्न हो जायगी।

विमर्श—काव्यनाट्य से अभिव्यक्त रत्यादिभाव क्योंकर रसरूप हुआ करते हैं और रसरूप होने से क्योंकर स्वगत नहीं माने जा सकते-इसका निम्न पंक्तियों में, जो कि आचार्य अभिनवगुप्त की अभिनव भारती (नाट्यशास्त्र ; षष्ठाध्याय) का संक्षेप है, एक सुन्दर निर्देश है—

'स्वैकगतानां च सुखदुःखसंविदामास्वादे यथासंभवं तदपगमभीरुतया वा, तत्परिरक्षाव्यग्रतया वा, तत्सदृशार्जिजीषया वा तज्जिहासया वा, तत् प्रचिख्यापयिषया वा, तद्गोपनेच्छया वा प्रकारान्तरेण वा संवेदनान्तरसमुद्गमः एव परमो विघ्नः।'

(काव्यानुशासन टिप्पण : २ य अध्याय)

अर्थात् यदि सामाजिक रत्यादि भावों को 'स्वगत' मान लें तब उसे 'रस' नहीं मिल सकता। रत्यादि भावों के 'स्वगत' मानने से रसास्वाद में अड़चन पहुँचती है। यदि काव्यनाट्य-वर्णित 'रति' को स्वगत मान लिया गया, तब रस मिलना तो दूर रहे, सभी सामाजिक इस बात से डरते रहेंगे कि उनका आनन्द अब छिना तब छिना, इस बात के लिये व्याकुल रहेंगे कि उनका यह आनन्द कैसे सुरक्षित रहे, कैसे और भी अधिक मात्रा में उपार्जित किया जाय अथवा कैसे औरों पर प्रकट किया जाय।

इसी प्रकार रत्यादि भावों के 'परगत' मानने में भी रसास्वाद की संभावना नहीं हो सकती। कहा भी गया है—

'परगतत्वनियमभाजामपि सुखदुःखानां संवेदने नियमेन स्वात्मनि सुखदुःखमोहमाध्यस्थ्यादिसंविदन्तरोद्गमनसंभावनादवश्यंभावी विघ्नः।' (काव्यानुशासन टिप्पण : २ य अ.)

अर्थात् रत्यादिभावों के 'परगत' मान लेने पर रस नहीं मिल सकता अपितु रसास्वाद के एक विघ्न से मुठभेड़ अवश्य हो सकती है। यदि सहृदय सामाजिक काव्य-नाट्योत्थापित रत्यादिभावों को रामादिनायकगत माना करें तब राग-द्वेष-मोह के वशीभूत होता रहेगा न कि आनन्दास्वाद के!

अनुवाद—काव्य-नाट्य के 'साधारणीकरण' के व्यापार का सर्वप्रथम प्रभाव किस प्रकार सामाजिकों के लिये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों का 'साधारणीकरण' हुआ करता है (जो कि रसास्वाद का प्रथम पीठिकाबन्ध है) इसका निर्देश किया जा रहा है—

'रसास्वाद के होने में सर्वप्रथम सामाजिकों को यह प्रतीत हुआ करता है, जैसा कि स्वाभाविक है, कि न तो समुद्र-लंघनादि व्यापार उनसे भिन्न रामादि नायकों के हैं और न यही कि वे रामादि नायकों के नहीं हैं, इतना ही क्यों, न तो उन्हें यह अनुभव होता है कि काव्य-नाट्य के वर्णन-चित्रण से उनका कोई सम्बन्ध है और न यही कि इनसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं। बात यह होती है कि काव्य-नाट्य-समर्पित समस्त वस्तुएँ 'स्वगत' और 'परगत' के भेदभाव से परे पहुँच कर सर्वसाधारण के समान अधिकार की वस्तुएँ बन जाया करती हैं (और इसीलिये निर्द्वन्द्व आनन्द की सृष्टि करने में समर्थ हुआ करती हैं)।

(लोक से काव्य–नाट्य (कला) का वैलक्षण्य : साधारणीकरण)

ननु तथापि कथमेवमलौकिकत्वमेतेषां विभावादीनामित्युच्यते—

विभावनादिव्यापारमलौकिकमुपेयुषाम् ।
अलौकिकत्वमेतेषां भूषणं न तु दूषणम्॥ १३ ॥

आदिशब्दादनुभावसञ्चारणे । तत्र विभावनं रत्यादेर्विशेषेणास्वादाङ्कुरण-योग्यतानयनम् । अनुभावनमेवम्भूतस्य रत्यादेः समनन्तरमेव रसादिरूपतया भावनम् । सञ्चारणं तथाभूतस्यैव तस्य सम्यक् चारणम् ।

विमर्श—आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार 'रसना' रूप प्रतीति एक 'सकलविघ्नविनिर्मुक्त' प्रतीति हुआ करती है। सहृदय सामाजिकों के लिये काव्य–नाट्य के आनन्दानुभव में सबसे बड़ा विघ्न काव्य–नाट्य–समर्पित वस्तुओं का 'स्वगत' अथवा 'परगत' रूप से ग्रहण करना हुआ करता है। लोक में वस्तुमात्र के प्रति 'ममता' अथवा 'परकीयता' की भावना स्वभावतः रहा करती है। लोक की यह 'ममता' अथवा 'परकीयता' की भावना काव्य–नाट्य की भावकता शक्ति–साधारणी-करण की शक्ति–एक शब्द में व्यञ्जना शक्ति-के द्वारा हटायी जाया करती है। इसके हटते समस्त काव्यार्पित वस्तुओं के प्रति सहृदय-हृदय में 'साधारणी भाव' परिपुष्ट हो उठता है जिसके रहते रसात्मक अनुभव के अतिरिक्त और कोई भी अनुभव संभव नहीं।

अनुवाद—भले ही लौकिक रत्यादि भावों के कारण-कलाप काव्य–नाट्य में आते ही स्वगत–परगत के सम्बन्ध से परे प्रतीत हुआ करें किन्तु इनमें अलौकिकता की विशेषता क्यों कर समा जाती है—इसका निरूपण किया जा रहा है—

'जब कि लोकगत रत्यादि भावों के कारण–कार्य और सहकारी तत्त्व काव्य–नाट्य के क्षेत्र में उतरते ही विभावन, अनुभावन और व्यभिचारण का अलौकिक व्यापार प्रारम्भ कर दें, तब इनका अलौकिक होना अथवा कहा जाना इनका दोष क्यों, वस्तुतः गुण ही माना जाया करता है।'

यहां 'विभावनादि' में 'आदि' शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है जिसमें 'विभावन' व्यापार के अतिरिक्त अनुभावन और संचारण (व्यभिचारण) व्यापारों का भी बोध हो। 'विभावन' व्यापार काव्य–नाट्य का वह व्यापार है जो सामाजिक–हृदय की रत्यादि वासनाओं को विशेषरूप से रसास्वाद के रूप में अंकुरित होने में समर्थ बनाया करता है। 'अनुभावन' का व्यापार वह है जो इस रूप में अङ्कुरित रत्यादि वासनाओं को तत्काल रसादिरूप में परिणत किया करता है। और 'सञ्चारण' (व्यभिचारण) का व्यापार वह है जो कि विभावन और अनुभावन के व्यापारों से अङ्कुरित किंवा पल्लवित रत्यादि वासनाओं को सम्यग्रूप से पुष्ट बनाया करता है।

विमर्श—काव्य–नाट्य के विभावनादिव्यापार (व्यञ्जकत्व व्यापार) के सम्बन्ध में अभिनव भारती की ये पंक्तियाँ स्मरणीय हैं:—

'तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिङ्गदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनु-मानाभ्यास एव पाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षधृत्यादिभिर्लौकिकीं कारणत्वादिभुवमति-क्रान्तैर्विभावनानुभावनासमुपरञ्जकत्वमात्रप्राणैः, अत एवालौकिकविभावादिव्यपदेश-भाग्भिः, प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपजीवनाख्यापनाय विभावादिनामधेयव्यपदेश्यैः··· गुणप्रधानतापर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वाऽऽसादितवद्भिरलौ-

(विभावादि की कारणता और रसोद्बोध)

विभावादीनां यथासङ्ख्यं कारणकार्य्यसहकारित्वे कथं त्रयाणामपि रसोद्बोधे कारणत्वमित्युच्यते—

कारण–कार्य–सञ्चारिरूपा अपि हि लोकतः ।
रसोद्बोधे विभावाद्याः कारणान्येव ते मताः ॥ १४ ॥

किकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावस्तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः ।'

(नाट्यशास्त्र : अभिनवभारती-षष्ठ अध्याय)

अर्थात् काव्य-नाट्य में वर्णित नायक-नायिकादि किंवा चन्द्रोद्यानादि में लौकिक रत्यादि भावों के अनुमापन का सामर्थ्य नहीं । कवि किंवा नाट्यकार के चित्रित जीवन-चित्र तो सहृदय सामाजिकों के हृदय में मानव-हृदय के चिरसञ्चित रत्यादि भावों के उद्बोधक हुआ करते हैं । इन जीवन-चित्रों में लोक-जीवन ही चित्रित रहा करता है किन्तु इनमें जो आनन्द है और जैसा इसका अनुभव हुआ करता है वह लोक में नहीं और न उसका लोक में वैसा कोई अनुभव है । लोक-जीवन में कार्य-कारण भाव की सीमायें प्रत्येक वस्तु को बांधे रहा करती हैं । किन्तु काव्य-नाट्य के क्षेत्र में कार्य-कारण भाव में भी अलौकिक परिवर्तन हो जाया करता है । काव्य-नाट्य के स्त्री-पुरुष, चन्द्र-चन्द्रिका आदि सहृदय सामाजिकों के हृदय में सर्व-सहृदय-साधारण रत्यादि भावों के अभिव्यञ्जक हुआ करते हैं और इसीलिये काव्य-नाट्य में लोक का कार्य-कारण भाव भाव्य-भावक भाव (व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव) में परिवर्तित हो जाया करता है । काव्य-नाट्य 'भावक' अथवा 'व्यञ्जक' तत्त्व हैं जिसके विश्लेषण में काव्य-नाट्य के विभावनादि व्यापार का विश्लेषण हुआ करता है ।

अनुवाद—यहाँ यह बताना आवश्यक है कि जब कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव क्रमशः कारण, कार्य और सहकारि-रूप हुआ करते हैं तब क्यों कर इन्हें रसोद्बोध का 'कारण' कहा गया है—

बात यह है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों को जो क्रमशः कारण, कार्य और सहकारी कहा जाया करता है वह उनके लौकिक स्वरूप के अभिज्ञान की ही दृष्टि से न कि उनके रसोद्बोधन-सामर्थ्य की दृष्टि से । रसोद्बोध की दृष्टि से तो विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव-तीनों ही वस्तुतः (समस्त-संवलित-रूप से) 'कारण' हुआ करते हैं ।

विमर्श—रसोद्बोध में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव कारण, कार्य और सहकारी नहीं कहा जाया करते । इन्हें रसोद्बोध में भी कारण, कार्य और सहकारी तब माना जा सकता था जब कि सहृदय सामाजिक रसास्वाद में भी अपने-पराये का भेद-भाव रख सकते । रसास्वाद में अपने-पराये का भेद नहीं और इसलिये काव्य-नाट्य की समस्त वस्तुसम्पत्ति एकमात्र सहृदय हृदय की रत्यादि वासनाओं को अभिव्यक्त करने के ही लिये रहा करती है । वस्तुतः तो काव्य अथवा नाट्य को ही भावक अथवा अभिव्यञ्जक कहा करते हैं । जैसे काव्य-नाट्य लोक-जीवन की अलौकिक अभिव्यञ्जना है वैसे ही लोक-जीवन के कारण-कार्य-सहकारी तत्त्व काव्य-नाट्य के अलौकिक विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी-तत्त्व हुआ करते हैं । इन अलौकिक विभावनादि व्यापारों वाले चन्द्रोद्यानादि काव्य-तत्त्वों को सहृदय सामाजिकों के रसोद्बोधन का 'कारण' कहा

(रसास्वाद में विभावादित्रितय का संवलित अनुभव)

ननु तर्हि कथं रसास्वादे तेषामेकः प्रतिभास इत्युच्यते—

प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते।
ततः संवलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम् ॥ १५ ॥
प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत्।

यथा खण्डमरिचादीनां सम्मेलनादपूर्व इव कश्चिदास्वादः प्रपाणकरसे सञ्जायते विभावादिसम्मेलनादिहापि तथेत्यर्थः।

जा सकता है जिसका अभिप्राय इनका 'अभिव्यञ्जक' होना है और अभिव्यञ्जक होने के ही नाते इनमें कारणता, कार्यता किंवा सहकारिता का विश्लेषण सम्भव नहीं।

अनुवाद—जब कि रसास्वाद में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव-तीनों का हाथ रहा करता है तब ऐसा क्यों कि इन तीनों का पृथक्-पृथक् प्रतिभास न होकर समुदित-संवलित-प्रतिभास हुआ करता है? इसका विचार किया जा रहा है—

'रसास्वाद के पहले तो सामाजिकजन किसी प्रकार यह जान सकते हैं कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव का पृथक्-पृथक् स्वरूप क्या है और कैसे इन्हें पृथक्-पृथक् रूपसे रसोद्बोध का कारण माना जा सकता है किन्तु जब कि ये तीनों व्यञ्जना की शक्ति से परस्पर संवलित रूप से प्रतीत होने लगते हैं और एकघन प्रतिभास में परिणत होकर प्रपाणक रस की भांति एक आनन्दात्मक आस्वाद का रूप धारण कर लेते हैं तब ये विभावादि नहीं अपितु 'रस' बन जाते हैं।'

तात्पर्य यह है कि जैसे प्रपाणक रस में शक्कर, काली मिर्च, कपूर आदि-आदि के मेल के होने पर भी एक अपूर्व आस्वाद मिला करता है वैसे ही काव्य-रस अथवा नाट्य-रस में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संवलन के होने पर भी एक अपूर्व ही आनन्द प्राप्त हुआ करता है।

विमर्श—पानकादि रस और काव्य अथवा नाट्यरस का बड़ा सुन्दर साधर्म्य-वैधर्म्य आचार्य अभिनवगुप्त की इस उक्ति में प्रदर्शित है—

'अलौकिक एवायं चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः।
क्वान्यत्रेत्थं दृष्टमिति चेद् भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ।
पाणकरसास्वादोऽपि किं गुडमरीचादिषु दृष्ट इति समानमेतत्।

और इसमें भी—

'एतदुक्तं भवति—पाकरूपया सम्यग्योजनया तावदलौकिको रसो जायते। तत्र च प्रधानत्वेन जलस्य रसाभिव्यञ्जकत्वमिति व्यञ्जनं विभावस्थानीयं, चिञ्चाहरिद्राद्यनुभाव-प्रायम्। द्रव्याणि तु गुडादि, तदीयचुक्रादिरसविलक्षणमधुरादियोगाद् व्यभिचारिकल्पं स्वात्मनि तदुपजीवनेन च परत्र च स्वरसङ्क्रमणया वैचित्र्याधायकत्वात्। अत्र तु स्थायिकल्पस्तन्मिश्रणासमयभावी रसविशेषो विभावकल्पव्यञ्जनजनितो मन्तव्यः। स हि लौकिकः। अयन्तु कुशलैकनिर्वर्त्यस्तद्विदां रसनीयो भवति।'

(नाट्यशास्त्र : अभिनवभारती : षष्ठ अध्याय)

अर्थात् जैसे गुड, काली मिर्च आदि-आदि पृथक्-पृथक् वस्तुओं में वह रस नहीं रहा करता जिसे पानक अथवा श्रीखण्ड आदि रस कहा करते हैं वैसे ही पृथक्-पृथक् विभाव, अनुभाव आदि में

(रसोद्बोध में विभावादित्रितय की कारणता का रहस्य)

ननु यदि विभावानुभावव्यभिचारिभिर्मिलितैरेव रसस्तत् कथं तेषामेकस्य द्वयोर्वा सद्भावेऽपि स स्यादित्युच्यते—

सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत् ॥ १६ ॥
झटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते ।

अन्यसमाक्षेपश्च प्रकरणादिवशात् । यथा—

'दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः
सङ्क्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावुदग्राङ्गुली
छन्दो नर्त्तयितुर्यथैव मनसः सृष्टं तथास्या वपुः ॥'

अत्र मालविकामभिलषतोऽग्निमित्रस्य मालविकारूपविभावमात्रवर्णनेऽपि

वह रस नहीं मिला करता जिसे काव्य अथवा नाट्य-रस कहा गया है। गुड, काली मिर्च आदि-आदि विविध द्रव्यों से तभी 'रस' निष्पन्न हुआ करता है जब कि उनकी समुचित पाकरूप योजना की गयी हो। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों की भी समुचित अभिव्यञ्जन-योजना ही काव्य-नाट्य-रस को निष्पन्न कर सकती है। अलग-अलग विभाव अथवा अनुभाव अथवा व्यभिचारीभाव में रस-निष्पादन का सामर्थ्य भले ही हो 'रस' नहीं हुआ करता। रस तो एक अलौकिक आस्वादात्मक अनुभव है और उसी प्रकार विभावादि से विलक्षण अनुभव है जिस प्रकार पानक रस गुड-मरिच आदि से एक विलक्षण आस्वाद है—

अनुवाद—यदि सम्मिलित विभावादित्रितय ही रसोद्बोध के निमित्त हैं तब ऐसा क्यों कि कहीं एक अथवा दो की ही उपस्थिति में रसास्वाद मिला करता है? इसका निरूपण किया जा रहा है—

'रसोद्बोध तो विभावादित्रितय के संवलन में ही संभव है। वहां भी जहां विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों में से केवल दो उपस्थित हों या एक ही उपस्थित हो और रसोद्बोध हो रहा हो तो यही समझा जाना चाहिये कि काव्य-नाट्य की व्यञ्जकता शक्ति अन्य अनुपस्थित को भी अविलम्ब प्रकाशित कर रही है और 'विभावादित्रितय और रसोद्बोध' के सिद्धान्त में कहीं कोई त्रुटि नहीं आयी।'

तात्पर्य यह है कि प्रकरण-वैशिष्ट्य आदि-आदि व्यञ्जना-नियामक ऐसे हैं जो अनुपस्थित विभावादि को अभिव्यक्त करने में समर्थ रहा करते हैं। उदाहरण के लिये (महाकवि कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' की यह सूक्ति)

'मालविका का यह शरीर विधाता ने ऐसा बनाया है जैसे उसके नृत्याचार्य के मन की बात जान कर बनाया हो—'आंखें बड़ी बड़ी, मुँह शरदृतु के चांद के समान मनोरम, दोनों बाँहें दोनों कन्धों पर झुकी हुईं, दोनों स्तन एक दूसरे से सटे और उभरे हुये, उरःस्थल न बड़ा न छोटा, दोनों बगल मानों चिकने सुडौल बनाये गये हों, कमर पतली मानो मुट्ठी में आ जाय, जघन सुडौल और विशाल, और दोनों पैर ऐसे जिनकी आगे की ओर ऊँची अंगुलियां इतनी सुन्दर हैं!'

यहां मालविका के प्रेमी अग्निमित्र ने तो अपनी आंखों में उतरने वाले मालविका के

'रस' अनुकार्य (नायकादि-) गत नहीं

सञ्चारिणामौत्सुक्यादीनामनुभावनाञ्च नयनविस्फारादीनामौचित्यादेवाक्षेपः। एवमन्याक्षेपेऽप्यूह्यम्।

'अनुकार्य्यगतो रसः' इति वदतः प्रत्याह—

पारिमित्याल्लौकिकत्वात्सान्तरायतया तथा ॥ १७ ॥
अनुकार्य्यस्य रत्यादेरुद्बोधो न रसो भवेत्।

सीतादिदर्शनादिजो रामादिरत्याद्युद्बोधो हि परिमितो लौकिको नाट्य-

---

सुन्दर शरीर मात्र का वर्णन किया है जो कि केवल विभावरूप ही वर्णन है किन्तु इसमें अग्निमित्र के नेत्रविस्फार आदि अनुभाव और औत्सुक्य आदि व्यभिचारिभावों के भी आक्षेप करने का सामर्थ्य समा गया है जिससे यहाँ जो रसोद्बोध है वह वस्तुतः विभावादि त्रितय के संवलन में ही है।

इसी प्रकार केवल अनुभाव के वर्णन अथवा केवल व्यभिचारिभाव के वर्णन में अन्य के आक्षेप के उदाहरण काव्य-साहित्य में स्वयं ढूंढे जा सकते हैं।

विमर्श—'विभावादित्रितयसंवलन' से 'रसनिष्पत्ति हुआ करती है (विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः—भरत नाट्यशास्त्र)—यही रसध्वनिवाद का रसविषयक सिद्धान्त है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों में व्यस्त रूप से भी साधारणीकरण का सामर्थ्य है और समस्त रूप से भी। विभावादित्रितय में अन्यतरप्राधान्य अथवा द्वयप्राधान्य में भी रसास्वाद अवश्यंभावी है किन्तु जहां विभावादित्रितय का समप्राधान्य हो वहां रसास्वाद की उत्कृष्टता का कहना ही क्या? इसीलिये प्रबन्ध काव्य में और प्रबन्ध-काव्य में भी रूपक-प्रबन्धों में रसास्वाद का उत्कर्ष माना गया हैं—सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धिचित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात् (वामनः 'काव्यालङ्कार' सूत्र २-३०-१३)। विभाव-अनुभाव और व्यभिचारिभावों की पृथक्-पृथक् योजना यदि असाधरण हो जो कि मुक्तक काव्य के क्षेत्र में स्पष्ट दिखायी देती है, तब भी रसास्वाद अवश्य होगा किन्तु यहां भी एक के प्रधान में अन्य का सहकार पड़ा ही दिखायी देगा।

अनुवाद—कुछ लोग इस विचार के हैं कि जिसे 'रस' कहते हैं वह अनुकार्य अथवा रामादि नायक-निष्ठ आनन्दात्मक अनुभव है, न कि सहृदय सामाजिक को इससे कुछ लेना-देना है। किन्तु यह विचार किस प्रकार युक्तियुक्त नहीं इसका निर्देश किया जा रहा है—

'काव्य-नाट्य में वर्णित रामादिनायकों के हृदय में जो रत्यादिभावों का उद्बोध है वह 'रस' नहीं हुआ करता। नायकादिगत रत्यादिभावोद्बोध इसलिये 'रस' नहीं हुआ करता क्योंकि (१) यह सीमित व्यक्तित्व वाले रामादि का, सीतादिविषयक सीमित रत्यादि भावों का अनुभव है (जब कि रस वस्तुतः असीम व्यक्तित्व वाले सहृदय सामाजिक के साधारणीकृत रत्यादि भावों का अनुभव हुआ करता है)। (२) इसमें लौकिकता है (क्योंकि सीतादिविषयक रामादिगत रत्यादि भावों का अनुभव चमत्कारात्मक नहीं अपितु राग-द्वेष-मोहात्मक अनुभव है) और (३) यह रत्यादिभावोद्बोध ऐसा है जिसमें काव्य और नाट्य के श्रवण और दर्शन साधन नहीं। (जब कि रसरूप अनुभव में काव्य-नाट्य का मनन-चिन्तन ही एकमात्र साधन है)।

तात्पर्य यह है कि जब कि जनकराजनन्दिनी सीता आदि के दर्शन आदि से उत्पन्न

काव्यदर्शनादेः सान्तरायश्च, तस्मात् कथं रसरूपतामियात्। (क) रसस्यैतद्धर्म्मत्रितयविलक्षणधर्म्मकत्वात्।

('रस' अनुकर्तृ (नटादि) गत भी नहीं)

अनुकर्त्तृगतत्वञ्चास्य निरस्यति—

होने वाला रामादिगत रत्यादिभावोद्बोध एक परिमित (वैयक्तिक), लौकिक (चमत्कारशून्य) किंवा काव्य और नाट्य के श्रवण और दर्शन के लिये विघ्नमय अनुभव है तब यह कैसे संभव है कि इसे 'रस' रूप अनुभव कह दिया जाय। 'रस' रूप अनुभव तो वस्तुतः एक ऐसा अनुभव है जो परिमितता, लौकिकता और विघ्नबहुलता की त्रिविध विशेषता से शून्य एक-अपरिमित, अलौकिक किंवा निर्विघ्न अनुभव हुआ करता है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'रस' के अनुकार्यगत न हो सकने में तीन युक्तियाँ दी हैं :—

(१) अनुकार्यगत रत्यादि भावोद्बोध लौकिक है जबकि काव्य-नाट्य द्वारा उद्भावित रत्यादि भाव अलौकिक हुआ करता है।

(२) अनुकार्यगत रत्यादिभावोद्बोध वैयक्तिक (परिमित) हुआ करता है जबकि काव्य-नाट्य द्वारा अभिव्यक्त रत्यादिभाव 'स्वगतता-परगतता' की समस्त सीमाओं से अतिक्रान्त निर्भरानन्दात्मक संवेदन रूप है।

(३) अनुकार्यगत रत्यादिभावोद्बोध काव्य-नाट्य के श्रवण-दर्शन के प्रतिकूल है क्योंकि उसके लिये लोकजीवन की भोग-सामग्री अपेक्षित है न कि काय-नाट्य की वर्णना।

ये उपर्युक्त तीनों युक्तियाँ सर्वथा मान्य किंवा प्राचीन रसवेदी आचार्यों के रसचिन्तन द्वारा अनुप्राणित हैं आचार्य धनिक ने (दशरूपक-चतुर्थ प्रकाश) स्पष्ट कहा है—

'यदि चानुकार्यस्य रामादेः श्रृंगारः स्यात्ततो नाटकादौ तद्दर्शने लौकिके इव नायके श्रृङ्गारिणि स्वकान्तासंयुक्ते दृश्यमाने श्रृङ्गारवानयमिति प्रेक्षकाणां प्रतीतिमात्रं भवेन्न रसानां स्वादः, सत्पुरुषाणां च लज्जा, इतरेषां स्वसूयानुरागापहारेच्छादयो प्रसज्येरन्।'

अर्थात् लोकजीवन के राम का सीता के प्रति लौकिक प्रेमोद्रेक 'श्रृंगार रस' नही हो सकता। श्रृङ्गार रस तो रसिक-हृदयवर्ती रतिभावोद्बोध को कहा करते हैं जोकि एक निर्भरानन्द-संवेदन है। लोकजीवन के राम के हृदय का रतिभावोद्बोध 'रस' क्योंकर हो जबकि, इसके दर्शकों के लिए, इसकी प्रतीति एक लौकिक प्रतीतिमात्र है और जबकि इससे भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले लोगों को भिन्न भिन्न प्रकार का राग-द्वेष-मोहात्मक लौकिक अनुभव हुआ करता है।

आचार्य धनिक के अनुसार 'रस' को अनुकार्यगत मानना वस्तुतः काव्य नाट्य को निरर्थक बना देना है—

'किं च न काव्यं रामादीनां रसोपजननाय कविभिः प्रवर्त्यते, अपि तु सहृदयानानन्दयितुम्।' (दशरूपक ४र्थ प्रकाश)

अर्थात् काव्य-नाट्य की रचना सहृदय सामाजिकों के रसास्वाद के लिए की जाया करती है न कि रामादि नायकों के रसास्वाद के लिये। रामादि नायकों को तो लोक-जीवन का सुख-दुख मिला करता है और जिसे 'रस' कहते हैं वह लोक-जीवन का सुख-दुख नहीं अपितु एक अलौकिक आनन्दानुभव हुआ करता है।

अनुवाद—इसके विपरीत कुछ लोगों का यह कथन है कि 'रस' अनुकर्ता (अभिनयकर्ता) नटादि का ही अनुभव है (न कि सामाजिक का)। इस सिद्धान्त का निराकरण इस प्रकार निर्दिष्ट किया जा रहा है—

शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः स्वरूपताम् ॥ १८ ॥
दर्शयन्नर्त्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत् ।

किञ्च—

काव्यार्थभावनेनायमपि सभ्यपदास्पदम् ॥ १९ ॥

यदि पुनर्नटोऽपि काव्यार्थभावनया रामादिस्वरूपतामात्मनो दर्शयेत् तदा सोऽपि सभ्यमध्य एव गण्यते ।

'भला उस नट को रसास्वाद क्योंकर मिले जो कि रंग-मंचपर केवल अभिनयकला की शिक्षा, उसके अभ्यास और उसमें कौशल-प्रदर्शन से ही अपने आप को रामादि के रूप में दिखाया करता है? किन्तु इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि अभिनेता नट के हृदय में भी काव्यार्थभावना अथवा रसना उत्पन्न हो गयी तब उसे, उस अवस्था में, नट नहीं अपितु एक सहृदय सामाजिक कहा जाया करता है।

तात्पर्य यह है कि रस के अभिनय के कारण नट को रसास्वाद नहीं हुआ करता। नट को यदि रसास्वाद होता है तो काव्यार्थ-भावना अथवा रसना की उत्पत्ति और उसकी प्रक्रिया द्वारा ही होता है। जबकि रामादिनायकों के साथ नट का हृदयसम्वाद संपन्न हो जाय तब नट नट नहीं अपितु रंगमंच का एक सहृदय सामाजिक बन जाया करता है।

विमर्श—'रस अनुकर्तृ-गत नहीं हो सकता'—यह तो इसी से सिद्ध है कि सहृदय सामाजिकों को, रसानुभव में, 'अनुकार्यानुकर्तृविभाग' की कोई प्रतीति ही नहीं हुआ करती। उसके अतिरिक्त 'रस' को अनुकर्तृ (नट) गत मानना इसलिये भी अनुपपन्न है क्योंकि रामादिगत रत्यादिभाव का अनुकरण असंभव है जैसा कि अभिनवभारतीकार का कथन है—

'न च चित्तवृत्तीनां शोकक्रोधादिरूपाणाम् (अनुकरणम्) न हि नटो रामसादृश्यं स्वात्मनः शोकं करोति, सर्वथैव तस्य तत्राऽभावात्। भावे वाऽननुकारत्वात्। नचान्यद्वस्त्वस्ति यच्छोकेन सदृशं स्यात्।' (नाट्यशास्त्र : अभिनवभारती प्रथम अध्याय)

अर्थात् शोकक्रोधादिरूप चित्तवृत्तियों का क्या अनुकरण? भला नट को वह शोक कहाँ जो राम के शोक के समान हो? यदि राम के हृदय का शोक नट के हृदय का शोक हो जाय तब इसमें अनुकरण कहाँ?

तात्पर्य यह है कि 'अभिनेता' की अवस्था में नट को रसास्वाद नहीं मिला करता। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि नट सर्वथा रसास्वाद से वंचित रहा करता है। नट को भी 'रस' मिलता है और मिल सकता है किन्तु नट की रसास्वाद-प्रक्रिया वही है जो सामाजिक की हुआ करती है। यदि नट में 'काव्यार्थभावना' है तो उसे भी रसास्वाद मिला करता है जैसा कि आचार्य धनञ्जय और धनिक का कथन है—

'काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते।

नर्तकोऽपि न लौकिकरसेन रसवान् तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात् काव्यार्थभावनया त्वस्मदादिवत् काव्यरसास्वादोऽस्यापि न वार्यते।' (दशरूपक : चतुर्थ प्रकाश)

अर्थात् नट की अभिनय-कला तो सहृदय सामाजिकों के हृदयानुरञ्जन के लिये है। किन्तु यदि नट में रसिकता का समावेश हो जाय तो सहृदय सामाजिकों की भाँति उसे भी रस मिल जाय।

('रस' कोई ज्ञाप्य वस्तु नहीं)

नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां प्रतीत्यव्यभिचारतः ।

योहि ज्ञाप्यो घटादिः सन्नपि कदाचिदज्ञातो भवति, न ह्ययं तथा; प्रतीतिमन्तरेणाभावात् ।

('रस' कार्य (कारणजन्य) रूप वस्तु भी नहीं)

यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मकः ॥ २० ॥

तस्मान्न कार्यः—

यदि रसः कार्यः स्यात्तदा विभावादिज्ञानकारणक एव स्यात् । ततश्च रसप्रतीतिकाले विभावादयो न प्रतीयेरन्, कारणज्ञानकार्य्यज्ञानयोर्युगपददर्शनात् । नहि चन्दनस्पर्शज्ञानं तज्जन्यसुखज्ञानञ्चैकदा सम्भवति । रसस्य च विभावादिसमूहालम्बनात्मकतयैव प्रतीतेर्न विभावादिज्ञानकारणत्वमित्यभिप्रायः।

अनुवाद—'रस' को ज्ञाप्य कहना असंभव है क्योंकि ज्ञाप्य वस्तु का यह स्वभाव है कि अस्तित्व रखते हुए भी कभी वह अज्ञात रह सकती है । रस भला ज्ञाप्य कैसे जबकि उसके सम्बन्ध में यह संभव नहीं कि उसका अस्तित्व तो हो किन्तु उसका अनुभव न हुआ करे !

अभिप्राय यह है कि जो भी वस्तु ज्ञाप्य वस्तु हुआ करती है जैसे कि घट-पट आदि उसके सम्बन्ध में यही बात दिखायी दिया करती है कि उसके रहने पर भी कभी-कभी उसका ज्ञान (ज्ञान-सामग्री के अभाव में) नहीं हुआ करता । रस ऐसी वस्तु नहीं जो कि रहे किन्तु कभी पता न चले । भला अनुभूति के अतिरिक्त रस की सत्ता कहाँ जिससे उसे घट-पटादि की भाँति 'ज्ञाप्य' (ज्ञान द्वारा ग्राह्य) कहा जा सके ?

विमर्श—रस एक 'रस्यमानतैकप्राण' अनुभव है। रस कोई 'प्रमेय' रूप पदार्थ नहीं जिसकी अपेक्षा विभावादि को प्रमाण अथवा ज्ञापक माना जाय । 'रस' तो रसनात्मक प्रतीति का विषय हो सकता है और यह रसनारूप प्रतीति ऐसी प्रतीति हुआ करती है जिसे प्रमाणव्यापार कहना रसानुभव के विश्लेपण का असामर्थ्य-प्रदर्शन ही है । 'रस' को ज्ञाप्य मान लेने पर तो काव्य-नाट्य की लोक-विलक्षणता ही समाप्त हो जायगी और 'रस' के अधिकारियों में 'सहृदयता' की विशेषता का कोई भी अर्थ न निकलेगा । आचार्य अभिनवगुप्त का इस सम्बन्ध में यही सिद्धान्त है—

'नापि (विभावादयः) ज्ञप्तिहेतवः येन प्रमाणमध्ये पतेयुः सिद्धस्य कस्यचित् प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात् ।' (नाट्यशास्त्र-अभिनवभारती : षष्ठ अध्याय)

अनुवाद—रस को कार्य अथवा कारणव्यापारजन्य वस्तु भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह तो विभावादिसमूहालम्बनात्मक अनुभव है (न कि ऐसा जो कि विभावादि ज्ञान द्वारा उत्पन्न किया जाय)।

तात्पर्य यह है कि यदि 'रस' को कार्य माना जाय तो विभावादि ज्ञान को ही उसका कारण माना जायगा । अब यदि विभावादि ज्ञान रस का कारण हुआ तब तो यही मानना पड़ेगा कि जब रसानुभव हो रहा हो तब विभावादि का अनुभव हो नहीं सकता । क्यों ? इसलिये कि कारण-ज्ञान और कार्य-ज्ञान का एक समय में होना कदापि सम्भव नहीं।

(रस 'नित्य' वस्तु भी नहीं)

—नो नित्यः पूर्वसंवेदनोज्झितः।
असंवेदनकाले हि न भावोऽप्यस्य विद्यते(क) ॥ २१ ॥

न खलु नित्यस्य वस्तुनोऽसंवेदनकालेऽसम्भवः।

(रस एक अनिर्वचनीय तत्त्व है)

नापि भविष्यन् साक्षादानन्दमयस्वप्रकाशरूपत्वात्।

ऐसा भला कहाँ कि एक ही समय में चन्दन के स्पर्श का ज्ञान होता रहे और उससे उत्पन्न सुख का भी अनुभव हो जाय! 'रस' तो एकमात्र विभावादिसमूहालम्बनात्मक संवेदनरूप है। इसलिये विभावादि ज्ञान भला रस का कारण कैसे?

विमर्श—रस विभावादिरूप कारणसामग्री से उत्पन्न नहीं किया जा सकता—इसके लिये आचार्य अभिनवगुप्त ने एक और युक्ति दी है—

'अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य, तद्बोधापगमेऽपि रससम्भवप्रसङ्गात् (अभिनवभारती : षष्ठ अध्याय)'

अर्थात् रस न तो कार्य है और न विभावादिबोध रस का कारण। यदि विभावादिबोध रस का कारण हो सकता तब विभावादिबोध के नष्ट हो जाने पर भी रस का अनुभव हुआ करता!

विश्वनाथ कविराज ने यहाँ दूसरी युक्ति सोची है जो कि आचार्य अभिनवगुप्त की उपर्युक्त युक्ति का ही एक रूपान्तर है जिसका अभिप्राय काव्यप्रकाश के टीकाकार चण्डीदास के शब्दों में इस प्रकार है—

'कार्यं सुखं स्वकारणैः सह नैकस्यां संविद्यवभासमानं दृष्टम्। एतच्च सुखं विभावादिसंवलितं भासते, तस्मान्न कार्यम्।'

अर्थात् चन्दनादि और चन्दनादिजन्य सुख एक संवेदन के विषय नहीं। 'रस' रूप सुख ऐसा है जिसे विभावादिबोध का कार्य इसलिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह विभावादिबोध-संवलित एकघन सुखसंवेदन हुआ करता है।

अनुवाद—रस को 'नित्य' भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि विभावादि-परामर्श के पहले उसकी प्रतीति ही असम्भव है और जब कि प्रतीति के पहले रस का अस्तित्व ही नहीं तब उसे 'नित्य' मानना भी निरर्थक ही है।

वस्तुतः यहां बात यह है कि जो भी (आकाशादिरूप) नित्यवस्तु है वह ऐसी नहीं हुआ करती कि उस समय तो रहे जब कि उसका अनुभव हो रहा हो और उस समय न रहे जब कि उसका अनुभव न हो रहा हो।

विमर्श—यहाँ विश्वनाथ कविराज ने रस के 'ब्रह्मास्वादसविध' होने के रहस्य का उद्घाटन किया है। काव्य-नाट्य-भावना अथवा रसना का विषय 'रस' 'रसो वै सः' से एकरूप, एकरस नहीं अपितु उससे भी विलक्षण हुआ करता है। रस 'नित्य' नहीं इसलिये ब्रह्मास्वादरूप नहीं अपि तु 'ब्रह्मास्वादसहोदर' है। यदि 'रस' को नित्य माना जाय तब काव्य-नाट्य अथवा कला की क्या आवश्यकता? 'रस' नित्य नहीं है इसलिये काव्य-नाट्य की आवश्यकता है जिसमें रस रूप अनुभव की प्राप्ति हो सके। नित्य होने से रस की सत्ता काल-परिच्छेद से अतीत हो जायगी और विभावादि-भावना और रस का सम्बन्ध सदा के लिये नष्ट हो जायगा।

अनुवाद—वस्तुतः काव्यात्मभूत रस एक अनिर्वचनीय वस्तु है क्योंकि इसके सम्बन्ध

कार्यज्ञाप्यविलक्षणभावान्नो वर्त्तमानोऽपि ॥ २२ ॥
विभावादिपरामर्शविषयत्वात् सचेतसाम् ।
परानन्दमयत्वेन संवेद्यत्वादपि स्फुटम् ॥ २३ ॥
न निर्विकल्पकं ज्ञानं तस्य ग्राहकमिष्यते ।
तथाऽभिलापसंसर्गयोग्यत्वविरहान्न च ॥ २४ ॥

सविकल्पकसंवेद्यः—

सविकल्पकज्ञानसंवेद्यानां हि वचनप्रयोगयोग्यता, न तु रसस्य तथा ।

में अन्य वस्तुओं की सी कोई भी सम्भावना नहीं हो सकती। जैसे कि इसे यदि कोई भावी वस्तु (काव्य-नाट्य की भावना के बाद होने वाली वस्तु) कहना चाहे तो नहीं कह सकते क्योंकि यह तो काव्यनाट्य-भावना का ही समकालीन एक साक्षात् स्वप्रकाशानन्दमय अनुभव है। इसे 'वर्तमान' वस्तु कहना भी अनुपपन्न ही है क्योंकि न तो यह कोई कार्य (जन्य) वस्तु है और न ज्ञाप्य वस्तु। रस का स्वभाव तो कार्य और ज्ञाप्य रूप वस्तुस्वभाव से सर्वथा विलक्षण ही रहा करता है। इसे 'निर्विकल्पक' ज्ञान का विषय भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि सहृदयों का अनुभव यही सिद्ध करता है कि यह विभावादि-परामर्श का विषय बना करता है और इसे आत्यन्तिक सुख-चमत्कार के रूप में संवेद्य देखा जाया करता है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि इसे सविकल्पक ज्ञान का विषय मान लिया जाय। इसे सविकल्पक ज्ञान का भी विषय नहीं कह सकते क्योंकि इसके लिए कोई भी वाचक पद ढूँढ़े नहीं मिलता।

रस को सविकल्प संवेदन का विषय इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि जबकि सविकल्पक संवेदन की विषयभूत वस्तुएँ (जैसे कि घटपटादि) किसी न किसी वाचक शब्द द्वारा संकेतित की जा सकती हैं, रस ऐसा रहा करता है जिसके सम्बन्ध में कोई भी वाचक शब्द प्रयुक्त नहीं किया जा सकता।

विमर्श—'रस न तो नित्य वस्तु है और न भावी और वर्तमान' इस धारणा का यही अभिप्राय है कि 'रस' शब्द-वाच्य नहीं। शब्द की वाचकता उन सभी वस्तुओं से जुड़ी रहा करती है जिन्हें हम अपने बौद्धिक विश्लेषण में परख लेते हैं। 'रस' का बौद्धिक विश्लेषण रस के उद्भावक तत्त्वों का ही विश्लेषण हो सकता है न कि रस के वास्तविक स्वरूप का। 'रस एक अलौकिक स्वसंवेदनसंवेद्य तत्त्व है' इस मान्यता का भी यही आशय है कि रस के सम्बन्ध में समस्त बौद्धिक परिकल्पनायें निरर्थक हैं।

रस की लोकोत्तरता से ही यह सिद्ध है कि रस निर्विकल्पक किंवा सविकल्पक संवेदन का विषय नहीं हो सकता। निर्विकल्पक-संवेदन से रस की संवेद्यता तो इसी से असिद्ध है कि जहाँ निर्विकल्पक संवेदन 'प्रत्यवमर्श' रहित संवेदन हुआ करता है वहाँ रस विभावादि के प्रत्यवमर्श अथवा स्वरूपोल्लेख का विषय है। निर्विकल्पक संवेदन की परिभाषा यह है—**'प्रत्यवमर्शरहितं संवेदनं निर्विकल्पकम्'**। अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान वह ज्ञानप्रकार है जो प्रत्यवमर्श अथवा वस्तु-प्रकार के उल्लेख से शून्य हुआ करता है। रस में विभावादि का उल्लेख स्वाभाविक है, इसलिए रस को निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं कहा जा सकता।

'रस निर्विकल्पक संवेदन का विषय नहीं' इसका यह निष्कर्ष भी नहीं निकल सकता कि 'रस

(रस न तो परोक्ष है न प्रत्यक्ष)

—साक्षात्कारतया न च।

परोक्षस्तत्प्रकाशो नापरोक्षः शब्दसंभवात् ॥ २५ ॥

(अनिर्वचनीयस्वरूप रस का निरूपण प्रकार)

तत्कथय कीदृगस्य तत्त्वमश्रुतादृष्टपूर्वनिरूपणप्रकारस्येत्याह—

तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्।

(अनिर्वचनीयस्वरूप रस के अस्तित्व में प्रमाण)

तत्किं पुनः प्रमाणं तस्य सद्भाव इत्याह—

प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वाभिन्ने विदुषां मतम् ॥ २६ ॥

चर्वणा आस्वादनम्। तच्च 'स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः' इत्युक्तप्रकारम्।

सविकल्पक संवेदन का विषय हैं'। 'घट-पटादि सविकल्पक संवेदन द्वारा वेद्य हैं। रस रूप वस्तु घटपटादि रूप समस्त सविकल्पक संवेद्य वस्तुओं से विलक्षण वस्तु है'—इस सिद्धान्त की पुष्टि तभी हो सकती है जब कि रस को सविकल्पक-संवेद्य न कहा' जाय। साहित्यदर्पणकार ने इसी लिये यहाँ 'रस' की सविकल्पक-संवेद्यता का भी निराकरण किया है।

अनुवाद—'रस' को 'परोक्ष' (अतीन्द्रिय) कहना भी असंभव है क्योंकि यह साक्षात् अनुभवस्वरूप प्रतीत हुआ करता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह 'प्रत्यक्ष' रूप है। रस को 'प्रत्यक्ष' भी नहीं कह सकते क्योंकि यह एक अलौकिक शब्द ज्ञान है, काव्य-नाट्योत्थापित विभावादिज्ञान द्वारा निष्पन्न अनुभव है।

विमर्श—रस के संबन्ध में परोक्षता किंवा प्रत्यक्षता की कल्पनाओं का अभाव रस की अनिर्वचनीयता का ही साधक है और इसीलिए यहां साहित्यदर्पणकार ने इसकी उद्भावना की है।

अनुवाद—तब यह अदृष्टपूर्व किंवा अश्रुतपूर्व स्वभाव वाला 'रस' क्या है—इसका विचार किया जा रहा है—

'जिसे (काव्यार्थभूत किंवा काव्यात्मभूत) 'रस' कहते हैं वह वस्तुतः एक अलौकिक तत्त्व है और एकमात्र सहृदय सामाजिकों द्वारा अपने तात्त्विक स्वरूप में पहचाना जाया करता है।'

यदि रस का स्वरूप सर्वथा अनिर्वचनीय है तब इसके अस्तित्व में प्रमाण क्या है—इसका निर्देश किया जा रहा है—

'रस' के सद्भाव में एक ही प्रमाण है और वह प्रमाण सहृदय सामाजिक की चर्वणा अथवा रसना है। रस के 'रस्यमानतामात्रसार' होने से, 'चर्वणास्वरूप' होने से सहृदयों के आस्वादानुभव के अतिरिक्त और इसमें क्या प्रमाण ?

यहां 'चर्वणा' का अभिप्राय है 'आस्वादन' का और 'आस्वादन' क्या है ? 'आस्वादन है—विभावादि सम्वलित रत्यादिभावों से भावित सहृदय हृदय का आनन्द-चमत्कार, जैसा कि पहले ही (३-२) कहा जा चुका है।

विमर्श—स्वप्रकाशानन्दमय रस के अस्तित्व में रसनारूप प्रतीति के अतिरिक्त और क्या प्रमाण ? जिस वस्तु के सम्बन्ध में कार्यकारणभाव, ज्ञाप्यज्ञापकभाव आदि आदि कल्पनायें

(नाट्यसूत्र निर्दिष्ट 'रसनिष्पत्ति' का रहस्य)

ननु यदि रसो न कार्यस्तत्कथं महर्षिणा 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति लक्षणं कृतमित्युच्यते—

निष्पत्त्या चर्वणस्यास्य निष्पत्तिरुपचारतः ।

यद्यपि रसाभिन्नतया चर्वणस्यापि न कार्यत्वं तथापि तस्य कादाचित्कतया उपचरितेन कार्यत्वेन कार्यत्वमुपचर्यते ।

असंभव हों, वह तो एक अलौकिक वस्तु होगी। अनिर्वचनीय 'रस' रूप वस्तु का अस्तित्व अनिर्वचनीय चर्वणारूप प्रतीति द्वारा ही प्रमाणित हो सकता है जैसा कि कहा भी गया है—

'चर्वणैव भगवती स्वसंवित्स्वरूपादभिन्ने तस्मिन् प्रमाणम्' ।

अर्थात् रस वस्तुतः स्वसंवेदनस्वरूप तत्त्व है और इसका अस्तित्व जिससे प्रमाणित है वह 'चर्वणा' है अथवा 'रसना' है। 'चर्वणा' एक अलौकिक प्रतीति है और इसीलिए इसे 'रसब्रह्म' की 'माया' माना गया है।

अनुवाद—यदि 'रस' इस प्रकार सर्वथा अनिर्वचनीय, कार्य-ज्ञाप्यादि कल्पनोत्तीर्ण तत्त्व है तब भरतमुनि ने क्योंकर यह कहा कि (रत्यादि भावों के साथ) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के संयोग से रसोत्पत्ति हुआ करती है? इसका समाधान यह है—

वस्तुतः तो 'रस' निष्पन्न (उत्पन्न) नहीं हुआ करता। विभावादि संयोग से जिसकी निष्पत्ति (उत्पत्ति) हुआ करती है वह 'रस' नहीं अपि तु 'रसना' अथवा 'चर्वणा' है। रस को निष्पन्न' कहना उपचारतः ही संभव है क्योंकि रस और रसना (चर्वणा) में जब अभेदारोप कर दिया गया तब चर्वणा की निष्पति का 'रस' पर आरोप स्वयं सिद्ध हो गया और रस की औपचारिक निष्पत्ति में कोई आपत्ति न रही।

यहाँ यह समझना आवश्यक है—वस्तुतः तो चर्वणा को भी निष्पन्न (उत्पन्न) कहना उपचारतः ही संभव है क्योंकि 'रस' और 'चर्वणा' में कोई भेदभाव कहाँ? जैसे 'रस' में उत्पत्ति की कल्पना नहीं हो सकती वैसे ही 'चर्वणा' में भी। उपचारतः यदि कहा जाय तो 'चर्वणा' को उत्पन्न कहा जा सकता है क्योंकि यह सदा नहीं रहा करती। अब जब कि चर्वणा का यह आविर्भाव-तिरोभाव उसकी औपचारिक उत्पत्ति का निमित्त हो गया तब उससे अभिन्न रस को भी उपचारतः 'उत्पन्न' कहने में अनर्थ क्या हुआ?

विमर्श—'रस-निष्पत्ति' का अर्थ रस की उत्पत्ति नहीं अपितु यथाकथञ्चित् 'रसना' अथवा चर्वणा की निष्पत्ति अथवा उत्पत्ति है—यह रसनिष्पत्ति-मीमांसा आचार्य अभिनवगुप्त की है जैसा कि इन पंक्तियों से स्पष्ट है—

'तर्हि सूत्रे निष्पत्तिरिति कथम्? नेत्रं रसस्य अपि तु तद्विषयाया रसनायाः। तन्निष्पत्त्या तु यदि तदेकायत्तजीवितस्य रसस्य निष्पत्तिरुच्यते तन्न कश्चिदत्र दोषः। सा चा रसना न प्रमाणव्यापारो न कारकव्यापारः स्वयं तु नाऽप्रामाणिकी स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। रसना च बोधरूपैव किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैव, उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसंयोगाद्रसना यतो निष्पद्यते ततस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य

(रस एकमात्र 'व्यङ्ग्य' तत्त्व है)

अवाच्यत्वादिकं तस्य वक्ष्ये व्यञ्जनरूपणे ॥ २७ ॥

तस्य रसस्य। आदिशब्दादलक्ष्यत्वादि।

(रस की स्वप्रकाशता किंवा अखण्डता में सन्देह का निर्मूलन)

ननु यदि मिलिता रत्यादयो रसास्तत्कथमस्य स्वप्रकाशत्वं कथं वाऽखण्डत्वमित्याह—

रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत्।
अतोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिध्यति ॥ २८ ॥

अर्थात् यदि 'रसना' या 'चर्वणा' रूप बोध की निष्पत्ति के अर्थ में 'रस-निष्पत्ति' (विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः)' समझी जाय तभी रस का स्वरूप ठीक-ठीक समझा जा सकता है अन्यथा नहीं। 'रसना' अथवा 'चर्वणा' भी एक लोकविलक्षण बोध है। यह बोध काव्य-नाट्य अथवा कला द्वारा ही संभव है। 'रस' और 'रसबोध' में भेद-भाव नहीं। 'रस' और 'रसना' एक ही आनन्दात्मक अनुभूति है क्योंकि रस 'रस्यमानतामात्रसार' अनुभूति है, कोई रसना-बोध्य विषय नहीं।

अनुवाद—रस कदापि वाच्य (अभिधाव्यापार का विषय) नहीं—आदि-आदि का निरूपण व्यञ्जनाप्रामाण्य निरूपण के प्रसङ्ग में (पञ्चम परिच्छेद में) किया जा रहा है (जहाँ यह स्पष्ट हो जायगा कि रसरूप काव्यरहस्य एक अनिर्वचनीय अभिव्यङ्ग्य आस्वादानुभव है)।

यहाँ 'तस्य'-'उसके' का अभिप्राय है 'रस' के अवाच्यत्व (अनभिधेयत्व) आदि का। और अवाच्यत्व आदि का अभिप्राय है अलक्ष्यत्व किंवा अतात्पर्यविषयत्व आदि का।

विमर्श—रस एकान्ततः अभिव्यङ्ग्य है'—इस सिद्धान्त के स्थापन में आचार्य अभिनवगुप्त की यह युक्ति है—

'रसभावतदाभासतत्प्रशमाः पुनर्न कदाचिदभिधीयन्ते, अथ चास्वाद्यमानप्राणतया भान्ति। तत्र ध्वननव्यापारादृते नास्ति कल्पनान्तरम्। स्खलद्गतित्वाभावे मुख्यार्थबाधादेर्लक्षणानिबन्धनस्यानाशङ्कनीयत्वात्।'.........न चायं रसादिरर्थः 'पुत्रस्ते जातः' इत्ययो यथा हर्षो जायते तथा। नापि लक्षणया। अपि तु सहृदयस्य हृदयसंवादबलाद् विभावानुभावप्रतीतौ तन्मयीभावेनास्वाद्यमान एव रस्यमानतैकप्राणः सिद्धस्वभावसुखादिविलक्षणः परिस्फुरिति।' (ध्वन्यालोक लोचन : १ म उद्योत)

जिसका अभिप्राय यह है—रस एकमात्र आस्वादसार काव्य-तत्त्व है। इसका शब्दतः प्रतिपादन असंभव है। काव्य का व्यञ्जना-व्यापार ही रसबोध में एकमात्र समर्थ है। लक्षणा की संभावना यहाँ कहाँ? तात्पर्य वृत्ति का यहाँ क्या प्रयोजन। यहाँ तो सहृदय सामाजिक से सम्बद्ध हृदयसम्वाद, विभावादि-परामर्श, तन्मयीभवन और रसनात्मक बोध ही उपायरूप से पड़े प्रतीत होते हैं और ये सब व्यञ्जना (रसना) के ही प्रक्रियाबन्ध हैं।

अनुवाद—विभावादि समूहालम्बनात्मक रस क्योंकर 'स्वप्रकाश' (आत्मस्वरूपात्मक) किंवा 'अखण्ड' है—इसका निरूपण इस प्रकार है—

रस की स्वप्रकाशात्मकता और अखण्डता इसलिए सिद्ध है क्योंकि यह विभावादि

यदि रत्यादिकं प्रकाशशरीरादतिरिक्तं स्यात्तदैवास्य स्वप्रकाशत्वं न सिध्येत्, न च तथा, तादात्म्याङ्गीकारात्। यदुक्तम्—'यद्यपि रसानन्यतया चर्वणापि न कार्या तथापि कादाचित्कतया कार्यत्वमुपकल्प्य तदेकात्मन्यनादिवासनापरिणतिरूपे रत्यादिभावेऽपि व्यवहार इति भावः' इति। 'सुखादितादात्म्याङ्गीकारे चास्माकीं सिद्धान्तशय्यामधिशय्य दिव्यं वर्षसहस्रं प्रमोदनिद्रामुपेयाः' इति च। 'अभिन्नोऽपि स प्रमात्रा वासनोपनीतरत्यादितादात्म्येन गोचरीकृतः' इति च। ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वमनङ्गीकुर्वतामुपरि वेदान्तिभिरेव पातनीयो दण्डः। तादाम्यादेवास्याखण्डत्वम्।

रत्यादयो हि प्रथममेकैकशः प्रतीयमानाः सर्वेऽप्येकीभूताः स्फुरन्त एव रसतामापद्यन्ते।

तदुक्तम्—

'विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः।

समूहालम्बनात्मक संवेदन से सर्वथा अभिन्न हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि यदि विभावादिसमूहालम्बनात्मक अनुभव को ज्ञान के अतिरिक्त कोई अन्य तत्त्व माना जाय तभी हो सकता है कि रस को स्वप्रकाशस्वरूप न कहा जाय। किन्तु ऐसी बात कहाँ? विभावादिसमूहालम्बनात्मक अनुभव और प्रकाशशरीर ज्ञान तो एक अभिन्न वस्तु है जैसा कि कहा गया है—रस और चर्वणा (रसना) में कोई तात्त्विक भेद नहीं। जैसे 'रस' की उत्पत्ति-कल्पना निरर्थक है वैसे ही 'चर्वणा' की भी। किन्तु जैसे 'चर्वणा' में आविर्भाव-तिरोभाव के दर्शन से उपचारतः उत्पत्ति-कल्पना की जा सकती है वैसे ही चर्वणात्मक किंवा सहृदय-हृदय की अनादि वासना के परिणामस्वरूप अभिव्यक्त रत्यादिभाव (रस) में भी उपचारतः 'उत्पत्ति' की कल्पना हो ही सकती है।

जैसे परिणामवाद की दृष्टि से रस को स्वप्रकाश किंवा अखण्ड माना जा सकता है (जैसा कि अभी बताया गया) वैसे ही यदि 'रसध्वनिवाद की भी दृष्टि से, जिसके अनुसार रस चिन्मय किंवा चमत्काररूप है, रस को स्वप्रकाश किवा अखण्ड कहा जाय तो किसी को कोई आपत्ति होना तो दूर रहे, उलटे सबके लिए एकमात्र निर्द्वन्द्व आनन्द की ही बात है।' तभी तो कहा गया है—

'वैसे तो रस स्वप्रकाशानन्दरूप है किन्तु सहृदय सामाजिक इसे अपने हृदय में जन्मजन्मान्तर से सञ्चित किंवा काव्य-नाट्य की भावकता (व्यञ्जकता) शक्ति से उद्बुद्ध, रत्यादिभाव के रूप में अनुभव किया करते हैं।'

इस प्रकार यह निःसन्दिग्ध है कि रस 'स्वप्रकाश' है। अब रसध्वनितत्त्वदर्शी काव्याचार्यों का उन लोगों (जैसे कि नैयायिकों) से क्या झगड़ा जो कि ज्ञान को 'स्वप्रकाश' ही नहीं मानते? ऐसे लोगों को ठीक करना तो वेदान्ताचार्यों का काम है। 'रस' और विभावादिसमूहालम्बनात्मकज्ञान में जब कोई भेदभाव नहीं तब तो रस की अखण्डता स्वयं ही सिद्ध है। भले ही काव्य-नाट्य-भावना के प्रारम्भ में विभावादि पृथक्-पृथक् प्रतीत हों, जैसा कि हुआ ही करते हैं, किन्तु इन्हें 'रस' तभी कहा करते हैं जब कि ये एक समूहालम्बन रूप से अभिव्यक्त होकर चिच्चमत्कारमय हो जाया करते हैं। इसीलिए कहा गया है—

'क्या विभाव, क्या अनुभाव और क्या सात्त्विक किंवा व्यभिचारीभाव-सभी पहले

प्रतीयमानाः प्रथमं खण्डशो यान्त्यखण्डताम् ॥' इति ।
'परमार्थतस्त्वखण्ड एवायं वेदान्तप्रसिद्धब्रह्मतत्त्ववद्वेदितव्यः' इति च ।

(विभावादि वर्ग में विभावरूपतत्त्व : स्वरूपनिर्देश)

अथ के ते विभावानुभावव्यभिचारिण इत्यपेक्षायां विभावमाह—

रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः ।

ये हि लोके रामादिगतरतिहासादीनामुद्बोधकारणानि सीतादयस्त एव

(अर्थात् काव्य-नाट्य-भावना के प्रारम्भ में) अपने-अपने भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत हुआ करते हैं। किन्तु 'रस' रूप में परिणत होते ही इनकी भिन्नता समाप्त हो जाया करती है और सब मिलकर एक अखण्ड आनन्दात्मक अनुभव के रूप में परिणत हो जाते हैं।' अथवा जैसे वेदान्तदर्शन के अनुसार, घटपटादि रूप से भिन्नतया अवभासित भी ब्रह्मतत्त्व वस्तुतः एक अखण्ड सच्चिदानन्द रूप ही रहा करता है वैसे ही काव्य-दर्शन के अनुसार, विभावादि रूप से खण्डशः प्रतीयमान भी रसतत्त्व परमार्थतः एक अभिन्न अखण्डरूप ही आस्वादानुभाव है।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार ने यहां रस की स्वप्रकाशता और अखण्डता की जो सिद्धि की है उसने पण्डितराज जगन्नाथ की रस-मींमांसा को पर्याप्तरूप से प्रभावित किया है। रस की अभिव्यक्ति का अभिप्राय चाहे सहृदय सामाजिक के हृदय में, विभावादि परामर्श से, अलौकिक आनन्दानुभव रूप में परिणत अनादि रत्यादिभाव माना जाय या 'स्थाय्युपहित चैतन्य' समझा जाय, इतना निःसंदिग्ध है कि रसरूप अनुभव एक अखण्ड किंवा स्वप्रकाशानन्दमय रूप ही अनुभव है। यहां साहित्यदर्पणकार ने काश्मीरिक प्रत्यभिज्ञादर्शन की पृष्ठभूमि पर 'रस' का दर्शन न कर सांख्य और वेदान्त की भूमिका पर 'रस' निरूपण किया है। इस निरूपण के ही आधार पर रस के संबन्ध में कालान्तर में ये धारणायें बनती आयी हैं—

(१) 'विभावादिसंवलितरत्यवच्छिन्नचिदानन्दावरणभङ्गात् प्रकाशमानानन्दचिद्विषयो विभावादिसंवलितः स्थायी रत्यादिको रसः।'

(२) 'तादृशस्थाय्युपहितचैतन्यमेव रसः। 'रसो वै सः' इति श्रुतेः।'

(३) 'तादृशविभावादिसंवलितस्थाय्युपहितचिदानन्दाकारावृत्तिः रसः।'

(ख) 'ज्ञान स्वप्रकाश है—इसकी सिद्धि इस प्रकार की जाया करती है—

'ज्ञानमस्तीति विज्ञानं स्वात्मानं साधयेन्न वा ।
पूर्वत्र स्वप्रकाशत्वं सर्वासिद्धिरतोऽन्यथा ॥' (न्यायसिद्धाञ्जन : बुद्धिपरिच्छेद)

अर्थात् यदि ज्ञान के अस्तित्व की सिद्धि ज्ञान द्वारा ही संभव है क्योंकि यहां और कोई उपाय नहीं तब तो यही स्वतःसिद्ध है कि ज्ञान स्वप्रकाश है ज्ञान यदि स्वप्रकाश नहीं तो किसी भी वस्तु का अस्तित्व कदापि प्रमाणित नहीं हो सकता।

अनुवाद—जिनकी भावना से रसानुभव संभव है वे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावरूप काव्य-नाट्य-तत्त्व क्या हैं—इसकी जिज्ञासा अब स्वभावतः जाग सकती है, इसलिये यहां सर्वप्रथम 'विभाव' का स्वरूप निर्दिष्ट किया जा रहा है—

'लोक में जो-जो पदार्थ लौकिक रत्यादि भावों के उद्बोधक हुआ करते हैं वे ही काव्य नाट्य में निविष्ट होने पर 'विभाव' कहे जाया करते हैं।'

तात्पर्य यह है कि लोक-जीवन के रामादि पुरुषों के हृदय में रति-हास-शोकादि भावों

काव्ये नाट्ये च निवेशिताः सन्तः 'विभाव्यन्ते आस्वादाङ्कुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावा एभिः' इति विभावा उच्यन्ते। तदुक्तं भर्तृहरिणा—

'शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षानिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥' इति।

के उद्बोधन के जो सीतादिरूप कारण है, वे ही काव्य-नाट्य में निविष्ट होने पर, 'विभाव' कहे जाया करते हैं। काव्य-नाट्य-समर्पित सीतादि को इसलिये 'विभाव कहा करते हैं क्योंकि 'इन्हीं के द्वारा सहृदय सामाजिकों की अनादि रत्यादि वासना रस रूप में अङ्कुरित होने में समर्थ बनायी जाया करती है।' आचार्य भर्तृहरि की यह सूक्ति काव्य-नाट्य-निविष्ट सीतादिरूप विभावतत्व की भी वस्तु-सत्ता को प्रमाणित करती प्रतीत हो रही है—

'शब्द द्वारा उपनिबद्ध और इसीलिये शाब्द-बोध के विषयभूत कंस-कृष्ण आदि-आदि परोक्ष पदार्थों का भी वध्य-घातकरूप में साक्षात्कार किया करना लोगों के लिये स्वाभाविक है (क्योंकि भावकचित्त में विराजमान वस्तुयें बौद्धिक भले ही हों अवास्तविक कदापि नहीं)।'

विमर्श—'लोकगत राम-सीतादि की वास्तविकता तो निःसंदिग्ध है ही किन्तु काव्य-नाट्यगत राम-सीतादिरूप विभावतत्व की वस्तु-सत्ता भी सिद्ध ही है। कवि और नाटककार राम-सीतादि रूप विभावतत्त्व की जो भी शब्दमय रूपरेखा बनाया करते हैं उसमें यह सामर्थ्य रहा करता है कि वह देश और काल के आधार के विना ही राम-सीतादि रूप पदार्थों को सामाजिकचित्त में उपस्थित कर दे। ऐसा करने से ही, इन बौद्धिक पदार्थों के साक्षात्कार के कारण ही, सामाजिक हृदय इनमें तन्मयता की साधना करने लग जाता हैं और रसास्वाद की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है'—साहित्यदर्पणकार की यह विभाव-समीक्षा दशरूपककार की इस उक्ति का अवलम्ब लेकर चल रही है—

'अमीषां चानपेक्षितबाह्यसत्त्वानां शब्दोपधानादेवासादिततद्भावानां सामान्यात्मनां स्वस्वसम्बन्धित्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानानामालम्बनादिभाव इति न वस्तुशून्यता। तदुक्तं भर्तृहरिणा—

'शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥' इति

पट्साहस्रीकृताप्युक्तम्—

'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते।' इति। (दशरूपक ४ र्थ प्रकाश)

जिसका अभिप्राय यह हैं—प्रतिदिन के व्यावहारिक जगत् की वस्तुयें अपने-अपने प्रतिनियत स्वभाव में नियन्त्रित रहा करती हैं। काव्य-नाट्य के क्षेत्र में इन्हीं वस्तुओं का ऐसा रूपान्तर हो जाया करता है जिससे इनकी व्यक्तिगत विशेषतायें लुप्त हो जाया करती हैं, इनका सामान्य स्वभाव स्फूर्तिमान् हो उठता है और सामाजिकमात्र की भावना इन्हें वास्तविक बना दिया करती हैं। भावकचित्त की भूमि में विचरणशील इन वस्तुओं से ही रस की निष्पत्ति संभव है न कि इनके लोकगत स्वरूप से।

नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'विभाव' का यह अभिप्राय प्रकाशित किया है—

'विभाव इति कस्मादुच्यते? विभावो विज्ञानार्थः। विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः। विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इति विभावः। यथा विभावितं विज्ञातमित्यनर्थान्तरम्। अत्र श्लोकः—

(विभाव के दो भेद)

तद्भेदावाह—

आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।

स्पष्टम् । तत्र—

आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात् ॥ ॥ २९ ॥

आदिशब्दान्नायिकाप्रतिनायिकादयः । अथ यस्य रसस्य यो विभावः स तत्स्वरूपवर्णने वक्ष्यते ।

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः ।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः ॥' (नाट्यशास्त्र : सप्तमाध्याय)

जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहां 'विभाव' चतुर्विध अभिनय की आधारशिला के रूप में प्रतिपादित किया हुआ है । 'अभिनय का समस्त रहस्य जिसके जानने से जाना जा सकता है वह 'विभाव' है ।' यह विभाव-मीमांसा रस-चर्वणा के साधनरूप में बाद के नाट्याचार्यों ने स्वीकृत की है । दशरूपककार ने इसीलिये कहा है—

'ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभावः कथञ्च सीतादीनां विभावत्वेनाविरोधः ? उच्यते—

धीरोदात्ताद्यवस्थायां रामादिः प्रतिपादकः ।
विभावयति रत्यादीन् स्वदन्ते रसिकस्य ते ॥

न हि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहासवदुपनिबध्नन्ति, किं तर्हि ? सर्वलोकसाधारणस्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधीः धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिनीः विदधति ।' (दशरूपक : ४ र्थ प्रकाश)

अर्थात् काव्य-नाट्य के क्षेत्र में जनकतनयादि विशेषताओं से शून्य, वस्तुतः साधारणीकृत, सीतादि को 'विभाव' कहा करते हैं । ऐसा इसलिये क्योंकि इसी से सामाजिक हृदय में रत्यादि वासनायें स्फुरित हुआ करती हैं ।

नाट्यदर्पणकार की भी यही विभाव-दृष्टि है—

'वासनात्मतया स्थितं स्थायिनं रसत्वेन भवन्तं विभावयन्ति, आविर्भावनाविशेषेण प्रयोजयन्ति इत्यालम्बनोद्दीपनरूपा ललनोद्यानादयो विभावाः । (नाट्यदर्पण : ३ य विवेक)

अनुवाद—'विभाव' के भेदों का निरूपण किया जा रहा है—

'विभाव के दो भेद हुआ करते हैं—(१) आलम्बनरूप विभाव और (२) उद्दीपनरूप विभाव । यहाँ जो तात्पर्य है वह स्वयं स्पष्ट है । इन दोनों विभाव-भेदों में 'आलम्बन विभाव' का अभिप्राय तो काव्य-नाट्य-वर्णित नायकादि का है । काव्य-नाट्य-वर्णित नायकादि को इसलिये 'आलम्बन विभाव' कहा करते हैं क्योंकि इन्हीं के सहारे, इन्हीं के साथ, साधारणीकरण होने के कारण, सामाजिकों के हृदय में 'रस' का सञ्चार हुआ करता है ।

यहाँ 'नायकादि' का अभिप्राय नायक के अतिरिक्त नायिका, उपनायिका आदि-आदि का है क्योंकि इनके सहारे भी, साधारणीकरण होने पर सामाजिकों को रसास्वाद मिला करता है । अब जिस-जिस रस का जो-जो 'उद्दीपन विभाव' है उसका निरूपण, यहाँ नहीं अपितु, उस-उस रस के प्रसंग में किया ही जायगा ।

('नायक' का स्वरूप-निरूपण)

तत्र नायकः—

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥ ३० ॥

दक्षः क्षिप्रकारी । शीलं सद्वृत्तम् । एवमादिगुणसम्पन्नो नेता नायको भवति ।

(नायक के भेदोपभेद)

तद्भेदानाह—

धीरोदात्तो धीरोद्धतस्तथा धीरललितश्च ।
धीरप्रशान्त इत्ययमुक्तः प्रथमश्चतुर्भेदः ॥ ३१ ॥

स्पष्टम् ।

अनुवाद—आलम्बनविभावरूप 'नायक' कौन है ?

'नायक' वह है जो त्याग-भावना से भरा हो, महान् कार्यों का कर्ता हो, कुल का महान् हो, बुद्धि-वैभव से सम्पन्न हो, रूप-यौवन और उत्साह की सम्पदाओं से सम्पन्न हो, निरन्तर उद्योगशील रहने वाला हो, जनता का स्नेहभाजन हो और तेजस्विता, चतुरता किंवा सुशीलता-का निदर्शक हो ।

यहाँ (त्यागी आदि कारिका में) 'दक्ष' पद का प्रयोग 'क्षिप्रकारी' अथवा 'कार्य-सम्पादन में सतत जागरूक' अर्थ में है, 'शील' शब्द का अर्थ 'सद्वृत्त' अथवा 'सदाचार' का है । यहाँ अभिप्राय यही है कि जिस व्यक्ति में त्याग आदि गुणों का सर्वतोभद्र सद्भाव हो वही (काव्य-नाट्य में) 'नायक' अथवा नेता (सहृदय सामाजिक को कवि किंवा नाटककार के आदर्शों की ओर ले जाने वाला) हुआ करता है ।

(काव्य-नाट्य के) इस 'नायक' के भी कई भेद हुआ करते हैं जैसे कि—

'सर्वप्रथम' 'नायक' के ये चार भेद हैं—(१) धीरोदात्त, (२) धीरोद्धत, (३) धीर-ललित और (४) धीरप्रशान्त ।

यहाँ जो अभिप्राय है वह स्पष्ट है ।

विमर्श—भरत नाट्यशास्त्र के अनुसार स्त्री-पुरुषों की प्रकृति त्रिविध बतायी गयी है और काव्य-नाट्य में वर्णित उत्तम तथा मध्यम प्रकृति के पुरुषों को, धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीरप्रशान्त—इन चार प्रकार के नायकों के रूप में निर्दिष्ट किया गया है :—

'समासतस्तु प्रकृतिस्त्रिविधा परिकीर्तिता ।
पुरुषाणामथ स्त्रीणामुत्तमाधममध्यमा ॥
.... ।
मध्यमोत्तमायां प्रकृतौ नानालक्षणलक्षिताः ॥
धीरोद्धता धीरललिता धीरोदात्तास्तथैव च ।
धीरप्रशान्तकाश्चैव नायकाः परिकीर्तिताः ॥
देवा धीरोद्धता ज्ञेया ललितास्तु नृपाः स्मृताः ।
सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ ॥
धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणाः वणिजस्तथा । (नाट्यशास्त्र : अध्याय २४)

('धीरोदात्त' नायक कौन है ?)

तत्र धीरोदात्तः—

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः ।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥ ३२ ॥

नाट्यशास्त्र की यही मर्यादा 'नाट्यदर्पण' की इन पंक्तियों में सुरक्षित दिखाई देती है—

'उद्धतोदात्त-ललित-शान्ता धीरविशेषणाः ।
वर्ण्याः स्वभावाश्चत्वारो नेतॄणां मध्यमोत्तमाः ॥

धीरो धैर्यं महाव्यसनेऽप्यकातर्यं विशेषणं येषां उद्धतादीनां, धीरोद्धत-धीरोदात्त-धीरललित-धीरप्रशान्ता इत्यर्थः । एवं नाम कविर्वर्णयति । जन्मोत्थितास्तु स्वभावा नेतॄणां यथा तथा वा सन्तु । नेतॄणामिति बहुवचनात् प्रायेणैकस्मिन् धर्मिण्येकैकः स्वभावः क्वचिदेव तु चत्वारः । मध्यमोत्तमा इति । यद्यपि स्वस्थाने सर्वमपि उत्तम मध्यमाधम भेदेन त्रिधा, तथापि धीरोद्धतत्वादयः स्वभावा उत्तम-मध्यम भेदेनैव वर्णनीया इति ।'

(नाट्यदर्पण : नाटकनिर्णय : प्रकरण)

अर्थात् अधमप्रकृति के पुरुषों अथवा स्त्रियों को तो नायक अथवा नायिकारूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। जो उत्तम और मध्यम-प्रकृति के लोग हैं उन्हें ही कवि अथवा नाटककार नायक-रूप में प्रधान नाटकीय चरित-चित्रण का विषय बनाया करता है । नायक की सबसे बड़ी विशेषता है—'धैर्य' अर्थात् महासंकट में भी अकातरता। उदात्तता, उद्धतता, ललितता और शान्तता—यह स्वभाव-चातुर्विध्य पृथक्-पृथक् रूप से नायक में वर्णित हुआ करता है। यह भी संभव है कि एक नायक में भी यह स्वभाव-चातुर्विध्य विराजमान रहे किन्तु ऐसा वर्णन सामान्य नियम नहीं अपितु एक अपवाद है।

नायक के चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में यह दृष्टि कालान्तर में संभवतः कुछ बदल गयी। दशरूपककार के युग में यह दृष्टि-परिवर्तन प्रारम्भ हो गया ऐसा प्रतीत होता है जैसा कि दशरूपक की इस नायक-समीक्षा से स्पष्ट है—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥
भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम् ।

(दशरूपक : प्रकाश-२)

उपर्युक्त नायक-निरूपण में नाट्याचार्यों का दृष्टि-परिवर्तन इसलिये दिखायी देता है क्योंकि यहाँ 'धैर्य' की विशेषता का, उद्धतादि स्वभाव-चतुष्टय के साथ समन्वय करने के बदले, धीरोद्धतादि की पारिभाषिकता पर ही ध्यान रखा गया है। विश्वनाथ कविराज भी इसी दृष्टि-परिवर्तन से प्रभावित हैं।

अनुवाद— **इन चतुर्विध नायकों में 'धीरोदात्त' नायक वह है जिसे—**

'आत्मश्लाघा की भावनाओं से रहित, क्षमाशील, अति गम्भीर, दुःख-सुख में प्रकृतिस्थ, स्वभावतः स्थिर और स्वाभिमानी किन्तु विनीत कहा गया है।'

अविकत्थनोऽनात्मश्लाघाकरः। महासत्त्वो हर्षशोकाद्यनभिभूतस्वभावः। निगूढमानो विनयच्छन्नगर्वः। दृढव्रतोऽङ्गीकृतनिर्वाहकः। यथा—रामयुधिष्ठिरादिः।

('धीरोद्धत' नायक की विशेषता)

अथ धीरोद्धतः—

मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहङ्कारदर्पभूयिष्ठः।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः॥ ३२॥

यथा भीमसेनादिः।

('धीरललित' नायक का स्वभाव)

अथ धीरललितः—

निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्।

यहां 'अविकत्थन' का अभिप्राय है विकत्थना अथवा आत्मश्लाघा से रहित का। 'महासत्त्व' का तात्पर्य है सुख दुःख के आक्रमणों में अडिग रहने वाले का। 'निगूढमान' का अर्थ है अपनी विनीतता से अपने अहंकार पर विजयी बननेवाले का और 'दृढव्रत' कहते हैं अंगीकृत कार्यों के अन्त तक करते रहने वाले को उदाहरण के लिए राम, युधिष्ठिर आदि महापुरुष लिए जा सकते हैं।

विमर्श—दशरूपककार की निम्न धीरोदात्त-मीमांसा, जिसने साहित्यदर्पणकार को प्रभावित किया है, यहाँ ध्यान देने योग्य है—

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः॥

महासत्त्वः शोकक्रोधाद्यनभिभूतान्तःसत्त्व। अविकत्थनः अनात्मश्लाघनः। निगूढाहंकारः विनयच्छन्नावलेपः। दृढव्रतः अंगीकृतनिर्वाहकः। (दशरूपक : २ प्रकाश)

अनुवाद—'धीरोद्धत' नायक वह है :—

'जो कि मायापटु हो, उग्र स्वभाव वाला हो, स्थिर प्रकृति का न हो, अहंकार और दर्प से भरा हो, और जिसे नाट्यकोविद आत्मश्लाघा में निरत कहा करते हैं।'

उदाहरण के लिये, भीमसेन आदि लिये जा सकते हैं।

विमर्श—'धीरोद्धत' नायक का यही स्वरूप दशरूपक में भी निर्दिष्ट है—

'दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः॥

दर्पः = शौर्यादिमदः, मात्सर्यम् = असहनता, मन्त्रबलेनाविद्यमानवस्तुप्रकाशनं माया, छद्म=वञ्चनामात्रम्, चलः=अनवस्थितः, चण्डः = रौद्रः, विकत्थनः = स्वगुणाशंसी, धीरोद्धतो भवति। यथा जामदग्न्यः—कैलासोद्धारसारत्रिभुवनविजय' इत्यादि। यथा च रावणः—'त्रैलोक्यैश्वर्यलक्ष्मीहठहरणसहा बाहवो रावणस्य' इत्यादि।

(दशरूपक-२ य प्रकाश)

अनुवाद—'धीरललित' नायक वह है :—

'जो कि निश्चिन्त रहने वाला हो, स्वभाव का मृदु हो और कलाव्यसनी हो।'

कला नृत्यादिका। यथा—रत्नावल्यादौ वत्सराजादिः।

('धीरप्रशान्त' नायक का निरूपण)

अथ धीरप्रशान्तः—

सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात् ॥ ३४ ॥

यथा—मालतीमाधवादौ माधवादिः।

(शृङ्गार रस में उक्त चतुर्विध नायकों के अन्य चार प्रकार)

एषां च शृङ्गारादिरूपत्वे भेदानाह—

एभिर्दक्षिणधृष्टानुकूलशठरूपिभिस्तु षोडशधा।

तत्र तेषां धीरोदात्तादीनां प्रत्येकं दक्षिणधृष्टानुकूलशठत्वेन षोडशप्रकारो नायकः।

यहाँ 'कला' का अभिप्राय नृत्य आदि कलाओं से है। उदाहरण के लिये 'रत्नावली' आदि में वत्सराज आदि नायक 'धीरललिता' नायक रूप में चित्रित हैं।

विमर्श—दशरूपककार ने 'धीरललित' का ऐसा ही वर्णन किया है :—

'निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः। सचिवादिविहितयोगक्षेमत्वाच्चिन्तारहितः अत एव गीतादिकलानिष्ठो भोगप्रवणश्च शृङ्गारप्रधानत्वाच्च सुकुमारसत्त्वाचारो मृदुरिति ललितः।' (दशरूपक : २ य प्रकाश)

अनुवाद—'धीरप्रशान्त' नायक उस नायक को कहते हैं—

'जिसमें नायक के त्याग आदि सामान्य गुण प्रचुर मात्रा में हों और जो ब्राह्मणादि वर्ण का हो।

उदाहरण के लिये 'मालतीमाधव' आदि में माधव आदि नायक 'धीरप्रशान्त' नायक हैं।

विमर्श—'धीरप्रशान्त' नायक का यही स्वरूप दशरूपककार ने भी निरूपित किया है—

'सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः। विनयादिनेतृसामान्यगुणयोगी धीरशान्तो द्विजादिक इति विप्रवणिक्सचिवादीनां प्रकरणनेतृणामुपलक्षणम्। विवक्षितं चैतत्, तेन नैश्चिन्त्यादिगुणसंभवेऽपि विप्रादीनां शान्ततैव, न लालित्यं, यथा मालतीमाधवमृच्छकटिकादौ माधवचारुदत्तादिः।' (दशरूपककार—२ य प्रकाश)

अनुवाद—इन उपर्युक्त चतुर्विध नायकों के जो अन्य भेद-प्रभेद हैं, जो कि शृङ्गार रस के प्रसंग में स्पष्ट परिलक्षित हुआ करते हैं, उनका निरूपण किया जा रहा है—

ये ही धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त नायक; दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ—इन चार रूपों में चित्रित होकर १६ भेदों में विभक्त दिखाई देते हैं।

यहाँ तात्पर्य यह है कि (शृङ्गाररसात्मक काव्य-नाट्य में) धीरोदात्त आदि चारों प्रकारों के नायकों में भी प्रत्येक के दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ रूप होने से, सब मिलाकर 'नायक' के १६ भेद हुआ करते हैं।

विमर्श—यहाँ नायक-निरूपण का प्रकरण है। इसलिये विश्वनाथ कविराज ने यहाँ संस्कृत काव्य-साहित्य के समस्त नायक-प्रकारों का निर्देश कर दिया है। इस निर्देश में भी दशरूपक का प्रभाव स्पष्ट है क्योंकि दशरूपककार ने भी इसी प्रकार नायक-भेद का निरूपण किया है—

(१—श्रृङ्गार-प्रबन्ध के नायक-प्रकार : 'दक्षिण' नायक)

एषु त्वनेकमहिलासु समरागो दक्षिणः कथितः ॥ ३५ ॥

द्वयोस्त्रिचतुःप्रभृतिषु नायिकासु तुल्यानुरागो दक्षिणनायकः ।

यथा—

स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता, वारोऽङ्गराजस्वसु-
र्द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया, देवी प्रसाद्याद्य च ।
इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः ॥

'अथ श्रृङ्गारनेत्रवस्थाः—

स दक्षिणः शठो धृष्टः पूर्वां प्रत्यन्यया हृतः । नायकप्रकरणात् पूर्वां नायिकां प्रत्यन्ययाऽपूर्वनायिकयाऽपहृतचित्तस्त्र्यवस्थो वक्ष्यमाण (अनुकूलरूप) भेदेन चतुरवस्थः । तदेवं पूर्वोक्तानां चतुर्णां प्रत्येकं चतुरवस्थत्वेन षोडशधा नायकः ।' (दशरूपक : २ य प्रकाश)

तात्पर्य यह है कि श्रृङ्गार के अतिरिक्त अन्य रस-प्रबन्धों में तो धीरोद्धत, धीरोदात्त, धीरललित किंवा धीरप्रशान्त—ये चार प्रकार के ही नायक पाये जाते हैं किन्तु श्रृङ्गार-प्रबन्ध में, उपर्युक्त प्रत्येक प्रकार के नायकों के भी दक्षिण, शठ, धृष्ट और अनुकूल रूप से चार-चार भेद वर्णित किये गये हैं जिससे, श्रृङ्गार-प्रबन्ध की दृष्टि से, 'नायक' के सोलह प्रकार सिद्ध हैं ।

अनुवाद—श्रृङ्गार-प्रबन्ध की दृष्टि से निरूपित उपर्युक्त चतुर्विध नायकों में 'दक्षिण' नायक वह है जिसे एक से अधिक रमणी-जन के साथ समान अनुराग रखने वाला कहा गया है ।

यहाँ 'अनेकमहिलासु समानुरागः' का अभिप्राय 'दो या तीन या चार या इससे भी अधिक नायिकाओं के प्रति समान प्रेम रखने वाले 'दक्षिण' नायक का है । उदाहरण के लिये निम्न नायक चित्रण—

'(प्रतीहारी की किसी के प्रति उक्ति—) जबकि मैंने अन्तःपुर की सुन्दरियों का समाचार पाकर महाराज से निवेदन किया—'महाराज ! कुन्तल की राजकुमारी तो स्नान से निवृत्त हुई प्रतीक्षा कर रही है, आज का दिन वैसे अंगराज की बहिन से मिलने का है, साथ ही कमला से द्यूत-क्रीडा में पहले ही आप आज की रात हार चुके हैं और महारानी को भी तो आज आपको मनाना है' तो महाराज निश्चय न कर सके कि क्या करें और दो-तीन घड़ी चुपचाप पड़े रहे ।

विमर्श—यहां यह स्पष्ट है कि जिस नायक का चित्र खींचा गया है वह 'दक्षिण' नायक ही है । एक से अधिक प्रेमिकाओं से समान रूप से प्रेम करने वाला ही व्यक्ति 'किस प्रेमिका से मिलें'-इस उधेड़-बुन में पड़ा दिखाई दे सकता है, दूसरा नहीं ।

किन्तु साहित्यदर्पणकार की यह 'दक्षिण' नायक परिभाषा दशरूपक की परिभाषा से भिन्न है । दशरूपककार के अनुसार 'दक्षिण' नायक का यह लक्षण है—

'दक्षिणोऽस्यां सहृदयः—
योऽस्यां ज्येष्ठायां हृदयेन सह व्यवहरति स दक्षिणः ।' (दशरूपक : २ य प्रकाश)

अर्थात् 'दक्षिण' नायक वह है जो कि प्रधान नायिका के प्रति हार्दिक प्रेम रखा करता है ।

(२—'धृष्ट' नायक)

कृतागा अपि निःशङ्कस्तर्जितोऽपि न लज्जितः ।
दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्कथितो धृष्टनायकः ॥ ३६ ॥

यथा मम—

शोणं वीक्ष्य मुखं विचुम्बितुमहं यातः समीपं ततः
पादेन प्रहृतं तया, सपदि तं धृत्वा सहासे मयि ।
किञ्चित्तत्र विधातुमक्षमतया बाष्पं सृजन्त्याः सखे !
ध्यातश्चेतसि कौतुकं वितनुते कोपोऽपि वामभ्रुवः ॥

(३—'अनुकूल' नायक)

अनुकूल एकनिरतः—

एकस्यामेव नायिकायामासक्तोऽनुकूलनायकः ।

संभवतः प्रधान नायिका के प्रति हार्दिक प्रेम-भावना के संकेत से अप्रधान नायिकाओं के प्रति प्रेम-भावना का निष्कर्ष साहित्यदर्पणकार ने निकाला है और 'दक्षिण' नायक की उपर्युक्त परिभाषा की है ।

अनुवाद—'धृष्ट' नायक वह है जो कि प्रेम में अपराधी होने पर भी, अपनी प्रेमिका के कोप की चिन्ता नहीं करता, प्रेमिका की झिड़कियाँ खाने पर भी लज्जित नहीं होता और स्पष्टतया अपने दोषों के प्रकट हो जाने पर भी झूठ बोलकर उन्हें छिपाने को ही तैयार रहा करता है ।

जैसे कि यह स्वचित्रित नायक-चित्रण-'(किसी प्रेमी को अपने मित्र के प्रति उक्ति)—'मेरे मित्र ! मैं जब उस सुन्दरी का मुंह (क्रोध से) लाल देखते, उसे चुम्बन करने, उसके पास चला तो उसने लात चला दी । जब उसने लात चला दी तो मैंने उसकी लात पकड़ ली और मैं हँस पड़ा । जब वह इसका कोई प्रतीकार न कर सकी और आँसू बहाने लगी तो क्या बताऊँ, बस इतना ही कह सकता हूँ कि उस सुन्दरी के उस कोप की स्मृति रह रह कर मन में एक विचित्र आनन्द-कौतुक पैदा किया करती है ।'

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का यह 'धृष्ट'-लक्षण दशरूपककार के इस धृष्ट-लक्षण' अर्थात्—

'व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टः—

यथाऽमरुशतके—

लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले
वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोऽपरः ।
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्तिं गताः ॥'

इत्यादि का ही एक व्याख्यानरूप है ।

अनुवाद—'अनुकूल' नायक वह है जो कि एक नायिका के प्रेम में पगा रहा करता है । अभिप्राय यह है कि एक प्रेमिका के प्रति आसक्ति रखने वाला ही व्यक्ति 'अनुकूल' नायक कहा जा सकता है ।

यथा—

अस्माकं सखि ! वाससी न रुचिरे, ग्रैवेयकं नोज्ज्वलं,
नो वक्रा गतिरुद्धतं न हसितं, नैवास्ति कश्चिन्मदः।
किन्त्वन्येऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्याः प्रियो नान्यतो
दृष्टिं निक्षिपतीति विश्वमियता मन्यामहे दुःस्थितम् ॥

(३—'शठ' नायक)

—शठोऽयमेकत्र बद्धभावो यः।
दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति ॥ ३७ ॥

यः पुनरेकस्यामेव नायिकायां बद्धभावो द्वयोरपि नायिकयोर्बहिर्दर्शितानुरागोऽन्यस्यां नायिकायां गूढं विप्रियमाचरति स शठः।

यथा—

'शठान्यस्याः काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा
यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः।

जैसे कि यह नायक-चित्रण—

(किसी सुन्दरी की अपनी सखी के प्रति उक्ति)—'अरी सखी ! मेरे कपड़े भी सुन्दर नहीं, गले का गहना भी साफ नहीं, चाल में भी अठखलियां नहीं, हँसी में भी कोई विचित्रता नहीं और न किसी प्रकार की कोई मस्ती ही है किन्तु तब भी जब कि लोग यह कहते सुनते दिखायी देते हैं कि सुन्दर भी मेरा प्रेमी मुझे छोड़ और किसी सुन्दरी पर आँख तक नहीं उठाता, तब तो मुझे ऐसा ही लगता है जैसे मुझे छोड़ सारा संसार ही दुःख में डूबा है।'

विमर्श—दशरूपककार ने 'अनुकूल' नायक को 'एकनायिक' अर्थात् 'एकप्रेमिकानुरक्त' कहा है। साहित्यदर्पणकार का 'अनुकूल'-नायक-लक्षण वस्तुतः यही अभिप्राय रखता है। 'अनुकूल' नायक का अत्यन्त सुन्दर भावचित्र महाकवि भवभूति की इन पंक्तियों में खिंचा है—

'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितम्
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥'

(उत्तररामचरित : अङ्क ४)

अनुवाद—'शठ' नायक वह है जो कि वस्तुतः तो किसी दूसरी नायिका से प्रेम करे और अपनी पहली प्रेमिका से बाहरी प्रेम जताकर, छिपे छिपे उसका अनिष्ट किया करे।

तात्पर्य यह है कि 'शठ' नायक का प्रेम-सम्बन्ध दो नायिकाओं से होना चाहिये। असली प्रेम-सम्बन्ध एक से और नकली दूसरी से। बाहर से तो इस प्रकार का नायक दोनों प्रेमिकाओं पर समान प्रेम दिखाया करता है किन्तु एक को हृदय से चाहने के कारण दूसरी का छिपकर अप्रिय करना ही इसका स्वभाव है। उदाहरण के लिये, यह नायक-चित्रण—

'(नायिका की सखी की नायक के प्रति उक्ति)—अरे शठ ! तेरी कौन चलावे तू तो मेरी सखी का आलिङ्गन करते हुये भी, अपनी प्रेयसी की करधनी की झंकार

तदेतत्काचक्षे घृतमधुमयत्वद्बहुवचो-
विषेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति ॥'

(उपर्युक्त नायक-भेद-परिगणन)

एषां च त्रैविध्यादुत्तममध्याधमत्वेन ।
उक्ता नायकभेदाश्चत्वारिंशत्तथाऽष्टौ च ॥ ३८॥

एषामुक्तषोडशभेदानाम् ।

('नायक' के सहायक)

अथ प्रसङ्गादेतेषां सहायानाह—

दूरानुवर्तिनि स्यात्तस्य प्रासङ्गिकेतिवृत्ते तु ।
किञ्चित्तद्गुणहीनः सहाय एवास्य पीठमर्दाख्यः ॥ ३९ ॥

तस्य नायकस्य बहुव्यापिनि प्रसङ्गसंगते इतिवृत्तेऽनन्तरोक्तैर्नायकसामान्यगुणैः किञ्चिदूनः पीठमर्दनामा सहायो भवति। यथा—रामचन्द्रादीनां सुग्रीवादयः।

सुनते ही, सहसा अपने हाथों को ढीला कर लेते हो! और मेरी सखी ऐसी है जो कि तुम्हारी, बाहर से चिकनी-चुपड़ी किंतु भीतर से विष में बुझी, बातों में आकर प्रसन्नता से नाचती हुई उन्हें कुछ समझती ही नहीं।'

विमर्श—यहाँ 'शठ' नायक का जैसा वर्णन है उसमें इस प्रकार के नायक के प्रेमी व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यञ्जना है। प्राचीन राजगण के अन्तःपुर की लीलाओं और प्राचीन जनसमाज के प्रेम-जीवन की विशेषताओं के विश्लेषण के ही आधार पर नाट्याचार्यों ने उपर्युक्त चतुर्विध श्रृंगारी नायकों का श्रेणी-विभाग और स्वरूप-विवेक किया है जिसमें कोई कल्पना नहीं अपितु एकमात्र वास्तविकता की ही झलक है।

अनुवाद—इन उपर्युक्त नायकों में प्रत्येक के उत्तम, मध्यम और अधम रूप होने से, सब मिलाकर ४८ प्रकार के नायक गिनाये गये हैं।

यह 'एषाम्' 'इनके'-का अभिप्राय है उपर्युक्त १६ प्रकार के नायकों का क्योंकि तभी प्रत्येक के उत्तम-मध्यम-अधम रूप होने से ४८ नायक-भेद समझे-समझाये जा सकते हैं।

'नायक'-निरूपण के प्रसङ्ग में उसके सहायकों का भी निरूपण आवश्यक है। इसलिये यहां नायक के सहायकों का निर्देश किया जा रहा है—

'जहाँ नायक का प्रासङ्गिक इतिवृत्त दूर तक चला करता है वहां उसका एक 'सहायक' भी चित्रित किया जाया करता है जो कि नायक की अपेक्षा न्यूनगुण का हुआ करता है। इस नायक-सहायक को 'पीठमर्द' कहा करते हैं।'

यहां तात्पर्य यह है—काव्य अथवा नाट्य मेंआधिकारिक और प्रासङ्गिक दो प्रकार के इतिवृत्त रहा करते हैं। प्रासङ्गिक इतिवृत्त बड़ा भी हो सकता है और छोटा भी। यदि प्रासङ्गिक वृत्त बड़ा हुआ तो नायक के साथ उसका सहायक भी अपेक्षित है। यह नायक का सहायक उपर्युक्त त्यागादि नायक-गुणों से युक्त तो अवश्य रहा करता है किन्तु नायक की अपेक्षा इसे न्यून-गुण का ही चित्रित किया जाया करता है। इसीलिये इसे 'पीठमर्द'

(श्रृङ्गारी नायक के सहायक)

अथ श्रृङ्गारसहायाः—

श्रृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याः स्युः ।
भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानभञ्जनाः शुद्धाः ॥४०॥

आदिशब्दान्मालाकाररजकताम्बूलिकगान्धिकादयः ।

('विट' कौन है ?)

तत्र विटः—

संभोगहीनसंपद्विटस्तु धूर्त्तः कलैकदेशज्ञः ।
वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम् ॥४१॥

अर्थात् 'नायक के साथ उठने-बैठने वाला' कहा गया है। उदाहरण के लिये, काव्य अथवा नाट्य में, रामचन्द्र आदि नायकों के साथ जो सुग्रीव आदि चित्रित हैं वे सहायक अथवा 'पीठमर्द' के ही रूप में चित्रित हैं ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने जिसे 'नायक-सहायक' अथवा 'पीठमर्द' निर्दिष्ट किया है वही 'दशरूपक' में 'पताकानायक' बताया गया है—

'पताकानायकस्त्वन्यः पीठमर्दो विचक्षणः ।
तस्यैवानुचरो भक्तः किञ्चिदूनश्च तद्गुणैः ॥' (दशरूपक, २. ८)

बात वस्तुतः एक ही है। पताका का अभिप्राय प्रासङ्गिक व्यापक वृत्त का अभिप्राय है। प्रासङ्गिक वृत्त भी नायक के आधिकारिक वृत्त का ही निष्कर्ष है। इस प्रकार प्रासङ्गिक व्यापक वृत्त में जो नायक का 'सहायक' अथवा 'पताकानायक' हुआ करता है उसे ही 'पीठमर्द' कहते हैं ।

अनुवाद—श्रृङ्गार-प्रबन्ध के नायकों के सहायक और प्रकार के हुआ करते हैं और यहां उनका निर्देश किया जा रहा है—

'विट, चेट, विदूषक आदि-आदि वे 'सहायक' हैं जो कि श्रृङ्गारी नायक के सहायक हुआ करते हैं। ये सहायक स्वामिभक्त हुआ करते हैं, नर्मनिपुण हुआ करते हैं, मानिनी नायिका के मनाने में चतुर हुआ करते हैं और साथ ही साथ सच्चरित्र हुआ करते हैं।'

यहां ('विटचेटविदूषकाद्याः' में) आदि शब्द से माली, धोबी, तमोली, गन्धी आदि-आदि को भी 'सहायक' रूप में माना गया है।

श्रृङ्गारी नायक के सहायकों में 'विट' वह है—'जो कि वैषयिक सुख-भोग में अपनी धन-सम्पत्ति लुटा चुका हो, धूर्त हो, कतिपय कलाओं में निपुण हो, वेशोपचारचतुर हो, बातचीत में कुशल हो, स्वभाव का मधुर हो और जिसकी गोष्ठी में बड़ी पूछ हो ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में 'विट' का स्वरूप-निर्देश यह है—

वेश्योपचारकुशलो मधुरो दक्षिणः कविः ।
ऊहापोहक्षमो वाग्मी चतुरश्च विटो भवेत् ॥ (नाट्यशास्त्र ३५. ५५)

यहां यह स्पष्ट है कि 'विट' के लिये 'संभोगहीनसंपत्' होना आवश्यक नहीं। साहित्यदर्पणकार ने 'विट' को 'संभोगहीनसंपत्' इसीलिये कहा है क्योंकि बिना ऐसा हुये वह श्रृङ्गारी नायक का सहायक क्योंकर होने लगा !

('चेट' कौन है ?)

चेटः प्रसिद्ध एव ।

('विदूषक'-लक्षण)

कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः ।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः ॥ ४२ ॥

स्वकर्म हास्यादि ।

(नायक के अर्थ-सहायक)

अर्थचिन्तने सहायमाह—

मन्त्री स्यादर्थानां चिन्तायां—

अर्थास्तन्त्रावापादयः ।

यत्त्वत्र सहायकथनप्रस्तावे—'मन्त्री स्वं चोभयं वापि सखा तस्यार्थचिन्तने' इति केनचिल्लक्षणं कृतम्, तदपि राज्ञोऽर्थचिन्तनोपायलक्षणप्रकरणे लक्षयितव्यम्, न तु सहायकथनप्रकरणे ।

अनुवाद—'चेट' कौन है इसे तो सभी लोग जानते हैं ।

विमर्श—'चेट' की परिभाषा नाट्यशास्त्र में यह है—

'कलहप्रियो बहुकथो विरूपो गन्धसेवकः ।
मान्यामान्यविशेषज्ञश्चेटोऽप्येवंविधः स्मृतः ॥ (नाट्यशास्त्र ३५. ५८)

अनुवाद—'विदूषक' वह हुआ करता है जिसका नाम किसी फूल अथवा वसन्त आदि पर रखा जाया करता है, जिसमें अपने कर्म अपने शरीर, अपनी वेश-भूषा और अपनी बोल-चाल आदि के द्वारा औरों को हँसाने की क्षमता रहा करती है, जिसे दूसरों से झगड़ने में आनन्द मिला करता है और जो कि अपने विदूषण-कार्य में कुशल हुआ करता है ।

यहां 'स्वकर्म'-'अपने कर्म' का अभिप्राय हास-परिहास आदि 'विदूषण,-हँसोड़पन के कार्यों का है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में 'विदूषक' का यह चित्र खींचा गया है—

'वामनो दन्तुरः कुब्जो द्विजिह्वो विकृताननः ।
खलतिः पिङ्गलाक्षश्च स विधेयो विदूषकः ॥' (नाट्यशास्त्र, ३५. ५७)

जिसमें विदूषण-सम्बन्धी शारीरिक, वाचिक किं वा मानसिक क्रियाओं का समावेश स्पष्ट प्रतीत होता है । संस्कृत के नाटकों में शृङ्गारी नायक के उपर्युक्त सहायकों का यत्र-तत्र चित्रण किया हुआ है । उदाहरण के लिये, कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में विदूषक' शूद्रक के मृच्छकटिक में 'विट', भवभूति के मालतीमाधव में 'चेट' शृङ्गार-सहायक के रूप में ही उपस्थित किये गये हैं ।

अनुवाद—नायक के अर्थ-चिन्तन में जो सहायक हुआ करता है उसे 'मन्त्री' कहा करते हैं ।

यहां 'अर्थ' का अभिप्राय तन्त्र = स्वराष्ट्रसम्बन्धी कृत्य और आवाप=परराष्ट्र सम्बन्धी व्यवहार का है ।

शृङ्गारी नायक के अर्थ-सहायक का निरूपण करते हुये किसी ने (दशरूपककार ने) जो यह कहा है कि 'नायक के अर्थचिन्तन में स्वयं राजा अथवा केवल मन्त्री अथवा राजा

'नायकस्यार्थचिन्तने मन्त्री सहायः' इत्युक्तेऽपि नायकस्यार्थत एव सिद्धत्वात्।
यदप्युक्तम्—'मन्त्रिणां ललितः शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धयः' इति, तदपि स्वलक्षणकथनेनैव लक्षितस्य धीरललितस्य मन्त्रिमात्रायत्तार्थचिन्तनोपपत्तेर्गतार्थम्। न चार्थचिन्तने तस्य मन्त्री सहायः, किं तु स्वयमेव संपादकः; तस्यार्थचिन्तनाद्यभावात्।

(नायक के अन्तःपुर के सहायक)

अथान्तःपुरसहायाः—

—तद्वदवरोधे।

और मन्त्री दोनों (सखा) 'सहायक' हुआ करते हैं, वह वस्तुतः राजा के अर्थ-चिन्तन के उपाय-निरूपण के प्रसङ्ग में कहा जाना चाहिये था न कि (नायक के) सहायक के निरूपण-प्रसङ्ग में। (क्योंकि स्वयं राजा अपने अर्थ चिन्तन का 'सहायक' क्योंकर होने लगा ! स्वयं भला कोई क्योंकर अपना सहायक हो जाय !) यहां यदि यह कहा जाय कि 'तस्यार्थचिन्तने मन्त्री सहायः' (सखा) का अभिप्राय 'उस (राजा) के अर्थ-चिन्तन में मन्त्री सहायक है'—यह हुआ करता है तब भी 'तस्य' पद निरर्थक हो जाता है क्योंकि पहले ही जब कि 'स्वं' (राजा) का निर्देश हो चुका है तब 'तस्य' अर्थात् 'नायक' का अभिप्राय तो अर्थ द्वारा ही आक्षिप्त हो जायगा, शब्दतः इसके उत्पादन की क्या आवश्यकता ? (तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त नायक-सहायक-लक्षण में या तो 'स्वयम्' पद निरर्थक है या वस्तुतः यह लक्षण नायक के अर्थ-चिन्तन के सहायक (सखा) का नहीं अपितु उसके अर्थ-चिन्तन के उपाय (सखा) का है।)

इसके अतिरिक्त जो किसी का (दशरूपककार का ही) यह कथन है कि 'धीरललित नायक तो 'मन्त्र्यायत्तसिद्धि' हुआ करता है और अन्य नायक 'उभयायत्तसिद्धि' हैं' वह भी निरर्थक ही है क्योंकि जब कि 'धीरललित' नायक का लक्षण ही यह है कि वह 'निश्चिन्त' ('सचिवादिविहितयोगक्षेमत्वाच्चिन्तारहित'–दशरूपक २. ३) हुआ करता है, तब पुनः 'धीरललित' को 'सचिवायत्तसिद्धि' (दशरूपक २. ४३) कहना अथवा उसके सहायक के रूप में 'सचिवादि' का निर्देश किस काम का ? 'धीरललित' नायक तो सदा अर्थ-चिन्तन से निश्चिन्त रहा करता है, उसके लिये 'मन्त्री' को अर्थ-चिन्तन का एक मात्र सम्पादक कहा जा सकता है न कि सहायक।

विमर्श—यहां साहित्यदर्पणकार ने दशरूपककार की जो आलोचना की है वह वस्तुतः युक्तियुक्त है। नाट्यशास्त्रकारों के सामने नायकरूप में राजगण ही विशेषतया आते हैं। प्राचीन राजतन्त्र की गतिविधि का अवलोकन करते हुये नाट्यशास्त्रकारों ने नायक के धर्मसहायक, अर्थ सहायक, कामसहायक आदि-आदि का लक्षण-निरूपक्षण किया है। नाट्यशास्त्र में 'धीरललित' नायक की कल्पना राजशास्त्र में 'सचिवायत्तसिद्धि' राजगण की कल्पना पर अवलम्बित है। शृङ्गाररस का एक प्रकार का अभिव्यञ्जन 'धीरललित' नायक के चरित-चित्रण के आधार पर किया गया है। इस नायकचरित में 'राज्य चिन्ता से निश्चिन्तता' की विशेषता स्वाभाविक है। इस दृष्टि से यहां विश्वनाथ कविराज ने जो आलोचना की है वह सर्वथा संगत है।

अनुवाद—अब नायक के अन्तःपुर (रनवास) के जो 'सहायक' हुआ करते हैं उनका निर्देश किया जा रहा है—

वामनषण्ढकिरातम्लेच्छाभीराः शकारकुब्जाद्याः ॥ ४३ ॥
मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्यसंयुक्तः ।
सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः ॥ ४४ ॥

आद्यशब्दान्मूकादयः। तत्र षण्ढवामनकिरातकुब्जादयो यथा रत्नावल्याम्-

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादपास्यत्रपा-
मन्तःकञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः॥

शकारो मृच्छकटिकादिषु प्रसिद्धः। अन्येऽपि यथादर्शनं ज्ञातव्याः।

(नायक के दण्ड-सहायक)

अथ दण्डसहायाः—

जैसे नायक के अर्थ-सहायक हुआ करते हैं वैसे ही उसके काम-सहायक भी हुआ करते हैं जो कि 'अन्तःपुर-सहायक' कहे जाया करते हैं। ये अन्तःपुर-सहायक वामन [बौने], षण्ड [जनखे], किरात [नीच जाति के], म्लेच्छ [जंगली], आभीर [अहिर] शकार; कुब्ज [कुवड़े] आदि-आदि माने गये हैं। इनमें 'शकार' वह है जो शराबी हो, मूर्ख हो, घमण्डी हो, नीच कुल का हो, धन-संपन्न हो और राजा की अनूढा प्रेमिका का भाई हो जिसे, सब लोग 'श्यालक' [साला] कह कर पुकारा करें।

यहां 'शकारकुब्जाद्याः' में 'आदि' शब्द का प्रयोग इसीलिये किया गया है जिसमें शकार और कुब्ज के अतिरिक्त मूक [गूंगे] आदि का भी अन्तःपुर-सहायकों में परिगणन किया जाय।

उदाहरण के लिये, जनखे, बौने, कुबड़े आदि का 'रत्नावली' में यह चित्रण—

'ये रहे जनखे लोग, जो कि पुरुषों में न गिने जाने से, निर्लज्ज होकर खिसक पड़े; ये रहे बौने, जो कि डर के मारे कञ्चुकियों के अंगरखों के भीतर घुस पड़े, ये रहे किरात, जो कि इधर उधर कोने-कूचों में घुसे अपने नाम को सार्थक कर रहे हैं और ये कुबड़े! ये तो लोगों की आंख बचाने के लिये चुपके से दुबकते कहीं और निकल पड़े।'

वस्तुतः नायक के अन्तःपुर-सहायकों का ही चित्रण है।

इसी प्रकार 'मृच्छकटिक' आदि में 'शकार' का चित्रण भी नायक के अन्तःपुर-परिवार का ही चित्रण है। म्लेच्छ, आभीर आदि-आदि अन्तःपुर-सहायक जिस नाटक में हों, वहाँ स्वयं पहचान लिये जा सकते हैं।

विमर्श—नाट्याचार्यों के अनुसार नायक के 'परिच्छद'-'परिवार' का चित्रण आवश्यक है। विट, चेट, विदूषक आदि प्राचीन भारतीय राजदरबारों में 'राजपरिच्छद' रूप में रहते आये हैं। नाटककार इस 'राज परिच्छद' को उद्दीपन-विभाव के रूप में चित्रित करते रहे हैं। नाट्यवेदी आचार्य इसलिये इस 'राज-परिच्छद' की परिभाषा करते आये हैं। साहित्यदर्पणकार के युग में इस 'राज-परिच्छद' की परम्परा अक्षुण्ण रही है। इसीलिये साहित्यदर्पणकार ने इसका यहाँ निरूपण किया है।

अनुवाद—अब नायक के दण्ड-सहायकों का निरूपण किया जा रहा है—

दण्डे सुहृत्कुमाराटविकाः सामन्तसैनिकाद्याश्च ।

दुष्टनिग्रहो दण्डः । स्पष्टम् ।

(नायक के धर्म-सहायक)

ऋत्विक्पुरोधसः स्युर्ब्रह्मविदस्तापसास्तथा धर्मे ॥ ४५ ॥

ब्रह्मविदो वेदविदः, आत्मविदो वा ।

(उपर्युक्त सहायकों में उत्तमाधम-मध्यम-व्यवस्था)

अत्र च—

उत्तमाः पीठमर्दाद्याः—

आद्यशब्दान्मन्त्रिपुरोहितादयः ।

—मध्यौ विटविदूषकौ ।

तथा शकारचेटाद्या अधमा परिकीर्तिताः ॥ ४६ ॥

आद्यशब्दात्ताम्बूलिकगान्धिकादयः ।

मित्र, राजकुमार, आटविक, सामन्त (करद राजगण) सैनिक आदि-आदि नायक के दण्ड-सहायक हुआ करते हैं ।

यहाँ 'दण्ड' का अभिप्राय 'दुष्टनिग्रह'-'दुष्टों के दमन' का है । मित्र, राजकुमार आदि का स्वरूप-निर्देश आवश्यक नहीं क्योंकि इसे सभी जानते हैं ।

विमर्श—दशरूपककार ने 'नायक' के दण्ड-सहायकों का यही निरूपण किया है—

'सुहृत्कुमाराटविकाः दण्डे सामन्तसैनिकाः ।' (दशरूपक २. ४४)

अनुवाद—इसी प्रकार नायक के धर्म-सहायक हुआ करते हैं । इन धर्म-सहायकों में याज्ञिक, पुरोहित, वेदवित् (अथवा आत्मतत्त्ववित्) और तपस्वी लोग हुआ करते हैं ।

यहाँ 'ब्रह्मविदः' का अभिप्राय 'वेद के जानने वालों' अथवा 'आत्मतत्त्व के जानने वालों' का है ।

इन उपर्युक्त नायक-सहायकों में 'उत्तम' वे हैं जिन्हें 'पीठमर्द' आदि कहा गया है ।

यहाँ 'पीठमर्दाद्याः' में आदि शब्द से मन्त्री, पुरोहित आदि का ग्रहण किया जाना चाहिये । जिन्हें 'मध्यम' माना जाया करता है उनमें 'विट' और 'विदूषक' का स्थान है । और शकार, चेट आदि 'अधम'-सहायक कहे जाते हैं ।

यहाँ 'शकारचेटाद्याः' में आदि शब्द से 'ताम्बूलिक' (पान देने वाले) और 'गान्धिक' (इत्र देने वाले) आदि-आदि का ग्रहण किया जाता है ।

विमर्श—दशरूपककार ने भी नायक के सहायकों में यही उत्तमाधम-मध्यम-व्यवस्था निर्दिष्ट की है—

'ज्येष्ठमध्याधमत्वेन सर्वेषां च त्रिरूपता ।
तारतम्याद् यथोक्तानां गुणानां चोत्तमादिता ॥'

एवं प्रागुक्तानां नायक-नायिका-दूत-दूती-मन्त्रि-पुरोहितादीनामुत्तममध्यमाधम-भावेन त्रिरूपता, उत्तमादिभावश्च न गुणसंख्योपचयापचयादिभावेन किं तर्हि गुणातिशय-तारतम्येन ।' (दशरूपक २. ४५)

(नायक के दूत)

अथ प्रसङ्गाद्दूतानां विभागगर्भलक्षणमाह—

निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा संदेशहारकः ।
कार्यप्रेष्यस्त्रिधा दूतो दूत्यश्चापि तथाविधाः ॥ ४७ ॥

तत्र कार्यप्रेष्यो दूत इति लक्षणम् ।

(दूत-भेद-निरूपण)

तत्र

उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम् ।
सुश्लिष्टं कुरुते कार्यं निसृष्टार्थस्तु स स्मृतः ॥ ४८ ॥

उभयोरिति येन प्रेषितो यदन्तिके प्रेषितश्च ।

मितार्थभाषी कार्यस्य सिद्धकारी मितार्थकः ।
यावद्भाषितसंदेशहारः संदेशहारकः ॥ ४९ ॥

अनुवाद—नायक के सहायक-निरूपण के प्रसङ्ग में 'दूत' और उसके स्वरूप और प्रकार का निरूपण यहाँ किया जा रहा है (क्योंकि 'दूत' भी नायक का सहायक हुआ करता है)—

'दूत' उसे कहते हैं जिसे विविध कार्यों के लिये जहाँ-तहाँ भेजा जाया करता है। 'दूत' तीन प्रकार के होते हैं—(१) निसृष्टार्थ, (२) मितार्थ और (३) संदेशहारक। 'दूत' की भांति दूतियां भी हुआ करती हैं।

यहाँ 'दूत' का लक्षण 'निसृष्टार्थ' आदि नहीं अपितु केवल 'कार्यप्रेष्य' है क्योंकि 'निसृष्टार्थ' आदि दूत के भेद हैं।

नायक के दूतों में 'निसृष्टार्थ' दूत वह है—'जो कि दोनों के मन की बात जानकर स्वयं ही सभी प्रश्नों का समाधान किया करता है और जो भी कार्य हो उसे समीचीनतया सम्पादित कर सकता है।'

यहाँ 'उभयोः'-'दोनों' का अभिप्राय है—उसके जिसका वह दूत हो और उसके भी जिसके पास वह दूत-कर्म से भेजा गया हो।

'मितार्थ' दूत वह हुआ करता है जो कि बात थोड़ी करे किन्तु जिस कार्य के लिये भेजा गया हो उसे अवश्य सिद्ध कर आय। तीसरे प्रकार का दूत अर्थात् 'संदेशहारक' दूत उसे कहते हैं जो कि उतनी ही बात करे जितनी उसे बतायी गयी हो।

विमर्श—नाट्य-शास्त्र में भी 'दूत' और 'दूती' का प्रसंग आता है कि किन्तु वहाँ काव्य-नाट्य में उपनिबद्ध अथवा उपनिबन्धन-योग्य 'दूत' और 'दूती' का निरूपण है। यहाँ साहित्यदर्पणकार ने राजशास्त्र में प्रतिपादित दूत-स्वरूप का विवेचन किया है। संस्कृत के काव्य-नाट्य-साहित्य में दूत और दूती का यत्र-तत्र चित्रण किया मिलता है। इस चित्रण के आधार पर नाट्य-शास्त्रकारों अथवा अलंकार-शास्त्रकारों ने दूत और दूती के स्वरूप का निर्धारण किया है। काव्य नाट्य में उपनिबद्ध दूत और दूती के कार्य राजशास्त्र में निर्दिष्ट दूत कर्म की ही भाँति हैं। इसलिये साहित्यदर्पणकार का यह दूत-निरूपण संगत है न कि असंगत।

(नायक के सात्त्विक गुण)

अथ सात्त्विकनायकगुणाः—

शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं धैर्यतेजसी ।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्त्वजाः पौरुषा गुणाः ॥ ५० ॥

(१—शोभा)

तत्र—

शूरता दक्षता सत्यं महोत्साहोऽनुरागिता ।
नीचे घृणाधिके स्पर्धा यतः शोभेति तां विदुः ॥ ५१ ॥

तत्रानुरागिता यथा—

अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत् ।
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित् ॥

एवमन्यदपि ।

(२—विलास)

अथ विलासः—

अनुवाद—अब नायक के सात्त्विक गुणों का निरूपण किया जा रहा है—

नायक के वे पौरुष गुण जिन्हें 'सात्त्विक' गुण कहा करते हैं आठ हैं, जैसे कि—

(१) शोभा, (२) विलास, (३) माधुर्य, (४) गाम्भीर्य, (५) धैर्य, (६) तेज, (७) ललित और (८) औदार्य ।

इन सात्त्विक गुणों में नायक के व्यक्तित्व की 'शोभा' का अभिप्राय है—उस विशेषता का जिसके कारण वह वीरता, कुशलता सत्यवादिता, सत्याचरण, महान् उत्साह, अनुरागिता और छोटों पर दया किंवा बड़ों के साथ प्रतिस्पर्द्धा प्रकाशित किया करता है ।

उदाहरण के लिये 'अनुरागिता' के भाव की जननी 'शोभा' का यह प्रकाशन (रघुवंश : अजवर्णन)—

'जिसके सम्बन्ध में प्रकृति-वर्ग में प्रत्येक यही सोचता रहा कि वही महाराज (अज) का सबसे बड़ा स्नेहभाजन है और जिसका किसी के प्रति भी कोई अनादर भाव उसी प्रकार न दिखाई पड़ा जिस प्रकार सरित्पति (समुद्र) का अनादर किसी भी छोटी-बड़ी नदी के साथ कदापि नहीं दिखाई दिया करता ।'

इसी भाँति शूरता, दक्षता आदि गुणों की आविष्कार-भूमि 'शोभा' के उदाहरण स्वयं ढूंढे जा सकते हैं ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'शोभा' का यह अभिप्राय प्रकाशित किया है—

'दाक्ष्यं शौर्यमथोत्साहो नीचार्थेषु जुगुप्सनम् ।
उत्तमैश्च गुणैःस्पर्धा यतः शोभेति सा स्मृता ॥'

(नाट्यशास्त्र २४. ३२)

जिसके अनुसार 'शोभा' को दक्षता' शूरता आदि सभी पौरुष गुणों की जननी के रूप में देखा जा सकता है ।

अनुवाद—'विलास' का अभिप्राय है—

धीरा दृष्टिर्गतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचः ।

यथा—

दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम् ।
कौमारकेऽपि गिरिवद्गुरुतां दधानो
वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव ॥

(३—माधुर्यं)

संक्षोभेष्वप्यनुद्वेगो माधुर्यं परिकीर्तितम् ॥ ५२ ॥

ऊह्यमुदाहरणम् ।

(४—गाम्भीर्यं)

भीशोकक्रोधहर्षाद्यैर्गाम्भीर्यं निर्विकारता ।

नायक की उस सात्त्विक विशेषता का, जिसके कारण उसकी दृष्टि में धीरता, चाल में विचित्रता और बोलचाल में मन्दहास की छटा छिटका करती है ।

श के 'विलास' का चित्रण)—

'ओह ! क्या यही कुमार कुश है—इसकी दृष्टि ऐसी, जिसके आगे त्रिभुवन का उत्साह-संचय तिनके की भांति नगण्य है, इसकी चाल की मस्ती ऐसी, जिससे पृथिवी नीचे झुक रही है और इसकी कुमारावस्था की गंभीरता ऐसी, जो पर्वत की गंभीरता की बराबरी कर रही है। ओह ! यह तो ऐसा लगता है मानो साक्षात् वीररस अथवा मूर्तिमान् अभिमान चल-फिर रहा हो ।'

विमर्श—'विलास' की परिभाषा नाट्यशास्त्र में इस प्रकार है—

'स्थिरसञ्चारिणी दृष्टिर्गतिर्गोवृषभाञ्चिता ।
स्मितपूर्वं तथा वाचो विलास इति कीर्तितः ॥ (नाट्यशास्त्र २४-३३)

अनुवाद—'माधुर्य' कहते हैं मनःक्षोभ के कारणों के रहते हुये भी मन की सुस्थता और शान्ति को ।

इसका उदाहरण यत्र तत्र स्वयं देखा जा सकता है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने 'माधुर्य' का यह अभिप्राय प्रकाशित किया है—

'अभ्यासात् करणानां तु श्लिष्टत्वं यत्र जायते ।
महत्स्वपि विकारेषु तन्माधुर्यमिति स्मृतम् ॥ (नाट्यशास्त्र २४.३४)

'माधुर्य' की अभिव्यक्ति महाकवि भवभूति के इस राम-चित्रण में स्पष्ट है—

'कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरं गण्डोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम् ।
मुहुः पश्यञ् श्रृण्वन् रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः ॥'

अनुवाद—'गाम्भीर्य' उस सात्त्विक पौरुष-गुण का नाम है जिसे भय, शोक, क्रोध, हर्ष आदि २ भावावेशों में आकृति की निर्विकारता कहा करते हैं ।

यथा—

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥

(५—धैर्य)

व्यवसायादचलनं धैर्यं विघ्ने महत्यपि ॥ ५३ ॥

यथा—

श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन् हरः प्रसंख्यानपरो बभूव।
आत्मेश्वराणां न हि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥

(६-तेज, ७-ललित और ८-औदार्य)

अधिक्षेपापमानादेः प्रयुक्तस्य परेण यत्।
प्राणात्ययेऽप्यसहनं तत्तेजः समुदाहृतम् ॥ ५४ ॥
वाग्वेशयोर्मधुरता, तद्वच्छृङ्गारचेष्टितं ललितम्।
दानं सप्रियभाषणमौदार्य्यं शत्रुमित्रयोः समता ॥ ५५ ॥

उदाहरण के लिये (राम के) 'गाम्भीर्य' का यह अभिव्यञ्जन—

'राम को राज्याभिषेक के लिये बुलाया गया और वनवास के लिये भी भेजा गया किन्तु न तो पहले ही उनकी आकृति में कोई विकार दिखाई पड़ा और न बाद में ही।'

विमर्श—भरतमुनि ने 'गाम्भीर्य' की यह परिभाषा की है—

'यस्य प्रभावादाकारा रोषहर्षभयादिषु।
भावेषु नोपलभ्यन्ते गाम्भीर्यमिति शंसितम् ॥ (नाट्यशास्त्र २४. ३६)

अनुवाद—'धैर्य' वह सात्त्विक गुण है जिसे बड़े बड़े विघ्नों के पड़ने पर भी, 'कर्त्तव्य-निश्चय से विचलित न होना' कहा करते हैं।

उदाहरण के लिये (कुमारसंभव में महाकवि कालिदास द्वारा चित्रित महादेव-धैर्य-चित्रण)—

'अप्सराओं के मादक संगीत सुनते हुये भी महादेव समाधि लगाये बैठे रहे। जो धैर्य के धनी हों, उनकी समाधि, भला विघ्नों से क्योंकर टूटने लगी?'

विमर्श—नाट्यशास्त्र में 'धैर्य' को 'स्थैर्य' कहा गया है जिसका लक्षण यह है—

'धर्मार्थकामसंयुक्ताच्छुभाशुभसमुत्थिताम्।
व्यवसायादचलनं स्थैर्यमित्यभिधीयते ॥' (नाट्यशास्त्र २४. ३५)

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'कर्त्तव्यनिश्चय से विचलित न होना' ही धैर्य अथवा स्थैर्य का स्वरूप है।

अनुवाद—'तेज' वह सात्त्विक पौरुष गुण है जिसे किसी दूसरे के द्वारा किये गये 'आक्षेप अथवा अपमान का, प्राण-संकट पड़ने पर भी, सहन न करना' कहा गया है। 'ललित' वह नायक-गुण है जिसे बोल-चाल, वेश-भूषा किंवा प्रेम-लीला में 'माधुर्य' कहा गया है। और 'औदार्य' उस नायक-गुण का नाम है जिसे प्रियभाषणपूर्वक दान किंवा शत्रु और मित्र के प्रति समदर्शिता का व्यवहार कहा जाया करता है।

एषामुदाहरणान्यूह्यानि ।

(नायिका-निरूपण)

अथ नायिका त्रिभेदा स्वान्या साधारणा स्त्रीति ।
नायकसामान्यगुणैर्भवति यथासंभवैर्युक्ता ॥ ५६ ॥

नायिका पुनर्नायकसामान्यगुणैस्त्यागादिभिर्यथासम्भवैर्युक्ता भवति । सा च स्वस्त्री अन्यस्त्री साधारणस्त्रीति त्रिविधा ।

इन गुणों के उदाहरण [काव्य-नाट्य-साहित्य में] स्वयं ढूंढे जा सकते हैं ।

विमर्श (क)—नाट्यशास्त्र में तेज, ललित और औदार्य की यह परिभाषा दी गयी है—

तेज—**अधिक्षेपावमानादेः प्रयुक्तस्य परेण यत् ।**
प्राणात्ययेऽप्यसहनं तत्तेजः समुदाहृतम् ॥

यहां यह स्पष्ट है कि साहित्यदर्पणकार ने नाट्यशास्त्र के ही लक्षण को उद्धृत कर दिया है ।

ललित—**अबुद्धिपूर्वकं यत्तु सुकुमारस्वभावजम् ।**
शृङ्गाराकारचेष्टत्वं ललितं तत् प्रकीर्तितम् ॥

औदार्य—**दानमभ्युपपत्तिश्च तथा च प्रियभाषणम् ।**
स्वजने वा परे वापि तदौदार्यमिति स्मृतम् ॥

(नाट्यशास्त्र २४, ३९, ३७, ३८)

(ख) भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में शोभा आदि का जो निरूपण है वह 'सात्त्विक-अभिनय' के प्रसंग में है । सात्त्विक अभिनय के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यही अभिनय-प्रकार सर्वश्रेष्ठ अभिनय हुआ करता है—**'सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते ।'** (नाट्यशास्त्र २२ : २) । अभिनवभारतीकार आचार्य अभिनवगुप्त ने इसीलिये कहा है—

'सात्त्विकाभावे हि अभिनयक्रिया नामापि नोन्मीलति । अभिनयनं हि चित्तवृत्तिसाधारणतापत्तिप्राणसाक्षात्कारकल्पाध्यवसायसंपादनम्, अत एवोक्तं—'सत्त्वे नाट्यं प्रतिष्ठितमि'ति—(अभिनवभारती, भाग ३, पृष्ठ १५०, बड़ौदा संस्करण)

अर्थात् जिसे 'अभिनय' कहते हैं वह तो वस्तुतः सात्त्विक अभिनय ही है न कि आङ्गिक अथवा वाचिक अथवा आहार्य । 'नट अभिनय करता है'—इसका अर्थ यही है कि नट की चित्तवृत्ति रामादिनायकों की चित्तवृत्ति से एकरस-एकरूप हो चुकी है और उसके कार्यकलाप के दर्शन करने वालों को रामादि नायकों के कार्यकलाप का दर्शन हो रहा है ।

सात्त्विक अभिनय के निरूपण में स्त्रीगत और पुरुषगत सत्त्वभेदों का निरूपण स्वाभाविक है । स्त्रीगत सत्त्वभेद तो हाव-भाव-हेला आदि को कहा गया है और पुरुषगत सत्त्वभेद, शोभा-विलास-माधुर्य आदि को । ये सभी सात्त्विक गुण स्त्री और पुरुष के शरीर-विकार से सम्बन्ध रखते हैं ।

अनुवाद—**'नायिका' तीन प्रकार की हुआ करती है—(१) स्वीया, (२) अन्या (अथवा परकीया) और (३) सामान्या ।**

रस के आलम्बन रूप से काव्य-नाट्य में उपस्थापित 'नायिका' में भी 'नायक' के ही त्याग, आर्जव आदि सामान्यगुण यथासंभव उपनिबद्ध किये जाया करते हैं । 'नायिका' के स्वस्त्री [स्वीया], अन्यस्त्री [परकीया] और साधारणस्त्री [सामान्या]—ये तीन भेद पाये जाते हैं ।

(स्वीया नायिका-निरूपण)

तत्र स्वस्त्री—

विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया ।

यथा—

'लज्जापज्जत्तपसाहणाइँ परभत्तिणिप्पिवासाइं ।
अविणअदुम्मेधाइं धण्णाण घरे कलत्ताइं ॥

(लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि परभर्तृनिष्पिपासानि ।
अविनयदुर्मेधानि धन्यानां गृहे कलत्राणि ॥)

(स्वीया नायिका : भेद-निर्देश)

साऽपि कथिता त्रिभेदा मुग्धा मध्या प्रगल्भेति ॥ ५७ ॥

(१—मुग्धानायिका)

तत्र—

प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा ।

अनुवाद—इन नायिकाओं में 'स्वस्त्री' अथवा 'स्वीया' नायिका का यह स्वरूप है—वह स्त्री, जिसमें नम्रता और सरलता आदि गुण रहा करते हैं, जो गृहकर्म में तत्पर रहा करती है और पतिव्रता हुआ करती है, 'स्वीया' नायिका मानी जाया करती है।

उदाहरण के लिये निम्न सूक्ति में जो नायिका-चित्रण है वह स्वीया-चित्रण है—

'कुछ विरले ही ऐसे भाग्यशाली लोग हुआ करते हैं जिनकी पत्नियां' अपनी स्त्रीसुलभ लज्जा को ही अपना एकमात्र अलङ्कार माना करती हैं, अपने हृदय में दूसरी स्त्रियों के पतियों के प्रेम की प्यास नहीं रखा करतीं और अपने व्यवहार में किसी प्रकार के भी अविनय [अनाचार] का किञ्चिन्मात्र भी परिचय नहीं दिया करतीं।'

विमर्श—संस्कृत काव्य-साहित्य में नायिका-चित्रण पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। आलङ्कारिकों ने कवियों और नाटककारों द्वारा चित्रित नायिकाओं के स्वरूप और प्रकार का विशद विवेचन किया है। काव्य-साहित्य में 'स्वीया' नायिका का चित्रण वर्गाश्रम-व्यवस्था की मर्यादा के अनुसार किया गया है। 'स्वीया'-चित्र में रतिभाव की बड़ी मर्मस्पर्शी किंवा मधुर अभिव्यक्ति हुई है। 'स्वीया'-चित्र का उद्‌देश्य रसास्वाद के साथ-साथ सरसोपदेश है। प्रेम की नानाप्रकार की झांकियां स्वीया-नायिका के स्वरूपोन्मीलन में दिखायी देती हैं।

स्वीया-वर्णन यदि कवियों और नाटककारों की आदर्शवादिता का संकेत करता है तो परकीया किंवा सामान्या नायिकाओं का वर्णन उनकी यथार्थवादिता का पर्याप्त प्रमाण है। आदर्श किंवा यथार्थ की प्रवृत्तियां संस्कृत काव्य-साहित्य में परस्पर विरुद्ध नहीं अपि तु एक दूसरे की पूरक मानी गयी हैं। तभी तो कहा गया है—

'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते ॥'

अनुवाद—स्वीया नायिका भी तीन प्रकार की हुआ करती है—(१) मुग्धा, (२) मध्या और (३) प्रगल्भा।

अनुवाद—इन स्वीया नायिकाओं में, वह नायिका 'मुग्धा' मानी जाया करती है

कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ॥ ५८ ॥

तत्र प्रथमावतीर्णयौवना यथा मम तातपादानाम्—

मध्यस्य प्रथिमानमेति जघनं वक्षोजयोर्मन्दता
दूरं यात्युदरं च रोमलतिका नेत्रार्जवं धावति ।
कन्दर्पं परिवीक्ष्य नूतनमनोराज्याभिषिक्तं क्षणा-
दङ्गानीव परस्परं विदधते निर्लुण्ठनं सुभ्रुवः ॥

प्रथमावतीर्णमदनविकारा यथा मम प्रभावतीपरिणये—

दत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं निर्याति नान्तःपुरात्,
नोद्दामं हसति क्षणात्कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि,
किंचिद्भावगभीरवक्रिमलवस्पृष्टं मनाग्भाषते,
सभ्रूभङ्गमुदीक्षते प्रियकथामुल्लापयन्तीं सखीम् ॥

रतौ वामा यथा—

'दृष्टा दृष्टिमधो ददाति, कुरुते नालापमाभाषिता,
शय्यायां परिवृत्त्य तिष्ठति, बलादालिङ्गितो वेपते ।
निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते,
जाता वामतयैव संप्रति मम प्रीत्यै नवोढा प्रिया ॥'

जिसके शरीर में यौवन अवतरित हो चुका हो, जिसके मन में काम का उन्मेष प्रारम्भ हो रहा हो, जिसे रतिलीला में झिझक होती हो, जिसका प्रणयकोप कोमलता लिये हो और जो अपनी लज्जाशीलता के कारण प्रेम प्रकाशन में विवश रहा करे ।

जैसे कि (१) 'प्रथमावतीर्णयौवना' मुग्धा का यह चित्र, जिसे हमारे ही पूज्य पितृचरण ने खींचा है—

'इस सुन्दरी के हृदय-देश पर कामदेव का नया-नया राज्याभिषेक क्या हुआ इसके शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग फूले न समाते, एक दूसरे की सुन्दरता की छीना-झपटी मचाने लगे-नितम्ब ने कटिभाग की स्थूलता छीन ली; उदरदेश के हाथ स्तनों की मन्दता आ गयी और नाभिदेश की रोमावली ने दौड़ मचाकर नेत्रों का सीधापन ले लिया।'

अथवा जैसे कि (२) 'प्रथमावतीर्णमदनविकारा' मुग्धा का यह वर्णन जो कि मेरी ही रचना 'प्रभावतीपरिणय' में किया हुआ है—

'यह (प्रभावती) धीरे-धीरे पृथिवी पर अलसाये से पैर रखा करती है, कभी अन्तःपुर से बाहर निकलती नहीं दीख पड़ती, खिलखिला कर हँसना भी नहीं चाहती, अचानक ही एक विचित्र लज्जा के विवश हो जाया करती है, कभी बोलती है तो एक विचित्र भाव भरे और वक्रता लिये ढंग से कुछ थोड़ा सा बोल पड़ती है और यदि उसकी सखी उसके प्रियतम के सम्बन्ध की कोई चर्चा करे तब तो उसकी भौंहें चढ़ी आंखें उस (सखी) पर ऐसी गड़ती हैं कि कुछ कहा नहीं जा सकता ?'

अथवा जैसे कि (३) 'रतिवामा' मुग्धा का यह निरूपण—

'अरे मित्र ! मेरी नवोढा प्रेयसी देखने पर आँखे नीची कर लेती है, बोलने पर मुँह नहीं खोलती, शय्या पर साथ लेटने पर मुँह फेर लेती है, किसी प्रकार बाहुपाश में जकड़ी जाने पर कांपने लगती है और जैसे ही सखियाँ शयनगृह से निकलें, वैसे ही बाहर निकल

माने मृदुर्यथा—

'सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम् ।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः ॥

समधिकलज्जावती यथा—

'दत्ते सालसमन्थरम्—' इत्यत्र (११२ पृ०) श्लोके ।

अत्र समधिकलज्जावतीत्वेनापि लब्धाया रतिवामताया विच्छित्तिविशेषवत्तया पुनः कथनम् ।

जाने पर तुल जाती है। बस, उसकी यह वामता (उलटी-पुलटी बात) भी मुझे अब बड़ी प्यारी लगती है।'

अथवा, जैसे कि 'मृदुमानवती' मुग्धा का यह चित्रण—

'यह सुन्दरी तो ऐसी है जिसे विना किसी सखी के सिखाये यह भी नहीं आता कि कैसे किसी प्रेमापराध में पति पर हावभाव-पूर्वक मुँह फेरा जाय अथवा व्यङ्ग्यबाण चलाये जाँय। यह तो इतनी भोली-भाली है कि चारों ओर अपने नयनकमलों को घुमाती, कपोलफलक पर गिरते किंवा केशपाश में उलझते, मोती के समान, आँसुओं को गिराती, बस, रोना भर जानती है।'

अथवा, जैसे कि 'समधिकलज्जावती' मुग्धा का वर्णन, जो कि 'दत्ते सालसमन्थरम्' इत्यादि पूर्वोदाहृत श्लोक में स्पष्ट है।

यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'समधिकलज्जालुता' भी 'रतिवामता' में ही अन्तर्भूत है (और इसलिए 'रतिवामा' के निरूपण में ही 'समधिकलज्जावती' का निरूपण हो चुका है] किन्तु तब भी दोनों का पृथक्-पृथक् निरूपण आवश्यक है क्योंकि दोनों में कुछ न कुछ अपना-अपना चमत्कार तो स्पष्ट ही दृष्टिगत होता है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकारने 'मुग्धा' नायिका के कतिपय भेदों का जो परिगणन किया है वह संस्कृत काव्य-साहित्य में वर्णित 'मुग्धा' स्वभाव का ही विश्लेषण है। प्राचीन आलङ्कारिकों ने, जैसे कि आचार्य हेमचन्द्र ने ही, स्वीया नायिका के 'मुग्धा' स्वरूप का नियामक, शरीर की एक विशिष्ट अवस्था किंवा कामोपचार-सम्बन्धी निपुणता की विशिष्ट दशा को ही माना है—

'वयःकौशलाभ्यां मुग्धा मध्या प्रौढेति सा त्रेधा-वयः शरीरावस्थाविशेषः, कौशलं कामोपचारनैपुणम् ताभ्यां मुग्धा-(काव्यानुशासन अ. ७ सू. २३)।

यही बात भावप्रकाशकार आचार्य शारदातनय (१३ वीं शताब्दी) की इन पंक्तियों में भी स्पष्ट है—

शीलसत्यार्जवोपेता रहःसंभोगलालसा ।
मुग्धा नववयःकामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि ॥
यतते रतिचेष्टासु पत्युर्व्रीडामनोहरम् ।
अपराधे रुदत्येव न वदत्यप्रियं प्रिये ॥'

(भावप्रकाशन ४ र्थ अधिकार)

वस्तुतः तो रतिक्रीडा में अनभिज्ञता किंवा यौवनादि के क्रमिक विकास आदि-आदि संवलित रूप से ही 'मुग्धा' के व्यक्तित्व के परिचायक हैं और इस दृष्टि से इनको पृथक्-पृथक् करके मुग्धा-भेद

(मध्या-स्वीया-नायिका-निरूपण)

अथ मध्या—

मध्या विचित्रसुरता प्ररूढस्मरयौवना ।
ईषत्प्रगल्भवचना मध्यमव्रीडिता मता ॥ ५९ ॥

विचित्रसुरता यथा—

'कान्ते तथा कथमपि प्रथितं मृगाक्ष्या चातुर्यमुद्धतमनोभवया रतेषु ।
तत्कूजितान्यनुवदद्भिरनेकवारं शिष्यायितं गृहकपोतशतैर्यथाऽस्याः ॥'

प्ररूढस्मरा यथात्रैवोदाहरणे ।

प्ररूढयौवना यथा मम—

'नेत्रे खञ्जनगञ्जने, सरसिजप्रत्यर्थि पाणिद्वयं,
वक्षोजौ करिकुम्भविभ्रमकरीमत्युन्नतिं गच्छतः ।
कान्तिः काञ्चनचम्पकप्रतिनिधिर्वाणी सुधास्यन्दिनी,
स्मेरेन्दीवरदामसोदरवपुस्तस्याः कटाक्षच्छटा ॥'

एवमन्यत्रापि ।

का नियामक बनाना ठीक नहीं किन्तु तब भी साहित्यदर्पणकार ने इनके आधार पर जो मुग्धा-भेद निर्दिष्ट किया है उसका एक विशेष कारण है और वह कारण एक शब्द में आलंकारिकों का विभाजन किंवा पारिभाषिकता-प्रवृत्ति ही है जिसका विकास साहित्यदर्पणकार के पहले से ही होता चला आ रहा है और जिसकी प्रेरणा को रोकना साहित्यदर्पणकार के लिये संभव नहीं हो सका है ।

अनुवाद—अब 'मध्या' का निरूपण किया जा रहा है—

'मध्या' वह (स्वीया) नायिका है जो रंग-बिरंग की रतिलीलाओं में निपुण हो चुकी होती है, जिसमें कामपिपासा बढ़ती दिखायी दिया करती है, जिसका यौवन उभार पर रहा करता है, जिसे प्रणयालाप में कोई विशेष हिचक नहीं हुआ करती और जिसकी रति-लज्जा बहुत अधिक नहीं रहा करती । जैसे कि 'विचित्रसुरता' मध्या (जो कि 'शृङ्गारतिलक' की इस सूक्ति में चित्रित है)—

'रति-लीलाओं में अत्यधिक कामोन्माद से भरी मृगनयनी ने अपने प्रियतम के प्रति कुछ ऐसी चतुराई दिखाई कि उसके पाले कबूतर, उसकी रति-कूजाओं को दोहराते, उसके चेले बनने को उतारू हो उठे ।'

इस उपर्युक्त सूक्ति को ही 'प्ररूढस्मरा' मध्या नायिका का भी चित्र मान सकते हैं ।

'प्ररूढयौवना' मध्या नायिका का चित्र यह रहा जो स्वरचित ही है—

'इस सुन्दरी को देखो—इसकी आंखें खंजन (पक्षिविशेष) की आंखों से भी बढ़कर काली और सुंदर हैं; इसके दोनों हाथ कमल से भी होड़ लगाये बैठे हैं; इसके उभरे उरोज करिकुम्भ के उभार को भी चुनौती दे रहे हैं; इसकी कान्ति स्वर्णचम्पा के फूल का भी प्रतिनिधित्व कर बैठी है; इसकी वाणी अमृत टपका रही है और इसके कटाक्षों की छटा ! वह तो खिले नीलकमल की माला की ही भांति वस्तुतः विचित्र है ।'

इसी प्रकार 'ईषत्प्रगल्भवचना' और 'मध्यमव्रीडिता' मध्या-नायिका के चित्र यत्र-तत्र चित्रित देखे जा सकते हैं ।

[प्रगल्भा-स्वीया-नायिका-निरूपण]

अथ प्रगल्भा—

स्मरान्धा गाढतारुण्या समस्तरतकोविदा ।
भावोन्नता दरव्रीडा प्रगल्भाक्रान्तनायका ॥ ६० ॥

स्मरान्धा यथा—

'धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि
विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि ॥

गाढतारुण्या यथा—

'अत्युन्नतस्तनमुरो नयने सुदीर्घे, वक्रे भ्रुवावतितरां, वचनं ततोऽपि ।
मध्योऽधिकं तनुरनूनगुरुर्नितम्बो मन्दा गतिः किमपि चाद्भुतयौवनायाः ॥'

विमर्श—'स्वीया' नायिका का 'मध्या' रूप संस्कृत काव्य-साहित्य में यत्र-तत्र दिखायी पड़ता है। कालिदास और भवभूति जैसे महान् काव्य-नाट्यकारों ने शकुन्तला और सीता जैसी नायिकाओं के जो चित्र खींचे हैं वे 'स्वीया' नायिका की मुग्धता, प्रगल्भता और दोनों की सन्धि-दशा के ऐसे चित्र हैं जिन्हें किसी भी भाषा के साहित्य के लिये एक कलात्मक आदर्श माना जा सकता है। वस्तुतः 'नायिका' के इन्हीं विद्धचित्रों (Portraits) की अनुपम रमणीयता का यह प्रभाव है कि संस्कृत के काव्यकलाकारों ने, इनकी भावभङ्गियों के-अनुकरण अथवा अभिव्यञ्जन में, 'नायिका' के अनेकानेक 'मुक्तकचित्र' (Mimiature painting) प्रस्तुत कर दिखाये हैं। साहित्यदर्पणकार के स्वरचित 'मुग्धा' किं वा 'मध्या' चित्र संस्कृत काव्य-साहित्य के सुन्दर 'मुक्तकचित्र' हैं। यद्यपि इनमें कोई नवीनता नहीं और न कोई नयी कल्पना है किन्तु इनके चित्रकार के वर्णिकाभंग का चमत्कार हमें इनकी ओर बरबस अवश्य खींच लेता है।

अनुवाद—'प्रगल्भा' (स्वीया) नायिका का स्वरूप यह है—वह स्वीया नायिका, जिसमें स्मरोन्माद बढ़ती पर हो, जिसका यौवन पूरे उभार पर पहुँच गया हो, जिसमें रति-लीला के समस्त कौशल समा चुके हों, जिसके हाव-भाव पूर्णरूपेण विकसित हो चुके हों, जिसमें रति-लज्जा की थोड़ी ही मात्रा बच गयी हो और वस्तुतः जो रतिलीला में नायक को भी पछाड़ने की शक्ति रखने लगी हो, 'प्रगल्भा' नायिका कही जाया करती है।

जैसे कि 'स्मरान्धा' प्रगल्भाः—

'अरी सखी! तू तो सचमुच धन्य है क्योंकि रतिलीला के समय, नाना प्रकार की काम-केलियों के बीच-बीच में भी, तू तो बड़े धैर्य से प्रेमालाप कर सकती है! लेकिन, क्या बताऊं सखियो! तुम्हारी सौगन्ध! मुझे तो-जैसे ही मेरे प्रियतम का हाथ मेरी नीवीं से छू जाय-ऐसा लगने लगता है मानो सब कुछ भूल गयी हूँ।'

अथवा, जैसे कि 'गाढतारुण्या' प्रगल्भा :—

'इस विचित्र यौवनवाली सुन्दरी का क्या कहना! इसका वक्षःस्थल तो उभरे स्तनों से उभर उठा है, इसकी आँखें बड़ी-बड़ी लग रही हैं, इसकी भौंहें विचित्र बांकपन लिये हैं, इसकी बोलचाल की बांकपन इसकी टेढ़ी भौंहों से भी बढ़ी-चढ़ी लग रही है, इसकी

समस्तरतकोविदा यथा—

'क्वचित्ताम्बूलाक्तः क्वचिदगुरुपङ्काङ्कमलिनः
क्वचिच्चूर्णोद्गारी क्वचिदपि च सालक्तकपदः ।
वलीभङ्गाभोगैरलकपतितैः शीर्णकुसुमैः
स्त्रियाः सर्वावस्थं कथयति रतं प्रच्छदपटः ॥'

भावोन्नता यथा—

'मधुरवचनैः सभ्रूभङ्गैः कृताङ्गुलितर्जनै-
रभसरचितैरङ्गन्यासैर्महोत्सवबन्धुभिः ।
असकृदसकृत्स्फारस्फारैरपाङ्गविलोकितै-
स्त्रिभुवनजये सा पञ्चेषोः करोति सहायताम् ॥'

स्वल्पव्रीडा यथा—

'धन्यासि या कथयसि—' इत्यत्रैव (१६० पृ०)

आक्रान्तनायका यथा—

'स्वामिन् भङ्गुरयालकं, सतिलकं भालं विलासिन् कुरु,
प्राणेश त्रुटितं पयोधरतटे हारं पुनर्योजय ।
इत्युक्त्वा सुरतावसानसमये सम्पूर्णचन्द्रानना
स्पृष्टा तेन तथैव जातपुलका प्राप्ता पुनर्मोहनम् ॥'

कमर बहुत पतली हो गयी है, इसके नितम्ब बड़े भारी दिखायी पड़ रहे हैं और इसकी मन्द चाल में एक विचित्र मोहकता बस गयी है ।'

अथवा, जैसे कि 'समस्तरतकोविदा' प्रगल्भा :—

'इस सुन्दरी की यह बिछावन की चादर तो इसकी चित्र-विचित्र रतिक्रीडा की घोषणा सी कर रही है—इस पर कहीं पान की पीक गिरी है, कहीं इसमें अगर के अङ्गराग के दाग पड़े हैं, कहीं इससे स्तनों के लेप का सौरभ निकल रहा है, कहीं इस पर पैरों के महावर के चिह्न लगे हैं, कहीं इस पर त्रिवली-भङ्ग की सलवटें दीख रही हैं और कहीं इस पर जूड़े में गुथे फूल बिखरे हैं ।'

अथवा 'भावोन्नता' प्रगल्भा :—

'यह सुन्दरी तो ऐसी है कि अपनी मीठी-मीठी बातों, अपनी भौंहों की तरेरों, अपनी अङ्गुलियों के इशारों, अपनी, सहसा रति-विलास को आमन्त्रित करने वाली, अङ्गभङ्गिओं और अपनी रह-रह कर निकलती बांकी चितवनों के बल पर कामदेव को त्रिभुवन-विजय के लिये प्रोत्साहित कर रही है ।'

अथवा 'स्वल्पव्रीडा' प्रगल्भा नायिका :—

इसका स्वरूप तो 'धन्याऽसि या कथयसि' इत्यादि पूर्वोद्धृत सूक्ति में ही देखा जा सकता है ।

अथवा 'आक्रान्तनायका' प्रगल्भा :—

'रतिक्रीडा का अन्त हुआ और पूर्ण चन्द्रानना सुन्दरी ने कहना प्रारम्भ किया—मेरे स्वामी ! सिर के बिखरे बालों को संवार दो; मेरे आनन्द ! माथे की बिंदी ठीक कर दो;

(मध्या और प्रगल्भा-स्वीया-नायिका के अवान्तर भेद)

मध्याप्रगल्भयोर्भेदान्तराण्याह—

ते धीरा चाप्यधीरा च धीराधीरेति षड्विधे ।

ते मध्याप्रगल्भे

('मध्या' के त्रिविध भेद : सोदाहरण निरूपण)

तत्र—

प्रियं सोत्प्रासवक्रोक्त्या मध्या धीरा दहेद्रुषा ॥ ६१ ॥
धीराधीरा तु रुदितैरधीरा परुषोक्तिभिः ।

तत्र मध्या धीरा यथा—

'तदवितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति
प्रियजनपरिभुक्तं यद्दुकूलं दधानः ।
मदधिवसतिमागाः कामिनां मण्डनश्री-
र्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ॥'

मेरे प्राणनाथ ! स्तन पर टूटे लटकते हार को जोड़ दो । और जैसे ही उसके प्रेमी ने उसे छूआ कि बस, आनन्दविभोर हो कर पुनः रति-केलि के लिये तैयार हो उठी ।'

अनुवाद—यहां 'मध्या' और 'प्रगल्भा' दोनों के अन्य भेदों का निर्देश किया जा रहा है । ये उपर्युक्त (स्वीया) नायिकायें 'धीरा', 'अधीरा' और 'धीरा-धीरा' भेद से ६ प्रकार की हुआ करती हैं ।

यहां 'ते' (इन) का अभिप्राय 'मध्या' और 'प्रगल्भा' नायिकाओं का है [न कि मुग्धा का) ।

अनुवाद—यहां 'मध्या' के भेदों का निरूपण किया जा रहा है—

'मध्या' नायिकाओं में 'धीरा' वह नायिका है जो अपने प्रियतम पर अपना क्रोध खरी-खोटी सुनाकर प्रकट किया करती है । मध्या 'धीराधीरा' की पहचान यह है कि अपने प्रियतम पर यह अपना क्रोध रो-धो कर निकाला करती है और 'अधीरा' मध्या वह है जो कर्कश वचनों से अपने प्रेमी को चोट पहुंचाया करती है ।

इन उपर्युक्त त्रिविध मध्या-नायिकाओं में 'मध्या' धीरा का यह चित्र देखिये (जो कि महाकवि माघ की कृति है)—

'प्रियतम ! तुमने तो मुझसे सच ही कहा था कि तुम्हारी एक मात्र प्रेयसी मैं ही हू ! तभी तो तुम अपनी प्राण-प्रिया (मेरी सपत्नी) के पहने वस्त्र लपेट कर मेरे घर उसे दिखाने आये थे । बात तो ठीक ही है कि तभी प्राणप्यारों का साज-श्रृङ्गार शोभा देता है जब कि उसे उनकी प्राणप्यारियां देख लें !'

[यहां जिस नायिका का चित्र खींचा गया है वह स्वीया नायिका है । यौवन और काम के उभार में उसकी मुग्धता हट चुकी है किन्तु प्रगल्भता का आक्रमण उस पर नहीं हो पाया है । मुग्धता और प्रगल्भता की सन्धि-दशा में पड़ी यह नायिका (मध्या) परिहासपूर्वक अपने प्रियतम को ताना दे रही है ।]

मध्यैव धीराधीरा यथा—

'बाले ! नाथ ! विमुञ्च मानिनि ! रुषं, रोषान्मया किं कृतं,
खेदोऽस्मासु, न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि ।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा, कस्याग्रतो रुद्यते,
नन्वेतन्मम, का तवास्मि, दयिता, नास्मीत्यतो रुद्यते ॥'

इयमेवाधीरा यथा—

'सार्धं मनोरथशतैस्तव धूर्त ! कान्ता
सैव स्थिता मनसि कृत्रिमहावरम्या ।
अस्माकमस्ति नहि कश्चिदिहावकाश-
स्तस्मात्कृतं चरणपातविडम्बनाभिः ॥'

(प्रगल्भा धीरा नायिका)

प्रगल्भा यदि धीरा स्याच्छन्नकोपाकृतिस्तदा ॥ ६२ ॥
उदास्ते सुरते तत्र दर्शयन्त्यादरान् बहिः ।

तत्र प्रिये ।

यथा—

धीराधीरा मध्या का उदाहरण यह है—

'(किसी प्रेमी और प्रेमिका की प्रश्नोत्तरी–अमरुशतक) प्रेमी–'अरी नादान !' (प्रेमिका) 'नाथ !' (प्रेमी) 'अरी मानिनी ! क्रोध करना तो छोड़' (प्रेमिका) 'तुम पर क्रोध करके मुझे क्या मिलेगा' (प्रेमी) 'मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है' (प्रेमिका) 'आपने मेरा क्या बिगाड़ा, सब अपराध तो मेरा है' (प्रेमी) 'तब रुंधे गले से क्यों रोती जा रही हो !' (प्रेमिका) 'भला मेरा कौन है जिसके आगे रोऊं !' (प्रेमी) 'अरी ! मेरे आगे तू रो–धो रही है' (प्रेमिका) 'भला मैं तुम्हारी कौन होती हूं !' (प्रेमी) 'तू ही तो मेरी प्राणप्यारी है' (प्रेमिका) 'नहीं रही, इसीलिये तो रो रही हूं ।'

[यहां मध्या धीराधीरा नायिका का जैसा मनोहर चित्रण है उसका अनुकरण नहीं हो सकता ।]

मध्या अधीरा का यह उदाहरण देखिये—

'अरे धूर्त ! मेरे पैरों पर गिरने का नाटक न रचो । अरे ! तुम्हारे हृदय में तो, तुम्हारी रति–लीलाओं की एक मात्र लालसा, बस, वही बनावटी हाव-भाव वाली, तुम्हारे जैसे की प्रेमिका बस रही है, भला मेरा वहां स्थान कहां !'

[यहां (स्वीया) मध्या अधीरा नायिका की सभी स्वाभाविक विशेषतायें बड़ी सरल रेखाओं से चित्रित हैं ।]

अनुवाद—प्रगल्भा 'धीरा' नायिका वह है जो बनावटी हँसी में अपना क्रुद्ध स्वरूप छिपाया करती है, अपने प्रेमी पर बनावटी प्रेम दिखाया करती है और अपने प्रेमी के साथ रति–प्रसंग में उदासीन रहा करती है ।

यहां कारिका में 'तत्र' का अभिप्राय 'प्रियतम के प्रति' है ।

उदाहरण के लिये—

'एकत्रासनसंस्थितिः परिहृता प्रत्युद्गमाद् दूरत-
स्ताम्बूलानयनच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविघ्नितः।
आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापारयन्त्यान्तिके
कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः॥'

(प्रगल्भा धीराधीरा नायिका)

धीराधीरा तु सोल्लुण्ठभाषितैः खेदयत्यमुम् ॥ ६३ ॥

अमुं नायकम्।

यथा मम—

'अनलङ्कृतोऽपि सुन्दर ! हरसि मनो मे यतः प्रसभम्।
किं पुनरलङ्कृतस्त्वं सम्प्रति नखरक्षतैस्तस्याः॥'

[प्रगल्भा अधीरा नायिका]

तर्जयेत्ताडयेदन्या—

अन्या अधीरा। यथा—'शोणं वीक्ष्य मुखम्' इत्यत्र। अत्र च सर्वत्र 'रुषा' इत्यनुवर्तते।

'इस चतुर प्रेमिका ने तो अपने प्रियतम पर अपना पूरा क्रोध निकाल लिया—जब उसका प्रियतम उसके पास बैठने आया तो वह दूर से ही उसकी अगवानी के बहाने, झटपट उठ खड़ी हुई, जब उसके प्रियतम ने बलात् उसका आलिङ्गन करना चाहा, तब वह पान लाने के बहाने दूर खिसक पड़ी और जब कि उसके प्रियतम ने उससे कुछ बात-चीत करनी चाही तब तो वह दास-दासिओं से कुछ कहने-सुनने के बहाने उससे एक शब्द भी न बोली।'

[अमरुशतक में चित्रित यह 'प्रगल्भा धीरा' चित्र स्वीया नायिका के व्यक्तित्व की एक विशेष अवस्था का बड़ा मनोरम चित्र है।]

अनुवाद—प्रगल्भा धीराधीरा नायिका वह है जो कि अपने तानों और झिड़कियों से नायक को दुःखी बनाती रहती है।

यहां कारिका में 'अमुम्' का अर्थ है—'नायक को'।

उदाहरण के लिये मेरी यह स्वरचित सूक्ति—

'मेरे सुन्दर ! तुम तो बिना किसी साज-श्रृंगार के ही मेरा चित्त चुराये रहते हो ! और अब का क्या कहना ! अब तो उस (किसी और प्रेमिका) के नखक्षतों की शोभा तुम पर झूम रही है !'

[विश्वनाथ कविराज ने यहां प्रगल्भा धीराधीरा नायिका का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है।]

अनुवाद—प्रगल्भा अधीरा नायिका की पहचान यह है कि वह अपने नायक को डराती-धमकाती रहा करती है और यथासमय उससे मार-पीट भी कर लेती है।

यहां कारिका में 'अन्या' का अभिप्राय 'अधीरा' का है। उदाहरण के लिये; 'शोणं वीक्ष्य मुखम्' आदि (पूर्वोद्धृत) सूक्ति पर्याप्त है। यहां त्रिविध प्रगल्भा नायिकाओं के इस प्रकार के स्वभाव का कारण 'नायक पर क्रोध' ही है क्योंकि यहां 'रुषा' पद (कारिका ६१) की सर्वत्र अनुवृत्ति मानी गयी है।

(मध्या-प्रगल्भा नायिकाओं के अन्य निमित्तक भेद)

—प्रत्येकं ता अपि द्विधा ।
कनिष्ठज्येष्ठरूपत्वान्नायकप्रणयं प्रति ॥ ६४ ॥

ता अनन्तरोक्ताः षड्भेदा नायिकाः ।
यथा—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥'

('स्वीया' भेद-परिगणन)

मध्याप्रगल्भयोर्भेदास्तस्माद् द्वादश कीर्तिताः ।
मुग्धा त्वेकैव तेन स्युः स्वीयाभेदास्त्रयोदश ॥ ६५ ॥

अनुवाद— उपर्युक्त प्रत्येक प्रकार की मध्या किंवा प्रगल्भा नायिकाओं के भी दो-दो भेद हुआ करते हैं जिनका कारण नायक के प्रेम की कनिष्ठता (न्यूनता) और ज्येष्ठता (अधिकता) है ।

यहां 'ताः' पद से पूर्व प्रतिपादित षड्विध नायिकाओं (धीरा-धीराधीरा और अधीरा रूप से विभक्त मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं) का अभिप्राय समझा जाना चाहिये । जैसे कि—

'इस धूर्त नायक ने जब एक आसन पर बैठी अपनी दोनों प्रेमिकाओं को देखा तो बड़े प्रेम-पूर्वक पीछे से जाकर आंखमिचौनी खेलने के बहाने एक की तो आंख बंद कर दी और अपनी गर्दन घुमाकर, आनन्द से रोमाञ्चित होते हुये, प्रेमोल्लास में पगी और प्रसन्नता से फूली न समाती दूसरी का मुँह चूम लिया ।'

[यहां अमरुशतक की इस सूक्ति में जिस प्रेम का वर्णन है उसमें नायक के प्रेम की कनिष्ठता और ज्येष्ठता का पूरा चित्र उतरा हुआ है ।]

अनुवाद—इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मध्या और प्रगल्भा नायिकायें बारह प्रकार की हुआ करती हैं । और यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि 'मुग्धा' नायिका एक प्रकार की ही है । इस प्रकार स्वीया नायिका के तेरह भेद सिद्ध हुये ।

विमर्श—दशरूपककार ने भी 'स्वीया' नायिका के तेरह भेदों का परिगणन किया है—

'द्वेधा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिताः । मध्याप्रगल्भाभेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठाकनिष्ठात्वभेदेन द्वादश भेदा भवन्ति । मुग्धा त्वेकरूपैव (दशरूपक २. २०)

यही बात श्रीशिङ्गभूपालप्रणीत रसार्णव सुधाकर (१म विलास–१०५) की इन पंक्तियों में भी प्रतिपादित है—

'धीराधीरादिभेदेन मध्याप्रौढे त्रिधा त्रिधा ।
ज्येष्ठाकनिष्ठाभेदेन ताः प्रत्येकं द्विधा द्विधा ॥
मुग्धा त्वेकविधा चैवं सा त्रयोदशधोदिता ।'

('परकीया'-नायिका : भेदनिर्देश)

परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका तथा ।

तत्र—

यात्रादिनिरताऽन्योढा कुलटा गलितत्रपा ॥ ९९ ॥

यथा—

'स्वामी निःश्वसितेऽप्यसूयति, मनोजिघ्रः सपत्नीजनः,
श्वश्रूरिङ्गितदैवत नयनयोरीहालिहो यातरः ।
तद्दूरादयमञ्जलिः किमधुना दृग्भङ्गिभावेन ते,
वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिक ! व्यर्थोऽयमत्र श्रमः ॥'

अत्र हि मम परिणेताऽन्नाच्छादनादिदातृतया स्वाम्येव न तु वल्लभः । त्वं तु वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिकतया मम वल्लभोऽसीत्यादिव्यङ्ग्यार्थवशादस्याः परनायकविषया रतिः प्रतीयते ।

कन्या त्वजातोपयमा सलज्जा नवयौवना ।

अस्याश्च पित्राद्यायत्तत्वात्परकीयात्वम् । यथा मालतीमाधवादौ मालत्यादिः ।

अनुवाद—'परकीया' नायिका के दो भेद हुआ करते हैं—(१) परोढा (पर-परिणीता) और (२) कन्यका (अपरिणीता) ।

इन द्विविध 'परकीया' नायिकाओं में 'परोढा' (पर-परिणीता) नायिका वह है जो यात्रा (मेला) आदि की शौकीन हुआ करती है, दूसरे लोगों से प्रेम-प्रसङ्ग रखा करती है और जिसे किसी से भी बातचीत अथवा संग-साथ में कोई लज्जा नहीं हुआ करती । जैसे कि—

'अरे चतुर चितचोर ! तुम्हारी लुभावनी चितवनों से अब कुछ नहीं बनता । अब तो मेरा पति मेरी सांस की आवाज पर भी खीझ उठता है; मेरी सौतों का यह हाल है कि मेरे मन की बात सूंघती रहा करती हैं; मेरी सास का क्या पूछना ! वह तो मेरे सभी इशारों को मानो किसी देवी की भांति ताड़ लिया करती है और मेरी देवरानी तथा जेठानी का क्या कहना ! वे तो मेरी आंखों की सभी हरकतों को पहचान चुकी हैं । अब तो बस, मैं तुम्हें हाथ जोड़ती हूँ, अब मेरे यहाँ तुम्हारा आना-जाना ठीक नहीं ।'

यहाँ जिस प्रकार की 'रति' अभिव्यक्त हो रही है वह (स्वनायक-विषयक नहीं अपि तु) परनायक-विषयक है । ऐसा क्यों ? इसलिये कि यहाँ नायिका अपने परिणेता (पति) को 'स्वामी' कह रही है न कि 'वल्लभ' (प्रियतम) । यहाँ नायिका का 'स्वामी' तो वह है जो कि उसके लिये खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने आदि की सुविधायें जुटाने में लगा हुआ है और 'वल्लभ' (प्रियतम) वह जिसके लिये उसके मुँह से 'वैदग्धीमधुर-प्रबन्धरसिक' का सम्बोधन निकल रहा है । अब यह निगूढ़ व्यङ्ग्य अन्ततोगत्वा इसी परमरमणीय व्यङ्ग्यार्थ में घुलमिल जाता है कि यहाँ नायिका परपुरुष के प्रेम में पगी है ।

इसके अतिरिक्त 'कन्यका' वह परकीया नायिका है जो नवयुवती और लज्जाशील हुआ करती है तथा अविवाहित है ।

'कन्या' को परकीया कहने का अभिप्राय यह है कि यह अपने माता-पिता के

('सामान्या' नायिका-निरूपण)

धीरा कलाप्रगल्भा स्याद्वेश्या सामान्यनायिका ॥ ६७ ॥
निर्गुणानपि न द्वेष्टि न रज्यति गुणिष्वपि ।
वित्तमात्रं समालोक्य सा रागं दर्शयेद्बहिः ॥ ६८ ॥
काममङ्गीकृतमपि परिक्षीणधनं नरम् ।
मात्रा निःसारयेदेषा पुनःसंधानकाङ्क्षया ॥ ६९ ॥
तस्कराः पण्डका मूर्खाः सुखप्राप्तधनास्तथा ।
लिङ्गिनश्छन्नकामाद्या अस्याः प्रायेण वल्लभाः ॥ ७० ॥
एषापि मदनायत्ता क्वापि सत्यानुरागिणी ।
रक्तायां वा विरक्तायां रतमस्यां सुदुर्लभम् ॥ ७१ ॥

पण्डको वातपाण्ड्वादिः । छन्नं प्रच्छन्नं ये कामयन्ते ते छन्नकामाः । तत्र रागहीना यथा लटकमेलकादौ मदनमञ्जर्यादिः, रक्ता यथा मृच्छकटिकादौ वसन्तसेनादिः ।

वश में रहा करती है 'कन्या' परकीया नायिका का स्वरूप 'मालतीमाधव' आदि प्रकरणों में चित्रित 'मालती' आदि के चित्र में देखा जा सकता है ।

अनुवाद—'सामान्या' वह नायिका है जो रतिकलाकुशल किंवा संगीतादि कलाओं में पारंगत हुआ करती है तथा जिसे साधारणतया 'वेश्या' कहा करते हैं। यह नायिका न तो गुणहीन पुरुषों से द्वेष करती है और न गुणी लोगों के प्रेम में पग जाती है । यह केवल धनसमृद्धि देखकर किसी से भी बाहरी प्रेम प्रकट किया करती है। इसके लिये यह स्वाभाविक है कि अपने किसी भी प्रेमी धनी व्यक्ति को, यदि वह निर्धन हो जाय, अपनी मां के द्वारा अपने घर से बाहर निकलवा दे और यदि पुनः वह धनी बन जाय तो उससे पुनः प्रेम करने के लिये स्वयं उत्सुक बन बैठे। इस नायिका के प्रेमी प्रायः ऐसे लोग हुआ करते हैं जैसे कि—चोर, नपुंसक, मूर्ख, बिना मेहनत के धन पानेवाले, संन्यासी (अथवा ब्रह्मचारी), छिपे प्रेमी (प्रच्छन्नकामुक) आदि-आदि। कभी-कभी ऐसा भी हुआ करता है कि इस प्रकार की नायिका, मदनातुर हो कर, किसी के प्रति सच्चा प्रेम भी रखने लग जाती है। ऐसी नायिका के साथ चाहे वह अनुरागवती हो या विरक्त हो, रति-प्रसङ्ग की बात बड़ी कठिन हुआ करती है ।

यहां कारिका में 'पण्डक' का अभिप्राय 'वातिक पण्डक अथवा नपुंसक' (वाय्वग्निदोषाद् वृषणौ तु यस्य नाशं गतौ वातिकपण्डकः सः—चरक, २ य अध्याय) से है। 'छन्नकामाः' का अभिप्राय उन लोगों से है जो कि छिप-छिपकर स्त्रीप्रसङ्ग के इच्छुक हुआ करते हैं। 'रागहीना' सामान्या (वेश्या) नायिका के उदाहरण 'लटकमेलक' आदि प्रहसन-रूपकों में 'मदनमञ्जरी' आदि हैं और 'रक्ता' सामान्या (वेश्या) नायिका को 'मृच्छकटिक' आदि प्रकरण-रूपकों में चित्रित 'वसन्तसेना' आदि के चित्र के आधार पर देखा जा सकता है ।

(उपर्युक्त नायिकाओं के अवस्था-भेद से अन्यान्य भेद-प्रभेद)

पुनश्च—

अवस्थाभिर्भवन्त्यष्टावेताः षोडशभेदिताः ।
स्वाधीनभर्तृका तद्वत्खण्डिताऽथाभिसारिका ॥ ७२ ॥
कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितभर्तृका ।
अन्या वासकसज्जा स्याद्विरहोत्कण्ठिता तथा ॥ ७३ ॥

(१) स्वाधीनभर्तृका

तत्र—

कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदन्तिकम् ।
विचित्रविभ्रमासक्ता सा स्यात्स्वाधीनभर्तृका ॥ ७४ ॥

यथा—'अस्माकं सखि वाससी—' इत्यादि ।

(२) खण्डिता

पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसंयोगचिह्नितः ।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता ॥ ७५ ॥

अनुवाद—इसके अतिरिक्त उपर्युक्त १६ प्रकार की नायिकाओं (१३ प्रकार की स्वीया, २ प्रकार की परकीया, १ प्रकार की साधारणी अथवा सामान्या) के भी, अवस्था-भेद से, आठ-आठ भेद हैं। जैसे कि—(१) स्वाधीनभर्तृका, (२) खण्डिता, (३) अभिसारिका, (४) कलहान्तरिता, (५) विप्रलब्धा, (६) प्रोषितभर्तृका, (७) वासकसज्जा और (८) विरहोत्कण्ठिता।

अनुवाद—इन अष्टविध नायिकाओं में—

'स्वाधीनभर्तृका' वह नायिका मानी जाया करती है जिसका प्रणयी उसके प्रेम की डोर में बँधा हुआ उसे छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त इसकी यह भी विशेषता है कि (नायक के प्रति) इसके विविध विलास बड़े विचित्र और मनोरञ्जक हुआ करते हैं।

उदाहरण के लिये—'अस्माकं सखि वाससी' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति पर्याप्त है।

विमर्श—नाट्याचार्य भरत मुनि के अनुसार 'स्वाधीनभर्तृका' नायिका का यह स्वरूप है—

'सुरतादिरसैर्बद्धो यस्याः पार्श्वगतः प्रियः ।
सामोदे गुणसंयुक्ता भवेत् स्वाधीनभर्तृका ॥ (नाट्यशास्त्र : २४-२०७)

अर्थात् 'स्वाधीनभर्तृका' नायिका के व्यक्तित्व की यह विशेषता है कि उसका प्रणयी सदा उसके प्रेम का भिखारी बना रहता है और उसके समस्त प्रेम-प्रसङ्ग से उसके प्रेमी के लिये आनन्द का स्रोत उमड़ता रहता है।

वस्तुतः इसीलिये संस्कृत के कवि और नाटककार 'स्वाधीनभर्तृका' के वर्णन और अङ्कन में उसकी इन विशेषताओं पर ध्यान रखा करते हैं—

विचित्रोज्ज्वलवेषा च प्रमोदोद्योतितानना ।
उदीर्णशोभातिशया कार्या स्वाधीनभर्तृका ॥ (नाट्यशास्त्र : २४-२१७)

अनुवाद—काव्यमर्मज्ञ उस नायिका को 'खण्डिता' कहा करते हैं जिसका हृदय अपने

यथा—'तदवितथमवादीः—' इत्यादि ।

(३) अभिसारिका : स्वरूप किं वा प्रकार-निरूपण)

अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा ।
स्वयं वाभिसरत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका ॥ ७६ ॥

क्रमाद्यथा—

न च मेऽवगच्छति यथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते स मयि ।
निपुणं तथैनमभिगम्य वदेरभिदूति कंचिदिति संदिदिशे ॥

प्रेमी के प्रति इसलिये ईर्ष्या-से कलुषित हो जाया करता है क्योंकि वह अपनी किसी दूसरी प्रेमिका के साथ अपने प्रेम-सम्भोग को सूचित करने वाली वेष-भूषा में उसके पास आया-जाया करता है ।

उदाहरण के लिये, 'तदवितथमवादीः' आदि सूक्ति स्मरणीय है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरत मुनि ने 'खण्डिता' नायिका का यह स्वरूप-विमर्श किया है (नाट्यशास्त्र : अभिनव भारती २२-२१७)—

'व्यासङ्गादुचिते यस्या वासके नागतः प्रियः ।
तदनागमदुःखार्त्ता खण्डिता सा प्रकीर्तिता ॥'

अर्थात् ऐसी कोई भी नायिका 'खण्डिता' हो सकती है जिसका प्रेमी, अपनी किसी दूसरी प्रेमिका के साथ प्रेम-प्रसङ्ग में पड़े रहने के कारण, निश्चित समय पर भी, उसके पास नहीं आ पाता और जिसे इस प्रकार की विरह-वेदना समय-समय पर दुःखित किया करती है ।

वस्तुतः यही बात 'नाट्यदर्पण' (४ थे विवेक) की निम्नोद्धृत 'खण्डिता'-परिभाषा से भी सिद्ध होती है—

'खण्डिता खण्डयत्यन्यासक्तथा वासकमीर्ष्यिता' अपरस्त्र्यभिष्वङ्गादुचितं वासकर्म कुर्वाणेऽसूयावती खण्डिता ।'

अर्थात् 'खण्डिता' वह नायिका है जो अपने प्रेमी के प्रति इसलिये ईर्ष्या भाव रखा करती है क्योंकि वह, अपनी अन्य प्रेमिका के प्रेम-प्रसङ्ग की सूचना देते हुये, उसके पास वासोपचार के लिये (वासक-वासयति तत्र स्थाने रात्रमिति वासः) आया करता है ।

साहित्यदर्पणकार का खण्डिता-लक्षण उपर्युक्त नाट्याचार्यों के 'खण्डिता' विवेक की अपेक्षा दशरूपककार की इस 'खण्डिता' परिभाषा से अधिक प्रभावित प्रतीत हो रहा है—

'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता ।'

यथा— 'नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसंगशंसी विसर्पन्
नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥' (दशरूपक २-२५)

अनुवाद—काव्य-कोविदों की दृष्टि में 'अभिसारिका' वह नायिका हुआ करती है जो कि काम के वश में पड़ी या तो अपने प्रणयी को अपने पास बुलाया करती है या स्वयं अपने प्रणयी के पास पहुँचा करती है ।

जैसे कि, अपने प्रेमी को अपने पास बुलानेवाली 'अभिसारिका' जो कि 'शिशुपाल-वध' के महाकवि की इस सूक्ति में चित्रित है—

'किसी नायिका ने अपने सामने खड़ी अपनी दूती को कहा—'अरी ! तू उसके पास

'उत्क्षिप्तं करकङ्कणद्वयमिदं, बद्धा दृढं मेखला,
यत्नेन प्रतिपादिता मुखरयोर्मञ्जीरयोर्मूकता।
आरब्धे रभसान्मया प्रियसखि! क्रीडाभिसारोत्सवे,
चण्डालस्तिमिरावगुण्ठनपटक्षेपं विधत्ते विधुः॥'

संलीना स्वेषु गात्रेषु मूकीकृतविभूषणा।
अवगुण्ठनसंवीता कुलजाऽभिसरेद्यदि॥ ७७॥
विचित्रोज्ज्वलवेषा तु रणन्नूपुरकङ्कणा।
प्रमोदस्मेरवदना स्याद्वेश्याऽभिसरेद्यदि॥ ७८॥
मदस्खलितसंलापा विभ्रमोत्फुल्ललोचना।
आविद्धगतिसंचारा स्यात्प्रेष्याऽभिसरेद्यदि॥ ७९॥

तत्राद्ये 'उत्क्षिप्तम्' इत्यादि। अन्ययोः ऊह्यमुदाहरणम्।
प्रसङ्गादभिसारस्थानानि कथ्यन्ते—

क्षेत्रं वाटी भग्नदेवालयो दूतीगृहं वनम्।

जाना और उससे ऐसी बातचीत करना जिसमें उसे मेरी दीनता (काम-परवशता) का भी पता न चल पावे और वह मेरे पास आकर मुझे आनन्दविभोर भी कर दे।'

और इसी प्रकार, स्वयं अपने प्रेमी के पास पहुँच जानेवाली 'अभिसारिका' (जिसे निम्न सूक्ति में चित्रित देख सकते हैं)—

'अरी सखी! क्या बताऊँ, जैसे ही मैंने अपने हाथ के कंगनों को ऊपर चढ़ाया, अपनी करधनी को कसकर बांधा (जिसमें वह बज न उठे), अपने मुखर मञ्जीरों का बजना बन्द किया और बड़ी उमङ्ग में अपने प्रियतम से मिलने को तैयार हुई कि चण्डाल चन्द्रमा ने अँधेरे के परदे को हटाना प्रारम्भ कर दिया।'

'अभिसारिका' के अभिसार कई ढंग के होते हैं—यदि कोई कुलजा (स्वीया) नायिका अभिसार करती है तो लज्जा के भार से दबी दीख पड़ती है, अपने अलङ्कारों को झंकार से बचाती रहा करती है और घूघट की ओट में अपने आप को छिपाने में लगी रहती है। वेश्या (सामान्या नायिका) का अभिसार एक और ही ढंग का है। उसकी वेश-भूषा तो रंग-विरंग की होती है, उसके कंकण और नूपुर बजते चला करते हैं और उसके मुख पर आनन्द की हंसी अठखेलियां करती दिखायी पड़ा करती है। जिसे 'प्रेष्या' (अनुचरी) कहते हैं उसका अभिसार (प्रियमिलन) और ही प्रकार का है—कामोन्माद उसकी बातचीत में बेढंगापन भर दिया करता है, विभ्रमविलास उसकी आंखों की हंसी में स्पष्ट झलका करता है और उसकी चालढाल एक विचित्र मस्ती से भरी दिखायी दिया करती है।

जैसे कि पहले अर्थात् 'कुलजाभिसार' का दर्शन 'उत्क्षिप्तम्' आदि सूक्ति में किया जा सकता है और 'वेश्याभिसार' किं वा 'प्रेष्याभिसार' के दृष्टान्त स्वयं (संस्कृत काव्य-नाट्य-साहित्य में) यत्र-तत्र ढूंढ़े जा सकते हैं।

यहां, जैसा कि स्पष्ट है, अभिसार का प्रसंग निकल पड़ा है। अतएव अभिसरण के स्थान का भी निर्देश कर दिया जाता है। अभिसरण के आठ स्थान हैं—(१) खेत,

मालापञ्चः श्मशानं च नद्यादीनां तटी तथा ॥ ८० ॥
एवं कृताभिसाराणां पुंश्चलीनां विनोदने ।
स्थानान्यष्टौ तथा ध्वान्तच्छन्ने कुत्रचिदाश्रये ॥ ८१ ॥

(४) कलहान्तरिता

चाटुकारमपि प्राणनाथं रोषादपास्य या ।
पश्चात्तापमवाप्नोति कलहान्तरिता तु सा ॥ ८२ ॥

यथा मम तातपादानाम्—

'नो चाटुश्रवणं कृतं, न च दृशा हारोऽन्तिके वीक्षितः,
कान्तस्य प्रियहेतवे निजसखीवाचोऽपि दूरीकृताः ।
पादान्ते विनिपत्य तत्क्षणमसौ गच्छन्मया मूढया
पाणिभ्यामवरुध्य हन्त ! सहसा कण्ठे कथं नार्पितः ॥'

---

(२) बगीचा, (३) टूटे-फूटे मन्दिर, (४) दूतीगृह, (५) वन, (६) सूना स्थान, (७) श्मशान, (८) नदी आदि का तट और साथ ही साथ कोई अँधेरी जगह ।

विमर्श—भरत मुनि के नाट्यशास्त्र (अध्याय २२-२२६-२३१) में 'अभिसरण' का यह स्वरूप प्रतिपादित है—

'वेश्यायाः कुलजायाश्च प्रेष्यायाश्च प्रयोक्तृभिः ।
एभिर्भावविशेषैस्तु कर्त्तव्यमभिसारणम् ॥
समदा मृदुचेष्टा च तथा परिजनावृता ।
नानाभरणचित्राङ्गी गच्छेद्वेश्याङ्गना शनैः ॥
संलीना स्वेषु गात्रेषु त्रस्ता विनमितानना ।
अवगुण्ठनसंवीता गच्छेत्तु कुलजाङ्गना ॥
मदस्खलितसंलापा विभ्रमोत्फुल्ललोचना ।
आविद्धगतिसञ्चारा गच्छेत् प्रेष्या समुद्धतम् ॥
गत्वा सा चेद् यदा तत्र पश्येत्सुप्तं प्रियं तदा ।
अनेन तूपचारेण तस्य कुर्यात् प्रबोधनम् ॥
अलङ्कारेण कुलजा वेश्या गन्धैस्तु शीतलैः ।
प्रेष्या तु चलव्यजनैः कुर्वीत प्रतिबोधनम् ॥'

यहां यह स्पष्ट है कि साहित्यदर्पणकार ने अभिसार की प्राचीन परम्परा का ही पुनरुल्लेख किया है ।

अनुवाद—'कलहान्तरिता' उस नायिका को कहते हैं जो कि प्रणयप्रार्थना करनेवाले भी प्रियतम को रोषपूर्वक निरादृत कर दिया करती है और फिर स्वयं पछताया करती है ।

उदाहरणार्थ, मेरे पूज्य पितृचरण की यह सूक्ति देखी जाय—

'अब क्या किया जाय ! मैंने प्रियतम की प्रणययाचना भी न सुनी, उनके दिये प्रेमोपहाररूप कण्ठहार पर निगाह भी न डाली, उनकी हितचिन्ता में तत्पर अपनी सखी की बातों को भी सुनी-अनसुनी कर दी और परिणाम क्या हुआ ! वे मेरे पैरों पर भी

(५) विप्रलब्धा

प्रियः कृत्वापि संकेतं यस्या नायाति संनिधिम् ।
विप्रलब्धा तु सा ज्ञेया नितान्तमवमानिता ॥ ८३ ॥

यथा—

'उत्तिष्ठ दूति, यामो यामो यातस्तथापि नायातः ।
याऽतः परमपि जीवेज्जीवितनाथो भवेत्तस्याः ॥'

(६) प्रोषितभर्तृका

नानाकार्यवशाद्यस्या दूरदेशं गतः पतिः ।
सा मनोभवदुःखार्ता भवेत्प्रोषितभर्तृका ॥ ८४ ॥

गिरे, किन्तु अपनी मूढ़ बुद्धि को क्या कहूँ ? उन्हें उलटे पांव चल पड़ते देख कर भी, ओह ! न मालूम मुझे क्या हो गया कि मैं अपने हाथों से उन्हें रोककर उनके गले से न लिपट पड़ी।'

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि के अनुसार 'कलहान्तरिता' का स्वरूप यह है—

'ईर्ष्याकलहनिष्क्रान्तो यस्या नागच्छति प्रियः ।
सामर्षवशसंप्राप्ता कलहान्तरिता भवेत् ॥'

और इसका वस्तुतः यही अभिप्राय नाट्यदर्पणकार ने भी लिया है—

'ईर्ष्याकलहनिष्क्रान्ते कलहान्तरिताऽर्तिभाक्, ईर्ष्याकलहेन तत्समीपान्निष्क्रान्ते तत्सविधमनागच्छति प्रिये पीडावती कलहान्तरिता। अत्रेर्ष्यया कलहपूर्वकं परस्परमसंयोगाभिलाषः। पूर्वत्र तु नायिका समागमार्थिनी कलहाभावात्, किन्तु अन्यासङ्गिनि प्रिये ईर्ष्यामात्रवतीति विशेष इति।'

अर्थात् 'कलहान्तरिता' के व्यक्तित्व की जो विशेषता है वह 'खण्डिता' के व्यक्तित्व में नहीं रहा करती। 'कलहान्तरिता' तो कलह के कारण प्रियतम के प्रेम-संगम के प्रति निरभिलाष रहा करती है किन्तु 'खण्डिता' का स्वभाव यह है कि किसी प्रकार के कलह के न होने के कारण, उसे प्रिय-संगम की अभिलाषा लगी रहती है। 'कलहान्तरिता' अपने किये पर पश्चात्ताप करती है किन्तु 'खण्डिता' अपने प्रियतम पर ईर्ष्या रखती है।

अनुवाद—'विप्रलब्धा' वह नायिका है जो अपने आप को इसलिये अपमानित माना करती है क्योंकि उसका प्रेमी, स्वयं प्रेम-मिलन का संकेत देकर भी, उसके पास नहीं आ पाता। जैसे कि—

'अरी दूती ! उठ, चल अब चलें, उनके आने का समय आ पहुँचा किन्तु वे नहीं आये। अब इतना सब होने पर भी जो जीवित रहे उसी के वे प्राणनाथ होने लायक हैं (मेरे भला प्राणनाथ क्योंकर होने लगे !)।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'विप्रलब्धा' का यह लक्षण किया है—

'यस्याः दूतीं प्रियः प्रेष्य दत्त्वा संकेतमेव वा ।
नागतः कारणेनेह विप्रलब्धा तु सा भवेत् ॥' (नाट्यशास्त्र २२.२१८)

यहाँ विश्वनाथ कविराज ने भरत मुनि के ही 'विप्रलब्धा'-लक्षण का अनुसरण किया है।

अनुवाद—'प्रोषितभर्तृका' वह नायिका है जो कि, किसी कार्यवश, अपने प्रियतम के परदेश चले जाने के कारण, कामवेदना से व्यथित रहा करती है।

यथा—

'तां जानीयाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्॥'

(७) वासकसज्जा

कुरुते मण्डनं यस्याः सज्जिते वासवेश्मनि।
सा तु वासकसज्जा स्याद्विदितप्रियसङ्गमा॥ ८५॥

यथा राघवानन्दानां नाटके—

'विदूरे केयूरे कुरु, करयुगे रत्नवलयै-
रलं, गुर्वी ग्रीवाभरणलतिकेयं किमनया।
नवामेकामेकावलिमयि मयि त्वं विरचये-
र्न नेपथ्यं पथ्यं बहुतरमनङ्गोत्सवविधौ॥'

उदाहरण के लिये (महाकवि कालिदास के मेघदूत में चित्रित यक्षिणी का प्रोषितभर्तृका-रूप)।

'हे मेघ! चक्रवाक के विरह में चकई की भांति, मेरे विरह में विह्वल किं वा मरणासन्न मेरी प्यारी को, तुम, मेरे प्राणों का एकमात्र आधार समझना। जब तुम उसे देखोगे तब तुम्हें ऐसा लगेगा जैसे, इन विरह के लम्बे-लम्बे दिनों के बीतते, मिलन-वेला की बढ़ी-चढ़ी उत्कण्ठा में पड़ी, मेरी वह प्यारी, पाले से पीड़ित पद्मिनी की भांति, दीन-हीन किं वा किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनी हुई है।'

विमर्श—नाट्यशास्त्रप्रवर्त्तक आचार्य भरत ने 'प्रोषितभर्तृका' का यही स्वरूप-निरूपण किया था—

'नानाकार्याणि सन्धाय यस्या वै प्रोषितः प्रियः।
सा रूढालककेशान्ता भवेत् प्रोषितभर्तृका॥' (नाट्यशास्त्र २२.२९९.

अनुवाद—'वासकसज्जा' वह नायिका है जो, अपने सजे-धजे रंगमहल में, अपनी सखियों द्वारा सजायी जाया करती है और अपने प्रियतम से मिलने की प्रतीक्षा में पड़ी रहा करती है। उदाहरण के लिये, श्रीराघवानन्द महापात्र विरचित नाटक में चित्रित यह वासकसज्जा-चित्र—

'अरी सखी! इन बाजूबन्दों को हटा, हाथों के इन रत्न-कङ्कणों का क्या काम! गले की इस भारी हँसुली की क्या जरूरत! अरी! बस, तू मुझे मोतियों की एक लड़ी दे दे। मुझे तो अपने प्रियतम के साथ प्रेमोत्सव मनाना है, ऐसे समय मुझे किसी तरह की सजावट ठीक नहीं लगती।'

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार 'वासकसज्जा' का यह स्वरूप है—

'उचिते वासके या तु रतिसंभोगलालसा।
मण्डनं कुरुते हृष्टा सा वै वासकसज्जिका॥'

(नाट्यशास्त्र २२-२१३)

(८) विरहोत्कण्ठिता

आगन्तुं कृतचित्तोऽपि दैवान्नायाति यत्प्रियः।
तदनागमदुःखार्ता विरहोत्कण्ठिता तु सा॥ ८६॥

यथा—

'किं रुद्धः प्रियया कयाचिदथवा सख्या ममोद्वेजितः,
किं वा कारणगौरवं किमपि, यन्नाद्यागतो वल्लभः।
इत्यालोच्य मृगीदृशा करतले विन्यस्य वक्त्राम्बुजं
दीर्घं निःश्वसितं, चिरं च रुदितं, क्षिप्ताश्च पुष्पस्रजः॥'

(पूर्वोक्त नायिका-भेद-संकलन)

इति साष्टाविंशतिशतमुत्तममध्याधमस्वरूपेण।
चतुरधिकाशीतियुतं शतत्रयं नायिकाभेदाः॥ ८७॥

इह च 'परस्त्रियौ कन्यकान्योढे संकेतात्पूर्वं विरहोत्कण्ठिते, पश्चाद्विदूषका-

---

'वासक' का अभिप्राय है मिलन की रात के प्रेमोपचार का। भरतमुनि ने ये ६ 'वासक' बताये हैं—

'परिपाव्यां फलार्थे वा नवे प्रसव एव वा।
दुःखे चैव प्रमोदे च षडेते वासकाः स्मृताः॥
उचिते वासके स्त्रीणामृतुकालेऽपि वा बुधैः।
द्वेष्याणामथवेष्टानां कर्त्तव्यमुपसर्पणम्॥'

(नाट्यशास्त्र : २२-२०९, २१०)

इस प्रकार 'वासक' के लिये 'सज्जिता' नायिका 'वासकसज्जा' नायिका हुई।

अनुवाद—'विरहोत्कण्ठिता' वह नायिका है जिसका प्रियतम, उससे मिलने के लिये उत्सुक होने पर भी, दैववश, उससे नहीं मिल पाता और इसलिये जिसे वियोग की व्यथा विह्वल बना दिया करती है।

जैसे कि—'वह मृगनयनी सोचने लगी—'क्या दूसरी प्रेयसी ने उन्हें रोक लिया! क्या मेरी सखी ने तो उन्हें तंग नहीं किया। क्या कोई ऐसा काम उन्हें आ पड़ा जो न टालते बना हो। वे क्यों न आ सके।' और तब उसने अपने कमलमुख को हथेलियों में छिपा, लम्बी साँस ले, बहुत देर तक रोया-धोया और फूलों के हार उतार फेंके।'

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार ने 'विरहोत्कण्ठिता' का यह स्वरूप निर्दिष्ट किया है—

'अनेककार्यव्यासङ्गाद् यस्या नागच्छति प्रियः।
तदनागतदुःखार्त्ता विरहोत्कण्ठिता तु सा॥'

(नाट्यशास्त्र : २२-२१४)

अनुवाद—अब यदि उपर्युक्त नायिका-भेदों का परिगणन किया जाय तो सब मिलकर १२८ (१६×८=१२८) नायिका-भेद सिद्ध हुये। इन १२८ नायिकाओं के भी उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन प्रकार हैं इसलिये समस्त नायिका-भेद ३८४ (१२८×३=३८४) हुये।

यहाँ किसी आचार्य का मत है कि उपर्युक्त नायिकाभेद युक्ति-युक्त नहीं। बात यह

दिना सहाभिसरन्त्यावभिसारिके, कुतोऽपि संकेतस्थानमप्राप्ते नायके विप्रलब्धे, इति त्र्यवस्थैवानयोरस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात् ।' इति कश्चित् ।

क्वचिदन्योन्यसाङ्कर्यमासां लक्ष्येषु दृश्यते ।

यथा—

'न खलु वयममुष्य दानयोग्याः पिबति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम् ।
विट ! विटपममुं ददस्व तस्यै भवति यतः सदृशोश्चिराय योगः ।'
'तव कितव किमाहितैर्वृथा नः क्षितिरुहपल्लवपुष्पकर्णपूरैः ।
ननु जनविदितैर्भवद्व्यलीकैश्चिरपरिपूरितमेव कर्णयुग्मम् ।।'
'मुहुरुपहसितामिवालिनादैर्वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम् ।
वसतिमुपगतेन धाम्नि तस्याः शठ ! कलिरेष महांस्त्वयाद्य दत्तः ।।'
'इति गदितवती रुषा जघान स्फुरितमनोरमपक्ष्मकेसरेण ।
श्रवणनियमितेन कान्तमन्या सममसिताम्बुरुहेण चक्षुषा च ।।'

है कि 'कन्यका' और 'परोढा' प्रकार की द्विविध परकीया नायिकाओं की तीन ही अवस्थाएँ युक्तिसिद्ध हो सकती हैं (न कि आठों) जैसे कि (१) किसी प्रेमी के साथ सुरतसंकेत हो चुकने पर, मिलन-काल के पहले 'विरहोत्कण्ठिता' की अवस्था (२) तदनन्तर विदूषक अथवा चेट आदि के साथ अभिसरण करने पर 'अभिसारिका' की अवस्था और (३) किसी कारणवश संकेत-स्थान पर नायक के न आ सकने पर 'विप्रलब्धा' की अवस्था। ऐसा इसलिए क्योंकि दोनों प्रकार की (कन्यका और परोढा) ये नायिकायें (स्वाधीनपतिका नहीं अपितु) 'अस्वाधीनपतिका' ही रहा करती हैं। [किन्तु यह मत ठीक नहीं क्योंकि 'पति' अथवा 'भर्ता' का अभिप्राय यहाँ प्रणयी अथवा कामुक माना गया है। 'कन्यका' और 'परोढा' भी स्वाधीनपतिका (स्वाधीनकामुका) हो सकती हैं क्योंकि पिता और पति के घर में भी कोई स्त्री किसी दूसरे से प्रेम कर सकती है और तब उसे भी 'खण्डिता' आदि-आदि की अवस्थाओं से गुजरना पड़ सकता है।]

काव्य-साहित्य में इन उपर्युक्त नायिका-भेदों का संकीर्ण-स्वरूप भी यत्र-तत्र चित्रित मिलता है। जैसे कि (महाकवि माघ के शिशुपाल-वध में ही) :—

'अरे लम्पट ! हमें तू इन फूली टहनियों को तोड़-तोड़ क्यों दे रहा है ! जा, इन्हें अपनी उस प्यारी को जाकर दे जो एकान्त संभोग में तुझे चूस रही है और जिसे छोड़ना तेरे वश के बाहर है। मेल तो समान स्वभाववालों में ही ठीक है (यह भी विटप-फूली टहनी–है और वह भी 'विटपा'–तुझ जैसे लम्पट की प्यारी–है)।'

'अरे धूर्त ! मेरे कानों के लिए इन कोमल किसलयों और फूलों के कर्णफूल तू क्यों बनाना चाहता है। अरे ! मेरे कान तो तेरी सर्वविदित लम्पट-चरित्र-गाथाओं से यों ही भरे हुए हैं।'

'अरे नीच ! भौंरों की गुञ्जार से भरी इस 'कली' को मुझे क्यों दे रहा है। अरे ! जब तू उस दुष्टा के घर रात बिता चुका तब तो तूने मुझे 'कलि' (कलह का पर्याप्त कारण) दे ही डाली।'

'इस प्रकार बोलती हुई नायिका ने, अपने प्रेमी पर, लम्बे-लम्बे (कानों तक फैले) किंवा पक्ष्म-केशरों से भरे हुए नीलकमल और नयनों की एक ही साथ चोट मारी।'

इयं हि वक्रोक्त्या परुषवचनेन कर्णोत्पलताडनेन च धीरमध्यताऽधीरमध्यताऽधीरप्रगल्भताभिः संकीर्णा ।

एवमन्यत्राऽप्यूह्यम् ।

इतरा अप्यसंख्यास्ता नोक्ता विस्तरशङ्कया ॥ ८८ ॥

ता नायिकाः ।

यहाँ (माघ की उपर्युक्त सूक्तियों में) यह स्पष्ट है कि जिस नायिका का चित्रण किया हुआ है उसमें 'वक्रोक्ति'-नैपुण्य के कारण 'धीरमध्यता' परुषवचन के कारण 'अधीरमध्यता' और कर्णोत्पल से ताड़न के कारण 'अधीरप्रगल्भता' के स्वभाव घुले-मिले हैं ।

इसी प्रकार अन्य नायिका-भेद-सांकर्य स्वयं देखे जा सकते हैं ।

इन उपर्युक्त नायिका-प्रकारों के अतिरिक्त अन्यान्य (दिव्या, अदिव्या, पद्मिनी, हस्तिनी आदि-आदि) नायिका-प्रकार भी परिगणित किये जा चुके हैं किन्तु ग्रन्थगौरव के भय से यहाँ इनका परिगणन नहीं किया गया और ऐसा करना ठीक भी नहीं है ।

यहाँ कारिका में 'ताः' का अभिप्राय 'नायिकाओं' का है ।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार ने जैसा नायिका-भेद निरूपण किया है उसके आधार के रूप में शारदातनय (१२ वीं शताब्दी) कृत 'भावप्रकाशन' आदि नाट्यशास्त्रीय-ग्रन्थ माने जा सकते हैं । आचार्य शारदातनय ने स्पष्ट कहा है—

'त्रयोदशविधा स्वीया द्विविधाऽन्याङ्गना मता ।
एका वेश्या पुनश्चाष्टाववस्थाभेदतोऽपि ताः ॥
पुनश्च ताः त्रिधा सर्वा उत्तमाधममध्यमाः ।
इत्थं शतत्रयं तासामशीतिश्चतुरुत्तरा ॥
सङ्ख्येयं रुद्रटाचायरुपभोगाय दर्शिता ।
अन्या व्यवस्थैवेत्येके कथयन्ति मनीषिणः ॥
प्रथमायामवस्थायामन्या स्याद्विरहोन्मनाः ।
ततोऽभिसारिका भूत्वा सङ्केते पश्यति प्रियम् ॥
सङ्केताच्चेत् परिभ्रष्टा विप्रलब्धा भवेत् पुनः ।
पराधीनतया तस्या नान्याऽवस्था विलोक्यते ॥'

(भावप्रकाशन : ४थं अधिकार)

(ख) भरतमुनि का नाट्यशास्त्र नायिकानिरूपण का भी आकरग्रन्थ है । निम्न पंक्तियों में नाना प्रकार की नायिकाओं का स्वरूप-निर्देश है—

'भूयिष्ठमेव लोकोऽयं सुरतं सर्वदेच्छति ।
सुखस्य हि स्त्रियो मूलं नानाशीलाश्च ताः पुनः ॥
देव-दानव-गन्धर्व-रक्षो-नाग-पतत्रिणाम् ।
पिशाच-यक्ष-व्यालानां नर-वानर-हस्तिनाम् ॥
मृग-मीनोष्ट्र-मकर-खर-सूकर-वाजिनाम् ।
महिषाजगवादीनां तुल्यशीलाः स्त्रियो मताः ॥'

(नाट्यशास्त्र : २२-९९-१०१)

साहित्यदर्पणकार ने इन अनन्त नायिका-प्रकारों का निर्देश मात्र करके जो ग्रन्थ का आकार नहीं बढ़ाया, वह अच्छा ही किया ।

(नायिकाओं के यौवनालङ्कार)

अथासामलङ्काराः—

यौवने सत्त्वजास्तासामष्टाविंशतिसंख्यकाः ।
अलङ्कारास्तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजाः ॥ ८९ ॥
शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।
औदार्यं धैर्यमित्येते सप्तैव स्युरयत्नजाः ॥ ९० ॥
लीला विलासो विच्छित्तिर्विब्वोकः किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं विभ्रमो ललितं मदः ॥ ९१ ॥
विहृतं तपनं मौग्ध्यं विक्षेपश्च कुतूहलम् ।
हसितं चकितं केलिरित्यष्टादशसंख्यकाः ॥ ९२ ॥
स्वभावजाश्च भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि ।

पूर्वे भावादयो धैर्यान्ता दश नायकानामपि संभवन्ति । किंतु सर्वेऽप्यमी नायिकाश्रिता एव विच्छित्तिविशेषं पुष्णन्ति ।

अनुवाद—अब नायिकाओं के अलङ्कारों का निर्देश किया जा रहा है—

नायिकाओं के ये २८ अलङ्कार हैं जो कि (शृङ्गाराभिव्यञ्जक) 'सात्त्विक' अलङ्कार कहे गये हैं और उनके यौवन से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें 'अङ्गज' अलङ्कार तीन हैं—(१) भाव, (२) हाव और (३) हेला। इनमें जिन्हें 'अयत्नज' अलङ्कार कहा करते हैं वे सात हैं—(४) शोभा, (५) कान्ति, (६) दीप्ति, (७) माधुर्य, (८) प्रगल्भता, (९) औदार्य और (१०) धैर्य। 'स्वभावज' अलङ्कारों में इन १८ अलङ्कारों की गणना है—(११) लीला, (१२) विलास, (१३) विच्छित्ति, (१४) विब्वोक, (१५) किलकिञ्चित, (१६) मोट्टायित, (१७) कुट्टमित, (१८) विभ्रम, (१९) ललित, (२०) मद, (२१) विहृत, (२२) तपन, (२३) मौग्ध्य, (२४) विक्षेप, (२५) कुतूहल, (२६) हसित, (२७) चकित और (२८) केलि।

इन २८ अलङ्कारों में पूर्व परिगणित १० अलङ्कार (भाव से धैर्य तक) नायक के भी सात्त्विक किंवा यौवन-सम्बन्धी अलङ्कार माने जाया करते हैं।

यहाँ (कारिका में) 'भावाद्या दश' का अभिप्राय पूर्वोक्त (१) 'भाव' से लेकर (१०) 'धैर्य' पर्यन्त अलङ्कारों का है जो कि (नायिका के अतिरिक्त) नायक के भी अलङ्कार हैं। तब भी इतना तो निश्चित है कि इनकी जैसी सुन्दरता और विचित्रता नायिका में रहने पर दिखायी दिया करती है वैसी नायक में रहने पर नहीं।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'सामान्याभिनय' के प्रसङ्ग में नायक और नायिका के इन अलङ्कारों का स्वरूप-निर्देश और निरूपण किया है—

'अलङ्कारास्तु नाट्यज्ञैर्ज्ञेया भावरसाश्रयाः।
यौवनेऽभ्यधिकाः स्त्रीणां विकारा वक्त्रगात्रजाः॥
आदौ त्रयोऽङ्गजास्तेषां दश स्वाभाविकाः परे।
अयत्नजाः पुनः सप्त रसभावोपबृंहिताः॥

क्रमशः अलङ्कार-निरूपण (१ भाव)

तत्र भावः—

निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया ॥ ९३ ॥

जन्मतः प्रभृति निर्विकारे मनसि उद्बुद्धमात्रो विकारो भावः। यथा—

'स एव सुरभिः कालः स एव मलयानिलः।
सैवेयमबला किंतु मनोऽन्यदिव दृश्यते ॥'

(२—हाव)

अथ हावः—

भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु संभोगेच्छाप्रकाशकः।

देहात्मकं भवेत्सत्त्वं सत्त्वाद्भावः समुत्थितः।
भावात्समुत्थितो हावो हावाद्धेला समुत्थिता ॥
....

लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम्।
मोट्टायितं कुट्टमितं विब्बोको ललितं तथा ॥
विहृतं चेति विज्ञेया दश स्त्रीणां स्वभावजाः।
....

शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च तथा माधुर्यमेव च।
धैर्यं प्रागल्भ्यमौदार्यमित्येते स्युरयत्नजाः ॥' इत्यादि।

(नाट्यशास्त्र २२. ४-२६)

अनुवाद—इन अलङ्कारों में 'भाव' का यह स्वरूप है—

नायिका (और नायक) के निर्विकार हृदय में काम का प्रथम उन्मेष 'भाव' है। अर्थात् 'भाव' वह अलङ्कार है जिसे जन्म से लेकर (यौवनारम्भ तक) निर्विकृत नायिका-(किंवा नायक) के हृदय में रतिवासना का प्रथम उद्बोधन कह सकते हैं। जैसे कि—

'वसन्त की ऋतु भी वही है, मलय-समीर भी कोई नया नहीं और यह रमणी भी वही है किन्तु इसका मन कुछ न कुछ दूसरा ही लग रहा है।'

विमर्श—काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र ने 'भाव' की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है—

'तत्राङ्गस्याल्पो विकारोऽन्तर्गतवासनात्मतया वर्तमानं रत्याख्यं भावं भावयन् सूचयन् भावः। यथा—

दृष्टिः सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रं प्रेषयति प्रवर्तितसखीसंभोगवार्तास्वपि।
पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग् यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः ॥

अर्थात् 'भावात्मक' अङ्गविकार को इसलिये 'भाव' कहते हैं क्योंकि यह नायिका के हृदय में (और नायक के भी हृदय में) वासनारूप से विराजमान रतिभाव को भावित अथवा सूचित किया करता है।

अनुवाद—'हाव' का अभिप्राय यह है—

वह भाव ही वस्तुतः 'हाव' है जो कि (नायक-नायिका के) भृकुटि किंवा नयनों के

भाव एवाल्पसंलक्ष्यविकारो हाव उच्यते ॥ ९४ ॥

यथा—

'विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥'

(३—हेला)

अथ हेला—

हेलात्यन्तसमालक्ष्यविकारः स्यात् स एव तु ।

स एव भाव एव ।

यथा—

'तह ते झत्ति पउत्ता वहुए सव्यङ्गविब्भमा सअला ।
संसइअमुद्धभावा होइ चिरं जइ सहीणं पि ॥'
(तथा तस्या झटिति प्रवृत्ता वध्वाः सर्वाङ्गविभ्रमाः सकलाः ।
संशयितमुग्धभावा भवन्ति चिरं यथा सखीनामपि ॥)

विचित्र व्यापारों से संभोग-कामना प्रकाशित किया करता है और हृद्गत रति-विकार का किञ्चिन्मात्र परिलक्षक भी हुआ करता है उदाहरण के लिये (महाकवि कालिदास के 'कुमारसंभव' में पार्वती का यह हाव-वर्णन)—

'(जिस समय महायोगी भगवान् शङ्कर के हृदय पर काम के बाण गिरने लगे, उस समय) पार्वती भी नवकुसुमित कदम्ब-कोरकों की भांति (रोमाञ्चित) अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग से अपनी हृद्गत रतिभावना प्रकाशित करने लगी और अपने अतिमनोरम किंवा कटाक्षांचित मुख को तिरछा घुमाये खड़ी हो गयी ।'

विमर्श —'हाव' की परिभाषा आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में यह है—

'बहुविकारात्मा भ्रूतारकचिबुकग्रीवादेर्धर्मः स्वचित्तवृत्तिं परत्र जुह्वतीं कुमारीं हावयतीति हावः ।'

'स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः ।
गतीनामारम्भः किसलयितलीलापरिकरः
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः ॥'

(काव्यानुशासन ७. ३४)

अर्थात् 'हाव' युवती नायिका का वह अङ्गविकार है जो उसके प्रेम-पगे हृदय की एक सार्वजनिक सूचना दिया करता है ।

अनुवाद—'हेला' का निरूपण किया जा रहा है—

'हेला' का अभिप्राय वस्तुतः वह 'भाव' ही है जिसे (नायक-नायिका के हृदय में रत्युद्बोध के अनन्तर) अङ्ग-प्रत्यङ्ग का एक ऐसा विकार कहा करते हैं जो सब पर प्रकट हो जाय ।

यहाँ कारिका में 'स एव' का अभिप्राय 'भाव एव' (भाव) का ही है ।

जैसे कि—

'नववधू के अङ्ग-प्रत्यङ्ग के सभी विभ्रम-विलास इतनी शीघ्रता से प्रकट होने लगे कि सखियों को भी उसकी मुग्धता पर संदेह होने लगा ।'

(४—शोभा)

अथ शोभा—

रूपयौवनलालित्यभोगाद्यैरङ्गभूषणम् ॥ ९५ ॥

शोभा प्रोक्ता—

तत्र यौवनशोभा यथा—

'असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे ॥'

एवमन्यत्रापि।

विमर्श—(क) काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र ने 'हेला' की यह परिभाषा की है—

'यदा तु रतिवासनाप्रबोधात्तां प्रबुद्धां रतिमभिमन्यते केवलं समुचितविभावोपग्रह-विरहान्निर्विषयतमा स्फुटीभावं प्रतिपद्यते तदा तज्जनितबहुतराङ्गविकारात्मा हेला, हावस्य सम्बन्धिनी क्रिया। प्रसरत्ता वेगवाहित्वमित्यर्थः। वेगेन हि गच्छन् हेलतीत्युच्यते लोक इति। एवं चोद्भिद्योद्भिद्य विश्राम्यन् हावः। स एव प्रसरणैकस्वभावो हेलेति।···तदेतद्-ब्राह्मणस्योपनयनमिव भविष्यत् पुरुषार्थसद्मपीठबन्धत्वेन योषितामामनन्ति।'

अर्थात् 'हाव' का ही विकास 'हेला' है। किसी द्विज के उपनयन की भांति नारी की 'हेला' पुरुषार्थसद्म का पीठबन्ध है।

(ख) भाव, हाव और हेला का विश्लेषण नायक-नायिका हृदय में रति-बीज के उत्पाद-उद्घाट और औन्मुख्य का विश्लेषण है। महाकवियों की कृतियों में प्रसिद्ध नायिकाओं के यौवना-लङ्कारों का जो चित्रण है उसमें इन तीन अलङ्कारों का वास्तविक स्वरूप-सौन्दर्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। उत्तमप्रकृति नायिका के चित्रण में इन्हीं अलङ्कारों की योजना महाकवियों की कला की विशेषता है। इसीलिये नाट्यदर्पणकार का स्पष्ट कथन है—

'भवति हि तथाभूतं वागादिवैचित्र्यमुपलभ्योद्बुद्धोऽयमन्तःकामप्रदीपोऽस्या इत्युत्त-मप्रकृतिश्च नायिकेयमिति सहृदयस्य निश्चय इति—(नाट्यदर्पण-४र्थ विवेक)'

अर्थात् उत्तम प्रकृति नायिका की अन्तःशोभा तभी छिटक पड़ती है जब कि उसके हृदय में कामावतार की शुभ-सूचना देनेवाले वागादि-वैचित्र्य उसके शरीर पर प्रस्फुटित हो उठते हैं।

'भाव' तो नारीशरीर का प्रथम कामसूचक मनोरम विकार है। 'हाव' भाव के उद्रेक पर निर्भर है और जिसे 'हेला' कहते हैं वह हाव के उन्मेष का परिणाम है।

अनुवाद—शोभा का निरूपण किया जा रहा है—जिसे 'शोभा' कहते हैं वह रूप, यौवन, सौकुमार्य किंवा सुखभोग से सम्भूत [नायिका (और नायक के) शरीर का एक सौन्दर्य है। उदाहरण के लिये यौवन-संभूत शोभा (जो कि महाकवि कालिदास की प्रतिभा द्वारा चित्रित हुई है)—

'पार्वती बाल्यावस्था के बाद उस अवस्था (यौवनावस्था) में पहुँची जो कि रमणी की अङ्गलतिका की एक सहज भूषण-सम्पत्ति हुआ करती है, जिसे बिना आसवपान के ही मद की उत्पत्ति का कारण माना जाता है और जो वस्तुतः काम का एक ऐसा अस्त्र है जो पांचों पुष्पास्त्रों से भी बढ़कर अमोघवीर्य है।'

इसी प्रकार रूप-संभूत शोभा आदि-आदि शोभा-प्रकारों के निदर्शन काव्य-साहित्य में यत्र-तत्र स्वयं देखे जा सकते हैं।

(५—कान्ति)

अथ कान्तिः—

सैव कान्तिर्मन्मथाप्यायितद्युतिः ।

मन्मथोन्मेषेणातिविस्तीर्णा शोभैव कान्तिरुच्यते ।

यथा—

'नेत्रे खञ्जनगञ्जने—' इत्यत्र ।

(६—दीप्ति)

अथ दीप्तिः—

कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते ॥ ९६ ॥

यथा मम चन्द्रकलानामनाटिकायां चन्द्रकलावर्णनम्—

'तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसंपदो हासः ।
धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम् ॥'

(७—माधुर्य)

अथ माधुर्यम्—

सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्यं रमणीयता ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'शोभा' का यह स्वरूप-विवेक किया है—

'रूपयौवनलावण्यै रूपभोगोपबृंहितैः ।
अलङ्करणमङ्गानां शोभेति परिकीर्तिता ॥' (नाट्यशास्त्र २२.२७)

अनुवाद—'कान्ति' का स्वरूप यह है—

उपर्युक्त 'शोभा' ही 'कान्ति' बन जाती है जब कि उसमें कामविलास की वृद्धि परिलक्षित होने लगती है ।

तात्पर्य यह है कि स्मरोद्रेक से अति समृद्ध 'शोभा' का ही दूसरा नाम 'कान्ति' है । इसके उदाहरण के लिये 'नेत्रे खञ्जनगञ्जने' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति पर्याप्त है ।

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार 'कान्ति' का यह स्वरूप है—

अनुवाद—'दीप्ति' का निरूपण किया जा रहा है—

जिसे 'दीप्ति' कहते हैं वह अतिविस्तीर्ण 'कान्ति' ही है (अन्य कुछ नहीं) ।

उदाहरण के लिये, मेरी स्वरचित 'चन्द्रकला' नाटिका में, चन्द्रकला का यह वर्णन—

'यह सुन्दरी चन्द्रकला तरुणता का साक्षात् विलास है, बढ़ती लावण्य-सम्पदा का सुन्दर हास है, पृथिवी की एकमात्र आभरण-शोभा है और है युवकों के हृदय का वशीकरण-मन्त्र ।'

विमर्श—भावप्रकाशनकार आचार्य शारदातनय ने 'दीप्ति' का यह लक्षण किया है—

'कान्तिरेवोपभोगेन देशकालगुणादिभिः ।
उद्दीप्यमाना विस्तारं याता दीप्तिरिति स्मृता ॥'

अनुवाद—'माधुर्य' का लक्षण किया जा रहा है—

यथा—

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥'

(८—प्रगल्भता)

अथ प्रगल्भता—

निःसाध्वसत्वं प्रागल्भ्यम्—

यथा—

'समाश्लिष्टाः समाश्लेषैश्चुम्बिताश्चुम्बनैरपि ।
दृष्टाश्च दशनैः कान्तं दासीकुर्वन्ति योषितः ॥'

'माधुर्य' (नायिका और नायक की) एक ऐसी रमणीयता है जो सभी प्रकार की अवस्थाओं में अक्षुण्ण रहा करती है। उदाहरण के लिये (महाकवि कालिदास द्वारा चित्रित शकुन्तला के व्यक्तित्व का यह माधुर्य):—

'यह सुन्दरी (शकुन्तला) वल्कल के भी परिधान से कितनी सुन्दर, कितनी मनोरम लग रही है ! शैवल लताओं की लपेट से भी कमल सुन्दर ही लगा करता है। कलङ्क की रेखा भी शीतांशु की शोभा ही बढ़ाया करती है। जो भी सुन्दर व्यक्तित्व है उसके लिये सब कुछ (चाहे वह सुरूप हो या कुरूप हो) सौंदर्यवर्द्धक ही बन जाया करता है।'

विमर्श—नाट्यशास्त्र (२२. २९ में 'माधुर्य' की यह परिभाषा की गयी है—

'सर्वावस्थाविशेषेषु दीप्तेषु ललितेषु च ।
अनुल्वणत्वं चेष्टाया माधुर्यमिति संज्ञितम् ॥'

रसार्णवसुधाकरकार श्रीशिङ्गभूपाल ने भी 'माधुर्य' का उपर्युक्त ही अभिप्राय लिया है—

'माधुर्यं नाम चेष्टानां सर्वावस्थासु मार्दवम् ।'

अनुवाद—'प्रगल्भता' का स्वरूप बताया जा रहा है—

'प्रगल्भता' (प्रागल्भ्य) एक ऐसी विशेषता है जिसे (नायिका और नायक-हृदय की) निर्भयता कह सकते हैं। जैसे कि—

'रमणिओं का क्या कहना ! यदि वे आलिङ्गित हों तो आलिङ्गनों से, चुम्बित हों तो चुम्बनों से दन्तक्षत हों तो दन्तक्षतों से अपने प्रेमिओं को अपना दास तो बना ही लेती हैं।'

विमर्श—'प्रागल्भ्य' का अभिप्राय नाट्यशास्त्र (२२-३१) के अनुसार यह है—

'प्रयोगनिःसाध्वसता प्रागल्भ्यं समुदाहृतम् ।'

और अभिनवभारतीकार अभिनवगुप्ताचार्य ने 'प्रयोग' का तात्पर्य ६४ कामकला का लिया है—

'प्रयोग' इति कामकलादौ चातुःषष्टिक इत्यर्थः, यथाहुः—

'अन्यदा भूषणं पुंसः शमो लज्जेव योषितः ।
पराक्रमः परिभवे प्रागल्भ्यं सुरतेष्विव ॥'

(९—औदार्य)

अथौदार्यम्—

—औदार्यं विनयः सदा ॥ ९७ ॥

यथा—

'न ब्रूते परुषां-गिरं वितनुते न भ्रयुगं भङ्गुरं,
नोत्तंसं क्षिपति क्षितौ श्रवणतः सा मे स्फुटेऽप्यागसि ।
कान्ता गर्भगृहे गवाक्षविवरव्यापारिताक्ष्या बहिः
सख्या वक्त्रमभिप्रयच्छति परं पर्यश्रुणी लोचने ॥'

(१०—धैर्य)

अथ धैर्यम्—

मुक्तात्मश्लाघना धैर्यं मनोवृत्तिरचञ्चला ।

यथा—

'ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी,
दहतु मदनः, किंवा मृत्योः परेण विधास्यति ।
मम तु दयितः श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया
कुलममलिनं न त्वेवायं जनो न च जीवितम् ॥'

अनुवाद—औदार्य :—'औदार्य' का अभिप्राय है कदापि कोप न करने अथवा सदा विनम्र रहने का। जैसे कि—

'(नायक की उक्ति—) मेरे प्रेमापराध के स्पष्टतया प्रकट हो जाने पर भी वह सुन्दरी न तो मुझे कोई कड़ी बात बोलती है, न मुझ पर भौंहें तरेरती है और न कानों से कनफूल निकाल-निकाल कर मेरे सामने फेंकती है। वह तो भीतर के घर के झरोखे से इधर-उधर बाहर झाँक-झाँककर केवल अपनी सखी के मुख की ओर आँसू भरी निगाह डाल देती है।'

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार 'औदार्य' का लक्षण यह है—

'औदार्यं प्रश्रयः प्रोक्तः सर्वावस्थानुगो बुधैः ॥'

—(नाट्यशास्त्र २२-३१)

और इसे अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इस प्रकार समझाया है—

'सर्वास्वमर्षेर्ष्याक्रोधाद्यवस्थास्वपि यत्परुषवचनाद्यनुदीरणं तदौदार्यम् ।'

अनुवाद—धैर्य :—'धैर्य' का अभिप्राय (नायक और नायिका की) एक ऐसी मनोवृत्ति है जिसमें न तो कोई चचलता रहा करती है और न किसी प्रकार की आत्मश्लाघा टिका करती है।

जैसे कि (महाकवि भवभूति के 'मालतीमाधव' में चित्रित 'मालती' का धैर्य-चित्र)—

'भले ही रातों में निरन्तर चन्द्रमा जलता रहे, भले ही कामदेव आग उगलता रहे, भला मौत के अतिरिक्त और मेरा क्या बिगड़ जायगा। मेरे प्रियतम, मेरे पिता, मेरी माता, मेरे सभी सगे-सम्बन्धी निष्कलंक कुल के ही रहेंगे। मुझे अपनी कोई चिन्ता नहीं और न अपने प्राणों की ही कोई मोह-ममता है।'

(११—लीला)

अथ लीला—

अङ्गैर्वेषैरलङ्कारैः प्रेमिभिर्वचनैरपि ॥ ९८ ॥
प्रीतिप्रयोजितैर्लीलां प्रियस्यानुकृतिं विदुः ।

यथा—

मृणालव्यालवलया वेणीबन्धकपर्दिनी ।
हरानुकारिणी पातु लीलया पार्वती जगत् ॥

(१२—विलास)

अथ विलासः—

यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम् ॥ ९९ ॥
विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसन्दर्शनादिना ।

यथा—

'अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्तवैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्याः ।
तद्भूरिसात्त्विकविकारमपास्तधैर्यमाचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत् ॥'

विमर्श—आचार्य हेमचन्द्र ने 'धैर्य' का यही स्वरूपविवेक किया ह—

'अचापलाविकत्थनत्वे धैर्यम्—

चापलानुपहतत्वमात्मगुणानाख्यानं धैर्यम् ।' (काव्यानुशासन ७-५०)

अनुवाद—लीला :—'लीला' का अभिप्राय है प्रेमोद्रेक के कारण, क्या अंग, क्या वेष, क्या आभूषण और क्या प्रेमपगे वचन—सब से प्रियतम के अनुकरण का। जैसे कि—

'उन देवी पार्वती की जय हो जो कमलतन्तुओं के वलय से (शिव के) व्याल-वलय का और वेणी के बन्ध से (शिव के) जटाजूट का अनुकरण किया करती हैं।'

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने नाटक-प्रयोक्ताओं की दृष्टि से 'लीला' का यह निरूपण किया है—

'वागङ्गालङ्कारैः श्लिष्टैः प्रीतिप्रयोजितर्मधुरैः ।
इष्टजनस्यानुकृतिर्लीला ज्ञेया प्रयोगज्ञैः ॥'

(नाट्यशास्त्र २२. १४)

यही बात काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र ने भी कही है—

'वाग्वेषचेष्टितैः प्रियस्यानुकृतिर्लीला ।

प्रियगतानां वाग्वेषचेष्टानां प्रियबहुमानातिशयेन न तूद्भटकरूपेणात्मनि योजनमनुकृतिर्लीला ।'

अनुवाद—विलास :—प्रिय के दर्शन, आगमन आदि के कारण, चाल-ढाल, उठने-बैठने, आसन-शयन किंवा मुख और नेत्र आदि के व्यापारों की आनन्द-सूचक विशेषता का नाम 'विलास' है। जैसे कि (महाकवि भवभूति के 'मालतीमाधव' में चित्रित 'मालती' का विलास)—

'माधव का दर्शन क्या हुआ, आयताक्षी मालती के ऐसे भाव प्रकट होने लगे जिनका वाणी से वर्णन असंभव है, जिनसे विभ्रम-विलासों की विचित्रतायें छिटक पड़ीं, जिनसे

(१३—विच्छित्ति)

अथ विच्छित्तिः—

स्तोकाप्याकल्परचना विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ।

यथा—

'स्वच्छाम्भःस्नपनविधौतमङ्गमोष्ठस्ताम्बूलद्युतिविशदो विलासिनीनाम् ।
वासस्तु प्रतनु विविक्तमस्त्विती यानाकल्पो यदि कुसुमेषुणा न शून्यः ॥'

(१४—विब्बोक)

अथ विब्बोकः—

विब्बोकस्त्वतिगर्वेण वस्तुनीष्टेऽप्यनादरः ॥ १०० ॥

यथा—

'यासां सत्यपि सद्गुणानुसरणे दोषानुवृत्तिः परा,
याः प्राणान् वरमर्पयन्ति, न पुनः सम्पूर्णदृष्टिं प्रिये ।

(स्तम्भादि) सात्त्विक भावों का स्रोत फूट पड़ा, जिन्होंने उसे अधीर बना दिया और एक शब्द में जिन्हें काम की कला-शिक्षाओं का लोकोत्तर प्रकाशन कहा जा सकता है !'

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि के अनुसार 'विलास' का स्वरूप यह है—

'स्थानासनगमनानां हस्तभ्रूनेत्रकर्मणाञ्चैव ।
उत्पद्यते विशेषो यः श्लिष्टः स तु विलासः स्यात् ॥'

(नाट्यशास्त्र २२. २५)

अर्थात् प्रिय के सम्प्राप्तिकाल में नायिका की मनोरम आंगिक चेष्टायें 'विलास' कही जाती हैं ।

अनुवाद—विच्छित्ति :—'विच्छित्ति' का अभिप्राय है-सौन्दर्य की वृद्धि करनेवाली थोड़ी भी वेष-रचना का । जैसे कि (महाकवि माघ के शिशुपालवध में चित्रित विच्छित्ति-चित्र)—

'कामिनिओं की वेष-रचना क्या ! यदि कामकलाओं का विलास हो तो निर्मल जल के स्नान से शुद्ध-शीतल शरीर, ताम्बूलराग से सुन्दर ओठ और सूक्ष्म किंवा निर्मल वस्त्र-बस यही कामिनिओं का वेष-सौन्दर्य है ।

विमर्श—भरतमुनि ने 'विच्छित्ति' का यह लक्षण किया है—

'माल्याच्छादनभूषणविलेपनानामनादरन्यासः ।
स्वल्पोऽपि परां शोभां जनयति यस्मात्तु विच्छित्तिः ॥'

(नाट्यशास्त्र २२. १६)

और आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार 'विच्छित्ति' का यह स्वरूप—

'गर्वादल्पाकल्पन्यासः शोभाकृद्विच्छित्तिः ।

सौभाग्यगर्वादनादरेण कृतो माल्याच्छादनभूषणविलेपनरूपस्याल्पस्याकल्पस्य न्यासः सौभाग्यमहिम्ना शोभाहेतुर्विच्छित्तिः । (काव्यानुशासन ७. ३८)

यद्यपि साहित्यदर्पणकार ने 'विच्छित्ति' के निदान 'सौभाग्यगर्व' का उल्लेख नहीं किया है किन्तु यह अभिप्राय यहाँ अन्तर्निगूढ अवश्य है ।

अनुवाद—विब्बोक :—सौभाग्य-गर्व के कारण प्रियवस्तु के प्रति भी अनादर का जो भाव है उसे 'विब्बोक' कहते हैं । उदाहरण के लिए—

'तीनों लोकों से विलक्षण प्रकृतिवाली वह वामा सुन्दरी तुम पर प्रसन्न हो जो

अत्यन्ताभिमतेऽपि वस्तुनि विधिर्यासां निषेधात्मक-
स्तास्त्रैलोक्यविलक्षणप्रकृतयो वामाः प्रसीदन्तु ते ॥'

(१५—किलकिञ्चित)

अथ किलकिञ्चितम्—

स्मितशुष्करुदितहसितत्रासक्रोधश्रमादीनाम् ।
साङ्कर्यं किलकिञ्चितमीष्टतमसङ्गमादिजाद्धर्षात् ॥ १०१ ॥

यथा—

'पाणिरोधमविरोधितवाञ्छं भर्त्सनाश्च मधुरस्मितगर्भाः ।
कामिनः स्म कुरुते करभोरूर्हारि शुष्करुदितं च सुखेऽपि ॥'

(१६—मोट्टायित)

अथ मोट्टायितम्—

तद्भावभाविते चित्ते वल्लभस्य कथादिषु ।
मोट्टायितमिति प्राहुः कर्णकण्डूयनादिकम् ॥ १०२ ॥

सद्गुणानुसरण में सदा तत्पर रहने पर भी सर्वत्र दोष निकाला करती है, जो प्रियतम के लिये प्राणों के न्यौछावर करने में उद्यत होने पर भी उस पर पूरी निगाह नहीं डाला करती और जो किसी प्रिय वस्तु के प्रति बलवती अभिलाषा रखने पर भी उसे मांगने का हाल नहीं जानती।

विमर्श—काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र ने 'बिब्बोक' का यह लक्षण किया—
'इष्टेऽप्यवज्ञा विब्बोकः सौभाग्यगर्वादिष्टेऽपि वस्तुन्यनादरो विब्बोकः।'

(काव्यानुशासन ७. ३९)

इसका सुन्दर उदाहरण महाकवि कालिदास की यह सूक्ति है—

'निर्विभुज्य दशनच्छदं ततो वाचि भर्तुरवधीरणापरा।
शैलराजतनया समीपगामाललाप विजयामहेतुकम् ॥'

(कुमारसंभव ८. ४९)

अनुवाद—किलकिञ्चित :—प्रियतम के सङ्गम, आगमन आदि-आदि से संभूत आनन्द के कारण मुसकुराहट, अकारण रोदन, हँसी, त्रास, क्रोध, श्रम आदि-आदि के विचित्र मिश्रण को 'किलकिञ्चित' कहा जाता है। जैसे कि (महाकवि माघ के शिशुपालवध में चित्रित यह 'किलकिञ्चित'-चित्र)—

'सुन्दरी ने अपने प्रियतम की इच्छा का विघात न करके भी, नीवीमोक्ष में तत्पर उसके हाथों को रोका; मन्द मुसकान के साथ उसे मीठी-मीठी झिड़कियाँ दीं और आनन्द का अनुभव करते हुए भी मनोहर शुष्क रोदन (यों ही रो पड़ना) कर डाला।'

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि के अनुसार 'किलकिञ्चित' का यह स्वरूप है—

'स्मितरुदितहसितभयहर्षगर्वदुःखश्रमाभिलाषाणाम्।
सङ्करकरणं हर्षादसकृत् किलकिञ्चितं ज्ञेयम् ॥'

(नाट्यशास्त्र २२. १८)

'किलकिञ्चित' का भी कारण सौभाग्यगर्व ही है न कि और कुछ।

अनुवाद—मोट्टायित :—प्रियतम के चरित्र से सम्बद्ध आलाप-संलाप के प्रसङ्गों में

यथा—

'सुभग ! त्वत्कथारम्भे कर्णकण्डूतिलालसा ।
उज्जृम्भवदनाम्भोजा भिनत्त्यङ्गानि साऽङ्गना ॥'

(१६—कुट्टमित)

अथ कुट्टमितम्—

केशस्तनाधरादीनां ग्रहे हर्षेऽपि सम्भ्रमात् ।
आहुः कुट्टमितं नाम शिरःकरविधूननम् ॥ १०३ ॥

यथा—

'पल्लवोपमितिसाम्यसपक्षं दष्टवत्यधरबिम्बमभीष्टे ।
पर्यकूजि सरुजेव तरुण्यास्तारलोलवलयेन करेण ॥'

प्रेमपगी नायिका के कर्णकण्डूयन (कान खुजलाने) आदि का नाम 'मोट्टायित' कहा जाया करता है। जैसे कि—

'अरे सौभाग्यशाली युवक ! तुम्हारे सम्बन्ध में बातचीत चलते ही वह सुन्दरी अपने कानों के खुजलाने में बड़ा आनन्द लेने लगती है। उसका मुखकमल जंभाई लेने लगता है और उसके अङ्ग-अङ्ग अंगड़ाई से भर उठते हैं।'

विमर्श—'नाट्यशास्त्र' में 'मोट्टायित' की यह परिभाषा है—

'इष्टजनस्य कथायां लीलाहेलादिदर्शने वापि ।
तद् भावभावनाकृतमुक्तं मोट्टायितं नाम ॥'

जिसकी अभिनवभारतीकार के शब्दों में यह व्याख्या है—

'इष्टजनस्येति—कथने दर्शने वा कान्तस्य यदुत्पद्यते योषितो लीलादि तद्भावभावनवशान्मदनाङ्गमर्दपर्यन्तं तदङ्गमोट्टनान्मोट्टायितम् ।' (नाट्यशास्त्र : अभिनवभारती : २२-१९)

अभिप्राय यह है कि प्रियतम के दर्शनादि से प्रेमपगी नायिका की अंगड़ाई आदि 'मोट्टायित' है।

अनुवाद—कुट्टमित :—काव्यकोविद लोग जिस यौवनालङ्कार को 'कुट्टमित' कहते हैं उसका अभिप्राय नायक के द्वारा, केश, स्तन, अधर आदि के ग्रहण में, आनन्द लेनेवाली भी नायिका का, संभ्रमवश, अपने सिर, हाथ आदि का (निषेधसूचक) विधूनन अथवा कंपन है।

जैसे कि (महाकवि माघ के 'शिशुपालवध' में कुट्टमित का यह-चित्रण)—'जैसे ही प्रियतम ने (प्रेमिका के) पल्लवोपम अधरबिम्ब पर अपने दाँतों के चिह्न बनाये, वैसे ही सुन्दरी के मुखरित कङ्कण युक्त हाथ ने, मानो कष्ट का निवेदन करते हुए, झनझनाहट मचा दी।'

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार 'कुट्टमित' का यह स्वरूप है—

'केशस्तनाधरादिग्रहणादतिहर्षसंभ्रमोत्पन्नम् ।
कुट्टमितं विज्ञेयं सुखमपि दुःखोपचारेण ॥'

(नाट्यशास्त्र २२. २०)

जिसका भावानुवाद भावप्रकाशनकार आचार्य शारदातनय के शब्दों में यह है—

'सौख्योपचारैः सानन्दाधरकेशग्रहादिभिः ।
दुःखोपचारवत् कुप्येद्बहिः कुट्टमितं तु तत् ॥'

(भावप्रकाशन १. २५)

(१८—विभ्रम)

अथ विभ्रमः—

त्वरया हर्षरागादेर्दयितागमनादिषु ।
अस्थाने विभ्रमादीनां विन्यासो विभ्रमो मतः ॥ १०४ ॥

यथा—

'श्रुत्वायान्तं बहिः कान्तमसमाप्तविभूषया ।
भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः ॥'

(१९—ललित)

अथ ललितम्—

सुकुमारतयाङ्गानां विन्यासो ललितं भवेत् ।

यथा—

'गुरुतरकलनूपुरानुनादं सललितनर्तितवामपादपद्मा ।
इतरदनतिलोलमादधाना पदमथ मन्मथमन्थरं जगाम ॥'

अनुवाद—विभ्रम :—प्रियतम के आगमन आदि के प्रसगों में आनन्दातिरेक अथवा अनुरागाधिक्य के कारण, नायिका का, संभ्रमवश, अपने अलङ्कारादि का अस्त-व्यस्त उपन्यास 'विभ्रम' कहा गया है । उदाहरण के लिये—

'जैसे ही सुन्दरी ने यह सुना कि उसका प्रियतम घर के बाहर आ पहुँचा है कि उसने अपनी वेश-भूषा अधूरी छोड़ दी, अञ्जन माथे पर लगा लिया, महावर आँखों में डाला और तिलक वालों पर जमा दिया !'

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि के शब्दों में 'विभ्रम' का यह स्वरूप है—

'विविधानामर्थानां वागङ्गाहार्यसत्त्वयोगानाम् ।
मदरागहर्षजनितो व्यत्यासो विभ्रमा ज्ञेयः ॥'

(नाट्यशास्त्र २२. १७)

जिसे काव्यानुशासनकार हेमचन्द्रसूरि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'वागङ्गभूषणानां व्यत्यासो विभ्रमः ।
सौभाग्यगर्वाद्वचनादीनामन्यथा निवेशो व्यत्यासो विभ्रमः । वचनेऽन्यथावक्तव्ये-ऽन्यथा भापणम् । हस्तेनादातव्ये पादेनादानम् , रशनायाः कण्ठे न्यासः ।'

(काव्यानुशासन ७. ४०)

अनुवाद—ललित :–अङ्ग-प्रत्यङ्ग का सुकुमार विन्यास ही 'ललित' है ।

जैसे कि—(महाकवि माघ का यह 'ललित'-चित्रण)—

'यह सुन्दरी जब चली तब नूपुरों की मधुर झंकार के साथ चली, बायें पदकमल को विचित्रता से नचाते चली, दाहिने को धीरे से पृथ्वी पर दबाते चली और ऐसी चली मानो कामोन्माद के कारण मन्द चाल से चल रही हो ।'

विमर्श—'ललित' का स्वरूप नाट्यशास्त्र में यह है—

'हस्तपादाङ्गविन्यासो भ्रूनेत्रोष्ठप्रयोजितः ।
सौकुमार्याद् भवेद्यस्तु ललितं तत्प्रकीर्तितम् ॥'

(नाट्यशास्त्र २२. २२)

साहित्यदर्पणकार ने वस्तुतः इसी का अभिप्राय-प्रकाशन किया है ।

(२०—मद)

अथ मदः—

मदो विकारः सौभाग्ययौवनाद्यवलेपजः ॥ १०५ ॥

यथा—

'मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति।
अन्यापि किं न खलु भाजनमीदृशीनां
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः॥'

(२१—विहृत)

अथ विहृतम्—

वक्तव्यकालेऽप्यवचो व्रीडया विहृतं मतम्।

यथा—

'दूरागतेन कुशलं पृष्टा नोवाच सा मया किञ्चित्।
पर्यश्रुणी तु नयने तस्याः कथयाम्बभूवतुः सर्वम्॥'

अनुवाद—मद :–सौभाग्यगर्व, यौवनगर्व आदि-आदि के कारण उत्पन्न होनेवाला जो विकार है वह 'मद' कहा गया है। जैसे कि—

'अरी मतवाली! इस घमण्ड में न पड़ कि तेरे गालों पर तेरे प्रियतम के हाथों की रची मञ्जरी की पत्र-रचना पड़ी हुई है। अरी! किसी और भी सुन्दरी के (अर्थात् मेरे) भाग्य में भी यह सब कुछ लिखा है, किन्तु दुःख है कि भावावेश से कपोल की कँपकँपी ऐसा नहीं होने देती।'

विमर्श—भरतनाट्यशास्त्र में, नायिका के स्वभावज यौवनालङ्कारों में 'मद' का उल्लेख नहीं मिलता। 'काव्यानुशासन'कार हेमचन्द्रसूरि तथा 'भावप्रकाशन'कार शारदातनय ने भी 'मद' की लक्षण-परिभाषा नहीं की है। आचार्य अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती' में 'मद' का संकेत अवश्य है किन्तु मदभेद के रूप में है जैसा कि निम्न पंक्तियों से स्पष्ट पता चलता है—

'एतावत एवेत इत्यत्र नियमो विवक्षितः। तेन-मौग्ध्य-मद-भाव-विकृत-परितपनादीनामपि शाक्याचार्यराहुलादिभिरभिधानं विरुद्धमित्यलं बहुना।'

(अभिनवभारती–नाट्यशास्त्र २२ ३१)

विश्वनाथ कविराज ने यहाँ अलंकारों में 'मद' की जो गणना कर डाली है उसका आधार 'अभिनवभारती' का उपर्युक्त 'मद'-निर्देश है।

अनुवाद—विहृत :—'विहृत' का अभिप्राय बोलने के समय में भी लज्जावश, न बोल पाना है। जैसे कि—

'जब मैंने, दूर देश से लौटने पर, कुशल पूछी, तब वह कुछ भी न बोल पायी। किन्तु उसकी आँसू भरी आंखों ने सब कुछ बता ही दिया!'

विमर्श—भरत मुनि के नाट्यशास्त्र (२२-२४) के अनुसार 'विहृत' का यह स्वरूप है—

'वाक्यानां प्रीतियुक्तानां प्राप्तानां यदभाषणम्।
व्याजात्स्वभावतो वापि विहृतं नाम तद्भवेत्॥'

(२२—तपन)

अथ तपनम्—

तपनं प्रियविच्छेदे स्मरवेगोत्थचेष्टितम् ॥ १०६ ॥

यथा मम—

'श्वासान्मुञ्चति भूतले विलुठति, त्वन्मार्गमालोकते,
दीर्घं रोदिति, विक्षिपत्यत इतः क्षामां भुजावल्लरीम्।
किञ्च, प्राणसमान ! काङ्क्षितवती स्वप्नेऽपि ते सङ्गमं,
निद्रां वाञ्छति, न प्रयच्छति पुनर्दग्धो विधिस्तामपि ॥'

(२३—मौग्ध्य)

अथ मौग्ध्यम्—

अज्ञानादिव या पृच्छा प्रतीतस्यापि वस्तुनः ।
वल्लभस्य पुरः प्रोक्तं मौग्ध्यं तत्तत्त्ववेदिभिः ॥ १०७ ॥

यथा—

'के द्रुमास्ते क वा ग्रामे सन्ति केन प्ररोपिताः ।
नाथ ! मत्कङ्कणन्यस्तं येषां मुक्ताफलं फलम् ॥'

तात्पर्य यह है कि मुग्धतावश, बालस्वभाववश, अन्यमनस्कता के कारण अथवा अन्य किसी निमित्त से, प्रिय-मधुर भाषण का अभाव ही नायिका का 'विहृत' नामक स्वभावज अलङ्कार है। महाकवि कालिदास ने पार्वती के 'विहृत' का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है—

'पत्युश्शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रञ्जयित्वा चरणं कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥' (कुमारसम्भव ७.१९)

अनुवाद—तपन :—'तपन' का अभिप्राय प्रियतम के वियोग में कामावेश-सम्बन्धी चेष्टाओं का है। जैसे कि (मेरी इस स्वरचित सूक्ति में तपन-चित्रण)—

'अरे, उसके प्राणोपम प्रेमी ! उसकी हालत क्या पूछते हो ! कभी वह आहें भरती है, कभी पृथिवी पर लोट पड़ती है, कभी तुम्हारा रास्ता देखती है, कभी देर तक रोती रहती है, कभी दुर्बल भुजलताओं को इधर-उधर पटकती है और इसलिए कि स्वप्न में भी तुम मिल सको, नींद की माँग लगायें रहती है ! किन्तु उसका दुर्भाग्य ! उसे नींद कहाँ ?'

विमर्श—'तपन' (अथवा 'परितपन') भी भरतमुनि-सम्मत नायिका का अलङ्कार नहीं। किन्तु, 'अभिनव भारती' में उद्धृत मतान्तर के अनुसार, इसे भी, विश्वनाथ कविराज ने यहाँ स्थान दे दिया है।

अनुवाद—मौग्ध्य :—काव्यकोविद लोग 'मौग्ध्य' से नायिका का वह स्वभावज अलङ्कार समझा करते हैं जिसका अभिप्राय जानी-पहचानी वस्तु के सम्बन्ध में भी प्रियतम से पूछताछ है।

उदाहरण के लिये—

'नाथ ! वे कौन से पेड़ हैं, किस गाँव में पैदा होते हैं और किसने उन्हें लगाये हैं जिनका फल मेरे कंगन में जड़ा यह मौक्तिक चमक रहा है ?'

विमर्श—'मौग्ध्य' भी भरत-नाट्यशास्त्र-सम्मत अलङ्कार नहीं अपितु मतान्तर में अभिमत नायिकालङ्कार है।

(२४—विक्षेप)

अथ विक्षेपः—

भूषाणामर्धरचना मिथ्या विष्वगवेक्षणम् ।
रहस्याख्यानमीषच्च विक्षेपो दयितान्तिके ॥ १०८ ॥

यथा—

'धम्मिल्लमर्धयुक्तं कलयति तिलकं तथाऽसकलम् ।
किञ्चिद्वदति रहस्यं चकितं विष्वग्विलोकते तन्वी ॥'

(२५—कुतूहल)

अथ कुतूहलम्—

रम्यवस्तुसमालोके लोलता स्यात्कुतूहलम् ।

यथा—

'प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद् द्रवरागमेव ।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ॥'

(२६—हसित)

अथ हसितम्

हसितं तु वृथाहासो यौवनोद्भेदसम्भवः ॥ १०९ ॥

अनुवाद—विक्षेप :—जिसे 'विक्षेप' कहा करते हैं वह प्रियतम के आगे, प्रियतमा का असम्पूर्णभूषण-परिधान, अकारण इतस्ततः अवलोकन और धीरे धीरे रहस्यमय वार्तालाप है। जैसे कि—

'इस सुन्दरी को देखो—इसके केशपाश पूरे नहीं सजे, इसका तिलक अधूरा लगा है, धीरे-धीरे कुछ गुप्त बात बोल रही है और चकित सी चारों ओर देखती जा रही है।'

विमर्श—भरत-मत से भिन्न मत जैसे कि पद्मश्री, सागरनन्दी किंवा मातृगुप्ताचार्य आदि के मत में, नायिका के स्वभावज अलङ्कारों में 'विक्षेप' की भी गणना है। साहित्यदर्पणकार ने इसीलिये इसे भी यहां निर्दिष्ट कर दिया है।

अनुवाद—कुतूहल :—किसी सुन्दर वस्तु के दर्शन के लिये मन में कौतुक की जागृति का नाम 'कुतूहल' है। जैसे कि (महाकवि कालिदास के रघुवंश में अयोध्या की नगर-नारियों का 'कुतूहल' चित्रण)—

'किसी सुन्दरी ने प्रसाधिका (महावर लगानेवाली स्त्री) के हाथ से अपने आधे महावर लगे पर झटक दिये, अपनी मन्द गम्भीर गति बदल डाली और शीघ्रता के साथ (कुमार अज की वरयात्रा देखने की उतावली में) झरोखे तक आते-आते सारे रास्ते को महावर के रंग से लाल रँग दिया।

विमर्श—'कूतूहल' भी भरतमत से भिन्न मत में ही 'अलङ्कार' माना गया है।

अनुवाद—हसित :—यौवन के उद्रेक के कारण (प्रियतम के आगे) अकारण हँसने का नाम 'हसित' है। जैसे कि—

यथा—
'अकस्मादेव तन्वङ्गी जहास यदियं पुनः ।
नूनं प्रसूनबाणोऽस्यां स्वाराज्यमधितिष्ठति ॥'

(२७—चकित)

अथ चकितम्—
कुतोऽपि दयितस्याग्रे चकितं भयसम्भ्रमः ।

यथा—
'त्रस्यन्ती चलशफरीविघट्टितोरूर्वामोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य ।
क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतोर्लीलाभिः किमु सति कारणे तरुण्यः ॥'

(२८—केलि)

अथ केलिः—
विहारे सह कान्तेन क्रीडितं केलिरुच्यते ॥ १९० ॥

यथा—
'व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः ।
पयोधरेणोरसि काचिदुन्मनाः प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी ॥'

'अकस्मात् ही यह सुन्दरी जो हँस पड़ी उससे तो यही प्रतीत होता है कि इसके हृदयदेश पर कामदेव का अखण्ड राज्य स्थापित हो चुका है।'

विमर्श—'हसित' भी नाट्यशास्त्रकार भरत से भिन्न नाट्याचार्यों के मत में नायिका का यौवनालङ्कार माना गया है।

अनुवाद—चकित :—विना किसी कारण के ही प्रियतम के आगे भयभीत होना 'चकित' कहा गया है। जैसे कि (महाकवि माघ के शिशुपालवध में यह 'चकित' वर्णन)—

'जलविहार में लगी उस सुन्दरी की जांघों से छोटी सी चञ्चल मछली क्या टकरा पड़ी, उसके हृदय में भय समा गया और विचित्र विभ्रम-विलास प्रारम्भ हो गये ! तरुणियों का तो यह स्वभाव ही है कि विना किसी कारण के ही विक्षोभ-लीला मचाने लगती हैं और यदि कोई कारण मिल जाय तब तो कहना ही क्या !'

अनुवाद—केलि :—प्रियतम के साथ प्रेम-विहार में नायिका की क्रीडा का नाम 'केलि' है। जैसे कि—

'कामोद्वेग से भरी उस पीवरस्तनी सुन्दरी ने यह देखकर कि उसका प्रियतम अपने मुंह की फूँक से उसकी आँखों में पड़ा पुष्पपराग नहीं निकाल सकता, अपने पयोधरों से उसे धक्का दे मारा।'

विमर्श—नाट्यशास्त्र के सामान्याभिनय-नामक २२ वें अध्याय में जिन अलंकारों का निरूपण है उन्हें 'शरीरालङ्कार' मानना उचित है न कि 'मानसालङ्कार'। आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कहा है—

'एते केवलमलङ्कारा देहमात्रनिष्ठाः, न तु चित्तवृत्तिरूपाः।···ते हि यौवने उद्रिक्ता दृश्यन्ते, बाल्ये त्वनुद्भिन्ना वार्धके तिरोभूताः। यदाह—

यावन्त एते तरुणीजनस्य भावाः समं कुट्टमितादयोऽपि ।
रात्रावदृश्यानिव तान् घटादीन् कामप्रदीपः प्रकटीकरोति ॥

(प्रेम–चेष्टायें : 'मुग्धा' और 'कन्या' नायिकागत प्रेम–चेष्टा–निरूपण)

अथ मुग्धाकन्ययोरनुरागेङ्गितानि—

दृष्ट्वा दर्शयति व्रीडां सम्मुखं नैव पश्यति ।
प्रच्छन्नं वा भ्रमन्तं वातिक्रान्तं पश्यति प्रियम् ॥ १११ ॥
बहुधा पृच्छ्यमानापि मन्दमन्दमधोमुखी ।
सगद्गदस्वरं किञ्चित्प्रियं प्रायेण भाषते ॥ ११२ ॥
अन्यैः प्रवर्तितां शश्वत्सावधाना च तत्कथाम् ।
शृणोत्यन्यत्र दत्ताक्षी प्रिये बालानुरागिणी ॥ ११३ ॥

(अन्य नायिकागत चेष्टा–निर्देश)

अथ सकलानामपि नायिकानामनुरागेङ्गितानि—

चिराय सविधे स्थानं प्रियस्य बहु मन्यते ।
विलोचनपथं चास्य न गच्छत्यनलङ्कृता ॥ ११४ ॥

'''तत्र देहविकाराः केचन क्रियात्मका अपि'''त एवाङ्गजा उच्यन्ते।'''अन्ये त्वद्यतन-जन्मसमुचितविशिष्टविभावानुप्रवेशस्फुटीभवद्रतिभावानुविद्धे देहे परिस्फुरन्ति। ते स्वाभाविकाः स्वस्माद्रतिभावात् हृदयगोचरीभूताद् भवन्तीति । तथा कस्याश्चित् कश्चिदेव स्वभावबलाद् भवति, अन्यस्याः अन्यः, कस्याश्चिद् द्वौ त्रय इत्यादि, अतोऽपि स्वाभाविकाः।''''''' (नाट्यशास्त्र : अभिनवभारती, २२ अध्याय)

साहित्यदर्पणकार ने भी आचार्य अभिनवगुप्त के ही मत का अनुसरण किया है किन्तु महाराज भोज के 'शृङ्गारप्रकाश' के प्रभाव में पड़कर अलङ्कारों की संख्या-गणना में उदारता दिखा डाली है। इन अलङ्कारों की मान्यता के सम्बन्ध में साहित्यदर्पणकार ने अभिनवभारतीकार के इस मत को हृदयङ्गम कर रखा है—

'तथाप्यलङ्कारत्वात्, सामान्याभिनयरूपत्वात्, बाह्यशरीरनिष्ठतापर्यवसानात्, शृङ्गारैकमात्रविषयत्वाच्च अशेषरसविषयत्वाद् व्यभिचारिवर्गात् पृथक्त्वेनैषामभिधानम्।'

(अभिनवभारती–नाट्यशास्त्र. २२. ३१)

अनुवाद—'मुग्धा' और 'कन्या' की प्रेम–चेष्टाओं का निरूपण किया जा रहा है—

प्रेमपगी मुग्धा (किंवा कन्यका) का यह स्वभाव है कि वह अपने प्रियतम को देखकर लजित हो जाय, उससे आँख न मिला सके, उसे किसी चीज की ओट से अथवा कहीं घूमते हुये या दूर निकले हुये देखती रहे, बहुत पूछताछ किये जाने पर भी, सिर झुकायें , धीरे-धीरे और अस्पष्ट रूप से उससे बोल पाय और साथ ही साथ औरों के द्वारा उसकी चरित-चर्चा में, कहीं दूसरी ओर निगाह किये, सावधानी से कान लगाये रहे ।

अनुवाद—अब अन्य सभी नायिकाओं की अनुराग–चेष्टाओं का निर्देश कर दिया जाता है—

नायिकायें अपने प्रियतम के पास अधिक से अधिक समय तक बैठना चाहती हैं। बिना सजे-धजे अपने प्रियतम से मिलना उन्हें अच्छा नहीं लगता। कुछ तो ऐसा भी

क्वापि कुन्तलसंव्यानसंयमव्यपदेशतः ।
बाहुमूलं स्तनौ नाभिपङ्कजं दर्शयेत् स्फुटम् ॥ ११५ ॥
आच्छादयति वागाद्यैः प्रियस्य परिचारकान् ।
विश्वसित्यस्य मित्रेषु बहुमानं करोति च ॥ ११६ ॥
सखीमध्ये गुणान् ब्रूते स्वधनं प्रददाति च ।
सुप्ते स्वपिति दुःखेऽस्य दुःखं धत्ते सुखे सुखम् ॥ ११७ ॥
स्थिता दृष्टिपथे शश्वत्प्रिये पश्यति दूरतः ।
आभाषते परिजनं सम्मुखं स्मरविक्रियम् ॥ ११८ ॥
यत्किञ्चिदपि संवीक्ष्य कुरुते हसितं मुधा ।
कर्णकण्डूयनं तद्वत्कबरीमोक्षसंयमौ ॥ ११९ ॥
जृम्भते स्फोटयत्यङ्गं बालमाश्लिष्य चुम्बति ।
भाले तथा वयस्याया रचयेत्तिलकक्रियाम् ॥ १२० ॥
अङ्गुष्ठाग्रेण लिखति सकटाक्षं निरीक्षते ।
दशति स्वाधरं चापि ब्रूते प्रियमधोमुखी ॥ १२१ ॥
न मुञ्चति च तं देशं नायको यत्र दृश्यते ।
आगच्छति गृहं तस्य कार्यव्याजेन केनचित् ॥ १२२ ॥

करती हैं कि केशपाश अथवा वस्त्राभरण के ठीकठाक करने के बहाने अपने प्रेमियों को अपने बाहुमूल, स्तन और नाभिकमल साफ-साफ दिखला दिया करती हैं। प्रियतम के नौकर-चाकरों को अपनी मधुर वाणी से प्रसन्न करने में इन्हें आनन्द मिलता है और ये प्रियतम के मित्रजनों पर विश्वास करती हैं तथा उनका पर्याप्त आदर-सत्कार भी किया करती हैं। सखियों के बीच में प्रियतम का गुणानुवाद, सखिओं के लिये प्रसन्नता-सूचक धन-वितरण, प्रियतम के सोने पर सोना और उसके दुःख में दुःख किंवा सुख में सुख ही इनकी जीवन-चर्या है। प्रियतम के देखते रहने पर, सामने खड़े होकर, कामावस्था में पड़ी सखी-सहेलिओं के साथ कामविकारों का वार्तालाप भी इन्हें रुचिकर हुआ करता है। कभी ये कुछ भी देखकर यों ही हँस पड़ती हैं, कभी कान खुजलाती हैं और कभी चोटी के खोलने-बांधने में लग जाती हैं। कभी जंभाई लेना, कभी अंगड़ाई लेना, कभी किसी बच्चे को चूमना-चाटना, कभी सखी-सहेली के ललाट पर तिलक लगाना, कभी पैर के अंगूठे से धरती कुरेदना, कभी तिरछी निगाह से देखना, कभी ओठ चबाना और कभी सिर नीचा किये प्रियतम से बोलना-चालना-ये ही वे काम हैं जिनमें मुग्धा (किं वा कन्या) नायिकायें प्रसन्न रहा करती हैं। इन्हें उस स्थान को छोड़ना अच्छा नहीं लगता जहांसे इनका प्रियतम दिखायी दे रहा हो और किसी न किसी काम के बहाने प्रियतम के घर आना तो इन्हें अच्छा लगता ही है। यदि प्रियतम ने कुछ दे दिया

दत्तं किमपि कान्तेन धृत्वाङ्के मुहुरीक्षते।
नित्यं हृष्यति तद्योगे वियोगे मलिना कृशा ॥ १२३ ॥
मन्यते बहु तच्छीलं तत्प्रियं मन्यते प्रियम्।
प्रार्थयत्यल्पमूल्यानि सुप्ता न परिवर्तते ॥ १२४ ॥
विकारान् सात्त्विकानस्य सम्मुखी नाधिगच्छति।
भाषते सूनृतं स्निग्धामनुरक्ता नितम्बिनी ॥ १२५ ॥
एतेष्वधिकलज्जानि चेष्टितानि नवस्त्रियाः।
मध्यव्रीडानि मध्यायाः स्रंसमानत्रपाणि तु ॥ १२६ ॥
अन्यस्त्रियाः प्रगल्भायास्तथा स्युर्वारयोषितः।

दिङ्मात्रं यथा—

'अन्तिकगतमपि मामियमवलोकयतीव हन्त ! दृष्ट्वापि।
सरसनखक्षतलक्षितमाविष्कुरुते भुजामूलम् ॥'

(युवतियों की भावाभिव्यक्ति के उपाय)

तथा—

लेख्यप्रस्थापनैः स्निग्धैर्वीक्षितैर्मृदुभाषितैः ॥ १२७ ॥
दूतीसम्प्रेषणैर्नार्या भावाभिव्यक्तिरिष्यते।

तो उसे प्रेमपूर्वक देखना, यदि प्रियतम पास रहे तो बहुत प्रसन्न होना और यदि कहीं वह पास न हो तो दीन-हीन बनी रहना, यह सब तो इनके लिये स्वभाव-सिद्ध है। इन्हें अपने प्रियतम का चरित बड़ा अच्छा लगता है, इन्हें अपने प्रियतम के प्रेमपात्र लोग बड़े भले लगते हैं, इन्हें अपने प्रियतम से थोड़े मूल्य की चीजें मांगने में प्रसन्नता हुआ करती है और जब ये सोती हैं तो प्रिमतम के विमुख कदापि नहीं सोतीं। प्रियतम के सामने पड़ने पर (स्तम्भादि) सात्त्विक विकारों को न रोक सकना और प्रियतम से सच्ची-सच्ची और मीठी-मीठी बातें करना इन प्रेमपगी रमणिओं के स्वभाव में है। इन नायिकाओं में, 'नवोढा' की चेष्टाओं में, लज्जा की मात्रा अधिक रहा करती है, 'मध्या' की चेष्टाओं में लज्जा तो अवश्य होती है किन्तु मध्यम-मात्रा की ही होती है और परकीया, प्रगल्भा तथा वेश्या (सामान्या) नायिकाओं की चेष्टायें ऐसी हुआ करती हैं जिनमें लज्जा का पता भी नहीं चल पाता।

उदाहरण के लिये (वस्तुतः दिग्दर्शन मात्र के लिये) मेरी यह स्वरचित सूक्ति—

'यह सुन्दरी, समीप ही खड़े मुझे देखकर भी पुनः देख रही है और नये-नये नखक्षत से अङ्कित अपना भुजमूल मुझे दिखा रही है।'

अनुवाद—इसके अतिरिक्त अपने प्रेमिओं के प्रति युवतिओं के भावाभिव्यञ्जन के ये भी उपाय हैं, जैसे कि—पत्र भेजना, स्नेह भरी निगाह से देखना, मीठी-मीठी बातचीत करना और प्रेम-सन्देश के साथ दूती भेजना।

(दूती)

दूत्यश्च—

दूत्यः सखी नटी दासी धात्रेयी प्रतिवेशिनी ॥ १२८ ॥
बाला प्रव्रजिता कारूः शिल्पिन्याद्याः स्वयं तथा ।

कारू रजकीप्रभृतिः। शिल्पिनी चित्रकारादिस्त्री। आदिशब्दात्ताम्बूलिक-गान्धिकस्त्रीप्रभृतयः। तत्र सखी यथा—'श्वासान्मुञ्चति—' इत्यादि।

स्वयंदूती यथा मम—

'पन्थिअ पिआसिओ विअ लच्छीअसि जासि ता किमण्णत्तो ।
ण मणं वि वारओ इध अत्थि धरे घणरसं पिअन्ताणं ॥'
(पथिक ! पिपासित इव लक्ष्यसे यासि तत्किमन्यत्र ।
न मनागपि वारक इहास्ति गृहे घनरसं पिबताम् ॥)

एताश्च नायिकाविषये नायकानामपि दूत्यो भवन्ति ।

(दूती के गुण)

दूतीगुणानाह—

कलाकौशलमुत्साहो भक्तिश्चित्तज्ञता स्मृतिः ॥ १२९ ॥
माधुर्यं नर्मविज्ञानं वाग्मिता चेति तद्गुणाः ।
एता अपि यथौचित्यादुत्तमाधममध्यमाः ॥ १३० ॥

अनुवाद—दूती-सम्प्रेषण के प्रसङ्ग में दूतिओं का निर्देश आवश्यक है—सखी, नटी, दासी, धाइ की लड़की, पड़ोसिन, बालिका, संन्यासिनी, धोबिन, बढ़ई की स्त्री, नाइन, रंगरेजिन किंवा स्वयं नायिका आदि-आदि (ऐसी) दूतियां हैं (जिनके सम्प्रेषण में युवतिओं के प्रेमभाव का स्पष्ट पता चला करता है)।

यहां 'कारु' का अभिप्राय 'धोबिन' आदि का है। 'शिल्पिनी' कहते हैं चित्रकार आदि की स्त्रियों को। कारिका में 'आदि' पद इसलिये दिया गया जिसमें तमोलिन और तेलिन आदि-आदि का भी यहां संग्रह समझ लिया जाय। जैसे कि सखी का दूतीरूप में सम्प्रेषण 'श्वासान्मुञ्चति' आदि सूक्ति में स्पष्ट है। और जैसे कि—स्वयं दूती-रूप में नायिका का यह, मेरा किया, चित्रण—

'अरे बटोही ! तुम तो प्यासे से लग रहे हो। भला इस हालत में और कहीं जाने से क्या लाभ ! यहां कोई रोक-टोक नहीं, जी भर कर 'घनरस' (वर्षाजल किं वा संभोग-सुख) का पान कर लो।'

यहां यह जान लेना आवश्यक है कि जैसे ये उपर्युक्त दूतियां नायिकाओं द्वारा नायकों के पास भेजी जा सकती हैं वैसे ही नायकों द्वारा नायिकाओं के पास भी।

अनुवाद—इन दूतियों के गुणों का परिगणन किया जा रहा है—जिन्हें 'दूतीगुण' कहा करते हैं वे ये हैं—कलाओं में कुशलता, उत्साह, भक्ति, परचित्तज्ञान, स्मृति, मधुरता, नर्मनिपुणता और बोलचाल में चतुरता। ये दूतियां भी अपनी-अपनी विशेषताओं के

एता दूत्यः ।

कारण उत्तम, मध्यम और अधम—इन तीन श्रेणिओं में विभक्त देखी जाती हैं। यहां कारिका में 'एताः' का अभिप्राय 'दूतियों' का है।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार ने 'दृष्ट्वा दर्शयति' आदि कारिकाओं में नायिका के अनुराग-चिह्नों का जो निरूपण किया है वह भरतनाट्यशास्त्र की प्राचीन मर्यादा है। भावप्रकाशनकार शारदातनय ने इस प्राचीन मर्यादा का इन पक्तिओं में स्पष्टीकरण किया है—

'स्त्रियो जातानुरागाया नायके लक्षणान्विते।
कुलीनायाः प्रथमतो दूरे रोमोद्गमो भवेत्॥
स्निग्धं च मसृणं चक्षुरधरः स्पन्दते स्फुटम्।
स्मितोत्तरं च वचनं स्वेदोदश्च कपोलयोः॥
ऊर्वोः संपीडनं चाङ्गे बाहुस्वस्तिकबन्धनम्।
आलिङ्गनं मुहुः सख्यास्तदङ्गेऽङ्कसमर्पणम्॥
नीवीं विस्रंस्य नहनं वेपथुस्तत्पथस्थितिः।
वचने वचनं तूष्णीं वीक्षणेष्वनवेक्षणम्॥
इत्यादिभावैर्भावज्ञो रक्तां विद्यात् कुलाङ्गनाम्।
कर्णकण्डूयनं नाभेरूर्वोः किञ्चित्प्रकाशनम्॥
विमर्दनञ्च स्तनयोर्नीवीविस्रंसनं मुहुः।
अन्यापदेशकथनमन्यैः सस्मितभाषणम्॥
विलोकनञ्च सव्रीडमङ्गुष्ठाग्रविलेखनम्।
नखनिस्तोदनं केलिः सखीनिर्भर्त्सनं मृषा॥
पदान्तरे स्थितिर्व्याजादञ्जलिर्दैवताच्छलात्।
भावैरित्यादिभिर्वेश्यामनुरक्तां विभावयेत्॥
दृष्टे दृशोर्विकासश्च माधुर्यं भाषणेऽन्यतः।
प्रसादो वदने हर्षः संभ्रमस्तस्य दर्शने॥
अदर्शने च मूर्च्छा च तत्सत्कारेषु कौतुकम्।
स्वभर्तुः प्रमुखे तस्य स्मरणं सुरतादिषु॥
प्रेषणं भोग्यवस्तूनां समाजे तस्य गर्हणम्।
सर्वत्र तस्य वाक्यस्य प्रीतिपूर्वं परिग्रहः॥
मदम्ब नाथ मन्नाथेत्येवं बालोपलालनम्।
भावैरेवंविधैरन्यां लक्षयेन्मदनातुराम्॥

(ख) रक्ता नायिका के जिन जिन उपचारों का साहित्यदर्पणकार ने निर्देश किया है उनका संक्षिप्त विवरण 'भावप्रकाशन' की इन पंक्तियों में दिया जा चुका है—

'रक्ता विविक्तवसतिं प्रियेण सह वाञ्छति।
गुणान् सखीनामाख्याति स्वधनं प्रददाति च॥
सम्पूजयति मित्राणि द्वेष्टि शत्रुजनं तथा।
समागमं प्रार्थयते दृष्ट्वा हृष्यति चाधिकम्॥
तुष्यत्यस्य वचोभङ्ग्या सस्नेहञ्च निरीक्षते।
सुप्ते च पश्चात् स्वपिति चुम्बत्यनभिचुम्बिता॥

(प्रतिनायक-निरूपण)

अथ प्रतिनायकः—

धीरोद्धतः पापकारी व्यसनी प्रतिनायकः।

यथा रामस्य रावणः।

'प्रियेणालिङ्गयत्यङ्गं गाढमालिङ्गति प्रियम्।
स्वयमारभते स्वैरं स्नानादिषु च कर्मसु॥
प्रथमं चेष्टते स्वैरं बाह्ये चाभ्यन्तरे रते।
न विश्लेषयते गात्रमाश्लिष्टा च कदाचन॥
तेनैव भोग्यवस्तूनि भुंक्तेऽन्यत्राहृतान्यपि।
रतिकेलिष्वनिभृता स्वदते स्विद्यति क्षणम्॥
न दृष्टिमन्यतो धत्ते न शृणोति बहिः क्वचित्।
न चिन्तयत्यात्मनीनं किञ्चिदन्यत् प्रियं विना॥
रोमाञ्चति प्रियस्पर्शे मुह्यति स्विद्यति श्वसेत्।
एवं रक्तासमुत्थाः स्युरुपचाराः प्रियं प्रति॥

(भावप्रकाशन ५ म अधिकार)

(ग) भरतनाट्यशास्त्र में भी दूती संप्रेषण का विधान है जो कि इन पंक्तियों में स्पष्ट है—

'विज्ञानगुणसम्पन्ना कथिनी लिङ्गिनी तथा।
प्रातिवेश्या सखी दासी कुमारी कारुशिल्पिनी।
धात्री पाषण्डिनी चैव तथा रङ्गोपजीविनी॥
प्रोत्साहनेऽथ कुशला मधुरकथा दक्षिणाऽथ कालज्ञा॥
लडहा संवृतमन्त्रा दूती त्वेभिर्गुणैः कार्या॥
तयाप्युत्साहनं कार्यं नानादर्शितकारणम्॥
यथोक्तकथनं चैव तथा भावप्रदर्शनम्।

(नाट्यशास्त्र २३. ९. ११)

अनुवाद—अब 'प्रतिनायक' का निरूपण करते हैं—

'प्रतिनायक' वह है जो नायक का प्रतिस्पर्द्धी हुआ करता है। यह स्वभाव का धीरोद्धत, पापाचरण में तत्पर किं वा व्यसनों में आसक्त रहा करता है।

उदाहरण के लिये (राम-काव्य किं वा राम-नाट्य में) 'राम' नायक का प्रतिनायक रावण।

विमर्श—'प्रतिनायक' का अभिप्राय मुख्य नायक के प्रतिपन्थी (विरुद्ध) नायक का है। बिना 'प्रतिनायक'- चरित के चित्रण के नायक-चरित का सौन्दर्य नहीं चित्रित किया जा सकता। संस्कृत के दृश्य और श्रव्य काव्यों में 'नायक' का चरित 'प्रतिनायक' के चरित की प्रतिस्पर्द्धा में चित्रित किया जाया करता है। काव्य-नाट्य-कोविदों ने 'प्रतिनायक' को 'धीरोद्धत' स्वभाव का ही देखा है। 'धीरोद्धत' होने से 'प्रतिनायक' के लिये अनवस्थितचित्त, रौद्रस्वभाव, मदोन्मत्त, दम्भबहुल किं वा आत्मश्लाघी होना स्वाभाविक है। नाट्यदर्पणकार ने इसीलिये कहा है—

'लोभी धीरोद्धतः पापी व्यसनी प्रतिनायकः। मुख्यनायकस्य प्रतिपन्थी नायकः प्रतिनायकः। यथा रामयुधिष्ठिरयो रावण-दुर्योधनवदिति—(नाट्यदर्पण-४ थे विवेक)

दशरूपककार धनञ्जय ने भी इसीलिये कहा था—

'लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद्व्यसनी रिपुः।' (दशरूपक २-९)

(उद्दीपन-विभाव-निरूपण)

अथोद्दीपनविभावाः—

उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ॥ १३१ ॥

ते च—

आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा ।

चेष्टाद्या इत्याद्यशब्दाद्रूपभाषणादयः । कालादीत्यादिशब्दाच्चन्द्रचन्दनकोकिलालापभ्रमरझंकारादयः ।

तत्र चन्द्रोदयो यथा मम—

'करमुदयमहीधरस्तनाग्रे गलिततमः पटलांशुके निवेश्य ।
विकसितकुमुदेक्षणं विचुम्बत्ययममरेशदिशो मुखं सुधांशुः ॥'

यो यस्य रसस्योद्दीपनविभावः स तत्स्वरूपवर्णने वक्ष्यते ।

अनुवाद—अब उद्दीपन विभावों का निरूपण किया जा रहा है—

उद्दीपन विभाव उन्हें कहा करते हैं जो कि रस को उद्दीप्त किया करते हैं ।

ये निम्नोद्दिष्ट पदार्थ उद्दीपन-विभाव-वर्ग में आते हैं—नायक-नायिका आदि की विविध आङ्गिक चेष्टायें, समुचित देश, उपयुक्त समय आदि-आदि ।

यहां कारिका में 'चेष्टाद्याः' में 'आद्य' शब्द के प्रयोग का अभिप्राय रूप, आभूषण आदि-आदि का संग्रह करना है । इसी प्रकार 'कालादयः' में 'आदि' शब्द से चन्द्र-चन्द्रिका, कोकिलालाप, भ्रमरझङ्कार आदि-आदि समझना चाहिये ।

उदाहरण के लिए, मेरी इस स्वरचित सूक्ति में 'चन्द्रोदय' का उद्दीपन-विभाव के रूप में यह वर्णन—

'यह चन्द्रमा पूर्वदिशा का मुख-चुम्बन कर रहा है । इसके कर (किरण अथवा हाथ) पूर्वदिशा-सुन्दरी के उदयाचल रूपी स्तनाग्रभाग का स्पर्श कर रहे हैं जिससे उसका सन्तमस रूपी अंशुक-परिधान नीचे खिसक पड़ा है और उसके कुमुद-नेत्र प्रसन्नता से हँसते दिखाई पड़ रहे हैं ।'

भिन्न-भिन्न रसों के भिन्न-भिन्न उद्दीपन विभाव हैं और उनका वर्णन उन-उन रसों के प्रसङ्गों में किया ही जायगा ।

विमर्श—नानाविध नायकों और नायिकाओं का वर्णन तो रस के आलम्बन विभाव का वर्णन है । रस के उद्दीपन विभाव का अभिप्राय हैं उन-उन पदार्थों का जो सामाजिक-हृदय में उद्बुद्ध रत्यादि भाव को, उद्दीपित किया करते हैं ! 'रसार्णवसुधाकर'कार ने निम्न पदार्थों को 'तटस्थ' उद्दीपन-विभाव कहा है—

तटस्थाश्चन्द्रिका धारागृहचन्द्रोदयावपि ॥
कोकिलालापमाकन्दमन्दमारुतषट्पदाः ।
लतामण्डप-भूगेह-दीर्घिकाजलदारवाः ॥
प्रासादगर्भसंगीतक्रीडादिसरिदादयः ।
एवमूह्या यथाकालमुपभोगोपयोगिनः ॥ (रसार्णवसुधाकर १म विलास)

और इन तटस्थ उद्दीपन-विभावों के अतिरिक्त वस्त्र, भूषा, माल्य किं वा अनुलेपन को अन्तरङ्ग उद्दीपन-विभावों में स्थान दिया है । उपर्युक्त उद्दीपन-विभाव-वर्ग शृङ्गार रस की उद्दीपन-

(अनुभाव-निरूपण)

अथानुभावाः—

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ॥ १३२ ॥
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ।

यः खलु लोके सीतादिचन्द्रादिभिः स्वैः स्वैरालम्बनोद्दीपनकारणै रामादेरन्तरुद्बुद्धं रत्यादिकं बहिः प्रकाशयन् कार्यमित्युच्यते, स काव्यनाट्ययोः पुनरनुभावः ।

कः पुनरसावित्याह—

उक्ताः स्त्रीणामलङ्कारा अङ्गजाश्च स्वभावजाः ॥ १३३ ॥
तद्रूपाः सात्त्विका भावास्तथा चेष्टाः परा अपि ।

तद्रूपा अनुभावस्वरूपाः । तत्र यो यस्य रसस्यानुभावः स तत्स्वरूपवर्णने वक्ष्यते ।

सामग्री है । अन्य रसों की उद्दीपन-सामग्री भरत नाट्यशास्त्र आदि आकर-ग्रन्थों में विशद रूप से प्रतिपादित है ।

अनुवाद—अनुभाव :-उन-उन कारणों से हृदय में उद्बुद्ध रत्यादि भावों को वाहर प्रकाशित करनेवाले अङ्गादि-व्यापारों का नाम 'अनुभाव' है । लोक-जीवन में तो ये अङ्गादि-व्यापार (रत्यादि भावों के) 'कार्य' समझे जाया करते हैं किन्तु काव्य-नाट्य के क्षेत्र में इन्हें 'अनुभाव' की अलौकिक संज्ञा प्राप्त है ।

तात्पर्य यह है कि लोक-जीवन के राम आदि के हृदय में सीता आदि आलम्बन विभाव किं वा चन्द्रोदय आदि उद्दीपन विभाव से रत्यादि रूप स्थायी भाव उद्बुद्ध हुआ करता है । अब राम आदि की जो-जो अङ्ग-चेष्टायें, उनके उद्बुद्ध रत्यादि भावों को दूसरों पर प्रकाशित किया करती हैं उन्हें लोक-जीवन की दृष्टि से तो (रत्यादि भावों के) 'कार्य' कहा करते हैं किन्तु काव्य-नाट्य में कवि और नाटककार के वर्णन और अङ्कन के विषय वना दिये जाने पर इन्हें ही 'अनुभाव' की अलौकिक पदवी से विभूषित कर दिया जाया करता है ।

लोक-जीवन में कार्यरूप किन्तु काव्य-नाट्य के क्षेत्र में 'अनुभाव' रूप जो वस्तुयें हैं, वे ये हैं—

नायिकाओं के पूर्वनिर्दिष्ट अङ्गज किं वा स्वभावज अलङ्कार, अनुभाव-रूप स्तभादि सात्त्विक भाव और रत्यादि भावों के प्रभाव में उत्पन्न अन्यान्य चेष्टायें ।

यहां कारिका में 'तद्रूपाः' का अभिप्राय 'अनुभाव' रूप (सात्त्विक भावों) का है । भिन्न-भिन्न रसों के जो भिन्न-भिन्न अनुभाव हैं उन्हें उन-उन रसों के निरूपण-प्रसङ्ग में आगे बताया जायगा ।

विमर्श—भरतनाट्यशास्त्र में अनुभाव का यह स्वरूप प्रतिपादित किया हुआ है—

'वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
वागङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥' (नाट्यशास्त्र ७.५)

सात्त्विक भाव-निर्देश

तत्र सात्त्विकाः—

विकाराः सत्त्वसंभूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः ॥ १३४ ॥

सत्त्वं नाम स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी कश्चनान्तरो धर्मः ।

सत्त्वमात्रोद्भवत्वात्त भिन्ना अप्यनुभावतः ।

'गोबलीवर्दन्यायेन' इति शेषः ।

के त इत्याह—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ॥ १३५ ॥

वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ।

जिसका संक्षिप्त अभिप्राय नाट्यदर्पणकार ने इस पंक्ति में अपने ही ढंग से स्पष्ट किया है—
'अनु लिङ्गनिश्चयात् पश्चाद् भावयन्ति गमयन्ति लिङ्गिनं रसमित्यनुभावाः स्तम्भादयः'
(नाट्यदर्पण-३ य विवेक)

अनुभाव का तात्पर्य मनोगत भावों के साक्षात् अभिव्यञ्जक उपादानों, जैसे कि भ्रूविक्षेप आदि-आदि का है । मनोगत भावों के ये साक्षात् अभिव्यञ्जक उपादान इसलिए 'अनुभाव' कहे जाया करते हैं क्योंकि रत्यादिरूप मनोगत भावों के उद्बोधन में ही इनकी उत्पत्ति सम्भव है । भ्रूविक्षेप आदि का 'अनुभाव' होना यह सिद्ध करता है कि इनके द्वारा हेतुभूत रत्यादि भावों की अभिव्यक्ति हुआ करती है । अनुभावों की चार श्रेणियां हैं—(१) चित्तारम्भक, जैसे कि भाव-हाव-हेला आदि, (२) गात्रारम्भक, जैसे कि लीला, विलास, विच्छित्ति आदि, (३) वागारम्भक, जैसे कि आलाप, विलाप, संलाप आदि और (४) बुद्ध्यारम्भक, जैसे कि रीति, वृत्ति आदि ।

साहित्यदर्पणकार ने कतिपय सात्त्विक भावों को भी अनुभावरूप मान लिया है । इस मान्यता में दशरूपककार का प्रभाव स्पष्ट है ।

अनुवाद—यहाँ अनुभावभूत सात्त्विक भावों का प्रसङ्ग है, इसलिए, सात्त्विक भाव क्या और कौन हैं ? इसका निर्देश किया जा रहा है—

सत्त्व के उद्रेक से उत्पन्न जो मनोविकार हैं उन्हीं को सात्त्विक भाव कहा करते हैं ।

यहाँ ('सात्त्विक' शब्द की व्युत्पत्ति में) जो 'सत्त्व' शब्द है उसका अभिप्राय अन्तःकरण का एक धर्मविशेष है जिसके कारण सामाजिक हृदय में वासनारूप से विराजमान रत्यादि भावों का उद्बोधन हुआ करता है ।

वैसे तो सात्त्विक भाव और अनुभाव एकरूप ही हैं किन्तु अनुभावों से सात्त्विक भावों को इसलिये भिन्नरूप माना जा सकता है क्योंकि (स्तम्भादिरूप) सात्त्विक भाव सत्त्व के उद्रेक से ही उत्पन्न मनोविकार हुआ करते हैं ।

अनुभावों और सात्त्विक भावों को अभेद में भी भेद 'गोबलीवर्दन्याय' से समझा-समझाया जा सकता है (जैसे कि 'गावः गच्छन्ति' कहने से ही 'बलीवर्दोऽपि गच्छति' का अभिप्राय निकल जाता है किन्तु गौओं से विशेषता के द्योतन के लिये बलीवर्द (सांड) का पृथक् ग्रहण किया जाया करता है वैसे ही अनुभावों में सात्त्विक भावों के अन्तर्भूत होने पर भी, अनुभावों से वैशिष्ट्य बताने के लिए, सात्त्विक भावों का पृथक् परिगणन स्वाभाविक ही है) ।

निम्नलिखित जो सत्त्वसंभूत ८ मनोविकार हैं वे ही ८ सात्त्विक भाव हैं—

(१) स्तम्भ, (२) स्वेद, (३) रोमाञ्च, (४) स्वरभङ्ग, (५) वेपथु, (६)

तत्र—

स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातो : भयहर्षामयादिभिः ॥ १३६ ॥
वपुर्जलोद्गमः स्वेदो रतिघर्मश्रमादिभिः ।
हर्षाद्भुतभयादिभ्यो रोमाञ्चो रोमविक्रिया ॥ १३७ ॥
मदसंमदपीडाद्यैर्वैस्वर्यं गद्गदं विदुः ।
रागद्वेषश्रमादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः ॥ १३८ ॥
विषादमदरोषाद्यैर्वर्णान्यत्वं विवर्णता ।
अश्रु नेत्रोद्भवं वारि क्रोधदुःखप्रहर्षजम् ॥ १३९ ॥
प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः ।

यथा मम—

'तनुस्पर्शादस्या दरमुकुलिते हन्त ! नयने
उदञ्चद्रोमाञ्चं व्रजति जडतामङ्गमखिलम् ।
कपोलौ घर्मार्द्रौ ध्रुवमुपरताशेषविषयं
मनः सान्द्रानन्दं स्पृशति झटिति ब्रह्म परमम् ॥'

वैवर्ण्य, (७) अश्रु और (८) प्रलय ।

इन आठों सात्त्विकभावों के अपने-अपने ये स्वरूप हैं—

(१) स्तम्भ—भय, हर्ष, रोग आदि के कारण मन किं वा शरीर के व्यापारों का रुक जाना 'स्तम्भ' है ।

(२) स्वेद—रतिप्रसङ्ग, आतप (धूप), परिश्रम आदि के कारण शरीर से निकल पड़नेवाले जल को 'स्वेद' कहते हैं ।

(३) रोमाञ्च—हर्ष, विस्मय, भय आदि के कारण रोंगटों के खड़े होने को 'रोमाञ्च' कहा जाता है ।

(४) स्वरभङ्ग—मद्यपान, हर्ष, पीड़ा आदि के कारण गले के रुँध जाने का नाम 'स्वरभङ्ग' है ।

(५) वेपथु—अनुराग, द्वेष, परिश्रम आदि के कारण शरीर की कँपकँपी को 'वेपथु' कहा करते हैं ।

(६) वैवर्ण्य—विषाद, मद, रोष आदि के कारण उत्पन्न हुए वर्णविकार का नाम 'वैवर्ण्य' (विवर्णता) है ।

(७) अश्रु—क्रोध, दुःख, प्रहर्ष आदि के कारण उत्पन्न होनेवाले नेत्रजल को 'अश्रु' कहते हैं ।

(८) प्रलय—सुख अथवा दुःख के अतिरेक में चेष्टाशून्यता किं वा ज्ञानशून्यता 'प्रलय' है ।

उदाहरण के लिए, यह स्वरचित सूक्ति—

'मेरे शरीर के स्पर्श से, इस सुन्दरी के नयनकमल अधखिले दीख रहे हैं, शरीर रोमाञ्चित हो रहा है, अङ्ग-प्रत्यङ्ग निश्चेष्ट बन गये हैं और कपोल स्वेदबिन्दुओं से गीले

एवमन्यत् ।

(व्यभिचारिभाव : लक्षण-निरूपण)

अथ व्यभिचारिणः—

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः ॥ १४० ॥

स्थिरतया वर्तमाने हि रत्यादौ निर्वेदादयः प्रादुर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः कथ्यन्ते ।

हो चुके हैं। ऐसा लगता है जैसे इसका मन अन्य समस्त विषयों से विरक्त है और ब्रह्मानन्दरूप एकघन प्रेमसुख में अन्तर्लीन हो रहा है।'

[यहाँ रोमाञ्च, स्वेद और प्रलयरूप सात्त्विकभावों का सुन्दर वर्णन है।]

इसी भांति अन्य सात्त्विक भावों के उदाहरण स्वयं जाने जा सकते हैं।

विमर्श—स्तम्भ आदि की 'सात्त्विकरूपता' की सुन्दर मीमांसा 'रसार्णवसुधाकर' की इन पङ्क्तियों में है—

'अन्येषां सुखदुःखादिभावनाकृतभावनम् ॥
आनुकूल्येन यच्चित्तं भावकानां प्रवर्त्तते ।
सत्त्वं तदिति विज्ञेयं प्राज्ञैः सत्त्वोद्भवानिमान् ॥
सात्त्विका इति जानन्ति भरतादिमहर्षयः ।
सर्वेषामपि भावानां यैः सत्त्वं प्रविभाव्यते ॥
ते भावाः भावतत्त्वज्ञैः सात्त्विकाः समुदीरिताः ।'
.... ।
सर्वेऽपि सत्त्वमूलत्वाद् भावा यद्यपि सात्त्विकाः ॥
तथाप्यमीषां सत्त्वैकमूलत्वात् सात्त्विकप्रथा ।
अनुभावाश्च कथ्यन्ते भावसंसूचनादमी ॥
एवं द्वैरूप्यमेतेषां कथितं भावकोविदैः ॥

(श्रीशिङ्गभूपाल : रसार्णवसुधाकर : प्रथम विलास)

अनुवाद—अब व्यभिचारिभावों का स्वरूप बताया जा रहा है—

वे भाव व्यभिचारी भाव कहे जाया करते हैं जो (विभाव और अनुभाव की अपेक्षा) विशेष उत्कटता किं वा अनुकूलता से (वासनारूप से सामाजिक-हृदय में सदा विराजमान) रत्यादि स्थायी भावों को रसास्वाद में परिणत किया करते हैं तथा जिन्हें स्थायी भावों के समुद्र में बुद्बुद (बुलबुले) की भांति उन्मज्जित (उतराते-स्पष्ट प्रतीत) किं वा निमज्जित (डूबते-अस्पष्ट प्रतीत) होते हुए देखा जाया करता है।

तात्पर्य यह है कि रत्यादिरूप स्थायी भाव तो हृदय में सदा स्थिर रूप से प्रवाहित हुआ करते हैं और निर्वेदादि भाव ऐसे हैं जो रत्यादि भावों से ही उद्भूत होते और उन्हीं में तिरोभूत होते, उनकी रसरूप से अभिव्यक्ति में विशेषतया सहायक हुआ करते हैं।

विमर्श—भरत नाट्यशास्त्र में 'व्यभिचारिभाव' की यह व्युत्पत्ति दी गयी है—

'विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।' (नाट्यशास्त्र सप्तम अध्याय)

जिसकी अभिनवभारती–सम्मत व्याख्या आचार्य हेमचन्द्र के इन शब्दों में है—

'भावयन्ति चित्तवृत्तय एवालौकिकवाचिकाद्यभिनयप्रक्रियारूढतया स्वात्मानं लौकिकदशायामनास्वाद्यमप्यास्वाद्यं कुर्वन्ति, यद्वा भावयन्ति व्याप्नुवन्ति सामाजिकानां मन इति भावाः—स्थायिनो व्यभिचारिणश्च ।...ये पुनर्धीधृत्यादयश्चित्तवृत्तिविशेषास्ते समुचितविभावाभावाज्जन्ममध्ये न भवन्त्येवेति व्यभिचारिणः। तथा हि रसायनमुपयुक्तवतो ग्लान्यालस्यश्रमप्रभृतयो न भवन्त्येव। यस्यापि वा भवन्ति विभावबलात्तस्यापि हेतुप्रत्यये क्षीयमाणाः संस्कारशेषतां नावश्यमनुबध्नन्ति ।...तस्मात् स्थायिरूपचित्रवृत्तिसूत्रस्यूता एवामी स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्र्यशतसहस्रधर्माणं प्रतिलभमानाः स्थायिनं विचित्रयन्तः प्रतिभासन्त इति व्यभिचारिणः उच्यन्ते। तथा हि ग्लानोऽयमित्युक्ते कुत इति हेतुप्रश्नेनाऽस्थायिताऽस्य सूच्यते। न तु राम उत्साहशक्तिमानित्यत्र हेतुप्रश्नमाहुः।' (काव्यानुशासन २. १८)

तात्पर्य यह है कि रत्यादि अथवा निर्वेदादि चित्तवृत्तियाँ हैं। चित्तवृत्तियों को ही 'भाव' कहा जाता है। चित्तवृत्तियों को 'भाव' इसलिये कहा जाता है क्योंकि कवि–कला किं वा नाट्य-कला की वर्णना और अङ्कन-शक्ति इन्हें 'आस्वाद्य' बना दिया करती है। लोकजीवन में ये चित्तवृत्तियाँ रस अथवा आस्वादरूप में अनुभव का विषय नहीं बना करतीं। यह तो कला-जीवन की महिमा है जिसके कारण ये 'रस' रूप से प्रतीत हुआ करती हैं (भावयन्ति आत्मानं आस्वाद्यं कुर्वन्ति इति भावाः)। इन चित्तवृत्तिओं को इस दृष्टि से भी 'भाव' कहा करते हैं क्योंकि काव्य–नाट्य के क्षेत्र में सामाजिकों का हृदय इनसे व्याप्त हो जाया करता है (भावयन्ति व्याप्नुवन्ति मनः सामाजिकानामिति भावाः)। अब इन चित्तवृत्तिओं में स्थिर और अस्थिर रूप की द्विविध चित्तवृत्तियाँ हैं। स्थिर चित्तवृत्तियाँ जैसे कि रति आदि ऐसी हैं जो प्राणिमात्र के हृदय में, जन्म से ही, संस्काररूप से विराजमान रहा करती हैं। ये ही, काव्य किं वा नाट्य में, वस्तुतः कला के क्षेत्र में 'स्थायी भाव' की पदवी प्राप्त करती हैं। अब, 'व्यभिचारी भाव', उन अस्थिर चित्तवृत्तिओं का, कला–जगत् में प्रसिद्ध, नाम है जो कि स्थायी चित्तवृत्ति–सूत्र में पिरोयी प्रतीत हुआ करती हैं। कभी ये चित्तवृत्तियाँ उदित होती हैं, कभी अस्त होती हैं। अनन्त वैचित्र्य के साथ इनमें आविर्भाव–तिरोभाव की आँखमिचौनी चला करती है। इनके कारण स्थायी चित्तवृत्तियाँ चित्र–विचित्र लगा करती हैं। स्थायी चित्तवृत्तियों में डूबना-उतराना इनकी विशेषता है। इसीलिये इन्हें 'व्यभिचारी भाव' कहा गया है। 'ग्लानि' एक व्यभिचारी भाव है। कोई कहे—'यह म्लान (दुःखी) लग रहा है' तो पूछा जाता है—'ऐसा क्यों ?' ग्लानि के हेतु का यह प्रश्न इस बात का प्रमाण है कि ग्लानि 'अस्थिर' मनोभाव है। किन्तु 'राम उत्साह की शक्ति से भरपूर हैं' ऐसा कहने पर कोई भी नहीं पूछता—'ऐसा क्यों ?' इससे यह स्पष्ट है कि 'उत्साह' एक स्थिर मनोभाव है।

'रसार्णवसुधाकर' (द्वितीय विलास) की ये पंक्तियाँ 'व्यभिचारिभाव' की बड़ी सुन्दर परिभाषा हैं—

'व्यभी इत्युपसर्गौ द्वौ विशेषाभिमुखत्वयोः।
विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति ॥
वागङ्गसत्त्वयुक्ता ये ज्ञेयास्ते व्यभिचारिणः।
सञ्चारयन्ति भावस्य गतिं सञ्चारिणोऽपि ते ॥
उन्मज्जन्तो निमज्जन्तः स्थायिन्यम्बुनिधाविव।
ऊर्मिवद् वर्द्धयन्त्येनं यान्ति तद्रूपतां च ते ॥

(व्यभिचारिभाव : प्रकार-संख्यान)

के त इत्याह—

निर्वेदावेगदैन्यश्रममदजडता औग्र्यमोहौ विबोधः
स्वप्नापस्मारगर्वा मरणमलसतामर्षनिद्रावहित्थाः ।
औत्सुक्योन्मादशङ्काः स्मृतिमतिसहिता व्याधिसत्रासलज्जा
हर्षासूयाविषादाः सधृतिचपलता ग्लानिचिन्तावितर्काः ॥१४१॥

(३३ व्यभिचारी भाव : स्वरूप-विवेक : १—निर्वेद)

तत्र निर्वेदः—

तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् ।
दैन्यचिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वसितादिकृत् ॥ १४२ ॥

तत्त्वज्ञानान्निर्वेदो यथा—

'मृत्कुम्भवालुकारन्ध्रपिधानरचनार्थिना ।
दक्षिणावर्तशङ्खोऽयं हन्त ! चूर्णीकृतो मया ॥'

अनुवाद—जो-जो भाव 'व्यभिचारिभाव' हैं वे ये हैं—

(१) निर्वेद, (२) आवेग, (३) दैन्य, (४) श्रम, (५) मद, (६) जडता, (७) औग्र्य, (८) मोह, (९) विबोध, (१०) स्वप्न, (११) अपस्मार, (१२) गर्व, (१३) मरण, (१४) अलसता, (१५) अमर्ष, (१६) निद्रा, (१७) अवहित्था, (१८) औत्सुक्य, (१९) उन्माद, (२०) शङ्का, (२१) स्मृति, (२२) मति, (२३) व्याधि, (२४) त्रास, (२५) लज्जा, (२६) हर्ष, (२७) असूया, (२८) विषाद, (२९) धृति, (३०) चपलता, (३१) ग्लानि, (३२) चिन्ता और (३३) वितर्क ।

अनुवाद—निर्वेदः—

'निर्वेद' का अभिप्राय है (स्वावमानन) अपने आपको धिक्कारने का। इसके कई निमित्त हो सकते हैं—जैसे कि, तत्त्वज्ञान (शरीरसुख किं वा विषयभोग की हेयता का अनुभव), आपत्ति, ईर्ष्या, आदि-आदि । इसके होने से दीनता. चिन्ता, अश्रु, निःश्वास, विवर्णता और उच्छ्वास आदि उत्पन्न हुआ करते हैं ।

उदाहरण के लिये, तत्त्वज्ञानोत्थ निर्वेद (का यह अभिव्यञ्जन)—

'ओह ! मैं भी कितना अभागा निकला ! मिट्टी के इस घड़े (शरीर) का छोटा सा छेद (कुछ ऐहिक कष्ट) बन्द करने के लिये (दूर करने के लिये) मैंने अपना यह दक्षिणावर्त शंख (आत्यन्तिक सुख) तोड़-फोड़कर चूर-चूर कर दिया ।'

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'निर्वेद' का यह विशद लक्षण किया है—

'इष्टजनविप्रयोगाद् दारिद्र्याद् व्याधितस्तथा दुःखात् ।
परवृद्धिं वा दृष्ट्वा निर्वेदो नाम संभवति ॥
बाष्पपरिप्लुतनयनः, पुनश्च निःश्वासदीनमुखनेत्रः ।
योगीव ध्यानपरो भवति हि निर्वेदवान् पुरुषः ॥'

(नाट्यशास्त्र ७. २९, ३०)

(२—आवेग)

अथावेगः—

आवेगः संभ्रमस्तत्र वर्षजे पिण्डिताङ्गता ।
उत्पातजे स्रस्तताङ्गे, धूमाद्याकुलताग्निजे ॥ १४३ ॥
राजविद्रवजादेस्तु शस्त्रनागादियोजनम् ।
गजादेः स्तम्भकम्पादि, पांस्वाद्याकुलतानिलात् ॥ १४४ ॥
इष्टाद्धर्षाः, शुचोऽनिष्टाज्ज्ञेयाश्चान्ये यथायथम् ।

तत्र शत्रुजो यथा—

'अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः ।
क्षत्रकोपदहनार्चिषं ततः सन्दधे दृशमुदग्रतारकम् ॥'

यहां भी यह स्पष्ट है कि निर्वेद का अभिप्राय 'स्वावमानन' अथवा 'आत्माधिक्षेप' का ही है। 'स्वात्मावमानन' ही 'निष्फलता बुद्धि' के रूप में भी प्रतीत हुआ करता है, जैसे कि निम्न सूक्ति में ही—

'प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
न्यस्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
सम्मानिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥'

भावप्रकाशनकार शारदातनय ने 'निर्वेद' शब्द की व्युत्पत्ति से ही इसके सारार्थ का संकेत किया है—

'निर्वेदः शून्यचित्तत्वं वेदोवित्तविनिर्गमात् ।' (भावप्रकाशन २. १)

अर्थात् उन-उन कारणों से चित्त की शून्यता 'निर्वेद' है ।

अनुवाद—आवेग :—

'आवेग' का अभिप्राय है संभ्रम (घबड़ाहट) का । इसके कई एक प्रकार हैं जसे कि (१) हर्षज आवेग, जिसके होने से अङ्ग-प्रत्यङ्ग संकुचित–सिकुड़े से हो जाया करते हैं, (२) उत्पातज आवेग, इसके कारण पूरा शरीर ढीला-ढाला हो जाता है, (३) अग्निज आवेग, इसके कारण धुएँ किंवा अनुताप आदि की व्याकुलता बढ़ जाती है, (४) राजविद्रवज आवेग, शत्रुज आवेग आदि, जिसके कारण शस्त्रसंनाह, हाथी–घोड़ों की सेना की तैयारी आदि-आदि कार्य प्रारम्भ हो जाते हैं, (५) गजादिजन्य आवेग, इसके कारण स्तम्भ, कम्प आदि उत्पन्न हो जाते हैं, (६) वायुज आवेग, जिसके द्वारा धूलि आदि से व्याकुलता बढ़ जाती है, (७) इष्टज आवेग, जिसके कारण हर्ष उत्पन्न हो जाता है, (८) अनिष्टज आवेग, जो कि शोक का जनक हुआ करता है और इसी भांति अन्य-अन्य निमित्तों से उत्पन्न अन्यान्य प्रकार के आवेग हुआ करते हैं । उदाहरण के लिये–'शत्रुज' आवेग—

'महाराज दशरथ ने तो 'अतिथि–पूजन–सामग्री लाओ, जल्दी करो' आदि कहना प्रारम्भ किया, किन्तु परशुराम ने उन पर निगाह तक न डाली और रामचन्द्र की ओर अपनी वह दृष्टि गड़ा दी जिसकी पुतलियां प्रचण्डता की सूचना दे रही थीं और जो वस्तुतः क्षत्रियों पर उनके क्रोध की धधकती आग की लपट सी दिखाई पड़ने लगी थी ।' (रघुवंश) ।

एवमन्यदूह्यम् ।

(३—दैन्य)

अथ दैन्यम्—

दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत् ॥ १४५ ॥

यथा—

'वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः, स्थूणावशेषं गृहं,
कालोऽभ्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो ।
यत्नात्सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां निजवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति ॥'

इसी प्रकार अन्यान्य आवेग-प्रकारों के उदाहरण काव्य-साहित्य में स्वयं ढूँढ़े जा सकते हैं।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने यहाँ जिस अष्टविध आवेग का निरूपण किया है उसका विशद वर्णन भरतनाट्यशास्त्र (७म अध्याय) में किया हुआ है—

'इत्येषोऽष्टविधो ज्ञेय आवेगः संभ्रमात्मकः ।
स्थैर्येणोत्तममध्यानां नीचानां चापसर्पणात् ॥'

'आवेग' शब्द की व्युत्पत्ति से ही 'आवेग' की सम्भ्रमात्मकता अथवा संक्षोभरूपता का परिचय मिल जाता है, जैसा कि भावप्रकाशनकार ने बताया है—

'अदेशकालविहितो वेग आवेग उच्यते ।
वेगो विगानं जनयद्भिन्नं येन मनो भवेत् ॥'

(भावप्रकाशन २ य अधिकार-७)

अर्थात् असमय किं वा अस्थान में किसी प्रकार के उत्पात से उत्पन्न मन की उद्विग्नता को 'आवेग' कहते हैं। शारीरिक-मानसिक और वाचिक जो भी विकार प्रिय किं वा अप्रिय-दर्शन और श्रवण से उत्पन्न हुआ करते हैं वे सभी आवेग के 'अनुभाव' बन जाते हैं। उत्तम प्रकृतिगत 'आवेग' में चित्त स्थिर रह सकता है किन्तु अधम प्रकृतिगत आवेग में चित्त का चाञ्चल्य स्वाभाविक है। कालिदास के 'कुमारसम्भव' में यह आवेग-वर्णन बड़ा सुन्दर और सरस है—

'आमेखलं सञ्चरतां घनानां छायामधः सानुगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥'

अनुवाद—दैन्य :—

'दैन्य' दुर्गति आदि के कारण उत्पन्न निस्तेजस्विता को कहा करते हैं। इसके कारण मुखादि-मालिन्य हुआ करता है। जैसे कि—

'सास ने आसन्नप्रसवा पुत्रवधू को देखा। उसे ध्यान आया कि उसका बूढ़ा और अंधा पति टूटी-टाटी खाट पर पड़ा है, घर में केवल छप्पर की टेक एक लकड़ी खड़ी है, बरसात सिर पर आ धमकी है, पुत्र का भी कोई कुशल-समाचार नहीं मिला है और किसी प्रकार जोड़-जोड़ कर इकट्ठा किये तेल की हांडी भी फूट गयी है। वह व्याकुल हो उठी और सिर धुन-धुन कर रोने लगी।'

विमर्श—नाट्यशास्त्र से 'दैन्य' (दीनता) का यह स्वरूप निर्दिष्ट है—

'चिन्तौत्सुक्यसमुत्थाद् दुःखाद्वा दीनता भवेत् पुंसाम् ।
सर्वमृजापरिहारैर्विविधोऽभिनयो भवेत्तस्य ॥

(नाट्यशास्त्र ७. ४९)

(४—श्रम)

अथ श्रमः—

खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः ।

यथा—

'सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी
सीता जवात्त्रिचतुराणि पदानि गत्वा ।
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद्ब्रुवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम् ॥'

(५—मद)

अथ मदः—

संमोहानन्दसंभेदो मदो मद्योपयोगजः ॥ १४६ ॥

अमुना चोत्तमः शेते मध्यो हसति गायति ।

तात्पर्य यह है कि दुर्गति अथवा पर-तिरस्कृति आदि के कारण जो मनःक्लैब्य है वही 'दैन्य' है। कालिदास के 'मेघदूत' में यक्ष के 'दैन्य' का बड़ा मनोरम अभिव्यञ्जन हुआ है—

'एतत् कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्त्मनो मे
सौहार्दाद् वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या ।
इष्टान् देशान् विचर जलद ! प्रावृषा सम्भृतश्री-
र्माभूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥'

अनुवाद—श्रम :—

'श्रम' का अभिप्राय रति-प्रसङ्ग, मार्गगमन आदि-आदि कारणों से उत्पन्न खेद का है। इसके कारण श्वास, निद्रा आदि-आदि की उत्पत्ति और वृद्धि हुआ करती है। जैसे कि मार्गज 'श्रम' का यह उदाहरण—

'शिरीषकोमलाङ्गी सीता अयोध्यानगरी के पास ही तीन-चार पग चली और रह-रह कर राम से पूछने लगी 'अभी और कितना चलना है' राम क्या करते ! उनकी आंखों से आंसुओं की झड़ी प्रारम्भ हो गयी।'

विमर्श—मन और शरीर के खेद को 'श्रम' माना जाता है। इस व्यभिचारी भाव का परिपोष कई रसों को मिला करता है। शृङ्गार का परिपोषक 'श्रम' महाकवि भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' (१. २४) में बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त हुआ है—

'अलसलुलितमुग्धान्यध्वसंतापखेदा-
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि ।
मृदुमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥'

'श्रम' की व्युत्पत्ति है—शृणाति हन्ति अङ्गानि मनो वेति 'श्रमः'। अङ्गावसाद अथवा मनःखेद दोनों इस प्रकार 'श्रम' में अन्तर्भूत हैं।

अनुवाद—मद :—

'मद' कहते हैं संमोह (बेहोशी) और आनन्द के सम्मिश्रण को। इसकी उत्पत्ति

अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति ॥ १४७॥

यथा—

'प्रातिभं त्रिसरकेण गतानां वक्रवाक्यरचनारमणीयः।
गूढसूचितरहस्यसहासः सुभ्रुवां प्रववृते परिहासः॥'

(६—जडता)

अथ जडता—

अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूर्ष्णीभावादयस्तत्र ॥१४८॥

यथा मम कुवलयाश्वचरिते प्राकृतकाव्ये—

'णवरिअ तं जुअजुअलं अण्णोण्णं णिहिदसजलमन्थरदिट्ठिं।
आलेक्खओपिअं विअ खणमेत्तं तत्थ संट्ठिअं मुअसण्णं॥'
(केवलं तद्युवयुगलमन्योऽन्यं निहितसजलमन्थरदृष्टि।
आलेख्यार्पितमिव क्षणमात्रं तत्र स्थितं मुक्तसञ्ज्ञम्॥)

मद्यपान आदि से हुआ करती है। उत्तम प्रकृति के लोग तो 'मद' से सो जाया करते हैं और मध्यम प्रकृति के लोग हँसने अथवा गाने लगते हैं। और जो लोग नीच प्रकृति के हुआ करते हैं वे या तो मद-परवश होने पर गाली-गलौज करने लगते हैं या रोने-धोने लगते हैं। उदाहरण के लिये (महाकपि माघ-कृत यह मद-वर्णन)

'मदिरा के दौर पर दौर चले और रमणियों की प्रतिभा जाग उठी। फिर क्या था! नानाविध वक्रोक्तिओं से सुन्दर और रति-रहस्य का गूढ़-सूचक हास-परिहास निकल पड़ा।'

विमर्श—'मद' का विशद वर्णन भरतनाट्यशास्त्र की इन पंक्तिओं में है—

'त्रिविधस्तु मदः कार्यस्तरुणो मध्यस्तथावकृष्टश्च।
करणं पञ्चविधं स्यात्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः॥
स्मितवचनमधुररागो हृष्टतनुः किञ्चिदाकुलितवाक्यः।
सुकुमाराविद्धगतिस्तरुणमदस्तूत्तमप्रकृतिः॥
स्खलिताघूर्णितनयनः स्रस्तव्याकुलितबाहुविक्षेपः।
कुटिलव्याविद्धगतिर्मध्यमदो मध्यमप्रकृतिः॥
नष्टस्मृतिर्हतगतिश्छर्दितहिक्काकफैः सुबीभत्सः।
गुरुसज्जमानजिह्वो निष्ठीवति चाधमप्रकृतिः॥'

(नाट्यशास्त्र ७. ३८-४३)

'मद' शब्द की व्युत्पत्ति से भी 'मद' का उपर्युक्त ही अभिप्राय निकलता है—

'मशब्दार्थो मतिर्मानस्तद्दानात् खण्डनान्मदः।' (भावप्रकाशन २. ५)

अनुवाद—जडता :—'जडता' कहते हैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ता को। इसकी उत्पत्ति इष्ट तथा अनिष्ट के दर्शन किंवा श्रवण से हुआ करती है। इसके होने पर निर्निमेष नेत्रों से देखना, चुप्पी साधना आदि-आदि स्वभावतः हुआ करते हैं। जैसे कि, स्वरचित प्राकृत काव्य 'कुवलयाश्वचरित' का यह 'जडता-वर्णन'—

'उस समय ऐसा हुआ कि प्रेमी और प्रेमिका का जोड़ा, एक दूसरे की ओर, आंसू

(७—उग्रता)

अथोग्रता—

शौर्यापराधादिभवं भवेच्चण्डत्वमुग्रता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥ १४६ ॥

यथा—

'प्रणयिसखीसलीलपरिहासरसाधिगतै-
र्ललितशिरीषपुष्पहननैरपि ताम्यति यत् ।
वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपतः
पततु शिरस्यकाण्डयमदण्ड इवैष भुजः ॥'

भरी आंखों से, एक टक देखता रहा और एक निश्चेतन चित्राङ्कित प्रेमी-युगल की भांति चुपचाप खड़ा रहा।'

विमर्श—'जाड्य' भी भिन्न-भिन्न रसों का परिपोषक व्यभिचारीभाव है। इष्ट किंवा अनिष्ट के दर्शन और श्रवण आदि से उत्पन्न 'अप्रतिपत्ति' का नाम जडता अथवा जाड्य है। महाकवि कालिदास की इस सूक्ति में पार्वतीगत रतिभाव के परिपोषक जाड्य का बड़ा सुन्दर चित्रण है—

'एवमालि निगृहीतसाध्वसं शङ्करो रहसि सेव्यतामिति ।
सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत् प्रमुखवर्तिनि प्रिये ॥'

(कुमारसम्भव ८. ५)

यहां पार्वती की अप्रतिपत्ति अथवा किङ्कर्तव्यविमूढता का जो चित्रण है उससे पार्वती के शिवविषयक प्रेम की उत्कटतर रूप से अभिव्यक्ति हो रही है जिसमें सहृदयहृदय शृङ्गार का आनन्द ले पाता है।

अनुवाद—उग्रता :-'उग्रता' कहते हैं चण्डता अथवा अत्यधिक असहिष्णुता को। इसकी उत्पत्ति के कारण शौर्य, अपराध, अपकार आदि-आदि हैं। इससे स्वेद, शिरःकम्प, तर्जन और ताडन आदि-आदि स्वभावतः उत्पन्न हुआ करते हैं। जैसे कि (महाकवि भवभूति के 'मालतीमाधव' में 'माधव' की उग्रता का यह अभिव्यञ्जन)—

'अरे पापाचार ! अरे अघोरघण्ट ! मेरी मालती की इस कोमल देह पर, जिस पर, उसकी प्रेमपगी सखिओं द्वारा, हास-परिहास में, धीरे से फेंके गये शिरीषपुष्प भी चोट पहुँचाते से लगा करते हैं, तू यह भयंकर शस्त्र चला रहा है। अरे ! रुक, नहीं तो तेरी खोपड़ी पर, यमदण्ड की भांति, मेरा यह भुजदण्ड, क्षण भर में गिरना चाहता है।'

विमर्श—'औग्र्य' का महाकवि भवभूतिकृत यह वर्णन बड़ा सुन्दर है—

'उत्कृत्योत्कृत्य गर्भानपि शकलयतः क्षत्रसंतानरोषा-
दुद्दामस्यैकविंशत्यवधि विशसतः सर्वतो राजवंशान् ।
पित्र्यं तद्रक्तपूर्णह्रदसवनमहानन्दमन्दायमान-
क्रोधाग्नेः कुर्वतो मे न खलु न विदितः सर्वभूतैः स्वभावः ॥'

(महावीर चरित-२.४८)

यहां परशुराम के उत्साह भाव का जो परिपोष है उसमें 'उग्रता' का साहचर्य स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

(८—मोह)

अथ मोहः—

मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेगानुचिन्तनैः ।
मूर्च्छनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत् ॥ १५० ॥

यथा—

'तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥'

(९—विबोध)

अथ विबोधः—

निद्रापगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागमः ।
जृम्भाङ्गभङ्गनयनमीलनाङ्गावलोककृत् ॥ १५१ ॥

यथा—

'चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां
चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः ।
अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणा-
मशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः ॥'

अनुवाद—मोह :-'मोह' चित्त की विकलता को कहा करते हैं। इसकी उत्पत्ति भय, दुःख, आवेग, अत्यन्त चिन्तन आदि कारणों से संभव है। 'मोह' में मूर्च्छा, अज्ञान, पतन, चक्कर आना, कुछ दिखाई न पड़ना आदि-आदि स्वभावतः हुआ करते हैं। जैसे कि (महाकवि कालिदास के 'कुमारसम्भव' में चित्रित रति के मोह का चित्रण—)

'जब कि असह्य पतिनिधन-शोक-आघात से रति के हृदय में 'मोह' उत्पन्न हुआ और उसकी सभी इन्द्रियाँ निश्चेष्ट बन गयीं, तब ऐसा प्रतीत होता था जैसे उसे न तो पतिनिधन का ही कोई पता है और न किसी प्रकार के शोक का ही कोई अनुभव हो रहा है।'

विमर्श—'मोह' वह मनोविकार है जो कि मन को मूढ कर दिया करता है। आपत्ति, श्रम, वियोग आदि-आदि से उत्पन्न मोह भिन्न-भिन्न रूप का है किन्तु 'चित्तमूढता' का धर्म सर्वत्र अनुगत है। कालिदास ने कामदेव के मोह का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम् ।
नालक्षयत्साध्वससन्नहस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात् ॥'

अनुवाद—विबोध :—'विबोध' कहते हैं चेतना की पुनः प्राप्ति को, और यह नींद के दूर करनेवाले कारणों से हुआ करता है। इसके होने पर जंभाई, अंगड़ाई, आँख मींचना, अंगों का देखना आदि-आदि हुआ करते हैं। जैसे कि (महाकवि माघ के 'शिशुपालवध' का यह विबोध-वर्णन)—

'चिरकाल तक रतिक्रीडा से परिश्रान्त प्रेमियों के सो जाने पर ही प्रेमिकाओं को सोने का अवसर मिला। किन्तु इसके पहले कि प्रेमी जागें, प्रेमिकाएँ जाग पड़ीं। प्रेमिकाएँ जाग तो पड़ीं किन्तु निद्रित प्रेमिओं के भुजालिङ्गन के शिथिल हो जाने के डर से बिना हिले-डुले, जैसे पड़ी थीं वैसे ही पड़ी रहीं।'

(१०—स्वप्न)

अथ स्वप्नः—

स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु यः ।
कोपावेगभयग्लानिसुखदुःखादिकारकः ॥ १५२ ॥

यथा—

'मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसन्दर्शनेन ।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥'

(११—अपस्मार)

अथापस्मारः—

मनःक्षेपस्त्वपस्मारो ग्रहाद्यावेशनादिजः ।
भूपातकम्पप्रस्वेदफेनलालादिकारकः ॥ १५३ ॥

'आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम् ।
फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के ॥'

विमर्श—भरतमुनि ने 'विबोध' की यह परिभाषा की है—

'आहारविपरिणामाच्छब्दस्पर्शादिभिश्च संभूतः ।
प्रतिबोधस्त्वभिनेयो जृम्भणवलनाक्षिपरिमर्दैः ॥'

(नाट्यशास्त्र—७-७६)

अनुवाद—स्वप्नः—'स्वप्न'का अभिप्राय है निद्रा में निमग्न होने पर विषयानुभव का। इसके द्वारा कोप, आवेग, भय, ग्लानि, सुख, दुःख आदि-आदि हुआ करते हैं। उदाहरण के लिए (महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' का यह 'स्वप्न-वर्णन')—

'हे मेघ! मेरी ओर से तुम मेरी प्रियतमा से कहना कि विरह की वेदना मुझे नींद नहीं लेने देती। कभी नींद पड़ी तो स्वप्न देखता हूं कि मेरी प्रियतमा मेरे पास है और मैं उसका आलिङ्गन करने के लिए हाथ फैलाये हूँ। किन्तु मेरे फैले हाथ तो शून्य का आलिङ्गन करते हैं। मेरी इस दयनीय दशा को देख-देख वन-देवियाँ रो पड़ती हैं और उनके मोती सरीखे आँसू पेड़-पौधों के पत्तों पर गिर-गिरकर बहने लगते हैं।'

विमर्श—निद्रा की ही उद्रिक्तता अथवा गाढावस्था का नाम स्वप्न अथवा 'सुप्ति' है। इसका वर्णन उत्स्वप्नायित, उच्छ्वसित, निःश्वसित आदि के वर्णन द्वारा—किया जाया करता है। संस्कृत के कवियों और नाटककारों ने यथास्थान और यथावसर इसका सुन्दर वर्णन किया है।

अनुवाद—अपस्मार :—'अपस्मार' कहते हैं चित्त की विक्षिप्तता को। इसके कारण ग्रह-भूत-प्रेत आदि के आवेश हैं। इसके होने से पृथ्वी पर लोट पड़ना, कँपकँपी, पसीना निकलना, मुँह में झाग भरना, लार टपकना आदि-आदि हुआ करते हैं।

जैसे कि (महाकवि माघ का यह 'अपस्मार' वर्णन)—

'जब कि कृष्ण ने समुद्र को देखा कि वह पृथिवी पर लोटा पड़ रहा है, विकट शब्द कर रहा है, बड़ी-बड़ी तरंग-भुजाओं को इधर-उधर घुमा-फिरा रहा है और रह रह कर

(१२—गर्व)

अथ गर्वः—

गर्वो मदः प्रभावश्रीविद्यासत्कुलतादिजः ।
अवज्ञासविलासाङ्गदर्शनाविनयादिकृत् ॥ १५४ ॥

तत्र शौर्यगर्वो यथा—

'धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः ।
यद्वा न सिद्धमस्त्रेण मम तत्केन साध्यताम् ॥'

(१३—मरण)

अथ मरणम्—

शराद्यैर्मरणं जीवत्यागोऽङ्गपतनादिकृत् ।

फेन उगल रहा है तो उन्हें ऐसा लगा जैसे वे किसी मिरगी के रोगी (अपस्मार-ग्रस्त व्यक्ति) को देख रहे हों।'

विमर्श—'अपस्मार' पद की निरुक्ति यह है—

'अपस्मारोऽनुभूतेषु पदार्थेष्वन्यथास्मृतिः ।
अयथास्मृतिरेव स्यात् पदार्थास्मृतिरेव वा ॥'

(भावप्रकाशन २ य अधिकार)

अर्थात् स्मृति का अपगम 'अपस्मार' है। स्मृति का अपगम दो प्रकार का हो सकता है जैसे कि (१) अन्यथास्मृति और (२) अस्मृति।

साहित्यदर्पणकार ने 'अपस्मार' को जो चित्तक्षोभ कहा है वह अन्यथास्मृति और अस्मृति के अतिरिक्त और कोई मनोविकार नहीं। यहाँ एक बात ध्यान देने की है। साहित्यदर्पणकार ने 'अपस्मार' के उदाहरण-रूप में माघकृत समुद्रवर्णन की जो सूक्ति उद्धृत की है उसमें 'अपस्मार' के द्वारा कोई रस-परिपोष किया गया नहीं प्रतीत होता। वैसे काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र ने भी इसी सूक्ति को अपस्मार के निदर्शन के लिये उद्धृत किया है किन्तु उन्होंने 'अयं च प्राय आभासेष्वेव शोभते' इस उपक्रम के साथ यहाँ रसाभास का परिपोषण माना है जो कि सर्वथा युक्तियुक्त है।

अनुवाद—गर्व :—'गर्व' कहते हैं मद अथवा घमण्ड को। यह प्रभाव, ऐश्वर्य, विद्या, कुलीनता आदि-आदि से उत्पन्न हुआ करता है। इसके होने पर दूसरों की अवज्ञा करना, दूसरों को नीचा दिखाने के लिये अंगूठे आदि का दिखाना, अविनयपूर्ण व्यवहार करना आदि-आदि स्वभावतः हुआ करते हैं। उदाहरण के लिये (वेणीसंहार में अश्वत्थामा के) शौर्यमद का यह वर्णन—

'जब तक मेरे पास शस्त्र है तब तक और शस्त्रधारी योद्धाओं का क्या काम! जो काम मेरे शस्त्र से न हो सके, उसे और कोई क्या कर लेगा!'

विमर्श—अपने गौरव का भाव 'गर्व' है। इसीलिये शारदातनय ने यह संक्षिप्त गर्व-लक्षण किया है—'आत्मनो यो गरीयस्त्वभावो गर्वः स ईरितः।' (भावप्रकाशन २ य अधिकार)

अनुवाद—मरण :—'मरण' कहते हैं प्राणत्याग को। शरादि के द्वारा यह संभव है और इसमें अङ्ग-भङ्ग, शरीर-पात आदि-आदि हुआ करते हैं। जैसे कि (महाकवि कालिदास के रघुवंश में ताड़का का) यह मरण-वर्णन :—

यथा—

'राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥'

(१४—आलस्य)

अथालस्यम्—

आलस्यं श्रमगर्भाद्यैर्जाड्यं जृम्भासितादिकृत् ॥ १५५ ॥

यथा—

'न तथा भूषयत्यङ्गं न तथा भाषते सखीम्।
जृम्भते मुहुरासीना बाला गर्भभरालसा ॥'

'जैसे ही ताड़का (अभिसारिका) के हृदय में रामरूपी मन्मथ (कामदेव) के घातक बाण घुसे कि वह गन्ध से भरे रुधिर-चन्दन से चर्चित हो गयी और प्राणपति (यमराज) के घर के लिये विदा हो चली।'

विमर्श—'मरण' रूप व्यभिचारी भाव का वास्तविक अभिप्राय मृत्यु नहीं अपि तु मृत्यु की पूर्वावस्था है। यह अवस्था व्याधि, अभिघात आदि-आदि कारणों से उत्पन्न होती है। महाकवि कालिदास की निम्न सूक्ति इसका एक सुन्दर निदर्शन है—

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
र्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः।
पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयाऽसौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥ (रघुवंश ८. ९५)

इस उपर्युद्धृत सूक्ति में प्राणत्याग के बाद प्राणयोग का जो वर्णन है वह भी 'मरण'रूप व्यभिचारी भाव का ही अभिव्यञ्जन है।

अनुवाद—आलस्य :—'आलस्य' का अभिप्राय जड़ता का है जो कि परिश्रम किंवा गर्भ-धारण आदि-आदि से संभव है। इसमें जंभाई आया करती है, एक स्थान पर बैठे रहना पड़ता है और इसी भांति के अन्यान्य विकार उत्पन्न हो जाया करते हैं। जैसे कि—

'गर्भधारण से अलसायी यह मुग्धा न तो पहले की तरह आभूषण धारण कर रही है और न सखियों से बोलना चाहती है। यह तो बार-बार बैठ-बैठ कर केवल जँभाई लिया करती है।'

विमर्श—'आलस्य' और 'अङ्गों का उल्लासाभाव' एक ही वस्तु है—

'अङ्गानां यदनुल्लासस्तदालस्यमुदाहृतम्।'

हेमचन्द्राचार्य ने 'आलस्य' की यह परिभाषा की है—

'श्रमसौहित्यरोगगर्भस्वभावादिभ्यः पुरुषार्थेष्वनादर आलस्यम्।'

जिसमें सौहित्य अथवा भोजनतृप्ति से सम्भूत 'आलस्य' का भी परिगणन किया हुआ है। सौहित्य-संभूत 'आलस्य' का यह वर्णन बड़ा रोचक है—

'त्रैलोक्याभयलग्नकेन भवता वीरेण विस्मारित-
स्तज्जीमूतमुहूर्त्तमण्डनधनुः पाण्डित्यमाखण्डलः।
किंचाजस्रमखार्पितेन हविषा संफुल्लमांसोल्लसत्-
सर्वाङ्गीणवलीविलुप्तनयनव्यूहः कथं वर्त्तते ॥'

(१५—अमर्ष)

अथामर्षः—

निन्दाक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता ।
नेत्ररागशिरःकम्पभ्रूभङ्गोत्तजनादिकृत् ॥ १५६ ॥

यथा—

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥

(१६—निद्रा)

अथ निद्रा—

चेतः संमीलनं निद्रा श्रमक्लममदादिजा ।
जृम्भाक्षिमीलनोच्छ्वासगात्रभङ्गादिकारणम् ॥ १५७ ॥

यथा—

'सार्थकानर्थकपदं ब्रुवती मन्थराक्षरम् ।
निद्रार्धमीलिताक्षी सा लिखितेवास्ति मे हृदि ॥'

अनुवाद—अमर्ष :—'अमर्ष' कहते हैं चित्त के अभिनिवेश अथवा अत्यधिक आग्रह-परिग्रह को। इसके कारण किसी के द्वारा निन्दित किया जाना, धमकाया जाना, अपमानित किया जाना आदि-आदि हैं। इसमें आँखें लाल हो जाती हैं, सिर कांपने लगता है, त्यौरियां चढ़ जाती हैं, घुड़की दी जाया करती हैं और इसी भांति की अनेकों बातें हुआ करती हैं। जैसे कि (महाकवि भवभूति के महावीरचरित में परशुराम का) यह अमर्ष-वर्णन—

'यहां बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि विराजमान हैं जिनकी आज्ञा का मैं उल्लंघन कर रहा हूँ और इस पाप का प्रायश्चित्त भी कर लूंगा। लेकिन, जब कि एक बार मैंने अपने हाथ में शस्त्र उठा लिया तब इस महान् वीर-व्रत का भंग मैं कदापि नहीं कर सकता।'

विमर्श—हेमचन्द्राचार्य का यह 'अमर्ष'-लक्षण अधिक स्पष्ट है—

'विद्यैश्वर्यबलाधिककृतेभ्य आक्षेपावमानादिभ्यः प्रतिचिकीर्षारूपोऽमर्षः ।
(काव्यानुशासन : २.४५)।'

इसका सुन्दर अभिव्यञ्जन इस सूक्ति (वेणीसंहार १.८) में है—

'लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥'

अनुवाद—निद्रा :—'निद्रा' कहते हैं चित्त की निश्चलता अथवा निश्चेष्टता (बाह्य विषयों से निवृत्ति) को। इसके कारण परिश्रम, मनःखेद, मदपान आदि-आदि हैं। इसमें जंभाई लेना, आँखें मीचना, उच्छ्वास, अंगड़ाई आदि-आदि हुआ करते हैं। जैसे कि—

'मित्र ! मेरे हृदय-फलक पर एक सुन्दरी का चित्र खिंच गया है जिसमें वह कभी-कभी धीरे २ बड़बड़ाती और नींद के कारण अधखुली आंखों से विचित्र रूप से सुन्दर लग रही है।'

विमर्श—'निद्रा' की यह निरुक्ति है जो कि उसके स्वरूप का भी परिचय देती है—

'इन्द्रियाणि निमीलन्ति द्रागेव युगपद् यतः ।
तस्मान्निद्रेति कविभिः कथ्यते भावकोविदैः ॥' (भावप्रकाशन २य अधिकार)

तात्पर्य यह है कि 'मनोनिमीलन' ही निद्रा है।

(१७—अवहित्था)

अथावहित्था—

भयगौरवलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुप्तिरवहित्था ।
व्यापारान्तरसक्त्यन्यथावभाषणविलोकनादिकरी ॥ १५८ ॥

यथा—

'एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥'

(१८—औत्सुक्य)

अथौत्सुक्यम्—

इष्टानवाप्तेरौत्सुक्यं कालक्षेपासहिष्णुता ।
चित्ततापत्वरास्वेददीर्घनिःश्वसितादिकृत् ॥ १५९ ॥

यथा—

'यः कौमारहरः स एव हि वरः—' इत्यादौ (१४ पृ०)

अत्र यत् काव्यप्रकाशकारेण रसस्य प्राधान्यमित्युक्तं तद्रसनधर्मयोगित्वाद्व्यभिचारिभावस्यापि रसशब्दवाच्यत्वेन गतार्थं मन्तव्यम् ।

अनुवाद—अवहित्था :—'अवहित्था' का अभिप्राय है प्रसन्नमुद्रा, काम-मुद्रा आदि-आदि के छिपाने का । इसके कारण भय, गौरव, लज्जा आदि-आदि हैं । इसमें, जिस काम में लगा हो उसे छोड़ दूसरे काम में लग जाना, इधर-उधर की बात बनाना, दूसरी ओर देखने लग जाना आदि-आदि हुआ करते हैं । जैसे कि (महाकवि कालिदास के 'कुमारसंभव' में पार्वती की) अवहित्था का यह वर्णन—

'महर्षि नारद ने पर्वतराज से शिव को पार्वती के वर बनाने की बात की । पिता के पास बैठी पार्वती ने सुना और सिर झुका लिया और अपने हाथ में लिये लीलाकमल की पंखुड़िओं को गिनने लग पड़ी ।'

विमर्श—आकारगुप्ति को ही सभी काव्य-कोविदों ने 'अवहित्था' माना है । महाकवि भवभूति की यह सूक्ति 'अवहित्था' का बड़ा सुन्दर उदाहरण है—

'अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः ।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ॥'

अनुवाद—औत्सुक्य :—'औत्सुक्य' का अभिप्राय है कालविलम्ब के सहन न कर सकने का । इसका कारण अभिलषित वस्तु का न पाना है । इसमें मन संतप्त हुआ करता है, जल्दबाजी लगी रहती है, पसीना छूट पड़ता है, लम्बी-लम्बी सांसें चलने लगती हैं और इसी भांति के और विकार उत्पन्न हो जाया करते हैं । जैसे कि—'यः कौमारहरः स एव' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति ।

यहां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि काव्यप्रकाशकार के अनुसार यह सूक्ति रस-कविता मानी गयी है और यहां (साहित्यदर्पण में) इसे औत्सुक्यरूप व्यभिचारी भाव की अभिव्यक्ति का निदर्शन बताया गया है । वैसे तो काव्यप्रकाशकार ने इसमें 'रस-प्राधान्य' माना था किन्तु यदि इसे रस-प्रधान कहने का अभिप्राय रत्यास्वादमय मानना

(१९—उन्माद]

अथोन्मादः—

चित्तसंमोह उन्मादः कामशोकभयादिभिः ।
अस्थानहासरुदितगीतप्रलपनादिकृत् ॥ १६० ॥

यथा मम—

'भ्रातर्द्विरेफ ! भवता भ्रमता समन्ता-
त्प्राणाधिका प्रियतमा मम वीक्षिता किम् ?
(झंकारमनुभूय सानन्दम् ।)
ब्रूषे किमोमिति सखे ! कथयाशु तन्मे
किं किं व्यवस्यति कुतोऽस्ति च कीदृशीयम् ॥'

है तब तो यह बात ठीक नहीं (क्योंकि यहां रत्यास्वाद का कोई चमत्कार नहीं)। इसे यदि रस-प्रधान माना जाय तो इसी दृष्टि से ऐसा मानना उचित है कि यहां 'औत्सुक्य'-रूप व्यभिचारी भाव का अभिव्यञ्जन हो रहा है जो कि रसनीयता की विशेषता से विभूषित है। क्योंकि व्यभिचारी भाव का आस्वाद भी तो उपचारतः 'रस' ही कहा जाया करता है।

विमर्श—(क) कालातिपात की असह्यता और 'औत्सुक्य' एक ही वस्तु है। साहित्यदर्पणकार ने कालातिपात की असह्यता का कारण 'इष्टवस्तुवियोग' माना है किन्तु 'रम्यवस्तुदिदृक्षा' भी इसका कारण ही है। उदाहरण के लिये, रम्यवस्तु की दर्शनाभिलाषा से उत्पन्न औत्सुक्य का यह अभिव्यञ्जन—

'आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः ।
बद्धुं न संभावित एव तावत् करेण रुद्धोऽपि हि केशपाशः ॥'
(रघुवंश ७. ६)

(ख) सहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाशकार का खण्डन करने के आग्रह से 'यः कौमारहरः' आदि सूक्ति में 'औत्सुक्य'रूप व्यभिचारी भाव की ही उत्कट अभिव्यक्ति मान ली है। वैसे तो यहां सहृदयहृदय को विप्रलम्भ शृङ्गार का ही आनन्द मिला करता है।

जैसा कि उदाहरणचन्द्रिकाकार ने स्पष्ट कहा है—

'पार्यन्तिकास्वादहेतुश्चात्र (यः कौमारहर इत्यादौ) विप्रलम्भः । स्वाधीनपतिकाया अपि क्रीडास्थानाप्राप्त्यादिना सुरतप्रतिबन्धे तत्संभवात् ।'

अर्थात् 'यः कौमारहरः' आदि सूक्ति एक विशेष प्रकार के ही विप्रलम्भशृङ्गार की पूर्ण अभिव्यञ्जना है। यहां 'स्वाधीनपतिका' नायिका का विप्रलम्भ वर्णित है जिसमें 'औत्सुक्य' का भाव विप्रयुक्त रति की रसनीयता का ही अधिकाधिक परिपोष कर रहा है।

अनुवाद—उन्माद :—'उन्माद' कहते हैं चित्त की व्यामूढता को जो कि काम, शोक, भय आदि आदि के कारण संभव है। इसमें अकारण हँसना, अकारण रोना, अकारण गाने लगना, प्रलाप करने लगना आदि आदि हुआ करते हैं। जैसे कि मेरी इस स्वरचित सूक्ति में उन्माद वर्णन—

'मित्र भ्रमर ! तुम सर्वत्र विचरते रहते हो, यह तो बता दो कि तुमने मेरी प्राणप्यारी को कहीं देखा तो नहीं ? (झंकार का अनुभवकर, आनन्द के साथ) ओह ! क्या तुमने यह कहा कि तुमने उसे देखा है ! अरे ! तब जल्द बता दो कि वह कहाँ है, कैसी है और क्या कर रही है ।'

[२०—शङ्का]

अथ शङ्का—

परक्रौर्यात्मदोषाद्यैः शङ्काऽनर्थस्य तर्कणम् ।
वैवर्ण्यकम्पवैस्वर्यपार्श्वालोकास्यशोषकृत् ॥ १६१ ॥

यथा मम—

'प्राणेशेन प्रहितनखरेष्वङ्गकेषु क्षपान्ते
जातातङ्का रचयति चिरं चन्दनालेपनानि ।
धत्ते लाक्षामसकृदधरे दत्तदन्तावघाते
क्षामाङ्गीयं चकितमभितश्चक्षुषी विक्षिपन्ती ॥'

(२१—स्मृति)

अथ स्मृतिः—

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैर्भ्रूसमुन्नयनादिकृत् ।
स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते ॥ १६२ ॥

यथा मम—

'मयि सकपटं किंचित्क्वापि प्रणीतविलोचने
किमपि नमनं प्राप्ते तिर्यग्विजृम्भिततारकम् ।
स्मितमुपगतामालीं दृष्ट्वा सलज्जमवाञ्चितं
कुवलयदृशः स्मेरं स्मेरं स्मरामि तदाननम् ॥'

विमर्श—'उन्माद' और 'चित्तविप्लव' एक ही प्रकार के मनोविकार हैं (उदञ्चति मनो यस्मादुन्मादश्चित्तविप्लवः) ।

अनुवाद— शङ्का :—'शङ्का' का अभिप्राय है अनर्थ-चिन्तन का, और यह किसी दूसरे के क्राचरण, आत्म-दोष आदि आदि के कारण हुआ करती है। इसमें वैवर्ण्य, कम्प, स्वर-भंग, इधर-उधर देखना, मुह सूखना आदि हुआ करते हैं।

उदाहरण के लिये, मेरी स्वरचित सूक्ति में शङ्का-वर्णन—'प्रातःकाल, चारों ओर चकित हो होकर देखती हुई यह सुन्दरी मुग्धा, अपने कोमल अङ्गों पर रात में लगे अपने प्रियतम के नखक्षतों पर तो चन्दन का लेप लगा देती है और अपने अधरबिम्ब पर पड़े दन्तक्षत पर लाक्षा की लाली मलने लगती है।'

विमर्श—अनर्थचिन्तन को इसलिये 'शङ्का' कहा जाया करता है क्योंकि इसके द्वारा मानसिक सुख में विघ्न पड़ जाया करता है—'शं सुखं कुत्सयति या सा शङ्केत्यभिधीयते' (भावप्रकाशन २य अधिकार)

अनुवाद—स्मृति :—'स्मृति' का अभिप्राय है पहले कभी अनुभव में आयी हुई किसी वस्तु के पुनर्ज्ञान का। इसकी उत्पत्ति सदृश वस्तु के अनुभव किंवा चिन्तन आदि से संभव है। इसमें भौंहों का चढ़ना और इसी प्रकार की अन्य विकृतियाँ हुआ करती हैं।

उदाहरण के लिये—मेरी इस स्वरचित सूक्ति में 'स्मृति'–वर्णन–'जिस समय मैंने उसे दिखा कर किसी बहाने यों ही किसी ओर दृष्टि डाली तो उसने मुझे तिरछी निगाहों

[२२—मति]

अथ मतिः—

नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं मतिः ।
स्मेरता धृतिसंतोषौ बहुमानश्च तद्भवाः ॥ १६३ ॥

यथा—

'असंशयं क्षत्त्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥'

[२३—व्याधि]

अथ व्याधिः—

व्याधिर्ज्वरादिर्वाताद्यैर्भूमीच्छोत्कम्पनादिकृत् ।

से देखा और जैसे ही अपनी मुसकराती सखी पर ध्यान दिया वैसे ही वह लज्जित हो गयी और मुँह नीचा कर किया। ओह ! उस इन्दीवरनयना का उस समय का विहंसता मुँह रह-रह कर याद आ रहा है और मुझमें बेचैनी भर रहा है।'

विमर्श—भावप्रकाशनकार आचार्य शारदातनय ने 'स्मृति' की यह परिभाषा की है—

'देशान्तरेऽनुभूतस्य तथा कालान्तरेऽपि च ।
तद्देशादिविशिष्टस्य पुनरालोचनं स्मृतिः ॥
स्मरति स्मर्यते स्मारयतीत्यस्यास्तु निर्वहः ।'

(भावप्रकाशन २ य अधिकार)

स्वास्थ्य, चिंतन, दृढाभ्यास, सदृशालोकन आदि-आदि अनेकों कारणों से 'स्मृति' का उद्भव हुआ करता है। महाकवि कालिदास की इस सूक्ति में जिस 'स्मृति' का प्रकाशन है वह स्वास्थ्य-संभूत स्मृति है और दुष्यन्तगत शकुन्तला विषयक रतिभाव की एक परिपोष-प्रक्रिया है—

'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥'

अनुवाद—मति :—'मति' का अभिप्राय है वस्तु-तत्त्व के निश्चय का। इसके कारण नीतिमार्ग के अनुसरण आदि-आदि हैं। इसके होने पर मुस्कराहट, धैर्य, सन्तोष, और आत्म-सम्मान आदि स्वभावतः हुआ करते हैं।

जैसे कि (महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में दुष्यन्त की शकुन्तला-विषयक मति का) यह वर्णन—

'यह तापस-सुन्दरी (शकुन्तला) अवश्य ही क्षत्रिय के विवाह के योग्य है। और नहीं तो भला मेरा यह संयत चित्त क्योंकर इसकी ओर लालायित हो उठता ! सत्पुरुषों को जहाँ भी संदेह होने लगता है वहाँ उनका अन्तःकरण ही वस्तुतः उसे दूर भगा दिया करता है।'

विमर्श—भावप्रकाशनकार ने 'मति' का यह संक्षिप्त लक्षण किया है—

'सदसन्निश्चयकरी मननात्मा मतिर्भवेत् ।'

तात्पर्य यह है कि अर्थनिर्धारण ही 'मति' है।

अनुवाद—'व्याधि' का अभिप्राय है वात, पित्त आदि के प्रकोप से ज्वर आदि रोगों का। इसमें नीचे लोट पड़ना, कंपकंपी आदि विकार हुआ करते हैं।

तत्र दाहमयत्वे भूमीच्छादः। शैत्यमयत्वे उत्कम्पनादयः। स्पष्टमुदाहरणम्।

(२४—त्रास)

अथ त्रासः—

निर्घातविद्युदुल्काद्यैस्त्रासः कम्पादिकारकः ॥ १६४ ॥

यथा—

'परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरवः सुराङ्गनास्त्रासविलोलदृष्टयः।
उपाययुः कम्पितपाणिपल्लवाः सखीजनस्यापि विलोकनीयताम् ॥'

(२५—व्रीडा)

अथ व्रीडा—

धार्ष्ट्याभावो व्रीडा वदनानमनादिकृद् दुराचारात्।

यथा—

'मयि सकपटम्—' इत्यादि।

---

* यहाँ यह जान लेना चाहिये कि पित्त-प्रकोप वाली व्याधि में जमीन पर लोटने की इच्छा आदि होती है और कफ-प्रकोप वाली व्याधि में कंपकंपी आदि लगती है।

इसका उदाहरण क्यों दिया जाय, यह तो यों ही स्पष्ट है।

विमर्श—'व्याधि' का यह एक सुन्दर उदाहरण है—

'शय्या पुष्पमयी परागमयतामङ्गार्पणादश्नुते
ताम्यन्त्यन्तिकतालवृन्तनलिनीपत्राणि देहोष्मणा।
न्यस्तं च स्तनमण्डले मलयजं दीर्णान्तरं दृश्यते
क्वाथादाशु भवन्ति फेनिलमुखा भूषा मृणालाङ्कुराः।'

अनुवाद—त्रासः—'त्रास' कहते हैं मन की बेचैनी को। इसकी उत्पत्ति निर्घात (भयङ्कर झंझानिल), विद्युत्पात, उल्कापात आदि-आदि कारणों से हुआ करती है। इसमें कम्प, रोमाञ्च आदि-आदि विकार हुआ करते हैं।

जैसे कि, (महाकवि भारवि के 'किरातार्जुनीय' में) यह त्रास-वर्णन—

'जब कि, जलक्रीडा के समय, जांघों में चंचल मछलिओं की चोट से व्याकुल बनी अप्सरायें चञ्चल नयनों से इधर-उधर देखने लगीं और अपने पाणिपल्लवों को कंपाने लगीं तो उनकी सखियां भी उनकी इस त्रस्त-दशा को देख-देख उन पर लट्टू होने लगीं।'

विमर्श—'त्रास' का अभिप्राय 'चित्त-चाञ्चल्य' का है। निर्घातादि के कारण उत्पन्न चित्त का चमत्कार-विशेष ही 'त्रास' है। त्रास और भय भिन्न-भिन्न वस्तुयें हैं।

अनुवाद—व्रीडाः—'व्रीडा' कहते हैं धृष्टता के न होने को और यह किसी दुराचरण के कारण हुआ करती है। इसमें सिर नीचा होना, मुंह का रंग उड़ना आदि आदि विकार हुआ करते हैं।

जैसे कि—'मयि सकपटम्' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति।

विमर्श—'व्रीडा' का अभिप्राय चित्त का संकोच है जैसा कि हेमचन्द्राचार्य ने स्पष्ट कहा है—

'अकार्यकरणज्ञानगुरुव्यतिक्रमप्रतिज्ञाभङ्गादेश्चेतः संकोचो व्रीडा।'

(२६—हर्ष)

अथ हर्षः—

हर्षस्त्विष्टावाप्तेर्मनःप्रसादोऽश्रुगद्गदादिकरः ॥ १६५ ॥

यथा—

'समीक्ष्य पुत्रस्य चिरात्पिता मुखं निधानकुम्भस्य यथैव दुर्गतः।
मुदा शरीरे प्रबभूव नात्मनः पयोधिरिन्दूदयमूर्च्छितो यथा ॥'

(२७—असूया)

तथाऽसूया—

असूयान्यगुणर्द्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता ।
दोषोद्घोषभ्रूविभेदावज्ञाक्रोधेङ्गितादिकृत् ॥ १६६ ॥

महाकवि कालिदास का यह व्रीडा-वर्णन बड़ा सुन्दर है—

'दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः।
वीक्ष्य बिम्बमनुबिम्बमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया ॥'

(कुमारसंभव-८. ११)

अनुवाद—हर्ष :—'हर्ष' का अभिप्राय है मन की प्रसन्नता का। यह किसी अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति से संभव है। इसमें आनन्द के आंसू गिरते हैं, गद्गद स्वर निकलता है और इसी प्रकार के अन्य विकार हुआ करते हैं।

उदाहरण के लिये (महाकवि कालिदास के 'रघुवंश' में दिलीप के हर्ष का) यह वर्णन—

'जैसे कोई रंक स्वर्णमुद्राओं से भरा घड़ा देख फूला नहीं समाता अथवा जैसे चन्द्रोदय के होते समुद्र आनन्दोद्रेक में भर उठता है वैसे ही महाराज दिलीप भी, बहुत दिनों की मिन्नतों के बाद पैदा हुये रघु का मुँह देख २ प्रसन्नता से नाच उठे।'

विमर्श—'हर्ष' की यह निरुक्ति है—

'यदिन्द्रियाणि हृष्यन्ति हर्षयन्ति परानपि।
तस्माद्धर्ष इति ज्ञेयः प्रसादो मनसः स हि ॥'

अर्थात् चित्त की प्रसन्नता को 'हर्ष' कहा जाया करता है। इसका उद्भव मनोरथ-लाभ, योग्य-वस्तुसिद्धि, मित्रसङ्गम, देवताप्रसाद, गुरुप्रसाद राजप्रसाद आदि आदि से संभव है। महाकवि माघ का यह हर्ष-वर्णन नारदविषयक श्रीकृष्णनिष्ठ रतिभाव का परिपोषक है—

'युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो
जगन्ति यस्यां सविकाशमासत।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विष—
स्तपोवनाभ्यागमसंभवा मुदः ॥'

अनुवाद—असूया :—'असूया' कहते हैं स्वभाव की उद्धतता के कारण, दूसरे की गुण-समृद्धि के सहन न कर सकने को। इसमें दूसरे के दोष का उद्घोषण किया जाया करता है, भौंहें चढ़ जाया करती हैं, दूसरे को तिरस्कृत किया जाया करता है, क्रोध भरी चेष्टायें होने लगती हैं और इसी भांति के अन्यान्य विकार पैदा हो जाते हैं।

उदाहरण के लिये (महाकवि माघ के 'शिशुपालवध' में शिशुपाल की असूया का) यह वर्णन—

यथा—

'अथ तत्र पाण्डुतनयेन सदसि विहितं मधुद्विषः।
मानमसहत न चेदिपतिः परवृद्धिमत्सरि मनो हि मानिनाम् ॥'
(२८—विषाद)

अथ विषादः—

उपायाभावजन्मा तु विषादः सत्त्वसंक्षयः।
निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ॥ १६७ ॥

यथा मम—

एसा कुडिलघणेन चिउरकडप्पेण तुह णिबद्धा वेणी।
मह सहि दारइ ढंसइ आअसधट्ठिव्व कालउरइव्व हिअअं॥
[एषा कुटिलघनेन चिकुरकलापेन तव निबद्धा वेणी।
मम सखि! दारयति दशति आयसयष्टिरिव कालोरगीव हृदयम् ॥]
(२९—धृति)

अथ धृतिः—

ज्ञानाभीष्टागमाद्यैस्तु संपूर्णस्पृहता धृतिः।
सौहित्यवचनोल्लाससहासप्रतिभादिकृत् ॥ १६८ ॥

'चेदिराज शिशुपाल, राज-सभा में, युधिष्ठिर द्वारा दिये गये कृष्ण के सम्मान को न सह सका और सहे भी क्यों? अभिमानी लोगों का तो यह स्वभाव ही है कि वे दूसरे की बढ़ती से जल उठते हैं।'

विमर्श—'असूया' और परगुण में दोषारोपण एक ही वस्तु है। परसौभाग्य, परसम्पत्ति, परविद्या, परशौर्य आदि के उत्कर्ष के न सह सकने पर परगुण में दोषारोप स्वाभाविक है।

अनुवाद—विषाद:—'विषाद' कहते हैं सत्त्व-संक्षय (पौरुष-हानि) को। अनर्थ के निवारक उपायों के अभाव में यह उत्पन्न हुआ करता है। इसमें निश्वास, उच्छ्वास, चित्त-संताप, सहायान्वेषण आदि आदि हुआ करते हैं।

जैसे कि मेरी स्वरचित सूक्ति में यह विषादवर्णन—

'अरी सखी! तेरे घुंघराले, लम्बे २ केशों की बनी यह वेणी (चोटी) लोहे के डंडे की भांति मेरे हृदय को विदीर्ण कर रही है और काली नागिन सी इसे डंस रही है।'

विमर्श—'विषाद' की व्युत्पत्ति यह है—

'मनसो विविधः सादो विषाद इति कीर्तितः।'

(भावप्रकाशन-२ य अधिकार)

अर्थात् प्रारब्धकार्य के अनिर्वाह, इष्ट की अनाप्ति, विपत्ति, अपराध-परिज्ञान आदि-आदि कारणों से संभूत मानसिक अनुताप का नाम 'विषाद' है। महाकवि कालिदास की यह सूक्ति 'विषाद' का एक सुन्दर चित्र है—

'सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥'

अनुवाद—धृति:—'धृति' कहते हैं इच्छाओं की पूर्ति को और इसके कारण हैं—

यथा मम—

'कृत्वा दीननिपीडनं निजजने बद्ध्वा वचोविग्रहं
नैवालोच्य गरीयसीरपि चिरादामुष्मिकीर्यातनाः।
द्रव्यौघाः परिसंचिताः खलु मया यस्याः कृते सांप्रतं
नीवाराञ्जलिनापि केवलमहो सेयं कृतार्था तनुः॥'

(३०—चपलता)

अथ चपलता—

मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापल्यं त्वनवस्थितिः।
तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः॥ १६९॥

यथा—

'अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग!
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु।
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमालिकायाः॥'

यथार्थ-ज्ञान, अभीष्ट-लाभ आदि-आदि। इसमें तृप्तिसूचक बोलचाल, उल्लास, हास किंवा बुद्धिविकास आदि-आदि विकार हुआ करते हैं।

जैसे कि—मेरी स्वरचित सूक्ति में यह 'धृति'-वर्णन—

'ओह! जिस शरीर के लिये मैंने दीन-दुखियों को सताकर, अपने लोगों से लड़-झगड़ कर और भयंकर नरक-यातनाओं की भी चिन्ता किये बिना वह सब धन संचय किया, वह अब केवल एक मुट्ठी सांवा (श्यामाक) के चावल से ही संतुष्ट है!'

विमर्श—चित्त की निःस्पृहता और इच्छापूर्ति एक ही मनोदशा के दो रूप हैं। 'धृति' में ये दोनों समन्वित हैं। चित्त के ज्ञानसंभूत स्पृहाराहित्य का यह सुंदर उदाहरण है—

'अश्नीमहि वयं भिक्षामाशावासो वसीमहि।
शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः॥'

अनुवाद—चपलता :—'चपलता' का अभिप्राय चित्त की अनवस्था (अस्थिरता) का है। इसके कारण मात्सर्य, द्वेष, राग आदि हैं। इसमें दूसरों की भर्त्सना की जाया करती है, कठोर वचन बोले जाया करते हैं, उच्छृङ्खल आचरण हुआ करता है और इसी भांति के अन्यान्य विकार उत्पन्न हुआ करते हैं।

जैसे कि इस सूक्ति में यह चपलता-वर्णन—

'अरे भ्रमर! (कामुक!) नवमालिका की इस मुग्ध किंवा परागरहित कली (अल्पवयस्का मुग्धा किशोरी) को असमय में क्यों छेड़ता है! अरे! अगर ऐसा ही है तो अनेकों ऐसी पुष्पलतायें (युवतियां) पड़ी हैं जो तेरा उपमर्द (भ्रमर-पक्ष में मधुपान कालीन चरण-प्रहार आदि और उपनायक-पक्ष में संभोगकालीन गाढालिङ्गन आदि) सह लेंगी। जा, जा, उनके साथ अपना लोलुप मन बहला।'

विमर्श—'चापल' अथवा चपलता की इस व्युत्पत्ति से ही इस मनोभाव का स्वरूप पता चल जाता है—

'अयोग्ये चापदार्थे च दुस्स्पृहा चापलं भवेत्।
पलायते चापदार्थे मनस्तच्चापलं भवेत्॥'

(३१—ग्लानि)

अथ ग्लानिः—

रत्यायासमनस्तापक्षुत्पिपासादिसंभवा ।
ग्लानिर्निष्प्राणताकम्पकार्श्यानुत्साहतादिकृत् ॥ १७० ॥

यथा—

'किसलयमिव मुग्धं बन्धनाद्विप्रलूनं
हृदयकुसुमशोषी दारुणो दीर्घशोकः ।
ग्लपयति परिपाण्डु क्षाममस्याः शरीरं
शरदिज इव घर्मः केतकीगर्भपत्रम् ॥'

(३२—चिन्ता)

अथ चिन्ता—

ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् ।

यथा मम—

'कमलेण विअसिएण संजोएन्ती विरोहिणं ससिबिम्बं ।
करअलपल्लत्थमुही किं चिन्तसि सुमुहि अन्तराहिअहिअआ ॥'
[कमलेन विकसितेन संयोजयन्ती विरोधिनं शशिबिम्बम् ।
करतलपर्यस्तमुखी किं चिन्तयसि सुमुखि ! अन्तराहितहृदया ॥]

अनुवाद—ग्लानि :—'ग्लानि' कहते हैं शारीरिक दुर्बलता को जोकि रतिश्रम, अन्यविध परिश्रम, मनस्ताप, भूख, प्यास आदि-आदि से हुआ करती है। इसमें कँपकँपी हुआ करती है, काम करने में जी नहीं लगता और ऐसे ही अन्य उत्पात हुआ करते हैं। जैसे कि (महाकवि भवभूति के उत्तररामचरित में सीता की ग्लानि का) यह वर्णन—

'जैसे आश्विन का आतप केतकी के गर्भ-किसलयों (भीतरी पत्तों) को सुखा देता है वैसे ही दारुण वियोग-शोक सीता-सुन्दरी के हृदय-कुसुम को झुलसा रहा है और उसकी वृन्त-पतित किसलय सरीखी कोमल, दुर्बल और पीली देह-लता को भी जलाता-दिखाई दे रहा है।'

विमर्श—'ग्लानि' का अभिप्राय है शरीर, वाणी और मन के व्यापारों में 'ग्लपन' (दुर्बलता) का (वाङ्मनःकायकर्माणि ग्लानिर्ग्लपयतीति यत्)। 'ग्लानि' और 'निष्प्राणता' एक ही मनोदशा हैं। महाकवि कालिदास की यह सूक्ति व्याधि-जन्य 'ग्लानि' का एक सुन्दर निदर्शन है—

'तस्य पाण्डुवदनाल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना ।
राजयक्ष्मपरिहाणिराययौ कामयानसमवस्थया तुलाम् ॥'

अनुवाद—चिन्ता :—'चिन्ता' कहते हैं ध्यान धरने को और यह अभीष्ट की अप्राप्ति से हुआ करती है। इसमें शून्यता, श्वास, ताप आदि-आदि हुआ करते हैं।

जैसे कि मेरी स्वरचित सूक्ति में यह चिन्ता-वर्णन—

'हे सुमुखि ! अपने हाथों पर अपना मुँह रखकर, मानो खिले कमल से उसके विरोधी चन्द्रमा का मेल करा कर, कहो तो भला ! क्या-क्या मन ही मन सोच-विचार कर रही हो ?'

विमर्श—'चिन्ता' शब्द की निरुक्ति यह है—

'यया चिन्तायतेऽर्थेषु सा चिन्तेत्यभिधीयते।' (भावप्रकाशन : द्वितीय अधिकार)

(३३—तर्क)

अथ तर्कः—

तर्को विचारः संदेहाद् भ्रूशिरोऽङ्गुलिनर्तकः ॥ १७१ ॥

यथा—

'किं रुद्धः प्रियया—' इत्यादि।

(एक रस का स्थायी भाव भी अन्य रस में व्यभिचारी भाव ही है)

एते च त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिभेदा इति यदुक्तं तदुपलक्षणमित्याह—

रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः।

तथाहि—

शृङ्गारेऽनुच्छिद्यमानतयावस्थानाद् रतिरेव स्थायिशब्दवाच्या हासः पुनरुत्पद्यमानो व्यभिचार्येव। व्यभिचारिलक्षणायोगात्।

अर्थात् दारिद्र्य, इष्टनाश, द्रव्यहानि, ऐश्वर्यभ्रंश आदि-आदि कारणों से ध्यान धरने का नाम 'चिन्ता' है। यह चिन्ता 'वितर्क' की जननी है इसलिये 'चिन्ता' और 'वितर्क' भिन्न-भिन्न व्यभिचारीभाव हैं। महाकवि भवभूति के 'मालती-माधव' (१. ४३) में माधव की चिन्ता का यह चित्रण माधव के मालती-विषयक रतिभाव का एक सुन्दर परिपोषण है—

'पश्यामि तामित इतश्च पुरश्च पश्चा-
दन्तर्बहिः परित एव विवर्तमानाम्।
उद्बुद्धमुग्धकनकाब्जनिभं वहन्ती-
मासज्य तिर्यगपवर्तितदृष्टिवक्त्रम्॥'

अनुवाद—तर्कः—'तर्क' का अभिप्राय है संदेह के कारण उत्पन्न विचार का। इसमें भौंहों का सिकुड़ना, सिर हिलना, अङ्गुलियों का उठाना आदि-आदि विकार हुआ करते हैं।

जैसे कि—'किं रुद्धः प्रियया' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में 'तर्क—' वर्णन।

विमर्श—'तर्क' की निरुक्ति यह है—

'तर्क्यते तर्कते तर्को विचारः स्यात्सहेतुकः।'

प्राचीन आलङ्कारिकों ने 'तर्क' के स्थान पर 'वितर्क' को व्यभिचारी भाव माना है। महाकवि भवभूति की यह सूक्ति 'वितर्क' का एक सुन्दर उदाहरण है—

'गमनमलसं शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्ठवं
श्वसितमधिक किन्न्वेतत् स्यात् किमन्यदतोऽथवा।
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनं
ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति च धीरताम्॥'

अनुवाद—अभी-अभी जिन ३३ व्यभिचारीभावों का लक्षण-निरूपण किया गया वह एक उपलक्षण मात्र है। क्योंकि—

एक रस का स्थायीभाव भी अन्य रस में व्यभिचारीभाव ही बन जाया करता है।

तात्पर्य यह है कि यदि 'रति—' भाव को ही लें तो जहाँ तक शृङ्गार रस का प्रश्न है वहाँ तक तो यह स्पष्ट है कि यह स्थायीभाव ही है क्योंकि आरम्भ से अन्त तक धारावाहिक रूप से यही शृङ्गार में विराजमान रहा करता है। वैसे शृङ्गार में 'हास' भाव का भी स्थान है किन्तु यह भाव यहाँ (अविच्छिन्न रूप से अवस्थित नहीं अपि तु) उत्पन्न

तदुक्तम्—

'रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते।' इति।

तत्कस्य स्थायिनः कस्मिन् रसे सञ्चारित्वमित्याह—

शृङ्गारवीरयोर्हासो वीरे क्रोधस्तथा मतः॥ १७२॥

शान्ते जुगुप्सा कथिता व्यभिचारितया पुनः।

इत्याद्यन्यत्समुन्नेयं तथा भावितबुद्धिभिः॥ १७३॥

(स्थायीभाव-निरूपण)

अथ स्थायिभावः—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।

आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः॥ १७४॥

यदुक्तम्—

'स्रक्सूत्रवृत्त्या भावानामन्येषामनुगामकः।
न तिरोधीयते स्थायी तैरसौ पुष्यते परम्॥' इति।

और विलीन होने वाला भाव है और इसलिये इसे यहाँ व्यभिचारीभाव माना जाया करता है क्योंकि उत्पन्न-विलीनता अथवा संचरणशीलता ही तो व्यभिचारिभाव की पहचान है। स्थायीभावों की बात और है और इसीलिये कहा भी गया है—'वही भाव स्थायीभाव हुआ करता है जो रस-पर्यन्त अविच्छिन्न रूप से अवस्थित रहा करता है (रसरूप में अभिव्यक्त हुआ करता है)।'

इसका भी एक नियम है कि कौन स्थायीभाव किस रस में व्यभिचारीभाव बन जाया करता है। रसतत्त्वदर्शी आचार्यों का कथन है कि शृङ्गार और वीर रस में 'हास', वीर में 'क्रोध' और शान्तरस में 'जुगुप्सा' के भाव व्यभिचारी भाव के ही रूप में रहा करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य रसों में अन्य स्थायीभावों की व्यभिचारिता तो काव्य-भावुक स्वयं अपनी-अपनी काव्य-भावना-दृष्टि से देख सकते हैं।

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार ने इन ३३ व्यभिचारी भावों के लक्षण-निरूपण को उपलक्षण मात्र जो कहा है वह एक प्राचीन मान्यता है। काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र ने इस प्राचीन मान्यता का इस प्रकार समर्थन किया है—

'रसलक्षण एव स्थायिस्वरूपे निरूपिते पुनर्निर्देशः क्वचिदेषां (स्थायिभावानां) व्यभिचारित्वख्यापनार्थः। तथा हि विभावभूयिष्ठत्व एषां स्थायित्वम्, अल्पविभावत्वे तु व्यभिचारित्वम्। यथा रावणादावन्योन्यानुरागाभावाद्रतिर्व्यभिचारिणी। यथा गुरौ प्रियतमे परिजने च यथायोगं वीरे शृङ्गारादौ रोषो व्यभिचार्येव। एवं भावान्तरेषु वाच्यम्।'

(काव्यानुशासन २. १८)

अनुवाद—स्थायीभावों का निरूपण किया जा रहा है—

'स्थायीभाव' उस भाव को कहा करते हैं जो कि न तो किसी अनुकूल भाव से तिरोहित हुआ करता है और न किसी प्रतिकूल भाव से ही दबा करता है। यह भाव तो अन्त तक अवस्थित रहने वाला भाव है और इसी में रस के अङ्कुरण (अभिनव किंवा सूक्ष्म उद्भेद) की मूलशक्ति निहित रहा करती है। इसीलिये कहा भी गया है—

'स्थायीभाव तो वह भाव है जिसे अन्य भाव वैसे ही रह-रह कर प्रकाशित किया करते

(स्थायीभावों के प्रकार)

तद्भेदानाह—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च ॥ १७५ ॥

(स्थायीभावों का क्रमशः लक्षण-निरूपण)

तत्र—

रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।
वागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते ॥ १७६ ॥

हैं और परिपुष्ट किया करते हैं जैसे माला के फूल या मोती गुम्फन-सूत्र को प्रकाशित और परिपुष्ट किया करते हैं)।

विमर्श—'स्थायी' का अभिप्राय है 'स्थितिशील' का। रत्यादि ९ भावों के 'स्थायीभाव' होने और कहे जाने का रहस्य यह है जैसा कि निम्न पंक्तियों में प्रतिपादित है—

'ज्ञात एव हि जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति। तथा हि दुःखविद्वेषी सुखास्वादनलालसः सर्वो रिरंसया व्याप्तः, स्वात्मन्युत्कर्षमानितया परमुपहसति, उत्कर्षापायशङ्कया शोचति, अपायं प्रति क्रुध्यति, अपायहेतुपरिहारे समुत्साहने विनिपाताद् बिभेति, किञ्चिदयुक्ततयाभिमन्यमानो जुगुप्सते, तत्तत् स्वपरकर्त्तव्यवैचित्र्यदर्शनाद्विस्मयते, किञ्चिजिहासुस्तत्र वैराग्याच्छमं भजते। न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति। केवलं कस्यचित्काचिदधिका चित्तवृत्तिः काचिदूना। कस्यचिदुचितविषयनियन्त्रिता कस्यचिदन्यथा।' (काव्यानुशासन २. १८)

व्यभिचारीभाव सञ्चरणशील चित्तवृत्तियों को कहा जाता है, इसलिये भी स्थैर्यशील चित्तवृत्तियों को 'स्थायीभाव' कहना आवश्यक है जैसा कि नाट्यदर्पणकार का कथन है—

'प्रतिक्षणमुदयव्ययधर्मकेषु बहुष्वपि व्यभिचारिष्वनुयायितयाऽवश्यं तिष्ठतीति स्थायी। यद्वा तद्भाव एव भावात्, अभावे वा भावाद् रत्यादिर्व्यभिचारिणं ग्लान्यादिकं प्रत्यवश्यं स्थायी। उपचयं प्राप्य रसरूपेण रत्यादिर्भवतीति भावः।'

अनुवाद—स्थायीभावों के ये भेद हैं—

१. रति, २. हास, ३. शोक, ४. क्रोध, ५. उत्साह, ६. भय, ७. जुगुप्सा, ८. विस्मय और ९. शम।

विमर्श—स्थायी भावों के ये ९ भेद नवरसों के भेद के आधार पर निरूपित किये गये हैं। धर्म-अर्थ-काम और मोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति और 'रसानुभूति' में विरोध नहीं, इसलिये ९ रसों और उनके ९ स्थायी भावों का सम्बन्ध पुरुषार्थ चतुष्टय के साथ सिद्ध किया गया है। कुछ आचार्य 'निर्वेद' को ९ वाँ स्थायी भाव मानते हैं और कुछ 'शम' को। 'शम' और 'निर्वेद' सम्बन्धी मतभेद का निर्देश आगे किया जायगा।

अनुवाद—स्थायी भावों का स्वरूप विवेक यह है—

प्रिय वस्तु के प्रति हृदय की उत्कट उन्मुखता (प्रेमार्द्रता) को (१) 'रति' कहा करते हैं। (२) 'हास' का अभिप्राय वाणी आदि की विकृतियों के दर्शन अथवा चिन्तन से संभूत चित्तविकास का है। प्रियवस्तु के नाश से उत्पन्न चित्त की विक्लवता (बेचैनी) का नाम

इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक् ।
प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते ॥ १७७ ॥
कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते ।
रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यं भयम् ॥ १७८ ॥
दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विस्मयोद्भवा ।
विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ॥ १७९ ॥
विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः ।
शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम् ॥ १८० ॥

यथा मालतीमाधवे रतिः। लटकमेलके हासः। रामायणे शोकः। महाभारते शमः। एवमन्यत्रापि। एते ह्येतेष्वन्तरा उत्पद्यमानैस्तैस्तैर्विरुद्धैश्च भावैरनुच्छिन्नाः प्रत्युत परिपुष्टा एव सहृदयानुभवसिद्धाः।

(३) 'शोक' है। (४) 'क्रोध' कहते हैं विरोधियों के प्रति हृदय में उत्पन्न तीव्रता (प्रतिशोध-भावना) को। कार्यों के आरम्भ में स्थैर्यशाली जो हृदय का आवेश अथवा उद्योग है वही (५) 'उत्साह' है। किसी भीषण वस्तु की विभीषिका-शक्ति से उत्पन्न चित्त के वैकल्य का नाम (६) 'भय' है। (७) 'जुगुप्सा' का अभिप्राय है किसी घृणास्पद वस्तु के दोष-दर्शन आदि-आदि से उत्पन्न अथवा विस्मय-जनित घृणाभाव का। नानाविध अलौकिक पदार्थों के दर्शनादि से संभूत चित्त का विस्तार ही (८) विस्मय है। और जिसे (९) 'शम' कहते हैं उसका अभिप्राय है निस्पृहता की दशा में संभूत अन्तःकरण की अन्तर्मुखता को।

उदाहरण के लिये 'मालती-माधव' में 'रति', लटकमेलक' में 'हास', रामायण' में 'शोक' और 'महाभारत' में 'शम' स्थायी भाव के रूप में ही अभिव्यक्त हुये हैं। इसी भाँति अन्य स्थायी भावों की अन्यत्र अभिव्यक्ति है। इन उपर्युक्त काव्य-नाटक-प्रबन्धों में इन २ भावों के स्थायी भाव होने का यही अभिप्राय है कि अनेकों अनुकूल अथवा प्रतिकूल भावों के द्वारा, जो कि इनके बीच-बीच में उत्पन्न हुआ करते हैं, इनका उच्छेद नहीं हुआ करता, अपि तु, जैसा कि सहृदय सामाजिक का अनुभव है, सर्वथा परिपोष ही हुआ करता है।

विमर्श—रत्यादि नव स्थायी भावों का संक्षिप्त लक्षण यह है—

१. रति—स्त्रीपुंसयोरास्थाबन्धापरपर्यायोऽन्योन्यमभिष्वङ्गो रतिः।
२. हास—रञ्जनोन्मादनुविद्धश्चित्तस्य विकासो हासः।
३. शोक—निर्वेदानुविद्धं दुःखं शोकः।
४. क्रोध—अपचिकीर्षा-जुगुप्साहेतुः परितापावेशः क्रोधः।
५. धर्म-दान-युद्धादिकर्मण्यनालस्यमुत्साहः।
६. वैक्लव्यं भयम्।
७. कुत्सितत्वाध्यवसायो जुगुप्सा।
८. उत्कृष्टत्वावसायो विस्मयः।
९. निःस्पृहत्वं शमः।

(भाव : सामान्यलक्षण)

किं च—

नानाभिनयसंबन्धान् भावयन्ति रसान् यतः।
तस्माद्भावा अमी प्रोक्ताः स्थायिसंचारिसात्त्विकाः ॥१८१॥

यदुक्तम्—

'सुखदुःखादिभिर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम् ।'

(रसभेद-संख्यान)

अथ रसस्य भेदानाह—

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः ॥ १८२ ॥

अनुवाद—स्थायी, व्यभिचारी और सात्त्विक चित्तवृत्तियों आदि को जो 'भाव' कहा जाया करता है वह इसीलिये, क्योंकि ये ही वे तत्त्व हैं जिनसे उन-उन अभिनयों से सम्बद्ध रसों की भावना (रसना-आस्वादात्मक अनुभूति) हुआ करती है (भावयन्ति इति भावाः । रसानिति शेषः) । इसीलिये ऐसा कहा भी गया है—

सुख (शम) दुःख (शोक) आदि से सहृदय हृदय जो भावित अथवा वासित (तन्मयीभूत) हुआ करता है, इसीलिये सुख (शम) दुःख (शोक) आदि को 'भाव' कहा जाया करता है ।

विमर्श—रत्यादि चित्तवृत्तियों के 'भाव' कहे जाने का रहस्य 'भावप्रकाशन' (१ म अधिकार) की निम्न पंक्तिओं में स्पष्ट है—

'यथाक्रमं भवेत् क्वापि यथौचित्यं क्वचिद् भवेत् ।
भावः स्याद् भावनं भूतिरथ भावयतीति वा ॥
पदार्थो वा क्रिया सत्ता विकारो मानसोऽथवा ।
विभावाश्चानुभावाश्च स्थायिनो व्यभिचारिणः ॥
सात्त्विकाश्चेति कथ्यन्ते भावभेदाश्च पञ्चधा ।
अर्थान् विभावयन्तीति विभावाः परिकीर्तिताः ॥
विभावितार्थानुभूतिरनुभाव इति स्मृतः ।
अवस्थिताश्चिरं चित्ते सम्बन्धाच्चानुबन्धिभिः ॥
वर्धिता ये रसात्मानस्ते स्मृताः स्थायिनो बुधैः ।
अनवस्थितजन्मानो भूयोभूयः स्वभावतः ॥
स्थायिना रसनिष्पत्तौ चरन्तो व्यभिचारिणः ।
सत्त्वजा ये विकाराः स्युः स्वीयास्वीयविभागतः ॥
त एव सात्त्विका भावा इति विद्वद्भिरुच्यते ।

अनुवाद—(उपर्युक्त ९ स्थायीभावों के पूर्णाभिव्यञ्जनरूप) जो रस हैं वे भी ९ ही हैं । जैसे कि—

१. शृङ्गार, २. हास्य, ३. करुण, ४. रौद्र, ५. वीर, ६. भयानक, ७. बीभत्स, ८. अद्भुत, और ९. शान्त ।

विमर्श—रसों की इयत्ता का अवधारण रस की पुरुषार्थचतुष्टय के प्रति उपयोगिता और

(१—श्रृङ्गार : स्वरूप-निरूपण)

तत्र श्रृङ्गारः—

> श्रृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः ।
> उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः श्रृङ्गार इष्यते ॥ १८३ ॥
> परोढां वर्जयित्वा तु वेश्यां चाननुरागिणीम् ।
> आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः ॥ १८४ ॥
> चन्द्रचन्दनरोलम्बरुताद्युद्दीपनं मतम् ।
> भ्रूविक्षेपकटाक्षादिरनुभावः प्रकीर्तितः ॥ १८५ ॥
> त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्साव्यभिचारिणः ।
> स्थायिभावो रतिः श्यामवर्णोऽयं विष्णुदैवतः ॥

यथा—

'शून्यं वासगृहम्—' इत्यादि। अत्रोक्तस्वरूपः पतिः, उक्तस्वरूपा च बाला

रञ्जनाधिकता की ही दृष्टि से किया गया है। इसी दृष्टि से इनका पूर्वापर-भाव भी निर्धारित हुआ है जैसा कि काव्यानुशासनकार की इन पंक्तियों से पता चलता है—

'तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयाऽत्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रति हृद्यतेति पूर्वं श्रृङ्गारः। तदनुगामी च हास्यः। निरपेक्षभावत्वात्तद्विपरीतस्ततः करुणः। ततस्तन्निमित्तमर्थप्रधानो रौद्रः। ततः कामार्थयोर्धर्ममूलत्वाद्धर्मप्रधानो वीरः। तस्य भीताभयप्रदानसारत्वादनन्तरं भयानकः। तद्विभावसाधारण्यसंभावनात्ततो बीभत्सः। इतीयद्वीरेणाक्षिप्तम्। वीरस्य पर्यन्तेऽद्भुतः फलमित्यनन्तरं तदुपादानम्। ततस्त्रिवर्गात्मकप्रवृत्तिधर्मविपरीतनिवृत्तिधर्मात्मको मोक्षफलः शान्तः। एते नवैव परस्परासङ्कीर्णा रसाः। तेनार्द्रता स्थायिकः स्नेहो रस इत्यसत्। तस्य रत्यादावन्तर्भावात्। तथा हि-यूनो मित्रे स्नेहो रतौ, लक्ष्मणादेर्भ्रातरि स्नेहो धर्मवीरे, बालस्य मातापित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्तः। एवं वृद्धस्य पुत्रादाविति द्रष्टव्यम्। तथा गर्धस्थायिकस्य लौल्यरसस्य हासे वा रतौ वाऽन्यत्र वाऽन्तर्भावो वाच्यः। एवं भक्तावपि वाच्यम्' (काव्यानुशासन २. २७)।

अनुवाद—'श्रृङ्गाररस' का स्वरूप 'श्रृङ्गार' शब्द की व्युत्पत्ति ('श्रृङ्गं ऋच्छति' इति श्रृङ्गारः) से ही स्पष्ट हो जाता है। 'श्रृङ्ग' का अभिप्राय है (कामुक-युगल के उत्पीडक) कामाविर्भाव का और 'श्रृङ्गार' का अभिप्राय है उसका जो 'इस प्रकार के कामोद्भेद से संभूत हो'। इस रस के आलम्बन प्रायः उत्तम प्रकृति के ही प्रेमीजन हुआ करते हैं। अर्थात् परकीया किंवा अनुरागशून्य वेश्या-नायिका को छोड़कर अन्य प्रकार की नायिकाएँ तथा दक्षिण आदि प्रकार के नायक ही इसके उपयुक्त 'आलम्बन' विभाव हैं। इसके 'उद्दीपन' विभाव हैं—चन्द्र-चन्द्रिका, चन्दनानुलेपन, भ्रमर-झङ्कार आदि-आदि। इसके अनुभाव प्रेम-पगे भृकुटि-भङ्ग, कटाक्ष आदि-आदि हैं। औग्र्य, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को छोड़ कर सभी व्यभिचारी भाव इसके परिपोषक हुआ करते हैं। 'रति' इसका स्थायी भाव है। इसका वर्ण श्याम है और इसके अभिमानिदेव विष्णु भगवान् हैं।

उदाहरण के लिये 'शून्यं वासगृहम्' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति पर्याप्त है। इस सूक्ति में

आलम्बनविभावौ। शून्यं वासगृहमुद्दीपनविभावः। चुम्बनमनुभावः। लज्जाहासौ व्यभिचारिणौ। एतैरभिव्यक्तः सहृदयविषयो रतिभावः शृङ्गाररसरूपतां भजते।

जिस 'रति' की पूर्णाभिव्यक्ति है उसका आलम्बन विभाव वह प्रेमी जोड़ा है जिसका व्यक्तित्व यहाँ अत्यन्त सुन्दर रूप से चित्रित किया हुआ है। 'शून्य वासगृह' के रूप में उद्दीपन विभाव स्पष्ट विराजमान है। यहाँ अनुभाव की वर्णना चुम्बन के चित्रण में की हुई है। लज्जा और हास के भाव व्यभिचारी भाव हैं। इस विभावादिवर्णना से सहृदय-हृदय में रतिभाव अभिव्यक्त हो रहा है और यही अभिव्यक्त रतिभाव 'शृङ्गार रस' का रूप है।

विमर्श—(क) 'रति' की ६ उत्तरोत्तर विकासावस्था मानी गयी हैं—

१. प्रेम—'स प्रेमा भेदरहित यूनोर्यद्भावबन्धनम्।'
२. मान—'यत्तु प्रेमानुबन्धेन स्वातन्त्र्याद्धृदयङ्गमम्।
बध्नाति भावकौटिल्यं सोऽयं मान इतीर्यते॥
३. प्रणय—बाह्यान्तरोपचारैर्यत् प्रेम मानोपकल्पितैः।
बध्नाति भावविस्रम्भं सोऽयं प्रणय उच्यते॥
४. स्नेह—विस्रम्भे परमां काष्ठामारूढे दर्शनादिभिः।
यत्र द्रवत्यन्तरङ्गं स स्नेह इति कथ्यते॥
५. राग—'दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव रज्यते।
येन स्नेहप्रकर्षेण स राग इति गीयते॥'
६. अनुराग—'राग एव स्वसंवेद्यदशां प्राप्याप्रकाशितः।
यावदाश्रयवृत्तिश्चेदनुराग इतीरितः॥'

'रति' का ही उत्तरोत्तर यह विकास 'शृङ्ग' शब्द का निर्देश है और इसी 'शृङ्ग' अथवा उत्तरोत्तर विकसित रतिभाव का अभिव्यङ्ग्य सम्पूर्ण स्वरूप 'शृङ्गार' रस है।

(ख) 'रति' अथवा स्त्री-पुरुष का परस्परास्थाबन्ध, जो कि शृङ्गार रूप आस्वाद हुआ करता है, भावप्रकाशन (४ र्थ अधिकार) की इन पंक्तियों में और भी अधिक स्पष्ट रूप से प्रकाशित है—

परस्परस्वसंवेद्यसुखसम्वेदनात्मिका।
याऽनुभूतिर्मिथः सैव रतिर्यूनोः सरागयोः॥
सम्पन्नैश्वर्यसुखयोरशेषगुणयुक्तयोः।
नवयौवनयोः श्लाघ्यप्रकृत्योः श्रेष्ठरूपयोः॥
नारीपुरुषयोस्तुल्या परस्परविभाविका।
स्पृहाह्वया चित्तवृत्ती रतिरित्यभिधीयते॥
रतिरिच्छा भवेद् यूनोरुभयप्रार्थनात्मिका।
यूनोः परस्पराह्लादरहोविस्रम्भकारिका॥
सुखात्मिका मनोवृत्ती रतिरित्यभिधीयते।
आलापलीलोपचारचेष्टादृष्टिविलोकनैः॥
अन्योन्यभोग्यधीरेव रहः स्त्रीपुंसयो रतिः।
इयमङ्कुरिता प्रेम्णा मानात् पल्लविता पुनः॥
सकोरका प्रणयतः स्नेहात्कुसुमिता भवेत्।

(शृङ्गार के भेद : १ विप्रलम्भ और २ संभोग)

तद्भेदावाह—

विप्रलम्भोऽथ संभोग इत्येष द्विविधो मतः ॥ १८६ ॥

तत्र—

यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ ।

अभीष्टं नायकं नायिकां वा ।

स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात् ॥ १८७ ॥

(१—विप्रलम्भ शृङ्गार :—स्वरूप और प्रकार—निरूपण : प्रथम भेद-पूर्वराग)

तत्र—

श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथः संरूढरागयोः ।

रागात् फलवती चेयमनुरागेण भुज्यते ॥

(ग) शृङ्गार के अधिदैवत को 'विष्णु' मानने का यह अभिप्राय है—

'आभिरूप्यमधिष्ठानं शृङ्गारस्य यतो भवेत् ।
अभिरूपोत्तमो विष्णुस्तस्मादस्याधिदैवतम् ॥'

अनुवाद— शृङ्गार के भेदों का निरूपण किया जा रहा है—

प्रथमतः यह शृङ्गार दो प्रकार का है—पहला विप्रलम्भ और दूसरा संभोग ।

पहला अर्थात् 'विप्रलम्भ' तो वह शृङ्गार-भेद है जिसमें नायक-नायिका का परस्परानुराग तो प्रगाढ हुआ करता है किन्तु परस्पर मिलन नहीं होने पाता ।

यहाँ 'अभीष्ट' का अभिप्राय है (नायिका की दृष्टि से) नायक का और (नायक की दृष्टि से) नायिका का ।

यह 'विप्रलम्भ'—शृङ्गार भी चार प्रकार का हुआ करता है । (१) पूर्वराग-विप्रलम्भ, (२) मान-विप्रलम्भ (३) प्रवास-विप्रलम्भ और (४) करुण—विप्रलम्भ ।

विमर्श—'विप्रलम्भ' की निरुक्ति यह है—

'संभोगसुखास्वादलोभेन विशेषेण प्रलभ्यते आत्माऽत्रेति विप्रलम्भः ।'

(काव्यानुशासन २. ३०)

तात्पर्य यह है कि नायक-नायिका के परस्परानुराग में मिलन-नैराश्य ही 'विप्रलम्भ' है । नाट्यदर्पणकार ने इसीलिये कहा है—

'परस्परानुरक्तयोरपि विलासिनोः पारतन्त्र्यादेरघटनं चित्तविश्लेषो वा विप्रलम्भः ।'

'विप्रलम्भ' और 'संभोग' दोनों रतिप्रकर्ष के अवस्थाभेद हैं जिनका संवलितस्वभाव शृङ्गाररस का स्वरूप है । जैसा कि कहा भी गया है—

'एतौ (विप्रलम्भसंभोगौ) द्वावप्यवस्थाविशेषावात्मा स्वभावो यस्यावस्थातुर्दशाद्वयानुयायिन आस्थाबन्धात्मकरतिप्रकर्षरूपस्य शृङ्गारस्य, तेन शृङ्गारस्य नेमौ भेदौ गोत्वस्येव शाबलेयबाहुलेयावपि तु सम्भोगेऽपि विप्रलम्भसम्भावनासद्भावाद् विप्रलम्भेऽपि मनसा संभोगानुवेधादुभयसंवलितस्वभावः शृङ्गारः । उत्कटत्वाच्चैकदेशेऽपि संभोगशृङ्गारो विप्रलम्भशृंगार इति चोपचारेणोच्यते । अवस्थाद्वयमीलननिबन्धने च सातिशयश्चमत्कारः ।'

(नाट्यदर्पण : तृतीय विवेक)

अनुवाद—पूर्वराग-विप्रलम्भ :—'पूर्वराग' का अभिप्राय है रूप-सौन्दर्य आदि के

दशाविशेषो योऽप्राप्तौ पूर्वरागः स उच्यते ॥ १८८ ॥
श्रवणं तु भवेत्तत्र दूतवन्दीसखीमुखात् ।
इन्द्रजाले च चित्रे च साक्षात्स्वप्ने च दर्शनम् ॥ १८९ ॥
अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च ।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ॥१९०॥
अभिलाषः स्पृहा चिन्ता प्राप्त्युपायादिचिन्तनम् ।
उन्मादश्चापरिच्छेदश्चेतनाचेतनष्वपि ॥ १९१ ॥
अलक्ष्यवाक्प्रलापः स्याच्चेतसो भ्रमणाद् भृशम् ।
व्याधिस्तु दीर्घनिःश्वासपाण्डुताकृशतादयः ॥ १९२ ॥
जडता हीनचेष्टत्वमङ्गानां मनसस्तथा ।

शेषं स्पष्टम् ।

(अभिलाष-दशा का पूर्वराग-विप्रलम्भ)

क्रमेणोदाहरणानि—

'प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि ।
यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा-
दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः ॥'

श्रवण अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका की उस दशा का जो कि उनके समागम के पहले की दशा हुआ करती है। रूप-सौन्दर्यादि का श्रवण तो दूत, वन्दी, सखी आदि के मुख से संभव है और दर्शन संभव है इन्द्रजाल में, चित्र में, स्वप्न में अथवा साक्षात्। इसमें दस कामदशायें संभव हैं (१) अभिलाष, (२) चिन्ता, (३) स्मृति, (४) गुणकथन, (५) उद्वेग, (६) संप्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जडता और (१०) मृति (मरण)। इनमें 'अभिलाष' का अभिप्राय है नायक और नायिका की पारस्परिक स्पृहा का और चिन्ता का अभिप्राय है परस्पर प्राप्ति के उपायों के चिन्तन का। 'उन्माद' कहते हैं जड़-चेतन में विवेक न कर पाने को। 'प्रलाप' का तात्पर्य है अटपटी बातचीत का जोकि मन के बहक जाने से स्वाभाविक ही है। दीर्घ निश्वास, पाण्डुता, कृशता आदि-आदि का नाम 'व्याधि' है और जिसे 'जडता' कहा गया है वह शारीरिक किं वा मानसिक निश्चेष्टता है।

इन दशाओं के अतिरिक्त और जो दशायें हैं जैसे कि स्मृति आदि वे तो स्वयं स्पष्ट हैं।

इनके उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं—

'ओह ! क्या ही अच्छा होता कि उस भोली चितवनवाली सुन्दरी की वे प्रेम-पगी, प्रणय भरी किं वा क्रमशः प्रगाढ़ अनुराग से सनी स्वभाव-रमणीय श्रृंगार-चेष्टायें पुनः मुझे अपना लक्ष्य बनातीं। ओह ! जब भी मेरा मन उनकी ओर लग जाता है तब पता

अत्र मालतीसाक्षाद्दर्शनप्ररूढरागस्य माधवस्याभिलाषः।

(चिन्ता-दशा का पूर्वराग-विप्रलम्भ)

'कथमीक्षे कुरङ्गाक्षीं साक्षाल्लक्ष्मीं मनोभुवः।
इति चिन्ताकुलः कान्तो निद्रां नैति निशीथिनीम्॥'

अत्र कस्याश्चिन्नायिकाया इन्द्रजालदर्शनप्ररूढरागस्य नायकस्य चिन्ता। इदं मम।

(स्मृति-दशा का पूर्वराग-विप्रलम्भ)

'मयि सकपटम्'—इत्यादौ नायकस्य स्मृतिः।

(गुणकथन की कामदशा में पूर्वराग-विप्रलम्भ)

'नेत्रे खञ्जन-गञ्जने'—इत्यादौ गुणकथनम्।

(उद्वेग-दशा में पूर्वराग-विप्रलम्भ)

'श्वासान्मुञ्चति'—इत्यादौ उद्वेगः।

(प्रलाप-दशा में पूर्वराग-विप्रलम्भ)

'त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत।
क्व नीलकण्ठ! व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना॥'

अत्र प्रलापः।

(उन्माद-दशा में पूर्वराग-विप्रलम्भ)

'भ्रातर्द्विरेफ'—इत्यादौ उन्मादः।

नहीं मेरा हृदय, क्योंकर एक सान्द्र आनन्द में लीन होने लगता है और मेरी सभी इन्द्रियाँ अपना-अपना व्यापार रोके अन्तर्मुखी बन जाया करती हैं।

यहाँ (महाकवि भवभूति के 'मालती-माधव' की इस सूक्ति में) 'मालती' के साक्षात् दर्शन से, उसपर अत्यन्तानुरक्त 'माधव' की अभिलाष-दशा का अभिव्यञ्जन है (जिसमें पूर्वराग-विप्रलम्भ का अनुभव स्पष्ट है)।

अथवा 'प्रणयी युवा को नींद नहीं आती। उसकी सारी रात इसी चिन्ता में बीत रही है कि कैसे वह अपनी मृगनयनी प्रिया को—अपनी साक्षात् कामलक्ष्मी को—देख पाय!'

यहाँ इन्द्रजाल में नायिका का दर्शन करनेवाला नायक की प्ररूढ रति-भावना का अभिव्यञ्जन है जिसमें चिन्ता-दशा की झलक स्पष्ट है यह रचना मेरी (कविराज विश्वनाथ की) अपनी रचना है।

अथवा जैसे कि 'मयि सकपटम्' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति, यहाँ नायक की स्मृति-दशा अंकित की गई है।

अथवा जैसे कि 'नेत्रे खञ्जनगञ्जने' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति, यहाँ गुणकथन-दशा का स्पष्टाङ्कन है।

अथवा जैसे कि 'श्वासान् मुञ्चति' आदि पूर्वोदाहृत सूक्ति, यहाँ उद्वेग-दशा का चित्रण है।

अथवा जैसे कि—(महाकविकालिदास के कुमारसंभव में पार्वती के) प्रलाप का यह वर्णन—

'रात के पिछले पहर में थोड़ी देर के लिये आँख झंपाती पार्वती 'मेरे नीलकण्ठ! तुम कहाँ हो' की बड़बड़ाहट के साथ कल्पना-शिव के गले में अपनी भुजलता डाल जग पड़ती रही।'

अथवा जैसे कि पूर्वोद्धृत 'भ्रातर्द्विरेफ' आदि सूक्ति में उन्माद-वर्णन।

(व्याधि-दशा में पूर्वराग-विप्रलम्भ)

'पाण्डु क्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि ! हृदन्तः ॥'

अत्र व्याधिः—

(जडता-दशा में पूर्वराग-विप्रलम्भ)

'भिसणीअलसअणीए निहिअं सव्वं सुणिच्चलं अङ्गं ।
दीहो णीसासहरो एसो साहेइ जीअइत्ति परं ॥'
(विसिनीदलशयनीये निहितं सर्वं सुनिश्चलमङ्गम् ।
दीर्घो निश्वासभर एष साधयति जीवति इति परम् ॥)

अत्र जडता । इदं मम ।

(विप्रलम्भश्रृङ्गार में वर्जित कामदशायें)

रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते ॥ १९३ ॥
जातप्रायं तु तद्वाच्यं चेतसाकाङ्क्षितं तथा ।
वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवनं स्याददूरतः ॥ १९४ ॥

अथवा 'अरी सखी ! तेरा यह पीला मुरझाया चेहरा, रसभरा हृदय और ढीली-ढाली देह-सब कुछ यही सूचित कर रहे हैं कि तेरे हृदय में कोई अत्यन्त असाध्य रोग आ घुसा है ।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि व्याधि की दशा चित्रित की हुई है ।

अथवा 'इसका शरीर कमलदल की शय्या पर पड़ा हुआ अत्यन्त निश्चल लग रहा है । बस, लम्बी-लम्बी साँसें ही बता रही हैं कि यह अभी भी जीवित है ।'

यहाँ 'जडता' की दशा का चित्रण है । यह सूक्ति मेरी (साहित्यदर्पणकार की) अपनी रचना है ।

विमर्श—(क) संस्कृत काव्य-नाट्य-साहित्य में पूर्वराग-विप्रलम्भ का अनेकधा प्रकाशन हुआ है । पूर्वराग के अनेकों कारण उपनिबद्ध किये गये हैं । जिनमें श्रवण, प्रत्यक्षदर्शन, चित्र-दर्शन, स्वप्नदर्शन, दैवपारतन्त्र्य, मानुष-पारतन्त्र्य आदि-आदि के निदर्शन अधिकाधिक उपलब्ध होते हैं । जैसे कि दैवपारतन्त्र्य से संभूत पूर्वराग का कालिदासकृत यह अभिव्यञ्जन—

'शैलात्मजापि पितुरुच्छिरसोऽभिलाषं
व्यर्थं समीक्ष्य ललितं वपुरात्मनश्च ।
सख्योः समक्षमिति चाधिकजातलज्जा
शून्या जगाम भवनाभिमुखी कथञ्चित् ॥'

(ख) 'पूर्वराग' की कामावस्थाओं का निर्धारण एक प्राचीन आचार्य-परम्परा है । वस्तुतः बात यह है कि इसकी दशाओं का निर्धारण नहीं किया जा सकता, जैसा कि कहा भी गया है—

'एतस्मिन्नभिलाषादि मरणान्तमनेकधा ।
तत्तत्सञ्चारिभावानामुत्कटत्वाद्दशा भवेत् ॥
तथापि प्राक्तनैरस्या दशावस्था समासतः ।
(रसार्णवसुधाकर २ य विलास)

अनुवाद—विप्रलम्भ श्रृङ्गार में 'मरण' का वर्णन निषिद्ध है क्योंकि इससे रस विच्छिन्न हो जाता है । किन्तु यदि इसका वर्णन किया भी जाय तो केवल दो प्रकारों से ही किया जा सकता है—१. मरणासन्न दशा के रूप में और २. मरण की हार्दिक अभिलाषा

तत्राद्यं यथा—

'शेफालिकां विदलितामवलोक्य तन्वी
प्राणान् कथंचिदपि धारयितुं प्रभूता।
आकर्ण्य संप्रति रुतं चरणायुधानां
किं वा भविष्यति न वेद्मि तपस्विनी सा ॥'

द्वितीयं यथा—

'रोलम्बाः परिपूरयन्तु हरितो झङ्कारकोलाहलै-
र्मन्दं मन्दमुपैतु चन्दनवनीजातो नभस्वानपि।
माद्यन्तः कलयन्तु चूतशिखरे केलीपिकाः पञ्चमं
प्राणाः सत्वरमश्मसारकठिना गच्छन्तु गच्छन्त्वमी ॥'

ममैतौ।

तृतीयं यथा—

कादम्बर्यां महाश्वेतापुण्डरीकवृत्ता। एष च प्रकारः करुणविप्रलम्भविषय इति वक्ष्यामः।

केचित्तु—

के रूप में। वैसे इस ढंग से कि मर कर भी शीघ्र पुनर्जीवन मिल जाय, यहाँ मरण का वर्णन किया भी जा सकता है।

उदाहरण के लिये (१) 'मरणासन्नता' के रूप में मरण का वर्णन—

'अरे प्रेमी युवा! तुम्हारी प्रेमिका-सुन्दरी का हाल क्या बताऊँ! जब उसने खिले हुये शेफालिका-सुमनों (हरसिंगार के फूलों) को देखा, बड़ी कठिनता से प्राण धारण किया। किन्तु इस समय 'कुक्कुट-ध्वनि (मुर्गों की आवाज, प्रातःकाल की सूचक ध्वनि) को सुनकर, कह नहीं सकती, उस पर क्या बीती होगी!'

[यहाँ विरह-व्यथा की असह्यता में प्रेमिका की मरणासन्नता का जो वर्णन है वह विप्रलम्भ श्रृङ्गार को और भी सरस बना रहा है।]

अथवा

(२) मरण की हार्दिक अभिलाषा के रूप में मरण का वर्णन—

'भ्रमर अपनी मधुर झंकारों से दिशाओं को भर दें, मलयानिल के मन्द-मन्द झोंके चतुर्दिक् चलते दिखाई पड़ें, आम्रमञ्जरियों के सौरभ से मत्त वनी कोयलें पञ्चम स्वर में कूक उठें और पत्थर से भी कड़े मेरे प्राण, जितनी जल्दी हो, मुझे छोड़कर विदा हो जांय।'

ये दोनों सूक्तियाँ मेरी स्वरचित सूक्तियाँ हैं।

(३) मरकर शीघ्र पुनरुज्जीवन के रूप में मरण का वर्णन—जैसे कि (महाकवि बाण की) कादम्बरी में महाश्वेता और पुण्डरीक के वृत्तान्त में, पुण्डरीक का मरण-वर्णन। यह अन्तिम प्रकार का मरण-वर्णन पूर्वराग-विप्रलम्भ में नहीं हुआ करता। इसका उचित स्थान करुण-विप्रलम्भ में है और आगे (करुण-विप्रलम्भ के प्रसंग में) निर्दिष्ट भी कर दिया जायगा।

कतिपय काव्याचार्य पूर्वोक्त कामदशाओं के बदले निम्न-निर्दिष्ट कामदशायें माना करते हैं—

'नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ संकल्पः ।
निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः ॥
उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः ।' इत्याहुः ।

तत्र च—

आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः ।

इङ्गितान्युक्तानि । यथा रत्नावल्यां सागरिकावत्सराजयोः । आदौ पुरुषानुरागे संभवत्यप्येवमधिकं हृदयङ्गमं भवति ।

नीली कुसुम्भं मञ्जिष्ठा पूर्वरागोऽपि च त्रिधा ॥ १९५ ॥

तत्र—

न चातिशोभते यन्नापैति प्रेम मनोगतम् ।
तन्नीलीरागमाख्यातं यथा श्रीरामसीतयोः ॥ १९६ ॥
कुसुम्भरागं तत्प्राहुर्यदपैति च शोभते ।

---

(१) नयनप्रीति (तारा मैत्रक—एक दूसरे के देखते ही अनुरक्ति), (२) चित्त की आसक्ति (चित्तासंग), (३) संकल्प (मिलन-कामना), (४) निद्राच्छेद, (५) तनुता, (६) विषय-निवृत्ति, (७) त्रपानाश, (८) उन्माद, (९) मूर्च्छा और (१०) (मरण)।

पूर्वराग-विप्रलम्भ के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि पहले तो नायिका का अनुराग वर्णित किया जाय और बाद में उसकी चेष्टाओं से प्रभावित हुए नायक का अनुराग।

ये इङ्गित अथवा चेष्टायें कौन-कौन हैं—इसका तो पहले ही निर्देश कर दिया गया है। नायिका के इङ्गित-दर्शन से नायक के अनुराग का उदाहरण 'रत्नावली' नाटिका में देखा जाय, जहाँ वत्सराज, सागरिका की अनुराग-भरी चेष्टाओं के कारण उस पर अनुरक्त चित्रित किये गये हैं। यद्यपि यह ठीक है कि नायिका के अनुरक्त होने के पहले ही, उस पर, नायक अनुरक्त हो जाय, किन्तु यदि नायिका का अनुराग पहले हो जाय तो ऐसे 'पूर्वराग' का अभिव्यंजन बहुत ही रमणीय और हृदयस्पर्शी हुआ करता है।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि 'पूर्वराग' भी तीन प्रकार का हुआ करता है—(१) नीली-राग, (२) कुसुम्भ-राग और (३) मञ्जिष्ठा-राग।

पहला अर्थात् नीलीराग—
जो अनुराग बाहरी दिखावे में नहीं दिखायी पड़ता किन्तु हृदय में कूट-कूट भरा रहता है वह 'नीली-राग' कहा जाया करता है। राम और सीता का अनुराग 'नीली-राग' का एक सुन्दर निदर्शन है।

दूसरा अर्थात् कुसुम्भ-राग—
जो अनुराग बाहरी चमक-दमक तो रखता हो किन्तु हृदय से हट जाय, वह 'कुसुम्भ-राग' माना जाया करता है।

मञ्जिष्ठारागमाहुस्तद् यन्नापैत्यतिशोभते ॥ १९७ ॥

तीसरा अर्थात् मञ्जिष्ठा-राग—

'मञ्जिष्ठा-राग' उस अनुराग को कहते हैं जो हृदय में भी हो और बाहरी दिखावे में भी आय।

विमर्श—(क) पूर्वराग-विप्रलम्भ में मरण-वर्णन निषिद्ध माना गया है। भाव-प्रकाशनकार ने अमंगल की दृष्टि से मरण-वर्णन का निषेध किया है—

'आस्ववस्थासु विहितैः प्रतीकारैः समागमः।
न भवेद् यदि कामाग्निदग्धयोर्मरणं भवेत्॥
अमंगलं स्यान्मरणमिति यूनोर्न कल्प्यते।'

(भावप्रकाशन—चतुर्थ अधिकार)

किन्तु जिस दृष्टि से यहाँ मरण-वर्णन सम्भव है वह है मरणोद्योग वर्णन की दृष्टि, जैसा कि श्रीशिङ्ग-भूपाल की इन पंक्तिओं से स्पष्ट है—

'तैस्तैः कृतैः प्रतीकारैर्यदि न स्यात् समागमः।
अतः स्यान्मरणोद्योगः कामाग्नेस्तत्र विक्रमाः॥
लीलाशुकचकोरादिन्यासः स्निग्धसखीकरे।
कलकण्ठकलालापश्रुतिर्मन्दानिलादरः॥
ज्योत्स्नाप्रवेश-माकन्द-मञ्जरीवीक्षणादयः।'

(रसार्णवसुधाकर—२य विलास)

(ख) साहित्यदर्पणकार ने यहाँ 'पूर्वराग' का जो त्रैविध्य बताया है वह वस्तुतः 'राग' का त्रैविध्य है। यह राग 'रति' भाव की ही फलोन्मुख्यदशा है। 'राग' का अभिप्राय दो प्रेमियों के ऐसे स्नेह-प्रकर्ष का है जो उनके हृदय और प्रेममय सुख-दुःखात्मक जीवन को अपने रंग में रंग दिया करता है। नीचे की पंक्तियों में 'राग' और राग के त्रैविध्य का एक संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित वर्णन है—

'रज्यते दीप्यते चित्ते स राग इति कथ्यते।
सुखदुःखात्मकं भोग्यं सुखत्वेनाभिमन्यते॥
येन रागः स इत्युक्तो रञ्जनाद्विषयात्मनोः।
नीली-कुसुम्भ-मञ्जिष्ठारागौपम्येन स त्रिधा॥

(नीली-राग)—क्षालितो यस्तु नापैति यश्च नातीव शोभते।
नीलीरागस्स एवेति कथितो रागवेदिभिः॥
(कुसुम्भ-राग)—योऽपैति क्षालितः क्षिप्रमध्यक्षं योऽपि शोभते।
कुसुम्भराग एवैष इति विद्वद्भिरीरितः॥
(मञ्जिष्ठा-राग)—अतीव शोभते यस्तु नापैति क्षालितोऽपि सन्।
स एव कविभिः सर्वैर्मञ्जिष्ठाराग उच्यते॥
ज्येष्ठो माञ्जिष्ठरागः स्याद् नीलीरागस्तु मध्यमः।
कुसुम्भरागः कविभिरधमः परिकीर्तितः॥

(भावप्रकाशन—चतुर्थ अधिकार)

(२—मानविप्रलम्भ : सप्रभेदनिरूपण)

अथ मानः—

मानः कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः ।
द्वयोः प्रणयमानः स्यात् प्रमोदे सुमहत्यपि ॥ १९८ ॥
प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् कोपो यः कारणं विना ।

द्वयोरिति नायकस्य नायिकायाश्च उभयोश्च प्रणयमानो वर्णनीयः ।

उदाहरणम् ।

'अलिअपसुत्तअ णिमिलिअच्छ देसु सुहअ मज्झ ओआसं ।
गण्डपरिउम्बणापुलइअङ्ग ! ण पुणो चिराइस्सं ॥'
(अलीकप्रसुप्तक निमीलिताक्ष देहि सुभग मह्यमवकाशम् ।
गण्डपरिचुम्बनपुलकिताङ्ग न पुनश्चिरयिष्यामि ॥)

नायिकाया यथा कुमारसंभवे संध्यावर्णनावसरे ।

उभयोर्यथा—

'पणअकुविआणँ दोण्ह वि अलिअसुत्ताणँ माणइल्लाणं ।
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णअण्णाणँ को मल्लो ॥'
(प्रणयकुपितयोर्द्वयोरलीकप्रसुप्तयोर्मानिनोः ।
निश्चलनिरुद्धनिःश्वासदत्तकर्णयोः को मल्लः ॥)

अनुवाद—मान-विप्रलम्भ—'मान' का अभिप्राय है कोप (प्रणय-कोप) का। इसके दो भेद स्पष्ट हैं—१. प्रणयसमुद्भव मान (प्रणय-मान) और २. ईर्ष्यासमुद्भव मान (ईर्ष्या-मान)।

(१) प्रणय-मान का तात्पर्य है अकारण कोप का। प्रेम की चाल सदा टेढ़ी हुआ करती है। प्रेमी-प्रेमिका के हृदय में प्रेम के भरे रहने पर भी, उनका एक दूसरे पर अकारण कोप स्वाभाविक है। इसीलिये 'प्रणय-मान' भी (असंयोग में रतिभाव की अभिव्यञ्जना का) एक विशेष ही विप्रलम्भ-प्रकार है।

यहाँ (कारिका) में 'द्वयोः' का अभिप्राय नायक और नायिका दोनों का है क्योंकि 'प्रणयमान' एक का नहीं अपितु दोनों का वर्णित किया जाया करता है। उदाहरण के लिये—

नायक का प्रणयमान—

'अरे ! सोने का बहाना बनाने वाले ! झूठमूठ आँख मूंदे लेट लगाने वाले ! अरे, कपोलचुम्बन से पुलकित होने वाले ! मुझे भी थोड़ी जगह दो, अब से मैं देर कभी न लगाऊँगी।'

नायिका का प्रणयमान—

इसका एक सुन्दर उदाहरण तो (महाकवि कालिदास कृत) 'कुमार-संभव' में, संध्या वर्णन के प्रसंग में, पार्वती का प्रणयमान है :—

(सन्ध्यया कमलयोनिकन्यया या तनुः सुतनु ! पूर्वमुज्झिता ।
सेयमस्तमुदयञ्च सेवते तेन मानिनि ! ममात्र गौरवम् ॥ आदि)

नायक-नायिका-युगल का प्रणयमान—

'प्रेमी और प्रेमिका-दोनों ही प्रेम-कोप में पड़े हैं, दोनों ही अपने आप को झूठमूठ सोते

अनुनयपर्यन्तासहत्वे त्वस्य न विप्रलम्भभेदता, किन्तु संभोगसञ्चार्याख्य-भावत्वम् ।

यथा—

'भ्रूभङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्वीक्षते
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते ।
कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तनू रोमाञ्चमालम्बते
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिञ्जने ॥'

यथा वा—

'एकस्मिन्शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम् ।
दंपत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहः ॥'

पत्युरन्यप्रियासङ्गे दृष्टेऽथानुमिते श्रुते ॥ १९९ ॥
ईर्ष्यामानो भवेत्स्त्रीणां तत्र त्वनुमितिस्त्रिधा ।
उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनसम्भवा ॥ २०० ॥

दिखा रहे हैं और दोनों ही चुपचाप, एक दूसरे के, धीरे-धीरे और रुक-रुक कर निकलते निश्वासों के सुनने में कान लगाये पड़े हैं—देखना है दोनों में कौन प्रणय-कोप में बाजी मारता है ।'

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यदि प्रणय-मान (नायक और नायिका में से, किसी के) अनुनय-विनय से समाप्त हो जाय तब तो इसे विप्रलम्भ शृङ्गार का प्रकार नहीं माना जायगा । अनुनय-विनय से समाप्त होने वाला प्रणयमान (तो असूया रूप व्यभिचारिभाव है और इसलिये) संभोगशृङ्गार का परिपोषक है। इसका उदाहरण (अमरुशतक की) यह निम्न सूक्ति है—

'मेरी भौंहें चढ़ आयी हैं किन्तु निगाहें एक विशेष प्रकार की उत्कण्ठा से भर उठती हैं; मेरी बातचीत बंद है किन्तु यह 'जला' मुंह मुसकराहट से खिल रहा है, मेरे चित्त में कठोरता है किन्तु देह रोमाञ्चों से फूल उठी है । पता नहीं कि जब वे सामने पड़ेंगे तब उन पर मेरा यह सब प्रणयकोप कैसे निभ सकेगा ?'

अथवा (अमरुशतक की ही) यह सूक्ति—

'प्रेमी और प्रेमिका-दोनों एक ही पर्यङ्क पर, उलटे मुंह, चुपचाप पड़े, विह्वल होते रहे; दोनों, एक दूसरे के मनाने के इच्छुक होते हुए भी, अपने-अपने गौरव की रक्षा में व्यग्र बनते रहे और साथ ही साथ कटाक्ष-निरीक्षण के द्वारा दोनों एक दूसरे से आँखें भी मिलाते रहे । तब, भला, प्रणयमान कब तक निभ पाय ! वह टूट पड़ा और हंस-हंस कर दोनों एक दूसरे के गले लिपट पड़े ।'

(२) ईर्ष्यामान—'ईर्ष्यामान' का अभिप्राय है किसी दूसरी प्रेमिका पर, अपने प्रेमी की आसक्ति के देखने, सुनने अथवा अनुभव करने के कारण, नायिका के प्रेम-कोप का। यहाँ नायक की अन्यप्रेमिकासक्ति का जो अनुमान है वह तीन प्रकार का है—१. उत्स्व-

तत्र दृष्टे यथा—

'विनयति सुदृशो दृशोः परागं प्रणयिनि कौसुममाननानिलेन।
तदहितयुवतेरभीक्ष्णमक्ष्णोर्द्वयमपि रोषरजोभिरापुपूरे॥'

संभोगचिह्नेनानुमिते यथा—

'नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम्।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसप-
न्नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम्॥'

एवमन्यदपि।

साम भेदोऽथ दानं च नत्युपेक्षे रसान्तरम्।
तद्भङ्गाय पतिः कुर्यात् षडुपायानिति क्रमात्॥ २०१॥
तत्र प्रियवचः साम भेदस्तत्सख्युपार्जनम्।
दानं व्याजेन भूषादेः पादयोः पतनं नतिः॥ २०२॥
सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम्।
रभसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम्॥ २०३॥

प्नायित जन्य (स्वप्न में, नायक द्वारा अन्य प्रेमिका की बातें बड़बड़ाने से उत्पन्न), २. भोगाङ्क-जन्य (नायक के शरीर पर अन्य नायिका-संभोग के चिह्नों के देखने से उत्पन्न) और ३. गोत्रस्खलन-जन्य (अकस्मात् नायक के मुख से अन्य नायिका का नाम निकल पड़ने से उत्पन्न)।

उदाहरण के लिये—अन्य प्रेमिकाविषयक आसक्ति-दर्शन से उत्पन्न 'ईर्ष्यामान' (जैसा कि महाकवि माघ के 'शिशुपालवध' में चित्रित है)—

'जैसे ही नायक ने, किसी सुन्दरी के नेत्रों में पड़े पुष्प-पराग को, अपने मुंह से फूँक-फूँक कर दूर करना चाहा, वैसे ही उसकी प्रेमिका के दोनों नेत्र क्रोध के रजःकणों से भर उठे।'

संभोग-चिह्न से अनुमित ईर्ष्यामान (जो कि महाकवि माघ द्वारा ही चित्रित है)—

'अरे! नये नखक्षत के चिह्न तो तुम वस्त्र से छिपा लोगे और ओठों पर पड़े दन्तक्षत को हाथों से ढक लोगे किन्तु यह तो बताओ कि चारों ओर फैलते, उस सुन्दरी के संभोग के सूचक, नवपरिमलगन्ध को क्यों कर रोक सकोगे?'

इसी भाँति उत्स्वप्नायित आदि से अनुमित ईर्ष्यामान के उदाहरण यत्र-तत्र स्वयं देखे जा सकते हैं।

यहां यह जानना आवश्यक है कि मान-भङ्ग के ६ उपाय हैं—

१. साम, २. भेद, ३. दान ४. नति, ५. उपेक्षा और ६. रसान्तर (अन्य भावों का अवतरण)। इनमें 'साम' का अभिप्राय प्रिय वचन का है। 'भेद' कहते हैं प्रेमिका की सखी को अपने पक्ष में मिला लेने को। 'दान' का तात्पर्य है किसी बहाने आभूषण आदि के देने का। 'नति' पैरों पर गिर पड़ने का नाम है। 'उपेक्षा' कहते हैं सामादि उपायों के कार्यकर न हो सकने पर निरुपाय बैठ रहने को। और 'रसान्तर' का तात्पर्य है रभस (घबराहट), हास, हर्ष आदि के कारण कोप के नष्ट हो जाने का।

यथा—

'नो चाटुश्रवणं कृतम्—' इत्यादि। अत्र सामादयः पञ्च सूचिताः। रसान्तरमूह्यम्।

उदाहरण के लिये 'नो चाटुश्रवणं कृतम्' आदि सूक्ति पर्याप्त है जहाँ साम, दान, भेद, नति और उपेक्षा के मानभङ्गोपाय स्पष्ट वर्णित हैं। 'रसान्तर' के द्वारा मानभङ्ग का उदाहरण स्वयं ढूँढ़ा जा सकता है।

विमर्श—(क) 'मान' से संभूत विप्रलम्भ 'मान-विप्रलम्भ' कहा गया है। नीचे की पंक्तिओं में इसकी निरुक्ति और इसके स्वरूप का सुन्दर निरूपण किया हुआ है—

'मुहुः कृतो मेतिमेति प्रतिषेधार्थवीप्सया।
ईप्सितालिङ्गनादीनां निरोधो मान उच्यते॥
सोऽयं सहेतु-निर्हेतुभेदाद् द्वेधाऽत्र हेतुजः।
ईर्ष्यया संभवेदीर्ष्या त्वन्यासङ्गिनि वल्लभे॥
असहिष्णुत्वमेव स्याद् दृष्टेरनुमितेः श्रुतेः।'

(रसार्णवसुधाकर, २ य विलास)

यहाँ मानविप्रलम्भ का एक 'निर्हेतुक' भेद निर्दिष्ट किया हुआ है। साहित्यदर्पणकार ने इस भेद का नाम 'प्रणयमान' रखा है जो कि उचित ही है।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने मानभङ्ग के उपाय-षट्क का जो उल्लेख किया है उसकी दृष्टि से मानविप्रलम्भ के भेदों का 'सहेतुक' और 'निर्हेतुक' नाम ही अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। 'सहेतुक' मान का शमन सामादि उपाय-षट्क द्वारा संभव है और निर्हेतुक मान स्वयं शान्त हुआ करता है। रसार्णवसुधाकरकार ने इसीलिये कहा है—

'निर्हेतुकः स्वयं शाम्येत् स्वयंग्राहस्मितादिभिः॥
हेतुजस्तु शमं याति यथायोग्यं प्रकल्पितैः।
साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः॥'

(ग) मानभङ्ग के उपायों में 'रसान्तर' का अभिप्राय यह है—

'आकस्मिकरसादीनां कल्पना स्याद्रसान्तरम्।
यादृच्छिकं बुद्धिपूर्वमिति द्वेधा निगद्यते॥
अनुकूलेन दैवेन कृतं यादृच्छिकं भवेत्।
प्रत्युत्पन्नधियां पुंसां कल्पितं बुद्धिपूर्वकम्॥'

(रसार्णवसुधाकर : २ य विलास)

जैसे कि, यादृच्छिक 'रसान्तर' से मानभङ्ग—

'मानमस्या निराकर्त्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः।
उपकाराय दिष्ट्यैतदुदीर्णं घनगर्जितम्॥'

और, बुद्धिपूर्वक 'रसान्तर' से मानभङ्ग—

'लीलातामरसाहतोऽन्यवनितानिःशङ्कदष्टाधरः
कश्चित् केसरदूषितेक्षण इव व्यामील्य नेत्रे स्थितः।
मुग्धा कुड्मलिताननेन ददती वायुं स्थिता तस्य सा
भ्रान्त्या धूर्ततयाऽथवा नतिमृते तेनानिशं चुम्बिता॥'

(घ) 'प्रणयमान' तो नायिका, नायक और नायक-नायिकायुगल का वर्णित किया जाया

३. (प्रवास-विप्रलम्भ : सप्रभेद वर्णन)

अथ प्रवासः—

प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्याच्छापाच्च संभ्रमात् ।
तत्राङ्गचेलमालिन्यमेकवेणीधरं शिरः ॥ २०४ ॥
निःश्वासोच्छ्वासरुदितभूमिपातादि जायते ।

किञ्च—

अङ्गेष्वसौष्ठवं तापः पाण्डुता कृशताऽरुचिः ॥ २०५ ॥
अधृतिः स्यादनालम्बस्तन्मयोन्मादमूर्च्छनाः ।
मृतिश्चेति क्रमाज्ज्ञेया दश स्मरदशा इह ॥ २०६ ॥
असौष्ठवं मलापत्तिस्तापस्तु विरहज्वरः ।
अरुचिर्वस्तुवैराग्यं सर्वत्रारागिता धृतिः ॥ २०७ ॥
अनालम्बनता चापि शून्यता मनसः स्मृता ।
तन्मयं तत्प्रकाशो हि बाह्याभ्यन्तरतस्तथा ।

शेषं स्पष्टम् ।

करता है किन्तु ईर्ष्यामान केवल नायिकानिष्ठ ही वर्णनयोग्य है । महाकवि भवभूति ने राम के प्रणयमान का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

'अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते ।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥'

(उत्तररामचरित ३. ३८)

अनुवाद—प्रवास-विप्रलम्भ—'प्रवास' का अभिप्राय है—कार्यवश, शापवश अथवा संभ्रमवश नायक के देशान्तर-गमन का (और इसके कारण जो विप्रलम्भ है उसे 'प्रवास-विप्रलम्भ' कहा करते हैं)। प्रवास-विप्रलम्भ में नायिका की ये ये चेष्टायें हुआ करती हैं—अङ्ग-मालिन्य, वस्त्र-मालिन्य, एकवेणी-धारण, निश्वास-उच्छ्वास, रोदन, भूमिपतन आदि-आदि ।

इसमें ये निम्न-लिखित १० कामदशायें स्वाभाविक हैं—

१. अङ्गों का असौष्ठव, २. सन्ताप, ३. पाण्डुता, ४. दुर्बलता, ५. अरुचि, ६. अधीरता, ७. अनालम्बनता, ८. तन्मयता, ९. उन्माद और १०. मूर्च्छा । मरण भी इसकी ११ वीं दशा है ।

इनमें 'असौष्ठव' का अभिप्राय है मलिनता का । 'ताप' कहते हैं वियोग-ज्वर को । 'अरुचि' का तात्पर्य वस्तुओं के प्रति विरक्तता का है । 'अधृति' है—कहीं भी जी का न लगना । 'अनालम्बनता' का अर्थ है चित्त की शून्यता का और 'तन्मयता' कहते हैं बाहर-भीतर सर्वत्र प्रियतम-दर्शन को । पाण्डुता, कृशता आदि तो स्वयं स्पष्ट हैं ।

एकदेशतो यथा मम तातपादानाम्—

'चिन्ताभिः स्तिमितं मनः' करतले लीना कपोलस्थली'
प्रत्यूषक्षणदेशपाण्डु वदनं श्वासैकखिन्नोऽधरः।
अम्भःशीकरपद्मिनीकिसलयैर्नापैति तापः शमं,
कोऽस्याः प्रार्थितदुर्लभोऽस्ति सहते दीनां दशामीदृशीम् ॥'

भावी भवन्भूत इति त्रिधा स्यात्तत्र कार्यजः ॥ २०८ ॥

कार्यस्य बुद्धिपूर्वकत्वात्त्रैविध्यम्।

तत्र भावी यथा मम—

'यामः सुन्दरि, याहि पान्थ, दयिते शोकं वृथा मा कृथाः,
शोकस्ते गमने कुतो मम ततो बाष्पं कथं मुञ्चसि।
शीघ्रं न व्रजसीति मां गमयितुं कस्मादियं ते त्वरा,
भूयानस्य सह त्वया जिगमिषोर्जीवस्य मे संभ्रमः ॥'

भवन् यथा—

'प्रस्थानं वलयैः कृतं, प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं,
धृत्या न क्षणमासितं, व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित! प्रियसुहृत्साथः किमु त्यज्यते ॥'

जैसे कि, कुछ दशाओं के उदाहरण के रूप में, अपने पूज्य पितृचरण की यह सूक्ति—

'इसका मन चिन्ताओं से बंधा है, इसकी कपोलस्थली हाथों पर धरी है, इसका चेहरा प्रातःकाल के चन्द्रमा जैसा पीला पड़ा है, इसके अधर दीर्घ-निश्वास से सूखे हुए हैं और इसका सन्ताप, क्या शीतल जलकण और क्या पद्मिनी-किसलय—किसी से दूर नहीं होता। पता नहीं इसका कौन ऐसा दुर्लभ प्रेमी है जो इसकी यह दुरवस्था देखकर भी नहीं पिघलता।'

'कार्यज' (कार्यवश होने वाला) प्रवास भी तीन प्रकार का है—(१) भावी, (२) वर्तमान और (३) भूत।

यहाँ यह जानना आवश्यक है कि कार्यवश प्रवास के तीन भेद इसलिये हैं कि कार्य का पूर्ववर्ती (कार्यविषयक) विचार भविष्य, वर्तमान और अतीत—तीनों कालों में संभव है।

जैसे कि 'भावी' प्रवास का यह स्वकृत वर्णन—

'(प्रेमी-) सुन्दरी! अब हम जा रहे हैं, (प्रेमिका-) पथिक! जा सकते हो। (प्रेमी-) प्रिये! व्यर्थ शोक मत करना, (प्रेमिका-) तुम्हारे जाने से मुझे क्यों शोक हो? (प्रेमी-) फिर तेरे आँसू क्यों निकल पड़े? (प्रेमिका-) इसीलिये कि तुम जाने में देर लगा रहे हो, (प्रेमी-) तुझे मेरे चले जाने की जल्दी क्यों? (प्रेमिका-) इसलिये कि तुम्हारे साथ चले जाने के लिये मेरे प्राण जल्दी मचाये हैं।'

अथवा जैसे कि, 'वर्तमान' प्रवास का यह वर्णन—

'मेरे प्राण! तू क्यों अँटकता है जब प्रियतम ने जाने का निश्चय किया, हाथ के कंगने खिसक पड़े, एक मात्र सहायक आँसू निकल पड़े, हृदय का धीरज भाग चला,

भूतो यथा—'चिन्ताभिः स्तिमितम्–' इत्यादि ।

शापाद्यथा—'तां जानीयाः–' इत्यादि ।

संभ्रमो दिव्यमानुषनिर्घातोत्पातादिजः ।

यथा—

विक्रमोर्वश्यामुर्वशीपुरूरवसोः ।

अत्र पूर्वरागोक्तानामभिलाषादीनामत्रोक्तानां चाङ्गासौष्ठवादीनामपि दशानामुभयेषामप्युभयत्र सम्भवेऽपि चिरन्तनप्रसिद्ध्या विविच्य प्रतिपादनम् ।

मन आगे चल निकला—सबके सब मुझे छोड़ एक साथ चल पड़े । अब मुझे भी तो जाना ही है; तू भी अपने साथियों का साथ देने को तैयार हो जा ।'

जैसे कि 'भूत' प्रवास का इसी प्रकार वर्णन—'चिन्ताभिः स्तिमितं मनः'आदि सूक्ति ।

'शापज' प्रवास—इसका उदाहरण तो (महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' की)—'तां जानीयाः' आदि सूक्तियाँ हैं ही ।

'संभ्रमजन्य' प्रवास—यहाँ 'संभ्रम' का अभिप्राय दिव्य, मानुष, निर्वात, उत्पात आदि-आदि का है और इनमें से किसी से उत्पादित प्रवास संभ्रमजन्य (संभ्रमज) प्रवास है । उदाहरण के लिये 'विक्रमोर्वशी' में उर्वशी और पुरूरवा का जो विप्रयोग है वह दिव्य संभ्रमज प्रवास रूप में ही वर्णित है ।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि जैसे 'पूर्वराग' विप्रलम्भ की अभिलाषादि दस कामदशायें, 'प्रवास' विप्रलम्भ में संभव हैं वैसे ही 'प्रवास' विप्रलम्भ की अंगासौष्ठवादि दस कामदशायें 'पूर्वराग'-विप्रलम्भ में भी संभव हैं, किन्तु यहाँ इनकी पृथक्-पृथक् स्थिति इसलिये निर्दिष्ट की गयी क्योंकि प्राचीन परम्परा इसी के पक्ष में है ।

विमर्श—(क) 'प्रवास' का अभिप्राय नायक और नायिका की 'भिन्नदेशस्थिति' का है किन्तु इसके पहले नायक और नायिका की 'समानदेशस्थिति' और 'समागम' आवश्यक है ।

इसीलिये कहा गया है—

'पूर्वसंगतयोर्यूनोर्भवेद् देशान्तरादिभिः ।
चरणव्यवधानं यत् स प्रवास इतीरितः ॥
तज्जन्यो विप्रलम्भोऽपि प्रवासत्वेम सम्मतः ।'

(ख) 'प्रवास' के त्रिविध निमित्त में 'कार्य' रूप निमित्त का अभिप्राय यह है—

'धर्मार्थसंग्रहो बुद्धिपूर्वो व्यापारः कार्यम्'

अर्थात् नायक का धर्म-संग्रह किं वा अर्थ-संग्रह का दृष्टि से जो देशान्तरगमन है वह 'कार्य' है । इस 'कार्य' के भी तीन भेद हैं—

(१) वृत्त, (२) वर्तिष्यमाण और (३) वर्तमान ।

इस दृष्टि से वृत्त कार्य से सम्बद्ध प्रवास 'वृत्त' (भूत) प्रवास है, वर्तिष्यमाण कार्य से सम्बद्ध प्रवास 'वर्तिष्यमाण' (भावी) प्रवास है और वर्तमान कार्य से सम्बद्ध प्रवास 'वर्तमान' प्रवास है ।

(ग) साहित्यदर्पणकार ने 'संभ्रमजन्य' प्रवास का जो निर्देश किया है वह भी अनेक प्रकार का हो सकता है । 'संभ्रम' कहते हैं 'आवेग' को और आवेग दिव्य, भौम आदि-आदि भेदों से नाना प्रकार का हो सकता है । महाकवि कालिदास की विक्रमोर्वशी में 'दिव्यसंभ्रम'ज प्रवास का सुन्दर अभिव्यंजन है—

'सिष्टेस् कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति,
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं,
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः॥'

(घ) साहित्यदर्पणकार ने प्रवास-विप्रलम्भ की कामदशाओं का जो निर्देश किया है वह उपलक्षण मात्र है। भावप्रकाशनकार ने इस विप्रलम्भ में और भी कामदशाओं और उनके निमित्तों का संकेत किया है, जैसे कि—

(१) उत्कण्ठाजन्य कामदशायें—

'अन्तस्संभोगसंकल्पः तत्कथाशाविलोकनम्॥
अङ्गग्लानिर्मनोरक्तिर्मनोरथविचिन्तनम्।
अधिजानुकरालम्बिकपोलतलमाननम्॥
प्रसन्नमुखरागश्च स्वेदोष्मा गद्गदा च वाक्।
उत्कण्ठानुभवा भावाः कथ्यन्ते भावकोविदैः॥'

(२) चिन्ताजन्य कामविकृतियां—

'केनोपायेन तत्प्राप्तिर्ममैव स भवेत् कथम्।
किं स वक्ष्यति किं वक्ष्ये दूतादि प्रेषयामि किम्॥
किं तेनेति वितर्कोऽयं हृदि चिन्तेति कथ्यते।
बध्नाति मेखलादीनि परामृशति पाणिना॥
स्पृशत्यूरुं च नाभिं च नीवीं विस्रंस्य नह्यति।
अन्तर्बाष्पोद्गमं चक्षुराकेकरकनीनिकम्॥
अन्तर्बहिः पुरः पश्चादनालम्बनवीक्षणम्।
चिन्तासमुत्थिता ह्येते भावाः स्युर्मन्मथाश्रयाः॥'

(३) उन्मादजन्य मान्मथविकार—

उन्मादो विरहोत्थो यः सोऽतस्मिंस्तद्ग्रहाग्रहः।
सर्वावस्थासु सर्वत्र सर्वथा सर्वदा मनः॥
तद्गतं तत् कथाह्लादि प्रद्वेष्टीष्टानपीतरान्।
दीर्घं मुहुर्निःश्वसिति तिष्ठत्यनिमिषेक्षणम्॥
विहारकाले रुदति क्रन्दति ध्यायति क्षणम्।
गायति स्वदते तस्मिन् हसति स्तौति मुह्यति॥
इत्थमुन्मादजा भावाः कथिता नाट्यकोविदैः।

आदि-आदि।

(ङ) सरस्वतीकण्ठाभरणकार श्रीभोजराज ने 'प्रवास' की निरुक्ति में ही प्रवास का पूरा रहस्य स्पष्ट कर दिया है—

'यत्राङ्गना युवानश्च वसते न वसन्ति च।
स प्रवासः प्रशब्देन प्रतीपार्थेन कथ्यते॥
चित्तोत्कण्ठादिभिश्चेतो भृशं वासयतीह यः।
प्रवासयति वा यूनः स प्रवासो निरुच्यते॥
प्रपूर्वको वसिर्ज्ञेयः कारितान्तःप्रमागणे।
तूष्णीं प्रवासयेदेनमिति वृद्धानुशासनात्॥'

(सरस्वतीकण्ठाभरण : ५म परिच्छेद)

(४—करुणविप्रलम्भ)

अथ करुणविप्रलम्भः—

यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनरलभ्ये ।
विमनायते यदैकस्ततो भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः ॥२०९॥

यथा—

कादम्बर्यां पुण्डरीकमहाश्वेतावृत्तान्ते ।

पुनरलभ्ये शरीरान्तरेण वा लभ्ये तु करुणाख्य एव रसः ।

किञ्चात्राकाशसरस्वतीभाषानन्तरमेव श्रृङ्गारः, संगमप्रत्याशया रतेरुद्भवात् । प्रथमं तु करुण एव, इत्यभियुक्ता मन्यन्ते ।

(च) 'प्रवास' के बाद समागम-रति का आनन्द उत्कट हुआ करता है जैसा कि कहा भी गया है—

'प्रवासानन्तरे तस्याभ्यवहारार्थतेष्यते ।
तत्र ह्युपोषितैरन्नमिव निर्विश्यते रतिः ॥'

अर्थात् जैसे उपवास के बाद भोजन में एक विचित्र आनन्द मिला करता है वैसे ही प्रवास के बाद संभोग भी विचित्र आह्लाद का जनक हुआ करता है ।

अनुवाद—करुण-विप्रलम्भ—'करुण' विप्रलम्भ वह श्रृंगार-प्रकार है जिसे प्रेमी और प्रेमिका में से किसी एक के दिवंगत हो जाने, किन्तु पुनरुज्जीवित हो सकने की अवस्था में, जीवित बचे दूसरे के हृदय के शोकसंवलित रतिभाव का अभिव्यञ्जन कहा गया है ।

उदाहरण के लिये—'कादम्बरी' के पुण्डरीक-महाश्वेता-वृत्तान्त में, पुनरुज्जीवित होनेवाले पुण्डरीक की मृत्यु पर महाश्वेता के शोकसंविग्न रतिभाव का अभिव्यञ्जन ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि—प्रेमी और प्रेमिका में से किसी एक की आत्यन्तिक मृत्यु से मिलन की अत्यन्त निराशा अथवा परलोक में मिलन की आशा की अवस्था में जो रस अभिव्यङ्ग्य हो सकेगा, वह करुणरस ही होगा (क्योंकि मिलन की आशा के अभाव में रति कहाँ ? वहाँ तो शोक ही शोक संभव है) न कि 'करुण'-विप्रलम्भ श्रृंगार ।

वैसे 'कादम्बरी' के पुण्डरीक-महाश्वेता-वृत्तान्त में अभिव्यङ्ग्य रस के सम्बन्ध में काव्यार्थकोविदों का मतभेद है । यहाँ कुछ लोगों का कहना यह है—

'पुण्डरीक-महाश्वेता-वृत्तान्त में सर्वप्रथम अभिव्यङ्ग्य रस 'करुण' है । यह तो आकाशवाणी के द्वारा महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक के पुनर्मिलन की आशा के जग उठने के बाद की बात है कि महाश्वेता का रतिभाव उद्बोधन पा उठता है. और सहृदय-हृदय करुणविप्रलम्भ श्रृङ्गार का आस्वाद ले सकता है ।

किन्तु कुछ और लोग यहाँ यह कहते हैं—(आकाशवाणी के द्वारा महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक के) मिलन की आशा के जग जाने के बाद भी यहाँ (करुणविप्रलम्भ नहीं अपितु) प्रवास-विप्रलम्भ श्रृङ्गार ही अभिव्यङ्ग्य है (क्योंकि पुण्डरीक और महाश्वेता भिन्न देश ही नहीं अपितु भिन्न लोक के निवासी हैं और महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक के प्रति प्रेम उद्बुद्ध हो गया है) ।

यच्चात्र 'सङ्गमप्रत्याशानन्तरमपि भवतो विप्रलम्भशृङ्गारस्य प्रवासाख्यो भेद एव' इति केचिदाहुः, तदन्ये 'मरणरूपविशेषसंभवात्तद्भिन्नमेव' इति मन्यन्ते।

(२—शृङ्गार-भेद : संभोगशृङ्गार : सप्रकार स्वरूप-निरूपण)

अथ संभोगः—

दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ।
यत्रानुरक्तावन्योन्यं संभोगोऽयमुदाहृतः॥ २१० ॥

और लोगों का यहाँ एक और ही अभिप्राय है क्योंकि उनका कहना यह है— (आकाशवाणी के द्वारा महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक के मिलन की आशा के उद्बोधन के बाद भी) यहाँ न तो करुणविप्रलम्भ की संभावना है और न प्रवासविप्रलम्भ की ही। यहाँ जो रस है वह करुणविप्रलम्भ तथा प्रवासविप्रलम्भ से भिन्न रूप का ही रस है क्योंकि यहाँ मरण-दशा के प्रतिपादन का वैशिष्ट्य एक और ही विप्रलम्भ-प्रकार की संभावना करा रहा है।

विमर्श—(क) 'करुणविप्रलम्भ' वस्तुतः 'करुण' का भ्रमोत्पादक वियोगशृङ्गार-प्रकार है जैसा कि इन पङ्क्तियों में स्पष्ट है—

'द्वयोरेकस्य मरणे पुनरुज्जीवनावधौ॥
विरहः करुणोऽन्यस्य सङ्गमाशानिवर्तनः।
करुणभ्रमकारित्वात् सोऽयं करुण उच्यते॥'

(रसार्णवसुधाकर : २ य उल्लास)

(ख) 'प्रवास' और 'करुण' में परस्पर भेद है। 'प्रवास' का अभिप्राय तो सशरीर देशान्तर गमन का अभिप्राय है किन्तु 'करुण' का अभिप्राय है प्राणों के बिना देशान्तर गमन का।

(ग) दशरूपककार के अनुसार 'करुणविप्रलम्भ' शृङ्गार-भेद नहीं अपितु करुण रस के अन्तर्गत है—

'मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः।
व्याश्रयत्वान्न शृङ्गारः ॥' (दशरूपक : ४ र्थ प्रकाश)

किन्तु दिवंगत भी नायक अथवा नायिका के लिये जीवित नायिका अथवा नायक के हृदय में संगमाशा की उत्पत्ति से शृङ्गार की संभावना हो जाया करती है और इसीलिये दशरूपककार ने कहा है—**'प्रत्यापन्ने तु नेतरः'-कादम्बर्यां तु प्रथमं करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवासशृङ्गार एवेति।**

दशरूपककार की इस मान्यता का विश्वनाथ कविराज ने खण्डन किया है और करुण-विप्रलम्भ को विप्रलम्भशृङ्गार का एक भिन्न ही प्रकार सिद्ध किया है जो कि सर्वथा युक्तियुक्त है। सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने 'विप्रलम्भ' को चतुर्विध ही माना है—

'भावो यदा रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति।
नाधिगच्छति चाभीष्टं विप्रलम्भस्तदोच्यते॥
पूर्वानुरागो मानश्च प्रवासः करुणश्च सः।
पुरुषस्त्रीप्रकाण्डेषु चतुःकाण्डः प्रकाशते॥'

(सरस्वतीकण्ठाभरण : ५ म परिच्छेद)

अनुवाद—संभोगशृङ्गार—परस्पर प्रेम-पगे नायक और नायिका के परस्पर दर्शन,

आदिशब्दादन्योन्याधरपानचुम्बनादयः । यथा—'शून्यं वासगृहम्—' इत्यादि ।

संख्यातुमशक्यतया चुम्बनपरिरम्भणादिबहुभेदात् ।
अयमेक एव धीरैः कथितः संभोगश्रृङ्गारः ॥ २११ ॥
तत्र स्यादृतुषट्कं चन्द्रादित्यौ तथोदयास्तमयः ।
जलकेलिवनविहारप्रभातमधुपानयामिनीप्रभृतिः ॥ २१२ ॥
अनुलेपनभूषाद्या वाच्यं शुचि मेध्यमन्यच्च ।

तथा च भरतः—'यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तत्सर्वं श्रृङ्गारेणोपमीयते (उपयुज्यते च)' इति ।

किञ्च—

कथितश्चतुर्विधोऽसावानन्तर्यात्तु पूर्वरागादेः ॥ २१३ ॥

यदुक्तम्—

'न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते ।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते ॥' इति ।

तत्र पूर्वरागानन्तरं संभोगो यथा कुमारसम्भवे पार्वतीपरमेश्वरयोः ।

परस्पर-स्पर्शन आदि-आदि की अनुभूति का प्रदाता जो रस है वह 'संभोगश्रृङ्गार' है ।

यहाँ 'दर्शनस्पर्शनादीनि' में जो 'आदि' शब्द प्रयुक्त है उसका अभिप्राय परस्पर अधरपान, परस्पर चुम्बन, परस्पर आलिङ्गन आदि का समुच्चय है । उदाहरण के लिये 'शून्यं वासगृहम्' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति पर्याप्त है ।

संभोगश्रृङ्गार की भेद-प्रभेद-गणना असम्भव है क्योंकि परस्पर चुम्बन और आलिङ्गन आदि २ सुख-भोगों की गणना कौन कर सके ! इसलिये काव्य-कोविदों ने यही माना है कि यह श्रृङ्गार-प्रकार एक रूप का ही है जिसे 'संभोगश्रृङ्गार' कह सकते हैं ।

संभोगश्रृङ्गार के उद्दीपन-विभावों में सभी ऋतुयें, चन्द्र-चन्द्रिका, सूर्य, ज्योत्स्ना, चन्द्र और सूर्य के उदय और अस्त, जलविहार, वनविहार, प्रभात, मधुपान, रात्रिक्रीडा, चन्दनादि के अनुलेपन, भूषण-धारण किंवा अन्यान्य स्वच्छ, सुन्दर तथा सुमधुर पदार्थ अन्तर्भूत हैं ।

सम्भोगश्रृङ्गार के ये चार प्रकार भी प्रतिपादित किये गये हैं—(१) पूर्वरागानन्तर संभोग,(२) मानानन्तर संभोग, (३) प्रवासानन्तर संभोग और (४) करुणविप्रलम्भानन्तर संभोग । कहा भी गया है—

'जैसे वस्त्रादि के हलके रँगे होने पर ही रंग चढ़ा करता है, वैसे ही विप्रलम्भ के होने पर ही संभोग का आनन्द मिला करता है ।'

पूर्वराग-विप्रलम्भ के बाद संभोगश्रृङ्गार के अभिव्यञ्जन का उदाहरण कुमारसंभव में शिव-पार्वती का अनुराग-वर्णन है ।

प्रवासानन्तरं सम्भोगो यथा मम तातपादानाम्—

'क्षेमं ते ननु पक्ष्मलाक्षि !–किसअं खेमं मदङ्गं दिढं,
एतादृक्कृशता कुतः तुह पुणो पुट्ठं सरीरं जदो ।
केनाहं पृथुलः प्रिये !–पणइणीदेहस्स सम्मेलणात्,
त्वत्तः सुभ्रु ! न कापि मे, जइ इदं खेमं कुदो पुच्छसि ॥'

(क्षेमं ते ननु पक्ष्मलाक्षि ? कृशकं क्षेमं मदङ्गं दृढं
एतादृक् कृशता कुतः ? तव पुनः पुष्टं शरीरं यतः ।
केनाहं पृथुलः प्रिये ? प्रणयिनीदेहस्य सम्मेलनात्
त्वत्तः सुभ्रु ? न कापि मे, यदि इदं क्षेमं कुतः पृच्छसि ॥)

एवमन्यत्राप्यूह्यम् ।

प्रवास विप्रलम्भ के बाद संभोगश्रृङ्गार की अभिव्यक्ति मेरे पूज्य पितृचरण की निम्न सूक्ति में देखिये—

'(प्रेमी) अरी सुनयने ! कुशल तो है ? (प्रेमिका) यही कुशल है कि मेरी पुष्ट देह कृश हो गयी है। (प्रेमी) तुम्हारी देह इतनी कृश क्यों ? (प्रेमिका) इसलिये कि तुम हृष्टपुष्ट हो रहे हो। (प्रेमी) अरी ! मैं कैसे हृष्टपुष्ट हूँ ! (प्रेमिका) अपनी प्यारी की देह के सम्मिश्रण से। (प्रेमी) अरी ! तुझे छोड़ कर और मेरी प्यारी कौन ? (प्रेमिका) तब भला मेरा कुशल-क्षेम पूछने का क्या अर्थ !'

[यहां प्रवास के बाद परस्पर मिले प्रेमीयुगल की उक्ति-प्रत्युक्तियों में विप्रलम्भ-सम्मिश्रित संभोग की बड़ी मनोरम व्यञ्जना है।]

इसी भांति मानानन्तर संभोग आदि के उदाहरण स्वयं ढूंढे जा सकते हैं।

विमर्श—सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने 'संभोग' की व्युत्पत्ति में संभोगश्रृङ्गार का जो स्वरूप बताया है वह ध्यान देने योग्य है—

'भुजिः पालनकौटिल्याभ्यवहारानुभूतिषु ।
भुनक्ति भुग्नो भुंक्तेऽन्नं भुंक्ते सुखमितीष्यते ॥
समीचीनार्थसंपूर्वात्ततो घञ् प्रत्यये सति ।
भावे वा कारके वापि रूपं 'संभोग' इष्यते ॥
स पालनार्थः पूर्वानुरागानन्तर उच्यते ।
उत्पन्ना हि रतिस्तस्मिन्नानुकूल्येन पाल्यते ॥
स मानानन्तरं प्राप्तः कौटिल्यार्थं विगाहते ।
स्वतोऽपि कुटिलं प्रेम किं नु मानान्वये सति ॥
प्रवासानन्तरे तस्याभ्यवहारार्थतेष्यते ।
तत्र क्षुपोपितैरन्नमिव निर्विश्यते रतिः ॥
करुणानन्तरगतोऽनुभवार्थः स कथ्यते ।
विस्रम्भवद्भिरस्मिन्हि सुखमेवानुभूयते ॥
यदि वा भोग इत्यस्य सम्प्रयोगार्थवाचिनः ।
समा समासे चत्वारो विशेषास्तमुपासते ॥
स संक्षिप्तोऽथ संकीर्णः सम्पूर्णः सम्यगृद्धिमान् ।
अनन्तरोपदिष्टेषु सम्भोगेषूपपद्यते ॥

(२—हास्य : स्वरूप और भेद-निरूपण)

अथ हास्यः—

विकृताकारवाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद्भवेत् ।
हास्यो हासस्थायिभावः श्वेतः प्रमथदैवतः ॥ २१४ ॥
विकृताकारवाक्चेष्टं यमालोक्य हसेज्जनः ।
तमत्रालम्बनं प्राहुस्तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ॥ २१५ ॥

नवे हि संगमे प्रायो युवानः साध्वसादिभिः ।
संक्षिप्तानेव रत्यर्थमुपचारान् प्रयुञ्जते ॥
मानस्यानन्तरे तेषां व्यलीकस्मरणादिभिः ।
रोपशेषानुसन्धानात् संकरः केन वार्यते ॥
संपूर्णः पूर्णकामानां कामिनां प्रोष्य संगमे ।
उत्कण्ठितानां भूयिष्ठमुपभोगः प्रवर्तते ॥
प्रत्यागतेऽपि यत्रैषा रतिपुष्टिः प्रिये जने ।
सा किमावर्ण्यते यूनां तत्रैव मृत जीविते ॥'

(सरस्वतीकण्ठाभरण ५ म परिच्छेद)

अर्थात् 'सम्' उपसर्गपूर्वक पालनार्थक, कौटिल्यार्थक, अभ्यवहारार्थक (भोजनार्थक) और अनुभवार्थक 'भुज्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर 'संभोग' शब्द निष्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि प्रेमी-प्रेमिका के हृदय में उत्पन्न रतिभाव का परिपालन, प्रेम की कुटिल चाल में प्रेमी-प्रेमिका का पारस्परिक प्रेमभोग, प्रेमी-प्रेमिका का उत्कण्ठापूर्वक रति-सुख-लाभ और प्रेमी-प्रमिका का निर्द्वन्द्व प्रेमानन्दानुभव-ये चारों विशेषतायें 'सम्भोग' की उत्तरोत्तर विकासावस्थायें हैं। सम्भोग के 'पूर्वरागानन्तर'-'मानानन्तर' और 'करुणानन्तर' प्रकार क्रमशः इन्हीं चारों विशेषताओं के उत्तरोत्तर स्वरूप-विकास हैं। पूर्वराग-विप्रलम्भ के बाद का सम्भोग 'संक्षिप्त' मान-विप्रलम्भ के बाद का सम्भोग 'सङ्कीर्ण', प्रवासविप्रलम्भ के बाद का सम्भोग 'सम्पूर्ण' और करुण-विप्रलम्भ के बाद का सम्भोग 'समृद्ध' हुआ करता है। रति-सुख के अनुभव की संक्षिप्तता, संकीर्णता, संपूर्णता और समृद्धि ही वस्तुतः सम्भोग के चतुर्विध प्रकारों के नियामक तत्त्व हैं।

अनुवाद—हास्यरस—'हास्य' वह रस है जिसे 'हास' स्थायिभाव का अभिव्यञ्जन कहा जाया करता है। इसका आविर्भाव आकार-विकृति, वाग्विकृति, वेषविकृति, चेष्टा-विकृति किं वा अन्यान्य प्रकार की विकृतियों के वर्णन अथवा अभिनयन से हुआ करता है। इसका वर्ण श्वेत है और इसके अधिष्ठातृदेव प्रमथगण हैं। इसका आलम्बन वह व्यक्ति है जिसमें आकार, वाणी और चेष्टा की विकृतियां दिखायी दिया करती हैं और जिसे देख-देख लोग हँसा करते हैं। ऐसे हासास्पद व्यक्ति की जो चेष्टायें हैं वे ही यहां 'उद्दीपन' का काम किया करती हैं। इसके अनुभाव-वर्ग में नेत्र-निमीलन, मुख-विकास आदि-आदि की गणना है। इसके जो व्यभिचारी भाव हैं वे हैं निद्रा, आलस्य, अवहित्था आदि-आदि। इसके ६ भेद स्पष्ट हैं—

(१) उत्तम प्रकृतिगत 'स्मित' हास्य।
(२) उत्तम प्रकृतिगत 'हसित' हास्य।
(३) मध्यम प्रकृतिगत 'विहसित' हास्य।
(४) मध्यम प्रकृतिगत 'अवहसित' हास्य।
(५) अधम प्रकृतिगत 'अपहसित' हास्य और
(६) अधम प्रकृतिगत 'अतिहसित' हास्य।

अनुभावोऽक्षिसङ्कोचवदनस्मेरतादयः ।
निद्रालस्यावहित्थाद्या अत्र स्युर्व्यभिचारिणः ॥ २१६ ॥
ज्येष्ठानां स्मितहसिते मध्यानां विहसितावहसिते च ।
नीचानामपहसितं तथातिहसितं तदेष षड्भेदः ॥ २१७ ॥
ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्याद् स्पन्दिताधरम् ।
किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः ॥ २१८ ॥
मधुरस्वरं विहसितं सांसशिरःकम्पमवहसितम् ।
अपहसितं सास्राक्षं विक्षिप्ताङ्गं च भवत्यतिहसितम् ॥ २१९ ॥

यथा—

'गुरोर्गिरः पञ्चदिनान्यधीत्य वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयं च ।
अमी समाघ्राय च तर्कवादान्समागताः कुक्कुटमिश्रपादाः ॥'

अस्य लटकमेलकप्रभृतिषु परिपोषो द्रष्टव्यः ।

अत्र च—

यस्य हासः स चेत् क्वापि साक्षान्नैव निबध्यते ।
तथाप्येष विभावादिसामर्थ्यादुपलभ्यते ॥ २२० ॥
अभेदेन विभावादिसाधारण्यात्प्रतीयते ।
सामाजिकैस्ततो हास्यरसोऽयमनुभूयते ॥ २२१ ॥

एवमन्येष्वपि रसेषु बोद्धव्यम् ।

यहाँ 'स्मित' का अभिप्राय नेत्रों के ईषद् विकास किं वा अधर-स्पन्दन (ओठों के कुछ-कुछ फड़क उठने) का है। 'हसित' कहते हैं ऐसे हास को जिसमें दांत भी कुछ-कुछ दिखायी पड़ जांय । जिसे 'विहसित' कहा गया है वह ऐसा हास है जिसमें साथ ही साथ मधुर शब्द भी निकल पड़ें । 'अवहसित' वह हास है जिसमें कन्धे और सिर भी कांपने लगें । 'अपहसित' का अभिप्राय है ऐसी हँसी का जिसमें आंखों में आंसू तक आ जांय' और 'अतिहसित' वह हास है जिसमें हाथ पैर भी उठाये-पटके जाया करें ।

उदाहरण के लिये—

'हट जाओ, देखो श्री कुक्कुटमिश्र जी पधार रहे हैं। आप ही वे महामहोपाध्याय हैं जो पांच दिन में ही प्रभाकर-मीमांसा की चटनी कर गये, तीन दिन बीतते-बीतते वेदान्त-दर्शनों को पी गये और तर्क शास्त्रों को सूंघ लेना तो आपके बांयें हाथ का खेल ही ठहरा।'

'हास्यरस' का पूर्ण परिपोष लटकमेलक सरीखे प्रहसनों में देखा जा सकता है ।

यहाँ यह जान लेना चाहिये कि हास्यरस के अभिव्यञ्जन के लिये यह आवश्यक नहीं कि इसके आलम्बन का सर्वत्र साक्षात् उपनिबन्ध हुआ करे क्योंकि यह तो विभावादि के सामर्थ्य में है कि हास्य का आलम्बन प्रतीत हो जाय। वस्तुतः सहृदय सामाजिक की हास्यानुभूति की जो प्रक्रिया है वह विभावादि का साधारणीकरण है ।

वस्तुतः यही बात अन्य रसों की अनुभूति के सम्बन्ध में भी ध्यान रखने योग्य है।

(३—करुणरस)

अथ करुणः—

इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत् ।
धीरैः कपोतवर्णोऽयं कथितो यमदैवतः ॥ २२२ ॥

विमर्श—(क) भरतनाट्यशास्त्र आदि में 'हास्यरस' के स्वरूप से संबद्ध दो ही भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—(१) आत्मस्थ हास्य और (२) परस्थ हास्य । 'आत्मस्थ' हास का अभिप्राय अपनी ही वागादि-विकृतियों पर अपने आप हंसना है। महाकवि विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' में 'कञ्चुकी' का यह गूढ़ आत्मस्थ हास सहृदय सामाजिकों के आस्वाद का विषय है—

'कामं नन्दमिव प्रमथ्य जरया चाणक्यनीत्या यथा
धर्मो मौर्य इव क्रमेण नगरे नीतः प्रतिष्ठां मयि ।
तं सम्प्रत्युपचीयमानमपि मे लब्धान्तरः सेवया
लोभो राक्षसवज्जयाय यतते जेतुं न शक्नोति च ॥

जिसे 'परस्थहास्य' कहा गया है उसका अभिप्राय परगत वागादि-विकृतियों से हास के उद्भव का अभिप्राय है। इस हास्य का उदाहरण यह सूक्ति है—

'त्रस्तः समस्तजनहासकरः करेणो-
स्तावत् खरः प्रखरमुल्ललयाञ्चकार ।
यावच्चलासनविलोलनितम्बबिम्ब-
विस्रस्तवस्त्रमवरोधवधूः पपात ॥'

(ख) साहित्यदर्पणकार ने 'स्मितादि' हास्य-षट्क का जो निरूपण किया है उसका आधार उत्तम-मध्यम किं वा अधम रूप से भिन्न तीन प्रकृतियों का भेद हैं ।

(ग) अन्य दृष्टि से भी 'हास्य' का भेद किया जा सकता है जैसा कि भावप्रकाशनकार ने ही किया है—

'यद्यत् प्रहसनं वाक्यं स हास्यो वाचिकः स्मृतः ।
विपर्ययेण निक्षेपः साल्याभरणवाससाम् ॥
यः स नेपथ्यजो हास्य इति निर्णीयते बुधैः ।
विकटाभिनयत्वं यदङ्गानामवलोक्यते ॥
स्वभावाद्वाऽथ कपटात्स हास्यस्त्वाङ्गिको भवेत् ।

(भावप्रकाशन ३ य अधिकार)

(घ) हास्य के अधिदैवत को 'प्रमथ' माना गया है जिसका कारण यह है—

'विकटाभिनयत्वं यद्धास्याधिष्ठानमुच्यते ॥
तदस्ति प्रमथे यस्मात्सोऽयमस्याधिदैवतम् ।

इसी प्रकार 'श्वेत' वर्ण से हास्य का जो सम्बन्ध बताया गया है उसका अभिप्राय 'प्रमथदेव' के वर्ण का है जिसमें हँसने वाले लोगों की दृष्टि-मुद्रा का रहस्य अन्तर्गर्भित है—

'चला हसितगर्भा च विशत्ताराऽनिमेषिणी ॥
किञ्चिदाकुञ्चिता हृष्टा दृष्टिर्हासे प्रकीर्तिता ।
अपाङ्गे शौक्ल्यभूयिष्ठा हासगर्भेति कथ्यते ॥

अनुवाद—करुणरस—

'करुणरस' वह रस है जिसे शोकरूप स्थायिभाव का पूर्णाभिव्यञ्जन कहा गया है ।

शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमालम्बनं मतम् ।
तस्य दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपनं पुनः ॥ २२३ ॥
अनुभावा दैवनिन्दाभूपातक्रन्दितादयः ।
वैवर्ण्योच्छ्वासनिःश्वासस्तम्भप्रलपनानि च ॥ २२४ ॥
निर्वेदमोहापस्मारव्याधिग्लानिस्मृतिश्रमाः ।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ॥ २२५ ॥

शोच्यं विनष्टबन्धुप्रभृति ।

यथा मम राघवविलासे—

'विपिने क्व जटानिबन्धनं तव चेदं क्व मनोहरं वपुः ।
अनयोर्घटना विधेः स्फुटं ननु खड्गेन शिरीषकर्त्तनम् ॥'

अत्र हि रामवनवासजनितशोकार्त्तस्य दशरथस्य दैवनिन्दा । एवं बन्धुवियोगविभवनाशादावप्युदाहार्यम् । परिपोषस्तु महाभारते स्त्रीपर्वणि द्रष्टव्यः ।

इसका आविर्भाव इष्टनाश और अनिष्ट-प्राप्ति से संभव है। इसका वर्ण कपोतवर्ण है और इसके जो देवता माने गये हैं वे यम हैं। इसका 'स्थायी' भाव 'शोक' है। इसका जो 'आलम्बन' है वह विनष्ट व्यक्ति है। इसके उद्दीपन वर्ग में दाहकर्म आदि की गणना है। दैवनिन्दन, भूमिपतन, क्रन्दन, वैवर्ण्य, उच्छ्वास, निश्वास, स्तम्भ, प्रलपन आदि-आदि इसके अनुभाव माने गये हैं। साथ ही साथ निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जडता, उन्माद और चिन्ता आदि इसके व्यभिचारीभाव हैं।

यहाँ 'शोच्य' पद का अर्थ है—विनष्ट बन्धु-बान्धव आदि।

उदाहरण के लिये मेरे स्वरचित 'राघवविलास' की यह सूक्ति—

'कहाँ तो तुम्हारा यह कोमल शरीर और कहाँ तुम्हारा वन में जटाजूट का कठोर बन्धन ! इन दोनों का मेल विधि-विडम्बना है। यह तो ऐसा है जैसे तलवार से शिरीष के फूल का काटना !'

यहाँ राम के वनवास से शोकाकुल दशरथ का दैव-निन्दन वर्णित है इसी भाँति बन्धु-वियोग, वित्तनाश आदि-आदि से आविर्भूत करुण के उदाहरण देखे जा सकते हैं। करुणरस का यदि परिपोष देखना है तो महाभारत के स्त्रीपर्व में देखिये।

विमर्श—(क) चित्तवैधुर्य को 'शोक' कहा गया है। 'शोक' का आस्वाद करुणरस है। 'करुण' शब्द की इस व्युत्पत्ति से ही 'करुणरस' के स्वरूप का परिचय मिल जाता है—

'अस्य कर्तृतया धीर्या सा घृणेत्युच्यते बुधैः।
घृणेः करुणशब्दस्तु विहितः शब्दवादिभिः ॥
अतो नैघण्टुकैरुक्ता घृणेति करुणेति च।
करुः क्लेश इति ख्यातः क्लेशं न सहते यतः ॥
यस्य धीकरुणा सा स्यात् प्रत्यये करुणो भवेत्।
पराश्रितानां क्लेशानामसहिष्णुतयोच्यते ॥
मनसो यादृशो भावः स वै करुण उच्यते।'

(भावप्रकाशन : २ य अधिकार)

(करुण और करुणविप्रलम्भश्रृङ्गार : भेद-निर्देश)

अस्य करुणविप्रलम्भाद् भेदमाह—

शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रसः ।
विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनःसंभोगहेतुकः ॥ २२६ ॥

(४—रौद्ररस)

अथ रौद्रः—

रौद्रः क्रोधस्थायिभावो रक्तो रुद्राधिदैवतः ।
आलम्बनमरिस्तस्य तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ॥ २२७ ॥
मुष्टिप्रहारपातनविकृतच्छेदावदारणैश्चैव ।
संग्रामसंभ्रमाद्यैरस्योद्दीप्तिर्भवेत् प्रौढा ॥ २२८ ॥
भ्रूविभङ्गौष्ठनिर्देशबाहुस्फोटनतर्जनाः ।
आत्मावदानकथनमायुधोत्क्षेपणानि च ॥ २२९ ॥
अनुभावास्तथाक्षेपक्रूरसंदर्शनादयः ।
उग्रतावेगरोमाञ्चस्वेदवेपथवो मदः ॥ २३० ॥
मोहामर्षादयस्तत्र भावाः स्युर्व्यभिचारिणः ।

(ख) करुण के अधिदैवत के रूप में 'यम' की मान्यता का कारण यह है—

'करुणस्याप्यधिष्ठानं दयेति परिभाष्यते ॥
पापं तया यमयति यमः सोऽस्याधिदैवतम् ।'

अनुवाद—'करुणरस' और 'करुणविप्रलम्भश्रृङ्गार' परस्पर भिन्न-भिन्न रस हैं क्योंकि करुणरस का स्थायी भाव शोक करुणविप्रलम्भश्रृङ्गार के स्थायी भाव 'रति' से सर्वथा भिन्न प्रकार का भाव है। यहाँ पुनर्मिलन की आशा बँधी रहती है (जब कि करुणरस में इसकी कोई संभावना नहीं)।

विमर्श—करुण रस ही एकमात्र रस है और अन्य रस इसी के विवर्त हैं—यह 'करुणरसवाद' महाकवि भवभूति का रसवाद है जैसा कि निम्न पंक्तियों में स्पष्ट है—

'एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समस्तम् ॥'

अनुवाद—रौद्ररस—

'रौद्ररस' वह रस है जिसका स्थायी भाव 'क्रोध' हुआ करता है। इसका वर्ण रक्त है और इसके देवता रुद्र हैं। इसमें आलम्बनरूप से शत्रु का वर्णन किया जाया करता है और शत्रु की चेष्टायें उद्दीपन-विभाव का काम करती हैं। इसकी विशेष उद्दीप्ति मुष्टिप्रहार, भूपातन, भयंकर काटमार, शरीर-विदारण, संग्राम और संभ्रम आदि-आदि से हुआ करती है। इसके अनुभाव हैं—भ्रूभङ्ग, ओष्ठनिर्दशन, बाहुस्फोटन (ताल ठोंकना), तर्जन,

यथा—

'कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥'
(रौद्र और युद्धवीर : परस्पर भिन्न रस)

अस्य युद्धवीराद्भेदमाह—

रक्तास्यनेत्रता चात्र भेदिनी युद्धवीरतः ॥ २३१ ॥

स्वकृत वीरकर्मवर्णन, शस्त्रोत्क्षेपण, उग्रता, आवेग, रोमाञ्च, स्वेद, कम्प, मद, आक्षेप, क्रूरदृष्टि आदि । इसके जो व्यभिचारीभाव हैं उनमें मोह अमर्ष आदि का स्थान है ।

उदाहरण के लिये (वेणीसंहार में अश्वत्थामा के क्रोध का यह अभिव्यञ्जन)—

'पाण्डव वीरो ! कुरु प्रवीरो ! अभी-अभी देख लो कि कृष्ण, भीम, अर्जुन और उन-उन निर्मर्याद, शस्त्रधारी नरपशुओं के खून, चर्बी और मांस के लोथड़ों से, जिन्होंने यह (द्रोणवध रूप) महापाप किया या इस घोर पातक में राय दी या इस कुकर्म के साक्षी बने, कैसे दिशाओं को बलि चढ़ा देता हूँ ।'

विमर्श—(क) रौद्र के स्थायी भाव 'क्रोध' का यह स्वरूप विवेक है—

'तेजसो जनकः क्रोधः समिधा कथ्यते बुधैः ।
क्रोधः कोपश्च रोषश्चेत्येष भेदस्त्रिधा मतः ॥
क्रुत् क्रौर्यं तेन सर्वत्र धत्त्यतीत्यस्य निर्वहः ।
क्रोध्यते क्रोधयत्येव क्रोध इत्यभिधीयते ॥'

(भावप्रकाशन : २ य अधिकार)

और 'क्रोध' के अभिव्यङ्ग्य स्वरूप 'रौद्र' का यह—

'यत्कर्म रोदयत्यन्यान् स रौद्र इति वा भवेत् ।'

(ख) रौद्र के अभिमानी देव 'रुद्र' हैं जैसा कि कहा भी गया है—

'रौद्रस्य यदधिष्ठानं कर्म रोगरुजात्मकम् ।
रुद्रस्य च तदस्तीति सोऽयमस्याधिदैवतम् ॥'

अनुवाद—'रौद्र' और 'युद्धवीर' का भेद स्पष्ट है क्योंकि 'रौद्र रस' में तो मुख लाल हो उठता है तथा आँखें जलने लगती हैं किन्तु 'युद्धवीर रस' में ये सब बातें नहीं होने पातीं ।

विमर्श—(क) 'युद्धवीर' और 'रौद्र' का पारस्परिक स्वरूपभेद काव्यानुशासनकार के शब्दों में इस प्रकार है—

'इह (युद्धवीरे) चापत्पङ्कनिमग्नतां स्वल्पसन्तोषं मिथ्याज्ञानं चापास्य यस्तत्त्वनिश्चयरूपोऽसंमोहाध्यवसायः स एवंप्रधानतयोत्साहहेतुः । रौद्रे तु ममताप्राधान्याद्दशास्त्रितानुचितयुद्धाद्यभीतिमोहविस्मयप्राधान्यमिति विवेकः ।'

अर्थात् युद्धवीर में तो मोहरहित अध्यवसाय का प्राधान्य रहा करता है किन्तु रौद्र में मोह-विस्मय की प्रधानता रहा करती है । असंमोह और मोह का ऐकरूप्य कहाँ ? युद्धवीर और रौद्र भी एक कैसे ?

(५—वीररस : सप्रभेद-स्वरूप-विवेक)

अथ वीरः—

उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः ।
महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः ॥ २३२ ॥
आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः ।
विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ।
अनुभावास्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणादयः ॥ २३३ ॥
सञ्चारिणस्तु धृतिमतिगर्वस्मृतितर्करोमाञ्चाः ।
स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात् ॥२३४॥

स च वीरो दानवीरो धर्मवीरो युद्धवीरो दयावीरश्चेति चतुर्विधः ।
तत्र दानवीरो यथा परशुरामः—

'त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः' इति ।

(ख) आचार्यों ने आङ्गिक, नैपथ्यज और वाचिक रूप से रौद्र के भी तीन भेद बताये हैं—

'बाहुभिर्हस्वदीर्घैश्च बहुशस्त्रास्त्रधारिभिः ।
उद्वृत्तरक्तनयनैः महाकायैः सितेतरैः ॥
एवंप्रकारो रौद्रोऽयमाङ्गिकः कथ्यते बुधैः ।
कृष्णरक्तानि वासांसि कृष्णरक्तानुलेपनम् ॥
कृष्णरक्तानि माल्यानि कृष्णं रक्तं च भूषणम् ।
एवं नैपथ्यजो रौद्र इति विद्वद्भिरुच्यते ॥
छिन्धि भिन्धि वधानैनं खाद मारय ताडय ।
पिबामि रुधिरं तेऽद्य पिनष्टीत्यादि यद्वचः ॥
एतत्तु वाचिको रौद्र इति नाट्यविदीरितः ।'

अनुवाद—'वीररस' वह है जिसे 'उत्साह' रूप स्थायी भाव का आस्वाद कहा गया है। इसके आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति हैं। इसका वर्ण स्वर्ण-वर्ण है और इसके देवता हैं महेन्द्र। इसके 'आलम्बन' विभाव विजेतव्य शत्रु आदि हैं और इन विजेतव्य शत्रु आदि-कों की चेष्टायें इसके उद्दीपन विभाव हैं। युद्धादि की सामग्री किंवा अन्यान्य सहायक साधनों के अन्वेषण इसके 'अनुभाव' रूप हैं। धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमाञ्च आदि-आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं। इसके ये चार भेद स्पष्ट हैं—

१. दानवीर, २. धर्मवीर, ३. युद्धवीर और ४. दयावीर। तात्पर्य यह है कि वीर रस ही दान-धर्म-युद्ध और दयावीर-रूप में चतुर्विध प्रतीत हुआ करता है।

उदाहरण के लिये—१. दानवीर (जैसे कि परशुराम के दानविषयक उत्साह का 'महावीरचरित' में यह अभिव्यञ्जन)।

'परशुराम के त्याग की क्या सीमा! सप्त समुद्र पर्यन्त पृथिवी के निष्कारण दानी उस महादानवीर के त्याग का क्या कहना!' आदि।

अत्र परशुरामस्य त्यागे उत्साहः स्थायिभावः, संप्रदानभूतब्राह्मणैरालम्बन-विभावैः सत्त्वाध्यवसायादिभिश्चोद्दीपनविभावैर्विभावितः, सर्वस्वत्यागादिभिरनुभावैरनुभावितो, हर्षधृत्यादिभिः संचारिभिः पुष्टिं नीतो दानवीरतां भजते।

धर्मवीरो यथा युधिष्ठिरः—

'राज्यं च वसु देहश्च भार्या भ्रातृसुताश्च ये।
यच्च लोके ममायत्तं तद् धर्माय सदोद्यतम्॥'

युद्धवीरो यथा श्रीरामचन्द्रः—

'भो लङ्केश्वर! दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते
कोऽयं ते मतिविभ्रमः स्मर नयं नाद्यापि किंचिद्गतम्।
नैवं चेत् खरदूषणत्रिशिरसां कण्ठासृजा पङ्किलः
पत्री नैष सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः॥'

दयावीरो यथा जीमूतवाहनः—

'शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत् किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन्!॥'

एष्वपि विभावादयः पूर्वोदाहरणवदूह्याः।

यहाँ (उपर्युक्त परशुराम-वर्णन में) परशुराम के हृदय का 'त्याग' विषयक 'उत्साह' स्थायी भाव है। यह स्थायी भाव 'आलम्बन' रूप दान के पात्र ब्राह्मणों किंवा उद्दीपनरूप सत्त्वोद्रेकादि गुणों से विभावित-अभिव्यक्त हो रहा है, और सर्वस्व-समर्पण आदि-आदि अनुभाव इसे अनुभावित करने में तत्पर हैं किंवा हर्ष, धृति आदि-आदि व्यभिचारी भाव इसके परिपोषक बन रहे हैं। अन्ततो गत्वा यह त्यागोत्साह 'दानवीर' का आस्वाद बन कर सहृदय हृदय को आनन्दित कर रहा है।

(२) धर्मवीर (जैसे कि युधिष्ठिर के हृदय के 'धर्मोत्साह' का यह अभिव्यञ्जन)—

'यह राज्य, यह वैभव, यह शरीर, यह धर्मपत्नी, ये भाई, ये पुत्र-पौत्र और संसार की सभी मेरी चीजें, बस, एक मात्र धर्म के लिये समर्पित हैं।'

(३) युद्धवीर (जैसे कि 'बालरामायण' में अंकित राम के युद्धोत्साह का यह अभिव्यञ्जन)—

'अरे लङ्कापति रावण! सीता को सौंप दे। राम तुझसे याचना कर रहा है। मतिभ्रम छोड़ दे। नीतिमार्ग का अनुसरण कर। अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा। अगर तूने सुनी-अनसुनी की तो याद रख, खर, दूषण और त्रिशिरा के कण्ठरुधिर से सना, धनुर्ज्या पर चढ़ा, मेरा बाण तुझे जिन्दा न छोड़ेगा।'

(४) दयावीर (जैसे कि 'नागानन्द' में जीमूतवाहन के हृदय के दयाविषयक उत्साह का यह अभिव्यञ्जन)—

'हे गरुड़ देव! अभी भी मेरी नाडियों से रुधिर बह रहा है, और अभी भी मेरी देह में मांस बचा है। मुझे लगता है तुम इतने से सन्तुष्ट नहीं। क्या बात है। तुमने खाना क्यों छोड़ दिया!'

इन वीर-भेदों के विभाव, अनुभाव आदि 'दानवीर' के प्रसङ्ग में निर्दिष्ट प्रकार का अनुसरण करते स्वयं समझे जा सकते हैं।

(६—भयानक रस)

अथ भयानकः—

भयानकौ भयस्थायिभावो भूताधिदैवतः ।

विमर्श—(क) 'वीर' का व्युत्पत्ति-लभ्य जो स्वरूप है वह यह है—

'विरुद्धान्राति हन्तीति वीरशब्दस्य निर्वहः ॥
विविधं च विचित्रं च लाति जानाति कृन्तति ।
एवं वा वीरशब्दार्थः कथितः पूर्वसूरिभिः ॥
प्रेरयत्यत्र विद्विष्टानिति वीरो निरुच्यते ।'

(ख) वीररस के अधिदैवत 'महेन्द्र' की मान्यता का यह आधार है—

'वीरस्य यदधिष्ठानं तद्धैर्यमिति गण्यते ।
धीरो महेन्द्रो यस्मात्तु सोऽयमस्याधिदैवतम् ॥'

(ग) साहित्यदर्पणकार ने 'वीर' के चार भेद बताये हैं। प्राचीन काव्याचार्यों का इस सम्बन्ध में मतभेद है। जैसे कि दशरूपककार ने ही दया-युद्ध और दान के सम्बन्ध से तीन प्रकार का ही 'वीररस' माना है—

'वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्वमोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यैः ।
उत्साहभूः स च दया-रण-दानयोगात् त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः ॥'

काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र ने भी तीन प्रकार का ही वीररस माना है—

'नयादिविभावः स्थैर्याद्यनुभावो धृत्यादिव्यभिचार्युत्साहो धर्म-दान-युद्धभेदो वीरः ।'

किन्तु जहां दशरूपककार ने दयावीर, युद्धवीर और दानवीर को वीर-प्रकार बताया है वहां काव्यानुशासनकार के अनुरूप धर्मवीर, दानवीर और युद्धवीर ही वीररस के भेदत्रय के रूप में सिद्ध होते हैं।

नाट्यदर्पणकार ने वीररस के प्रकारों की संख्या और भी बढ़ा दी है—**'स चानेकधा युद्ध-धर्म-दान-गुण-प्रतापावर्जनाद्युपाधिभेदात् ।'**

साहित्यदर्पणकार ने मध्यमार्ग का आश्रय लिया है और वीररस के चार भेदों का ही निर्धारण उचित समझा है।

(घ) युद्धवीर-दानवीर और दयावीर का निम्नोद्धृत लक्षण ध्यान देने योग्य है—

'निरायुधस्याप्येकस्य हीनस्यापि परिच्छदैः ।
अभीतिर्बहुभिर्युद्धं व्यवसायो रणे मदः ।
हर्षः शस्त्रास्त्रघातेषु समरादपलायनम् ॥
भीताभयप्रदानं च प्रपन्नस्यार्तिभञ्जनम् ।
एवं युद्धात्मको वीरस्तज्ज्ञैः कविभिरीरितः ॥
अर्थिनामीप्सितादर्थाद् प्रदायैभ्योऽधिकं बहु ।
अर्थिनः पुनरायातान् स्वजनानितरानपि ॥
यन्मानयति दानेन वाक्येन मधुरेण च ।
एतद्दानात्मको वीरः कथ्यते दानशीलिभिः ॥
व्याधि-दारिद्र्य-शस्त्रास्त्र-क्षुत्पिपासादि-पीडितान् ।
अनुगृह्णाति यः प्रीत्या स वीरः स्याद् दयात्मकः ॥'

(भावप्रकाशन : ३ य अधिकार)

अनुवाद—**भयानकरस—'भयानक' वह रस है जिसे 'भय'रूप स्थायी भाव का**

स्त्रीनीचप्रकृतिः कृष्णो मतस्तत्त्वविशारदैः ॥ २३५ ॥
यस्मादुत्पद्यते भीतिस्तदत्रालम्बनं मतम् ।
चेष्टा घोरतरास्तस्य भवेदुद्दीपनं पुनः ॥ २३६ ॥
अनुभावोऽत्र वैवर्ण्यगद्गदस्वरभाषणम् ।
प्रलयस्वेदरोमाञ्चकम्पदिक्प्रेक्षणादयः ॥ २३७ ॥
जुगुप्सावेगसंमोहसंत्रासग्लानिदीनताः ।
शङ्कापस्मारसम्भ्रान्तिमृत्य्वाद्या व्यभिचारिणः ॥ २३८ ॥

यथा—

'नष्टं वर्षवरैः—' इत्यादि ।

(७—बीभत्स रस)

अथ बीभत्सः—

जुगुप्सास्थायिभावस्तु बीभत्सः कथ्यते रसः ।
नीलवर्णो महाकालदैवतोऽयमुदाहृतः ॥ २३९ ॥

आस्वाद कहा जाया करता है। इसका वर्ण कृष्ण है और इसके देवता-'काल' (कृतान्त) हैं। काव्य-कोविदों ने स्त्री किंवा नीच प्रकृति के लोगों को इसका आश्रय माना है। इसका आलम्बन भयोत्पादक पदार्थ है और ऐसे भयोत्पादक पदार्थों की भीषण चेष्टायें इसके उद्दीपन विभाव का काम करती हैं। विवर्णता, गद्गदभाषण, प्रलय, स्वेद, रोमाञ्च, कम्प, इतस्ततः अवलोकन आदि-आदि इसके अनुभाव हैं। इसके व्यभिचारीभावों में जुगुप्सा, आवेग, संमोह, संत्रास, ग्लानि, दीनता, शङ्का, अपस्मार, संभ्रम, मरण आदि आदि आते हैं।

उदाहरण के लिये, 'नष्टं वर्षवरैः' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति पर्याप्त है।

विमर्श—'भयानक' शब्द की यह व्युत्पत्ति है जिसमें 'भयानक' का स्वरूप-परामर्श स्पष्ट प्रतीत हो रहा है—

'ञिभी भय इति प्रायो धातुः स्यात् भयवाचकः ।
चलनं भय-शब्दार्थं इति विद्वद्भिरुच्यते ॥
बिभेति भाययत्यन्यान् कर्मणेति यथाक्रमम् ।
कश्चिच्चलति कस्माच्चिद् भावात्तेनैव हेतुना ॥
चाल्यते च यतस्तस्माद् भयं तु चलनात्मकम् ।
भयेनाक्रोशतो जन्तोर्जायते स भयानकः ॥'

(भावप्रकाशन : २ य अधिकार)

भयानक के अधिदैवत कृतान्त (काल) की उपासना का यह आधार है—

'भयानकस्याधिष्ठानं विकृताकाररूपता ।
कालदेवस्य संहारकालेऽस्तीति स देवता ॥'

अनुवाद—बीभत्स रस—

'बीभत्स' वह रस है जिसे 'जुगुप्सा' के स्थायी भाव का अभिव्यञ्जन माना जाता

दुर्गन्धमांसरुधिरमेदांस्यालम्बनं मतम् ।
तत्रैव क्रमिपाताद्यमुद्दीपनमुदाहृतम् ॥ २४० ॥
निष्ठीवनास्यवलननेत्रसङ्कोचनादयः ।
अनुभावास्तत्र मतास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः ॥ २४१ ॥
मोहोऽपस्मार आवेगो व्याधिश्च मरणादयः ।

यथा—

'उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छ्रोथभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥'

करता है। इसका वर्ण नील है। इसके देवता महाकाल हैं। इसके आलम्बन दुर्गन्धमय मांस, रक्त, मेद (चर्वी) आदि-आदि हैं। इन्हीं दुर्गन्धमय मांसादि में कीड़े पड़ने आदि को इसका उद्दीपन विभाव माना जाता है। निष्ठीवन (थूकना), आस्यवलन (मुँह फेरना), नेत्रसंकोचन (आंखें मीजना) आदि-आदि इसके अनुभाव हैं और मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि तथा मरण आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं।

उदाहरण के लिये (महाकवि भवभूति के 'मालतीमाधव' में माधव की 'जुगुप्सा' का यह अभिव्यञ्जन)—

'कैसा घिनौना दृश्य है ! एक महादरिद्र प्रेत अपनी जांघों पर मुर्दे को लिटाये है, उसकी हड्डियों से चमड़ी उधेड़ रहा है, उसके कन्धे, चूतड़, पीठ, पिंडली आदि-आदि में चिपके, बुरी तरह दुर्गन्ध करने वाले, फूले-सड़े मांस को खाता जा रहा है, इस डर से कि कहीं कोई दूसरा प्रेत न आ धमके, चारों ओर आंखें फाड़-फाड़ कर देख रहा है, दांत किटकिटा रहा है और अभी तो उसने ऐसा किया कि क्या कहा जाय ! कहीं-कहीं हड्डियों की जोड़ में धंसे मांस को भी बड़ी प्रसन्नता से खाता दीख रहा है !'

विमर्श—बीभत्स का व्युत्पत्ति-लभ्य स्वरूप-विवेक यह है—

'बधेर्धातोस्सनन्तस्य बीभत्सा रूपमिष्यते ।
यत्पदार्थस्य बीभत्सा स बीभत्स इतीरितः ।
गर्हा निन्दा च बीभत्सा कुत्सा पर्यायवाचकाः ॥
गर्हणीयश्च निन्द्यश्च कुत्सनीयश्च यो भवेत् ।
स भावः कथ्यते सद्भिर्बीभत्स इति संज्ञया ॥'

बीभत्स के 'अधिदैवत' को महाकाल मानने का आधार यह है—

'बीभत्सस्याप्यधिष्ठानं महाकालोऽसृगात्मकः ।
प्रलयेऽस्य तदस्तीति सोऽयमस्याधिदेवता ॥'

'बीभत्स' के आङ्गिक, वाचिक और मानसिक भेद भी बताये गये हैं जिनमें 'मानसिक' बीभत्स का यह स्वरूप है—

'रुधिरादिषु दृष्टेषु मनः क्षुभ्यति चञ्चलम् ।
अतो हि मानसः सद्भिर्बीभत्सः क्षोभनः स्मृतः ॥

(८—अद्भुत रस)

अथाद्भुतः—

अद्भुतो विस्मयस्थायिभावो गन्धर्वदैवतः ॥ २४२ ॥
पीतवर्णो वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम् ।
गुणानां तस्य महिमा भवेदुद्दीपनं पुनः ॥ २४३ ॥
स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चगद्गदस्वरसंभ्रमाः ।
तथा नेत्रविकासाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः ॥ २४४ ॥
वितर्कावेगसंभ्रान्तिहर्षाद्या व्यभिचारिणः ।

यथा—

'दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
ष्टंकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्यस्तकपालसंपुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥'

बिभेति म्लायति द्वेष्टि मुहुर्मुह्यति कुद्ध्यति ।
क्रन्दत्यपक्रामति च विषीदति च निन्दति ॥
दयते भ्राम्यति त्रस्यत्यास्ते तूष्णीं च गूहते ।
यत्ततो मानस-क्षोभजन्मा बीभत्स उच्यते ॥'

यह मानसिक बीभत्स संस्कृत काव्य-साहित्य में यत्र-तत्र अभिव्यक्त किया गया है ।

अनुवाद—**अद्भुत रस**—

'अद्भुत' वह रस है जिसे 'विस्मय' के स्थायी भाव का अभिव्यञ्जन कहा करते हैं । इसका वर्ण पीत है । इसके देवता गन्धर्व हैं । इसका आलम्बन अलौकिक वस्तु है । अलौकिक वस्तु का गुण-कीर्तन इसका उद्दीपन है । स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, गद्गदस्वर, संभ्रम, नेत्रविकास आदि-आदि इसके अनुभाव हैं । इसमें वितर्क, आवेग, संभ्रम, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव परिपोषण का काम करते हैं ।

उदाहरण के लिये—('महावीरचरित' में लक्ष्मण के 'विस्मय' का यह अभिव्यञ्जन)
'ओह ! राम के भुजदण्डों पर चढ़े, शङ्कर के, पिनाक के खण्ड-खण्ड होने से उत्पन्न यह धनुष्टङ्कार-निध्वान, बालराम के वीर्यावदानों का प्रस्तावक यह डिण्डिमध्वान, अपने प्रचण्ड आघात से ब्रह्माण्ड-भाण्ड को तोड़ता-फोड़ता किं वा पुनः जोड़ने वाला यह भयङ्कर निर्घात, ओह ! अभी भी शान्त नहीं हो रहा !'

विमर्श—अद्भुत रस के विभावों में दिव्य दर्शन, ईप्सित मनोरथ-पूर्ति, वनविहार, अलौकिक शिल्पदर्शन आदि-आदि की गणना की गयी है । 'इन्द्रजाल' को भी विस्मय का विभावक माना गया है । 'इन्द्रजाल' का अभिप्राय मन्त्र, द्रव्य अथवा हस्तलाघव आदि के द्वारा विचित्र-विचित्र वस्तुओं का प्रदर्शन है । रम्य-दर्शन भी अद्भुतरस का एक विशिष्ट विभाव है । 'अद्भुत' के अनुभावों में नयनविस्तार, निर्निमेषवीक्षण, साधुवाद, गद्गद वचन आदि-आदि का विशेष महत्त्व है । हर्ष, आवेग आदि यहां व्यभिचारी भाव हैं । इनकी योजना से सहृदय हृदय में 'विस्मय' के स्थायी भाव की चर्वणा हुआ करती है जिसे अद्भुत रूप आस्वाद कहा करते हैं । निम्नसूक्ति में 'विस्मय' का एक सुन्दर अभिव्यञ्जन है—

(९—शान्तरस)

अथ शान्तः—

शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः ॥ २४५ ॥
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः ।
अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनिःसारता तु या ॥ २४६ ॥
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते ।
पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः ॥ २४७ ॥
महापुरुषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ।
रोमाञ्चाद्याश्चानुभावास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः ॥ २४८ ॥
निर्वेदहर्षस्मरणमतिभूतदयादयः ।

तथा—

'रथ्यान्तश्चरतस्तथा धृतजरत्कन्थालवस्याध्वगैः
सत्रासं च सकौतुकं च सदयं दृष्टस्य तैर्नागरैः ।
निर्व्याजीकृतचित्सुधारसमुदा निद्रायमाणस्य मे
निःशङ्कः करटः कदा करपुटीभिक्षां विलुण्ठिष्यति ॥'

'शिला कम्पं धत्ते शिव शिव वियुङ्क्ते कठिनता-
महो नारीच्छायामयति वनिताभूयमयते ।
वदत्येवं रामे विचलितमुखी वल्कलमुर-
स्थले कृत्वा बद्ध्वा कचभरमुदस्थाद् ऋषिवधूः ॥'

(ख) भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में अद्भुतरस के अधिदैवत ब्रह्मा माने गये हैं (अद्भुतो ब्रह्मदैवतः) भावप्रकाशनकार ने इसीलिये कहा है—

अद्भुतस्याप्यधिष्ठानं नानाशिल्पात्मिकैव धीः ।
ब्राह्मणः सेयमस्तीति सोऽयमस्याधिदैवतम् ॥'

यहां विश्वनाथ कविराज ने 'गन्धर्व' को इसका अधिदेवत मान लिया है। विश्वनाथ कविराज की इस मान्यता का आधार कुछ प्राचीन आलङ्कारिक हैं जिन्होंने अद्भुत को 'गन्धर्वदैवत' कहा है।

अनुवाद—शान्तरस—

'शान्त' वह रस है जो कि 'शम' रूप स्थायी भाव का आस्वाद हुआ करता है। इसके आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति हैं। इसका वर्ण कुन्द-श्वेत अथवा चन्द्र-श्वेत हैं। इसके देवता श्रीभगवान् नारायण हैं। अनित्यता किं वा दुःखमयता आदि के कारण समस्त सांसारिक विषयों की निःसारता का ज्ञान अथवा साक्षात् परमात्म-स्वरूप का ज्ञान ही इसका 'आलम्बन' विभाव है। इसके उद्दीपन हैं पवित्र आश्रम, भगवान् की लीलाभूमियां तीर्थ स्थान, रम्य कानन, साधु-सन्तों के संग आदि-आदि। रोमाञ्च आदि इसके अनुभाव हैं और इसके व्यभिचारी भाव हैं—निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति, जीवदया आदि।

उदाहरण के लिये—

'मेरा कब ऐसा सौभाग्य होगा जब कि फटी-चिटी गुदड़ी लपेटे, गली-गली घूमते, मुझ

पुष्टिस्तु महाभारतादौ द्रष्टव्या।

(शान्त और दयावीर : परस्पर भिन्न प्रकार के रस)

अस्य दयावीरादेः सकाशाद् भेदमाह—

निरहङ्काररूपत्वात् दयावीरादिरेष नो ॥ २४९ ॥

दयावीरादौ हि नागानन्दादौ जीमूतवाहनादेरन्तरा मलयवत्याद्यनुरागादेरन्ते च विद्याधरचक्रवर्तित्वाद्याप्तेर्दर्शनादहङ्कारोपशमो न दृश्यते। शान्तस्तु

पर नगरनिवासी लोग कभी मस्त, कभी कुतूहलभरी और कभी दयापूर्ण दृष्टि से देख पायेंगे ! ओह ! वह कौन सा दिन होगा जब कि मैं पारमार्थिक आत्मानन्द रूप अमृत-पान में मग्न, संसार से आँखें फेर लूंगा और मेरे करपुट के भिक्षा-कण निःशङ्क कौओं द्वारा चुन लिये जायेंगे।'

शान्तरस का परिपोष महाभारत आदि महाप्रबन्धों में दिखायी देता है और वहीं इसे देखना उचित भी है।

विमर्श—विश्वनाथ कविराज ने स्वात्मविश्रान्तिरूप 'शम' को शान्त का स्थायी भाव कहा है जब कि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट के अनुसार तत्त्वज्ञानज 'निर्वेद' शान्त का स्थायी भाव है। 'शान्त 'रस' है या नहीं'—इसके सम्बन्ध में भरतमुनि से लेकर बाद के काव्य-नाट्य-कोविदों तक विभिन्न विचार चलते दिखायी देते हैं। भरत मुनि की मान्यता में शान्त एक अतिरिक्त रस है—इसका समीचीन समर्थन अभिनव भारती के पाठकों से छिपा नहीं है। '३३ व्यभिचारी भावों में अमङ्गलात्मक 'निर्वेद' की प्रथम गणना निर्वेदात्मक शान्त की स्थापना का उपक्षेप है' इस अभिप्राय से काव्यप्रकाशकार ने 'निर्वेद' स्थायी शान्त रस की सिद्धि की है। काव्यप्रकाशकार ने जिस 'निर्वेद' को शान्त का स्थायी माना है वह निर्वेद दारिद्र्यादि-प्रभव निर्वेद नहीं अपि तु तत्त्वज्ञान-प्रभव निर्वेद है। यहाँ विश्वनाथ कविराज ने शम को जो शान्तरस का स्थायी भाव स्वीकार किया है वह भी प्राचीन मान्यता का ही एक अनुसरण है। काव्यानुशासनकार ने 'शम' को ही शान्त का स्थायी भाव माना है और शम का अभिप्राय 'तृष्णाक्षय' लिया है—

'वैराग्यादिविभावो यमाद्यनुभावो धृत्यादिव्यभिचारी शमः शान्तः'—वैराग्यसंसारभीरुतातत्त्वज्ञानवीतरागपरिशीलनपरमेश्वरानुग्रहादिविभावो यमनियमाध्यात्मशास्त्रचिन्तनाद्यनुभावो धृतिस्मृतिनिर्वेदमत्यादिव्यभिचारी तृष्णाक्षयरूपः शमः स्थायिभावश्चर्वणां प्राप्तः शान्तो रसः' (काव्यानुशासन २-१७)

नाट्यदर्पणकार के भी अनुसार 'शम' ही शान्त का स्थायी भाव है—

'संसारभय-वैराग्य-तत्त्व-शास्त्रविमर्शनः ।
शान्तोऽभिनयनं तस्य क्षमा ध्यानोपकारतः ॥'

देव-मनुष्य-नारक-तिर्यग्रूपेण बहुधा परिभ्रमणं संसारः, तस्माद् भयम्। वैराग्यं विषयवैमुख्यम्। तत्त्वस्य जीवाजीव-पुण्यपापादि-रूपस्य, शास्त्रस्य मोक्षहेतु-प्रतिपादकस्य विमर्शनंपुनः पुनश्चेतसि न्यसनम्। एवमादिभिर्विभावैः काम-क्रोध-लोभ-मान-मायाद्युपरक्त-परोन्मुखता-विवर्जिताक्लिष्टचेतोरूपशमस्थायी शान्तो रसो भवति। (नाट्यदर्पण : ३ य विवेक)

अनुवाद—'दयावीर' और 'शान्त' का परस्पर भेद यह है—

'दयावीर' में तो अहङ्कार की मात्रा रहा करती है किन्तु 'शान्त रस' ऐसा है जिसमें (शम के स्थायी होने से) अहङ्कार का किञ्चिन्मात्र भी सद्भाव असंभव है।

इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—'नागानन्द' नाटक का रस 'दयावीर' है।

सर्वाकारेणाहङ्कारप्रशमैकरूपत्वान्न तत्रान्तर्भावमर्हति । ततश्च नागानन्दादेः शान्तरसप्रधानत्वमपास्तम् । ननु—

'न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु समप्रमाणः ॥'

इत्येवंरूपस्य शान्तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्तत्र सञ्चार्यादीनामभावात् कथं रसत्वमित्युच्यते—

युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः ।
रसतामेति तदस्मिन् सञ्चार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा ॥२५०॥

यश्चास्मिन्सुखाभावोऽप्युक्तस्तस्य वैषयिकसुखपरत्वान्न विरोधः । उक्तं हि—

'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥'
'सर्वाकारमहङ्काररहितत्वं व्रजन्ति चेत् ।
अत्रान्तर्भावमर्हन्ति दयावीरादयस्तथा ॥'

इसके नायक जीमूतवाहन के हृदय में अहङ्कार का भाव शान्त नहीं होता। कहां तो जीमूतवाहन नायक का, रह-रह कर मलयवती का प्रेम-चित्रण और अन्ततोगत्वा विद्याधरसाम्राज्य का चक्रवर्तित्व-लाभ ! और कहां अहङ्कार का पूर्ण शमन ! 'दयावीर' में शान्त रस का अन्तर्भाव सर्वथा असम्भव है। 'दयावीर' में अहंकार की मात्रा मिली है और शान्तरस है सर्वथा अहंता-ममता के भावों का प्रशमन-स्वरूप ! जो लोग 'नागानन्द' आदि को शान्तरस का नाटक-प्रबन्ध माना करते हैं उनकी यह मान्यता सर्वथा निर्मूल ही प्रतीत होती है।

यहां कुछ लोगों का कहना है—'शान्त' को तो रस ही नहीं माना जा सकता। 'शांत' का स्वरूप है—दुःख-निर्मुक्त, सुख-निर्लिप्त, चिन्ताशून्य, द्वेषरहित, रागवर्जित, समस्त कामनाओं से उत्तीर्ण, समलोष्टाश्मकाञ्चन, एक अनिर्वचनीय स्वरूप और यही वह स्वरूप है जिसे मुनिजन समझाते आते हैं।' अब, जब कि शान्त के इस स्वरूप का अनुभव उस मोक्ष अथवा परमात्म स्वरूप-प्राप्ति में ही संभव है जिसमें (विभावादि का विभावन और) व्यभिचारी भावों का परिपोषण कदापि संभव नहीं, तब इसे 'रस' मानने से क्या लाभ !

किन्तु इस शंका का यह समाधान रहा—

जो 'शम' शान्त रस का स्थायीभाव हुआ करता है वह उस प्रकार का 'शम' है जो कि युक्त (ब्रह्मध्यानमग्न) किंवा वियुक्त (सिद्ध) अवस्थाओं में विराजमान रहा करता है। इस दृष्टि से इसमें व्यभिचारिभावों के परिपोष आदि की चर्चा असंगत नहीं (अपि तु सर्वथा संगत है)।

यहाँ 'सुखाभाव' की जो विशेषता (जैसे कि 'न यत्र दुःखं न सुखं' आदि में) मानी गयी है उसका अभिप्राय 'वैषयिक सुखाभाव' का है। इसलिये 'शम-' (रूप परमसुख) और 'सुखाभाव' में कोई विरोध नहीं। तभी तो कहा गया है—

'क्या लौकिक विषय-सुख और क्या अलौकिक स्वर्ग-सुख—ये कोई भी ऐसे नहीं जो तृष्णाशमन के सुख की सोलहवीं कला की भी बराबरी कर सकें !'

'शान्त रस ही वह समुद्र है जिसमें यदि दयावीर आदि-आदि सभी प्रकार की अहंता-ममता के भावों से निर्मुक्त हो जांय तो डूबते-उतराते दिखायी देने लगें।'

आदिशब्दाद्धर्मवीरदेवताविषयकरतिप्रभृतयः।

तत्र देवताविषया रतिर्यथा—

कदा वाराणस्यामिह सुरधुनीरोधसि वसन्
वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम्।
अये गौरीनाथ ! त्रिपुरहर ! शंभो ! त्रिनयन !
प्रसीदेति क्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्॥'

(वत्सल रस : भरतमुनि की मान्यता)

अथ मुनीन्द्रसंमतो वत्सलः—

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥ २५१॥

यहाँ (ऊपर उद्धृत सूक्ति में 'दयावीरादयः' पद में) जो 'आदि' पद प्रयुक्त है उसका अभिप्राय धर्मवीर, दानवीर, देवताविषयक रति आदि-आदि के समुच्चय का अभिप्राय है।

जैसे कि देवताविषयक रति भाव का यह अभिव्यञ्जन (जो कि शान्तरस में ही अन्तर्भूत प्रतीत हो रहा है)—

'वह दिन कब आयगा जब मैं काशीपुरी में, भगवती भागीरथी के किनारे रहने लगूंगा, कौपीन पहनने लगूंगा और सिर पर हाथ जोड़े 'हे गौरीनाथ ! हे त्रिपुरान्तक ! हे शंभो ! हे त्रिलोचन ! दया करो दया करो' बोलते-बोलते अपने जीवन के दिनों को आनन्द के एक क्षण की भाँति बिता सकूंगा !'

विमर्श—(क) 'शम' प्रधान शान्तरस का अन्यत्र अन्तर्भाव असम्भव है—इस सम्बन्ध में काव्यानुशासनकार की ये पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

'न चास्य (शान्तस्य) विषयजुगुप्सारूपत्वाद् बीभत्सेऽन्तर्भावो युक्तः। जुगुप्सा ह्यस्य व्यभिचारिणी भवति न तु स्थायितामेति। पर्यन्तनिर्वाहे तस्या मूलत एव उच्छेदात्।' न च धर्मवीरेः, तस्याभिमानमयत्वेन व्यवस्थापनात्। अस्य चाहङ्कार-प्रशमैकरूपत्वात्। तथापि तयोरेकत्वपरिकल्पने वीररौद्रयोरपि तथा प्रसङ्गः। धर्मवीरादीनां चित्तवृत्तिविशेषाणां सर्वाकारमहङ्काररहितत्वे शान्तरसप्रभेदत्वम्, इतरथा तु वीररसप्रभे-दत्वमिति व्यवस्थाप्यमाने न कश्चिद् विरोधः।' (काव्यानुशासन : २.१७)

(ख) जब कि 'शम' शान्त का स्थायीभाव है तब तो समस्त लौकिक किंवा अलौकिक चित्तवृत्तियाँ इसके व्यभिचारी भाव के रूप में ही मानी जा सकती हैं। किन्तु तब भी जुगुप्सा, निर्वेद आदि का परिपोष यहाँ विशेष रूप से अनुभव सिद्ध है जैसा कि माना भी गया है—

(ग) शान्त की अतिरिक्त मान्यता का एक कारण है जैसा कि कहा भी गया है—

'यथा च कामादिषु पुरुषार्थेषु समुचिताश्चित्तवृत्तयो रत्यादिशब्दवाच्याः कविनटव्या-पारेणास्वादयोग्यताप्रापणद्वारेण तथाविधहृदयसंवादवतः सामाजिकान् प्रति रसत्वं शृङ्गारादितया नीयन्ते, तथा मोक्षाभिधानपरपुरुषार्थोपचितापि शमरूपा चित्तवृत्ती रसतां नीयते इति।'

अर्थात् जैसे पुरुषार्थचतुष्टय में मोक्ष का पार्यन्तिक महत्त्व सिद्ध है वैसे ही रसों में भी शान्त का पार्यन्तिक आस्वाद सिद्ध ही है।

साहित्यदर्पणकार ने इसी भावना से प्रेरित हो 'शान्त' की सिद्धि की है।

अनुवाद—भरतमुनि की मान्यता में १० वां रस वत्सलरस—भरतमुनि आदि काव्य-

उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः ।
आलिङ्गनाङ्गसंस्पर्शशिरश्चुम्बनमीक्षणम् ॥ २५२ ॥
पुलकानन्दबाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः ।
सञ्चारिणोऽनिष्टशङ्काहर्षगर्वादयो मताः ॥ २५३ ॥
पद्मगर्भच्छविर्वर्णो दैवतं लोकमातरः ।

यथा—

'यदाह धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलीम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥'

नाट्य-कोविदों ने एक और भी रस मान रखा है और वह रस है 'वत्सल रस'। इसे इसलिये रस माना गया है क्योंकि इसका चमत्कार अन्य रसों के चमत्कार से अतिरिक्त प्रकार का ही आनन्द है। इसका जो स्थायी भाव है वह 'वात्सल्य प्रेम' है। 'आलम्बन' (वात्सल्य स्नेह के भाजन) पुत्र आदि हैं। यहां पुत्रादि की चेष्टाओं में, उनकी विद्या, शूरता, दया आदि-आदि उद्दीपन विभाव का कार्य करते हैं। आलिङ्गन, अङ्गस्पर्श, शिर-श्चुम्बन, सस्नेह वीक्षण, रोमाञ्च, आनन्दाश्रु आदि-आदि इसके अनुभाव हैं। इसके व्यभिचारीभावों में अनिष्टाशङ्का, हर्ष, गर्व आदि-आदि का समावेश है। इसका वर्ण पद्मगर्भ वर्ण (शुभ्र-पीत) है और इसके देवता गौरी आदि षोडश मातृचक्र हैं। उदाहरण के लिये (महाकवि कालिदास के रघुवंश में दिलीप के रघु-प्रेम का 'वात्सल्य-रस' में यह अभिव्यञ्जन)—

'शिशु रघुकुमार ने पिता दिलीप को प्रसन्नता से भर दिया। धाई के सिखाये 'मां' आदि शब्दों को बोलते-तुतलाते, धाई की अंगुली पकड़ कर चलते-फिरते, धाई के सिखाने से बड़े-बूढ़ों को प्रणाम करते, सभी प्रकार की बाललीला से बालक ने पिता को प्रसन्न कर दिया।'

विमर्श—व्यञ्जनावैशिष्ट्य और पुरुषार्थोपयोग के कारण, रत्यादि चित्तवृत्तियों के अभिव्यञ्जन और आस्वादन को ९ रस माना गया है किन्तु कतिपय आचार्य इनके अतिरिक्त भी कतिपय चित्तवृत्तियों की अभिव्यञ्जना माना करते हैं और ९ रसों के अतिरिक्त १० वें अथवा ११ वें रस की गणना किया करते हैं। अभिनवभारतीकार ने गर्द्धस्थायी 'लौल्यरस', आर्द्रतास्थायी 'स्नेहरस', आदि-आदि कतिपय अतिरिक्त रसों का नाम-निर्देश किया है। विश्वनाथ कविराज ने 'वत्सलता स्नेह' के अभिव्यञ्जन-आस्वादन को वत्सलरस के रूप में मान लिया है। काव्यप्रकाशकार के अनुसार 'वत्सल' कोई अतिरिक्त रस नहीं अपि तु वात्सल्य रूप रति का ही अभिव्यञ्जन है और 'भावध्वनि' में अन्तर्भूत है। काव्यप्रकाशकार की यह मान्यता प्राचीन परम्परा से तो अनुप्राणित है ही, युक्तियुक्त भी है। वैसे तो किसी को किसी भी चित्तवृत्ति का आस्वाद चमत्कारजनक लग सकता है किन्तु सभी चित्तवृत्तियों के अभिव्यञ्जन-आस्वादन के आधार पर यदि रस-गणना की जाने लगे तब तो रस की संख्या बहुत बड़ी हो जायगी। इस 'संख्या-गौरव' से कोई लाभ भी न होगा। 'वात्सल्य' की अभिव्यक्ति को 'वत्सलरस' मानने वाले आचार्य के लिये भगवदनु-रक्तिरूप भक्ति के आस्वाद को भी 'भक्तिरस' मानना उचित था। 'भक्तिरस' को अतिरिक्त रस न मानकर 'वत्सल' को अतिरिक्त रस मानने का कोई विशेष कारण नहीं प्रतीत होता।

(रसों का परस्पर विरोध)

एतेषां च रसानां परस्परविरोधमाह—

आद्यः करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकैः ॥ २५४ ॥
भयानकेन करुणेनापि हास्यो विरोधभाक् ।
करुणो हास्यशृङ्गाररसाभ्यामपि तादृशः ॥ २५५ ॥
रौद्रस्तु हास्यशृङ्गारभयानकरसैरपि ।
भयानकेन शान्तेन तथा वीररसः स्मृतः ॥ २५६ ॥
शृङ्गारवीररौद्राख्यहास्यशान्तैर्भयानकः ।
शान्तस्तु वीरशृङ्गाररौद्रहास्यभयानकैः ॥ २५७ ॥
शृङ्गारेण तु वीभत्स इत्याख्याता विरोधिता ।

(परस्पर विरुद्ध रस : विरोध-परिशमन-संकेत)

आद्यः शृङ्गारः । एषां च समावेशप्रकारा वक्ष्यन्ते ।

कुतोऽपि कारणात्क्वापि स्थिरतामुपयन्नपि ॥ २५८ ॥
उन्मादादिर्न तु स्थायी न पात्रे स्थैर्यमेति यत् ।

अनुवाद—इन उपर्युक्त रसों में परस्पर विरोधी भी हैं और इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—

(१) 'शृङ्गार' के विरोधी रस हैं—करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक ।
(२) हास्य के विरोधी रस हैं—भयानक और करुण ।
(३) करुण के विरोधी रस हैं—हास्य और शृङ्गार ।
(४) रौद्र का विरोध हास्य, शृङ्गार और भयानक रस से है ।
(५) वीररस का विरोध भयानक और शान्तरस से है ।
(६) भयानकरस शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त से विरुद्ध पड़ता है ।
(७) शान्तरस वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य और भयानक का विरोधी है । और
(८) बीभत्स रस का विरोधी रस शृङ्गार है ।

यहाँ (कारिका में) 'आद्यः' पद का अभिप्राय 'शृङ्गार' का है (क्योंकि यही सर्वप्रथम रस है) ।

विमर्श—रसों के पारस्परिक विरोध के कुछ कारण हैं । इन कारणों में ये मुख्य हैं—
(१) एक प्रक्रम में दो स्वतन्त्र रसों का समावेश ।
(२) दो समानबल रसों का एकाधिष्ठान ।
(३) दो समानबल रसों का अव्यवहित अभिव्यञ्जन । इसीलिये यह कहा गया है—

'एकत्र स्वैरिणोस्तुल्यशक्त्योर्योगे विरुद्धता' (नाट्यदर्पण ३ य विवेक)

और यह भी—

'उभौ शृङ्गारबीभत्सावुभौ वीरभयानकौ ।
रौद्राद्भुतावुभौ हास्यकरुणौ प्रकृतिद्विषौ ॥

यथा विक्रमोर्वश्यां चतुर्थेऽङ्के पुरूरवस उन्मादः।

(व्यभिचारी भावों की आपेक्षिक स्थिरता में भी अस्थायित्व)

(भावादिप्रधान वाक्य भी काव्य ही है)

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ ॥ २५९ ॥

सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः।

रसनधर्मयोगित्वाद्भावादिष्वपि रसत्वमुपचारादित्यभिप्रायः।

स्वभाववैरिणोरङ्गाङ्गिभावेनापि मिश्रणम्।
विवेकिभ्यो न स्वदते गन्धगन्धकयोरिव॥'

(रसार्णवसुधाकरः २ य विलास)

अनुवाद—अभी-अभी जिन-जिन रसों का परस्पर विरोध बताया गया है उनमें सहावस्थान (एक साथ स्थिति) भी संभव है और आगे (दोष-परिच्छेद में) इसका निरूपण भी कर दिया जायगा।

विमर्श—परस्पर स्वभाव-विरुद्ध रसों का सहाभिव्यञ्जन इन नियमों के अनुपालन में संभव है-

(१) आश्रय-भेद से अभिव्यञ्जन, जैसे कि नायक के आश्रय से 'वीर' और प्रतिनायक के आश्रय से 'भयानक' का एकत्र अभिव्यञ्जन।

(२) एक रस को परतन्त्र बना कर उसके विरोधी का वहीं अभिव्यञ्जन।

(३) एक मुख्य रस की अधीनता में दो विरुद्ध रसों का प्रकाशन।

(४) एक हीनबल और दूसरे अधिकबल-दो विरुद्ध रसों का अभिव्यञ्जन।

(५) अन्य रस के व्यवधान से दो परस्पर विरुद्ध रसों का अभिव्यञ्जन।

अनुवाद—कभी ऐसा भी संभव है कि किसी नायकादि में, किसी कारणवश, उन्माद आदि व्यभिचारी भाव स्थिर भाव के रूप में प्रतीत होने लगें किन्तु तब भी इन्हें स्थायी-भाव का पद नहीं मिल सकता क्योंकि ऐसा असंभव है कि ये भाव नायकादि-हृदय में आरम्भ से अन्त तक अविच्छिन्न रूप से स्थायी बने रहें।

उदाहरण के लिये, (महाकवि कालिदास की) 'विक्रमोर्वशी' में पुरूरवा का जो उन्माद वर्णित है वह चतुर्थ अङ्क पर्यन्त स्थिर रूप से विराजमान रहने पर भी 'स्थायीभाव' नहीं (क्योंकि 'विक्रमोर्वशी' का स्थायीभाव तो 'रति' भाव है जो कि अन्यत्र सर्वत्र अभिव्यक्त हुआ है)।

अब तक तो यह सिद्ध ही हो चुका कि जिसे 'काव्य' कहते हैं वह 'रसात्मक वाक्य' है। किन्तु 'रस' के आनन्दात्मक अनुभव स्वरूप होने से रसात्मक, भावात्मक, रसाभासात्मक, भावाभासात्मक, भावप्रशमात्मक, भावोदयात्मक, भावसन्ध्यात्मक किंवा भावशबलात्मक भी वाक्य 'काव्य' ही माने जाया करते हैं।

तात्पर्य यह है कि जैसे 'रस' में आस्वाद-विषयता रहा करती है वैसे ही भावादि में (भाव से लेकर भाव-शबलता तक में) भी, इसलिये भावाद्यात्मक वाक्य भी उपचारतः रसात्मक वाक्य ही माने जाया करते हैं। (इस प्रकार रसात्मक वाक्य की परिधि में ही भावात्मक, रसाभासात्मक आदि वाक्य भी समा जाते हैं और ये आस्वादजनक अष्टविध वाक्य-प्रकार 'काव्य' माने जाया करते हैं।

विमर्श—विश्वनाथ कविराज ने यहां सिंहावलोकन-न्याय से भावात्मक और आभासात्मक आदि काव्य-प्रकारों को 'रसात्मक' वाक्य रूप में देखा है। 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है' इस

('भाव'-(भावकाव्य) निरूपण)

भावादय उच्यन्ते—

सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः ॥ २६० ॥
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ।

'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।
परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः ॥'

इत्युक्तदिशा परमालोचनया परमविश्रान्तिस्थानेन रसेन सहैव वर्तमानोऽपि राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवदापाततो यत्र प्राधान्येनाभिव्यक्ता व्यभिचारिणो देवमुनिगुरुनृपादिविषया च रतिरुद्बुद्धमात्रा विभावादिभिरपरिपुष्टतया रसरूपतामनापद्यमानाश्च स्थायिनो भावा भावशब्दवाच्याः ।

तत्र व्यभिचारी यथा—

सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य के लिए ऐसा करना सर्वथा उचित भी है । नाट्यदर्पणकार की भी यही सम्मति है—

'न तथाऽर्थशब्दोत्प्रेक्षा श्लाघ्या काव्ये यथा रसः ।
विपाककम्रमप्याम्रमुद्वेजयति नीरसम् ॥

न हि नवनवार्थव्युत्पन्नशब्दप्रथनमेव काव्यम्, तर्कव्याकरणयोरपि तथा भावप्रसङ्गात्, किन्तु विचित्ररसपवित्रशब्दार्थनिवेशः । विपाककमनीयमपि सहकारफलं विरसमुद्वेगमावहति । अतः शब्दार्थमात्रशरणाः शुष्ककवयो यमक-श्लेषादीनामेव निबन्धमर्हन्ति, न तु रसैकशरणस्य नाट्यस्येति ।' (नाट्यदर्पण : ३ य विवेक)

अनुवाद—भावादि का स्वरूप-निर्देश किया जा रहा है—

प्रधान रूप से प्रतीयमान व्यभिचारीभाव, देवादि विषयक रति किंवा उद्बुद्धमात्र रत्यादिरूप स्थायीभाव की अभिव्यक्ति का नाम 'भाव' है ।

इस काव्य-नाट्य-शास्त्र-मर्यादा के अनुसार कि—'न तो भाव के बिना रस है और न रस के बिना भाव । रस और भाव की निष्पत्ति तो परस्पर साहाय्य पर निर्भर है ।' यदि सूक्ष्म विचार किया जाय तो यही निःसंदिग्ध प्रतीत होगा कि यद्यपि (निर्वेदादिरूप) व्यभिचारी (काव्य-नाट्य में) परम विश्रान्ति-धाम रूप से विराजमान रस के सहचारी रूप से रहा करते हैं किन्तु जैसे किसी राजभृत्य के विवाह में राजा की प्रधानता की अपेक्षा राजभृत्य की ही प्रधानता रहा करती है वैसे ही किसी काव्य में भी, रस की अपेक्षा, प्रधानतया अभिव्यङ्ग्य व्यभिचारिभावों की भी प्रधानता पता चला करती है । अब इस प्रकार के (अर्थात् प्रधानरूप से अभिव्यङ्ग्य) जो व्यभिचारीभाव हैं उन्हें ही सर्वप्रथम 'भाव' कहा जाया करता है । इनके अतिरिक्त प्रधानतया प्रतीयमान देवविषयक रति, मुनिविषयक रति, गुरुविषयक रति और नृपादिविषयक रति को भी 'भाव' ही कहा करते हैं । साथ ही साथ, ऐसे स्थायीभाव भी, जो समुचित विभावादि द्वारा पूर्णतया विभावित तथा परिपुष्ट न हो पाये हों और इसलिये 'रस' रूप में आस्वाद के विषय न बन सके हों, 'भाव' ही माने गये हैं ।

(१) प्रधानतया अभिव्यङ्ग्य व्यभिचारीरूप 'भाव' का निदर्शन—

'एवंवादिनि देवर्षौ—' इत्यादि। अत्रावहित्था।

देवविषया रतिर्यथा मुकुन्दमालायाम्—

'दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक ! प्रकामम्।
अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥'

मुनिविषया रतिर्यथा—

'विलोकनेनैव तवामुना मुने ? कृतः कृतार्थोऽस्मि निबर्हितांहसा।
तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसीर्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते॥'

राजविषया रतिर्यथा मम—

'त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलीपटलपङ्किलाम्।
न धत्ते शिरसा गङ्गां भूरिभारभिया हरः॥'

एवमन्यत्।

उद्बुद्धमात्रस्थायिभावो यथा—

'हरस्तु किंचित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥'

'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादि (कुमारसंभव की) सूक्ति इस सूक्ति में 'अवहित्था' का व्यभिचारीभाव ही प्रधानरूप से अभिव्यङ्ग्य है (जिससे यह सूक्ति भावात्मक होने से काव्यात्मक हो गयी है)।

(२) अभिव्यङ्ग्य देवविषयक रति रूप 'भाव' का उदाहरण—'मुकुन्दमाला' की यह सूक्ति—

'हे नरकान्तक ! हे भगवान् ! चाहे मैं स्वर्ग में रहूँ, चाहे पृथ्वी पर रहूँ या नरक में ही रहा करूं, जहां भी रहूँ, बस शरत्कालीन कमल से भी अतिशय रमणीय आप के चरण ही, मरते दम तक, मेरे ध्यान में विराजते रहें।'

अथवा

अभिव्यङ्ग्य मुनिविषयक रतिरूप 'भाव' का उदाहरण (शिशुपालवध की सूक्ति)—

'महर्षिवर ; आपका दर्शन ही समस्त पाप-सन्ताप का शमन करने वाला है। मैं तो कृतार्थ हो गया। अब एक लालसा है और वह है आपका आदेश-श्रवण। लोग तो एक कल्याण के बाद दूसरा कल्याण चाहते हैं। भला कल्याण से कौन तृप्त होता है !'

अथवा

अभिव्यङ्ग्य राजविषयक रतिरूप 'भाव' का उदाहरण—मेरी स्वरचित सूक्ति—

'महाराज ! अब जब कि आपके सैन्यजल के अगणित तुरङ्गों की टाप से पैदा हुई धूलिराशि से गङ्गा का जल पंकिल होकर भारी हो चला तब, भला, शिव का क्या सामर्थ्य कि सिर पर गङ्गा का भार उठा लें !'

इसी भांति अन्यान्य पूज्यविषयक रतिभाव की अभिव्यङ्ग्यता में अन्यविध भाव के उदाहरण स्वयं देखे जा सकते हैं।

(३) उद्बुद्धमात्र (अत एव अपरिपुष्ट) स्थायीभावरूप 'भाव', जैसे कि—(कुमार संभव की इस सूक्ति में)।

'भगवान् शङ्कर ने पार्वती को देखा और चन्द्रोदय के समय अधीर होते (उमड़ते)

अत्र पार्वतीविषया भगवतो रतिः ।

ननूक्तं प्रपाणकरसवद्विभावादीनामेकोऽत्राभासो रस इति । तत्र सञ्चारिणः पार्थक्याभावात्कथं प्राधान्येनाभिव्यक्तिरित्युच्यते—

यथा मरिचखण्डादेरेकीभावे प्रपाणके ॥ २६१ ॥
उद्रेकः कस्यचित्क्वापि तथा सञ्चारिणो रसे ।

(रसाभास और भावाभास)

अथ रसाभासभावाभासौ—

अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः ॥ २६२ ॥

अनौचित्यं चात्र रसानां भरतादिप्रणीतलक्षणानां सामग्रीरहितत्वे एकदेशयोगित्वोपलक्षणपरं बोध्यम् ।

पारावार की भाँति कुछ-कुछ अधीर हो उठे। तब क्या था! उनकी भावभरी निगाहें बिम्बाधर-सुन्दर पार्वती-मुख पर रह-रह कर पड़ने लगीं।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि शिव-हृदय का पार्वतीविषयक रतिभाव अभिव्यक्त हो रहा है (जिससे यह सूक्ति भावात्मक बन गयी है और भावात्मक बनने के कारण रसात्मक हो रही है)।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि जब कि रस प्रपानक-रस की भाँति ही (जो कि शर्करा, मरिच, कर्पूर आदि का संवलित एकघन आस्वाद है) विभावादि से संयुक्त रत्यादि का एकघन सम्वलित आनन्द-चमत्कार है तब पृथक्तया अवस्थित व्यभिचारी भाव की प्रधानरूप से अभिव्यक्ति कैसे संभव है ? किन्तु इसका समाधान यह है—

'रस और प्रपानक का साधर्म्य तो चतुरस्र ही है। जैसे शर्करा, मरिच, कर्पूर आदि का सम्मिश्र आस्वाद प्रपानक का आस्वाद है वैसे ही विभावादि-संवलित रत्यादि रूप स्थायी भाव का आस्वाद रस का आस्वाद है। किन्तु कभी जैसे प्रपानक के ही आस्वाद-जनक तत्त्वों में किसी एक का आस्वाद उत्कट रूप से प्रतीत होने लगता है वैसे ही यह भी संभव है कि कभी रस के ही अभिव्यञ्जक तत्त्वों में किसी एक जैसे कि व्यभिचारी भाव का ही आस्वाद उद्रिक्त रूप से अनुभव किया जाने लगे। इस प्रकार कभी पृथक्तया व्यभिचारी भाव की प्रधानरूप से प्रतीति में कोई आपत्ति कहाँ !'

अनुवाद—रसाभास और भावाभास—रस और भाव ही यदि किसी अनौचित्य के साथ विराजमान प्रतीत हों तो 'रसाभास' और भावाभास माने जाया करते हैं।

यहाँ 'अनौचित्य' का अभिप्राय यह है—भरतमुनि प्रभृति काव्य-नाट्य-कोविदों ने रसों का जो लक्षण किया है उसमें उनकी सम्पूर्ण अभिव्यञ्जनसामग्री का भी निरूपण कर दिया है। इस प्रकार अविकल रूप से अभिव्यक्त रत्यादि रूप स्थायीभाव तो 'रस' हुये। किन्तु ऐसा भी संभव है कि इन रसों की विकल अभिव्यञ्जना हो, ऐसी अभिव्यञ्जना हो जिसमें इनकी सम्पूर्ण सामग्री का सहयोग न दिखायी दे अर्थात् एकदेशीय अभिव्यञ्जना हो। ऐसी अवस्था में जो रस और भाव अभिव्यक्त हुआ करते हैं उन्हें ही 'रसाभास' और 'भावाभास' समझा जाया करता है।

तच्च बालव्युत्पत्तये एकदेशतो दर्श्यते—

उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां रतौ तथाऽनुभयनिष्ठायाम् ॥ २६३ ॥
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते।
शृङ्गारेऽनौचित्यं रौद्रे गुर्वादिगतकोपे ॥ २६४ ॥
शान्ते च हीननिष्ठे गुर्वाद्यालम्बने हास्ये।
ब्रह्मवधाद्युत्साहेऽधमपात्रगते तथा वीरे ॥ २६५ ॥
उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ज्ञेयमेवमन्यत्र।

तत्र रतेरुपनायकनिष्ठत्वे यथा मम—

'स्वामी मुग्धतरो वनं घनमिदं बालाऽहमेकाकिनी
क्षोणीमावृणुते तमालमलिनच्छाया तमःसन्ततिः।
तन्मे सुन्दर! मुञ्च, कृष्ण ! सहसा वर्त्मेति गोप्या गिरः
श्रुत्वा तां परिरभ्य मन्मथकलासक्तो हरिः पातु वः ॥'

इस 'अनौचित्य' का साधारण परिचय यह है—

(१) शृङ्गार में 'अनौचित्य' 'शृङ्गाराभास' (क) नायक के बदले उपनायक-विषयक रतिभाव का अभिव्यञ्जन, (ख) मुनिपत्नी किंवा गुरुपत्नी-विषयक रतिभाव का अभिव्यञ्जन, (ग) बहुनायक-विषयक रतिभाव का अभिव्यञ्जन, (घ) केवल नायक-विषयक अथवा केवल नायिका-विषयक रतिभाव का अभिव्यञ्जन, (ङ) प्रतिनायक-विषयक नायिकानिष्ठ रतिभाव का अभिव्यञ्जन, (च) अधम-प्रकृतिविषयक रतिभाव का अभिव्यञ्जन और (छ) पशु-पक्षिनिष्ठ रतिभाव का अभिव्यञ्जन।

(२) रौद्र में 'अनौचित्य' (रौद्राभास)—गुरु-विषयक क्रोध का अभिव्यञ्जन, पितृ-विषयक क्रोध का अभिव्यञ्जन आदि आदि।

(३) शान्त में 'अनौचित्य' (शान्ताभास) नीचनिष्ठ शमभाव का अभिव्यञ्जन।

(४) हास्य में 'अनौचित्य (हास्याभास)—गुरु आदि के आलम्बन से हास की अभिव्यक्ति।

(५) वीर में 'अनौचित्य' (वीराभास)—ब्राह्मण आदि के वधसम्बन्धी उत्साह की अभिव्यक्ति किंवा अधमपात्रनिष्ठ उत्साह की अभिव्यक्ति।

(६) भयानक में 'अनौचित्य' (भयानकाभास)—उत्तम-प्रकृतिगत भय का अभिव्यञ्जन।

इसी भाँति करुणादि रसों के अनौचित्यपूर्वक अवस्थान में 'करुणाभास' आदि स्वयं समझे जा सकते हैं।

उदाहरण के लिये—उपनायकनिष्ठ रति के अभिव्यञ्जन में 'शृङ्गाराभास', जो कि मेरी स्वरचित सूक्ति में ही स्पष्ट है—

'गोपी बोल रही है—'कृपया ! मेरा रास्ता छोड़ दो, मेरे स्वामी सीधे-सादे ठहरे, यह वन बहुत सघन है, मैं अकेली एक बाला ठहरी और तमाल की भाँति काला अंधेरा चारों ओर फैलता जा रहा है' किन्तु कृष्ण यह सब सुन लेते हैं और अपने आलिङ्गन-पाश

बहुनायकनिष्ठत्वे यथा—

'कान्तास्त एव भुवनत्रितयेऽपि मन्ये
येषां कृते सुतनु ! पाण्डुरयं कपोलः ।'

'पश्चादुभयनिष्ठत्वेऽपि प्रथममेकनिष्ठत्वे रतेराभासत्वम्' इति श्रीमल्लोचनकाराः ।

तत्रोदाहरणं यथा—रत्नावल्यां सागरिकाया अन्योन्यसंदर्शनात्प्राग्वत्सराजे रतिः ।

प्रतिनायकनिष्ठत्वे यथा—हयग्रीववधे हयग्रीवस्य जलक्रीडावर्णने ।

अधमपात्रगतत्वे यथा—

'जघनस्थलनद्धपत्रवल्ली गिरिमल्लीकुसुमानि कापि भिल्ली ।
अवचित्य गिरौ पुरो निषण्णा स्वकचानुत्कचयाञ्चकार भर्त्रा ॥'

में उसे बाँध लेते हैं। ऐसे कामकलाव्यसनी कृष्ण से यही प्रार्थना है कि वे आप सब की रक्षा करें।'

अथवा, बहुनायकनिष्ठ रतिभाव के अभिव्यञ्जन में 'शृङ्गाराभास'—

'अरी सुन्दरी ! मुझे तो यही लगता है कि इस त्रिभुवन में वे सभी लोग तेरे प्रेमपात्र हैं जिनके विरह में तेरे गाल पीले-पीले दीख रहे हैं।'

अथवा अनुभयनिष्ठ (केवल नायक अथवा केवल नायिका-निष्ठ) रति के अभिव्यञ्जन में 'शृङ्गाराभास'—

'मालती-माधव' में नन्दन के हृदय में मालती के प्रति प्रेम इसका बड़ा सुन्दर उदाहरण है।

इस 'अनुभयनिष्ठ रति' के अभिव्यञ्जन में 'शृङ्गाराभास' के सम्बन्ध में ध्वन्यालोकलोचन के रचयिता (अभिनवगुप्तपादाचार्य) ने यह कहा है—

'ऐसी 'रति' रत्याभास ही है जो कि बाद में भले ही दोनों (नायक और नायिका) के हृदय में विराजने लगे, पहले पहल तो एक ही (नायक अथवा नायिका) के हृदय में उत्पन्न हुई है।'

इस प्रकार की भी रति की अभिव्यञ्जना के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। जैसे कि—'रत्नावली' में सागरिका के हृदय में वत्सराज के प्रति उदित रतिभाव रत्याभास ही है। यह दूसरी बात है कि सागरिका और वत्सराज के परस्पर-दर्शन के बाद यह रतिभाव सागरिका और वत्सराज का पारस्परिक प्रेम-बन्ध बन गया है।

अथवा, प्रतिनायक-निष्ठ रतिभाव के अभिव्यञ्जन में 'श्रृंगाराभास'—'हयग्रीव-वध' नामक महाकाव्य में, हयग्रीव के जलक्रीडावर्णन के प्रसंग में, हयग्रीवनिष्ठ रतिभाव का अभिव्यञ्जन श्रृंगार नहीं अपि तु शृङ्गाराभास ही है।

इसी भाँति, अधमपात्रगत रतिभाव के अभिव्यञ्जन में यह 'शृङ्गाराभास'—

'अपनी जघनस्थली पर लता-किसलयों को लपेटने वाली किसी भीलनी ने पहाड़ी चमेली के फूल चुने और अपने प्रेमी भील के आगे चट्टान पर बैठ कर वह उससे अपने केश संवरवाने लगी।'

तिर्यगादिगतत्वे यथा—

'मल्लीमतल्लीषु वनान्तरेषु वल्ल्यन्तरे वल्लभमाह्वयन्ती।
चञ्चद्विपञ्चीकलनादभङ्गीसंगीतमङ्गीकुरुते स्म भृङ्गी॥'

आदिशब्दात्तापसादयः।

रौद्राभासो यथा—

'रक्तोत्फुल्लविशाललोलनयनः कम्पोत्तराङ्गो मुहु-
र्मुक्त्वा कर्णमपेतभीर्धृतधनुर्बाणो हरेः पश्यतः।
आध्मातः कटुकोक्तिभिः स्वमसकृद्दोर्विक्रमं कीर्तय-
न्नंसास्फोटपटुर्युधिष्ठिरमसौ हन्तुं प्रविष्टोऽर्जुनः॥'

भयानकाभासो यथा—

'अशक्नुवन् सोढुमधीरलोचनः सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम्।
प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तरं निनाय बिभ्यद्दिवसानि कौशिकः॥'

स्त्रीनीचविषयमेव हि भयं रसप्रकृतिः। एवमन्यत्र।

भावाभासो लज्जादिके तु वेश्यादिविषये स्यात्॥ २६६॥

स्पष्टम्।

अथवा, तिर्यग्गत रतिभाव के अभिव्यञ्जन में 'शृङ्गाराभास' का यह उदाहरण—

'खिली पहाड़ी चमेलियों से भरे सुन्दर वन के बीच, लताओं की ओट में, प्रियतम भ्रमर को पुकारती, यह प्रणयिनी भ्रमरी ऐसी मीठी गुञ्जार कर रही है मानो कोई गायिका मधुरवीणा बजा रही हो।'

रौद्राभास का उदाहरण—

'अर्जुन को देखो, यह तो कृष्ण के देखते-देखते, कर्ण को छोड़-छाड़ कर, बड़ी-बड़ी लाल-लाल उभरी, चञ्चल आंखें लिये, सिर कंपाते, धनुष पर बाण चढ़ाये, (युधिष्ठिर की) कड़वी बातों से क्रुद्ध, अपने भुज-विक्रम का बखान करते और ताल ठोक-ठोक कर, अब युधिष्ठिर को मारने के लिये झपट पड़ा है।'

भयानकाभास का उदाहरण (शिशुपालवध की इस सूक्ति में)—

'रावण ऐसा महाप्रतापी रहा कि उसके सामने पड़ने में अशक्त, भय के मारे विह्वल नेत्र वाले इन्द्र ने वैसे ही सुमेरु की गुफाओं में छिप कर भी डरते हुए दिन बिताये जैसे कोई उल्लू सूर्य-किरणों से डरा, कहीं लुका छिपा ही दिन बिताया करता है।'

यहाँ (उपर्युक्त सूक्ति में) भयानक रस का आभास है (क्योंकि उत्तम प्रकृति 'इन्द्र' निष्ठ भय का अभिव्यञ्जन भयानक रस नहीं)। जिसे भयानक रस कहते हैं उसका मूल बीज तो भय है जो वह स्त्रीगत अथवा नीच-प्रकृतिगत हुआ करता है।

इसी भाँति अन्य रसों के आभास भी स्वयं उदाहरण-दर्शन से समझे जा सकते हैं।

(यह तो 'रसाभास' हुआ) अब, जिसे 'भावाभास' कहते हैं उसका अभिप्राय यह है—(व्यभिचारी भावों का वह अभिव्यञ्जन जो अनौचित्यपूर्ण हो, जैसे कि) वेश्यादि नायिकाओं के लज्जा आदि भावों का अभिव्यञ्जन, 'भावाभास' हुआ करता है।

'भावाभास' तो लक्षण मात्र से ही स्पष्ट है।

(भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता)

भावस्य शान्तावुदये संधिमिश्रितयोः क्रमात् ।
भावस्य शान्तिरुदयः संधिः शबलता मता ॥ २६७ ॥

क्रमेण यथा—

'सुतनु ! जहिहि कोपं पश्य पादानतं मां
न खलु तव कदाचित्कोप एवंविधोऽभूत् ।
इति निगदति नाथे तिर्यगामीलिताक्ष्या
नयनजलमनल्पं मुक्तमुक्तं न किञ्चित् ॥'

अत्र बाष्पमोचनेनेर्ष्याख्यसञ्चारिभावस्य शमः ।

विमर्श—ध्वनिकार ने रसाभिव्यञ्जन का रहस्य 'प्रसिद्धौचित्यबन्ध' ही माना है—

'प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ।'

इससे औचित्य के अभाव–अनौचित्य–में रस की आभासता सिद्ध हो जाती है । भावप्रकाशनकार ने रसाभासता का जो यह विशद वर्णन किया है उसमें 'अनौचित्य' की विविधरूपता भी स्पष्ट हो गयी है—

'शृङ्गारो हास्यभूयिष्ठः शृङ्गाराभास ईरितः ।
हास्यो बीभत्सभूयिष्ठो हास्याभास इतीरितः ॥
वीरो भयानकप्रायो वीराभास इतीरितः ।
अद्भुतः करुणाश्लेषादद्भुताभास उच्यते ॥
रौद्रः शोकभयाश्लेषाद् रौद्राभास इतीरितः ।
करुणो हास्यभूयिष्ठः करुणाभास उच्यते ॥
बीभत्सोऽद्भुतशृङ्गारी बीभत्साभास उच्यते ।
स स्याद्भयानकाभासो रौद्रवीरोपसङ्गमात् ॥'

तात्पर्य यह है कि अङ्गभूत रस-भाव का धाराधिरोह अभिव्यञ्जन ही सबसे बड़ा रस-भाव-विषयक अनौचित्य है जो कि 'रस' को रसाभास और 'भाव' को भावाभास के रूप में बदल दिया करता है । कहा भी गया है—

'अङ्गेनाङ्गी रसः स्वेच्छावृत्तिवर्धित-सम्पदा ।
अमात्येनाविनीतेन स्वामीवाभासतां व्रजेत् ॥'

अनुवाद—किसी भाव की शान्ति, उदय, सन्धि और मिश्रण के अभिव्यञ्जन से क्रमशः भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता की रूपरेखा बना करती है ।

जैसे कि 'भावशान्ति' (अमरुशतक की इस सूक्ति में)—

'अरी सुन्दरी ! अब तो क्रोध छोड़, तुम्हारे पैरों पर पड़ रहा हूँ, कभी भी पहले तुम इतनी क्रुद्ध नहीं हुई ।' इस प्रकार जैसे ही प्रियतम ने कहना प्रारम्भ किया कि अर्धनिमीलित कटाक्ष के साथ, उस सुन्दरी के आंसू बह चले और मुंह से एक भी शब्द न निकल पाये ।'

यहां यह स्पष्ट है कि ईर्ष्या भाव की शान्ति अभिव्यक्त हो रही है जिसमें बाष्पमोचन अनुभाव सहायता पहुँचा रहा है ।

'चरणपतनप्रत्याख्यानात्प्रसादपराङ्मुखे
निभृतकितवाचारेत्युक्त्वा रुषा परुषीकृते।
व्रजति रमणे निःश्वस्योच्चैः स्तनस्थितहस्तया
नयनसलिलच्छन्ना दृष्टिः सखीषु निवेशिता॥'

अत्र विषादस्योदयः।

'नयनयुगासेचनकं मानसवृत्त्यापि दुष्प्रापम्।
रूपमिदं मदिराक्ष्या मदयति हृदयं दुनोति च मे॥'

अत्र हर्षविषादयोः संधिः।

'क्वाकार्यं, शशलक्ष्मणः क्व च कुलं, भूयोऽपि दृश्येत सा,
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो, कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः, स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि, कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति॥'

अत्र वितर्कौत्सुक्यमतिस्मरणशङ्कादैन्यधृतिचिन्तानां शबलता।

अथवा जैसे कि 'भावोदय' (अमरुशतक की ही सूक्ति में)—

'जब कि पैरों पर भी गिरने पर दुतकार मिली, (प्रेमिका की) प्रसन्नता की कोई भी आशा नहीं दीख पड़ी और 'तुम छिपे कपटी हो' आदि की फटकार भी सुननी पड़ी तब वह प्रेमी क्या करता! चल पड़ा। किन्तु जैसे ही उस सुन्दरी ने उसे लौटते देखा वैसे ही अपनी छाती पर हाथ रखकर गहरी सांस ली और सखियों पर आंसू भरी निगाहें डाल दीं।'

यहाँ 'विषाद' का व्यभिचारीभाव उदयावस्था में अभिव्यक्त हुआ है। इसी प्रकार 'भावसन्धि'—

'ओह! मेरे नेत्रों को संतृप्त करनेवाले, मेरी कल्पनाओं की पहुँच से भी परे, उस मदिरेक्षणा का वह रूप, मेरे हृदय में आनन्द भी पहुँचा रहा है और एक टीस भी भरता जा रहा है।'

यहाँ 'हर्ष' और 'विषाद' के व्यभिचारी भावों की सन्धि का अभिव्यञ्जन स्पष्ट है।

इसी भांति, भावशबलता (महाकवि कालिदास की 'विक्रमोर्वशी' की इस सूक्ति में)—'कहां तो मेरा यह पापाचरण (यह उर्वशी-प्रेम) और कहां अवदात चन्द्रवंश में मेरा जन्म! लेकिन ओह! क्या ही अच्छा होता, यदि एक बार उसे फिर देख पाता। नहीं, नहीं, यह पाप है, मुझमें धर्मशास्त्र का ज्ञान भरा है, लेकिन अरे! क्रुद्ध होने पर भी उसका मुँह कितना सुन्दर था! पुण्यात्मा लोग मुझे भला-बुरा कहेंगे, कहते रहें, अरे! क्या वह सुन्दरी अब सपने में भी नहीं मिलेगी! यह क्या! मेरे मन! विकल न हो, धैर्य धर, लेकिन इससे क्या! पता नहीं कौन वह प्रेमी युवक होगा जो उस सुन्दरी के अधरामृत का आनन्द लेगा?'

यहाँ वितर्क, औत्सुक्य, मति, स्मृति, शङ्का, दैन्य, धृति और चिन्ता के आठ-आठ व्यभिचारीभावों के सम्मिश्रण का सुन्दर अभिव्यञ्जन है।

विमर्श—(क) 'भावोदय' आदि चतुर्विध ध्वनि-प्रकारों का जो मूल बीज है वह व्यभिचारी भावों का 'दशाचतुष्टय' ही है जैसा कि कहा भी गया है—

(अत्र मूलकारिकाः=(२६७) पूर्वाभिः सह (२६०)
उदाहरणश्लोकाः=(१४३) पूर्वैः सह (१५८)

इति साहित्यदर्पणे रसादिनिरूपणो नाम तृतीयः परिच्छेदः ।

उत्पत्ति–सन्धि–शाबल्य–शान्तयो व्यभिचारिणाम् ।
दशाश्चतस्र एव स्युः,

(ख) 'भावोदय' ध्वनि में किसी भी व्यभिचारीभाव के प्रथमावतार का अभिव्यञ्जन अपेक्षित है ।

'भावशान्ति' में किसी अत्यारूढ व्यभिचारी भाव का विलय आवश्यक है ।

'भावसन्धि' में दो व्यभिचारी भावों का द्विविध रूप से मेल हुआ करता है, जैसा कि कहा भी गया है—

'सरूपमसरूपं वा भिन्न-कारण-कल्पितम् ।
भावद्वयं मिलति चेत् स सन्धिरिति गीयते ॥'

'भावशबलता' का अभिप्राय भावों का परस्पर सम्मर्द है । पूर्व-पूर्व निबद्ध भाव उत्तरोत्तर निबद्ध भावों की रगड़ खाया करते हैं और इस 'रगड़' में एक अद्भुत ही आनन्द–चमत्कार का अनुभव हुआ करता है जो कि 'भावशाबल्य' का स्वरूप है ।

(ग) व्यभिचारी भावों की एक पांचवीं अवस्था भी मानी गयी है जिसे 'भावस्थिति' कहा जाया करता है । काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र ने स्पष्ट कहा है—

'एते च (व्यभिचारिभावाः) स्थित्युदयप्रशमसन्धिशबलत्वधर्माणः । स्थितिर्यथा—

'तिष्ठेत् कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥'

अत्र विप्रलम्भरससद्भावेऽपि इयति वितर्कस्थिति-चमत्कारकृत आस्वादातिशयः ।
(काव्यानुशासन : २. १९)

किन्तु न तो काव्यप्रकाशकार ने ही इस भाव-स्थिति को अतिरिक्त भाव-चमत्कार के रूप में स्वीकार किया और न साहित्यदर्पणकार ने ही ।

साहित्यदर्पण का तृतीय परिच्छेद समाप्त

चतुर्थः परिच्छेदः

(काव्य-प्रकार-निरूपण)

अथ काव्यभेदमाह—

काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यं चेति द्विधा मतम् ।

(१—म काव्यप्रकार : 'ध्वनि' काव्य)

तत्र—

वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् ॥ १ ॥

वाच्याद्धिकचमत्कारिणि व्यंङ्ग्यार्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ध्वनिर्नामोत्तमं काव्यम् ।

अनुवाद—अब काव्य के भेदों का निरूपण किया जा रहा है—

'काव्य' (रसात्मक वाक्य) के दो प्रमुख भेद हैं—(१) ध्वनि और (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने काव्य के दो ही भेद निर्दिष्ट किये हैं । 'चित्र' काव्य नामक भेद, साहित्यदर्पणकार के अनुसार, इसलिए उचित नहीं क्योंकि—इस प्रकार की रचना 'रसात्मक वाक्य' रूप काव्य की परिधि के भीतर नहीं आ सकती । ध्वनि-दार्शनिक आनन्दवर्धन की भी वस्तुनः यही दृष्टि है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥
प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥
(ध्वन्यालोक १. १३, ४)

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ॥
(ध्वन्यालोक ३. ३४)

अनुवाद—इन दोनों काव्य-भेदों में—'ध्वनि'संज्ञक काव्य, जिसे सर्वोत्तम काव्य-प्रकार कहा गया है, वह है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा, 'व्यङ्ग्य' रूप अर्थ अधिक सुन्दर (अतिशय चमत्कारजनक) हुआ करता है ।

तात्पर्य यह है कि इस काव्य-भेद में जो अर्थ अभिव्यङ्ग्य रूप से अवस्थित रहा करता है वह इतना सुन्दर, इतना चमत्कारजनक प्रतीत हुआ करता है कि यहाँ का (आपाततः प्रतीत) वाच्यार्थ, उसके सामने फीका लगने लगता है । वस्तुतः यही काव्य का सर्वोत्कृष्ट प्रकार है । इसे 'ध्वनि' इसलिए कहा करते हैं क्योंकि यही वह कविकृति है जिसमें वह अर्थ ध्वनित हुआ करता है जिसका सौन्दर्य वाच्यार्थ की पहुँच के परे रह जाता है ।

(ध्वनिकाव्य के २ भेद : १ अविवक्षितवाच्य और २ विवक्षितान्यपरवाच्य)

भेदौ ध्वनेरपि द्वावुदीरितौ लक्षणाभिधामूलौ ।
अविवक्षितवाच्योऽन्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च ॥ २ ॥

तत्राविवक्षितवाच्यो नाम लक्षणामूलो ध्वनिः । लक्षणामूलत्वादेवात्र वाच्यमविवक्षितं बाधितस्वरूपम् ।

विवक्षितान्यपरवाच्यस्त्वभिधामूलः, अत एवात्र वाच्यं विवक्षितम् । अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठम् । अत्र हि वाच्योऽर्थः स्वरूपं प्रकाशयन्नेव व्यङ्ग्यार्थस्य

विमर्श—काव्यप्रकाशकार का काव्य-भेद-निरूपण तो उनके काव्य-स्वरूप-निरूपण में ही अन्तर्भूत प्रतीत होता है क्योंकि दोषरहित, गुणसहित तथा यथास्थान अलङ्कारयुक्त शब्दार्थयोजना 'काव्य' है और इस प्रकार की शब्दार्थयोजना का, इसमें कविविवक्षित किंवा सहृदयानुभूत अभिप्राय के यथास्थान उत्तम, मध्यम और अधम होने से, उत्तम, मध्यम और अधम रूप से विभक्त होना स्वाभाविक है। किन्तु 'रसात्मक वाक्य' को 'काव्य' माननेवाले आचार्य के लिए 'वाच्यातिशायी व्यङ्ग्यमय' और 'वाच्यानतिशायी व्यङ्ग्यगर्भ' द्विविध काव्य-भेद का निरूपण प्राचीन काव्य-शास्त्र-परम्परा का अनुसरणमात्र ही लगता है। जिस वाक्य का जीवनाधायक किंवा परमसार रस हो, उसमें वाच्य की अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक किंवा अल्प चमत्कारजनक व्यङ्ग्यार्थ की भेद-कल्पना निःसार सी ही है। या तो काव्य का लक्षण वही माना गया होता जो कि आचार्य मम्मट ने माना था जिसके अनुसार दोषराहित्यादि-विशिष्ट शब्दार्थयोजना में वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों के अनुभव के आधार पर दोनों के सौन्दर्य-तारतम्य का विवेक और इस विवेक के आधार पर शब्दार्थयोजना का तारतम्य-प्रदर्शन युक्तिसंगत हुआ होता या 'ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक काव्य प्रकारों के निरूपण के बदले रसरूप आत्मतत्त्व के अभिव्यञ्जक वाक्य-प्रकारों का ही यथासम्भव तारतम्य बताया गया होता। 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' को वाक्यप्रकार तो माना नहीं गया और माना भी नहीं जा सकता क्योंकि यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो रसरूप सारतम तत्त्व-निधान की दृष्टि से दोनों का भेद ही क्या रहा ! ध्वनिकार आनन्दवर्धन की यह मान्यता कि 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक काव्य-प्रकार भी रसादितात्पर्यपरामर्श के द्वारा 'ध्वनि' काव्य में ही अन्तर्भूत है—

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥ (ध्वन्यालोक ३. ४०)

विश्वनाथ कविराज की इस द्विविध काव्य-भेद कल्पना को निराधार सिद्ध करती है।

अनुवाद—'ध्वनि' काव्य के भी दो भेद बताए गए हैं—(१) लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य और (२) अभिधामूलक ध्वनिकाव्य। इन दोनों भेदों में लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य को तो 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' काव्य कहा गया है और अभिधामूलक ध्वनि-काव्य का नाम 'विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि' काव्य है।

तात्पर्य यह है कि जो ध्वनि-काव्य 'अविवक्षितवाच्य' हुआ करता है वह लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य है। इस काव्य में 'ध्वनि' अथवा 'व्यङ्ग्यार्थ' का लक्षणामूलक होना ही इसके 'अविवक्षितवाच्य' कहे जाने का कारण है क्योंकि वाच्यार्थ के अविवक्षित होने का अभिप्राय उसके स्वरूप का बाधित होना ही है (जबकि व्यङ्ग्यार्थ लक्ष्यार्थ के आधार पर प्रतीत हो, जैसा कि हुआ करता है, तब तो यह स्वयंसिद्ध है कि ऐसे व्यङ्ग्यार्थ के प्रत्यायन में वाच्यार्थ बाधित अथवा अनुपपन्न रहा करे)। इसके अतिरिक्त जो ध्वनिकाव्य 'विवक्षितान्यपरवाच्य'नाम का है उसका 'अभिधामूलक' ध्वनिकाव्य होना ही युक्तिसिद्ध है क्योंकि

प्रकाशकः। यथा—प्रदीपो घटस्य। अभिधामूलस्य बहुविषयतया पश्चान्निर्देशः।

(अविवक्षितवाच्यध्वनि के दो भेद : १—'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' ध्वनि)

अविवक्षितवाच्यस्य भेदावाह—

अर्थान्तरं संक्रमिते वाच्येऽत्यन्तं तिरस्कृते।
अविवक्षितवाच्योऽपि ध्वनिर्द्वैविध्यमृच्छति ॥ ३ ॥

यहाँ वाच्यार्थ 'विवक्षित' रहा करता है और साथ ही साथ 'अन्यपर' अर्थात् व्यङ्ग्यनिष्ठ (व्यङ्ग्यैकबोधक) भी हुआ करता है। यहाँ वाच्यार्थ के 'विवक्षित' होने और 'अन्यपर' (व्यङ्ग्यनिष्ठ) होने का यही अभिप्राय है कि इस प्रकार के काव्य में वाच्यार्थ उसी प्रकार पहले अपने स्वरूप को प्रकाशित किया करता है और ऐसा करते हुये व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशक बना करता है, जिस प्रकार कोई दीपक पहले स्वयं प्रकाशित हुआ करता है है और तब घटादि वस्तुओं का प्रकाशक बना करता है।

यहाँ लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य के बाद अभिधामूलक ध्वनिकाव्य-निर्देश इसलिये किया गया है क्योंकि अभिधामूलक ध्वनि का विषय (लक्षणामूलक ध्वनि की अपेक्षा) कहीं अधिक व्यापक है।

विमर्श—आलङ्कारिकों ने 'विवक्षित' शब्द को 'अभिप्राय' 'तात्पर्य' आदि-आदि अर्थों में व्यवहृत किया है, जैसा कि कहा गया है—

'विवक्षितमभिप्रायः फलं भावः प्रयोजनम्।
तात्पर्यमिति पर्यायशब्दा वाक्यार्थगोचराः ॥'

यहाँ किसी अर्थ को 'विवक्षित' कहने का यह अभिप्राय है कि जो अर्थ श्रोता अथवा पाठक समझा करता है वही अर्थ वक्ता अथवा कवि के भी मन में रह चुका है। जैसा हमारा मुँह है वैसा ही दर्पण में उसका प्रतिविम्ब पड़ा करता है। कवि के मन का अर्थ यदि बिम्ब है तो पाठक के मन में समाया वही अर्थ प्रतिविम्ब है। इस प्रकार वक्ता का अभीष्ट और श्रोता का बुद्धिस्थ वाक्यार्थ 'विवक्षित' अर्थ हुआ करता है (वक्तुमिष्टं विवक्षितम्)।

'विवक्षित' अर्थ को इसलिये 'तात्पर्य' कहा करते हैं क्योंकि वक्ता अथवा कवि के प्रयुक्त वाक्य के समस्त पदार्थ एकमात्र उसी अर्थ के बोधक हुआ करते हैं। विवक्षित अर्थ तो प्रधान अथवा उपकार्य अर्थ हुआ करता है और समस्त पदार्थ इसके उपकारक रहा करते हैं।

विवक्षाविषय अर्थ ही 'प्रयोजन' भी कहा जाया करता है क्योंकि यही वह अर्थ है जिसके अवबोधन के लिये वक्ता अथवा कवि वाक्य-प्रयोग किया करते हैं।

यही 'विवक्षित' अर्थ 'अभिप्राय' भी माना जाया करता है क्योंकि वाक्यवर्ती समस्त पदार्थ इसी अर्थ के अभिमुख रहा करते हैं। इसे 'फल' भी कह सकते हैं क्योंकि यही वह अभीष्टार्थ-परिपाक है जिसका स्वाद वाक्यार्थ का अनुभव हुआ करता है। यथास्थान इसे 'भाव' भी कहा करते हैं क्योंकि इसी अर्थ के रूप में वक्ता अथवा कवि की चित्तवृत्तियों में श्रोता अथवा सहृदय का हृदय-संवाद हुआ करता है और आनन्द-चमत्कार मिला करता है।

यहाँ वाच्यार्थ के 'अविवक्षित' किंवा 'विवक्षितान्यपर' होने में 'विवक्षित' के उपर्युक्त सभी अभिप्राय समन्वित हैं।

अनुवाद—'अविवक्षितवाच्यध्वनि' के भेदों का निर्देश किया जा रहा है—

'अविवक्षितवाच्यध्वनि' काव्य भी दो प्रकार का हुआ करता है—(१) वह, जिसमें वाच्यार्थ अपने से भिन्न अर्थ में संक्रमित हो जाने के कारण 'अविवक्षित' (अपने

अविवक्षितवाच्यो नाम ध्वनिरर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्चेति द्विविधः।

यत्र स्वयमनुपयुज्यमानो मुख्योऽर्थः स्वविशेषरूपेऽर्थान्तरे परिणमति, तत्र मुख्यार्थस्य स्वविशेषरूपार्थान्तरसंक्रमितत्वादर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वम्।

यथा—

'कदली कदली, करभः करभः, करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥'

अत्र द्वितीयकदल्यादिशब्दाः पौनरुक्त्यभिया सामान्यकदल्यादिरूपे मुख्यार्थे बाधिता जाड्यादिगुणविशिष्टकदल्यादिरूपमर्थं बोधयन्ति। जाड्याद्यतिशयश्च व्यङ्ग्यः।

स्वरूप में अनुपयुक्त) लगा करता है और (२), वह जिसमें वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत रहने के कारण 'अविवक्षित' (सर्वथा अनन्वित) हो जाया करता है।

तात्पर्य यह है कि 'अविवक्षितवाच्य' नामक ध्वनि-काव्य के दो भेद हुआ करते हैं— (१) 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि' काव्य और (२) 'अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यध्वनि' काव्य।

'ध्वनि' काव्य के 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' होने का अभिप्राय है यहाँ ऐसे व्यंग्यार्थ के अवस्थान का, जिसका उपकरणभूत (व्यञ्जक) अर्थ एक ऐसा वाच्यार्थ हुआ करता है जो (प्रकरण की दृष्टि से) अपने सामान्य स्वरूप में अनुपयुक्त हो जाया करता है और फिर (अपनी अनुपपत्ति के निराकरण के लिये) अपने से भिन्न एक ऐसे अर्थ में परिणत हो जाया करता है जो कि उसी का एक विशेष रूप अंश हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि ध्वनि-काव्य की 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यता' यहाँ के (व्यञ्जक रूप से विराजमान) मुख्यार्थ की, अपने से भिन्न किन्तु अपने ही स्वरूप-विशेषभूत अर्थ (लक्ष्यार्थ) में संक्रान्ति अथवा परिणति है।

उदाहरण के लिये यह सूक्ति—

'कदली-कदली है, करभ-करभ ही है और शुण्डादण्ड (हाथी की सूँड़) भी शुण्डादण्ड ही हैं। इस त्रिभुवन में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो इस मृगनयनी सुन्दरी के ऊरुयुगल की समानता रख सके।'

यह सूक्ति 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि' काव्य है क्योंकि यहाँ दूसरी बार प्रयुक्त 'कदली' आदि शब्द ऐसे हैं जो 'पुनरुक्त' नहीं—क्योंकि 'पुनरुक्ति' तो एक भयंकर पद दोष है—अपितु अपने 'कदली' आदि रूप सामान्यभूत मुख्यार्थ में अनुपपन्न हैं और इसीलिये अपने से भिन्न किन्तु अपने ही विशेषस्वरूपभूत जाड्यादिविशिष्ट 'कदली' आदि रूप (लक्ष्य) अर्थों का ही अवबोधन करा रहे हैं (अर्थात् अपने सामान्य अर्थ स्वरूप में अनुपयुक्त और अपने से भिन्न किन्तु अपने ही विशेष रूप अर्थ के उपलक्षक बने हुए दीख रहे हैं)। यहाँ जो व्यंग्य रूप से अवस्थित और अनुभूत अर्थ है वह है ऊरुद्वन्द्व के उपमान माने गये 'कदली' आदि पदार्थों की जडता आदि का अत्याधिक्य।

विमर्श—(क) 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' ध्वनि-काव्य कोई प्रबन्ध-काव्य नहीं अपितु काव्य-प्रबन्धों में यत्रतत्र उपनिबद्ध वे सूक्तियाँ हैं जिनके प्रसन्न किंवा गंभीर पद विदग्ध पाठकों को चमत्कृत किया करते हैं। इन सूक्तियों का चमत्कार रसावेश का चमत्कार नहीं अपितु गुम्फन-वैचित्र्य और अन्तर्निगूढ विवक्षित अर्थ की प्रतीति का चमत्कार हुआ करता है।

(२—'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि' काव्य)

यत्र पुनः स्वार्थं सर्वथा परित्यजन्नर्थान्तरे परिणमति, तत्र मुख्यार्थस्यात्यन्ततिरस्कृतत्वादत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वम् ।

यथा—

निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ।

अत्रान्धशब्दो मुख्यार्थे बाधितेऽप्रकाशरूपमर्थं बोधयति, अप्रकाशातिशयश्च व्यङ्ग्यः । अन्धत्वाप्रकाशत्वयोः सामान्यविशेषभावाभावान्नार्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वम्—

(ख) 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' आदि-आदि पारिभाषिक पदों में ध्वनिदार्शनिक आचार्य आनन्दवर्धन की काव्य-विज्ञान-प्रतिभा की झलक मिलती है। 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि' एक पारिभाषिक शब्द है। यहाँ कर्मधारय समास भी संभव है, (**'अर्थान्तरसंक्रमितश्चासौ वाच्यश्च अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः तस्य तत्संबन्धित्वेन ध्वनिः अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिः'**) और बहुव्रीहि समास भी (**अर्थान्तरे संक्रमितं वाच्यमस्ति यस्य सोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्स चासौ ध्वनिश्च अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिः**)। कर्मधारय समास में 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' ध्वनि का अभिप्राय यह है—'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' एक प्रकार का अविवक्षित वाच्य हुआ करता है। 'अविवक्षित वाच्य' का 'अर्थान्तरसंक्रमित' होना उसके 'रूपान्तर-परिणत' होने के बराबर है। 'अविवक्षित वाच्य' के 'रूपान्तर-परिणत' होने से यह समझा जाया करता है कि किसी प्रसंग में कोई अर्थ (वाच्य) अपने प्रातिस्विक स्वरूप में उपपन्न तो अवश्य है किन्तु इतने से ही तब तक उपयुक्त नहीं लगा करता जब तक उसमें, उससे संबद्ध, कोई उसका धर्म (वैशिष्ट्य) न लक्षित हो उठे, जिससे वह एक दूसरे प्रकार का ही अर्थ लगाने लग जाय। जैसे कोई गुम्फन-सूत्र गुँथे फूलों के कारण एक दूसरे रूप में दिखायी दिया करता है वैसे ही इस 'ध्वनि' का (अभिव्यञ्जक) 'अविवक्षित वाच्य' भी, उन-उन लक्षित धर्मों से संवलित हो जाने के कारण, एक दूसरे रूप में ही परिणत सा (अर्थान्तरसंक्रमित) प्रतीत हुआ करता है। अब इस प्रकार के वाच्य का 'व्यङ्ग्य' जो अर्थसंदोह है वह 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि' है और ऐसे 'व्यंग्य' से विभूषित रचना 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि-काव्य' कही जाया करती है।

बहुव्रीहि समास में 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि' का अभिप्राय उस काव्य-रचना का है जिसमें 'ध्वनि' अथवा व्यंग्यार्थ ऐसा हुआ करता है जिसका व्यञ्जक अर्थ (वाच्य) अपने एक विशिष्ट स्वरूप (लक्ष्य) में परिणत प्रतीत हुआ करता है।

अनुवाद—**'अविवक्षितवाच्यध्वनि' काव्य का जो भेद 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि' कहा जाया करता है वह ऐसा हुआ करता है जहाँ (व्यञ्जकरूप से अवस्थित) मुख्यार्थ, अपने स्वरूप का सर्वथा परित्याग करके, अपने से भिन्न किसी अर्थ-स्वरूप में परिणत हो जाया करता है।** तात्पर्य यह है कि ध्वनिकाव्य की 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यता' वहाँ के (व्यञ्जक) मुख्यार्थ की, (सर्वथा अनुपपत्ति के कारण) वस्तुतः तिरस्कृति (एकमात्र लक्ष्यार्थोपस्थापकता) है।

उदाहरण के लिये (महाकवि वाल्मीकि की) यह सूक्ति—

'चाँद बिलकुल नहीं चमक रहा है। ऐसा लग रहा है जैसे (आकाश में) श्वासोच्छ्वास से अन्धा (मलिन) एक दर्पण टँगा हो !'

वह सूक्ति 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि' काव्य है क्योंकि यहाँ जो 'अन्ध' पद

('अभिधामूलध्वनि' में 'लक्षणामूलध्वनि' का भ्रम और उसका निवारण)

यथा—

भम धम्मिअ वीसत्थो, सो सुणओ अज्ज मारिओ देण ।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥

[भ्रम धार्मिक ! विस्रब्धः स श्वाऽद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥]

प्रयुक्त है वह अपने मुख्यार्थ (अर्थात् 'दृष्टि-विहीन' रूप अर्थ) में सर्वथा अनुपपन्न है और एकमात्र 'प्रकाशरहित' (मलिन) अर्थ का ही अवबोधक बन रहा है। यहां जो व्यङ्ग्य रूप से विवक्षित अर्थ है वह अप्रकाशमानता (मलिनता) का आधिक्य है।

इस उपर्युक्त सूक्ति में ध्वनि की 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यता' नहीं मानी जा सकती क्योंकि 'अन्धता' (दृष्टिविहीनता) और 'अप्रकाशमानता' (मलिनता) के अर्थ ऐसे हैं जिनमें 'सामान्य' और 'विशेष'रूपता की परिकल्पना (जैसी कि अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य' ध्वनिकाव्य के प्रसङ्गों में स्वाभाविक है) असंभव ही है।

विमर्श—(क) 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य'ध्वनि में व्यङ्ग्यार्थ का व्यञ्जक वाच्यार्थ 'लक्ष्यार्थ' के अवबोधन का उपायमात्र रह जाता है और लक्ष्यार्थ में ही अपना अस्तित्व खो बैठता है। उदाहरण के लिये, आदि कवि की **'निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते'** आदि सूक्ति ऐसी है जहाँ चन्द्रमा को 'निश्वासान्ध आदर्श (दर्पण)' कहने में उसकी असाधारण कान्तिहीनता, सर्वथा अनुपयोगिता आदि-आदि नानाविध अभिप्राय अभिव्यङ्ग्य हो उठते हैं। इस अभिव्यङ्ग्य अभिप्राय के प्रत्यायन में 'अन्ध' शब्द का मुख्यार्थ अविवक्षित अथवा अनुपपन्न (असंगत) तो है ही, साथ ही साथ सर्वथा तिरस्कृत भी है। 'अन्ध' उस प्राणी को कहते हैं जिसकी आंखें या तो जन्म से ही नष्ट हैं या बाद में किसी कारणवश नष्ट हुई हैं। यहाँ आदर्श अथवा दर्पण को 'अन्ध' (अन्धा) कहने का क्या अर्थ ! यहाँ 'अन्ध' शब्द का 'दृष्टिरहित'रूप अर्थ सर्वथा अनुपपन्न पड़ रहा है और एकमात्र यह अर्थ रख रहा है कि जैसे कोई अन्धा व्यक्ति किसी पदार्थ के स्फुटीकरण में असमर्थ हो वैसे ही दर्पण भी मुखादि के प्रतिबिम्ब को स्पष्टतया झलकाने में असमर्थ हो सकता है। अब यहाँ 'अन्ध' पद का एकमात्र अर्थ 'पदार्थस्फुटीकरण में असमर्थ' हो गया और इस अर्थ को लक्षित करनेवाला इसका 'दृष्टिरहित' रूप वाच्यार्थ इसके सामने से चुपचाप खिसक निकला।

(ख) यहां आचार्य अभिनवगुप्त की ये परिभाषायें ध्यान देने योग्य हैं—

'अर्थान्तरसंक्रमित (रूपान्तरपरिणत) वाच्य'ध्वनि—

'योऽर्थ उपपद्यमानोऽपि तावतैवानुपयोगात् धर्मान्तरसंवलनयाऽन्यतामिव गतो लक्ष्यमाण'……आस्ते स रूपान्तरपरिणतः (अर्थान्तरसंक्रमितः) उक्तः।

'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य'ध्वनि—

'यस्त्वनुपपद्यमान उपायतामात्रेणार्थान्तरप्रतिपत्तिं कृत्वा पलायत इव स तिरस्कृत इति।' (ध्वन्यालोकलोचन : २ य उद्योत)

अनुवाद—कतिपय ऐसी भी सूक्तियाँ जैसे कि—

'अरे पुजारीजी महाराज ! अब निडर विचरो, आज ही तो गोदावरी के किनारे के कुञ्ज में डेरा जमायें उस भयङ्कर सिंह ने उस कुत्ते की जान ले ली है।' इत्यादि दिखाई

अत्र 'भ्रम धार्मिक—' इत्यतो भ्रमणस्य विधिः प्रकृतेऽनुपयुज्यमानतया भ्रमणनिषेधे पर्यवस्यतीति विपरीतलक्षणाशङ्का न कार्या। यत्र खलु विधिनिषेधावुत्पत्स्यमानावेव निषेधविध्योः पर्यवस्यतस्तत्रैव तदवसरः। यत्र पुनः प्रकरणादिपर्यालोचनेन विधिनिषेधयोर्निषेधविधी अवगम्येते तत्र ध्वनित्वमेव।

तदुक्तम्—

'क्वचिद्बाध्यतया ख्यातिः क्वचित् ख्यातस्य बाधनम्।
पूर्वत्र लक्षणैव स्यादुत्तरत्राभिधैव तु॥'

('अर्थान्तरसंक्रमित' और 'अत्यन्ततिरस्कृत' वाच्यध्वनि में परस्पर भेद)

अत्राद्ये मुख्यार्थस्यार्थान्तरे संक्रमणं प्रवेशः, न तु तिरोभावः। अत एवात्राजहत्स्वार्था लक्षणा। द्वितीये तु स्वार्थस्यात्यन्तं तिरस्कृतत्वाज्जहत्स्वार्था।

(विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के दो भेद :
१—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और २—संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य)

विवक्षिताभिधेयोऽपि द्विभेदः प्रथमं मतः।
असंलक्ष्यक्रमो यत्र व्यङ्ग्यो लक्ष्यक्रमस्तथा॥ ४॥

विवक्षितान्यपरवाच्योऽपि ध्वनिरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यश्चेति द्विविधः।

पड़ जाती हैं, जहाँ 'भ्रम धार्मिक!' (विचरो पुजारी महाराज!) आदि कहने से विचरने आदि की अनुज्ञा प्रतीत तो हो जाती है किन्तु प्रकरण के देखते ऊटपटांग सी लगने लगती है और अन्त में 'खबरदार! इधर न आना' आदि उलटे अर्थ में समाप्त हो जाती है। अब ऐसी सूक्तिओं के सम्बन्ध में यह संदेह होना स्वाभाविक है कि इन्हें 'अभिधामूलक ध्वनि'काव्य माना जाय या 'विपरीतलक्षणामूलक' (अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य) ध्वनि-काव्य। वस्तुतः बात यह है कि इस प्रकार का संदेह यहाँ निराधार है। निराधार इसलिये क्योंकि ऐसी सूक्तिओं में 'विपरीतलक्षणामूलक' (अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य) ध्वनि-काव्य की संभावना तभी हो सकती है जब कि इनमें प्रतिपाद्य 'विधि' और 'निषेध' (जैसे 'भ्रम' और 'मा भ्रमीः'), प्रतीत होने के साथ ही साथ, 'निषेध' और 'विधि' के अर्थ में बदल जाया करें। किन्तु यहाँ ऐसा होता कहाँ है? यहाँ तो प्रकरण और वक्ता आदि-आदि की विशेषताओं के पर्यालोचन के बाद 'विधि'रूप वाच्यार्थ 'निषेध'रूप व्यङ्ग्यार्थ का प्रत्यायक बन जाता है अथवा 'निषेध'रूप वाच्यार्थ 'विधि'रूप व्यङ्ग्यार्थ का अवगमक हो जाता है। इसलिये निष्कर्ष यही निकलता है कि ऐसी सूक्तियाँ 'अभिधामूलक' ध्वनि हैं न कि 'लक्षणामूलक' (विपरीतलक्षणामूलक) ध्वनि। और तभी तो ऐसा कहा गया है—

'लक्षणा और अभिधामूलक ध्वनि-प्रसंगों के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि कहीं तो मुख्यार्थबाध के बाद अन्वयबोध हुआ करता है और कहीं अन्वयबोध के बाद मुख्यार्थबाध। पहली संभावना (अर्थात् मुख्यार्थबाध के बाद अन्वयबोध) में तो 'लक्षणामूलक' ध्वनि की संभावना है और दूसरी संभावना (अर्थात् अन्वयबोध के बाद मुख्यार्थबाध) में 'अभिधामूलक' ध्वनि की।'

अनुवाद—लक्षणामूलक ध्वनि के भी ये दोनों भेद परस्पर भिन्न-भिन्न रूप के हैं।

(१—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि : रसादिरूप एक प्रकार का ही)

तत्राद्यो रसभावादिरेक एवात्र गण्यते।

पहले (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि) में जो वाच्यार्थ है वह अपने सामान्य स्वरूप को अपने साथ लिये-दिये एक विशिष्ट अर्थ में संक्रमण अथवा प्रवेश कर जाता है न कि तिरोभूत हो जाता है। इसीलिये यहाँ जो (व्यङ्ग्यार्थ की उत्थापिका) लक्षणा हुआ करती है वह अजहत्स्वार्था (उपादानलक्षणा) वृत्ति मानी जाया करती है। किन्तु दूसरे (अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि) में वाच्यार्थ ऐसा रहा करता है जिसका स्वरूप, सर्वथा अनुपपन्न लगने के कारण, एकमात्र तिरस्कृत प्रतीत हुआ करता है जिसके कारण यहाँ (व्यङ्ग्यार्थ की उत्थापिका) जो लक्षणा रहा करती है उसे जहत्स्वार्था (लक्षण-लक्षणा) वृत्ति कहा करते हैं।

विमर्श—'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य'ध्वनि उपादानलक्षणा-मूलक ध्वनि है और 'अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य' ध्वनि लक्षणलक्षणा-मूलक ध्वनि। 'उपादानलक्षणा (अजहत्स्वार्थ वृत्ति)-मूलक' ध्वनि में तो वाच्यार्थ 'अनुपयुक्त' हुआ करता है और 'लक्षणलक्षणा' (जहत्स्वार्था वृत्ति)-मूलक ध्वनि में 'अनुपपन्न'। 'अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य'-ध्वनि में वाच्यार्थ की अनुपयुक्तता की दो अवस्थायें हैं—(१) पुनरुक्तवत् प्रतीति और (२) किसी विशेषता के आधान की असंभावना। इन दोनों अवस्थाओं में वाच्यार्थ व्यञ्जकता की महिमा से एक ऐसे अर्थ में संक्रमित अथवा परिणमित कर दिया जाया करता है जो कि लक्ष्यरूप अर्थ हुआ करता है और जिसमें उपयुक्तता भी स्पष्ट प्रतीत हुआ करती है (उभयत्रापि वाच्यमर्थान्तरे उपयोगिनि लक्ष्यतावच्छेदके संक्रमित-माश्रयत्वेन परिणमितवाच्योप्यर्थो रूपान्तरेण लक्ष्यत इत्यर्थः) काव्यप्रदीप-४र्थ उल्लास। जैसे कि 'कदली-कदली' आदि सूक्ति में वाच्यार्थ की जो अनुपयुक्तता है उसमें 'पुनरुक्तता' झलक रही है और 'त्वामस्मि वच्मि' आदि (काव्यप्रकाशोद्धृत) सूक्ति में वाच्यार्थ की जो अनुपयुक्तता है वहाँ 'अस्मि' आदि पदों में किसी विशेषता के आधान की असंभावना दिखायी दे रही है।

'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य'ध्वनि की बात दूसरी है। यहाँ उपनिबद्ध वाच्यार्थ स्वयं ही असंगत अथवा अनन्वित लगने लगता है और लक्ष्यार्थ का ही एकमात्र उपलक्षक रह जाता है (वाच्य-मत्यन्ततिरस्कृतं न केनापि रूपेणान्वयप्रविष्टम्। काव्यप्रदीप ४ र्थ उल्लास)। 'सादृश्य-सम्बन्ध-निबन्धन' किंवा 'वैपरीत्यसम्बन्धनिबन्धन' लक्षणा में वाच्य की अविवक्षा वस्तुतः, उसकी 'अत्यन्त-तिरस्कृति' ही है। उदाहरण के लिये—

> 'मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिम प्रेक्षितं
> समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।
> उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
> वतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते॥'

आदि सरीखी सूक्ति में जो व्यंग्यार्थ है उसका आधार सादृश्य-निबन्धन-लक्षणा है जिसमें वाच्य की 'अविवक्षा' वाच्य की 'अत्यन्ततिरस्कृति' है न कि 'रूपान्तरपरिणति'।

अनुवाद—'विवक्षितान्यपरवाच्य' ध्वनि के भी दो भेद हुआ करते हैं—(१) वह, जिसमें (व्यङ्ग्यार्थ की अनुभूति के समय) वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का पौर्वापर्य (रहते हुए भी) प्रतीत नहीं हुआ करता और (२) वह, जिसमें वाच्यार्थबोध और व्यंग्यार्थचमत्कार की क्रमिकता पता चल जाती है।

तात्पर्य यह है कि 'विवक्षितान्यपरवाच्य' ध्वनि के ये दो भेद हैं—(१) असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्यध्वनि और (२) संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि।

विमर्श—अभिधामूल गूढव्यंग्य की प्रधानता में ही 'विवक्षितान्यपरवाच्य'ध्वनि की

एकोऽपि भेदोऽनन्तत्वात् संख्येयस्तस्य नैव यत् ॥ ५ ॥

उक्तस्वरूपो भावादिरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः। अत्र व्यङ्ग्यप्रतीतेर्विभावादिप्रतीतिकारणत्वात् क्रमोऽवश्यमस्ति किन्तूत्पलपत्त्रशतव्यतिभेदवल्लाघवान्न संल-

---

संभावना है अन्यथा नहीं। यहाँ वाच्य का 'विवक्षित' होना और साथ ही 'अन्यपर' अथवा 'व्यङ्ग्यनिष्ठ' होना स्वाभाविक है। 'विवक्षा' और 'अन्यपरता' में कोई विरोध नहीं क्योंकि यहां वाच्यार्थ 'अन्यपर' अथवा 'व्यङ्ग्यैकनिष्ठ' रूप से ही विवक्षित रहा करता है। आचार्य अभिनव गुप्त ने स्पष्ट कहा है—**'ननु च विवक्षा चान्यपरत्वं चेति विरुद्धम्। अन्यपरत्वेनैव विवक्षणात् को विरोधः** (ध्वन्यालोकलोचन : प्रथम उद्योत)।

'विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि' काव्य में जो वाच्यार्थ रहा करता है वह अपने स्वरूप के प्रदर्शन में उन्मुख न होकर अपने से अतिशय रमणीय व्यंग्यार्थ का ही अभिव्यञ्जक हुआ करता है जैसा कि कहा भी गया है—

'व्यज्यतेऽर्थान्तरं यत्र मुख्यार्थेन स्वनिह्नवात्।
तस्मिन् विवक्षितस्यापि तस्यान्यपरता भवेत् ॥'

(अलंकारमहोदधि : तृतीय तरङ्ग)

इस काव्य का जो प्रथम भेद है अर्थात् 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' काव्य वह तो महाकवियों का प्रतिभा-वैभव ही है। 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' का अभिप्राय है—**न संलक्ष्यः न सम्यग् ज्ञातः सन्नपि क्रमो यस्य व्यंग्यस्य सः**—अर्थात् ऐसा व्यंग्यार्थ जिसकी प्रतीति में व्यञ्जकरूप वाच्य अर्थ की पूर्वप्रतीति असंभव है। यह काव्य रसभावादिरूप ध्वनिकाव्य है जैसा कि कहा भी गया है—

'रसादयो हि विभावानुभावव्यभिचारिभिः प्रथमाविर्भूतैरनन्तरमाविष्क्रियन्ते इत्यस्ति क्रमः। स चाशुभावित्वान्न लक्ष्यते, विभावादिसमकालमेव रसादीनां प्रतीयमानत्वात्।

'विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि' काव्य के 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि' रूप भेद में वाच्य और व्यङ्ग्य के अवबोध का पौर्वापर्य पता चला करता है—

'संलक्ष्यक्रमो मुख्यार्थप्रतीत्यनन्तरं हि घण्टानुरणनप्रतिमः सहृदयप्रतिभासमर्पितो वस्त्वलङ्कारवपुर्व्यङ्ग्योऽर्थः प्रतिभाति।'

अनुवाद—(विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का) यह पहला प्रकार अर्थात् 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' तो रसभावादिरूप ध्वनि है और इसे एक प्रकार का ही माना जाया करता है क्योंकि यदि इसके भेद किये जायँ तो एक-एक भेद में अनन्त भेद सम्भव हो जाते हैं जिनकी गणना असंभव बन जाती है।

तात्पर्य यह है कि तृतीय परिच्छेद में प्रतिपादित जो रस, भाव, आभास आदि ध्वनि हैं वे 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' ध्वनि हैं। यद्यपि विभावादिरूप वाच्यार्थ की प्रतीति ही रसभावादिरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का कारण है और ऐसा होने का यही अभिप्राय है कि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीतिओं में क्रम अथवा पौर्वापर्य अवश्य है किन्तु यह क्रम अथवा पौर्वापर्य यहाँ इसलिये नहीं प्रतीत हुआ करता क्योंकि व्यङ्ग्य-प्रतीति इतनी अविलम्ब हो उठती है कि वाच्यप्रतीति पर ध्यान ही नहीं पड़ा करता। यहाँ का व्यङ्ग्यार्थानुभव तो शतदल कमल की पंखुड़ियों के ऐसे खिल उठने की भाँति हुआ करता है जिसमें 'कौन पहले खिली और कौन बाद में' का पता कोई नहीं पा सकता। यह 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि' नामक काव्य एक प्रकार का ही माना गया है क्योंकि

क्ष्यते। एषु रसादिषु एकस्यापि च भेदस्यानन्तत्वात्संख्यातुमशक्यत्वादसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिर्नाम काव्यमेकभेदमेवोक्तम्। तथाहि—एकस्यैव 'शृङ्गारस्यैकोऽपि संभोगरूपो भेदः परस्परालिङ्गनाधरपानचुम्बनादिभेदात् प्रत्येकं च विभावादिवैचित्र्यात्संख्यातुमशक्यः, का गणना सर्वेषाम्।

(२—संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि : तीन प्रकार : १. शब्दशक्त्युद्भव २. अर्थशक्त्युद्भव और ३. शब्दार्थशक्त्युद्भव)

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थे व्यङ्ग्येऽनुस्वानसन्निभे।
ध्वनिर्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्त्रिविधः कथितो बुधैः॥ ६॥

क्रमलक्ष्यत्वादेवानुरणनरूपो यो व्यङ्ग्यस्तस्य शब्दशक्त्युद्भवत्वेन, अर्थशक्त्युद्भवत्वेन, शब्दार्थशक्त्युद्भवत्वेन च त्रैविध्यात्संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यनाम्नो ध्वनेः काव्यस्यापि त्रैविध्यम्।

यदि यहाँ रस, भाव आदि-आदि रूप अवान्तर भेदों का परिगणन किया जाने लगे तब तो एक भेद ही इतने प्रकारों का हो जाय कि गणना के परे पहुँच जाय! जैसे कि यदि 'रस'रूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के 'शृङ्गाररस' रूप एक अवान्तर भेद को ही लिया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि इस 'शृङ्गार' रस का 'संभोगशृङ्गार' नामक एक ही भेद परस्परालिङ्गन-संभोग, परस्पराधरपान-संभोग, परस्परपरिचुम्बन-संभोग आदि-आदि रूप से असंख्य प्रकार का हो जायगा और यदि इन एक-एक संभोगप्रकारों में भी इनके आलम्बन-विभाव-वैचित्र्य आदि-आदि की भेद-नियामकता के आधार पर अन्यान्य भेद-प्रभेद गिनाये जाने लगें तब तो कहना ही क्या! अब जब कि एक 'रस' की अवान्तर-भेद-गणना असंभव हो गयी तब सभी रसों और भावों और उनके आभासों की गणना कौन संभव मान ले!

अनुवाद—'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' नामक जो अभिधामूलक ध्वनि है वहाँ व्यङ्ग्यार्थ (वस्तु अथवा अलङ्काररूप हुआ करता है और) ऐसा हुआ करता है जैसे (तन्त्री आदि का) अनुरणन। इसके तीन प्रकार बताये गये हैं—१. वह, जहाँ व्यङ्ग्यार्थ शब्दशक्ति से अनुरणित हुआ करता है, २. वह, जहाँ व्यङ्ग्यार्थ अर्थशक्ति से अनुरणित हुआ करता है और ३. वह, जहाँ व्यङ्ग्यार्थ शब्द और अर्थ दोनों की शक्तियों से अनुरणित हुआ करता है।

तात्पर्य यह है कि जब कि 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' ध्वनि में वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रतीतियों में क्रम स्पष्ट परिलक्षित हुआ करता है तब तो यह स्पष्ट ही है कि यहाँ ध्वनि अनुरणनरूप हुआ करती है ('अनुरणन'रूप इसलिये कि जब वाच्यावबोध तन्त्रीरणनरूप है तो व्यङ्ग्यानुभव अनुरणन अथवा मधुर झंकाररूप अवश्यमेव होगा)। यह अनुरणनरूप ध्वनि शब्दशक्ति, अर्थशक्ति और शब्द और अर्थ दोनों की शक्तियों से निकला करती है जिससे इस प्रकार की ध्वनि से विभूषित काव्य ('संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि' काव्य) के भी तीन प्रकार हुआ करते हैं।

विमर्श—'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि' काव्य के प्रथम भेद अर्थात् 'शब्दशक्त्युद्भवध्वनि' की विशेषता यह है कि जिस शब्द से जो व्यङ्ग्यार्थ जहाँ निकल रहा है उसके दूसरे पर्याय से वह व्यङ्ग्यार्थ वहाँ नहीं निकल सकता (शब्दशक्तिमूलत्वं चैतदेव यत्तेनैव शब्देन तदर्थप्रतीतिः

(१—शब्दशक्त्युद्भवध्वनि : दो भेद : १—वस्तु-ध्वनि, २—अलंकार-ध्वनि)

तत्र—

वस्त्वलङ्काररूपत्वाच्छब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ।

अलङ्कारशब्दस्य पृथगुपादानादनलङ्कारं वस्तुमात्रं गृह्यते । तत्र वस्तुरूपः शब्दशक्त्युद्भवो व्यङ्ग्यो यथा—

'पन्थि अ ! ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे
उण्णअ पओहरं पेक्खिअ ऊण जइ वससि ता वससु ॥'

(पथिक ! नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद् वस ॥)

अत्र सत्थरादिशब्दशक्त्या यद्युपभोगक्षमोऽसि तदास्स्वेति वस्तु व्यज्यते । अलङ्काररूपो यथा—'दुर्गालङ्घितविग्रहः' इत्यादौ ।

न तु पर्यायान्तरेणापि)। 'अर्थशक्त्युद्भव' ध्वनि इसके विपरीत है क्योंकि यहाँ जो व्यङ्ग्यार्थ किसी प्रयुक्त शब्द से निकल सकता है वही उस शब्द के पर्याय से भी निकला करता है (एतद्वैपरीत्यं चार्थशक्तिमूलत्वम्)। 'शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव' ध्वनि में 'परिवृत्तिसह' और 'परिवृत्त्यसह' शब्दों का समान प्राधान्य रहा करता है (परिवृत्त्यसहशब्दप्राचुर्ये च शब्दशक्तिप्राधान्यम्, परिवृत्तिसहशब्दप्राचुर्ये त्वर्थशक्तिप्राधान्यम्, तत्साम्ये तूभयशक्तिप्राधान्यादुभयशक्तिमूलत्वम्)।

अनुवाद—अब 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के इन तीनों भेदों का विवेचन किया जा रहा है—

'शब्दशक्त्युद्भव' नामक जो प्रथम 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य' ध्वनि है उसमें व्यंग्यार्थ के 'वस्तु'रूप तथा 'अलंकार'रूप होने से दो भेद हुआ करते हैं—(१) शब्दशक्त्युद्भववस्तुध्वनि और (२) शब्दशक्त्युद्भव अलंकारध्वनि ।

यहाँ 'वस्तु' का अभिप्राय 'वस्तुमात्र' अथवा अनलंकृत अर्थ से है क्योंकि अलंकृत अर्थ के लिये 'अलङ्कार' शब्द का पृथक् प्रयोग कर दिया गया है। अब पहले भेद अर्थात् वस्तुरूप शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण यह रहा—

'अरे बटोही ! यह तो पहाड़ी बस्ती रही, यहाँ बिछावन वगैरह कहाँ मिले ! यहाँ यदि ठहरना चाहो तो 'उन्नतपयोधर' (आकाश में उमड़े मेघ) देख लो और ठहर जाओ ।'

यहाँ 'शब्दशक्त्युद्भववस्तु' ध्वनि इसलिए है क्योंकि यहाँ जो 'स्रस्तर', 'पयोधर' आदि शब्द प्रयुक्त हैं उनकी व्यञ्जकता शक्ति से यही अभिप्राय निकलता है कि 'अरे बटोही ! यदि पर्वतीय सुन्दरी का सुखभोग चाहते हो तो यहीं रात बिता लो।' (और यह अभिप्राय ऐसा है जिसमें कोई आलङ्कारिकता नहीं क्योंकि यह अभिप्राय तो एक 'अनलंकृत अर्थरूप' अभिप्राय है, वस्तुमात्र है)।

दूसरे अर्थात् अलङ्काररूप शब्दशक्त्युद्भवध्वनि के उदाहरण रूप में 'दुर्गालङ्घितविग्रहः' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति देखी जा सकती है, जहाँ प्राकरणिक रूप से तो 'उमा' नाम की महारानी के पति महाराज भानुदेव का वर्णन किया गया है और अप्राकरणिक रूप से 'उमा' अथवा पार्वती के वल्लभ भगवान् शिव का वर्णनरूप व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो उठता है।

अत्र प्राकरणिकस्य उमानाममहादेवी–वल्लभ–भानुदेवनाम—नृपतेर्वर्णने द्वितीयार्थसूचितमप्राकरणिकस्य पार्वतीवल्लभस्य वर्णनमसम्बद्धं मा प्रसाङ्क्षीदिति ईश्वरभानुदेवयोरुपमानोपमेयभावः कल्प्यते तदत्र उमावल्लभ उमावल्लभ इवेत्युपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः। यथा वा—

'अमितः समितः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षद प्रभो!।
अहितः सहितः साधु यशोभिरसतामसि॥'

अत्रामित इत्यादावपिशब्दाभावाद्विरोधाभासो व्यङ्ग्यः। व्यङ्ग्यस्यालङ्कार्यत्वेऽपि ब्राह्मणश्रमणन्यायादलङ्कारत्वमुपचर्यते।

अब उमावल्लभ भानुदेव के वर्णनप्रकरण में पार्वतीपति शङ्कर का अप्राकरणिक व्यङ्ग्यरूप वर्णन असंगत न हो इसलिये भगवान् शङ्कर और महाराज भानुदेव में उपमानोपमेय भाव की कल्पना स्वाभाविक हो जाती है और इस प्रकार 'उमावल्लभ (महारानी उमा के पति भानुदेव) 'उमावल्लभ' (पार्वतीपति शङ्कर) के समान हैं' यह उपमालङ्कार रूप अर्थ अभिव्यङ्ग्य रूप से प्रतीत हो जाता है।

इसी प्रकार यह सूक्ति जैसे कि—

'हे महाराज! आप 'हर्षद' हो, शत्रुहर्ष के नाशक और मित्रहर्ष के प्रदायक हो और (समितः) संग्राम से प्राप्त विजय-सम्पदाओं से (अमितः) अवर्णनीय वैभव-सम्पन्न भी हो। आप ही ऐसे हो जो एक महापुरुष के यशोवैभव से 'सहितः' सम्पन्न हो और साथ ही साथ दुर्जनों के (अहितः) अहितकारक भी हो।' आदि भी शब्दशक्तिमूल अलङ्कारध्वनि का ही उदाहरण है क्योंकि यहाँ 'अमितः' और 'समितः' तथा 'अहितः' और 'सहितः' पदों की व्यञ्जकताशक्ति 'विरोधाभास'रूप अलंकृत अर्थ का प्रत्यायन करा रही है। यहाँ 'विरोधाभास' रूप अलंकृत अर्थ इसलिये व्यङ्ग्य है क्योंकि 'अमितः' और 'समितः' तथा 'अहितः' और 'सहितः' शब्दों के बीच 'अपि' (भी) शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है (क्योंकि 'अपि' शब्द के प्रयोग में विरोधाभास व्यङ्ग्य नहीं अपि तु वाच्य रह जायगा)।

[तात्पर्य यह है कि यहाँ राजवर्णन का प्रकरण है और राजवर्णनरूप अर्थ में अभिधा नियन्त्रित है। तब भी 'अमित' और 'समित' तथा 'अहित' और 'सहित' (जो अपरिमेय वह परिमेय क्यों? जो 'हितरहित' वह 'हितसहित' कैसे?) आदि अप्राकरणिक विरुद्ध अर्थ का आभास हो उठता है जो कि व्यङ्ग्यरूप ही अर्थ है और यहाँ की शब्द-शक्ति के विजृम्भण का परिणाम है।]

यहाँ अर्थात् 'अलङ्कार ध्वनि' के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि जो भी अलङ्कारमय अर्थ अभिव्यङ्ग्य रहा करता है वह अलङ्कार (शोभाधायक) रूप नहीं अपि तु अलङ्कार्य (शोभाश्रय काव्य) रूप अर्थ हो जाया करता है किन्तु तब भी इसे उपचारतः 'अलङ्कार' कह दिया करते हैं (क्योंकि तभी तो इस प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ को अनलंकृत वस्तुमात्ररूप अर्थ से विशिष्ट रूप का अर्थ बताया जा सकता है)। वस्तुतः अलङ्कार्य रूप अर्थ को 'अलङ्कार' कहना 'ब्राह्मणश्रमणन्याय' का सहारा लेना है, (अर्थात् जैसे किसी (बौद्ध भिक्षुक) को 'ब्राह्मण' कहना ठीक न होने पर भी, बुद्धधर्म की दीक्षा के पहले, उसके ब्राह्मण वर्ण का ध्यान रख कर, 'ब्राह्मण' कह दिया जाया करता है वैसे ही अलङ्कार्य

(अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि : १२ भेद)

वस्तु वालङ्कृतिर्वापि द्विधार्थः सम्भवी स्वतः ॥ ७ ॥
कवेः प्रौढोक्तिसिद्धो वा तन्निबद्धस्य वेति षट् ।
षड्भिस्तैर्व्यज्यमानस्तु वस्त्वलङ्काररूपकः ॥ ८ ॥
अर्थशक्त्युद्भवो व्यङ्ग्यो याति द्वादशभेदताम् ।

स्वतः सम्भवी औचित्याद् बहिरपि सम्भाव्यमानः । प्रौढोक्त्या सिद्धः, न त्वौचित्येन ।

(व्यङ्ग्य) रूप अर्थ को 'अलङ्कार' कहना ठीक न होने पर भी, व्यङ्ग्यरूप से अवस्थान के पहले, उसके वाच्य-'अलङ्कार'रूप का ध्यान रखकर, 'अलङ्कार' कहना स्वाभाविक ही है।

विमर्श—'अमितः समितः' आदि सूक्ति में विरोधाभास व्यङ्ग्य है वाच्य नहीं, इस सम्बन्ध में काव्यप्रदीपकार का यह कथन है—

'ननु विरोधस्य किं सर्वत्र व्यङ्ग्यत्वमेव ? नेत्युच्यते । तत्कियती सीमा ? अपिशब्दादेर्विरोधव्यञ्जकस्य भावे वाच्यत्वं तदभावे व्यङ्ग्यत्वमिति ।'

अर्थात् जहाँ कहीं भी विरोधाभास प्रतीत हो वहाँ सर्वत्र वह व्यङ्ग्यरूप से नहीं प्रतीत हुआ करता । यदि 'अपि' 'च' आदि विरोध-प्रत्यायक पदों का व्यवहार कर दिया जाय तो विरोधाभास वाच्यरूप से प्रतिपादित होने लगे और यदि इनके अप्रयोग में भी विरोध का अभिप्राय निकल पड़े तो यहाँ समझना पड़ेगा कि विरोध का अवभास हो उठा है ।

अनुवाद—'अर्थशक्त्युद्भव' नामक 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य'ध्वनि के बारह प्रकार दिखाई पड़ते हैं। बारह प्रकार इसलिये क्योंकि यहाँ जो व्यञ्जक रूप से अवस्थित अर्थ हुआ करता है उसके ६ भेद स्पष्ट हैं । ये ६ भेद इस प्रकार देखे जा सकते हैं—

(१) स्वतः सम्भवती वस्तु रूप व्यञ्जक अर्थ ।
(२) " " अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ ।
(३) कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ ।
(४) " " अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ ।
(५) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ ।
(६) " " " " अलङ्कार रूप व्यञ्जक अर्थ ।

अब जब कि इस प्रत्येक प्रकार के व्यञ्जक अर्थ से निकलने वाला व्यङ्ग्यरूप अर्थ दो प्रकार का है अर्थात् (१) वस्तुरूप व्यङ्ग्य अर्थ और (२) अलङ्काररूप व्यङ्ग्य अर्थ है तब तो यह निःसंदिग्ध है कि अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि १२ प्रकार की है।

यहाँ व्यञ्जकरूप अर्थ में 'स्वतःसंभवी' भेद करने का यह अभिप्राय है कि कविवर्णित अर्थों में एक ऐसा भी अर्थ है जो काव्य-विषय बनने पर भी, लोकजीवन में अपनी वास्तविकता रखा करता है। (स्वतःसम्भवी=लोक में भी सम्भव न कि केवल कविवर्णना का विषय)। इस प्रकार के अर्थ से भिन्न प्रकार का जो अर्थ है वह 'कविप्रौढोक्तिसिद्ध' अर्थ कहा जाया करता है क्योंकि इसकी निष्पत्ति एकमात्र कवि की कल्पना द्वारा हुआ करती है जिससे इसमें कोई लौकिक वास्तविकता (और इस वास्तविकता की परीक्षा की आवश्यकता) नहीं रहा करती।

जैसे कि, पहले स्वतःसम्भवी वस्तुमात्र रूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (१—स्वतःसम्भविना वस्तुना वस्तुध्वनिः)—

तत्र क्रमेण यथा—

'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि ! क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति ।
एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः ॥'

अत्र स्वतः सम्भविना वस्तुना तत् प्रतिपादिकाया भाविपरपुरुषोपभोगज-नखक्षतादिगोपनरूपं वस्तुमात्रं व्यज्यते ।

'दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥'

अत्र स्वतःसम्भविना वस्तुना रवितेजसो रघुप्रतापोऽधिक इति व्यतिरेकालङ्कारो व्यज्यते ।

'आपतन्तममुं दूरादूरीकृतपराक्रमः ।
बलोऽवलोकयामास मातङ्गमिव केसरी ॥'

'अरी पड़ोसवाली ! जरा इधर मेरे घर की ओर भी निगाह रखना । मेरा जो यह लाल है उसके पिता को कुँए का पानी पीना अच्छा नहीं लगता । क्या करूं, जल्दी है; किसी प्रकार अकेले ही यहाँ से उस सोते पर जाना है जहाँ तमाल की सघन छाया के अँधेरे का तो कहना ही क्या, गाठों से भरे घने, पुराने सरकण्डों की नोच-खरोंच का भी डर लगा है ।'

यहाँ जो व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है वह है इस प्रकार की बात करनेवाली नायिका का, किसी परपुरुष के साथ होने वाले रति-प्रसङ्ग में नखक्षत आदि चिह्नों का 'गोपन' अथवा छिपाना । इस व्यङ्ग्यार्थ का उपस्थापक अर्थ एक वस्तुरूप अर्थ है और स्वतःसम्भवी (लोकप्रसिद्ध) है ।

अथवा

जैसे कि स्वतःसंभवी वस्तुमात्ररूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्कार रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (२—स्वतःसंभविना वस्तुना अलङ्कारध्वनिः)—

'जिस दक्षिण दिशा की ओर सूर्य का भी प्रताप मन्द पड़ जाया करता है उसी ओर रघु का प्रताप इतना प्रचण्ड हो उठा कि पाण्ड्य राजगण उसे सह न सके ।'

यहाँ यह व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो रहा है कि 'सूर्य के प्रताप से रघु का प्रताप कहीं अधिक प्रखर—है' । यह व्यङ्ग्यार्थ (वस्तुमात्र रूप अर्थ नहीं, अपितु) उपमान (सूर्य-प्रताप) की अपेक्षा उपमेय (रघु-प्रताप) का उत्कर्षाधिक्य रूप अर्थ है—व्यतिरेक अलङ्कार रूप अर्थ-सौन्दर्य है—और इसका जो व्यञ्जक अर्थ है वह एक स्वतःसंभवी (लोकसिद्ध) अर्थ है (क्योंकि दक्षिणायन में सूर्यताप की मन्दता एक सर्वानुभवसिद्ध वस्तु है) ।

अथवा

जैसे कि स्वतःसंभवी अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (३—स्वतःसंभविना अलङ्कारेण वस्तुमात्रध्वनिः)—

'संग्राम के लिये आरूढप्रतिज्ञ बलराम ने, दूर से दौड़ते हुये, आक्रमण करनेवाले, वेणुदारी राक्षस को ऐसे देखा जैसे सिंह हाथी को देख रहा हो ।'

अत्रोपमालङ्कारेण स्वतः सम्भविना व्यञ्जकार्थेन बलदेवः क्षणेनैव वेणुदारिणः क्षयं करिष्यतीति वस्तु व्यज्यते।

'गाढकान्तदशनक्षतव्यथासङ्कटादरिवधूजनस्य यः।
ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन् युधि रुषा निजाधरम् ॥'

अत्र स्वतः सम्भविना विरोधालङ्कारेणाधरो निर्दष्टः शत्रवो व्यापादिताश्चेति समुच्चयालङ्कारो व्यङ्ग्यः।

'सज्जेहि सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइजणलक्खसुहे।
अहिणवसहआरमुहे णवपत्तले अणङ्गस्स सरे ॥'
(सज्जयति सुरभिमासो न चार्पयति युवतिजनलक्ष्यसहान्।
अभिनवसहकारमुखान् नव (पल्लव) पत्रलान् अनङ्गस्य शरान् ॥)

अत्र वसन्तः शरकारः, कामो धन्वी, युवतयो लक्ष्यम्, पुष्पाणि शरा इति कविप्रौढोक्तिसिद्धं वस्तु प्रकाशीभवद् मदनविजृम्भणरूपं वस्तु व्यनक्ति।

यहाँ यह ध्वनि निकलती है कि 'पलक मारते ही, बलराम वेणुदारी का सर्वनाश कर डालेंगे।' यह ध्वनि एक वस्तुमात्र रूप अर्थ है किन्तु इसके व्यञ्जक रूप से जो अर्थ उपनिबद्ध है वह एक उपमालङ्कार है जो कि (कविप्रौढोक्तिसिद्ध नहीं अपितु) एक स्वतः-संभवी सुन्दर वाच्यार्थ है।

अथवा

जैसे कि स्वतःसंभवी अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (४—स्वतःसंभविना अलङ्कारेण अलङ्कारध्वनिः)—

'यही वे महाप्रतापी राजा हैं जिन्होंने संग्राम में, क्रोध से, अपने ओठ चबाये और शत्रुनारिओं के विद्रुमोपम (मूँगे की भाँति लाल) ओठों को, उनके प्रेमी राजाओं के दन्तक्षत-संकट से बचाया।'

यहाँ यह व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है कि 'जैसे ही राजा ने अपने ओठ चबाये, वैसे ही शत्रुगण नष्ट हो गये।' यह व्यङ्ग्यार्थ एक अलङ्कारमय—वस्तुतः समुच्चयालङ्काररूप—अर्थ है (क्योंकि 'राजा की अपने ओठ चबाने की क्रिया और 'शत्रुओं के नष्ट हो जाने' की क्रिया का यौगपद्य (एककालिक अवस्थान) स्पष्ट प्रतीत हो जाता है)। इस व्यङ्ग्यार्थ का व्यञ्जक जो अर्थ है वह एक स्वतःसंभवी अलङ्काररूप—वस्तुतः विरोधाभासालङ्कार-रूप अर्थ है (क्योंकि स्वयं अधरदशन और पराधर के दशनकष्ट-निवारण में आपाततः विरोध अवश्य उपनिबद्ध किया हुआ है)।

इसी प्रकार कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (५—कविप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना वस्तुध्वनिः)—

'वसन्त ने युवतिओं को निशाना बनाने के लिये, नव किसलयोपम पुंखों से युक्त आम्रमञ्जरी-गुच्छों को बाण बना कर तो रख छोड़ा है। अब देर इतनी ही है कि उन्हें काम के हाथ में दे दे।'

यहां यह ध्वनि निकलती है कि 'सर्वत्र कामभाव का आविष्कार प्रारम्भ हो गया है'। यह ध्वनि एक वस्तुरूप ध्वनि है (क्योंकि वसन्त में कामोद्दीपन एक लोकसिद्ध बात है) किन्तु इसका जो व्यञ्जक रूप अर्थ है अर्थात् वसन्त का शरकार, काम का धनुर्धर, युवतिओं का लक्ष्य और मञ्जरीगुच्छों का बाणरूप से वर्णन, वह (कोई स्वतःसंभवी

'रजनीषु विमलभानोः करजालेन प्रकाशितं वीर ! ।
धवलयति भुवनमण्डलमखिलं तव कीर्तिसंततिः सततम् ॥'

अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना कीर्तिसन्ततेश्चन्द्रकरजालादधिककाल-प्रकाशकत्वेन व्यतिरेकालङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

'दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः ।
मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः ॥'

अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेनापह्नुत्यलङ्कारेण भविष्यद्राक्षसश्रीविनाशरूपं वस्तु व्यज्यते ।

'धम्मिल्ले नवमल्लिकासमुदयो हस्ते सिताम्भोरुहं
हारः कण्ठतटे पयोधरयुगे श्रीखण्डलेपो घनः ।
एकोऽपि त्रिकलिङ्गभूमितिलक ! त्वत्कीर्तिराशिर्ययौ
नानामण्डनतां पुरन्दरपुरीवामभ्रुवां विग्रहे ॥'

अर्थ नहीं अपितु) एक कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ है (ऐसा अर्थ है जिसका अस्तित्व कवि की प्रौढ वर्णना में ही है न कि सर्वसाधारण के अनुभव में)।

अथवा कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्काररूप 'व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (६—कविप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना अलङ्कारध्वनिः)—

'हे शूरवीर राजन् ! जब कि चन्द्रमा की चांदनी रात में भुवनमण्डल को शुभ्र बनाया करती है, आपकी कीर्ति-सन्तति ऐसी है जो इसे सदा अपने शुभ्र प्रकाश से प्रकाशमान रखा करती है।'

यहाँ जो व्यङ्ग्य रूप अर्थ है वह एक अलङ्काररूप अर्थ है क्योंकि चन्द्रिकारूप उपमान की अपेक्षा कीर्तिरूप उपमेय का उत्कर्षातिरेक स्पष्ट झलक रहा है। और इसका अभिव्यञ्जक जो अर्थ है वह (स्वतःसंभवी वस्तुरूप अर्थ नहीं, अपि तु) एक कवि-प्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ है (क्योंकि कीर्ति की शुभ्रवर्णता कवि के कल्पना-जगत् की बात है, प्रतिदिन के लोक की नहीं)।

इसी प्रकार, कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (७—कविप्रौढोक्तिसिद्धेन अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः)—

'रामावतार के समय ऐसा लगा जैसे राक्षसवंश की राजलक्ष्मी के आंसू, रावण के मणिमुकुट से टूटते मणि-मौक्तिकों के बहाने, पृथिवी पर गिर-गिर कर ढुलकने लगे।'

यहाँ (महाकवि कालिदास के रघुवंश की इस सूक्ति में) यह ध्वनि निकल रही है कि 'अब राक्षसवंश की राज्यश्री का अन्त होने ही वाला है।' यह ध्वनि एक अनलंकृत अर्थ सी है और इसका व्यञ्जक अर्थ एक ऐसा 'अपह्नुति'अलङ्काररूप अर्थ है जिसमें (स्वतःसंभविता नहीं अपि तु) कविप्रौढोक्तिसिद्धता की रूपरेखा स्पष्ट झलक रही है (क्योंकि राजलक्ष्मी के आंसू कवि के कल्पनालोक में संभव हैं न कि इस लोक में)।

अथवा

कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (८—कविप्रौढोक्तिसिद्धेन अलङ्कारेण अलङ्कारध्वनिः)—

'हे तैलङ्गवसुन्धरातिलक (तैलङ्गाधिप महाराज)! आपकी एक ही कीर्ति-संतति ऐसी है जो इन्द्रपुरी की सुर-सुन्दरिओं के केशपाशों के लिये मल्लिका-गुच्छ, हाथों के लिये

अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेन रूपकालङ्कारेण भूमिष्ठोऽपि स्वर्गस्थानामुपकारं करोषीति विभावनालङ्कारो व्यज्यते।

'शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः।
सुमुखि! येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः॥'

अत्रानेन कविनिबद्धस्य कस्यचित्कामिनः प्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना तवाधरः पुण्यातिशयलभ्य इति वस्तु प्रतीयते।

'सुभगे! कोटिसंख्यत्वमुपेत्य मदनाशुगैः।
वसन्ते पञ्चता त्यक्ता पञ्चतासीद्वियोगिनाम्॥'

अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन कामशराणां कोटिसंख्यत्वप्राप्त्या निखिलवियोगिमरणेन वस्तुना शराणां पञ्चता शरान् विमुच्य वियोगिनः श्रितेवेत्युत्प्रेक्षालङ्कारो व्यज्यते।

सितकमल, कण्ठ-तटों के लिये मौक्तिक-माल, स्तनद्वयों के लिये सघन चन्दनाङ्गराग और इतना ही क्यों, अङ्ग-प्रत्यङ्ग के लिये उन-उन शृङ्गार-प्रसाधनों का रूप धारण करती दिखायी पड़ रही है।'

यहाँ यह ध्वनि निकल रही है कि 'भूलोक में विराजमान भी तैलङ्गाधिप स्वर्गलोक के निवासिओं के उपकार में अनवरत लीन हैं।' यह ध्वनि एक अलंकृत अर्थ—वस्तुतः विभावनालङ्काररूप अर्थ है (क्योंकि तैलङ्गनरेश का स्वर्गलोक के निवासिओं का उपकारसम्पादनरूप कार्य उनके स्वर्गलोकनिवासरूप कारण के अभाव में ही निष्पन्न होता वर्णित किया जा रहा है-'विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते')। इस अलङ्काररूप ध्वनि का जो अभिव्यञ्जक अर्थ है वह कविप्रौढोक्तिसिद्ध रूपकालङ्काररूप अर्थ है (क्योंकि कीर्ति का सुरसुन्दरिओं के मल्लिकामाल आदि प्रसाधनों से तादात्म्यारोप कवि की प्रौढ वर्णना का ही परिणाम है न कि वस्तु-वर्णना का)।

इसी भांति, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (९—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना वस्तुध्वनिः)—

'अरी सुन्दरी! पता नहीं चलता कि इस शुक-शावक ने किस पर्वत-शिखर पर, कितने दिनों तक, किस प्रकार का तप किया कि इसे तेरे अधर की भांति लाल, कोमल बिम्बफल के आस्वाद का सौभाग्य मिल गया!'

यहाँ यह व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है कि 'तेरा अधररसपान बड़े पुण्य-प्रताप का ही फल है।' इस व्यङ्ग्यार्थ का अभिव्यञ्जन जिस प्रकार के अर्थ से हो रहा है वह अर्थ वस्तु मात्र रूप अर्थ है और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ है क्योंकि यहाँ कवि ने एक प्रेमी की उक्ति का ऐसा उपनिबन्ध किया है।

अथवा

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (१०—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना अलङ्कारध्वनिः)—

'अरी सुन्दरी! इस वसन्त ऋतु में काम के बाणों ने तो, करोड़ों की संख्या में पहुँच कर, अपनी (लोकप्रसिद्ध) 'पञ्चता' (पञ्चसंख्यकता) छोड़ दी किन्तु वियोगियों को 'पञ्चता' (मृत्यु) से छुटकारा न मिला।'

यहाँ जो व्यङ्ग्य अर्थ है वह उत्प्रेक्षालङ्काररूप अर्थ है क्योंकि अन्त में यही प्रतीत हो

'मल्लिकामुकुले चण्डि ! भाति गुञ्जन् मधुव्रतः ।
प्रयाणे पञ्चबाणस्य शङ्खमापूरयन्निव ॥'

अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेनोत्प्रेक्षालङ्कारेण कामस्यायमुन्मादकः कालः प्राप्तस्तत्कथं मानिनि मानं न मुञ्चसीति वस्तु व्यज्यते ।

'महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअन्ती ।
अणुदिणमणण्णकम्मा अङ्गं तणुअं पि तणुएइ ॥'

(महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग ! सा अमान्ती ।
अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तन्वपि तनूकरोति ॥)

अत्रामाअन्तीति कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन काव्यलिङ्गालङ्कारेण तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तत इति विशेषोक्त्यलङ्कारो व्यज्यते ।

रहा है कि 'कामबाणों की 'पञ्चता' मानो उन्हें छोड़ कर वियोगियों का आश्रय ले चुकी है ।' इस व्यङ्ग्यार्थ का उत्थापक अर्थ एक वस्तुरूप अर्थ है जिसका यह स्वरूप है—'जब कि वसन्त में काम के बाण करोड़ों की संख्या पार कर चुके तब तो वियोगियों में सभी की मृत्यु निश्चित है'। यह वस्तुरूप अर्थ भी कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ है क्योंकि इसका वक्ता कवि द्वारा वर्णित एक कामुक व्यक्ति है जो कि अपनी प्रौढ वर्णना में काम के कोटि कोटि शरों का साक्षात्कार कर रहा है ।

अथवा

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (११—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः)—

'अरी कोप करने वाली सुन्दरी ! इधर देख, इस चमेली की कली पर यह भौंरा ऐसा गुंजार कर रहा है मानो पञ्चशर काम की विजययात्रा का शंख बजा रहा हो ।'

यहाँ यह वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है कि 'अरी मानिनी ! अब तो मदनोन्माद की घड़ी आ पहुँची, अब क्यों मान नहीं छोड़ती ।' यह व्यङ्ग्यार्थ जिस व्यञ्जक अर्थ के आधार पर निकल रहा है वह अर्थ एक कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध उत्प्रेक्षालङ्काररूप अर्थ है (क्योंकि काम के शङ्खवादक के रूप में भ्रमर का दर्शन कवि के कल्पना-लोक में भले ही सम्भव हो, प्रतिदिन के लोक में तो असम्भव ही है)।

और अन्त में

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति (१२—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन अलङ्कारेण अलङ्कारध्वनिः)।

'अरे सुन्दर ! तेरी वह सुन्दरी, अब सहस्रों सुन्दरियों से भरे तेरे हृदय में प्रवेश मात्र भी न पाकर, प्रतिदिन, सब काम छोड़-छाड़ कर, बस, अपनी दुर्बल देह को अधिक से अधिक दुर्बल बनाने में ही लगी हुई दीख पड़ रही है ।'

यहाँ यह ध्वनि निकल रही है कि 'चाहे वह अपनी देह को कितनी भी दुर्बल क्यों न बनावे तेरे हृदय में उसके लिये कोई स्थान नहीं ।' यह ध्वनि एक अलङ्कारमय अर्थ—वस्तुतः 'विशेषोक्ति' अलङ्काररूप अर्थ—है (क्योंकि संकीर्ण स्थान में प्रवेशार्थ देह की दुर्बलता के कारण के सद्भाव में भी प्रवेशरूप कार्य की अनिष्पत्ति ही वर्णित है)। इस ध्वनि की अभिव्यञ्जना जिस अर्थ से हो रही है वह अर्थ कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध 'काव्यलिङ्ग'

(कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध व्यञ्जक अर्थ का स्वरूप-विश्लेषण)

न खलु कवेः कविनिबद्धस्येव रागाद्याविष्टता अतः कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिः कविप्रौढोक्तेरधिकं सहृदयचमत्कारकारिणीति पृथक्प्रतिपादिता।

अलङ्काररूप अर्थ है क्योंकि हृदय में प्रवेश न पाने का जो हेतु यहाँ वर्णित है अर्थात् हृदय का सुन्दरीसहस्र से भरा रहना, वह एक काव्यात्मक हेतु है।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि 'कविप्रौढोक्तिसिद्ध' व्यञ्जक अर्थ से 'कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध' व्यञ्जक अर्थ को इसलिये पृथक् परिगणित किया गया है क्योंकि यदा-कदा 'कविप्रौढोक्ति' की अपेक्षा 'कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति' में सहृदयहृदय अधिक चमत्कार अनुभव किया करता है। इसका एक कारण है और वह यह है कि कवि के रागाद्याविष्ट हृदय की अपेक्षा कविप्रतिभोत्तम्भित नायकादि का हृदय अधिक रागाद्याविष्ट हुआ करता है।

विमर्श-'अर्थशक्त्युद्भव' ध्वनि में ध्वनिकार ने व्यञ्जक अर्थ का द्वैविध्य ही प्रदर्शित किया है-

'अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ यो व्यञ्जकोऽर्थ उक्तस्तस्यापि द्वौ प्रकारौ— कवेः कविनिबद्धस्य वा वक्तुः प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर एकः, स्वतःसंभवी च द्वितीयः।'

(ध्वन्यालोक २-२४)

किन्तु काव्यप्रकाशकार का अनुसरण करते हुए विश्वनाथ कविराज ने 'स्वतःसंभवी' के अतिरिक्त 'प्रौढोक्तिसिद्ध' व्यञ्जक अर्थ के दो भेद मान कर व्यञ्जक अर्थ को तीन प्रकार का सिद्ध किया है। इस सम्बन्ध में काव्यप्रकाशकार की आलोचना में काव्यानुशासन के रचयिता आचार्य हेमचन्द्र ने यह लिखा था—

'इह चार्थः स्वतःसंभवी, कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति-मात्रनिष्पन्नशरीरो वेति भेदकथनं न न्याय्यम्। प्रौढोक्तिनिर्मितत्वमात्रेणैव साध्यसिद्धेः। प्रौढोक्तिमन्तरेण स्वतःसम्भविनोऽप्यकिञ्चित्करत्वात्। कविप्रौढोक्तिरेव च कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिरिति किं प्रपञ्चेन। (काव्यानुशासन १-२४)

अर्थात् अर्थशक्त्युद्भवध्वनि में व्यञ्जकरूप अर्थ को भले ही एक दृष्टि से 'स्वतःसंभवी' और 'प्रौढोक्तिसिद्ध' रूप से दो प्रकार का माना ज सके किन्तु ऐसा मानना निरर्थक है कि प्रौढोक्ति-सिद्ध अर्थ भी 'कविप्रौढोक्तिसिद्ध' और 'कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति' सिद्ध रूप से दो भेदों में विभक्त है। यहाँ बात तो वस्तुतः यह है कि 'स्वतःसंभवी' भी अर्थ प्रौढोक्तिनिष्पन्न होने पर ही व्यञ्जक हुआ करता है। तब भी यदि इसे कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ से पृथक् किया गया तो कोई बात नहीं। किन्तु कवि की प्रौढोक्ति और कविनिबद्ध वक्ता की प्रौढोक्ति का पार्थक्य तो निराधार ही है।

किन्तु विश्वनाथ कविराज ने एक युक्ति से मम्मट-निर्दिष्ट 'त्रैविध्य' का ही समर्थन किया है। यह समर्थन संभवतः अभिनवगुप्तपादाचार्य की इस उक्ति के आधार पर है—

'यदा तु कविनिबद्धस्य साभिलाषस्य तरुणस्य वक्तुरित्थं प्रौढोक्तिस्तदा व्यञ्जकत्वम्।'

(ध्वन्यालोक लोचन-२य उद्योत)

तब भी पण्डितराज जगन्नाथ को यह सब समर्थन-संरम्भ अकिञ्चित्कर ही प्रतीत होता है—

'प्रतिभानिर्वर्तितत्वाविशेषाच्च कवितदुम्भितवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नयोरर्थयोर्न पृथग्भावेन गणनोचिता, उम्भितोम्भितादेरपि भेदान्तरप्रयोजकतापत्तेः।'

अर्थात् यदि प्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ में 'कविप्रौढोक्तिकृत' और 'वक्तृप्रौढोक्तिकृत' रूप से भेद किया जाने लगे तब तो वक्तृप्रौढोक्तिकृत अर्थ में भी वक्तृनिबद्ध वक्तृप्रौढोक्तिकृत आदि की परम्परा चल पड़ेगी और परिणाम कुछ भी नहीं होगा।

(अलङ्कार-ध्वनि का रहस्य : अलङ्करण न कि अलंकृत वस्तु)

एषु चालङ्कृतिव्यञ्जनस्थले रूपणोत्प्रेक्षणव्यतिरेचनादिमात्रस्य प्राधान्यं सहृदयसंवेद्यम्, न तु रूप्यादीनामित्यलङ्कृतेरेव मुख्यत्वम्।

(शब्दार्थशक्त्युद्भव ध्वनि : १ भेद)

एकः शब्दार्थशक्त्युत्थे—

उभयशक्त्युद्भवे व्यङ्ग्ये एको ध्वनेर्भेदः।

यथा—

'हिममुक्तचन्द्ररुचिरः सपद्मको मदयन् द्विजाञ्जनितमीनकेतनः।
अभवत्प्रसादितसुरो महोत्सवः प्रमदाजनस्य स चिराय माधवः॥'

अनुवाद—ऊपर अलङ्कार-ध्वनिओं के जो उदाहरण दिये गये हैं उनके सम्बन्ध में एक बात जाननी आवश्यक है और वह यह है—जहाँ भी रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक आदि अलङ्कार व्यङ्ग्य हुआ करते हैं वहाँ सहृदयों का यही अनुभव है कि रूपण, उत्प्रेक्षण, व्यतिरेचन आदि अलङ्करणरूप कविव्यापार व्यङ्ग्य है न कि रूप्य, उत्प्रेक्ष्य, व्यतिरेच्य आदि स्वभाव वाला अलंकृत अर्थ। इसलिये अलङ्कार-ध्वनि में जो प्रधानतया व्यङ्ग्य तत्त्व है वह अलङ्करणीय वस्तु नहीं अपि तु 'अलंकृति' अथवा 'अलङ्करण' है (और इसीलिये 'अलङ्कार' को 'वस्तु' से पृथक् प्रकार का व्यङ्ग्यार्थ माना जाया करता है)।

विमर्श—अलङ्कार-ध्वनि का यह रहस्य सर्वप्रथम आचार्य अभिनवगुप्त ने ही देखा है जैसा कि ध्वन्यालोकलोचन (२य उद्योत) की इस उक्ति से स्पष्ट है—

'उपमानोपमेयभाव इति। तेनोपमारूपेण व्यतिरेचननिह्नवादयो व्यापारमात्ररूपा एवात्रास्वादप्रतीतेः प्रधानं विश्रान्तिस्थानं न तूपमेयादीति सर्वत्रालङ्कारध्वनौ मन्तव्यम्।'

अर्थात् जब कि ध्वनिकार ने 'उपमा' ध्वनि को 'उपमानोपमेयभाव' ध्वनि माना है तब तो अलङ्कार-ध्वनि का रहस्य अलङ्करण व्यापार का ही रहस्य प्रतीत होता है न कि अलङ्करणीय अर्थवस्तु का। अलङ्करणीय अर्थवस्तु तो विश्लेषण में वस्तुमात्र-सी प्रतीत होती है। इसलिए अलङ्कार का ध्वनित होना 'अलङ्करण' का ध्वनित होना है। जहाँ 'रूपक' ध्वनि कही जाय, वहां 'रूपणा' अभिव्यङ्ग्य मानी जायगी, जहाँ 'व्यतिरेक' ध्वनि कही जाय, वहाँ 'व्यतिरेचना' ध्वनित समझी जायगी। अलङ्कार-ध्वनि में उपमेय, रूपणीय, व्यतिरेचनीय, अपह्नवनीय आदि-आदि रूप अर्थों का कोई स्थान अथवा महत्त्व नहीं रहा करता।

अनुवाद—वह 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' ध्वनि-काव्य जो कि शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव कहा जाया करता है, एक प्रकार का ही है।

अभिप्राय यह है कि जहाँ शब्द और अर्थ दोनों की व्यञ्जकता शक्ति से व्यङ्ग्यार्थ निकला करता है वहाँ ध्वनि-काव्य एकविध ही माना गया है। जैसे कि (माघकाव्य की यह सूक्ति अर्थात्)—

'इन्द्रप्रस्थ में विराजमान, (जनितमीनकेतन) प्रद्युम्न के पिता तथा कामोद्दीपक (हिममुक्तचन्द्ररुचिर) हिमपात से निर्भय चन्द्रमा की भाँति निर्मल कान्तिपूर्ण तथा हिमपातरहित चन्द्र-चन्द्रिका के कारण अतिशय रमणीय; (सपद्मक) पद्मा के सहवास से सुशोभित तथा पद्मवन की विकसित शोभा से सुन्दर, (द्विजान् मदयन्) पुरवासी द्विजगण के हर्षजनक तथा पक्षिसंघ के प्रमोदकारक; (प्रसादितसुरः) देवलोक के सुरगण के आनन्ददायक तथा मदिरा के विभूतिवर्द्धक, (माधव) श्रीकृष्ण भगवान् तथा वसन्त

अत्र माधवः कृष्णो माधवो वसन्त इवेत्युपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः।

(व्यङ्ग्यार्थ-विश्लेषण में काव्यप्रकार-विश्लेषण)

एवं च व्यङ्ग्यभेदादेव व्यञ्जकानां काव्यानां भेदः।

(उपर्युक्त ध्वनिभेद-संकलन)

तदष्टादशधा ध्वनिः ॥ ९ ॥

अविवक्षितवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्चेति द्विविधः। विवक्षितान्यपरवाच्यस्तु असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेनैकः। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-

---

ऋतु के दिवस (प्रमदाजनस्य चिराय महोत्सवः अभवत्) नगर-नारिओं के लिये तो एक निरन्तर प्रवृत्त महोत्सव ही हो गये।'

इत्यादि, 'शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव' ध्वनि का एक सुन्दर निदर्शन ही है क्योंकि यहाँ शब्द और अर्थ की सम्मिलित व्यञ्जकता से यह व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है कि 'माधव (श्रीकृष्ण) वस्तुतः माधव (वसन्त) की भाँति इन्द्रप्रस्थ में विराजमान रहे'। यह व्यङ्ग्यार्थ एक उपमालङ्काररूप चमत्कारपूर्ण अर्थ है (क्योंकि कृष्णवर्णनरूप प्राकरणिक तथा वसन्तवर्णनरूप अप्राकरणिक अर्थों में उपमानोपमेयभाव की अभिव्यक्ति ही यहाँ कवि-विवक्षा का विषय है)।

अनुवाद—यहाँ अब तक जो व्यङ्ग्यार्थ के भेद-प्रभेद का निरूपण किया गया उसका अभिप्राय व्यङ्ग्यार्थ के प्रकारों का निरूपण नहीं अपि तु इन व्यङ्ग्यार्थ-प्रकारों के अभिव्यञ्जक रूप से अवस्थित भिन्न-भिन्न प्रकार के काव्यों का ही निरूपण है।

विमर्श—'ध्वनि'-तत्त्वदर्शी आचार्यों की मान्यता में 'काव्य' के दो मौलिक भेद सिद्ध हैं—१. काव्यसामान्य और २. काव्यविशेष। काव्यसामान्य (पोएट्री इन जनरल) तो वह है जिसका सौन्दर्य-विश्लेषण अलङ्कार-रीति-वृत्ति-गुण आदि-आदि काव्यतत्त्ववादी आचार्यों ने किया है। किन्तु काव्यविशेष (पोएट्री ऑफ दि फर्स्ट ऑर्डर) वह है जिसके आनन्द-चमत्कार का विश्लेषण ध्वनितत्त्व के सतत अनुशीलन से ही संभव है। 'ध्वनि' तत्त्व के स्फुरण के जितने भी आधार हों और इन आधारों पर जितने रूपों में भी ध्वनितत्त्व स्फुरित हो सब अन्ततोगत्वा ध्वन्यात्मक काव्यविशेष के नानाविध नाम और रूप ही बन जायेंगे। यहाँ वस्तुतः यही भावना साहित्य-दर्पणकार की मूलप्रेरणा है।

अनुवाद—इस प्रकार पूर्वपरिगणित भेदों को मिलाकर १८ प्रकार के ध्वनिकाव्य निर्दिष्ट कर दिये गये।

१८ प्रकार के ध्वनिकाव्य का अभिप्राय यह रहा—

अविवक्षितवाच्यध्वनिकाव्य के ('अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि' काव्य और 'अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि' काव्यरूप) भेद	=	२
विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि काव्य का 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि' काव्यरूप भेद	=	१
और (विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिकाव्य के) 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि' काव्यरूप भेद में,		

त्वेन च शब्दार्थोभयशक्तिमूलतया पञ्चदशेत्यष्टादशभेदो ध्वनिः।

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनिकाव्य के भेद = २
अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिकाव्य के भेद = १२ } = १५
और शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव ध्वनि काव्य का भेद = १

ध्वनिकाव्यभेद = १८

विमर्श—ध्वनिकाव्य के मूल भेदों का कोष्ठक यह है—

ध्वनि काव्य

१. लक्षणामूल (अविवक्षितवाच्य) ध्वनिकाव्य २. अभिधामूल (विवक्षितान्यपरवाच्य) ध्वनिकाव्य

लक्षणामूल (अविवक्षितवाच्य) ध्वनिकाव्य का भेद-कोष्ठक यह है—

अविवक्षितवाच्यध्वनिकाव्य

१. 'अर्थान्तरसंक्रमितरूप' अविवक्षितवाच्यध्वनिकाव्य २. 'अत्यन्ततिरस्कृतरूप' अविवक्षितवाच्यध्वनिकाव्य

अभिधामूल (विवक्षितान्यपरवाच्य) ध्वनिकाव्य के प्रमुख भेद ये हैं—

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिकाव्य

१. 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिकाव्य २. 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिकाव्य

अभिधामूलध्वनिकाव्य के इन दोनों भेदों में पहले अर्थात् असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिकाव्य के अनन्त भेद संभव हैं किन्तु आलंकारिकों ने व्यङ्ग्यरूप अर्थ की 'असंलक्ष्यक्रमता' के असाधारण धर्म को सर्वत्र अनुगत मान कर इन्हें 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' रूप एक भेद में ही अन्तर्भूत कर दिया है।

'रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते'—असंलक्ष्यक्रमत्वन्तु सामान्यमाश्रित्य रसादिध्वनिभेद एक एव गण्यते। (काव्यप्रकाश : ४र्थ उल्लास)

अभिधामूलध्वनिकाव्य के दूसरे भेद अर्थात् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिकाव्य के मुख्य भेद ये हैं—

संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनिकाव्य

१. 'शब्दशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि'काव्य २. 'अर्थशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि'काव्य ३. 'शब्दार्थोभयशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि'काव्य

'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि'काव्य का जो पहला प्रकार है उसके ये दो भेद हैं—

'शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' ध्वनिकाव्य

१. 'शब्दशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रम-वस्तुव्यङ्ग्य-' ध्वनिकाव्य २. 'शब्दशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रम-अलङ्कारव्यङ्ग्य' ध्वनिकाव्य

(उपर्युक्त ध्वनि-भेदों के 'पदगत' और 'वाक्यगत' भेद)

एषु च—

वाक्ये शब्दार्थशक्त्युत्थस्तदन्ये पदवाक्ययोः।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिकाव्य के दूसरे अर्थात् 'अर्थशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' नामक ध्वनिकाव्य के ये तीन प्रमुख भेद हैं—

अर्थशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिकाव्य

१. स्वतःसंभव्यर्थशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिकाव्य
२. कविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिकाव्य
३. कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यध्वनिकाव्य

इन तीनों भेदों में भी प्रत्येक के चार-चार भेद हैं, जैसे कि—

(क) अर्थात् स्वतःसंभव्यर्थशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिकाव्य के चार भेद—

१. स्वतःसंभवि-वस्तुरूपार्थशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमवस्तुव्यङ्ग्यध्वनिकाव्य।
२. „ „ „ „ „ „ अलङ्कारव्यङ्ग्यध्वनिकाव्य।
३. स्वतःसंभवि-अलङ्काररूपार्थशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमवस्तुव्यङ्ग्यध्वनिकाव्य।
४. स्वतःसंभवि-अलंकाररूपार्थ „ „ „ अलंकारव्यङ्ग्यध्वनिकाव्य।

(ख) अर्थात् कविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिकाव्य के चार भेद—

१. कविप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तुरूपार्थशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रम वस्तुव्यङ्ग्यध्वनिकाव्य।
२. कविप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तुरूपार्थशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रम अलंकारव्यङ्ग्यध्वनिकाव्य।
३. कविप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रम वस्तुव्यङ्ग्यध्वनिकाव्य।
४. कविप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रम-अलङ्कारव्यङ्ग्यध्वनिकाव्य। और

(ग) अर्थात् कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनिकाव्य के चार भेद—

१. कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तुरूपार्थशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रम-वस्तुव्यङ्ग्य-ध्वनिकाव्य।
२. कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तुरूपार्थशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रम-अलङ्कारव्यङ्ग्य-ध्वनिकाव्य।
३. कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रम-वस्तुव्यङ्ग्य-ध्वनिकाव्य।
४. कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रम-अलङ्कारव्यङ्ग्य-ध्वनिकाव्य।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनिकाव्य के तीसरे भेद अर्थात 'शब्दार्थोभयशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनिकाव्य' को एक प्रकार का ही माना गया है क्योंकि यहां शब्दशक्तिमूलकता के आधार पर न तो वस्तु और अलंकार को व्यङ्ग्य मान कर कोई भेद-गणना संभव है और न अर्थशक्ति-मूलकता के आधार पर ही कोई प्रभेद-गणना की जा सकती है। यह तो कवि-कौशल का एक वैचित्र्य है कि शब्द और अर्थ की ऐसी योजना कर दी जाय जिसमें अन्त में दो अर्थ श्लिष्ट न प्रतीत होकर परस्पर उपमानोपमेयभाव रूप में अनुषक्त होकर एक नया चमत्कार उत्पन्न कर दें।

अनुवाद—इन उपर्युक्त १८ ध्वनि-भेदों में—

'शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव' ध्वनि तो केवल 'वाक्यगत' ही हुआ करती है, किन्तु अन्य १७ ध्वनि-प्रकार 'पदगत' और 'वाक्यगत' दोनों हुआ करते हैं।

तत्रार्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः पदगतो यथा—

'धन्यः स एव तरुणो नयने तस्यैव नयने च ।
युवजनमोहनविद्या भवितेयं यस्य संमुखे सुमुखी ॥'

अत्र द्वितीयनयनशब्दो भाग्यवत्तादिगुणविशिष्टनयनपरः । वाक्यगतो यथा—

'त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥'

अत्र प्रतिपाद्यस्य संमुखीनत्वादेव लब्धे प्रतिपाद्यत्वे त्वामिति पुनर्वचनमन्यव्यावृत्तिविशिष्टं त्वदर्थं लक्षयति । एवं वच्मीत्यनेनैव कर्तरि लब्धेऽस्मीति पुनर्वचनम् । तथा विदुषां समवाय इत्यनेनैव वक्तुः प्रतिपादने सिद्धे पुनर्वच्मीति वचनमुपदिशामीति वचनविशेषरूपमर्थं लक्षयति । एतानि च स्वातिशयं व्यञ्जयन्ति । एतेन मम वचनं तवात्यन्तं हितं तदवश्यमेव कर्तव्यमित्यभिप्रायः । तदेवमयं वाक्यगतोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः ।

उदाहरण के लिए, 'पदगत' अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि—

'युवकों की संमोहिनी यह सुन्दरी जिसके सामने पड़ जाय, वस्तुतः वही युवक सौभाग्यशाली है और उसी की 'आँखें' हैं।'

यहाँ अर्थान्तरसक्रमितवाच्यध्वनि इसलिए 'पदगत' है क्योंकि पुनः प्रयुक्त 'नयन' पद की पर्यालोचना से ही यह व्यंग्यार्थ प्रतीत हो रहा है कि 'इस सुन्दरी को देखने वाले 'नयन' ही जान सकते हैं कि सौन्दर्य और प्रेम क्या वस्तु है।' इस व्यंग्यार्थ की दृष्टि से पुनः प्रयुक्त 'नयन' पद अपने सामान्य अर्थ में 'अविवक्षित' है और 'भाग्यशाली नयन' रूप विशेष अर्थ को ही लक्षित कर रहा है जिसमें इसका वाच्यार्थ 'अर्थान्तरसंक्रमित' अथवा 'रूपान्तरपरिणत' प्रतीत हो रहा है।

इसी प्रकार, 'वाक्यगत' अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि—

'देखो भाई! मैं तुम्हें कह रहा हूँ कि यहाँ बड़े-बड़े बुद्धिमान लोगों की मण्डली जमा है। यदि तुम्हें भी यहाँ बैठना है तो समझ-बूझकर बैठो।'

यहाँ जो 'वाक्यगत' अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि है उसका यह स्वरूप है—'यहाँ यह सब कहने वाला व्यक्ति अपने आपको परम-बुद्धिमान् बता रहा है और सुनने वाले के लिए, अपनी बात को, हितकारक और अनिवार्य रूप से मानने योग्य प्रमाणित कर रहा है।' इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति किसी एक पद की नहीं अपितु अनेकानेक पदों की प्रत्यालोचना से हो रही है। क्योंकि विश्लेषण से यह स्पष्ट पता चलता है कि यहाँ के अनेकों पदों के वाच्यार्थ अपने साधारण रूप में तो 'अविवक्षित' (अनुपयुक्त) हो रहे हैं और अपने विशेष रूप को लक्षित करते जा रहे हैं। जैसे कि (प्रथम प्रयुक्त) 'त्वाम्' (तुम्हें) पद का वाच्यार्थ अपने सामान्य रूप में अविवक्षित है क्योंकि जबकि 'प्रतिपाद्य' (जिससे कुछ कहा जाय, वह) सामने खड़ा हो तो उसके निर्देशक पद का प्रयोग किस काम का!, अब यह पद एकमात्र अपने विशेष रूप अर्थ को अर्थात् 'उपस्थित लोगों में सबको छोड़ केवल एक निर्देश्य व्यक्ति, को ही लक्षित कर रहा है (जिससे इस निर्देश्य व्यक्ति की ही अविवेकिता अभिव्यक्त हो उठती है)।' इसी प्रकार जबकि 'वच्मि' (कह रहा हूँ) यह क्रियापद प्रयुक्त है जिससे इसके कर्ता अर्थात् बोलने वाले व्यक्ति का अभिप्राय स्वयं निकल जाता है, तब कर्तृवाचक 'अस्मि' (मैं) पद का प्रयोग पुनरुक्ति

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः पदगतो यथा—'निःश्वासान्ध–' इत्यादि। वाक्यगतो यथा–'उपकृतं बहु तत्र–' इत्यादि। अन्येषां वाक्यगतत्वे उदाहृतम्। पदगतत्वे यथा—

'लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः।
तदा सुधास्पदमभूदधुना तु ज्वरो महान्॥'

अत्र लावण्यादीनां तादृगनुभवैकगोचरताव्यञ्जकानां तदादिशब्दानामेव प्राधान्यम्, अन्येषां तु तदुपकारित्वमेवेति तन्मूलक एव ध्वनिव्यपदेशः।

नहीं तो और क्या! अब यह 'अस्मि' पद अपने सामान्य अर्थ में अविवक्षित (अनुपयुक्त) होकर अपने विशेष अर्थ अर्थात् 'हितचिन्तक' रूप अर्थ को ही लक्षित करने लग जाता है जिससे वक्ता की उदाराशयता का निगूढ अर्थ निकलने लगता है। इसी भाँति जबकि यहाँ 'विदुषां समवायः' (बुद्धिमानों की मण्डली), यह पद प्रयुक्त कर दिया गया जिससे, यहाँ निर्देश्य व्यक्ति के प्रति, वक्ता का कुछ न कुछ कहना सुनना स्पष्ट प्रतीत हो गया तब फिर 'वच्मि' (कह रहा हूँ) पद निष्प्रयोजन नहीं तो और क्या? अब अपने सामान्य अर्थ में अविवक्षित यह 'वच्मि' पद अपने विशेष अर्थ अर्थात् 'उपदिशामि' (उपदेश दे रहा हूँ) इस अभिप्राय को ही लक्षित करने में लग गया है (और ऐसा करने में एक निगूढ तात्पर्य निकल पड़ता है जो कि इस प्रकार के उपदेश के अनिवार्य रूप से अनुसरण करने का तात्पर्य है)।

अब 'पदगत' अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि का उदाहरण है—पूर्वोद्धृत 'निःश्वासान्ध' इत्यादि सूक्ति (क्योंकि 'निःश्वासान्ध' इत्यादि सूक्ति की ध्वनि के विश्लेषण में यह स्पष्ट है कि 'अन्ध' पद का वाच्यार्थ अपने सामान्य स्वरूप (दृष्टिहीन रूप अर्थ) में अविवक्षित (सर्वथा अनुपपन्न) है और अपने विशेष स्वरूप (मलिन रूप अर्थ) का ही एकमात्र उपलक्षक बन रहा है जिससे मालिन्य की पराकाष्ठा का निगूढ अर्थ अभिव्यक्त हो उठता है जिसमें काव्य-सौन्दर्य झलक पड़ता है)।

'वाक्यगत' अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि के निदर्शन के लिए 'उपकृतं बहु तत्र' इत्यादि पूर्वोद्धृत सूक्ति पर्याप्त है।

इन उपर्युक्त दोनों लक्षणामूलक ध्वनि-भेदों के अतिरिक्त अन्य जो ध्वनि-भेद हैं (जैसे कि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के १४ प्रकार) उनके 'वाक्यगत' भेद तो पूर्वोद्धृत उदाहरण में ही स्पष्ट हैं। यहाँ उनके 'पदगत' भेदों के ही उदाहरण दिये जा रहे हैं, जैसे कि—

'पदगत' असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि—

'वही लावण्य, वही कान्ति, वही रूप और वही बोलने का रंग-ढंग, जब वह साथ रही, प्रत्येक से अमृत का-सा आनन्द मिलता रहा, किन्तु अब! अब तो इन सबसे भयंकर संताप मिल रहा है।'

यहाँ 'तत्' (वही) आदि सर्वनाम पद ही लावण्य आदि की पूर्वानुभूत अनिर्वचनीय विशेषताओं की उत्कट स्मृति को उद्बुद्ध कर रहे हैं जिससे विप्रलम्भ शृंगार का आनन्द अभिव्यक्त हो उठता है। यहाँ इस विप्रलम्भ-ध्वनि में वाक्य सहकारी रूप से ही व्यञ्जक है, क्योंकि 'तत्' पद की व्यञ्जना प्रधानतया दिखाई दे रही है। इसीलिए इसे 'पदगत' असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि काव्य कहा गया है।

तदुक्तं ध्वनिकृता—

'एकावयवसंस्थेन भूषणेनेव कामिनी।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती॥'

एवं भावादिष्वप्यूह्यम्।

'भुक्तिमुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्परः।
कस्य नानन्दनिस्यन्दं विदधाति सदागमः॥'

अत्र सदागमशब्दः सन्निहितमुपनायकं प्रति सच्छास्त्रार्थमभिधाय सतः पुरुषस्यागम इति वस्तु व्यनक्ति। ननु सदागमः सदागम इवेति न कथमुपमाध्वनिः? सदागमशब्दयोरुपमानोपमेयभावाविवक्षणात्। रहस्यस्य सङ्गोपनार्थमेव हि द्व्यर्थपदप्रतिपादनम्। प्रकरणादिपर्यालोचनेन च सच्छास्त्राभिधानस्यासम्बन्धत्वात्।

रसादिध्वनि की इस प्रकार की पदव्यञ्जकता को ही लक्ष्य में रखकर ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने कहा था—

'जैसे कभी किसी एक अंग में धारण किये गये किसी आभूषण से किसी कामिनी का सौन्दर्य निखर उठता है वैसे ही किसी एक पद में अन्तर्निहित व्यञ्जकता से किसी काव्य-सूक्ति का भी सौन्दर्य निखर ही उठता है।'

इसी प्रकार भाव तथा आभासादिरूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि की 'पदगतता' के उदाहरण स्वयं देखे जा सकते हैं।

'पदगत' शब्द-शक्तिमूल वस्तुध्वनि—

(किसी दूती अथवा सखी की, किसी प्रच्छन्न कामुक की उपस्थिति को लक्ष्य कर किसी नायिका के प्रति उक्ति)

'सदागम' (वेदादि शास्त्र) का क्या कहना! अभ्युदय भी उसी से मिले, निःश्रेयस भी वही दे, सभी कर्मों का विधायक भी वही, और भला कौन ऐसा है जो उससे आनन्द का निष्यन्द न पाये।'

यहाँ (वक्ता और बोद्धव्य के वैशिष्ट्य से) शब्दशक्त्युद्भव वस्तुध्वनि है, क्योंकि वैसे तो यहाँ प्रयुक्त 'सदागम' शब्द (वेदादि) 'सच्छास्त्र' का अभिधायक है किन्तु, प्रच्छन्न कामुक को लक्ष्य में रखने के कारण, इससे यह अभिव्यक्त हो उठता है कि 'अरी सखी! वह आ गया है जिससे तेरी विरह-व्यथा दूर हो जायगी और हृदय का आनन्द मिल जायगा।'

यहाँ यह कहा जा सकता है कि उपरिनिर्दिष्ट सूक्ति को 'वस्तु'ध्वनि न मानकर 'अलङ्कार' ध्वनि—क्यों न माना जाय? 'सदागम की भाँति सदागम' (सदागमः इव सतः वल्लभस्य आगमः सदागमः) का व्यङ्ग्यार्थ तो 'उपमानोपमेयभाव' का व्यङ्ग्यार्थ है और तब यहाँ 'उपमा' ध्वनि क्यों न हो? किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं क्योंकि यहाँ सदागम शब्द के प्रतिपाद्यों अर्थात् 'सच्छास्त्र' और 'प्रच्छन्नकामुक' रूप अर्थों में किसी प्रकार का औपम्य विवक्षित नहीं। यहाँ तो 'सदागम' शब्द, जो कि सच्छास्त्र और किसी के आगमन दोनों अर्थों का प्रतिपादक है, इसीलिए प्रयुक्त किया गया है जिसमें प्रच्छन्नकामुक के प्रेम-मिलन का रहस्य छिपा रहे। साथ ही साथ प्रकरण आदि की पर्यालोचना से भी यही प्रतीत होता है कि सदागम शब्द का 'सच्छास्त्र' रूप अर्थ यहाँ सर्वथा असम्बद्ध है

'अनन्यसाधारणधीर्धृताखिलवसुन्धरः ।
राजते कोऽपि जगति स राजा पुरुषोत्तमः ॥'

अत्र पुरुषोत्तमः पुरुषोत्तम इवेत्युपमाध्वनिः । अनयोः शब्दशक्तिमूलौ संलक्ष्यक्रमभेदौ ।

'सायं स्नानमुपासितं मलयजेनाङ्गं समालेपितं
यातोऽस्ताचलमौलिमम्बरमणिर्विस्रब्धमत्रागतिः ।
आश्चर्यं तव सौकुमार्यमभितः क्लान्तासि येनाधुना
नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम् ॥'

अत्र स्वतः संभविना वस्तुना कृतपरपुरुषपरिचया क्लान्तासीति वस्तु व्यज्यते । तत्राधुना क्लान्तासि, न तु पूर्वं कदाचिदपि तवैवंविधः क्लमो दृष्ट इति बोधयतोऽधुना पदस्यैवेतरपदार्थोत्कर्षादस्यैव पदान्तरापेक्षया वैशिष्ट्यम् ।

(जिससे 'सदागमः सदागम इव' का व्यङ्ग्यार्थ भी असम्बद्ध किंवा चमत्कार-रहित ही है)।

'पदगत' शब्द-शक्तिमूल अलङ्कारध्वनि—

'अलौकिक बुद्धिवैभवशाली, समस्त वसुन्धरा के पालक-पोषक ये पुरुषोत्तम (पुरुष-श्रेष्ठ) महाराज इस भुवन-मण्डल में अपनी अनिर्वचनीय शोभा से विभूषित हो रहे हैं।'

यहाँ उपमालङ्कार की ध्वनि है क्योंकि यहाँ प्रयुक्त 'पुरुषोत्तम' शब्द 'नारायण' (भगवान् विष्णु) का भी अर्थ रखता है (जिसमें अन्य विशेषण पद भी संगत हो जाते हैं और) जिससे प्राकरणिक राजरूप तथा अप्राकरणिक नारायणरूप अर्थ में उपमानोपमेय भाव झलक उठता है ।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों ('भुक्तिमुक्तिकृत्' तथा 'अनन्यसाधारणधीः' इन दोनों सूक्तियों) में जो ध्वनि है वह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि है और शब्दशक्तिमूल है (जैसा कि स्पष्ट ही है)।

'पदगत' अर्थशक्तिमूलवस्तुध्वनि (स्वतः संभाव्य-वस्तुरूपार्थशक्तिमूलवस्तुध्वनि)—

'अरी सखी ! क्या बात है कि जब कि तूने सायंकाल स्नान किया, चन्दन का अंगराग लगाया, सूर्य भगवान् अस्त हो गये और बेखटके यहाँ-वहाँ आया-जाया जा सकता है, तब भी तेरी सुकुमारता कुछ ऐसी विचित्र है, कि—अभी भी तू इतनी थकी-मांदी लग रही है और तेरी आँखें बिना झपे ठहर नहीं पा रही हैं।'

यहाँ 'पदगत' अर्थशक्तिमूलवस्तुध्वनि है क्योंकि यहाँ इस स्वतः संभवी वाच्यरूप अर्थ से, 'अधुना' (अभी भी) इस एक पद के अर्थ की विशेष व्यञ्जकता के कारण यह वस्तुरूपव्यङ्ग्यार्थ निकल पड़ता है कि 'तू तो अपने कामुक से मिल चुकी है और तभी इतनी थकी-मांदी हो रही है।' यहाँ 'अधुना' पद के अर्थ की विशेष व्यञ्जकता इसलिये है क्योंकि इसी से यह अर्थ निकलता है 'तू अभी-अभी थकी-मांदी होरा रही है; पहले इस प्रकार की थकावट तुझे कभी नहीं लगी।' यहाँ और पदों के अर्थों की अपेक्षा 'अधुना' पद का अर्थ ही अधिक अभिव्यञ्जक है। 'अधुना' पद के इस अर्थ-वैशिष्ट्य के ही कारण यहाँ यह अर्थशक्तिमूलवस्तुध्वनि 'पदगत' हो गयी है।

'तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ।
तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परं ब्रह्मस्वरूपिणम् ।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका ॥' (युग्मकम्)

अत्राशेषचयपदप्रभावादनेकजन्मसहस्रभोग्यदुष्कृतसुकृतफलराशितादात्म्याध्यवसिततया भगवद्विरहदुःखचिन्ताह्लादयोः प्रत्यायनमित्यतिशयोक्तिद्वयप्रतीतिरशेषचयपदद्वयद्योत्या । अत्र च व्यञ्जकस्य कविप्रौढोक्तिमन्तरेणापि संभवात्स्वतःसंभविता ।

'पश्यन्त्यसंख्यपथगां त्वद्दानजलवाहिनीम् ।
देव ! त्रिपथगाऽऽत्मानं गोपयत्युग्रमूर्धनि ॥'

इदं मम । अत्र पश्यन्तीति कविप्रौढोक्तिसिद्धेन काव्यलिङ्गालङ्कारेण न केऽप्यन्ये दातारस्तव सदृशा इति व्यतिरेकालङ्कारोऽसंख्यपदद्योत्यः । एवमन्येष्वप्यर्थशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमभेदेषूदाहार्यम् ।

'पदगत' अर्थशक्तिमूल अलङ्कारध्वनि (स्वतः संभाव्य-वस्तुरूपार्थ शक्तिमूल-अलङ्कारध्वनि)—

'कोई गोपी थी जिसके समस्त पापों के भोग तो मुरलीमनोहर से न मिल सकने के महादुःख-भोग में विलीन हो गये और समस्त पुण्यों के भोग मुरलीमनोहर की ही अनवरत चिन्ता के आनन्दोद्रेक में नष्ट हो गये। जगत्स्रष्टा परब्रह्म के परम स्वरूप-भगवान् कृष्ण के प्रेम में पगी वह गोपी, निरुच्छ्वासता (श्वासराहित्य किंवा समाधि-साधन) के कारण मुक्त ही हो गयी।'

यहाँ 'अशेष' और 'चय' ये दो पद ऐसे प्रयुक्त हैं जिनके अर्थों की (अभिव्यञ्जनात्मक) महिमा से दो अतिशयोक्ति-ध्वनियाँ निकल पड़ी हैं। 'अशेष' पद के अर्थ के प्रभाव से तो अनेकानेक जन्मों में संभव पापभोग और भगवद्विरह के महादुःख-भोग का तादात्म्याध्यवसाय अभिव्यक्त हो रहा है और 'चय' पद के अर्थ-स्वारस्य से जन्म-जन्मान्तर में संभव पुण्यभोग तथा भगवच्चिन्तन के परमाह्लाद में अभेद का अध्यवसान प्रतीत हो रहा है। यहाँ जो व्यञ्जकरूप अर्थ है वह कवि के कल्पना-जगत् के बाहर भी रहनेवाला अर्थ है जिसके कारण इसे स्वतःसंभवी वस्तुरूप अर्थ मानना आवश्यक है।

इसी भांति पदगत अर्थशक्तिमूलध्वनि (कविप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थशक्तिमूल अलङ्कारध्वनि)—

'महाराज! आपकी 'असंख्यपथगा' (सर्वत्र संचरणशील) दान-जल-नदी (दान देने में, संकल्प करने के लिये, हाथ में रखे जल से, उत्पन्न नदी) को देखकर ही, ऐसा लगता है, गङ्गा नदी, अपने को 'त्रिपथगा' जानकर, भगवान् शङ्कर के जटाजूट में जा छिपी है।'

यह उपर्युक्त 'पदगत' अर्थशक्तिमूलध्वनि सूक्ति स्वरचित सूक्ति है। यहाँ 'त्रिपथगा' (गङ्गा) द्वारा 'असंख्यपथगा' (दान-जल-नदी) का दर्शन जो कि 'पश्यन्ती' (देखती हुई) पद से स्पष्ट है, एक कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ है और अलङ्काररूप-वस्तुतः काव्यलिङ्ग अलङ्काररूप-अर्थ है क्योंकि हरजटाजूट में छिपने के कारण रूप से यही उपनिबद्ध हुआ है। इस काव्यलिङ्ग अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ से यह अभिप्राय अभिव्यक्त हो रहा

तदेवं ध्वनेः पूर्वोक्तेष्वष्टादशसु भेदेषु मध्ये शब्दार्थशक्त्युत्थो व्यङ्ग्यो वाक्यमात्रे भवन्नेकः। अन्ये पुनः सप्तदश वाक्ये पदे चेति चतुस्त्रिंशदिति पञ्चत्रिंशद्भेदाः।

है कि 'महाराज ! आपके समान भला और कौन दानी है ?' यह अभिव्यङ्ग्य अभिप्राय भी एक अलङ्काररूप अर्थ-वस्तुतः व्यतिरेकालङ्काररूप अर्थ-है। (क्योंकि अनेक उपमानभूत दानवीर महापुरुषों की अपेक्षा यहाँ उपमेयभूत प्रकृत दानशील राजा का ही दानविषयक उत्कर्ष उत्कटतर रूप से प्रतीत हो रहा है)। इस 'व्यतिरेक' ध्वनि में 'असंख्य' पद की व्यञ्जकता अधिक महत्त्वपूर्ण है और इसीलिये यहाँ यह ध्वनि 'पदगत' है।

इन उपर्युक्त उदाहरणों का अनुसरण करते अन्य संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थशक्तिमूलध्वनिभेदों के 'पदगत' स्वरूपों के निदर्शन स्वयं ढूंढे जा सकते हैं।

अब यदि पूर्वप्रतिपादित १८ ध्वनि-भेदों के अवान्तर भेदों का परिगणन किया जाय तो सब मिला कर ३५ भेद सिद्ध होंगे। ३५ इसलिये क्योंकि १८ ध्वनि-भेदों में शब्दार्थोभयशक्तिमूल ध्वनि तो केवल 'वाक्यगत' होने से एक प्रकार की ही होगी और इसके अतिरिक्त जो १७ ध्वनि-भेद हैं वे 'वाक्यगत' और 'पदगत' दोनों प्रकार के होकर ३४ प्रकार के हो जायेंगे (सब मिलाकर इस प्रकार ३५ ध्वनि-भेद सिद्ध हो गये)।

विमर्श—क-ध्वनि-दार्शनिक आचार्य आनन्दवर्धन की मान्यता का ही अनुसरण करते हुये प्रत्येक ध्वनिवादी काव्याचार्य ने ध्वनि-काव्य-प्रकारों का 'पदगत' और 'वाक्यगत' रूप से द्विविध श्रेणी-विभाग किया है। ध्वनि तो 'काव्यविशेष' का नाम है, एक विशिष्ट काव्य-प्रबन्ध को 'ध्वनि' माना गया है (काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः) फिर ध्वनि-काव्य के 'पदगत' होने का क्या अभिप्राय ? यह समस्या आनन्दवर्धनाचार्य ने ही उठायी और सुलझायी भी। ध्वन्यालोक की निम्न पंक्तियां ध्वनि काव्य के 'पदगत' होने की समस्या और उसके सुलझाने के प्रयत्न-दोनों का संकेत करती हैं—

'ननु ध्वनिः काव्यविशेष इत्युक्तं तत्कथं तस्य पदप्रकाशता ? काव्यविशेषो हि विशिष्टार्थप्रतिपत्तिहेतुः शब्दसन्दर्भविशेषः। तद्भावश्च पदप्रकाशत्वे नोपपद्यते। पदानां स्मारकत्वेनाऽवाचकत्वात्। उच्यते—स्यादेष दोषः यदि वाचकत्वं प्रयोजकं ध्वनिव्यवहारे स्यात्। नत्वेवम्, तस्य व्यञ्जकत्वेनैव व्यवस्थानात्। किञ्च काव्यानां शरीरिणामिव संस्थानविशेषावच्छिन्नसमुदायसाध्यापि चारुत्वप्रतीतिरन्वयव्यतिरेकाभ्यां भागेषु कल्प्यते इति पदानामपि व्यञ्जकत्वमुखेन व्यवस्थितो ध्वनिव्यवहारो न विरोधी—

अनिष्टस्य श्रुतिर्यद्वदापादयति दुष्टताम्।
श्रुतिदुष्टादिषु व्यक्तं तद्वदिष्टस्मृतिर्गुणम्॥
पदानां स्मारकत्वेऽपि पदमात्रावभासिनः।
तेन ध्वनेः प्रभेदेषु सर्वेष्वेवास्ति रम्यता॥
विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती॥' (ध्वन्यालोक ३ य उद्योत)

अर्थात् 'ध्वनि' तो एक काव्यविशेष है और ध्वनि के 'काव्यविशेष' होने का अभिप्राय किसी अर्थ-विशेष के प्रतिपादक 'शब्दार्थसन्दर्भविशेष'-का है। इस दृष्टि से ध्वनि को 'पदप्रकाश' कहना सर्वथा निरर्थक है क्योंकि तब ध्वनि को 'काव्यविशेष' नहीं कहा जा सकता। काव्य तो शब्दार्थसाहित्य-विशेष को कहते हैं 'पदविशेष' को नहीं। अब, ध्वनि को 'पदगत' अथवा 'पदप्रकाश' कहने का क्या अभिप्राय ? यहाँ बात यह है कि 'काव्य' की कल्पना (वस्तुतः 'काव्यविशेष' की

(अर्थशक्त्युद्भवध्वनि की प्रबन्ध-व्यङ्ग्यता)

प्रबन्धेऽपि मतो धीरैरर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः ॥ १० ॥

प्रबन्धे महावाक्ये। अनन्तरोक्तद्वादशभेदोऽर्थशक्त्युत्थः। यथा महाभारते गृध्रगोमायुसंवादे—

कल्पना) एक 'शरीरी' के रूप में की गयी है। जैसे किसी 'शरीरी' का सौन्दर्य उसके शरीर-संस्थान का सौन्दर्य हुआ करता है किन्तु तब भी उसके भिन्न-भिन्न अवयवगत सौन्दर्य की कल्पना की जाया करती है वैसे ही 'काव्य' का सौन्दर्य भी शब्दार्थसमुदाय का ही सौन्दर्य है किन्तु तब भी उसके अवयवगत सौन्दर्य की कल्पना स्वाभाविक ही हो जाती है। 'काव्यविशेष' तो वस्तुतः एक निराकांक्ष किन्तु सुन्दर अभिप्राय का अवबोधक 'वाक्य' (शब्दार्थ-सन्दर्भ) है, पद नहीं। ध्वनि को 'पदप्रकाश' कहने का यह अभिप्राय नहीं कि 'पद' ही ध्वनि है अपि तु यह कि रमणीय वाक्य (शब्दार्थ सन्दर्भ) रूप ध्वनिकाव्य में 'पद' की रमणीयता पृथक्तया पहचानी जा सकती है। जैसे किसी सुन्दर रमणी के मुख आदि अवयवों की सुन्दरता पृथक्तया प्रतीत हुआ करती है वैसे ही यदि 'ध्वनि' काव्य की रमणीयता में पद की रमणीयता पृथक् प्रतीत हो तो आपत्ति क्या है ?

ध्वनि को 'पदगत' मानना इसलिये भी निर्विवाद सिद्ध है कि जैसे किसी काव्य के 'दुःश्रव' (श्रुतिदुष्ट) होने पर भी पद को 'दुःश्रव' (श्रुतिदुष्ट) माना जाया करता है वैसे ही काव्य के ध्वनि होने पर भी 'पद' को ध्वनि (पदगत ध्वनि) मानना अनुचित नहीं। जब कि कोई अमङ्गल अथवा कर्णकठोर पद-श्रवण काव्य को दूषित कर सकता है तब कोई रमणीय अथवा अभिव्यञ्जक पद-प्रयोग काव्य को रमणीय भी बना सकता है।

वस्तुतः बात तो यह है कि जैसे कोई एक आभरण-विशेष कभी किसी सुन्दर रमणी की सुन्दरता को बढ़ाता दिखायी दिया करता है वैसे ही कोई पद-विशेष कभी किसी सुन्दर शब्दार्थ-सन्दर्भ रूप काव्य की सुन्दरता को बढ़ा ही दिया करता है।

लोचनकार अभिनवगुप्त पादाचार्य ने भी इसीलिये कहा है—

'व्यङ्ग्यमुखप्रेक्षितया विना पदं, वाक्यं, वर्णाः, पदभागाः, संघटना, महावाक्यमिति स्वरूपत एव व्यञ्जकानां भेदः, न चैषामर्थवत् कदाचिदपि व्यङ्ग्यता संभवतीति व्यञ्जकैक-नियतं स्वरूपं यत्तन्मुखेन भेदः प्रकाश्यत इति तात्पर्यम्।' (ध्वन्यालोकलोचनः ३ य उद्योत)

अर्थात् ध्वनि–काव्य को 'पदगत' अथवा 'पदप्रकाश' मानने का अभिप्राय वस्तु-अलङ्कार किं वा रसादि रूप व्यङ्ग्यार्थ की विविध व्यञ्जकता-भूमिओं में 'पद' रूप व्यञ्जकता-भूमि के पृथक् रूप से प्रदर्शन का अभिप्राय है। पद, वाक्य, वर्ण, पदैकदेश, रचना, महावाक्य-ये सभी वस्त्वादि रूप रमणीय व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जकता-भूमियां हैं। अर्थ एक व्यञ्जकता-भूमि तो अवश्य है किन्तु व्यङ्ग्य भी रहा करता है, इसलिये अर्थ को व्यञ्जकता-भूमि में अन्तर्भूत नहीं किया जाया करता। किन्तु 'पद' की व्यञ्जकता अथवा प्रकाशकता तो निर्विवाद सिद्ध है। ध्वनिकाव्य के 'अविवक्षित-वाच्य' 'विवक्षितान्यपरवाच्य' आदि-आदि भेद-प्रभेद तो 'व्यङ्ग्यमुख' से किये गये हैं किन्तु 'व्यञ्जकमुख' से भी ध्वनिकाव्य के भेद-प्रभेद स्वाभाविक ही प्रतीत होते हैं और इसलिये 'पदगत' अथवा 'पदप्रकाश' ध्वनिकाव्य की मान्यता सर्वथा युक्तिसंगत सिद्ध होती है।

अनुवाद—यह 'अर्थशक्त्युद्भव' रूप ध्वनिभेद काव्याचार्यों द्वारा 'प्रबन्धगत' भी माना जाता है।

यहाँ (कारिका में) 'प्रबन्ध' का अभिप्राय 'महावाक्य' का है। 'पदगत' अर्थशक्त्यु-

'अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसंकुले ।
कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥
न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥'

इति दिवा प्रभवतो गृध्रस्य श्मशाने मृतं बालमुपादाय तिष्ठतां तं परित्यज्य गमनमिष्टम् ।

'आदित्योऽयं स्थितो मूढाः ! स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् ।
बहुविघ्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात्कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥'

इति निशि समर्थस्य गोमायोर्दिवसे परित्यागोऽनभिलषित इति वाक्यसमूहेन द्योत्यते । अत्र स्वतःसंभवी व्यञ्जकः । एवमन्येष्वेकादशभेदेषूदाहार्यम् ।

द्भवध्वनि से पूर्वप्रतिपादित १२ प्रकारके अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि-भेद समझे जाने चाहिये। उदाहरण के लिये, 'महाभारत' के 'गृध्रगोमायुसंवाद' नामक 'प्रबन्ध' अथवा 'महावाक्य' में स्वतः संभवी-वस्तुरूप-व्यञ्जकार्थमूलक वस्तु ध्वनि—

'(गृध्रवचन) अरे रोने वाले लोगो ! जहाँ से आये हो वहाँ लौट जाओ; इस श्मशान में, जहाँ चारों ओर गिद्ध और गीदड़ भरे हैं, कङ्कालों का अम्बार लगा है, भयङ्करता का नाच हो रहा है और प्राणिमात्र भय से भाग खड़ा होता है, ठहरने से क्या लाभ ! जो एक बार मर गया, चाहे वह प्रिय हो या अप्रिय हो, जीकर नहीं उठ सकता। मरना तो एक दिन सभी को है।'

यहाँ इस गृध्रवचन रूप प्रबन्ध से, जो व्यङ्ग्यार्थ निकलता है वह यह है—दिन में मुर्दों का मांस खाने वाला गिद्ध यह चाहता है कि मरे हुये ब्राह्मण बालक को घेर कर बैठे सगे-सम्बन्धी श्मशान छोड़ कर चले जांय जिसमें वह यथेष्ट मांस-भक्षण कर सके।

इसी भांति (गोमायुवचन) 'अरे मूर्खो ! क्या तुम इस गिद्ध के कहने में पड़ कर, सुवर्ण के समान सुन्दर और कोमल शरीर इस बालक को मरा समझ कर छोड़ चले ? अरे अभी भी सूर्य-भगवान् सामने खड़े हैं। अभी कुछ से कुछ हो सकता है। इसे जी भर कर प्यार कर लो। क्या पता, अभी यह बालक जी ही उठे ?'

यहाँ यह 'गोमायुवचन' रूप महावाक्य यह निगूढ अभिप्राय रखता है कि गीदड़ यह चाहता है कि दिन में बालक के शव को श्मशान में छोड़ कर सगे-संबन्धी लोग न चले जांय जिसमें रात आने पर वह गिद्ध को मार भगाये और स्वयं पर्याप्त मांस-भक्षण कर सके।

यहाँ जो व्यञ्जकरूप महावाक्यार्थ है वह स्वतः संभवी है (क्योंकि गृध्र और गोमायु की यह भावना कवि-कल्पना-प्रसूत वस्तु नहीं अपि तु लोक-जीवन की एक स्वाभाविक वस्तु है)।

इसी प्रकार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के अन्य ११ भेदों की प्रबन्ध-व्यञ्जकता स्वयं काव्य-साहित्य में यत्र-तत्र ढूंढी जा सकती है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि उपर्युक्त प्रबन्धगत अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि में (गृध्रगोमायु-संवाद में) जो व्यञ्जक अर्थ (महावाक्यार्थ) है वह वाच्य-रूप अर्थ है।

एवं वाच्यार्थव्यञ्जकत्वे उदाहृतम्। लक्ष्यार्थस्य यथा—'निःशेषच्युतचन्दनम्—' इत्यादि। व्यङ्ग्यार्थस्य यथा—'उअ णिच्चल—' इत्यादि। अनयोः स्वतःसंभविनोर्लक्ष्यव्यङ्ग्यार्थौ व्यञ्जकौ। एवमन्येष्वेकादशभेदेषूदाहार्यम्।

इसी भांति लक्ष्यार्थ रूप प्रबन्धार्थ की व्यञ्जकता में भी अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि को 'प्रबन्धगत' देखा जा सकता है जैसे कि 'निःशेषच्युतचन्दनम्' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में ही। प्रबन्धगत अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि में व्यञ्जक रूप प्रबन्धार्थ व्यङ्ग्यार्थ भी हो सकता है जैसा कि 'उअ णिच्चल' (पश्य निश्चल) आदि पूर्वोदाहृत सूक्ति में स्पष्ट है। निःशेषच्युतचन्दनम्' तथा 'उअ णिच्चल' आदि सूक्तिओं में, पहली में जो प्रबन्धार्थ है वह स्वतःसम्भवी है और उसके लक्ष्यार्थ से (रमण रूप) व्यङ्ग्यार्थ निकला करता है और दूसरी का जो प्रबन्धार्थ है वह है तो स्वतः सम्भवी ही किन्तु उससे निकलने वाला व्यङ्ग्यार्थ ही (संकेत स्थान निर्देशरूप) अन्तिम चमत्कारजनक व्यङ्ग्यार्थ का व्यञ्जक हो रहा है।

इसी प्रकार लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थरूप प्रबन्धार्थों की व्यञ्जकता में प्रबन्धगत अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के अन्य ११ भेदों के उदाहरण स्वयं ढूंढ लिये जा सकते हैं।

विमर्श—ध्वनिवादी आलंकारिकों के अनुसार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के 'प्रबन्धप्रकाश' (प्रबन्धगत) होने का अभिप्राय यह नहीं कि यह ध्वनि समस्त काव्य-प्रबन्ध का सारभूत अर्थ है क्योंकि ध्वनि काव्य-प्रबन्ध का साक्षात् सारभूत अर्थ तो रसादिरूप ही अर्थ हो सकता है और परम्परया पुरुषार्थचतुष्टय में से किसी एक को यदि ऐसे प्रबन्ध का सारतत्त्व माना जाय तो भी कोई आपत्ति नहीं। ध्वनिकार ने प्रबन्ध-व्यंग्य अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के सम्बन्ध में यही निर्णय दिया है—

'अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः।
ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित्॥'

'अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरनुरणनरूपव्यंग्योऽपि यः प्रभेद उदाहृतो द्विप्रकारः सोऽपि प्रबन्धेषु केषुचिद् द्योतते। तद् यथा मधुमथनविजये पाञ्चजन्योक्तिषु। यथा वा ममैव कामदेवस्य सहचरसमागमे विषमबाणलीलायाम्। यथा च गृध्रगोमायुसंवादादौ महाभारते।' और इसी का युक्तियुक्त समर्थन लोचनकार की इन पंक्तियों में भी है—

'न केवलं प्रबन्धेन साक्षाद् व्यंग्यो रसो यावत् पारम्पर्येणापीति दर्शयितुमुपक्रमते—किंचेति। अनुस्वानोपमः—शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च यो ध्वनेः प्रभेद उदाहृतः स केषुचित् प्रबन्धेषु निमित्तभूतेषु व्यञ्जकेषु सत्सु, व्यंग्यतया स्थितः सन् अस्येति रसादिध्वनेः प्रकृतस्य भासते व्यञ्जकतयेति शेषः।

एतदुक्तं भवति—प्रबन्धेन कदाचिदनुरणनरूपव्यंग्यो ध्वनिः साक्षाद् व्यज्यते स तु रसादिध्वनौ पर्यवस्यतीति।.........

लीलादंष्ट्राग्रोद्धृतसकलमहीमण्डलस्यैवाद्य।
कस्मान्मृणालाभरणमपि तव गुरु भवत्यंगे॥ (संस्कृत छाया)

इत्यादयः पाञ्चजन्योक्तयः रुक्मिणीविप्रलब्धवासुदेवाशयप्रतिभेदनाभिप्रायमभिव्यञ्जयन्ति। सोऽभिव्यक्तः प्रकृतरसस्वरूपपर्यवसायी।.........

यथा चेति—श्मशानावतीर्णं पुत्रदाहार्थमुद्योगिनं जनं विप्रलब्धुं गृध्रो दिवा शवशरीरभक्षणार्थी—'शीघ्रमेवापसरत यूयमि'त्याह—अलं स्थित्वेति। गोमायुस्तु 'निशोदयावधि अमी तिष्ठन्तु, ततो गृध्रादपहृत्याहं भक्षयिष्यामी'त्यभिप्रायेणावोचत्—आदित्योऽयमिति। स चाभिप्रायो व्यक्तः शान्तरस एवं परिनिष्ठिततां प्राप्तः।'

(ध्वन्यालोकलोचन : तृतीय उद्योत)

(असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि की भिन्न भिन्न व्यंजक-भूमियाँ)

पदांशवर्णरचनाप्रबन्धेष्वस्फुटक्रमः ।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिस्तत्र पदांशप्रकृतिप्रत्ययोपसर्गनिपातादिभेदादनेकविधः। यथा—

'चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदुकर्णान्तिकचरः।
करं व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर ! हतास्त्वं खलु कृती ॥'

अभिप्राय यह है कि रसात्मक काव्य-प्रबन्धों में यत्र-तत्र ऐसे अवान्तर प्रबन्ध आया करते हैं जिनमें शब्दशक्त्युद्भव अथवा अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का दर्शन किया जाया करता है। इस प्रबन्धप्रकाश (वस्तुतः अवान्तर प्रबन्ध-व्यंग्य) ध्वनि की समाप्ति अपने में नहीं अपि तु काव्य-प्रबन्धार्थभूत रसादिध्वनि में ही हुआ करती है। जैसे कि महाभारत के 'गृध्रगोमायुसंवाद' आदि अवान्तर प्रबन्धों में जो संलक्ष्यक्रमव्यंग्य वस्तुध्वनि की झलक दिखायी देती है उसका एकमात्र उद्देश्य 'महाभारत' प्रबन्ध रूप महान् शास्त्र-काव्य के पार्यन्तिक सारभूत अर्थ 'शान्त रस' को ही अधिकाधिक उद्दीप्त करना है।

अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि की प्रबन्ध-प्रकाशता के सम्बन्ध में ध्वनिवाद के उपर्युक्त दोनों परमाचार्यों की यह धारणा बाद के ध्वनिवादी काव्याचार्यों में नहीं दिखायी देती। संभवतः ध्वनि-भेद-निरूपण और ध्वनि-काव्य-वर्गीकरण आदि की प्रवृत्तियों ने इन काव्याचार्यों की दृष्टि से ध्वनि की इन धारणा को ओझल कर रखा है। क्या आचार्य मम्मट और क्या विश्वनाथ कविराज—दोनों ध्वनिवादी काव्याचार्य प्रबन्धगत अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के इस परम रहस्य के दर्शन में कोई रुचि रखते नहीं प्रतीत होते।

कोई भी ध्वनि काव्य-प्रबन्ध आमूलचूल ऐसा नहीं जो एकमात्र अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि को ही अपने अन्तिम अभिप्राय के रूप में प्रकाशित करने के लिए रचा गया हो। यह तो रसादिरूप काव्यार्थ की महिमा है कि काव्य-प्रबन्ध में शतधा ध्वनि-वैचित्र्य दिखाई दिया करता है। केवल अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के लिए यदि कोई काव्य-प्रबन्ध रचा जाय तो वह 'चित्र' काव्य सा ही नीरस होगा ! रसात्मक वाक्य को काव्य मानने वाले आचार्य के लिए तो यह आवश्यक था कि प्रबन्धगत अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के इस पूर्वदृष्ट रहस्य का पुनर्निर्देश कर जाते।

अनुवाद—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में भी व्यञ्जक भेद से अनेकों भेद हुआ करते हैं जैसे कि—पदांश की व्यञ्जकता में 'पदांशगत', वर्ण-व्यञ्जकता में 'वर्णगत', रचना-व्यञ्जकता में 'रचनागत' और प्रबन्ध-व्यञ्जकता में 'प्रबन्धगत' आदि-आदि।

यहाँ (कारिका में) 'अस्फुटक्रमः' का अभिप्राय 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' का अभिप्राय है और 'पदांश' से प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग, निपात आदि-आदि समझे जाते हैं जिनकी व्यञ्जकता में असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के नानाप्रकार संभव हैं। जैसे कि (महाकवि कालिदास की) इस सूक्ति अर्थात्—

'अरे भ्रमर ! तू ही सौभाग्यशाली है जो कटाक्षों से चचल किंवा निरन्तर कम्पित इस (शकुन्तला की) दृष्टि का चुम्बन कर रहा है और जिसे (शकुन्तला के) इन कानों के पास जाकर, धीरे-धीरे, प्रेम-निवेदन के रूप में, मधुर गुंजार करने का सुअवसर मिल रहा है और इतना ही क्यों, हाथों से झिटक देने वाली इस (शकुन्तला) के रति-

अत्र 'हताः' इति न पुनः 'दुःखं प्राप्तवन्तः' इति हन्प्रकृतेः।

'मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥'

अत्र 'तु' इति निपातस्यानुतापव्यञ्जकत्वम्।

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः–' इत्यादौ 'अरयः' इति बहुवचनस्य, 'तापसः' इत्येकवचनस्य, 'अत्रैव' इति सर्वनाम्नः, 'निहन्ति' इति 'जीवति' इति च तिङः, 'अहो' इत्यव्ययस्य, 'ग्रामटिका' इति कल्पतद्धितस्य, 'विलुण्ठन' इति व्युपसर्गस्य, 'भुजैः' इति बहुवचनस्य व्यञ्जकत्वम्।

सर्वस्व अधरामृत के पान का सौभाग्य भी तो तेरा ही है! मेरा क्या, मैं तो इस सुन्दरी के 'तत्त्वान्वेषण' (ब्राह्मणी या क्षत्राणी के निर्णय) में ही मर गया!'
में, जो असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि है (क्योंकि यहाँ जो अर्थ-रहस्य छिपा है उसमें दुष्यन्त के हृदय का शकुन्तलाविषयक रतिभाव ही झलक रहा है) वह पदांशगत वस्तुतः पद के अंशभूत 'प्रकृति'गत है। 'प्रकृतिगत' इसलिये क्योंकि महाकवि ने 'वयं दुःखं प्राप्तवन्तः' (हम कितने दुःखी हैं) आदि प्रयोगों के बदले 'हताः' (मर गये) का प्रयोग किया है जिसमें 'हन्' धातुरूप प्रकृति की व्यञ्जनाशक्ति (दुष्यन्त के) अवर्णनीय दुःखों को अभिव्यक्त करती हुई विप्रलम्भ का अधिकाधिक प्रकाशन करती दिखायी दे रही है।

अथवा

जैसे कि (महाकवि कालिदास की ही) इस सूक्ति अर्थात्—

'ओह! रह-रहकर अंगुलियों से छिपाये जाते अधरोष्ठ से रमणीय, अस्वीकारात्मक अक्षरों से व्याकुल होने पर भी मनोरम और सामने न करने की इच्छा से कन्धे पर घूमे होकर भी अद्भुत सुन्दर, पक्ष्मलाक्षी (शकुन्तला) का वह मुँह मैं ऊपर ही उठा सका! चूम तो नहीं ही सका।'
में, जो असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिकाव्य का सौन्दर्य है उसका निदान 'तु' इस निपात की ही अभिव्यञ्जना है क्योंकि इसी से यह अभिप्राय निकल रहा है कि इसका वक्ता (दुष्यन्त) अनुताप (पश्चात्ताप) से अत्यधिक पीडित हो उठा है।

इसी भांति 'प्रत्ययगत' किं वा 'उपसर्गादिगत' असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के उदाहरण रूप में 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति स्पष्टतया देखी जा सकती है। यहाँ 'अरयः' में बहुवचनसूचक सुप्प्रत्यय से, इसके प्रयोक्ता (राक्षसराज रावण) का निर्वेद चरम सीमा पर पहुँचा प्रतीत हो रहा है (क्योंकि जो एक भी शत्रु को नहीं सह सकता उसके लिये अनेकसंख्यक शत्रुओं का हो जाना आत्मग्लानि की पराकाष्ठा नहीं तो और क्या है?)। साथ ही 'तापसः' का एकवचनसूचक सुप्प्रत्यय इस निर्वेद की ही एक विशेषता का अभिव्यञ्जन करता जा रहा है (क्योंकि तापस जैसे तुच्छ जीव से रावण जैसे महावीर का सशङ्क हो उठना आत्मावमानन की ही एक जघन्य दशा है)। इसके अतिरिक्त 'अत्रैव' यह सर्वनाम पद इसी 'निर्वेद' को और भी उग्ररूप से अभिव्यक्त करता दीख रहा है (क्योंकि इसी से रावण की किंकर्त्तव्यविमूढता प्रकट हो जाती है और उसके आत्मनिन्दन का रहस्य स्पष्ट झलक उठता है)। इस सुप्प्रत्यय-व्यञ्जकता के साथ-साथ यहाँ की तिङ्प्रत्यय-व्यञ्जकता भी अद्भुत ही है क्योंकि

'आहारे विरतिः, समस्तविषयग्रामे निवृत्तिः परा,
नासाग्रे नयनं तदेतदपरं यच्चैकतानं मनः।
मौनं चेदमिदं च शून्यमधुना यद्विश्वमाभाति ते,
तद्ब्रूयाः सखि ! योगिनी किमसि, भोः ! किं वा वियोगिन्यसि ॥'

अत्र तु 'आहारे' इति विषयसप्तम्याः, 'समस्त' इति 'परा' इति च विशेषणद्वयस्य, 'मौनं' चेदम्' इति प्रत्यक्षपरामर्शिनः सर्वनाम्नः, 'आभाति' इत्युपसर्गस्य 'सखि' इति प्रणयस्मारणस्य 'असि भोः' इति सोत्प्रासस्य 'किं वा' इत्युत्तरपक्षदाढर्यसूचकस्य वाशब्दस्य, 'असि' इति वर्त्तमानोपदेशस्य च तत्तद्विषयव्यञ्जकत्वं सहृदयसंवेद्यम्।

'निहन्ति' और 'जीवति' के प्रयोगों में जो वर्तमानकालसूचक तिङ्प्रत्यय है उनका एक मात्र उद्देश्य यहाँ अभिव्यङ्ग्य (रावण के हृदय के) आत्मावमान की टीस को और भी बढ़ा देना है। यहाँ 'अहो' यह आश्चर्यसूचक अव्ययपद यहाँ प्रकाशित निर्वेदभाव में विस्मय का भाव भरकर निर्विण्णता की अवर्णनीयता ही प्रकट कर रहा है। यहाँ इन उपर्युक्त व्यञ्जक-तत्वों के अतिरिक्त और भी व्यञ्जक-तत्व भरे पड़े हैं जैसे कि 'ग्रामटिका' पद में 'क' रूप तद्धित-प्रत्यय, 'विलुण्ठन' पद में 'वि' रूप उपसर्ग तथा 'भुजैः' पद में बहुवचनसूचक सुप्प्रत्यय आदि-आदि, जोकि यहाँ प्रधानरूप से अभिव्यङ्ग्य रसभाव को, अपने ही ढंग से, अधिकाधिक उत्कट रूप से, अभिव्यक्त करने में तत्पर दीख पड़ रहे हैं।

इसी भांति, इस सूक्त अर्थात्—

'अरी सखी ! तुझे आहार से विराग हो गया, तू सभी भोगविलास की वस्तुओं से बिलकुल निवृत्त हो चुकी, तेरी दृष्टि तेरी नासिका के अग्रभाग पर सदा गड़ी रहा करती (ध्यानमग्न) है, तेरा मन निरन्तर एक लक्ष्य में लीन हो रहा है, तू ऐसा मौन साध रही है और तुझे यह सारा संसार शून्य प्रतीत हो रहा है। अरे ! बता तो सही कि क्या तू कोई योग साध रही है या किसी के वियोग में पड़ी है।'

'में अनेकानेक पदों की अभिव्यञ्जना से उन-उन अर्थ-रहस्यों का प्रकाशन हो रहा है जिन्हें सहृदयहृदय ही जान सकता है। जैसे, कि 'आहारे' पद में जो विषयसप्तमी है उससे यहाँ की नायिका प्राणधारणार्थ भोजन के प्रति भी सर्वथा उदासीन बतायी जा रही है; 'विषयग्राम' के विशेषण रूप से उपात्त 'समस्त' पद और 'निवृत्ति' के विशेषण रूप से प्रयुक्त 'परा' पद दोनों के द्वारा, जीवनाधार पदार्थों के प्रति भी नायिका का आत्यन्तिक औदासीन्य ही प्रकाशित किया जा रहा है; 'मौनं चेदम्' में प्रयुक्त, प्रत्यक्षता के द्योतक 'इदम्' रूप सर्वनामपद से, नायिका में, इङ्गितादि के द्वारा भी, अभिप्राय-प्रकाशन की अनिच्छा का ही भाव अभिव्यक्त किया जा रहा है; 'आभाति' में व्यवहृत 'आङ्' उपसर्ग संसार की अशून्यता की अकारणता किंवा अपरिच्छेद्यता को अभिव्यक्त कर रहा है; 'सखी' रूप सम्बोधन पद से निर्विण्णहृदया नायिका के हृद्गत प्रणय-भाव की सूचना दी जा रही है; 'असि भोः !' यह पद निर्वेद के भाव को भगाने के लिए 'उपहास' के अभिप्राय का प्रकाशन कर रहा है; 'किंवा' का 'वा' पद वियोगिनी के विरहभाव का दृढतापूर्वक निर्धारण किंवा योगिनी के संदेह का निर्मूलन करता दीख रहा है और साथ ही साथ 'असि' में व्यवहृत वर्तमानकालिक तिङ्प्रत्यय से भी वियोग की अवस्था की ही सूचना दी जा रही है।

वर्णरचनयोरुदाहरिष्यते। प्रबन्धे यथा—महाभारते शान्तः। रामायणे करुणः। मालतीमाधव-रत्नावल्यादौ शृङ्गारः। एवमन्यत्र।

'वर्णगत' असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि किंवा 'रचनागत' असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के उदाहरण (आठवें और नवें परिच्छेदों में) यथास्थान दिये ही जायेंगे।

'प्रबन्धगत' असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के उदाहरण-रूप में 'महाभारत' का अभिव्यङ्ग्य शान्त रस अथवा 'रामायण' का अभिव्यङ्ग्य करुणरस अथवा 'मालती माधव', 'रत्नावली आदि का अभिव्यङ्ग्य 'शृङ्गाररस' स्पष्टतया देखा जा सकता है। इसी भाँति अन्यान्य महाकाव्यों में 'प्रबन्धगत' असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का स्वरूप स्वयं पहचान लेना चाहिये।

विमर्श—(क) 'पदांश' गत असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का अभिप्राय यह नहीं कि रसादिरूप रमणीय काव्यार्थ पदांशभूत 'प्रकृति' अथवा 'प्रत्यय' मात्र से प्रकाशित हो उठता है। इसका अभिप्राय यह है जैसा कि अभिनवगुप्ताचार्य ने ध्वनिकार के इस उद्धरण अर्थात्—

'व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणां
बद्धोत्कम्पं कुचकलशयोर्मन्युमन्तर्निगृह्य।
तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत्समुत्सृज्य वाष्पं
मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः॥'

के आधार पर इस प्रकार समझाया है—

'गुरुजनमवधीर्यापि सा मां यथा तथापि साभिलाषमन्युदैन्यगर्वमन्थरं विलोकितवतीत्येवं स्मरेण परस्परहेतुकत्वप्राणप्रवासविप्रलम्भोद्दीपनं त्रिभागशब्दसन्निधौ स्फुटं भातीति।...वर्णपदतद्भागादिषु सत्स्वेवालक्ष्यक्रमो व्यङ्ग्यो निर्भासमानोऽपि समस्तकाव्यव्यापक एव निर्भासते, विभावादिसंयोगप्राणत्वात्। तेन वर्णादीनां निमित्तत्वमात्रमेव।'

(ध्वन्यालोकलोचन : ३ य उद्योत)

अर्थात् रसादिरूप ध्वनि की 'पदांशप्रकाशना' के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वस्तुतः तो रसादिरूप ध्वनि समस्त काव्य-वाक्य में अन्तर्व्याप्त रमणीय अर्थतत्त्व है किन्तु पदांश अथवा 'पदैकदेश' इसकी अभिव्यञ्जता के निमित्त हो जाते हैं। पदांश रसादिमय नहीं प्रतीत हुआ करते, अपि तु रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ के अभिव्यञ्जन के निमित्त मात्र रहा करते हैं। जैसे कि उद्धृत सूक्ति में प्रयुक्त 'चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः' इस समस्त पद का 'त्रिभाग'रूप अंश यहां अभिव्यङ्ग्य प्रवास-विप्रलम्भ शृंगार का विशेष रूप से उद्दीपक हो रहा है न कि इसी पदांश द्वारा यहाँ विभावादिसंयोजनाप्राण रस का प्रकाशन किया जा रहा है।

(ख) 'वर्णप्रकाश' असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के सम्बन्ध में अभिनवगुप्तपादाचार्य की यह मान्यता है—

'यद्यपि विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिसम्पदेव रसास्वादे निबन्धनम्। तथापि विशिष्टश्रुतिकशब्दसमर्प्यमाणास्ते विभावादयस्तथा भवन्तीति स्वसंवित्सिद्धमदः। तेन वर्णानामपि श्रुतिसमयोपलक्ष्यमाणार्थानपेक्ष्यपि श्रोत्रैकग्राह्यः मृदुपरुषात्मा स्वभावो रसास्वादे सहकार्येव। अत एव च सहकारितामेवाभिधातुं निमित्तसप्तमी कृता वर्णपदादिष्विति। न तु वर्णैरेव रसाभिव्यक्तिः, विभावादिसंयोगाद्धि रसनिष्पत्तिरित्युक्तं बहुशः। श्रोत्रैकग्राह्योऽपि स्वभावो रसनिष्यन्दे व्याप्रियत एव, अपदगीतध्वनिवत्, पुष्करवाद्यनियमितविशिष्टजातिकरणधाद्यनुकरणशब्दवच्च।' (ध्वन्यालोकलोचन : ३ य उद्योत)

अर्थात् 'वर्णप्रकाश' रसादिध्वनि का अभिप्राय यह नहीं कि वर्णों से ही रसाभिव्यक्तिसंभव

(पूर्वनिरूपित ध्वनि-प्रभेद-संकलन)

तदेवमेकपञ्चाशद्भेदास्तस्य ध्वनेर्मताः ॥ ११ ॥
सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।
वेदखाग्निशराः (५३०४) शुद्धैरिषुबाणाग्निसायकाः (५३५५) ॥१२॥

शुद्धैः शुद्धभेदैरेकपञ्चाशता योजनेनेत्यर्थः ।

दिङ्मात्रं तूदाह्रियते—

'अत्युन्नतस्तनयुगा तरलायताक्षी द्वारि स्थिता तदुपयानमहोत्सवाय ।
सा पूर्णकुम्भनवनीरजतोरणस्रक्संभारमङ्गलमयत्नकृतं विधत्ते ॥'

अत्र स्तनावेव पूर्णकुम्भौ, दृष्टय एव नवनीरजस्रज इति रूपकध्वनिरसध्वन्योरेकाश्रयानुप्रवेशः सङ्करः ।

हैं क्योंकि रसाभिव्यक्ति तो वस्तुतः विभावादि-योजना से हुआ करती है किन्तु इतना अवश्य है कि वर्णों की मधुरता अथवा कठोरता काव्य के निष्यन्दभूत रस में सहायता पहुँचाया करती है। जैसे कि बिना किसी पद के आधार के गीत की 'धुन' अथवा बिना किसी अर्थ के 'धा धिन्' आदि मृदङ्ग के बोल संगीतानन्द की सृष्टि में सहायक हुआ करते हैं वैसे ही श्रोत्रमात्र से अनुभूत मधुर अथवा परुष वर्णस्वभाव भी रसप्रवाह के उपकारक बन जाते हैं।

अनुवाद—इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनिकाव्य (अर्थात् उत्तम काव्य) के सब मिलाकर ५१ भेद हुआ करते हैं (५१ भेद इसलिये क्योंकि पूर्वपरिगणित ३५ भेद तो सिद्ध ही हैं जिनमें अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के 'प्रबन्धगत' १२ भेद तथा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के पदांशगत, वर्णगत, रचनागत और प्रबन्धगत भेदचतुष्टय को जोड़ देने से सब मिलाकर ५१ भेद सिद्ध हो गये)। अब यदि इन ५१ ध्वनि-भेदों में, त्रिविध 'साङ्कर्य' तथा एकविध 'संसृष्टि' के कारण, प्रत्येक के परस्पर मेल के आधार पर, भेद-प्रभेद-गणना की जाय तब यह ध्वनि-भेद-संख्या ५३०४ (वेद= ४. ख=०, अग्नि=३ और शर=५ और 'अङ्कानां वामतो गतिः' की मर्यादा के अनुसार ५३०४) हो जायगी और इस संमिश्र ध्वनि-भेद-संख्या में ५१ प्रकार के शुद्ध ध्वनि-भेदों को जोड़ देने पर जो समस्त ध्वनि-भेद-संख्या होगी वह ५३५५ (५३०४+५१=५३५५) हो जायगी।

यहाँ (कारिका में) 'शुद्धैः' का अभिप्राय ध्वनि के ५१ शुद्ध भेदोंके जोड़ का अभिप्राय है।

इन ध्वनिभेदों का दिग्दर्शन मात्र किया जा रहा है जैसे कि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-रूपक-ध्वनि और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरसध्वनि के संकर (अलङ्कार-रस-संकर-ध्वनि) का यह निदर्शन—

'उन्नत उरोजद्वय से सुशोभित किंवा चंचल और आयत नयनोंवाली वह सुन्दरी, जब अपने प्रियतम के 'उपयान-महोत्सव'—परदेश से प्रत्यागमन के आनन्दोत्सव—के आयोजन में अपने गृह-द्वार पर खड़ी हुई तब ऐसा लगने लगा जैसे वह माङ्गलिक पूर्ण-कलश और नवनीरज के वन्दनवार का काम, बिना किसी प्रयत्न के ही करती जारही हो।'

यहां जो ध्वनि-काव्य है वह 'अलङ्कार-रस-संकर-ध्वनि'-काव्य है क्योंकि 'उन्नतस्तन-द्वय' और 'पूर्णकुम्भ' तथा 'दृष्टि' और 'नवनीरजस्रक्' में अभेद का आरोप अभिव्यङ्ग्य है ही और साथ ही साथ नायकनिष्ठ रतिभाव की भी अभिव्यञ्जना है। 'अलङ्कार' और

'धिन्वन्त्यमूनि मदमूर्च्छदलिध्वनीनि धूताध्वनीनहृदयानि मधोर्दिनानि।
निस्तन्द्रचन्द्रवदनावदनारविन्दसौरभ्यसौहृदसगर्वसमीरणानि ॥'
अत्र निस्तन्द्रेत्यादिलक्षणामूलध्वनीनां संसृष्टिः।

'रस'ध्वनि का यह सम्मिश्रण 'एकाश्रयानुप्रवेश'रूप एक संकर-प्रकार है क्योंकि उपर्युक्त एक ही शब्दार्थरूप आश्रय में अलङ्कार और रस—दोनों अनुप्रविष्ट प्रतीत हो रहे हैं।

अथवा

लक्षणामूल ध्वनि-भेदों की संसृष्टि में संसृष्ट ध्वनि काव्य का यह उदाहरण—

'ये वसन्त के दिन, जिनमें मदोन्मत्त मधुकरों की मधुर गुंजार हुआ करती है, जिनसे वियोगविह्वल प्रेमी और प्रेमिकाओं का हृदय कांपा करता है और जिनमें निस्तन्द्र चन्द्रमुखवाली रमणियों के वदनारविन्दों के सौरभ के संग-साथ से मलय समीर का गर्व अहर्निश बढ़ता रहता है, प्राणिमात्र के हृदय में आनन्द ही आनन्द भरा करते हैं।'

यहां जो ध्वनि-काव्य है वह संसृष्ट ध्वनिकाव्य है क्योंकि 'निस्तन्द्र', 'सौरभ्यसौहृद' तथा 'सगर्व' पदों की अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनियाँ, परस्पर निरपेक्ष होती हुई भी परस्पर संसृष्ट दीख रही हैं।

विमर्श—(क) ५१ प्रकार के शुद्ध ध्वनिकाव्य-भेद ये हैं—

१. पदगत—अर्थान्तरसंक्रमिताविवक्षितवाच्यध्वनिकाव्य।
२. पदगत—अत्यन्ततिरस्कृताविवक्षितवाच्यध्वनिकाव्य।
३. पदगत—शब्दशक्त्युद्भव-संलक्ष्यक्रम-वस्तुध्वनिकाव्य।
४. पदगत—शब्दशक्त्युद्भव-संलक्ष्यक्रम-अलङ्कारध्वनिकाव्य।
५. पदगत—स्वतःसिद्ध-वस्तुरूपार्थशक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य।
६. पदगत—स्वतःसिद्धवस्तुरूपार्थशक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य।
७. पदगत—स्वतःसिद्ध-अलङ्काररूपार्थशक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य।
८. पदगत—स्वतःसिद्ध-अलङ्काररूपार्थशक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य।
९. पदगत—कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुरूपार्थशक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य।
१०. पदगत—कविप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तुरूपार्थशक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य।
११. पदगत—कविप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थ-शक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य।
१२. पदगत—कविप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थ-शक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य।
१३. पदगत—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तुरूपार्थ-शक्त्युद्भववस्तुध्वनिकाव्य।
१४. पदगत—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तुरूपार्थ-शक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य।
१५. पदगत—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थ-शक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य।
१६. पदगत—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थ शक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य।
१७. वाक्यगत—अर्थान्तरसंक्रमिताविवक्षितवाच्यध्वनिकाव्य।
१८. वाक्यगत—अत्यन्ततिरस्कृताविवक्षितवाच्यध्वनिकाव्य।
१९. वाक्यगत—शब्दशक्त्युद्भव-संलक्ष्यक्रम-वस्तुध्वनिकाव्य।
२०. वाक्यगत—शब्दशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम-अलङ्कारध्वनिकाव्य।
२१. वाक्यगत—स्वतःसिद्ध-वस्तुरूपार्थ-शक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य।
२२. वाक्यगत—स्वतःसिद्ध-वस्तुरूपार्थशक्त्युद्भव-अलङ्कार-ध्वनिकाव्य।
२३. वाक्यगत—स्वतःसिद्ध-अलङ्काररूपार्थ-शक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य।
२४. वाक्यगत—स्वतःसिद्ध-अलङ्काररूपार्थ-शक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य।

२५. वाक्यगत—कविप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तुरूपार्थशक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य ।
२६. वाक्यगत—कविप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तुरूपार्थशक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य ।
२७. वाक्यगत—कविप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थशक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य ।
२८. वाक्यगत—कविप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थशक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य ।
२९. वाक्यगत—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तुरूपार्थशक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य ।
३०. वाक्यगत—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तुरूपार्थशक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य ।
३१. वाक्यगत—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थशक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य ।
३२. वाक्यगत—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थशक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य ।
३३. प्रबन्धगत—स्वतःसिद्धवस्तुरूपार्थशक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य ।
३४. प्रबन्धगत—स्वतःसिद्धवस्तुरूपार्थशक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य ।
३५. प्रबन्धगत—स्वतःसिद्ध-अलङ्काररूपार्थशक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य ।
३६. प्रबन्धगत—स्वतःसिद्ध-अलङ्काररूपार्थशक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य ।
३७. प्रबन्धगत—कविप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तुरूपार्थशक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य ।
३८. प्रबन्धगत—कविप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तुरूपार्थशक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य ।
३९. प्रबन्धगत—कविप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थशक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य ।
४०. प्रबन्धगत—कविप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थशक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य ।
४१. प्रबन्धगत—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तुरूपार्थशक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य ।
४२. प्रबन्धगत—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तुरूपार्थशक्त्युद्भव- अलङ्कारध्वनिकाव्य ।
४३. प्रबन्धगत—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थशक्त्युद्भव-वस्तुध्वनिकाव्य ।
४४. प्रबन्धगत—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-अलङ्काररूपार्थशक्त्युद्भव-अलङ्कारध्वनिकाव्य ।
४५. पदगत—असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यरसादिध्वनिकाव्य ।
४६. वाक्यगत—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-रसादिध्वनिकाव्य ।
४७. प्रबन्धगत—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरसादिध्वनिकाव्य ।
४८. पदैकदेशगत—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-रसादिध्वनिकाव्य ।
४९. रचनागत—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरसादिध्वनिकाव्य ।
५०. वर्णगत—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-रसादिध्वनिकाव्य ।
५१. वाक्यगत—शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव-ध्वनिकाव्य ।

(ख) 'सङ्कर' कहते हैं (नीरक्षीरवत्) 'परस्परापेक्षसम्मिश्रण' को। 'ध्वनिकाव्यसङ्कर' का अभिप्राय है 'परस्परापेक्ष रूप से सम्मिश्रध्वनिकाव्य' का। ध्वनिकाव्य में 'परस्परापेक्षसम्मिश्रण' की तीन संभावनायें हैं—१. अनुग्राह्यानुग्राहकभाव से, २. एकव्यञ्जकानुप्रवेश से और ३. संदेहास्पदता के कारण। ध्वनिकाव्य में परस्परापेक्ष सम्मिश्रण के अतिरिक्त (तिलतण्डुलवत्) परस्पर निरपेक्ष संमिश्रण भी संभव है जिसे 'संसृष्टि' कहा गया है।

अब विश्वनाथ कविराज के अनुसार एकविध 'संसृष्टि' (परस्परनिरपेक्ष सहावस्थान) की अवस्था में ध्वनिकाव्य के १३२६ भेद सिद्ध होते हैं :—

जैसे कि उपर्युक्त ५१ ध्वनि भेदों में जो प्रथम ध्वनि-भेद है वह अपने सजातीय ध्वनि-भेद किंवा ५० विजातीय ध्वनि-भेदों से संसृष्ट होकर ५१ प्रकार का हो गया। इसी भाँति द्वितीय ध्वनि-भेद भी, अपने सजातीय ध्वनि-भेद किंवा ४९ विजातीय ध्वनि-भेदों से संसृष्ट होकर ५० प्रकार का हो गया। इसी भाँति तीसरा भेद, अपने सजातीय और ४८ विजातीय भेदों से संसृष्ट होने पर ४९ प्रकार का हो गया। इसी प्रकार चौथे के ४९, पांचवें के ४७, छठे के ४६, सातवें के ४५,

आठवें के ४४, नवें के ४३, दसवें के ४२, ग्यारहवें के ४१, बारहवें के ४०, तेरहवें के ३९, चौदहवें के ३८, पंद्रहवें के ३७, सोलहवें के ३६, सत्रहवें के ३५, अठारहवें के ३४, उन्नीसवें के ३३, बीसवें के ३२. इक्कीसवें के ३१, बाइसवें के ३०, तेइसवें के २९, चौबीसवें के २८, पचीसवें के २७, छब्बीसवें के २६, सत्ताइसवें के २५, अठाइसवें के २४, उनतीसवें के २३, तीसवें के २२, इकतीसवें के २१, बत्तीसवें के २०, तैंतीसवें के १९, चौंतीसवें के १८, पैंतीसवें के १७, छत्तीसवें के १६, सैंतीसवें के १५, अड़तीसवें के १४, उनतालीसवें के १३, चालीसवें के १२, इकतालीसवें के ११, बयालीसवें के १०, तैंतालीसवें के ९, चौआलीसवें के ८, पैंतालीसवें के ७, छियालीसवें के ६, सैंतालीसवें के ५, अड़तालीसवें के ४, उनचासवें के, ३, पचासवें के २ और इक्यावनवें के १ भेद हुआ करते हैं। ये सब मिलकर, संसृष्ट ध्वनिकाव्य के १३२६ प्रकार सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार अनुग्राह्यानुग्राहकभाव से 'संकर' होने पर १३२६, 'एकव्यञ्जकानुप्रवेश से संकर' की अवस्था में १३२६ और संदेहास्पदता के कारण साङ्कर्य में १३२६ ध्वनि-भेद निर्विवाद सिद्ध हो गये।

अब १३२६ संसृष्ट ध्वनि-काव्य-प्रकारों के साथ ३९७८ संकीर्णध्वनिकाव्य-प्रकारों का योग करने पर 'मिश्र' ध्वनिकाव्य के सब मिलाकर ५३०४ भेद हुये। और यदि इन ५३०४ मिश्र-ध्वनिकाव्य-प्रकारों के साथ ५१ शुद्धध्वनिकाव्य-प्रकारों का योग कर दिया जाय तो समस्त ध्वनिभेद-संख्या ५३५५ हो गयी।

(ग) विश्वनाथ कविराज द्वारा निर्दिष्ट यह ध्वनिभेद-संख्या काव्यप्रकाशकार मम्मट द्वारा निर्दिष्ट ध्वनि-भेद-संख्या से लगभग आधी है। आचार्य मम्मट ने १०४०४ मिश्रध्वनि-भेदों का निर्देश किया है क्योंकि ५१ शुद्धभेदों का ५१ शुद्धभेदों से गुणन करने पर भेद-संख्या २६०१ हुई जिसे त्रिविध 'संकर' और एकविध 'संसृष्टि' अर्थात् चतुर्विध संयोजन-प्रकारों से गुणन करने पर १०४०४ मिश्रध्वनिभेद-संख्या बनी। इस 'मिश्र'ध्वनिभेद-संख्या के साथ ५१ शुद्धध्वनि-भेद-संख्या का योग करने पर समस्त ध्वनिभेद-संख्या १०४५५ हुई। वैसे तो ध्वनिकार आनन्द-वर्धनाचार्य ने भी 'संकर' और 'संसृष्टि' की सम्भावनाओं में ध्वनि के भेदाधिक्य का संकेत किया है किन्तु ध्वनिकार का अभिप्राय ध्वनिकाव्य का भेद-संख्यान नहीं अपितु ध्वनि-साम्राज्य की असीमता का निर्देश है। सर्वप्रथम काव्यप्रकाशकार ने ही लोचनकार आचार्य अभिनवगुप्त के एक संकेत (**अर्थात् तावता पञ्चत्रिंशतो मुख्यभेदानां गुणने सहस्रसहस्राणि चत्वारि शतानि विंशत्यधिकानि भवन्ति**—ध्वन्यालोक लोचन: तृतीय उद्योत) का अनुसरण करते ध्वनिकाव्य के भेद-प्रभेदों की गणना का सम्प्रदाय प्रवर्त्तित कर दिया। काव्यप्रकाशकार के आलोचक विश्वनाथ कविराज के लिये इस भेद-प्रभेद-गुणन और भेद-प्रभेद-गणन की आलोचना अपेक्षित थी, क्योंकि रसात्मक वाक्य को काव्य माननेवाले आचार्य के लिये ध्वनि-भेद-प्रभेद-गुणन आदि की क्या आवश्यकता! किन्तु विश्वनाथ कविराज ने यह सिद्ध कर दिया कि किसी परम्परा की धारा का परिवर्त्तन, चाहते हुये भी, प्रायः असम्भव होता है।

(घ) ध्वनितत्त्वदर्शी आनन्दवर्धनाचार्य ने, ध्वनि-संकर अथवा ध्वनि-संसृष्टि के सिद्धान्त में, ध्वन्यात्मक काव्य-सूक्तियों के बहुविध मनन-चिन्तन की दिशा का प्रदर्शन किया है। बाद के ध्वनिवादी काव्याचार्य सम्भवतः इस रहस्य से अपरिचित हो रह गये हैं और गुणनप्रक्रिया के आधार पर भेद-प्रभेद-निर्णय की ओर बह गये हैं। उदाहरण के लिये प्रायः सभी ध्वनिवादी आलङ्कारिकों द्वारा उद्धृत इस ध्वनि-सूक्ति अर्थात्—

'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाता शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।

(२ य काव्यप्रकार : गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य)

अथ गुणीभूतव्यङ्ग्यम्—

अपरं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये ।

अपरं काव्यम् । अनुत्तमत्वं न्यूनतया साम्येन च संभवति ।

कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा ! देवि ! धीरा भव ॥'

के ध्वनिसांकर्य का निर्देश करते हुए आनन्दवर्धनाचार्य ने-जो यह संकेत किया है—

'एकव्यञ्जकानुप्रवेशेन तु व्यङ्ग्यत्वमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य स्वप्रभेदान्तरापेक्षया बाहुल्येन संभवति (ध्वन्यालोक : ३ य उद्योत)'

उसका अभिप्राय यह नहीं कि इस प्रकार की ध्वनि-सूक्तियों के लिये ध्वनि-भेद-प्रभेद-प्रसंख्यान और पारिभाषिक शब्द निर्मित किये जायँ किन्तु यही कि इनकी ध्वन्यात्मकता, सभी दृष्टियों से पहचानी जाय। जैसे कि यह सूक्ति वस्तुतः 'रसध्वनिकाव्य' है। इसकी विवेचना में कहीं जैसे कि 'लिप्त' और 'पयोदसुहृद्' पदों में अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनियों की संसृष्टि और कहीं, जैसे कि 'रामोऽस्मि' पद में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि और विप्रलंभश्रृङ्गारध्वनि की संसृष्टि, यदि देखी जाय तो ठीक है किन्तु इससे इस ध्वनि-सूक्ति को 'रस'ध्वनि काव्य न कहकर 'संसृष्ट-संलक्ष्यासंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिकाव्य' आदि विकट नामों से सूचित करना निरर्थक है। किन्तु बाद के ध्वनिवादी काव्याचार्य अलङ्कारवाद के प्रभाव में पड़कर ध्वनि के भी भेद-प्रभेद-परिगणन में बड़े दत्तचित्त दिखायी पड़ते हैं। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के सिद्धान्त-प्रवर्तक विश्वनाथ कविराज भी इन्हीं आचार्यों की श्रणी में आ गये हैं।

अनुवाद—अब गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य (मध्यमकाव्य) का निरूपण किया जा रहा है—

'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य वह काव्य है जिसमें प्रतीत होनेवाले, व्यङ्ग्यार्थ (अपने व्यञ्जक रूप से अवस्थित) वाच्यार्थ की अपेक्षा 'अनुत्तम' अथवा 'गुणीभूत' (अप्रधान) लगा करता है।

यहाँ (कारिका में) 'अपरम्' (दूसरे) का अभिप्राय 'काव्यम्' (काव्य) का—वस्तुतः ध्वनिकाव्य से भिन्न प्रकार के 'काव्य' का—अभिप्राय है। और (वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य के) 'अनुत्तमत्व' की सम्भावना का अभिप्राय है—'न्यूनता' अथवा 'समता' के कारण अधिक चमत्काराधायक न हो सकने का।

विमर्श—'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य का वास्तविक अभिप्राय 'व्यङ्ग्यार्थ' के सम्बन्ध से विशेष रमणीय वाच्यसौन्दर्यमय 'काव्यबन्ध' का अभिप्राय है जैसा कि ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने कहा है—

'प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ॥'

(ध्वन्यालोक : ३.३४)

'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य की अतिरिक्त मान्यता का जो कारण है वह यह है—

'प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः ।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेधसा ॥' (ध्वन्यालोक : ३.३५)

अर्थात् 'ध्वन्यात्मक काव्य-प्रबन्ध' तो सर्वश्रेष्ठ काव्य है ही किन्तु ऐसी भी कृतियां काव्य ही हैं जिनमें व्यङ्ग्य-सौन्दर्य के आकर्षण की अपेक्षा वाच्य-सौन्दर्य का आकर्षण अधिक प्रबल हुआ करता है।

(गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के आठ प्रकार)

तत्र स्यादितराङ्गं काक्वाक्षिप्तं च वाच्यसिद्ध्यङ्गम् ॥ १३ ॥
संदिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यमस्फुटमगूढम् ।
व्यङ्ग्यमसुन्दरमेवं भेदास्तस्योदिता अष्टौ ॥ १४ ॥

(गुणीभूत व्यङ्ग्यकाव्य : १ म भेद—अपराङ्गव्यङ्ग्य)

इतरस्य रसादेरङ्गं रसादिव्यङ्ग्यम् ।

'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य की श्रेणी में संस्कृत-काव्य-साहित्य की अनेकानेक रचनायें स्थान पाती हैं। ध्वनिवादी काव्याचार्यों ने इस काव्य-विभाग में उन सभी अलङ्कृत सूक्तियों को भी अन्तर्भूत कर दिया है जिन्हें प्राचीन अलङ्कारवादी आचार्य केवल किसी न किसी अलङ्कार से अलङ्कृत कहकर मौन रह गये थे। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा था—

'तदेवं व्यङ्ग्यांशसंस्पर्शे सति चारुत्वातिशययोगिनो रूपकादयोऽलङ्काराः सर्व एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गः। गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं च तेषां तथाजातीयानां सर्वेषामेवोक्तानुक्तानां सामान्यम्। (ध्वन्यालोक : ३ उद्योत)।'

अर्थात् वे सभी वाच्यालङ्कारविभूषित रचनायें 'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य' की श्रेणी में अन्तर्भूत दिखायी देती हैं जिनकी काव्यात्मक रमणीयता का रहस्य उनके वाच्यालङ्कार में नहीं अपि तु उन वाच्यालङ्कारों में अन्तर्लीन वस्तु अथवा अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ के अवभास में रहा करता है।

'ध्वनि' काव्य यदि ध्वनि-तत्त्व का पूर्णावतार है तो 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य उसका अंशावतार अवश्य है। दोनों रमणीय काव्यप्रकार हैं।

'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य का तारतम्य प्राचीन ध्वनिवादी अलङ्कारशास्त्र में नहीं देखा-दिखाया गया। यह तो बाद की ध्वनिवादी काव्याचार्य-परम्परा है जिसने 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य'काव्य में उत्तमता और मध्यमता की भावना को जन्म दिया है।

अनुवाद—गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के आठ प्रकार हुआ करते हैं क्योंकि यहां व्यङ्ग्यार्थ (१) इतराङ्ग, (२) काक्वाक्षिप्त, (३) वाच्यसिद्ध्यङ्ग, (४) सन्दिग्धप्राधान्य, (५) तुल्यप्राधान्य, (६) अस्फुट, (७) अगूढ और (८) असुन्दर-इन आठ रूपों में (वाच्य की अपेक्षा) अनुत्तम रूप से अवस्थित रहा करता है।

विमर्श—जहां ध्वनि-दर्शन के प्रवर्त्तकों ने व्यङ्ग्य के 'इतराङ्ग' अथवा 'अपराङ्ग' आदि रूप से अवस्थान में व्यङ्ग्य की ही एक प्रकार की महिमा गायी है वहां ध्वनि-दर्शन के प्रचारकों ने 'इतराङ्ग' अथवा 'अपराङ्ग' आदि रूप से अवस्थित व्यङ्ग्यार्थ में, वाच्यसौन्दर्य की दृष्टि से, 'अनुत्तमता' की खोजबीन की है। इस प्रवृत्ति से, काव्य-भेद-निरूपण में भले ही प्रोत्साहन मिले, किसी काव्यप्रबन्ध के काव्यात्मक अनुशीलन में क्या लाभ ?

महाकवियों की रचनायें चित्र-विचित्र हुआ करती हैं। यदि कहीं पद 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' है तो वाक्य 'ध्वनि' ! ऐसी 'प्रसन्नगम्भीरपद' रचनाओं को किस श्रेणी में रखा जाय ?

'विश्वनाथ कविराज को–'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इस काव्य-वाद के प्रवर्तक को-इन प्रवृत्तियों से लड़ना चाहिए था किन्तु इनसे लड़ना तो दूर रहे उन्हें उलटे इनसे पछाड़ ही खाना पड़ा है।

अनुवाद—'इतराङ्ग' अथवा 'अपराङ्ग'-व्यङ्ग्य गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य वह काव्य है जहाँ कोई रसभावादि रूप (असंलक्ष्यक्रम अथवा वस्त्वादिरूप संलक्ष्यक्रम) व्यङ्ग्यार्थ

यथा—

'अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥'

अत्र शृङ्गारः करुणस्याङ्गम् ।

'मानोन्नतां प्रणयिनीमनुनेतुकामस्त्वत्सैन्यसागररवोद्गतकर्णतापः ।
हा ! हा ! कथं नु भवतो रिपुराजधानीप्रासादसंततिषु तिष्ठति कामिलोकः ॥'

अत्रौत्सुक्यत्राससन्धिसंस्कृतस्य करुणस्य राजविषयरतावङ्गभावः ।

'जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम् ।
कृता लङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना
मयाप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता ॥'

किसी दूसरे रसभावादिरूप (असंलक्ष्यक्रम अथवा वस्त्वादिरूपसंलक्ष्यक्रम) व्यङ्ग्यार्थं को अङ्ग अथवा उपकारक रूप से रहा करता है (जिसमें उसका अपना महत्त्व दूसरे के महत्त्व का संवर्धन किया करता है)।

जैसे कि (महाभारत : स्त्रीपर्व की) निम्न सूक्ति अर्थात्—

('मृत महाराज भूरिश्रवा का) यही वह हाथ है जो कभी रतिलीलाओं में, काञ्ची-दाम के खींचने में तत्पर रहता रहा; उन्नत उरोजों के विमर्दन में अभ्यस्त लगता रहा; क्या नाभि, क्या ऊरु, क्या जघन सबके स्पर्श में व्याकुलता दिखाता रहा और नीवी की गांठ खोलने में इतना उत्सुक दिखाई पड़ता रहा। और अब !' आदि में, जो 'काव्य' है वह 'इतराङ्ग' अथवा 'अपराङ्ग'—व्यङ्ग्य गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य है क्योंकि यहाँ आपाततः अभिव्यङ्ग्य (संभोग) शृङ्गाररस अन्ततो गत्वा करुण रस का ही 'अङ्ग' अथवा उत्कर्ष-वर्धक बना प्रतीत हो रहा है (यहाँ जो भी काव्य-चमत्कार है वह पूर्वानुभूत रतिसुख की स्मृतियों के उद्बोधन का नहीं अपि तु इस उद्बोधन में अत्यधिक रूप से उद्दीप्त शोक की चर्वणा का ही चमत्कार है)।

इसी भाँति (अर्थात् जैसे उपर्युक्त सूक्ति की 'अपराङ्गव्यङ्ग्यता' एक रस की अन्य रस के प्रति अङ्गता में स्पष्ट है वैसे हो) रस की भाव के प्रति अङ्गता अथवा उत्कर्षा-धायकता में 'अपराङ्गव्यङ्ग्य'-गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का यह उदाहरण—

'महाराज ! आपके शत्रुओं की राजधानियों के राजमहलों में, ओह ! कुछ न पूछिये, जितने भी प्रेमी जीव रह रहे हैं, बड़ी दुर्दशा में पड़े हुये हैं क्योंकि जैसे ही वे अपनी अपनी मानवती प्रेमिकाओं को मनाने के लिये उत्सुक होते हैं वैसे ही आपके सेना-समुद्र का गर्जन-तर्जन उन्हें विह्वल बना देता है।'

यहाँ 'अपराङ्गव्यङ्ग्य'रूप गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य का जो स्वरूप है वह यह है—'औत्सुक्य' और 'त्रास' के अभिव्यङ्ग्य व्यभिचारीभावों की परस्पर संधि से परिपुष्ट करुणरस स्वयं चमत्कारास्पद न होकर (कविनिष्ठ) राजविषयक रतिभाव का ही आस्वाद-चमत्कार बढ़ा रहा है और इसी में समस्त काव्य सौन्दर्य समाया दिखायी दे रहा है।

अथवा जैसे कि शब्दशक्तिमूल-अलङ्काररूप-संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की वाच्यार्थ के प्रति अङ्गता में 'अपराङ्गव्यङ्ग्य'गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य—

'मैं तो 'कनकमृगतृष्णा' कनक = धनप्राप्ति की मृगमरीचिका (राम-पक्ष में, कनकमृग

अत्र रामत्वं प्राप्तमित्यवचनेऽपि शब्दशक्तेरेव रामत्वमवगम्यते। वचनेन तु सादृश्यहेतुकतादात्म्यारोपणमाविष्कुर्वता तद्गोपनमपाकृतम्। तेन वाच्यं सादृश्यं वाक्यार्थान्वयोपपादकतयाङ्गतां नीतम्।

अर्थात् स्वर्णमृग मारीच की प्राप्ति की लालसा) से व्याकुल और किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर, 'जनस्थान' = धनिओं के भवनों (राम-पक्ष में, दण्डकारण्य के एक भाग-विशेष) में खूब घूम चुका, पग-पग पर, आँसू भरी आँखें लिये, 'वैदेहि!' = 'अरे! कोई कुछ दो' (राम-पक्ष में—वैदेहि ! सीते ! कहाँ हो) कह-कह कर बहुत कुछ रो-धो चुका; इतना ही क्यों, 'काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु अलं घटना कृता' = पता नहीं, कितने धनी-मानी नीच लोगों की तरह तरह की चापलूसी में क्या-क्या नहीं कह-सुन चुका (राम-पक्ष में, 'लङ्काभर्तुर्वदन-परिपाटीषु घटना'—लङ्कापति रावण के मुखमण्डल का बाणपंक्तियों से वेधन); यह सब कुछ कर चुका और 'रामरूपता' भी पा चुका, किन्तु 'कुशलवसुता' धनी होने का सौभाग्य (रामपक्ष में, सीता) तो अब तक नहीं पा सका।'

यहाँ भी 'अपराङ्गव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य है क्योंकि 'मयाप्तं रामत्वम्' की उक्ति के विना ही 'जनस्थाने भ्रान्तम्' आदि शब्दों की व्यञ्जकता-शक्ति से यहाँ के निर्विण्ण वक्ता का राम-सादृश्य-प्रदर्शनरूप (आत्मोपहास विषयक) अभिप्राय प्रकाशित हो उठता है। अब 'मयाप्तं रामत्वम्' कह देने से, निर्विण्ण वक्ता का राम के साथ सादृश्य-मूलक यह अभेदारोप, जो कि शब्द-शक्ति से अभिव्यङ्ग्य होने पर गूढ़ और मनोरम लगता, अगूढ हो गया है। इसलिये, इस अभेदारोप का हेतुभूत अभिव्यङ्ग्य सादृश्य (शब्दमूलक सादृश्य) यहाँ के वाक्यार्थ अर्थात् निर्विण्णवक्ता की रामत्व-प्राप्ति का ही उपपादक वन गया है और 'अपर' अर्थात् अपने से भिन्न वाच्य (मयाप्तं रामत्वम्) का अङ्ग बन कर 'अपराङ्गव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य का निदर्शन हो रहा है।

विमर्श—एक रस की अन्य रस के प्रति गुणीभूतता में 'अपराङ्गव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य की जो रूपरेखा काव्यप्रकाशकार अथवा सादित्यदर्पणकार आदि ने खींची है वह ध्वनिकार की दृष्टि में नहीं झलकती। ध्वनिकार ने तो महाकवियों की रस-योजनाओं की एक गतिविधि का विश्लेषण करते हुये कहा है कि 'महाकवि लोग परस्परविरुद्ध रसों की भी योजना किया करते हैं किन्तु ऐसी विचित्रता से किया करते हैं कि विरोध के बदले सौमनस्य प्रतीत होने लगता है'—

'विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।
बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला॥' (ध्वन्यालोक : ३.२०)

महाकवियों की इस रस योजना-वैचित्री में प्रधानतया अभिव्यङ्ग्य रूप से अभीष्ट रस में उससे विरुद्ध दूसरे रस के उपकरणों को, अप्रधानतया अभिव्यङ्ग्य रख कर, नियोजित करना एक अलग ही विचित्रता है। 'अयं स रशनोत्कर्षी' आदि महाभारत-सूक्ति में, ध्वनिकार ने रस-योजना की यही विचित्रता देखी है—

'अथवा वाक्यार्थीभूतस्यापि कस्यचित् करुणरसविषयस्य तादृशेन शृङ्गारवस्तुना भङ्गिविशेषाश्रयेण संयोजनं रसपरिपोषायैव जायते। यतः प्रकृतिमधुराः पदार्थाः शोचनीयतां प्राप्ताः प्रागवस्थाभाविभिः संस्मर्यमाणैर्विलासैरधिकतरं शोकावेशमुपजनयन्ति। यथा—'अयं स···करः॥ इत्यादौ।' (ध्वन्यालोक : ३य उद्योत)

अर्थात् भले ही शृङ्गार और करुण परस्परविरोधी रस हों किन्तु जैसे महाभारत के क्रान्तदर्शी कवि ने अपनी करुणरस-मयी सूक्ति में, शृङ्गार के अङ्गों की योजना से चार चाँद लगा दिये हैं, प्रणय

(२य भेद—काक्काक्षिप्तव्यङ्ग्य)

काकाक्षिप्तं यथा—

'मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन॥'

अत्र मथ्नाम्येवेत्यादिव्यङ्ग्यं वाच्यस्य निषेधस्य सहभावेनैव स्थितम्।

सुख की स्मृतिओं से शोक का अनुभूति को तीव्रतम बना दिया है, वैसे यदि रस-योजना की जाय तो काव्य के चमत्कार का क्या कहना!

कहाँ तो किसी रस की अभिव्यक्ति में, उसके विरोधी रस के अङ्गों की योजना-वैचित्री से अद्भुत चमत्कार का साक्षात्कार और कहाँ अङ्गतया अवस्थित रस को पकड़ कर 'काव्य' में 'गुणीभूतव्यङ्ग्यता' की ही छानबीन! काव्यप्रकाशकार के लिये, जिन्हें अलङ्कारवाद के प्रबल प्रतिपक्ष रूप से ध्वनिवादी अलङ्कार-शास्त्र की रचना करनी थी, यह सब भले ही क्षम्य हो, साहित्यदर्पणकार के लिये तो कदापि क्षम्य नहीं।

अनुवाद—'काक्काक्षिप्तव्यङ्ग्य' रूप गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य वह है जिसका व्यङ्ग्यार्थ, किसी पद की 'काकु' अथवा उच्चारणसम्बन्धी ध्वनि-विकृति से ही निकल पड़ता है जिससे वहाँ के वाच्यार्थ-सौन्दर्य-पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जैसे कि—

'(भीम की उक्ति-) सहदेव! मैं भला संग्राम में क्रुद्ध होकर कौरवों का सर्वनाश न करूँ? मैं भला दुःशासन के वक्षःस्थल का रक्त न पीऊँ? मैं भला अपनी गदा से दुर्योधन की जाँघ न तोड़ूँ! सन्धि तो तुम्हारे महाराज युधिष्ठिर को करनी है!'

यहाँ 'काक्काक्षिप्तव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य है क्योंकि यहाँ जो व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है अर्थात् 'मैं तो अवश्यमेव कौरवों का सर्वनाश करूँगा आदि', वह 'न' की काकु अथवा विशिष्ट उच्चारण-प्रक्रिया से ही निकल रहा है न कि यहाँ के वाच्यार्थ-परामर्श से। यहाँ के वाच्यार्थ अर्थात् 'न मथ्नामि' (सर्वनाश न करूँ) आदि की प्रतीति और 'न मथ्नामीति न' (अवश्य सर्वनाश करूँगा) आदि काक्काक्षिप्त व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति एक ही समय हो रही है जिससे वाच्यार्थ-प्रतीति के बाद व्यङ्ग्यार्थ की चमत्कृति, जो कि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिकाव्य की एक स्वाभाविक विशेषता है, दिखाई नहीं पड़ती।

विमर्श—यदि किसी शब्दार्थयोजना में 'काकु' द्वारा आक्षिप्त व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य अधिक रमणीय हो तब तो वहाँ जो काव्य होगा वह गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य ही होगा जैसा कि ध्वनिकार ने स्पष्ट कहा है—

'अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते।
सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता॥'

'काकाक्षिप्त' व्यङ्ग्य के अप्रधान व्यङ्ग्य होने का कारण यह है कि 'काकु' शब्द का ही एक धर्म-विशेष है और व्यङ्ग्य का शब्दधर्मद्वारा संस्पृष्ट रहना उसके नैसर्गिक चमत्कार में एक न्यूनता उत्पन्न किया करता है। काकाक्षिप्त व्यङ्ग्यगर्भ सूक्तियाँ ऐसी हुआ करती हैं जहाँ व्यङ्ग्योपस्कृत वाच्य ही रमणीय लगा करता है। इसीलिये आचार्य अभिनवगुप्त ने 'मथ्नामि कौरवशतम्' आदि सूक्ति में 'काकाक्षिप्त' होने से व्यङ्ग्य के गुणीभाव में, वाच्यार्थसौन्दर्यप्रधान काव्य का यह स्वरूप देखा है—

'अत एव मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्' इत्यादौ विपरीतलक्षणाम् आहुस्ते न सम्यक् परामम्रृशुः। यतोऽत्रोच्चारणकाल एव 'न कोपात्'इति दीप्ततारगद्गदसाकांक्षकाकुब-

(३य भेद—वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्य)

'दीपयन् रोदसीरन्ध्रमेष ज्वलति सर्वतः ।
प्रतापस्तव राजेन्द्र ! वैरिवंशदवानलः ॥'

अत्रान्वयस्य वेणुत्वारोपणरूपो व्यङ्ग्यः प्रतापस्य दावानलत्वारोपसिद्ध्यङ्गम् ।

(४र्थ भेद—संदिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य)

'हरस्तु किंचित्परिवृत्तधैर्यः—' इत्यादौ विलोचनव्यापारचुम्बनाभिलाषयोः प्राधान्ये सन्देहः ।

लान्निषेधस्य निषिध्यमानतयैव युधिष्ठिराभिमतसन्धिमार्गाक्षमारूपस्वाभिप्रायेण प्रतिपत्तिरिति मुख्यार्थबाधाद्यनुसरणविघ्नाभावात् को लक्षणाया अवकाशः ।'

(ध्वन्यालोकलोचन : ३ य उद्योत)

अर्थात् यहाँ जो काकु द्वारा–दीप्त-तार-गद्गद-उच्चारण द्वारा 'न मथ्नामि' आदि के मथनादि-निषेधरूप वाच्य का निषेध (मथ्नाम्येव) अभिव्यक्त हो रहा है उसके सौन्दर्य की अपेक्षा उससे अनुप्राणित वाच्य-सौन्दर्य ही अधिक काव्यात्मक लग रहा है। जहाँ व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्य की प्रतीति हो वहाँ व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव द्वारा वाच्यवाचकभाव का उपरञ्जन तो स्वाभाविक ही है ।

अनुवाद—'वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य वह है जिसका व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि में अङ्ग अथवा सहायक बना रहता है, जैसे कि—

'महाराज ! पृथिवी और आकाश के बीच प्रकाशमान शत्रुवंश का दावानल, आपका यह प्रताप सर्वत्र प्रखररूप से प्रज्वलित दिखायी दे रहा है ।'

यहाँ जो काव्य है वह 'वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य है क्योंकि वर्ण्य राजवीर के राजवंश और वंश (बाँस) में जो शब्दशक्तिमूलक अभेदारोप अभिव्यक्त हो रहा है वह अन्त में वाच्यार्थभूत 'प्रताप' और 'दावानल' के अभेदारोप की ही सिद्धि का अङ्ग बन गया है ।

विमर्श—व्यङ्ग्य के 'वाच्यसिद्ध्यङ्ग' अथवा 'वाच्यसौन्दर्य-निष्पादन में उपकारक' होने का एक सुन्दर निदर्शन यह है जिसे ध्वनिकार ने उद्धृत किया है—

'कमलाकरा न मिलिता हंसा उड्डायिता न च सहसा ।
केनापि ग्रामतडागेऽभ्रमुत्तानितं क्षिप्तम् ॥' (सं० छाया)

इस सूक्ति में व्यङ्ग्य के गुणीभूत और वाच्य के प्रधान चारुत्व का आचार्य अभिनवगुप्त के शब्दों में यह विश्लेषण है:—

'वाच्येनैव हि विस्मयविभावरूपेण मुग्धिमातिशयः प्रतीयत इति वाच्यादेव चारुत्वसम्पत् । वाच्यं तु स्वात्मोपपत्तयेऽर्थान्तरं स्वोपकारवाञ्छया व्यनक्ति ।'

(ध्वन्यालोकलोचन : २य उद्योत)

अर्थात् यहाँ जो भी काव्यात्मक सौन्दर्य है वह वाच्यकृत ही है। वैसे यह ठीक है कि यहाँ वाच्य व्यङ्ग्यार्थ का उपस्थापक है किन्तु यह व्यङ्ग्यार्थ अन्ततो गत्वा वाच्य का ही उपपादक हो गया है जिससे यहां 'ध्वनि' की संभावना नहीं अपि तु गुणीभूतव्यङ्ग्य की रूपरेखा दिखायी दे रही है ।

अनुवाद—'संदिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य वह है—जिसके व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्य (वाच्यार्थ-सौन्दर्य के देखते) संदिग्ध रहा करता है। जैसे कि (महाकवि

(५म भेद—तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्य)

'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते॥'

अत्र परशुरामो रक्षःकुलक्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम्।

कालिदास के कुमारसंभव की इस सूक्ति अर्थात्) 'हरस्तु किञ्चित् परिवृत्तधैर्यः' आदि में जो काव्य का स्वरूप है वह 'संदिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य का स्वरूप है क्योंकि 'विलोचन-व्यापार' के वाच्य-सौन्दर्य के कारण यहाँ 'परिचुम्बनाभिलाष' के व्यङ्ग्य-चमत्कार की प्रधानता संदिग्ध हो गयी है।

विमर्श—'सन्दिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य' रूप गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के उदाहरण में, काव्यप्रकाशकार ने भी, महाकवि कालिदास की यही सूक्ति उद्धृत की है। यहाँ व्यङ्ग्यप्राधान्य और वाच्य-प्राधान्य में संदेह का विश्लेषण 'प्रदीपकार' के शब्दों में यह है—

'अत्र चुम्बितुमैच्छदिति व्यङ्ग्यम्। युगपल्लोचनत्रयव्यापारणं वाच्यम्। तयोश्च प्राधान्ये साधकबाधकमानाभावेन संदेहः। वाच्यस्याप्यलौकिकत्वेन चमत्कारकारित्वा-दुत्कण्ठातिशयव्यञ्जकत्वाच्च।' (काव्यप्रदीप : ५म उल्लास)

अभिप्राय यह है कि यदि कवि की वाच्य-योजना ऐसी है कि वह व्यङ्ग्य की झलक दिखा कर भी सभी काव्यात्मक सौन्दर्य अपने में समेट लेती है तो व्यङ्ग्य और वाच्य के प्रातिस्विक चारुत्व के निर्णय में सहृदय सामाजिक को असमंजस में पड़ जाना पड़ता है। ऐसी सूक्तिओं का सौन्दर्य एक अलग ही काव्य-सौन्दर्य है। इन्हें 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य की श्रेणी में रखने का अभिप्राय काव्य-वर्णीकरण की पूर्णता की सूचना है, न कि इनके काव्यात्मक सौन्दर्य की अद्भुत अनुभूति का विश्लेषण।

अनुवाद—'तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य वह काव्य है जिसके व्यङ्ग्यार्थ और वाच्यार्थ का काव्यात्मक सौन्दर्य समान रूप का प्रतीत हुआ करता है। जैसे कि—

'राक्षसराज! यह तो आपके ही महाकल्याण की बात है कि आप ब्राह्मणों का अनादर करना नहीं चाहते। अन्यथा आपका मित्र यह (ब्राह्मण) परशुराम अप्रसन्न भी तो हो सकता है!'

यहाँ (परशुराम की इस उक्ति में) जो यह व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है कि (यदि ब्राह्मण का अनादर हुआ तो) 'परशुराम राक्षसवंश का सर्वनाश कर डालेगा' उसके चमत्कार की अपेक्षा यहाँ के वाच्यार्थ का अर्थात् 'परशुराम की मित्रता निभाने से राक्षस वंश का कल्याण है' इस अभिप्राय का सौन्दर्य कम काव्यात्मक नहीं।

विमर्श—वाच्य और व्यङ्ग्य के तुल्य-प्राधान्य अथवा सम-प्राधान्य की संभावना अप्रस्तुत प्रशंसालङ्कार में स्पष्ट दिखायी देती है। ध्वनिकार ने इसीलिये कहा है—

'अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तनिमित्तिभावाद्वा अभिधीय-मानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धः तदाऽभिधीयमानप्रतीयमानयोः सम-मेव प्राधान्यम्।' (ध्वन्यालोक : १ म उद्योत)

जिसका संकेत यह है कि अप्रस्तुतप्रशंसादि वाच्यालङ्कारवर्ग 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य-प्रकार में अन्तर्भूत हैं क्योंकि वाच्य और व्यङ्ग्य के समान प्राधान्य में ध्वनिकाव्य की रूप-रेखा नहीं बना करती। किन्तु अप्रस्तुतप्रशंसादि वाच्यालङ्कारों से अतिरिक्त भी 'समप्राधान्यव्यङ्ग्य' का

(६ठ भेद–अस्फुटव्यङ्ग्य)

'सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।
अल्लावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः॥'

अत्राल्लावदीनाख्ये नृपतौ दानसामादिमन्तरेण नान्यः प्रशमोपाय इति व्यङ्ग्यं व्युत्पन्नानामपि झटित्यस्फुटम्।

(७ म भेद—अगूढव्यङ्ग्य)

'अनेन लोकगुरुणा सतां धर्मोपदेशिना।
अहं व्रतवती स्वैरमुक्तेन किमतः परम्॥'

अत्र प्रतीयमानोऽपि शाक्यमुनेस्तिर्यग्योषिति बलात्कारोपभोगः स्फुटतया वाच्यायमान इत्यगूढम्।

क्षेत्र है–इसके निदर्शन में काव्यप्रकाशकार ने एक सूक्ति (ब्राह्मणातिक्रमत्यागः) ढूंढ़ी थी। यही सूक्ति विश्वनाथ कविराज को भी मिली है। संभवतः ऐसी रचनायें बहुत विरल हैं क्योंकि जान-बूझकर 'समप्राधान्यव्यङ्ग्य' काव्य की रचना महाकवि का काम नहीं!

अनुवाद—'अस्फुटव्यङ्ग्य'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य वह काव्य है जहाँ का व्यङ्ग्यार्थ (सहृदय काव्य-पाठक के लिये भी) अस्फुट–अस्पष्ट–रहा करता है। जैसे कि—

'सन्धि हो तो सर्वस्व चला जाय और विग्रह हो तो प्राणों के भी लाले पड़ जायँ! बादशाह अलाउद्दीन (खिलजी) के साथ सन्धि क्या और विग्रह क्या!'

यहाँ 'अस्फुटव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य है क्योंकि यहाँ का यह व्यङ्ग्यार्थ कि 'साम और दान आदि को छोड़कर बादशाह अलाउद्दीन को प्रसन्न करने का और कोई उपाय नहीं', कुछ ऐसा है जिसे परिपक्वबुद्धि काव्य-प्रेमी अविलम्ब और स्पष्टरूप से नहीं समझ सकते।

विमर्श—'ध्वनि' के समस्त भेद-प्रभेद प्रधानतया अवस्थित व्यङ्ग्यार्थ के स्फुटावभासन पर ही निर्भर हैं। व्यङ्ग्यार्थ यदि अस्फुट हो गया तो वाच्य–चारुत्व का आकर्षण बढ़ गया! तभी तो ध्वनिकार ने कहा है—

'सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम्।
यद्व्यङ्ग्यस्याङ्गिभूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम्॥'

और लोचनकार ने भी दुहराया है—

'अवभासमानं व्यङ्ग्यं ध्वनिलक्षणं ध्वनेः स्वरूपं पूर्णम्, अवभासनं वा ज्ञानं तद्ध्वनेर्लक्षणं प्रमाणं, तच्च पूर्णं पूर्णध्वनिस्वरूपनिवेदकत्वात्।' (ध्वन्यालोकलोचन : २य उद्योत)

अर्थात् स्फुट रूप से प्रतीत व्यङ्ग्यार्थ में ही ध्वनि की रूप-रेखा पूर्णतया खींचा करती है। वस्तुतः व्यङ्ग्य की अनुभूति ही ध्वनि में प्रमाण है क्योंकि तभी ध्वनि की पूर्ण रूप-रेखा का पता चला करता है।

अनुवाद—'अगूढव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य वह है जहाँ का व्यङ्ग्यार्थ गूढ नहीं प्रतीत होता। जैसे कि—

'मेरा पातिव्रत्य तो सद्धर्म के उपदेशक और लोकगुरु बने इन शाक्यमुनि के साथ निभ चुका है। अब इसके आगे और कुछ कहना-सुनना मैं नहीं चाहती।'

यहाँ 'अगूढव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य है क्योंकि शाक्यमुनि का किसी नीच स्त्री के

(८ म भेद : असुन्दरव्यङ्ग्य)

'वाणीरकुडङ्गुड्डीणसउणिकोलाहणं सुणन्तीए।
घरकम्मवावडाए बहुए सीअन्ति अङ्गाइं॥'
(वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि॥)

अत्र दत्तसंकेतः कश्चिल्लतागृहं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यात् 'सीदन्त्यङ्गानि' इति वाच्यस्य चमत्कारः सहृदयसंवेद्य इत्यसुन्दरम्।

साथ बलात्कार करने का जो अभिप्राय यहाँ अभिव्यक्त हो रहा है वह वाच्यार्थ की भाँति सभी के लिये स्पष्ट है।

विमर्श—सभी ध्वनिवादी आलङ्कारिक व्यङ्ग्य की गूढ़ता अथवा सहृदय-मात्र-संवेद्यता पर जोर देते आ रहे हैं। किसी आलङ्कारिक कवि ने व्यङ्ग्य की गूढ़ता को लक्ष्य में रखकर बड़ा सुन्दर कहा है—

'अनुद्घुष्टः शब्दैरथ च घटनातः स्फुटतरः
पदानामर्थात्मा रमयति न तूत्तानितरसः।
यथादृश्यः किञ्चित् पवनचलचीनांशुकतया
कुचाभोगः स्त्रीणां हरति न तथोन्मुद्रितमुखः॥'

अनुवाद—'असुन्दरव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य वह है जहाँ का व्यङ्ग्यार्थ सुन्दर नहीं लगा करता। जैसे कि—

'वानीर (बेंत के) कुंज से उड़नेवाले पक्षियों की फड़फड़ाहट सुनकर, घर के काम-काज में लगी नवेली के अंग-अंग ढीले पड़ते दीख रहे हैं!'

यहाँ 'असुन्दरव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य है क्योंकि 'सीदन्त्यङ्गानि' अर्थात् अङ्ग-अङ्ग की अवसन्नता अथवा आकुलता का वाच्यार्थ, जैसा कि सहृदयों का अनुभव है, जितना सुन्दर लग रहा है उतना यह व्यङ्ग्यार्थ कि 'प्रेममिलन के पूर्वसंकेतानुसार कोई प्रेमी वानीर-कुञ्ज में आ पहुँचा है' कदापि नहीं लग रहा।

विमर्श—'असुन्दरव्यङ्ग्य' गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के निदर्शनरूप से काव्यप्रकाशकार ने भी यही सूक्ति उद्धृत की है। इस सूक्ति में व्यङ्ग्य के असौन्दर्य और वाच्य के आपेक्षिक सौन्दर्या-धिक्य का, प्रदीपकार के शब्दों में, यह विश्लेषण है—

'अत्र दत्तसंकेतः कश्चिल्लतागहनं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यम्। तस्माद् वाच्यं चमत्कारकारि। शब्दश्रवणसमकालमेव सर्वाङ्गावसादसंतन्यमानतारूपस्य तस्यातिसौन्दर्यादुत्कण्ठाति-शयपर्यवसन्नत्वात्।' (काव्यप्रदीप : ५म उल्लास)

अर्थात् 'वानीरकुञ्ज' आदि में यह व्यङ्ग्यार्थ निकल पड़ता है कि 'कोई प्रेमी लतानिकुञ्ज में प्रतीक्षा करने आ पहुँचा है' किन्तु इस व्यङ्ग्यार्थ में प्रेमिका की उत्कण्ठा को अभिव्यक्त करने का उतना सामर्थ्य नहीं जितना कि यहाँ के अङ्गावसादवर्णनरूप वाच्यार्थ में है। वाच्यार्थ का सौन्दर्य यदि ऊपर उठ जाय तो व्यङ्ग्यार्थ अपेक्षया असुन्दर ही रह जायगा।

ध्वनिकार ने भी 'वानीरकुञ्ज' आदि सूक्ति को गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के ही क्षेत्र में देखा है—

'एवंविधो हि विषयः प्रायेण गुणीभूतव्यङ्ग्यस्योदाहरणत्वेन निर्देक्ष्यते।'

और लोचनकार ने भी इसी धारणा का समर्थन किया है—

'अत्र (वानीरकुञ्ज इत्यादौ) दत्तसङ्केतचौर्यकामुकरतसमुचितस्थानप्राप्तिर्ध्वन्यमाना वाच्यमेवोपस्कुरुते। तथा हि गृहकर्मव्यापृताया इत्यन्यपराया अपि, वध्वा इति सातिशय-

(गुणीभूतव्यङ्ग्य की अन्यान्य प्रकार-सम्भावना)

किञ्च यो दीपकतुल्ययोगितादिषूपमाद्यलङ्कारो व्यङ्ग्यः स गुणीभूतव्यङ्ग्य एव। काव्यस्य दीपकादिमुखेनैव चमत्कारविधायित्वात्।

यदुक्तं ध्वनिकृता—

'अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।
तत्परत्वं न काव्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः॥'

यत्र च शब्दान्तरादिना गोपनकृतचारुत्वस्य विपर्यासः।

यथा—

'दृष्ट्या केशव ! गोपरागहृतया किंचिन्न दृष्टं मया
तेनात्र स्खलितास्मि नाथ ! पतितां किं नाम नालम्बसे।
एकस्त्वं विषमेषुखिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-
र्गोप्येवं गदितः सलेशमवताद्गोष्ठे हरिर्वश्चिरम्॥'

लज्जापारतन्त्र्यबद्धाया अपि, अङ्गानीत्येकमपि न तादृगङ्गं यद्गाम्भीर्यावहित्थवशेन संवरीतुं पारितम्, सीदन्तीत्यास्तां गृहकर्मसम्पादनं स्वात्मानमपि धर्तुं न प्रभवन्तीति। गृहकर्मयोगेन स्फुटं तथा लक्ष्यमाणानीति। अस्मादेव वाच्यात् सातिशयमदनपरवशताप्रतीतेश्चारुत्वसम्पत्तिः।' (ध्वन्यालोकलोचन : २ य उद्योत)

किन्तु ध्वनिकार और लोचनकार ने यहाँ 'असुन्दर' रूप व्यङ्ग्य का दर्शन नहीं किया। इन दोनों आचार्यों की दृष्टि में यहाँ व्यङ्ग्योपस्कृत वाच्यचारुत्व दिखायी दे रहा है। 'व्यङ्ग्योपस्कृत वाच्यचारुत्व' ध्वनि का विषय नहीं अपि तु 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' में स्थान पाता है। काव्यप्रकाशकार का अनुसरण करते हुये साहित्यदर्पणकार ने यहाँ 'वाच्यचारुत्व' को 'व्यङ्ग्याचारुत्व' अथवा 'असुन्दरव्यङ्ग्य की अवस्थिति' का समरूप मान लिया है जिसमें गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य का 'असुन्दरव्यङ्ग्य' रूप प्रभेद निर्धारित हो जाय।

अनुवाद— गुणीभूतव्यङ्ग्य की उपर्युक्त अष्टविध संभावनाओं के अतिरिक्त अन्य भी संभावनायें हैं जैसे कि दीपक, तुल्ययोगिता आदि-आदि अलङ्कारों में उपमानोपमेयभाव का जो व्यङ्ग्यार्थ है वह गुणीभूतव्यङ्ग्यार्थ ही है क्योंकि दीपकादि अलङ्कार-काव्यों में जो भी चमत्कार है वह वहाँ के अभिव्यङ्ग्य औपम्य के कारण नहीं अपि तु दीपकादिरूप वाच्यविच्छित्ति के ही कारण प्रतीत हुआ करता है। वस्तुतः ध्वनिकार (आचार्य आनन्दवर्धन) का भी यह कहना है—

अन्य अलङ्कार या (दीपकादि) वाच्य अलङ्कारों में किसी व्यङ्ग्य अलङ्कार (जैसे कि उपमादि) की प्रतीति होने पर भी यदि काव्य व्यङ्ग्यपरक अथवा व्यङ्ग्योन्मुख न हो तो उसे 'ध्वनि' नहीं कहा जा सकता (उसे तो गुणीभूतव्यङ्ग्य ही कह सकते हैं)।

'गुणीभूतव्यङ्ग्य' की दूसरी संभावना वह है जिसे किसी व्यङ्ग्यार्थ की निगूढता के चमत्कार का, किसी वाचकपद के प्रयोग द्वारा, 'विपर्यास' (गूढव्यङ्ग्य को अगूढ बना देना) कहा करते हैं। जैसे कि—

'वे मुरली मनोहर कृष्ण आप सबका कल्याण करते रहें, जिनके साथ गोष्ठ में गोपी इस प्रकार श्लिष्ट रूप से वार्तालाप किया करती है—केशव ! 'गोपराग' (गो + पराग) से, गौओं की धूल से, दृष्टि के कलुषित हो जाने के कारण मुझे कुछ दिखायी न पड़ा जिससे मैं यहां भूल पड़ी हूँ; नाथ ! मुझ 'पतिता' को, भूली-भटकी को, अपना सहारा दो, बस

अत्र गोपरागादिशब्दानां गोपे राग इत्यादिव्यङ्ग्यार्थानां सलेशमिति पदेन स्फुटतयावभासः। सलेशमिति पदस्य परित्यागे ध्वनिरेव।

तुम्हीं एक ऐसे हो जो ('विषमेषुखिन्नमनसां सर्वाबलानां गतिः' विषमेषु सङ्कटेषु स्थलेषु खिन्नमनसां क्लान्तचित्तानां सर्वाबलानां सर्वेषामेव बलरहितानां क्षीणां पुंसां वा गतिः) ऊँचे-नीचे रास्तों में गिरे-पड़े और वहाँ से निकलने में असमर्थ लोगों को सहारा देनेवाले हो।'

यहाँ जो काव्य है वह गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य ही है क्योंकि 'गोपराग' आदि (अर्थात् स्खलिताम्, पतिताम् और विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गतिः) पदों से जो व्यङ्ग्यार्थ जैसे कि ग्वाले से प्रेम आदि के अभिप्राय निकल रहे हैं उनकी गूढता का चमत्कार 'सलेशम्' (श्लिष्ट रूप से) इस पद के प्रयोग से अस्तव्यस्त कर दिया गया है। यही सूक्ति 'ध्वनि' काव्य में स्थान पा सकती है यदि यहां से 'सलेशम्' पद हटा दिया जाय!

विमर्श—(क) यहाँ साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाशकार के गुणीभूतव्यङ्ग्य-प्रभेद-निर्णय पर कटाक्ष किया है। काव्यप्रकाशकार ने जब अष्टविध गुणीभूतव्यङ्ग्य-का निरूपण कर दिया तो यह सोच लिया कि ध्वनिकार और लोचनकार द्वारा निर्दिष्ट व्यङ्ग्य के गुणीभाव की सभी संभावनाओं का विश्लेषण हो गया। साहित्यदर्पणकार को काव्यप्रकाशकार की इस 'सोच' पर आपत्ति है क्योंकि उन्होंने ध्वन्यालोक और 'लोचन' में गुणीभूतव्यङ्ग्य की ओर भी संभावनायें देखी हैं जो इन आठ गुणीभूतव्यङ्ग्य-भेदों में नहीं समा पातीं। बात तो बहुत कुछ ठीक है किन्तु गुणीभूतव्यङ्ग्य के सम्बन्ध में ध्वनिदार्शनिकों की मूल धारणा न तो काव्यप्रकाशकार ने अपनायी है और न साहित्यदर्पणकार ने। 'ध्वन्यालोक' और 'ध्वन्यालोकलोचन' न तो 'गुणीभूत-व्यङ्ग्य' को मध्यमकाव्य मानते हैं और न व्यङ्ग्य के गुणीभाव की सीमाओं का निर्धारण करते हैं। यह कार्य तो काव्यप्रकाशकार का किया है और उनके आलोचक साहित्यदर्पणकार ने इसे युक्तियुक्त भी मान लिया है।

(ख) वाच्यालङ्कारों में 'अलङ्कार' रूप अतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ का अन्तर्व्यापन वाच्यालङ्कारों की विशेष सुन्दरता का कारण हुआ करता है। ध्वनिकार ने इसीलिये कहा है—

'वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशानुगमे सति।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते॥' (ध्वन्यालोक : ३. ३६)

और वाच्यालङ्कारों में 'अतिशयोक्ति' की अभिव्यञ्जना को वाच्यालङ्कारों का प्राण सिद्ध किया है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि सर्वत्र वाच्यालङ्कार अतिशयोक्ति-संकीर्ण रहा करते हैं। 'अतिशयोक्ति' की अभिव्यक्ति दो प्रकार से संभव है—१. प्रधानरूप से और २. अप्रधान रूप से। यदि अतिशयोक्ति प्रधानरूप से अभिव्यङ्ग्य है तो काव्य 'अलंकारध्वनि'—अतिशयोक्त्यलङ्कार 'ध्वनि'—काव्य होगा। और यदि अप्रधान रूप से अतिशयोक्ति प्रतीत हो रही है तो काव्य 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' रूप काव्य होगा। यही बात अन्यान्य अलङ्कारों की भी अप्रधान रूप से अभिव्यङ्ग्यता में दिखायी देती है—

'येषु चालङ्कारेषु सादृश्यमुखेन तत्त्वप्रतिलम्भः यथा रूपकोपमातुल्ययोगितानिदर्शनादिषु, तेषु गम्यमानधर्ममुखेनैव यत् सादृश्यं तदेव शोभातिशयशालि भवतीति ते सर्वेऽपि चारुत्वातिशययोगिनस्सन्तो गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यैव विषयाः। समासोक्त्याक्षेपपर्यायोक्तादिषु तु गम्यमानांशाविनाभावेनैव तत्त्वव्यवस्थानाद् गुणीभूतव्यङ्ग्यता निर्विवादैव।··· तदेवं व्यङ्ग्यांशसंस्पर्शे सति चारुत्वातिशययोगिनो रूपकादयोऽलङ्काराः सर्व एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गः।'···तदेवं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः।' (ध्वन्यालोक : ३य उद्योत)

(काव्य की ध्वनिरूपता और गुणीभूतव्यङ्ग्यता : एक अभिज्ञान)

किञ्च। यत्र वस्त्वलङ्काररसादिरूपव्यङ्ग्यानां रसाभ्यन्तरे गुणीभावस्तत्र प्रधानकृत एव काव्यव्यवहारः।

तदुक्तं तेनैव—

'प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः॥' इति।

अर्थात् वाच्यालङ्कारों में व्यङ्ग्यार्थ का अनुप्रवेश एक ऐसा काव्य-सौन्दर्य है जो प्राचीन अलङ्कारवादी आचार्यों की विश्लेषण-बुद्धि में सम्भवतः सर्वथा नहीं समा सका है। वाच्यालङ्कारों की दो श्रेणियाँ हैं—१ली वह, जिसे साधारणतया शोभाशाली वाच्यालङ्कार-श्रेणी कह सकते हैं और २री वह जिसे विशेषतया शोभाशाली वाच्यालङ्कार-वर्ग के रूप में देखा जा सकता है। साधारण शोभाशाली रूपकादि अलङ्कार तो वाच्यालङ्कार-वर्ग में आ जाते हैं किन्तु जो विशेष शोभाशाली अर्थात् व्यङ्ग्यार्थसंस्पर्श से अतिशय रमणीय रूपकादि अलङ्कार हैं वे गुणीभूतव्यङ्ग्यरूप ध्वनि-निष्यन्द के विविध नामरूप हैं।

यहाँ यह स्पष्ट है कि गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के किसी अतिरिक्त वर्ग-निर्देश का कोई अभिप्राय नहीं। किन्तु काव्यप्रकाशकार की आलोचना करने के आवेश में, साहित्यदर्पणकार ने यहाँ भी गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का एक वर्ग-विभाग ही देख लिया है।

(ग) साहित्यदर्पणकार ने 'निगूढ व्यङ्ग्यार्थ' के वाचक पद द्वारा विपर्यास के कारण 'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य' में जो एक अन्य प्रकार की संभावना की है उसका आधार ध्वनिकार की यह उक्ति है—

'शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः॥'

'शब्दशक्त्याऽर्थशक्त्या शब्दार्थशक्त्या वाऽक्षिप्तोऽपि व्यंग्योऽर्थः कविना पुनर्यत्र स्वोक्त्या प्रकाशीक्रियते सोऽस्मादनुस्वानोपमव्यंग्याद् ध्वनेरन्य एवालंकारः। अलक्ष्य-क्रमव्यंग्यस्य वा ध्वनेः सति संभवे स तादृगन्योऽलंकारः।

और इस पर लोचनकार की यह समीक्षा है—

'उभयेति (उभयशक्त्या यथा—दृष्टया केशव गोपरागहृतया इत्यादौ) शब्दशक्ति-स्तावद् गोपरागादिशब्दश्लेषवशात्, अर्थशक्तिस्तु प्रकरणवशात्, यावदत्र राधारमण-स्याखिलतरुणीजनच्छन्नानुरागगरिमास्पदत्वं न विदितं तावदर्थान्तरस्याप्रतीतेः, सलेश-मिति चात्र स्वोक्तिः।' (ध्वन्यालोकलोचन : २य उद्योत)

किन्तु यहाँ यह निर्विवाद है कि 'गुणीभूतव्यंग्य' काव्य का कोई प्रकार-भेद निर्दिष्ट नहीं किया गया। यह सब विश्वनाथ कविराज की अपनी कल्पना है।

अनुवाद—किसी काव्य-प्रबन्ध को ध्वनि-काव्य इसलिए कहा जाया करता है क्योंकि कोई न कोई रस वहाँ प्रधान रूप से अभिव्यङ्ग्य रहा करता है, जहाँ-तहाँ प्रतीत वस्तुध्वनियाँ, अलंकारध्वनियाँ और विविध रसभावादि-ध्वनियाँ तो ऐसे काव्य में, ऐसे प्रधान रूप से आस्वाद्य रस में—गुणीभूत ही रहा करती हैं। वस्तुतः ध्वनिकार का यही ध्वनि-काव्यवाद है जैसा कि इस उक्ति से स्पष्ट है—

वे सभी वस्तु—अलंकार तथा रसभावादिरूप काव्यार्थ जो आपाततः 'गुणीभूत व्यंग्य' हैं, अन्त में रसादिविषयक तात्पर्य के परामर्श से, ध्वनि-काव्य में ही परिणत हो जाया करते हैं।'

यत्र तु—

'यत्रोन्मदानां प्रमदाजनानामभ्रंलिहः शोणमणीमयूखः।
संध्याभ्रमं प्राप्नुवतामकाण्डेऽप्यनङ्गनेपथ्यविधिं विधत्ते॥'

इत्यादौ रसादीनां नगरीवृत्तान्तादिवस्तुमात्रेऽङ्गत्वम्, तत्र तेषामतात्पर्यविषयत्वेऽपि तैरेव गुणीभूतैः काव्यव्यवहारः। 'तदुक्तमस्मद्गोत्रकविपण्डितमुख्यश्रीचण्डीदासपादैः—वाक्या (काव्या) र्थस्याखण्डबुद्धिवेद्यतया तन्मयीभावेनास्वाददशायां गुणप्रधानभावावभासस्तावन्नानुभूयते, कालान्तरे तु प्रकरणादिपर्यालोचनया भवन्नप्यसौ न काव्यव्यपदेशं व्याहन्तुमीशः, तस्यास्वादमात्रायत्तत्वात्' इति।

यह उक्ति ध्वनिविषय एक अभिज्ञान है। इसे ध्यान में रखने पर 'गुणीभूतव्यंग्यकाव्य' का स्वरूप स्पष्टतया पहचाना जा सकता है। जैसे कि ऐसी सूक्ति अर्थात्—

'वह ऐसी नगरी थी जहाँ की यौवन-मदमाती रमणियाँ, अपने-अपने अभ्रंकष-भवनों में जड़े लाल मणियों के किरणकलापों से, बिना संध्या के समय के ही संध्या-समय के भ्रम में पड़ कर अपने प्रेमियों से प्रेममिलन के लिए, वेशभूषा का साज-शृङ्गार करने में प्रवृत्त हो जाया करती थीं।'

इत्यादि को, यहाँ अभिव्यंग्य रसभावादि के आधार पर ध्वनि-काव्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि यहाँ का अभिव्यंग्य रसभावादि नगरीवर्णन का अङ्ग बना है। वैसे ऐसी सूक्तियों में यह स्पष्ट है कि रसभावादि का गुणीभाव कविविवक्षित नहीं किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि ये सूक्तियाँ चित्रकाव्य हैं। इन्हें गुणीभूतव्यंग्य-काव्य ही कहना ठीक है क्योंकि रसभावादि की अंगता तो प्रतीत ही हो रही है।

इस सम्बन्ध में हमारे सगोत्र, कवि-पण्डितप्रवर, श्रीचण्डीदास की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'काव्यार्थ तो 'अखण्ड बुद्धि' अथवा एकघन प्रतिभासरूप संवेदन का विषय हुआ करता है। इसी में सहृदयहृदय तन्मयता रखा करता है जिससे उसे आनन्द-चमत्कार मिला करता है। इस काव्यार्थ के आनन्दानुभव के समय, 'क्या प्रधान है और क्या गौण है' का अनुभव कैसे हो सकता है? अब यदि आनन्दानुभव के बाद कभी प्रकरणादि की आलोचना-प्रत्यालोचना से 'क्या प्रधान है और क्या अप्रधान है' का पता चले भी तो उससे 'काव्य-प्रबन्ध' के स्वरूप-संस्थान की क्या क्षति? काव्य का निर्णय तो प्रकरणादि-पर्यालोचना के पहले ही, आस्वादानुभवमात्र से हो चुका होता है।

विमर्श—(क) 'ध्वनि' और 'ध्वनि-निष्यन्द' का विवेक अत्यन्त आवश्यक है 'ध्वनि काव्य का आत्मतत्त्व है' इसका यह अभिप्राय नहीं कि सर्वत्र ध्वनिदर्शन ही किया जाय। 'ध्वनि' और 'ध्वनि-निष्यन्द' (गुणीभूतव्यंग्य) का विश्लेषण युक्ति द्वारा ही किया जा सकता है—

'प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते।
विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनियोजना॥'
(ध्वन्यालोक : ३-३९)

यह 'युक्ति' क्या है? यह युक्ति 'चारुत्वप्रतीति' है—

'चारुत्वप्रतीतिरेवात्र युक्तिः' (ध्वन्यालोकलोचन : ३ य उद्योत)

अर्थात् व्यङ्ग्यचारुत्व के प्राधान्य और वाच्यचारुत्व के अप्राधान्य में तो 'ध्वनि' काव्य

(काव्यप्रकाशकार-सम्मत तृतीय काव्यभेद-चित्रकाव्य-का खण्डन)

केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यभेदमिच्छन्ति ।

तदाहुः—

'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ।' इति ।

तन्न, यदि हि अव्यङ्ग्यत्वेन व्यङ्ग्याभावस्तदा तस्य काव्यत्वमपि नास्तीति

का स्वरूप-दर्शन करना चाहिए और व्यङ्ग्यचारुत्व की अपेक्षा वाच्य-चारुत्व के अधिक चमत्कार में 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य की झाँकी देखी जानी चाहिए ।

वस्तुतः 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' और 'ध्वनि' के क्षेत्र परस्पर संकीर्ण हैं । इनका रेखा-विभाजन सरल नहीं । केवल 'चारुत्व प्रतीति' की डोर से एक को दूसरे से यथास्थान पृथक् किया जा सकता है अन्यथा नहीं ।

(ख) 'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य भी रसभावादितात्पर्यपरामर्श में ध्वनिरूप हो जाता है'—यह ध्वनिकार की मान्यता है । ध्वनिकार की दृष्टि में यह एक सुन्दर निदर्शन 'न्यक्कारो ह्ययमेव' आदि सूक्ति है जिसमें विश्वनाथ कविराज ने 'विधेयाविमर्श दोष' का दर्शन कर लिया है । ध्वनिकार का स्पष्ट कथन है—

'एवं स्थिते च न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादिश्लोकनिर्दिष्टानां पदानां व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्यप्रतिपादनेऽप्येतद्वाक्यार्थीभूतरसापेक्षया व्यञ्जकत्वमुक्तम् । न तेषां पदानामर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिभ्रमो विधातव्यः, विवक्षितवाच्यत्वात्तेषाम् । तेषु हि व्यङ्ग्यविशिष्टत्वं वाच्यस्य प्रतीयते न तु व्यङ्ग्यरूपपरिणतत्वम् । तस्माद् वाक्यं तत्र ध्वनिः, पदानि तु गुणीभूतव्यङ्ग्यानि । न च केवलं गुणीभूतव्यङ्ग्यान्येव पदान्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनेर्व्यञ्जकानि यावदर्थान्तरसंक्रमितवाच्यानि ध्वनिप्रभेदरूपाण्यपि । यथाऽत्रैव श्लोके 'रावण इत्यस्य प्रभेदान्तररूपव्यञ्जकत्वम् ।' (ध्वन्यालोक : ३ य उद्योत)

अर्थात् रसतात्पर्यपरामर्श में तो 'न्यक्कारो ह्ययमेव' आदि सूक्ति एक रसध्वनि-सूक्ति है किन्तु वैसे यहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य की समस्त सुन्दरता दिखायी दे रही है । 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' का 'ध्वनि' में पर्यवसान कोई आश्चर्य क्या ? यहाँ पदार्थों में गुणीभूतव्यङ्ग्यता विराज रही है किन्तु वाक्यार्थ में रसध्वनि की अनुभूति हो रही है । इस एक दृष्टान्त से सम्पूर्ण काव्य-प्रबन्ध की ध्वनिरूपता और उसके अङ्गों की यथास्थान गुणीभूतव्यङ्ग्यता निर्विवाद सिद्ध हो जाती है ।

(ग) परस्पर संकीर्ण होने पर भी 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' का एक अभिज्ञान है और वह यह है जैसा कि ध्वनिकार ने ही निर्दिष्ट किया है—

'यत्र तु वाक्ये रसादितात्पर्यं नास्ति गुणीभूतव्यङ्ग्यैः पदैरुद्भासितेऽपि तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यतैव समुदायधर्मः ।' (ध्वन्यालोक : ३ य उद्योत)

अर्थात् जहाँ व्यङ्ग्यार्थविशिष्ट पदों का चारुत्व अपने आप में समाप्त होने लगे वहाँ जो काव्य होगा वह 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' रूप ही होगा । चाहे कहीं गुणीभूतव्यङ्ग्य पदों से कितना भी व्यङ्ग्य उद्भासित क्यों न हो यदि वहाँ रसादितात्पर्यशून्यता हुई तो काव्य 'गुणीभतव्यङ्ग्य' रहा करेगा ।

अनुवाद—कतिपय काव्याचार्य (जैसे कि काव्यप्रकाशकार मम्मट आदि) काव्य का 'चित्र' नामक एक और प्रकार भी माना करते हैं जिसके सम्बन्ध में यह कहा करते हैं—

'काव्य का अवर (अधम) संज्ञक एक और भी प्रकार है जो कि 'अव्यङ्ग्य' प्रतीत हुआ करता है और शब्दचित्रण अथवा अर्थचित्रणरूप ही दिखायी दिया करता है ।'

किन्तु, यह चित्रकाव्य-वाद युक्तियुक्त नहीं । क्यों ? इसलिये कि यदि शब्दार्थ-

प्रागेवोक्तम्। ईषद्व्यङ्ग्यत्वमिति चेत्, किं नामेषद्व्यङ्ग्यत्वम्? आस्वाद्यव्यङ्ग्यत्वम्, अनास्वाद्यव्यङ्ग्यत्वं वा? आद्ये प्राचीनभेदयोरेवान्तःपातः। द्वितीये त्वकाव्यत्वम्। यदि चास्वाद्यत्वं तदाऽक्षुद्रत्वमेव क्षुद्रतायामनास्वाद्यत्वात्।

तदुक्तं ध्वनिकृता—

'प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
उभे काव्ये ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते॥' इति।

इति साहित्यदर्पणे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याख्यकाव्यभेदनिरूपणो नाम चतुर्थः परिच्छेदः।



युगल के 'अव्यङ्ग्य' होने का अभिप्राय, उसमें 'व्यङ्ग्य का अभाव' माना गया तब ऐसा शब्दार्थ-युगल जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है। (चित्र भले ही हो) काव्य क्योंकर होने लगे! अब यदि इस आपत्ति के बचाव के लिये, शब्दार्थयुगल के 'अव्यङ्ग्य' होने का तात्पर्य 'किञ्चिन्मात्रव्यङ्ग्य' (ईषदर्थक नञ्) बताया जाय, तब यह भी बताना पड़ेगा कि 'किञ्चिन्मात्रव्यङ्ग्य' का क्या रहस्य है? क्या शब्दार्थयुगल के 'किञ्चिन्मात्रव्यङ्ग्य' होने का अभिप्राय उसके यत्किञ्चिद्रूप व्यङ्ग्य का अनुभवयोग्य होना है या शब्दार्थयुगल के 'किञ्चिन्मात्रव्यङ्ग्य' होने का रहस्य उसके यत्किञ्चिद्रूप व्यङ्ग्य का अनुभवायोग्य रहना है? यदि शब्दार्थयुगल का यह 'किञ्चिन्मात्रव्यङ्ग्य' अनुभव के योग्य (आस्वाद्य) माना गया तब तो यह शब्दार्थयुगल या तो 'ध्वनि' काव्य में अन्तर्भूत हो गया या 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य हो गया। अब यदि शब्दार्थयुगल के इस 'किञ्चिन्मात्रव्यङ्ग्य' को अनुभव के अयोग्य (अनास्वाद्य) समझा जाय तब तो यही कहा जायगा कि ऐसा शब्दार्थयुगल काव्य ही नहीं हो सकता! साथ ही साथ यहाँ यह बात भी तो है कि किसी शब्दार्थयुगल के व्यङ्ग्य रूप अर्थ को, एक ही सांस में, 'आस्वाद्य' और 'ईषत्' (क्षुद्र) कहना उचित नहीं। क्यों कि यदि यह व्यङ्ग्यरूप अर्थ 'आस्वाद्य' अथवा 'अनुभवविषय' हुआ तब 'ईषत्' (क्षुद्र) क्यों होने लगे? व्यङ्ग्य का 'ईषत्' (क्षुद्र) होना तो उसके 'अनास्वाद्य' अथवा अनुभव के अविषय वस्तुतः अकाव्यप्रयोजक होने के बराबर है? तभी तो ध्वनिकार का यह सिद्धान्त निकलता है—

'व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य और अप्राधान्य ही शब्दार्थयुगल की काव्यता के प्रयोजक हैं। जिस शब्दार्थयुगल में व्यङ्ग्यार्थ प्रधान हो वह 'ध्वनि' रूप और जिसमें व्यङ्ग्यार्थ अप्रधान हो वह 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' रूप काव्य माना जाया करता है। इन दो काव्य-प्रकारों के अतिरिक्त जो भी शब्दार्थयोजना है (जिसमें व्यङ्ग्य के प्राधान्य अथवा अप्राधान्य की कोई सम्भावना नहीं, अपितु शब्द अथवा अर्थ का चित्रणमात्र दिखायी दिया करता है। वह चित्र है (काव्य नहीं)।

विमर्श—(क) ध्वनिकार ने 'व्यङ्ग्यप्रधान' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' रूप शब्दार्थयोजना के अतिरिक्त रसादिरूप 'व्यङ्ग्यरहित' शब्दार्थयोजना की भी रूपरेखा निर्दिष्ट की है—

'प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते॥
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम्॥'

(ध्वन्यालोक : ३.४१,४२)

अभिप्राय यह है कि व्यङ्ग्यार्थप्राधान्य में ध्वनिसंज्ञित काव्यप्रकार और व्यङ्ग्यार्थगुणीभाव में गुणीभूत व्यङ्ग्यात्मक काव्यप्रकार निर्विवाद रूप से सिद्ध हैं। व्यङ्ग्य के प्राधान्य और अप्राधान्य में कविविवक्षा का हाथ रहा करता है। यह तो ठीक है कि व्यङ्ग्य के प्राधान्य और अप्राधान्य की अनुभूति के अतिरिक्त अन्यविध किसी अनुभूति की कोई संभावना नहीं। किन्तु इसमें भी कोई संदेह नहीं कि इस प्रकार की भी रचनायें हुई हैं जिनमें न तो प्रधानरूप से व्यङ्ग्य का प्रकाशन विवक्षित है और न अप्रधानरूप से ही व्यङ्ग्य का प्रत्यायन अभीष्ट है। ऐसी रचनायें क्या हैं? ऐसी रचनाओं को 'अव्यङ्ग्य' रचना अथवा 'व्यङ्ग्यशून्य' रचना कहा जा सकता है। ऐसी रचनायें केवल वाचक-वैचित्र्य अथवा वाच्यवैचित्र्य की ही विवक्षा से की गयी हैं। ऐसा होने से इनका 'अव्यङ्ग्य' अथवा 'व्यङ्ग्यशून्य' होना स्वतःसिद्ध है।

ध्वनिकार की उपर्युक्त कारिकाओं में, इस प्रकार की रचनाओं को 'चित्र' कहा गया है। इनके 'चित्र' रूप होने का अभिप्राय इनका 'रसभावादितात्पर्यरहित' होना किंवा 'व्यङ्ग्यार्थ-विशेषप्रकाशनशक्तिशून्य' होना है। कारिकाओं में तो नहीं, किन्तु 'वृत्ति' में 'काव्य' और 'चित्र' का उद्देश्य-विधेयभाव भी प्रतिपादित है—**'ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थविशेष-प्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्'** (ध्वन्यालोक : ३ य उद्योत)। जिससे यह भ्रम हो सकता है कि 'रसभा-वादितात्पर्यरहित' भी रचना 'काव्य' है जिसे 'चित्र' अथवा 'चित्र-काव्य' कहा जा सकता है। किन्तु इस भ्रम के ही निराकरण में ध्वनिकार ने आगे कह रखा है कि ऐसी रचनाओं के लिये 'काव्य' शब्द का प्रयोग उचित नहीं, क्योंकि ऐसी रचनायें 'काव्य' नहीं अपि तु 'काव्यानुकृति' हैं—**'न तन्मुख्यं काव्यं काव्यानुकारो ह्यसौ'** (ध्वन्यालोक : ३य उद्योत)। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने वस्तुतः रसभावादितात्पर्यरहित शब्दार्थयोजनाओं को 'काव्य' मानकर 'चित्रकाव्य' नहीं कहा है अपि तु 'अव्यङ्ग्य' व्यङ्ग्यशून्य (वस्तुतः रसभावादितात्पर्यरहित) मानकर ही 'चित्र' कहा है और 'अवर' श्रेणी में स्थान दिया है—**'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्'** (काव्य-प्रकाश : १.५)। काव्यप्रकाशकार ने यह अवश्य सोच लिया है कि यदि शब्दचित्र और अर्थचित्र को 'चित्रकाव्य' कहा जाय तो उपचार का ही आश्रय लिया जायगा। मुख्यतया तो 'शब्दचित्र' और 'अर्थचित्र' काव्यानुकृति रूप हैं, काव्याभासभूत हैं। काव्यानुकृतिरूप शब्दार्थयोजना आपाततः सगुण और सालङ्कार भले ही लगे, अन्त में तो यह निश्चित है कि, रसात्मक कदापि नहीं लगेगी।

रसभावाभिनिवेश में की गयी शब्दार्थयोजना तो 'काव्य' की रूप-रेखा में सार्थक हो जाती है किन्तु-वाच्यवाचक-वैचित्र्य प्रदर्शन के आवेश से जो शब्दार्थयोजना की जाया करती है वह काव्यानुकृति में ही समाप्त हो जाती है—

'रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥' (ध्वन्यालोक : ३य उद्योत)

काव्यानुकृति को 'चित्र' अथवा 'आलेख्यप्रख्य' कृति कहने का क्या अभिप्राय? ध्वनि-दार्शनिक आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार 'चित्र' अथवा 'आलेख्य' एक ऐसा कौशल-प्रदर्शन है जिसमें रसवर्णना अथवा रसभावना की खोज निरर्थक है। 'चित्र' अथवा 'आलेख्य' में 'रस'

रूप आत्मतत्त्व नहीं प्रतिफलित हो सकता, इसमें केवल 'शरीर साम्य' ही प्रतिफलित किया जा सकता है। काव्यप्रकाशकार मम्मट की भी यही धारणा है।

(ख) 'शब्दार्थचित्र' अथवा 'काव्यानुकृति' को 'चित्रकाव्य' कहने में ध्वनिकार को बहुत कुछ सोचना-विचारना पड़ा है—

'अथ किमिदं चित्रं नाम? यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शः। प्रतीयमानो ह्यर्थस्त्रिभेदः प्राक् प्रदर्शितः। तत्र यत्र वस्त्वलङ्कारान्तरं वा व्यङ्ग्यं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः। यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न संभवत्येव। यस्मादवस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते। वस्तु च सर्वमेव जगद्गतं कस्यचिद्रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन। चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः, न च तदस्ति वस्तु किञ्चिद् यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति, तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात्। कविविषयश्च चित्रतया कश्चिन्निरूप्यते।

अत्रोच्यते—सत्यं न तादृक् काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः। किंतु यदा रसभावादिविवक्षाशून्यः कविः शब्दालङ्कारमर्थालङ्कारं वोपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षापेक्षया रसादिशून्यताऽर्थस्य परिकल्प्यते। विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः। वाच्यसामर्थ्यवशेन च कविविवक्षाविरहेऽपि तथाविधे विषये रसादिप्रतीतिर्भवन्ती परिदुर्बला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते।'

(ध्वन्यालोक : ३ य उद्योत)

अर्थात् 'काव्य' का अभिप्राय तो रसमयी शब्दार्थयोजना का अभिप्राय है। रसभावरहित रचनायें भला 'काव्य' कहाँ? ये तो 'नीरस' होने से 'चित्र' हैं। इन्हें 'चित्रकाव्य' कहना तो परस्परविरुद्ध बात है। जो 'चित्र' है वह 'काव्य' नहीं हो सकता और जो 'काव्य' है वह 'चित्र' कैसे? रसात्मकता तो काव्य-सामान्य का स्वरूप है। ऐसी कोई रचना जो काव्य-स्वरूप-शून्य हो, काव्य कैसे हो जाय! साथ ही साथ यहाँ यह भी तो है कि संसार की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो किसी-न-किसी रसभाव का, किसी-न-किसी मानवीय चित्तवृत्ति का उद्दीपक न हो जाय। कविमात्र के वर्णन-विषय किसी-न-किसी मनोभाव से प्रेरित, किसी-न-किसी मनोभाव से अनुप्राणित, किसी-न-किसी मनोभाव से अनुस्यूत रहा ही करते हैं। इस प्रकार किसी भी रचना को एकान्ततः रसभाव-शून्य कहना असंभव है—और इस दृष्टि से नीरस से नीरस भी शब्दार्थ योजना 'चित्र' नहीं अपितु काव्य ही मानी और कही जा सकती है। फिर कविकृति के रूप में 'चित्र' रूप कविकृति की निरर्थक कल्पना का क्या अभिप्राय? यहाँ ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि 'काव्य' तो वह शब्दार्थयोजना है जिसमें वस्तु अथवा अलंकाररूप व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हुआ करते हैं और 'चित्र' वह शब्दार्थयोजना है जहाँ 'वस्तु' अथवा 'अलंकार' रूप व्यङ्ग्यार्थ नहीं प्रतीत हुआ करते। क्योंकि तब तो सरसशब्दार्थयोजना में, काव्य-सामान्य में, वस्तुरूप अथवा अलंकाररूप व्यङ्ग्यार्थ को ही परम काव्यार्थ मानना पड़ जायगा और 'काव्य' के इस अध्यात्म-दर्शन, अर्थात्—

'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥'

आदि को तिलाञ्जलि दे देनी पड़ेगी।

फिर कैसी कविकृति 'चित्र' है? यहाँ सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि 'रसानुभूति' यदि साक्षात् नहीं तो परम्परया, सर्वविध काव्य-प्रकार में सम्भव है। केवल 'रसानुभूति' के मापदण्ड पर काव्य का श्रेणी-विभाग असम्भव है और साथ ही साथ काव्य-क्षेत्र में तारतम्य-प्रदर्शन भी निरर्थक है। काव्य के क्षेत्र में 'ध्वनि' और गुणीभूत 'व्यङ्ग्य' की भाँति 'चित्र' का

भी सीमानिर्देश किया ही जाना चाहिए। यह सीमानिर्देश 'कविविवक्षा' की ही ओर से किया जा सकता है न कि 'सहृदयानुभूति' की ओर से। कवि एक परम स्वतन्त्र प्राणी है, विशृङ्खल जीव है। जैसे यह 'रसविवक्षा' से शब्दार्थ योजना किया करता है वैसे ही शब्दार्थ-चित्रण की प्रेरणा से भी शब्दार्थ योजना किया करता है। काव्यार्थ वह नहीं जिसे हम समझा करें अपितु वह है जो कवि के मन में है। यदि कवि ने चित्रण की प्रेरणा से रचना की है तो उसमें हमें 'चित्र' का दर्शन करना पड़ेगा न कि रस की गन्ध सूँघनी होगी। ऐसी 'चित्रकृति' रूप शब्दार्थ-योजना को यदि रसादिशून्य कहा जाय तो क्या आपत्ति ? यदि ऐसी शब्दार्थयोजना में, कवि-विवक्षा के बिना भी, शब्दार्थ-सामर्थ्य से, रसादि का कोई दूरतः अनुभव हुआ भी तो वह अनुभव सबल नहीं अपितु अतिदुर्बल ही अनुभव होगा और इस दृष्टि से भी ऐसी शब्दार्थ-योजना को 'नीरस' कहा जाय तो क्या आपत्ति ! अर्थात् सहृदय की अनुभूति की दृष्टि से हो या न हो, कवि की विवक्षा की दृष्टि से, कतिपय कविकृतियाँ 'चित्र' ही हैं और जब कि ये रचनायें कविकृति अथवा कविकर्म हैं तो इन्हें 'चित्र-काव्य' कहने में क्या आपत्ति ?

महाकवियों ने भी 'चित्र-काव्य' की रचनायें की हैं किन्तु उनके काव्य-प्रबन्धों की एकघन अनुभूति में 'चित्र' की अनुभूति विलीन हो जाती है और काव्य का आनन्द-चमत्कार ही अवशिष्ट रह जाता है। प्रबन्धध्वनि की अनुभूति के बाद प्रतिपद विचार-विमर्श में 'चित्र-काव्य' का अनुभव यदि हो रहा है तो उसे मानना ही पड़ेगा। प्राथमिक अथवा आभ्यासिक कवि जिस प्रकार की शब्दार्थयोजना से काव्य-रचना का अभ्यास किया करते हैं वह शब्दार्थयोजना 'चित्रकाव्य' ही है न कि ध्वनि अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य।

(ग) कविकृतियों में एक प्रकार की कविकृति को 'चित्रकाव्य' मानना विश्वनाथ कविराज के लिये अक्षम्य है क्योंकि इनके अनुसार रसात्मक ही वाक्य काव्य हो सकता है, नीरस नहीं। बात तो ठीक है किन्तु यहां ऐसा पता चलता है कि विश्वनाथ कविराज ने, काव्यप्रकाशकार मम्मट के खण्डन के आवेश में, अपनी ही यह उक्ति—

'ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिनां केषाञ्चिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं न स्यादिति चेत् ? न, रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन, प्रबन्धरसेनेव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात्। यत्तु नीरसेष्वपि गुणाभिव्यञ्जकवर्णसद्भावाद् दोषाभावादलङ्कारसद्भावाच्च काव्यव्यवहारः स रसादिमत्काव्यबन्धसाम्याद्गौण एव।' (साहित्यदर्पण : १म परिच्छेद)

विस्मृत हो गयी है। यहाँ विश्वनाथ कविराज ने रसमय प्रबन्धों में नीरस वाक्यकदम्बों को 'चित्र'रूप में देखा है और इन्हें उपचारतः 'काव्य' भी कहा है। अब 'काव्यप्रकाश'कार द्वारा निर्दिष्ट 'अवर' शब्दार्थयुगल, किस प्रकार 'नीरस' किन्तु उपचारतः 'काव्य' पद से संकेतित, साहित्य-दर्पणकार-सम्मत उपर्युक्त शब्दार्थयुगल से भिन्न वस्तु है, यह नहीं बताया जा सकता। सरस पद्य की कल्पना तो ठीक ही है किन्तु सरस पद्य में 'नीरस' पद की कल्पना विचित्र है। यदि यहाँ उपचार का आश्रय प्रतीत होता है क्योंकि बिना ऐसा हुये 'पद' को नीरस कहना असंभव है तो अव्यङ्ग्य शब्दार्थयुगल को उपचारतः 'काव्य' कहने में क्या आपत्ति ? वैसे काव्यप्रकाशकार ने यह नहीं कहा कि व्यङ्ग्यार्थशून्य शब्दार्थयुगल को उपचारतः 'अवरकाव्य' कहना चाहिये किन्तु 'अवर' का विशेषण इसी का सूचक है। विश्वनाथ कविराज के अनुसार 'चित्रकाव्य' पद तो खटकता है किन्तु 'गौणकाव्य' पद उचित प्रतीत होता है। ध्वनिवादी काव्याचार्यों ने चित्रालङ्कार के साम्य पर अव्यङ्ग्य-काव्यबन्धों को 'चित्रकाव्य' कह रखा है। विश्वनाथ कविराज को भी काव्य-साहित्य के क्षेत्र में 'चित्र-काव्य' सी किसी वस्तु का आभास तो जहाँ-तहाँ अवश्य हो रहा है किन्तु काव्यप्रकाशकार के सिद्धान्त के खण्डन के आवेग में इस नाम पर बड़ी आपत्ति है।

यहाँ ऐसा समझना सर्वथा समञ्जस लगता है—अलङ्कारवाद की दृष्टि से तो समस्त काव्य-प्रबन्ध 'चित्रकाव्य' की ही श्रेणी में आते हैं। यह तो ध्वनि-दृष्टि की महिमा है कि 'चित्र-काव्य' के व्यापक क्षेत्र में रसात्मक काव्य का स्वर्गीय दृश्य भी दिखायी देने लगता है जिसके चतुर्दिक् गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य की हरी-भरी भूमि पड़ी रहा करती है। चित्र-काव्य का अखण्ड साम्राज्य रस के नियन्त्रण में आकर बहुत संकुचित हो जाता है। ध्वनि-काव्य के क्षेत्र में सहृदय कवि विचरते दिखायी देते हैं, गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य का क्षेत्र विदग्ध कवियों का क्षेत्र है और चित्र-काव्य के क्षेत्र में आभ्यासिक रचनाकार अथवा परिपक्वबुद्धि भी विशृङ्खल कवि अपना-अपना कौशल प्रदर्शित किया करते हैं। चित्र-काव्य वस्तुतः काव्य की प्रतिकृति अथवा अनुकृति रूप हैं। अनुकृति अथवा प्रतिकृति-लेखन में आन्तरिक तत्त्व की रूप-रेखा अप्रकाशित रह जाती है और जो कुछ भी प्रकाशित हो पाता है वह बाह्य संस्थान-रूप ही हुआ करता है। 'ध्वनि' और उसके निस्यन्दभूत 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' रूप 'काव्य' में शब्द और अर्थ का वर्णिकाभङ्ग एक आपातरम्य चमत्कार अवश्य है किन्तु इसके दर्शन में सहृदय सामाजिक को वह पारमार्थिक सुख और सन्तोष नहीं मिला करता जो कि मूल अथवा अनुकार्यरूप रसमय काव्यों के अनुभव में संभव है।

ध्वनि-दर्शन की मान्यता के रहते 'चित्रकाव्य' की मान्यता अनुषङ्गतः आवश्यक हो जाती है। काव्यप्रकाशकार की यही दृष्टि थी। साहित्यदर्पणकार ने इसे क्यों नहीं अपनाया? इसका एक ही कारण प्रतीत होता है और वह है काव्यप्रकाशकार की आलोचना का आवेश।

साहित्यदर्पण का चतुर्थ परिच्छेद समाप्त



पञ्चमः परिच्छेदः

(व्यञ्जनावृत्ति : स्वरूप-निर्देश)

अथ केयमभिनवा व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते—

वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानाम् ।
अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम् ॥ १ ॥

(व्यङ्ग्यार्थावबोध में 'अभिधा' का असामर्थ्य)

अभिधायाः संकेतितार्थमात्रबोधनविरताया न वस्त्वलङ्काररसादिव्यंग्य-बोधने क्षमत्वम् । न च संकेतितो रसादिः । नहि विभावाद्यभिधानमेव तद-भिधानम्, तस्य तदेकरूप्यानङ्गीकारात् । यत्र च स्वशब्देनाभिधानं तत्र प्रत्युत

अनुवाद—अब यह बताना आवश्यक है कि यह 'व्यञ्जना' नाम की नयी, अभिप्राय प्रकाशिका 'वृत्ति' क्या है और कैसी है । (क्योंकि बिना व्यञ्जना-विमर्श के 'व्यङ्ग्यप्रधान' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' रूप से, शब्दार्थयुगल का द्विविध काव्य-प्रकार में विभाजन क्योंकर संभव हो ?) ।

(साथ ही साथ) रसभावादि की अनुभूति के विश्लेषण के लिए मानना अत्यावश्यक है कि 'व्यञ्जना' नाम की एक नयी वृत्ति है क्योंकि रसभावादि की अनुभूति ऐसी है जहाँ क्या अभिधा, क्या तात्पर्याख्या और क्या लक्षणा सभी वृत्तियां विरतव्यापार (असमर्थ) रहा करती हैं ।

विमर्श—रसास्वाद और रसचर्वणा का अटूट सम्बन्ध है और 'चर्वणा' तथा 'अभिव्यंजना' एक ही वस्तु है (चर्वणा चाऽत्राभिव्यञ्जनमेव, न तु ज्ञापनम् प्रमाणव्यापारवत्, नाप्युत्पादनम्, हेतुव्यापारवत्) (ध्वन्यालोकलोचन : १म उद्योत) । विश्वनाथ कविराज ने यहाँ जो रस के लिये व्यंजना की अनिवार्य मान्यता पर जोर दिया है उसका अभिप्राय यही है कि 'रस'रूप काव्यपरमार्थ में न तो 'अभिधा' का हाथ हो सकता है और न 'लक्षणा' का और न 'तात्पर्यवृत्ति' का ही, क्योंकि विभावादि का साधारणीकरण अभिधा-लक्षणा और तात्पर्यवृत्ति के सामर्थ्य के परे की बात है । 'रचना'रूप प्रतीति के अभ्युदय में व्यञ्जनात्मक ध्वननव्यापार ही समर्थ है क्योंकि इसी से सामाजिक का हृदय कविसमर्पित विषयों में तन्मय हुआ करता है जिससे रसानुभव में पड़ सकनेवाली विघ्नबाधायें दूर हो जाती हैं और 'रस'रूप काव्यार्थ का साक्षात्कार संभव हो जाता है ।

'व्यञ्जना' शक्ति कविता अथवा वस्तुतः कला-सरस्वती की शक्ति है और इसी शक्ति में वह सामर्थ्य है जो महाकवियों की महिमा का प्रकाशन किया करती है—

'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥'

(आनन्दवर्धनाचार्य)

अनुवाद—वस्तु-अलङ्कार किंवा रसभावादिरूप व्यङ्ग्यार्थ के अवबोधन में 'अभिधा' वृत्ति सर्वथा असमर्थ रहा करती है क्योंकि अभिधा का जो भी सामर्थ्य है वह एकमात्र

दोष एवेति वक्ष्यामः। क्वचिच्च 'शृङ्गाररसोऽयम्' इत्यादौ स्वशब्देनाभिधानेऽपि न तत्प्रतीतिः, तस्य स्वप्रकाशानन्दरूपत्वात्।

(अभिहितान्वयवाद-सम्मत तात्पर्यवृत्ति में व्यङ्ग्यावबोधन की अशक्ति)

अभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृता तात्पर्याख्या वृत्तिरपि संसर्गमात्रे परिक्षीणा न व्यङ्ग्यबोधिनी।

संकेतित अर्थ के अववोध में ही क्षीण हो जाया करता है। (वस्तु अलङ्कार किंवा) रसभावादिरूप अभिव्यङ्ग्य अर्थ कुछ इस प्रकार के अर्थ हैं जिन्हें शब्दों का संकेतित अर्थ कहना कदापि संभव नहीं। रसभावादिरूप अर्थ को 'संकेतित' अर्थप्रकार तब कहा जा सकता था जब कि विभावादिरूप वाच्यार्थ की ही भांति रसभावादिरूप अर्थ भी वाच्यार्थ ही हुआ करता। किन्तु बात ऐसी है कि विभावादिरूप वाच्यार्थ और रसभावादिरूप अभिप्राय एकरूप नहीं अपि तु परस्पर भिन्नरूप रहा करते हैं। रसभावादि-वाचक पदों के द्वारा (रति, शृङ्गार आदि पदों के द्वारा) रसभावादि का प्रतिपादन हो भी तो कैसे हो? क्योंकि यदि कहीं ऐसा किया भी जाय तो वह दोष ही होगा, गुण नहीं। रसभाव तो स्वप्रकाशानन्दरूप काव्य-रहस्य है। इसे 'यह शृङ्गार रस है' आदि पदों के प्रयोग से क्योंकर प्रतिपादित किया जा सके? क्योंकि (समुचित रसयोजना-शून्य किसी शब्दार्थसन्दर्भ के लिये) 'यह शृङ्गार रस है' आदि कहने से भी रतिचर्वणा आदि क्योंकर होने लगी!

विमर्श—(क) रसज्ञता का ही दूसरा नाम सहृदयता है। कवि-प्रयुक्त शब्दों का नैसर्गिक चारुत्व उनका रसादिसमर्पणसामर्थ्य ही है और कुछ नहीं। काव्य-शब्दों का रसादिसमर्पण-सामर्थ्य उनका व्यञ्जकताव्यापार है न कि अभिधान-व्यापार। क्यों? इसलिये कि शब्दों का जो भी वाचकताश्रित सौन्दर्य है वह उनके अर्थ की दृष्टि से तो उनकी प्रसादमयता में समाप्त हो जाता है और उनके प्रातिस्विक स्वरूप की दृष्टि से अनुप्रासादि शब्दालङ्कारों में अन्तर्भाव पाया जाता है। रस के साथ शब्दों का वाचकाश्रित सौन्दर्य वस्तुतः उनके व्यञ्जनाश्रित सौन्दर्य में परिणत हो जाया करता है। अभिधा के अतिरिक्त व्यञ्जना तो माननी ही पड़ेगी क्योंकि 'काव्य' और 'रस' का सम्बन्ध, बिना व्यञ्जना के माने, कदापि नहीं समझा-समझाया जा सकता। ध्वनिकार ने इसीलिये कहा है—'यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः। केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयत्वं कथञ्चित्।'

(ध्वन्यालोक : १म उद्योत)

अनुवाद—तात्पर्यवृत्ति भी जिसे अभिहितान्वयवादी (महामीमांसकों के अनुयायी) आलङ्कारिक माना करते हैं, व्यङ्ग्यार्थ के अवबोधन में असमर्थ ही रहा करती है क्योंकि तात्पर्यवृत्ति का जो भी व्यापार है वह एकमात्र 'संसर्ग' अथवा वाक्यघटक पदों के परस्पर सम्बन्ध में ही समाप्त हो जाया करता है।

विमर्श—शब्द का अभिधाव्यापार तो उसके सामान्य स्वरूप अर्थ के अवबोधन का व्यापार है किन्तु लोकयात्रा शब्द के सामान्य स्वरूप अर्थ से नहीं चला करती, उसके लिये तो उसके विशेष स्वरूप अर्थ का अवबोध अपेक्षित है जो कि वाक्यगत पदों का अर्थ है और आकांक्षादि के कारण गुण-प्रधान भाव में परस्पर संवद्ध अर्थ है जिसके अवबोध के लिये 'तात्पर्य-वृत्ति' की मान्यता आवश्यक है। इस तात्पर्यवृत्ति का व्यङ्ग्यार्थ से क्या सम्बन्ध, जब कि उसका

(अभिधा के दीर्घदीर्घतर व्यापार में भी व्यञ्जना का अन्तर्भाव असंभाव्य)

यच्च केचिदाहुः—'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः' इति। यच्च धनिकेनोक्तम्—

तात्पर्याव्यतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम्॥' इति।

तयोरुपरि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इति वादिभिरेव पातनीयो दण्डः।

एवं च किमिति लक्षणाऽप्युपास्या ? दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणापि तदर्थबोधसिद्धेः। किमिति च 'ब्राह्मण ! पुत्रस्ते जातः, कन्या ते गर्भिणी' इत्यादावपि हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम्।

व्यापार पदार्थों के परस्परान्वयमात्र में समाप्त हो जाया करता हैं और व्यङ्ग्यार्थ परस्परान्वित अर्थ से सर्वथा विलक्षण अर्थप्रकार लगा करता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कहा है—

'पदार्थेषु सामान्यात्मसु अभिधाव्यापारः समयापेक्षयार्थावगमनशक्तिर्ह्यभिधा। समयश्च तावत्येव, न विशेषांशे, आनन्त्याद् व्यभिचाराच्चैकस्य। ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्तिः परस्परान्विते 'सामान्यान्यन्यथासिद्धेर्विशेषं गमयन्ति हि' इति न्यायात्।'

'सिंहो माणवकः' इत्यत्र द्वितीयकक्ष्यानिविष्टतात्पर्यशक्तिसमर्पितान्वयबाधकोल्लासानन्तरमभिधातात्पर्यशक्तिद्वयव्यतिरिक्ता तावत्तृतीयैव शक्तिस्तद्‌बाधकविधुरीकरणनिपुणा लक्षणाभिधाता समुल्लसति।' (ध्वन्यालोक लोचन : १ म उद्योत)

अर्थात् जब कि तात्पर्यशक्ति के बाद भी लक्षणा का मानना अनिवार्य हो जाता है तब तात्पर्यशक्ति द्वारा व्यङ्ग्यार्थावबोध की बात असंगत नहीं तो और क्या ?

अनुवाद—यहां कुछ आलङ्कारिकों का यह कहना है कि 'अभिधा'वृत्ति को ही सर्वत्र संचरणशील शब्दशक्ति मान लेने पर 'व्यञ्जना'की अतिरिक्त मान्यता अनावश्यक हो जाती है क्योंकि जब कि अभिधा का यह सिद्धान्त है कि 'अभिधाव्यापार वाण के वेगरूप व्यापार की भांति अतिदीर्घगामी व्यापार है (अर्थात् जसे किसी शक्तिशाली धनुर्धर द्वारा चलाया गया वाण क्या कवचभेद, क्या मर्मभेद और क्या प्राणनाश सब कुछ किया करता है वैसे ही शब्द का सर्वत्र संचरणशील अभिधाव्यापार भी पदार्थबोध, पद-पदार्थ-संसर्गबोध, यहाँ तक कि व्यङ्ग्यार्थ बोध-सब कुछ कर सकता है) तब 'व्यञ्जना' का क्या उपयोग और क्या काम !'

इसी भांति (दशरूपककार) आचार्य धनिक की यह मान्यता है कि 'जो भी ध्वनि अथवा व्यङ्ग्यार्थ है उसके प्रत्यायन के लिये (काव्य-नाट्य की) तात्पर्यवृत्ति ही पर्याप्त है। बात वस्तुतः यह है कि जिसे 'व्यञ्जना'वृत्ति कहा गया है वह तात्पर्यवृत्ति के अतिरिक्त और कोई वृत्ति नहीं, क्योंकि जब कि तात्पर्यवृत्ति के ही द्वारा संसर्गबोध किं वा पार्यन्तिक व्यङ्ग्यार्थबोध दोनों संभव हैं तब तात्पर्यवृत्ति को संसर्ग बोध में ही नियन्त्रित मानना सर्वथा निराधार ही है।'

किन्तु उपर्युक्त दोनों मान्यतायें निरर्थक हैं। वस्तुतः अभिहितान्वयवादी मीमांसाचार्यों की यह मान्यता ही कि 'क्या शब्द, क्या बुद्धि और क्या कर्म तीनों ऐसे हैं कि एक बार यदि कहीं अपना-अपना कार्य कर चुके तो पुनः वहां वे किसी प्रकार का व्यापार नहीं कर सकते' अभिधादैर्घ्यवादी और व्यङ्ग्यबोधसमर्थ तात्पर्यव्यापारवादी आलङ्कारिकों

(दशरूपककार-सम्मत तात्पर्यवृत्ति में भी व्यञ्जना का अन्तर्भाव असंभव)

यत्पुनरुक्तं 'पौरुषेयमपौरुषेयं च वाक्यं सर्वमेव कार्यपरम् , अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तवाक्यवत् । ततश्च काव्यशब्दानां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरे-

---

के सिर पर प्रहार सी करती प्रतीत हो रही है। यदि अभिधा का व्यापार दीर्घदीर्घतर व्यापार माना गया तब ऐसा माननेवाले काव्याचार्यों को तो 'लक्षणा' व्यापार मानना ही नहीं चाहिये ? क्योंकि जो भी लक्षणावृत्तिवेद्य अर्थ है वह सब तो दीर्घदीर्घव्यापारवती अभिधा द्वारा ही वेद्य सिद्ध हो गया ? साथ ही साथ अतिदीर्घ-अभिधाव्यापारवाद की दृष्टि से तो अनेकानेक प्रसङ्गों जैसे कि 'ब्राह्मण ! तुम्हें पुत्र हुआ है और तुम्हारी कन्या को गर्भ रह गया है' आदि-आदि में (मुखप्रसाद और मुखमालिन्य आदि चिह्नों के दर्शन से) हर्ष और शोक का ज्ञान भी अभिधेय ही माना जायगा (जब कि इसे सभी अनुमानतः सिद्ध माना करते हैं) ?

विमर्श—अभिधा का दीर्घदीर्घतर व्यापारवाद अन्विताभिधानवादी मीमांसकों के अनुयायी आलङ्कारिकों का वाद है। इसके उल्लेख के साथ-साथ इसका खण्डन लोचनकार की इन पंक्तियों में स्पष्ट है—

'योऽप्यन्विताभिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति, तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोऽसाविति कुतः ? भिन्नविषयत्वात् । अथानेकोऽसौ ? तद्विषयसहकारिभेदादसजातीय एव युक्तः सजातीये च कार्ये विरम्य व्यापारः शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां पदार्थविद्भिर्निषिद्धः । असजातीये चाऽस्मत्पक्ष एव । अथ योऽसौ चतुर्थकक्षानिविष्टोऽर्थः स एव झटिति वाक्येनाभिधीयत इत्येवंविधं दीर्घदीर्घत्वं विवक्षितं तर्हि तत्र संकेताकरणात् कथं साक्षात् प्रतिपत्तिः ? निमित्तेषु संकेतः, नैमित्तिकस्त्वसावर्थस्संकेतानपेक्ष एवेति चेत्—पश्यत श्रोत्रियस्योक्तिकौशलम् । यो ह्यसौ पर्यन्तकक्षाभाग्यर्थः प्रथमं प्रतीतिपथमवतीर्णः तस्य पश्चात्तनाः पदार्थावगमाः निमित्तभावं गच्छन्तीति नूनं मीमांसकस्य प्रपौत्रं प्रति नैमित्तिकत्वमभिहितम् ।'

(ध्वन्यालोक लोचन : १ म उद्योत)

अर्थात् यदि शब्द का दीर्घदीर्घतर व्यापार मान लिया जाय तब यह बताना आवश्यक हो जायगा कि यह दीर्घदीर्घतर व्यापार एकरूप का हुआ करता है या भिन्न रूप का। इसे एकरूप का तो माना नहीं जा सकता क्योंकि इसके वाच्यरूप विषय से तात्पर्यरूप विषय भिन्न प्रतीत होता है और साथ ही साथ लक्ष्यरूप और व्यङ्ग्यरूप विषय तो भिन्न भिन्न हैं ही। अब इस दीर्घदीर्घतर व्यापार को भिन्नरूप मानना भी उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि तब इस व्यापार में विषयभेद और सहकारिभेद से एकजातीयता न रह पायेगी और यह भिन्नजातीय बन जायगा। भिन्नजातीय दीर्घदीर्घतर व्यापार तो व्यञ्जना-वाद के मानने से ही संगत हो पाता है न कि अभिधादैर्घ्यवाद के मानने में। एक शब्द में भिन्नजातीय व्यापार का यही अभिप्राय है कि उसमें अभिधान शक्ति, लक्षणाशक्ति और अवगमनशक्ति यथासंभव किंवा यथास्थान स्वभावतः है।

यहां अभिधा के दीर्घ व्यापार का अभिप्राय चतुर्थ कक्षा के व्यङ्ग्यार्थ का अविलम्ब अवबोध मानना तो उपहासास्पद है क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ को संकेतित अर्थ नहीं माना गया। यह क्या मानना कि व्यङ्ग्यार्थरूप वाक्यार्थ तो शब्द श्रवण के बाद ही प्रतीत हो जाय और उसके बाद पदार्थबोध को उसका निमित्त समझ लिया जाय ?

अनुवाद—इसके अतिरिक्त (दशरूपककार) आचार्य धनिक का यह भी कथन है—'क्या लौकिक और क्या वैदिक-समस्त वाक्य एकमात्र कार्यपरक हुआ करते हैं क्योंकि

केण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्त्यौपयिकप्रयोजनानुपलब्धेर्निरतिशयसुखास्वाद एव कार्यत्वेनावधार्यते। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायात्' इति। तत्र प्रष्टव्यम्—किमिदं तत्परत्वं नाम, तदर्थत्वं वा, तात्पर्यवृत्त्या तद्बोधकत्वं वा? आद्ये न विवादः, व्यङ्ग्यत्वेऽपि तदर्थतानपायात्। द्वितीये तु—केयं तात्पर्याख्या वृत्तिः, अभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृता, तदन्या वा? आद्ये दत्तमेवोत्तरम्।

द्वितीये तु—नाममात्रे विवादः, तन्मतेऽपि तुरीयवृत्तिसिद्धेः। नन्वस्तु युगपदेव तात्पर्यशक्त्या विभावादिसंसर्गस्य रसादेश्च प्रकाशनम्—इति चेत्? न, तयोर्हेतुफलभावाङ्गीकारात्। यदाह मुनिः—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति। सहभावे च कुतः सव्येतरविषाणयोरिव कार्यकारणभावः? पौर्वापर्यविपर्ययात्।

बिना ऐसा हुए ये सब उसी भाँति अनुपादेय (अप्रमाण) हैं जिस भाँति पागलों की बातचीत हुआ करती है और इसलिये काव्य-वाक्यों का जो रसरूप आस्वाद है उसे वस्तुतः उनका कार्य ही मानना उचित है क्योंकि कवि और सामाजिक (प्रतिपादक और प्रतिपाद्य) दोनों की दृष्टि से, रसास्वाद के अतिरिक्त और कोई भी (धर्मार्थकामरूप) प्रयोजन जो कि उन्हें काव्य के प्रति (काव्य की रचना और रसना के प्रति) प्रेरित किं वा प्रवृत्त कर सके, ढूंढे नहीं मिलता। वस्तुतः कहा भी गया है कि 'जिस अभिप्राय के लिये शब्द का उच्चारण अथवा प्रयोग किया जाय वही अभिप्राय उस शब्द का अभिप्राय है (काव्यशब्द का उच्चारण अथवा प्रयोग यदि रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ के अवबोध के लिये है तो काव्यशब्द का अभिप्राय रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ ही है)।'

किन्तु यह सब भी निरर्थक ही है। क्यों! इसलिये कि पहले तो (काव्य-वाक्य के) 'तत्पर' होने का अभिप्राय स्पष्ट होना चाहिये। काव्यवाक्य का 'तत्पर' (व्यङ्ग्यपर) होना क्या है? क्या इसके 'तत्पर' होने का अभिप्राय सामान्यतः 'तदर्थक' (व्यङ्ग्यार्थक) होना है या तात्पर्यवृत्ति के द्वारा 'तद्बोधक' (व्यङ्ग्यार्थावबोधक) होना है? यदि पहली संभावना मानी जाय अर्थात् काव्य-वाक्य को सामान्यतः 'व्यङ्ग्यार्थपरक' समझा जाय तब तो कोई विवाद नहीं क्योंकि काव्यार्थ का व्यञ्जना-वेद्य होना भी तो व्यङ्ग्यार्थपरक ही होना है। किन्तु दूसरी जो संभावना है अर्थात् तात्पर्यवृत्ति के द्वारा काव्यवाक्य के 'तद्बोधक' (व्यङ्ग्यार्थावबोधक) होने की जो मान्यता है उसमें विवाद खड़ा होता है। विवाद यों है कि यह 'तात्पर्यवृत्ति' (जो कि व्यङ्ग्यार्थावबोधक वृत्ति मानी गयी है) क्या अभिहितान्वयवादी आचार्यों की मान्यता की वृत्ति है? यदि यह 'तात्पर्यवृत्ति' अभिहितान्वयवाद-सम्मत तात्पर्यवृत्ति हो, तब तो इसके द्वारा व्यङ्ग्यार्थावबोध की असंभावना पहले ही बतायी जा चुकी है। और यदि इसे किसी और प्रकार की वृत्ति माना जाय तब तो यही कहना पड़ेगा कि वस्तुतः यह वृत्ति 'व्यञ्जना' वृत्ति का एक नामान्तर है क्योंकि इस 'तात्पर्यवृत्ति'वाद में भी, 'व्यञ्जनावृत्ति'वाद की ही भांति, (रसादिरूप काव्यार्थ-विश्लेषण के लिए), अभिधा, अभिहितान्वयवादसम्मत तात्पर्यवृत्ति और लक्षणा के अतिरिक्त एक चौथी वृत्ति को ही अनिवार्यतः माना जा रहा है।

अब यदि यह कहा जाय कि यह वृत्ति चतुर्थी 'वृत्ति' नहीं, और तात्पर्यवृत्ति भी 'व्यञ्जना' का नामान्तर नहीं अपि तु प्राचीन परम्परा-सम्मत ही वृत्ति है जिसके द्वारा विभावादि संसर्गबोध और रसादिबोध—दोनों साथ ही साथ संभव हैं, तब इसका सीधा उत्तर यह होगा

(लक्षणा में व्यञ्जना का अन्तर्भाव अयुक्तियुक्त)

'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ तटाद्यर्थमात्रबोधविरताया लक्षणायाश्च कुतः शीतत्वपावनत्वादिव्यङ्ग्यबोधकता । तेन तुरीया वृत्तिरुपास्यैवेति निर्विवादमेतत् ।

कि किसी प्रकार की भी तात्पर्यवृत्ति के द्वारा विभावादि-संसर्ग और रसादि का एककालिक बोध नहीं हो सकता क्योंकि कारणरूप से अवस्थित विभावादि संसर्ग-बोध और कार्यरूप से अवस्थित रसादिबोध एक समय में क्योंकर होने लगे ? विभावादिबोध और रसादिबोध में हेतु-फल-भावरूप सम्बन्ध ही दोनों को भिन्नकालिक सिद्ध किया करता है जैसा कि नाट्याचार्य भरतमुनि ने स्पष्ट कहा है—'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव (की हेतुता) से ही 'रस' (रूप फल) की निष्पत्ति हुआ करती है ।'

यहाँ एक और भी बात है और वह यह है कि यदि विभावादिबोध और रसादिबोध जो एक साथ होनेवाला 'बोध' अथवा अनुभव माना जाय तब जैसे किसी जानवर की बायीं और दाहिनी सींग में कोई कार्य-कारणभाव नहीं माना जाया करता वैसे ही यहां भी कोई कार्य-कारणभाव (जैसा कि रस-सूत्र में सिद्ध है) न माना जाना चाहिये और जब कि यहां कोई कार्य-कारणभाव नहीं तब विभावादि और रसादि के बोध की पौर्वापर्य-व्यवस्था किस काम की ?

विमर्श—विश्वनाथ कविराज ने यहां आचार्य धनिकसम्मत तात्पर्यवृत्ति द्वारा रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ के प्रत्यायन को जो खण्डन किया है वह सर्वथा युक्तियुक्त है । आचार्य धनिक ने 'काव्य' और 'रस' में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव का सम्बन्ध न मानकर भाव्यभावकभाव का सम्बन्ध माना था और 'भावना' को काव्य-शब्दों की अतिरिक्त शक्ति न मानकर 'तात्पर्य'वृत्ति द्वारा ही रसरूप काव्यवाक्यार्थ की प्रतीति का सिद्धांत अपनाया था—

'यथा लौकिकवाक्येषु श्रूयमाणक्रियेषु 'गामभ्याज' इत्यादिषु अश्रूयमाणक्रियेषु च 'द्वारं द्वारम्' इत्यादिषु स्वशब्दोपादानात् प्रकरणादिवशाद् बुद्धिसन्निवेशिनी क्रियैव कारकोपचिता काव्येष्वपि क्वचित् स्वशब्दोपादानात् 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' इत्येवमादौ क्वचिच्च प्रकरणादिवशान्नियताभिहितविभावाद्यविनाभावाद्वा साक्षाद् भावकचेतसि विपरिवर्तमानो रत्यादिः स्थायी स्वस्वविभावानुभावव्यभिचारिभिस्तत्तच्छब्दोपनीतैः संस्कारपरम्परया परं प्रौढिमानीयमानो रत्यादिर्वाक्यार्थः । न चापदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्—कार्यपर्यवसायित्वात्तात्पर्यशक्तेः ।' (दशरूपक : ४ थं प्रकाश)

किंतु साधारण वाक्यों में क्रिया का परमार्थ और काव्यवाक्यों में रस का परमार्थ दोनों परस्पर ऐसे विलक्षण हैं कि एक को यदि तात्पर्य कहा गया तो दूसरे को 'व्यंग्य' कहना ही उचित प्रतीत होता है । रस यदि 'व्यंग्य' कहा गया तो 'व्यञ्जनावृत्ति' की मान्यता अनिवार्य हो गयी ।

अनुवाद—(जैसे 'अभिधा' और 'तात्पर्यवृत्ति' में व्यञ्जना का अन्तर्भाव असम्भव है जैसा कि बताया जा चुका है, वैसे ही) लक्षणा में भी व्यञ्जना का अन्तर्भाव युक्तिसंगत नहीं क्योंकि 'गङ्गायां घोषः' आदि लाक्षणिक प्रसङ्गों में जो शैत्य और पावनत्व आदि रूप व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हुआ करता है उसे लक्षणा द्वारा प्रतीत मानना असम्भव है । यहां जब कि लक्षणा केवल 'तट' आदि रूप अर्थ के अवबोध में ही विरतव्यापार हो जाय, जैसा कि स्पष्ट ही है, तब इससे, इस अर्थ से सर्वथा विलक्षण, शैत्य-पावनत्वादिरूप अर्थ का अवबोध क्योंकर होने लगे ?

(वाच्यार्थ और और व्यङ्ग्यार्थ के मौलिक भेदों में व्यञ्जना की मान्यता का बीज)

किंच—

बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम् ।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः ॥ २ ॥

(१—बोद्धृभेद)

वाच्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोर्हि पदतदर्थमात्रज्ञाननिपुणैर्वैयाकरणैरपि सहृदयैरेव च संवेद्यतया बोद्धृभेदः ।

विमर्श—यहां साहित्यदर्पणकार की विचारधारा का यह आधार है—

'यद्विषयो लक्षणाव्यापारो न तद्विषयो ध्वननव्यापारः । न च भिन्नविषययोर्धर्मधर्मिभावः, धर्म एव च लक्षणमित्युच्यते । तत्र लक्षणा तावद्मुख्यार्थविषयो व्यापारः । ध्वननं च प्रयोजनविषयम् । न च तद्विषयोऽपि द्वितीयो लक्षणाव्यापारो युक्तः, लक्षणासामग्र्यभावात् ।'

(ध्वन्यालोकलोचन : १म उद्योत)

अर्थात् 'गङ्गायां घोषः' आदि प्रसंगों में अर्थावबोध के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि यहां लक्षणा का विषय कुछ है और व्यञ्जना का कुछ। लक्षणा का विषय तो 'तट' है और व्यञ्जना का है 'शैत्यपावनत्व' । लक्षणाशक्ति तो 'गङ्गा'पद के अमुख्य अर्थ के उपस्थापन में समर्थ है और व्यञ्जना द्वारा 'शैत्यपावनत्व' आदि वक्तृहृदयगत प्रयोजन का प्रत्यायन हुआ करता है। 'गङ्गा' शब्द में लक्षणा द्वारा शैत्यपावनत्वादि की प्रतिपत्ति नहीं मानी जा सकती क्योंकि शैत्यपावनत्वादि-रूप प्रयोजनों के प्रत्यायन में गङ्गाशब्द बाधित नहीं हुआ करता। लक्षणा तो मुख्यार्थ में जन्म लेती हैं। अबाधित शैत्यपावनत्वादि रूप प्रयोजनभूत अर्थ की प्रतिपत्ति में लक्षणा की क्या संभावना ?

अनुवाद—'व्यञ्जना' को तुरीयावृत्ति मानना इसलिये भी अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों के निम्न भेदों का अपलाप कदापि संभव नहीं। वाच्य और व्यंगय के जो पारस्परिक भेद हैं वे ये हैं—(१) बोद्धृभेद, (२) स्वरूपभेद, (३) संख्याभेद, (४) निमित्तभेद, (५) कार्यभेद, (६) प्रतीतिभेद, (७) कालभेद, (८) आश्रयभेद, (९) विषयभेद और (१) अन्यान्यनिमित्तक भेद ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने ध्वन्यालोक, ध्वन्यालोकलोचन और काव्यप्रकाश की व्यञ्जनासिद्धिविषयक युक्तियों का यहां जो वर्गीकरण किया है वह सर्वथा युक्तियुक्त है। साहित्यदर्पण की यह कारिका संक्षेप में व्यञ्जना-प्रस्थापन का बड़ा सुन्दर विचारसूत्र है ।

अनुवाद—वाच्यार्थ और व्यंगयार्थ का परस्पर भेद सबसे पहले इसलिये सिद्ध है कि वाच्यार्थ के जाननेवाले लोगों से व्यंग्यार्थ के जाननेवाले लोग भिन्न हुआ करते हैं। जब कि वाच्यार्थ के बोद्धा लोग केवल पदपदार्थ-बोध में निपुण 'वैयाकरण' हुआ करते हैं, व्यंगयार्थ के बोद्धा लोगों का, काव्यभावना-निपुण 'सहृदय' कहा जाया करता है ।

विमर्श—यदि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में कोई भेद न होता तो या तो काव्य के सभी सामाजिक पाठक कहे जाते या सहृदय। किन्तु कुछ लोग पाठक कहे जाते हैं और कुछ लोग सहृदय। काव्य के पाठक वे हैं जो उसके वाच्यार्थ से परिचित हो पाते हैं और सहृदय काव्य रसिक वे जिनका मनोमुकुर काव्यार्थ के प्रतिबिम्बन में समर्थ रहा करता है अथवा जो व्यंगयार्थ समझने में निपुण हुआ करते हैं। ध्वनिकार ने इसीलिए कहा है—

'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥'

(२—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का स्वरूपभेद)

'मम धम्मिअ—' इत्यादौ क्वचिद्वाच्ये विधिरूपे निषेधरूपतया, क्वचित् 'निःशेषच्युतचन्दनम्–' इत्यादौ निषेधरूपे विधिरूपतया च स्वरूपभेदः।

(३—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का इयत्ता-भेद)

'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ च वाच्योऽर्थ एक एव प्रतीयते। व्यङ्ग्यस्तु तद्बोद्धादिभेदात् क्वचित् 'कान्तमभिसर' इति, 'गावो निरुध्यन्ताम्' इति, 'नायकस्यायमागमनावसरः' इति, 'संतापोऽधुना नास्ति' इत्यादिरूपेणानेक इति संख्याभेदः।

सोऽर्थो यस्मात् केवलं काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव ज्ञायते। यदि च वाच्यरूप एवासावर्थः स्यात्तद्वाच्यवाचकरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात्। अथ च वाच्यवाचकलक्षणमात्रकृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षणमिवाऽप्रतीतानां गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवासावर्थः।' (ध्वन्यालोक : १. ७)

अर्थात् वाच्यार्थ के बोद्धा और व्यङ्ग्यार्थ के मर्मज्ञ लोगों में बड़ा भेद है। वाच्यार्थ के बोद्धा केवल वाच्यवाचकस्वरूप से परिचित हुआ करते हैं जब कि व्यङ्ग्यार्थ के मर्मज्ञ काव्य-चर्वणा का आनन्द लिया करते हैं।

अनुवाद—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का भेद उनके स्वरूप-भेद से भी सिद्ध है। जैसे कि 'भम धम्मिअ' (भ्रम धार्मिक) आदि प्रसङ्गों में जब कि वाच्यार्थ विधिस्वरूप रहा करता है तब व्यङ्ग्यार्थ निषेध-स्वरूप (निषेधात्मक) प्रतीत हुआ करता है और कहीं, जैसे कि 'निःशेषच्युतचन्दनम्' आदि प्रसङ्गों में जब कि वाच्यार्थ का स्वरूप 'निषेध' है तो व्यङ्ग्यार्थ का स्वरूप 'विधि' हो गया है।

विमर्श—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के स्वरूप-भेद के समर्थन में ध्वनिकार ने बड़ा सुन्दर कहा है—

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥'

(ध्वन्यालोक : १. ४)

अर्थात् जैसे रमणी का लावण्य उसके अलङ्कृत अथवा अनलङ्कृत अङ्ग-प्रत्यङ्ग से सर्वथा भिन्न एक सहृदयलोचनामृत तत्त्व हुआ करता है वैसे ही कविता का व्यङ्ग्यार्थ उसके वाच्यवाचक प्रपञ्च और उस वाच्यवाचकप्रपञ्च के चारुत्व से भी भिन्न एक सहृदय-हृदयसंवेद्य ही अर्थतत्त्व है। कहीं वाच्य विधिरूप से अवस्थित रह जाता है और व्यङ्ग्य प्रतिषेधरूप से अवभासित प्रतीत हुआ करता है। कहीं वाच्य प्रतिषेधात्मक हुआ करता है और व्यङ्ग्य विधिरूप से चमत्कारजनक लगा करता है। भला वाच्य और व्यङ्ग्य में ऐक्य कहां? और अभिधा और व्यञ्जना में अभेद कैसा?

अनुवाद—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का भेद इससे भी सिद्ध है कि जब कि वाच्यरूप अर्थ एकविध (एकसंख्यक) हुआ करता है, व्यङ्ग्यरूप अर्थ अनेकविध (अनेकसंख्यक) हो जाया करता है। जैसे कि 'गतोऽस्तमर्कः' 'सूर्य अस्त हो गया' आदि प्रसङ्गों में ही यदि सायंकालरूप वाच्यार्थ एकविध ही रह गया है तो व्यङ्ग्यार्थ, उन-उन कारणों से, नानाविध हो जाया करता है क्योंकि इससे कहीं यह व्यङ्ग्यार्थ निकलता है कि 'प्रेममिलन की तैयारी कर', कहीं यह कि 'चरती गौओं को इकट्ठा कर' कहीं यह कि 'प्रेमी की आगमनवेला आ पहुँची', कहीं यह कि 'अब गरमी गयी', कहीं कुछ और कहीं कुछ और।

(४—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का निमित्त-भेद)

वाच्यार्थः शब्दोच्चारणमात्रेण वेद्यः, एष तु तथाविधप्रतिभानैर्मल्यादिनेति निमित्तभेदः।

(५—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का प्रभाव-भेद)

प्रतीतिमात्रकरणाच्चमत्कारकरणाच्च कार्यभेदः।

(६—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में प्रतीति-भेद)

केवलरूपतया चमत्कारितया च प्रतीतिभेदः।

विमर्श—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के इयत्ता-भेद का कारण यह है कि वाच्यार्थ तो संकेतित होने से नियतस्वरूप और नियतस्वभाव का रहा करता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ असंकेतित होने से, प्रकरणादि के अवच्छेद से प्रतीत होने के कारण, अनियतस्वरूप और अनियत स्वभाव का हुआ करता है। ध्वनिकार ने इसीलिये कहा है—'वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्मा व्युत्पत्तिकालादारभ्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात्। स (व्यञ्जकत्वलक्षणः शब्दार्थयोर्धर्मः) तु अनियतः, औपाधिकत्वात्। प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेरितरथात्वप्रतीतेः।' (ध्वन्यालोक : ३य उद्योत)

अनुवाद—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ इसलिये भी परस्पर भिन्न हैं कि वाच्यार्थ का निमित्त कुछ और है और व्यङ्ग्यार्थ का कुछ और। वाच्यार्थ का बोध यदि शब्द ज्ञान से संभव है तो व्यङ्ग्यार्थ के बोध के लिये एक विशिष्ट प्रतिभानैर्मल्य की आवश्यकता रहा करती है।

विमर्श—यहाँ ध्वनिकार की यह कारिका स्मरणीय है—

'तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते॥' (ध्वन्यालोक : १. १२)

जिसका अभिप्राय यह है—'काव्य के सहृदय सामाजिक वाच्यार्थ के अवबोधन में उस मनस्तोष को नहीं पाया करते जो कि उन्हें व्यङ्ग्यार्थ के चमत्कारात्मक अनुभव में मिला करता है। वाच्यार्थ का ज्ञान तो शब्दानुशासन-ज्ञान पर निर्भर है और व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान भावयित्री प्रतिभा पर निर्भर है।'

अनुवाद—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य-सम्पादक होने के नाते भी परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। वाच्यार्थ का कार्य यदि बोधमात्र है तो व्यङ्ग्यार्थ का कार्य आनन्दचमत्कार है।

विमर्श—वाच्यार्थ आपातरम्य हुआ करता है और व्यङ्ग्यार्थ पर्यन्तसुन्दर। वाच्यार्थ का सम्बन्ध तद्विषयक बोध की उत्पत्ति से है और व्यङ्ग्यार्थ का सम्बन्ध आनन्द की अभिव्यक्ति से है। दोनों में एकरूपता कहाँ? इसलिये अभिधा और व्यञ्जना में परस्पर अभिन्नता की मान्यता भी निर्मूल ही है।

अनुवाद—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में इसलिये भी परस्पर भेद है कि वाच्यार्थ-प्रतीति यदि केवल शाब्दबोधरूप हुआ करती है तो व्यङ्ग्यार्थप्रतीति (शाब्दबोधरूप होने के साथ ही साथ) चमत्कारमय लगा करती है।

विमर्श—वाच्यार्थ-बोध में चमत्कार का अभाव तथा व्यङ्ग्यार्थानुभव में चमत्कार का सद्भाव दोनों स्वयंसिद्ध है। 'चमत्कार' की जनकता के कारण व्यञ्जना को अभिधा में गतार्थ नहीं किया जा सकता।

(७—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ-बोध में कालभेद)

पूर्वपश्चाद्भावेन च कालभेदः।

(८—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में आश्रयभेद)

शब्दाश्रयत्वेन शब्दतदेकदेशतदर्थवर्णसंघटनाश्रयत्वेन चाश्रयभेदः।

(९—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का विषय-भेद)

'कस्स व ण होइ रोसो दट्ठूण पिआएँ सव्वणं अहरं।
सब्भमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एह्निं॥
[कस्य न वा भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि! वारितवामे! सहस्वेदानीम्॥]

इति सखीतत्कान्तविषयत्वेन विषयभेदः। तस्मान्नाभिधेय एव व्यङ्ग्यः।

अनुवाद—वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का भेद उनके अनुभवों के कालभेद से भी सिद्ध है। वाच्यार्थ का बोध सदा पहले हुआ करता है और व्यङ्ग्यार्थ का बोध सदा बाद में।

विमर्श—वाच्यार्थ का बोध उपाय है और व्यङ्ग्यार्थबोध उपेय है। उपाय और उपेय की प्रतीति में कालभेद की मान्यता स्वाभाविक है। इसलिये अभिधा अथवा लक्षणा में व्यञ्जना का अन्तर्भाव असंभव है।

अनुवाद—आश्रय-भेद से भी वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ परस्पर भिन्न सिद्ध होते हैं। वाच्यार्थ का आश्रय तो केवल शब्द है और व्यङ्ग्यार्थ के आश्रय हैं शब्द, शब्दैकदेश, शब्दार्थ, वर्ण और संघटना।

विमर्श—अभिधा तो शब्दाश्रित शक्ति है और व्यञ्जना वहाँ भी आश्रित है जहाँ अभिधा की कोई संभावना नहीं। रचना में अभिधा की क्या संभावना ? किन्तु व्यञ्जना वर्ण और रचना आदि की भी शक्ति है और महाकविओं की कृतियों में सर्वत्र स्फुरित प्रतीत होती है।

अनुवाद—इतना ही क्यों, वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ तो विषय-भेद से भी परस्पर भिन्न-भिन्न ही प्रतीत हुआ करते हैं। जैसे कि निम्न सूक्ति अर्थात्—

'भला कौन है जो अपनी प्रिया का व्रण सहित अधरोष्ठ देखे और क्षुब्ध न हो जाय ! अरी ! मना करने पर और भी न माननेवाली ! कितना मना किया लेकिन तूने भ्रमर, युक्त कमल को सूँघ ही लिया।'

इत्यादि में, वाच्यार्थ का विषय यदि संबोध्य नायिका है तो व्यङ्ग्यार्थ का विषय है नायक। निष्कर्ष यह है कि जो वाच्यार्थ है वह व्यङ्ग्यार्थ नहीं।

विमर्श—'कस्य न भवति' आदि कारिका में व्यङ्ग्यार्थ के विविध विषयों का स्पष्टीकरण लोचनकार ने इस प्रकार किया है—

'अत्रायं भावः—काचिदविनीता कुतश्चित् खण्डिताधरा निश्चिततत्सविधसंनिधाने तद्भर्तरि तमनवलोकमानयेव कयाचिद् विदग्धसख्या तद्वाच्यतापरिहारायैवमुच्यते। सहस्वेदानीमिति वाच्यमविनयवतीविषयम्। भर्तृविषयं तु—अपराधो नास्तीत्यावेद्यमानं व्यङ्ग्यम्। सहस्वेत्यपि च तद्विषयं व्यङ्ग्यम्। तस्यां च प्रियतमेन गाढमुपालभ्यमानायां तद्व्यलीकशङ्कितप्रातिवेशिकलोकविषयं चाविनयप्रच्छादनेन प्रत्यायनं व्यङ्ग्यम्। तत्सपत्न्यां च तदुपालम्भतदविनयप्रहृष्टायां सौभाग्यातिशयख्यापनं प्रियाया इति शब्दबलादिति सपत्नीविषयं व्यङ्ग्यम्। सपत्नीमध्ये इयता खलीकृतास्मीति। लाघवमात्मनि ग्रहीतुं न युक्तं प्रत्युतायं बहुमानः, सहस्व शोभस्वेदानीमिति सखी-विषयं सौभाग्यप्रख्यापनं

(रसानुभव के लिये व्यञ्जना की अनिवार्य मान्यता)

तथा—

प्रागसत्त्वाद्रसादेर्नो ।बोधिके लक्षणाभिधे ।
किञ्च मुख्यार्थबाधस्य विरहादपि लक्षणा ॥ ३ ॥

'न बोधिका' इति शेषः। नहि कोऽपि रसनात्मकव्यापाराद्भिन्नो रसादिपदप्रतिपाद्यः पदार्थः प्रमाणसिद्धोऽस्ति, यमिमे लक्षणाभिधे बोधयेताम्। 'किञ्च, यत्र 'गङ्गायां घोषः' इत्यादावुपात्तशब्दार्थानां बुभूषन्नेवान्वयोऽनुपपत्त्या बाध्यते तत्रैव हि लक्षणायाः प्रवेशः।

यदुक्तं न्यायकुसुमाञ्जलावुदयनाचार्यैः—

'श्रुतान्वयादनाकाङ्क्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति।
पदार्थान्वयवैधुर्यात्तदाक्षिप्तेन सङ्गतिः॥'

व्यङ्ग्यम्। अद्येयं तव प्रच्छन्नानुरागिणी हृदयवल्लभेत्थं रचिता, पुनः प्रकटरदनदंशनविधिर्न विधेय इति तच्चौर्यकामुकविषयसंबोधनं व्यङ्ग्यम्। इत्थं मयैतदपह्नुतमिति स्ववैदग्ध्यख्यापनं तटस्थविदग्धलोकविषयं व्यङ्ग्यमिति।' (ध्वन्यालोकलोचन : १ म उद्योत)

जिससे यह स्पष्ट है कि वाच्य और व्यङ्ग्य में आकाश-पाताल का भेद है।

अनुवाद—इतना ही क्यों ? रसानुभव के लिये तो व्यञ्जना नाम की तुरीय वृत्ति की मान्यता अनिवार्यतः आवश्यक है। अभिधा और लक्षणा से तो रसोद्‌बोध हो नहीं सकता क्योंकि अभिधा और लक्षणा तो प्रत्यक्षादि अनुभव के पूर्व सिद्ध वस्तुओं का ज्ञान कराया करती हैं जब कि रसरूप वस्तु ऐसी है जो अनुभव के पहले रहा ही नहीं करती। लक्षणा के द्वारा रसानुभव की असंभावना का एक और भी कारण है जो कि उसमें मुख्यार्थ-बाधादिरूप हेतु का सद्‌भाव है जब कि रसरूप काव्यार्थ में मुख्यार्थबाधादि की संभावना ही नहीं उठ सकती।

तात्पर्य यह है कि यहाँ ('किञ्च मुख्यार्थबाधस्य विरहादपि लक्षणा' इस पंक्ति में) 'न बोधिका' यह क्रियापद अध्याहृत समझना चाहिये (जिससे अभिप्राय यह निकले कि लक्षणा द्वारा रसादिबोध नहीं किया जा सकता) अभिधा और लक्षणा द्वारा 'रस' का अवबोध तो तब संभव था जब कि 'रस' कोई ऐसा प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्ध पदार्थ होता जिसके साथ रसादिरूप पद वाच्यवाचक अथवा लक्ष्यलक्षक भावरूप सम्बन्ध से संबद्ध रहा करते। किन्तु 'रस' तो ऐसा है जो 'रसना' अथवा 'चर्वणा'रूप व्यापार से सर्वथा अभिन्न रहा करता है। साथ ही साथ लक्षणाशक्ति इसलिये भी रसबोधिका नहीं क्योंकि इसका संचरण तो 'गङ्गायां घोषः' (गङ्गा पर कुटी) आदि ऐसे प्रयोगों में हुआ करता है जहाँ प्रयुक्त शब्दों के अर्थों का अन्वयबोध निष्पन्न होने के समय ही अनुपपत्ति के कारण, बाधित हो जाया करता है जैसा कि महानैयायिक उदयनाचार्य की न्यायकुसुमाञ्जलि की इस उक्ति से स्पष्ट है—

'वह वाक्य तो और किसी अर्थ की आकांक्षा ही नहीं किया करता जो अपने श्रुत-पदार्थों के अबाधित अन्वय में निराकांक्ष हो जाया करता है। किसी और अर्थ की आकांक्षा तो उस वाक्य को हुआ करती है जिसके पदार्थ अनुपपत्ति के कारण, अन्वय में बाधित हुआ करते हैं और (किसी न किसी सम्बन्ध से संबद्ध) किसी अन्य अर्थ के आक्षेप से ही, अबाधित रूप से अन्वित हो सकते हैं।'

न पुनः 'शून्यं वासगृहम्—' इत्यादौ मुख्यार्थबाधः।

यदि च 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ प्रयोजनं लक्ष्यं स्यात्, तीरस्यापि मुख्यार्थत्वं बाधितत्वं च स्यात्। तस्यापि च लक्ष्यतया प्रयोजनान्तरं तस्यापि प्रयोजनान्तरमित्यनवस्थापातः। न चापि प्रयोजनविशिष्ट एव तीरे लक्षणा। विषयप्रयोजनयोर्युगपत्प्रतीत्यनभ्युपगमात्। नीलादिसंवेदनानन्तरमेव हि ज्ञातताया अनुव्यवसायस्य वा संभवः।

भला 'शून्यं वासगृहम्' आदि रसात्मक वाक्य ऐसे कहां जिनमें मुख्यार्थ बाधित हो और लक्षणा के संचरण की संभावना हो जाय?

लक्षणा के द्वारा रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ के अवबोध की असंभावना इसलिये भी सिद्ध है कि 'गङ्गायां घोषः' आदि प्रसङ्गों में शैत्यपावनत्वादिरूप (वक्तृ-हृद्गत) प्रयोजन भी लक्षणा द्वारा बोध्य नहीं। क्यों? इसलिये कि यदि यहाँ प्रयोजन को भी लक्षणा-वेद्य माना जाय तब मुख्यार्थ-बाध, मुख्यार्थयोग किंवा प्रयोजन-प्रतिपादन-रूप लक्षणा-हेतु भी संगत सिद्ध होना चाहिये। भला ('गङ्गा'पद का) 'तट'रूप अर्थ मुख्यार्थ कहां और यदि इसे मुख्यार्थ भी मान लें तो किसी अनुपपत्ति के अभाव में (घोष के आधार होने में) बाधित कहाँ? साथ ही साथ 'शैत्यपावनत्वादि' रूप प्रयोजनभूत अर्थ भी लक्ष्यार्थ कहाँ जिसके प्रतिपादन के लिये किसी अन्य प्रयोजन की अपेक्षा पड़ी रहे? और यदि इसे लक्ष्यार्थ मानकर उसका कोई प्रयोजन ढूँढ़ा भी जाय तो उस प्रयोजन के लिये कोई और प्रयोजन ढूँढ़ना पड़ेगा। और उसके लिये भी और कोई प्रयोजन। यहां तक कि प्रयोजन परम्परा के अनुसन्धान में शैत्यपावनत्वादि रूप लक्ष्यार्थ (वस्तुतः मूल प्रयोजन) ही अनवस्था-दोष से दूषित हो जायगा (और यह पता भी नहीं चल पायगा कि किस प्रयोजन के लिये शैत्यादि रूप अर्थ लक्ष्यार्थ माना गया)।

यहां यह कहना भी सर्वथा असंगत ही है कि (शैत्यपावनत्वादि रूप) प्रयोजन विशिष्ट ही तटादिरूप अर्थ लक्षणा द्वारा प्रतिपादित हुआ करता है (जिससे शैत्यादि प्रयोजन के प्रत्यायन के लिये व्यञ्जना की अतिरिक्त मान्यता निष्प्रयोजन है) क्योंकि जहां 'तटादि' रूप अर्थ लक्षणाज्ञान का 'विषय' है वहां 'शैत्यादि' रूप अर्थ लक्षणाज्ञान का 'फल' है और ऐसा होने से यह कदापि नहीं माना जा सकता कि दोनों का अवबोध एक साथ ही हुआ करता है। जैसे मीमांसा किं वा न्याय-प्रक्रिया के अनुसार (इदं नीलम्) (यह नीला है) आदि अनुभवों में, 'नील' आदि के संवेदन के बाद ही 'ज्ञातता' (प्रकटता) किं वा 'अनुव्यवसाय' रूप संवेदन-फल की निष्पत्ति मानी जाया करती है वैसे ही (काव्यशास्त्र-प्रक्रिया के अनुसार भी) 'गङ्गायां घोषः' आदि अनुभवों में, 'तट' आदि -रूप लक्षणाविषय के संवेदन के बाद ही शैत्य-पावनत्वादिरूप लक्षणाफल की निष्पत्ति युक्तियुक्त मानी गयी है।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार ने यहां 'रस' के अनभिधेय और अलक्ष्य होने में जो युक्ति दी है वह सर्वथा युक्तियुक्त है। अभिधेय और लक्षणीय पदार्थ वे हैं जो हमारे अनुभव के पहले से ही अपना अस्तित्व रखते हैं। रस तो 'रस्यमानतामात्रसार' पदार्थ है, वह भला वाच्य अथवा लक्ष्य क्योंकर होने लगे! लोचनकार ने इसीलिये कहा है—

'रसभावतदाभासतत्प्रशमाः पुनर्न कदाचिदभिधीयन्ते, अथ चास्वाद्यमानताप्राणतया भान्ति। तत्र ध्वननव्यापारादृते नास्ति कल्पनान्तरम्। स्खलद्गतित्वाभावे मुख्यार्थबाधादेर्लक्षणानिबन्धनस्यानाशङ्कनीयत्वात्।

(अनुमिति अथवा स्मृति के द्वारा रसास्वाद की असंभावना)

नानुमानं रसादीनां व्यङ्ग्यानां बोधनक्षमम् ।
आभासत्वेन हेतूनां स्मृतिर्न च रसादिधीः ॥ ४ ॥

(व्यक्तिविवेककार (महिमभट्ट) सम्मत व्यङ्ग्यार्थानुमितिवाद का खण्डन)

व्यक्तिविवेककारेण हि—'यापि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमान एवान्तर्भवितुमर्हति । विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधन-

---

न चायं रसादिरर्थः 'पुत्रस्ते जातः इत्यतो यथा हर्षो जायते तथा । नापि लक्षणया अपि तु सहृदयस्य हृदयसंवादबलाद् विभावानुभावप्रतीतौ तन्मयीभावेनास्वाद्यमान एव रस्यमानतैकप्राणः सिद्धस्वभावसुखादिविलक्षणः परिस्फुरति ।'

(ध्वन्यालोकलोचन : १म उद्योत)

अर्थात् रसभावादिरूप काव्यार्थ कदापि अभिधाबोध्य अर्थ नहीं अपि तु एक मात्र आस्वाद्य-मानताप्राण अर्थ है। इस आस्वाद्यमानतासार रस-भावादि की अनुभूति में व्यञ्जना के अतिरिक्त और किसी भी व्यापार की संभावना नहीं हो सकती । जब कि विभावादि-योजनामय काव्य-शब्दों के मुख्यार्थ में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती तब लक्षणा की भी यहां क्या संभावना । रस तो सिद्धस्वभाव रत्यादि रूप भावों से भी विलक्षण तत्त्व है और एक आस्वादमात्रसार अनुभव है । अभिधा और लक्षणा द्वारा घटपटादिरूप लोकसिद्ध किं वा पूर्वसिद्ध वस्तुओं का अवबोध संभव है न कि रस्यमानताप्राण रस का ।

(ख) रस में लक्षणा की कोई गति नहीं—इसका निर्णय काव्यप्रकाशकार के इस लक्षणा-विचार से ही सिद्ध है—

'यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ॥
नाभिधा समयाभावात्, हेत्वभावान्न लक्षणा ।
लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ॥
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ।
एवमप्यनवस्था स्यात् या मूलक्षयकारिणी ॥
प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ।
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ॥ (काव्यप्रकाश २. १४. १७)

अनुवाद—रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ का अवबोधन 'अनुमान' द्वारा नहीं हो सकता क्योंकि रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ के अनुमेय होने में जो भी हेतु दिये जा सकते हैं वे सद्धेतु नहीं अपितु हेत्वाभास हैं । 'रस' को 'स्मृति' कहना भी निरर्थक ही है क्योंकि कहां तो साक्षा-त्कारस्वरूप 'रस' और कहां पूर्वानुभव का संस्कारप्रबोधरूप स्मरण !

विमर्श—साक्षात्कार और संस्कार-प्रबोध में जो भेद है वही रस्यमानतासार रस और रत्यादिस्मृति में है । इसलिये स्मृति से व्यञ्जना अथवा रसना को गतार्थ मानना असंभव है ।

अनुवाद—रसादि-प्रतीति के विश्लेषण में, अनुमिति-वाद के प्रवर्तक व्यक्तिविवेककार (आचार्य महिमभट्ट) का यह कहना है—'जब कि विभावादि के द्वारा ही रसादि की प्रतीति हुआ करती है तब तो यह मानना ही चाहिये कि रसादिप्रतीति एक अनुमिति ही है (और अनुमान द्वारा ही सिद्ध है न कि व्यञ्जना द्वारा) । रसादिप्रतीति इसलिये अनुमिति है क्योंकि इसमें और विभाव-अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव की प्रतीति में

मिष्यते'। ते हि रत्यादीनां भावानां कारणकार्यसहकारिभूतास्ताननुमापयन्त एव रसादीन्निष्पादयन्ति। त एव प्रतीयमाना आस्वादपदवीं गताः सन्तो रसा उच्यन्ते, इत्यवश्यंभावी तत्प्रतीतिक्रमः केवलमाशुभावितयाऽसौ न लक्ष्यते, यतोऽयमद्याऽप्यभिव्यक्तिक्रमः' इति यदुक्तम्। तत्र प्रष्टव्यम्—किं शब्दाभिनयसमर्पितविभावादिप्रत्ययानुमितरामादिगतरागादिज्ञानमेव रसत्वेनाभिमतं भवतः, तद्भावनया भावकैर्भाव्यमानः स्वप्रकाशानन्दो वा। आद्ये न विवादः, किन्तु 'रामादिगतरागादिज्ञानं रससंज्ञया नोच्यतेऽस्माभिः' इत्येव विशेषः।

द्वितीयस्तु व्याप्तिग्रहणाभावाद्धेतोराभासतयाऽसिद्ध एव।

साध्य-साधनभाव का सम्बन्ध रहा करता है। लोकजीवन के रत्यादिरूप भावों के कारण-कार्य और सहकारी ही वस्तुतः काव्य-नाट्य में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहे जाया करते हैं और जैसे उन्हें लोक में रत्यादि भावों का अनुमापक माना जाया करता है वैसे ही ये काव्य में भी रत्यादि भावों के अनुमापक ही हैं और तभी इन्हें रसादि का निष्पादक कहा गया है। भले ही ये रत्यादि रूप भाव लोक में अनुमित होकर राग-द्वेष-मोह में परिणत हो जायँ किन्तु जब ये काव्य-नाट्य में अनुमित होते हैं तो आस्वाद-रूप 'रस' हो जाया करते हैं। इससे यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि विभावादिप्रतीति और रसादिप्रतीति में क्रम अथवा पौर्वापर्य अवश्य है (भला साधन और साध्य में क्रम न हो तो और क्या हो?) किन्तु यह क्रम अथवा पौर्वापर्य इसलिये नहीं प्रतीत हुआ करता क्योंकि रसास्वाद इतनी शीघ्रता से हो उठता है कि उसके होते हुये विभावादि की साधनता का अनुभव नहीं हुआ करता। जब कि 'रसाभिव्यक्तिवाद' के भी अनुसार, विभावादिप्रतीति और रसानुभूति में 'क्रम' अवश्यंभावी है तब विभावादिप्रतीति और रसानुभूति में साध्यसाधनभाव की भी मान्यता अनिवार्य ही है और रस को 'अभिव्यक्ति' के बदले 'अनुमिति' मानना भी आवश्यक ही है।'

किन्तु, व्यक्तिविवेककार की उपर्युक्त मान्यता पर कुछ प्रश्न उठ खड़े होते हैं। पहला प्रश्न तो यह है कि 'क्या व्यक्तिविवेककार की दृष्टि में, 'रस' का अभिप्राय काव्य अथवा नाट्य द्वारा वर्णित अथवा प्रदर्शित विभावादि के अवबोध के आधार पर, रामादिगत रत्यादि भावों का अनुमानात्मक अवबोध है? और दूसरा प्रश्न यह है कि 'क्या व्यक्ति-विवेककार के अनुसार रस का अभिप्राय उस अखण्ड 'स्वप्रकाशानन्द' का अभिप्राय है जो काव्य-नाट्य-समर्पित विभावादि की भावना के द्वारा सहृदय सामाजिक के हृदय में उद्बुद्ध हुआ करता है? अब, पहले प्रश्न के सम्बन्ध में कोई विशेष विवाद नहीं क्योंकि इतना तो ठीक ही है कि काव्य-नाट्य-समर्पित विभावादि की प्रतीति से रामादिगत रत्यादि भावों की प्रतीति हुआ करती है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकल सकता कि रसानुमिति और रसाभिव्यक्ति एक ही वस्तु है। रसाभिव्यक्तिवादी यह नहीं मानते कि रामादिगत रत्यादिप्रतीति और रसप्रतीति एक ही तत्त्व के दो नाम हैं? किन्तु जो दूसरा प्रश्न है उसके सम्बन्ध में विवाद अवश्य उठ खड़ा होता है। बात यह है कि अनुमान द्वारा स्वप्रकाशानन्दस्वरूप सहृदयहृदयसंवेद्य 'रस' की सिद्धि असंभव है। कारण यह है कि यदि अनुमानतः सहृदयहृदयसंवेद्य 'रस' को सिद्ध किया जाय तो यही अनुमान-प्रक्रिया होगी कि 'यह सहृदय सामाजिक शृङ्गाररसवान् है क्योंकि इसमें रामादिगत रत्यादिभाव का ज्ञान उसी प्रकार उत्पन्न हो गया है जैसे उस सहृदय सामाजिक

यच्चोक्तं तेनैव—

'यत्र यत्रैवंविधानां विभावानुभावसात्त्विकसञ्चारिणामभिधानमभिनयो वा तत्र तत्र शृङ्गारादिरसाविर्भावः' इति सुग्रहैव व्याप्तिः पक्षधर्मता च।

तथा—

'याऽर्थान्तराभिव्यक्तौ वः सामग्रीष्टा निबन्धनम्।
सैवानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन संमता॥' इति।

में।' किन्तु यह अनुमान-प्रक्रिया सर्वथा असंगत है क्योंकि यहां हेतु के व्यभिचरित होने से कोई 'व्याप्तिग्रह' संभव नहीं और सच तो यह है कि यह 'हेतु' असिद्ध है। यहां 'व्याप्तिग्रह' इसलिये संभव नहीं क्योंकि 'रामादिगत रत्यादि की प्रतीति' और 'रस' अथवा आनन्द-चमत्कारात्मक 'अनुभूति' में 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' की सी 'व्याप्ति' (अनुपाधिक नियत सम्बन्ध) है ही नहीं। भला 'रामादिगत रत्यादि की प्रतीति' और 'रस' में व्याप्तिग्रह कैसे हो जबकि काव्य-नाट्य के अनेकानेक सामाजिक जैसे कि मीमांसक अथवा वैयाकरण आदि ऐसे हैं जिन्हें काव्य-नाट्य-समर्पित विभावादिप्रतीति से रामादिगत रत्यादि की प्रतीति तो अवश्य हुआ करती है किन्तु रसात्मक चमत्कार कदापि नहीं हुआ करता? सहृदयहृदयसंवेद्य 'रस' की सिद्धि के लिये 'रामादिगत रत्यादि की प्रतीति को हेतु मानना भी ठीक नहीं क्योंकि यह हेतु 'हेतु' नहीं अपि तु 'हेत्वाभास' है और इस लिये हेत्वाभास है क्योंकि यहां न तो कोई 'व्याप्ति' निश्चय सम्भव है (भला 'यत्र यत्र रामादिगतरत्यादिप्रतीतिः तत्र-तत्र शृङ्गाररसादिप्रतीतिः' का व्याप्ति-निश्चय कैसे संभव?) और न 'पक्षवृत्तिता' निर्धारित है (क्योंकि यह कैसे पता कि सामाजिक में 'रामादिगत रत्यादिप्रतीति' अवश्य विद्यमान है?)।

वस्तुतः सामाजिक द्वारा रामादिगत रत्यादिप्रतीति और स्वहृद्गत शृङ्गारादिप्रतीति में व्याप्ति और पक्षवृत्तिता की उपर्युक्त असंभावना देखकर ही व्यक्तिविवेककार ने इस अनुमान-प्रक्रिया का आश्रय लिया है—'जहां-जहां निर्दिष्ट स्वरूपवाले विभाव, अनुभाव सात्त्विक भाव और व्यभिचारिभावों का अभिधान (वर्णन) अथवा अभिनय (प्रत्यक्षतापादन) हो, वहां-वहां (उस-उस श्रव्य अथवा दृश्य काव्य में) शृङ्गारादि रसों का आविर्भाव हुआ करता है।' और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि यहां व्याप्ति और पक्षधर्मता दोनों सर्वथा उपपन्न हैं। तभी तो व्यक्तिविवेककार का यह आघोष है—'जबकि ध्वनिवादी आचार्यों के अनुसार व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के निमित्त मानी गयी सभी व्यञ्जकता-सामग्री अन्ततोगत्वा अनुमापकता-सामग्री ही सिद्ध होती है तो रसध्वनिवाद के बदले रसानुमितिवाद क्यों न मानो?'

किन्तु व्यक्तिविवेककार की इन कल्पनाओं से यह नहीं सिद्ध हो पाता कि 'रस'रूप काव्य-परमार्थ एक अनुमान है। क्योंकि यह अनुमान-प्रक्रिया कि 'जिस-जिस श्रव्य अथवा दृश्य काव्य में विभावादिसंयोजना है उस-उस श्रव्य अथवा दृश्य काव्य में शृङ्गारादिरस का आविर्भाव हुआ करता है' ऐसी है जो ध्वनिवादी आचार्यों की रसध्वनि-सिद्धि में भी सहायक है। किन्तु तब भी रसानुमितिवाद से रसध्वनिवाद में एक वैलक्षण्य है और वह यह है कि जब कि रसानुमितिवादी आचार्य ऐसी अनुमिति को ही 'रस' अथवा 'आस्वाद' मानते हैं, रसध्वनिवादी आचार्य ऐसे हैं जो 'रस' को इस प्रकार की अनुमिति नहीं अपि तु स्वप्रकाशानन्दस्वरूप एकघन चमत्कारात्मक अनुभव माना करते हैं।

अब यह स्पष्ट है कि व्यक्तिवादी आचार्य जो सिद्ध करने चले थे वह तो यह रहा कि

इदमपि नो न विरुद्धम्। न ह्येवंविधा प्रतीतिरास्वाद्यत्वेनास्माकमभिमता किन्तु—स्वप्रकाशमात्रविश्रान्तः सान्द्रानन्दनिर्भरः। तेनात्र सिषाधयिषितादर्थादर्थान्तरस्य साधनाद्धेतोराभासता।

यच्च 'भम धम्मिअ—' इत्यादौ प्रतीयमानं वस्तु।

'जलकेलितरलकरतलमुक्तपुनः पिहितराधिकावदनः।
जगदवतु कोकयूनोर्विघटनसंघटनकौतुकी कृष्णः॥'

इत्यादौ च रूपकालङ्कारादयोऽनुमेया एव। तथाहि—'अनुमानं नाम पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वविशिष्टाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनो ज्ञानम्। ततश्च वाच्यादसंबद्धोऽर्थस्तावन्न प्रतीयते। अन्यथाऽतिप्रसङ्गः स्यात्, इति बोध्यबोधकयोरर्थयोः कश्चित्संबन्धोऽस्त्येव। ततश्च बोधकोऽर्थो लिङ्गम्, बोध्यश्च लिङ्गी, बोधकस्य चार्थस्य पक्षसत्त्वं निबद्धमेव। सपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वे अनिबद्धे अपि सामर्थ्यादवसेये।

'सामाजिक को जो काव्य-नाट्य का सारतम तत्त्व प्राप्त हुआ करता है वह 'रस' अथवा स्वप्रकाशानन्दमय एक घन आह्लाद-चमत्कार है' और जो सिद्ध कर पाये वह यह कि 'जहां जहां विभावादिवर्णना है वहां-वहां शृङ्गारादि रसाविर्भाव है।' यह सब गड़बड़ी इसलिये हुई क्योंकि 'रामादिगत रत्यादि भाव की प्रतीति' में सहृदयहृदयसंवेद्य सान्द्रानन्दनिर्भर रस की हेतुता नहीं रहा करती।

इस प्रकार यह तो निःसंदिग्ध सिद्ध हो गया कि 'रस' अनुमेय नहीं अपि तु एकान्ततः अभिव्यङ्ग्य अथवा रसनीय काव्यार्थ है। किन्तु अब यह भी सिद्ध हो जायगा कि 'वस्तुरूप' अथवा 'अलङ्काररूप' प्रतीयमानार्थ भी अनुमेय नहीं अपितु एकान्ततः अभिव्यङ्ग्य ही अर्थ है।

व्यक्तिविवेककार तो 'भम धम्मिअ' (भ्रम धार्मिक) आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में विधिरूप वाच्यार्थ से प्रतीत निषेधरूप अभिप्राय को 'अनुमेय' मान चुके हैं और ऐसी सूक्तियों जैसे कि—

'वे राधारमण इस जगत् की रक्षा किया करें जो जलविहार के समय, राधा के मुख को, रह-रह कर हाथों से ढकते और खोलते, चक्रवाकमिथुन के संयोग और वियोग के कौतुक में आनन्द लिया करते हैं।'

इत्यादि में प्रतीत रूपकालङ्कार को भी (क्योंकि राधा के मुख में चन्द्र का अभेदारोप (रूपण) मानने से ही, उसके ढकने और खुलने के कारण, चक्रवाकमिथुन के संयोग और वियोग का अर्थ संगत हो सकता है) 'अनुमेय' ही सिद्ध कर चुके हैं। किन्तु यहां यह देखना है कि 'वस्तु'रूप और 'अलङ्कार'रूप व्यङ्ग्यार्थ कैसे 'अनुमेय' मान लिया गया? व्यक्तिविवेककार का कहना है—अनुमान साध्य का ज्ञान है जो कि ऐसे साधन के द्वारा संभव है जो पक्षवृत्ति हो, सपक्षवृत्ति हो और विपक्ष-व्यावृत्त भी हो। यह ठीक ही है कि वाच्यार्थ के द्वारा जो व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हुआ करता है वह उससे असम्बद्ध नहीं रहा करता। क्योंकि यदि ऐसी बात न हो तो किसी वाच्यार्थ से कोई भी व्यङ्ग्यार्थ समझ लिया जा सकता है? इससे यही मानना पड़ता है कि बोध्यरूप व्यङ्ग्यार्थ और बोधकरूप वाच्यार्थ में परस्पर सम्बन्ध है और जो बोधकरूप अर्थ है वह 'लिङ्ग' अथवा साधनभूत अर्थ है तथा जो बोध्यरूप अर्थ है वह 'लिङ्गी' अथवा साध्यरूप अर्थ है। अब 'भ्रम

तस्मादत्र यद्वाच्यार्थाल्लिङ्गरूपाल्लिङ्गिनो व्यङ्ग्यार्थस्यावगमस्तदनुमान एव पर्यवस्यति' इति। तन्न, तथा ह्यत्र 'भ्रम धम्मिअ—' इत्यादौ गृहे श्वनिवृत्त्या विहितं भ्रमणं 'गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति' इति यदुक्तव्यं तत्रानैकान्तिको हेतुः। भीरोरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन प्रियानुरागेण वा गमनस्य संभवात्, पुंश्चल्या वचनं प्रामाणिकं न वेति संदिग्धासिद्धेश्च।

'जलकेलि–' इत्यत्र 'य आत्मदर्शनादर्शनाभ्यां चक्रवाकविघटनसंघटनकारी स चन्द्र एव' इत्यनुमितिरेवायमिति न वाच्यम्, उत्त्रासकादावनैकान्तिकत्वात्। 'एवंविधोऽर्थ एवंविधार्थबोधक एवंविधार्थत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्' इत्यनुमानेऽप्याभाससमानयोगक्षेमो हेतुः। 'एवं विधार्थत्वात्' इति हेतुना एवं-

---

धम्मिअ' (भ्रम धार्मिक) आदि सूक्ति में यह स्पष्ट हो जाता है कि भ्रमण-विधिरूप वाच्यार्थ (जो कि हेतु है) 'पक्षधर्मता' के रूप में ही उपनिबद्ध किया गया है (क्योंकि यहां 'धार्मिक' रूप पक्ष में ही तो 'भ्रमण' का सद्भाव प्रतिपादित हुआ है ?)। वैसे भ्रमणरूप हेतु की 'सपक्षवृत्तिता' और 'विपक्षव्यावृत्तता' का यहां शब्दतः कोई निर्देश नहीं किन्तु अर्थसामर्थ्य से ये दोनों विशेषतायें भी इस हेतु में देखी ही जा सकती हैं जिससे यही निष्कर्ष निकल सकता है कि भ्रमणविधिरूप हेतुभूत वाच्यार्थ से जिस भ्रमण-निषेधरूप साध्यभूत व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो उठती है वह अन्ततोगत्वा अनुमानरूप ही प्रतीति है।'

किन्तु व्यक्तिविवेककार की उपर्युक्त युक्तियां संगत नहीं प्रतीत होतीं। बात यह है कि 'भ्रम धार्मिक' आदि में गोदावरी-तीर पर, सिंह के सद्भाव के आधार पर, भीरु धार्मिक के उस भ्रमण का निषेध अनुमित हो सकता है जिसे कुक्कुरमरण के प्रतिपादन द्वारा यहां विहित बताया गया है किन्तु यहां धार्मिक के भ्रमण-निषेध की सिद्धि में सिंहसद्भाव को जो हेतुरूप से निर्दिष्ट किया गया है उसमें अनेकान्तिकता अथवा साध्यव्यभिचार दिखायी दे रहा है। जब कि भीरु व्यक्ति भी (वीर प्रकृति के व्यक्ति की तो बात ही और है) गुरु के आदेश, स्वामी के शासन अथवा प्रियतमा के प्रेमवश सिंहादि श्वापदों से उपद्रुत स्थान में भ्रमण करते देखे जाया करते हैं तब यहाँ 'सिंहसद्भाव' से भ्रमण के निषेध को क्योंकर एकान्ततः सिद्ध मान लिया जाय! साथ ही साथ 'सिंहसद्भाव' के हेतु में 'पक्षासिद्धि' का भी दोष विराजमान है क्योंकि किसी कुलटा की इस उक्ति की प्रामाणिकता ही क्या?

इसी भाँति 'जलकेलि' आदि रूपक-ध्वनि-सूक्ति में जो 'यह राधिका-वदन चन्द्र है क्योंकि यह अपने दर्शन और अदर्शन से चक्रवाक-मिथुन के वियोग और संयोग का जनक हो रहा है' आदि अनुमान-प्रक्रिया मानी जा सकती है उसमें भी हेतु की अनैकान्तिकता (साध्यव्यभिचारिता) ही प्रतीत होती है क्योंकि कोई उत्त्रासक अथवा भयजनक पदार्थ भी अपनी उपस्थिति और अनुपस्थिति से चक्रवाकमिथुन के विघटन और संघटन का कारण हो सकता है।

यहां (अर्थात् 'भ्रम धार्मिक' आदि की वस्तुध्वनि किंवा 'जलकेलि' आदि की अलङ्कार ध्वनि की अनुमिति-सिद्धि में) यह अनुमान-प्रक्रिया भी कि 'इस प्रकार का अर्थ ('भ्रम-धार्मिक' में भ्रमण विधिरूप और 'जलकेलि' में राधावदन पर चन्द्रारोपरूप अर्थ) इस प्रकार के अर्थ ('भ्रम धार्मिक' में वस्तुरूप व्यङ्ग्य और 'जलकेलि' में रूपकालङ्काररूप

विधानिष्ठसाधनस्याऽप्युपपत्तेः। तथा 'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि ! क्षणमिहाऽप्यस्मद्गृहे-' इत्यादौ नलग्रन्थीनां तनूल्लिखनम्, एकाकितया च स्रोतोगमनम्, तस्याः परकामुकोपभोगस्य लिङ्गिनो लिङ्गमित्युच्यते; तच्चात्रैवाभिहितेन स्वकान्तस्नेहेनाऽपि संभवतीत्यनैकान्तिको हेतुः।

यच्च 'निःशेषच्युतचन्दनम्—' इत्यादौ दूत्यास्तत्कामुकोपभोगोऽनुमीयते तत्किं प्रतिपाद्यतया दूत्या, तत्कालसंनिहितैर्वान्यैः, तत्काव्यार्थभावनया वा सहृदयैः।

आद्ययोर्न विवादः। तृतीये तु तथाविधाभिप्रायविरहस्थले व्यभिचारः। ननु वक्त्राद्यवस्थासहकृतत्वेन विशेष्यो हेतुरिति न वाच्यम्। एवंविधव्याप्त्यनुसंधानस्याभावात्।

व्यङ्ग्य) का बोधक हुआ करता है क्योंकि यह (बोधक अर्थ) इस प्रकार का अर्थ ('भ्रम धार्मिक' में गोदावरी तीर पर सिंहसद्भाव से गृह के समीप भ्रमण-विधानरूप और 'जलकेलि' में दर्शन और अदर्शन के द्वारा चक्रवाकमिथुन का विघटन और संघटन-रूप अर्थ) है और जो इस प्रकार का अर्थ नहीं है वह इस प्रकार के अर्थ का अवबोधक भी नहीं हो सकता' किसी काम का नहीं क्योंकि इसमें भी जो हेतु है वह हेत्वाभास का ही समकक्ष है। यहां हेतु की हेत्वाभासता इसलिये है क्योंकि 'यह (बोधक अर्थ) इस प्रकार का अर्थ है' (एवंविधार्थत्वात्) यह कहने से ऐसा भी अनुमान किया जा सकता है जो कि वक्ता का अभिप्रेत ही न हो और सर्वथा अनुचित हो (और तब 'भ्रम धार्मिक' में भ्रमण-निषेध और 'जलकेलि' में चन्द्रारोप की अभिप्रेत ऐकान्तिक सिद्धि क्योंकर हो जाय)!

इसी प्रकार 'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि ! क्षणमिहाऽप्यस्मद्गृहे' इत्यादि सूक्ति में अभिव्यङ्ग्य, यहाँ की नायिका के कामुकोपभोगरूप अर्थ को अनुमानरूप सिद्ध करने के लिये जो यह कहा जाता है कि यहाँ नलग्रन्थियों (सरकण्डों) से नायिका के स्तनादि अवयवों की खुरच और नायिका के अकेले झरने पर पानी के लिये जाने का जो वर्णन है वह लिङ्ग अथवा साधनरूप से ही अवस्थित है जिससे कामुकोपभोगरूप लिङ्गी अथवा साध्य की सिद्धि स्वाभाविक है, वह भी एक निरर्थक ही कल्पना है। क्यों ? इसलिए कि इसी सूक्ति में प्रियतम के प्रति नायिका के अनुराग का जो प्रतिपादन है (क्योंकि 'प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति' का और क्या अभिप्राय ?) उससे भी तो उसके एकाकी झरने पर पानी लेने जाने और जंगल की कटीली झाड़ियों से अङ्गों में खुरच लगने का सम्बन्ध उपपन्न हो जाता है और तब इन्हें (अङ्गक्षत और एकाकीगमन को) 'परकामुकोपभोग' रूप साध्य का ऐकान्तिक (अव्यभिचरित) साधन क्योंकर मान लिया जाय ?

अब रहा 'निःशेषच्युतचन्दनम्' आदि में अभिव्यङ्ग्य, अपनी स्वामिनी के प्रियतम के साथ, दूती की प्रणय-लीला के अर्थ को अनुमानरूप सिद्ध करने का प्रयत्न। यहाँ तीन संभावनायें हैं—(१) 'क्या नायिका की उक्ति से दूती को ही अपनी रति-लीला का अनुमान हो रहा है ?' (२) अथवा वहां उपस्थित अन्य सखियों द्वारा दूती की रति-लीला का अनुमान किया जा रहा है ? (३) अथवा यहां के काव्यार्थ के अनुशीलन-परायण सहृदय सामाजिक यहां उपनिबद्ध दूती की प्रणय-लीला का अनुमान कर रहे हैं ? अब, पहली दो संभावनाओं के संबन्ध में कोई विवाद नहीं (क्योंकि दूती अपनी

किञ्चैवंविधानां काव्यानां कविप्रतिभामात्रजन्मनां प्रामाण्यानावश्यकत्वेन संदिग्धासिद्धत्वं हेतोः।

व्यक्तिवादिना चाधमपदसहायानामेवैषां पदार्थानां व्यञ्जकत्वमुक्तम्, तेन च तत्कान्तस्याधमत्वं प्रामाणिकं न वेति कथमनुमानम्। एतेनार्थापत्तिवेद्यत्वमपि व्यङ्ग्यानामपास्तम्। अर्थापत्तेरपि पूर्वसिद्धव्याप्तीच्छामुपजीव्यैव प्रवृत्तेः। यथा—'यो जीवति स कुत्राऽप्यवतिष्ठते, जीवति चात्र गोष्ठ्यामविद्यमानश्चैत्रः' इत्यादि।

ही प्रणय-क्रीडा का अनुमान क्यों करने लगी जब कि उसे उसका प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका है और साथ ही साथ वहां उपस्थित सखीजन भी चन्दनच्यवन आदि के प्रत्यक्ष चिह्नों से कामुकोपभोग के बदले वापी-स्नान का भी तो अनुमान कर सकते हैं)! अब, सहृदय सामाजिकों द्वारा यहां 'कामुकोपभोग' रूप (अभिव्यङ्ग्य) अर्थ के अनुमान की जो बात है उसके सम्बन्ध में तो विवाद अवश्य है और विवाद का जो स्वरूप है वह यह है—यदि सहृदय सामाजिकों के प्रति, यहां दूती की प्रणय-लीला का अर्थ विवक्षित न हो तब (सहृदय सामाजिकों की दृष्टि से) चन्दन च्यवनादि को कामुकोपभोगरूप अर्थ के प्रति क्योंकर अव्यभिचरित हेतु कहा जाय! यहां यह कहना भी निरर्थक ही है कि यहां यह सब कहनेवाली (नायिका) और यह सब सुननेवाले (दूती) की परिस्थिति की सहकारिता के साथ चन्दन-च्यवन आदि के अव्यभिचरित हेतुचक्र के अनुसधान से सहृदय सामाजिकों को एकान्ततः कामुकोपभोगरूप अर्थ का अनुमान हो जायगा क्योंकि पहले तो बोलनेवाली नायिका और सुननेवाली दूती की परिस्थिति की सहकारिता यहां कहीं सूचीत नहीं जिससे इस प्रकार के 'चन्दन-च्यवन' आदि और 'कामुकोपभोग' में किसी अनुपाधिक सम्बन्ध की सिद्धि हो जाय और फिर यहां ही चन्दनच्यवन आदि को स्नान के कार्यरूप से प्रतिपादित कर कामुकोपभोग के साथ इसका अव्यभिचरित सम्बन्ध भी तो विच्छिन्न ही कर दिया गया है!

साथ ही साथ, यह चन्दन-च्यवनादिरूप हेतु-चक्र स्वरूपासिद्ध भी तो प्रतीत हो रहा है क्योंकि यह सब तो कविता है और कविता होने के नाते कवि की कल्पना से ही उत्पन्न है जिससे इसकी प्रामाणिकता की सिद्धि सर्वथा असंभव है और ऐसा होने से इस हेतु के बदले हेत्वाभास ही माना जा सकता है।

यह सब दोष यहां 'कामुकोपभोग' को व्यङ्ग्य माननेवाले आचार्यों के मत में कहीं नहीं खटकता। बात यह है कि यहां व्यञ्जनावादी आचार्य चन्दनच्यवनादिरूप पदार्थों की व्यञ्जकता में 'अधम' पद की विशिष्ट व्यञ्जकता की सहकारिता देखा करते हैं। अनुमितिवादी आचार्य तो यहां वर्णित नायक की 'अधमता' की भी प्रामाणिकता पर संदेह करेंगे और उन्हें ऐसा करना भी चाहिये! इस संदेह का परिणाम यह होगा कि 'अधम'पद की सहकारिता से भी चन्दन-च्यवनादि को 'कामुकोपभोग' का अव्यभिचरित हेतु नहीं सिद्ध किया जा सकेगा और कामुकोपभोग का अनुमान पूर्ववत् ही असंभव हो जायगा।

अब, जब कि उपर्युक्त युक्तियों से वस्तुरूप, अलङ्काररूप, किंवा रसादिरूप अभिव्यङ्ग्य अर्थों में 'अनुमान' की कोई संभावना नहीं दिखायी देती, तब 'अर्थापत्ति' से अभिव्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति-कल्पना तो स्वयं उच्छिन्न हो गयी। 'अर्थापत्ति' तो एक प्रकार की

किञ्च वस्त्रविक्रयादौ तर्जनीतोलनेन दशसंख्यादिवत्सूचनबुद्धिवेद्योऽप्ययं न भवति, सूचनबुद्धेरपि सङ्केतादिलौकिकप्रमाणसापेक्षत्वेनानुमानप्रकारताङ्गीकारात्।

यच्च 'संस्कारजन्यत्वाद्रसादिबुद्धिः स्मृतिः' इति केचित्। तत्रापि प्रत्यभिज्ञायामनैकान्तिकतया हेतोराभासता। 'दुर्गालङ्घित—' इत्यादि च द्वितीयार्थो नास्त्येव—इति यदुक्तं महिमभट्टेन तदनुभवसिद्धमपलपतो गजनिमीलिकैव।

(व्यञ्जनावृत्ति की मान्यता अनिवार्य है।)

तदेवमनुभवसिद्धस्य तत्तद्रसादिलक्षणार्थस्याशक्यापलापतया तत्तच्छब्दाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायितया चानुमानादिप्रमाणावेद्यतया चाभिधादिवृत्तित्रया-

---

अनुमिति ही है क्योंकि उसमें भी, अनुमान में पूर्वनिश्चित व्याप्तिग्रह के ही आधार पर, अन्यथानुपपत्ति से, अर्थ की परिकल्पना की जाया करती है जैसे कि यदि कोई कहे कि 'चैत्र इस गोष्ठी में नहीं है' तो हम अन्यथानुपपत्ति से जान लेते हैं कि 'चैत्र कहीं अन्यत्र होगा' क्योंकि हमें 'जीवित होने और कहीं न कहीं अवस्थित रहने' का साहचर्य-नियम अपने प्रत्यक्ष अनुभव से ही पता चल चुका होता है।

व्यङ्ग्य-प्रतीति को सूचन-बुद्धि का भी विषय नहीं माना जा सकता। बात यह है कि सूचन-बुद्धि भी एक प्रकार की अनुमान-प्रक्रिया ही है जैसे कि यदि किसी कपड़े आदि के विक्रेता ने, अपने किसी ग्राहक को, अपनी अंगुलियों के विविध संकेत से पहले ही परिचित कराकर, तर्जनी का संकेत किया और ग्राहक ने 'दस' संख्या समझ कर, तदनुसार मूल्य चुका दिया। अब इस प्रकार की सूचन-बुद्धि के संबन्ध में यह निश्चित है कि यहाँ 'सङ्केत' आदि का जो आदान-प्रदान है वह लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों पर निर्भर हुआ करता है। और ऐसा होने से अनुमान की भांति यह सूचन-बुद्धि भी 'संकेत के देने' और 'संकेत के समझने' में एक प्रकार की व्याप्ति के ही अनुसंधान की अपेक्षा करती है, जिससे यह अनुमान रूप ही रह जाती है। अब, जब कि अनुमान से काव्याभिव्यङ्ग्य अर्थों का अवबोध असंभव सिद्ध कर दिया गया, तब सूचन-बुद्धि से इनका अवबोध तो स्वयं असिद्ध सिद्ध हो गया।

संस्कार-जन्यता के कारण 'रसानुभूति' को 'स्मृति' मानना एक निराधार कल्पना है क्योंकि 'रस' को 'स्मरण'रूप सिद्ध करने में 'संस्कारजन्यता' हेतु नहीं अपितु एक हेत्वाभास है। यहां 'संस्कारजन्यता' इसलिये हेत्वाभास है क्योंकि इससे रस 'स्मृति'रूप ही क्यों 'प्रत्यभिज्ञा'रूप सिद्ध हो जाता है (प्रत्यभिज्ञा भी संस्कारजन्य है तब 'रस' स्मृति के बदले 'प्रत्यभिज्ञा'रूप क्यों न सिद्ध हो जाय)!

व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट ने जैसे उपर्युक्त ध्वनि-प्रसङ्गों में अपनी गजदृष्टि का प्रदर्शन किया है। (अर्थात् अधखुली आँख से उस वस्तु को भी नहीं देखा है जिसे लोग साधारणतया देख चुके हैं) वैसे ही 'दुर्गालङ्घितविग्रहो मनसिजम्' आदि सूक्ति की अभिधामूलक व्यञ्जना पर भी उनकी 'गजदृष्टि' यही निर्णय दे सकती है कि यहां वाच्यार्थभिन्न कोई अर्थ ही नहीं प्रतीत होता। सहृदय सामाजिक तो यहाँ व्यङ्ग्यार्थ से प्रभावित होते हैं। वे भला क्योंकर व्यक्तिविवेककार के कहने में पड़ जायँ?

अनुवाद—उपर्युक्त युक्ति-प्रत्युक्तियों के विवेचन से, अन्ततोगत्वा, जो निष्कर्ष निकला,

बोध्यतया च तुरीया वृत्तिरुपास्यैवेति सिद्धम्। इयं च 'व्याप्त्याद्यनुसन्धानं विनाऽपि भवतीत्यखिलं निर्मलम्।

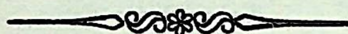
(व्यञ्जना : रसना : चतुर्थी वृत्ति के दो नाम और रूप)

तत्किंनामिकेयं वृत्तिरित्युच्यते—

सा चेयं व्यञ्जनानाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः।
रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिं रसनाख्यां परे विदुः॥ ५॥

एतच्च विविच्योक्तं रसनिरूपणप्रस्ताव इति सर्वमवदातम्।

इति साहित्यदर्पणे व्यञ्जनाव्यापारनिरूपणो नाम पञ्चमः परिच्छेदः।



आ सकता है वह यह है कि (१) स्वसंवेदन सिद्ध रसभावादि रूप काव्य-व्यङ्ग्य अर्थों का अपलाप असंभव है, (२) रसभावादि रूप अभिव्यङ्ग्य अर्थों के अभिव्यञ्जन के लिये ही कविजन विशिष्ट शब्दार्थ-योजना किया करते हैं जहां यह निश्चय हो जाता है कि अमुक शब्दार्थ-योजना से अमुक व्यङ्ग्यार्थ निष्पन्न होता है और उसके अभाव में वह व्यङ्ग्यार्थ भी नहीं रहा करता और इसलिये अनुमानादि प्रमाणों की यहां कोई आवश्यकता नहीं और (३) रसभावादि रूप व्यङ्ग्यार्थ में अभिधा, तात्पर्याख्या और लक्षणा की शक्तिओं का व्यापार कुण्ठित रहा करता है जिससे इनके अतिरिक्त यहां एक चौथी शक्ति की मान्यता अनिवार्य हो जाती है। यह चौथी वृत्ति अनुमिति नहीं जिसके लिये व्याप्ति-गवेषणा करनी पड़े और हेतु की आभासता से बचने का दावपेंच चलाना पड़े। जब कि इस चतुर्थी वृत्ति के मान लेने पर काव्य साहित्य के मर्म का निःशङ्क रूप से विश्लेषण संभव हो जाता है तब इसे मुक्तकण्ठ से क्यों न मान लिया जाय।

अनुवाद—अब, इस चतुर्थी वृत्ति का नाम क्या है ? इसका निर्णय है—

यही वह वृत्ति है जिसे प्राचीन ध्वनि-दार्शनिक काव्य-मर्मज्ञ (त्रिविध व्यङ्ग्यार्थ की दृष्टि से) 'व्यञ्जना' नाम से निर्दिष्ट करते आये हैं और जिसे, अन्य काव्यतत्त्वदर्शी (रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से), 'रसना' नाम से पुकारते रहे हैं।

यह 'रसना' वृत्ति क्या है इसका यहां विवेचन आवश्यक नहीं क्योंकि 'रसनिरूपण' के प्रसङ्ग में इसको पूर्णरूपेण विवेचित कर दिया गया है जहाँ इससे सम्बद्ध सभी शङ्कायें दूर हो गयी हैं।

साहित्यदर्पण का पञ्चम परिच्छेद समाप्त।



षष्ठः परिच्छेदः

(काव्य के अन्यनिमित्तक भेद : १ दृश्य काव्य और २ श्रव्य काव्य)

एवं ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेन काव्यस्य भेदद्वयमुक्त्वा पुनर्दृश्यश्रव्यत्वेन भेदद्वयमाह—

दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम् ।

('दृश्य' काव्य की 'रूपक' संज्ञा)

दृश्यं तत्राभिनेयं—

तस्य रूपकसंज्ञाहेतुमाह—

—तद्रूपारोपात्तु रूपकम् ॥ १ ॥

तद् दृश्यं काव्यं नटे रामादिस्वरूपारोपाद्रूपकमित्युच्यते ।

अनुवाद—पूर्वप्रतिपादित काव्य के भेद-प्रभेदों को तो 'प्रधानव्यङ्ग्यता' किंवा 'गुणीभूतव्यङ्ग्यता' की द्विविध विशेषता के आधार पर 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक दो भेदों में विभक्त किया जा चुका। अब इनकी 'दृश्यता' और 'श्रव्यता' की विशेषता के आधार पर इनके जो दो अन्य प्रकार के भेद हो सकते हैं उनका निरूपण किया जा रहा है—

'रसात्मकवाक्य' रूप काव्य ही (रंगमंच पर प्रदर्शन के कारण) 'दृश्य' और (स्वयं श्रवण-मनन के कारण) 'श्रव्य' रूप से दो भेदों में विभक्त है।

इन दोनों भेदों में 'दृश्य' नामक काव्य-भेद वह है जिसे 'अभिनय' द्वारा प्रदर्शित किया जाया करता है।

इस 'दृश्य' काव्य का एक और नाम 'रूपक' है। 'दृश्य' काव्य के 'रूपक' कहे जाने का कारण यह है—

'दृश्य' काव्य इसलिए 'रूपक' कहा जाया करता है क्योंकि इसके प्रदर्शक (नट) इसमें चित्रित चरितों के 'रूप' का अपने मन में 'आरोप' अर्थात् अनुसन्धान किये दिखायी दिया करते हैं।

तात्पर्य यह है कि चाक्षुष-प्रत्यक्ष के कारण जो 'रसात्मक वाक्य' रूप काव्य 'दृश्य' कहा जा सकता है वही उसके अभिनेता में, अभिनेय रामादि-चरितों के 'रूप' के 'आरोप' अथवा 'अनुसन्धान' के कारण 'रूपक' भी कहा जाया करता है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने यहाँ 'दृश्य' और 'रूपक' शब्दों को एकार्थवाचक भी माना है और परस्पर प्रवृत्तिनिमित्तक भेद से भिन्नार्थक भी स्वीकार किया है। सामाजिक की दृष्टि से जो कविकृति 'दृश्य' अथवा 'रूप' (रूपं दृश्यतयोच्यते—दशरूपक १.७) हुआ करती है, वही अभिनेता की दृष्टि से 'अभिनेय' अथवा 'नाट्य' (अवस्थानुकार = तादात्म्यापत्ति—दशरूपक १.७) है। रचनाकार कवि की दृष्टि से इसी को 'रूपक' कहा करते हैं क्योंकि जैसे कवि 'मुख' पर 'चन्द्र' के अभेदारोप में स्वतन्त्र है वैसे ही 'नट' पर रामादि की अवस्थाओं के अभेदारोप में भी कहा गया है—

('अभिनय' का स्वरूप-निरूपण)

कोऽसावभिनय इत्याह—

भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः ।
आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा ॥ २ ॥

नटैरङ्गादिभी रामयुधिष्ठिरादीनामवस्थानुकरणमभिनयः ।

'तदीदृशरसाधारं नाट्यं रूपकमित्यपि ।
नटस्यातिप्रवीणस्य कर्मत्वान्नाट्यमुच्यते ॥
यथा मुखादौ पद्मादेरारोपे रूपकप्रथा ।
तथैव नायकारोपो नटे रूपकमुच्यते ॥'

(रसार्णवसुधाकर : ३य विलास)

विश्वनाथ कविराज ने दशरूपककार के अनुकरण में 'रूप' शब्द का प्रयोग न कर 'दृश्य' शब्द का प्रयोग किया है जिसमें सामाजिक की दृष्टि के साथ-साथ आलङ्कारिक की भी दृष्टि से श्रव्य काव्य-भिन्न कविकृति का स्वरूप-निर्देश स्पष्टतया किया जा सके ।

अनुवाद—जैसा कि बताया गया कि 'दृश्य' काव्य 'अभिनय' द्वारा प्रदर्शित हुआ करता है, अब यह बताना आवश्यक है कि यह 'अभिनय' क्या है—

'अभिनय' का अभिप्राय है (अभिनेता द्वारा, अभिनेय चरितों की) अवस्थाओं (शरीर-वाणी-मन किंवा समस्त व्यक्तित्व की विशेषताओं) के 'अनुकार' अथवा 'अनुकरण' का । यह 'अवस्थानुकरण' चार प्रकार का हुआ करता है—१. आङ्गिक (अङ्ग द्वारा सम्पादित), २. वाचिक (वाणी द्वारा सम्पादित), ३. आहार्य (वेश-भूषा द्वारा सम्पादित) और ४. सात्त्विक (मनोभावों के आविष्करण द्वारा सम्पादित) ।

तात्पर्य यह है कि जिसे 'अभिनय' कहा करते हैं वह नट द्वारा, अपने अङ्ग, वाणी, आदि के विविध व्यापारों की सहायता से सम्पादित, राम, युधिष्ठिर आदि की अवस्थाओं का 'अनुकरण' हुआ करता है ।

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार ने 'अभिनय' का व्यावहारिक अर्थ लिया है पारमार्थिक नहीं । अभिनय को 'अवस्थानुकार' मानने वाले भी नाट्याचार्य हो चुके हैं और 'अनुव्यवसायात्मक' माननेवाले भी । 'अभिनय' की यह व्युत्पत्ति है—

'सामाजिकानामाभिमुख्येन साक्षात्कारेण नीयते प्राप्यतेऽर्थोऽनेनेत्यभिनयः ।'

अर्थात् 'अभिनय' वह है जिसके द्वारा सामाजिक, रामादि का साक्षात्कारात्मक अनुभव किया करते हैं । 'अभिनय' क्योंकर अनुकरणमात्र नहीं हो सकता—इसे नाट्यदर्पणकार ने इस प्रकार बताया है—

'अनुक्रिया च वागादीनां तदध्यवसायवशान्न पुनर्वस्तुतः । रामादेरनुकार्यस्य नटेन प्रेक्षकैर्वा स्वयमदृष्टत्वात् । अनुकर्ता हि अनुकार्यमदृष्ट्वा नानुकर्तुमलम् । प्रेक्षकोऽपि चादृष्टानुकार्यो नानुकर्तुरनुकर्तृत्वमनुमन्यते । तदयं नटो रामादेश्चरितं कविनिबद्धमधीत्यात्यन्ताभ्यासवशतः स्वयं दृष्टमनुमन्यमानोऽनुकरोमीत्यध्यवस्यति । परमार्थतस्तु लोकव्यवहारमेवायमनुवर्तते । प्रहृष्टोऽपि हि रामेण रुदिते रोदिति, न तु हसति । विषण्णोऽपि च हसिते हसति न तु रोदितीत्यादि । प्रेक्षका अपि रामादिशब्दसंकेतश्रवणादतिहृद्यसंगीतकाहितवैवश्याच्च स्वरूप-देश-कालभेदेनातथाभूतेष्वप्यभिनयचतुष्टयाच्छादनात् तथाभूतेष्विव नटेषु रामादीनध्यवस्यति । अत एव तासु-तासु सुख-दुःखरूपासु रामाद्यवस्थासु

(रूपक के १० भेद)

रूपकस्य भेदानाह—

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः ।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश ॥ ३ ॥

('रूपक' के अतिरिक्त 'उपरूपक' सामान्यस्वरूप-निर्देश)

किञ्च—

नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम् ।
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा ॥ ४ ॥
संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका ।
दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेति च ॥ ५ ॥
अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः ।
विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम् ॥ ६ ॥

तन्मयी भवति । अपरे तेषु तु नाम-संकेत-संगीतकाभिनयेषु रामाद्यध्यवसायहेतुपूपदेश-परमेतदिति मन्यमाना हेयोपादेय-हानोपादानैकतानचेतसो जायन्ते। अथवा इह तावदित्थ-माकृतिरित्थं गतिरित्थं जल्पितमित्थं क्रोधादिललितमित्येवमशेषमपि रामादिललितमृषीणां कालदर्शिनां ज्ञानेन निश्चितं कवयो नाटके निबध्नन्ति । तत्र चार्थे मुनिज्ञानविश्वासान्नटस्य साक्षाद् दर्शनमेव । अपि च कदाचिन्मांसदृशो वस्तुस्वरूपे भ्राम्यन्ति न पुनर्ज्ञानदृशः। तत्र मुनिज्ञानदर्शितमर्थदर्शनादप्यधिकतरमवगतं वस्तुत एवानुकुर्वाणो दुर्विदग्धबुद्धिभिः कथङ्कारमपाक्रियते वराको नटः ? प्रेक्षकाणां तु सत्यसति च स्वदर्शने नटेषु रामाद्यध्यवसाय एव, अन्यथा तु कृत्रिममेतदिति जानन्तो न रामादिसुखदुःखेषु तन्मयीभवेयुः।

[नाट्यदर्पण : ३य विवेक]

'अभिनय' के चार भेद हैं—१. वाचिक, अर्थात् वह जिसे रामादि के उन-उन भावविकारों से सम्बद्ध वाग्व्यवहार का नट के वाग्व्यवहार द्वारा साक्षात्कार कहा गया है, २. आङ्गिक, अर्थात् वह जिसे रामादि के विविध भावगर्भ अङ्ग और उपाङ्ग के व्यापारों का नट के अङ्ग और उपाङ्ग के व्यापारों द्वारा साक्षाद्दर्शन माना गया है, ३. सात्त्विक, अर्थात् वह जो कि रामादि के विविध सत्त्व (मनोदशा) का नट के तदनुरूप सत्त्व (मनोदशा) द्वारा साक्षात्कार कहा जाया करता है और ४. आहार्य अथवा वह जिसे रामादि के जीवन से सम्बद्ध विविध बाह्य पदार्थों का, नट द्वारा प्रदर्शित तदनुरूप बाह्यपदार्थों द्वारा साक्षाद्दर्शन माना गया है ।

अनुवाद—'रूपक' के कतिपय भेद-प्रभेद भी हैं जिनका अब निरूपण किया जा रहा है—'रूपक' के ये १० प्रकार हैं—(१) नाटक, (२) प्रकरण, (३) भाण, (४) व्यायोग, (५) समवकार, (६) डिम, (७) ईहामृग, (८) अङ्क, (९) वीथी और (१०) प्रहसन ।

नाट्यकोविदों ने इन १० रूपकों के अतिरिक्त जिन १८ प्रकार के 'उपरूपकों' को दृश्य काव्य का प्रकार माना है वे ये हैं—(१) नाटिका, (२) त्रोटक, (३) गोष्ठी, (४) सट्टक, (५) नाट्यरासक, (६) प्रस्थान, (७) उल्लाप्य, (८) काव्य, (९) प्रेङ्खण,

सर्वेषां प्रकरणादिरूपकाणां नाटिकाद्युपरूपकाणां च ।

(१ म रूपक-प्रकार : नाटक : स्वरूपनिरूपण)

तत्र—

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसंधिसमन्वितम् ।
विलासद्धर्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः ॥ ७ ॥
सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम् ।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्त्तिताः ॥ ८ ॥

---

(१०) रासक, (११) संलापक, (१२) श्रीगदित, (१३) शिल्पक, (१४) विलासिका, (१५) दुर्मल्लिका, (१६) प्रकरणी, (१७) हल्लीशक और (१८) भाणिका। इन उपर्युक्त सभी प्रकारों का सामान्य स्वरूप वही है जो कि 'नाटक' नामक प्रथम रूपक-प्रकार का (जैसा कि अभी बताया जायगा) हुआ करता है।

यहां 'सर्वेषाम्' (सभी प्रकारों) का अभिप्राय 'प्रकरण' आदि ९ रूपकों और 'नाटिका' आदि १८ उपरूपकों का है।

विमर्श—'रूपक' और 'उपरूपक' का भेद काल्पनिक नहीं अपि तु वास्तविक है। रूपक तो 'नाट्य' है और उपरूपक 'नृत्य'। 'नाट्य' रसाश्रय हुआ करता है और 'नृत्य' भावाश्रय। रूपक को 'वाक्यार्थाभिनयात्मक' कहा गया है और 'उपरूपक' को 'पदार्थाभिनयात्मक'। नाट्याचार्य भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में १० रूपकों का तो पूर्ण निरूपण है किन्तु उपरूपकों का कोई निर्देश नहीं। नाट्यवेद में उपरूपक-विमर्श की परम्परा सर्वप्रथम संभवतः नाट्याचार्य कोहल से प्रारम्भ हुई है। अभिनवभारतीकार की यह उक्ति—

'प्रयोगाय प्रयोगत इति व्याख्याने प्रयोगत इति विफलमेव। उक्तव्याख्याने तु कोहलादिलक्षिततोटकसट्टकरासकादिसंग्रहः फलम्। (अभिनव भारती, पृष्ठ ४०७)

इसी बात का संकेत करती है कि उपरूपक-विकल्प कोहल और उनके अनुयायी नाट्याचार्यों का काम है।

आचार्य धनिक ने उपरूपकों को नृत्यभेद माना है—

'डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणी प्रस्थानरासकाः।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत् ॥

(दशरूपक : अवलोक १. ८)

अर्थात् रूपक तो रसाश्रय काव्य-प्रबन्ध होने के नाते नाट्य-भेद है और उपरूपक भावाश्रय होने के कारण नृत्य-भेद। रूपक के अभिनय में चतुर्विध अभिनय की अपेक्षा है और उपरूपक के अभिनय में आङ्गिक अभिनय का बाहुल्य रहा करता है।

उपरूपक के प्रकार भी भिन्न-भिन्न नाट्याचार्यों की दृष्टि में भिन्न-भिन्न ही हैं। भोजराज का 'शृंगारप्रकाश' १४ उपरूपकों का वर्णन करता है। शारदातनय के 'भावप्रकाशन' में १८ उपरूपकों का सोदाहरण लक्षण मिलता है। साहित्यदर्पणकार का उपरूपक-निरूपण शारदातनय के ही उपरूपक-विवेक के आधार पर हुआ है।

अनुवाद—इन १० रूपक प्रकारों में 'नाटक' नामक जो १ म रूपक-प्रकार है उसका स्वरूप-निर्देश यह है—

'नाटक' नामक रूपक वह दृश्यकाव्य है जिसकी शरीर-रचना किसी प्रसिद्ध वृत्त से

प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ॥ ९ ॥
एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ॥ १० ॥
चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः ।
गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ॥ ११ ॥

ख्यातं रामायणादिप्रसिद्धं वृत्तम् । यथा—रामचरितादि । सन्धयो वक्ष्यन्ते । नानाविभूतिभिर्युक्तमिति महासहायम् । सुखदुःखसमुद्भूतत्वं रामयुधिष्ठिरादिवृत्तान्तेष्वभिव्यक्तम् । राजर्षयो दुष्यन्तादयः । दिव्याः श्रीकृष्णादयः । दिव्यादिव्यः, यो दिव्योऽप्यात्मनि नराभिमानी । यथा श्रीरामचन्द्रः ।

की जाया करती है । नाटक के इस (इतिवृत्तात्मक) शरीर में पांच संधियाँ हुआ करती हैं । उन-उन चरितों के उदात्त गुणों और अभ्युदयों के उपनिबन्धन के कारण यह भी उदात्त और श्री-समृद्ध हुआ करता है । इसके उद्भव का कारण मानव का सुख-दुःखात्मक जीवन है । इसमें भिन्न-भिन्न रसों और भावों का अनुभव हुआ करता है । इसकी रचना कम से कम पांच और अधिक से अधिक दस अङ्कों में पूर्ण हुआ करती है । इसका 'नायक' किसी प्रसिद्ध राजवंश का कोई राजर्षि हो सकता है । इसके नायक के लिये धीर और उदात्त होना, प्रतापी होना और नायकोचित-गुण-सम्पन्न होना अत्यन्त आवश्यक हैं । यह नायक 'दिव्य' (देवलोक का निवासी) 'अदिव्य' (मर्त्यलोक का निवासी) या 'दिव्यादिव्य' (दिव्य किन्तु मानवरूप में विराजमान) तीनों में से कोई भी महान् व्यक्तित्व हो सकता है । इस रूपक-प्रकार में एक ही रस का मुख्य रूप से अभिव्यङ्ग्य होना आवश्यक है और यह मुख्यतया अभिव्यङ्ग्य रस या तो 'शृङ्गार' हो सकता है या 'वीर' । और जो रस-भाव हैं वे भी यहां अभिव्यक्त रहा करते हैं किन्तु मुख्य रूप से नहीं अपि तु अङ्गरूप (मुख्य रस के उपकारक रूप) से ही । इस रूपक-प्रबन्ध का अन्त विस्मयोत्पादक हुआ करता है । इसमें उन-उन कार्यों में व्याप्त चार या पांच प्रधान पुरुषों का चरित-वर्णन अपेक्षित है । इसकी रचना गोपुच्छ के अग्रभाग के समान हो तो अच्छी लगती है ।

यहां नाटक के 'ख्यातवृत्त' होने का अभिप्राय है उसके इतिवृत्त के रामायण आदि के प्रसिद्ध राम आदि महापुरुषों के चरित के आधार पर रचे जाने का । नाटक का (इतिवृत्त-सन्धान रूप) 'सन्धिपञ्चक' क्या है ? इसे तो आगे बताया ही जा रहा है । नाटक के 'नाना विभूतिओं से युक्त' होने का अभिप्राय उसमें नायक के समान महनीय चरितवाले सहायकों के चरित-चित्रण का अभिप्राय है । नाटक किस प्रकार 'सुखदुःख-समुद्भव' हुआ करता है यह तो राम, युधिष्ठिर आदि महापुरुषों के चरित-चित्रणों से युक्त नाटकों में स्पष्ट ही है । यहां 'राजर्षिओं' से अभिप्राय दुष्यन्त आदि सरीखे महनीय राजवंशोद्भव महापुरुषों से है । 'दिव्य' चरित नायकों का तात्पर्य भगवान् श्रीकृष्ण आदि सरीखे नायकों का है और 'दिव्यादिव्य' नायकों से श्री रामचन्द्र सरीखे नायक समझे जा सकते हैं जो 'दिव्य' अथवा भगवदवतार होने पर भी मानवलोक में मानव सा व्यवहार किया करते हैं ।

गोपुच्छाग्रसमाग्रमिति 'क्रमेणाङ्काः सूक्ष्माः कर्तव्याः' इति केचित्। अन्ये त्वाहुः—'यथा गोपुच्छे केचिद्वाला ह्रस्वाः केचिद्दीर्घास्तथेह कानिचित्कार्याणि मुखसंधौ समाप्तानि कानिचित्प्रतिमुखे। एवमन्येष्वपि कानिचित्कानिचित्'इति।

नाटक के 'गोपुच्छाग्रसमान' होने का तात्पर्य, कतिपय नाट्यकोविदों की दृष्टि में, 'उसके अङ्कों का क्रमशः छोटा होता जाना' है। किन्तु अन्य नाट्य-मर्मज्ञ इसका जो अभिप्राय लेते हैं। वह यह है कि 'जैसे गोपुच्छ में कुछ बाल कहीं छोटे होते हैं और कहीं बड़े, वैसे ही नाटक में भी कुछ वृत्त-वर्णन अथवा चरित-चित्रण ऐसे हुआ करते हैं जो मुख सन्धि में ही समाप्त हो जाया करते हैं, कुछ ऐसे, जो प्रतिमुख-सन्धि में समाप्त होते हैं और इसी भांति कुछ गर्भ में, कुछ विमर्श में और कुछ निर्वहण में समाप्त हुआ करते हैं।

विमर्श—(क) सभी नाट्याचार्य 'नाटक' को ही सर्वश्रेष्ठ रूपक-प्रकार माना करते हैं। 'नाटक' में अन्य रूपक-प्रकारों की अपेक्षा रञ्जनाधिक्य रहा करता है, अधिकाधिक रसाविर्भाव हुआ करता है और सर्वाङ्गीण अभिनय-सौन्दर्य दिखायी दिया करता है। दशरूपककार ने 'नाटक' को अन्य रूपक–प्रकारों की 'प्रकृति' माना है जिसका संकेत यह है कि प्रकरणादि नाटक के 'विकृति' रूप हैं—

'प्रकृतित्वादथान्येषां भूयो रसपरिग्रहात्।
संपूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते॥' (दशरूपक : ३.१)

किन्तु विकास-क्रम की दृष्टि से यह अधिक स्वाभाविक है कि 'नाटक' को ही 'अङ्क' से आरम्भ कर 'प्रकरण'-पर्यन्त रूपक-प्रकारों का सर्वाङ्गसुन्दर संस्कृत रूप माना जाय। 'नाटक' रचना कितनी बड़ी नाट्य-कला-साधना है इसे 'भावप्रकाशन'कार के इन शब्दों में देख सकते हैं—

'अपि सिध्येत विदुषां मुक्तिरभ्यासकौशलात्।
न तु नाटकविद्येयं सर्वलोकानुरञ्जिनी॥'

(ख) 'नाटक' शब्द की यह व्युत्पत्ति—

'नाटकमिति नाटयति विचित्रं रञ्जनाप्रवेशेन सभ्यानां हृदयं नर्तयतीति नाटकम्।
(नाट्यदर्पण : १.५)

रूपकों में 'नाटक' की महत्ता को स्पष्ट प्रकट कर देती है। अन्य रूपकों में भी 'रञ्जना' का समावेश रहा करता है किन्तु 'नाटक' की 'रञ्जना' इतनी विचित्र हुआ करती है कि इससे सामाजिकों का हृदय नाच उठता है।

(ग) नाट्याचार्य भरतमुनि ने नाटक को ही 'नाट्य' का उत्थान (उद्भव) कहा है—

'धर्मार्थसाधनं नाट्यं सर्वदुःखापनोदकृत्।
आसेवध्वं तदृषयस्तस्योत्थानं तु नाटकम्॥'

और इससे भी रूपक-प्रबन्धों में नाटक की महिमा का पता चल जाता है।

(घ) नाटक के 'ख्यातवृत्त' होने की मान्यता तो सभी नाट्यशास्त्रकारों की मान्यता है किन्तु इसके नायक के 'दिव्य' होने की बात कतिपय नाट्य-मर्मज्ञ नहीं मानते। नाट्यदर्पणकार ने ही कहा है—

'नाटकं हि रामवद् वर्तितव्यं न रावणवदित्युपदेशपरम्। देवतानां तु दुरुपपादस्याप्यर्थस्येच्छामात्रत एव सिद्धिरिति तच्चरितमशक्यानुष्ठानत्वान्न मर्त्यानामुपदेशयोग्यम्, तेन ये दिव्यमपि नेतारं मन्यन्ते, न सम्यगमंसत। नायिका तु दिव्यापि भवति यथोर्वशी, प्रधाने मर्त्यचरिते तच्चरितान्तर्भावात्। उपदेशानर्हप्रायवृत्तत्वेन दीप्तरसत्वेनैव च समवकारादौ दिव्योऽपि नेता न विरुध्यते।'

(नाटकीय परिच्छेद : अङ्कस्वरूप और महत्त्व)

प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः ।
भवेदगूढशब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः ॥ १२ ॥
विच्छिन्नावान्तरैकार्थः किञ्चित्संलग्नबिन्दुकः ।
युक्तो न बहुभिः कार्यैर्बीजसंहृतिमान्न च ॥ १३ ॥
नानाविधानसंयुक्तो नातिप्रचुरपद्यवान् ।
आवश्यकानां कार्याणामविरोधाद्विनिर्मितः ॥ १४ ॥
नानेकदिननिर्वर्त्यकथया संप्रयोजितः ।
आसन्ननायकः पात्रैर्युतस्त्रिचतुरैस्तथा ॥ १५ ॥

अर्थात् नाटक का प्रयोजन सत्सोपदेश हुआ करता है। देवों के चरित से मानव को क्या उपदेश मिले ? देवगण तो इच्छामात्र से समस्त वस्तुओं का भोग कर सकते हैं। नाटक में आशा-निराशा का द्वन्द्व आवश्यक हैं न कि इच्छामात्र से अभ्युदय-प्राप्ति। वैसे 'समवकार' नामक रूपक-भेद में देवविशेष को नायक बनाया जाया करता है क्योंकि वहाँ रसास्वाद ही परम प्रयोजन है न कि 'रामवद् वर्तितव्यम् न रावणवत्' का कर्त्तव्योपदेश।

(ङ) नाटक की रचना का 'गोपुच्छाग्र'समान होना नाट्याचार्य भरतमुनि को भी मान्य है—

'कार्यं गोपुच्छाग्रं कर्त्तव्यं काव्यबन्धमासाद्य।
ये चोदात्ता भावास्ते सर्वे पृष्ठतः कार्याः ॥' (नाट्यशास्त्र : २०-४६)

नाटक के 'गोपुच्छाग्रवत्' निर्माण का वास्तविक अभिप्राय यह है—

'गोपुच्छकेशकल्यानि नाट्यवस्तूनि कल्पयेत्।
उदात्ता रञ्जका भावाः स्थापनीयाः पुरः पुरः ॥'

गोपुच्छस्य च केशाः केचित् स्तोकमात्रयायिनः केचिन्मध्यावधयः केचिदन्तव्यापिनः। एवं प्रबन्धवस्तून्यपि। यथा रत्नावल्यां प्रमोदोत्सवो मुखसन्धावेव निष्ठितः, मुखोपक्षिप्तो बाभ्रव्यादिवृत्तान्तश्च निर्वहणारम्भे, रत्नावलीप्राप्त्यादयश्च साररूपाः पदार्था अन्त इति। उदात्ता उत्तमप्रकृतियोग्याः। अनुदात्ता अपि ये रञ्जका भावास्ते सकलस्यापि प्रबन्धस्य रसारोहार्थं पुरः पुरो निवेशनीयाः।' (नाट्यदर्पण : १. १७)

अनुवाद—'अङ्क' नाटक का वह अवच्छेद अथवा अन्तर्विभाग है जिसमें सामाजिकों की दृष्टि नायकचरित का साक्षात्कार किया करती है, जिसमें रसभावों का अभिव्यञ्जन-सौन्दर्य स्पष्ट प्रतीत हुआ करता है, जिसके शब्द से अर्थ और अर्थ से कवि-हृदय स्वभावतः झलका करता है, जिसमें असमस्त पदयोजना की एक शोभा दिखाई दिया करती है, जिसमें आधिकारिक वृत्त का एक अंश समाप्त रहा करता है, जिसमें अग्रिम इतिवृत्त की आकांक्षा के उत्थापक वृत्त की सूक्ष्म सूचना दी गयी रहती है, जिसमें (सामाजिक हृदय की उत्तरोत्तर उत्सुकता-वृद्धि की दृष्टि से) नायक के कतिपय कार्यों की ही योजना की गयी होती है, जिसमें 'बीज' अर्थात् नाटक के पार्यन्तिक रस-भोग के अङ्कुर की इतिश्री नहीं दिखायी जाया करती, जिसमें अनेकानेक घटनाचक्र का वर्णन रहा करता है, जिसमें (श्रव्यकाव्य की भाँति) पद्यों की भरमार नहीं हुआ करती, जिसमें नायकादि के नित्यादि कर्मों के अनुष्ठान के विरुद्ध कर्मों का निरूपण नहीं किया जाया करता,

दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः ।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा ॥ १६ ॥
दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद् व्रीडाकरं च यत् ।
शयनाधरपानादि नगराद्यवरोधनम् ॥ १७ ॥
स्नानानुलेपने चैभिर्वर्जितो नातिविस्तरः ।
देवीपरिजनादीनाममात्यवणिजामपि ॥ १८ ॥
प्रत्यक्षचित्रचरितैर्युक्तो भावरसोद्भवैः ।
अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्त्तितः ॥ १९ ॥

बिन्द्वादयो वक्ष्यन्ते । आवश्यकं संध्यावन्दनादि ।

जिसमें ऐसी कथा की रचना नहीं हुआ करती जो कई दिन तक चलती रहे, जिसमें नायक-चरित, साक्षात् चित्रित न होने पर भी, यत्र-तत्र अभिव्यङ्ग्य रूप से विराजमान रहा करता है, जिसमें तीन या चार पात्रों के अभिनय का आनन्द लिया जाया करता है, जिसमें दूराह्वान (दूर से किसी को चिल्लाकर पुकारना), मारकाट. लड़ाई, राज्यविप्लव, देश-विद्रोह, विवाह, भोजन, शाप, मलमूत्रत्याग, मृत्यु, रतिक्रीडा, दन्तक्षत, नखक्षत, अन्यान्य लज्जास्पद विषय, शयन, अधरपान, नगर अथवा दुर्ग का उपरोध, स्नान, अनुलेपन आदि आदि अरञ्जक किंवा अरसास्पद विषयों का वर्णन नहीं किया जाया करता, जिसमें राजमहिषी. राजपरिच्छद, राजामात्य, राजनगर, श्रेष्ठी आदि आदि के प्रत्यक्ष किंवा मनोरञ्जक ऐसे चित्र खींचे हुए रहते हैं जो रसों किंवा भावों के स्वभावतः आविर्भावक लगा करते हैं और जिसके अन्त में सभी पात्र अपना-अपना अभिनय समाप्त कर रंगमंच से निकलते दिखाई दिया करते हैं ।

यहाँ कारिका में 'बिन्दु' आदि का जो निर्देश किया गया है उसका विचार-विमर्श आगे किया जा रहा है । 'आवश्यक कार्यों से अविरोध' का अभिप्राय सन्ध्या-वन्दन आदि नित्यकर्मानुष्ठान के अविरोध का अभिप्राय है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरत मुनि ने 'अङ्क' का यह स्वरूप-निरूपण किया है—

'अङ्क इति रूढिशब्दो भावै रसैश्च रोहयत्यर्थान् ।
नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्माद् भवेदङ्कः ॥'
अङ्कसमाप्तिः काव्यच्छेदो न बीजसंहारः ।
वस्तुव्यापी बिन्दुः काव्यसमुत्थोऽत्र नित्यं स्यात् ॥
ये नायका निगदितास्तेषां प्रत्यक्षचारिसंयोगः ।
नानावस्थान्तरितः कार्यस्त्वङ्को यथार्थरसः ॥
नायकदेवीपरिजनपुरोहितामात्यसार्थवाहानाम् ।
नैकरसान्तरविहितो ह्यङ्कः खलु वेदितव्यः सः ॥
एकदिवसप्रवृत्तः कार्यस्त्वङ्कोऽथ बीजमधिकृत्य ।
आवश्यककार्याणामविरोधेन प्रयोगेषु ॥

(नाट्यशास्त्र अध्याय २० चौखम्बा)

(अङ्कान्तर्गत अङ्क : गर्भाङ्क)

अङ्कप्रस्तावाद् गर्भाङ्कमाह—

अङ्कोदरप्रविष्टो यो रङ्गद्वारामुखादिमान् ।
अङ्कोऽपरः स गर्भाङ्कः सबीजः फलवानपि ॥ २० ॥

यथा बालरामायणे रावणं प्रति कोहलः—

'श्रवणैः पेयमनेकैर्दृश्यं दीर्घैश्च लोचनैर्बहुभिः ।
भवदर्थमिव निबद्धं नाट्यं सीतास्वयंवरणम् ॥'

इत्यादिना विरचितः सीतास्वयंवरो नाम गर्भाङ्कः ।

जिसे प्रायः सभी नाट्यशास्त्रकारों ने अपने-अपने शब्दों में दुहराया है। 'अङ्क' रूपकों के अवच्छेद अथवा अन्तः खण्ड का नाम है—'अवस्थायाः समाप्तिर्वा च्छेदो वा कार्ययोगतः। अङ्कः......अवस्था......प्रारम्भादिकाः पञ्च । तत्रान्यतमस्या अवस्थाया उपक्रम-निष्पत्तिभ्यां या समाप्तिः। असमाप्तायामप्यवस्थायां कार्यवशेन यो वा च्छेदः खण्डनं सोऽङ्कः (नाट्यदर्पण : १. १९) 'अङ्क' का 'बिन्दुयुक्त' होना अत्यावश्यक है। 'अङ्क' के 'बिन्दु'-युक्त होने का अभिप्राय नाटक के पूर्व और उत्तर अवच्छेदों की सम्बद्धार्थकता के संरक्षण का अभिप्राय है।

जैसे 'श्रव्यकाव्य' का चिह्न उसका 'सर्ग' विभाग है वैसे ही दृश्यकाव्य का चिह्न उसका 'अङ्क'-विभाग हैं। 'अङ्क' का अभिप्राय गोद भी है। नाटक के एक-एक अवच्छेद रसभावों के लालन-पालन के लिये गोद का काम किया करते हैं इसलिये भी इन्हें 'अङ्क' कहा जाया करता है। रसार्णवसुधाकरकार ने इसीलिये कहा है—

'रसालङ्कारवस्तूनामुपलालनकाङ्क्षिणाम् ।
जनकाङ्कवदाधारभूतत्वादङ्क उच्यते ॥' (रसार्णवसुधाकर ३. १९७)

अनुवाद—'अङ्क' के निरूपण-प्रसङ्ग के साथ-साथ 'गर्भाङ्क' का भी निरूपण कर दिया जाता है—

'गर्भाङ्क' क्या है ? गर्भाङ्क वस्तुतः (किसी नाटक के) एक अङ्क के अन्तर्गत रहनेवाले दूसरे अङ्क का नाम है। इसमें भी (अङ्क की भांति) सूत्रधारकृत मङ्गलाचरण किंवा प्रस्तावना आदि अनिवार्य हैं। इसमें भी बीजरूप इतिवृत्तार्थ किंवा नायक के प्रधान प्रयोजन का अंशतः उपन्यास आवश्यक है।

उदाहरणार्थ (महाकवि राजशेखर-रचित) बालरामायण के तृतीय अङ्क में अन्त-र्निविष्ट 'सीतास्वयंवर' नामक गर्भाङ्क, जो इस उपक्रम के साथ प्रारम्भ होता है—

'कोहल नामक नट (रावण को लक्ष्यकर)—

नाट्यपारङ्गत राक्षसराज ! यह 'सीतास्वयंवर' नाटक है—अनेकानेक श्रवणपुटों से जिसके अमृत का पान किया जा सके और अनेकानेक नेत्रों से जिसके दृश्यों का दर्शन किया जा सके। भला आपके अतिरिक्त और कौन (दशानन) है जो इसे सुन सके और देख सके।'

विमर्श—'अङ्क' में तो मुख्य अथवा सरस वस्तु का ही विनिवेश किया जाया करता है किन्तु अन्य जो वस्तु-प्रकार हैं जैसे कि 'सूच्य' 'प्रयोज्य' 'अभ्यूह्य' और 'उपेक्ष्य' उनके उपन्यास के लिये विष्कम्भक, प्रवेशक आदि उपायों का आश्रय अपेक्षित माना गया है। 'गर्भाङ्क' भी एक उपाय ही है जिसे नाटककार 'सूच्य'वस्तु के अल्पतम काल-व्यापी होने पर अपनाया करता है।

(नाटक-प्रयोग की प्रक्रिया : पूर्वरङ्गविधान)

तत्र पूर्वं पूर्वरङ्गः सभापूजा ततः परम् ।
कथनं कविसंज्ञादेर्नाटकस्याऽप्यथामुखम् ॥ २१ ॥

तत्रेति नाटके ।

'गर्भाङ्क' की योजना के अलग-अलग उद्देश्य हैं। कहीं तो यह रसोत्कर्ष के लिये रचा गया है, जैसे कि उत्तररामचरित में, कहीं नायकोत्कर्ष के लिये, जैसे कि बालरामायण में और कहीं वस्तूत्कर्ष के लिये जैसे कि 'अमोघराघव' में। रसार्णवसुधाकरकार ने इसीलिये कहा है--

'रस-नायक-वस्तूनां महोत्कर्षाय कोविदैः ।
अङ्कस्य मध्ये योऽङ्कः स्यादयं गर्भाङ्क ईरितः ॥'

(रसार्णवसुधाकर : ३ य विलास)

अनुवाद--नाटक के प्रयोग की यह प्रक्रिया है—

सर्वप्रथम पूर्वरङ्गविधान, तदनन्तर रङ्गसभापूजन, तत्पश्चात् नाटककवि किंवा नाटक के नाम का संकीर्तन और अन्त में 'आमुख' अथवा प्रस्तावनाविधि।

यहाँ ('तत्र पूर्वं' आदि कारिका में) 'तत्र' से अभिप्राय नाटक से है (न कि अङ्क अथवा गर्भाङ्क से)।

विमर्श--(क) साहित्यदर्पणकार का विषय 'नाटक-रचना' है न कि नाटक-प्रयोग। किन्तु प्राचीन नाट्यशास्त्रकारों की परम्परा के अनुसरण में साहित्यदर्पणकार ने नाटक-प्रयोग की प्राचीन मर्यादा का भी संकेत करना आवश्यक समझा है और इसीलिये यहां पूर्वरङ्ग आदि की प्रक्रिया का उल्लेख कर दिया है। वस्तुतः साहित्यदर्पणकार का 'पूर्वरङ्ग' नान्दीगायन है न कि प्राचीन रंगमंच का 'द्वाविंशदङ्गात्मक' (२२ अङ्गोंवाला) पूर्वरङ्ग।

(ख) 'पूर्वरङ्ग' क्या है ? इसे जानने के पहले 'रङ्ग' किसे कहते हैं ? यह जानना आवश्यक है। 'रंग' का अभिप्राय यह है--

'सभापतिः सभा सभ्या गायका वादका अपि ।
नटी नटाश्च मोदन्ते यत्रान्योन्यानुरञ्जनात् ॥
अतो रङ्ग इति ज्ञेयः पूर्वं यत्स प्रकल्प्यते ।
तस्मादयं पूर्वरङ्ग इति विद्वद्भिरुच्यते ।
कला पादाः पादभागाः परिवर्ताश्च सूरिभिः ॥
पूर्वं क्रियन्ते यद्रङ्गे पूर्वरङ्गो भवेदतः ।'

(भावप्रकाशन : ७ अधिकार)

अर्थात् सामाजिकजन किंवा अभिनेतृवृन्द के चित्तरञ्जन की उद्भवभूमि का नाम 'रङ्ग' है। नाटक के प्रयोग के पहले गीत किंवा वाद्य-विधान ही वह साधन है जिससे चित्त अधिकाधिक एकाग्र हो सकता है और नाटक के प्रति उन्मुख हो सकता है। 'रङ्ग' में (अथवा रङ्गमञ्च पर) संगीत का यह आयोजन ही 'पूर्वरङ्ग' है। 'प्रत्याहार' अथवा मृदङ्गादि वाद्य-यन्त्रों के एकत्रीकरण से आरम्भ कर 'महाचारि' अथवा गायक-वादकों के मण्डलादि प्रचार-पर्यन्त की क्रियाविधि 'पूर्वरङ्ग' की रूप-रेखा है। 'पूर्वरङ्ग' की यह विधि साहित्यदर्पणकार के समसामयिक 'रङ्ग' के लिये एक स्मृतिमात्र थी। १४ शताब्दी का रङ्गमञ्च 'नान्दीगायन' में ही 'पूर्वरङ्ग' की समस्त रूपरेखा का आभास पा लिया करता होगा। साहित्यदर्पणकार ने इसी दृष्टि से यहां 'पूर्वरङ्ग' का संकेत किया है।

(पूर्वरङ्ग : नान्दीगायन)

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥ २२ ॥
प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि ।
तथाऽप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥ २३ ॥

(नान्दी क्या है)

तस्याः स्वरूपमाह—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥ २४ ॥
माङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी ।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥ २५ ॥

(ग) 'पूर्वरङ्ग' विधान के बाद रङ्गसभा-पूजन अपेक्षित माना गया है क्योंकि रङ्ग सभासदों के लिये ही पूर्वरङ्ग की भूमिका आवश्यक मानी गयी है। नाटक अथवा स्वनाम-संकीर्तन आदि नाटककार किंवा नटों के 'वाञ्छाकलाप' में अन्तर्भूत माना गया है—

'वाञ्छाकलापस्तु कवेरभीष्टार्थप्रकाशनम् ।
स्वाभिधेयगतत्वेन तद् द्विधा परिपठ्यते ॥
स्वगतं तु स्वगोत्रादि स्वस्य कीर्तिप्रकाशनम् ।
अभिधेयगतं यत्तत् काव्यनाम्ना प्रकाशनम् ॥' (भावप्रकाशन)

अनुवाद—'रङ्ग' अथवा नाट्यमण्डप की विघ्न-शान्ति (किंवा मङ्गलाशंसा) के लिये, नाट्यप्रयोग के पहले, नटों के द्वारा किया गया जो भी माङ्गल्य गायनवादनादि है वह 'पूर्वरङ्ग' कहा जाया करता है। यद्यपि यह 'पूर्वरङ्ग' प्रत्याहार (तन्त्री, भाण्ड आदि के समानयन) आदि अनेकानेक क्रियाकलापों का सम्मिलित रूप है किन्तु तब भी इसके प्रमुख अंग 'नान्दीगायन' का अनुष्ठान अवश्य किया जाना चाहिये क्योंकि अधिकाधिक विघ्नशान्ति का सम्बन्ध इस 'नान्दी गायन' के ही साथ है।

विमर्श—'नान्दी' और 'रङ्गविघ्नशान्ति' का अटूट सम्बन्ध है जैसा कि भावप्रकाशन की इन पंक्तियों का संकेत है—

'नन्दी वृषो वृषाङ्कस्य जगदादौ जगत्पतेः ।
नृत्यतः कल्पनायोगाज्जगाम किल रङ्गताम् ॥
तस्य तद्रूपसम्बन्धात् पूजा नान्दीति कथ्यते ।
देवतादिनमस्कारमङ्गलारम्भपाठकैः ॥
या क्रिया नन्यते नाट्यारम्भे नान्दीति स स्मृता ।'

(भावप्रकाशन : ७ म अधिकार)

अनुवाद—नान्दी-स्वरूप-निरूपण—

'नान्दी' देव, द्विज, नृप आदि की ऐसी स्तुति-गीति है जिसमें रङ्ग-सामाजिकों की शुभाशंसा का अभिप्राय गर्भित रहा करता है। इस नान्दी-गीति के लिये यह अपेक्षित

अष्टपदा यथा अनर्घराघवे—'निष्प्रत्यूहम्' इत्यादि। द्वादशपदा यथा मम तातपादानां पुष्पमालायाम्—

शिरसि धृतसुरापगे स्मरारावरुणमुखेन्दुरुचिर्गिरीन्द्रपुत्री।
अथ चरणयुगानते स्वकान्ते स्मितसरसा भवतोऽस्तु भूतिहेतुः॥

एवमन्यत्र।

(पूर्वरङ्ग का अङ्ग : नान्दी अथवा रङ्गद्वार)

एतन्नान्दीति कस्यचिन्मतानुसारेणोक्तम्। वस्तुतस्तु 'पूर्वरङ्गस्य रङ्गद्वाराभिधानमङ्गम्' इत्यन्ये।

है कि इसके द्वारा शंख, चक्र, पद्म, चक्रवाक, कैरव आदि मङ्गलास्पद वस्तुओं की अभिव्यञ्जना हो जाय। यह 'अष्टपदा' भी हो सकती है और द्वादशपदा' भी।

'अष्टपदा' नान्दी का उदाहरण (महाकवि मुरारिकृत) 'अनर्घराघव' की 'निष्प्रत्यूहमुपास्महे' आदि नान्दी-गीति है। और 'द्वादशपदा' नान्दी का निदर्शन, मेरे ही पूज्यपितृचरण की, 'पुष्पमाला' (नाटिका) की नान्दी है (जिसका अभिप्राय यह है)—

'वह देवी पार्वती आप सामाजिकों का मंगल करें जिनका मुख-चन्द्र, भगवान् शङ्कर के मस्तक पर विराजमान भगवती गङ्गा के दर्शनमात्र से लाल हो जाया करता है और चरणों पर (मानापनयन के लिये) झुके भगवान् शङ्कर के दर्शन से मन्द मुसकान से स्निग्ध दिखायी दिया करता है।'

इसी भाँति अन्य रूपक-प्रबन्धों में 'अष्टपदा' अथवा 'द्वादशपदा' नान्दी का स्वरूप स्वयं देखा जा सकता है।

विमर्श—'अनर्घराघव' की अष्टपदा नान्दी का पूर्णरूप यह है—

'निष्प्रत्यूहमुपास्महे भगवतः कौमोदकीलक्ष्मणः
कोकप्रीतिचकोरपारणपटुज्योतिष्मती लोचने।
याभ्यामर्धविबोधमुग्धमधुरश्रीरर्धनिद्रायितो
नाभीपल्वलपुण्डरीकमुकुलः कम्बोः सपत्नीकृतः॥'

ऐसा लगता है जैसे 'अनर्घराघव' के रचयिता ने शंखादि समस्त मङ्गल वस्तुओं की सूचना का अभिप्राय अपने मन में रखते हुये इस नान्दी की रचना की है।

'नान्दी' की यह व्युत्पत्ति है—

'नन्दयति देवादीन् स्तुत्या, आनन्दयति च सभ्यान् स्तुतदेवप्रसादादिति नान्दी।'

उपर्युक्त 'नान्दी'-लक्षण (आशीर्वचनरूप नान्दी-लक्षण) वस्तुतः नाट्याचार्य भरत मुनि-सम्मत पूर्वरङ्गाङ्गभूत 'नान्दी'-लक्षण नहीं, अपि तु कतिपय अन्य नाट्यशास्त्रकारों का नान्दी-लक्षण है। उपर्युक्त 'नान्दी' लक्षण, जैसा कि कुछ नाट्यमर्मज्ञों का कहना है, 'पूर्वरङ्ग'-विधान के एक अङ्ग 'रङ्गद्वार' का लक्षण है। इसीलिये कतिपय नाट्याचार्यों (जैसे कि भावप्रकाशनकार आदि) का कहना है—

'सामाजिकों के लिये आशीर्वचन (नान्दी) के पहले ही रङ्गशाला में जो नाट्यारम्भ के लिये नटों द्वारा (देवादि-स्तुति रूप) वाचिक किंवा (करशिरःसंयोगादि रूप) आङ्गिक अभिनय किया जाया करता है वह (रङ्ग में किये जाने वाले नाटक-प्रयोग के द्वार अथवा उपक्रम-रूप होने के कारण) 'रङ्गद्वार' नामक पूर्वरङ्ग का अङ्ग है (न कि यहां आशीर्वचनात्मक सूत्रधारकृत नान्दी की कोई संभावना है)'।

यदुक्तम्—

'यस्मादभिनयो ह्यत्र प्राथम्यादवतार्यते ।
रङ्गद्वारमतो ज्ञेयं वागङ्गाभिनयात्मकम् ॥' इति ।

उक्तप्रकारायाश्च नान्द्या रङ्गद्वारात्प्रथमं नटैरेव कर्तव्यतया न महर्षिणा निर्देशः कृतः ।

कालिदासादिमहाकविप्रबन्धेषु च—

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः ।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥

एवमादिषु नान्दीलक्षणायोगात् । उक्तं च—'रङ्गद्वारमारभ्य कविः कुर्यात्–' इत्यादि । अत एव प्राक्तनपुस्तकेषु 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' इत्यनन्तरमेव 'वेदान्तेषु–' इत्यादि श्लोकले(लि)खनं दृश्यते । यच्च पश्चात् 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' इति ले(लि)खनं तस्यायमभिप्रायः—'नान्द्यन्ते सूत्रधार इदं प्रयोजितवान्, इतः प्रभृति मया नाटकमुपादीयत इति कवेरभिप्रायः सूचित' इति ।

नाट्याचार्य भरतमुनि ने पूर्वरङ्ग के अङ्गों में 'रङ्गद्वार' के पहले जिस 'नान्दी' नामक अंग का निर्देश किया है वह नटों द्वारा ही अनुष्ठित हुआ करता है और इसलिये नाटककार का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं । ऐसा क्यों ? इसलिये कि कालिदास आदि महाकविओं की नाटक-कृतिओं में जो 'नान्दी' जैसे कि—

'स्थिर भक्ति के द्वारा ही संवेद्य और सुलभ वे निर्विकार भगवान् शङ्कर आप सामाजिकों का परम कल्याण करें जिन्हें वेदान्त की रहस्यात्मक सूक्तियां ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त 'एकमेवाद्वितीयम्' तत्त्व के रूप में गाया करती हैं, जिनके लिये 'ईश्वर' शब्द ही एकमात्र सार्थक किंवा तत्त्वसूचक माना गया है और जिन्हें मुमुक्षुजन, अपने अन्तरतम में पाने के लिये, समाधि-साधना का सहारा लिया करते हैं ।

इत्यादि है, उसमें पूर्वरङ्ग के अङ्गभूत नान्दी का लक्षण नहीं घटित होता (क्योंकि यह 'नान्दी' तो नाटककार द्वारा रचित नान्दी है और नाटक से सम्बद्ध है न कि नाटक के पूर्वरङ्ग-विधान से) । ऐसी ही 'नान्दी'के सम्बन्धमें नाट्याचार्य भरतमुनि ने कहा है—

'कवि को अपने नाटक का प्रारम्भ 'रङ्गद्वार' से करना चाहिये (क्योंकि रंगद्वार के पूर्व की नान्दी–रचना नटों की नान्दी रचना है और रङ्गद्वार (रूप नान्दी) की रचना नाटककार की कृति है)' ।

वस्तुतः यही कारण है कि अभिज्ञानशाकुन्तल आदि नाटकों की प्राचीन प्रतिलिपिओं में 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' (नान्दी की समाप्ति के बाद सूत्रधार का प्रवेश) लिखा हुआ है और तब 'वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषम्' आदि नाटककार-रचित नान्दी (रङ्गद्वार) का उल्लेख किया हुआ है । कालान्तर में नाटकों की प्रतिलिपिओं में 'वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषम्' आदि लिखने के बाद जो 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' का निर्देश किया गया है उसका यह अभिप्राय है कि पूर्वरंग के अंगभूत नान्दी के बाद 'वेदान्तेषु' आदि नाटककार रचित नान्दी-गायन (रङ्गद्वार-रचना) सूत्रधार का कार्य है जिसके पश्चात् कवि का नाटक प्रारम्भ होता है ।

(स्थापना)

पूर्वरङ्गं विधायैव सूत्रधारो निवर्तते ।
प्रविश्य स्थापकस्तद्वत्काव्यमास्थापयेत्ततः ॥ २६ ॥
दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः ।
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥ २७ ॥

काव्यार्थस्य स्थापनात्स्थापकः । तद्वदिति सूत्रधारसदृशगुणाकारः । इदानीं पूर्वरङ्गस्य सम्यक्प्रयोगाभावादेक एव सूत्रधारः सर्वं प्रयोजयतीति व्यवहारः । स स्थापको दिव्यं वस्तु दिव्यो भूत्वा, मर्त्यं मर्त्यो भूत्वा, मिश्रं च दिव्यमर्त्ययोरन्यतरो भूत्वा सूचयेत् ।

विमर्श—'नान्दी' के सम्बन्ध में नाट्यदर्पणकार का यह कथन है—

'नान्दी च पूर्वरङ्गाङ्गानां द्वादशममङ्गं सकलपूर्वरङ्गाङ्गोपलक्षिका, तेन 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' इत्यस्य सकलपूर्वरङ्गाङ्गानि तु केपाञ्चिल्लोकप्रसिद्धत्वात् केपाञ्चिन्निष्फलत्वात् केपाञ्चिदनवश्यंभावित्वाच्च न लक्ष्यन्ते। नान्दी तु अवश्यंभावित्वान्मङ्गलाभिधानपूर्वकत्वाच्च शुभकृत्यारम्भस्येति लक्षिता। अत एव कवयो रूपकारम्भे 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' इति पठन्ति। यत्र तु कविकृता नान्दी न दृश्यते तत्रापि रङ्गसूत्रणाकर्तृकृता द्रष्टव्या। नान्दीपाठकाश्च सूत्रधार–स्थापक–पारिपार्श्विका इति (नाट्यदर्पण : ४ थं विवेक)'

अनुवाद—जब कि सूत्रधार पूर्वरङ्ग–विधान के बाद रङ्गमञ्च से उतर जाता है तब सूत्रधार का एक समकक्ष नट, जिसे 'स्थापक' कहा जाया करता है, रङ्गमञ्च पर आकर नाटक–प्रयोग की आस्थापना करता है। स्थापक के द्वारा नाटक-प्रयोग की यह आस्थापना अथवा उपक्रमणिका ही 'स्थापना' कही जाया करती है। यदि नाटकीय वस्तु दिव्य हो तो देव-भूमिका में, यदि अदिव्य होतो मानव-भूमिका में, और यदि दिव्यादिव्य हो तो देव अथवा मानव-भूमिका में स्थापक का प्रवेश हुआ करता है। स्थापक का कार्य सामाजिकों के प्रति नाटकीय वस्तु (इतिवृत्त) अथवा नाटक के बीज अथवा मुख या पात्र की सूचना है।

'स्थापक' शब्द की व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट है कि 'स्थापक' वह है जो (सामाजिकों के समक्ष, रङ्गमञ्च पर) काव्य (वस्तुतः नाट्य) के अर्थ की स्थापना करे। कारिका में 'स्थापक' के 'तद्वत्' कहे जाने का अभिप्राय है—सूत्रधार के समान अभिनयादि में निपुण होने का। आजकल (विश्वनाथ कविराज के समसामयिक) नाटकों के प्रयोग में नान्दी किंवा स्थापना आदि समस्त कार्य केवल सूत्रधार ही सम्पादित किया करता है क्योंकि पूर्वरङ्ग-विधान की प्राचीन सम्पूर्ण प्रक्रिया का प्रचलन अब कहां? स्थापक द्वारा नाटकीय वस्तु-सूचना में यह आवश्यक है कि दिव्य वस्तु की सूचना दिव्य-भूमिका में, मर्त्य वस्तु की सूचना मर्त्य-भूमिका में और दिव्य-मर्त्य वस्तु की सूचना दोनों में से किसी एक की भूमिका में की जाय। यहां 'वस्तु' का अभिप्राय 'इतिवृत्त' का अभिप्राय है। जैसे कि 'उदात्तराघव' की इस सूक्ति अर्थात्—

वस्तु इतिवृत्तम् , यथोदात्तराघवे—

रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान्मालामिवाज्ञां गुरो-
स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोज्झितम् ।
तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परामुन्नतिं-
प्रोत्सिक्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ता द्विषः ॥

बीजं यथा रत्नावल्याम्—

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥

अत्र हि समुद्रे प्रवहणभङ्गमग्नोत्थिताया रत्नावल्या अनुकूलदैवलालितो वत्सराजगृहप्रवेशो यौगन्धरायणव्यापारमारभ्य रत्नावलीप्राप्तौ बीजम् । मुखं श्लेषादिना प्रस्तुतवृत्तान्तप्रतिपादको वाग्विशेषः ।

यथा—

आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तिः ।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं रामो दशास्यमिव संभृतबन्धुजीवः ॥

'राम तो पिता की आज्ञा को, माला की भाँति स्वीकार कर, वनवास के लिए चल पड़े, उनकी भक्ति में विभोर भरत ने अपनी माँ के साथ-साथ अयोध्या का राज्य छोड़ दिया, सुग्रीव और विभीषण राम का साथ देने के कारण अपने-अपने अभ्युदय की पराकाष्ठा पर जा पहुँचे और अभिमान में चूर रावण आदि शत्रुगण का सर्वनाश हो गया।' इसमें जो सूचना है वह इस नाटक के इतिवृत्ति की सूचना है।

'बीज' की भी सूचना दी जाया करती है जैसे कि (महाकवि हर्ष की) 'रत्नावली' की इस सूक्ति अर्थात्—

'होनी भी कितनी विचित्र है कि यदि सहायता करना चाहे तो क्या द्वीप-द्वीपान्तर क्या अपार पारावार और क्या दिग्-दिगन्त, जहाँ से भी हो, सभी अभिलषित वस्तुओं को अविलम्ब उपस्थित कर देती है।'

में, जो सूचना है वह 'बीज' की ही सूचना है क्योंकि प्रवहण-भङ्ग (जहाज के टूट जाने) के कारण डूबने पर भी बच कर निकल जाने वाली रत्नावली के, सौभाग्यवश, वत्सराज (उदयन) के राजप्रासाद में प्रवेश किंवा महामन्त्री यौगन्धरायण के नीति-व्यापार का यह सब उपक्षेप रत्नावली-लाभरूप वृत्त-वृत्त का 'बीज' ही है जिसे यहाँ (सामाजिकों के समक्ष) सूचित कर दिया गया है।

यहाँ मुख का अभिप्राय श्लेषादि के द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्त के प्रतिपादक वचनोपनिबन्ध का अभिप्राय है। जैसे कि निम्न सूक्ति अर्थात्—

'राम की भाँति शरदृतु आ पहुँची। जैसे राम ने रावण का महाप्रतापी 'चन्द्रहास' नामक खड्ग अपना लिया वैसे ही शरदृतु ने भी 'चन्द्रहास' (चन्द्रमा की चाँदनी को) अपना लिया; जैसे राम की कान्ति निष्कलङ्क रही वैसे ही शरद् की भी शोभा अतिविशुद्ध है और जैसे रामने महातामसिक, महाबीभत्स, दशानन रावणका विनाश कर 'बन्धुजीव' (अपने भाई लक्ष्मण के जीवन) की रक्षा की वैसे ही शरदृतु ने भी अन्धकारावृत किंवा भीषण वर्षाकाल का अन्त कर 'बन्धुजीव' (पुष्पविशेष) की रक्षा कर दी है।'

पात्रं यथा शाकुन्तले—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥

(स्थापना में भारतीवृत्ति)

रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।
रूपकस्य कवेराख्यां गोत्राद्यपि स कीर्तयेत् ॥ २८ ॥
ऋतुं च कञ्चित्प्रायेण भारतीं वृत्तिमाश्रितः ।

स स्थापकः । प्रायेणेति क्वचिदृतोरकीर्तनमपि । यथा—रत्नावल्याम् ।

में जो सूचना है वह 'मुख' की सूचना है (क्योंकि श्लिष्ट पदावली द्वारा यहाँ प्रकृत कथा सूचित की जा रही है)।

इसी भाँति 'पात्र' की भी सूचना दी जाया करती है जैसे कि (महाकवि कालिदास के) 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की इस सूक्ति अर्थात्—

'अरी! तेरा यह मनोहर संगीत-माधुर्य तो मुझे अपनी ओर ऐसे बरबस खींचता जा रहा है जैसे वह अतिवेगशाली सारङ्ग (हिरण) राजा दुष्यन्त को अपनी ओर खींचता चला जा रहा है।'

में जो सूचना है वह 'पात्र' (राजा दुष्यन्त की भूमिका में नटविशेष) के (रंगमञ्च पर) उपस्थित होने की सूचना है।

विमर्श—'सूत्रधार' और 'स्थापक' का भेद प्राचीन 'रंगमञ्च' के लिए अवश्य रहा होगा किन्तु साहित्यदर्पणकार के समकालीन 'रङ्गमञ्च' पर 'पूर्वरङ्ग सूत्रधार' और 'नाटक-सूत्रधार' एक ही नट-विशेष हुआ करता था। नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'स्थापक' का विशद लक्षण किया है—

'प्रयुज्य विधिनैवं तु पूर्वरङ्गं प्रयोगतः । स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधारगुणाकृतिः ॥
स्थापकस्य प्रवेशे तु कर्त्तव्यार्थानुगा ध्रुवा । चतुरस्राऽथवा त्र्यस्रा तत्र मध्यलयाश्रिता ॥
कुर्यादन्तरचारीं च देवब्राह्मणशंसिनीम् । सुवाक्यमधुरैः श्लोकैर्नानाभावरसान्वितैः ॥
प्रसाद्य रङ्गं विधिवत् कवेर्नामानुकीर्तयेत् । प्रस्तावनां ततः कुर्यात् काव्यप्रख्यापनाश्रयाम् ॥
दिव्यो दिव्याश्रयैर्भूत्वा मानुषो मानुषाश्रयैः । दिव्यमानुषसंयोगो दिव्यो वा मानुषोऽपि वा ॥
मुखं बीजानुसदृशं नानामार्गसमाश्रयम् । नानाविधैरुपक्षेपैः काव्योपक्षेपणं भवेत् ॥'

(नाट्यशास्त्र : ५. १६३-१७०)

जिसका अभिप्राय यह है कि नाटक की प्रस्तावना 'स्थापक' का कार्य है न कि पूर्वरङ्ग सूत्रधार का।

अनुवाद—स्थापक की यह 'स्थापना' भारतीवृत्ति-प्रचुर हुआ करती है क्योंकि इसका उद्देश्य अभिनेय-काव्य के वृत्तान्त-सूचक, मधुर श्लोकों द्वारा सामाजिकों को प्रसन्न करना, अभिनेय रूपक-प्रकार का नाम-संकीर्तन, कवि का नाम-निर्देश, कवि के पूर्वपुरुषों का नामोल्लेख किंवा कदाचित् किसी ऋतु का वर्णन आदि हुआ करता है।

यहाँ कारिका में 'सः' (वह) का अभिप्राय 'स्थापक' का अभिप्राय है (न कि सूत्रधार का) और 'प्रायेण' (प्रायः) से यह समझना चाहिए कि कहीं-कहीं ऋतुकीर्तन नहीं भी किया जाया करता। जैसे कि 'रत्नावली' की जो स्थापना है उसमें उपर्युक्त स्थापना-लक्षण सर्वथा अनुगत दिखाई देता है।

विमर्श—आजकल जैसी विज्ञापन की सामग्री के अभाव में, प्राचीन भारतीय रङ्गमञ्च, 'स्थापना' के ही सहारे, रूपकों के अभिनय का तत्काल विज्ञापन किया करता था। आजकल किसी

(भारतीवृत्ति का स्वरूप-संकीर्तन)

भारतीवृत्तिस्तु—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ॥ २९ ॥

संस्कृतबहुलो वाक्प्रधानो व्यापारो भारती ।

(भारती वृत्ति के अङ्ग : १ प्ररोचना)

तस्याः प्ररोचना वीथी तथा प्रहसनामुखे ।
अङ्गान्यत्रोन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना ॥ ३० ॥

प्रस्तुताभिनयेषु प्रशंसातः श्रोतॄणां प्रवृत्त्युन्मुखीकरणं प्ररोचना । यथा रत्नावल्याम्—

'श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी,
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम् ।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥'

नाटक के रङ्गमञ्च अथवा चलचित्र-प्रदर्शन में जिन-जिन बातों की सूचना सामाजिकों को दी जाती है प्रायः वे सभी बातें 'स्थापना' के लक्षण और 'उद्देश्य' में आ जाती हैं । 'स्थापना' में भारतीवृत्ति का आश्रय आवश्यक है—इसका यहाँ अभिप्राय है, यहाँ अभिनय-चतुष्टय अपेक्षित नहीं ।

अनुवाद—भारतीवृत्ति क्या है ?

भारतीवृत्ति नटों का वह वचन-व्यापार है जो संस्कृत-प्रचुर हुआ करता है ।

यहाँ 'संस्कृतप्राय' का अभिप्राय 'संस्कृतप्रचुर' अथवा 'संस्कृत-बहुल' का है (क्योंकि जहाँ तहाँ प्राकृत वाग्व्यापार भी भारतीवृत्ति में ही अन्तर्भूत है) और 'वाग्व्यापार' का अभिप्राय वाचिकाभिनयप्रधान वचन-विन्यास है (तात्पर्य यह है कि—आङ्गिकादि अभिनय यहाँ अल्प मात्रा में ही हुआ करते हैं)। 'भारती' शब्द ही यह सिद्ध कर देता है कि यह वृत्ति वाक्प्रधान वृत्ति है ।

भारती वृत्ति अङ्गचतुष्टयात्मिका वृत्ति है । इसके चार अंग ये हैं—(१) प्ररोचना, (२) वीथी, (३) प्रहसन और (४) आमुख । इनमें जो (१) प्ररोचना है उसका अभिप्राय रूपकादि की प्रशंसा के द्वारा सामाजिकों को अभिनय-दर्शन के प्रति उन्मुख-आकृष्ट-करना है । 'प्ररोचना' शब्द का ही अभिप्राय किसी के मन को किसी ओर लुभाना है । रूपक की 'प्ररोचना' भी रूपक अथवा रूपककार आदि की महिमा के संकीर्तन के द्वारा, सामाजिकों की मनोरञ्जनात्मक प्रवृत्ति को प्रस्तुत अभिनय के प्रति आकृष्ट किया करती है । जैसे कि रत्नावली की यह 'प्ररोचना'—

'जिस रूपक के रचयिता श्रीहर्ष सरीखे महाकवि हों, जिस रूपक के दर्शक हमारे सामाजिकों सरीखे सामाजिक हों, जिस रूपक का इतिवृत्त उदयन-वृत्तान्त सा मनोरंजक वृत्तान्त हो, जिस रूपक के अभिनेता हमारे नटों सरीखे नट हों, भला उसकी सफलता का क्या कहना ! जहाँ इनमें एक-एक भी विशेषता अभिनय की मनोवांछित सफलता का कारण हो वहां हमारा यह सौभाग्य है कि सभी की सभी विशेषतायें यहां प्रत्यक्ष विराजमान हैं ।'

विमर्श—भारतीवृत्ति तो वस्तुतः त्रैलोक्यव्यापिनी वृत्ति है क्योंकि वाग्व्यापार जीवन के साथ-साथ चला करता है । रूपकों में 'प्ररोचना' आदि भारतीवृत्ति के अंश हैं । भारतीवृत्ति के

(२ वीथी, ३ प्रहसन)

वीथीप्रहसने वक्ष्येते।

(४—आमुख : प्रस्तावना)

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥ ३१॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा॥ ३२॥

सूत्रधारसदृशत्वात् स्थापकोऽपि सूत्रधार उच्यते। तस्यानुचरः पारिपार्श्विकः, तस्मात्किञ्चिदूनो नटः।

'अङ्गचतुष्टय' का अभिप्राय वस्तुतः 'अंशचतुष्टय' है। कारण यह है कि वीथी और प्रहसन तो रूपक-भेद हैं, रूपक-अङ्ग नहीं। इसलिये वीथी और प्रहसन को भारतीवृत्ति का अंग नहीं अपि तु अंश ही मानना युक्तियुक्त है। भरतमुनि ने 'प्ररोचना' का यह लक्षण और प्रयोजन बताया है—

'जयाभ्युदयिनी चैव मङ्गल्या विजयावहा। सर्वपापप्रशमनी पूर्वरङ्गो प्ररोचना॥
उपक्षेपेण काव्यस्य हेतुयुक्तिसमाश्रया। सिद्धेनामन्त्रणा या तु विज्ञेया सा प्ररोचना॥'
(नाट्यशास्त्र २०-२८, २९)

'प्ररोचना' की यह व्युत्पत्ति—

'प्रकर्षेण रोच्यते उपादेयतया ध्रियते प्रकृतोऽर्थोऽनयेति प्ररोचना'

ही प्ररोचना की प्रक्रिया का रहस्य स्पष्ट कर देती है और प्ररोचना का जो प्रकृत अर्थ है वह यह है—

'पूर्वरङ्गो गुणस्तुत्या प्रस्तुतप्रबन्धार्थस्य प्रीत्यादिहेतुत्वप्रशंसनेन सामाजिकानां श्रवणावलोकनोत्साहोत्पादनम्-(नाट्यदर्पण)।

अनुवाद—(२) वीथी और (३) प्रहसन क्या हैं ? इसका निरूपण (रूपक-भेद-निरूपण के प्रसंग में, क्योंकि वीथी और प्रहसन रूपक के भी भेद हैं, जिनकी कतिपय विशेषता प्रस्तावना के अनुकूल हुआ करती है और प्रस्तावना में अपेक्षित मानी जाया करती है) आगे कर दिया जायगा।

विमर्श—'वीथी' और 'प्रहसन' भारतीवृत्ति के अङ्ग हैं—अभिप्राय यह है कि ये दोनों वाग्व्यापार-प्रधान होने के कारण भारतीवृत्ति के प्रकार-भूत हैं। अभिनवभारतीकार ने कहा है—

'अंगत्वमिति अंशत्वं प्राप्ता इत्यर्थः। अन्यथा यदि रूपकस्यांगत्वं प्राप्ता इत्युच्यते तदा वीथी प्रहसनं च रूपकभेदः न तु रूपकस्यांगम्'। (नाट्यशास्त्र : अभिनवभारती, २०-२७)

अनुवाद—रूपकों की 'प्रस्तावना' वस्तुतः उनका वह 'आमुख' है जिसमें नटी अथवा विदूषक अथवा पारिपार्श्विक (सूत्रधार का अनुचर नट) सूत्रधार के साथ ऐसा आलाप-संलाप किया करते हैं जिसमें प्रस्तुत अभिनय का आक्षेप करने वाले, स्वस्वविषयक अभिप्राय के सूचक चित्र-विचित्र वाक्यों का प्रयोग हुआ करता है।

यहां कारिका में 'सूत्रधार' का अभिप्राय 'स्थापक' का है क्योंकि स्थापक भी सूत्रधार सदृश नट होने के कारण 'सूत्रधार' ही कहा जाया करता है। यहां 'पारिपार्श्विक' का अभिप्राय स्थापक अर्थात् सूत्रधार के अनुचर नट का अभिप्राय है। 'पारिपार्श्विक' के अनुचर नट होने से यह समझा जाया करता है कि यह नट स्थापक की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण नट हुआ करता है।

(प्रस्तावना के पांचभेद : नामनिर्देश)

उद्घात्य(त)कः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा ।
प्रवर्तकावलगिते पञ्च प्रस्तावनाभिदाः ॥ ३३ ॥

(१—'उद्घात्यक' प्रस्तावना)

तत्र--

पदानि त्वगतार्थानि तदर्थगतये नराः ।
योजयन्ति पदैरन्यैः स उद्घात्य(त)क उच्यते ॥ ३४ ॥

यथा मुद्राराक्षसे सूत्रधारः—

विमर्श—'आमुख' का सरलार्थ सूत्रधार के साथ नटी अथवा विदूषक अथवा पारिपार्श्विक (अथवा तीनों) का प्रस्तुताक्षेपी भाषण है जो स्पष्ट अथवा वक्र दोनों प्रकार का हो सकता है। नाट्यदर्पणकार ने इसीलिये कहा है—

'विदूपक-नटी-मार्षैः व्यस्तैस्समस्तैर्वा सह सूत्रधारस्य रङ्गसूत्रणाकर्तुः सूत्रधारगुणानुकारस्य वा नाट्यार्थस्य स्थापनाकर्तुः स्थापकस्य प्रस्तुतस्य काव्यार्थस्याक्षेपि उपस्थापकं भाषणं वक्रोक्तैः साक्षाद्विवक्षितार्थस्याऽप्रतिपादकैः स्पष्टोक्तैः साक्षाद्विवक्षितार्थप्रतिपादकैश्च यत् स्वस्याभिप्रायोत्कीर्तनं तदामुखम्। 'आङ् मर्यादायाम्' तेन मुखसन्धिं सम्प्राप्य निवर्तते। 'ईपदर्थे वा' तत ईपन्मुखं मुखसन्धिसूचकत्वादारम्भः। प्रस्तावनाशब्देनाप्येतदुच्यते। इदं तावदामुखं नाट्यात् पृथग्भूतम्। तत्र कदाचिद् रङ्गसूत्रयितैवामुखार्थमनुतिष्ठति। तथा च दृश्यते-नान्द्यन्ते सूत्रधारः। नान्द्यन्त इत्यवयवे समुदायोपचारात् पूर्वरङ्गान्त इति द्रष्टव्यम्। नान्दी हि पूर्वरङ्गस्याङ्गम्। अत्र च पक्षे आमुखार्थस्य सूत्रधारविषयत्वान्मुखसन्धेः प्रभृति कवेर्व्यापारः। कदाचित्तु सनान्दीकं रङ्गमनुष्ठाय विश्रान्ते सूत्रधारे तत्तुल्यगुणाकृतिः स्थापक आमुखमनुतिष्ठति। अत्र च पक्षे आमुखानुष्ठानेऽपि कवेर्व्यापारः। स्थापकस्य सूत्रधारानुकारिणो रामानुकारिणो नटस्येव कविनैव प्रवेशात्।' (नाट्यदर्पणः ३ य विवेक)

अनुवाद—'प्रस्तावना' (अथवा आमुख) के ये पांच प्रकार हुआ करते हैं-(१) उद्घात्यक (अथवा उद्घातकं), (२) कथोद्घात, (३) प्रयोगातिशय, (४) प्रवर्त्तक और (५) अवलगित।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने प्रस्तावना-भेद का यह निरूपण किया है—

आमुखाङ्गान्यतो वक्ष्ये यथावदनुपूर्वशः।
उद्घात्यकः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा।
प्रवृत्तकावलगिते पञ्चाङ्गान्यामुखस्य तु ॥ (नाट्यशास्त्र : २०-३३)

और यह भी बताया है कि एक रूपक-प्रबन्ध में इन पांचों में से किसी एक की ही योजना अपेक्षित है—

'एषामन्यतमं श्लिष्टं योजयित्वाऽर्थयुक्तिभिः।
पात्रग्रन्थैरसम्बाधं प्रकुर्यादामुखं ततः ॥' (नाट्यशास्त्र : २०. ३७)

अनुवाद—'उद्घात्यक' वह प्रस्तावना-भेद है जिसमें सामाजिक, (स्थापक-प्रयुक्त) अनिश्चितार्थक पदों के साथ (पात्र-प्रयुक्त निश्चितार्थक) पदों की योजना करके (स्थापक के) अभिप्रेत अर्थ का निर्धारण किया करते हैं।

इसका उदाहरण 'मुद्राराक्षस' की यह प्रस्तावना—

'क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमिदानीम् ।
अभिभवितुमिच्छति बलात्—'

इत्यनन्तरम्—'(नेपथ्ये ।)
आः, क एष मयि जीवति चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति ।' इति ।
अत्रान्यार्थवन्त्यपि पदानि हृदयस्थार्थगत्या अर्थान्तरे संक्रमय्य पात्रप्रवेशः ।

(२—'कथोद्धात' प्रस्तावना)

सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्य वा ।
भवेत्पात्रप्रवेशश्चेत्कथोद्घातः स उच्यते ॥ २५ ॥

वाक्यं यथा रत्नावल्याम्—'द्वीपादन्यस्मादपि—' इत्यादि सूत्रधारेण पठिते—'(नेपथ्ये) साधु भरतपुत्र ! साधु । एवमेतत् । कः सन्देहः ? द्वीपादन्यस्मादपि—' इत्यादि पठित्वा यौगन्धरायणस्य प्रवेशः ।

'सूत्रधार-प्रिये ! केतु के साथ वह क्रूर ग्रह (राहु) सम्पूर्ण मण्डल चन्द्र पर बलपूर्वक आक्रमण करने को उद्यत होना चाहता है ।

(नेपथ्य से)

अरे ! कौन है जो मेरे जीते-जागते चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने को उद्यत हो रहा है?' यहाँ 'उद्घात्यक' का स्वरूप स्पष्ट है क्योंकि सामाजिक, सूत्रधार द्वारा चन्द्रग्रहण के अर्थ में प्रयुक्त पदों को चाणक्य नायक द्वारा, चन्द्रगुप्त पर आक्रमण के अर्थ में प्रयुक्त किंवा उसके अपने हृद्गत अभिप्राय के अभिव्यञ्जक पदों के अर्थों से अन्तर्गर्भित मानकर चाणक्य का रंगमञ्च पर प्रवेश देखने लगते हैं ।

विमर्श—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में 'उद्घात्यक' का यह लक्षण है—

'पदानि त्वगतार्थानि ये नराः पुनरादरात् ।
योजयन्ति पदैरन्यैस्तदुद्घात्यकमुच्यते ॥' (नाट्यशास्त्र : १२. ११५)

जिसका अभिनवभारतीकार ने यह स्पष्टार्थ बताया है—

'यदा विवक्षितमुत्तरं दातुं शक्तोऽयं स्यादिति यन्मम मनसि वर्तते तदेव वक्ति न वेत्येवमादिना निमित्तेन यदा प्रष्टैव प्रतिवचनवैचित्र्यमभिसन्धाय पृच्छति, प्रतिवक्तोचितमभिसन्धत्ते तदा तदुत्तरमुद्घात्यकम् । प्रश्नात्मके उद्घाते साध्विति यत्, तत्राज्ञातार्थे कन् । पदान्यगतार्थानि प्रश्नरूपाण्यादरात् कृतानि पर्यायैः पदान्तरैरुत्तररूपैः नराः सुधियो योजयन्ति । तदुत्तररूपपदसमूहात्मकमुद्घात्यकम् ।' (अभिनवभारती : पृष्ठ ४५४)

अनुवाद—'कथोद्धात' वह प्रस्तावना-प्रकार है जिसमें सूत्रधार के प्रयुक्त वाक्य का उच्चारण करते हुये या उसके अर्थ का अनुशीलन करते हुये किसी पात्र का (नाटक-प्रयोग के लिये) रङ्गमञ्च पर प्रवेश हुआ करता है ।

सूत्रधार-प्रयुक्त वाक्य के उच्चारणपूर्वक 'पात्रप्रवेश' रूप 'कथोद्धात' का उदाहरण 'रत्नावली' की प्रस्तावना है जहां सूत्रधार 'द्वीपादन्यस्मादपि' आदि वाक्य बोलता है और नेपथ्य से 'यौगन्धरायण' 'साधु भरतपुत्र ! साधु ! एवमेतत् । कः सन्देहः ?' बोलते हुये, 'द्वीपादन्यस्मादपि' आदि के पुनरुच्चारण के साथ प्रवेश करता है ।

वाक्यार्थो यथा वेण्याम्—

'निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥'

इति सूत्रधारेण पठितस्य वाक्यस्यार्थं गृहीत्वा—'(नेपथ्ये) आः दुरात्मन्! वृथा मंगलपाठक! कथं स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः?' ततः सूत्रधारनिष्क्रान्तौ भीमसेनस्य प्रवेशः।

(३—'प्रयोगातिशय' प्रस्तावना)

यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते।
तेन पात्रप्रवेशश्चेत्प्रयोगातिशयस्तदा ॥ ३६ ॥

यथा कुन्दमालायाम्—'(नेपथ्ये) इत इत इतोऽवतरत्वार्या।

सूत्रधारः—कोऽयं खल्वार्याह्वानेन साहायकमपि मे सम्पादयति।
(विलोक्य) कष्टमतिकरुणं वर्तते।

सूत्रधार के वाक्य के अर्थानुशीलन के साथ पात्रप्रवेश-रूप 'कथोद्घात' का निदर्शन 'वेणीसंहार' की प्रस्तावना है जहाँ सूत्रधार के इस वाक्य अर्थात्—

'वे पाण्डव, जिनकी वैराग्नि उनके शत्रुओं की सामनीति से शान्त पड़ गयी है, कृष्ण के साथ प्रसन्नता मनावें और वे कौरव, जिन्होंने, विग्रहनीति छोड़ कर, संसार को अपने प्रेम में विभोर कर रखा है, अपने अनुचर-परिचरों के साथ आनन्द मनावें।'

के, अर्थ पर विचार करते हुए, 'अरे नीच! अरे झूठमंगलाशंसन करने वाले! अरे, क्या मेरे जीते-जागते धृतराष्ट्र के बेटे आनन्द मनावें' आदि नेपथ्य से ही कहते भीमसेन का प्रवेश होता है और सूत्रधार रंगमञ्च से हट जाता है।

विमर्श—'कथोद्घात' की यह निरुक्ति है—

कथा काव्यार्थरूपा (उत्) ऊर्ध्वमेव हन्यते गम्यते तत्रेति कथोद्घातः'।

(अभिनवभारती-पृष्ठ ९४)

अर्थात् 'कथोद्घात' को कथोद्घात इसलिये कहते हैं क्योंकि इसमें कथा अथवा काव्यार्थ का पहले ही पता चल जाता है।

'उद्घात्यक' प्रस्तावना में तो पात्र, सूत्रधार के अभीष्टार्थक पदों को भिन्न अर्थ में लेकर रंगमंच पर आया करता है और 'कथोद्घात' प्रस्तावना में सूत्रधार के ही अभिप्रेत अर्थ को, ठीक-ठीक पकड़ कर, पात्र का प्रवेश हुआ करता है।

अनुवाद—'प्रयोगातिशय' वह प्रस्तावना प्रकार है जहाँ सूत्रधार स्वयं आरब्ध प्रस्तावना-रूप कृत्यानुष्ठान का अतिक्रमण करके नाट्यात्मक प्रयोग प्रस्तुत कर दिया करता है।

इसका उदाहरण 'कुन्दमाला' की प्रस्तावना है—

('नेपथ्य में) आर्ये! इधर आओ, इधर!

सूत्रधार—यह कौन है जो आर्या (नटी) को बुलाकर (संगीतानुष्ठान में) मेरी सहायता कर रहा है?

(देखते हुए) ओह! कितना दारुण दृश्य है—

लङ्केश्वरस्य भवने सुचिरं स्थितेति
रामेण लोकपरिवादभयाकुलेन ।
निर्वासितां जनपदादपि गर्भगुर्वी
सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम् ॥'

अत्र नृत्यप्रयोगार्थं स्वभार्याह्वानमिच्छता सूत्रधारेण 'सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम्' इति सीतालक्ष्मणयोः प्रवेशं सूचयित्वा निष्क्रान्तेन स्वप्रयोगमतिशयान एव प्रयोगः प्रयोजितः ।

(४—'प्रवर्त्तक' प्रस्तावना)

कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत् ।
तदाश्रयश्च पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवर्तकम् ॥ ३७ ॥

यथा—

'आसादितप्रकट—' इत्यादि । 'ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो रामः'

ओह ! यह तो लक्ष्मण है जो गर्भिणी सीता को लङ्कापति रावण के भवन में रहने के कारण, लोकापवाद के भय से, राम द्वारा देशनिर्वासन का दण्ड दिये जाने पर, वन की ओर खींचे लिये जा रहा है !'

यहाँ 'प्रयोगातिशय' इसलिये है क्योंकि सूत्रधार नृत्यप्रयोग के लिये अपनी आर्या (नटी) को बुलाना चाहता है किन्तु 'वन की ओर सीता को लक्ष्मण खींचे जा रहा है' आदि कहकर सीता और लक्ष्मण के प्रवेश की सूचना दे देता है और स्वयं रंगमंच से निकल जाता है । इस प्रकार सूत्रधार स्वयं अपने पूर्व प्रयोग अर्थात् नृत्यानुष्ठान का अतिक्रमण करके अन्य प्रयोग अर्थात् सीता और लक्ष्मण के प्रवेश की सूचना देते 'प्रयोगातिशय' नामक प्रस्तावना कर रहा है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'प्रयोगातिशय' की यह परिभाषा की है—

'प्रयोगे तु प्रयोगं तु सूत्रधारः प्रयोजयेत् ।
ततश्च प्रविशेत् पात्रं प्रयोगातिशयो हि सः ॥' (नाटयशास्त्र : २२.३६)

अर्थात् जहाँ सूत्रधार प्रस्तावना-रूप एक प्रयोग अथवा कृत्यानुष्ठान में नाट्यात्मक अन्य प्रयोग अथवा कृत्यानुष्ठान कर दे और पात्र का प्रवेश हो वहां जो प्रस्तावना हुआ करती है वह 'प्रयोगातिशय' कही जाया करती है ।

अभिनवभारतीकार ने इसलिए कहा है—

'सूत्रधार एव यत्र प्रयोगे प्रयोगं समुद्गककवाटयुगलवद् योजयति स प्रयोगद्वयश्लेषणात् प्रयोगातिशयः ।'

अनुवाद—'प्रवर्त्तक' वह प्रस्तावना-प्रकार है जिसमें सूत्रधार नाट्यप्रयोग के समय वसन्त आदि ऋतु का वर्णन किया करता है और पात्र उस वर्णन की श्लेषभंगी के आधार पर रंगमञ्च पर आ पहुँचता है ।

इसका उदाहरण ('छलितराम' नामक रूपक-प्रबन्ध की) 'आसादितप्रकट' आदि प्रस्तावना है, जहाँ सूत्रधार 'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहास'—विशुद्ध चन्द्रिका से विद्योतमान—'विशुद्धकान्त'—सौन्दर्यसम्पूर्ण—'संभृतबन्धुजीव'—बन्धुजीवपुष्प के विकासक—किंवा संततसावृत घन काल के विनाशक शरत्समय का वर्णन कर रहा है और इसकी श्लेष-भंगी 'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहास'—पराजित रावण के चन्द्रहास खड्ग

(५—'अवलगित' प्रस्तावना)

यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ।
प्रयोगे खलु तज्ज्ञेयं नाम्नावलगितं बुधैः ॥ ३८ ॥

यथा शाकुन्तले—

सूत्रधारो नटीं प्रति । 'तवाऽस्मि गीतरागेण—' इत्यादि । ततो राज्ञः प्रवेशः ।

को लिये—'विशुद्धकान्त'—साध्वी सीता के सङ्ग 'संभृतबन्धुजीव'—वानर सैनिकों और लक्ष्मण को पुनरुज्जीवित किये किंवा रावण जैसे अज्ञानसंतमस के संहारक राम का प्रवेश करा देती है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि ने 'प्रवर्त्तक' प्रस्तावना का यह लक्षण किया है—

'कालप्रवृत्तिमाश्रित्य वर्णना या प्रयुज्यते ।
तदाश्रयाच्च पात्रस्य प्रवेशस्तत् प्रवृत्तकम् ॥ (नाट्यशास्त्र २०.३७)

जिसे आचार्य अभिनवगुप्त ने इस प्रकार समझाया है—

'यदा कालप्रवृत्तिं काञ्चिदवलम्ब्य यथा सूत्रधारेण किञ्चिद् वस्तु वर्ण्यते तदाश्रयेण च पात्रस्य प्रवेशः तत्कालप्रवृत्त्या स्वार्थोक्त्वात् प्रवृत्तकम् ।'

उपर्युक्त प्रस्तावना-चतुष्टय में यह स्पष्ट है कि सूत्रधार के वाक्य, अर्थ, आह्वान तथा समय-वर्णन की विचित्रता से रङ्गमञ्च पर पात्र का प्रवेश हुआ करता है । नाट्य-पात्र के प्रवेश के ये चित्र-विचित्र प्रकार हैं जिनमें किसी एक रूपक में किसी एक का ही आश्रय लिया गया है । भरत मुनि का यही आदेश भी है—

'पात्रग्रन्थैरसंबाधं प्रकुर्यादामुखं ततः ।' (नाट्यशास्त्र २०.३९)

अनुवाद—'अवलगित' वह प्रस्तावना-भेद है जहाँ सूत्रधार अपने प्रस्तावनानुष्ठान रूप एक प्रयोग में नाट्यारम्भ-रूप अन्य प्रयोग की भी युक्तिपूर्वक योजना कर दिया करता है और पात्र का प्रवेश हो जाता है ।

इसका उदाहरण 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की प्रस्तावना है, जहाँ सूत्रधार नटी से कहता है—'आर्ये ! तुम्हारे मनोहर गीत राग की ओर मैं उसी प्रकार खिंचा जा रहा हूँ जैसे दौड़ते हरिण की ओर यह राजा दुष्यन्त खिंचा आ रहा है ।' और रङ्गमञ्च पर दुष्यन्त का प्रवेश हो जाता है ।

विमर्श—भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में 'अवलगित' का यह लक्षण है—

'यत्रान्यस्मिन् समावेश्य कार्यमन्यत् प्रसाध्यते ।
तच्चावलगितं नाम विज्ञेयं नाट्ययोक्तृभिः ॥'
(नाट्यशास्त्र १८.११६)

जिसे अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'यत्रोत्तरे दीयमाने अन्यानुसंधानपूर्वकेऽप्यन्यत् कार्यं सिध्यति तदान्यकार्यावलगनादवलगितम् ।'

अर्थात् जहाँ सूत्रधार के अन्यार्थक वचन से अन्य कार्य भी सम्पन्न हो जाय वहाँ 'अवलगित' नामक आमुख-भेद हुआ करता है ।

(आमुखोपयुक्त वीथ्यंग)

योज्यान्यत्र यथालाभं वीथ्यङ्गानीतराण्यपि ।

अत्र आमुखे। उद्घात्य(त)कावलगितयोरितराणि वीथ्यङ्गानि वक्ष्यमाणानि।

(नखकुट्ट के मत में प्रस्तावना का अन्य प्रकार)

नखकुट्टस्तु—

नेपथ्योक्तं श्रुतं यत्र त्वाकाशवचनं तथा ॥ ३९ ॥
समाश्रित्यापि कर्तव्यमामुखं नाटकादिषु ।
एषामामुखभेदानामेकं कञ्चित्प्रयोजयेत् ॥ ४० ॥
तेनार्थमथ पात्रं वा समाक्षिप्यैव सूत्रधृक् ।
प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रयोजयेत् ॥ ४१ ॥

(वस्तु : इतिवृत्त : १–आधिकारिक, २–प्रासंगिक)

वस्त्वितिवृत्तम् ।

इदं पुनर्वस्तु बुधैर्द्विविधं परिकल्प्यते ।
आधिकारिकमेकं स्यात्प्रासङ्गिकमथापरम् ॥ ४२ ॥

अनुवाद—आमुख अथवा प्रस्तावना के जो पाँच प्रकार बताये गये उनमें से किसी एक की योजना में वीथी के अन्य अङ्गों की भी, उपयोगितानुसार, योजना की जा सकती है।

यहाँ (कारिका में) 'अत्र' का अभिप्राय 'अवलगित' नामक प्रस्तावनाभेद का नहीं अपितु पञ्चविध 'आमुख' का अभिप्राय है। 'उद्घात्यक' और 'अवलगित' के अतिरिक्त जो वीथ्यङ्ग हैं उनका आगे निरूपण किया जायगा।

अनुवाद—रूपक-प्रबन्धों के पञ्चविध आमुख का जो निरूपण किया गया वहाँ तो रङ्गमञ्च पर उपस्थित सूत्रधार अथवा स्थापक द्वारा पात्र का प्रवेश हुआ करता है किन्तु आमुख का एक और भी प्रकार है जिसे 'नखकुट्ट' ने कहा है और जिसमें नेपथ्य-वचन अथवा आकाशभाषित के श्रवण पर ही सूत्रधार प्रस्तावना कर दिया करता है। इन षड्विध प्रस्तावनाओं में किसी एक की ही योजना किसी एक रूपक-प्रबन्ध के लिये आवश्यक है। सूत्रधार का यह कर्तव्य है कि रूपकप्रबन्ध के वृत्तान्त अथवा पात्रविशेष की सूचना के बाद प्रस्तावना समाप्त कर दे और स्वयं रंगमञ्च से निकल जाय जिसके बाद रूपक-प्रयोग आरम्भ हो जाय।

यहाँ कारिका के 'वस्तु' पद का अभिप्राय 'इतिवृत्त' का अभिप्राय है।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पण की 'लक्ष्मी'-टीका मे 'नखकुट्ट' को जो आमुख का नाम बताया गया है (अथाप्रविष्टसूचितपात्रघटितोऽपि नखकुट्टाख्यः षष्ठः प्रभेद इति दर्शयितुमाह— नखकुट्टस्त्विति—पृष्ठ ३४०) वह निरर्थक है।

(ख) रूपक-प्रबन्धों में पात्रप्रवेश के पहले का भाग तो 'आमुख' अथवा प्रस्तावना है और उसके बाद का भाग 'नाट्य' है। 'नाट्य' का सूचक होने के कारण प्रस्तावना को 'आमुख' कहा गया है (ईषन्मुखं मुखसन्धिसूचकत्वादारम्भः–आमुखम्–प्रस्तावनाशब्देनाप्येतदुच्यते)।

अनुवाद—नाट्यकोविदों के अनुसार, रूपक-प्रबन्ध में, 'वस्तु' अथवा 'इतिवृत्त' दो

अधिकारः फले स्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
तस्येतिवृत्तं कविभिराधिकारिकमुच्यते ॥ ४३ ॥

फले प्रधानफले। यथा बालरामायणे रामचरितम्।

अस्योपकरणार्थं तु प्रासङ्गिकमितीष्यते ।

अस्याधिकारिकेतिवृत्तस्य उपकरणनिमित्तं यच्चरितं तत्प्रासङ्गिकम्। यथा सुग्रीवादिचरितम्।

प्रकार का हुआ करता है—(१ला) आधिकारिक और (२रा) प्रासङ्गिक। 'अधिकार' का अभिप्राय फल के स्वामित्व का अभिप्राय है और 'अधिकारी' वह कहा जाया करता है जो फल का स्वामी हुआ करता है। इस प्रकार 'अधिकारी' (अर्थात् प्रधान नायक) से सम्बद्ध जो इतिवृत्त हुआ करता है उसे 'आधिकारिक' इतिवृत्त कहा जाया करता है।

यहाँ 'फले स्वाम्यम्' में 'फले' का अभिप्राय प्रधान फल काअभि प्राय है (आनुषङ्गिक अथवा अप्रधान का नहीं)। 'आधिकारिक' इतिवृत्त का निदर्शन 'बालरामायण' में उपनिबद्ध राम का रावण-वध-सम्बद्ध इतिवृत्त है।

और जिसे 'प्रासङ्गिक' इतिवृत्त कहा गया है वह ऐसा इतिवृत्त हुआ करता है जो 'आधिकारिक' इतिवृत्त का सहायक किंवा उपयोगी हुआ करता है।

यहाँ, कारिका में 'अस्य' का अभिप्राय 'आधिकारिक इतिवृत्त' का अभिप्राय है और 'उपकरणार्थ' का अभिप्राय उपकरण अथवा सहायता के निमित्तभूत चरित अथवा वृत्त का अभिप्राय है जिसे 'प्रासङ्गिक' नाम दिया गया है।

'प्रासङ्गिक' इतिवृत्त-प्रकार का उदाहरण राम-सम्बन्धी रूपक-प्रबन्ध में सुग्रीव आदि से सम्बद्ध वृत्त है।

विमर्श—अनभिनेय काव्य का शरीर 'वृत्त' माना गया है और अभिनेय काव्य का शरीर 'इतिवृत्त' अथवा कविद्वारा उपस्कृत वृत्त। कवि द्वारा वृत्त के उपस्कार का साधन सन्धि-योजना है जिसमें वृत्त के प्रकार-वैचित्र्य की कल्पना रहा करती है। कोई भी वृत्त स्वभावतः न तो आधिकारिक हो सकता है और न प्रासङ्गिक। यह तो कवि की कल्पना है जो एक ही वृत्त में 'अधिकार' और 'प्रसङ्ग' का भेद करके एक को 'आधिकारिक' रूप में प्रस्तुत करती है और दूसरे को 'प्रासङ्गिक' रूप में। 'आधिकारिक' वृत्त तो रूपक-प्रबन्ध का व्यापकवृत्त हुआ करता है और 'प्रासङ्गिक' इस व्यापक वृत्त का 'उपकरण'भूत वृत्त रहा करता है। अभिनवभारती'कार ने 'आधिकारिक'पद की यह निरुक्ति की है—**'अधिकारः सर्वत्रानुयायित्वम् हृदयानुयायित्वं प्रयोजनमस्य (तत्)।'** जिससे यह स्पष्ट है कि रूपक का 'आधिकारिक'वृत्त वह है जिसे कवि रूपक प्रबन्ध-व्यापी बनाया करता है। 'प्रासङ्गिक' पद की निरुक्ति 'अभिनवभारती'कार ने इस प्रकार की है—

'प्रसक्तिर्हि प्रसङ्गः तत आगतं प्रासंगिकं, प्रसज्यते वा प्रधानफलनिष्पत्तये इति प्रसङ्गस्तत आगतम्।'

जिससे यह निश्चित हो जाता है कि 'प्रासंगिक' वृत्त 'आधिकारिक' वृत्त का ही उपस्कारक वृत्त हुआ करता है।

नाट्यदर्पण की इन पंक्तियों में, जिनमें 'अभिनवभारती' के अभिप्रायों का सार खींचा हुआ है, 'आधिकारिक' और 'प्रासंगिक' का यह तात्पर्य बताया गया है—

(पताकास्थानक : नाटकीय उपयोग)

पताकास्थानकं योज्यं सुविचार्येह वस्तुनि ॥ ४४ ॥

इह नाट्ये ।

यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते ।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ॥ ४५ ।

मुख्यमिष्टफलं वृत्तमङ्गं प्रासङ्गिकं क्वचित् । मुख्यं सर्वप्रबन्धव्यापित्वात् प्रधानम् । इष्टं सर्वोत्कर्षेण कवेरभिप्रेतं फलं यस्य । वृत्तं चरितम् अंगं मुख्यवृत्तस्यानुयायित्वादवयवः । प्रसंगात् परकीययत्नादागतं प्रासंगिकम् । इह तावन्न निसर्गतः किञ्चिच्चरितं मुख्यमंगं वा, किन्तु बहुष्वपि फलेषु कविर्यस्यात्यन्तमुत्कर्षमभिप्रैति तत्फलमिष्टम् । अनेन च यत् फलवद् वृत्तं तदिह मुख्यम् । तदितरदंगत्वात् प्रासंगिकम् । रामप्रबन्धेषु हि सुग्रीवमैत्री-शरणागतविभीषणरक्षण-रावणवध-सीताप्रत्यानयनादिषु सीताप्रत्यानयनस्यैव प्राधान्यं कविना प्रतिपादितम् । तत्संपादनाय तदितरेषु प्रवृत्तेः । अत एव तान्यङ्गानि । कविरपि न स्वेच्छया फलस्योत्कर्षं निबद्धुमर्हति किन्त्वौचित्येन । यस्य धीरोद्धतादेर्यदेव फलमुचितं तस्यैवोत्कर्षो निबन्धनीयः । प्रासंगिकस्यापि च मुख्यवृत्तप्रयत्नेनैव निष्पत्तिर्विधेया । प्रयत्नान्तरे हि तदपि मुख्यं स्यात् । ···क्वचिदिति यत्रैव मुख्यो नेता फलसिद्धौ सहायमपेक्षते तत्रैव प्रासंगिकम्, न सर्वत्र ।'

(नाट्यदर्पण १म विवेक)

संस्कृत के रूपक-प्रबन्धों में जो कथावस्तु-रचना (Plot Construction) है उसमें सर्वत्र आधिकारिक और यथावसर प्रासङ्गिक वृत्त का योजना-वैचित्र्य स्पष्टतया परिलक्षित होता है ।

अनुवाद—रूपक-प्रबन्धों की 'इतिवृत्त'-रचना में वैचित्र्य के आधान के लिये कवि के लिये यह अपेक्षित है कि वह विचारपूर्वक 'पताकास्थानक' की योजना करे ।

यहाँ कारिका में 'इह' पद का अभिप्राय 'नाट्य' (अथवा रूपक) का अभिप्राय है ।

'पताकास्थानक' क्या है ? 'पताकास्थानक' वह है जिसे नाट्य के उस स्थान पर जहाँ नाटककार किसी एक प्रयोजन अथवा उपाय की चिन्ता कर रहा है उसके समान अन्य प्रयोजन अथवा उपाय की अकस्मात् अतर्कित उपस्थिति हो जाया करती है ।

विमर्श—'पताकास्थानक' एक प्रकार का इतिवृत्त ही है । इस इतिवृत्त-प्रकार की योजना मुख्य इतिवृत्त में वैचित्र्य का आधान किया करती है (तेन पताकास्थानकमितिवृत्तमेवोच्यते । तत्र वर्ण्यमानं तु जडाजडरूपं पताकासदृशमित्यर्थादुक्तं भवति । स चान्योऽर्थस्तल्लिङ्ग-स्तन्मुख्यमर्थं लिंगयति विचित्रयतीति । अभिनवभारती नाट्यशास्त्र १९-३० ।)

'पताका' और 'पताकास्थानक' रूप इतिवृत्त-प्रकारों में परस्पर भेद है । 'पताका' रूप वृत्त तो रूपक-प्रबन्धों के मुख्य वृत्त का उपकारक होने से एक निश्चित स्थान पर और पर्याप्त समय तक निरन्तर चलनेवाला वृत्त हुआ करता है किन्तु 'पताकास्थानक' वह वृत्त है जो कहीं-कहीं उपनिबद्ध हुआ करता है और नाट्य के सौन्दर्यवर्द्धन के लिए ही उपनिबद्ध हुआ करता है । नाट्यदर्पणकार ने इसीलिए कहा है—

'चिन्तितार्थापरप्राप्तिर्वृत्ते यत्रोपकारिणी ।
पताकास्थानकं तत्तु चतुर्धा मण्डनं क्वचित् ॥

(१ म पताकास्थानक)

तद्भेदानाह—

सहसैवार्थसंपत्तिर्गुणवत्युपचारतः ।
पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितम् ॥ ४६ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'वासवदत्तेयम्' इति राजा यदा तत्कण्ठपाशं मोचयति तदा तदुक्त्या 'सागरिकेयम्' इति प्रत्यभिज्ञाय 'कथं ? प्रिया मे सागरिका ?

अलमलमतिमात्रं साहसेनामुना ते
त्वरितमयि ! विमुञ्च त्वं लतापाशमेतम् ।
चलितमपि निरोद्धुं जीवितं जीवितेशे !
क्षणमिह मम कण्ठे बाहुपाशं निधेहि ॥'

अत्र फलरूपार्थसंपत्तिः पूर्वापेक्ष्योपचारातिशयाद् गुणवत्युत्कृष्टा ।

अर्थं—कर्म-करणव्युत्पत्त्या प्रयोजनमुपायश्च । अध्यवसितात् प्रयोजनादुपायाद्वाऽन्यस्य प्रयोजनस्योपायस्य च प्राप्तिर्यत्रेति वृत्ते उपकारिणी प्रधानफलोपकारिका तदितिवृत्तं पताकास्थानकम् । उपकारित्वमात्रसाम्यात् पताकास्थान एव तुल्यं पताकास्थानकम्; न पुनः पताकास्थानमेव । अत एव तुशब्दः पताकास्वरूपाद् व्यतिकरं द्योतयति । मण्डनमिति एकमपि पताकास्थानकं नाट्य-काव्यस्यालङ्करणम्, किं पुनर्द्वे त्रीणि चत्वारि वा ? एतद्विहीनं रूपकं न कार्यमित्यर्थः । क्वचिदित्यन्तराऽन्तरा, न तु पताकावन्निरन्तरम् । अत एव पताकातो भिद्यते । (नाट्यदर्पण : १म विवेक)

अनुवाद—'पताकास्थानक के चार भेद हैं जिन्हें क्रमशः बताया जा रहा है—

पहला 'पताकास्थानक' वह है जहाँ सामाजिकों को अकस्मात् अभीष्ट अर्थ का परिचय मिल जाता है क्योंकि यहाँ कवि एक प्रयोजन तो मन में रखता है और दूसरे का उपनिबन्धचातुर्य दिखाया करता है।

इसका उदाहरण 'रत्नावली' का यह प्रसंग है—

'नायक उदयन 'सागरिका' को, गले में लतापाश का फन्दा लगाते देख, वासवदत्ता समझ लेता है किन्तु उसकी बोली से यह जान कर कि वह तो उसकी प्रियतमा 'सागरिका' है उसके बाहु-पाश को अपने गले का फन्दा बनाने को उत्सुक हो उठता है और कहने लगता है—

तू यह आत्मघात का साहस क्यों कर बैठी ! अरे इस लतापाश को फेंक और अपने इस प्रियतम के गले में अपना बाहुपाश डाल दे जिससे तेरे विरह में भागने के इच्छुक इसके प्राण भागने न पाँय ।'

यहाँ अकस्मात् इष्ट-लाभ की प्राप्ति है क्योंकि सामाजिक उदयन को बहुत देर से सागरिका के प्रेम-मिलन-सुख का प्रार्थी देखते आये हैं और सहसा इस प्रकार के प्रेम-मिलन-सुख के पानेवाले उदयन को देख प्रसन्नता से भर उठते हैं।

विमर्श—यह 'पताकास्थानक' भी एक विचित्र वृत्त-भेद ही है। इस वृत्त-भेद में भी कोई न कोई नायक अवश्य होना चाहिये। 'अभिनवभारती'कार के अनुसार दैवयोग और देशकाल-विशेष के कारण नायक के जो भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं, उनमें से किसी एक रूप में, वह स्वयं इस वृत्त-भेद का नायक हो जाया करता है:—

(२ य पताकास्थानक)

वचः सातिशयं श्लिष्टं नानाबन्धसमाश्रयम् ।
पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥ ४७ ॥

यथा वेण्याम्—

'रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ।'

अत्र रक्तादीनां रुधिरशरीरार्थहेतुकश्लेषवशेन बीजार्थप्रतिपादनान्नेतृमङ्गलप्रतिपत्तौ सत्यां द्वितीयं पताकास्थानकम् ।

'अत्रान्यत् प्रयोजनं चिन्तितं तद्वैचित्र्यकारि च प्रयोजनान्तरं संपन्नम् । तत्र च दैवयोगः, तथाभूतदेशकालयोगः नायकः स्वात्मैवान्याभिसन्धियोगात् कल्पितभेदः, सागरिकैव वा मरणमेवोचितमित्यन्याभिसन्धानेन वदतीति पताकानायकसदृशत्वं भजते ।'

(अभिनवभारती भाग ३य, पृष्ठ १९)

अनुवाद—दूसरा 'पताकास्थानक' वह है जहाँ प्रकृत विषय की वर्णना में ऐसा श्लिष्ट वचन-विन्यास किया हुआ रहता है जो अप्रकृत के भी उपयुक्त हो जाता है और एक चमत्कार की सृष्टि कर जाता है ।

इसका उदाहरण 'वेणीसंहार' का यह प्रसङ्ग है—

'सूत्रधार मंगलाशंसन करता है—'सभृत्याः' (अनुचर-परिचरों के साथ) 'क्षतविग्रहाः' (लड़ाई-झगड़े की नीति से विमुख और पक्षान्तर में, क्षत-विक्षत शरीर लिये) किं वा 'रक्तप्रसाधितभुवः' (प्रजाजनों के रञ्जक तथा साम्राज्य को सुशोभित करनेवाले और पक्षान्तर में, लोहूलुहान शरीर लिये, धरती पर गिरे-पड़े) 'कुरुराजसुताः' (कुरुराज धृतराष्ट्र के कुमार-गण) 'स्वस्थाः भवन्तु' (आनन्द करें और पक्षान्तर में-मरमिटें) ।'

यहाँ 'पताकास्थानक' का दूसरा प्रकार इसलिये स्पष्ट दिखायी पड़ रहा है क्योंकि 'रक्त' और 'विग्रह' आदि श्लिष्ट पदों का ऐसा विन्यास किया हुआ है जिससे 'रुधिर' और शरीर' का अर्थ निकल पड़ता है और भीम के वेणीसंहार रूप प्रतिज्ञा-पालन के बीजभूत वृत्तार्थ की अभिव्यक्ति हो उठती है जो कि 'वेणीसंहार' रूप फल की एक शुभ-सूचना सी ही है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने इस 'पताकास्थानक' प्रकार की यह परिभाषा की है—

'वचः सातिशयं श्लिष्टं काव्यबन्धसमाश्रयम् ।
पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥' (नाट्यशास्त्र १९. ३२)

जिसे साहित्यदर्पणकार ने इस प्रकार बदल लिया है—

'वचः सातिशयं श्लिष्टं नानाबन्धसमाश्रयम् ।
पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥'

यहाँ 'काव्यबन्धसमाश्रयम्' के स्थान पर 'नानाबन्धसमाश्रयम्' बदला गया है । 'अभिनवभारतीकार' ने 'काव्यबन्धसमाश्रयम्' का अभिप्राय यह बताया है—

'काव्यस्य प्रकृतस्य वर्णनीयस्य यो बन्धः अतिशयोक्त्यादिना योजनं तन्निमित्तवशाद्वचनं (तत्)' ।

'नानाबन्धसमाश्रयम्' का भी यही भावार्थ होना चाहिये । 'नानाबन्ध' का तात्पर्य 'तर्कवागीशी' टीका ने 'विविधविशेषण-सम्बन्ध' (साहित्यदर्पण : तर्कवागीश-विरचित व्याख्या, पृष्ठ २७३)

(३ य पताकास्थानक)

अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत् ।
श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते ॥ ४८ ॥

लीनमव्यक्तार्थम्, श्लिष्टेन सम्बन्धयोग्येनाभिप्रायान्तरप्रयुक्तेन प्रत्युत्तरेणोपेतम्, सविनयं विशेषनिश्चयप्राप्त्या सहितं संपाद्यते यत्तत्तृतीयं पताकास्थानम्।

यथा वेण्यां द्वितीयेऽङ्के—

'कञ्चुकी—देव ! भग्नं भग्नम् ।
राजा—केन ?
कञ्चुकी—भीमेन ।
राजा—कस्य ?
कञ्चुकी—भवतः ।
राजा—आः ! किं प्रलपसि ?
कञ्चुकी—(सभयम्) देव ! ननु ब्रवीमि । भग्नं भीमेन भवतः ।

बताया है जो यहाँ एक आंशिक अभिप्राय-प्रकार अवश्य है किन्तु सम्पूर्ण नहीं । 'लक्ष्मी' टीका में 'नानाबन्ध' की यह व्याख्या अर्थात्—

'नानाबन्धो बीजप्रकाशननायकमंगलसूचनादिरूपः'

यहाँ असंगत है। 'विमला' व्याख्या (पृष्ठ २५१) में 'नानाबन्ध' को 'नानाबन्ध' ही कह दिया गया है जिससे कोई अभिप्राय नहीं निकलता। वस्तुतः विश्वनाथ कविराज का, 'नानाबन्ध' पद से, अभिप्राय 'अतिशयोक्ति' 'समासोक्ति' आदि-आदि अर्थयोजना-प्रकारों का ही अभिप्राय है ।

अनुवाद—तीसरा 'पताकास्थानक' वह है जिसमें ऐसे अर्थात् प्रस्तुतसंबद्ध श्लिष्ट प्रत्युत्तर की योजना हुआ करती है जिससे अस्फुट भी अभिप्रेत किंवा प्रस्तुत अर्थ का निश्चय हो जाया करता है ।

यहाँ 'लीनम्' का अभिप्राय अस्फुट (किन्तु प्रस्तुत रूप से अभीष्ट) अर्थ का अभिप्राय है, 'श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतम्' का तात्पर्य प्रस्तुत अर्थ से संबन्धयोग्य अन्य अप्रस्तुत अर्थ-युक्त प्रत्युत्तर का तात्पर्य है और 'सविनयम्' का अर्थ 'विनय' अथवा विशेष निश्चय से युक्त का अर्थ है । तात्पर्य यह है कि तीसरा 'पताकास्थानक' इस प्रकार के विचित्र वर्णन से युक्त हुआ करता है ।

इसका निदर्शन 'वेणीसंहार' के द्वितीय अङ्क का यह प्रसंग है—

'कञ्चुकी—महाराज ! तोड़ दिया, तोड़ दिया !
राजा—अरे ! किसने ?
कञ्चुकी—भीम ने ।
राजा—किसका ?
कञ्चुकी—आप का ।
राजा—अरे ! क्या बोल रहा है ?
कञ्चुकी—(भयभीत होकर)—महाराज ! बात यह है कि भीम······ने तोड़ दिय । आपका··········।

राजा—धिग् वृद्धापसद ! कोऽयमद्य ते व्यामोहः ?

कञ्चुकी—देव ! न व्यामोहः ।

सत्यमेव—

भग्नं भीमेन भवतो मरुता रथकेतनम् ।
पतितं किङ्किणीकाणबद्धाक्रन्दमिव क्षितौ ॥'

अत्र दुर्योधनोरुभङ्गरूपप्रस्तुतसंक्रान्तमर्थोपक्षेपणम् ।

(४ र्थ पताकास्थानक)

द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः ।
प्रधानार्थान्तराक्षेपी पताकास्थानकं परम् ॥ ४९ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥'

राजा—अरे बुड्ढे ! यह सब क्या अण्डबण्ड बक रहा है ?

कञ्चुकी—महाराज ! अण्डबण्ड नहीं । बात यह है कि (भीमेन मरुता) भयङ्कर बवण्डर ने आपके रथ का ध्वज तोड़ दिया है जो कि किङ्किणी की ध्वनि के बहाने मानो क्रन्दन करते हुए पृथिवी पर लोट रहा है ।'

यहाँ प्रत्युत्तर वाक्य की जो योजना है उससे ऐसे अर्थ का उपक्षेप अथवा प्रत्यायन किया जा रहा है जो कि यहाँ दुर्योधन के जंघाभङ्ग-रूप प्रस्तुत अर्थ में समाहृ होकर सहृदय सामाजिक को चमत्कृत कर देता है ।

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार की 'वृत्ति' अभिनवभारती की इन पंक्तियों का आधार ले रही है—

'लीनमस्फुटरूपमुत्क्षिप्यमाणमर्थजातं, श्लिष्टेन संवन्धयोग्येनाभिप्रायान्तरप्रयुक्तेनापि प्रत्युत्तरेणोपेतं सद्यत्र, सविनयं विशेषेण नयेन विशेषनिश्चयप्राप्त्या सहितं संपद्यते तत् तृतीयं पताकास्थानकम् ।' (अभिनवभारती, ३ य भाग, पृष्ठ २०)

अनुवाद—चौथा 'पताकास्थानक' वह है जहाँ ऐसे द्व्यर्थक वचन का उपन्यास हुआ करता है जो कि मुख्य अभिप्राय से भिन्न अभिप्राय का प्रत्यायन तो कराता ही है साथ ही साथ रूपक-प्रबन्ध के इतिवृत्त के भी उपयुक्त बन जाता है ।

इसका दृष्टान्त 'रत्नावली' का यह प्रसङ्ग है—

'राजा—आज 'उद्दामोत्कलिकां' (बहुत अधिक संख्या में निकली कलिओं वाली और प्रेममिलन की उत्कण्ठा से भरी) 'विपाण्डुररुचं' (पीले रंग की कलियों से पीली-पीली और प्रेम-विरह में पीली पड़ी) 'प्रारब्धजृम्भां' (फूल खिलाने वाली और अलसायी) 'क्षणात् अविरलैः श्वसनोद्गमैरात्मन आयासमातन्वतीम्' (अकस्मात् निरन्तर चलते पवन के झोकों से झकझोरी और विरह-वेदना की आहों से क्लान्त बनी) 'समदनां' (मदन वृक्ष पर चढ़ी और काम-भावना में पगी) इस उद्यानलता को, एक सुन्दरी की भाँति, खड़ी

अत्र भाव्यर्थः सूचितः।

(पताकास्थानक की योजना में नाटककार का स्वातन्त्र्य)

एतानि चत्वारि पताकास्थानानि क्वचिन्मङ्गलार्थं क्वचिदमङ्गलार्थं सर्वसन्धिषु भवन्ति। काव्यकर्तुरिच्छावशाद् भूयो भूयोऽपि भवन्ति।

यत्पुनः केनचिदुक्तम्—'मुखसन्धिमारभ्य सन्धिचतुष्टये क्रमेण भवन्ति' इति। तदन्ये न मन्यन्ते, एषामत्यन्तमुपादेयानामनियमेन सर्वत्रापि सर्वेषामपि भवितुं युक्तत्वात्।

देख-देख मुझे यही इच्छा होती है कि वासवदत्ता के हृदय में मान उत्पन्न कर दूँ और उसके कोपरक्त मुख को देख आनन्द मनाऊँ।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'रत्नावली' नाटिका के भावी वृत्त का उपक्षेप अथवा प्रत्यायन हो रहा है (क्योंकि बाद में उदयन को सागरिका के प्रेम में पगे देख वासवदत्ता का मुंह कोप से लाल हो जाता है)।

विमर्श—'रत्नावली' के उपर्युक्त 'उद्दामोत्कलिकाम्' आदि संदर्भ को दशरूपककार ने तो 'पताकास्थानक' माना है क्योंकि यहाँ 'तुल्यविशेषण' की महिमा से भावी वृत्त का उपक्षेप किया जा रहा है किन्तु 'अभिनवभारती'कार ने इसमें 'व्याहार' नामक वीथ्यङ्ग का उदाहरण देखा है और 'पताकास्थानक' की कल्पना का खण्डन भी किया है—

'उद्दामोत्कलिकाम्' इति तु नोदाहरणम्, द्व्यर्थताप्रतिपत्तावपि हि नात्रार्थेन सहकारिता कुत्रचिदाचरिता। तस्मादेतद्–वीथ्यङ्गस्य व्याहारस्यैवोदाहरणं युक्तम्।'

(अभिनवभारती, ३ य भाग, पृष्ठ २२)

'अभिनवभारती'कार के अनुसार 'रत्नावली' का यह प्रसङ्ग, अर्थात्—'प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्ष्यते' आदि इस पताकास्थानक–प्रकार का उदाहरण है जहाँ संध्यासमय के वर्णन से सागरिका को उदयन की उपस्थिति की सूचना मिल जाती है और वह बोल पड़ती है–

'अयं सो राजा उदयणो जस्स अहं तादेण दिण्णा' ('अयं स राजा उदयनो यस्याहं तातेन दत्ता'-रत्नावली–१ म अङ्क)।'

अनुवाद—ये उपर्युक्त चार प्रकार के 'पताकास्थानक' हैं। इनकी योजना रूपकप्रबन्धों की सभी सन्धिओं में हो सकती है। कहीं इनकी योजना से मङ्गलाशंसा हुआ करती है और कहीं अमङ्गलाशंसा (जैसा कि उद्धृत प्रसङ्गों में स्पष्ट है)। इनकी योजना रूपककार की इच्छा पर निर्भर है। आवश्यकतानुसार इन्हें कई बार भी उपनिबद्ध किया जा सकता है।

'पताकास्थानक' की योजना के सम्बन्ध में एक आध नाट्याचार्य यह कहते हैं—'पताकास्थानक चार हैं इसलिये इनकी योजना 'मुख' संधि से प्रारम्भ कर 'विमर्श' सन्धि तक ही क्रमशः की जानी चाहिये'। किन्तु अन्य नाट्यमर्मज्ञ इस नियम को नहीं माना करते क्योंकि उनका कहना यह है कि 'पताकास्थानक' तो नाट्य-प्रबन्ध के लिये अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है और इसलिये सभी सन्धियों में सभी प्रकार के पताकास्थानकों की योजना हो सकती है न कि पहली सन्धि में पहले की और दूसरी आदि में दूसरे आदि की, (वस्तुतः पताकास्थानक–योजना का अनियम ही सबसे सुन्दर नियम है)।

विमर्श—'पताकास्थानक' की योजना के सम्बन्ध में 'अभिनवभारती'कार का भी यही कथन है—

(रूपक की इतिवृत्त-रचना : चरितचित्रण अथवा रस के अनुकूल)

यत्स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा ।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥ ५० ॥

अनुचितमितिवृत्तं यथा—रामस्य च्छद्मना वालिवधः । तच्चोदात्तराघवे नोक्तमेव । वीरचरिते तु वाली रामवधार्थमागतो रामेण हत इत्यन्यथा कृतः ।

(अर्थोपक्षेपक की योजना : कवि-स्वातन्त्र्य का एक प्रकार विशेष)

अङ्केष्वदर्शनीया या वक्तव्यैव च संमता ।
या च स्याद्वर्षपर्यन्तं कथा दिनद्वयादिजा ॥ ५१ ॥
अन्या च विस्तरा सूच्या सार्थोपक्षेपकैर्बुधैः ।

'पताकानायकेन हि यल्लेशतः कर्त्तव्यं तदेकेन क्रियते चतुष्टयेन वा । केचिदाहुः—चतुर्षु सन्धिषु चत्वारः पताकानायकाः तेषां यथाक्रमं सूचकानि पताकास्थानकानि, प्रथमं मुखसन्धौ यावच्चतुर्थमवमर्शसन्धाविति । तच्चासत् पताका इव प्रकरीकार्यविन्दुबीजानामपि सूचकान्तराणि वक्तव्यानि स्युः, चत्वारश्च नियमेन पताकानायकाः भवेयुः''''''न च मुखसन्धावाद्यं द्वितीयं प्रतिमुखसन्धावित्यादिक्रमो न्याये लक्ष्ये वा साध्यमाक्षिपति—इत्यलमनेन ।' (अभिनवभारती, भाग ३ य, पृष्ठ–२२)

अनुवाद—रूपक-प्रबन्धों की इतिवृत्त-रचना में कवि के लिये यह आवश्यक है कि या तो वह मूलवृत्त के उस अंश को छोड़ ही दे जो अभीष्ट चरित-चित्रण अथवा रसभाव के प्रतिकूल पड़ रहा हो या उसे यथासंभव दूसरा रूप दे दे ।

उदाहरण के लिये 'उदात्तराघव' को लिया जा सकता है जहाँ कवि ने राम के चरित-विकास किंवा तत्सम्बन्धी रसभाव के अनुचित, (रामविषयक मूलवृत्त के अंशभूत) राम द्वारा छिपकर वालि के वध का वृत्तान्त छोड़ दिया है । अथवा 'महावीरचरित' को देखा जा सकता है जहाँ महाकवि ने इस वृत्त को दूसरा रूप दे दिया है अर्थात् इसका इस प्रकार वर्णन किया है कि 'बालि ही राम का वध करने आता है और राम उसे मार डालते हैं ।'

विमर्श—रूपक-प्रवन्ध में 'अनिवन्धनीय' वृत्त के सम्बन्ध में नाट्यदर्पणकार का भी यही कथन है—

अयुक्तं च विरुद्धं च नायकस्य रसस्य वा ।
वृत्तं यत्तत् परित्याज्यं प्रकल्प्यमथवाऽन्यथा ॥

अयुक्तमनुचितं विरुद्धं विपरीतं परित्याज्यमुपेक्षणीयम् । धीरललितस्य ह्यनुचितं परस्त्रीसंभोगादि, विरुद्धं धीरोद्धतत्वादि । शृङ्गारस्य प्रत्यक्षमालिंगन–चुम्बनाद्यनुचितम् , वीभत्सस्तु विरुद्धः । अन्यथेत्यौचित्येनाविरोधेन वा (नाट्यदर्पण १ म विवेक) ।'

अनुवाद—रूपक-कवि के लिये, वृत्तवन्ध के संवन्ध में, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ऐसी घटना, जिसे रस की दृष्टि से तो अङ्क के अन्तर्गत स्थान देना अनुचित है किन्तु पूर्वापर वृत्त-योजना की दृष्टि से निर्दिष्ट करना भी अपेक्षित है, 'अर्थोपक्षेपक' की योजना द्वारा सूचित की जाय । इसी प्रकार ऐसी घटनायें भी, 'अर्थोपक्षेपक'योजना द्वारा

अङ्केषु अदर्शनीया कथा युद्धादिकथा।

वर्षादूर्ध्वं तु यद्वस्तु तत्स्याद्वर्षादधोभवम् ॥ ५२ ॥

उक्तं हि मुनिना—

'अङ्कच्छेदे कार्यं मासकृतं वर्षसञ्चितं वापि।
तत्सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित् ॥'

एवं च चतुर्दशवर्षव्यापिन्यपि रामवनवासे ये ये विराधवधादयः कथांशास्ते ते वर्षवर्षावयवदिनयुग्मादीनामेकतमेन सूचनीया न विरुद्धाः।

दिनावसाने कार्यं यद्दिने नैवोपपद्यते।
अर्थोपक्षेपकैर्वाच्यमङ्कच्छेदं विधाय तत् ॥ ५३ ॥

(अर्थोपक्षेपक: स्वरूप और प्रकार-निर्देश)

अथ के तेऽर्थोपक्षेपका इत्याह—

अर्थोपक्षेपकाः पञ्च विष्कम्भकप्रवेशकौ।
चूलिकाङ्कावतारोऽथ स्यादङ्कमुखमित्यपि ॥ ५४ ॥

ही सूचित की जाँय, जिनमें दो दिन से लेकर सालभर का (अर्थात् अधिक) समय लगा हो या जो बहुत विस्तार रखती हो।

यहाँ 'अङ्क' में अदर्शनीय घटना का अभिप्राय युद्ध आदि सरीखी घटनाओं का अभिप्राय है।

एक वर्ष से अधिक समय में घटी घटनाओं की योजना भी 'अर्थोपक्षेपक' द्वारा ही की जा सकती है किन्तु इसके लिये अपेक्षित यह है कि एक वर्ष से अधिक का घटनाकाल एक वर्ष के भीतर ही मान लिया जाय। नाट्याचार्य भरतमुनि का यही आदेश है—

'वह वृत्त जो एक मास में घटित हुआ हो अथवा एक वर्ष में सम्पन्न हुआ हो, अङ्कच्छेद अर्थात् विष्कम्भक आदि अर्थोपक्षेपक-प्रकारों में से किसी एक के द्वारा वर्णित किया जा सकता है। किन्तु एक वर्ष से अधिक समय में घटी घटना का उपनिबन्ध कदापि नहीं होना चाहिये।'

और वस्तुतः इसीलिये रामविषयक रूपक-प्रबन्धों में, राम के १४ साल के वनवास-काल में घटित, विराध-वध आदि-आदि कथांशों को, एक वर्ष अथवा एक वर्ष के भीतर अथवा एक दिन या दो दिन में ही घटित रूप से अर्थोपक्षेपकों द्वारा उपनिबद्ध किया गया है जिसमें नाट्यशास्त्र की मर्यादा की भी पूर्ण रक्षा हुई है।

अनुवाद—अर्थोपक्षेपक प्रकार—

'अर्थोपक्षेपक' के पांच प्रकार हैं—(१) विष्कम्भक, (२) प्रवेशक, (३) चूलिका, (४) अङ्कावतार और (५) अङ्कमुख।

विमर्श—सरस इतिवृत्त का निबन्धन तो 'अङ्क' में हुआ करता है किन्तु नीरस और इसीलिये अनिबन्धनीय इतिवृत्त-प्रकार की भी योजना पूर्वापरवृत्त-सम्बन्ध की दृष्टि से अपेक्षित ही हुआ करती है। अनिबन्धनीय इतिवृत्त की सूचना के जो उपाय हैं उन्हें 'अर्थ' अथवा इतिवृत्त के 'उपक्षेपक' अथवा प्रत्यायक होने के नाते 'अर्थोपक्षेपक' कहा गया है।

(१म अर्थोपक्षेपक : विष्कम्भक : दो भेद)

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥ ५५ ॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां संप्रयोजितः ।
शुद्धः स्यात्स तु संकीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥ ५६ ॥

तत्र शुद्धो यथा—मालतीमाधवे श्मशाने कपालकुण्डला। सङ्कीर्णो यथा—रामाभिनन्दे क्षपणककापालिकौ ।

(२य अर्थोपक्षेपक : प्रवेशक)

अथ प्रवेशकः—

प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥ ५७ ॥

अनुवाद—इन पञ्चविध अर्थोपक्षेपकों में 'विष्कम्भक' वह अर्थोपक्षेपक हुआ करता है जो कि भूत और भावी कथा-भागों की सूचना दिया करता है और अङ्क की अपेक्षा कम विस्तार रखा करता है। इसकी योजना अङ्क के आरम्भ में ही की जाया करती है (मध्य अथवा अन्त में नहीं)। इसके दो प्रकार हैं—१ला वह, जिसे 'शुद्ध विष्कम्भक' कहते हैं और जिसमें मध्यम प्रकृति के एक पात्र अथवा दो पात्रों के द्वारा वृत्त किंवा वर्तिष्यमाण वृत्तान्त भागों की सूचना दे दी जाया करती है और २रा वह, जिसे 'मिश्र' (अथवा संकीर्ण) विष्कम्भक कहा गया है क्योंकि इसमें नीच और मध्यम प्रकृति के पात्रों द्वारा भूत और भावी अरंजक घटनायें सूचित की जाया करती हैं।

'शुद्ध विष्कम्भक' के उदाहरण के लिये 'मालतीमाधव' (के तृतीय अङ्क) का विष्कम्भक पर्याप्त है जहाँ श्मशान में उपस्थित कपालकुण्डला भूत और भावी वृत्तान्तों की सूचना देती है। इसी प्रकार 'सङ्कीर्ण विष्कम्भक' के निदर्शन-रूप में 'रामाभिनन्द' नाटक में, क्षपणक और कापालिक द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक लिया जा सकता है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार की 'यह विष्कम्भक'-परिभाषा यहाँ ध्यान देने योग्य है—

'अङ्कानर्हस्य वृत्तस्य त्रिकालस्यानुरञ्जिना ।
संक्षिप्य संस्कृतेनोक्तिरङ्कादौ मध्यमैर्जनैः ॥
शुद्धो विष्कम्भकस्तत्र सङ्कीर्णो नीच-मध्यमैः ।
अङ्कसन्धायकः शक्यसन्धानातीतकालवान् ॥

अर्थात् रूपक-प्रबन्धों में कतिपय ऐसे भी कथाभाग उपनिबद्ध किये जाते हैं जो 'अङ्कानर्ह' अर्थात् अरञ्जक होने के कारण या रञ्जक होने पर भी एक दिन में अभिनय के लिये असंभावनीय होने के कारण 'अङ्क में अनिबन्धनीय' हुआ करते हैं। ऐसे कथाभागों की योजना आगे के अङ्क के इतिवृत्त के उपयोगी होने के नाते, 'विष्कम्भक' द्वारा की जाया करती है। 'विष्कम्भक' पद की यह व्युत्पत्ति—'विष्कम्नाति अनुसन्धानेन वृत्तमुपष्टम्भयतीति विष्कम्भकः', जिससे यह स्पष्ट है कि यह 'अङ्कसन्धायक' हुआ करता है। 'अङ्कसन्धायक' होने का अभिप्राय अङ्कार्थ का संसूचक होना है अथवा दो अङ्कों या दो अङ्कार्थों का सम्बन्धक (संबद्ध कराने वाला) होना है।

अनुवाद—'प्रवेशक' भी विष्कम्भक की ही भांति वृत्त और वर्तिष्यमाण इतिवृत्त का

अङ्कद्वयस्यान्तरिति प्रथमाङ्केऽस्य प्रतिषेधः । यथा—वेण्यामश्वत्थामाङ्के राक्षसमिथुनम् ।

(३य अर्थोपक्षेपक : चूलिका)

अथ चूलिका—

अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका ।

यथा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्यादौ—'(नेपथ्ये) भो भो वैमानिकाः, प्रवर्तन्तां रङ्गमङ्गलानि' इत्यादि । 'रामेण परशुरामो जितः' इति नेपथ्ये पात्रैः सूचितम् ।

(४र्थ अर्थोपक्षेपक : अङ्कावतार)

अथाङ्कावतारः—

अङ्कान्ते सूचितः पात्रैस्तदङ्कस्याविभागतः ॥ ५८ ॥
यत्राङ्कोऽवतरत्येषोऽङ्कावतार इति स्मृतः ।

सूचक हुआ करता है । इसकी योजना दो अङ्कों के बीच में की जाया करती है और इसमें 'अनुदात्तोक्ति' अर्थात् संस्कृतभिन्न प्राकृतादि भाषा द्वारा कथावस्तु की सूचना हुआ करती है । इसका प्रयोग नीच पात्रों का कार्य है ।

दो अंकों के बीच में 'प्रवेशक' की योजना का यह तात्पर्य है कि पहले अंक में इसकी योजना निषिद्ध है । इसके उदाहरण के लिए, 'वेणीसंहार' के तृतीय अंक अर्थात् 'अश्वत्थामाङ्क' के राक्षस-मिथुन का वृत्तान्त देखा जा सकता है ।

विमर्श—'प्रवेशक' और 'विष्कम्भक' में जो वस्तुतः भेद है वह भाषा का भेद है । 'प्रवेशक' की भाषा प्राकृत हुआ करती है और 'विष्कम्भक' की संस्कृत अथवा संस्कृत-प्राकृत । 'प्रवेशक' को इसलिए 'प्रवेशक' कहा जाया करता है क्योंकि इसका कार्य सामाजिक-हृदय में अप्रत्यक्ष अर्थ का प्रवेश कराना हुआ करता है (अप्रत्यक्षान् अर्थान् सामाजिकहृदये प्रवेशयतीति प्रवेशकः) ।

अनुवाद—'चूलिका' वह अर्थोपक्षेपक-प्रकार है जिसमें पात्र नेपथ्य के भीतर से ही वस्तुविशेष की सूचना दिया करते हैं ।

इसका उदाहरण 'महावीर-चरित' के चतुर्थ अंक के आरम्भ में यह वृत्त-सूचना है—

(नेपथ्य से)

अरे वैमानिक गण ! रङ्गमङ्गल कार्य प्रारम्भ किये जांय । आदि ।

यहाँ नेपथ्यवर्ती पात्र राम द्वारा परशुराम की विजय की सूचना दे रहे हैं ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'चूलिका' की यह परिभाषा की है—

'वस्तुनः सूचनं चूला पात्रैर्नेपथ्यसंस्थितैः ॥

वस्तुन इति कस्यचिदर्थस्य सूचनमुपक्षेपः । पात्रैः स्त्रीपुंसैः नेपथ्यसंस्थितैर्यवनिकान्तरदेशस्थायिभिः । सा चूडेव चूलिका रङ्गाभिनेयार्थस्य नेपथ्यपात्रोक्तेः शिखाकल्पत्वात् ।'

अनुवाद—'अङ्कावतार' वह अर्थोपक्षेपक-भेद है जिसे पिछले अंक के अन्त में, उस अंक में पात्रों द्वारा, अग्रिम अंक की सूचना कहा करते हैं ।

यथा—

अभिज्ञाने पञ्चमाङ्के पात्रैः सूचितः षष्ठाङ्कस्तदङ्कस्याङ्गविशेष इवावतीर्णः।

(५म अर्थोपक्षेपक : अङ्कमुख)

अथाङ्कमुखम्—

यत्र स्यादङ्क एकस्मिन्नङ्कानां सूचनाऽखिला ॥ ५९ ॥
तदङ्कमुखमित्याहुर्बीजार्थख्यापकं च तत्।

यथा—

मालतीमाधवे प्रथमाङ्कादौ कामन्दक्यवलोकिते भूरिवसुप्रभृतीनां भाविभूमिकानां परिक्षिप्तकथाप्रबन्धस्य च प्रसङ्गात्सन्निवेशं सूचितवत्यौ।

('अङ्कास्य' क्या है ?)

अङ्कान्तपात्रैर्वाङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ॥ ६० ॥

इसका उदाहरण 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के पञ्चम अंक के पात्रों द्वारा सूचित, उसका छठा अंक है जो पञ्चम अंक के ही अङ्गरूप से उपनिबद्ध है।

विमर्श—'अङ्कावतार' की नाट्यदर्पणकार-सम्मत रूपरेखा यह है—

'सोऽङ्कावतारो यत् पात्रैरंकान्तरमसूचनम्।

पात्रान्तरभावेन यस्यैवाङ्कस्य पात्रैरविच्छिन्नार्थतया सूचनीयार्थस्याभावात्। प्रवेशक-विष्कम्भक-सूचनारहितमङ्कान्तरं भवति स द्वितीयाङ्कावतारणादङ्कावतारः।'

(नाट्यदर्पण : १म विवेक)

अनुवाद—'अङ्कमुख' वह अर्थोपक्षेपक-प्रकार है जिसे एक अङ्क में अन्य अङ्कार्थों की सूचना कहा जाया करता है और जिसमें बीज तथा अर्थ (फल) दोनों संक्षेप में सूचित हुआ करते हैं।

इसका उदाहरण 'मालतीमाधव' के प्रथम अङ्क का आरम्भ है जहाँ 'कामन्दकी' और 'अवलोकिता' द्वारा, भूरिवसु आदि की अग्रिम भूमिका की सूचना दे दी जाती है और संक्षिप्त कथाप्रबन्ध भी उपक्षिप्त कर दिया जाता है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का यह 'अङ्कमुख'-निरूपण 'भावप्रकाशनकार' के इस 'अङ्कास्य' लक्षण का अनुसरण करता है—

'सूत्रणं सकलाङ्कानां ज्ञेयमङ्कमुखं बुधैः।
यथा 'सौदामिनी दाणिं धारेइ सिरिपव्वदे' ॥
अवलोकितया पृष्टकामन्दक्युत्तरेण च।
समासतः श्मशानादिकृतं सर्वाङ्कसूत्रणम् ॥
अत्र मुखं विश्लिष्टं यथोपरि श्लिष्यते त्रिधा वाक्यैः।
पुरुषस्य वै तदङ्कमुखमिति सन्तो ह्युपदिशन्ति ॥'

(भावप्रकाशन : ७म अधिकार)

अनुवाद—'अङ्कमुख' का एक और भी प्रकार है जिसे 'अङ्कास्य' कहते हैं। 'अङ्कास्य' का अभिप्राय पूर्व अङ्क के अन्त में प्रविष्ट पात्रों द्वारा, अग्रिम असंबद्ध अङ्कों की सूचना का अभिप्राय है।

अङ्कान्तपात्रैरङ्कान्ते प्रविष्टैः पात्रैः। यथा वीरचरिते द्वितीयाऽङ्कान्ते—'(प्रविश्य)

सुमन्त्रः—भगवन्तौ वशिष्ठविश्वामित्रौ भवतः सभार्गवानाह्वयतः।

इतरे—क्व भगवन्तौ ?

सुमन्त्रः—महाराजदशरथस्यान्तिके।

इतरे—तत्तत्रैव गच्छामः' इत्यङ्कपरिसमाप्तौ। '(ततः प्रविशन्त्युपविष्टा वशिष्ठविश्वामित्रपरशुरामाः)' इत्यत्र पूर्वाङ्कान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनककथाविच्छेदे उत्तराङ्कमुखसूचनादङ्कास्यम्' इति।

एतच्च धनिकमतानुसारेणोक्तम्। अन्ये तु—'अङ्कावतरणेनैवेदं गतार्थम्' इत्याहुः।

यहाँ कारिका के 'अङ्कान्तपात्रैः' का तात्पर्य 'अङ्क के अन्त में प्रविष्ट पात्रों का' तात्पर्य है।

इसका उदाहरण 'महावीरचरित' के द्वितीय अङ्क के अन्त में प्रयुक्त यह अर्थोपक्षेपक है—

(प्रवेश करके)

सुमन्त्र—भगवान् वशिष्ठ और विश्वामित्र भार्गव परशुराम और आप सबको बुला रहे हैं।

और लोग—कहाँ हैं भगवान् वशिष्ठ और विश्वामित्र ?

सुमन्त्र—महाराज दशरथ के पास विराजमान हैं।

और लोग—तब वहीं चला जाय।

यहाँ द्वितीय अङ्क के अन्त में वशिष्ठ, विश्वामित्र और परशुराम का प्रवेश होता है। इसे 'अङ्कास्य' इसलिए माना गया है क्योंकि पूर्व अङ्क में प्रविष्ट पात्र 'सुमन्त्र' द्वारा जनक और शतानन्द-सम्बन्धी कथावस्तु का विच्छेद हो जाता है और अग्रिम अङ्क की कथावस्तु के मुख अथवा आरम्भ की सूचना दे दी जाती है।

यहाँ 'अङ्कास्य' का यह अभिप्राय आचार्य धनिक के मत का अनुसरण करते हुये बताया गया है। अन्य नाट्याचार्य 'अङ्कावतार' से ही इसे गतार्थ मानते हैं (क्योंकि इसमें और अङ्कावतार में कोई भेद नहीं।)

विमर्श—'अङ्कमुख' के इस प्रकार का यही अभिप्राय भावप्रकाशनकार ने भी प्रकाशित किया है—

'पूर्वाङ्कान्तप्रविष्टैर्यदुत्तराङ्कार्थसूचनम् ।
पूर्वाङ्कार्थानुवृत्त्यर्थं तदङ्कास्यमुदीरितम् ।।
अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कार्थस्य सूचनम् ।
यथा हि वीरचरिते द्वितीयेऽङ्केऽवसानके ।।
रामभार्गवयोर्मध्ये सुमन्त्रेण प्रविश्य तु ।
विश्वामित्रवशिष्ठौ च तदाह्वानेन सूचितौ ।।
रामयोस्तत्र कलहाविच्छेदेनैव तौ पुनः ।
तृतीयाङ्कप्रवेशेन सुमन्त्रेणैव सूचितौ ।।'

(भावप्रकाशन : ७म अधिकार)

(विष्कम्भक आदि की योजना-व्यवस्था)

अपेक्षितं परित्याज्यं नीरसं वस्तु विस्तरम् ।
यदा संदर्शयेच्छेषमामुखानन्तरं तदा ॥ ६१ ॥
कार्यो विष्कम्भको नाट्य आमुखाक्षिप्तपात्रकः ।

यथा—रत्नावल्यां यौगन्धरायणप्रयोजितः ।

यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥ ६२ ॥
आदावेव तदाऽङ्के स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः ।

यथा—शाकुन्तले ।

विष्कम्भकाद्यैरपि नो वधो वाच्योऽधिकारिणः ॥ ६३ ॥
अन्योऽन्येन तिरोधानं न कुर्याद्रसवस्तुनोः ।

रसः शृङ्गारादिः । यदुक्तं धनिकेन—

'न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ।
रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः ॥' इति ।

अनुवाद—इन अर्थोपक्षेपक-प्रकारों की योजना की यह व्यवस्था है—

जहाँ रूपक-प्रबन्ध के सरस आरम्भ के लिये लम्बी-चौड़ी नीरस कथा का छोड़ना आवश्यक है वहाँ संबद्ध अपेक्षित कथा का वर्णन भी आवश्यक है और इसके लिये आमुख अथवा प्रस्तावना के बाद में ही, आमुख-सूचित पात्र द्वारा विष्कम्भक का प्रयोग उपयुक्त माना गया है । 'रत्नावली' में, 'आमुख' के बाद, यौगन्धरायण द्वारा प्रयुक्त जो 'विष्कम्भक' है वह इसी विष्कम्भक—योजना के नियम का निदर्शन है ।

किन्तु यदि रूपक-प्रबन्ध का वृत्त आरम्भ से ही सरस हो तब आमुख अथवा प्रस्तावना द्वारा पात्र-प्रवेश की सूचना के बाद ही अङ्क का आरम्भ आवश्यक है । यहाँ विष्कम्भक की योजना अपेक्षित नहीं ।

अभिज्ञानशाकुन्तल का आरम्भ इसी नियम का निदर्शन है ।

विष्कम्भक आदि की योजना द्वारा भी नायक के वध का वर्णन कदापि नहीं किया जाना चाहिये । साथ ही साथ न तो वृत्तान्त-वर्णन द्वारा रस का तिरोधान करना चाहिये और न रस के धाराधिरोह अभिव्यञ्जन द्वारा वृत्तान्त को ही तिरोहित करना चाहिये ।

यहाँ 'रसवस्तुनः' में 'रस' का अभिप्राय शृङ्गार आदि रसों का अभिप्राय है । आचार्य धनिक का भी, इस सम्बन्ध में, यही कथन है—

'न तो रस की अनवरत योजना द्वारा कथावस्तु का विच्छेद उचित है और न वस्तु-वर्णन अथवा अलङ्कार-वर्णन द्वारा रस का ही तिरोधान उपयुक्त है ।'

विमर्श—अर्थोपक्षेपक की योजना का एक मात्र उद्देश्य ऐसी सूच्यवस्तु की सूचना है जोकि रूपक के इतिवृत्त के लिये अपेक्षित हो—

'अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत् ।
विष्कम्भ-चूलिकाऽङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः ॥
सूच्यार्थसूचनोपायाः सूरिभिः पञ्च कीर्तिताः ।'

(भावप्रकाशन : ७म अधिकार)

(अर्थप्रकृति–पञ्चक : नामनिर्देश)

बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ॥ ६४ ॥
अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि ।

अनुवाद—रूपक-निर्माण के उपयुक्त जो 'अर्थप्रकृतिपञ्चक' है वह यह है—(१) बीज (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी और (५) कार्य । रूपक में इन अर्थप्रकृतिओं का नियमानुसार उपनिबन्ध आवश्यक माना गया है ।

यहाँ 'अर्थप्रकृति' का अभिप्राय 'अर्थ' अथवा प्रयोजन की 'प्रकृति' का है और 'प्रकृति' का अभिप्राय 'सिद्धि-हेतु' अथवा 'साधक उपाय' का अभिप्राय है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने ही रूपक-प्रबन्ध में अर्थप्रकृति-पञ्चक की यथाविधि योजना का आदेश दिया था (अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि–नाट्यशास्त्र : १९.२१) । 'अर्थ-प्रकृति' क्या है ? इसकी मीमांसा में 'अभिनवभारती'कार ने यह कहा है—

'इतिवृत्तविषये यथा येन प्रकारेणाधिकारिकस्य खण्डनलक्षणेन पञ्चावस्था उक्ता-स्तेनैव प्रकारेणार्थप्रकृतयोऽपि पञ्चैव पठ्यन्ते । तदनभिधाने उपायादिस्वरूपाऽपरिज्ञानाद् प्रारम्भाद्यवस्थानां परमार्थतोऽसंवेदने आधिकारिकत्वमविदितं स्यात् । यत्रार्थः फलं तस्य प्रकृतयः उपायाः फलहेतव इत्यर्थः । तत्र जडचेतनतया द्विधा करणम्, जडश्च मुख्यकारण-भूतः, गूढतरो वा, आद्यं बीजं द्वितीयं कार्यं करणीयं प्रयोक्तव्यमित्यर्थे । चेतनोऽपि द्विधा मुख्य उपकरणभूतश्च; अन्त्योऽपि द्विधा स्वार्थसिद्धिसहिततया परार्थसिद्ध्या दुक्तः शुद्ध्याऽपि च, तत्राद्यो बिन्दुः द्वितीयः पताका तृतीयः प्रकरी । तदेतैः पञ्चभिरुपायैः पूर्णफलं निष्पाद्यते ।······अन्ये त्वाहुः—अर्थस्य समस्तरूपकवाच्यस्य प्रकृतयः प्रकरणान्यवयवार्थ-खण्डा इत्यर्थप्रकृतयः एतच्च व्याख्यानं नातीव प्रकृतं पोषयति । सन्ध्यादीनामपि चार्थ-प्रकृतित्वमत्र व्याख्याने स्यात्, इतिवृत्तमेव च समुदायरूपम् । अर्थ इतिवृत्ते प्रकृतय इति वक्तव्येऽर्थग्रहणमतिरिक्तं स्यात्, इत्यवस्थाभिश्च तुल्यतावर्णनं वर्णनमात्रं स्यादिति किमनेन (अभिनवभारती : ३ य भाग, पृष्ठ १२) ।'

अर्थात् रूपक के आधिकारिक इतिवृत्त के अन्तरङ्ग विश्लेषण में 'अवस्थापञ्चक' का जो विश्लेषण किया जाया करता है उसका पूर्ण परिज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक उसके (आधिकारिक इतिवृत्त के) बहिरङ्ग विश्लेषण में 'अर्थप्रकृति-पञ्चक' का स्वरूप निर्धारित न कर लिया जाय । 'अर्थप्रकृति' का अभिप्राय 'अर्थ' अथवा फल के उपाय अथवा हेतु का अभिप्राय है । फलहेतु अथवा फलोपाय प्रथमतः दो प्रकार से विभक्त किये जा सकते हैं—(१ ला) जडरूप फलसाधन और (२ रा) चेतनरूप फलसाधन । यह जडरूप फलोपाय भी दो प्रकार से विभक्त दिखायी दे सकता है—(१ ला) बीज, जोकि फल का मुख्य कारण है और (२ रा) कार्य, जिसे बीज से फलोत्पादन के लिये प्रयुक्त किया जाया करता है । इसी प्रकार चेतनरूप फलोपाय के भी दो भेद हो सकते हैं—(१ ला) मुख्य और (२ रा) सहकारी । यह 'सहकारी' रूप चेतन फलहेतु भी दो प्रकार का हो सकता है—(१ ला) स्वार्थसिद्धिपूर्वक परार्थ का साधक और (२ रा) स्वार्थनिरपेक्ष रूप से परार्थ का साधक । इन त्रिविध चेतनरूप फलोपायों में बिन्दु तो मुख्य फलोपाय है और पताका और प्रकरी प्रथम और द्वितीय प्रकार के सहकारी फलोपाय हैं ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'फल' को रूपककार और नायक दोनों का फल माना गया है । रूपक-कार के लिये रूपक का फल रसोल्लास है और रूपक में नायक का फल धर्मार्थ-काममोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय में से कोई एक अथवा परस्पर संभिन्न पुरुषार्थ हो सकता है ।

(१ म अर्थप्रकृति : बीज)

अर्थप्रकृतयः प्रयोजनसिद्धिहेतवः। तत्र बीजम्—

अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति ॥ ६५ ॥

फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते ।

यथा—रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुर्दैवानुकूल्यलालितो यौगन्धरायणव्यापारः। यथा वा—वेण्यां द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमसेनक्रोधोपचितो युधिष्ठिरोत्साहः।

'अर्थप्रकृति' के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न अभिप्राय भी प्रचलित रहे हैं। कुछ लोग 'अर्थप्रकृति' को अर्थ अथवा समस्त रूपकार्थ का 'अवयव' अथवा खण्ड मानते रहे हैं किन्तु ऐसा मानने से 'अर्थप्रकृति' और 'सन्धि' का स्वरूप-विवेक अस्पष्ट हो जाता है। कुछ लोग अर्थ को इतिवृत्त मानकर 'अर्थप्रकृति' को 'इतिवृत्त में प्रकृति' उपाय भी समझते रहे हैं किन्तु ऐसा समझने से 'अर्थप्रकृति' और 'अवस्थापञ्चक' का भेद समाप्त हो जाता है। इसलिये 'अर्थप्रकृति' को 'फलोपाय' मानना ही श्रेयस्कर है।

अनुवाद—'बीज' वह अर्थप्रकृति है जिसे मुख्य फल का मुख्य हेतु अथवा उपाय कहा गया है। धान्य-बीज की भाँति रूपक-प्रबन्ध का यह 'बीज' आरम्भ में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में उपक्षिप्त रहा करता है और उत्तरोत्तर विकसित और वृद्धिशील होता जाता है।

जैसे कि 'रत्नावली' के आरम्भ में, अनुकूल भाग्य से उपकृत, अमात्य यौगन्धरायण के व्यापार का जो वर्णन है जिस पर वत्सराज उदयन की सागरिका-प्राप्ति निर्भर है, वह 'बीज' रूप अर्थप्रकृति की ही योजना है।

अथवा, जैसे कि 'वेणीसंहार' के आरम्भ में, भीमसेन के कोपावेश से समृद्ध युधिष्ठिर के युद्धोत्साह का जो वर्णन है जोकि द्रौपदी के केशसंयमन (वेणीसंहार : खुले केशपाश का सँवारना) का निदान है, उसमें 'बीज' रूप अर्थप्रकृति की ही रूपरेखा झलका करती है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार की इन पंक्तियों में, जिनमें 'अभिनवभारती' का बीजसम्बन्धी मत संक्षिप्त किया हुआ है, 'बीज' का यह स्वरूप है—

'स्वल्पोद्दिष्टः फलप्रान्तो हेतुर्बीजं प्ररोहणात्।

आदौ गम्भीरत्वादल्पनिक्षिप्तो मुख्यफलावसानश्च यो हेतुर्मुख्यसाध्योपायः स धान्यबीजवद् बीजम्। प्ररोहणादुत्तरत्र शाखोपशाखादिभिर्विस्तरणात्। इदं चामुखानन्तरं निबध्यते। बीज हि नाटकादीनामितिवृत्तार्थस्योपायः। आमुखं तु रूपकप्रस्तावनार्थं नटस्यैव वृत्तम्। याः पुनरत्र नाटकार्थस्पृशो युक्तयस्ताः प्रयोगपातनिकार्थमेव। अत एवामुखोक्ता अपि बीजोक्तयः प्रविष्टनाटकपात्रेण पुनरुच्यन्ते। यथा च रत्नावल्यां—

'द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्ताद्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः॥'

इत्याद्यामुखोक्तं यौगन्धरायणः पठति।

तत्र बीजं क्वचित् व्यापाररूपम्। यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुरनुकूलदैवः सागरिकान्तःपुरनिक्षेपादिर्यौगन्धरायणव्यापारः।

क्वचित्तु व्यसननिवृत्तिफले रूपके व्यसनोपक्षेपरूपम्।........

(२ य अर्थप्रकृतिः बिन्दु)

अवान्तरार्थविच्छेदे विन्दुरच्छेदकारणम् ॥ ६६ ॥

यथा—रत्नावल्यामनङ्गपूजापरिसमाप्तौ काव्यार्थविच्छेदे सति 'उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते' इति सागरिका श्रुत्वा '(सहर्षम्) कधं एसो सो उदअणणरिन्दो' (कथमेष स उदयननरेन्द्रः) इत्यादिरवान्तरार्थहेतुः।

क्वचिद् व्यसनाभ्युदययोरुपक्षेपरूपम्।.........क्वचिद् व्यसनोपनिपाते तन्निवृत्त्युपक्रमरूपम्। यथा मुद्राराक्षसे चाणक्यः—

'आः क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति ?
नन्दकुलकालभुजगीं कोपानलबहललोलधूमलताम्।
अद्यापि बध्यमानां बध्यः को नेच्छति शिखां मे ?
इत्यादि नायक-प्रतिनायकामात्याद्याश्रयेण विचित्ररूपो बीजोपन्यासः।'

(नाट्यदर्पण : १ म विवेक)

'बीज' का अन्यविध भी विश्लेषण किया गया है। फलबीज, वस्तुबीज और अर्थबीज के रूप में त्रिविध बीज की कल्पना प्राचीन नाट्याचार्यों की कल्पना है—

फले यस्य हि संहारः फलबीजं तु तद्भवेत्।
वस्तुबीजं कथा ज्ञेया अर्थबीजं तु नायकः॥

अनुवाद—'बिन्दु वह अर्थप्रकृति है जिसे रूपक-प्रबन्धों के अवान्तर वृत्त-विच्छेद की संभावना में अविच्छेद का कारण कहा गया है।

इसके उदाहरणरूप में 'रत्नावली' का वह प्रसङ्ग पर्याप्त है जहाँ सागरिका की कामपूजा समाप्त होने पर वृत्त-विच्छेद संभव है किन्तु बन्दी के इस वाक्य अर्थात् 'अस्तापास्तसमस्तभासि......दशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते' के सुनने के बाद सागरिका की इस उक्ति अर्थात् 'क्या ये ही महाराज उदयन हैं' आदि से अग्रिम इतिवृत्त अविच्छिन्न रूप से चल निकलता है—

विमर्श—'अभिनवभारती'कार ने भरतमुनि के इस 'बिन्दु'-लक्षण अर्थात्—

'प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणम्।
यावत्समाप्तिर्बन्धस्य स बिन्दुः परिकीर्तितः॥'

के विमर्श में यह कहा है—

'प्रयुज्यते फलं यैरुपायानुष्ठानैः तेषामितिवृत्तवशादवश्यकर्तव्यतादिभिर्विच्छेदेऽपि सति यदनुसन्धानात्मकं प्रधाननायकगतं सन्धिद्रव्यज्ञानं बिन्दुः ज्ञानविचारणं फललाभोपायत्वात्। यावदविच्छेदः प्रत्यनुसन्धानेन न कृतस्तावन्न किञ्चिदपि कार्यं निर्वहति। ननु बीजं तावत् फलान्तमास्ते बिन्दोस्तु कथं स्थितिरित्याह यावत् समाप्तिरिति। यावत्स्वस्य बध्यमानस्य फलस्य सम्यगाप्तिस्तावत्। एतदुक्तं भवति—सकलोपायप्रतिजागरणनिमित्तं ह्यनुसन्धानं यावद्धि मुख्यनायकेन प्रत्यनुसन्धानेन न क्रियते तावद् जडाजडरूपः सर्वोप्युपायधर्मोऽनुपायकल्प एव।.........एवं प्रधानानुसन्धानचेतनव्यापारः कारणानुग्राही स्वयं च परमकारणस्वभावस्तैलबिन्दुवत् सर्वव्यापकत्वादपि बिन्दुः। बीजं च मुखसन्धेरेव प्रवर्त्यात्मानमुन्मेषयति बिन्दुस्तदनन्तरमिति विमर्शोऽनयोः, द्वे अपि तु समस्तेतिवृत्तव्यापके (अभिनवभारती, भाग ३ य, पृष्ठ-१४)।'

अर्थात् नाटकीय इतिवृत्त में आवश्यक कार्यजन्य व्यवधान के निवारणार्थ जो नायकादिगत उपायानुसन्धान की योजना चला करती है उसे 'बिन्दु' कहा गया है। प्रत्येक नाटकीय चरित

(३ य अर्थप्रकृति : पताका)

व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते ।

यथा—रामचरिते सुग्रीवादेः- वेण्यां भीमादेः, शाकुन्तले विदूषकस्य चरितम्।

(पताका की नाटकपर्यन्त योजना)

पताकानायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम् ॥ ६७ ॥
गर्भे सन्धौ विमर्शे वा निर्वाहस्तस्य जायते ।

यथा—सुग्रीवादेः राज्यप्राप्त्यादि । यत्तु मुनिनोक्तम्—

'आ गर्भाद्वा विमर्शाद्वा पताका विनिवर्तते ॥' इति ।

तत्र पताकेति । पताका नायकफलं निर्वहणपर्यन्तमपि पताकायाः प्रवृत्ति-दर्शनात्' इति व्याख्यातमभिनवगुप्तपादैः ।

की अपनी अपनी कार्यसिद्धि है और उसके अपने-अपने उपाय हैं जिनका अनुसन्धान अथवा अन्वेषण अवश्यंभावी है। इस प्रकार 'विन्दु' को रूपक-प्रवन्ध में व्याप्त ज्ञान अथवा विचाररूप इतिवृत्त-भाग माना गया है और इसकी योजना अनिवार्य बतायी गयी है ।

अनुवाद—'पताका' वह प्रासङ्गिक इतिवृत्त है जो व्यापक हुआ करता है और प्रधान फल का सहायक बना करता है ।

उदाहरण के लिये रामचरितसम्बन्धी रूपक-प्रबन्धों में सुग्रीवादिसम्बन्धी वृत्तान्त अथवा 'वेणीसंहार' में भीमसेन-सम्बन्धी वृत्तान्त अथवा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में विदूषक-सम्बन्धी वृत्तान्त ।

अनुवाद—'पताका' रूप प्रासंगिक इतिवृत्त का भी एक नायक हुआ करता है किन्तु आधिकारिक नायक-विषयक फल के अतिरिक्त उसका अन्य कोई फल उपनिवद्ध नहीं किया जाया करता। पताकानायक का अपना जो फल है उसका उपनिबन्ध गर्भसन्धि अथवा विमर्शसन्धि में ही समाप्त हो जाता है।

उदाहरण के लिये (रामचरित आदि रूपक-प्रवन्धों में) सुग्रीवादि-वृत्तान्त रूप जो 'पताका' है उसमें सुग्रीवादि का राज्यलाभादिरूप फल गर्भ अथवा विमर्शसन्धि में ही उपनिबद्ध है न कि निर्वहण सन्धि में (क्योंकि वहाँ तो मुख्य नायक के ही फल का उपनिबन्ध अपेक्षित है)।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि भरतमुनि की इस उक्ति अर्थात् 'पताका को गर्भसन्धि अथवा विमर्शसन्धि की समाप्ति के पहले ही निष्पन्न अथवा समाप्त हो जाना चाहिये' का पताकानायक-संबन्धी उपर्युक्त फल-योजना के सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं पड़ता क्योंकि यहाँ, जैसा कि अभिनवगुप्तपादाचार्य का कहना है, 'पताका' का अभिप्राय (उपचारतः) पताकानायकगत फल का अभिप्राय है न कि पताकारूप प्रासङ्गिक इतिवृत्त का, जो कि (गर्भ और विमर्श तक ही नहीं अपितु) निर्वहण सन्धि तक भी चला करता है ।

विमर्श—यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि साहित्यदर्पणकार का, 'पताकेति पताकानायक-फलं······दर्शनात्' आदि जो उद्धरण है वह 'अभिनवभारती' की इन पंक्तिओं का भावानुवाद रूप है—

(४ र्थं अर्थप्रकृति–प्रकरी और उसकी विधान-व्यवस्था)

प्रासङ्गिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता ॥ ६८ ॥

यथा—कुलपत्यङ्के रावणजटायुसंवादः ।

प्रकरी नायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम् ।

यथा—जटायोः मोक्षप्राप्तिः ।

स्वफलसिद्धये यतमानस्य तत्र तत्रावश्यं पृथग्गणनाशङ्केति, तत्प्रशमनप्रयोजनम् अस्मत्पक्षे कस्मिंस्तर्हि प्रधानसन्धौ तस्यानुयायित्वमिति दर्शयितुमाह—आगर्भादाविमर्शाद्वेति प्रतिमुखे गर्भे यदि वा । यमर्थं व्याप्य निवर्तते पताकेतिवृत्तं तावत्येव पताकानायकस्य स्वफलसिद्धिरुपनिबन्धनीया, सिद्धफलस्त्वसौ प्रधानफल एव व्याप्रियमाण आसीनोऽपि भूतपूर्वगत्या पताकाशब्दवाच्योऽयं मुख्यत्वेन । अत्राह कस्माद् यस्मादिति । कस्मादस्याभिप्रायः, प्रधानवच्च कल्प्येतेत्युक्तत्वात् निर्वाहादपि किं तद्भवति, अत्रोत्तरं यस्मादिति निर्वहणपर्यन्ते तत्फले क्रियमाणे तुल्यकालयोरुपकार्योपकारकत्वाभावात् तेन प्रधानोपकारभावो न भवेत् ।' अभिविधावाङ् । ये तु मर्यादायां व्याचक्षते ते न सम्यगमस्त'''

(अभिनवभारती : ३ य भाग, पृष्ठ १८)

अनुवाद—'प्रकरी' वह अर्थप्रकृति है जिसे रूपक-प्रबन्धों के अल्पदेश व्यापक प्रासङ्गिक वृत्त के रूप में देखा जाया करता है । इसके उदाहरण के लिये 'कुलपत्यङ्क' के रावण-जटायु-संवाद-सम्बन्धी वृत्तान्त को लिया जा सकता है ।

'प्रकरी' रूप प्रासङ्गिक किंवा अल्पदेश-व्यापक वृत्त का भी नायक अवश्य हुआ करता है किन्तु मुख्य नायक के फल के अतिरिक्त प्रकरी-नायक का और कोई फल नहीं हुआ करता (अर्थात् 'प्रकरी'-नायक का कार्यकलाप उसके अपने प्रयोजन-विशेष के लिये नहीं अपि तु 'आधिकारिक'-नायक के ही उद्देश्यविशेष के लिये हुआ करता है) । जैसे कि 'जटायु' की जो मोक्षप्राप्ति है वह उसके प्रयत्नों का फल नहीं अपितु राम के सीतालाभरूप फल का ही साधन है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि के अनुसार 'प्रकरी' का यह स्वरूप है—

'फलं प्रकल्प्यते यस्याः परार्थायैव केवलम् ।
अनुबन्धविहीनत्वात् प्रकरीति विनिर्दिशेत् ॥'

(नाट्यशास्त्र : १९. २५)

अर्थात् 'प्रकरी' वह इतिवृत्त-विशेष है जो स्वार्थनिरपेक्ष रहा करता है और एकमात्र आधिकारिक इतिवृत्त के ही लिये विनियुक्त किया जाया करता है । इसीलिये 'प्रकरी'नायक का कृत्यानुष्ठान अपने लिये नहीं अपि तु एकमात्र 'आधिकारिक'नायक के ही लिये हुआ करता है ।

नाट्यदर्पणकार ने 'प्रकरी' का सुन्दर विवेचन किया है—

'प्रकरी' चेत् क्वचिद् भावी चेतनोऽन्यप्रयोजनः ।'

'क्वचिद् भावी वृत्तैकदेशव्यापी अन्यस्य मुख्यनायकस्यैव प्रयोजनं यस्य स चेतनः सहकारी प्रकर्षेण स्वार्थानपेक्षया करोतीति प्रकरी । ''''''''''यथा रामप्रबन्धेषु जटायुः । चेदित्यनेन पताकावदनवश्यंभावित्वमाह । क्वचिद् भावित्वात् स्वार्थनिरपेक्षत्वाच्च पताकातो भेदः ।' (नाट्यदर्पण : १ म विवेक)

अर्थात् 'प्रकरी' को यदि वृत्तविशेष कहने के बदले चरितविशेष कहा जाय तो कोई आपत्ति नहीं । 'प्रकरी' रूपक-प्रबन्धों का वह चरितविशेष है जो मुख्य नायक के लिये ही सब कुछ

(५ म अर्थप्रकृति : कार्य

अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः ॥ ६९ ॥
समापन तु यत्सिद्धचै तत्कार्यमिति संमतम् ।

यथा—रामचरिते रावणवधः ।

किया करता है। 'प्रकरी' भी नायक का एक सहकारी चरित है किन्तु स्वार्थनिरपेक्ष रहकर नायक के प्रयोजनों का सम्पादक बना करता है। प्रकरी की योजना अनिवार्य नहीं अपि तु वैकल्पिक है।

'प्रकरी' के इस स्वरूप को देखते साहित्यदर्पण की लक्ष्मी-टीका का यह प्रकरी-विमर्श—

'प्रकरीति। प्रकरी तत्प्रकरी नायकस्य जटायुप्रभृतेः स्वकीयं फलान्तरं स्वप्रयोजन-विशेषरूपं न स्यात्, किन्तु तत्तदंशे नायकफलोत्पादिकैव स्यादिति प्राग्वदेवार्थः। उदाहरति—यथेति। जटायोर्मोक्षप्राप्तिरिति। अयमाशयः—जटायोर्मोक्षप्राप्तिर्वर्ण्यमाना न प्रकृतोपयोगिनी किन्तु तस्यैव पुण्यजनिकेति तदिदमुदन्तं न पताका। यः खलु रावणेन संवादः स प्रकृतोपयोगीत्यस्य प्राकरणिकत्वात् प्रकरीत्वम्। एतदतिरिक्तस्य तु तदेकदेशवर्तित्वमात्रम् (लक्ष्मी-टीका, पृष्ठ—३५३)'

कुछ उत्सूत्र सा ही प्रतीत होता है।

साथ ही साथ साहित्यदर्पण के अंग्रेजी अनुवाद (पृष्ठ १९३) में 'प्रकरी'-विमर्श का यह अनुवाद—

'An object of the hero other than the principal is not the Prakari'

बिलकुल निरर्थक सा ही दिखायी देता है।

अनुवाद—'कार्य' रूप अर्थप्रकृति का अभिप्राय उस प्रधानतया अवस्थित साध्य का है जिसके उद्देश्य से नायक के कृत्यों का आरम्भ हुआ करता है और जिसकी सिद्धि में नायक का कृत्यानुष्ठान समाप्त माना जाया करता है।

उदाहरण के लिये रामचरितसम्बन्धी रूपक-प्रबन्धों में 'रावणवध' का जो निरूपण है वह कार्यरूप अर्थप्रकृति का ही निदर्शन है।

विमर्श—'कार्य' रूप अर्थप्रकृति के निरूपण में नाट्याचार्यों में पर्याप्त मतभेद रहता आया है। भरतमुनि के अनुसार 'कार्य' का यह स्वरूप है—

'यदाधिकारिकं वस्तु सम्यक् प्राज्ञैः प्रयुज्यते।
तदर्थो यः समारम्भस्तत्कार्यं परिकीर्तितम् ॥' (नाट्यशास्त्र : १९. २६)

जिसे आचार्य अभिनवगुप्त ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'यदाधिकारिकमिति-प्राज्ञैः प्रधाननायकपताकानायकप्रकरीनायकैश्चेतनरूपैः, यद्वस्तु फलरूपं प्रयुज्यते संपाद्यते संपाद्यत्वेनानुसन्धीयते तत्फलप्रयोजनो यः संपूर्णतादायी पूर्वपरिगृहीतस्य प्रधानस्य बीजाख्योपायस्य फलम्, आरभत इत्यारम्भशब्दवाच्यो द्रव्यगुणक्रियाप्रभृतिः सर्वोऽर्थः सहकारी कार्यमित्युच्यते, चेतनैः कार्यते फलमिति व्युत्पत्त्या। सम्यगिति प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तित्रयसम्पन्नैरित्यर्थः। तेन जनपद-कोष-दुर्गादिकव्यापारवैचित्र्यं सामाद्युपायवर्ग इत्येतत् सर्वं कार्येऽन्तर्भवति। तत्र परं प्रथमपरिगृहीतः प्रधानभूतोऽभ्युपायो बीजत्वेनोक्तः।

जिसका अभिप्राय यह है—जिस उद्देश्यविशेष की दृष्टि से प्रधान नायक, पताका-नायक और प्रकरी-नायक का कार्यव्यापार चला करता है उसके लिये जो भी आवश्यक साधन-समुदाय है

वह सब 'कार्य' रूप अर्थप्रकृति के अन्तर्गत रहा करता है। प्रधान उपाय तो 'बीज' है ही किन्तु उसका सहायक जो कुछ भी उपाय है वह सब 'कार्य' रूप ही है (कार्यते फलमिति कार्यम्)। इस प्रकार नाटककार द्वारा 'बीज' रूप से निक्षिप्त वृत्तविशेष की सफलता के लिये नियोजित जो भी वृत्त-वैचित्र्य हैं वह सब 'कार्य' रूप ही है।

'कार्य' का यही अभिप्राय नाट्यदर्पणकार ने भी लिया है—

साध्ये बीजसहकारी कार्यम्—

प्रधाननायक-पताकानायक-प्रकरीनायकैः साध्ये प्रधानफलत्वेनाभिप्रेते बीजस्य प्रारम्भावस्थोपक्षिप्तस्य प्रधानोपायस्य सहकारी सम्पूर्णतादायी सैन्य-कोश-दुर्ग-सामाद्युपायलक्षणो द्रव्य-गुण-क्रियाप्रभृतिः सर्वोऽर्थश्चेतनैः कार्यते फलमिति कार्यम्। अयमत्रोपायानां निबन्धसंक्षेपः-सहायानपेक्षाणां नायकानां वृत्ते बीज-बिन्दु-कार्याणि त्रय एवोपायाः, सहायापेक्षाणान्तु पताका-प्रकरीभ्यामन्यतरया वा सह पञ्च चत्वारो वेति।'

'कार्यैस्तु मुख्यतया—

कार्यैः फलं प्रत्युपकारविशेषैः पुनर्बीजादीनां मुख्यता बाहुल्यं प्राधान्यं वा निबन्धनीयम्। तत्र बीजबिन्द्वोस्तावन्मुख्यत्वमेव सर्वव्यापित्वात्। पताका-प्रकरी-कार्याणां तु मुख्यफलं प्रत्युपयोगापेक्षया एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा मुख्यत्वमन्येषां चामुख्यत्वम्। तत्र पताकायाः मुख्यत्वं यथा श्रीशूद्रकविरचितायां मृच्छकटिकायां पूर्वोपकारोपगृहीतस्यार्यकस्य। प्रकर्या यथा-वीरनागविरचितायां कुन्तमालायां सीतायास्तदपत्ययोश्च पालन-संयोजनाभ्यां स्वफलनिरपेक्षस्य वाल्मीकेः। उभयोर्यथारामप्रबन्धेषु सुग्रीवविभीषणयोर्जटायुहनूमदङ्गदादीनाञ्च। पताका-प्रकर्योरल्पत्वेऽभावे वा सर्वत्र कार्यस्य मुख्यत्वमिति।'

(नाट्यदर्पण : १ म विवेक)

अर्थात् 'बीज' रूप से उपक्षिप्त नायक के उपाय किं वा इस उपाय से सम्बद्ध इतिवृत्त की सफलता-सम्पूर्णता के लिये सर्वत्र रूपक-प्रबन्धों में 'कार्य' रूप का अर्थ प्रकृति की योजना अनिवार्य है। नायक सहायतापेक्षी हो अथवा सहायतानपेक्षी हो, प्रासङ्गिक वृत्त की योजना की गयी हो या न की गयी हो, 'कार्य' की योजना आवश्यक है क्योंकि बिना सैन्य-दुर्ग-कोष आदि साधनवर्णन के कार्यारम्भ की सफलता का अभिव्यञ्जन कदापि संभव नहीं।

किन्तु 'दशरूपक'कार ने 'कार्य' का दूसरा ही लक्षण-निरूपण किया है—

'तस्येतिवृत्तस्य किं फलमित्याह—

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च।

धर्मार्थकामाः फलं तस्य शुद्धमेकैकमेकानुबन्धं द्वित्र्यनुबन्धं वा।'

तत्साधनं व्युत्पादयति—

स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा।

स्तोकोद्दिष्टः कार्यसाधकः पुरस्तादनेकप्रकारं विस्तारी हेतुविशेषो बीजवद् बीजम्······ तच्च महाकार्यावान्तरकार्यहेतुभेदादनेकप्रकारमिति।'

(दशरूपक : १म प्रकाश)

अर्थात् 'कार्य'से अभिप्राय धर्म-अर्थ-कामरूप पुरुषार्थ से है जिसकी प्राप्ति के लिए नायक के कार्यारम्भ आदि का चित्रण किया जाया करता है। यह कार्य 'महाकार्य' 'अवान्तर कार्य' आदि रूपों में विभक्त रहा करता है। 'कार्य' बीज का सहकारी (साधन) नहीं अपितु बीज का साध्य है—

दशरूपककार के इस 'कार्य' लक्षण के प्रभाव में ही भावप्रकाशनकार की यह 'कार्य-परिभाषा' निकली है।

(अवस्थापञ्चक स्वरूप और प्रकार-निर्देश)

अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ॥ ७० ॥
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ।

"बीजं विन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ।
अर्थप्रकृतयः पञ्च कथाभेदस्य हेतवः ॥
एते कथाशरीरस्य हेतवः परिकीर्तिताः ।
साधनत्वाद्धि बीजस्य प्रथमं तदुपक्षिपेत् ॥
साध्यत्वादेव कार्यस्य सर्वान्ते तत्प्रयोजयेत् ।
अविच्छेदाय रचयेद् विन्दुं मध्ये तयोरपि ॥
तत्र तत्र यथायोगं पताका प्रकरीन्र्यसेत् ।
उक्ता ह्यर्थप्रकृतयस्तत्-प्रवृत्तिश्च दर्शिता ॥
....
ताताज्ञामधिमौलीति वाक्ये कार्यं विलोक्यते ।
'ताताज्ञामधिमौलि मौक्तिकमणिं कृत्वा महापोत्रिणो
दंष्ट्राविद्धविलासपत्रकवरी दृष्टा भृशं मेदिनी ।
सेतुर्दक्षिणपश्चिमौ जलनिधी सीमन्तयन्निर्मितः
कल्पान्तं च कृतं समस्तमदशग्रीवोपसर्गं जगत् ॥'
अत्र धर्मार्थनिष्पत्तिः फलत्वेन प्रकल्पिता ॥"

(भावप्रकाशन : ७म अधिकार)

यहाँ स्पष्टतया 'बीज' को साधन और धर्मार्थकामरूप 'कार्य' को फल अथवा साध्य निर्दिष्ट किया गया है ।

साहित्यदर्पणकार का 'कार्य' लक्षण 'दशरूपक' और 'भावप्रकाशन' के 'कार्य'लक्षण के आधार पर निकला है । ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्यदर्पणकार ने यहाँ अपनी समीक्षाबुद्धि का साथ छोड़ दिया है क्योंकि यदि 'कार्य' भी साध्य ही हो तो 'फलागम' और 'कार्य' (पाँचवीं अवस्था और पाँचवीं अर्थप्रकृति) को पृथक्-पृथक् गिनाने और बताने की क्या आवश्यकता !

अनुवाद—फल के उद्देश्य से जो कार्य प्रारम्भ किया जाय उसकी ये पाँच अवस्थाएँ स्वभावतः हुआ करती हैं—१. आरम्भ, २. यत्न, ३ प्राप्त्याशा, ४. नियताप्ति और ५. फलागम ।

विमर्श—'अवस्था'-निरूपण में भी साहित्यदर्पणकार ने दशरूपक के ही इस अवस्था-लक्षण का सहारा लिया है—

'अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्ति-फलागमाः ॥' (दशरूपक : १. १९)

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'अवस्थापञ्चक' नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक पद न होकर सामान्यार्थक पद हो गया है । यहाँ 'अवस्थापञ्चक' के रूप में किसी कार्य अथवा व्यापार की पाँच दशाओं का ही विश्लेषण किया गया है । किन्तु भरत मुनि के इस 'अवस्थापञ्चक' विमर्श अर्थात्—

'संसाध्ये फलयोगे तु व्यापारः कारकस्य (णस्य) यः ।
तस्यानुपूर्व्या विज्ञेयाः पञ्चावस्थाः प्रयोक्तृभिः ॥
प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च तथा प्राप्तेश्च संभवः ।
नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पञ्चमः ॥' (नाट्यशास्त्र : १९. ७. ८)

(१म अवस्था : आरम्भ)

तत्र—

भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये ॥ ७१ ॥

यथा—रत्नावल्यां रत्नावल्यन्तःपुरनिवेशार्थं यौगन्धरायणस्यौत्सुक्यम्। एवं नायकनायिकादीनामप्यौत्सुक्यमाकरेषु बोद्धव्यम्।

(२य अवस्था : यत्न)

प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः।

के परामर्श में अभिनवभारतीकार का जो कथन है—

'अथ कविप्रयत्नेन साध्यो व्यापारपरिस्पन्दो यो वाङ्मनसगतस्तस्य या अवस्था, आनुपूर्व्येति-उद्देशक्रमेणैव प्रयोक्तृभिः कविभिर्निबन्धनीयतया ज्ञातव्याः ता उद्दिशति-प्रारम्भश्चेति। चकारैस्तथाशब्देन चावश्यंभाविक्रमत्वमासाद्युच्यते। न हि प्रेक्षापूर्वकारिणोऽवस्थान्तरासंभावनायां प्रारम्भ उचितो भवति, तत्प्रारम्भश्चेदुत्तरोत्तरावस्थाप्रसर एव। पञ्चम इत्यनेन क्रमो विवक्षित इति दर्शयति। एताः क्रमेण दर्शयितुमाह (औत्सुक्यमात्रबन्धस्त्विति)—महतः प्रधानभूतस्य फलस्य युज्यमानस्य तत्तन्नायकोचितस्य यद्बीजमुपायरूपत् तस्य यदौत्सुक्यमात्रं तद्विषयस्मरणोत्कण्ठानुरूपम्, अनेनोपायेनैतत् सिद्ध्यतीति, तस्य बन्धो हृदये निरूढिः प्रारम्भः, सा च नायकस्यामात्यस्य नायिकायाः प्रतिनायकस्य दैवस्य वा तस्या हि तथैवानुमानाद् व्यवस्था'।

(अभिनवभारती : नाट्यशास्त्र १९. ७. ८)

उससे यह पता चलता है कि 'अवस्थापञ्चक' का सम्बन्ध नायक से तो है किन्तु कवि अथवा नाटककार से भी है। वास्तविक जीवन के नायकादि के व्यापार का 'अवस्थापञ्चक' नाटककार की कला द्वारा नाटक के 'अवस्थापञ्चक' के रूप में परिणत हुआ करता है। नाटक का 'अवस्थापञ्चक' नाटक के मुख्य चरितों के व्यक्तित्व के क्रमिक विकास-चित्रण का विश्लेषण है। इस 'अवस्थापञ्चक' की समुचित योजना के ही लिये 'अर्थप्रकृतिपञ्चक'रूप इतिवृत्तयोजना की यथास्थान और यथासंभव आवश्यकता हुआ करती है।

अनुवाद—'आरम्भ' कार्य की वह अवस्था है जिसे मुख्य फल की सिद्धि के लिये औत्सुक्य कहा गया है।

जैसे कि 'रत्नावली' में, नायक वत्सराज उदयन के अन्तःपुर में नायिका रत्नावली के निवेश के लिये, अमात्य यौगन्धरायण का जो औत्सुक्य-वर्णन है उसमें आरम्भावस्था की ही योजना दिखायी देती है। अन्यान्य रूपक-प्रबन्धों में अन्यान्य नाटकीय चरितों जैसे कि नायक, नायिका आदि-आदि के औत्सुक्यबन्ध की योजना की गयी है किन्तु यह सब भी 'आरम्भ' दशा की ही योजना है।

विमर्श—'आरम्भ' का अभिप्राय केवल मुख्यफलसिद्धि के लिये उपायविषयक औत्सुक्य ही नहीं अपितु इस औत्सुक्य के अनुरूप वाङ्मनस-व्यापार भी है जैसा कि नाट्यदर्पणकार ने स्पष्ट कहा है—

'उपायविषयमौत्सुक्यमौत्सुक्यानुगुणो व्यापारश्चारम्भावस्थेत्यर्थः।

(नाट्यदर्पण-१ म विवेक)

अनुवाद—'प्रयत्न' वह कार्यावस्था है जिसे फलप्राप्ति के लिये सत्वर उद्योग के रूप में देखा जाया करता है।

यथा रत्नावल्याम्—'तहवि ण अत्थि अण्यो दंसण उवाओ त्ति जधा तधा आलिहिअ जधासमीहिदं करइस्सम् ।' [तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा तथा आलिख्य यथासमीहितं करिष्यामि] इत्यादिना प्रतिपादितो रत्नावल्याश्चित्रलेखनादिर्वत्सराजसङ्गमोपायः। यथा च—रामचरिते समुद्रबन्धनादिः।

(३य अवस्था : प्राप्त्याशा)

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः ॥ ७२ ॥

यथा—रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वेषपरिवर्तनाभिसरणादेः सङ्गमोपायाद्वासवदत्तालक्षणापायशङ्कया चानिर्धारितैकान्तसङ्गमरूपफलप्राप्तिः प्राप्त्याशा। एवमन्यत्र।

जैसे कि 'रत्नावली' के, इस प्रसङ्ग अर्थात् 'उदयन से मिलने का और तो कोई उपाय नहीं, केवल जैसे-तैसे उन्हें चित्र में खींचकर अपनी इच्छा पूरी करूँ' में उपनिवद्ध, वत्सराज से मिलने के लिये, रत्नावली का चित्रलेखनरूप जो व्यापार है उसमें 'प्रयत्न' दशा का ही स्वरूप परिलक्षित होता है। इसी प्रकार रामचरित-सम्बन्धी रूपक-प्रबन्धों में, समुद्रबन्धन आदि व्यापार-वर्णन प्रयत्न-दशा की ही योजना के रूप में देखा जा सकता है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'अभिनवभारती' का अनुसरण करते हुये 'प्रयत्न' का बड़ा सुन्दर लक्षण किया है—

'प्रयत्नो व्यापृतौ त्वरा। मुख्यफलोपायव्यापारणे त्वराऽनेनोपायेन विना फलं न भवतीति निश्चयेन परमौत्सुक्यं प्रकर्षेण यत्नः प्रयत्नः। औत्सुक्यमात्रमारम्भः परमौत्सुक्यं तु प्रयत्न इत्यर्थः (नाट्यदर्पण : १ म विवेक)।'

अर्थात् प्रयत्न आरम्भ की ही उत्तरावस्था है। आरम्भ यदि औत्सुक्य है तो प्रयत्न परमौत्सुक्य।

अनुवाद—'प्राप्त्याशा' वह कार्यावस्था है जिसे फलसिद्धि के साधक और प्रतिबन्धक के पारस्परिक द्वन्द्व में फलसिद्धि की आशा अथवा संभावना कहा गया है।

जैसे कि 'रत्नावली' के तृतीय अङ्क में, रत्नावली के वासवदत्ता-वेश में अभिसाररूप सङ्गमोपाय (उदयन-मिलन के साधक) और वासवदत्ता की उपस्थिति के रूप में उसके सङ्गमापाय (उदयन-मिलन के प्रतिबन्धक) के द्वन्द्व में, उदयन-मिलन रूप फल की संभावना अथवा आशा का जो चित्रण है वह प्राप्त्याशावस्था की ही योजना है।

इसी भाँति अन्य रूपकप्रबन्धों में अन्यविध प्राप्त्याशा-योजना देखी जा सकती है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार के अनुसार 'प्राप्त्याशा' का यह स्वरूप है :—

'फलसंभावना किञ्चित् प्राप्त्याशा हेतुमात्रतः'। मात्रशब्देन फलान्तरयोगः प्रतिबन्धनिश्चयश्च व्यवच्छिद्यते। फलान्तरासंबन्धादनिश्चितबाधकाभावाच्चोपायादीषत् प्रधानफलस्य या सम्भावना न तु निश्चयः सा प्राप्तेः प्रधानफललाभस्याशा प्राप्त्याशा।'

(नाट्यदर्पण १ म विवेक)

तात्पर्य यह है कि रूपक-प्रबन्धों में जो प्राप्त्याशा-योजना है वह नायकचरितों के अन्तर्द्वन्द्व और वहिर्द्वन्द्व की ही अभिव्यञ्जना है।

(४थ अवस्था : नियताप्ति)

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिस्तु निश्चिता ।

अपायाभावान्निर्धारितैकान्तफलप्राप्तिः। यथा रत्नावल्याम्—'राजा—देवीप्रसादनं त्यक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि।' इति देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणान्नियतफलप्राप्तिः सूचिता।

(५म अवस्था : फलागम)

साऽवस्था फलयोगः स्याद्यः समग्रफलोदयः ॥ ७३ ॥

यथा—रत्नावल्यां रत्नावलीलाभश्चक्रवर्तित्वलक्षणफलान्तरलाभसहितः। एवमन्यत्र।

अनुवाद—'नियताप्ति' कार्य की वह अवस्था है जिसे 'अपायाभाव' अर्थात् विघ्नबाधा की निवृत्ति में फल-प्राप्ति की संभावना का निश्चय कहा गया है।

'अपायाभावात् निश्चिता प्राप्तिः' का अभिप्राय विघ्न के निराकरण में निर्धारित फलप्राप्ति का अभिप्राय है। जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात् 'वासवदत्ता को प्रसन्न करने के अतिरिक्त उदयन से मिलने का और कोई उपाय नहीं' में, वासवदत्ता-प्रसादनरूप उपाय के द्वारा, उदयन-मिलन के विघ्नों की निवृत्ति में, उदयन-मिलन की संभावना का जो निश्चय है उसमें 'नियताप्ति' की ही झलक दिखायी दिया करती है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'नियताप्ति' का यह लक्षण किया है—

'नियताप्तिरुपायानां साकल्यात् कार्यनिर्णयः।

प्रधानफलहेतूनां प्रतिबन्धकाभावेन सकलसहकारिसम्पत्त्या कार्यस्य प्रधानफलस्य निर्णयो भविष्यत्येवेति निश्चयो नियता फलाव्यभिचारिण्याप्तिर्नियताप्तिः।'

(नाट्यदर्पण : १म विवेक)

अनुवाद—'फलागम' वह कार्यावस्था है जिसे समग्र फललाभ कहा गया है।

जैसे कि 'रत्नावली' में ही, नायक वत्सराज उदयन के रत्नावली-लाभ और साथ ही साथ चक्रवर्तित्व-लाभ का जो वर्णन है वह 'फलागम' की अवस्था की ही योजना है।

इसी प्रकार अन्य रूपक-प्रबन्धों की भी फलागमावस्था पहचानी जा सकती है।

विमर्श—आचार्य रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने 'फलागम' का यह विमर्श किया है जो यहाँ ध्यान देने योग्य है—

'साक्षादिष्टार्थसम्भूतिर्नायकस्य फलागमः।

साक्षात् समनन्तरं न तु दानादिभ्यः स्वर्गादिफलमिव जन्मान्तरभाविनी इष्टस्याभिप्रेतस्य अर्थस्य प्रयोजनस्य सम्यक् पूर्णत्वेन भूतिरुत्पत्तिः। फलस्यागम आगमारम्भो न पुनरागतत्वम्। इह फलस्योत्पत्त्यावेशः पञ्चम्यवस्था। उत्पतनस्य तु नायकेन यः संभोगस्तत् प्रबन्धस्य मुख्यं साध्यम्। अतएव फले साध्ये नायकस्य पञ्चावस्थाः सङ्गच्छन्ते। नायकस्येत्यनेन चावस्थान्तराणि सचिव-नायिका-विपक्ष-दैवादिव्यापारैरपि निबध्यन्ते इत्युक्तं भवति। तानि तु तथा निबद्धान्यपि फलतो नायक एव पर्यवस्यन्ति।··· फलागमः पुनर्नायकस्यैव निबद्ध्यते।' (नाट्यदर्पण : १म विवेक)

अर्थात् 'फलागम' का अभिप्राय नायक का समग्र फललाभ नहीं अपि तु उसके समग्र फल के लाभ का आरम्भ है। फल की प्राप्ति फलागम नहीं अपि तु फल की उत्पत्ति फलागम है। अन्यथा इसे कार्यावस्था कैसे कहा जा सकता है।

('सन्धि' स्वरूप-निरूपण)

यथासंख्यमवस्थाभिराभिर्योगात्तु पञ्चभिः ।
पञ्चधैवेतिवृत्तस्य भागाः स्युः पञ्च सन्धयः ॥ ७४ ॥

तल्लक्षणमाह—

अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ।

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः सन्धिः ।

तद्भेदानाह—

(सन्धिपञ्चक)

मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः ॥ ७५ ॥
इति पञ्चाऽस्य भेदाः स्युः क्रमाल्लक्षणमुच्यते ।

अनुवाद—'अर्थप्रकृतिपञ्चक'रूप वृत्तभेद के साथ अवस्थापञ्चक की क्रमिक सम्बद्ध योजना के कारण नाटकीय इतिवृत्त के जो पांच भाग हुआ करते हैं उन्हें ही पांच संधियां कहा करते हैं ।

यहां 'संधि' का अभिप्राय एक प्रधान इतिवृत्त के साथ परस्पर सम्बद्ध अन्य अवान्तर इतिवृत्त-खण्डों के सम्बन्ध का अभिप्राय है ।

तात्पर्य यह है नाटक के इतिवृत्त-खण्डों का अपने-अपने उद्देश्य-विशेषों के साथ सम्बन्ध तो 'सन्धि' है ही, साथ ही साथ इन परस्पर संबद्ध इतिवृत्त-खण्डों और उनके उद्देश्यों का प्रधान नाटकीय इतिवृत्त और उसके मुख्य उद्देश्यविशेष के साथ जो सम्बन्ध है वह भी 'संधि' ही है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'अभिनवभारती' के सन्धि-विमर्श के आधार पर 'सन्धि' का यह स्वरूप-विवेक किया है—

'सन्धयो मुख्यवृत्तांशाः पञ्चावस्थानुगाः क्रमात् । मुख्यस्य स्वतन्त्रस्य महावाक्यार्थस्यांशा भागाः परस्परं स्वरूपेण चाङ्गैः सन्धीयन्त इति सन्धयः अवस्थाभिः प्रारम्भादिभिरनुगता अनुयाता अवस्था समाप्तौ समाप्यन्त इत्यर्थः ।' (नाट्यदर्पण : १ म विवेक)

अर्थात् यदि रूपक-प्रबन्ध को एक 'महावाक्य' और रूपक-प्रबन्धार्थ को 'महावाक्यार्थ' माना जाय तो सन्धिपञ्चक को इसका अंशपञ्चक अथवा भागपञ्चक मानना पड़ेगा । महावाक्यरूप रूपकप्रबन्ध के ये पांच अंश अथवा भाग अपने अपने अवान्तर अंशों अथवा भागों में तो संश्लिष्ट रहा ही करते हैं, परस्पर भी संश्लिष्ट अथवा सुसंबद्ध ही उपनिबद्ध किये जाया करते हैं । अपने अपने अंगों में सुसंश्लिष्ट किंवा परस्पर संबद्ध यह पंचविध रूपकार्थराशि ही 'सन्धिपञ्चक' है ।

अनुवाद—इस 'सन्धि' के ये पांच भेद हैं—(१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ (४) विमर्श और (५) उपसंहृति (अथवा निर्वहण) ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने पञ्चविध सन्धि का यह निर्देश किया है—

'मुखं प्रतिमुखं चैव गर्भो विमर्श एव च ।
तथा निर्वहणं चेति नाटके पञ्च सन्धयः ॥'

जिसे 'अभिनवभारती'कार ने इस प्रकार समझाया है—

'मुखं प्रतिमुखं चैवेति । समुच्चयपदैः पञ्चानां सर्वत्रावश्यंभावत्वं द्योतितम् । नियम-

(१ म सन्धि-मुखसन्धि)

यथोद्देशं लक्षणमाह—

यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ॥ ७६ ॥
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्त्तितम् ।

यथा—रत्नावल्यां प्रथमेऽङ्के ।

वाचिभिः क्रमनियमः । नाटक इत्यभिनेयरूपके इत्यर्थः । महावाक्यार्थरूपस्य रूपकार्थस्य पञ्चांशा अवस्थाभेदेन कल्प्यन्ते ।'·····तेनार्थावयवाः सन्धीयमानाः परस्परमङ्गैश्च सन्धय इति समाख्या निरुक्ता ।' (अभिनवभरती : नाट्यशास्त्र १९. ३७)

अर्थात् अपने-अपने अङ्गों में सम्बद्ध और परस्पर सम्बद्ध जो रूपकार्थ के पांच अंश अथवा अवयव हैं वे ही पांच सन्धियां हैं ।

अनुवाद—क्रमशः 'सन्धिपञ्चक' का निरूपण किया जा रहा है । इस 'सन्धिपञ्चक' में जो प्रथम सन्धि है उसे 'मुख' कहा करते हैं । 'मुखसन्धि' का अभिप्राय रूपक की अर्थराशि का वह अंश है जिसके साथ नायक की प्रारम्भावस्था सम्बद्ध रहा करती है और जिसमें 'बीज' रूप अर्थप्रकृति की योजना हुआ करती है । यह 'मुखसन्धि' रूप अर्थराशि ऐसी हुआ करती है जिसमें भिन्न-भिन्न रसभावों की अभिव्यञ्जना भरी रहा करती है ।

जैसे कि 'रत्नावली' नाटिका के प्रथम अङ्क की जो अर्थराशि है वह 'मुखसन्धि'रूप ही अर्थराशि है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि के अनुसार 'मुखसन्धि' का यह लक्षण है—

'यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससंभवा ।
काव्ये शरीरानुगता तन्मुखं परिकीर्तितम् ॥'

जिसे 'अभिनवभारती'कार ने इस प्रकार समझाया है—

'प्रागारम्भभाविस्वान्मुखमिव मुखम्, यावत् क्रियावत्यर्थभागराशौ बीजस्य मुखोपायस्य सम्यगुत्पत्तिः शरीरेण प्रारम्भात्मना अनुगता भवति, नानामूलोऽर्थवशात् प्रसङ्गायातो रससंभवो यः स्यात् । एतदुक्तं भवति–प्रारम्भोपयोगी यावानर्थराशिः प्रसक्तानुप्रसक्त्या विचित्रास्वाद आपतितः तावान् मुखसन्धिः, तदभिधायी च रूपकैकदेशः । यथा रत्नावल्यां प्रथमोऽङ्कः । तथा हि, अमात्यस्य वीरो, वत्सराजस्य शृङ्गाराङ्कुतौ, ततः शृङ्गार इति द्वयानयं सागरिकाया राजदर्शनेऽमात्यप्रारम्भविषयीकृतेऽर्थराशिरुपयोगीति मुखसन्धिः ।'

(अभिनवभारती : नाट्यशास्त्र : १९.३९)

अर्थात् 'मुख'सन्धि वह नाटकीय अर्थराशि है जिसके दर्शन में नाटक के मुख का दर्शन सम्पन्न हुआ करता है । नाटक के मुख होने के लिये, नाटक की यह आरम्भिक अर्थराशि रसभाववैचित्र्य से सनी हुआ करती है । 'मुख' इस प्रारम्भोपयोगी अर्थराशि को तो कहते ही हैं, साथ ही साथ इसके अभिधायक रूपक-प्रबन्ध के एकदेश को भी 'मुख' ही कहते हैं । इस दृष्टि से 'रत्नावली' के प्रथम अंक में 'मुख'सन्धि का दर्शन और 'रत्नावली' के प्रथम अङ्क का मुख-सन्धि के रूप में दर्शन–दोनों एक ही बात है ।

(२ य सन्धि : प्रतिमुख)

फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः ॥ ७७ ॥
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत् ।

यथा—रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुरागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसंगता-विदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किंचिल्लक्ष्यस्य वासवदत्तया चित्रफलकवृत्तान्तेन किञ्चिदुन्नीयमानस्योद्देशरूप उद्भेदः ।

अनुवाद—'प्रतिमुख' वह सन्धि है जिसमें मुखसन्धि-निविष्ट बीज का ऐसा उद्भेद हुआ करता है जो लक्ष्य और अलक्ष्य-दोनों रूप का रहा करता है ।

जैसे कि 'रत्नावली' के द्वितीय अङ्क की जो अर्थराशि है वह 'प्रतिमुखसन्धि'रूप अर्थराशि है क्योंकि इसमें नायक वत्सराज और नायिका रत्नावली के उस प्रेमबीज का उद्भेद दिखायी पड़ता है जो कि उनके परस्पर मिलन के हेतुरूप में प्रथम अङ्क में ही निक्षिप्त हो चुका है । रत्नावली के प्रथमाङ्क में उपक्षिप्त प्रेमबीज का यह उद्भेद इसलिये किञ्चिन्मात्र लक्ष्य है क्योंकि सुसंगता और विदूषक इससे पूर्णतया परिचित बताये गये हैं । यह इसलिये किञ्चिन्मात्र अलक्ष्य भी है क्योंकि वासवदत्ता को इसकी जो कुछ भी जानकारी है वह सागरिका द्वारा चित्रित वत्सराज के चित्र के आधार पर अनुमान द्वारा ही है प्रत्यक्षतः नहीं ।

विमर्श—यहां नाट्यदर्पणकार का यह 'प्रतिमुख'-विमर्श जिस पर 'अभिनवभारती' की छाप है, ध्यान देने योग्य है—

'प्रतिमुखं कियल्लक्ष्यबीजोद्घाटसमन्वितः ।

प्रधानवृत्तांश इह उत्तरेषु च स्मर्यते । कियल्लक्ष्यस्य मुखसन्धौ गम्भीरत्वेन न्यस्तत्वादीषत् प्रकाशस्य बीजस्य प्रधानोपायस्योद्घाटेन प्रबलप्रकाशनेन सम्यगनुगतः प्रयत्नावस्थापरिच्छिन्नो यः प्रधानवृत्तांशः स मुखस्याभिमुख्येन वर्तत इति प्रतिमुखम् । 'द्वीपादन्यस्मादपि' इत्यादिना अमात्येन सागरिकाचेष्टितरूपं बीजं मुखसन्धौ न्यस्तं वसन्तोत्सवकामदेवपूजादिना तिरोहितत्वादीषल्लक्ष्यम् । तस्य च सुसङ्गतारचित-वत्सराज-सागरिका समागमेन द्वितीयाङ्के उद्घाट इति ।' (नाट्यदर्पण : १ म विवेक)

जहां यह स्पष्ट है कि 'रत्नावली' के प्रथम अङ्क में उपक्षिप्त प्रेमबीज के द्वितीय अङ्क में उद्भेद की लक्ष्यता और अलक्ष्यता का सम्बन्ध सामाजिकों के साथ है, न कि पात्रों के साथ ।

किन्तु विश्वनाथ कविराज ने दशरूपककार की इस 'प्रतिमुख'-मीमांसा अर्थात्—

'लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत् ।

............तस्य बीजस्य किञ्चिल्लक्ष्यः किञ्चिदलक्ष्य इवोद्भेदः प्रकाशनं तत्प्रतिमुखम् । यथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुरागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसंगताविदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किञ्चिल्लक्ष्यस्य वासवदत्तया च चित्रफलकवृत्तान्तेन किञ्चिदुन्नीयमानस्य दृश्यादृश्यरूपतयोद्भेदः प्रतिमुखसन्धिरिति ।'

(दशरूपक : १ म प्रकाश)

का अनुसरण किया है और बीजोद्भेद की दृश्यादृश्य-रूपता को 'रत्नावली' के पात्रों की दृष्टि से देखा है न कि सामाजिक की दृष्टि से ।

(३ य सन्धि : गर्भसन्धि)

फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन ॥ ७८ ॥
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान्मुहुः ।

फलस्य गर्भीकरणाद्गर्भः। यथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के—'सुसंगता—सहि, अदक्खिणा दाणिं सि तुमं जा एवं भट्टिणा हत्थेण गहिदा वि कोवं ण मुञ्चसि' [सखि ! अदक्षिणेदानीमसि त्वं या एवं भर्त्रा हस्तेन गृहीतापि कोपं न मुञ्चसि] इत्यादौ समुद्भेदः। पुनर्वासवदत्ताप्रवेशे ह्रासः। तृतीयेऽङ्के—'तद्वार्तान्वेषणाय गतः कथं चिरयति वसन्तकः' इत्यन्वेषणम्। विदूषकः—ही ही भोः, कोसम्बीरज्जलम्भेणावि ण तादिसो पिअवअस्सस्स परितोसो जादिसो मम सआसादो पियवअणं सुणिअ भविस्सदि' [ही ही भोः कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशः प्रियवयस्यस्य परितोषः यादृशो मम सकाशात् प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यति] इत्यादावुद्भेदः। पुनरपि वासवदत्ताप्रत्यभिज्ञानाद् ह्रासः। सागरिकायाः सङ्केतस्थानगमनेऽन्वेषणम्। पुनर्लतापाशकरणे उद्भेदः।

अनुवाद—'गर्भ' वह सन्धि है जिसे 'मुख' और 'प्रतिमुख' सन्धि में क्रमशः किंचिन्मात्र उद्भिन्न प्रधानोपायरूप बीज का ऐसा समुद्भेदन कहा जाया करता है जिसमें बीज के ह्रास और विकास की चिन्ता साथ-साथ चला करती है।

इस सन्धि को 'गर्भ' इसलिये कहा करते हैं क्योंकि इसमें नाटक का प्रधान फल गर्भित (अन्तर्निविष्ट) प्रतीत हुआ करता है। उदाहरण के लिये, 'रत्नावली' के द्वितीय अङ्क का जो यह प्रसङ्ग अर्थात्—

'सुसङ्गता-सखी ! तेरे प्रियतम ने अपने हाथ से तुझे पकड़ रखा है लेकिन तू है जो कोप छोड़ना नहीं जानती।' आदि है, उसमें तो मुखसन्धि-निक्षिप्त अनुराग-बीज का समुद्भेद दिखायी पड़ रहा है। इसके अनन्तर वासवदत्ता के पुनः प्रवेश में इस बीज का ह्रास परिलक्षित होता है। तत्पश्चात् तृतीय अङ्क के इस सन्दर्भ अर्थात् 'सागरिका का समाचार जानने, वसन्तक, न जाने, कब निकला लेकिन अभी तक न आया।' आदि में, इसका अनुसन्धान प्रतीत होता है और विदूषक का जो यह कथन अर्थात्—'कौशाम्बी का राज्य मिलने पर भी मेरे प्रियवयस्य को उतनी खुशी न होगी जितनी मेरे मुँह से इस आनन्द की बात सुन लेने पर' आदि है, उसमें इसी का विकास पता चल रहा है। इसी प्रकार वासवदत्ता के पहचानने में इस बीज के ह्रास और सागरिका के प्रेममिलन-स्थान पर पहुँचने में इसके अनुसन्धान और लतापाश से सागरिका के आत्मघात-चिन्तन में समुद्भेद की जो प्रक्रिया दिखायी देती है वह सब 'गर्भसन्धि' रूप ही अर्थराशि है।

विमर्श—आचार्य रामचन्द्र के अनुसार 'गर्भ' सन्धिका यह अभिप्राय है—

'बीजस्यौन्मुख्यवान् गर्भो लाभालाभगवेषणैः।

उत्पत्त्युद्घाटनदशाद्वयाविष्टस्य बीजस्यौन्मुख्यं फलजननाभिमुख्यं तद्वान्। प्राप्त्याशया तृतीयावस्थया परिच्छिन्नो लाभालाभगवेषणैः पुनः पुनर्भवद्भिर्युक्तः प्रधानवृत्तांशो गर्भसन्धिः।.........अत्र पुनः पुनर्लाभालाभगवेषणैर्बीजस्यौन्मुख्यं दर्शितम्। अतएव फल

(४ र्थ सन्धि : विमर्श-सन्धि)

अथ विमर्शः—

यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः ॥ ७९ ॥
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः ।

यथा शाकुन्तले चतुर्थाङ्कादौ—'अनसूया—पिअंवदे, जइवि गन्धव्वेण विवाहेण णिव्वुत्तकल्लाणा पिअसही सउन्तला अणुरूवभत्तुभाइणी संवुत्तेति णिव्वुदं मे हिअअम्, तह वि एत्तिअं चिन्तणिज्जम्' [प्रियंवदे ! यद्यपि गान्धर्वेण विवाहेन निर्वृत्तकल्याणा प्रियसखी शकुन्तला, तथापि अनुरूपभर्तृगामिनी संवृत्तेति निर्वृत्तं मे हृदयम्, तथाप्येतावच्चिन्तनीयम्] इत्यत आरभ्य सप्तमाङ्कोपक्षिप्ताच्छकुन्तलाप्रत्यभिज्ञानात्प्रागर्थसञ्चयः शकुन्तलाविस्मरणरूपविघ्नालिङ्गितः ।

प्राप्तिसंभावनारूपो गर्भसन्धिरुच्यते । इह गर्भसन्धावप्राप्त्यंशः प्रधानफलसंभावनात्मकत्वात्·········अवमर्शसन्धौ तु प्राप्त्यंशः प्रधानफलनिश्चयरूपत्वादिति विशेषः ॥

(नाट्यदर्पण : १ म विवेक)

अर्थात् 'गर्भसन्धि' रूपकप्रबन्धों की वह अर्थराशि है जिसे 'मुख' और 'प्रतिमुख' सन्धियों का स्वाभाविक निष्कर्ष कह सकते हैं। बीज की उत्पत्ति के बाद उद्घाटन और उद्घाटन के बाद फलोन्मुख्य स्वभावतः हुआ करता है। गर्भसन्धि में फलप्राप्ति की संभावना अभिव्यक्त होती है फलप्राप्ति का निश्चय नहीं। 'बीज' के अलाभ और लाभ, ह्रास और अन्वेषण अथवा विघ्न-बाधा और उसके निराकरण में जो द्वन्द्व है उसका प्रदर्शन रूपक की एक अनिवार्य आवश्यकता है।

अनुवाद—'विमर्श' (अथवा अवमर्श) वह सन्धि है जिसमें गर्भसन्धि में उद्भिन्न प्रधानोपाय रूप बीज और भी अधिक, उद्भिन्न प्रतीत हुआ करता है और साथ ही साथ बाह्य परिस्थिति (जैसेकि शापादि) के कारण आनेवाली विघ्न-बाधाओं से भी लड़ता दिखायी दिया करता है।

उदाहरणके लिये, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के चतुर्थ अङ्क के आरम्भके इस संदर्भ अर्थात्—

'अनसूया—प्रियंवदे ! यद्यपि, हमारी सखी शकुन्तला का गान्धर्वविधि से विवाह-मङ्गल सम्पन्न हो चुका और वह अपने योग्य पति को भी पा चुकी, किन्तु हम लोगों को इस बात की चिन्ता है······'

आदि, से लेकर सप्तम अङ्क में उपनिबद्ध शकुन्तला-प्रत्यभिज्ञान (शकुन्तला की पहचान) रूप वृत्तान्त के पहले जो भी इतिवृत्त भाग है वह 'विमर्श' सन्धिरूप ही अर्थराशि है।

इसमें पहले की अपेक्षा अधिक फलोन्मुख बीज अर्थात् दुष्यन्तगत शकुन्तला-विषयक प्रेम-प्रस्ताव के विघ्नरूप में जिस घटना की योजना की गयी है वह 'शकुन्तलाविस्मरण' (दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला की विस्मृति) की घटना है जो कि इस समस्त अर्थराशि को 'विमर्श' रूप-बना रही है।

विमर्श—'विमर्श' सन्धि को कतिपय नाट्याचार्य 'अवमर्श' भी कहा करते हैं। अभिनवभारतीकार ने इसका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

'गर्भनिर्भिन्नबीजार्थो विलोभनकृतोऽपि वा ।
क्रोधव्यसनजो वापि स विमर्श इति स्मृतः ॥'

गर्भनिर्भिन्नबीजार्थ इति । केचिद् विमर्श इति पठन्ति, अन्ये अवमर्श इति । तत्र

(५म सन्धि : निर्वहणसन्धि)

अथ निर्वहणम्—

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ॥ ८० ॥
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।

यथा—वेण्याम्, 'कञ्चुकी—(उपसृत्य, सहर्षम्) महाराज ! वर्धसे। अयं खलु भीमसेनो दुर्योधनक्षतजारुणीकृतसर्वशरीरो दुर्लक्ष्यव्यक्तिः' इत्यादिना द्रौपदीकेशसंयमनादिमुखसन्ध्यादिबीजानां निजनिजस्थानोपक्षिप्तानामेकार्थयोजनम् ।

यथा वा—शाकुन्तले सप्तमाङ्के शकुन्तलाभिज्ञानादुत्तरोऽर्थराशिः । एषामङ्गान्याह—

सन्देहात्मको विमर्शः । ननु पूर्वः संभावनाप्रत्ययः ततः संशय इति नेदमुचितम्, संशयनिर्णयान्तरालवर्तिनं हि तर्कं तार्किकाः प्राहुः । किं च विमर्शसन्धिर्नियतफलप्राप्त्यवस्थया व्याप्तः, तच्च नियतत्वं संदेहश्चेति किमेतत् । 'अत्राहुः—तर्कात्तन्तरमपि हेत्वन्तरवशाद् बाधच्छलरूपतापराकरणे संशयो भवेत्, किं न भवति ! इहापि च निमित्तबलात् कुतश्चित् संभावितमपि फलं यदा बलवता प्रत्यूह्यते कारणानि च बलवन्ति भवन्ति तदा जनकविघातकयोस्तुल्यबलत्वात् कथं न संदेहः । तुल्यबलविरोधकविधीयमानवैधुर्यव्याधूननसन्धीयमानस्फारफलावलोकनायां च पुरुषकारः सुतरामुद्धुरकन्धरीभवतीति तर्कानन्तरमत्र संशयः ततो निर्णयः इत्येतदेवोचिततरम् ।' (अभिनवभारती : १९, ४२)

अर्थात् 'प्राप्त्याशा' के बाद 'नियताप्ति' की अवस्था का जो क्रम है वही 'गर्भ' के बाद 'विमर्श' का क्रम है। फलप्राप्ति की संभावना होने पर भी संदेह का होना इसलिये स्वाभाविक है क्योंकि विघ्न-बाधाओं की मुठभेड़ समाप्त नहीं हुई है। फलप्राप्ति की नियत संभावना और विघ्नबाधा के कारण इसकी संदिग्धता के द्वन्द्व में जो नाटकीय चरित का विकास हुआ करता है उसका एक अपना ही सौन्दर्य और महत्त्व है। 'विमर्श' सन्धि में नाटक के प्रधान चरित का पौरुष और भी अधिक उद्दीप्त रूप से प्रकाशित हुआ करता है।

अनुवाद—निर्वहण सन्धि :—'निर्वहण सन्धि' रूपक प्रबन्ध की वह अर्थराशि है जिसमें उन-उन सन्धियों में यत्र-तत्र उपन्यस्त बीजादि रूप इतिवृत्तांश प्रधान फल के निष्पादक बनते दिखायी दिया करते हैं।

उदाहरण के लिये 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'कञ्चुकी—(पास पहुँच कर, सहर्ष) महाराज ! जय हो।

दुर्योधन के रक्त से रंजित और इसीलिये पहचान में न आने वाले ये भीमसेन ही हैं' आदि में इस नाटक के प्रधान फल के निष्पादन का जो उपन्यास है वह निर्वहण सन्धि रूप ही रूपकार्थ है। वस्तुतः यही वह रूपकार्थ है जिसकी निष्पत्ति के लिये उन-उन संधियों में यथास्थान विन्यस्त द्रौपदीकेशसंयमनादिरूप बीजादिभूत इतिवृत्तांश उन्मुख किं वा उत्सुक होते रहे हैं।

अथवा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के सप्तमाङ्क में शकुन्तला की पहचान की घटना के बाद की जो वृत्त-योजना है उसे भी 'निर्वहण' के निदर्शन रूप में ले सकते हैं।

(सन्ध्यङ्ग-निरूपण : 'मुख' सन्धि के १२ अङ्ग)

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ॥ ८१ ॥
युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ।
उद्भेदः करणं भेद एतान्यङ्गानि वै मुखे ॥ ८२ ॥

(१ म अङ्ग-उपक्षेप)

यथोद्देशं लक्षणमाह—

काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपक्षेप इति स्मृतः ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार के अनुसार 'निर्वहण' का यह स्वरूप है—

'सबीजविकृतावस्था नानाभावा मुखादयः ।
फलसंयोगिनो यस्मिन्नसौ निर्वहणं ध्रुवम् ॥

बीजस्य विकृतं विकार उत्पत्त्युद्घाटफलौन्मुख्यादिकः सह बीजविकृतैरवस्थाभिश्च प्रारम्भादिभिर्वर्त्तन्ते । नाना विचित्रा भावाः स्थायिव्यभिचारि-सात्त्विका अथवा भावयन्ति फलं साधयन्ति भावा उपाया बिन्दु-पताका-प्रकरी-कार्याणि यत्र । सुखप्राप्तौ च फले रति-हासोत्साह-विस्मय-स्थायिभावबाहुल्यं धृति-गर्वौत्सुक्य-मदादि-व्यभिचारिबाहुल्यं च मुखादीनाम् । दुःखहानौ तु फले क्रोध-शोक-भय-जुगुप्सा-स्थायिभावबाहुल्यमौग्र्यादि व्यभिचारिबाहुल्यञ्च द्रष्टव्यम् । मुखादयो मुख-प्रतिमुख-गर्भ-विमर्शाः । फलेन सुखसाध्येन नायक-प्रतिनायक-नायिकामात्यादि-व्यापारैः सम्यगौचित्येन युज्यन्ते संबद्ध्यन्ते यस्मिन् प्रधानवृत्तांशे स क्रमागमावस्थया परिच्छिन्नो निर्वहणसन्धिः । ध्रुवमिति प्रारम्भस्य निर्वाहाविनाभावित्वात् सर्वरूपकेष्वस्यावश्यम्भावमाह ।' (नाट्यदर्पण : १ म विवेक)

अर्थात् रूपक प्रबन्ध का यदि कहीं आरम्भ है तो कहीं अन्त भी है । रूपक के आरम्भ के उपयुक्त जो भी इतिवृत्त-चरित अथवा रसभावादि,रूप अर्थराशि है वही अन्त में उपसंहृत की जाया करती है और एकघन आनन्द में परिणत हुआ करती है ।

अनुवाद—अब इन सन्धिओं के अङ्गों का निरूपण किया जा रहा है । सर्वप्रथम 'मुख' सन्धि के ये १२ अङ्ग हैं—(१) उपक्षेप, (२) परिकर, (३) परिन्यास, (४) विलोभन, (५) युक्ति, (६) प्राप्ति, (७) समाधान, (८) विधान, (९) परिभावना, (१०) उद्भेद, (११) कारण और (१२) भेद ।

विमर्श--नाट्याचार्य भरत मुनि ने सन्ध्यङ्गों का बड़ा सुन्दर अभिप्राय बताया है—

'अङ्गहीनो नरो यद्वन्नैवारम्भक्षमो भवेत् ।
अङ्गहीनं तथा काव्यं न प्रयोगक्षमं भवेत् ॥
उदात्तमपि यत् काव्यं स्यादङ्गैः परिवर्जितम् ।
हीनत्वाद्धि प्रयोगस्य न सतां रञ्जयेन्मनः ॥
काव्यं यदपि हीनार्थं सम्यगङ्गैः समन्वितम् ।
दीप्तत्वात्तु प्रयोगस्य शोभामेति न संशयः ॥ (नाट्यशास्त्र : १९. ५३-५५)

अनुवाद— मुखसन्धि के अङ्गों का क्रमशः यह स्वरूप है :—

(१) 'उपक्षेप' वह है जिसे काव्यार्थ की समुत्पत्ति कहा करते हैं । 'काव्यार्थ' का अभिप्राय दृश्य अथवा श्रव्य काव्यों के प्रस्तुत विषयरूप इतिवृत्त का अभिप्राय है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

काव्यार्थं इतिवृत्तलक्षणप्रस्तुतताभिधेयः । यथा वेण्याम्—'भीमः—

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान्
स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥

(२ य अङ्ग-परिकर)

समुत्पन्नार्थबाहुल्यं ज्ञेयः परिकरः पुनः ॥ ८३ ॥

यथा तत्रैव—

प्रवृद्धं यद्वैरं मम खलु शिशोरेव कुरुभि-
र्न तत्रार्यो हेतुर्न भवति किरीटी न च युवाम् ।
जरासंधस्योरःस्थलमिव विरूढं पुनरपि-
क्रुधा भीमः सन्धिं विघटयति यूयं घटयत ॥

'भीम—ओह ! लाक्षागृह में आग लगा कर, विषमय अन्न खिला कर, द्यूत-सभा में बुला कर, धन-सम्पत्ति छीन कर, प्राण लेने के प्रयत्न कर और द्रौपदी के केश और वस्त्र खोल-खींच कर, मेरे जीते-जागते, क्या कौरव राजगण स्वस्थ बैठे आनन्द मनाया करें ?'

आदि में मुखसन्धि के 'उपक्षेप' रूप अङ्ग की ही योजना है क्योंकि यहाँ 'वेणीसंहार' रूप काव्यार्थ की उत्पत्ति स्पष्ट दिखायी दे रही है ।

विमर्श—'उपक्षेप' का वास्तविक अभिप्राय इतिवृत्त-रूप काव्यार्थ की ही समुत्पत्ति नहीं अपितु रूपक-बन्ध के मुख्य रसभावरूप अर्थ की भी समुत्पत्ति है । जैसे कि साहित्यदर्पणकार ने 'वेणीसंहार' नाटक के जिस प्रसङ्ग का उल्लेख किया है वह इसीलिए 'उपक्षेप' नहीं कि उसमें वेणीसंहार के इतिवृत्त का बीजावाप हुआ है अपि तु इसलिए है कि उसमें वेणीसंहार के मुख्यरस का बीज बोया गया प्रतीत हो रहा है और साथ ही साथ नायक-चरित का युद्धोत्साह-रूप वैशिष्ट्य भी परिलक्षित हो रहा है ।

'उपक्षेप' अत्यन्त आवश्यक सन्ध्यङ्ग है बिना इसके नाटक की अर्थराशि का वृक्ष कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता ।

अनुवाद—'परिकर' का अभिप्राय उत्पन्न काव्यार्थ (अथवा नाट्यार्थ) का बाहुल्य अथवा विकासोन्मुख होना है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—बचपन से ही कौरवों के साथ मेरा वैरभाव बढ़ता आया है । इसके लिए न मुझे युधिष्ठिर को दोष देना है और न अर्जुन को और न तुम्हीं दोनों (नकुल और सहदेव) को । मैं तो जरासंध के वक्षस्थल की भाँति पहले टूटी और फिर जुड़ी, कौरवों और पाण्डवों की इस सन्धि को तोड़ने की प्रतिज्ञा कर रहा हूँ । अब तुम लोगों की हिम्मत हो तो इसे जोड़कर देख लो ।'

में, मुखसन्धि के जिस 'अङ्ग' की योजना है वह 'परिकर' ही है क्योंकि यहाँ 'वेणीसंहार-रूप' काव्यार्थाङ्कुर पहले की अपेक्षा अधिक विकासोन्मुख दिखायी दे रहा है ।

विमर्श—'परिकर' का अभिप्राय 'परिकरण अथवा उपक्षिप्त अर्थ के स्वल्प विस्तार का अभिप्राय है । 'वेणीसंहार' की उपर्युक्त उक्ति में भीम का युद्धोत्साह किंवा क्रोधावेश और भी अधिक स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगता है ।

(३ य अङ्ग-परिन्यास)

तन्निष्पत्तिः परिन्यासः—

यथा तत्रैव—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि! भीमः॥

अत्रोपक्षेपो नामेतिवृत्तलक्षणस्य काव्याभिधेयस्य संक्षेपेणोपक्षेपणमात्रम्। परिकरस्तस्यैव बहुलीकरणम्। परिन्यासस्ततोऽपि निश्चयापत्तिरूपतया परितो हृदये न्यसनम्, इत्येषां भेदः। एतानि चाङ्गानि उक्तेनैव पौर्वापर्येण भवन्ति, अङ्गान्तराणि त्वन्यथापि।

(४र्थं अङ्ग-विलोभन)

—गुणाख्यानं विलोभनम्।

यथा तत्रैव, 'द्रौपदी—णाध, किं दुक्करं तुए परिकुविदेण' [नाथ ! किं दुष्करं त्वया कुपितेन] यथा वा मम चन्द्रकलायां चन्द्रकलावर्णने-सेयम्, 'तारुण्यस्य विलासः-' इत्यादि। यत्तु शकुन्तलादिषु 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्—'इत्यादि मृगादिगुणवर्णनं तद्बीजार्थसम्बन्धाभावान्न संध्यङ्गम्। एवमङ्गान्तराणामप्यूह्यम्।

अनुवाद—'परिन्यास' कहते हैं पूर्वोपक्षिप्त किंवा स्वल्प विस्तृत काव्यार्थ के विशेष निश्चय को। जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—द्रौपदी ! चिन्ता न कर, इन प्रचण्ड भुजदण्डों में घूमती अपनी गदाके प्रहार से दुर्योधन की जांघें तोड़ दूँगा और उसके गाढे लाल-लाल रक्त से अपने हाथ गीले किए तेरी वेणी सँवारूँगा।'

में, 'परिन्यास' की ही रूपरेखा झलक रही है।

यहाँ उपक्षेप-परिकर और परिन्यास के क्रम का अभिप्राय यह है—'उपक्षेप' तो इतिवृत्तरूप काव्य अथवा नाट्य के अर्थ का संक्षेप में उपन्यास-मात्र है, जिसे 'परिकर' कहते हैं वह इसी संक्षेपतः उपस्थित काव्यार्थ का किञ्चिन्मात्र विस्तार है और 'परिन्यास' इसके बाद की अवस्था है जिसमें किञ्चिन्मात्र विस्तृत काव्यार्थ का विशेष निश्चय दिखाई दिया करता है तथा वह काव्यार्थ हृदयमें स्थान पाने लगता है। ये तीन अङ्ग तो ऐसे हैं जिनकी योजना, जिस क्रम से इनका निर्देश है उसी क्रम से, की जाया करती है किन्तु अन्य जो ९ अङ्ग हैं उनकी योजना क्रम अथवा व्युत्क्रम दोनों प्रकार से हो सकती है।

अनुवाद— 'विलोभन' का अभिप्राय गुणकथन अथवा गुणवर्णन का अभिप्राय है। जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'द्रौपदी—नाथ ! आप जब क्रुद्ध हो जायँ तब क्या नहीं कर सकते!'

आदि में, अथवा मेरी अपनी कृति 'चन्द्रकला'के इस चन्द्रकला-वर्णन-प्रसङ्ग अर्थात् 'यही चन्द्रकला है, तरुणता की विलास मूर्ति' आदि में, जो गुणवर्णन है वह 'विलोभन' रूप ही है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' आदि के 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्' आदि सूक्ति में जो मृग आदि का गुणवर्णन है उसमें कोई 'सन्ध्यङ्ग' योजना नहीं क्योंकि इस रूपक के बीजभूत अर्थ से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। इसी प्रकार अन्य

(५ म अङ्ग : युक्ति)

संप्रधारणमर्थानां युक्तिः—

यथा—वेण्यां-'सहदेवो भीमं प्रति आर्य ! किं महाराजसन्देशोऽयमव्युत्पन्न एवार्येण गृहीतः' इत्यतः प्रभृति यावद्भीमवचनम् ।

'युष्मान् ह्रेपयति क्रोधाल्लोके शत्रुकुलक्षयः ।
न लज्जयति दाराणां सभायां केशकर्षणम् ॥' इति ।

(६ठा अङ्ग—प्राप्ति)

—प्राप्तिः सुखागमः ॥ ८४ ॥

यथा तत्रैव—'मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्—' इत्यादि । 'द्रौपदी—(श्रुत्वा सहर्षम्) णाध, अस्सुदपुव्वं क्खु एदं वअणम्, ता पुणो पुणो भण ।'
[नाथ अश्रुतपूर्वं खल्विदं वचनम्, तत्पुनःपुनर्भण !]

प्रसङ्गों में भी 'सन्ध्यङ्ग' और सन्ध्यङ्ग की भाँति प्रतीत होने वाले अन्य वैशिष्ट्यों का विवेक स्वयं कर लेना चाहिये (अर्थात् यह ध्यान रखना चाहिये कि 'सन्ध्यङ्ग' रूपक के बीजभूत अर्थ से ही सम्बद्ध तत्त्व है)।

विमर्श—'विलोभन' 'गुणाख्यान' रूप हुआ करता है। इससे प्रस्तुत कृत्य के सम्पादन की अभिलाषा स्थिर की जाया करती है। 'वेणीसंहार' के उपर्युक्त प्रसङ्ग में भीम की 'वेणीसंहार' विषयक अभिलाषा का ही स्थिरीकरण किया हुआ है। 'परिन्यास' के बाद 'विलोभन' की योजना हुआ करती है। कुछ नाट्याचार्य, जैसे कि धनिक और धनञ्जय आदि, तो इसे 'मुखसन्धि' का ही अङ्ग मानते हैं किन्तु कुछ नाट्याचार्य, जैसे कि रामचन्द्र, गुणचन्द्र आदि, ऐसे भी हैं जो इसे अन्य सन्धियों के लिये भी उपयुक्त मानते हैं।

अनुवाद—'युक्ति' कहते हैं 'अर्थसंप्रधारण' अथवा कर्त्तव्यनिश्चय को। जैसे कि, 'वेणी-संहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'सहदेव (भीम के प्रति) आर्य ! आपने महाराज का संदेश ठीक-ठीक नहीं समझा।' आदि से लेकर भीमसेन की इस उक्ति अर्थात्—

'सहदेव ! भरी राज-सभा में द्रौपदी का केशकर्षण तुम लोगों के लिये क्योंकर लज्जा-जनक लगने लगे, अरे ! तुम लोगों को तो क्रोध में आकर शत्रुवंश के संहार करने में लज्जा लग रही होगी !'

तक जो संदर्भ है उसमें 'युक्ति' की ही योजना की गयी है।

विमर्श—'युक्ति' अथवा 'अर्थसंप्रधारण' में, गुण-दोष के विवेकपूर्वक, कार्यपर्यालोचन का अभिप्राय छिपा है। युक्ति की योजना में सन्ध्यङ्ग-निर्देश के क्रम का कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि 'विलोभन' के बाद 'युक्ति'-योजना का कोई नियम नहीं दिखायी देता। 'परिकर' के बाद भी 'युक्ति' की योजना की जा सकती है और की भी गयी है।

अनुवाद—'प्राप्ति' का अभिप्राय सुखागम है। जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—मैं भला संग्राम में कौरवों पर क्यों क्रोध करने लगा'।

आदि के अनन्तर—

'द्रौपदी (सुनकर, प्रसन्नता के साथ) प्रियतम ! पहले कभी तुम्हारे मुँह से ऐसी

(७ म अङ्ग-समाधान)

बीजस्यागमनं यत्तु तत्समाधानमुच्यते ।

यथा तत्रैव—'(नेपथ्ये कलकलानन्तरम्) भो भो द्रुपदविराटवृष्ण्यन्धक-सहदेवप्रभृतयः ! अस्मदक्षौहिणीपतयः कौरवचमूप्रधानयोधाश्च शृण्वन्तु भवन्तः-

यत्सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं
यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता ।
तद्द्यूतारणिसंभृतं नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैः
क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते ॥'

अत्र 'स्वस्था भवन्तु मयि जीवति—' इत्यादि बीजस्य प्रधाननायकाभिमतत्वेन सम्यगाहितत्वात्समाधानम् ।

बात न सुनाई पड़ी ! कहो, कहो, फिर-फिर यही कहो ।' आदि में, जिस संध्यङ्ग की योजना है वह 'प्राप्ति' ही है ।

विमर्श—'प्राप्ति' का अभिप्राय केवल सुख का आगम नहीं अपितु सुखहेतु का भी आगम है जैसा कि नाट्यदर्पणकार का कथन है— •

'प्रापणं सुखसम्प्राप्तिः-सुखस्य सुखहेतोश्च सम्यगन्वेषणादाप्तिः प्रापणम्
(नाट्यदर्पणः १ म विवेक)'

इसकी योजना एक बार ही हो, ऐसा कोई नियम नहीं । वैचित्र्य के लिये इसकी अनेक बार भी योजना की जा सकती है ।

अनुवाद—'समाधान' वह है जिसे बीज का आगमन अथवा समीचीन रूपसे आधान कहा गया है ।

जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'(नेपथ्य में हल्ला मचने के बाद) अरे ! द्रुपद, विराट, वृष्णि, अन्धक और सहदेव प्रभृति अक्षौहिणीनायको और कौरवसेनाध्यक्षो ! सुनो—

आज कौरव-वन में महाराज युधिष्ठिर की क्रोधाग्नि धधक रही है वही क्रोधाग्नि जिसे सत्यपालन की प्रतिज्ञा के टूटने के डर से, परिश्रमपूर्वक बुझा सा दिया गया था, जिसे कुलसुख और कुलशान्ति के लिये विस्मृतिगर्भ तक में डाल दिया गया था, किन्तु द्यूत की अरणि और द्रौपदी के केशाम्बराकर्षण की झंझा भला कबतक उसे शान्त रहने दे !' आदि, में 'समाधान' की ही योजना स्पष्ट दिखायी दे रही है ।

यहाँ 'समाधान' इसीलिये है क्योंकि यहां 'मेरे जीते-जागते क्या कौरव स्वस्थचित्त हुए आनन्द मनावेंगे' आदि भीमवचन में उपक्षिप्त युद्धोत्साहविषयक बीज का ही समीचीन आधान किया जा रहा है ।

विमर्श—'समाधान' वस्तुतः बीज का ही पुनर्न्यास है । उपक्षिप्त बीज के समीचीन आधान का अभिप्राय उसका परिपोष है । नाट्यदर्पणकार ने इसीलिये समाधान को 'पुनर्न्यास' कहा है—

'पुनर्न्यासः समाहितिः ॥

संक्षिप्योपक्षिप्तस्य बीजस्य स्पष्टताप्रतिपादनार्थं पुनर्न्यासो भणितिवैचित्र्यं सम्यगासमन्ताद् धानं पोषणं समाहितिः' (नाट्यदर्पणः १ म विवेक) ।

(८ म अङ्ग—विधान)

सुखदुःखकृतो योऽर्थस्तद्विधानमिति स्मृतम् ॥ ८५ ॥

यथा बालचरिते—

'उत्साहातिशयं वत्स ! तव बाल्यं च पश्यतः ।
मम हर्षविषादाभ्यामाक्रान्तं युगपन्मनः ॥'

यथा वा मम प्रभावत्याम्—'नयनयुगासेचनकम्—' इत्यादि ।

(९ म अङ्ग—परिभावना)

कुतूहलोत्तरा वाचः प्रोक्ता तु परिभावना ।

यथा वेण्यां द्रौपदी युद्धं स्यान्न वेति संशयाना तूर्यशब्दानन्तरम् 'णाध ! किं दाणिं एसो पलअजलहरत्थणिदमन्थरखणे खणे समरदुन्दुभि ताडीअदि ।' [नाथ ! किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तनितमन्थरः क्षणे क्षणे समरदुन्दुभिस्ताड्यते]

अनुवाद—'विधान' वह है जिसे सुख-दुःख अथवा सुख या दुःख का एकत्र या अनेकत्र उपनिपात कहा गया है । जैसे कि 'बालचरित' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राम ! क्या बताऊँ, एक ओर तुम्हारा उत्साह और दूसरी ओर तुम्हारे बाल्यभाव को देखकर, मेरा मन एक ही साथ हर्ष और विषाद से आक्रान्त हो उठा है !'

आदि में या मेरी अपनी कृति 'प्रभावती-परिणय' के 'नेत्रयुगल की संतृप्तिरूप' आदि संदर्भ में, जिस सन्ध्यङ्ग की योजना है वह 'विधान' ही है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार के अनुसार 'विधान' का यह स्वरूप है—

'विधानं सुखदुःखाप्तिः—

द्वयोः सुखदुःखयोरेकत्रानेकत्र वा पात्रे प्राप्तिरेकस्य वा सुखस्य दुःखस्य वा प्राप्तिर्विधानम् । एकत्र पात्रे सुखदुःखयोः प्राप्तिर्यथा मालतीमाधवे—

'माधवः—

यद् विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभावमानन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत् ।
तत् सन्निधौ तदधुना हृदयं मदीयमङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते ॥'

इत्यनेन सानुरागमालत्यवलोकनान्माधवस्य सुखदुःखाप्तिः ।' (नाट्यदर्पण : १ म विवेक)

'प्राप्ति' और 'विधान' दो भिन्न-भिन्न स्वभाव के अङ्ग हैं । 'प्राप्ति' तो सुखान्वेषण अथवा सुख-साधनान्वेषण है किन्तु 'विधान' सुखसंनिधानरूप है । सुख के अन्वेषण और सन्निधान में जो भेद है वही 'प्राप्ति' और 'विधान' के परस्पर भेद का हेतु है ।

अनुवाद—'परिभावना' वह है जिसे कुतूहलपूर्ण वचन का विन्यास कहा गया है । जैसे कि 'वेणीसंहार' में 'युद्ध होगा या न होगा' के संदेह में पड़ी द्रौपदी की जो यह उक्ति है—

'प्राणनाथ ! क्या बात है कि रह-रह कर, प्रलयकालीन मेघगर्जन की भाँति गंभीर और भयङ्कर समर-दुन्दुभि का नाद सुनायी पड़ रहा है ।'

उसमें 'परिभावना' की ही रूपरेखा झलक रही है ।

विमर्श—'परिभावना' का तात्पर्य विस्मय है—

'जिज्ञासातिशयेन किमेतदिति कौतुकानुबन्धे विस्मयः परिभावना ।'

(नाट्यदर्पण : १ म विवेक)

(१० अङ्ग-उद्भेद)

बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्भेदः—

यथा तत्रैव—'द्रौपदी—अण्णं च णाह, पुणोवि तुम्हेहि समरादो आअच्छिअसमास्सासइदव्वा। [अन्यच्च नाथ ! पुनरपि युष्माभिः समरादागत्याहं समाश्वासयितव्या]

भीमः—ननु पाञ्चालराजतनये ! किमद्यालीकाश्वासनया—

भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम्।
अनिःशेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम् ॥

(११ अङ्ग-करण)

—करणं पुनः ॥ ८६ ॥

प्रकृतार्थसमारम्भः—

यथा तत्रैव—'देवि ! गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय' इति।

विस्मयाभिव्यञ्जक वचन-विन्यास द्वारा उपक्षिप्त बीजवस्तु से सम्बद्ध जिज्ञासा की ही पुष्टि की जाया करती है।

अनुवाद—'उद्भेद' का अभिप्राय बीजार्थ का प्ररोह है। जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'द्रौपदी—नाथ! एक बात और, संग्राम से लौटकर एकबार फिर मुझे सान्त्वना देना।

भीम—पाञ्चालराजकुमारी ! अब झूठी सान्त्वना क्यों ?

अब तू इस भीम को अपमान से लांछित और म्लानमुख न देख पाओगी। अब तो कौरवों का सर्वनाश करके प्रसन्नवदन भीम तेरे सामने होगा।'

आदि में, जो सन्ध्यङ्ग है वह 'उद्भेद' रूप ही है।

विमर्श—'उद्भेद' का स्वरूप नाट्यदर्पण की इन पंक्तियों में स्पष्ट है—

'स्वल्पप्ररोह उद्भेदः—आमुखानन्तरमुप्तस्य बीजस्य स्वल्पप्ररोहः। किञ्चित् फलानुष्ठानानुकूल्यप्रदर्शनं धान्यस्योच्छूनतेवोद्भेदः। बीजस्योद्घाटनमङ्कुरकल्पम्, उद्भेदः पुनरङ्कुरकल्पादुद्घाटनाद् भूमिन्यस्तधान्योच्छूनतेव प्राचीनावस्था इत्ययं मुखसन्धेरेवाङ्गम् न पुनरुद्घाटरूपत्वात् प्रतिमुखसन्धेः।' (नाट्यदर्पण प्रथम विवेक)

अर्थात् 'उद्भेद' तो मुखसन्धि का अंग है और 'उद्घाट' प्रतिमुख सन्धि का। 'उद्भेद' बीज की अंकुरावस्था की तैयारी है और 'उद्घाट' बीज का अंकुरोत्पादन है। 'उद्भेद' के बाद ही 'उद्घाट' की सम्भावना है, पहले नहीं। इसलिये 'उद्भेद' मुखसन्धि का अङ्ग है—और 'उद्घाट' प्रतिमुख सन्धि का।

अनुवाद—'करण' का अभिप्राय प्रस्तुत विषय के समारम्भ का अभिप्राय है। जैसे कि 'वेणीसंहार' का यह प्रसंग अर्थात्—

'भीम—देवी ! अब हम कुरुवंश के सर्वनाश के लिये चल पड़े हैं।'

आदि में, जो सन्ध्यङ्ग है वह 'करण' ही है।

विमर्श—'करण' अवसर के अनुकूल कार्यारम्भ है। इस अंग की योजना से भी उपक्षिप्त बीज का ही परिपोष किया जाया करता है। ऊपर के उदाहरण में भीम का युद्धोत्साहरूप बीज अधिकाधिक परिपुष्ट होता दिखायी दे रहा है।

(१२ अङ्ग—भेद)

—भेदः संहतभेदनम् ।

यथा तत्रैव—'अत एवाद्यप्रभृति भिन्नोऽहं भवद्भ्यः ।'

केचित्तु—'भेदः प्रोत्साहना' इति वदन्ति ।

(प्रतिमुखसन्धि के १३ अङ्ग : निर्देश)

अथ प्रतिमुखाङ्गानि—

विलासः परिसर्पश्च विधुतं तापनं तथा ॥ ८७ ॥
नर्म नर्मद्युतिश्चैव तथा प्रगमनं पुनः ।
निरोधश्च प्रतिमुखे तथा स्यात्पर्युपासनम् ॥ ८८ ॥
पुष्पं वज्रमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ।

अनुवाद—'भेद' कहते हैं संघविघात को ।

जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसंग अर्थात्—

'भीम—इसीलिये आज से मेरा और तुम लोगों का कोई सम्बन्ध नहीं ।'

आदि में जिस सन्ध्यङ्ग का विनिवेश है वह 'भेद' है ।

कुछ नाट्याचार्य 'भेद' का अभिप्राय (संघविघात नहीं अपितु) 'प्रोत्साहन' मानते हैं ।

विमर्श—'भेद' का एक और भी अभिप्राय है और वह है 'पात्रनिर्गम' । नाट्यदर्पणकार ने 'भेद' की यह स्वरूपमीमांसा की है—

'भेदनं पात्रनिर्गमः—रङ्गप्रविष्टानां पात्राणां निर्गमो रंगान्निःसरणं येन तद् भेदनम् । पात्राणां यथास्वं प्रयोजनवशादितश्चेतश्च गन्तुमन्यार्थोऽप्यभिप्राय उद्यमो वा रंगान्निर्गममापादयन् भेदनमुच्यते । यथा वेणीसंहारे भीमो द्रौपद्या संग्रामापायशङ्किन्या शरीरानपेक्षे पराक्रमे निषिद्धः प्रत्याह—

'अयि सुक्षत्रिये !

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसासान्द्रमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरि कृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
संग्रामैकार्णवान्तःपयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः ॥'

इत्येतेन हि संग्रामविचरणे पाण्डवानां पाण्डित्यख्यापनेन संग्रामावतरणाभिप्रायः सहदेवस्य चात्मनश्च संघातभेदनार्थं एवोपदर्शित इति भेदोऽङ्गम् ।

अन्ये तु भेदं प्रोत्साहनमाहुः ।

अन्ये तु संहतानां प्रतिपक्षाणां बीजफलोत्पत्तिनिरोधकानां विश्लेषकं भेदरूपमुपायं भेदनं मन्यते ।' (नाट्यदर्पण : प्रथम विवेक)

अनुवाद—'प्रतिमुख' सन्धि के ये १३ अङ्ग हैं—(१) विलास, (२) परिसर्प, (३) विधुत, (४) तापन, (५) नर्म, (६) नर्मद्युति, (७) प्रगमन, (८) विरोध, (९) पर्युपासन, (१०) पुष्प, (११) वज्र, (१२) उपन्यास और (१३) वर्णसंहार ।

विमर्श—प्रतिमुखसन्धि के इन अंगों की योजना से नाटकीय इतिवृत्त में वैचित्र्य का

(१ अङ्ग–विलास)

तत्र—

समीहा रतिभोगार्था विलास इति कथ्यते ॥ ८९ ॥

रतिलक्षणस्य भावस्य यो हेतुभूतो भोगो विषयः प्रमदा पुरुषो वा तदर्था समीहा विलासः।

यथा शाकुन्तले—

'कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनायासि।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ॥'

आधान किया जाता है। यद्यपि ये अङ्ग प्रतिमुख के ही अंग हैं किन्तु अन्यत्र भी इनका उपन्यास किया जाता है।

अनुवाद—'विलास' का अभिप्राय रतिभाव (वस्तुतः रत्यादिरूप स्थायीभावों) के विषयभूत पदार्थों के लिए अभिलाषा है।

'रतिभोगार्था समीहा' विलास है। इसका तात्पर्य यह है—'रतिभोग' कहते हैं रति-रूप भाव के हेतुभूत 'भोग' अथवा विषय जैसे कि स्त्री और पुरुष को। 'रतिभोग' के लिये अर्थात् प्रेमिका के हृदय में प्रेमी के लिए और प्रेमी के हृदय में प्रेमिका के लिए जो समीहा अथवा अभिलाषा है, वह है 'रतिभोगार्था समीहा'। 'विलास' इसी समीहा का पारिभाषिक नाम है।

जैसे कि अभिज्ञानशाकुन्तल के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'दुष्यन्त—मेरे लिए प्रिया शकुन्तला को पाना भले ही कठिन हो किन्तु मेरा मन उसके अनुरागचिह्नों के मनन-चिन्तन में ही लीन रहा करता है। चाहे मेरा और उसका मिलन हो या न हो, मुझे इसी से सन्तोष है कि हम दोनों एक दूसरे को चाहने लगे हैं।'

में, दुष्यन्त के हृदय में, शकुन्तला से मिलने की अभिलाषा का जो अभिव्यञ्जन है उसमें 'विलास' का स्वरूप स्पष्ट है।

विमर्श—'विलास' प्रतिमुखसन्धि का प्रथम अङ्ग है और प्रतिमुखसन्धि रूपकसामान्य की एक विशेष अर्थराशि हुआ करती है न कि शृङ्गारमय रूपकों की ही। इस दृष्टि से 'विलास' को 'रतिभोगार्था समीहा' कहना संगत नहीं प्रतीत होता। यहाँ यदि 'रति' पद को स्थायिभावमात्र का उपलक्षण मान लिया जाय तब 'विलास' की परिभाषा ठीक बैठ जाती है। वस्तुतः नाट्य-दर्पणकार का यहाँ यही कथन है—

'प्रतिमुखस्य चादावेवेदमङ्गं निबन्धनीयम्। य एव मुखे रस उपक्षिप्यते तस्यैव स्थायी विभावानुभावव्यभिचारिभिः पोषणीयः। कामफले च रूपके मुखसन्धावुपक्रान्तः शृङ्गारः प्रतिमुखे विलासेन स एव विस्तार्यते। विलासप्रकाशकान्येव चेतराण्यङ्गानि निबन्धनीयानि। वीरादि-रसप्रधानेष्वर्थफलेषु रूपकेषु पुनरुत्साहादिसम्पद्विषयो नृस्त्रियो-रीहाव्यापारो विलासः।' (नाट्यदर्पण : प्रथम विवेक)

अर्थात् जैसे शृङ्गारप्रधान रूपक-प्रबन्धों में नायक और नायिका की परस्पर रतिसमीहा को 'विलास' कहा गया है वैसे ही वीर-रसप्रधान रूपक-प्रबन्धों में उत्साहविषयक समीहा भी 'विलास' ही है।

(२ अङ्ग-परिसर्प)

इष्टनष्टानुसरणं परिसर्पश्च कथ्यते ।

यथा शाकुन्तले—

'राजा—भवितव्यमत्र तया । तथा हि—

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात् ।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥'

(३ अङ्ग-विधुत)

कृतस्यानुनयस्यादौ विधुतं त्वपरिग्रहः ॥ ९० ॥

यथा तत्रैव—'अलं वो अन्तेउरविरहपज्जुस्सुएण राएसिणा उवरुद्धेण ।'
[अलं वः अन्तःपुरविरहपर्युत्सुकेन राजर्षिणा उपरुद्धेन]

केचित्तु—'विधृतं स्यादरतिः' इति वदन्ति ।

अनुवाद—'परिसर्प' का तात्पर्य किसी लुप्तप्राय किन्तु अभीष्ट वस्तु का अन्वेषण है। जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—'यहाँ मेरी प्रियतमा अवश्य होगी । क्योंकि—

इस लतामण्डप के द्वार पर पीली बालू के ऊपर पड़े, आगे की ओर ऊँचे और नितम्बभार से पीछे की ओर दबे, नये-नये पद-चिह्न उसी की सूचना दे रहे हैं।'
में, दुष्यन्त के द्वारा, अदृश्य शकुन्तला का जो अनुसंधान वर्णित है वह 'परिसर्प' का ही निदर्शन है।

विमर्श—'परिसर्प' को कतिपय नाट्याचार्य 'अनुसर्पण' कहा करते हैं। 'अनुसर्पण' का अभिप्राय नष्ट किन्तु इष्ट वस्तु की ईहा है। (नष्टेष्टेहाऽनुसर्पणम्—पूर्वमुपलब्धस्य पुनरन्तरितस्येतिवृत्तवशादभिलषितस्यार्थस्येहाऽन्वेषणमनुसर्पणम्)।

यह 'परिसर्प' अथवा 'अनुसर्पण' इतिवृत्त का अंश अथवा अवयव नहीं। इसका सम्बन्ध चरितचित्रण से है। मुख्य-रूपक-चरित के हृदय के भाव का इसके साथ सम्बन्ध है। किन्तु जैसा कि मुख्य-रूपक-चरित का चित्रण ही इतिवृत्त के वैचित्र्य का नियामक होता है, 'विलास' और 'परिसर्प' को इतिवृत्तरूप रूपकार्थ का अंग बताया गया है। नष्टवस्तु का अन्वेषण किसी भी रसभाव से सम्बद्ध रूपक-प्रबन्ध में अपेक्षित है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का उदाहरण एक संकेतमात्र है।

अनुवाद—'विधुत' का अभिप्राय किसी पूर्वकृत अनुनय या सान्त्वबचन के परित्याग का अभिप्राय है।

जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'शकुन्तला—मेरे लिये तुम लोग अन्तःपुर के विरह में व्याकुल इस राजर्षि को न रोको।'
आदि में, दुष्यन्त को रोक रखने के लिये, शकुन्तला के पूर्वकृत अनुनय के परित्याग का जो वर्णन है उसमें 'विधुत' की योजना है।

कुछ नाट्याचार्य इसे 'विधृत' कहते हैं और 'विधृत' का अभिप्राय 'अरति' (अरुचि) बताते हैं।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'विधुत' के बदले 'विधूत' को सन्ध्यङ्ग माना है—

(४ अङ्ग—तापन)

उपायादर्शनं यत्तु तापनं नाम तद्भवेत् ।

यथा रत्नावल्याम्—'सागरिका—

दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरुई परअसो अप्पा ।
पियसहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं णवरि एक्कम् ॥'

[दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा ।
प्रियसखि ! विषमं प्रेम मरणं शरणं केवलमेकम् ॥]

(५ अङ्ग—नर्म)

परिहासवचो नर्म—

यथा रत्नावल्याम्—

'सुसंगता—सहि ! जस्स किदे तुमं आअदा सो अअं दे पुरदो चिट्ठदि ।
[सखि ! यस्य कृते त्वमागता सोऽयं ते पुरस्तिष्ठति]

सागरिका—(साभ्यसूयम्) कस्स किदे अहं आअदा ? [कस्य कृते अहमागता ?]

'कृतस्यानुनयस्यादौ विधूतं ह्यपरिग्रहः ।'
(नाट्यशास्त्र : १९-७७)

किन्तु 'विधुत' और 'विधूत' का अभिप्राय एक ही है। 'पूर्वकृत अनुनय का अपरिग्रह' की 'अरति' अथवा 'अरुचि' है, इसलिये दशरूपककार की 'विधूत'-परिभाषा भी ठीक ही है। नाट्यदर्पणकार ने इस सन्ध्यङ्ग को 'विधुत' अथवा 'विधूत' न कहकर 'धूनन' कहा है—

'धूननं साम्न्यनादरः—
साम्न्यनुनये अनादरो मनागनादृतिः 'नञोऽल्पार्थत्वात् ।' (नाट्यदर्पण : प्रथम विवेक)

अनुवाद—'तापन' का अभिप्राय संतापनिवारक उपाय के अदर्शन अथवा अनवधारण का अभिप्राय है।

जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'सागरिका—प्रिय सखि ! दुर्लभ प्रेमी से मैंने प्रेम किया, लज्जा आगे नहीं बढ़ने देती, मेरी पराधीनता अलग मुझे सता रही है, प्रेम बढ़ता ही जा रहा है, अब तो केवल मरने में ही कल्याण है।'
में, वत्सराज से मिलने के उपाय के संबन्ध में सागरिका के मन का जो अनिश्चय अभिव्यक्त हो रहा है उसमें 'तापन' की ही रूपरेखा झलक रही है।

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि के अनुसार 'तापन' का यह स्वरूप है—
'अपायदर्शनं यत्तु तापनं नाम तद्भवेत् ।' (नाट्यशास्त्र : १९-७७)

दशरूपककार ने 'तापन' के बदले 'शम' को प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग बताया है और 'शम' का अभिप्राय 'अरति का उपशमन' कहा है।

अनुवाद—'नर्म' का तात्पर्य परिहासपूर्ण वचन है।

जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'सुसंगता—सखि ! जिसके लिये तू यहाँ आयी है वह तो तेरे सामने विराजमान है।
सागरिका—(चिढ़कर) बता किसके लिये मैं यहाँ आयी हूँ ?

'सुसंगता—अलं अण्णसंकिदेण। णं चित्तफलअस्स।' [अलम् अन्यशङ्कितेन ननु चित्रफलकस्य]

(६ अङ्ग–नर्मद्युति)

––धृतिस्तु परिहासजा ॥ ९१ ॥

नर्मद्युतिः––

यथा तत्रैव—

'सुसंगता—सहि ! अदक्खिणा दार्नि सि तुमं जा एव्वं भट्टिणा हत्थावलम्बिदावि कोवं ण मुञ्चसि। [सखि ! अदक्षिणेदानीमसि त्वं, यद् एवं भर्त्रा हस्तावलम्बितापि कोपं न मुञ्चसि]

सागरिका—(सभ्रूभङ्गमीषद्विहस्य) सुसंगदे ! दाणिं वि कीलिदुं न विरमसि।' [सुसङ्गते ! इदानीमपि क्रीडितुं न विरमसि]

केचित्तु—'दोषस्याच्छादनं हास्यं नर्मद्युतिः' इति वदन्ति।

सुसंगता—तुम सशंक क्यों हो कि किसी और के लिये यहाँ आयी हो। अरे ! मैं तो इस 'चित्रफलक' के लिये कह रही थी।'

आदि में जो हास-परिहास-पूर्ण वार्तालाप है उसमें 'नर्म' की ही योजना है।

विमर्श—'नर्म' को क्रीडा के लिये 'हास-परिहास' माननेका अभिप्राय यह है कि इस सन्ध्यङ्ग की योजना श्रृङ्गार-रस-प्रधान रूपकप्रबन्धों में ही संभव है।

नाट्यदर्पणकार ने स्पष्ट कहा है—

'एते च नर्म-नर्मद्युती अङ्गे कामप्रधानेष्वेव रूपकेषु निबन्धमर्हतः। कैशिकीप्राधान्येन तेषां हास्योचितत्वात्।' (नाट्यदर्पण : १ म विवेक)

अनुवाद—'नर्मद्युति' का तात्पर्य परिहास में भी धैर्य धारण करना है।

जैसे कि 'रत्नावली' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'सुसंगता—सखि ! तू भी कितनी गलती कर रही है कि अपने प्रियतम के हाथ में आने पर भी कोप नहीं छोड़ती ?

सागरिका—(भौंहें चढ़ाकर, मुस्कराते हुए) तू हमेशा मजाक किया करती है।'

आदि में, सुसंगता के परिहास से भी न घबड़ानेवाली सागरिका का जो चित्रण है उसमें 'नर्मद्युति' की ही रूपरेखा स्पष्ट है।

कुछ नाट्याचार्य 'नर्मद्युति' को किसी दोष का आच्छादक हास-परिहास माना करते हैं।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि के अनुसार 'नर्मद्युति' का यह लक्षण है—

'दोषप्रच्छादनार्थं तु हास्यं नर्मद्युतिः स्मृता।' (नाट्यशास्त्र : १९-७८)

जिसे 'अभिनवभारती'कार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'दोषो येनोक्तेन प्रच्छादयितुमिष्यते तस्यापि हास्यजनकत्वेन नर्म च सुतरां द्योतितं भवतीति नर्मद्युतिः।'

विमर्श—नर्मद्युति का यही अभिप्राय नाट्यदर्पणकार ने भी लिया है—

'दोषावृतौ तु तद्द्युतिः—

दोषावृत्यै दोषाच्छादनाय यत् पुनर्हसनं हास्यहेतुर्वाक्यं सा तस्य नर्मणो द्योतनं नर्मद्युतिः। (नाट्यदर्पण : प्रथम विवेक)

(७ अङ्ग-प्रगमन)

—प्रगमनं वाक्यं स्यादुत्तरोत्तरम् ।

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

'उर्वशी—जअदु जअदु महाराओ । [जयतु जयतु महाराजः]

राजा—

मया नाम जितं यस्य त्वया जय उदीर्यते ।' इत्यादि ।

(८ अङ्ग-विरोध)

विरोधो व्यसनप्राप्तिः—

यथा चण्डकौशिके—

'राजा—नूनमसमीक्ष्यकारिणा मया अन्धेनेव स्फुरच्छिखाकलापो ज्वलनः पद्भ्यां समाक्रान्तः ।'

किन्तु साहित्यदर्पणकार की 'नर्मद्युति-परिभाषा' दशरूपककार के इस 'नर्मद्युति-लक्षण' अर्थात्—

'धृतिस्तज्जा द्युतिर्मता' (दशरूपक : १-६३)

का अनुसरण करती है ।

अनुवाद—'प्रगमन' कहते हैं उत्कृष्टतर उत्तरवचन को । जैसे कि 'विक्रमोर्वशीयम्' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'उर्वशी—जय हो महाराज ! जय हो ।

राजा—जिसकी जय तुम मनाओ उसकी जय तो है ही ।'

आदि में, पुरूरवा का जो उत्कृष्ट उत्तर है उसमें 'प्रगमन' का ही स्वरूप स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने 'प्रगमन' के बदले 'प्रगयण' नाम रखा है । किन्तु अभिप्राय एक ही है । नाट्यदर्पणकार ने 'प्रगमन' को 'प्रतिवाकश्रेणी' कहा है—

'प्रगमः प्रतिवाक्श्रेणिः—

प्रश्नप्रतिपन्थिनी वाक् प्रतिवाक् तस्याः श्रेणिः । अपकर्षतो द्वे प्रतिवचने, उत्कर्षतो बह्वन्यपि । यथा वेणीसंहारे—

भानुमती—आर्यपुत्र ! अतिमात्रं मे शङ्का बाधते ।

तदनुमन्यतां मामार्यपुत्रः ।

राजा—अयि देवि !

किं नो व्याप्तदिशां प्रकम्पितभुवामक्षौहिणीनां फलं ?
किं द्रोणेन किमङ्गराजविशिखैरेवं यदि क्लाम्यसि ।
भीरु ! भ्रातृशतस्य मे भुजवनच्छायासुखोपाश्रिता
त्वं दुर्योधनकेशरीन्द्रगृहिणी शङ्कास्पदं किं तव ?

भानुमति—आर्यपुत्र ! नहि मे किञ्चित् शङ्का युष्मासु संनिहितेषु ।'

(नाट्यदर्पण : प्रथम विवेक)

अनुवाद—'विरोध' का अभिप्राय विपत्ति का आगम है । जैसे कि 'चण्डकौशिक' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—मैंने भी विना सोचे-समझे, जैसे अन्धा आग पर पैर रख दे, जो न करना चाहिए था, वही कर डाला !'

(९ अङ्ग–पर्युपासन)

—क्रुद्धस्यानुनयः पुनः ॥ ९२ ॥

स्यात्पर्युपासनं—

यथा रत्नावल्याम्—

'विदूषकः—भो, मा कुप्य । एसा हि कदलीघरन्तरं गदा' [भोः मा कुप्य एषा हि कदलीगृहान्तरं गता] इत्यादि ।

(१० अङ्ग–पुष्प)

—पुष्पं विशेषवचनं मतम् ।

यथा तत्रैव—'(राजा हस्ते गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति)'

विदूषकः—भो वअस्स ! एसा अपुव्वा सिरी तए समासादिदा । [भोः वयस्य ! एषा अपूर्वा श्रीस्त्वया समासादिता]

राजा—वयस्य ; सत्यम्—

श्रीरेषा, पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः ।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः ॥'

आदि में, 'विरोध' का ही स्वरूप स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने इसे 'निरोध' कहा है—

'या तु व्यसनसंप्राप्तिः स निरोधः प्रकीर्तितः ।'

(नाट्यशास्त्रः १९–७९)

नाट्यदर्पणकार इसे 'रोध' कहते हैं—'रोधोऽर्तिः–अर्तिः खेदो व्यसनमिष्टरोधाद् रोधः ।'

अनुवाद—'पर्युपासन' वह है जिसे क्रोधोपशमन के लिये अनुनय कहा गया है ।

जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'विदूषक—कोप न करो महाराज ! वह तो कदलीकुंज के भीतर चली गयी ।'

आदि में, विदूषक के द्वारा वत्सराज के कोपोपशमन के लिये जो अनुनय किया गया है वह 'पर्युपासन' है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'पर्युपासन' के बदले 'सान्त्वन' को सन्ध्यङ्ग माना है । किन्तु दोनों का अभिप्राय एक ही है । जैसे पर्युपासन को 'क्रुद्धानुनय' कहा गया है वैसे ही 'सान्त्वन' को 'क्रुद्धानुकूलन' (सान्त्वनं नाम क्रुद्धस्यानुकूलनम्) ।

अनुवाद—'पुष्प' का अभिप्राय 'विशेष वचन' अर्थात् चित्ताकर्षक वचनविन्यास है ।

जैसे कि 'रत्नावली' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'(राजा हाथ में सागरिका को पकड़कर स्पर्शानन्द का अभिनय करता है)'

विदूषक—प्रियवयस्य ! तुम्हारे हाथ तो एक अपूर्व लक्ष्मी लग गयी ।

राजा—मित्र ! तुमने ठीक कहा—

यह वस्तुतः लक्ष्मी है और इसके हाथ वस्तुतः पारिजात-पल्लव हैं, अन्यथा स्वेद-बिन्दुओं के रूप में अमृत की बूँदें कहाँ से टपक पड़तीं !'

आदि में, जो चित्ताकर्षक वचनविन्यास है वह 'पुष्प' रूप प्रतिमुखसन्धि के अङ्ग का एक सुन्दर निदर्शन है ।

(११ अङ्ग-वज्र)

प्रत्यक्षनिष्ठुरं वज्रम्—

यथा तत्रैव—

'राजा—कथमिहस्थोऽहं त्वया ज्ञातः ?

सुसंगता—ण केवलं तुमं समं चित्तफलएण। ता जाव गदुअ देवीए णिवेदइस्सम्।' [न केवलं त्वं समं चित्रफलकेन। तद्यावद्गत्वा देव्यै निवेदयिष्यामि]

(१२ अङ्ग-उपन्यास)

—उपन्यासः प्रसादनम् ॥ ९३ ॥

यथा तत्रैव—

'सुसंगता—भट्टुण ! अलं सङ्काए। मए वि भट्टिणीए पसादेण कीलिदं ज्जेव एदिहिं। ता किं क्कण्णाभरणेण। अदो वि मे गरुअरो पसादो एसो, जं

नाट्यदर्पणकार ने 'पुष्प' को 'विशेषवत् वाक्य' कहा है और इसका यह अभिप्राय बताया है—

'पूर्वं स्वयमन्येन वा केनचित् प्रयुक्तं वचनमपेक्ष्य यद् विशेषयुक्तं वचनं प्रयुज्यते तेनान्येन वा तत् पूर्वस्माद् विशेषवत्। तच्च वाक्यं पुष्पमिव पुष्पम्। केशरचनायाः पुष्पमिव पूर्ववाक्यस्यालङ्कारकारित्वात्।'

(नाट्यदर्पण : प्रथम विवेक)

इससे यह स्पष्ट है कि 'इस संध्यङ्ग की योजना रूपकप्रवन्धों के कथनोपकथन (Dialogue) में वैचित्र्य के आधान के लिये की जाती है।

अनुवाद—'वज्र' कहते हैं कठोर वचन-विन्यास को।

जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसंग अर्थात्—

'राजा—मैं यहाँ हूँ–यह तुम्हें कैसे पता ?

सुसंगता—केवल अकेले ही क्यों, चित्रफलक के साथ कहिये—मैं अभी जाकर महारानी से सब बताती हूँ।'

आदि में, सुसंगता का जो कठोर वचन-विन्यास है उसमें 'वज्र' की ही रूपरेखा स्पष्ट हो रही है।

विमर्श—'वज्र' नामक संध्यङ्ग की योजना का तात्पर्य पूर्वप्रयुक्त वचन या पूर्वनिर्दिष्ट विषय के प्रध्वंसक वचन या विषय के उपन्यास का तात्पर्य है। 'वेणीसंहार' के निम्न प्रसङ्ग में इसका स्वरूप अधिक स्पष्टरूप से दिखायी पड़ता है—

'अश्वत्थामा—(कर्णमुद्दिश्य) रे रे राधागर्भभारभूत ! सूतापसद !

कथमपि न निषिद्धो दुःखिना भीरुणा वा
द्रुपदतनयपाणिस्तेन पित्रा ममाद्य।
तव भुजबलदर्पाध्मायमानस्य वामः
शिरसि चरण एष न्यस्यते वारयैनम् ॥'

अनुवाद—'उपन्यास' कहते हैं प्रसन्नताजनक वचन-विन्यास या वस्तुस्थापन को। जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'सुसंगता—महाराज ! शङ्कित होने की कोई बात नहीं। महारानी की कृपा से मुझे

तुए अहं एत्थ आलिहिदत्ति कुविदा मे पिअसही साअरिआ। एसा ज्जेव पसादीअदु।' [भर्तः अलं शङ्कया। मयापि भर्त्र्याः प्रसादेन क्रीडितमेव एतैः। तत्किं कर्णाभरणेन अतोऽपि मे गुरुतरः प्रसाद एषः, यत्त्वया अहमालिखितेति कुपिता मे प्रियसखि सागरिका। एषैव प्रसाद्यताम्]

केचित्तु—'उपपत्तिकृतो ह्यर्थ उपन्यासः स कीर्तितः।' इति वदन्ति।

उदाहरन्ति च, तत्रैव—'अदिमुहरा क्खु सा गब्भदासी' इति। [अतिमुखरा खलु सा गर्भदासी]

(१३ अङ्ग-वर्णसंहार)

चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते।

यथा महावीरचरिते तृतीयेऽङ्के—

'परिषदियमृषीणामेष वीरो युधाजित् सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्धः।
अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः प्रभुरपि जनकानामङ्ग भो याचकास्ते॥'

इत्यत्र ऋषिक्षत्त्रादीनां वर्णानां मेलनम्।

अभिनवगुप्तपादास्तु—'वर्णशब्देन पात्राण्युपलक्ष्यन्ते। संहारो मेलनम्' इति व्याचक्षते।

ऐसे आभरणों से खेल करने का अवसर मिल चुका है। मुझे कर्णाभरण नहीं चाहिये। मुझे तो आपने तभी बहुत बड़ा पारितोषिक दिया जब कि मेरा चित्र खींच लिया, जिसने मेरी प्रिय सखी सागरिका को मुझसे नाराज कर रखा है। आप उसी को प्रसन्न करें।

आदि में, जो प्रसादजनक वचनविन्यास है उसमें 'उपन्यास' का ही स्वरूप स्पष्ट हो रहा है।

कतिपय नाट्याचार्य 'उपन्यास' को युक्तियुक्त अर्थ का उपस्थान कहा करते हैं और इसके निदर्शन-रूप से 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'विदूषक—यह अन्तःपुर की परिचारिका, यह गर्भदासी बड़ी बातूनी है।'

को उद्धृत करते हैं।

विमर्श—'उपन्यास' के सम्बन्ध में साहित्यदर्पणकार ने जिस मतान्तर का उल्लेख किया है वह भरतमुनि का यह उपन्यास-लक्षण है—

'उपपत्तिकृतो योऽर्थं उपन्यासश्च स स्मृतः।' (नाट्यशास्त्र :)

अनुवाद—'वर्णसंहार' का अभिप्राय चातुर्वर्ण्य का एकत्र उपस्थान है।

जैसे कि 'महावीरचरित' के तृतीय अङ्क के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'यह ऋषिसभा विराज रही है, ये वीर महाराज युधाजित् अपने अमात्यवर्ग के साथ विराज रहे हैं, ये अङ्गराज वयोवृद्ध लोमपाद विराजमान हैं, ये महायाज्ञिक ब्रह्मवादी जनकवंशी महाराज सीरध्वज उपस्थित हैं। और सब के सब आपके याचक बने आये हुये हैं।'

आदि में, ऋषिओं, राजाओं आदि सभी वर्णवाले लोगों का जो एकत्र सम्मेलन उपनिबद्ध है, उसमें 'वर्णसंहार' की ही रूपरेखा झलक रही है।

किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त ने 'वर्ण' का अभिप्राय 'नाटकीय पात्र' और 'संहार' का

उदाहरन्ति च रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के–'अदो वि मे अअं गुरुअरो पसादो–' [अतोऽपि मे अयं गुरुतरः प्रसादः]

इत्यादेरारभ्य 'णं हत्थे गेण्हिअ पसादेहि णम्। [ननु हस्ते गृहीत्वा प्रसादय एनाम्]

राजा—काऽसौ' इत्यादि।

(गर्भसन्धि के १३ अङ्ग–निर्देश)

अथ गर्भाङ्गानि—

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः ॥ ९४ ॥
संग्रहश्चानुमानं च प्रार्थना क्षिप्तिरेव च।
त्रो(तो)टकाधिबलोद्वेगा गर्भे स्युर्विद्रवस्तथा ॥ ९५ ॥

अभिप्राय 'सम्मेलन' बताया है और इस 'वर्णसंहार' (नाटकीय पात्र-सम्मेलन) के उदाहरण रूप में, 'रत्नावली' के द्वितीय अङ्क में—

'सुसंगता—इससे भी बढ़कर मेरे लिये यही प्रसाद है।'

आदि संदर्भ से लेकर 'महाराज! हाथ में लीजिये इन्हें प्रसन्न कीजिये। राजा—वह कहाँ है, कहाँ है?' आदि संदर्भ तक का वस्तुवर्णन दिया है।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि का वर्णसंहार–लक्षण यह है—

'चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते' (नाट्यशास्त्र : १९, ८२)

जिसे 'अभिनवभारती'कार अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'चातुर्वर्ण्यशब्देन पात्राण्युपलक्ष्यन्ते। तेन यत्र पात्राणि पृथक् स्थितान्यपि ढौक्यन्ते स वर्णसंहारः। उपाध्यायस्त्वाहुः-इह वीरप्रधाने तावन्नायकप्रतिनायकौ तत्सचिवौ च प्रधानत्वेन वर्ण्यन्त इति वर्णाः कामप्रधानेऽपि नायको नायिका तत्सचिवौ चेति।

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टय के मेलन में 'वर्णसंहार' मानने वालों पर कटाक्ष भी किया है—

'यत्तु ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टयमेलनमिति तदफलत्वादनादृत्यमेव।'

किन्तु आश्चर्य है कि साहित्यदर्पणकार को 'वर्णसंहार' का यह विवेचन अभिप्रेत नहीं।

अनुवाद—गर्भसन्धि के ये १३ अङ्ग हैं—(१) अभूताहरण, (२) मार्ग, (३) रूप, (४) उदाहरण, (५) क्रम, (६) संग्रह, (७) अनुमान, (८) प्रार्थना, (९) क्षिप्ति, (१०) त्रोटक (अथवा तोटक), (११) अधिबल, (१२) उद्वेग और (१३) विद्रव।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'मुख' और 'प्रतिमुख' सन्धिओं के अङ्गों की ही भाँति 'गर्भ-सन्धि' के भी अङ्गों का लक्षण-निर्देश और परिगणन 'दशरूपक' के ही आधार पर किया है। नाट्यदर्पणकार ने, 'अभिनवभारती' के अनुसरण में, गर्भसन्धिके इन आठ अङ्गों को तो नाटकीय इतिवृत्त की उपयोगिता की दृष्टि से उपयुक्त बताया है—

संग्रहो रूपमनुमा प्रार्थनोदाहृतिः क्रमः।
उद्वेगो विद्रवश्चैतद् गुणतः कार्यमष्टकम् ॥'

और इन पांच अङ्गों को अनिवार्य माना है—

'आक्षेपोऽधिबलं मार्गोऽसत्याहरणतोटके।
पञ्चैतानि प्रधानानि गर्भेऽङ्गानि त्रयोदश ॥'

सन्ध्यङ्ग-योजना के संबन्ध में ऐसी समीक्षा उपयुक्त थी। किन्तु साहित्यदर्पणकार ने इसे छोड़ दिया है।

(१—अभूताहरण)

तत्र व्याजाश्रयं वाक्यमभूताहरणं मतम् ।

यथा अश्वत्थामाङ्के—

'अश्वत्थामा हत इति पृथासूनुना स्पष्टमुक्त्वा
स्वैरं शेषे गज इति पुनर्व्याहृतं सत्यवाचा ।
तच्छ्रुत्वाऽसौ दयिततनयः प्रत्ययात्तस्य राज्ञः
शस्त्राण्याजौ नयनसलिलं चापि तुल्यं मुमोच ॥'

(२—मार्ग)

तत्त्वार्थकथनं मार्गः—

यथा चण्डकौशिके—

'राजा—भगवन् !
गृह्यतामर्जितमिदं भार्यातनयविक्रयात् ।
शेषस्यार्थे करिष्यामि चण्डालेऽप्यात्मविक्रयम् ॥'

अनुवाद—'अभूताहरण' का अभिप्राय व्याजगर्भ वचनविन्यास है। जैसे कि (वेणी-संहार के) 'अश्वत्थामांङ्क' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'सत्यवादी पृथापुत्र (युधिष्ठिर) ने पहले से कहा—'अश्वत्थामा मारा गया' और बाद में धीरे से कहा 'हाथी'। पुत्रवत्सल द्रोण ने अश्वत्थमा की मृत्यु पर विश्वास कर लिया और शस्त्र के साथ साथ आँख के आँसू गिरा दिये।'

में, जो व्याजगर्भ वचनबन्ध है, उसमें 'अभूताहरण' का स्वरूप स्पष्ट है।

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने 'अभूताहरण' की यह परिभाषा की है—

'कपटापाश्रयं वाक्यमभूताहरणं विदुः।' (नाट्यशास्त्र : १९.८२)

इस संध्यङ्ग की योजना रूपकविशेष के रसभाव की उपयोगिता के आधार पर की जाती है। भिन्न-भिन्न रसभावसम्बन्धी रूपक-प्रबन्धों में भिन्न-भिन्न प्रकार के कपट अथवा छद्म-विषयक प्रसङ्ग उपस्थित हो सकते हैं।

अनुवाद—'मार्ग' कहते हैं प्रकृत विषय से संबद्ध होने योग्य परमार्थ वचन को। जैसे कि 'चण्डकौशिक' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'ऋषिराज ! पत्नी और पुत्र को बेचकर जो लाया हूँ उसे स्वीकार करें। जो कुछ बाकी रहे, चण्डाल के हाथ अपने आप को बेचकर पूरा करूँगा।'

में, हरिश्चन्द्र का जो प्रसंगोचित यथार्थ वचन है वह 'मार्ग' का ही निदर्शन है।

विमर्श—मार्ग' को सभी नाट्याचार्य 'तत्त्वार्थकथन' या 'तत्त्वार्थशंसन' मानते हैं। 'मार्ग' रूप सन्ध्यङ्ग की बड़ी सुन्दर योजना 'मुद्राराक्षस' के इस प्रसंग में हैं—

'राजा—(प्रविश्य स्वगतम्)

राज्यं हि नाम राजधर्मानुवृत्तिपरतन्त्रस्य भूपतेर्महदप्रीतिस्थानम्। कुतः—

परार्थानुष्ठाने रहयति नृपं स्वार्थपरता
परित्यक्तस्वार्थो नियतमयथार्थः क्षितिपतिः ।
परार्थश्चेत् स्वार्थादभिमततरो हन्त ! परवान्
परायत्तः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्ति पुरुषः ॥

(३—रूप)

—रूपं वाक्यं वितर्कवत् ॥ ६६ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'राजा—

मनः प्रकृत्यैव चलं दुर्लक्ष्यं च तथापि मे ।
कामेनैतत्कथं विद्धं समं सर्वैः शिलीमुखैः ॥'

(४—उदाहरण)

उदाहरणमुत्कर्षयुक्तं वचनमुच्यते ।

यथा अश्वत्थामाङ्के—

'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी, चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥'

अपि च दुराराध्या लक्ष्मीरात्मविद्भिरपि राजभिः । कुतः—
तीक्ष्णादुद्विजते मृदौ परिभवत्रासान्न संतिष्ठते
मूर्खं द्वेष्टि न गच्छति प्रणयितामत्यन्तविद्वत्स्वपि ।
शूरेभ्योऽप्यधिकं बिभेत्युपहसत्येकान्तभीरूनहो
श्रीर्लब्धप्रसरेव वेशवनिता दुःखोपचर्या भृशम् ॥'

यहाँ 'मार्ग' की योजना इसलिये है क्योंकि चन्द्रगुप्त का यह यथार्थवचन सामान्यरूप का होते हुए भी प्रकृत प्रसङ्ग के सर्वथा अनुकूल है ।

अनुवाद—'रूप' कहते हैं वितर्कयुक्त बचन को । जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—मन तो स्वभावतः चंचल हुआ करता है जिससे इसे निशाना बनाना असंभव है किन्तु तब भी, काम ने, एक ही साथ, अपने सभी बाणों से मेरा मन कैसे विद्ध कर दिया, कुछ समझ नहीं आता !'

में, वत्सराज का जो वितर्कयुक्त वचन है, उसमें 'रूप' का ही स्वरूप दिखायी देता है ।

विमर्श—जैसे अनियत अथवा अनिर्धारित 'आकार' को रूप कहा जाया करता है वैसे ही नानाप्रकार के अर्थों से सम्बद्ध संशय अथवा अनवधारण का उपन्यास 'रूप' नामक सन्ध्यङ्ग है । मुखसन्धि का 'युक्ति' नामक अंग भी कृत्यविपयक ऊहापोह ही है किन्तु उसमें अर्थ का आकार नियत रहा करता है जब कि प्रतिमुखसन्धि के अंगभूत 'रूप' में अनियत आकार के अर्थों के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क हुआ करता है ।

अनुवाद—'उदाहरण' कहते हैं स्वविपयक या परविपयक उत्कर्ष के सूचक वचनविन्यास को । जैसे कि 'वेणीसंहार' के 'अश्वत्थामाङ्क' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'पाण्डव-सेना के जो-जो वीर अपने बाहुबल के अभिमान में चूर, शस्त्र लिये खड़े हैं, पाञ्चाल राजवंश के जो-जो बड़े, छोटे और आगे जन्म लेने वाले राजकुमार हैं, मेरे पिता के वध को जो-जो खड़े हुये देखते रहे हैं और मेरे आगे जो-जो शत्रु-पक्ष के समर्थक हो रहे हैं, उन-उन का ही क्यों, काल का भी प्राण लेने, मैं अश्वत्थामा, अब आ ही पहुँचा !'

(५—क्रम)

भावतत्त्वोपलब्धिस्तु क्रमः स्यात्—

यथा शाकुन्तले—

'राजा—

स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि ।

तथाहि—

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः ।
पुलकाञ्चितेन कथयति मय्यनुरागं कपोलेन ॥'

(६—संग्रह)

—संग्रहः पुनः ॥ ९७ ॥

सामदानार्थसंपन्नः—

यथा रत्नावल्याम्—

'राजा—साधु वयस्य ! इदं ते पारितोषिकम् ।' (इति कटकं ददाति) ।

आदि में, अश्वत्थामा का जो स्वोत्कर्षसूचक वचन है उसमें 'उदाहरण' की बड़ी सुन्दर योजना है ।

विमर्श—'उदाहरण' का तात्पर्य उत्कर्ष का आहरण अथवा अभिव्यञ्जन है (उदाहृतिः समुत्कर्षः)

अनुवाद--'भाव' अर्थात् पराभिप्राय अथवा भावी अर्थ के निर्णय को 'क्रम' नामक सन्ध्यङ्ग कहा गया है । जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्--

'राजा--प्रियतमा शकुन्तला को, निर्निमेष नयनों से देखना, मेरे लिये सर्वथा उचित है क्योंकि--

पद-रचना में चिन्तामग्न मेरी प्रिया का यह मुख, जिसकी शोभा एक भौंह के ऊपर उठे रहने के कारण विचित्र लग रही है और जिसमें आनन्द के रोमाञ्च उठते जा रहे हैं, अपने कपोलफलक से मेरे प्रति अनुराग की सूचना सा दे रहा है ।'

आदि में, दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तलागत भाव का जो उन्नयन है उसमें 'क्रम' की रूपरेखा स्पष्ट है ।

विमर्श--साहित्यदर्पण की तर्कवागीशी, लक्ष्मी तथा विमला व्याख्याओं में 'भाव' का अभिप्राय नायक-नायिका का स्वभावज अलङ्कार '(निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया) माना गया है जो कि सर्वथा अप्रासङ्गिक है । यहाँ 'भाव' का अर्थ 'अभिप्राय' अथवा 'भावी अर्थ' है जिसका ऊहापोह अथवा प्रतिभादि द्वारा उन्नयन 'क्रम' नामक संध्यङ्ग की रूपरेखा है । क्रमो भावस्य निर्णयः--भावस्य पराभिप्रायस्याथवा भाव्यमानस्यार्थस्योहप्रतिभाऽऽदिवशान्निर्णयो यथावस्थितरूपनिश्चयः क्रमः । बुद्धिस्तत्र क्रमते न प्रतिहन्यत इत्यर्थः ।

अनुवाद--'संग्रह' का तात्पर्य साम, दान, आदि के द्वारा अभीष्ट अर्थ का लाभ है । जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्

'राजा – प्रियवयस्य ! लो यह पारितोषिक (और अपना रत्नवलय दे देता है) ।'

आदि में, जो सन्ध्यङ्ग है वह 'संग्रह' रूप ही है ।

विमर्श—'संग्रह' का अभिप्राय साम-दान-दण्ड-भेद आदि की योजना का अभिप्राय है । किसी भी रसभावविशिष्ट रूपक प्रबन्ध में इसकी यथास्थान योजना सभव है ।

(७—अनुमान)

—लिङ्गादूहोऽनुमानता।

यथा जानकीराघवे नाटके—

'रामः—

लीलागतैरपि तरङ्गयतो धरित्रीमालोकनैर्नमयतो जगतां शिरांसि।
तस्यानुमापयति काञ्चनकान्तिगौरकायस्य सूर्यतनयत्वमधृष्यतां च॥'

(८—प्रार्थना)

रतिहर्षोत्सवानां तु प्रार्थनं प्रार्थना भवेत्॥ ९८॥

यथा रत्नावल्याम्—

'प्रिये सागरिके!

शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ, पद्मानुकारौ करौ,
रम्भास्तम्भनिभं तथोरुयुगलं, बाहू मृणालोपमौ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि! रभसान्निःशङ्कमालिङ्ग्य मा-
मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय॥'

इदं च प्रार्थनाख्यमङ्गम्। यन्मते निर्वहणे भूतावसरत्वात्प्रशस्तिनामाङ्गं नास्ति तन्मतानुसारेणोक्तम्, अन्यथा पञ्चषष्टिसंख्यत्वप्रसङ्गात्।

अनुवाद—'अनुमान' कहते हैं किसी साधन विशेष के आधार पर किसी साध्यविशेष के ज्ञान को। जैसे कि 'जानकीराघव' नाटक के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राम—परशुराम की यह विलासपूर्ण चाल, जिससे पृथिवी कांप उठी है, परशुराम की यह दृष्टि जिससे संसार के सिर नीचे झुक रहे हैं और परशुराम की यह दिव्य देह, जिससे काञ्चन की कान्ति भी फीकी लग रही है, बस इन सबसे यही सूचित होता है कि या तो ये सूर्यपुत्र हैं या सर्वथा अप्रधृष्य महामानव!'

विमर्श—'अनुमान' तो हेतुपूर्वक साध्यनिश्चय है और 'युक्ति' का अभिप्राय ऊह है। इस लिये दोनों संध्यङ्ग भिन्न-भिन्न हैं।

अनुवाद—'प्रार्थना' का तात्पर्य परस्पर प्रेममिलन, प्रहर्ष तथा प्रमोदजनक पदार्थ की याचना है। जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—प्रिये सागरिके!

तेरे तो अङ्ग-प्रत्यङ्ग आह्लाद के ही जनक हैं—तेरा मुख चन्द्रमा है, तेरे नयन नील-कमल हैं, तेरे हाथ पद्म हैं, तेरे ऊरुयुगल कदलीस्तम्भ हैं, और तेरी भुजायें मृणालोपम कोमल हैं। और कामपीडित मेरा यह शरीर तेरे बिना कितना संतप्त है। तू आ जा और अपने आलिङ्गन से मुझे शान्ति पहुँचा जा।'

आदि में, वत्सराज की सागरिका के आलिङ्गन के लिये जो याचना है उसमें इस 'प्रार्थना' नामक सन्ध्यङ्ग की रूपरेखा स्पष्ट है।

गर्भसन्धि का यह 'प्रार्थना' नामक अङ्ग वस्तुतः यहां मतान्तर के रूप में ही निर्दिष्ट किया गया है क्योंकि जो नाट्याचार्य निर्वहणसन्धि में 'प्रशस्ति' नामक अङ्ग को अतिरिक्त अंग नहीं मानते, क्योंकि उनके अनुसार 'प्रार्थना' से ही 'प्रशस्ति' का अभिप्राय गतार्थ हो चुका होता है, उनके लिये यहाँ 'प्रार्थना' की मान्यता अनिवार्य है। 'प्रार्थना' के

(९—क्षिप्ति)

रहस्यार्थस्य तद्भेदः क्षिप्तिः स्यात्—

यथाश्वत्थामाङ्के—

'एकस्यैव विपाकोऽयं दारुणो भुवि वर्तते।
केशग्रहे द्वितीयेऽस्मिन्नूनं निःशेषिताः प्रजाः॥'

(१०—त्रोटक)

—त्रो(तो)टकं पुनः।

संरब्धवाक्—

यथा चण्डकौशिके—

'कौशिकः—आः,पुनः कथमद्यापि न सम्भूता स्वर्णदक्षिणा।'

अतिरिक्त 'प्रशस्ति' को भी सन्ध्यङ्ग मानने से तो सध्यङ्गों की संख्या ६५ हो जायगी, इसलिये 'प्रार्थना-वादी' नाट्याचार्यों के लिए 'प्रशस्ति' को अतिरिक्त संध्यङ्ग मानना आवश्यक नहीं।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने गर्भसन्धि के इस अङ्ग को माना है और इसका यह लक्षण किया है—

'प्रार्थना भावयाचनम्—
भावानां साध्यफलोचितानां रति-हर्षोत्सवादीनां याचनं प्रार्थना।'

(नाट्यदर्पण : १ म विवेक)

अनुवाद—'क्षिप्ति' वह है जिसे रहस्यात्मक इतिवृत्त की सूचना कहा गया है। जैसे कि 'वेणीसंहार' के 'अश्वत्थामाङ्क' में—

'जो कुछ हो चुका वह तो केवल द्रौपदी के केशाकर्षण का भयङ्कर परिणाम रहा और द्रोण के केशाकर्षण से अब जो होने जा रहा है वह संसार के विनाश से कम अनर्थपूर्ण कदापि न होगा।'

आदि रूप में, भावी अश्वत्थामाविषयक इतिवृत्त की जो सूचना है उसमें 'क्षिप्ति' नामक संध्यङ्ग का ही स्वरूप स्पष्ट है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'क्षिप्ति' को 'आक्षेप' कहा है और इसका यह लक्षण किया है—

'आक्षेपो बीजप्रकाशनम्—
प्राप्त्याशावस्थानिबद्धस्य बीजस्य मुखकार्योपायस्य प्रकाशनं प्रकर्षेणाविर्भावनमाक्षेपः।'

वस्तुतः रहस्यरूप इतिवृत्त का प्रकाशन प्राप्त्याशावस्था के बीज का ही प्रकाशन है अन्य कुछ नहीं।

अनुवाद—'त्रोटक' (अथवा तोटक) का तात्पर्य क्रोधाभिव्यञ्जक वचनविन्यास का है। जैसे कि 'चण्डकौशिक' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'कौशिक—ओह ! फिर तुमने कहा कि अभी तक मेरी स्वर्णदक्षिणा तुम न जुटा पाये ?' आदि में कौशिक-विश्वामित्र का जो रोषपूर्ण वचनविन्यास है उसमें 'त्रोटक' की योजना स्पष्ट है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'तोटक' की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है—

'तोटकं गर्भितं वचः—
क्रोध-हर्षादिसम्भूतावेगगर्भितं वचनं तोटयति भिनत्ति हृदयमिति तोटकम्।'

(११ अधिबल)

—अधिबलमभिसंधिच्छलेन यः ॥ ९९ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'काञ्चनमाला—भट्टिणि, इयं सा चित्तसालिआ। वसन्तअस्स सण्णं करोमि' [भर्त्रि ! इयं सा चित्रशालिका, तद्यावद्वसन्तस्य संज्ञां करोमि ।] इत्यादि ।

(१२—उद्वेग)

नृपादिजनिता भीतिरुद्वेगः परिकीर्तितः ।

यथा वेण्याम्—

'प्राप्तावेकरथारूढौ पृच्छन्तौ त्वामितस्ततः ।
स कर्णारिः स च क्रूरो वृककर्मा वृकोदरः ॥'

(१३—विद्रव)

शङ्काभयत्रासकृतः सम्भ्रमो विद्रवो मतः ॥ १०० ॥

अनुवाद—'अधिबल' का अभिप्राय किसी व्याज से किसी के अभिप्राय का अन्वेषण है। जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

काञ्चनमाला महारानी ! यह रही चित्रशाला। अब मैं वसन्तक को इशारा करती हूँ।' आदि में, जो संध्यङ्ग है वह 'अधिबल' है।

विमर्श—नाट्याचार्यों में 'अधिबल' के स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। कोई 'अधिबल' को 'अधिकबलयोग' मानते हैं तो कोई इसे 'कपट का अन्यथाभाव' कहते हैं। किसी-किसी नाट्याचार्य ने 'सोपालम्भवाक्य' को अधिबल कहा है जिसका बड़ा सुन्दर उदाहरण यह है—

'भीमसेनः (धृतराष्ट्रमुद्दिश्य) अलमिदानीं मन्युना—

कृष्टा केशेषु भार्या नृपसदसि वधूः पाण्डवानां नृपैर्यैः
सर्वे ते क्रोधवह्नौ कृशशलभकुलावज्ञया येन दग्धाः ।
आर्त्तस्त्वां श्रावयेऽहं न खलु भुजबलश्लाघया नापि दर्पात्
पुत्रैः पौत्रैश्च कर्मण्यतिगुरुणि कृते तात ! साक्षी भव त्वम् ॥'

अनुवाद—'उद्वेग' का अभिप्राय किसी कारणवश उत्पन्न भय का अभिप्राय है। जैसे कि वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'एक रथ पर आरूढ और तुम्हें पता लगाते वे दोनों आ रहे हैं जिनमें एक तो कर्ण का घातक है और दूसरा क्रूर वृकोदर है।
आदि में, जो संध्यङ्ग है वह 'उद्वेग' है।

विमर्श—'उद्वेग' भयकी उपस्थिति का नाम है भय का कारण जो भी हो, उसके उपस्थान का वर्णन 'उद्वेग' है। श्रृङ्गाररसप्रधान रूपक में प्रतिनायिका की उपस्थिति में भयवर्णन 'उद्वेग' होगा और अन्यरसविषयक रूपकों में अन्य प्रकार के भय का वर्णन 'उद्वेग' माना जायगा।

अनुवाद—'विद्रव' का तात्पर्य शङ्का, भय और त्रास से सम्भूत संभ्रम अथवा चित्त की व्याकुलता है। जैसे कि इस संदर्भ अर्थात्—

'कालान्तककरालास्यं क्रोधोद्भूतं दशाननम् ।
विलोक्य वानरानीके सम्भ्रमः कोऽप्यजायत ॥'

(विमर्शसन्धि के १३ अङ्ग : निर्देश)

अथ विमर्शाङ्गानि—

अपवादोऽथ संफेटो व्यवसायो द्रवो द्युतिः ।
शक्तिः प्रसङ्गः खेदश्च प्रतिषेधो विरोधनम् ॥ १०१ ॥
प्ररोचना विमर्शे स्यादादानं छादनं तथा ।

(१—अपवाद)

दोषप्रख्यापवादः स्यात्—

यथा वेण्याम्—

'युधिष्ठिरः—पाञ्चालक ! कच्चिदासादिता तस्य दुरात्मनः कौरव्यापसदस्य पदवी ।

पाञ्चालकः—न केवलं पदवी, स एव दुरात्मा देवीकेशपाशस्पर्शपातकप्रधानहेतुरुपलब्धः ।'

'काल की भाँति विकराल मुखवाले और क्रोध में पागल दशानन को देखते ही वानरसेना में भगदड़ मच गयी ।'
आदि में जो संभ्रमवर्णन है उसमें 'विद्रव' की ही रूपरेखा स्पष्ट है ।

विमर्श—नाटयदर्पणकार ने 'विद्रव' की यह सुन्दर व्याख्या की है—

'भयत्रासकारिणो वस्तुनो या शङ्काऽपायकारकत्वसंभावना सा द्रवति श्लथीभवति हृदयमनेनेति द्रवः (विद्रवः) । उपनतं भयमुद्वेगः, तत्संभावना तु विद्रवः ।'
अर्थात् भयङ्कर वस्तु की संभावना तो 'विद्रव' है और ऐसी वस्तु की उपस्थिति 'उद्वेग' है। इससे 'विद्रव' और 'उद्वेग' का भेद स्पष्ट है ।

अनुवाद--'विमर्श' सन्धि के ये १३ अङ्ग हैं—(१) अपवाद, (२) संफेट, (३) व्यवसाय, (४) द्रव, (५) द्युति, (६) शक्ति, (७) प्रसङ्ग, (८) खेद, (९) प्रतिषेध, (१०) विरोधन, (११) प्ररोचना, (१२) आदान और (१३) छादन ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने यहाँ यह विचार छोड़ दिया कि द्रव, प्रसङ्ग, सम्फेट, अपवाद, छादन, द्युति, खेद, निरोध और संरम्भ की तो प्रयोजनवश योजना हुआ करती है और शक्ति, प्ररोचना, आदान और व्यवसाय इस सन्धि के प्रमुख अङ्ग हैं ।

अनुवाद—'अपवाद' कहते हैं दोष के प्रख्यापन को। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'युधिष्ठिर—पाञ्चालक ! क्या तुझे उस कौरवाधम दुर्योधन के रहने-सहने का कुछ पता मिला ?

पाञ्चालक—महाराज ! केवल रहने-सहने का ही क्यों, यह कहिये कि देवी द्रौपदी के केशाकर्षण का वह महापापी ही मिल गया ।'
आदि में, जो सन्ध्यङ्ग है वह 'अपवाद' ही है ।

विमर्श—'अपवाद' नामक सन्ध्यङ्ग की योजना वहाँ की जाया करती है जहाँ स्वविषयक

(२—संफेट)

—संफेटो रोषभाषणम् ॥ १०२ ॥

यथा तत्रैव—

'दुर्योधन—अरे रे मरुत्तनय! वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निन्दितमप्यात्मकर्म श्लाघसे। शृणु रे—

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी।
तस्मिन् वैरानुबन्धे वद किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्वोर्वीर्यातिभारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः॥

भीमः—(सक्रोधम्) आः पाप।

दुर्योधन—आः पाप।' इत्यादि।

(३—व्यवसाय)

व्यवसायश्च विज्ञेयः प्रतिज्ञाहेतुसंभवः।

यथा तत्रैव—

'भीमः—

निहताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा।
भङ्क्त्वा दुर्योधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसा नतः॥'

अथवा परविषयक दोष के उद्घाटन का प्रसङ्ग आया करता है। किसी भी रसभावविषयक रूपक-प्रवन्ध में इसकी यथोचित योजना संभव है।

अनुवाद--'संफेट' कहते हैं रोषपूर्वक भाषण को। जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'दुर्योधन—अरे नीच भीमार्जुन! क्या तुम्हें वयोवृद्ध महाराज के आगे भी अपने नीच कृत्यों पर घमण्ड हो रहा है—लो, सुन लो।

मुझ भुवनपति की आज्ञा से, राज-सभा के समक्ष, तुझ पशु (भीम) के समक्ष और तेरे (अर्जुन के) भी समक्ष, उस तुम्हारे राजा और उन तुम्हारे दोनों अनुजों के समक्ष, सभी के समक्ष, मेरी द्यूतदासी, तेरी स्त्री के केश खींचे गये तो हुआ क्या? हमारी-तुम्हारी शत्रुता में, उन हजारों राजाओं का क्या अपराध जो लड़ाई में मारे गये? अरे, अभी क्या घमण्ड करते हो, अभी तो बाहुबल का महाधनी, मैं, दुर्योधन बचा हूँ, विना मुझे हराये यह घमण्ड?

भीम—(क्रुद्ध होकर) अरे पापी!

दुर्योधन—अरे पापी!'

आदि में, दुर्योधन और भीम का जो रोषभाषण है उसमें 'संफेट' का ही स्वरूप झलक रहा है।

विमर्श—'संफेट' वस्तुतः ऐसा उत्तर-प्रत्युत्तर है जो क्रोध का अभिव्यञ्जक हुआ करता है। इसकी योजना अर्थप्रधान वीरभावविषयक रूपक-प्रवन्धों की विशेषता है।

अनुवाद—'व्यवसाय' कहते हैं हेतु के साथ-साथ कार्य के निर्देश को। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—महाराज! कौरववंश के विनाशक, दुःशासन के रक्त से सने और दुर्योधन के जंघाद्वय के भंजक, इस भीम का, सिर झुकाकर, आपको प्रणाम स्वीकार हो।'

(४—द्रव)

द्रवो गुरुव्यतिक्रान्तिः शोकावेगादिसम्भवा ॥ १०३ ॥

यथा तत्रैव—

'युधिष्ठिरः—भगवन्! कृष्णाग्रज! सुभद्राभ्रातः!
ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता, क्षत्रियाणां न धर्मो
रूढं सख्यं तदपि गणितं नानुजस्यार्जुनेन।
तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः
कोऽयं पन्था यदसि विमुखो मन्दभाग्ये मयि त्वम्॥'

(५—द्युति)

तर्जनोद्वेजने प्रोक्ता द्युतिः—

यथा तत्रैव दुर्योधनं प्रति कुमारवृकोदरेणोक्तम्—

'जन्मेन्दोर्विमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदां
मां दुःशासनकोष्णशोणितमधुक्षीबं रिपुं मन्यसे।
दर्पान्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धतं चेष्टसे
त्रासान्मे नृपशो! विहाय समरं पङ्केऽधुना लीयसे॥'

आदि में, जो भीम का वचन है उसमें 'व्यवसाय' का स्वरूप स्पष्ट है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'व्यवसाय' का यह लक्षण किया है—

'व्यवसायोऽर्थहेतुयुक्—

युगिति योजनं युक्। अर्थनीयफलस्य हेतुस्तद्योगो व्यवसायः।

अर्थात् अभिलषित वस्तु की प्राप्ति के लिये जो समुचित उपायबन्ध है वह 'व्यवसाय' है।

अनुवाद—'द्रव' कहते हैं शोकावेग अथवा क्रोधावेग आदि के कारण, पूज्य व्यक्ति के प्रति, अनादर भाव के प्रदर्शन को। जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'युधिष्ठिर—भगवन्! कृष्णाग्रज! सुभद्राभ्रातः!

आपने इसका भी ध्यान न रखा कि हम सब सम्बन्धी हैं, क्षात्रधर्म भी आप भूल पड़े, अर्जुन के साथ, अपने अनुज (कृष्ण) के मित्रभाव पर भी आपका ध्यान न गया, आप यह भी भूल गये कि दुर्योधन और भीम—दोनों ही आपके समान गुरुस्नेह के अधिकारी हैं, अधिक क्या कहूँ, ऐसा लगता है जैसे मेरा दुर्भाग्य ही आपको अमार्ग पर अग्रसर कर रहा हो।'

आदि में, शोकाविष्ट युधिष्ठिर द्वारा बलराम के अनादर का जो वर्णन है उसमें 'द्रव' का स्वरूप स्पष्ट है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने भी 'द्रव' को 'पूज्यव्यतिक्रम' ही माना है किन्तु 'पूज्यव्यतिक्रम' का अभिप्राय पूजनीय व्यक्ति का अनादर न लेकर 'पूज्यव्यक्ति द्वारा 'मार्गभ्रंश' लिया है।

अनुवाद—'द्युति' का अभिप्राय किसी की भर्त्सना करना अथवा किसी को भयभीत करना आदि है। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

(कुमार वृकोदर अर्थात् भीम की दुर्योधन के प्रति उक्ति)

'अरे दुर्योधन! आज भी तू अपने को चन्द्रवंश का राजकुमार मान रहा है। आज भी तू गदा धारण कर रहा है। आज भी तू दुःशासन के उष्ण रक्त-पान से मत्त मुझे

(६—शक्ति)

—शक्तिः पुनर्भवेत् ।

विरोधस्य प्रशमनम्—

यथा तत्रैव—

'कुर्वन्त्वाप्ता हतानां रणशिरसि जना भस्मसाद् देहभारा-
नश्रून्मिश्रं कथञ्चिद्ददतु जलममी बान्धवा बान्धवेभ्यः ।
मार्गन्तां ज्ञातिदेहान् हतनगगहने खण्डितान् गृध्रकङ्कै-
रस्तं भास्वान् प्रयातः सह रिपुभिरयं संह्रियन्तां बलानि ॥'

(७—प्रसङ्ग)

—प्रसङ्गो गुरुकीर्त्तनम् ॥ १०४ ॥

यथा मृच्छकटिकायाम्—

'चाण्डालकः—एसो क्खु सागलदत्तस्स सुदो अज्जविस्सदत्तस्स णत्तिओ

अपना शत्रु समझ रहा है। आज भी तू मधुसूदन, कैटभारि कृष्ण के प्रति उद्दण्डता दिखा रहा है। अरे नरपशु! तो फिर सामने आ जा। मेरे डर से, संग्राम से भागकर, जलाशय-पंक में क्यों छिपा है?'

आदि में, दुर्योधन की जो भर्त्सना है उसमें 'द्युति' की रूपरेखा स्पष्ट है।

विमर्श—'द्युति' में तर्जन और उद्वेजन, भर्त्सना और धर्षण, साक्षात् अथवा असाक्षात् अनादर और अपमान सब कुछ अन्तर्भूत है। इस संध्यङ्ग की योजना वीररसप्रधान रूपकों का सौन्दर्य है। इतिवृत्त-विकास और चरित्र-चित्रण, दोनों के लिये इस संध्यङ्ग की आवश्यकता है।

अनुवाद—'शक्ति' कहते हैं विरोध के प्रशमन को। जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'अब संग्राम समाप्त हुआ, अब सगे-सम्बन्धी अपने मृत सगे-सम्बन्धियों की अन्त्येष्टि-क्रिया में लग जायँ, अब बन्धु-बान्धव अपने दिवंगत बन्धु-बान्धवों के लिये आँसू से भरे तर्पण प्रारम्भ कर दें, अब इष्ट-मित्र, गिद्धों और कौवों से नोची-खसोटी अपने मृत इष्ट-मित्रों की देह, मुर्दों के इस जंगल से, ढूँढ़ निकालें। अब शत्रुसंताप के साथ-साथ भगवान् भास्कर भी अस्त हो चुके, अब सेनायें संग्राम से छुट्टी पा जाँय।'

आदि में, कुरु-पाण्डव-विरोध का जो प्रशमन-वर्णन है, उसमें इस 'शक्ति' की ही झलक दिखायी दे रही है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'शक्ति' को विरोध का प्रशमन न मानकर 'क्रुद्धप्रसादन' माना है—

'क्रुद्धप्रसादनं शक्तिः। क्रुद्धस्य प्रसादनमनुकूलनं बुद्धिविभवादिशक्तिकार्यत्वेन सा शक्तिः। यदि वा क्रुद्धस्य द्विषतः प्रकर्षेण सादनं विनाशनं शक्तिः।'

और 'क्रुद्धप्रसादन' को इसलिये 'शक्ति' कहा है क्योंकि बुद्धि-शक्ति से क्रुद्ध व्यक्ति को शान्त किया जा सकता है। क्रुद्ध व्यक्ति का विनाश भी 'क्रुद्धप्रसादन' का एक अभिप्राय है।

अनुवाद—'प्रसङ्ग' का अभिप्राय पूजनीय पुरुष का गुणवर्णन है—

जैसे कि 'मृच्छकटिक' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'चाण्डालक—ये रहे श्रीसागरदत्त के पुत्र, आर्य विश्वदत्त के पोता चारुदत्त, जो फाँसी

चालुदत्तो वावादिदुं वज्झट्ठाणं णिज्जइ। एदेण किल गणिआ वसन्तसेणा सुअण्णलोहेण वावादिदेत्ति [एषु खलु सागरदत्तस्य सुतः आर्यविश्वदत्तस्य नप्ता चारुदत्तो व्यापादयितुं वध्यस्थानं नीयते। एतेन किल गणिका वसन्तसेना सुवर्णलोभेन व्यापादिता]।

चारुदत्तः—(सनिर्वेदं स्वगतम्)

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात्।
मम निधनदशायां वर्त्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ॥'

इत्यनेन चारुदत्तवधाभ्युदयानुकूलप्रसङ्गाद् गुरुकीर्त्तनमिति प्रसङ्गः।

(८—खेद)

मनश्चेष्टासमुत्पन्नः श्रमः खेद इति स्मृतः।

मनःसमुत्पन्नो यथा मालतीमाधवे—

'दलति हृदयं गाढोद्वेगो द्विधा न च भिद्यते
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः, करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी, न कृन्तति जीवितम् ॥'

एवं चेष्टासमुत्पन्नोऽपि।

के लिये वध्यभूमि पर ले जाये जा रहे हैं। धनलोभ के कारण गणिका वसन्तसेना की हत्या इनका अपराध है।

चारुदत्त (निर्विण्ण होकर, स्वगत)—

ओह ! कहाँ मेरा सैकड़ों यज्ञकर्मों के सम्पादन से परम पुनीत प्रसिद्ध वंश जिसकी प्रशंसा में मन्दिरों और चैत्यों में वेदध्वनियाँ गूँजती रहीं। लेकिन, अब मरणासन्न मुझे देख-देख यह नीच चाण्डाल, मेरे अपराध की घोषणा के साथ-साथ मेरे पुनीत वंश पर कलंक लगा रहा है।'

आदि में, वध-घोषणा के साथ-साथ चारुदत्त का जो गौरव-वर्णन है, उसमें 'प्रसङ्ग' का स्वरूप स्पष्ट दिखायी दे रहा है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने भी 'प्रसङ्ग' को महापुरुष-संकीर्तन ही कहा है—

'प्रसङ्गो महतां कीर्तिः—
कीर्तिः संशब्दनम्।'

अनुवाद—'खेद' कहते हैं शोक आदिरूप मन अथवा शरीर के व्यापारों के कारण समुत्पन्न परिश्रम को।

जैसे कि 'मानसखेद' का 'मालतीमाधव' में यह वर्णन—

'प्यारी मालती के विरह का शोकावेग, मेरा हृदय विदीर्ण कर रहा है, लेकिन तब भी यह फटता नहीं। यह व्याकुल शरीर मूर्च्छित हो रहा है, लेकिन तब भी होश बाकी है। भीतर की जलन शरीर को जला रही है, लेकिन तब भी यह जलकर राख नहीं हुआ। दुर्भाग्य मर्मान्तक चोट कर रहा है, लेकिन तब भी प्राण बाकी है।'

इसी भाँति, चेष्टासंभूत 'खेद' का उदाहरण ढूंढ लिया जा सकता है।

(९—प्रतिषेध)

ईप्सितार्थप्रतीघातः प्रतिषेध इतीष्यते ।

यथा मम प्रभावत्यां विदूषकं प्रति—

'प्रद्युम्नः—सखे ! कथमिह त्वमेकाकी वर्त्तसे ? क नु पुनः प्रियसखीजनानुगम्यमाना प्रियतमा मे प्रभावती ?

विदूषकः—असुरवइणा आआरिअ कहिं वि णीदा [असुरपतिना आकार्य कुत्रापि नीता]।

प्रद्युम्नः—(दीर्घं निःश्वस्य)

हा पूर्णचन्द्रमुखि ! मत्तचकोरनेत्रे !
मामानताङ्गि ! परिहाय कुतो गतासि ?
गच्छ त्वमद्य ननु जीवित ! तूर्णमेव
दैवं कदर्थनपरं कृतकृत्यमस्तु ॥'

(१०—विरोधन)

कार्यात्ययोपगमनं विरोधनमिति स्मृतम् ॥

यथा वेण्याम्—

'युधिष्ठिरः—

तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्ये च याते दिवम् ।
भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः ॥'

विमर्श—'खेद' का अभिप्राय सभी नाट्याचार्य कायिक अथवा मानसिक परिश्रम ही मानते हैं। यद्यपि कायिक अथवा मानसिक श्रम व्यभिचारिभावों में गिना जाता है किन्तु रसविशेष के परिपोष के लिए इसे संध्यङ्ग भी मान लिया गया है।

अनुवाद—'प्रतिषेध' का अभिप्राय अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति में विघ्नबाधा का अभिप्राय है। जैसे कि, मेरी कृति 'प्रभावती' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'प्रद्युम्न (विदूषक से)—मित्र ! तुम यहाँ अकेले कैसे ? मेरी प्रियतमा प्रभावती और उसकी सखियाँ कहाँ गयीं ?

विदूषक—उसे तो राक्षसराज कहीं बुला ले गया।

प्रद्युम्न—(आह खींचकर)।

हा पूर्णचन्द्रमुखि ! हा मत्तचकोराक्षि ! हा सुन्दरि ! मुझे छोड़ तू कहाँ चल पड़ी ? मेरे प्राण ! तू भी शीघ्र चल बस। मेरा दुर्भाग्य अब आनन्द मनावे।'
आदि में, जो सन्ध्यङ्ग है वह प्रतिषेध ही है।

अनुवाद—'विरोधन' का अभिप्राय किसी कर्त्तव्य में विघ्नोपस्थापन है। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'युधिष्ठिर-भीष्मपराक्रमरूप सागर भी पार कर चुके, द्रोणरूप अग्नि भी बुझ चुकी, कर्ण सा विषधर भी मर चुका और शल्य सा शूर भी स्वर्ग पहुँचा दिया गया। विजय

(११—प्ररोचना)

प्ररोचना तु विज्ञेया संहारार्थप्रदर्शिनी ॥ १०६ ॥

यथा वेण्याम्—

'पाञ्चालकः—अहं देवेन चक्रपाणिना सहितः—इत्युपक्रम्य कृतं सन्देहेन।
पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते
कृष्णात्यन्तचिरोज्झिते तु कबरीबन्धे करोतु क्षणम्।
रामे शातकुठारभास्वरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ॥'

(१२—आदान)

कार्यसंग्रह आदानम्—

यथा वेण्याम्—'भो भोः समन्तपञ्चकचारिणः!
नाहं रक्षो न भूतो रिपुरुधिरजलाह्लादिताङ्गः प्रकामं
निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहनः क्रोधनः क्षत्रियोऽस्मि।

तो निश्चित ही थी लेकिन, साहसरसिक भीम ने दुर्योधन-वध की प्रतिज्ञा क्या कर ली, हम सबको प्राण-संशय में डाल दिया।'

आदि में, जो संध्यङ्ग है वह 'विरोधन' रूप ही है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'विरोधन' को 'विरोध' कहा है—

'विरोधः प्रस्तुतज्यानिः—प्रस्तुतस्य कार्यस्य ज्यानिरत्ययः विरोध इव विरोधः।'

किन्तु दोनों का अभिप्राय एक ही है।

अनुवाद—'प्ररोचना' कहते हैं अभिलषित अर्थ के ऐसे प्रदर्शन को मानो वह संपन्न हो गया हो। जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—'पाञ्चालक-मैं चक्रपाणि भगवान् कृष्ण द्वारा' आदि से लेकर, इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'अब विजय में क्या संदेह!

अब महाराज युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के लिये रत्नकलशों में जल भरा जाय; अब द्रौपदी, बहुत दिनों से न सँवारे गये अपने केशों को सँवार ले; अब जब कि तीक्ष्ण कुठार से सुशोभित भुजा वाले, क्षत्रियकानन के संहारक परशुराम और क्रोधान्ध भीम संग्राम में कूद पड़े हैं तब विजय में क्या संदेह।'

आदि तक, वेणीसंहाररूप भावी कार्य का निष्पन्न रूप से जो वर्णन है उसमें 'प्ररोचना' की योजना स्पष्ट है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'प्ररोचना' की बड़ी विशद व्याख्या की है—

'भावसिद्धिः प्ररोचना—निर्वहणसन्धौ भाविनोऽर्थस्य सिद्धिः सिद्धत्वेनोपक्रमणं, प्रकर्षेण रोच्यते दीप्यतेऽनया रूपकार्थ इति प्ररोचना।'

और इसके उदाहरण-रूप में, वेणीसंहार का ही 'पूर्यन्ताम्' आदि प्रसङ्ग उद्धृत कर यह कहा है कि इस प्रसङ्ग में 'प्ररोचना' इसलिये है क्योंकि यहाँ भविष्य में सम्पन्न होने वाले 'युधिष्ठिर-राज्याभिषेक' और 'द्रौपदीकेशसंयमन' को सम्पन्नरूप से वर्णित किया गया है।

अनुवाद—'आदान' कहते हैं 'कार्यसंग्रह' अथवा मुख्य फल के दर्शन को। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—अरे समन्तपञ्चक के रणक्षेत्र में विचरनेवालो! मैं राक्षस नहीं, मैं प्रेत नहीं,

भो भो राजन्यवीराः ! समरशिखिशिखाभुक्तशेषाः ! कृतं व-
त्रासेनानेन लीनैर्हतकरितुरगान्तर्हितैरास्यते यत् ॥'

अत्र समस्तरिपुवधकार्यस्य संगृहीतत्वादादानम्

(१३—छादन)

—तदाहुश्छादनं पुनः ।
कार्यार्थमपमानादेः सहनं खलु यद्भवेत् ॥ १०७ ॥

यथा तत्रैव—

'अर्जुनः—आर्य ! प्रसीद किमत्र क्रोधेन—

अप्रियाणि करोत्वेष वाचा शक्तो न कर्मणा ।
हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा ॥'

(निर्वहण सन्धि के १४ अङ्ग : निर्देश)

अथ निर्वहणाङ्गानि ।

सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ।
कृतिः प्रसाद आनन्दः समयोऽप्युपगूहनम् ॥ १०८ ॥
भाषणं पूर्ववाक्यश्च काव्यसंहार एव च ।
प्रशस्तिरिति संहारे ज्ञेयान्यङ्गानि नामतः ॥ १०९ ॥

मैं क्रोध का अवतार वह क्षत्रिय हूँ जिसने शत्रुरक्त में जी भरकर स्नान किया है और अपने भयङ्कर प्रणरूपी अपार पारावार को पार कर लिया है। अरे क्षत्रिय-वीरो ! अरे संग्रामानल में जलने से बचे-खुचे शूर सैनिको ! डरो मत, मुझसे डरकर हाथी-घोड़ों के शव के पीछे मत छिपो।'

आदि में शत्रुवधरूप कार्य का जो उपसंहार-वर्णन है, उसमें 'आदान' का स्वरूप स्पष्ट है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'आदान' को 'फलसामीप्य' कहा है और 'फलसामीप्य' का अभिप्राय मुख्यफल का साक्षात्कार बताया है।

अनुवाद—'छादन' कहते हैं कार्यसिद्धि के लिये अपमान आदि के सहन करने को। जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग में अर्थात्—

'अर्जुन—आर्य ! आप क्रुद्ध न हों—

इस दुर्योधन को, जो कुछ खरी-खोटी सुनानी हो, सुना लेने दीजिये। यह आपका अब क्या बिगाड़ सकता है। इसे तो, इसके सैकड़ों भाइयों की मौत रुला रही है। इसके प्रलाप से होता क्या है।'

आदि में, अपमान-सहन का जो वर्णन है उसमें 'छादन' की ही योजना है।

विमर्श—नाट्यदर्पण के अनुसार छादन 'मन्युमार्जन' अथवा 'अपमानसहन' है—

'छादनं मन्युमार्जनम्—

मन्युरपमानो येन मार्ज्यते तत् छादनम्।' (नाट्यदर्पण : १ विवेक)

अनुवाद—निर्वहण सन्धि के ये १४ अङ्ग हैं—(१) सन्धि, (२) विबोध, (३) ग्रथन,

(१—संधि)

तत्र—

बीजोपगमनं सन्धिः—

यथा तत्रैव (वेण्याम्)—

'भीमः—भवति ! यज्ञवेदिसम्भवे ! स्मरति भवती यन्मयोक्तम्-'चञ्चद्भुजे'त्यादि ।'

अनेन मुखे क्षिप्तबीजस्य पुनरुपगमनमिति सन्धिः।

(२—विबोध)

—विबोधः कार्यमार्गणम् ।

यथा तत्रैव—

'भीमः—मुञ्चतु नामार्यः क्षणमेकम् ।

युधिष्ठिरः—किमपरमवशिष्टम् ?

भीमः—सुमहदवशिष्टम् । संयमयामि तावदनेन सुयोधनशोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनावकृष्टं केशहस्तम् ।

---

(४) निर्णय, (५) परिभाषण, (६) कृति, (७) प्रसाद, (८) आनन्द, (९) समय, (१०) उपगूहन, (११) भाषण, (१२) पूर्ववाक्य, (१३) काव्यसंहार और (१४) प्रशस्ति ।

अनुवाद—'सन्धि' का अभिप्राय (मुखसन्धि में) निक्षिप्त बीज (रूप इतिवृत्त-वैचित्र्य) का उपगमन अथवा पुनःसंधान है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—अरी यज्ञवेदिसम्भवे ! क्या तुझे याद है कि मैंने क्या कहा था—अपने प्रचण्ड भुजदण्ड में घुमायी जाती······'

आदि में, जो सन्ध्यङ्ग है वह 'सन्धि'रूप ही है क्योंकि यहाँ 'मुखसन्धि' में निक्षिप्त बीज का उपगमन अथवा पुनः संधान किया जा रहा है ।

विमर्श—'निर्वहण' में इस 'सन्धि' नामक अङ्ग की योजना आवश्यक है क्योंकि इसके द्वारा रूपक के उपक्रम और उपसंहार का सम्बन्ध स्थापित किया जाया करता है । नाट्यदर्पणकार ने इसीलिये कहा है—

'सन्धिर्बीजफलागमः—

मुखसन्धौ न्यस्तस्य प्रारम्भावस्थाविषयीकृतस्य बीजस्योद्घाटोन्मुख्याद्यैर्विकारैः फलागमावस्थायामागमनं ढौकनं सन्धिः । ···············अत्र मुखे यदुप्तं बीजं तन्निकटीभूतमिति । इदमङ्गमवश्यं निबन्धनीयमिति ।' (नाट्यदर्पण : १ म विवेक)

अनुवाद—'विबोध' का अभिप्राय कर्त्तव्य का अनुसंधान है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—आप मुझे, थोड़ी देर के लिये छोड़ दें ।

युधिष्ठिर—अब क्या बाकी है ?

भीम—अभी बहुत कुछ बाकी है । अभी तो मुझे, दुर्योधन के रक्त से सने इन हाथों से, दुःशासन द्वारा खोली गयी, द्रौपदी की वेणी सँवारनी है ।

युधिष्ठिरः—गच्छतु भवान्, अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारम्।' इति।
अनेन केशसंयमनकार्यस्यान्वेषणाद्विबोधः।

(३—ग्रथन)

उपन्यासस्तु कार्याणां ग्रथनं—

यथा तत्रैव—

'भीमः—पाञ्चालि! न खलु मयि जीवति संहर्त्तव्या दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिभ्याम्। तिष्ठ, स्वयमेवाहं संहरामि।' इति।

अनेन कार्यस्योपक्षेपाद् ग्रथनम्।

(४—निर्णय)

—निर्णयः पुनः ॥ ११० ॥

अनुभूतार्थकथनं—

यथा तत्रैव—

'भीमः—देव अजातशत्रो! अद्यापि दुर्योधनहतकः। मया हि तस्य दुरात्मनः—
भूमौ क्षिप्तं शरीरं निहितमिदमसृक्चन्दनाभं निजाङ्गे
लक्ष्मीरार्ये निषिक्ता चतुरुदधिपयःसीमया सार्द्धमुर्व्या।

युधिष्ठिर—अच्छी बात है। जाओ, द्रौपदी को भी 'वेणीसंहार' (वेणी के सँवारने) का सुख मिले।'
में, जो संध्यङ्ग है वह 'विबोध' ही है क्योंकि यहाँ भीम के द्वारा 'वेणीसंहार' रूप स्वकर्त्तव्य के अन्वेषण का ही वर्णन है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'विबोध' को 'निरोध' कहा है और 'निरोध' का यह लक्षण किया है—

'निरोधः कार्यमीमांसा—

नष्टस्य कार्यस्य मुक्तये यदन्वेषणं तद्विरुद्धवस्तुविषयत्वान्निरोधः' किन्तु दोनों का अभिप्राय एक ही है।

अनुवाद—'ग्रथन' वह है जिसे कार्य का उपन्यास अथवा उपक्षेप कहा गया है। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—पाञ्चालि! मेरे जीते-जागते, तुझे अपने हाथों, दुःशासन द्वारा खोली गयी अपनी वेणी न बांधनी चाहिये। ठहर, मैं स्वयं इसे बाँधूंगा।'
आदि में, भीमसेन के कर्तव्यरूप वेणीबन्धन का जो वर्णन है, उसमें 'ग्रथन' की ही योजना है।

विमर्श—'ग्रथन' को इसलिये 'ग्रथन' कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा व्यापार और फल का सम्बन्ध स्थापित किया जाया करता है (ग्रथ्यते सम्बध्यते व्यापारेण मुख्यफलमनेनेति ग्रथनम्)।

अनुवाद—'निर्णय' कहते हैं अनुभूत अर्थ के कथन को। जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—महाराज! अजातशत्रो! क्या आज भी वह नीच दुर्योधन बचा हुआ है? अरे, मैंने उस नीच का—

भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमनुजा दग्धमेतद्रणाग्नौ
नामैकं यद् ब्रवीषि क्षितिप ! तदधुना धार्त्तराष्ट्रस्य शेषम् ॥'

(५—परिभाषण)

—वदन्ति परिभाषणम् ।

परिवादकृतं वाक्यम्—

यथा शाकुन्तले—

'राजा—आर्ये ! अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी ?

तापसी—को तस्स धम्मदारपरिट्टाइणो णामं गेण्हिस्सदि' [कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम ग्रहीष्यति] ।

शरीर मिट्टी में मिला दिया है, रक्तचन्दन की भाँति उसका लाल रक्त मेरे शरीर का अङ्गराग बन रहा है, आप को विजयश्री मिली है और चारों समुद्रों से घिरी यह वसुन्धरा आप की चेरी बन चुकी है, कुरुवंश के अनुचर-परिचर, इष्ट-मित्र, शूर-वीर सब के सब इस रणानल में जल-भुन चुके हैं, अब तो जिसे आप 'दुर्योधन' कहते हैं वह केवल नाममात्र बच रहा है ।'
आदि में भीम का जो अनुभूतार्थ वर्णन है उसमें 'निर्णय' का ही रूप स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'निर्णय' का यह लक्षण किया है—

'निर्णयोऽनुभवख्यातिः—ज्ञेयेऽर्थे सन्दिहानमप्रतिपाद्यमानं वा प्रति यदनुभवस्यानुभूतस्यार्थस्य निर्णयार्थं कथनं तत् ज्ञेयार्थनिर्णयान्निर्णयः' (नाट्यदर्पण : १ म विवेक) ।

इस सन्ध्यङ्ग की योजना भी अनिवार्य मानी गयी है ।

अनुवाद—'परिभाषण' वह है जिसे परिवाद अथवा निन्दा का सूचक भाषण कहा गया है । जैसे कि, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—आर्ये ! यह तो बताइये कि आप इन्हें किस नाम के राजा की पत्नी कहना चाहती हैं ?

तापसी—जिसने अपनी पत्नी का परित्याग कर दिया है उस पापी का नाम कौन ले !'
आदि में, तापसी का जो दुष्यन्त-निन्दन है उसमें 'परिभाषण' का स्वरूप स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'परिभाषण' को 'परिभाषा' कहा है और 'परिभाषा' की यह व्याख्या की है—

'परिभाषा स्वनिन्दनम्—

स्वापराधोद्घट्टनं परिभाषा । यथा 'तापसवत्सराजे' वासवदत्तां प्रति राजा (सास्रम्)-
देवि ! किं ब्रवीषि ?

यथा तथा धृतप्राणं निःस्नेहं निरपत्रपम् ।
आनन्दामृतवर्षिण्या दृष्ट्याप्यनुगृहाण माम् ॥

यथा वा 'नलविलासे' दमयन्तीं प्रति नलः—

न प्रेम निहितं चित्ते न चाचारः सतां स्मृतः ।
त्यजता त्वां वने देवि ! मया दारुणमाहितम् ॥

(६—कृति)

—लब्धार्थशमनं कृतिः ॥ १११ ॥

यथा वेण्याम्—

'कृष्णः–एते भगवन्तो व्यास-वाल्मीकिप्रभृतयोऽभिषेकं धारयन्तस्तिष्ठन्ति इति ।'

अनेन प्राप्तराज्यस्याभिषेकमङ्गलैः स्थिरीकरणं कृतिः ।

(७—प्रसाद)

शुश्रूषादिः प्रसादः स्यात्—

यथा तत्रैव भीमेन द्रौपद्याः कशसंयमनम् ।

(८—आनन्द)

—आनन्दो वाञ्छितागमः ॥

यथा वा 'राघवाभ्युदये' रामः (स्वगतम्)—

वैदेहीं हृतवांस्तदेष महतः संख्ये विषह्य क्रमां-
श्चक्रोत्पाटितकन्धरो दशमुखः कीनाशदासीकृतः ।
प्राणान् यद्विरहेऽप्यहं विधृतवांस्तेन त्रपापांसुरं
वक्त्रं दर्शयितुं तथापि न पुरस्तस्या विलज्जः क्षमः ॥'

साहित्यदर्पणकार के अनुसार तो 'परिभाषण' परनिन्दा-सूचक भाषण माना गया है किन्तु नाट्यदर्पणकार के अनुसार यह स्वनिन्दनात्मक वचन है।

अनुवाद--'कृति' कहते हैं उपलब्ध विषय के द्वारा चित्त-शान्ति के वर्णन को। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'कृष्ण—भगवान् व्यास और वाल्मीकि आदि महर्षि अभिषेक (जल) लिये आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।'

आदि में, अभिषेकमङ्गल द्वारा, युधिष्ठिर के चित्त में शान्ति और स्थिरता की स्थापना का जो वर्णन है उसमें 'कृति' की ही रूपरेखा झलक रही है।

विमर्श—'कृति' का अभिप्राय क्षेम अथवा लब्ध अर्थ का परिपालन है जैसा कि नाट्यदर्पणकार का कथन है--

'कृतिः क्षेत्रम्—लब्धस्य परिपालनं क्षेमः ।'

अनुवाद—'प्रसाद' का अभिप्राय सेवा, परिचर्या आदि का अभिप्राय है। जैसे कि, 'वेणीसंहार' में भीम द्वारा द्रौपदी के केशसंयमन की घटना का जो उल्लेख है वह 'प्रसाद' रूप संध्यङ्ग की ही योजना है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'प्रसाद' को 'उपास्ति' कहा है और 'उपास्ति' का अभिप्राय 'सेवा' बताया है--

'सेवोपास्तिः—सेवा परप्रसत्तिहेतुर्व्यापारः ।'

नाट्यदर्पणकार के अनुसार 'प्रसाद' नाट्याचार्य भरत के अतिरिक्त अन्य नाट्यकोविदों के मत का सन्ध्यङ्ग है—

'अन्ये त्वस्य स्थाने प्रियहिताचरणजनितां प्रसत्तिं प्रसादमङ्गं मन्यन्ते ।'

(नाट्यदर्पण : १ म विवेक)

अनुवाद—'आनन्द' वह है जिसे मनोरथ की पूर्ति में संतोष कहा गया है।

यथा तत्रैव—

'द्रौपदी—विसुमरिदं एदं वावारं णाधस्स पसादेण पुणो वि सिक्खिस्सं।'
[विस्मृतमेनं व्यापारं नाथस्य प्रसादेन पुनरपि शिक्षिष्ये]।

(९—समय)

समयो दुःखनिर्याणं—

यथा रत्नावल्याम्—

'वासवदत्ता—(रत्नावलीमालिङ्ग्य) समस्सस बहिणिए ! समस्सस'
[समाश्वसिहि भगिनि ! समाश्वसिहि]।

(१०—उपगूहन)

—तद्भवेदुपगूहनम् ॥ ११२ ॥

यत् स्यादद्भुतसम्प्राप्तिः—

यथा मम प्रभावत्यां नारददर्शनात् प्रद्युम्न ऊर्ध्वमवलोक्य—

'दधद्विद्युल्लेखामिव कुसुममालां परिमल-
भ्रमद्भृङ्गश्रेणीध्वनिभिरुपगीतां तत इतः।
दिगन्तं ज्योतिर्भिस्तुहिनकरगौरैर्धवलय-
न्नितः कैलासाद्रिः पतति वियतः किं पुनरिदम् ॥'

जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'द्रौपदी—मैं तो वेणी बाँधना भूल सी ही गयी थी, लेकिन अब आपकी कृपा से इसे फिर सीख जाऊँगी।'
आदि में, द्रौपदी के अभिलषित लाभ और संतोष का जो वर्णन है उसमें 'आनन्द' की ही योजना है।

विमर्श—आनन्द के हेतु होने के नाते 'वाञ्छितागम' को आनन्द कहा गया है जैसा कि नाट्यदर्पणकार का कथन है—'प्रकारशतैर्वाञ्छितस्यार्थितस्य सामस्त्येनागमः प्राप्तिरानन्द-हेतुत्वादानन्दः।'

अनुवाद—'समय' वह सन्ध्यङ्ग है जिसे दुःख का अपगमन (दूर हो जाना) कहा गया है। जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'वासवदत्ता—(रत्नावली को गले लगाकर) घबड़ाओ नहीं बहन।'
आदि में, रत्नावली के दुःखनिर्याण का जो वर्णन है उसमें 'समय' का स्वरूप स्पष्ट है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार के अनुसार 'समय' का यह लक्षण है—

'समयो दुःखनिर्वासः—

दुःखनिर्गमयुक्तः कालः समयः।

अनुवाद—'उपगूहन' कहते हैं विस्मय की प्राप्ति को। जैसे कि, मेरी अपनी कृति 'प्रभावती' में, नारद के दर्शन से ऊपर की ओर दृष्टि उठाये, प्रद्युम्न की जो यह उक्ति है—

'यह क्या ? यह क्या है जो सान्द्र सौरभ-लोभ से मँडराते भौंरों की गुंजार से भरी

(११—भाषण)

—सामदानादि भाषणम्।

यथा चण्डकौशिके—

'धर्मः—तदेहि धर्मलोकमधितिष्ठ।'

(१२—पूर्ववाक्य)

पूर्ववाक्यं तु विज्ञेयं यथोक्तार्थोपदर्शनम्॥ ११३॥

यथा वेण्याम्—

'भीमः—बुद्धिमतिके! क सा भानुमती परिभवतु सम्प्रति पाण्डवदारान्।'

(१३—काव्यसंहार)

वरप्रदानसंप्राप्तिः काव्यसंहार इष्यते।

यथा सर्वत्र—किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि। इति।

चमकती पुष्पमाला धारण किये तथा चन्द्रधवल तेज से दिगन्त को प्रकाशित करते हुये इधर आता जा रहा है? कहीं यह कैलास पर्वत तो नहीं या और कुछ तो नहीं है।'
इसमें, उपगूहन' का स्वरूप स्पष्ट है।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'उपगूहन' के स्थान पर 'परिगूहन' नाम प्रयुक्त किया है और 'परिगूहन' का यह अभिप्राय बताया है—

'विस्मयस्थायिभावात्मकस्याद्भुतरसस्य प्राप्तिः परिगूहनम्।'

अनुवाद—'भाषण' का अभिप्राय सान्त्वनाजनक, प्रियङ्कर अथवा हितकारक वचन है: जैसे कि 'चण्डकौशिक'के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'धर्म—हरिश्चन्द्र! इधर आओ, तुम्हें धर्मलोक में विचरना है।'
आदि में, हरिश्चन्द्र के लिये सान्त्वनादायक धर्म का जो वचन है उसमें 'भाषण' की योजना है।

विमर्श—'भाषण' वस्तुतः प्रियहितवचन है। इसकी योजना भिन्न-भिन्न रसभावविषयक रूपकप्रबन्धों में की गयी है।

अनुवाद—'पूर्ववाक्य' वह है जिसे पूर्वोक्त विषय अथवा वचन का पुनर्दर्शन कहा गया है। जैसे कि, 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—बुद्धिमतिके! कहाँ गयी वह भानुमती? अब देखें, कैसे पाण्डव-पत्नी का अपमान करती है।'
आदि में जो संध्यङ्ग है वह 'पूर्ववाक्य' ही है।

विमर्श—'पूर्ववाक्य' का दूसरा नाम 'प्राग्भाव' है। नाट्यदर्पणकार ने 'प्राग्भाव' नाम से ही इस संध्यङ्ग का स्मरण किया है—

'प्राग्भावः कृत्यदर्शनम्।'

किन्तु 'प्राग्भाव' का अभिप्राय किसी के कृत्य का किसी के द्वारा दर्शन है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार 'पूर्ववाक्य' कतिपय नाट्याचार्यों की मान्यता का सन्ध्यङ्ग है—'मुखसन्ध्याद्युक्तवाक्यसदृशवाक्यदर्शनं पूर्ववाक्यमङ्गमस्य स्थाने केचिदामनन्ति।'

अनुवाद—'काव्यसंहार' वह संध्यङ्ग है जिसे वरप्रदान की संप्राप्ति कहा गया है। जैसे

(१४-प्रशस्ति)

नृपदेशादिशान्तिस्तु प्रशस्तिरभिधीयते ॥ ११४ ॥

यथा प्रभावत्याम्—

'राजानः सुतनिर्विशेषमधुना पश्यन्तु नित्यं प्रजा
जीयासुः सदसद्विवेकपटवः सन्तो गुणग्राहिणः।
सस्यस्वर्णसमृद्धयः समधिकाः सन्तु क्ष्मामण्डले
भूयादव्यभिचारिणी त्रिजगतो भक्तिश्च नारायणे॥'

अत्र चोपसंहारप्रशस्त्योरन्त एकेन क्रमेणैव स्थितिः।

(सन्ध्यङ्ग-निवेश में मतभेद)

'इह च मुखसंधौ उपक्षेपपरिन्यासयुक्त्युद्भेदसमाधानानां प्रतिमुखे च परिसर्पणप्रगमनवज्रोपन्यासपुष्पाणां गर्भेऽभूताहरणमार्गत्रो (तो)टकाधिबलक्षेपाणां विमर्शेऽपवादशक्तिव्यवसायप्ररोचनादानानां प्राधान्यम्। अन्येषां च यथा सम्भवंस्थितिः' इति केचित्।

कि समस्त रूपकप्रबन्धों में, 'किन्ते भूयः प्रियमुपकरोमि' का जो उपनिबन्ध किया जाया करता है वह 'काव्यसंहार' की ही योजना है।

विमर्श— नाट्यदर्पणकार ने 'काव्यसंहार' की यह सुन्दर परिभाषा की है—

'वरेच्छा काव्यसंहारः

ईप्सितं दातुमभिलाषो वरेच्छा। तज्जनितो 'भूयः किं ते प्रियमुपकरोमि,' इति प्रश्न इत्यर्थः। स च ग्रहीतर्यप्रतीच्छति प्रतीच्छति च सम्पादयितुर्भूयसीमिच्छां दर्शयितुं, निबध्यते। तत्र सति सर्वस्मिन्नेवेप्सिते सम्पन्ने प्रस्तुतं काव्यमेव संह्रियत इति काव्यसंहारः।

अनुवाद—'प्रशस्ति' का तात्पर्य नृप, देश, देव आदि का स्वस्त्ययन अथवा आशीर्वचन आदि है। जैसे कि 'प्रभावती' की यह 'प्रशस्ति'—

'राजा लोग सदा पुत्रवत् प्रजापालन करते रहें, सदसद्विवेकशील, गुणग्राही सज्जन सदा दीर्घायु बने रहें, पृथिवी पर धन-धान्य और रूप्य-सुवर्ण की सम्पदा बरसती रहे और सारा त्रिभुवन भगवान् नारायण का एकान्त भक्त बन जाय।'

'काव्यसंहार' और 'प्रशस्ति,' इन दोनों सन्ध्यङ्गों की योजना क्रमशः ही की जाया करती है (अर्थात् पहले 'काव्यसंहार' और उसके बाद 'प्रशस्ति' की योजना आवश्यक है)

विमर्श—'प्रशस्ति' रूपकप्रबन्धों का अन्त मङ्गल है (प्रशस्तिः शुभशंसना)। इसका उपनिबन्ध अनिवार्य माना गया है। इसे नाटकीय इतिवृत्त के अन्तर्गत रहनेवाली वस्तुयोजना कहा गया है।

अनुवाद—इन उपर्युक्त सन्ध्यङ्गों की योजना के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद पाया जाता है। कुछ नाट्याचार्य तो सभी सन्धिओं के सभी सन्ध्यङ्गों की योजना आवश्यक मानते हैं और कुछ का यह कथन है—'मुखसन्धि के प्रमुख अङ्ग उपक्षेप, परिन्यास, युक्ति, उद्भेद और समाधान हैं, प्रतिमुखसन्धि में परिसर्पण, प्रगमन, वज्र, उपन्यास और पुष्प की योजना अनिवार्य हैं, गर्भसन्धि के लिये अभूताहरण, मार्ग, तोटक, अधिबल और क्षेप अपेक्षित हैं और विमर्शसन्धि के मुख्य अङ्ग अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना और आदान हैं। इन निर्दिष्ट सन्ध्यङ्गों के अतिरिक्त और जो अवशिष्ट सन्ध्यङ्ग हैं उनकी योजना

(सन्ध्यङ्गयोजना-विषयक परिनिष्ठित सिद्धान्त)

चतुःषष्टिविधं ह्येतदङ्गं प्रोक्तं मनीषिभिः ।
कुर्यादनियते तस्य संधावपि निवेशनम् ॥ ११५ ॥
रसानुगुणतां वीक्ष्य रसस्यैव हि मुख्यता ।

यथा वेणीसंहारे तृतीयाङ्के दुर्योधनकर्णयोर्महत्संप्रधारणम् । एवमन्यत्रापि । यत्तु रुद्रटादिभिः 'नियम एव' इत्युक्तं तल्लक्ष्यविरुद्धम् ।

रूपकविशेष के उपयोगविशेष की ही दृष्टि से की जा सकती है और की भी गयी है।'

विमर्श—संध्यङ्गों की 'उद्देशक्रमानुसार' योजना तथा 'उपयोगानुसार' योजना के दो मत हैं। अभिनवभारतीकार ने उपयोगानुसार संध्यङ्गयोजना का सिद्धान्त अपनाया है और दशरूपककार ने उद्देशक्रमानुसार संध्यङ्गयोजना का सिद्धान्त स्वीकार किया है।

अनुवाद—नाट्यकोविदों ने तो ६४ संध्यङ्ग गिनाये हैं (जिनका लक्षण-निरूपण किया जा चुका), किन्तु इनकी योजना के सम्बन्ध में परिनिष्ठित सिद्धान्त यह है—रूपक-प्रबन्धों का सारभूत अर्थ रस है और उसी सन्ध्यङ्ग की योजना आवश्यक है रूपक-प्रबन्धों के रसरूप सारार्थ के अनुकूल हो। इस दृष्टि से एक सन्धि के अङ्ग की योजना दूसरी सन्धि में भी की जा सकती है।

एक सन्धि के अङ्ग की दूसरी सन्धि में योजना का उदाहरण 'वेणीसंहार' का तृतीय अङ्क है जहाँ सन्धि तो गर्भसन्धि है किन्तु जहाँ मुखसन्धि के अङ्ग 'संप्रधारण' की योजना की गयी है और बड़ी सुन्दरता से की गयी है। अन्य रूपकप्रबन्धों की यही बात है। आचार्य रुद्रट आदि का यह कथन कि 'जो अंग जिस सन्धि का हो उसकी उसी सन्धि में योजना की जाय' ठीक नहीं जचता क्योंकि रूपकप्रबन्ध इसके उलटे चलते दिखाई देते हैं।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि का, संध्यङ्गयोजना के सम्बन्ध में यह आदेश था—

'यथासन्धि तु कर्त्तव्यान्येतान्यङ्गानि नाटके ।
कविभिः काव्यकुशलैः रसभावमपेक्ष्य तु ॥
संमिश्राणि कदाचित्तु द्वित्रियोगेन वा पुनः ॥
ज्ञात्वा कार्यमवस्थां च कार्याण्यङ्गानि सन्धिषु ॥'

(नाट्यशास्त्र १९. १०४–१०६)

जिसे 'अभिनवभारती'कार ने इस प्रकार उद्घोषित किया—

'यथासन्धि त्विति—यो यस्मिन् सन्धौ योग्य इत्यर्थः। योग्यतां च कविरेव जानाति, न च मुक्तककविः किंतु प्रबन्धयोजनासमर्थः। तदाह—कविभिरित्यादि। ननु कवेः कीदृशं तत् प्रबन्धनिर्माणकौशलमित्याह—रसभावमपेक्ष्येति, तदपेक्षा च कौशलमित्यर्थः। रस एव हि प्रीत्या व्युत्पत्तिप्रदं नाट्यात्मकं शास्त्रमित्युक्तम्। ततश्च यद् यथा यद् यस्याऽनुपयोगि तदरोचकिनो रुचितदधिशर्करापयःप्रभृतिरसान्तरमध्ययोजितं तद्द्वारेणान्तःप्रविष्टं सत् पुष्टिं व्याधिनिवृत्तिं च विधत्ते, तथैव पुमर्थोपायो हृदयमनुप्रवेष्टुमसमर्थः सुन्दरतदुचितरससंक्रमणया प्राप्तान्तःप्रवेशो विनेयजनस्य संपाद्ये वस्तुनि कल्पपादपकल्पनायै कल्पते। रससंक्रान्तिश्च विभावादिरूपतयैव नान्यथेत्युक्तं षष्ठे। तान्यङ्गानि लिखितानि विवक्षितरसभावादिसंपूर्णभावभाञ्जि भवन्ति यानि त्वेकरसावहितमनसो यत्नान्तरनिरपेक्षतयैवाहमहमिकया समुचितभावेन बन्धशय्यामनुवर्तन्ते। इतिवृत्ताविच्छेदोऽपि हि

(सन्ध्यङ्गनिवेश की उपयोगिता)

इष्टार्थरचनाश्चर्यलाभो वृत्तान्तविस्तरः ॥ ११६ ॥
रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गोप्यानां गोपनं तथा ।
प्रकाशनं प्रकाश्यानामङ्गानां षड्विधं फलम् ॥ ११७ ॥
अङ्गहीनो नरो यद्वन्नैवारम्भक्षमो भवेत् ।
अङ्गहीनं तथा काव्यं न प्रयोगाय युज्यते ॥ ११८ ॥
संपादयेतां संध्यङ्गं नायकप्रतिनायकौ ।
तदभावे पताकाद्यास्तदभावे तथेतरत् ॥ ११९ ॥

रसस्यैव पोषकः, अन्यथा विच्छेदे स्थाय्यादेस्त्रुटितत्वात् क्व रसवार्ता! तेन रसस्यैवायं विभावादिपरिकरो यदङ्गचक्रमिति।.........ननु सन्धिपरतन्त्रैरङ्गैर्भवितव्यम्, तद्रसपारतन्त्र्यमेषां कुतस्त्यम्? उच्यते—सन्धयो ह्यवस्थापरतन्त्राः, प्रारम्भाभिधानदशाविशेषोपयोगिकथाखण्डलकं मुखसन्धिरित्युक्तम्, एवमन्यत्र।......नन्वतः किम्? इदमतो भवतीत्याह—रसभावापेक्षया तु कार्यं स्थितम्.........कार्यमपि रसप्रवाहजननपर्यन्तत्वेन कृतार्थतां संपद्यते इति यावत्।

संमिश्राणीति सन्ध्यन्तरोक्तं सन्ध्यन्तरेऽपीत्यर्थः। यथा युक्तिर्मुखेऽप्युक्ता गर्भेऽप्युपनिबद्धा वितर्कव्यभिचार्यंशपोषकभावेन वेणीसंहारे।......द्वित्रीति द्वित्वत्रित्वयोगेनेत्यर्थः। तेनैकमपि सन्ध्यङ्गं तत्रैव सन्धौ द्विस्त्रिर्वा कर्त्तव्यम्।' (अभिनवभारती, पृष्ठ ६१-६२)

अर्थात् जिसे 'अङ्गचक्र' (६४ सन्ध्यङ्ग) कहते हैं वह रसाभिव्यञ्जक विभावादि-परिकर के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं। जैसे विभावादियोजना रस-समुल्लास के लिये हुआ करती है वैसे ही अङ्गचक्र-योजना भी रसप्रवाह के ही लिये अपेक्षित है न कि नाट्यशास्त्र की मर्यादा के अनुपालन के लिये। ध्वनिकार आनन्दवर्धन की यह सूक्ति यहाँ स्मरण रखने योग्य है—

'सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
नतु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया॥' (ध्वन्यालोक : ३. १२)

अर्थात् काव्य-प्रबन्धों में सन्धिघटना या सन्ध्यङ्गयोजना एक मात्र रसाभिव्यञ्जन के ही लिये आवश्यक है न कि नाट्यशास्त्र की विधि के अनुष्ठान के लिये। लोचनकार ने इसीलिये कहा है—

'भरतमुनिना सन्ध्यङ्गानां रसाङ्गभूतमितिवृत्तप्राशस्त्योत्पादनमेव प्रयोजनमुक्तम्। न तु पूर्वरङ्गाङ्गवददृष्टसम्पादनं विघ्नादिवारणं वा।' (ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ३४०)

अनुवाद—उपर्युक्त सन्ध्यङ्गों की योजना से रूपक-प्रबन्धों का जो लाभ है वह ६ प्रकार का हुआ करता है—(१) अभीष्ट अर्थ की योजना, (२) सामाजिक हृदय में आश्चर्यभाव का संक्रमण, (३) कथानक का विस्तार, (४) सामाजिक हृदय में रूपकदर्शन के प्रति अनुराग का उत्पादन, (५) गोपनीय विषय का गोपन और (६) प्रकाशनीय विषय का प्रकाशन। जैसे अङ्गहीन मनुष्य किसी भी कार्य में समर्थ नहीं हो सकता वैसे ही अङ्गहीन काव्य-प्रबन्ध भी अभिनय के उपयुक्त नहीं रह सकता। इसलिये रूपक-प्रबन्ध अपना नाम तभी सार्थक सिद्ध कर सकते हैं जबकि इनमें उपनिबद्ध नायक और प्रतिनायक के वाग्विलासों में सन्ध्यङ्गों की रूपरेखा झलका करे। नायक और प्रतिनायक के वाग्व्यवहारों के बाद सन्ध्यङ्गों की योजना का अवसर पताका आदि अर्थप्रकृतियों की

प्रायेण प्रधानपुरुषप्रयोज्यानि सन्ध्यङ्गानि भवन्ति। किन्तूपक्षेपादित्रयं बीजस्याल्पमात्रसमुद्दिष्टत्वादप्रधानपुरुषप्रयोजितमेव साधु।

(रसाभिव्यञ्जन के लिये सन्ध्यङ्गयोजना)

रसव्यक्तिमपेक्ष्यैषामङ्गानां संनिवेशनम्।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया ॥ १२० ॥

तथा च वेण्यां दुर्योधनस्य भानुमत्या सह विप्रलम्भो दर्शितः, तत्तादृशेऽवसरेऽत्यन्तमनुचितम्।

अविरुद्धं तु यद् वृत्तं रसादिव्यक्तयेऽधिकम्।
तदप्यन्यथयेद्धीमान्न वदेद्वा कदाचन ॥ १२१ ॥

योजना में है। और यदि यहाँ अवसर न मिले तो बीज, बिन्दु आदि की योजना में तो सन्ध्यङ्गों का स्वरूप-प्रदर्शन आवश्यक ही है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि सन्ध्यङ्गों की योजना का स्वर्णावसर तो वस्तुतः रूपक-प्रबन्धों के मुख्य चरितों के ही कथनोपकथन में रहा करता है किन्तु 'उपक्षेप', 'परिकर' और 'परिन्यास' की योजना अप्रधान चरितों के भी कथनोपकथन में संभव है क्योंकि इनका (उपक्षेप आदि का) सम्बन्ध बीज के आवाप, उद्घाट और औन्मुख्य से है और आवाप, उद्घाट और औन्मुख्य की अवस्थाओं में बीजरूप इतिवृत्त संक्षेपतः ही उपन्यस्त हुआ करता है।

विमर्श—'नाट्यदर्पण' की इन पंक्तिओं में सन्ध्यङ्ग-योजना की पद्धति और उपयोगिता का बड़ा रोचक वर्णन है—

'संविधानखण्डान्यङ्गानि सन्धिरूपस्याङ्गिनोऽवयवत्वेन निष्पादकत्वात्।'''अङ्गानि च वृत्तविस्तरकारित्वादवश्यं निबन्धनीयानि। अपरथा-'रामस्य पत्नी रावणेन वनान्तादपहृता, रामेण च जटायुषः समुपलभ्य सुग्रीवं सहायं वानराधिराज्यप्रतिपादनादधिगम्य समुद्रसेतुबन्धमाधाय निहत्य च रावणं प्रत्यानीते'त्यत्र प्रारम्भाद्यवस्थानिबन्धनीयैः पञ्चभिरपि सन्धिभिर्बीजाद्युपाययुक्तैर्निबद्धे रूपके वृत्तसंक्षेपः स्यात्, तथा च न चमत्कारः। किञ्च रञ्जकमपि वृत्तमङ्गवैचित्र्येण निबध्यमानं परां रक्तिमावहति, कार्यवशाच्च पुनरुच्यमानमपि वृत्तमङ्गभङ्ग्या निबद्धमपुनरुक्तमिवाभाति। अयःशलाकाकल्पता चाङ्गसम्बद्धस्य वृत्तस्य न भवति।' (नाट्यदर्पण : १ म विवेक)

अनुवाद—सन्ध्यङ्गों की योजना का उद्देश्य रस की अभिव्यक्ति है न कि नाट्यशास्त्र की मर्यादा का पालन।

सन्ध्यङ्गयोजना के इस सिद्धान्त को देखते, 'वेणीसंहार' में किया गया दुर्योधन के विरह में व्याकुल भानुमती का चित्रण (अर्थात् प्रतिमुख-सन्धि के अङ्ग 'विलास' का उपनिबन्ध) अत्यन्त अनुचित प्रतीत होता है (क्योंकि इससे वेणीसंहार के रसभाव का कोई परिपोष नहीं होता, यह तो केवल शास्त्रस्थिति की रक्षा के लिये उपनिबद्ध किया हुआ है)।

रूपकप्रबन्ध के रचयिता का एकमात्र कर्तव्य किस प्रकार रसाभिव्यञ्जन हुआ करता है (न कि नाट्यशास्त्र की संविदाओं का अनुसरण), यह इससे भी स्पष्ट है कि मूलवृत्त के अविरुद्ध रहनेवाली भी कथावस्तु, यदि वह रसविशेष के उल्लास के उपयुक्त न हो तो, या तो बदल दी जाया करती है या बिल्कुल छोड़ दी जाया करती है।

अनयोरुदाहरणं सत्प्रबन्धेष्वभिव्यक्तमेव ।

(वृत्ति-विचार)

अथ वृत्तयः—

> शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
> रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥ १२२ ॥
> चतस्रो वृत्तयो ह्येताः सर्वनाट्यस्य मातृकाः ।
> स्युर्नायिकादिव्यापारविशेषा नाटकादिषु ॥ १२३ ॥

रसाभिव्यञ्जन के लिये, इतिवृत्त के हेर-फेर (अथवा सन्ध्यङ्ग-योजना में रसापेक्षा) के उदाहरण तो सभी प्रसिद्ध-प्रबन्ध हैं ही ।

विमर्श—ध्वनिदार्शनिक आनन्दवर्धनाचार्य के शब्दों में संधि-सन्ध्यङ्ग-घटना के नियम के अनुपालन का यह निर्देश हैं—

'रसादिव्यञ्जकत्वे प्रबन्धस्य चेदमन्यन्मुख्यं निबन्धनं यत्सन्धीनां मुखप्रतिमुखगर्भावमर्शनिर्वहणाख्यानां तदङ्गानाञ्चोपक्षेपादीनां घटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया, यथा—रत्नावल्याम्, न तु केवलं शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया, यथा–वेणीसंहारे विलासाख्यस्य प्रतिमुखसन्ध्यङ्गस्य प्रकृतरसनिबन्धाननुगुणमपि द्वितीयेऽङ्के भरतमतानुसरणमात्रेच्छया घटनम् ।'

(ध्वन्यालोक : ३ य उद्योत)

और यहाँ साहित्यदर्पणकार ने इसी का अनुसरण किया है ।

अनुवाद—अब 'वृत्ति-चतुष्टय' का निरूपण किया जा रहा है—

'वृत्ति' कहते हैं नाटकादि प्रबन्धों में उपनिबद्ध नायक-नायिका आदि के विविध व्यापारों को । 'वृत्ति' वस्तुतः अभिनयमात्र की जननी है । 'वृत्ति' चार प्रकार की हुआ करती है—(१) 'कैशिकी', जो शृङ्गाररस के अभिव्यञ्जन के लिये है, (२) 'सात्त्वती' जिससे वीररस की अभिव्यक्ति का सम्बन्ध है, (३) 'आरभटी' जो रौद्र और बीभत्स रस के प्रतिपादन के लिये है और (४) भारती, जिसका सम्बन्ध सभी रसों से है ।

विमर्श—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में 'वृत्ति' का बड़ा विशद और विचारोत्तेजक वर्णन है । यहीं यह भी बताया गया है कि वेदचतुष्टय से अङ्गचतुष्टयात्मक नाट्यवेद की भाँति वृत्ति का भी विकास हुआ है—

> 'ऋग्वेदाद्भारती क्षिप्ता यजुर्वेदाच्च सात्त्वती ।
> कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणादपि ॥ (नाट्यशास्त्र २०. २५)

वैसे तो 'वृत्ति'-तत्त्व एकरूप ही है क्योंकि 'कायिक', 'वाचिक' और 'मानसिक' व्यापारों में परस्पर असम्भेद (असंकीर्णता) सर्वथा असंभव है । किन्तु 'काय-वाङ्-मनस्' की चेष्टाओं में, प्रत्येक के यथास्थान प्राधान्य की दृष्टि से, वृत्तितत्त्व को चतुर्विध बताया गया है । इस वृत्ति-चतुष्टय में भारती वृत्ति रूपकप्रबन्धों में चित्रित चरितों का वाग्व्यापार है । नाट्याचार्य भरतमुनि ने स्पष्ट कहा है—

'भाषतो वाक्यभूयिष्ठा भारतीयं भविष्यति ।' (नाट्यशास्त्र : २२ ९)

भारती वृत्ति शब्द-वृत्ति है–इस सम्बन्ध में सभी नाट्याचार्य एकमत हैं । अभिनवभारतीकार ने 'भारती' को 'पाठ्यप्रधाना' अथवा 'वाग्वृत्ति' कहा है । रसार्णवसुधाकरकार ने भारती को स्पष्टतया 'शब्दवृत्ति' माना है—

'आसां तु मध्ये वृत्तीनां शब्दवृत्तिस्तु भारती।
तिस्रोऽर्थवृत्तयश्शेषाः तच्चतस्रो हि वृत्तयः॥' (रसार्णवसुधाकर : १.२८६)

भरतमुनि की यह 'भारती'-समीक्षा यहाँ ध्यान देने योग्य है—

'या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥'
(नाट्यशास्त्र : २२.२५)

यहाँ भारती वृत्ति के 'वाक्प्रधाना वृत्ति' होने में तो कोई विवाद नहीं किन्तु 'पुरुषप्रयोज्या', 'स्त्रीवर्जिता और 'संस्कृतवाक्ययुक्ता' मानने में विचार-विमर्श की आवश्यकता है। वैसे तो रूपक-प्रबन्धों में प्राकृत वाग्व्यवहार भी पर्याप्त है किन्तु नाट्यशास्त्र की परिभाषा के अनुसार इसे 'भारती वृत्ति' नहीं माना जा सकता। यहाँ संभवतः ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्याचार्य भरत-मुनि ने प्रधान पुरुष चरितों के संस्कृत वाग्व्यापार की दृष्टि से, भारती को 'संस्कृतवाक्ययुक्ता' कह दिया है। भारती वृत्ति स्त्री-चरितों का वाग्व्यापार नहीं मानी गयी क्योंकि स्त्री-चरितों की वृत्ति सात्त्वती अथवा कैशिकी वृत्ति है। स्त्री-चरितों के वाग्व्यापार उनके हाव-भावों से अनुप्राणित रहा करते हैं, इसलिये शुद्ध भारती का दर्शन वहाँ नहीं हो सकता। नाट्यदर्पणकार का यह वृत्तितत्त्व-विमर्श भी यहाँ ध्यान देने योग्य है—

'भारती सात्त्वती कैशिक्यारभटी च वृत्तयः।
रसभावाभिनयगाश्चतस्रो नाट्यमातरः॥

पुरुषार्थसाधको विचित्रो व्यापारो वृत्तिः। रसभावाभिनयाः वक्ष्यमाणास्तांस्तन्मयत्वेन गच्छन्ति। रसभावाभिनयसम्भिन्नो हि सर्वो नाट्ये—व्यापारः। 'चतस्र' इति चतुर्भेदत्वमन्यतमचेष्टांशप्राधान्यविवक्षया, अपरथाऽनेकव्यापारसंवलितमेकमेव वृत्तितत्त्वम्। न नाम प्रबन्धेषु व्यापारान्तरासंवलितः कोऽप्येकाकी कायिको वाचिको मानसो वा व्यापारो लक्ष्यते। कायिक्यो हि व्यापृतयो मानसैर्वाचिकैश्च व्यापारैः संभिद्यन्ते। शब्दोल्लिखितं मनःप्रत्ययं विना रञ्जकस्य कायव्यापारपरिस्पन्दस्याभावात्। वाचिक्यो मानस्यश्च कायपरिस्पन्दाविनाभाविन्य एव, ताल्वादिव्यापाराभावे वचनानुच्चारणात्, प्राणादिरूपकायपरिस्पन्दाभावे, मनोवृत्त्यनुपलक्षणाच्च। मनःशून्यश्च व्यापारः कायिको वाचिको वाऽरञ्जकत्वादनिबन्धनीय एव। विदूषकोऽपि च हास्यार्थं बुद्धिपूर्वकमेव विसंस्थुलं विचेष्टते। अतः संकीर्णत्वेऽप्यंशप्राधान्यापेक्षया वृत्तयश्चतस्रः। नाट्यस्याभिनेयकाव्यस्य मातर इव मातरः। आभ्यो हि वर्णनीयत्वेन कविहृदये व्यवस्थिताभ्यः काव्यमुत्पद्यते। 'नाट्य' इति च प्रस्तावापेक्षम्। तेनानभिनेयेऽपि काव्ये वृत्तयो भवन्त्येव। न हि व्यापारशून्यं किञ्चिद् वर्णनीयमस्ति। रङ्गानन्तरं च नाट्यमिति रङ्गस्य व्यापारशून्यत्वेनावृत्तित्वेऽपि न कश्चिद् दोषः। मूर्च्छादौ तु व्यापाराभावेन वृत्त्यभावेऽपि न नाट्यस्य वृत्तिमयत्वहानिः, बाहुल्यापेक्षया वृत्तिमयत्वस्याभिमतत्वादिति।' (नाट्यदर्पण : ३ य विवेक)

अर्थात् क्या अभिनेय और क्या अनभिनेय—दोनों प्रकार के काव्यबन्धों की जननी 'वृत्ति' ही है। जब कि कवि-हृदय में वर्ण्य चरित का सम्पूर्ण सक्रिय व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित हो जाता है तभी काव्य की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं। वर्ण्य चरित के सम्पूर्ण सक्रिय व्यक्तित्व और काव्य की वृत्ति में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव का सम्बन्ध रहा करता है। चार वृत्तियों की मान्यता में वर्ण्य चरित का ही विश्लेषण किया जाया करता है। वैसे व्यक्तित्व एक असंभिन्न तत्त्व है किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि इसका विश्लेषण न किया जाय। वृत्तितत्त्व एक है किन्तु विश्लेषण-बुद्धि में चतुर्विध आभासित हुआ करता है।

(१—कैशिकी वृत्ति)

तत्र कैशिकी—

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंकुला पुष्कलनृत्यगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारुविलासयुक्ता ॥१२४॥

(कैशिकी के अङ्ग : १—नर्म)

नर्म च नर्मस्फूर्जो नर्मस्फोटोऽथ नर्मगर्भश्च।
चत्वार्यङ्गान्यस्या—

तत्र—

—वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म ॥ १२५ ॥

इष्टजनावर्जनकृत्तच्चापि त्रिविधं मतम्।
विहितं शुद्धहास्येन सशृङ्गारभयेन च ॥ १२६ ॥

तत्र केवलहास्येन विहितं यथा रत्नावल्याम्—

अनुवाद—'कैशिकी' वह वृत्ति है जिसमें नानाविध मनोरम वेशभूषण की शोभा रहा करती है, जो रमणी-पात्र के बाहुल्य से विचित्र लगा करती है, जिसके लिये बहुविध नृत्य, गीत आदि की योजना आवश्यक है, जिसमें कामोपभोग अथवा रतिसुख से संबद्ध बहुविध व्यापारों का प्राधान्य रहा करता है और जो सुन्दर हाव-भावादि से समन्वित हुआ करती है।

विमर्श—'कैशिकी' पद की यह व्युत्पत्ति है—

'अतिशायिनः केशाः सन्त्यासामिति केशिकाः स्त्रियः 'स्तनकेशवतीत्वं हि स्त्रीणां लक्षणमि'ति तत्प्रधानत्वात् तासामियं कैशिकी।'

और इस व्युत्पत्ति से ही यह सिद्ध है कि इस वृत्ति में स्त्रीबाहुल्य, नेपथ्यवैचित्र्य, कामव्यवहार तथा संगीतप्राचुर्य स्वभावतः रहा करते हैं। इस वृत्ति का सम्बन्ध शृङ्गार रस से है और विलासमय हास-परिहास से भी। तात्पर्य यह है कि जहाँ कहीं भी लालित्य और माधुर्य हो वह सब कैशिकी का ही क्षेत्र है। 'संगीतरत्नाकर'कार शार्ङ्गदेव ने इसीलिये कहा है—

'वागङ्गाभरणानां या सौकुमार्येण निर्मिता।
उल्लसद्गीतनृत्ताढ्या शृङ्गाररसनिर्भरा ॥
निःशङ्कः कैशिकीं ब्रूते तां सौन्दर्यैकजीविताम्।'

अनुवाद—'कैशिकी' के ये चार भेद हैं—(१) नर्म, (२) नर्मस्फूर्ज, (३) नर्मस्फोट और (४) नर्मगर्भ।

इन चारों में 'नर्म' वह है जिसे प्रियजन का मनोरञ्जक, बहुविध क्रीडाविलास कहा गया है। इसमें भी तीन विशेषतायें देखी जाती हैं—१ ली, केवल हास-परिहासमय लीला, २ री, शृङ्गारगर्भ हास्यलीला और ३ री, भयमिश्रित हासलीला।

पहली विशेषता से विशिष्ट अर्थात् शुद्ध हास्यपूर्वक क्रीडाविलास का उदाहरण 'रत्नावली' का यह प्रसङ्ग है—

'वासवदत्ता—(फलकमुद्दिश्य सहासम्) एसा वि अवरा तव समीवे जधालिहिदा एदं किं अज्जवसन्तस्स विण्णाणम्' [एषाऽप्यपरा तव समीपे यथा लिखिता, एतत् किमार्यवसन्तकस्य विज्ञानम्।]

सशृङ्गारहास्येन यथा शाकुन्तले राजानं प्रति—

'शकुन्तला—असंतुट्ठो उण किं करिस्सदि [असन्तुष्टः पुनः किं करिष्यति]।

राजा—इदम्। (इति व्यवसितः शकुन्तलावक्त्रं ढौकते)'

सभयहास्येन यथा रत्नावल्याम्, आलेख्यदर्शनावसरे।

'सुसंगता—जाणिदो मए एसो वुत्तन्तो समं चित्तफलएण। ता देवीए गदुअ निवेदइस्सम्' [ज्ञातो मया एष वृत्तान्तः, समं चित्रफलकेन। तद्देव्यै गत्वा निवेदयिष्यामि।]

एतद्वाक्यसम्बन्धि नर्मोदाहृतम्। एवं वेषचेष्टासम्बन्ध्यपि।

(२—नर्मस्फूर्ज)

नर्मस्फूर्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसंगमः।

यथा मालविकायां सङ्केतनायकमभिसृतायाम्-

'वासवदत्ता—(चित्रफलक देखकर हँसी के साथ) यह जो तुम्हारे पास खड़ी चित्रित की गयी है क्या यह भी आर्य वसन्तक की चित्रकारी है?'

दूसरी विशेषता वाले अर्थात् शृङ्गारगर्भ क्रीडाविलास का उदाहरण 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' का यह प्रसङ्ग रहा—

'शकुन्तला (दुष्यन्त से)—

यदि यह मधुकर असन्तुष्ट रहा तो क्या कर लेगा?

राजा—यह कर लेगा! (कहकर चुम्बन से शकुन्तला का मुंह ढक देता है)।'

तीसरी विशेषता वाले अर्थात् भयसम्मिश्र क्रीडाविलास का उदाहरण 'रत्नावली' का यह प्रसङ्ग है—

'सुसंगता—(चित्र देख लेने पर) मुझे यह सब और यह चित्र, सब कुछ पता चल गया है। अब मैं महारानी को जाकर, बताती हूँ।'

ये उपर्युक्त उदाहरण तो वाक्यसम्बद्ध नर्म के उदाहरण रहे। इसी भांति वेषसम्बद्ध अथवा चेष्टासम्बद्ध 'नर्म' के भी निदर्शन देखे जा सकते हैं।

विमर्श—भरतमुनि ने 'नर्म' का यह लक्षण किया है—

'आस्थापितशृङ्गारं विशुद्धकरणं निवृत्तवीररसम्।
हास्यप्रवचनबहुलं नर्म त्रिविधं विजानीयात्॥
ईर्ष्याक्रोधप्रायं सोपालम्भकरणानुविद्धञ्च।
आत्मोपक्षेपकृतं सविप्रलम्भं स्मृतं नर्म॥' (नाट्यशास्त्र: २०.५७,५८)

अनुवाद—'नर्मस्फूर्ज' वह कैशिकी भेद है जिसे प्रेमी-प्रेमिका का ऐसा नव-संगम कहा गया है जो कि आरम्भ में आनन्ददायक और अन्त में (प्रतिनायिकाके कारण) भय का जनक हुआ करता है।

इसके निदर्शन-रूप में 'मालविकाग्निमित्र' का यह प्रसङ्ग देखा जा सकता है—

'नायकः—

विसृज सुन्दरि ! सङ्गमसाध्वसं ननु चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे ।
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि ॥

मालविका—भट्टा, देवीए भएण अप्पणो वि पिअ कउं ण पारेमि' (भर्त्तः ! देव्या भयेन आत्मनोऽपि प्रियं कर्त्तुं न पारयामि) इत्यादि ।

(३—नर्मस्फोट)

अथ नर्मस्फोटः—

नर्मस्फोटो भावलेशैः सूचितात्परसो मतः ॥ १२७ ॥

यथा मालतीमाधवे—

'गमनमलसं शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्ठवं
श्वसितमधिकं किन्त्वेतत् स्यात् किमन्यदितोऽथवा ।
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनं
ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति च धीरताम् ॥'

'नायक (संकेतस्थान पर अभिसारिणी मालविका से मिलने पर)—

प्रिये ! इस प्रेम-मिलन में तुझे भय क्यों हो ? मैं तो पता नहीं कब से तेरे प्रेम का पुजारी हो गया हूँ । तुझे तो, जैसे माधवी लता सहकार-पादप से मिले, वैसे ही मुझसे मिल जाना चाहिये ।

मालविका—प्रियतम ! मैं क्या करूँ ! महारानी का डर मुझे ऐसा लगा है कि मैं अपनी यह कामना भी पूरी नहीं कर सकती ।'

विमर्श—कैशिकी का यह द्वितीय भेद नाट्यशास्त्र में 'नर्मस्फुञ्ज' नाम से कहा गया है । 'नर्मस्फुञ्ज' की परिभाषा यह है—

'नवसङ्गमसंभोगो रतिसमुदयवेषवाक्यसंयुक्तः ।
ज्ञेयो नर्मस्फुञ्जो ह्यवसानभयात्मकश्चैव ॥' (नाट्यशास्त्र : २०.५९)

अभिनवभारतीकार की यह 'नर्मस्फुञ्ज' व्युत्पत्ति—

'नर्मणः स्फुञ्जो विघ्न इति'

भी इस कैशिकीविशेष का नाम 'नर्मस्फुञ्ज' ही प्रमाणित करती है ।

दशरूपककार के अनुसार इसका नाम 'नर्मस्फिञ्ज' है—

'नर्मस्फिञ्जो सुखारम्भो भयान्तो नवसंगमे ।' (दशरूपक : २.५१)

अनुवाद—'नर्मस्फोट' वह कैशिकी-भेद है जिसे (भय, हास, हर्ष, त्रास, रोष आदि) विविध भावलेशों से किंचिन्मात्र अभिव्यक्त प्रेमी-प्रेमिका के रतिभाव का वैचित्र्य कहा गया है ।

इसका उदाहरण 'मालतीमाधव' का यह प्रसङ्ग है—

'मकरन्द—माधव को यह सब क्या हो रहा है-चाल में आलस, दृष्टि की शून्यता, शरीर की म्लानि, श्वास का बाहुल्य, पता नहीं क्या रोग है ! यह सब रोग नहीं, बस मालती के प्रेम का प्रभाव है । संसार में काम का शासन अक्षुण्ण है, यौवन में चित्त को कौन संभाल सकता है और सौन्दर्य और माधुर्य तो सदा हृदय को उद्वेलित करने के लिये ही उत्पन्न हुये हैं ।'

अलसगमनादिभिर्भावलेशैर्माधवस्य मालत्यामनुरागः स्तोकः प्रकाशितः ।

(४—नर्मगर्भ)

नर्मगर्भो व्यवहृतिर्नेतुः प्रच्छन्नवर्तिनः ।

यथा—

तत्रैव सखीरूपधारिणा माधवेन मालत्या मरणव्यवसायवारणम् ।

(२—सात्त्वती वृत्ति : अङ्गचतुष्टय : स्वरूपनिरूपण)

अथ सात्त्वती—

सात्त्वती बहुला सत्त्व-शौर्यत्यागदयार्जवैः ॥ १२८ ॥
सहर्षा क्षुद्रशृङ्गारा विशोका साद्भुता तथा ।
उत्थापकोऽथ सांघात्यः संलापः परिवर्त्तकः ॥ १२९ ॥
विशेषा इति चत्वारः सात्त्वत्याः परिकीर्त्तिताः ।
उत्तेजनकरो शत्रोर्वागुत्थापक उच्यते ॥ १३० ॥

यहाँ यह स्पष्ट है कि चाल में आलस आदि भावलेशों से मालती के प्रति माधव के प्रेम का कुछ-कुछ प्रकाशन अवश्य हो रहा है ।

विमर्श—यहां साहित्यदर्पणकार ने दशरूपक का ही सर्वथा अनुसरण किया है । नाट्याचार्य भरतमुनि का यह नर्मस्फोट-लक्षण ही सभी नाट्यशास्त्रकारों की नर्मस्फोट-परिभाषा का आधार है—

'विविधानां भावानां लवैर्लवैर्भूषितो बहुविशेषः ।
असमग्राक्षिप्तरसो नर्मस्फोटस्तु विज्ञेयः ॥' (नाट्यशास्त्र : २०.६०)

अनुवाद—'नर्मगर्भ' कैशिकी का वह भेद है जिसे छद्मवेषधारी प्रेमी का, प्रेमिका के साथ, प्रेमव्यवहार कहा गया है ।

इसका उदाहरण 'मालतीमाधव' का वह प्रसङ्ग है जहाँ माधव, मालती की सखी के वेष में, मालती को, उसके मरण-निश्चय से डिगाने की सफल चेष्टा करता है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में 'नर्मगर्भ' की यह परिभाषा है—

'विज्ञानरूपशोभाधनादिभिर्नायको गुणैर्यत्र ।
प्रच्छन्नं व्यवहरते कार्यवशान्नर्मगर्भोऽसौ ॥' (नाट्यशास्त्र : २०.६१)

अभिनवभारतीकार की यह 'नर्मगर्भ' व्युत्पत्ति भी इसका अभिप्राय स्पष्ट कर देती है—

'नर्मोपयोगिनः विज्ञानाद्या गर्भीकृता इव प्रच्छन्नतया यत्रेति, यथा प्रच्छन्नरूपो नायकः संकेतस्थानं गच्छति ।'

अनुवाद—सात्त्वती वृत्ति—

'सात्त्वती' वह वृत्ति है जिसमें सत्त्व, शौर्य, त्याग, दया और आर्जव आदि का प्रकाश हुआ करता है । इसमें प्रसन्नता की प्राप्ति स्वाभाविक है । इसमें शृङ्गार का भी पुट रहा करता है । करुण का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं । इसमें अद्भुत रस के प्रकाशन का अद्भुत सामर्थ्य है । इसके ये चार अंशविशेष हैं—(१) उत्थापक, (२) सांघात्य, (३) संलाप और (४) परिवर्तक । इन चारों अंशों में (१) 'उत्थापक' का अभिप्राय शत्रु को उत्तेजित करनेवाली वाणी का अभिप्राय है ।

यथा महावीरचरिते—

'आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा
वैतृष्ण्यन्तु ममापि सम्प्रति कुतस्त्वद्दर्शने चक्षुषः।
त्वत्साङ्गत्यसुखस्य नाऽस्मि विषयस्तत् किं वृथा व्याहृतैः ?
अस्मिन् विश्रुतजामदग्न्यदमने पाणौ धनुर्जृम्भताम् ॥'

मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः सांघात्यः सङ्घभेदनम् ।

मन्त्रशक्त्या यथा—मुद्राराक्षसे राक्षससहायानां चाणक्येन स्वबुद्धया भेदनम् । अर्थशक्त्यापि तत्रैव ।

दैवशक्त्या यथा—रामायणे रावणाद्विभीषणस्य भेदः ।

संलापः स्याद्गभीरोक्तिर्नानाभावसमाश्रयः ॥ १३१ ॥

यथा वीरचरिते—

'रामः—अयं सः, यः किल सपरिवारकार्त्तिकेयविजयावर्जितेन भगवता नीललोहितेन परिवत्सरसहस्रान्तेवासिने तुभ्यं प्रसादीकृतः परशुः ।

परशुरामः—राम दाशरथे ! स एवायमार्यपादानां प्रियः परशुः ।' इत्यादि।

जैसे कि 'महावीरचरित' की इस उक्ति अर्थात्—

'तुम मेरी आँखों के सामने आये-मुझे आनन्द देने के लिये, आश्चर्यचकित करने के लिये और दुःख भी देने के लिये ! तुम्हें देखते भला मेरी आँखों में तृप्ति कहाँ ? मैं तुम्हारा शत्रु ठहरा, मेरा और तुम्हारा संग-साथ कहाँ और संग-साथ का आनन्द भी कहाँ ! व्यर्थ अब मैं कुछ नहीं कहता, बस अपने हाथ में धनुष पकड़ो, मैं भी देखूँ कि महावीर परशुराम के विजेता के हाथ में कितना दम है।'

में, जो नाट्यात्मक वैशिष्ट्य है वह सात्वती वृत्ति के 'उत्थापक' रूप अंश का ही वैशिष्ट्य है।

(२) अर्थात् 'सांघात्य' का अभिप्राय मन्त्रशक्ति, अर्थशक्ति, दैवशक्ति आदि-आदि शक्तियों द्वारा संघ-भेदन का अभिप्राय है। जैसे कि (महाकवि विशाखदत्त रचित) 'मुद्राराक्षस' में, चाणक्य की राजनीति के दाँवपेंच से, राक्षस के सहायकों में फूट पैदा करने का वर्णन, 'मन्त्रशक्तिकृत' सांघात्य की ही योजना है। अर्थशक्तिकृत 'सांघात्य' भी मुद्राराक्षस में ही यत्र-तत्र स्पष्ट है। दैवशक्तिकृत 'सांघात्य' का उदाहरण रामायण-कथाश्रित नाटकों में रावण और विभीषण के पारस्परिक भेद का प्रकाशन है।

(३) अर्थात् 'संलाप' ऐसी गंभीर उक्ति को कहते हैं जिसमें विविध भावों के प्रकाशन का सामर्थ्य रहा करता है। जैसे कि 'महावीरचरित' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राम—ओह ! क्या यही वह परशु है जिसे कुमार कार्तिकेय और उनके सहायकों पर आपकी विजय से प्रसन्नहृदय भगवान् शङ्कर ने, सहस्रों वर्षों तक धनुर्वेद का अभ्यास करनेवाले आप जैसे अपने शिष्य को, पुरस्कार रूप में दिया है ?

परशुराम—राम ! तुमने ठीक कहा, हमारे पूज्य आचार्य शङ्कर का यही वह प्रिय परशु है।'

इत्यादि में, जो वृत्ति है वह 'संलाप'रूप सात्वती वृत्ति ही है।

प्रारब्धादन्यकार्याणां करणं परिवर्तकः ।

यथा वेण्याम्—

'भीमः—सहदेव ! गच्छ त्वं गुरुमनुवर्तस्व । अहमप्यस्त्रागारं प्रविश्यायुधसहायो भवामीति यावत् । अथवा आमन्त्रयितव्यैव मया पाञ्चाली ।' इति ।

और (४) अर्थात् 'परिवर्तक' वह सात्त्वती प्रकार है जिसे प्रस्तुत कार्य से भिन्न प्रकार के कार्यों में तत्परता का प्रकाशन कहा करते हैं। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—सहदेव ! जाओ, तुम युधिष्ठिर का साथ दो। मैं भी तब तक अस्त्रागार में चलता हूँ और अस्त्र लेकर आता हूँ। और मुझे द्रौपदी से भी तो बिदा लेनी है।'

आदि में, जो वृत्ति-योजना है वह सात्त्वती-वृत्ति के 'परिवर्तक' रूप प्रकार की ही योजना है।

विमर्श—(क) 'सात्त्वती' वृत्ति का सर्वप्रथम अभिप्राय अनुकार्य पुरुषों के विविध मानसिक व्यापार का अभिप्राय है। साथ ही साथ आङ्गिक, वाचिक और सात्त्विक अभिनय से युक्त अनुकर्तृजन (नट) के भी मानसकार्यरूप का नाम 'सात्त्वती वृत्ति' ही है। नाटकीय चरितों के मानसिक व्यापार भिन्न-भिन्न प्रकारों से प्रकाशित हुआ करते हैं। कहीं विचित्र गम्भीर उक्ति-प्रत्युक्ति (संलाप) द्वारा, कहीं एक कार्य के करते हुये कार्यान्तर के प्रति तत्परता (परिवर्तक) द्वारा, कहीं परपक्ष से उत्तेजना की उत्पत्ति (उत्थापक) के द्वारा और कहीं नीति के दाँवपेंच से परपक्ष-भेदन (सांघात्य) के द्वारा, अनुकार्य चरितों का जो भी व्यक्तित्व-प्रकाशन है वह सब एक शब्द में 'सात्त्वती वृत्ति' कहा जाता है (**इदं च मानसं कर्म विचित्राभिर्गम्भीरोक्तिभिः, प्रारब्धकार्यापरित्यागात् कार्यान्तरपरिग्रहेण, संग्रामाय परोत्साहनेन, सामादिप्रयोगदैवादिना अरिसंघातभेदजननेनान्यैश्च बहुभिः प्रकारैर्लक्ष्यत इति**—नाट्यदर्पण ३य विवेक)। वस्तुतः तो 'सात्त्वती वृत्ति' के प्रकार-परिगणन की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि मानसिक कर्मकलाप की गणना असंभव है, किन्तु नाटकों में निबद्ध चरितों के मानसव्यापार का विश्लेषण करते हुए कतिपय नाट्याचार्यों ने कतिपय मानस-व्यापारों को सात्त्वती के भेद-चतुष्टय के रूप में मान लिया है। साहित्यदर्पणकार भी इन्हीं नाट्याचार्यों के अनुयायी हैं।

(ख) नाट्याचार्य भरतमुनि ने सात्त्वती वृत्ति का यह स्वरूप-निरूपण किया है—

'या सात्त्वतेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता च ।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्त्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥
वागङ्गाभिनयवती सत्त्वोत्थानवचनप्रकरणेषु ।
सत्त्वाधिकारयुक्ता विज्ञेया सात्त्वती वृत्तिः ॥
वीराद्भुतरौद्ररसा निरस्तशृंगारकरुणनिर्वेदा ।
उद्धतपुरुषप्राया परस्पराधर्षणकृता च ॥'
'उत्थापकश्च परिवर्तकश्च संल्लापकश्च संघात्यः ।
चत्वारोऽस्याः भेदा विज्ञेया नाट्यतत्त्वज्ञैः ॥
अहमप्युत्थास्यामि त्वं तावद्दर्शयात्मनः शक्तिम् ।
इति संघर्षसमुत्थस्तज्ज्ञैरुत्थापको- ज्ञेयः ॥
उत्थानसमारब्धानर्थानुत्सृज्य योऽर्थयोगवशात् ।
अन्यानर्थान् कुरुते स चापि परिवर्तको ज्ञेयः ॥
सांघर्षो निराधर्षोऽपि वा रागवचनसंयुक्तः ।

साधिक्षेपालापो ज्ञेयः सँल्लापकः सोऽपि ॥
मन्त्रार्थवाक्यशक्त्या दैववशादात्मदोपयोगाद्वा ।
संघातभेदजननस्तज्ज्ञैः संघात्यको ज्ञेयः ॥'

(नाट्यशास्त्र : २०. ४१–५०)

जिससे यह पता चलता है कि 'सात्त्वती वृत्ति' का सम्बन्ध सात्त्विकाभिनय से है और इसमें वीर, रौद्र और अद्भुत रसों के अभिव्यञ्जन की शक्ति निहित है। धर्मयुद्ध के प्रेमी वीर पुरुषों का मनोव्यापार यदि 'सात्त्वती' की कल्पना का मूल है तो कूटयुद्ध के धनी योद्धा लोगों का मानस-व्यापार 'आरभटी' की कल्पना का मूल है। 'धीरोदात्त' नायक के मानसिक व्यापार का विश्लेषण यदि 'सात्त्वती' के रूप में किया जा सकता है तो 'धीरोद्धत' नायक का मनोव्यापार-विश्लेषण 'आरभटी' के रूप में।

'सात्त्वती' का सम्बन्ध शृंगार, करुण और निर्वेद से नहीं है क्योंकि वैसे तो रति, शोक और निर्वेद से आविष्ट लोगों में भी मनोव्यापार अवश्य हुआ करता है किन्तु इन भावों के आवेश में मन का व्यापार उतना उन्मुक्त और स्फूर्तिशील नहीं हुआ करता जितना कि उत्साह, क्रोध और विस्मय के भावों के आवेश में। 'शृङ्गार' में मन भोगविषयों में निमग्न रहा करता है, 'करुण' में मन भोग-विषयों से दूर भागना चाहता है और निर्वेद में मन किंकर्त्तव्य-विमूढ़ पड़ा रहता है। उत्साहशील, क्रुद्ध किंवा विस्मयस्तिमित व्यक्ति के मन की स्फूर्ति कुछ विचित्र ही हुआ करती है। जहाँ कहीं कवि अथवा नाटककार अपनी काव्य अथवा नाट्यकृतियों में उत्साहाविष्ट, क्रोधाक्षिप्त किंवा विस्मयाविद्ध चरित का चित्रण करता है वहाँ 'सात्त्वती वृत्ति' की ही रूपरेखा निर्मित होती है।

सात्त्वती वृत्ति के प्रथम प्रकार का 'उत्थापक' नाम सर्वथा सार्थक है क्योंकि उत्साह, क्रोध अथवा विस्मय के भावों का प्रथम परिस्पन्द मन को अधिक से अधिक ऊपर उठाता है। दबे मन का उत्साह क्या और क्रोध क्या और विस्मय भी क्या? 'वेणीसंहार' में भीम के मनोव्यापार की जो रूपरेखा इस सूक्ति अर्थात्—

'स्पृष्टा येन शिरोरुहेषु पशुना पाञ्चालराजात्मजा
येनास्याः परिधानमप्यपहृतं राज्ञां कुरूणां पुरः।
यस्योरःस्थलशोणितासवमहं पातुं प्रतिज्ञातवान्
सोऽयं मद्भुजपञ्जरे निपतितः संरक्ष्यतां कौरवाः ॥'

में खिंची है उसमें सात्त्वती के 'उत्थापक' प्रकार का ही चित्र झलक रहा है।

क्रोध के आवेश में उठा मन जिधर चाहे उधर चल पड़ता है, एक कार्य को छोड़कर दूसरे कार्य में समर्थ हो सकता है। उत्साह और विस्मय से आविष्ट मन की भी यही बात है। इस परिस्थिति में मन के व्यापार को 'परिवर्तक' कहना उचित ही है।

मन की यह उठान और पटक परस्पर अधिक्षेपपूर्ण वचनों में और भी अधिक प्रकाशित होती है और यहीं 'सँल्लापक' की रूपरेखा है। केवल अधिक्षेपपूर्ण वचन से ही 'सत्त्व' का पूर्ण प्रकाश नहीं हो जाता। उत्साह और क्रोध के आवेश में पक्ष और प्रतिपक्ष एक दूसरे को दबाने के लिये तरह-तरह की चालें सोचने और चलने में लग जाते हैं। यहाँ मन का व्यापार बड़ा व्यापक और स्फूर्तिमय हो उठता है। इसके नामकरण के लिये 'संघात्य' शब्द का प्रयोग किया जाया करता है जोकि सात्त्वती के एक प्रकारविशेष का नाम है।

(ग) भरतनाट्यशास्त्र और अभिनवभारती के इस 'सात्त्वती'विश्लेषण को बाद के नाट्याचार्यों ने, परम्परा-रक्षण के ही रूप में, अपने-अपने ढंग से अपने-अपने ग्रन्थों में उपनिबद्ध

(३—आरभटीवृत्ति : साङ्गोपाङ्गवर्णन)

अथारभटी—

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ॥ १३२ ॥
संयुक्ता वधबन्धाद्यैरुद्धतारभटी मता ।
वस्तूत्थापनसंफेटो संक्षिप्तिरवपातनम् ॥ १३३ ॥
इति भेदास्तु चत्वार आरभट्याः प्रकीर्तिताः ।
मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमुच्यते ॥ १३४ ॥

यथोदात्तराघवे—

'जीयन्ते जयिनोऽपि सान्द्रतिमिरव्रातैर्वियद्व्यापिभि-
भास्वन्तः सकला रवेरपि कराः कस्मादकस्मादमी ।
एते चोग्रकबन्धकण्ठरुधिरैराध्मायमानोदरा
मुञ्चन्त्याननकंदरानलमुचस्तीव्रान् रवान् फेरवाः ॥' इत्यादि ।

सम्फेटस्तु समाघातः क्रुद्धसत्वरयोर्द्वयोः ।

यथा मालत्यां माधवाघोरघण्टयोः ।

किया है। 'उत्थापक', 'परिवर्तक', 'सँल्लापक' और 'संघात्य', जो कि 'नियुद्ध' अथवा 'मल्लयुद्ध' में प्रतिस्पर्द्धी योद्धाओं के अङ्ग-वचन और मन के सम्मिलित व्यापारों के विविध नामरूप हैं, नाट्यशास्त्र में 'सात्त्वती' वृत्ति के 'प्रकारचतुष्टय' की पारिभाषिकता में स्वीकार किये गये हैं। अङ्ग और वचन का सहयोग होने पर भी मन के व्यापारों का बाहुल्य 'सात्त्वती' की संज्ञा का कारण है।

अनुवाद—आरभटी वृत्ति—'आरभटी' वह वृत्ति है जिसे माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, अधैर्य आदि-आदि के व्यापारों में प्रवण मन का कर्मकलाप कहा जाया करता है। शत्रु के वध अथवा बन्धन आदि इसी वृत्ति के बाह्य रूप हैं। इसका औद्धत्य के साथ अटूट सम्बन्ध है। इसके चार भेद हैं—(१) वस्तूत्थापन, (२) संफेट, (३) संक्षिप्ति और (४) अवपातन। इन चारों भेदों में (१) अर्थात् 'वस्तूत्थापन' वह है जिसे माया आदि के द्वारा वस्तु का उत्थापन अथवा प्रकटन कहा जाया करता है।

उदाहरण के लिए, 'उदात्तराघव' की इस सूक्ति अर्थात्—

'आकाशमण्डल को आच्छन्न करनेवाले घनघोर सतमस-समूह से, अकस्मात्, ऐसा लगता है जैसे भगवान् भास्कर के भी प्रचण्ड किरणसमूह पराजित होते जा रहे हैं और चारों ओर भयंकर रुण्ड-मुण्डों के रुधिर-पान से, फटते से प्रतीत होनेवाले, पेटों को फुलाये और कन्दरोपम मुखों से आग की सी लपटें निकालते शृगालों ने भीषण चीत्कार मचाना प्रारम्भ कर दिया है।'

में, जिस मनोव्यापार का प्रकाशन है उसमें आरभटी के ही 'वस्तूत्थापन' रूप प्रथम प्रकार का दर्शन किया जा सकता है।

(२) अर्थात् 'संफेट' वह आरभटी-प्रकार है जिसे क्रुद्ध और त्वराशील पक्ष और विपक्ष का परस्पर समाघात (प्रहार) कहा जाया करता है।

. जैसे कि 'मालतीमाधव' में, 'माधव' और 'अघोरघण्ट' का जो घात-प्रतिघात-वर्णन है उसमें 'संफेट' की ही रूपरेखा दिखायी देती है।

संक्षिप्ता वस्तुरचना शिल्पैरितरथापि वा ॥ १३५ ॥
संक्षिप्तिः स्यान्निवृत्तौ च नेतुर्नेत्रन्तरग्रहः ।

यथोदयनचरिते कलिङ्गहस्तिप्रयोगः । द्वितीयं यथा वालिनिवृत्त्या सुग्रीवः। यथा वा परशुरामस्यौद्धत्यनिवृत्त्या शान्तत्वापादनम्–'पुण्या ब्राह्मणजातिः–'इति।

प्रवेशत्रासनिष्क्रान्तिहर्षविद्रवसंभवम् ॥ १३६ ॥
अवपातनमित्युक्तं—

यथा कृत्यारावणे षष्ठेऽङ्के—'(प्रविश्य खड्गहस्तः पुरुषः)' इत्यतः प्रभृति निष्क्रमणपर्यन्तम् ।

---

(३) अर्थात् 'संक्षिप्ति' वह आरभटी-भेद है जिसे कौशल द्वारा अथवा और किसी प्रकार से किसी वस्तुविशेष की संक्षिप्त रचना कहा गया है। साथ ही साथ एक नाटकीय चरित के स्थान पर दूसरे नाटकीय चरित (अथवा किसी नाटकीय चरित के किसी एक वैशिष्ट्य के स्थान पर उसके दूसरे वैशिष्ट्य) का परिवर्तन भी 'संक्षिप्ति' ही है।

उदाहरण के लिए, वत्सराज उदयनके चरित से सम्बद्ध रूपक-प्रबन्धों में 'कलिङ्ग-हस्तिप्रयोग' (लकड़ी के बने नकली हाथी से उदयन को वश में करने की घटना) वस्तुतः 'कौशल द्वारा उत्थापित वस्तुविशेष' रूप संक्षिप्ति-प्रकार ही है। इसी भाँति, एक नाट-कीय चरित के स्थान पर दूसरे नाटकीय चरित के परिवर्तन में जो 'संक्षिप्ति' संभव है उसका उदाहरण रामचरित से सम्बद्ध रूपक-प्रबन्धों (जैसे कि 'महावीरचरित') में मृत वालि के स्थान पर सुग्रीव की स्थापना में देखा जा सकता है। इसी प्रकार किसी नाटकीय चरित के एक वैशिष्ट्य के स्थान पर उसके दूसरे वैशिष्ट्य के परिवर्तन में जो संक्षिप्ति-रूप हो सकता है वह भी, राम-सम्बन्धी रूपक-प्रबन्धों (जैसे कि 'महावीर-चरित') में ही, परशुराम के उद्धत स्वभाव के बदले उनके शान्त-सौम्य स्वभाव के परि-वर्तन में, जिसें 'पुण्या ब्राह्मणजातिः' आदि सूक्तिओं में स्पष्ट देखा जा सकता है, स्पष्ट प्रतीत हुआ करता है। और—

(४) अर्थात् 'अवपातन' वह आरभटी-प्रकार है जिसे इतस्ततः यातायात, त्रास, हर्ष, विद्रव आदि-आदि का सम्मेलन कहा गया है।

जैसे कि 'कृत्यारावण' के षष्ठ अंक में 'एक खड्गधारी पुरुष के प्रवेश' (प्रविश्य खड्गहस्तः पुरुषः) से लेकर उस खड्गधारी पुरुष के निष्क्रमण (रंग-मञ्च से चले जाने) तक का जो प्रसंग है उसमें 'अवपातन' का ही स्वरूप परिलक्षित होता है।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'आरभटी' वृत्ति की यह परिभाषा की है—

'आरभटप्रायगुणा तथैव बहुकपटवञ्चनोपेता।
दम्भानृतवचनवती त्वारभटी नाम विज्ञेया॥
पुस्तावपातप्लुतलंघितानि
च्छेद्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्।
चित्राणि युद्धानि च यत्र नित्यं
तां तादृशीमारभटीं वदन्ति॥

षाड्गुण्यसमारब्धा हठातिसन्धानविद्रवोपेता।
लाभालाभार्थकृता विज्ञेया वृत्तिरारभटी॥
संक्षिप्तिकावपातौ वस्तूत्थापनमथापि संफेटः।
एते ह्यस्याः भेदाः.............................॥
अन्वर्थशिल्पयुक्तो बहुपुस्तोत्थानचित्रनेपथ्यः।
संक्षिप्तवस्तुविषयो ज्ञेयः संक्षिप्तको नाम॥
भयहर्षसमुत्थानं विद्रवविनिपातसंभ्रमाचरणम्।
क्षिप्रप्रवेशनिर्गममवपातमिमं विजानीयात्॥
सर्वरससमासकृतं सविद्रवाविद्रवाश्रयं वापि।
नाट्यं विभाव्यते यत्तद्वस्तूत्थापनं ज्ञेयम्॥
संरम्भसंप्रयुक्तो बहुयुद्धनियुद्धकपटनिर्भेदः।
शस्त्रप्रहारबहुलः सम्फेटो नाम विज्ञेयः॥'

(नाट्यशास्त्र : २०.६४, ७१)

जिसका अभिप्राय यह है—'आरभटी' वृत्ति वस्तुतः क्रोधावेग आदि से संभूत आंगिक, वाचिक और मानसिक व्यापार-विशेष का नाम है। 'आरभट' ऐसे योद्धा को कहा करते हैं जो कि 'आर' अथवा 'प्रतोद' (हाथी के चलाने के अंकुश) के समान हिंसन-समर्थ हो। जहाँ भी रूपक-प्रबन्धों में ऐसे 'आरभट' हों वहाँ 'आरभटी' वृत्ति विराजमान रहा करती है। 'आरभट' (योद्धा) और अनृत, द्वन्द्व, वञ्चना आदि-आदि के चित्र-विचित्र प्रकारों का जन्मजात सम्बन्ध है। इसलिये 'आरभटी' में अनृत, द्वन्द्व, वञ्चना आदि-आदि की अनेकानेक विचित्रताओं का समावेश रहा करता है। 'आरभटी' वृत्ति के साथ आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य—इन चारों अभिनयों का सम्बन्ध है। यह वृत्ति दीप्त रसभावों से समन्वित वृत्ति है—**'भयानके च बीभत्से रौद्रे चारभटी भवेत्'**। (नाट्यशास्त्र)

यद्यपि चारों वृत्तियाँ परस्पर संकीर्ण वृत्तियाँ हैं क्योंकि कायिक, वाचिक और मानस व्यापारों का असंकीर्ण विभाग असम्भव है किन्तु तब भी किसी व्यापार के किंचिन्मात्र प्राधान्य के कारण, आरभटी, भारती आदि विभाग किये जा सकते हैं। नाट्याचार्य भरतमुनि ने इसीलिए कहा है:—

'न ह्येकरसजं काव्यं किञ्चिदस्ति प्रयोगतः।
भावो वापि रसो वापि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा॥
सर्वेषां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः॥'

(नाट्यशास्त्र : २२.६७-६८)

और इसीलिये आचार्य अभिनवगुप्त का भी कहना है—

'चतस्र इति चतुर्भेदत्वम् अन्यतमचेष्टांशप्राधान्यविवक्षया। अपरथा अनेकव्यापारसंवलितमेव वृत्तितत्त्वम् न नाम प्रबन्धेषु व्यापारान्तरासंवलितः कोऽप्येकाकी—कायिको वाचिको मानसो वा व्यापारो लभ्यते।'

किन्तु बाद के नाट्याचार्यों में वृत्ति-तत्त्व के इस विमर्श के बदले 'वृत्तिचतुष्टय' की परम्परा का ही प्रचलन दिखाई देता है। साहित्यदर्पणकार ने भी 'वृत्तयो नाट्यमातरः' की मान्यता का हाँ ध्यान रखा है और इसी दृष्टि से 'आरभटी' और उसके प्रकारों का लक्षण-निरूपण आदि किया है।

(४—भारती वृत्ति)

—पूर्वमुक्तैव भारती ।

(नाट्योक्ति-निर्देश)

अथ नाट्योक्तयः—

अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम् ॥ १३७ ॥
सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्तद्भवेदपवारितम् ।
रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते ॥ १३८ ॥
त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात्तज्जनान्ते जनान्तिकम् ॥ १३९ ॥
किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥ १४० ॥

यः कश्चिदर्थो यस्माद्गोपनीयस्तस्यान्तरत ऊर्ध्वं सर्वाङ्गुलिनामितानामिकं त्रिपताकलक्षणं करं कृत्वान्येन सह यन्मन्त्र्यते तज्जनान्तिकम्। परावृत्यान्यस्य रहस्यकथनमपवारितम् । शेषं स्पष्टम् ।

अनुवाद—'वृत्तिचतुष्टय' में भारती वृत्ति का जो स्वरूप है उसका निरूपण पहले ही (अर्थात् स्थापना-निरूपण के प्रसङ्ग में) कर दिया गया है।

विमर्श—भारती वृत्ति और वाचिकाभिनय का अटूट संबन्ध है। यह वृत्ति समस्त रूपक-भेदों और समस्त रस-भेदों की वृत्ति है। आचार्य रामचन्द्र ने स्पष्ट कहा है—

'सर्वरूपकभावित्वात्, रसानां च वाग्जन्यत्वात् सर्वरसात्मकत्वम्'''भारतीरूपत्वात् व्यापारस्य भारतीति।' (नाट्यदर्पण : ३ य विवेक)

अनुवाद—नाट्योक्ति-निरूपण :—

'स्वगत' का अभिप्राय ऐसे वचन से है जो किसी दूसरे को सुनाने के लिये न हो। (इसी को 'आत्मगत' भी कहा करते हैं)। 'प्रकाश' सभी के श्रवण-योग्य वचन का नाम है। 'अपवारित' उस वचन को कहते हैं जिसे किसी के प्रति गोपनीय समझकर, उससे अन्यत्र हटकर, दूसरे पर प्रकाशित किया जाया करता है। 'जनान्तिक' कई एक पात्रों के परस्पर वार्तालाप के प्रसङ्ग में, दो पात्रों के बीच होनेवाली वह बातचीत है जिसे वे 'त्रिपताक' नामक हस्त-मुद्रा द्वारा इसलिये किया करते हैं जिसमें और कोई उसे सुनने उनके पास न आना चाहे। 'आकाशभाषित' वह बातचीत है जो बिना किसी और पात्र की उपस्थिति के, 'क्यों भाई क्या कहा ?' आदि कह-सुनकर, एक ही पात्र द्वारा, कही-सुनी जाया करती है। यहाँ 'जनान्तिक' का अभिप्राय यह है—

जब कोई पात्र किसी पात्र के प्रति कोई बात गोपनीय रखना चाहता है तब वह ऐसी हस्त-मुद्रा बनाया करता है जिसमें और सब अंगुलियाँ तो ऊपर उठी रहें और अनामिका झुकी रहे। यह हस्त-मुद्रा 'त्रिपताक'-कर कही जाती है। इस प्रकार 'त्रिपताक' दिखा-कर, एक को सुनने से मना करके, दूसरे को सुनायी गयी बात 'जनान्तिक' है। 'अपवा-रित' भी एक प्रकार की गोपनीय बातचीत ही है जिसे दो पात्र आपस में किया करते हैं

(नाटकपात्रों का नाम-निर्देश)

दत्तां सिद्धां च सेनां च वेश्यानां नाम दर्शयेत् ।
दत्तप्रायाणि वणिजां चेटचेट्योस्तथा पुनः ॥ १४१ ॥
वसन्तादिषु वर्ण्यस्य वस्तुनो नाम यद्भवेत् ।

वेश्या यथा वसन्तसेनादिः । वणिग्विष्णुदत्तादिः । चेटः कलहंसादिः । चेटी मन्दारिकादिः ।

और उस पात्र की ओर पीठ फेरकर किया करते हैं जिसे वे सुनाना नहीं चाहते। 'जनान्तिक' और 'अपवारित' के अतिरिक्त 'स्वगत' आदि नाट्योक्तियाँ तो स्वयं स्पष्ट हैं।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में नाटकीय वृत्त के चार मुख्य प्रकारों का निर्देश है। ये चार मुख्य प्रकार—'सूच्य' 'प्रयोज्य' 'अभ्यूह्य' और 'उपेक्ष्य' कहे जाते हैं। 'सूच्य' तो वह वृत्त है जो अरंजक हुआ करता है किन्तु नाटकीय इतिवृत्त के लिये उपयोगी भी रहा करता है। इसी के लिये 'विष्कम्भक' आदि की योजना अपेक्षित होती है। 'प्रयोज्य' वह वृत्त है जो रञ्जक हुआ करता है और अभिनय-चतुष्टय द्वारा सामाजिकों के साक्षात्कार के लिये समर्पित किया जाया करता है। इन दोनों वृत्तों के साथ सम्बद्ध गमनागमनादिरूप वृत्त 'ऊह्य' प्रकार का वृत्त है। 'उपेक्ष्य' वृत्त का अभिप्राय भोजन-स्नान-शयनादि से सम्बद्ध वृत्त है जो प्रस्तुतोपयोगी किंवा रञ्जक होने के कारण रूपक-प्रबन्धों में यत्र-तत्र उपनिबद्ध किया जाया करता है। इन चार मुख्य वृत्त-प्रकारों के अतिरिक्त 'प्रकाश' 'स्वगत' 'अपवारित' 'जनान्तिक' और 'आकाशभाषित' भी रूपकप्रबन्धों के वृत्त-भेद ही हैं। 'प्रकाश' वह वृत्त-प्रकार है जो सर्वश्राव्य हुआ करता है। (यद्वृत्तमगोप्यतयाऽन्येषामात्मव्यतिरिक्तानामपि ज्ञाप्यं तत् प्रकाशत इति प्रकाशम्)। 'स्वगत' वह वृत्तभेद है जो अन्यों के लिये गोपनीय माना जाया करता है। (यत् पुनरन्येषां गोप्यतया स्वहृद्येव स्थितं तत् स्वगतम्)। 'अपवारित' वह वृत्त-प्रकार है जिसे एक किसी के लिये गोपनीय रखकर वर्णित किया जाया करता है (परावृत्त्य अङ्गवलनेनाऽश्रावयितव्येभ्यः पराङ्मुखीभूयाऽन्यस्मै रहस्याख्या या तदपवार्यत बहूनां प्रच्छाद्यत इत्यपवारितम्)। 'जनान्तिक' भी एक वृत्तभेद ही है (त्रिपताकान्तरोऽन्येन जल्पो यस्तज्जनान्तिकम्-ऊर्ध्वसर्वाङ्गुलिर्वक्रानामिकः करस्त्रिपताकः सोऽन्तरमश्राव्यं प्रति व्यवधानं यत्र, अन्येन सह जल्पो जनानामेकस्यैव गोप्यत्वात् बहूनामन्तिकं श्राव्यतया निकटं जनान्तिकम्)। इसी भाँति 'आकाशभाषित' भी एक पात्र का ही प्रश्न-प्रतिवचनरूप वृत्त है (क्वचित् स्वोत्तरार्थमनुभाषणच्छायया परकीयः प्रश्नः, क्वचित् स्वप्रश्नस्यानुभाषणच्छायया परकीयमुत्तरम्)।

अनुवाद—रूपक-प्रबन्धों में नायिका या उपनायिका रूप में उपनिबद्ध गणिका का नाम ऐसा रखना चाहिये जिसके अन्त में 'दत्ता' 'सिद्धा' या 'सेना' पद अवश्य आवे। इसी प्रकार वणिक्जन के नामकरण के लिये ऐसे पद चुनने चाहियें जिनके अन्त में 'दत्त' पद अवश्य आवे। 'चेट' और 'चेटी' के नाम ऐसे रखे जाँय जो कि वसन्त आदि ऋतुओं में वर्णनीय वस्तुओं के वाचक पद हों।

जैसे कि, 'वेश्या' का नाम 'वसन्तसेना' आदि, वणिग्जन का नाम 'विष्णुदत्त' आदि, चेट का नाम 'कलहंस' आदि और 'चेटी' का नाम 'मन्दारिका' आदि।

विमर्श—नाटकीय पात्रों के नाम-निर्देश में वास्तविक जीवन के नाम-निर्देश की छाया झलकती है। जैसे वास्तविक जीवन में शौर्यप्रधान पुरुष का नाम 'भीम' या 'अरिमर्दन' रखा जाया

(नाटक का नामकरण)

नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशकम् ॥ १४२ ॥

यथा रामाभ्युदयादिः ।

('प्रकरण' का नाम-निरूपण)

नायिकानायकाख्यानात्संज्ञा प्रकरणादिषु ।

यथा मालतीमाधवादिः ।

('नाटिकादि' का नामकरण)

नाटिकासट्टकादीनां नायिकाभिर्विशेषणम् ॥ १४३ ॥

यथा रत्नावली-कर्पूरमञ्जर्यादिः ।

(नाटक के कतिपय प्रयोग-विशेष : निर्देश)

प्रायेण ण्यन्तकः साधिर्गमेः स्थाने प्रयुज्यते ।

यथा शाकुन्तले—ऋषी, 'गच्छावः' इत्यर्थे 'साधयावस्तावत्' ।

(नाटक के पात्रों के संबोधन-प्रकार)

राजा स्वामीति देवेति भृत्यैर्भट्टेति चाधमैः ॥ १४४ ॥
राजर्षिभिर्वयस्येति तथा विदूषकेण च ।
राजन्नित्यृषिभिर्वाच्यः सोऽपत्यप्रत्ययेन च ॥ १४५ ॥
स्वेच्छया नामभिर्विप्रैर्विप्र आर्येति चेतरैः ।
वयस्येत्यथवा नाम्ना वाच्यो राज्ञा विदूषकः ॥ १४६ ॥

करता होगा वैसे ही रूपक-प्रबन्धों में भी इसी प्रकार का नाम अपेक्षित माना गया है। यही बात अन्यान्य नामप्रकारों की भी है।

अनुवाद—'नाटक' का नाम ऐसा होना चाहिये जिससे उसके भीतरी अभिप्राय का प्रकाशन हो जाय। जैसे कि 'रामाभ्युदय' आदि।

अनुवाद—'प्रकरण' आदि का नाम नायिका और नायक के मिले-जुले नाम पर रखना उचित है। जैसे कि 'मालतीमाधव' आदि।

अनुवाद—नाटिका और सट्टक आदि का नाम नायिका के नाम पर रखना चाहिये। जैसे कि 'रत्नावली' 'कर्पूरमञ्जरी' आदि।

अनुवाद—रूपक-प्रबन्धों में 'साध्' धातु का ण्यन्तरूप 'साधयति' प्रायः 'गम्' धातु के रूप-'गच्छति' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ करता है।

उदाहरण के लिये 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में दोनों ऋषि 'गच्छावः' न कहकर 'साधयावस्तावत्' कहते हैं।

अनुवाद—सेवकों के द्वारा राजा को 'स्वामिन्' और 'देव' शब्दों से सम्बोधित किया जाया करता है। अधम प्रकृति के व्यक्ति 'भट्ट' शब्द के द्वारा राजा को सम्बोधित किया करते हैं। एक राजा दूसरे राजा के लिये 'वयस्य' पद का प्रयोग करता है। विदूषक भी राजा को 'वयस्य' कहकर ही पुकारा करता है। 'ऋषि-जन' यदि राजा को संबोधित करते

वाच्यौ नटीसूत्रधारावार्यनाम्ना परस्परम् ।
सूत्रधारं वदेद्भाव इति वै पारिपार्श्विकः ॥ १४७ ॥
सूत्रधारो मारिषेति हण्डे इत्यधमैः समाः ।
वयस्येत्युत्तमैर्हंहो मध्यैरार्येति चाग्रजः ॥ १४८ ॥
भगवन्निति वक्तव्याः सर्वैर्देवर्षिलिङ्गिनः ।
वदेद्राज्ञीं च चेटीं च भवतीति विदूषकः ॥ १४९ ॥
आयुष्मन् रथिनं सूतो वृद्धं तातेति चेतरः ।
वत्सपुत्रकतातेति नाम्ना गोत्रेण वा सुतः ॥ १५० ॥
शिष्योऽनुजश्च वक्तव्योऽमात्य आर्येति चाधमैः ।
विप्रैरयममात्येति सचिवेति च भण्यते ॥ १५१ ॥
साधो ! इति तपस्वी च प्रशान्तश्चोच्यते बुधैः ।
स्वगृहीताभिधः पूज्यः शिष्याद्यैर्विनिगद्यते ॥ १५२ ॥
उपाध्यायेति चाचार्यो महाराजेति भूपतिः ।

हैं तो 'राजन्' पद का प्रयोग करते हैं अथवा अपत्यप्रत्ययान्त ('पौरव' आदि) पद का प्रयोग करते हैं। ब्राह्मणों द्वारा ब्राह्मण का सम्बोधन स्वेच्छापूर्वक किया जा सकता है। ब्राह्मण लोग नाम लेकर भी एक दूसरे को सम्बोधित कर सकते हैं किन्तु और लोगों के द्वारा ब्राह्मण के लिये 'आर्य' पद ही सम्बोधन-पद के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। नटी और सूत्रधार, एक दूसरे के सम्बोधन में, 'आर्य' और 'आर्या' पद का प्रयोग किया करते हैं। पारिपार्श्विक यदि सूत्रधार को सम्बोधित करे तो 'भाव' पद का प्रयोग करता है और सूत्रधार यदि पारिपार्श्विक को सम्बोधित करे तो 'मारिष' पद का प्रयोग करता है। नीच श्रेणी के लोग परस्पर सम्बोधन के लिये 'हण्डे' पद का व्यवहार करते हैं, उच्च श्रेणी के लोग परस्पर आमन्त्रण के लिये 'वयस्य' पद का प्रयोग करते हैं और मध्यश्रेणी के लोगों के परस्पर सम्बोधन में 'हंहो' पद का प्रयोग हुआ करता है। छोटे भाई के लिये बड़े भाई के आमन्त्रण में 'आर्य' पद का प्रयोग हुआ करता है। देव, ऋषि और संन्यासी आदि के सम्बोधन के लिये 'भगवन्' पद प्रयुक्त हुआ करता है। रानी और चेटी को आमन्त्रित करने के लिये विदूषक के द्वारा 'भवती' पद का प्रयोग हुआ करता है। सूत के द्वारा रथी के सम्बोधन में 'आयुष्मन्' पद का प्रयोग किया जाया करता है। युवक के द्वारा वृद्ध के आमन्त्रण में 'तात' पद प्रयुक्त होता है। पिता के द्वारा प्रयुक्त पुत्र के आमन्त्रणपद 'वत्स' 'पुत्रक', 'तात', साक्षात् नाम अथवा गोत्र-नाम हैं। गुरु के द्वारा शिष्य के तथा अग्रज के द्वारा अनुज के सम्बोधन-पद भी 'वत्स', 'पुत्रक', 'तात' आदि ही हैं, नीच श्रेणी के लोगों द्वारा 'अमात्य' का आमन्त्रण 'आर्य' पद से हुआ करता है। विप्रजन अमात्य को 'अमात्य' अथवा 'सचिव' पद से सम्बोधित किया करते हैं। तपस्वी और वीतराग का सम्बोधन-पद 'साधो' है। शिष्य आदि के द्वारा पूजनीय पुरुष का आमन्त्रण 'सुगृहीत नाम' पद के प्रयोग-पूर्वक हुआ करता है, आचार्य का आमन्त्रण 'उपाध्याय' पद के प्रयोग से किया जाया करता

स्वामीति, युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः ॥ १५३ ॥
भद्रसौम्यमुखेत्येवमधमैस्तु कुमारकः ।
वाच्या प्रकृतिभी राज्ञः कुमारी भर्तृदारिका ॥ १५४ ॥
पतिर्यथा तथा वाच्या ज्येष्ठमध्याधमैः स्त्रियः ।
हलेति सदृशी, प्रेष्या हञ्जे वेश्याज्जुका तथा ॥ १५५ ॥
कुट्टिन्यम्बेत्यनुगतैः पूज्या च जरती जनैः ।
आमन्त्रणैश्च पाषण्डा वाच्याः स्वसमयागतैः ॥ १५६ ॥
शका(शक्या)दयश्च संभाष्या भद्रदत्तादिनामभिः ।
यस्य यत्कर्म शिल्पं वा विद्या वा जातिरेव वा ॥ १५७ ॥
तेनैव नाम्ना वाच्योऽसौ ज्ञेयाश्चान्ये यथोचितम् ।

(रूपकों का भाषा-विभाग)

अथ भाषाविभागः—

पुरुषाणामनीचानां संस्कृतं स्यात्कृतात्मनाम् ॥ १५८ ॥
सौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनां च योषिताम् ।

है और राजा का आमन्त्रण 'महाराज' पद से सम्पन्न हुआ करता है। युवराज का आमन्त्रणपद 'स्वामिन्' है, राजकुमार का आमन्त्रण-पद 'भर्तृदारक' है और नीच श्रेणी के लोगों के उपयुक्त, राजकुमार के सम्बोधन-पद, 'भद्र', 'भद्रमुख' आदि हैं। प्रजाजन के द्वारा राजकुमारी को 'भर्तृदारिका' पद से सम्बोधित किया जाया करता है। उच्च, नीच और मध्य श्रेणी के लोग स्त्री के लिए उसी आमन्त्रणपद का प्रयोग किया करते हैं जो कि उसके पति के आमन्त्रण में प्रयुक्त किया जाया करता है। समान श्रेणी के स्त्री-पात्र 'हला' पद से एक दूसरे को आमन्त्रित किया करते हैं। दासी का आमन्त्रण 'हञ्जे' पद से, वेश्या का आमन्त्रण 'अज्जुका' पद से और कुट्टिनी का आमन्त्रण 'अम्ब' पद से हुआ करता है। पूजनीय वृद्धा स्त्री का आमन्त्रण-पद 'अम्ब' ही है। पाषण्ड (कापालिक) आदि लोगों का आमन्त्रण उनके सम्प्रदाय में प्रचलित नामों द्वारा ही किया जाया करता है। शक, यवन आदि लोगों के लिए 'भद्र', 'दत्त' आदि नाम संबोधन में प्रयुक्त होते हैं। वस्तुतः बात यह है कि किसी के सम्बोधन में ऐसे ही पद का प्रयोग किया जाया करता है जो कि उसके कर्म, उसके कौशल, उसकी विद्या और उसकी जाति के अनुरूप हो। अन्यत्र तो, जहाँ जैसा उचित हो वहाँ वैसा सम्बोधन किया जाया करता है।

विमर्श—नाटकीय पात्रों के सम्बोधन अथवा आमन्त्रणप्रकारों पर भी लोक-जीवन के सम्बोधन अथवा आमन्त्रणप्रकारों की छाप है। रूपकों में पात्रों की नाम-व्यवस्था वस्तुतः 'लोक-धर्मी' की योजना है, न कि 'नाट्यधर्मी' की।

अनुवाद—(रूपक-प्रबन्धों में) उच्च श्रेणी के पढ़े-लिखे पुरुषों की भाषा 'संस्कृत' हुआ करती है। उच्च श्रेणी की पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ 'शौरसेनी' में बातचीत करती दिखायी

आसामेव तु गाथासु महाराष्ट्रीं प्रयोजयेत् ॥ १५९ ॥
अत्रोक्ता मागधी भाषा राजान्तःपुरचारिणाम् ।
चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठानां चार्धमागधी ॥ १६० ॥
प्राच्यां विदूषकादीनां, धूर्तानां स्यादवन्तिजा ।
योधनागरिकादीनां दाक्षिणात्या हि दीव्यताम् ॥ १६१ ॥
शवराणां शकादीनां शावरीं संप्रयोजयेत् ।
बाह्लीकभाषोदीच्यानां द्राविडी द्राविडादिषु ॥ १६२ ॥
आभीरेषु तथाभीरी चाण्डाली पुक्कसादिषु ।
आभीरी शाबरी चापि काष्ठपात्रोपजीविषु ॥ १६३ ॥
तथैवाङ्गारकारादौ पैशाची स्यात्पिशाचवाक् ।
चेटानामप्यनीचानामपि स्यात्सौरसेनिका ॥ १६४ ॥
बालानां षण्डकानां च नीचग्रहविचारिणाम् ।
उन्मत्तानामातुराणां सैव स्यात्संस्कृतं क्वचित् ॥ १६५ ॥
ऐश्वर्येण प्रमत्तस्य दारिद्र्योपद्रुतस्य च ।
भिक्षुवल्कधरादीनां प्राकृतं संप्रयोजयेत् ॥ १६६ ॥
संस्कृतं संप्रयोक्तव्यं लिङ्गिनीषूत्तमासु च ।
देवीमन्त्रिसुतावेश्यास्वपि कैश्चित्तथोदितम् ।

जाया करती हैं। कुलीन स्त्रियों के गीत की भाषा 'महाराष्ट्री' है। राजा के अन्तःपुर में रहनेवाले वामन, कुब्ज आदि लोगों की भाषा मागधी हुआ करती है। चेट, राजपुत्र और श्रेष्ठिजन की भाषा 'अर्धमागधी' है। विदूषक आदि 'प्राच्या' (गौडी) भाषा का व्यवहार किया करते हैं। धूर्तों की भाषा 'आवन्ती' है। द्यूतसेवी सैनिकों और नागरिकों की भाषा 'दाक्षिणात्या' (वदर्भी) है। शवरों और शक-यवन आदि लोगों की भाषा 'वाह्लीक' और द्राविडों (दक्षिण के लोगों) की भाषा 'द्राविडी' है। आभीरों की भाषा 'आभीरी' और चण्डालों की भाषा 'चण्डाली हुआ करती है। लकड़ी का काम करनेवालों की भाषा 'आभारी' अथवा 'शाबरी' दोनों में से कोई भी हो सकती है। लोहार आदि की भाषा 'पैशाची' हुआ करती है। उत्तम और मध्यम श्रेणी की चेटियों की भाषा 'शौरसेनी' है। साथ ही साथ बालकों, नपुंसकों, छोटे ज्योतिषिओं, उन्मत्तों और आतुर लोगों की भाषा भी 'शौरसेनी' ही हुआ करती है। कहीं-कहीं इन्हें 'संस्कृत' बोलते हुए भी प्रदर्शित किया जाया करता है। धनोन्मत्त अथवा दरिद्र और साथ ही साथ भिक्षुक अथवा परिव्राजक की भाषा 'प्राकृत' रखी जाया करती है। उत्तम जाति की ब्रह्मचारिणियों अथवा परिव्राजिकाओं की भाषा 'संस्कृत' हुआ करती है। कुछ नाट्याचार्य रानी, सचिवपुत्री

कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाविपर्ययः ॥ १६८ ॥
योषित्सखीबालवेश्याकितवाप्सरसां तथा ।
वैदग्ध्यार्थं प्रदातव्यं संस्कृतं चान्तरान्तरा ॥ १६९ ॥

एषामुदाहरणान्याकरेषु बोद्धव्यानि । भाषालक्षणानि मम तातपादानां भाषार्णवे ।

(नाट्य-'लक्षण' और नाट्य-'अलङ्कार')

षट्त्रिंशल्लक्षणान्यत्र, नाट्यालंकृतयस्तथा ।
त्रयस्त्रिंशत्प्रयोज्यानि वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ॥ १७० ॥
लास्याङ्गानि दश यथालाभं रसव्यपेक्षया ।

यथालाभं प्रयोज्यानीति सम्बन्धः । अत्रेति नाटके ।

और वेश्या के लिये भी 'संस्कृत' का प्रयोग उचित मानते हैं। जहाँ तहाँ कार्यवश भाषापरिवर्तन भी किया जा सकता है। साथ ही साथ स्त्री, सखी, बालक, वेश्या, द्यूतकार और अप्सरा के लिये बीच-बीच में 'संस्कृत' भाषा में भी बोलना उचित माना गया है। क्योंकि इससे उनकी विदग्धता का प्रकाशन किया जाया करता है।

इन भाषाओं के उदाहरण रूपक-प्रबन्धों में स्वयं देखे जा सकते हैं। इन भाषाओं के स्वरूप-विमर्श के लिये हमारे पूज्य पितृचरण का 'भाषार्णव' नामक ग्रन्थ पर्याप्त है।

विमर्श—संस्कृत के रूपक-प्रबन्धों में 'भाषाविधान' का सिद्धान्त वास्तविक जीवन के वाग्-व्यवहार की अनुकृति पर आश्रित है। नाट्यदर्पणकार ने संक्षेप में 'भाषाविधान' का यह सिद्धान्त उपस्थित किया है—

'देवानीचनृणां पाठः संस्कृतेनाथ जातुचित् ।
महिषी-मन्त्रिजा-पण्यस्त्रीणामव्याजलिङ्गिनाम् ॥
बाल-षण्ड-ग्रहग्रस्त-मत्त-स्त्री-रूपयोषिताम् ।
प्राकृतेनोत्तमस्यापि दारिद्र्यैश्वर्यमोहिनः ॥
अत्यन्तंनीचभूतादौ पैशाची मागधी च वाक् ।
शौरसेनी तु नीचस्य देशोद्देशे स्वदेशगीः ॥
तिर्यग्जात्यन्तरादीनामानुरूप्येण सत्कथा ।
भाषा-प्रकृति-वृत्तादेः कार्यतः क्वापि लङ्घनम् ॥' (नाट्यदर्पण : ४र्थ विवेक)

अनुवाद—नाटक में, रसाभिव्यञ्जन की दृष्टि से, जहाँ जैसा उचित हो, इन-इन का उपनिबन्ध अपेक्षित है—

(क) ३६ नाट्य-लक्षण ।
(ख) ३३ नाट्यालङ्कार ।
(ग) १३ वीथ्यङ्ग और
(घ) १० लास्याङ्ग ।

(यहाँ नाट्य-लक्षण, नाट्यालङ्कार, वीथ्यङ्ग और लास्याङ्ग के यथालाभ अर्थात् उपयोगितानुसार प्रयोग का निरूपण किया जा रहा है इसलिये कारिका के)

'यथालाभं पद का सम्बन्ध 'प्रयोज्यानि' पद से है और 'अत्र' पद से अभिप्राय ,नाटक' से है।

(३६ लक्षणों का नाम निर्देश)

तत्र लक्षणानि—

भूषणाक्षरसंघातौ शोभोदाहरणं तथा ॥ १७१ ॥
हेतुसंशयदृष्टान्तास्तुल्यतर्कः पदोच्चयः ।
निदर्शनाभिप्रायो च प्राप्तिर्विचार एव च ॥ १७२ ॥
दिष्टोपदिष्टे च गुणातिपातातिशयौ तथा ।
विशेषणनिरुक्ती च सिद्धिभ्रंशविपर्ययौ ॥ १७३ ॥
दाक्षिण्यानुनयौ मालार्थापत्तिर्गर्हणं तथा ।
पृच्छा प्रसिद्धिः सारूप्यं संक्षेपो गुणकीर्तनम् ॥ १७४ ॥
लेशो मनोरथोऽनुक्तसिद्धिः प्रियवचस्तथा ।

विमर्श—'नाट्य-लक्षण' और 'नाट्यालङ्कार' का एकमात्र उपयोग नाटक के इतिवृत्तरूप शरीर में रसाभिव्यञ्जन-सामर्थ्य का अधिकाधिक आधान है। वीथ्यङ्गों की योजना से 'नाटक' का इतिवृत्तात्मक शरीर क्षण-क्षण नवीन हुआ करता है और रमणीय लगा करता है। 'वीथी' वस्तुतः 'भारतीवृत्ति' की ही एक सुन्दर झाँकी है। सभी रूपक-प्रबन्ध 'वीथी' (वक्र-मार्ग) से ही चला करते हैं। लास्याङ्गों' का नाटक में उपयोग कवि और अभिनेता-दोनों की दृष्टि से है और इसका कारण 'रञ्जनावैचित्र्य' है। वैसे तो विश्वनाथ कविराज के पूर्ववर्ती नाट्यशास्त्रीय प्रकरणों ने भी इनका विवेचन छोड़ दिया था क्योंकि इन प्रकरणों का उद्देश्य नाटक-निर्माण की प्रक्रिया का विश्लेषण था न कि अभिनय-प्रक्रिया का। विश्वनाथ कविराज ने प्राचीन नाट्यशास्त्र-मर्यादा के निर्देशरूप से ही इनका निरूपण किया है न कि समसामयिक 'रंगमंच' की कार्यप्रणाली के विश्लेषणरूप से।

अनुवाद—(१) भूषण, (२) अक्षरसंघात, (३) शोभा, (४) उदाहरण, (५) हेतु, (६) संशय, (७) दृष्टान्त, (८) तुल्यतर्क, (९) पदोच्चय, (१०) निदर्शन, (११) अभिप्राय, (१२) प्राप्ति, (१३) विचार, (१४) दिष्ट, (१५) उपदिष्ट, (१६) गुणातिपात, (१७) गुणातिशय, (१८) विशेषण, (१९) निरुक्ति, (२०) सिद्धि, (२१) भ्रंश, (२२) विपर्यय, (२३) दाक्षिण्य, (२४) अनुनय, (२५) माला, (२६) अर्थापत्ति, (२७) गर्हण, (२८) पृच्छा, (२९) प्रसिद्धि, (३०) सारूप्य, (३१) संक्षेप (३२) गुणकीर्तन, (३३) लेश, (३४) मनोरथ, (३५) अनुक्तसिद्धि और (३६) प्रियवचन।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का यह षट्त्रिंशल्लक्षण-निरूपण भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के १६ वें अध्याय के लक्षणनिरूपण-प्रकरण के इस पाठान्तर का अनुसरण करता है—

भूषणाक्षरसंघातौ शोभोदाहरणे तथा ।
हेतुसंशयदृष्टान्ताः प्राप्त्यभिप्राय एव च ॥
निदर्शनं निरुक्तं च सिद्धिश्चाथ विशेषणम् ।
गुणातिपातातिशयौ तुल्यतर्कः पदोच्चयः ॥
दिष्टं चैवोपदिष्टं च विचारोऽथ विपर्ययः ।
भ्रंशश्चानुनयो माला दाक्षिण्यं गर्हणं तथा ॥

(१—लक्षण-प्रकार : भूषण)

तत्र—

लक्षणानि गुणैः सालंकारैर्योगस्तु भूषणम् ॥ १७५ ॥

यथा—'आक्षिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे ! तव मुखश्रियम् ।
कोषदण्डसमग्राणां किमेषामस्ति दुष्करम् ॥'

अर्थापत्तिः प्रसिद्धिश्च पृच्छा सारूप्यमेव च ।
मनोरथश्च लेशश्च संक्षोभो गुणकीर्तनम् ॥
ज्ञेयाभ्यनुक्तसिद्धिश्च प्रियं वचनमेव च ।
षट्त्रिंशल्लक्षणान्येवं काव्यबन्धेषु निर्दिशेत् ॥ (नाट्यशास्त्र १६ : १–५)

अनुवाद—भूषण—इन ३६-लक्षणों में 'भूषण' वह लक्षण है जिसे माधुर्यादि गुण किंवा अनुप्रास-उपमादि अलङ्कारों द्वारा दृश्य (अथवा श्रव्य-) काव्य-प्रबन्ध के कथाशरीर में सौन्दर्य का संयोग अथवा 'अलङ्करण' कहा जाया करता है । उदाहरण के लिए निम्न सूक्ति अर्थात्—

'अरी सुन्दरी ! तू इतनी मुग्धा है कि कमल तेरी मुखश्री का अपहरण करने पर उतारू हो उठे हैं । ये कमल, जिनके पास कोष (बीजकोष तथा प्रभूत धनराशि) किंवा दण्ड (कमलनाल तथा सैन्य) की कोई कमी नहीं, जो भी कर डालें थोड़ा ही है ।'

विमर्श—(क) साहित्यदर्पण की सभी संस्कृत किंवा हिन्दी टीकाओं और व्याख्याओं में 'भूषण' नामक लक्षण का अभिप्राय अस्पष्ट ही रह गया है । जैसे कि 'तर्कवागीशी' टीका की यह भूषण-व्याख्या—'**गुणैर्माधुर्यौजःप्रसादैर्यमकोपमाद्यलङ्कारसहितैर्योगः परस्परमेलकः**' जितनी 'भूषण' के अभिप्राय से दूर है उतनी ही 'विमला' व्याख्या की यह भूषण-टीका 'अलङ्कारसहित गुणों के योग को भूषण कहते हैं,' 'भूषण' के तात्पर्य से विमुख है । वस्तुतः तो 'लक्षण' का ही अभिप्राय इन टीकाओं में अस्पष्ट है । 'गुण', 'अलङ्कार' और 'लक्षण' का जब तक विस्पष्ट विभाग न समझा जाय तब तक लक्षण का निरूपण भ्रामक ही होगा । इन तीनों का प्रविभाग आचार्य अभिनवगुप्त की इन पंक्तिओं में स्पष्ट है—

'लक्षणानि गुणालङ्कारमहिमानमनपेक्ष्य स्वसौभाग्येनैव शोभन्ते । लक्षणं महापुरुषस्य पद्मादिरेखादिवत् काव्यशरीरस्य सौन्दर्यदायि । अलङ्कारस्तु रत्नाभरणादिवदेव, येन विनापि स्वसौन्दर्येणैव पुरुषः प्रतिभासते । गुणस्तु प्रवृत्तिद्योतितो धैर्यादिवत् काव्यस्य शब्दार्थरचनामाश्रयति । यथा लक्षणरहितः पुरुषो न सुन्दरशब्दवाच्यस्तथा लक्षणवर्जं कथाशरीरं गुणालङ्कारोज्ज्वलमपि नीरसत्वं भजत् प्रौढकाव्याभिधानं नार्हति । कथाशरीरसंपन्नेषु काव्येष्वेव लक्षणानि निर्वर्त्यन्ते न तु मुक्तकादिषु खण्डकाव्येषु, अत एव 'काव्य-बन्धास्तु कर्त्तव्या' इति मुनिनैव मुक्तकादिवारणपरमुक्तम् ।

(अभिनवभारती : नाट्यशास्त्र : १६ अध्याय)

अर्थात् गुण और अलङ्कारों से लक्षण का भेद इस प्रकार समझा जा सकता है कि गुण और अलङ्कार तो काव्य-सामान्य की विशेषतायें हैं किन्तु 'लक्षण' एक ऐसा वैशिष्ट्य है, जो केवल कथाशरीर-सम्पन्न काव्य-प्रबन्ध का ही वैशिष्ट्य है । जैसे धैर्यादि गुण किंवा रत्नकटकादि अलङ्कारों से युक्त भी मानवशरीर लक्षणरहित होने पर प्रभावमय नहीं प्रतीत हुआ करता वैसे ही माधुर्यादि गुण किंवा अनुप्रास-उपमादि अलङ्कारों से युक्त भी काव्य का कथाशरीर भूषणादि लक्षण से शून्य होने पर प्रभावोत्पादक नहीं लगा करता ।

(ख) काव्य में 'भूषण' नामक लक्षण वह है जिसके होने पर माधुर्यादि गुण और उपमादि

(२—अक्षरसंघात)

वर्णनाक्षरसंघातश्चित्रार्थैरक्षरैर्मितैः ।

यथा शाकुन्तले—

'राजा—कच्चित्सखीं वो नातिबाधते शरीरसंतापः ।

प्रियंवदा—सम्पदं लधोसहो उअसमं गमिस्सदि' [साम्प्रतं लब्धौषधमुपशमं गमिष्यति] ।

(३—शोभा)

सिद्धैरर्थैः समं यत्राप्रसिद्धोऽर्थः प्रकाशते ॥ १७६ ॥

श्लिष्टश्लक्ष्णचित्रार्था सा शोभेत्यभिधीयते ।

यथा—

'सद्वंशसम्भवः शुद्धः कोटिदोऽपि गुणान्वितः ।
कामं धनुरिव क्रूरो वर्जनीयः सतां प्रभुः ॥

अलङ्कारों से युक्त कथाशरीर अधिकाधिक रसोद्योतक हुआ करता है। माधुर्यादि गुण और उपमादि अलङ्कारों से युक्त कथाशरीर में वह वस्तु, जिनके होने पर रसोद्योतना प्रबल रूप से संभव है, वस्तुतः एक विशिष्ट कविव्यापार ही है जो शब्द और अर्थ के व्यापारों में स्फुरित हुआ करता है। जैसा कि ध्वनिकार की इस उक्ति अर्थात्—

'ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः ।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ॥'

का संकेत है। इस बहुविध कविव्यापार की एक झलक वह है जिसे 'भूषण' नामक लक्षण के रूप में प्राचीन काव्य-नाट्य-कोविदों ने देखा-दिखाया है।

अनुवाद—'अक्षरसंघात' नामक लक्षण वह लक्षण है जिसे स्वल्प किन्तु श्लिष्ट अक्षरों द्वारा विचित्र अर्थ का उपवर्णन कहा गया है। 'जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—क्या यह शरीरसंताप तुम्हारी सखी को बहुत अधिक तो कष्ट नहीं पहुँचा रहा है ?

प्रियंवदा—अब जब कि इसे दवा मिल गयी तब तो शान्त हो ही जायगा।'

में, यह 'अक्षरसंघात' नामक (कविव्यापाररूप) लक्षण ही है जिससे यहाँ नाटक का कथाशरीर मनोरम और हृदयग्राही लग रहा है।

विमर्श—'अक्षरसंघात' एक यदृच्छा शब्द है और इसे 'अल्प किन्तु श्लिष्ट शब्द-प्रयोग द्वारा रसोचित विभावादिरूप अर्थ के उपवर्णन' के लिए संकेतित किया गया है। अभिनवगुप्ताचार्य ने बड़ी सुन्दरता से 'अक्षरसंघात' नामक लक्षण का स्वरूप समझाया है—

'तथाहि मानिनीत्यक्षराणि ईर्ष्याविप्रलम्भे, तरुणीत्याभिलाषिके, वरतनुरिति संभोगे विभावतां तामेव प्रापयन्ति । (अभिनवभारती, पृष्ठ ३००)

अनुवाद—'शोभा' वह लक्षण है जिसके कारण अप्रसिद्ध भी अर्थ सिद्ध अर्थ के समान प्रकाशित हुआ करता है। अप्रसिद्ध अर्थ के सिद्ध अर्थ के समान प्रकाशित होने का अभिप्राय यह है कि साधारण भी वर्ण्य विषय इसके कारण सहृदयहृदयकारी और सरस बन जाया करता है। जैसे कि निम्न सूक्ति अर्थात्—

'मनस्वी लोगों को कुटिल हृदय राजा से, चाहे वह 'सद्वंशसंभव' (सत्कुलप्रसूत)

(४—उदाहरण)

यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात् ॥ १७७ ॥
साध्यतेऽभिमतश्चार्थस्तदुदाहरणं मतम् ।

यथा—

'अनुयान्त्या जनातीतं कान्तं साधु त्वया कृतम् ।
का दिनश्री विनार्केण का निशा शशिना विना ॥'

'शुद्ध' (पवित्राचरण) 'कोटिद' (महादानी) और 'गुणान्वित' (महागुणशाली) ही क्यों न हो, उसी प्रकार बचते रहना उचित है जिस प्रकार किसी 'सद्वंशसंभव' (अच्छे वांस के बने), 'शुद्ध' (कीटादिवेधरहित) 'कोटिद' (असंख्य रिपुगण के संहारक) और 'गुणान्वित' (प्रत्यञ्चायुक्त) धनुष से बचा जाया करता है ।'

इत्यादि में, जो लक्षण है, वह 'शोभा' है ।

विमर्श—'शोभा' का अभिप्राय एक ऐसा कविव्यापार (शब्दार्थव्यापार) है जिससे अशोभन भी अर्थ शोभित लगने लगता है । आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिज्ञानशाकुन्तल की इस सूक्ति अर्थात्—

'मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्या हि व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥'

में, 'शोभा' का दर्शन किया है क्योंकि यहाँ एकमात्र कविव्यापार ही अनुचित भी अर्थ को औचित्यपूर्ण दिखा रहा है ।

अनुवाद—'उदाहरण' वह लक्षण है जिसे किसी निगूढ अभिप्राय का निगूढार्थक किंवा तुल्यार्थक वाक्य द्वारा प्रतिपादन कहा गया है । जैसे कि निम्न सूक्ति अर्थात्—

'जनककुमारी ! तूने अपने 'जनातीत' वनवास के लिये अग्रसर (तथा लोकोत्तर प्रियतम राम का अनुगमन कर बड़ा ही अच्छा किया । बिना सूर्य के दिन-श्री क्या और बिना चन्द्र के रात्रि क्या ?'

में, जो 'लक्षण' है वह उदाहरण ही है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'उदाहरण' की यह परिभाषा की है—

'यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात् ।
साध्यते निपुणैरर्थस्तदुदाहरणं स्मृतम् ॥'

जिसकी अभिनवभारतीकारकृत व्याख्या यह है—

'परेषां दुर्ज्ञेयपरमार्थेन तुल्यार्थप्रयुक्तेन वाक्येन निगूढाशयः कस्मैचिन्निपुणैर्यत्र प्रकाश्यते तदुदाहरणम् ।........................यथा......'प्रद्युम्नाभ्युदये' तृतीयेऽङ्के अन्तर्नाटिकायां सूत्रधारवचनम्—

'देवदनुजाधिप त्वां त्रिभुवनलक्ष्मीरिव स्वयं रागात् ।
अभिरूपमभिसृतवती नलकूबरमत्र नाटके रम्भा ॥'
'.........अत्राभिसरणमेव प्रद्युम्नसंगमोपाय इत्यर्थः साध्यते ।'

(अभिनवभारती : नाट्यशास्त्र : १९ अध्याय पाठान्तर)

'उदाहरण' के उपर्युक्त स्वरूप को देखते हुए 'साहित्यदर्पण' की संस्कृत और हिन्दी व्याख्याओं में जो 'उदाहरणनिरूपण' है वह भ्रान्तिपूर्ण ही प्रतीत होता है ।

(५—हेतु)

हेतुर्वाक्यं समासोक्तमिष्टकृद्धेतुदर्शनात् ॥ १७८ ॥

यथा वेण्यां भीमं प्रति—

चेटी—एवं मए भणिदं भाणुमदि तुह्माणं अमुक्केसु केसेसु कहं देवीए केसा संजमिअन्तित्ति' [एवं मया भणितं, भानुमति ! युष्माकममुक्तेषु केशेषु कथं देव्याः केशाः संयम्यन्ते]।

(६—संशय)

संशयोऽज्ञाततत्त्वस्य वाक्ये स्याद्यदनिश्चयः ।

यथा ययातिविजये—

'इयं स्वर्गाधिनाथस्य लक्ष्मीः किं यक्षकन्यका ।
किं चास्य विषयस्यैव देवता किमु पार्वती ॥'

(७—दृष्टान्त)

दृष्टान्तो यस्तु पक्षेऽर्थसाधनाय निदर्शनम् ॥ १७९ ॥

अनुवाद—'हेतु' वह लक्षण है जिसे संक्षिप्त तथा युक्तिपूर्ण किन्तु अभिमत अभिप्राय का अवबोधक वाक्य कहा गया है। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस सन्दर्भ अर्थात्—

'चेटी—(भीम के प्रति)—मैंने कहा था—भानुमति ! जब तक तुम्हारे केश न खुलें तब तक द्रौपदी के केश क्योंकर बँध जाँय ।'

आदि में, जो लक्षण है वह 'हेतु' है।

विमर्श—अभिनवभारतीकार ने 'हेतु' का यह स्वरूप-निर्देश किया है—

'फलसाधनशक्तियुक्तं मितशब्दार्थं विचित्रभङ्ग्युक्तं वचनम्'।

(अभिनवभारती : १६अध्याय पाठान्तर)

अनुवाद—'संशय' वह लक्षण है जिसे किसी वाक्य में, किसी अज्ञात किन्तु सारभूत अर्थ के सम्बन्ध में अनिश्चय का उपन्यास कहा गया है। जैसे कि 'ययातिविजय' के इस सन्दर्भ अर्थात्—

'क्या यह सुन्दरी इन्द्र की राजलक्ष्मी है ? कोई यक्षकन्या है ? इस राज्य की अधिष्ठात्री देवी है ? साक्षात् पार्वती है ?' आदि में, जो लक्षण है वह 'संशय' है।

विमर्श—साहित्यदर्पण की संस्कृत किंवा हिन्दी व्याख्याओं में 'संशय' नामक लक्षण का जो अभिप्राय बताया गया है वह संशयात्मक ही रह गया है। 'संशय' तो उस काव्य अथवा नाट्य-काव्य का सौन्दर्य है जिसे कवि अथवा नाटककार इस प्रकार रचा करता है जिसमें वह भावों किंवा विकारों के आधिक्य के कारण असमाप्तप्राय तथा अपरिज्ञेयार्थक-सा लगा करे। इस 'लक्षण' का दर्शन, अभिज्ञानशाकुन्तल के निम्न संदर्भ में, जैसा कि अभिनवभारतीकार ने किया है, स्पष्टतया किया जा सकता है—

'तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरे नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥'

अनुवाद—'दृष्टान्त' वह लक्षण है जिसे पदार्थसाधकहेतु का मनोहर निदर्शन कहा

यथा वेण्याम्—

'सहदेवः—आर्य ! उचितमेवैतत्तस्या यतो दुर्योधनकलत्रं हि सा' इत्यादि।

(८—तुल्यतर्क)

तुल्यतर्को यदर्थेन तर्कः प्रकृतिगामिना।

यथा तत्रैव—

'प्रायेणैव हि दृश्यन्ते कामं स्वप्नाः शुभाशुभाः।
शतसंख्या पुनरियं सानुजं स्पृशतीव माम्॥'

(९—पदोच्चय)

संचयोऽर्थानुरूपो यः पदानां स पदोच्चयः॥ १८०॥

यथा शाकुन्तले—

'अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम्॥'

अत्र पदपदार्थयोः सौकुमार्यं सदृशमेव।

जाया करता है। जैसे कि 'वेणीसंहार' में—

'सहदेव—आर्य ! उसके (भानुमती के) लिये तो यह सब उचित ही है क्योंकि वह तो दुर्योधन की पत्नी है।'

आदि जो संदर्भ है वह 'दृष्टान्त' रूप लक्षण से ही विभूषित है।'

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार 'दृष्टान्त' लक्षण का यह स्वरूप है—

'सर्वलोकमनोग्राही यस्तु पक्षार्थसाधकः।
हेतोर्निदर्शनकृतः स दृष्टान्त इति स्मृतः॥'

(नाट्यशास्त्र १६।१२)

जिसे अभिनवभारतीकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'धर्माविरुद्धतया सर्वलोकमनोग्राही वचनं निदर्शनोपष्टम्भं दृष्टान्तसंज्ञकं लक्षणम्'।

(अभिनवभारती : १६।१२)

अनुवाद—'तुल्यतर्क' का अभिप्राय है प्रकृत (प्रत्यक्ष) अर्थ के परामर्श के द्वारा अप्रकृत (अप्रत्यक्ष) अर्थ के प्रकाशन का। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस सन्दर्भ अर्थात्—

'शुभ और अशुभ स्वप्न तो प्रायः लोग देखा ही करते हैं किन्तु 'एक सौ सर्पों के मारने' का यह स्वप्न-दर्शन मुझे, जिसके एक सौ भाई हैं, कुछ खटक सा रहा है।'

में, जो लक्षण है वह 'तुल्यतर्क' ही है।

अनुवाद—'पदोच्चय' का अभिप्राय है अर्थानुरूप पद-सन्दर्भ का। जैसे कि 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' के इस सन्दर्भ अर्थात्—

'शकुन्तला का अधर कोमल लताकिसलय ली लालिमा लिये है, दोनों बाँहें लता की दो टहनियों की कोमलता लिये हैं और यौवन तो फूल की भाँति अङ्ग-अङ्ग में झलक ही रहा है।'

में, जो लक्षण है, वह 'पदोच्चय' है क्योंकि यहाँ सुकुमार अर्थ के अनुरूप सुकुमार पद की योजना स्पष्ट प्रतीत हो रही है।

(१०—निदर्शन)

यत्रार्थानां प्रसिद्धानां क्रियते परिकीर्तनम् ।
परपक्षव्युदासार्थं तन्निदर्शनमुच्यते ॥ १८१ ॥

यथा—

'क्षात्रधर्मोचितैर्धर्मैरलं शत्रुवधे नृपाः ।
किं तु वालिनि रामेण मुक्तो बाणः पराङ्मुखे ॥'

(११—अभिप्राय)

अभिप्रायस्तु सादृश्यादभूतार्थस्य कल्पना ।

यथा शाकुन्तले—

'इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्लमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीतरुं छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥'

(१२—प्राप्ति)

प्राप्तिः केनचिदंशेन किञ्चिद्यत्रानुमीयते ॥ १८२ ॥

यथा मम प्रभावत्याम्—

'अनेन खलु सवतश्चरता चञ्चरीकेणावश्यं विदिता भविष्यति प्रियतमा मे प्रभावती ।'

अनुवाद—'निदर्शन' का अभिप्राय है प्रसिद्ध अर्थ के परिकीर्तन का जिसमें वहाँ कोई अन्य संभावना न हो सके । जैसे कि इस सूक्ति अर्थात्—

'यह तो ठीक ही है कि राजगण क्षत्रियोचित संग्राम-धर्म से शत्रुओं का वध किया करते हैं किन्तु राम ने जो वालि पर वाण छोड़ा वह उसके पराङ्मुख रहने पर छोड़ा संमुख रहने पर नहीं) !'

में, जो लक्षण है वह 'निदर्शन' है ।

विमर्श—'साहित्यदर्पण की यह कारिका नाट्यशास्त्र (१६।१५) की ही कारिका का उद्धरणरूप है ।

अनुवाद—'अभिप्राय' का तात्पर्य सादृश्य के कारण अभूतपूर्व अर्थ की कल्पना है । जैसे कि, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की इस सूक्ति अर्थात्—

'आह ! इस निसर्गसुन्दर (शकुन्तला के) शरीर को जो तपस्या के कष्टों के सहने योग्य बनाना चाहता है वह वस्तुतः नीलकमल के किसलय के किनारे से शमी वृक्ष को काटना चाहता है ।'

में, जो लक्षण है वह 'अभिप्राय' है ।

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार 'अभिप्राय' का स्वरूप यह है—

'अभूतपूर्वो यो ह्यर्थः सादृश्यात् परिकल्पितः ।
लोकस्य हृदयग्राही सोऽभिप्राय इति स्मृतः ॥' (नाट्यशास्त्र : १६।१४)

अनुवाद—'प्राप्ति' का अभिप्राय है—किसी वस्तु के अंश मात्र से उस वस्तु का अनुमान । जैसे कि मेरी अपनी कृति 'प्रभावतीपरिणय' की इस उक्ति अर्थात्—

'यह भ्रमर जो सर्वत्र विचरा करता है अवश्य जानता होगा कि मेरी प्रियतमा प्रभावती कहाँ है ।'

(१३—विचार)

विचारो युक्तिवाक्यैर्यदप्रत्यक्षार्थसाधनम् ।

यथा मम चन्द्रकलायाम्—

'राजा—नूनमियमन्तःपिहितमदनविकारा वर्तते ।

यतः—

हसति परितोषरहितं निरीक्ष्यमाणापि नेक्षते किञ्चित् ।
सख्यामुदाहरन्त्यामसमञ्जसमुत्तरं दत्ते ॥'

(१४—दिष्ट)

देशकालस्वरूपेण वर्णना दिष्टमुच्यते ॥ १८३ ॥

यथा वेण्याम्—

'सहदेवः—

यद्वैद्युतमिव ज्योतिरार्ये क्रुद्धेऽद्य संभृतम् ।
तत्प्रावृडिव कृष्णेयं नून संवर्द्धयिष्यति ॥'

में, जो लक्षण है वह 'प्राप्ति' ही है (क्योंकि चञ्चरीक के विचरण से, उस (चञ्चरीक) के प्रभावतीविषयक ज्ञान का अनुमान हो रहा है)।

विमर्श—भरतमुनि का 'प्राप्ति'-लक्षण यह है—

'दृष्ट्वैवावयवान् कांश्चिद् भावो यत्रानुमीयते ।
प्राप्तिं तामभिजानीयाल्लक्षणं नाटकाश्रयम् ॥' (नाट्यशास्त्र : १६।१३)

अनुवाद—'विचार' का अभिप्राय है—युक्तियुक्त वाक्य से अप्रत्यक्ष वस्तु के साधन का। जैसे कि मेरी अपनी कृति 'चन्द्रकला' के इस सन्दर्भ अर्थात्—

'राजा—अवश्य ही यह अपने हृदय में प्रेम छिपाये हुई है क्योंकि—यह हँसती है किन्तु प्रसन्नता से नहीं; इसे सखियाँ देखती हैं किन्तु वह उन्हें नहीं देखती और इससे सखियाँ बहुत कुछ कहती हैं किन्तु वह उनसे कुछ नहीं बोलती ।'

में, जो लक्षण है वह 'विचार' है ।

विमर्श—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में 'विचार' का यह लक्षण दिया हुआ है—

'पूर्वाशयसमानार्थैरप्रत्यक्षार्थसाधनैः ।
अनेकोपाधिसंयुक्तो विचारः परिकीर्तितः ॥' (नाटयशास्त्र : १६।२४)

जिसका अभिनवभारतीकार ने यह उदाहरण दिया है—

'साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं बिभ्रत्सपक्षे स्थितिं
व्यावृत्तं च विपक्षतो भवति यत्तत् साधनं सिद्धये ।
यत्साध्यं स्वयमेव तुल्यमुभयोः पक्षे विरुद्धं च यत्
तस्याङ्गीकरणेन वादिन इव स्यात् स्वामिनो निग्रहः ॥' (मुद्राराक्षस)

अनुवाद—'दिष्ट' का अभिप्राय है—देश और काल के स्वरूपानुसार वस्तु-वर्णना का। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस सन्दर्भ अर्थात्—

'सहदेव—आज क्रुद्ध भीम में वैद्युत अग्नि की सी जो प्रतिशोध-ज्वाला धधक रही है वह अवश्यमेव वर्षा सी द्रौपदी के कारण और भी भभक उठेगी ।'

में, जो लक्षण दिखायी दे रहा है वह 'दिष्ट' ही है ।

(१५—उपदिष्ट)

उपदिष्टं मनोहारि वाक्यं शास्त्रानुसारतः ।

यथा शाकुन्तले—

'शुश्रूषस्व गुरून्, कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी,
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो, वामाः कुलस्याधयः ॥'

(१६—गुणातिपात)

गुणातिपातः कार्यं यद्विपरीतं गुणान्प्रति ॥ १८४ ॥

यथा मम चन्द्रकलायां चन्द्रं प्रति—

'जइ संहरिज्जइ तमो घेप्पइ सअलेहि ते पाओ ।
वससि सिरे पसुवइणो तहवि ह इत्थीअ जीअणं हरसि ॥'
[यदि संह्रियते तमो गृह्यते सकलैस्तव पादः ।
वससि शिरसि पशुपतेस्तथापि स्त्रीणां जीवनं हरसि ॥]

(१७—गुणातिशय)

यः सामान् गुणोद्रेकः स गुणातिशयो मतः ।

विमर्श—भरतमुनि ने 'दिष्ट' में कुछ और बातें भी देखी हैं—

'यथादेशं यथाकालं यथारूपं च वर्ण्यते ।
यत्प्रत्यक्षं परोक्षं वा दृष्टं (दिष्टं) तद्वर्णतोऽपि वा ॥' (नाट्यशास्त्र : १६. २३)

अनुवाद—'उपदिष्ट' वह लक्षण है जिसे शास्त्रानुसार मनोहरवाक्य-विन्यास कहा गया है। जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'बड़े-बूढ़ों की सेवा करना, सपत्निओं के प्रति प्रियसखी-भाव रखना, पति से किसी कारण अप्रसन्न होने पर भी उनके विरुद्ध आचरण न करना, परिजनवर्ग के प्रति दया भाव रखना और सौभाग्य वृद्धि में भी अभिमान से दूर रहना। ऐसा यदि तूने किया तो महाराज दुष्यन्त की सच्ची गृहिणी बन जायेगी। ऐसा न करनेवाली ही वामाङ्गनायें कुल की पीड़ा बनी रहती हैं।'

में, जो लक्षण है वह 'उपदिष्ट' ही है।

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार 'उपदिष्ट' का यह लक्षण है—

'परिगृह्य तु शास्त्रार्थं यद्वाक्यमभिधीयते ।
विद्वन्मनोहरं स्वन्तमुपदिष्टं तदुच्यते ॥' (नाट्यशास्त्र : १६.२४)

अनुवाद—'गुणातिपात' का अभिप्राय ऐसा गुणवर्णन है जिसमें गुणविरोध का आभास हुआ करे। जैसे कि मेरी अपनी कृति 'चन्द्रकला' के इस सन्दर्भ अर्थात्—

'भले ही तुम अँधेरा दूर किया करो किन्तु संसार के प्राणी तुम्हारे पैरों (किरणों) को खींचना ही चाहा करते हैं। भले ही तुम भगवान् शङ्कर के मस्तक पर विराजो किन्तु वियोगिनिओं का प्राण लेनेवाले भी तुम्हीं हो।'

में जो चन्द्रोपालम्भवर्णन है वह 'गुणातिपात' का ही उदाहरण है।

अनुवाद—'गुणातिशय' का अभिप्राय है—गुण-सामान्य के कीर्तन से गुणविशेष के

यथा तत्रैव—

'राजा—(चन्द्रकलाया मुखं निर्दिश्य)

असावन्तश्चञ्चद्विकचनवनीलाब्जयुगल-
स्तलस्फूर्जत्कम्बुर्विलसदलिसंघात उपरि।
विना दोषासङ्गं सततपरिपूर्णाखिलकलः
कुतः प्राप्तश्चन्द्रो विगलितकलङ्कः सुमुखि ! ते ॥'

(१८—विशेषण)

सिद्धानर्थान् बहूनुक्त्वा विशेषोक्तिर्विशेषणम् ॥ १८५ ॥

यथा—

'तृष्णापहारी विमलो द्विजावासो जनप्रियः।
ह्रदः पद्माकरः किन्तु बुधस्त्वं स जलाशयः ॥'

(१९—निरुक्ति)

पूर्वसिद्धार्थकथनं निरुक्तिरिति कीर्त्यते ।

यथा वेण्याम्—'निहताशेषकौरव्यः—' इत्यादि।

अनुकीर्तन का। जैसे कि मेरी ही कृति 'चन्द्रकला' के इस सन्दर्भ अर्थात्—

'राजा—(चन्द्रकला के मुख को लक्ष्यकर)—

अरी सुमुखि ! यह तो बता कि मुझे यह निष्कलङ्क किंवा बिना 'दोषासंग' (रात्रि किंवा दोषों के सम्पर्क) के ही, निरन्तर षोडश कलाओं से परिपूर्ण (संगीतादि कलाओं से सुशोभित), चन्द्र (मुख) कहाँ से मिल गया, जिसके भीतर इतने सुन्दर नीलकमल युगल (नयन) खिले दीख रहे हैं, जिसके नीचे इतना सुन्दर कम्बु (शंख तथा ग्रीवा भाग) चमक रहा है और जिसके ऊपर भ्रमरसमूह (केशपाश) मँडराते लग रहे हैं।' में, जो लक्षण है वह 'गुणातिशय' है।

अनुवाद—'विशेषण' वह लक्षण है जिसे 'प्रसिद्ध अर्थ के उपवर्णन के अनन्तर उसके वैशिष्ट्य का अनुकीर्तन' कहा गया है। जैसे कि यह सूक्ति अर्थात्—

'तृष्णापहारी' (जलाशयपक्ष में-प्यास मिटानेवाला और वर्ण्य पुरुषपक्ष में याचक जन की आकांक्षा के निवर्तक) 'विमल' (जलाशयपक्ष में-स्वच्छजलपूर्ण और पुरुष पक्ष में-निर्मल हृदय) 'द्विजावास' (जलाशयपक्ष में-जलपक्षिओं के निवासभूत और पुरुषपक्ष में-ब्राह्मणों के आश्रयदाता) 'जनप्रिय' (जलाशयपक्ष में-सुन्दर किं वा पुरुष पक्ष में-हितकारक) और 'पद्माकर' (जलाशयपक्ष में-कमलों के आवास और पुरुषपक्ष में-लक्ष्मी के आवास) जैसे आप हैं वैसा ही जलाशय भी है। किन्तु आप 'बुध' पण्डित ठहरे और जलाशय 'जडाशय' मूर्ख (अचेतन) ही ठहरा।'

अनुवाद—'निरुक्ति' वह लक्षण है जिसे पूर्वसिद्ध अर्थ का वर्णन कहा गया है। जैसे कि 'वेणीसंहार' की 'निहताशेषकौरव्यः' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में जो लक्षण है वह 'निरुक्त' ही है।

विमर्श—नाट्यशास्त्र की निरुक्ति (निरुक्त) परिभाषा यह है—

'निरवद्यस्य वाक्यस्य पूर्वोक्तार्थप्रसिद्धये।
यदुच्यते तु वचनं निरुक्तं तदुदाहृतम् ॥' (नाट्यशास्त्र : १६. १६)

(२०—सिद्धि)

वहूनां कीर्तनं सिद्धिरभिप्रेतार्थसिद्धये ॥ १८६ ॥

यथा—

'यद्वीर्यं कूर्मराजस्य यश्च शेषस्य विक्रमः।
पृथिव्या रक्षणे राजन्नेकत्र त्वयि तत्स्थितम् ॥'

(२१—भ्रंश)

दृप्तादीनां भवेद्भ्रंशो वाच्यादन्यतरद्वचः।

यथा वेण्याम्—कञ्चुकिनं प्रति

'दुर्योधनः—

सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम्।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे नचिरात्पाण्डुसुतः सुयोधनम् ॥'

(२२—विपर्यय)

विचारस्यान्यथाभावः संदेहात्तु विपर्ययः ॥ १८७ ॥

यथा—

'मत्वा लोकमदातारं संतोषे यैः कृता मतिः।
त्वयि राजनि ते राजन्न तथा व्यवसायिनः ॥'

(२३—दाक्षिण्य)

दाक्षिण्यं चेष्टया वाचा परचित्तानुवर्तनम्।

अनुवाद—'सिद्धि' वह लक्षण है जिसे एक अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि के लिये अनेकों अभिप्रेत अर्थों का वर्णन कहा गया है। जैसे कि, इस सूक्ति अर्थात्—

'महाराज ! पृथिवी के रक्षण में जो भी कूर्मावतार विष्णु का वीर्य है और जो भी शेषनाग का विक्रम है वह सब एक आप ही में एकत्रित है।' में, जो लक्षण है वह 'सिद्धि' है।

अनुवाद—'भ्रंश' वह लक्षण है जिसे 'किसी क्षुब्ध व्यक्ति का, किसी विषय के वर्णन के स्थान पर, विषयान्तर का वर्णन करना' कहा करते हैं। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'दुर्योधन (कञ्चुकी से)—अब शीघ्र ही संग्राम में, क्या भृत्यवर्ग, क्या बन्धुबान्धव, क्या मित्र और क्या अनुज–सबके साथ, सुयोधन को, पाण्डुपुत्र, अपने पराक्रम से मार गिरा देगा !'
में, जो लक्षण है वह 'भ्रंश' है (क्योंकि क्षोभ में आकर दुर्योधन पाण्डवों को स्वयं मार डालने के बदले पाण्डवों द्वारा अपने मारे जाने का वर्णन कर डालता है)।

अनुवाद—'विपर्यय' वह लक्षण है जिसे संदेह के कारण पूर्वविचार का परिवर्तन कहा जाया करता है। जैसे कि, इस सूक्ति अर्थात्—

'महाराज ! वे लोग, जो यह सोचकर कि 'कोई भी ऐसा नहीं है जो दान दे सके' सन्तोष-साधन कर चुके थे, अब, आपके रहते, अपना निश्चय बदल चुके हैं।'
में, जो लक्षण है वह 'विपर्यय' है।

अनुवाद—'दाक्षिण्य' वह लक्षण है जिसे चेष्टा अथवा वाणी द्वारा परचित्त के अनुवर्तन-वर्णन में देखा जा सकता है। जैसे कि, इस सन्दर्भ अर्थात्—

वाचा यथा—

'प्रसाधय पुरीं लङ्कां राजा त्वं हि विभीषण !
आर्येणानुगृहीतस्य न विघ्नः सिद्धिमन्तरा ॥'

एवं चेष्टयाऽपि ।

(२४—अनुनय)

वाक्यैः स्निग्धैरनुनयो भवेदर्थस्य साधनम् ॥ १८८ ॥

यथा वेण्याम्—अश्वत्थामानं प्रति—

'कृपः—दिव्यास्त्रग्रामकोविदे भारद्वाजतुल्यपराक्रमे किं न संभाव्यते त्वयि '

(२५—माला)

माला स्याद्यदभीष्टार्थं नैकार्थप्रतिपादनम् ।

यथा शाकुन्तले—

'राजा—
किं शीकरैः क्लमविमर्दिभिरार्द्रवातं सञ्चारयामि नलिनीदलतालवृन्तम् ।
अङ्के निवेश्य चरणावुत पद्मताम्रौ संवाहयामि करभोरु ! यथासुखं ते ॥'

(२६—अर्थापत्ति)

अर्थापत्तिर्यदन्यार्थोऽर्थान्तरोक्तेः प्रतीयते ॥ १८९ ॥

यथा वेण्याम्—द्रोणोऽश्वत्थामानं राज्येऽभिषेक्तुमिच्छतीति कथयन्तं कर्णं प्रति—

'राजा—साधु अङ्गराज ! साधु, कथमन्यथा—

'राक्षसराज विभीषण ! अब तुम राजा हो, लङ्का की राजधानी अब तुम्हीं से शोभित होगी । भला आर्य राम का अनुग्रह हो और कार्यसिद्धि के विना कोई विघ्न पड़ जाय !' में, 'वाणी' द्वारा परचित्तानुवर्तनात्मक 'दाक्षिण्य' स्पष्ट है ।

अनुवाद—'अनुनय' वह लक्षण है जिसे स्निग्ध वचनों द्वारा अभिप्रेत अर्थ का साधन कहा गया है । जैसे कि, 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'कृप—(अश्वत्थामा से) दिव्यास्त्रों के एक पण्डित और आचार्य द्रोण सरीखे पराक्रमी तुमसे क्या कुछ नहीं हो सकता ?'

आदि में 'अनुनय' नामक लक्षण का स्वरूप स्पष्ट है ।

अनुवाद—'माला' वह लक्षण है जिसे अभीष्ट के प्रतिपादक अनेक अभिप्रेत अर्थों का उपवर्णन कहा करते हैं । जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—प्रिये ! क्या शीतल जलबिन्दुओं से भिगोये नलिनीपत्र से तुझे पंखा झलूँ ? क्या तेरे कमलसम कोमल चरणों को गोद में लेकर दबाऊँ, जिसमें तुझे अच्छा लगे ?'

इत्यादि में, जो लक्षण है वह 'माला' है ।

अनुवाद—'अर्थापत्ति' वह लक्षण है जिसे किसी एक वस्तु के वर्णन से, किसी दूसरी वस्तु का प्रकाशन कहा जाया करता है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'(कर्ण के यह कहने पर कि द्रोण अश्वत्थामा को राजा बनाना चाहते हैं) दुर्योधन—अङ्गराज ! बहुत ठीक कहा तुमने ! नहीं तो—

दत्त्वाभयं सोऽतिरथो वध्यमानं किरीटिना ।
सिन्धुराजमुपेक्षेत नैव चेत्कथमन्यथा ॥'

(२७—गर्हण)

दूषणोद्घोषणायां तु भर्त्सना गर्हणं तु तत् ।

यथा तत्रैव—कर्ण प्रति—

'अश्वत्थामा—

निर्वीर्यं गुरुशापभाषितवशात्किं मे तवेवायुधं ?
सम्प्रत्येव भयाद्विहाय समरं प्राप्तोऽस्मि किं त्वं यथा ?
जातोऽहं स्तुतिवंशकीर्तनविदां किं सारथीनां कुले ?
क्षुद्रारातिकृताप्रियं प्रतिकरोम्यस्त्रेण नास्त्रेण यत् ?'

(२८—पृच्छा)

अभ्यर्थनापरैर्वाक्यैः पृच्छार्थान्वेषणं मता ॥ १९० ॥

यथा तत्रैव—

'सुन्दरकः—अज्जा, अवि णाम सारधिदुदिओ दिट्ठ तुह्मेहिं महाराओ दुर्योधणो ण वेत्ति ।' [आर्याः, अपि नाम सारथिद्वितीयो दृष्टो युष्माभिर्महाराजो दुर्योधनो न वेति]

(२९—प्रसिद्धि)

प्रसिद्धिर्लोकसिद्धार्थैरुत्कृष्टैरर्थसाधनम् ।

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

वे अतिरथ आचार्य द्रोण, सिन्धुराज (जयद्रथ) को स्वयं अभयदान देकर भी; क्योंकर चुपचाप बैठे रहे जब कि अर्जुन सिन्धुराज को मार रहा था ।'

आदि में, जो लक्षण है वह 'अर्थापत्ति' है ।

अनुवाद—'गर्हण' वह लक्षण है जिसे 'दोषोद्घोषण होने पर भर्त्सना का प्रकाशन' कहा गया है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'अश्वत्थामा (कर्ण के प्रति)—क्या गुरु के शाप-वचन से तुम्हारी तरह मेरा भी अस्त्र निर्वीर्य हो गया ? क्या मैं भी तुम्हारी तरह कभी संग्राम से भाग निकला हूँ ? क्या मैं भी तुम्हारी तरह राजवंशावली के गुणगायक सारथियों के कुल में जन्मा हूँ ? कि इन क्षुद्र शत्रुओं के अपकार का प्रतीकार अस्त्र से न देकर, रोने-धोने से दूँ ?'
में जो लक्षण है वह 'गर्हण नामक लक्षण है ।

अनुवाद—'पृच्छा' वह लक्षण है जिसे 'अभ्यर्थनापरक वचनों से अभिमत अर्थ का अन्वेषण' कहा गया है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'सुन्दरक—अरे भले लोगो ! क्या आपने सारथि के साथ महाराज दुर्योधन को इधर कहीं देखा है ?'
आदि में, 'पृच्छा' नामक ही लक्षण स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है ।

अनुवाद—'प्रसिद्धि' वह लक्षण है जिसे किसी उत्कृष्ट और लोकप्रसिद्ध अर्थ के आधार पर, किसी अभिमत अर्थ का साधन कहा गया है । जैसे कि 'विक्रमोर्वशीय' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—
सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ।
स्वयं कृतः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः ॥'

(३०—सारूप्य)

सारूप्यमनुरूपस्य सारूप्यात्क्षोभवर्धनम् ॥ १९१ ॥

यथा वेण्याम्—दुर्योधनभ्रान्त्या भीमं प्रति—
'युधिष्ठिरः—दुरात्मन् ! दुर्योधनहतक !–' इत्यादि।

(३१—संक्षेप)

संक्षेपो यत्तु संक्षेपादात्मान्यार्थे प्रयुज्यते।

यथा मम चन्द्रकलायाम्—
'राजा—प्रिये !
अङ्गानि खेदयसि किं शिरीषकुसुमपरिपेलवानि मुधा।
(आत्मानं निर्दिश्य—)
अयमीहितकुसुमानां सम्पादयिता तवास्ति दासजनः ॥'

(३२—गुणकीर्तन)

गुणानां कीर्तनं यत्तु तदेव गुणकीर्तनम् ॥ १९२ ॥

यथा तत्रैव—
'नेत्रे खञ्जनगञ्जने सरसिजप्रत्यर्थि—' इत्यादि।

'राजा—मैं पूछ रहा हूँ। मैं वह हूँ जिसके मातामह और पितामह सूर्य और चन्द्र हैं और जिसे उर्वशी और पृथिवी, दोनों ने अपना पति वरण किया है।'
में, जो लक्षण है, वह 'प्रसिद्धि' नामक ही लक्षण है।

अनुवाद—'सारूप्य' वह लक्षण है जिसे 'किसी पूर्वानुभूत वस्तु का मनःक्षोभकारक सारूप्यवर्णन' कहा गया है। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'(दुर्योधन के भ्रम से भीम को लक्ष्यकर) युधिष्ठिर—नीच ! महापतित दुर्योधन !' इत्यादि में जो कथासंविधान का सौन्दर्य है वह 'सारूप्य' नामक लक्षण के ही कारण है।

अनुवाद—'संक्षेप' वह लक्षण है जिसे किसी अन्य पदार्थ के स्थान पर, संक्षेप के लिये, आत्मानुकीर्तन कहा गया है। जैसे कि मेरी अपनी कृति 'चन्द्रकला' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—प्रिये ! शिरीषकुसुम की भाँति कोमल अपने अङ्गों को तू क्योंकर कष्ट दे रही है ?

(अपने आप को निर्दिष्टकर) तेरे मनचाहे फूलों को चुनने के लिये तो तेरा यह दास खड़ा ही है।'
में, जो लक्षण है वह 'संक्षेप' ही है।

अनुवाद—'गुणकीर्तन' वह लक्षण है जिसे गुणों का उपवर्णन कहा गया है। जैसे कि मेरी अपनी कृति 'चन्द्रकला' की 'नेत्रे खञ्जनगञ्जने सरसिजप्रत्यर्थि' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति 'गुणकीर्तन' का ही दृष्टान्त है।

(३३—लेश)

स लेशो भण्यते वाक्यं यत्सादृश्यपुरःसरम् ।

यथा वेण्याम्—

'राजा—

'हते जरति गाङ्गेये पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
या श्लाघा पाण्डुपुत्राणां सैवाऽस्माकं भविष्यति ॥'

(३४—मनोरथ)

मनोरथस्त्वभिप्रायस्योक्तिर्भङ्गयन्तरेण यत् ॥ १९३ ॥

यथा—

'रतिकेलिकलः किंचिदेष मन्मथमन्थरः ।
पश्य सुभ्रु ! समालम्भात्कादम्बश्चुम्बति प्रियाम् ॥'

(३५—अनुक्तसिद्धि)

विशेषार्थोहविस्तारोऽनुक्तसिद्धिरुदीर्यते ।

यथा—

'गृहवृक्षवाटिकायाम्—

दृश्येते तन्वि ! यावेतौ चारुचन्द्रमसं प्रति ।
प्राज्ञे कल्याणनामानावुभौ तिष्यपुनर्वसू ॥'

अनुवाद—'लेश' वह लक्षण है जिसे सादृश्यप्रकाशनसमर्थ वाक्य का उपन्यास कहा जाया करता है। जैसे कि 'वेणीसंहार' की इस सूक्ति अर्थात्—

'राजा—अभिमन्यु के मारने पर हमारी भी वही प्रशंसा होगी जो शिखण्डी को आगे कर, भीष्म के मारने पर, पाण्डुपुत्रों की प्रशंसा हुई।'
में, जो लक्षण है वह 'लेश' है।

अनुवाद—'मनोरथ' वह लक्षण है जिसे किसी अभिमत अभिप्राय का, विचित्रता के साथ, प्रकाशन कहा गया है। जैसे कि इस सूक्ति अर्थात्—

'अरी सुन्दरी ! रतिकेलि में मधुर कूजन करनेवाला किंवा काममोहित यह हंस आनन्द के साथ हंसी का चुम्बन करता दिखाई दे रहा है।'
में, जो लक्षण है वह 'मनोरथ' है।

अनुवाद—'अनुक्तसिद्धि' वह लक्षण है जिसे किसी (अवर्णित सी) अर्थविशेष का ऊह अथवा तर्कणा द्वारा विस्तार कहा गया है। जैसे कि 'गृहवृक्षवाटिका' के इस संदर्भ अर्थात्—

'बुद्धिमति सीते ! कान्तिमान् चन्द्र के समीप जो वे दो दिखायी दिया करते हैं उन्हें ही स्वनामधन्य 'तिष्य' और 'पुनर्वसु' कहा करते हैं।'
में, जो लक्षण है वह 'अनुक्तसिद्धि' ही है (क्योंकि यहाँ विश्वामित्र, राम और लक्ष्मण का अवर्णित भी अभिप्राय ऊह द्वारा ही विशदरूप से प्रतीत हो जाता है)।

(३६—प्रियोक्ति-प्रियवचन)

स्यात्प्रयाणयितुं पूज्यं प्रियोक्तिर्हर्षभाषणम् ॥ १९४ ॥

यथा शाकुन्तले—

'उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं विधिस्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः ॥'

(नाट्यालङ्कार : नामनिर्देश)

अथ नाट्यालङ्काराः—

आशीराक्रन्दकपटाक्षमागर्वोद्यमाश्रयाः ।
उत्प्रासनस्पृहाक्षोभपश्चात्तापोपपत्तयः ॥ १९५ ॥
आशंसाध्यवसायौ च विसर्पोल्लेखसंज्ञितौ ।
उत्तेजनं परीवादो नीतिरर्थविशेषणम् ॥ १९६ ॥
प्रोत्साहनं च साहाय्यमभिमानोऽनुवर्तनम् ।
उत्कीर्त्तनं तथा याच्ञा परिहारो निवेदनम् ॥ १९७ ॥
प्रवर्तनाख्यानयुक्तिप्रहर्षाश्चोपदेशनम् ।
इति नाट्यालङ्कृतयो नाट्यभूषणहेतवः ॥ १९८ ॥

विमर्श—नाट्यशास्त्र की 'अनुक्तसिद्धि' परिभाषा यह है—

'प्रस्तावेनैव शेषोऽर्थः कृत्स्नो यत्र प्रतीयते।
वचनेन विनाऽनुक्तसिद्धिः सा परिकीर्तिता ॥' (नाट्यशास्त्र : १६. ४०)

अनुवाद—'प्रियोक्ति' (प्रियवचन) वह लक्षण है जिसे पूज्य लोगों की विज्ञापना के लिये आनन्दजनक भाषण कहा गया है। जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'संसार में कारण और कार्य का यही नियम है कि पहले फूल फूलता है तब फल निकलता है; पहले मेघ मँडराते हैं तब वर्षा होती है। किन्तु महर्षि कण्व के अनुग्रह और भक्तजनों के कल्याण में यह लौकिक कार्यकारणभाव लागू ही नहीं होता।'

में, जो 'लक्षण' है वह 'प्रियोक्ति' है।

विमर्श—क्या नाट्य और क्या काव्य—सर्वत्र कथाशरीर के संविधान में आलाप-संलाप का वैदग्ध्य स्पष्ट परिलक्षित हुआ करता है। यह सब वस्तुतः तो कर्त्तव्य-कर्म ही है किन्तु शब्दार्थ व्यापार के रूप में ही इसका प्रकाशन हुआ करता है। 'प्रियोक्ति' भी इसी कथाशरीर-संविधान के उपयुक्त सम्भाषण-वैदग्ध्य का एक रूप है।

अनुवाद—नाट्यालङ्कार ये हैं जो कि नाट्य के शोभाधायक हुआ करते हैं—

(१) आशीः, (२) आक्रन्द, (३) कपट, (४) अक्षमा, (५) गर्व, (६) उद्यम, (७) आश्रय, (८) उत्प्रासन, (९) स्पृहा, (१०) क्षोभ, (११) पश्चात्ताप, (१२) उपपत्ति, (१३) आशंसा, (१४) अध्यवसाय, (१५) विसर्प, (१६) उल्लेख, (१७) उत्तेजन, (१८) परीवाद, (१९) नीति, (२०) अर्थविशेषण, (२१) प्रोत्साहन, (२२) साहाय्य, (२३) अभिमान, (२४) अनुवर्तन, (२५) उत्कीर्तन, (२६) याच्ञा, (२७) परिहार, (२८) निवेदन, (२९) प्रवर्तन, (३०) आख्यान, (३१) युक्ति, (३२) प्रहर्ष और (३३) उपदेशन।

(१—आशीः)

आशीरिष्टजनाशंसा—

यथा शाकुन्तले—

'ययातेरिव शर्मिष्ठा पत्युर्बहुमता भव।
पुत्रं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥'

(२—आक्रन्द)

—आक्रन्दः प्रलपितं शुचौ।

विमर्श—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के १६ वें अध्याय में ३६ नाट्यलक्षणों (अथवा नाट्य-भूषणों) का निरूपण है। प्राचीन काल से ही इस अध्याय का पाठभेद चला आ रहा है। कुछ नाट्यशास्त्रकारों ने एक पाठ अपनाया है और कुछ ने दूसरा। १२ वीं शताब्दी के भोजराज ने दोनों पाठों को अपनाकर नाट्यलक्षण की संख्या दूनी कर दी है। साहित्यदर्पणकार ने दोनों पाठों को अपनाकर एक के आधार पर ३६ नाट्यलक्षण और दूसरे के आधार पर ३३ नाट्यालङ्कारों की कल्पना की है। 'अभिनवभारती' के अनुशीलन करनेवालों को यह स्पष्ट हो जाता है कि—'नाट्यालङ्कार' और 'नाट्यलक्षण' की पृथक् कल्पना कुछ ऐसी है जिसके सम्बन्ध में निःसन्दिग्ध विमर्श संभवतः कहीं नहीं हुआ है। भरतमुनि के अनुसार तो 'लक्षण' काव्यबन्ध के लक्षण है (काव्यबन्धास्तु कर्त्तव्या षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः—नाट्यशास्त्र १६.१६९) और 'काव्य-विभूषण' का अभिप्राय रखते हैं किन्तु भरतमुनि के अनुयायिओं में 'लक्षण' के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत प्रचलित रहे हैं। श्री भट्टतौत तथा अभिनवगुप्ताचार्य तो 'लक्षण' का सम्बन्ध 'काव्य' से मानते हैं किन्तु, भोजराज, शारदातनय, विश्वनाथ कविराज आदि के अनुसार 'लक्षण' का सम्बन्ध 'नाट्य' से है। इसके अतिरिक्त कतिपय नाट्यशास्त्रकार 'लक्षण' और 'अलङ्कार' को भिन्न-भिन्न नाट्यधर्म के रूप में देखते हैं और कतिपय ऐसे हैं जिन्होंने 'लक्षण' को 'अलङ्कार' (विभूषण) का ही समानार्थक मान लिया है। विश्वनाथ कविराज ने अपने सभी पूर्वाचार्यों के 'लक्षण' और 'अलङ्कार'विषयक मतों का सामञ्जस्य स्वीकार कर ३६ नाट्यलक्षणों और ३३ नाट्यालङ्कारों का निरूपण कर डाला है। 'भावप्रकाशन'कार शारदातनय के प्रभाव में विश्वनाथ कविराज ने नाट्य के 'लक्षण' और 'अलङ्कार' का विवेचन किया है। विश्वनाथ कविराज के निर्दिष्ट 'गर्व', 'उत्प्रासन', 'आशंसा', 'अध्यवसाय', 'विसर्प', 'उल्लेख', 'साहाय्य', 'उत्कीर्तन', 'उत्तेजन', 'उपदेशन' और 'प्रवर्त्तन' नामक नाट्यालङ्कार (अथवा 'नाट्य'लक्षण) 'भरत नाट्यशास्त्र', 'शृङ्गारप्रकाश', 'दशरूपक' आदि में कहीं नहीं उपलब्ध होते। 'भावप्रकाशन' के आजकल लुप्त अंश में सम्भवतः इनका पूर्वनिर्देश हुआ हो। जो कुछ भी हो, 'लक्षण' अथवा 'अलङ्कार' का विस्पष्ट विवेक विश्वनाथ कविराज ने भी नहीं किया। इनके 'भेद' और 'अभेद' और 'भेदाभेद' की त्रिवेणी विश्वनाथ कविराज के भी सामने पूर्ववत् ही (अव्यक्त रूप से) बहती दिखायी दे रही है।

अनुवाद—'आशीः' वह नाट्यालङ्कार है जिसे इष्टजन की आशंसा अथवा अभ्युदय-कामना कहा गया है। जैसे कि, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस सन्दर्भ अर्थात्—

'जैसे महाराज ययाति के लिये महारानी शर्मिष्ठा रही वैसे ही अपने पति के लिये तू हो जा और जैसे महारानी शर्मिष्ठा ने सम्राट् पुरु को जन्म दिया वैसे ही तू भी एक सम्राट् पुत्र से पुत्रवती हो।'

में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'आशीः' है।

अनुवाद—'आक्रन्द' वह नाट्यालङ्कार है जिसे शोकादि के आवेग के कारण प्रलाप

यथा वेण्याम्—

'कञ्चुकी—हा देवि ! कुन्ति ! राजभवनपताके !—' इत्यादि।

(३—कपट)

कपटं मायया यत्र रूपमन्यद्विभाव्यते ॥ १९९ ॥

यथा कुलपत्यङ्के—

'मृगरूपं परित्यज्य विधाय कपटं वपुः।
नीयते रक्षसा तेन लक्ष्मणो युधि संशयम् ॥'

आदि के उपवर्णन में देखा जा सकता है। जैसे कि, 'वेणीसंहार' के इस प्रसंग अर्थात्—

'कञ्चुकी—हा देवि ! कुन्ति ! हा राजभवनपताके !' आदि में 'आक्रन्द' की ही शोभाधायकता दिखाई देती है।

विमर्श—नाट्यशास्त्र के एक पाठ का 'आक्रन्द'लक्षण यह है—

'आत्मभावमुपन्यस्य परसादृश्यमुक्तिभिः।
तीव्रार्थभाषणं यत्स्यादाक्रन्दः स तु कीर्तितः ॥'

जिसकी 'अभिनवभारती'-सम्मत व्याख्या यह है—

तीव्रः साक्षादवाच्यो योऽर्थस्तस्य परं प्रति सादृश्ययोजनप्रकारैरात्माभिप्रायं प्रमुखे दत्त्वा तत्समन्ततः भाषणं स्फुटकथनं तन्निजभावाविष्करणप्रधानत्वादाक्रन्दो नाम लक्षणम्। यथा ममैव—

'किं पान्थ त्वरसे विलोकय निशां या धुन्मुखी पाण्डुरा
चन्द्रं चुम्बितुमीहते प्रकटयन्त्यग्रे सरागां स्थितिम्।
यद्वा नागरभोगदुर्ललितकैर्यस्तापि न ज्ञायते
ग्रामेऽग्राम्यजनोपभोगसुभगं निर्व्याजरम्यं सुखम् ॥'

अत्रोत्तरेणार्धेन ग्रामीणो रम्यतमो भोजनशयनादिसम्भोग इति वक्त्र्या मोहप्रायोऽवाच्य आत्माभिप्रायः। तदरोचकत्वं तदुभयं प्रमुखे निधाय निशाकरवृत्तान्तसादृश्येन तीव्रः स्वात्मानुराग आविष्कृतः— (अभिनवभारती : नाट्यशास्त्र १६. १९)

यहाँ यह स्पष्ट है कि साहित्यदर्पणकार ने इस 'आक्रन्द'लक्षण का अनुसरण नहीं किया है अपितु 'भोजराज' तथा 'शारदातनय' के इस आक्रन्दस्वरूप अर्थात्—

'आक्रन्दोऽभीष्टविषयः शोकलाभ उदाहृतः'

का ही दर्शन किया है।

अनुवाद—'कपट' वह नाट्यालङ्कार है जिसे व्याजपूर्वक किसी वस्तु के एक भिन्न रूप का प्रकाशन कहा गया है। जैसे कि 'कुलपत्यङ्क' (किसी नाटक के अङ्कविशेष) की इस सूक्ति अर्थात्—

'मारीच ने अपना मृगरूप छोड़कर राक्षसरूप ग्रहण कर लिया है और वह संग्राम में लक्ष्मण को प्राणसंशय में डाल रहा है।'

में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'कपट' है।

विमर्श—नाट्यशास्त्र का 'कपट'लक्षण यह है—

'छलमुक्त्या त्वन्येषामभिसन्धानाभिभावकं कपटम्।' (नाट्यशास्त्र १६. ३०)

(४—अक्षमा)

अक्षमा सा परिभवः स्वल्पोऽपि न विषह्यते ।

यथा शाकुन्तले—

'राजा—भोः सत्यवादिन् ! अभ्युपगतं तावदस्माभिः । किं पुनरिमामभिसन्धाय लभ्यते ।

शार्ङ्गरवः—विनिपातः—' इत्यादि ।

(५—गर्व)

गर्वोऽवलेपजं वाक्यं—

यथा तत्रैव—

'राजा—ममापि नाम सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः ।'

(६—उद्यम)

—कार्यस्यारम्भ उद्यमः ॥ २०० ॥

यथा कुम्भाङ्के—

'रावणः—पश्यामि शोकविवशोऽन्तकमेव तावत् ।'

(७—आश्रय)

ग्रहणं गुणवत्कार्यहेतोराश्रय उच्यते ।

यथा विभीषणनिर्भर्त्सनाङ्के—

'विभीषणः—राममेवाश्रयामि' इति ।

अनुवाद—'अक्षमा' वह नाट्यालङ्कार है जिसे किञ्चिन्मात्र भी अनादर की असहनशीलता का वर्णन कहा गया है । जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—अरे सत्यवादी मुनिराज ! मैंने समझ लिया कि मैं प्रवञ्चक ठहरा । लेकिन, इस नारी की प्रवञ्चना से मुझे क्या मिलेगा, यह नहीं समझ सका !

शार्ङ्गरव—सर्वनाश मिलेगा महाराज ! सर्वनाश ।'

इत्यादि में, 'अक्षमा' की शोभाधायकता इतिवृत्त को सुन्दर बना रही है ।

अनुवाद—'गर्व' वह नाट्यालङ्कार है जिसे अभिमानपूर्वक किसी वचन का उपनिबन्ध कहा गया है । जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—ओह ! मेरे घर पर भी जीवजन्तुओं का आक्रमण ।'

आदि में, 'गर्व' ही नाट्यालङ्कार के रूप में दिखाई दे रहा है ।

अनुवाद—'उद्यम' वह नाट्यालङ्कार है जिसे कार्यारम्भ का वर्णन कहा गया है । जैसे कि 'कुम्भाङ्क' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'रावण—इन्द्रजित् न रहा, मैं अब अपने आप को ही साक्षात् यमराज के रूप में देख रहा हूँ ।'

आदि में, 'उद्यम' का स्वरूप स्पष्ट है ।

अनुवाद—'आश्रय' वह नाट्यालङ्कार है जिसे कार्यसिद्धि के लिये, गुणयुक्त जनादि के आश्रय लेने का वर्णन आदि कहा गया है । जैसे कि 'विभीषणनिर्भर्त्सनाङ्क' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

(८—उत्प्रासन)

उत्प्रासनं तूपहासो योऽसाधौ साधुमानिनि ॥ २०१ ॥

यथा शाकुन्तले—

'शार्ङ्गरवः—राजन्! अथ पुनः पूर्ववृत्तान्तमन्यसङ्गाद्विस्मृतो भवान्। तत्कथमधर्मभीरोर्दारपरित्यागः—' इत्यादि।

(९—आकांक्षा)

आकाङ्क्षा रमणीयत्वाद्वस्तुनो या स्पृहा तु सा।

यथा तत्रैव—

'राजा—

चारुणा स्फुरितेनायमपरिक्षतकोमलः।
पिपासतो ममानुज्ञां ददातीव प्रियाधरः॥'

(१०—क्षोभ)

अधिक्षेपवचःकारी क्षोभः प्रोक्तः स एव तु ॥ २०२ ॥

यथा—

'त्वया तपस्विचाण्डाल! प्रच्छन्नवधवर्तिना।
न केवलं हतो वाली स्वात्मा च परलोकतः॥'

'विभीषण—अच्छी बात है अब मैं राम की शरण लूँगा।'
आदि में, 'आश्रय' ही इतिवृत्त-सौन्दर्य का वर्द्धक है।

अनुवाद—'उत्प्रासन' वह नाट्यालङ्कार है जिसे अपने आप को सज्जन माननेवाले किसी दुर्जन के उपहास का वर्णन कहा गया है। जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'शार्ङ्गरव—राजन्! यदि पहली बातें (शकुन्तला से अपना गान्धर्वविवाह) आप कार्यव्यग्र होने के कारण भूल गये हैं तब भी अधर्म से डरनेवाले आपका यह धर्मपत्नी-परित्याग कैसा?'
आदि में, 'उत्प्रासन' ही इतिवृत्त का उपरञ्जक अलङ्कार है।

अनुवाद—'आकांक्षा' वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी वस्तु की मनोहरता के कारण उसकी लालसा का वर्णन कहा गया है। जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—अब तक अचुम्बित होने के कारण अतिशय कोमल प्रियाधर की यह सुन्दर फड़कन, ऐसा लगता है, मुझे रसपान की अनुज्ञा सी दे रही है।'
आदि में 'आकांक्षा' का ही उपनिबन्ध है।

अनुवाद—'क्षोभ' वह नाट्यालङ्कार है जिसे अधिक्षेपार्थक वचन का उपन्यास कहा गया है। जैसे कि, इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'अरे तपस्वि-चाण्डाल! राम! छिपकर मारनेवाले तूने मुझ वाली को ही नहीं मारा, अपने आपको भी परलोक के लिये नष्ट कर दिया।'
आदि में, इतिवृत्त का जो अलङ्कार है वह 'क्षोभ' ही है।

(११—पश्चात्ताप)

मोहादवधीरितार्थस्य पश्चात्तापः स एव तु ।

यथानुतापाङ्के—

'रामः—

किं देव्या न विचुम्बितोऽस्मि बहुशो मिथ्याभिशप्तस्तदा ।' इति ।

(१२—उपपत्ति)

उपपत्तिर्मता हेतोरुपन्यासोऽर्थसिद्धये ॥ २०३ ॥

यथा वध्यशिलायाम्—

'म्रियते म्रियमाणे या त्वयि जीवति जीवति ।
तां यदीच्छसि जीवन्तीं रक्षात्मानं ममासुभिः ॥'

(१३—आशंसा)

आशंसनं स्यादाशंसा—

यथा श्मशाने—

'माधवः—

तत्पश्येयमनङ्गमङ्गलगृहं भूयोऽपि तस्या मुखम् ।' इति ॥

(१४—अध्यवसाय)

—प्रतिज्ञाध्यवसायकः ।

यथा मम प्रभावत्याम्—

अनवाद—'पश्चात्ताप' वह नाट्यालङ्कार है जिसे मोहवश अवधीरित वस्तु के लिये अनुताप का वर्णन कहा गया है । जैसे कि 'अनुतापाङ्क' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राम—ओह ! सीता ने मुझ पर कितने प्रेमापराध लगाये, मेरा चुम्बन भी उसने स्वीकार न किया !'

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'पश्चात्ताप' है ।

अनुवाद—'उपपत्ति' वह नाट्यालङ्कार है जिसे कार्यसिद्धि के लिये उपयुक्त साधन का उपन्यास कहा गया है । जैसे कि, 'वध्यशिला' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'जो तेरे मरने पर मर जायगी और जीने पर जीती रहेगी, उसे यदि जीवित रखना चाहता हो तो मेरे प्राण से अपने आपको बचा ले ।'

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'उपपत्ति' है ।

अनुवाद—'आशंसा' वह नाट्यालङ्कार है जिसे अभिलषित वस्तु की प्राप्ति के लिये आशा का वर्णन कहा गया है । जैसे कि 'मालतीमाधव' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'माधव—यदि मैं काम के मङ्गलावास प्रियामुख को वारंवार देखता तो कैसा अच्छा होता !'

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'आशंसा' है ।

अनुवाद—'अध्यवसाय' वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी कार्य पर आरूढ होने के निश्चय का वर्णन कहा गया है । जैसे कि, मेरी अपनी कृति 'प्रभावतीपरिणय' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'वज्रनाभः—

अस्य वक्षः क्षणेनैव निर्मथ्य गदयानया।
लीलयोन्मूलयाम्येष भुवनद्वयमद्य वः॥'

(१५—विसर्प)

विसर्पो यत्समारब्धं कर्मानिष्टफलप्रदम्॥ २०४॥

यथा वेण्याम्—

'एकस्यैव विपाकोऽयम्—' इत्यादि।

(१६—उल्लेख)

कार्यग्रहणमुल्लेख—

यथा शाकुन्तले—राजानं प्रति—

'तापसौ—समिदाहरणाय प्रस्थितावावाम्। इह चास्मद्गुरोः कण्वस्य कुलपतेः साधिदैवत इव शकुन्तलयानुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते। न चेदन्य-(था)कार्यातिपातः, प्रविश्य गृह्यतामतिथिसत्कारः' इति।

(१७—उत्तेजन)

—उत्तेजनमितीष्यते।
स्वकार्यसिद्धयेऽन्यस्य प्रेरणाय कठोरवाक्॥ २०५॥

यथा—

'इन्द्रजिच्चण्डवीर्योऽसि नाम्नैव बलवानसि।
धिग्धिक्प्रच्छन्नरूपेण युध्यसेऽस्मद्भयाकुलः॥'

'वज्रनाभ— क्षणभर में अपनी इस गदा से इसकी छाती चूर-चूरकर अब मैं दोनों लोकों का समूलोन्मूलन कर दिखाता हूँ।'

आदि में, जो 'अलङ्कार' है वह 'अध्यवसाय' ही है।

अनुवाद—'विसर्प' वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी अनिष्टकारक कार्यारम्भ का उपवर्णन कहा गया है।

जैसे कि 'वेणीसंहार' के प्रसङ्ग 'एकस्यैव विपाकोऽयम्' आदि में जो नाट्यालङ्कार है वह 'विसर्प' ही है।

अनुवाद—'उल्लेख' वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी कार्य के करने की स्वीकृति का वर्णन कहा गया है। जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'दोनों तापस (राजा से)—हम दोनों तो समिधा लाने निकले हैं। यहाँ मालिनी-तीर पर साक्षात् देवी की भाँति शकुन्तला के संरक्षण में, हमारे कुलपति कण्व का आश्रम है। यदि आपको कोई विशेष कार्य न हो, तो वहाँ चलें और हमारा आतिथ्य स्वीकार करें।' आदि में जो नाट्यालङ्कार है वह 'उल्लेख' है।

अनुवाद—'उत्तेजन' वह नाट्यालङ्कार है जिसे अपनी कार्यसिद्धि के निमित्त, किसी दूसरे को प्रेरित करने के लिये, कठोर वचन का उपन्यास कहा गया है। जैसे कि इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'इन्द्रजित्, तू तो प्रचण्डवीर्य है, तेरे नाम से ही तेरी शक्ति का महत्त्व स्पष्ट हुआ

(१८—परीवाद)

भर्त्सना तु परीवादो—

यथा सुन्दराङ्के—

'दुर्योधनः—धिग् धिग् सूत । किं कृतवानसि ।

वत्सस्य मे प्रकृतिदुर्ललितस्य पापः पापं विधास्यति–'इत्यादि ।

(१९—नीति)

—नीतिः शास्त्रेण वर्तनम् ।

यथा शाकुन्तले—

'दुष्यन्तः—विनीतवेषप्रवेश्यानि तपोवनानि ।' इति ।

(२०—अर्थविशेषण)

उक्तस्यार्थस्य यत्तु स्यादुत्कीर्तनमनेकधा ॥ २०६ ॥

उपालम्भविशेषेण तत् स्यादर्थविशेषणम् ।

यथा शाकुन्तले राजानं प्रति—

'शार्ङ्गरवः—आः कथमिदं नाम, किमुपन्यस्तमिति ? ननु भवानेव नितरां लोकवृत्तान्तनिष्णातः ।

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते ।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः ॥'

करता है, कितने दुःख की बात है कि तब भी तू मुझसे डर रहा है और छद्मरूप में मुझसे लड़ना चाहता है !'
आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'उत्तेजन' है ।

अनुवाद—'परीवाद' वह नाट्यालङ्कार है जिसे भर्त्सनायुक्त वचन का उपनिबन्ध कहा गया है । जैसे कि (वेणीसंहार के) 'सुन्दराङ्क' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'दुर्योधन—धिक्कार है तुझ सारथी को ! यह तूने क्या किया ? ओह ! अब तो वह नीच भीम मेरे प्रिय अनुज दुःशासन को मार ही डालेगा ।'
आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'परीवाद'ही है जो कि यहाँ इतिवृत्त को सुन्दर बना रहा है ।

अनुवाद—'नीति' वह नाट्यालङ्कार है जिसे शास्त्रानुसरण का वर्णन कहा गया है । जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'दुष्यन्त—तपोवन के भीतर चलना है। ऐसे वेष में चलना होगा जिसमें नम्रता झलके।'
आदि में, जो नाट्यालङ्कार-योजना है वह 'नीति' की ही योजना है ।

अनुवाद—'अर्थविशेषण' वह नाट्यालङ्कार है जिसे पूर्वोक्त भी अर्थ का, उपालम्भ के अभिप्राय से, अनेकवार पुनर्वचन कहा गया है । जैसे कि, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'शार्ङ्गरव (राजा से) —ओह ! क्या तुमने कहा कि 'यह सब क्या ?' अरे लोक-वृत्तान्तनिपुण तुम्हारे जैसे राजा लोग होंगे, हम वानप्रस्थी भला ऐसे कहाँ—

देखा तो यही जाता है कि लोग, सती भी सधवा स्त्री पर, यदि वह अपने माता-पिता के घर ही रहती रहे, तरह तरह की शंकाएँ करने लगते हैं । इसीलिए सभी माता-पिता यही

(२१—प्रोत्साहन)

प्रोत्साहनं स्यादुत्साहगिरा कस्यापि योजनम् ॥ २०७ ॥

यथा बालरामायणे—

'कालरात्रिकरालेयं स्त्रीति किं विचिकित्ससि ।
तज्जगत्त्रितयं त्रातुं तात ! ताडय ताडकाम् ॥'

(२२—साहाय्य)

साहाय्यं सङ्कटे यत्स्यात् सानुकूल्यं परस्य च ।

यथा वेण्याम्—कृपं प्रति—

'अश्वत्थामा—त्वमपि तावद्राज्ञः पार्श्ववर्ती भव ।
कृपः—वाञ्छाम्यहमद्य प्रतिकर्तुम्—' इत्यादि ।

(२३—अभिमान)

अभिमानः स एव स्यात्—

यथा तत्रैव—

'दुर्योधनः—मातः किमप्यसदृशं कृपणं वचस्ते—' इत्यादि ।

चाहते हैं कि उनकी विवाहिता पुत्री, चाहे वह अपने पति की प्यारी हो या न हो, पति के पास ही रहे ।'

आदि में जो, नाट्यालङ्कार है वह 'अर्थविशेषण' है ।

अनुवाद—'प्रोत्साहन' वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी को किसी कार्यसिद्धि की ओर प्रवृत्त करने के लिये, उत्साहवर्धक वचन का विन्यास कहा गया है । जैसे कि (महाकवि राजशेखरकृत) 'बालरामायण' के इस संदर्भ अर्थात्—

'तात ! यह ताडका स्त्री नहीं, कालरात्री सी एक विभीषिका है । त्रिभुवन की रक्षा के लिये इसे मारना ही उचित है ।'

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'प्रोत्साहन' है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र के अनुसार 'प्रोत्साहन' का यह स्वरूप है—

'उत्साहजननैः स्पष्टैरर्थैरौपम्यसंश्रयैः ।
प्रसिद्धैरुपगूढैश्च ज्ञेयं प्रोत्साहनं बुधैः ॥' (नाट्यशास्त्र : १६ १०)

जिसकी 'अभिनवभारती' व्याख्या स यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रोत्साहन' के द्वारा काव्य-नाट्य के इतिवृत्तशरीर का सौन्दर्य निखारा जाया करता है ।

अनुवाद—'साहाय्य' वह नाट्यालङ्कार है जिसे संकटकाल में किसी दूसरे के प्रति सहायता का उपवर्णन कहा गया है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस संदर्भ अर्थात्—

'अश्वत्थामा (कृप से)—आप भी अब महाराज के समीप पहुँचे ।

कृप—मैं भी चाहता हूँ कि शत्रुओं से बदला ले लूँ ।'

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'साहाय्य' है ।

अनुवाद—'अभिमान' वह नाट्यालङ्कार है जिसे अभिमानसूचक वाक्य-प्रयोग कहा गया है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस संदर्भ अर्थात्—

'दुर्योधन—माँ ! तुम्हारी बात (अर्थात् पाण्डवों को साथ देने की बात) बड़ी दीनताभरी और तुम्हारे लिये सर्वथा अनुचित सी लग रही है ।'

(२४—अनुवर्तन)

—प्रश्रयादनुवर्तनम् ॥ २०८ ॥

अनुवृत्तिः—

यथा शाकुन्तले—

'राजा—(शकुन्तलां प्रति) अयि! तपो वर्धते?

अनुसूया—दाणिं अदिधिविसेसलाहेण' [इदानीमतिथिविशेषलाभेन] इत्यादि।

(२५—उत्कीर्तन)

—भूतकार्याख्यानमुत्कीर्तनं मतम्।

यथा बालरामायणे—

'अत्रासीत्फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे।
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः।' इत्यादि।

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह अभिमान है।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में 'अभिमान' की यह परिभाषा है—

वार्यमाणस्तु बहुभिर्वचनैः कार्ययुक्तिभिः।
न यः पर्यवतिष्ठेत सोऽभिमानस्तु संश्रितः॥ (नाट्यशास्त्र १६, ८)

और अभिनवभारतीकार ने इसे 'अभिधान' कहकर इस स्वरचित सूक्ति अर्थात्—

'शीतांशोरमृतच्छटा यदि कराः कस्मान्मनो मे भृशं
संप्लुष्यन्त्यथ कालकूटपटलीसंवाससंधुक्षिताः।
किं प्राणान् न हरन्त्युत प्रियतमासंजल्पमन्त्राक्षरै-
र्वीर्यन्ते किमु यद्विमोहविवशात् सन्तापतन्त्रा स्थितिः॥'

के आधार पर इसे इस प्रकार समझाया है—

'अत्र हि तादृश्यर्थस्यार्थेन घटना कृता यस्यां कार्ययुक्तिभिः फलयोजनाभिः......... वार्यमाणोऽपि वा न निवर्तते।...तथाभूतोऽर्थोऽलौकिकत्वात्तावानुपायः'
जिससे ऐसा लगता है जैसे नाट्यालङ्कारों का नाम भी आचार्य-भेद से भिन्न-भिन्न होता चला गया है।

अनुवाद—'अनुवर्तन' वह नाट्यालङ्कार है जिसे विनयपूर्वक किसी के सत्कारादि का वर्णन कहा जाया करता है।

जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस सन्दर्भ अर्थात्—

'राजा (शकुन्तला से) कहिये, आप की तपस्या तो निर्विघ्न चल रही है?

अनुसूया—अब विशेषतया, जब कि आप जैसे अतिथिविशेष मिल गये हैं।'
आदि में, 'अनुवर्तन' का ही स्वरूप स्पष्ट है।

अनुवाद—'उत्कीर्तन' वह नाट्यालङ्कार है जिसे भूतपूर्व कार्यों अथवा वृत्तान्तों का उपवर्णन कहा गया है। जैसे कि, इस संदर्भ अर्थात्—

'यही वह स्थान है जहाँ हम लोग नागपाश में बाँधे गये थे, यह वह स्थान है जहाँ तुम्हारे देवर की छाती में मेघनाद की शक्ति (अस्त्रविशेष) ने चोट की थी और हनुमान् उनके लिए द्रोणाचल (के साथ-साथ संजीवनी बूटी) उठा लाये थे।'
आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'उत्कीर्तन' है।

(२६—याच्ञा)

याच्ञा तु क्वापि याच्ञा या स्वयं दूतमुखेन वा ॥ २०९ ॥

यथा—

'अद्यापि देहि वैदेहीं दयालुस्त्वयि राघवः ।
शिरोभिः कन्दुकक्रीडां किं कारयसि वानरान् ॥'

(२७—परिहार)

परिहार इति प्रोक्तः कृतानुचितमार्जनम् ।

यथा—

'प्राणप्रयाणदुःखार्त उक्तवानस्म्यनक्षरम् ।
तत्क्षमस्व विभो ! किं च सुग्रीवस्ते समर्पितः ॥'

(२८—निवेदन)

अवधीरितकर्तव्यकथनं तु निवेदनम् ॥ २१० ॥

यथा राघवाभ्युदये—

अनुवाद—'याच्ञा' वह नाट्यालङ्कार है जिसे स्वयं या दूतमुख से, किसी से किसी वस्तु की याचना का उपनिबन्ध कहा गया है। जैसे कि, इस संदर्भ अर्थात्—

'अभी समय है तुम सीता को लौटा दो। राक्षसों के मुण्डों से वानरसैनिकों की कन्दुकक्रीडा क्यों प्रारम्भ कराओ? राम दयालु हैं। सोच लो।'

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'याच्ञा' है।

विमर्श—भरत-नाट्यशास्त्र में 'याच्ञा' का यह लक्षण है—

'आदौ यत्क्रोधजननमन्ते हर्षप्रवर्धनम् ।
यत्र प्रियं पुनर्वाक्यं सा याच्ञा परिकीर्तिता ॥' (नाट्यशास्त्र : १६.२२)

जिसे अभिनवभारतीकार ने अपनी इस स्वरचित सूक्ति अर्थात्—

'भूमिः कण्टकिनी पुरो विटपिनः प्रायो बहूपद्रवाः
भूयश्चैष दिवाकरो मृगयते सन्ध्याङ्गनासङ्गमम् ।
तद्विश्रम्य जनोऽयमत्र सदने ग्राम्योचितं सेव्यतां
प्रातः पान्थ विचार्य चेतसि चिरं स्थातासि गन्तासि वा ॥'

के आधार पर इस प्रकार समझाया है—

'प्रथमं यत्तदात्वे परुषमायत्यां च सत्फलं वस्तूच्यते ततश्च प्रियम्। पुनः शब्दात्ततो हितं पुनः प्रियमित्येवं प्रबोध्यस्य प्रबोधधिया याचनाद् याच्ञा।'

अनुवाद—'परिहार' वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी पूर्वकृत अनुचित कार्य के परिहार का वर्णन कहा गया है जैसे कि इस संदर्भ अर्थात्—

'हे राम! अपने प्राणों के वियोग में व्याकुल मैंने तुम्हें जो भी अनुचित कहा उसके लिये क्षमा चाहता हूँ। तुम्हारी सेवा के लिये सुग्रीव को सौंप रहा हूँ।'

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'मार्जन' है।

अनुवाद—'निवेदन' वह नाट्यालङ्कार है जिसे पहले तिरस्कृत विषय का पुनः स्वीकारवर्णन कहा गया है। जैसे कि 'राघवाभ्युदय' के इस संदर्भ अर्थात्—

'लक्ष्मणः—आर्य ! समुद्राभ्यर्थनया गन्तुमुद्यतोऽसि तत्किमेतत् ।'

(२९—प्रवर्त्तन)

प्रवर्तनं तु कार्यस्य यत्स्यात्साधुप्रवर्तनम् ।

यथा वेण्याम्—

'राजा—कञ्चुकिन् ! देवस्य देवकीनन्दनस्य बहुमानाद्वत्सस्य भीमसेनस्य विजयमङ्गलाय प्रवर्त्यन्तां तत्रोचिताः समारम्भाः ।'

(३०—आख्यान)

आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः—

यथा तत्रैव—

'देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन् ह्रदाः पूरिताः—' इत्यादि ।

(३१—युक्ति)

—युक्तिरर्थावधारणम् ॥ २११ ॥

यथा तत्रैव—

'यदि समरमपास्य नास्ति मृत्योर्भयमिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम् ।
अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः किमिति मुधा मलिनं यशः कुरुध्वम् ॥'

'लक्ष्मण—आर्य ! आप तो समुद्र की ही अभ्यर्थना से प्रयाण के लिये उद्यत हुए, लेकिन अब क्या ?'
आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'निवेदन' है ।

अनुवाद—'प्रवर्त्तन' वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी अभिलषित कार्य की ओर प्रवृत्ति-वर्णन कहा गया है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—कञ्चुकी ! भगवान् देवकीनन्दन कृष्ण के कहने से, भीमसेन के विजयमङ्गल की तैयारियाँ शुरू हों ।'
आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'प्रवर्त्तन' है ।

अनुवाद—'आख्यान' वह नाट्यालङ्कार है जिसे पूर्ववृत्तान्त का अनुवर्णन कहा गया है । जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'अश्वत्थामा—यही वह स्थान है जहाँ शत्रुओं के रक्तजल से जलाशय भर दिये गये थे ।'
आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'आख्यान' है ।

अनुवाद—'युक्ति' वह नाट्यालङ्कार है जिसे उद्देश्य-निश्चय का वर्णन कहा गया है । जैसे कि, 'वेणीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'अश्वत्थामा—वीरो ! यदि संग्राम के अतिरिक्त अन्यत्र मरने का डर नहीं तब तो भाग जाओ । लेकिन, यदि एक न एक दिन सबको मरना ही है तो वीरयश को क्यों कलङ्कित करते हो ?'
आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'युक्ति' है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में 'युक्ति' का यह स्वरूप है—

'साध्यते योऽर्थसम्बन्धो महद्भिः समवायतः ।
परस्परानुकूल्येन सा युक्तिः परिकीर्तिता ॥' (नाट्यशास्त्र : १६,३५)

(३२—प्रहर्ष)

प्रहर्षः प्रमदाधिक्यं—

यथा शाकुन्तले—

'राजा—तत्किमिदानीमात्मानं पूर्णमनोरथं नाभिनन्दामि ।'

(३३—उपदेशन)

—शिक्षा स्यादुपदेशनम् ।

यथा तत्रैव—

'सहि, ण जुत्तं अस्समवासिणो जणस्स अकिदसक्कारं अदिधिविसेसं उज्झिअ सच्छन्ददो गमनम्' [सखि ! न युक्तमाश्रमवासिनो जनस्य अकृतसत्कारमतिथिविशेषमुज्झित्वा स्वच्छन्दतो गमनम्]।

(नाट्य-लक्षण और नाट्यालङ्कार : वास्तविक ऐकरूप्य और भेद-निर्देश की परम्परा)

एषां च लक्षणनाट्यालङ्कराणां सामान्यत एकरूपत्वेऽपि भेदेन व्यपदेशो गड्डुलिकाप्रवाहेण ।

जिसे अभिनवभारतीकार ने इस सूक्ति अर्थात्—

'लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र
यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्ते ।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ॥'

के आधार पर इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'अत्र महद्भिरुत्कृष्टैर्नेत्रवदनादिभिः परस्परशोभात्मकानुकूल्योपलक्षितेन समवायेनैकविश्रान्त्याऽर्थः संवध्यमान उपपद्यमानोऽपूर्वतरङ्गिणीलक्षणः साधित इति योजनादियं युक्तिः । प्रतीयमानं रूपकमत्रेति चेत् किं ततः शरीरं लक्षणमयमेवेत्युक्तमसकृत् ।

अनुवाद—'प्रहर्ष' वह नाट्यालङ्कार है जिसे आनन्दातिरेक का वर्णन कहा गया है। जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—तब तो मुझे अपने आप को पूर्णमनोरथ समझते हुये प्रसन्नता से भर उठना चाहिये ।'

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'प्रहर्ष' है ।

अनुवाद—'उपदेशन' वह नाट्यालङ्कार है जिसे शिक्षादान का वर्णन कहा गया है। जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'अनसूया—अरी सखी ! हम लोग आश्रम के रहनेवाले हैं इसलिये किसी अतिथि-विशेष का सत्कार किये बिना, स्वच्छन्दता से कहीं चला जाना, हमारे लिये ठीक नहीं ।'

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह 'उपदेशन' है।

अनुवाद—अब तक जिन 'भूषण' आदि नाट्यलक्षणों और 'आशीः' आदि नाट्यालङ्कारों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया उनके सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि वस्तुतः तो नाट्य के 'लक्षण' और 'अलङ्कार' एक ही तत्त्व हैं क्योंकि दोनों का उद्देश्य नाट्य के इतिवृत्त-शरीर की शोभाधायकता ही है। अब नाट्यशास्त्रकारों ने जो इन्हें भिन्न भिन्न नाम और रूप का मान रखा है उसका एक ही कारण प्रतीत होता है और वह 'गड्डुलिकाप्रवाह' अथवा 'गतानुगतिकता' है ।

(नाट्यलक्षण और नाट्यालङ्कार : उपयोग-भेद और अनिवार्य योजना)

एषु च केषांचिद्‌गुणालङ्कारभावसंध्यङ्गविशेषान्तर्भावेऽपि नाटके प्रयत्नतः कर्त्तव्यत्वात्तद्विशेषोक्तिः ।

एतानि च—

पञ्चसन्धि चतुर्वृत्ति चतुःषष्ट्यङ्गसंयुतम् ।
षड्‌विंशल्लक्षणोपेतमलङ्कारोपशोभितम् ॥
महारसं महाभोगमुदात्तरचनान्वितम् ।
महापुरुषसत्कारं साध्वाचारं जनप्रियम् ॥
सुश्लिष्टसन्धियोगं च सुप्रयोगं सुखाश्रयम् ।
मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यात्तु नाटकम् ॥

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का यह 'नाट्यलक्षणालङ्काराभेदवाद' भरतमुनि की इस मान्यता अर्थात्—

'षट्त्रिंशदेतानि तु लक्षणानि प्रोक्तानि वै भूषणसंमितानि ।
काव्येषु भावार्थगतानि तज्ज्ञैः सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसं तु ॥
(नाट्यशास्त्र १६. ४)

के आधार पर प्रवर्त्तित हुआ है। उचित भी यही है कि 'लक्षण' और 'अलङ्कार' को अभिन्न माना जाय। विश्वनाथ कविराज ने यहाँ वस्तुदृष्टि अपनायी। यह तो अच्छा ही किया। किन्तु पहले ही यदि 'लक्षण' और 'अलङ्कार' का ऐकरूप्य निर्दिष्ट कर दिया गया होता तो इनके पृथक् विवेचन का यह सब आयास-प्रयास न करना पड़ा होता। ऐसा लगता है कि भावप्रकाशन-कार के प्रभाव में पड़ने से साहित्यदर्पणकार ने यह सब दुर्घट प्रयास किया है।

अनुवाद—ऊपर निरूपित नाट्य-लक्षणों और नाट्यालङ्कारों में कतिपय ऐसे भी 'लक्षण' और 'अलङ्कार' हैं जो माधुर्यादि गुण, रूपकादि अलङ्कार, विभावादि भाव किंवा युक्त्यादि सन्ध्यङ्गों में स्वभावतः अन्तर्भूत प्रतीत होते हैं। किन्तु तब भी इन्हें गुण, अलङ्कार, भाव और सन्ध्यङ्गों से पृथक् मानकर जो निर्दिष्ट किया गया उसका एक कारण है और वह यह है कि काव्य-नाट्य में लक्षणयोजना और अलङ्कारयोजना के प्रति कवि को प्रयत्नशील होने की आवश्यकता है। इसीलिये नाट्याचार्य भरतमुनि की यह मान्यता है—

'कवि को ऐसे नाटक की रचना करनी चाहिये जिसमें सन्धिपञ्चक का विन्यास हो, वृत्तिचतुष्टय का उपनिबन्ध हो, ६४ सन्ध्यङ्गों की योजना हो, ३६ लक्षणों का समावेश हो, अलङ्कारों की शोभाधायकता हो, पुरुषार्थोपयुक्त रसों का सञ्चार हो, अधिकाधिक मनोरञ्जक रसभावों का अनुप्राणन हो, शब्द और अर्थ के गुणों का समुचित विकास हो, महापुरुषों के चरित की चर्चा हो, जीवनोपदेश की भरमार हो, सामाजिकजन के लिये मनोरञ्जनसामग्री हो, सन्धियों और सन्ध्यङ्गों का सुसंश्लिष्ट विन्यास हो, लास्याङ्गों की योजना हो, छन्दों और वृत्तों का वैचित्र्य हो और मधुर किंवा प्रसन्न शब्दों द्वारा वस्तु-वर्णना हो (नाट्यशास्त्र : १९. १३९-१४१)।

तात्पर्य यह है कि नाटक में लक्षण और अलङ्कारों की योजना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इससे रसाभिव्यञ्जन का संबन्ध है।

विमर्श—विश्वनाथ कविराज 'अभिनवभारती' की लक्षणमीमांसा से पूर्ण परिचित हैं। यहाँ उन्होंने लक्षण के सम्बन्ध में 'अभिनवभारतीकार की 'दशपक्षी' का निर्देश किया है। 'लक्षण'

और 'गुण' का वास्तविक ऐकरूप्य और व्यावहारिक भेद भी एक 'लक्षण'विषयक सिद्धान्त है जैसा कि 'अभिनवभारती' की इन पंक्तियों में स्पष्ट है—

'एकेषां तु दर्शनं—कवेर्यः प्रतिभात्मा प्रथमपरिस्पन्दः तद्व्यापारबलोपनताः गुणाः, प्रतिभावत एव हि रसाभिव्यञ्जनसामर्थ्यं माधुर्यादेरुपनिबन्धनसामर्थ्यं, न सामान्यकवेः। अनेन शब्देनेदं वस्तु वर्णयामीत्येवंभूतवर्णनापरपर्यायद्वितीयव्यापारसंपाद्यास्त्वलङ्काराः।'

'शब्दानमीभिः शब्दैरर्थानमीभिरर्थैः संघटयामीत्येवमात्मकस्तु यस्तृतीयः कवेः परिस्पन्दः तदधीनात्मलाभादिशब्दात्मार्थात्मककाव्यशरीरसंश्रितानि वक्ष्यमाणश्लेषादिगुणदशकसमभिव्यञ्जनपराणि शब्दार्थोपसंस्कारकल्पानि क्रियारूपाणि लक्षणानीति, यदुक्तं तत्रैव—

काव्येप्यस्ति तथा कश्चित् स्निग्धः स्पर्शोऽर्थशब्दयोः।
यः श्लेषादिगुणव्यक्तिदक्षः स्याल्लक्षणस्थितः ॥'

(अभिनवभारती : नाट्यशास्त्र : १६ अध्याय)

अर्थात् 'गुण, अलङ्कार और लक्षण' कवि की प्रतिमा के त्रिविध स्फुरणरूप से तो त्रिविध तत्त्व हैं। कविप्रतिभा का प्रथम उन्मेष माधुर्यगुणरूप में, द्वितीय उन्मेष अलङ्कारयोजना में और तृतीय उन्मेष लक्षणविन्यास में परिलक्षित देखा जा सकता है। किन्तु शब्दों का पारस्परिक गुम्फनवैचित्र्य और अर्थों का पारस्परिक संदर्भ-सौन्दर्य जैसे 'गुण' का स्वरूप है वैसे ही 'लक्षण' का भी और इस दृष्टि से गुण और लक्षण का ऐकरूप्य भी है।

इसी भाँति 'लक्षण' और 'अलङ्कार' का भी ऐकरूप्य और भेद लक्षणविषयक-ही सिद्धान्त है जो कि अभिनवभारती की निम्न पंक्तियों में प्रतीत होता है—

'काव्ये तावल्लक्षणं शरीरं, तस्योपमादयस्त्रयोऽर्थभागे, यथा हि पृथग्भूतेन हारेण रमणी विभूष्यते तथोपमानेन शशिना तत्सादृश्येन वा कविबुद्धिचञ्चलतया परिवर्तमानत्वात् पृथक् सिद्धेनैव प्रकृतवर्णनीयवनितावदनादि सुन्दरीक्रियत इति तदेवालङ्कारः।···उपाध्यायमतन्तु—लक्षणबलादलङ्काराणां वैचित्र्यमागच्छति। तथा हि—गुणानुवादनाम्ना लक्षणेन योगात् प्रशंसोपमा, अतिशयनाम्नाऽतिशयोक्तिः, मनोरथाख्येनाप्रस्तुतप्रशंसा, मिथ्याध्यवसायेनापह्नुतिः, सिद्ध्या तुल्ययोगितेति, एवमन्यदुत्प्रेक्ष्यम्। लक्षणनाञ्च परस्परवैचित्र्यादप्यनन्तो विचित्रभावः, यथा प्रतिषेधमनोरथयोः संमेलनादाक्षेप इति।'

(अभिनवभारती : अध्याय १६)

अर्थात् 'लक्षण' और 'अलङ्कार' में उपस्कार्योपस्कारकभाव होने से दोनों परस्पर भिन्न भी हैं और 'लक्षण' और 'अलङ्कार' के पारस्परिक वैचित्र्य-संयोग से संभूत काव्यसौन्दर्य की दृष्टि से दोनों का समन्वय भी संभव है—

'लक्षण' और 'सन्ध्यङ्ग' के भेदाभेद का भी सिद्धान्त लक्षणविषयक ही सिद्धान्त है जैसा कि निम्न पंक्तियों में स्पष्ट है—

'अन्ये मन्यन्ते—इतिवृत्तखण्डलकान्येव सन्ध्यङ्गकानि लक्षणानीति च व्यपदिश्यन्ते। निमित्तभेदात् पूर्वापरसम्बन्धेन बीजोपक्षिसेऽर्थे निर्वहणपर्यन्ते परस्परसन्धायकत्वेन सन्ध्यङ्गतया व्यपदेशः, रसविशेषोपयोगितया वृत्त्यङ्गवाचोयुक्तिः, काव्यगतस्यातिप्राशस्त्योपयोगितया महापुरुषगतपाशध्वजपादरेखादिवल्लक्षणशब्दवाच्यता' (अभिनवभारती : अध्याय १६) अर्थात् 'सन्ध्यङ्ग' और 'लक्षण' एकरूप भी हैं और भिन्नरूप भी। इतिवृत्तरूप शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग होने के नाते तो 'लक्षण' और 'सन्ध्यङ्ग' एक रूप हैं किन्तु निमित्तभेद से दोनों में भेद भी किया जा सकता है। इतिवृत्तखण्डों को, इस दृष्टि से कि ये परस्पर एक दूसरे से

इति मुनिनोक्तत्वान्नाटकेऽवश्यं कर्तव्यान्येव।

(वीथ्यङ्ग : संकेत)

वीथ्यङ्गानि वक्ष्यन्ते।

(लास्य के अङ्ग : निर्देश)

लास्याङ्गान्याह—

गेयपदं स्थितपाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ॥ २१२ ॥
प्रच्छेदकस्त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम्।
उत्तमोत्तमकं चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च ॥ २१३ ॥
लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गमुक्तं मनीषिभिः।

(१—लास्याङ्ग : गेयपद)

तत्र—

तन्त्रीभाण्डं पुरस्कृत्योपविष्टस्यासने पुरः ॥ २१४ ॥
शुद्धं गानं गेयपद—

यथा—

गौरीगृहे वीणां वादयन्ती मलयवती।

मिले-जुले, नाट्य का शरीर-संस्थान बनाते हैं 'सन्ध्यङ्ग' कहा जा सकता है और इस दृष्टि से कि इनके द्वारा काव्य में ख्याति और प्रशस्ति आया करती है, 'लक्षण' भी माना जा सकता है।

'लक्षण' और 'विभाव' के भेदाभेदवाद में भी उपर्युक्त दृष्टि ही कारणरूप से दिखाई देती है।

(ख) 'लक्षण' के सम्बन्ध में इस 'दशपक्षी' का निष्कर्ष 'गड्डलिकाप्रवाह' के रूप में तो निकाला जा सकता है जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने निकाला है किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि साहित्यदर्पणकार इस 'गड्डलिकाप्रवाह' में प्रवाहित कैसे हुये!

अनुवाद—नाटक में वीथ्यङ्गों का भी उपयोग है। 'वीथी' के जो-जो अङ्ग हैं उनका विवेचन यथावसर किया जा रहा है।

अनुवाद—(नाट्योपयोगी) लास्याङ्गों का निरूपण किया जा रहा है—लास्य के ये १० अङ्ग हैं जो नाट्य के लिए उपयोगी हैं—(१) गेयपद, (२) स्थितपाठ्य, (३) आसीन, (४) पुष्पगण्डिका, (५) प्रच्छेदक, (६) त्रिगूढ, (७) सैन्धव, (८) द्विगूढक, (९) उत्तमोत्तमक और (१०) उक्तप्रत्युक्त।

विमर्श—कवि और अभिनेता के लिये नाट्य में लास्याङ्गों का समुचित विनियोग इसलिये आवश्यक माना गया है क्योंकि इससे 'रञ्जनावैचित्र्य' की निष्पत्ति हुआ करती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसीलिये कहा है—'यानि लास्याङ्गानि वक्ष्यन्ते तेभ्यः कश्चिद्वैचित्र्यांशो लोकापरिदृष्टोऽपि रञ्जनावैचित्र्याय कविप्रयोक्तृभिर्नाट्ये निबन्धनीयः।'

(अभिनवभारती : नाट्यशास्त्र : १९. १२०)

अनुवाद—'गेयपद' वह लास्याङ्ग है जिसे तन्त्री भाण्ड अर्थात् सर्वविध आतोद्यपूर्वक, रंगमंच पर, स्वस्थ चित्त बैठे हुये गायकों का शुद्ध (वस्तुतः शुष्क अथवा अभिनयशून्य) गायन कहा जाया करता है। जैसे कि 'रत्नावली' में प्रयुक्त, पार्वतीमन्दिर में वीणा बजाती 'मलयवती' का—

'उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते ! मम हि गौरि ! ।
अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति ! युष्मत्प्रसादेन ॥'

(२—स्थितपाठ्य)

—स्थितपाठ्यं तदुच्यते ।
मदनोत्तापिता यत्र पठति प्राकृतं स्थिता ॥ २१५ ॥

अभिनवगुप्तपादास्त्वाहुः—

उपलक्षणं चैतत् । क्रोधोद्भ्रान्तस्यापि प्राकृतपठनं स्थितपाठ्यम् । इति ।

(३, ४, ५—आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक)

निखिलातोद्यरहितं शोकचिन्तान्विताबला ।
अप्रसाधितगात्रं यदासीनासीनमेव तत् ॥ २१६ ॥
आतोद्यमिश्रितं गेयं छन्दांसि विविधानि च ।
स्त्रीपुंसयोर्विपर्यासचेष्टितं पुष्पगण्डिका ॥ २१७ ॥

'विकसित कमलकेसर-पराग सी गौरवर्ण वाली भगवति गौरि ! आप की अनुकम्पा हो, मेरे मनोरथ पूर्ण हों।'
आदि अभिप्रायपूर्ण गान 'गेयपद' नामक लास्याङ्ग की ही योजना है।

विमर्श—आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार 'गेयपद' यह है—

'ध्रुवागानपञ्चकमन्तरालापस्वररहितं यत्र प्रयोगयोग्यं भवति, स काव्यप्रयोगो गेयपदमित्युक्तं भवति' (अभिनवभारती : १६. १२१)

अनुवाद—'स्थितपाठ्य' वह लास्याङ्ग है जिसे किसी कामपीडिता का, भावावेश के साथ प्राकृतसूक्ति-पाठ कहा गया है।

'स्थितपाठ्य' के सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त का यह मत है—भरतमुनि का 'स्थितपाठ्य' के सम्बन्ध में यह कथन कि यह 'मदनानलतप्ताङ्गी' का प्राकृत-पाठ है वस्तुतः यह अभिप्राय रखता है कि क्रोध में पागल व्यक्ति का भी प्राकृत-पाठ 'स्थितपाठ्य' ही है (क्योंकि यहाँ 'मदनानलतप्ताङ्गी' पद क्रोधादि के आवेश में आये लोगों का उपलक्षण है)।

विमर्श—अभिनवभारती में आचार्य अभिनवगुप्त की ये पंक्तियाँ हैं—

'एतच्चावेशोपलक्षणं तेन क्रोधाविष्टोऽपि संस्कृतेन पठतीत्यत्रापि (स्थितपाठ्यमेव) मन्तव्यम्।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि साहित्यदर्पणकार ने स्मृति के आधार पर अभिनवगुप्ताचार्य के मत का उल्लेख किया है।

अनुवाद—'आसीन' वह लास्याङ्ग है जिसे शोकाकुला किंवा चिन्ता में डूबी अभिनेत्री सुन्दरी का, बिना किसी आतोद्य और बिना किसी गात्रप्रसार (आङ्गिक अभिनय) के, रंगमञ्च पर आसीन होना कहा जाया करता है। 'पुष्पगण्डिका' उस लास्याङ्ग को कहते हैं जिसमें विविध छन्दों में आतोद्य के साथ गान हुआ करता है और स्त्री पुरुष बनकर और पुरुष स्त्री बने अभिनय किया करते हैं। और 'प्रच्छेदक' वह लास्याङ्ग है जिसे किसी

अन्यासक्तं पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमन्युना ।
वीणापुरःसरं गानं स्त्रियाः प्रच्छेदको मतः ॥ २१८ ॥

(६—त्रिगूढक)

स्त्रीवेषधारिणां पुंसां नाटचं श्लक्ष्णं त्रिगूढकम् ।

यथा मालत्याम्—

'मकरन्दः—एषोऽस्मि मालती संवृत्तः ।'

सुन्दरी का, अपने पति को किसी अन्य सुन्दरी के प्रति अनुरक्त देख, प्रेमभङ्ग के कारण, वीणावादनपूर्वक गान कहा गया है ।

विमर्श—'आसीन' नामक लास्याङ्ग को करुणरसप्रधान नाट्य का उपरञ्जक कहा गया है। (आसीनपाठ्यादुपजीवितेनासनांशेन योगतश्च सर्वत्र करुणादौ रञ्जनोपयोगि-अभिनव भारती)।

'पुष्पगण्डिका' का तात्पर्य अभिनवभारतीकार के शब्दों में यह है—'मालासादृश्यात् पुष्पगण्डिका गाननृत्तगीतगतवैचित्र्ययोगात्'। अर्थात् माला की भाँति जहाँ नृत्त, गान और गीत का सम्मिश्रण-वैचित्र्य हो वह 'पुष्पगण्डिका' है ।

नाट्यशास्त्र में 'प्रच्छेदक' का यह लक्षण है—

'प्रच्छेदकस्य विज्ञेयो यत्र चन्द्रातपाहताः ।
स्त्रियः प्रियेषु सज्जन्ते ह्यपि विप्रियकारिषु ॥' (नाट्यशास्त्र : १९. १२६)

जिसे अभिनवभारतीकार ने इस प्रकार समझाया है—

'प्रच्छेदक' इति लास्यविधाने (नाट्यशास्त्र : अध्याय ३१) वक्ष्यते । 'ज्योत्स्नायां मदिरायां वा दर्पणे सलिलेऽथवा । छायासादृश्यकान्तस्य प्रहर्षार्थविभूषितम् ॥' इति (नाट्यशास्त्र : अध्याय ३१) त्रिधा प्रच्छेदकस्य लक्षणमुक्तम् । तत्र जलक्रीडायां जले, प्रसाधने दर्पणे, पानगोष्ठ्यां पान ईषत्प्रतिफलिततत्तदाकृतिदर्शने सति कान्तायाः प्रहर्ष इति त्रिधा प्रच्छेदं प्रतिविफलनमितिपर्यायात्......एवं रसोपयोग्यलौकिककालविशेषग्रहणं प्रच्छेदकादुपजीवितम् । यदाहुरुपाध्यायपादाः—

यद् यत्रास्ति न तत्रास्य कविर्वर्णनमर्हति ।
यन्नासंभवि तत्रास्य तद्वर्ण्यं सौमनस्यदम् ॥
देशोऽद्रिदन्तुरो द्यौर्वा तटित्कुण्डलमण्डिता ।
ईदृक् स्यादथवा न स्यात् किं कदाचन कुत्रचित् ॥ इत्यादि ।

अनुवाद—'त्रिगूढक' वह लास्याङ्ग है जिसे स्त्रीवेशधारी पुरुषनटों का मनोहर अभिनय कहा गया है । जैसे कि 'मालतीमाधव' में 'मकरन्द' का 'मालती'रूप में जो अभिनय है वह 'त्रिगूढक' नामक लास्याङ्ग है (जिसकी, भवभूति ने, अपने मालतीमाधव में योजना की है)।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में 'त्रिगूढक' की यह परिभाषा है—

'अनिष्ठुरश्लक्ष्णपदं समवृत्तैरलङ्कृतम् ।
नाट्यं पुरुषभावाढ्यं त्रिगूढकमिति स्मृतम् ॥' (नाट्यशास्त्र : १९. १३०)

(७—सैन्धव)

कश्चन भ्रष्टसंकेतः सुव्यक्तकरणान्वितः ॥ २१९॥
प्राकृतं वचनं वक्ति यत्र तत्सैन्धवं मतम् ।

करणं वीणादिक्रिया।

(८—द्विगूढक)

चतुरस्रपदं गीतं मुखप्रतिमुखान्वितम् ॥ २२० ॥
द्विगूढं रसभावाढ्यम्—

अनुवाद—'सैन्धव' वह लास्याङ्ग है जिसे (रसाभिव्यञ्जनसमर्थ) वीणावादनादि-पूर्वक, किसी 'भ्रष्टसंकेत' (रसोचित ध्वनिविकार को भूले हुये) अभिनेता का, प्राकृत-प्राय सूक्तिओं का पाठ कहा गया है। यहाँ 'करण' का अभिप्राय वीणादिवादन का अभिप्राय है।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में 'सैन्धव' अथवा 'सैन्धवक' नामक लास्याङ्ग का यह लक्षण है—

'पात्रं विभ्रष्टसंकेतं सुव्यक्तकरणान्वितम् ।
प्राकृतैर्वचनैर्युक्तं विदुः सैन्धवकं बुधाः ॥' (नाट्यशास्त्र : १९-१३१)

जिसे अभिनवभारतीकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'अथ सैन्धवकादुपजीव्यमंशं स्वीकर्तुमाह-पात्रं विभ्रष्टसंकेतमिति—

'सैन्धवीमाश्रिता भाषा ज्ञेयं तत्सैन्धवं बुधैः। सुपवाद्यादिसंयुक्तम्' इति च लास्याङ्ग-विधाने (अध्याय ३१) वक्ष्यते । तत्र यदा नान्यप्राकृताविभाषोपकरणत्वेन सैन्धवी-प्राया आश्रीयते तद्रसोपयोगि रञ्जनाधिक्यात्, अलौकिकोऽयमर्थो रञ्जनोपयोगी लास्या-ङ्गात् स्वीकृतो भवति। तथा हि श्रृङ्गाररसे सातिशयोपयोगिनी प्राकृतभाषेति सट्टकः कर्पूर-मञ्जर्याख्यो राजशेखरेण तन्मय एव निबद्धः, भेज्जलेन राधाविप्रलम्भाख्यो रासकाङ्कः सैन्ध-वभाषाबाहुल्येन, चन्द्रकेण स्वानि रूपकाणि वीररौद्राधिकोपयोगीनि संस्कृतभाषयैव। अत एव च तत्तद्रसोपयोगतारतम्यादेवैकतमस्यातोऽन्यस्यात्र प्राधान्यं कल्प्यते।'

(अभिनवभारती : १९. १३१)

अर्थात् रसोचित 'सैन्धवी' आदि प्राकृतभाषानिबद्ध सूक्ति का पाठ सैन्धव है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि 'सैन्धव' नामक लास्याङ्ग की कल्पना 'सैन्धवी' भाषा-निबद्ध पाठादि के कारण हुई है न कि चञ्चल पुरुष द्वारा प्रयुक्त होने के कारण, जैसा कि 'साहित्यदर्पण' के एक संस्कृतव्याख्याकार ने कहा है—'कश्चन पुरुषो यत्र प्राकृतं वचनं वक्ति तत्र सैन्धवे-नाश्वेनेव चञ्चलेन पुरुषेण प्रयुक्तत्वात् सैन्धवं नाम लास्याङ्गं विदुः। यथा—स्वप्नवासवदत्ते-(राजा)-श्रुतिसुखनिनदे कथं नु देव्या......इत्यादि।'

(साहित्यदर्पण : 'लक्ष्मी' व्याख्या पृष्ठ ४३३)

अनुवाद—'द्विगूढक' वह लास्याङ्ग है जिसमें 'मुख' और 'प्रतिमुख' नामक अङ्गों से युक्त किंवा रसभावरमणीय चतुरस्रपद गीत की योजना हुआ करती है।

विमर्श—साहित्यदर्पण की संस्कृत और हिन्दी व्याख्याओं में 'मुखप्रतिमुखान्वितम्' पद से 'मुख' और 'प्रतिमुख' सन्धि का अभिप्राय लिया गया है (विमला टीका : पृष्ठ ३०५ और लक्ष्मी टीका, पृष्ठ ४३३) जो कि सर्वथा असंगत है। अभिनवभारतीकार ने स्पष्ट कहा है—'मुख-प्रतिमुखौ सन्धी इत्येतदपि न समीचीनम् अनुपयोगादस्यार्थस्य; 'मुखप्रतिमुखे गीताङ्गत्वेन हि' इत्यादि।

(९—उत्तमोत्तमक)

—उत्तमोत्तमकं पुनः ।

कोपप्रसादजमधिक्षेपयुक्तं रसोत्तरम् ॥ २२१ ॥

(१०—उक्तप्रत्युक्त)

हावहेलान्वितं चित्रश्लोकबन्धमनोहरम् ।
उक्तिप्रत्युक्तिसंयुक्तं सोपालम्भमलीकवत् ॥ २२२ ॥
विलासान्वितगीतार्थमुक्तप्रत्युक्तमुच्यते ।

स्पष्टान्युदाहरणानि ।

(महानाटक क्या है)

एतदेव यदा सर्वैः पताकास्थानकैर्युतम् ॥ २२३ ॥
अङ्कैश्च दशभिर्धीरा महानाटकमूचिरे ।

एतदेव नाटकम् ।

अनुवाद—'उत्तमोत्तमक' वह लास्याङ्ग है जिसे कोप किंवा प्रसादसम्भूत, आक्षेपपूर्ण, उत्तरोत्तर रसमनोहर, हेला तथा हाव से युक्त और चित्र-विचित्रपद-बन्धमय गायन कहा जाया करता है।

विमर्श—'उत्तमोत्तमक' की यह निरुक्ति ध्यान देने योग्य है—

'उत्तमानि तावल्लास्याङ्गानि, तेभ्योऽपीदमुत्तमम्, सर्वं हि रसपर्यायीति दर्शितं प्राक्। ततः संज्ञायां कन्' (अभिनवभारती : नाट्यशास्त्र १९. १३४)

अनुवाद—'उक्तप्रत्युक्त' वह लास्याङ्ग है जिसे आकाशभाषित, स्वगत आदि रूप से (अलीकवत्) उक्ति-प्रत्युक्तिमय, उपालम्भपूर्ण, विलासयुक्त गीतप्रयोग कहा गया है।

इसके और पूर्वनिर्दिष्ट लास्याङ्गों के उदाहरण स्पष्ट हैं।

विमर्श—लास्याङ्गों के प्रयोग और उपयोग का परम प्रयोजन नाट्य का रञ्जनावैचित्र्य है जो कि रसास्वाद में सहायक है। अभिनवभारतीकार ने स्पष्ट कहा है—

'तथा ह्यलौकिककैशिक्युपयोगि रसांशे सर्वथोपकारि यद्वैचित्र्यं तल्लास्याङ्गद्वारेणाह।'

किन्तु साहित्यदर्पणकार के लिये यह सब लास्याङ्गसम्बन्धी रञ्जनावैचित्र्य-निरूपण परम्परा का अनुसरण मात्र लगता है न कि समसामयिक रङ्गमञ्च की परिस्थिति का उपवर्णन।

अनुवाद—वह नाटक 'महानाटक' कहा जाया करता है जिसमें चतुर्विध पताकास्थानक की योजना रहा करती है और जिसका वस्तु-चरित-वर्णन १० अङ्कों में किया गया होता है।

यहाँ कारिका में 'एतदेव' से 'नाटक' का अभिप्राय लिया गया है (न कि पूर्वपरामृष्ट उक्तप्रत्युक्तरूप लास्याङ्ग का)। महानाटक के उदाहरणरूप में (महाकवि राजशेखर कृत) 'बालरामायण' नाटक लिया जा सकता है।

विमर्श—'महानाटक' की कल्पना 'महाकाव्य' की कल्पना सरीखी है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अलङ्कारशास्त्र में 'महारस' की कोई कल्पना नहीं और इसलिये 'महानाटक' अथवा 'महाकाव्य' का नियामक रस-विस्तार नहीं अपि तु शरीर-विस्तार ही है।

यथा—

बालरामायणम् ।

(२य रूपक-भेद : प्रकरण : सभेद निरूपण)

अथ प्रकरणम्—

भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम् ॥ २२४ ॥
शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक् ।
सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः ॥ २२५ ॥

विप्रनायकं यथा मृच्छकटिकम्। अमात्यनायकं मालतीमाधवम्। वणिङ्नायकं पुष्पभूषितम्।

नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् ।
तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः ॥ २२६ ॥
कितवद्यूतकारादिविटचेटकसंकुलः ।

कुलस्त्री पुष्पभूषिते। वेश्या तु रङ्गवृत्ते। द्वे अपि मृच्छकटिके। अस्य नाटकप्रकृतित्वाच्छेषं नाटकवत्।

अनुवाद—'प्रकरण' वह रूपक विशेष है जिसका वृत्त लौकिक किंवा कवि-कल्पित हुआ करता है, जिसमें शृङ्गार की अभिव्यञ्जना अङ्गी-रस के रूप में हुआ करती है, जिसका नायक विप्र, अमात्य और वणिक्-श्रेणी में से किसी एक का हो सकता है और जिसमें नायक को 'धीरशान्त' प्रकृति तथा विपरीत परिस्थिति में पड़े रहने पर भी धर्म-अर्थ और काम-परायण रूप में चित्रित किया जाया करता है।

जैसे कि (महाकवि शूद्रक-रचित) 'मृच्छकटिक' जिसका नायक (चारुदत्त) एक ब्राह्मण है, (महाकवि भवभूति-रचित) 'मालतीमाधव' जिसका नायक (माधव) एक राजसचिव है और 'पुष्पभूषित', जिसका नायक एक वणिक् है।

नायिकाभेद से भी प्रकरण में भेद दिखायी देता है। जैसे कि कोई प्रकरण ऐसा है जिसमें कुलस्त्री नायिकारूप में चित्रित की गयी है, कोई ऐसा, जिसमें वेश्या को नायिका बनाया गया है और कोई ऐसा, जिसमें कुलजा और वेश्या दोनों नायिकारूप में वर्णित की गयी हैं। इन तीनों 'प्रकरण' भेदों में तीसरा अर्थात् 'कुलजा-वेश्या-नायिका-द्वयात्मक' जो 'प्रकरण' है उसमें धूर्त, द्यूतकार, विट और चेट आदि का भी पर्याप्त चित्रण रहा करता है।

जैसे कि 'पुष्पदूषित' नामक प्रकरण में कुलजा का नायिकारूप में चित्रण, 'तरङ्गदत्त' नामक प्रकरण में वेश्या का नायिकारूप में चित्रग और 'मृच्छकटिक' में कुलजा और वेश्या—दोनों का नायिकारूप में चित्रण स्पष्ट दिखायी देता है।

प्रकरण की अन्य विशेषतायें नाटक की विशेषतायें हैं क्योंकि यह रूपक-प्रकार नाटक का ही निष्यन्दरूप है।

विमर्श—(क) नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'प्रकरण' का यह विशद विवेचन किया है—

'यत्र कविरात्मशक्त्या वस्तु शरीरं च नायकं चैव ।
औत्पत्तिकं प्रकुरुते प्रकरणमिति तद् बुधैर्ज्ञेयम् ॥

यदनार्षमनाहार्यं काव्यं प्रकरोत्यभूतगुणयुक्तम् ।
उत्पन्नबीजवस्तु प्रकरणमिति तदपि विज्ञेयम् ॥
यन्नाटके मयोक्तं वस्तु शरीरं च वृत्तिभेदाश्च ।
तत्प्रकरणेऽपि योज्यं सलक्षणं सर्वसन्धिषु तु ॥
विप्रवणिक्सचिवानां पुरोहितामात्यसार्थवाहानाम् ।
चरितं यन्नैकविधं ज्ञेयं तत्प्रकरणं नाम ॥
नोदात्तनायककृतं न दिव्यचरितं न राजसम्भोगम् ।
बाह्यजनसम्प्रयुक्तं तज्ज्ञेयं प्रकरणं तज्ज्ञैः ॥
दासविटश्रेष्ठियुतं वेशस्त्र्युपचारकारणोपेतम् ।
मन्दकुलस्त्रीचरितं काव्यं कार्यं प्रकरणे तु' ॥ (नाट्यशास्त्र १८. ४३-५०)

जिसका अभिप्राय यह हैं—प्रकरण वह रूपक-प्रकार है जिसके इतिवृत्तशरीर, चरितचित्रण किंवा उद्देश्य-निरूपण में कवि की कल्पना का हाथ रहा करता है (प्रकर्षेण क्रियते कल्प्यते नेता, फलं वस्तु वा व्यस्त-समस्ततयाऽत्रेति प्रकरणम्)। इस रूपक-प्रकार में भी वैचित्र्य-भेद हैं। एक प्रकार का वह प्रकरण हो सकता है जिसमें नेता कल्पित हो और वृत्त तथा फल अकल्पित हों; दूसरे प्रकार का वह, जिसमें वृत्त कल्पित हो और नेता और फल अकल्पित हों; तीसरे प्रकार का वह, जिसमें फल कल्पित हो और नेता और वृत्त अकल्पित हों; चौथे प्रकार का वह, जिसमें नेता और वृत्त कल्पित हों और फल अकल्पित हो, पाँचवें प्रकार का वह, जिसमें नेता और फल कल्पित हों और वृत्त अकल्पित हो, छठे प्रकार का वह जिसमें फल और वृत्त कल्पित हों और नेता अकल्पित हो और सातवें प्रकार का वह जिसमें नेता, फल और वृत्त तीनों के तीनों कल्पित हों।

(ख) नायिका-भेद के कारण 'प्रकरण' के इक्कीस भेदों का परिगणन किया गया है। नाट्य-दर्पणकार ने स्पष्ट कहा है—

'कुलस्त्री गृहवार्तायां पण्यस्त्री तु विपर्यये ।
विटे पत्यौ द्वयं तस्मादेकविंशतिधाऽप्यदः ॥

गृहवार्तायां गार्हस्थ्योचितपुरुषार्थसाधके वृत्ते कुलजैव स्त्री नायिकात्वेन वणिगादीनां निबन्धनीया यथा पुष्पदूषितके। विपर्यये तु गार्हस्थ्यधर्मोचितपुरुषार्थावर्णने वेश्यैव नायिकात्वेन निबन्धनीया यथा तरङ्गदत्ते। उभययोगस्य विट एव विधानादनयोरप्यव-धारणम्। विटे गीत-नृत्य-वाद्यविचक्षणे द्यूत पान-वेश्यादिषु प्रसक्ते कलाकुशले मूलदेवादौ नायकत्वेन विवक्षिते। कुलस्त्री चेति द्वयं तदुचितगार्हस्थ्यपुरुषार्थापेक्षया निबन्धनीयम्। ......यतः शुद्धसंकीर्णभेदत्रयरूपं सप्तभेदं प्रकरणं, तस्मादेकविंशतिधाऽप्यद एतत् प्रकरणम्। चतुर्दश शुद्धाः, सप्त संकीर्णाः प्रकरणभेदाः।' (नाट्यदर्पण : २ य विवेक)

विश्वनाथ कविराज ने केवल तीन प्रकरणभेदों का निर्देश किया है। ऐसा करना युक्तियुक्त भी है क्योंकि कविकल्पना का हाथ होने से प्रकरण में अन्यविध भी कल्पनायें हो सकती हैं जैसे की नायिका का कल्पित होना अथवा अकल्पित होना आदि-आदि किंतु इस प्रकार प्रकरण की भेदसंख्या अत्यधिक हो जायगी। 'प्रकरण' अथवा 'प्रकल्पन' का सामान्य धर्म स्वीकार कर लेने से, चाहे जितनी भी अन्यान्यविध विचित्रतायें हों, प्रकरणभेद की संख्या नहीं बढ़ सकेगी।

(ग) साहित्यदर्पण के उपलब्ध संस्करणों में वणिङ्नायकात्मक प्रकरण का दृष्टान्त 'पुष्प-भूषित' नामक प्रकरण दिया गया है किन्तु यह पाठ अशुद्ध है। यहाँ 'पुष्पदूषित' अथवा 'पुष्पदूषितक' पाठ होना चाहिये। अभिनवभारतीकार ने 'पुष्पदूषितक' नाम का उल्लेख किया है—

(३य रूपक-प्रकार : भाण)

अथ भाणः—

भाणः स्याद्धूर्तचरितो नानावस्थान्तरात्मकः ॥ २२७ ॥
एकाङ्क एक एवात्र निपुणः पण्डितो विटः।
रङ्गे प्रकाशयेत्स्वेनानुभूतमितरेण वा ॥ २२८ ॥
संबोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।
सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यवर्णनैः ॥ २२९ ॥
तत्रेतिवृत्तमुत्पाद्यं वृत्तिः प्रायेण भारती।
मुखनिर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च ॥ २३० ॥

अत्राकाशभाषितरूपपरवचनमपि स्वयमेवानुवदन्नुत्तरप्रत्युत्तरे कुर्यात्। शृङ्गारवीररसौ च सौभाग्यशौर्यवर्णनया सूचयेत्। प्रायेण भारती, कापि

'एतदेवाभिमन्यमानेन पुष्पदूषितकेऽशोकदत्तादिशब्दाकर्णनेन समुद्रदत्तस्य शङ्कायोपनिबद्धा सा न दोषाय'

नाट्यदर्पणकार को भी 'पुष्पदूषितक' का ही पता है—

'एवं च पुष्पदूषितकेऽशोकदत्तादिशब्दाकर्णनेन समुद्रदत्तस्य नन्दयन्त्यां या व्यलीकशङ्कोपनिबद्धा सा न दोषाय'

इसी प्रकार 'रङ्गवृत्त' (वेश्या तु रङ्गवृत्ते) पाठ अशुद्ध है क्योंकि इस प्रकरण का नाम 'तरङ्गदत्त' है (यथा मृच्छकटी-पुष्पदूषितक-तरङ्गदत्तादिषु-नाट्यदर्पण : २ य विवेक)।

अनुवाद—'भाण' वह रूपक-प्रकार है जिसमें धूर्तचरित का चित्रण हुआ करता है, नानाविध लोकोपयोगी व्यवहारों का उपनिबन्ध रहा करता है और जिसकी रचना एक अङ्क में ही सम्पूर्ण हुआ करती है। इसमें एक ही कुशल किं वा बुद्धिमान् नायक, जो कि 'विट' हुआ करता है, स्वानुभूत अथवा परानुभूत विषयों का रङ्ग—सामाजिकों को परिचय दिया करता है। इस प्रकार के विषय-परिचय में वह 'आकाशभाषित' आदि का आश्रय लेकर, किसी न किसी को सम्बोधित किया करता है और उक्ति-प्रत्युक्ति द्वारा अपना अभिप्राय सामाजिकों पर प्रकाशित किया करता है। इसमें शृङ्गार और वीर रसों की अभिव्यञ्जना हुआ करती है जिसके लिये विलास-वर्णन और शौर्य-वर्णन अपेक्षित रहा करते हैं। इसका इतिवृत्त कवि-कल्पित हुआ करता है। इसमें प्रायः भारती वृत्ति का ही बाहुल्य रहा करता है। सन्धिपञ्चक में 'मुख' और 'निर्वहण' संधिओं की योजना यहाँ आवश्यक है। मनोरञ्जन-वैचित्र्य की दृष्टि से इसमें दसों लास्याङ्गों का उपन्यास उचित माना गया है।

यहाँ 'आकाशभाषित'की योजना का तात्पर्य यह है कि किसी अन्य पात्र के न होने पर भी, विट, स्वयं ही, अन्य पात्र की उक्ति की कल्पना कर लिया करता है और उत्तर-प्रत्युत्तर रूप में विषय का विस्तार कर दिया करता है। शृङ्गार और वीर रसों की सूचना के लिये यहाँ सौभाग्य और शौर्य के वर्णन ही साधन माने गये हैं। यहाँ 'प्रायः भारती वृत्ति के बाहुल्य होने' का अभिप्राय यह है कि कहीं-कहीं कैशिकी वृत्ति भी यहाँ अपेक्षित रहा

कैशिक्यपि वृत्तिर्भवति। लास्याङ्गानि गेयपदादीनि। उदाहरणं-लीलामधुकरः।

(४थं रूपक-प्रकार : व्यायोग)

अथ व्यायोगः—

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः स्वल्पस्त्रीजनसंयुतः।
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां नरैर्बहुभिराश्रितः॥ २३१॥
एकाङ्कश्च भवेदस्त्रीनिमित्तसमरोदयः।
कैशिकीवृत्तिरहितः प्रख्यातस्तत्र नायकः॥ २३२॥
राजर्षिरथ दिव्यो वा भवेद्धीरोद्धतश्च सः।

करती है। यहाँ 'लास्याङ्गों' का अभिप्राय 'गेयपद' आदि पूर्वनिर्दिष्ट दस लास्याङ्गों का अभिप्राय है। इस रूपक-प्रकार के उदाहरण के लिये 'लीलामधुकर' को लिया जा सकता है।

विमर्श—'भाण' शब्द की यह व्युत्पत्ति है—

'भण्यते व्योमोक्त्या (आकाशभाषितेन) नायकेन स्वपरवृत्तं प्रकाश्यतेऽत्रेति भाणः' अर्थात् 'भाण' वह रूपकप्रकार है जिसमें नायक 'आकाशभाषित' के द्वारा स्ववृत्त और परवृत्त का प्रकाशन किया करता है।

'भाण' में शृङ्गार और वीर रस का ही प्राधान्य हुआ करता है किन्तु यह भी विलास और विक्रमके वर्णन के आधार पर ही अपेक्षित माना गया है, न कि विशद चरित-विकास के आधार पर।

'भाण' के लिये 'लोकानुरञ्जक' होना अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिये इसमें 'विट' 'वेश्या' आदि के वृत्तान्त का वर्णन स्वभावतः अपेक्षित हुआ करता है। इसकी उपयोगिता का निर्देश करते हुए—'नाट्यदर्पण'कार ने यह कहा है—

'अत्र विटादीनां परवञ्चनात्मकं वृत्तं प्रेक्षकाणामवञ्चनीयत्वापादनार्थं व्युत्पाद्यत इति।' अर्थात् 'भाण' में 'विट-चरित चित्रण' का उद्देश्य धूर्तजन की वञ्चना से सामाजिकों को अवगत और सतर्क करना है।

नाट्यशास्त्र का यह भाण-लक्षण भाण के स्वरूप और प्रयोजन का पूर्णतया परिचायक है—

'आत्मानुभूतशंसी परसंश्रयवर्णनाविशेषस्तु।
विविधाश्रयो हि भाणो विज्ञेयस्त्वेकहार्यश्च॥
परवचनमात्मसंस्थं प्रतिवचनैरुत्तरोत्तरग्रथितैः।
आकाशपुरुषकथितैरङ्गविकारैरभिनयैश्चैव॥
धूर्तविटसंप्रयोज्यो नानावस्थान्तरात्मकश्चैव।
एकाङ्को बहुचेष्टः सततं कार्यो बुधैर्भाणः॥'

(नाट्यशास्त्र : १८.१०८–११०)

अनुवाद—व्यायोग :—'व्यायोग' उस रूपक प्रकार का नाम है जिसका इतिवृत्त प्रख्यात हुआ करता है, जिसमें स्त्रीपात्रों की संख्या बहुत कम और पुरुषपात्रों की संख्या प्रचुर हुआ करती है, जिसके लिये 'गर्भ' और 'विमर्श' सन्धिओं की योजना अपेक्षित नहीं रहा करती और जिसकी एक अङ्क में ही समाप्ति आवश्यक मानी गयी है। इसमें ऐसे संग्राम का वर्णन हुआ करता है जिसका कारण स्त्री न हो। इसमें कैशिकी वृत्ति नहीं रहा करती। इसका नायक कोई प्रसिद्ध पुरुष हुआ करता है जिसके लिये राजर्षि

हास्यशृङ्गारशान्तेभ्य इतरेऽत्राङ्गिनो रसाः ॥ २३३ ॥

यथा सौगन्धिकाहरणम् ।

(५म रूपक-भेद : समवकार)

अथ समवकारः—

वृत्तं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम् ।
सन्धयो निर्विमर्शास्तु त्रयोऽङ्कास्तत्र चादिमे ॥ २३४ ॥

अथवा देवविशेष होना आवश्यक है। इसमें धीरोदात्त प्रकृति के ही नायक का चित्रण अपेक्षित है। इसमें हास्य, शृङ्गार और शान्त—इन तीन रसों को छोड़कर, अन्य रसों में से किसी को भी अङ्गी अथवा प्रधानरूप में रखा जा सकता है।

'व्यायोग' के उदाहरण के लिए 'सौगन्धिकाहरण' को लिया जा सकता है।

विमर्श—भरतनाट्यशास्त्र में 'व्यायोग' का यह लक्षण है—

'व्यायोगस्तु विधिज्ञैः कार्यः प्रख्यातनायकशरीरः ।
अल्पस्त्रीजनयुक्तस्त्वेकाहकृतस्तथा चैव ॥
बहवश्च तत्र पुरुषा व्यायच्छन्ते यथा समवकारे ।
न च तत्प्रमाणयुक्तः कार्यस्त्वेकाङ्क एवायम् ॥
न च दिव्यनायककृतः कार्यो राजर्षिनायकनिबद्धः ।
युद्धनियुद्धाधर्षणसंघर्षकृतश्च कर्तव्यः ॥
एवंविधस्तु कार्यो व्यायोगो दीप्तकाव्यरसयोनिः ।'

(नाट्यशास्त्र : १८. ९०-९३)

'व्यायोग' शब्द की व्युत्पत्ति से ही इस रूपक-प्रकार का स्वरूप पहचाना जा सकता है। 'व्यायोग' की व्युत्पत्ति यह है—

'विशेषेण आ समन्तात् युज्यन्ते कार्यार्थं संरभन्तेऽत्रेति व्यायोगः ।'

नाटक और प्रकरण तो 'पूर्णसन्धि' रूपकप्रकार हैं किन्तु भाण और व्यायोग आदि 'न्यून-सन्धि' रूपकभेद हैं। रूपकों के 'पूर्णसन्धि' और 'अपूर्णसन्धि' होने का यह अभिप्राय है—

'नाटकादिनायकस्य तु प्रेक्षापूर्वकारित्वेनार्तिसहत्वाद् हितबहुफलकर्त्तव्यारम्भित्वेन विनिपातप्रत्ययापाकरणाच्च सर्वावस्थासम्भवेन पञ्चापि सन्धयो भवन्त्येव। अत्र (व्यायोगे) च गर्भावमर्शसन्धिप्रतिषेधे एतत्सन्धिपरिच्छेदिके प्राप्त्याशा-नियताप्ती अवस्थे अपि प्रतिषिद्धे एव।' (नाट्यदर्पण : २य विवेक)

अर्थात् 'नाटक' में तो सन्धिपञ्चक की साङ्गोपाङ्ग योजना अपेक्षित रहा करती है क्योंकि यहाँ का नायक एक अनुकरणीयचरित महापुरुष हुआ करता है जो कि आशा-निराशा के द्वन्द्व में पड़ा, अपनी कार्यसिद्धि के लिए, सतत जागरूक रहा करता है किन्तु 'व्यायोग' में ऐसी बात नहीं हुआ करती। यहाँ युद्ध-नियुद्ध-संघर्ष आदि के वर्णन-वैचित्र्य का ही महत्त्व है और इसलिये नायक की प्राप्त्याशा और नियताप्ति की अवस्थाओं का निरूपण आवश्यक नहीं।

अनुवाद—समवकारः—'समवकार' वह रूपकभेद है जिसका वृत्त देवविषयक अथवा असुरविषयक हुआ करता है और पुराणादिप्रसिद्ध हुआ करता है। इसमें 'विमर्श'सन्धि को छोड़कर और सन्धियों की रचना अपेक्षित है। इसकी रचना तीन अङ्कों में सम्पूर्ण हुआ करती है, जिनमें, पहले अङ्क में मुख और प्रतिमुखसंधि दूसरे में गर्भसन्धि और

सन्धी द्वावन्त्ययोस्तद्वदेक एको भवेत्पुनः ।
नायका द्वादशोदात्ताः प्रख्याता देवमानवाः ॥ २३५ ॥
फलं पृथक्पृथक्तेषां वीरमुख्योऽखिलो रसः ।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ ॥ २३६ ॥
वीथ्यङ्गानि च तत्र स्युर्यथालाभं त्रयोदश ।
गायत्र्युष्णिङ्मुखान्यत्र च्छन्दांसि विविधानि च ॥ २३७ ॥
त्रिशृङ्गारस्त्रिकपटः कार्यश्चायं त्रिविद्रवः ।
वस्तु द्वादशनालोभिर्निष्पाद्यं प्रथमाङ्कगम् ॥ २३८ ॥
द्वितीयेऽङ्के चतसृभिर्द्वाभ्यामङ्के तृतीयके ।

नालिका घटिकाद्वयमुच्यते । बिन्दुप्रवेशकौ च नाटकोक्तावपि नेह विधातव्यौ । तत्र—

धर्मार्थकामैस्त्रिविधः शृङ्गारः कपटः पुनः ॥ २३९ ॥
स्वाभाविकः कृत्रिमश्च दैवजो विद्रवः पुनः ।

तीसरे में निर्वहणसन्धि की योजना आवश्यक है। इसमें १२ नायकों का चरित्र-चित्रण हुआ करता है जिनके लिए धीरोदात्त होना, प्रख्यात होना और दिव्य अथवा अदिव्य होना आवश्यक है। इन १२ नायकों में प्रत्येक का प्रयोजन पृथक्-पृथक् हुआ करता है। इसमें वीर रस की ही 'अङ्गी'-रूप में अभिव्यक्ति अपेक्षित है और अन्य रस अङ्गरूप से उपनिबद्ध हुआ करते हैं। इसमें 'कैशिकी' के पुट के साथ-साथ और तीनों वृत्तियाँ आवश्यक हैं। इसके लिए 'विन्दु'-निक्षेप की आवश्यकता नहीं और न 'प्रवेशक'-योजना की ही अपेक्षा है। इसमें उपयोगिता की दृष्टि से, जहाँ-तहाँ वीथी के १३ अङ्गों का उपन्यास आवश्यक है। इसमें गायत्री और उष्णिक् छन्दों के प्राधान्य के साथ-साथ वृत्त-वैचित्र्य भी अपेक्षित है। समवकार के लिये 'त्रिशृङ्गार', 'त्रिकपट' और 'त्रिविद्रव' होना आवश्यक है। इसके प्रथमाङ्क का इतिवृत्त २२ घड़ी में, द्वितीयाङ्क का इतिवृत्त ८ घड़ी में और तृतीयाङ्क का इतिवृत्त ४ घड़ी में समाप्त किया जाया करता है।

यहाँ (कारिका में) 'नालिका' का अभिप्राय 'दो घड़ी' का है। वैसे तो नाटक का लक्षण समवकार आदि रूपक-प्रकारों में भी अनुगत माना गया है किन्तु समवकार के लिए 'विन्दु'-निक्षेप और 'प्रवेशक'-योजना आवश्यक नहीं समझी गयी है और इसीलिए इसके लक्षण में 'नात्र विन्दुप्रवेशकौ' पद उपन्यस्त हैं।

'समवकार' के 'त्रिशृङ्गार' होने का अभिप्राय 'त्रिविधशृङ्गारपूर्ण' होना है। 'त्रिविध-शृङ्गार' का अभिप्राय धर्मशृङ्गार, अर्थशृङ्गार और कामशृङ्गार का अभिप्राय है। समवकार 'त्रिकपट' हुआ करता है—इसका अभिप्राय यह है कि इसमें स्वाभाविक, कृत्रिम और दैवत–तीन प्रकार के कपट की योजना हुआ करती है। इसी प्रकार 'समवकार' के

अचेतनैश्चेतनैश्च चेतनाचेतनैः कृतः ॥ २४० ॥

तत्र शास्त्राविरोधेन कृतो धर्मश्रृङ्गारः। अर्थलाभार्थकल्पितोऽर्थश्रृङ्गारः। प्रहसनश्रृङ्गारः कामश्रृङ्गारः। तत्र कामश्रृङ्गारः प्रथमाङ्क एव। अन्ययोस्तु न नियम इत्याहुः। चेतनाचेतना गजादयः। समवकीर्यन्ते बहवोऽर्था अस्मिन्निति-समवकारः।

'त्रिविद्रव' होने का तात्पर्य अचेतन, चेतन और चेतनाचेतनात्मक तीन विद्रवप्रकारों से युक्त होना है।

यहाँ 'धर्मश्रृङ्गार' से शास्त्रानुकूल श्रृङ्गार समझा जाया करता है और 'अर्थश्रृङ्गार' से अर्थलाभार्थक श्रृङ्गार। 'कामश्रृङ्गार' का तात्पर्य प्रहसनात्मक श्रृङ्गार है। समवकार के प्रथमाङ्क में जिस श्रृङ्गार की योजना हुआ करती है वह 'कामश्रृङ्गार' है। द्वितीयाङ्क और तृतीयाङ्क के लिये कोई विशेष नियम नहीं है जैसा कि नाट्याचार्यों का मत है। यहाँ 'चेतनाचेतनात्मक विद्रव' का अभिप्राय हाथी आदि द्वारा संभव उपद्रव का अभिप्राय है। समवकार को इसलिये समवकार कहते हैं क्योंकि इसमें चित्र-विचित्र अर्थ उपनिबद्ध रहा करते हैं। 'समवकार' का उदाहरण 'समुद्रमथन' है।

विमर्श—(क) 'समवकार' की उपयोगिता के सम्बन्ध में अभिनवभारतीकार का यह कथन है—

'एवं श्रद्धालवो देवताभक्ताः तद्देवयात्रादावनेन प्रयोगेणानुगृह्यन्ते, निरनुसन्धान-हृदयाः स्त्रीबालमूर्खाश्च विद्रवादिनाहृतहृदयाः क्रियन्ते' (अभिनवभारती : नाट्यशास्त्र : अध्याय १८) अर्थात् समवकार के अभिनय का स्थान देवमन्दिर का प्रांगण है और समय देवयात्रा का दिवस। देवभक्त जनसमाज के सामने देवविशेषों की चरितचर्चा देवभक्ति के प्रचार का सुन्दर साधन है। समवकार में 'विद्रव' (बहुविध उत्पात) के अभिनय से अव्युत्पन्न जन-समाज का भी पर्याप्त मनोरञ्जन हुआ करता है।

नाट्यदर्पणकार ने भी 'समवकार' की सामाजिक उपयोगिता का यही संकेत किया है—

'समवकारे च संक्लिष्टः सहास्यः श्रृङ्गारः पटो विद्रवो देवासुरवैरनिमित्तं सम्प्रहारादिकं च दिव्यप्रभावसाध्यं लौकिकीभिरुपपत्तिभिर्हीनं मायेन्द्रजाल-प्लुत-लङ्घनोच्छेद्य-पुस्तावपातादिबहुलयाऽऽरभट्या वृत्त्या सर्वमपि प्रहसन-कपट-विद्रवादिकुतूहलिनां परां तुष्टिमुत्पादयितुं व्युत्पाद्यते। यदाहुः—

> शूरास्तु वीर-रौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च।
> बाला मूर्खाः स्त्रियश्चैव हास्य-शोक-भयादिषु ॥'

अर्थात् जैसे 'समवकार' में चित्र-विचित्र अर्थ समवकीर्णरूप से उपनिबद्ध रहा करते हैं वैसे ही इस रूपक-प्रकार के सामाजिक भी विविध प्रकार के लोग हुआ करते हैं जिन्हें, इसमें, चित्र-विचित्र-रूप का मनोरञ्जन मिला करता है।

(ख) 'त्रिश्रृङ्गार' अर्थात् 'धर्मश्रृङ्गार', 'अर्थश्रृङ्गार' और 'कामश्रृङ्गार' का अभिप्राय यह है—'यहाँ 'श्रृङ्गार' शब्द का अर्थ श्रृङ्गार रस नहीं अपितु प्रेमी-प्रेमिकायुगल है जो कि श्रृङ्गार का आलम्बन-विभाव हुआ करता है। अब 'धर्मश्रृङ्गार' का अर्थ हुआ 'धर्म' अथवा गार्हस्थ्यधर्माचरण के द्वारा प्रेमी-प्रेमिकायुगल का परस्पर संयोग और साथ ही साथ प्रेमी-प्रेमिकायुगल का ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध जिसका उद्देश्य गार्हस्थ्यधर्माचरण अथवा परदारवर्जनादिपूर्वक रतिसुखास्वाद हो। 'कामश्रृङ्गार' का तात्पर्य हुआ 'काम' अथवा रतिसुख के द्वारा स्त्री-पुरुषयुगल का संयोग अथवा रतिसुख के लिये स्त्री-पुरुषयुगल का सम्बन्ध। इसी प्रकार 'अर्थश्रृङ्गार' का अभिप्राय है अर्थ अथवा

यथा—समुद्रमथनम् ।

(षष्ठ रूपक-भेद : डिम)

अथ डिमः—

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।
उपरागैश्च भूयिष्ठो डिमः ख्यातेतिवृत्तकः ॥ २४१ ॥

धन-धान्यादि के द्वारा स्त्री-पुरुषयुगल का परस्पर संयोग अथवा 'अर्थ' के लिये स्त्री-पुरुषयुगल का पारस्परिक सम्बन्ध । नाट्यदर्पणकार ने स्पष्ट लिखा है—

'धर्मकामार्थाः फलं हेतवश्च यस्य (शृङ्गारस्य) तत्र पत्नीसंयोगरूपस्य शृङ्गारस्य परदारवर्जनादिको धर्मः फलम्, दानादिकस्तु धर्मः स्त्र्यादिलाभस्य हेतुः । काम-शृङ्गार-शब्दाभ्यां स्त्रीपुंसयो रतिस्तद्धेतुश्च स्त्रीपुंसादिर्गृह्यते । तत्र स्त्रीपुंसादिरूपशृङ्गारस्य रतिरूपः कामः फलम् । रतिरूपस्य शृङ्गारस्य स्त्रीपुंसादिरूपः कामो हेतुः । अत्र च कामशृंगारे स्त्री परस्त्री कन्या च ग्राह्या, न पुनः स्वदारा वेश्या वा । यथा शक्रस्याहल्या । स्वदारादौ हि धर्मस्याप्यनुप्रवेशेन केवलस्यैव कामस्य फल-हेतुभावो न स्यात् । अर्थो राज्य-सुवर्ण-धन-धान्य-वस्त्रादिः । तत्र पण्ययोषितां केषांचित् सुभगानां पुंसां चार्थफलः शृङ्गारः । वेश्यादिषु च पुंसामर्थहेतुकः शृङ्गारः । देवादीनामपि गन्धर्व-यक्षादिरूपाणां राज्याद्यर्थंसमीहा भवत्येव । तदाराधकानां चार्थप्राप्तिः ।' (नाट्यदर्पण : २य विवेक)

(ग) 'त्रिकपट' का तात्पर्य अभिनवभारतीकार के शब्दों में यह है—

'कपटो वञ्चना ।···त्रिधा तत्र वञ्चना 'वुद्ध्यैव कदाचित् केवलया कपटो भवति स हि वस्तुगतक्रमविहितः वस्तु फलं तत्प्राप्तौ वस्तुगतः फलसाधकः कर्ता, तस्य यः क्रमः उपायचिन्तनादिः तेन विहितः यत्रानपराद्ध एव वञ्चकेन वञ्च्यते स एवमुक्तः । यत्र तु वञ्चनीयोऽपि सापराधः स परप्रयुक्तः कपटः ।···यत्र तु द्वयोरपि न कश्चिदभिसन्धिदोषः काकतालीयेन तुल्यफलाभिसन्धानवतोरप्येक उपचयेनापरस्त्वपचयेन युज्यते तत्र वञ्चना सा दैवकृता वञ्चना ।'

यहाँ साहित्यदर्पणकार ने 'वस्तुगतक्रमविहित' को 'स्वाभाविक', 'परप्रयुक्त' को 'कृत्रिम' और 'दैववशसम्भूत' को 'दैवज' मानकर 'त्रिकपट' का लक्षण किया है ।

(घ) 'त्रिविद्रव' का अभिप्राय यह है—

'विद्रवन्ति त्रस्यन्ति जना अस्मादिति विद्रवोऽनर्थः । 'त्रिः' इति प्रकारत्रययुक्तः । तत्र जीवोत्थो हस्त्यादिजः । अजीवोत्थः शस्त्रादिजः । जीवाजीवोत्थो नगरोपरोधजः ।'

(नाट्यदर्पण : २य विवेक)

साहित्यदर्पणकार ने 'जीवोत्थ' को चेतनविद्रव, 'अजीवोत्थ' को अचेतनविद्रव और जीवाजीवोत्थ को चेतनाचेतनविद्रव मानकर 'त्रिविद्रव' का अभिप्राय स्पष्ट किया है । 'त्रिविद्रव' के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र की ये पंक्तियाँ बहुत स्पष्ट हैं—

'युद्धजलसंभवो वा वाय्वग्निगजेन्द्रसंभ्रमकृतो वा ।
नगरोपरोधजो वा विज्ञेयो विद्रवस्त्रिविधः ॥' (नाट्यशास्त्र : १८. ७०)

अनुवाद—डिम :—'डिम' वह रूपकप्रकार है जिसमें माया, इन्द्रजाल, संग्राम किंवा क्रोधादि से व्यग्रहृदय व्यक्तिओं की चेष्टाओं का बाहुल्य रहा करता है और जिसमें निर्घात-उल्कापात-सूर्यचन्द्रोपराग आदि का वर्णन हुआ करता है. इसका इतिवृत्त

अङ्गी रौद्ररसस्तत्र सर्वेऽङ्गानि रसाः पुनः।
चत्वारोऽङ्का मता नेह विष्कम्भकप्रवेशकौ ॥ २४२ ॥
नायका देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः।
भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः ॥ २४३ ॥
वृत्तयः कैशिकीहीना निर्विमर्शाश्च सन्धयः।
दीप्ताः स्युः षड्रसाः शान्तहास्यशृङ्गारवर्जिताः ॥ २४४ ॥

अत्रोदाहरणं च 'त्रिपुरदाहः' इति महर्षिः।

(७म रूपक-भेद : ईहामृग)

अथेहामृगः—

ईहामृगो मिश्रवृत्तश्चतुरङ्कः प्रकीर्तितः।

प्रख्यात होना चाहिये। इसमें रौद्र तो अङ्गी अथवा प्रधान रस हुआ करता है और अन्य रस अङ्गरूप से उपनिबद्ध किये जाया करते हैं। इसकी रचना के लिये अङ्कचतुष्टय पर्याप्त है। इसमें विष्कम्भक और प्रवेशक की योजना आवश्यक नहीं। इसके १६ नायक हुआ करते हैं जो कि देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प, भूत, प्रेत, पिशाचादि जैसे अत्यन्त उद्धतप्रकृति के जीव हुआ करते हैं। इसमें कैशिकी को छोड़कर अन्य तीनों वृत्तिओं का विन्यास रहा करता है। इसमें 'विमर्श'सन्धि के अतिरिक्त अन्य सन्धियों की योजना अपेक्षित है। इसके लिये शान्त, हास्य और शृङ्गार को छोड़कर अन्य ६ रसों की दीप्ति अत्यावश्यक है।

'डिम' का उदाहरण 'त्रिपुरदाह' है जैसा कि महर्षि भरत का कथन है।

विमर्श—अभिनवभारती के अनुसार 'डिम' की व्युत्पत्ति यह है—

'डिमो डिम्बो विद्रव इति पर्यायाः, तद्योगादयं डिमः। अन्ये तु डयन्त इति डिमाः उद्धतनायकास्तेषां वृत्तिर्यत्रेति।'

अर्थात् 'डिम' कहते हैं विद्रव अथवा उत्पात को और जिस रूपकप्रकार में उत्पातवर्णन का बाहुल्य हो वह रूपकप्रकार डिम है। नाट्यशास्त्र में 'डिम' का यह लक्षण है—

'प्रख्यातवस्तुविषयः प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव।
षड्रसलक्षणयुक्तश्चतुरङ्को वै डिमः कार्यः ॥
शृङ्गारहास्यवर्जः शेषैः सर्वै रसैः समायुक्तः।
दीप्तरसकाव्ययोनिर्नानाभावोपसम्पन्नः ॥
निर्घातोल्कापातैरुपरागेणेन्दुसूर्ययोर्युक्तः।
युद्धनियुद्धाधर्षणसंफेटकृतश्च कर्तव्यः ॥
मायेन्द्रजालबहुलो बहुपुस्तोत्थानयोगयुक्तश्च।
देवभुजगेन्द्रराक्षसयक्षपिशाचावकीर्णश्च ॥
षोडशनायकबहुलः सात्वत्यारभटिवृत्तिसंपन्नः।
कार्यो डिमः प्रयत्नान्नानाश्रयभावसम्पन्नः ॥'

(नाट्यशास्त्र : २८. ८४-८८)

अनुवाद—ईहामृग :—'ईहामृग' वह रूपकप्रकार है जिसका इतिवृत्त ऐतिहासिक

मुखप्रतिमुखे सन्धी तत्र निर्वहणं तथा ॥ २४५ ॥
नरदिव्यावनियमौ नायकप्रतिनायकौ ।
ख्यातौ धीरोद्धतावन्यो गूढभावादयुक्तकृत् ॥ २४६ ॥
दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।
शृङ्गाराभासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चित्प्रदर्शयेत् ॥ २४७ ॥
पताकानायका दिव्या मर्त्या वापि दशोद्धताः ।
युद्धमानीय संरम्भं परं व्याजान्निवर्तते ॥ २४८ ॥
महात्मानो वधप्राप्ता अपि वध्याः स्युरत्र नो ।
एकाङ्को देव एवात्र नेतेत्याहुः परे पुनः ॥ २४९ ॥
दिव्यस्त्रीहेतुकं युद्धं नायकाः षडितीतरे ।

मिश्रं ख्याताख्यातम् । अन्यः प्रतिनायकः । पताकानायकास्तु नायकप्रतिनायकयोर्मिलिता दश । नायको मृगवदलभ्यां नायिकामत्र ईहते वाञ्छतीतीहामृगः ।

और कल्पित वृत्तों का सम्मिश्रण हुआ करता है और जिसकी रचना के लिये अङ्कचतुष्टय पर्याप्त माना गया है। इसमें मुख, प्रतिमुख और निर्वहण की तीन ही संधियाँ आवश्यक हैं। इसमें नायक और प्रतिनायक के देव और मानव—दोनों होने में कोई रोक-टोक नहीं (अर्थात् यदि नायक देव हो तो मानव भी प्रतिनायक हो सकता है और यदि प्रतिनायक देव हो तो नायक के रूप में मानव का भी चित्रण हो सकता है)। इसके नायक और प्रतिनायक के लिए प्रख्यात और धीरोद्धत होना आवश्यक है। इसका प्रतिनायक प्रच्छन्न आचारवाला और अनुचित कर्मों में तत्पर रहा करता है। इसमें प्रतिनायक के आश्रय से शृङ्गाराभास की भी कुछ थोड़ी सी अभिव्यञ्जना स्वाभाविक है क्योंकि यहाँ प्रतिनायक के कार्यों में, उसके प्रेम की अनिच्छुक किसी दिव्याङ्गना का अपहरण आदि भी वर्णित रहा करता है। इसके पताकानायक दस हुआ करते हैं जो कि दिव्य अथवा मानव–दोनों प्रकार के हो सकते हैं। यहाँ प्रतिनायक का बल, युद्धस्थान में प्रदर्शित करके, किसी न किसी बहाने, समाप्त कर दिया जाया करता है। यहाँ वधयोग्य भी लोगों के वध का वर्णन नहीं किया जाया करता। कुछ नाट्याचार्यों ने 'ईहामृग' के लिये, एक अङ्क की ही रचना पर्याप्त मानी है और देव को ही नायकरूप में स्वीकार किया है। कुछ और आचार्यों के अनुसार इस रूपकप्रकार में छः नायक आवश्यक हैं जो कि किसी दिव्याङ्गना के कारण परस्पर लड़ते-झगड़ते चित्रित किये जाया करते हैं।

कारिका में 'मिश्र' पद से प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध (प्रख्यात और कल्पित) इतिवृत्त का अभिप्राय लिया गया है। 'अन्य' पद का अभिप्राय 'प्रतिनायक' का अभिप्राय है। इसके पताकानायकों अर्थात् नायक के सहायकों और प्रतिनायक के सहायकों की संख्या दस हुआ करती है। 'ईहामृग' को इसलिये ईहामृग कहते हैं क्योंकि इस रूपकप्रकार में नायक मृग की भांति ऐसी नायिका की 'ईहा' अथवा कामना में निरत चित्रित किया जाया करता है जो कि अलभ्य अथवा दुष्प्राप्य हुआ करती है।

यथा—कुसुमशेखरविजयादिः ।

(८म रूपक-प्रकार : अङ्क)

अथाङ्कः—

उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतारः प्राकृता नराः ॥ २५० ॥
रसोऽत्र करुणः स्थायी बहुस्त्रीपरिदेवितम् ।
प्रख्यातमितिवृत्तं च कविर्बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ॥ २५१ ॥
भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गान्यस्मिञ्जयपराजयौ ।

इस रूपकप्रकार के उदाहरण 'कुसुमशेखरविजय' आदि हैं।

विमर्श—(क) भरतनाट्यशास्त्र में 'ईहामृग' की यह परिभाषा है—

'दिव्यपुरुषाश्रयकृतो दिव्यस्त्रीकारणोपगतयुद्धः ।
सुविहितवस्तुनिबद्धो विप्रत्ययकारकश्चैव ॥
उद्धतपुरुषप्रायः स्त्रीरोषग्रथितकाव्यबन्धश्च ।
संक्षोभविद्रवकृतः संफेटकृतस्तथा चैव ॥
स्त्रीभेदनापहरणावमर्दनप्राप्तवस्तुश्रृङ्गारः ।
ईहामृगस्तु कार्यः सुसमाहितकाव्यबन्धश्च ॥
यद्व्यायोगे कार्यं ये पुरुषा वृत्तयो रसाश्चैव ।
ईहामृगेऽपि ते स्युः केवलममरस्त्रिया योगः ॥
यत्र तु वधेप्सितानां वधो ह्युदग्रो भवेद्धि पुरुषाणाम् ।
किञ्चिद् व्याजं कृत्वा तेषां युद्धं शमयितव्यम् ॥'

(नाट्यशास्त्र : १२. ७८-८२)

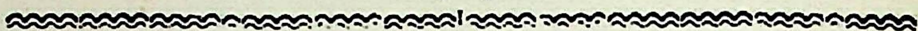
(ख) अभिनवभारतीकार ने 'ईहामृग' की यह व्युत्पत्ति दी है—

'ईहा चेष्टा मृगस्येव स्त्रीमात्रार्था यत्र स ईहामृगः ।' (अभिनवभारती अ. १८)

अर्थात् ईहामृग को इसलिए 'ईहामृग' कहा करते हैं क्योंकि यहाँ नायक मृग की भाँति एक-मात्र स्त्रीप्राप्ति में ही तत्पर चित्रित किया जाया करता है।

(ग) साहित्यदर्पण के 'विमला'व्याख्याकार ने 'ईहामृग' की व्युत्पत्ति (नायको मृगवदलभ्यां नायिकामत्र ईहते वाञ्छतीतीहामृगः) का यह आशय समझाया है—'इसमें मृग के तुल्य अलभ्य कामिनी को नायक चाहता है, अतः इसे 'ईहामृग' कहते हैं,' किन्तु 'अभिनवभारती' के देखते यह अभिप्राय ठीक नहीं प्रतीत होता। साहित्यदर्पणकार का वही अभिप्राय है जो कि 'अभिनवभारती' के आचार्य का है। तात्पर्य यह है कि इस रूपकप्रकार में नायक मृगवत् चेष्टा में निरत (स्त्रीभोगपरायण) दिखाया जाता करता है, न कि नायिका 'मृगवत्' अलभ्य वर्णित की जाया करती है।

अनुवाद—'अङ्क'–'अङ्क' अथवा 'उत्सृष्टिकाङ्क' वह रूपकप्रकार है जो कि एक अङ्क में ही रचा जाया करता है और जिसमें साधारण पुरुषों को नायकरूप में चित्रित किया जाया करता है। इसमें करुण रस 'अङ्गी' हुआ करता है, क्योंकि यहाँ नारी-विलाप का वर्णन प्रचुर मात्रा में रहा करता है। इसका इतिवृत्त प्रख्यात हुआ करता है और नाटककार की कल्पना द्वारा विस्तार के साथ वर्णित किया जाया करता है। इसमें सन्धि, वृत्ति और इनके अङ्गों की योजना 'भाण' के समान हुआ करती है। इसमें जय-पराजय, युद्ध-नियुद्ध



युद्धं च वाचा कर्त्तव्यं निर्वेदवचनं बहु ॥ २५२ ॥

इमं च केचित् नाटकाद्यन्तःपात्यङ्कपरिच्छेदार्थमुत्सृष्टिकाङ्कनामानम् आहुः। अन्ये तु—उत्क्रान्ता विलोमरूपा सृष्टिर्यत्रेत्युत्सृष्टिकाङ्कः। यथा—शर्मिष्ठा-ययातिः।

(९म रूपक-भेद : वीथी : वीथी के १३ अङ्ग)

अथ वीथी—

वीथ्यामेको भवेदङ्कः कश्चिदेकोऽत्र कल्प्यते।
आकाशभाषितैरुक्तैश्चित्रां प्रत्युक्तिमाश्रितः ॥ २५३ ॥
सूचयेद्भूरि शृङ्गारं किञ्चिदन्यान्रसान् प्रति।

आदि वाणी द्वारा प्रकाशित किये जाया करते हैं। साथ ही साथ इसमें निर्वेदप्राय वचनों का भी बाहुल्य रहा करता है।

कतिपय नाट्याचार्य इस रूपक-प्रकार का 'उत्सृष्टिकाङ्क' नाम अधिक उचित समझते हैं। उनका कहना यह है कि 'अङ्क' तो नाटकादि रूपक-प्रबन्धों का सर्वसम्मत अन्त-र्विभाग है और इसलिये 'अङ्क' शब्द के द्वारा एक रूपकभेद को सूचित करना उचित नहीं।

कुछ नाट्याचार्य 'उत्सृष्टिकाङ्क' की यह व्युत्पत्ति बताते हैं—

वह रूपकप्रकार 'उत्सृष्टिकाङ्क' है जिसकी (इतिवृत्तरचना आदि-) सृष्टि उत्क्रान्त अथवा अन्य रूपकप्रकारों से उलटी हुआ करती है।

'उत्सृष्टिकाङ्क' का उदाहरण 'शर्मिष्ठाययाति' है।

विमर्श—(क) 'भावप्रकाशन'कार ने 'अङ्क' अथवा 'उत्सृष्टिकाङ्क' का यह स्वरूप-निर्देश किया है—

'उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातमितिवृत्तं क्वचिद् भवेत्।
कदाचिदेतदुत्पाद्यमप्रख्यातं कवेर्धिया॥
दिव्यैरयुक्तः पुरुषैः शेषैरन्यैः समन्वितः।
कैशिकीवृत्तिहीनश्च सात्त्वत्यारभटीयुतः॥
नियुद्धयुद्धसंफेटप्रहारनिधनोद्भटः ।
प्रभूततरुणस्त्रीणां परिदेवितमेदुरः ॥
निर्वेदभाषितैः स्त्रीणां नानाव्याकुलचेष्टितैः।
क्वचिद्भयानकप्रायः कर्त्तव्योऽभ्युदयान्तिमः ॥
एवमुत्सृष्टिकाङ्कस्तु कर्त्तव्यः काव्यवेदिभिः॥'

(भावप्रकाशन : अष्टम अधिकार)

(ख) 'अभिनवभारती'में 'उत्सृष्टिकाङ्क' पद की एक और प्रकार की ही व्युत्पत्ति दी गयी है—

'उत्क्रमणीया सृष्टिर्जीवितं प्राणा यासां ता उत्सृष्टिकाः शोचन्त्यः स्त्रियस्ताभिरङ्कित इति तथोक्तः।' (अभिनवभारती : १८ अध्याय)

अनुवाद—वीथी-'वीथी' वह रूपकप्रकार है जिसमें एक ही अङ्क हुआ करता है और एक ही नायक 'आकाशभाषित' के द्वारा, चित्र-विचित्र उत्तर-प्रत्युत्तर-पूर्वक, अन्यान्य काल्पनिक पात्रों से, आलाप-संलाप करते हुये चित्रित किया जाया करता है। इसमें शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति अधिक और अन्य रसों की अभिव्यक्ति कम रखी जाया करती है।

मुखनिर्वहणे सन्धी अर्थप्रकृतयोऽखिलाः ॥ २५४ ॥

कश्चिदुत्तमो मध्यमोऽधमो वा शृङ्गारबहुलत्वाच्चास्याः कैशिकीवृत्तिबहुलत्वम् ।

अस्यास्त्रयोदशाङ्गानि निर्दिशन्ति मनीषिणः ।
उद्घात्य(त)कावलगिते प्रपञ्चस्त्रिगतं छलम् ॥२५५॥
वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके ।
असत्प्रलापव्याहारमृद(मार्द)वानि च तानि तु ॥ २५६ ॥

(वीथ्यङ्ग—लक्षण : १—उद्घात्यक, २—अवलगित)

तत्रोद्घात्य(त)कावलगिते प्रस्तावनाप्रस्तावे सोदाहरणं लक्षिते ।

(३—प्रपञ्च)

मिथो वाक्यमसद्भूतं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः ।

इसमें सन्धियाँ तो केवल 'मुख' और 'निर्वहण' दो ही हुआ करती हैं किन्तु अर्थप्रकृतियाँ पाँचों।

यहाँ कारिका में 'कश्चित्' का अभिप्राय उत्तम, मध्यम अथवा अधम प्रकृति के नायक का अभिप्राय है। 'वीथी' में शृङ्गार-बाहुल्य का अभिप्राय कैशिकी-प्राचुर्य का अभिप्राय है।

नाट्यशास्त्रकोविदों ने 'वीथी' के १३ अङ्ग बताये हैं—(१) उद्घात्यक, (२) अवलगित, (३) प्रपञ्च, (४) त्रिगत, (५) छल, (६) वाक्केलि, (७) अधिबल, (८) गण्ड, (९) अवस्यन्दित, (१०) नालिका, (११) असत्प्रलाप, (१२) व्याहार और (१३) मृदव (अथवा मार्दव)।

विमर्श—'वीथी' भारतीवृत्ति का एकदेश है। भारतीवृत्ति के एकदेश होने के कारण इसमें वक्रोक्तिवैचित्र्य का बाहुल्य रहा करता है। इसीलिये वीथी की यह निरुक्ति है—

'वक्रोक्तिमार्गेण गमनाद् वीथीव वीथी'

अर्थात् वीथी को इसलिये 'वीथी' कहते हैं क्योंकि यह वीथी (गली) की भाँति टेढ़ी-मेढ़ी (उक्तिवक्रतापूर्ण) हुआ करती है। 'वीथी' के १३ अङ्ग वस्तुतः इसके वक्रोक्ति-वैचित्र्य के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। इसीलिये साङ्गोपाङ्ग वीथी को रूपकमात्र के लिये उपकारक माना गया है जैसा कि अभिनवभारतीकार का मत है—

'नाटिकादिभाणान्तसमस्तरूपकोपजीव्यत्वाद् वीथीं लक्षयति ।'

और जैसा कि इसका नाट्यदर्पणकारकृत यह समर्थन है—

'सर्वेषां रूपकाणां नाटकादीनां वक्रोक्त्यादिसङ्कुलत्रयोदशाङ्गप्रवेशेनोपयोगिनी वैचित्र्यकारिका ।'

अनुवाद—इन तेरह अङ्गों में (१) उद्घात्यक और (२) अवलगित का स्वरूप नाटक की प्रस्तावना अथवा आमुख के निरूपण-प्रसङ्ग में पहले ही निर्दिष्ट किया जा चुका है (इसलिए यहाँ इनके अतिरिक्त अङ्गों का ही स्वरूप-निरूपण किया जा रहा है)।

अनुवाद—'प्रपञ्च' वह वाक्यसन्दर्भ है जो परस्पर हासजनक किंवा मिथ्यारूप

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

वलभीस्थविदूषकचेटयोरन्योन्यवचनम्।

(४—त्रिगत)

त्रिगतं स्यादनेकार्थयोजनं श्रुतिसाम्यतः ॥ २५७ ॥

यथा तत्रैव—

'राजा—

सर्वक्षितिभृतां नाथ, दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी।
रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन् मया विरहिता त्वया॥

(नेपथ्ये तत्रैव प्रतिशब्दः)

राजा—कथं दृष्टेत्याह।' अत्र प्रश्नवाक्यमेवोत्तरत्वेन योजितम्। नटादित्रितयविषयमेवेदमिति कश्चित्।

हुआ करता है। जैसे कि 'विक्रमोर्वशीय' में वलभी पर बैठे विदूषक और चेटी का आलाप-संलाप।

विमर्श—भरतनाट्यशास्त्र के अनुसार 'प्रपञ्च' का यह स्वरूप है—

'यदसद्भूतं वचनं संस्तवयुक्तं द्वयोः परस्परं यत्तु।
एकस्य चार्थहेतोः स हास्यजननः प्रपञ्चः स्यात्॥' (नाट्यशास्त्र : १८.१२०)

अर्थात् दो पात्रों के परस्पर परिचयात्मक अथवा प्रशंसात्मक किंवा हासोपहासपूर्ण मिथ्यालाप का नाम प्रपञ्च है। परस्पर वार्तालाप में एक दूसरे के अभिप्राय का प्रपञ्चन अथवा विस्तार स्वाभाविक है। यह भी स्वाभाविक है कि इस प्रकार के वार्तालाप में झूठमूठ बातें बनायी जाँय। 'प्रपञ्च' तो वस्तुतः लोकजीवन की ही वस्तु है। किन्तु लोकजीवन में इसके द्वारा शुद्ध मनोरंजन की संभावना नहीं। इसका नाट्य के क्षेत्र में पदार्पण इसे शुद्ध मनोरञ्जनात्मक बना देता है। इसीलिए कतिपय नाट्याचार्य परस्त्रीप्रेमकुशल विट-चेट के ऐसे वार्तालाप में इसका स्वरूप-दर्शन किया करते हैं:—

'रण्डा चण्डा दीक्षिता धर्मदारा मद्यं मांसं खाद्यते पीयते वा।
भिक्षा भोज्यं चर्मखण्डं च शय्या कौलो धर्मः कस्य नो भाति रम्यः॥'

अनुवाद—'त्रिगत' वह है जिसे श्रुति-साम्य के कारक अनेक अर्थों की योजना कहा करते हैं। जैसे कि 'विक्रमोर्वशीय' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—'क्षितिभृन्नाथ! इस वनान्त में खोई हुई सर्वाङ्गसुन्दरी रमणी को कहीं देखा है?

(नेपथ्य में प्रतिध्वनि)

ओह! इसने तो कहा कि देखा है!' आदि में जो वीथ्यङ्ग है वह 'त्रिगत' है।

कुछ नाट्याचार्य (जैसे कि दशरूपककार आदि) 'त्रिगत' को इसीलिए 'त्रिगत' कहते हैं क्योंकि यह नट, नटी और सूत्रधार—इन तीन अभिनायकों द्वारा प्रयुक्त किया जाया करता है (किन्तु इस मान्यता की कोई विशेष प्रामाणिकता नहीं)।

विमर्श—(क) भरतनाट्यशास्त्र में 'त्रिगत' का यह लक्षण है—

'श्रुतिसारूप्याद्यस्मिन् बहवोऽर्था युक्तिभिर्नियुज्यन्ते।
यद्धास्यमहास्यं वा तत्त्रिगतं नाम विज्ञेयम्॥' (नाट्यशास्त्र : १८ अध्याय)

(५—छल)

प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्यच्छलनाच्छलम् ।

यथा वेण्याम्—

'भीमार्जुनौ—

कर्ता द्यूतच्छलानां, जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः
क्वाऽऽस्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत, न रुषा, द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥'

यहाँ 'श्रुतिसारूप्य' का अभिप्राय शब्द-सादृश्य का अभिप्राय है और 'त्रि' से तीन का ही नहीं अपितु अनेक का अर्थ लिया गया है। अभिनवभारतीकार ने इसीलिये कहा है—

'त्रिशब्दोऽनेकोपलक्षणम्, अनेकमर्थं गतमिति त्रिगतम्। वाक्ये मुख्यमुत्तरमनेकप्रश्न-साधारणम्। इह तु य एव प्रश्नस्तदेव प्रतिवचनमिति विशेषः यथा—

सर्वक्षितिभृतां नाथ! इत्यादि।'

(ख) भावप्रकाशनकार ने कतिपय नाट्याचार्यों के मतानुसार नटादित्रितयालाप को भी 'त्रिगत' कहा है और यह बताया है कि यह 'त्रिगत' नाटक की प्रस्तावना में ही प्रयुक्त होता है—

'श्रुतिसाम्यादनेकार्थयोजनं त्रिगतं त्विह। नटादित्रितयालापः पूर्वरङ्गे तदिष्यते ॥
एतत्प्रस्तावनात्मेति कथ्यते नाट्यवेदिभिः ॥'

(ग) नाट्यदर्पणकार ने 'त्रिगत' का एक और भी स्वरूपनिर्देश किया है जो कि कतिपय नाट्याचार्यों को मान्य है—

'यद्वा शब्दोऽव्यक्तं ध्वनिमात्रं तत्साम्येनानेकार्थयोजनं त्रिगतम्। यथेन्दुलेखायां वीथ्याम्—

राजा—वयस्य!

किं नु कलहंसनादो मधुरो मधुपायिनां नु झङ्कारः।
हृदयगृहदेवतायास्तस्या नु सनूपुरक्वरणः ॥' (नाट्यदर्पण : २य विवेक)

अनुवाद—'छल' का अभिप्राय वस्तुतः अप्रिय किन्तु प्रिय प्रतीत होनेवाले वाक्यों द्वारा किसी की वञ्चना का अभिप्राय है। जैसे कि 'वेणीसंहार' की इस सूक्ति अर्थात्—

'भीम और अर्जुन—बताओ कहाँ है द्यूतकपट का वह कुशल कलाकार, लाक्षागृह का वह निर्माता और दाहक, अभिमान का वह धनी, दुःशासनादि का वह राजा, अनुजशत का वह अग्रज, अङ्गराज का वह मित्र, द्रौपदी के केशाम्बरकर्षण का वह व्यसनी, और दासतापाश में पाण्डवों को बाँधनेवाला वह दुर्योधन? हम उसके दर्शन के लिए आये हैं, क्रोध से नहीं!'

आदि में, जो वीथी का अंग है वह 'छल' है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का यह सोदाहरण छल-निरूपण 'भावप्रकाशन' के आधार पर हुआ है। भावप्रकाशनकार का छल-लक्षण यह है—

'प्रियैरिवाप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य छलना छलम्।' (भावप्रकाशन : ८म अधिकार)

और उदाहरण भी 'कर्ता द्यूतच्छलानाम्' आदि ही है।

('छल' विषयक मतभेद)

अन्ये त्वाहुश्छलं किञ्चित्कार्यमुद्दिश्य कस्यचित् ॥२५८॥
उदीर्यते यद्वचनं वञ्चनाहास्यरोषकृत् ।

(६—वाक्केलि)

वाक्केलिर्हास्यसम्बन्धो द्वित्रिप्रत्युक्तितो भवेत् ॥ २५६ ॥

द्वित्रीत्युपलक्षणम् ।

यथा—

'भिक्षो ! मांसनिषेवणं प्रकुरुषे, किं तेन मद्यं विना
मद्यं चापि तव प्रियं प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह ।
वेश्याऽप्यर्थरुचिः कुतस्तव धनं द्यूतेन चौर्येण वा
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो, नष्टस्य कान्या गतिः ॥'

(वाक्केलिविषयक मतभेद)

केचित्—'प्रक्रान्तवाक्यस्य साकाङ्क्षस्यैव निवृत्तिर्वाक्केलिः' इत्याहुः । अन्ये 'अनेकस्य प्रश्नस्यैकमुत्तरम् ।'

अनुवाद—कुछ नाट्याचार्य 'छल' का यह लक्षण करते हैं—

'छल' वह वञ्चनात्मक, हासजनक किंवा रोषकारक वचन है जिसे किसी उद्देश्य-विशेष से किसी के प्रति प्रयुक्त किया जाता है।

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार ने भरतमुनि का यह छल-लक्षण अर्थात्—

'अन्यार्थमेव वाक्यं छलमभिसन्धानहास्यरोपकरम् ।'

आदि मतान्तररूप में स्वीकार किया है।

अनुवाद—'वाक्केलि' का अभिप्राय कतिपय उक्ति-प्रत्युक्तिओं द्वारा हास-परिहास की सृष्टि का अभिप्राय है। यहाँ कारिका में 'द्वित्रि'—'दो-तीन' का अभिप्राय दो-तीन का नहीं अपितु अधिक का है क्योंकि 'द्वित्रि' पद 'अधिक' का उपलक्षण है।

जैसे कि निम्न सूक्ति अर्थात्—

'(गृहस्वामी) भिक्षुदेव ! क्या मांस खा रहे हैं ? (भिक्षु) विना मदिरा के मांस खाया भी तो क्या खाया ! (गृहस्वामी) तो क्या मदिरा भी चाहिये ? (भिक्षु) मदिरा तो चाहिये ही किन्तु साथ साथ वाराङ्गना मिल जाय तो और भी अच्छा। (गृहस्वामी) लेकिन, वाराङ्गना तो पैसे से मिल पायेगी, आपके पास पैसा कहाँ ? (भिक्षुक) धन की क्या कमी, चोरी और जुआ आबाद रहें ! (गृहस्वामी) ओह ! तो आप चोर और जुआरी भी हैं ? (भिक्षुक) अरे भाई ! बरबादी में चारा ही क्या ?'

आदि में, जो हास-परिहास की सृष्टि है वह 'वाक्केलि' के ही कारण है।

विमर्श—'वाक्केलि' एक वचन-क्रीडा है। वचनक्रीडा 'छेकोक्ति' और 'प्रत्युक्ति' दोनों प्रकार से संभव है। साहित्यदर्पणकार का 'वाक्केलि'-उदाहरण प्रत्युक्तिपूर्वक वाक्केलि का उदाहरण है।

अनुवाद—कतिपय नाट्याचार्यों (जैसे कि दशरूपककार आदि) के मत में 'वाक्केलि' का अभिप्राय किसी साकांक्ष प्रस्तुत वचन की समाप्ति है। कतिपय ऐसे भी नाट्याचार्य हैं जो 'वाक्केलि' को अनेक प्रश्नों का एक उत्तर मानते हैं।

(७—अधिबल)

अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाधिबलं मतम् ।

यथा मम प्रभावत्याम्—

'वज्रनाभः—

अस्य वक्षः क्षणेनैव निर्मथ्य गदयानया ।
लीलयोन्मूलयाम्येष भुवनद्वयमद्य वः ॥

प्रद्युम्नः—अरे अरे असुरापसद ! अलममुना बहुप्रलापेन ।

मम खलु—

अद्य प्रचण्डभुजदण्डसमर्पितोरुकोदण्डनिर्गलितकाण्डसमूहपातैः ।
आस्तां समस्तदितिजक्षतजोक्षितेयं क्षोणिः क्षणेन पिशिताशनलोभनीया ॥'

(८—गण्ड)

गण्डं प्रस्तुतसंबन्धि भिन्नार्थं सत्वरं वचः ॥ २६० ॥

यथा वेण्याम्—

'राजा—

अध्यासितुं तव चिराज्जघनस्थलस्य पर्याप्तमेव करभोरु ! ममोरुयुग्मम् ॥
अनन्तरम् (प्रविश्य)

विमर्श—दशरूपककार ने 'प्रस्तुत साकांक्ष वाक्य की समाप्ति' को 'वाक्केलि' कहा है :—
'वाक्यस्य प्रकान्तस्य साकांक्षस्य विनिवर्त्तनं वाक्केलिः ।' (दशरूपकः ३.१७)

और इसका यह उदाहरण दिया है—

'त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥'

अनुवाद—'अधिबल' कहते हैं परस्पर स्पर्द्धापूर्वक बढ़-चढ़कर बातचीत करने को। जैसे कि मेरी ही कृति 'प्रभावतीपरिणय' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'वज्रनाभ—इस गदा से क्षण भर में इसका वक्षस्थल विदीर्ण कर दूँगा और तुम दोनों का इहलोक और परलोक, चुटकी बजाते, मिट्टी में मिला दूँगा।

प्रद्युम्न—अरे नीच राक्षस ! बन्द कर अपना प्रलाप, देख—

आज, मेरे प्रचण्ड भुजदण्ड में सुशोभित इस भीषण कोदण्ड (धनुष) से छूटनेवाले बाण क्षण-भर में दैत्यवंश के रक्त से पृथिवी भिगो देंगे और मांसभोजी प्राणिओं को प्रसन्न कर डालेंगे।'

आदि में, जो 'वीथ्यङ्ग' है वह अधिबल है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का 'अधिबल'-लक्षण दशरूपक के 'अधिबल'-लक्षण का ही उद्धरण है। 'अधिबल' के सुन्दर दृष्टान्त 'वेणीसंहार' में यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं। उक्ति-प्रत्युक्ति में स्पर्धा द्वारा ही बलाधिक्य आ सकता है और इसीलिये यहाँ 'स्पर्द्धा' को ही मूल कारण माना गया है।

अनुवाद—'गण्ड' कहते हैं प्रस्तुत विषय से संबद्ध किन्तु विरुद्धार्थक वचन के सहसा उपन्यास को। जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—अरी सुन्दरी ! मेरा यह ऊरुयुगल तेरे जघनमण्डल का आसन बनने के लिये पूर्णरूप से उद्यत है।

कञ्चुकी—देव ! भग्नं भग्नम्—इत्यादि ।'

अत्र रथकेतनभङ्गार्थं वचनमूरुभङ्गार्थे सम्बन्धे सम्बद्धम् ।

(९—अवस्यन्दित)

व्याख्यानं स्वरसोक्तस्यान्यथावस्यन्दितं भवेत् ।

यथा छलितरामे—

'सीता—जाद ! कल्लं क्खु अओज्झाएण गन्तव्वम्, तहिं सो राजा विणएण पणयिदव्वो [जात ! कल्यं खलु अयोध्यायां गन्तव्यम्, तत्र स राजा विनयेन पणायितव्यः] ।

लवः—अथ किमावाभ्यां राजोपजीविभ्यां भवितव्यम् ।

सीता—जाद ! सो क्खु तुम्हाणं पिदा [जात ! स युष्माकं पिता] ।

लवः—किमावयो रघुपतिः पिता ?

(कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी—महाराज ! वह तो टूट चुका ।'

आदि में, जो 'वीथ्यङ्ग' है वह गण्ड है क्योंकि यहाँ रथ के ध्वजदण्ड के टूटने से सम्बद्ध ञ्चुकी-वचन, दुर्योधन के ऊरुयुगल के भङ्गरूप अर्थ में भी सम्बद्ध हो रहा है ।

विमर्श—(क) उत्तररामचरित का निम्न प्रसङ्ग भी 'गण्ड' का एक सुन्दर निदर्शन है—

'रामः—इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः ।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥

(प्रविश्य) प्रतिहारी—देव उअत्थिदो (देव ! उपस्थितः) ।'

(ख) भरतनाट्यशास्त्र के अनुसार 'गण्ड' का यह स्वरूप है—

'संरम्भसंभ्रमयुतं विवादयुक्तं तथापवादकृतम् ।
बहुवचनाक्षेपकृतं गण्डं प्रवदन्ति तत्त्वज्ञाः ॥' (नाट्यशास्त्रः १८.२५)

'गण्ड' का शब्दार्थ फोड़ा भी होता है । जैसे किसी फोड़े में दुष्ट रक्त भरा रहता है वैसे ही इस वीथ्यङ्ग में दुष्ट अर्थ भरा रहता है जिसके कारण इसे गण्ड कहते हैं—

'अन्याभिप्रायेणाकस्मात् प्रयुक्तं प्रतिवचनतयाऽनुच्चारितमपि प्रतिवचनरूपतया प्रक्रान्तेन यत् संवद्धं वचनं तद् दुष्टार्थगर्भत्वाद् दुष्टशोणितगर्भगण्ड इव गण्डः ।'

(नाट्यदर्पण : २य विवेक)

अनुवाद—'अवस्यन्दित' कहते हैं स्वाभिप्राय के प्रकाशक वचन के अन्यथा व्याख्यान को । जैसे कि 'छलितराम' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'सीता—पुत्र ! तुम्हें अयोध्या में सावधानी से जाना है । वहाँ राजा के साथ विनयपूर्वक मिलना है ।

लव—तो क्या हम दोनों भाई राजा की सेवा करेंगे ?

सीता—वे तुम्हारे पिता हैं ।

लव—क्या रघुराज हमारे पिता हैं ?

सीता—(साशङ्कम्) मा अण्णधा सङ्कद्धम्, ण क्खु तुम्हाणं सअलाए ज्जेव पुहवीएत्ति' [मा अन्यथा शङ्कध्वम्, न खलु युष्माकम्, सकलाया एव पृथिव्या ।]

(१०—नालिका)

प्रहेलिकैव हास्येन युक्ता भवति नालिका ॥ २६१ ॥

संवरणकार्युत्तरं प्रहेलिका ।

यथा रत्नावल्याम्—

'सुसङ्गता—सहि जस्स किदे तुमं आअदा सो इद ज्जेव चिट्ठदि [सखि ! यस्य कृते त्वमागता स इत एव तिष्ठति ।]

सागरिका—कस्स किंदे अहं आअदा [कस्य कृते अहमागता ।]

सुसङ्गता—णं क्खु चित्तफलअस्स' [ननु चित्रफलकस्य ।]

अत्र त्वं राज्ञः कृते आगतेत्यर्थः संवृतः ।

सीता—(घबराकर) नहीं, नहीं, घबराओ नहीं, तुम्हारे ही नहीं, सारी पृथिवी के पिता हैं ।'

आदि में, जो वीथ्यङ्गविन्यास है वह 'अवस्यन्दित' का ही विन्यास है ।

विमर्श—'अवस्यन्दित' को ही 'अवस्पन्दित' भी कहा गया है । नाट्यदर्पणकार ने 'अवस्पन्दित' का यह अभिप्राय प्रकाशित किया है—

'स्वेच्छोक्तस्याऽन्यथाख्यानं यदवस्पन्दितं तु तत् ।

स्वेच्छया वर्णनाभिप्रायमात्रेणोक्तस्यान्यथाऽऽख्यानमन्यार्थकथनरूपं यत् तदवस्पन्दितं चक्षुःस्पन्दनादिवदन्तर्गतसूचनीयसंभवात् ।

अर्थात् जैसे चक्षुःस्पन्दन से हृदय का अभिप्राय प्रकाशित होता है वैसे ही 'अवस्पन्दित' रूप वचनविन्यास से हृदय का अभिप्राय प्रकट किया जाया करता है ।

अनुवाद– 'नालिका' कहते हैं हास-परिहासयुक्त पहेली को। यहाँ 'प्रहेलिका' (पहेली) का अभिप्राय एक ऐसे उत्तर का अभिप्राय है जहाँ कोई बात छिपायी गयी प्रतीत होती है । जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'सुसंगता—सखी ! जिसके लिये तू यहाँ आयी है वह यहीं विराजमान है ।

सागरिका—किसके लिये मैं यहाँ आयी ?

सुसंगता—अरे ! इस चित्रफलक के लिये समझ लो ।'

आदि में, जो वचनविन्यास है वह 'नालिका' रूप है क्योंकि यहाँ यह बात कि 'तू राजा के लिये आयी है' छिपायी गयी प्रतीत हो रही है ।

विमर्श—नाट्यदर्पण के अनुसार 'नालिका' का यह स्वरूप है—

'हास्याय वञ्चना नाली—

परप्रतारणकारि यदुत्तरं हास्याय हासनिमित्तं निगूढार्थत्वात् भवति सा नाली व्याजरूपा प्रणालिका ।' (नाट्यदर्पण : २य विवेक)

(११—असत्प्रलाप)

असत्प्रलापो यद्वाक्यमसंबद्धं तथोत्तरम् ।
अगृह्णतोऽपि मूर्खस्य पुरो यच्च हितं वचः ॥ २६२ ॥

तत्राद्यं यथा मम प्रभावत्याम्—

'प्रद्युम्नः—(सहकारवल्लीमवलोक्य सानन्दम्) अहो कथमिहैव—

अलिकुलमञ्जुलकेशी परिमलबहला रसावहा तन्वी ।
किसलयपेशलपाणिः कोकिलकलभाषिणी प्रियतमा मे ॥'

एवमसंबद्धोत्तरेऽपि । तृतीयं यथा—वेण्यां दुर्योधनं प्रति गान्धारीवाक्यम् ।

(१२—व्याहार)

व्याहारो यत्परस्यार्थे हास्यक्षोभकरं वचः ।

यथा मालविकाग्निमित्रे—'(लास्यप्रयोगावसाने मालविका निर्गन्तुमिच्छति)।

विदूषकः—मा दाव उवदेसमुद्धा गमिस्ससि [मा तावदुपदेशमुग्धा गमिष्यसि] (इत्युपक्रमेण)

अनुवाद—'असत्प्रलाप' कहते हैं असंबद्ध वाक्य अथवा उत्तर को। साथ ही साथ न समझनेवाले व्यक्ति के लिये हितकारक वचनोपन्यास भी 'असत्प्रलाप' ही है।

जैसे कि 'असंबद्ध-वाक्य'रूप असत्प्रलाप का यह उदाहरण जो कि मेरी ही कृति 'प्रभावतीपरिणय' की सूक्ति है—

'प्रद्युम्न (सहकारवल्ली को देखकर, प्रसन्नता से)—ओह! तो क्या यहीं—मेरी वह 'अलिकुलमञ्जुलकेशी' भ्रमरों की भाँति काले-काले केशोंवाली (और भ्रमररूप केशपाशवाली), 'परिमलबहुला'—रतिपरिमल से भरी (और सौरभवाली), 'रसावहा'-आनन्द देनेवाली (और रस से भरी), 'तन्वी'-युवती (और छोटी सी), 'किसलयपेशलपाणि'-पल्लवोपम कोमल हाथवाली (और पल्लवरूप हाथवाली) और 'कोकिलकलभाषिणी'-कोकिल की भाँति मीठी बोलीवाली (और कोकिलकूजनरूप वाणीवाली) प्रियतमा है!'

इसी भाँति 'असंबद्ध उत्तररूप' असत्प्रलाप का दृष्टान्त ढूँढ़ लिया जा सकता है। तीसरे प्रकार के 'असत्प्रलाप' का निदर्शन 'वेणीसंहार' में दुर्योधन के प्रति गान्धारी का वाक्य है।

विमर्श—दशरूपककार के अनुसार 'असत्प्रलाप' का यह स्वरूप है—'असंबद्धकथाप्रायोऽसत्प्रलापो यथोत्तरः।' नाटक में 'असत्प्रलाप' चरितचित्रण के लिये आवश्यक है। इसमें 'असंगति'रूप वाक्यदोष का दर्शन नहीं किया जा सकता क्योंकि उत्स्वप्नायित, मदोन्माद, शैशवमौग्ध्य आदि-आदि के निरूपण में 'असत्प्रलाप' का ही सौन्दर्य और उपयोग दिखाई पड़ा करता है।

अनुवाद—'व्यवाहार' कहते हैं दूसरे के लाभार्थ हासजनक अथवा क्षोभकारक वचनविन्यास को। जैसे कि—'मालविकाग्निमित्र' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'(लास्यप्रयोग के बाद मालविका नाट्यगृह से जाना चाहती है)

विदूषक—तू शास्त्र का उल्लंघन कर यहाँ से नहीं जा सकती।

गणदासः—(विदूषकं प्रति) आर्य ! उच्यतां यस्त्वया क्रमभेदो लक्षितः।

विदूषकः—पढमं बम्भणपूआ भोदि, सा इमाए लङ्घिदा [प्रथमं ब्राह्मणपूजा भवति, सा अनया लङ्घिता]। (मालविका स्मयते)' इत्यादिना नायकस्य विशुद्ध-नायिकादर्शनप्रयुक्तेन हासलोभकारिणा वचसा व्याहारः।

(१३—मृदव)

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृद(र्मार्द)वं हि तत् ॥२६३॥

क्रमेण यथा—

प्रिय ! जीवितताक्रौर्यं निःस्नेहत्वं कृतघ्नता।
भूयस्त्वद्दर्शनादेव ममैते गुणतां गताः॥
तस्यास्तद्रूपसौन्दर्यं भूषितं यौवनश्रिया।
सुखैकायतनं जातं दुःखायैव ममाधुना॥

(रूपकों में वीथ्यङ्गों का निवेश और उपयोग)

एतानि चाङ्गानि नाटकादिषु सम्भवन्त्यपि वीथ्यामवश्यं विधेयानि स्पष्ट-

---

गणदास—(विदूषक से) कहो भाई ! इसने क्या शास्त्र का उल्लंघन किया ?

विदूषक—सबसे पहले तो ब्राह्मणपूजा होनी चाहिये। इसे इसने कहाँ किया ?

(मालविका मुसकरा देती है)'

इत्यादि में, 'व्याहार' की ही योजना है क्योंकि यहाँ नायक अग्निमित्र को, मालविका-दर्शन का निःशङ्क अवसर देने के लिये, विदूषक का यह हासकारक और लोभजनक वचन-विन्यास 'व्याहार' रूप ही है।

विमर्श—'व्याहार' की इस निरुक्ति अर्थात्—

'विविधोऽर्थ आह्रियतेऽनया (उक्तया) इति व्याहारः' से ही इस वीथ्यङ्ग का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

अभिनवभारतीकार ने 'व्याहार' की दूसरी निरुक्ति की है—'विविधोऽर्थोऽभिनीयते येन (स व्याहारः)।'

अनुवाद—'मृदव' का अभिप्राय ऐसा वचन-विन्यास है जिसमें दोष गुण जैसे लगा करते हैं और गुण दोष जैसे।

क्रमशः उदाहरण (दोष की गुणवत् प्रतीति)—

'प्रियतम ! तुम्हारे वियोग में मेरा जीना, मेरी क्रूरता, निःस्नेहता और कृतघ्नता ही समझा जायगा। किन्तु तुम्हारे पुनर्मिलन से, क्रूरता, निःस्नेहता और कृतघ्नता के ये सब दोष, मेरे गुण ही मान लिये जायेंगे।'

(गुण की दोषवत् प्रतीति)

'उसका यौवन की श्री से समृद्ध वह रूपसौन्दर्य पहले कितना आनन्ददायक रहा ! किन्तु अब (उसके वियोग में) तो वह सब मेरे लिये दुःखरूप ही हो गया है।'

विमर्श—'मृदव' की व्युत्पत्ति यह है—

'मृदा परपक्षमर्दनेन स्वपक्षमवति रक्षतीति मृदवम्—गुणस्य दोषीकरणं दोषस्य च गुणी-करणम्।' (नाट्यदर्पण : २य विवेक)

अनुवाद—वैसे तो ये सभी वीथ्यङ्ग नाटकादिरूपक-प्रबन्धों में पाये जाया करते हैं

तया नाटकादिषु विनिविष्टान्यपीहोदाहृतानि। वीथीव नानारसानां चात्र माला-रूपतया स्थितत्वाद्वीथीयम्। यथा—मालविका।

(१०म रूपक-प्रकार : प्रहसन : सप्रभेदनिरूपण : १म भेद : शुद्ध प्रहसन)

अथ प्रहसनम्—

भाणवत्सन्धिसन्ध्यङ्गलास्याङ्गाङ्कैर्विनिर्मितम्।
भवेत्प्रहसनं वृत्तं निन्द्यानां कविकल्पितम्॥ २६४॥
अत्र नारभटी, नापि विष्कम्भकप्रवेशकौ।
अङ्गी हास्यरसस्तत्र वीथ्यङ्गानां स्थितिर्न वा॥ २६५॥

तत्र—

तपस्विभगवद्विप्रप्रभृतिष्वत्र नायकः।
एको यत्र भवेद्धृष्टो हास्यं तच्छुद्धमुच्यते॥

यथा कन्दर्पकेलिः।

(२य भेद : सङ्कीर्ण प्रहसन)

आश्रित्य कञ्चन जनं संकीर्णमिति तद्विदुः॥ २६६॥

यथा—धूर्तचरितम्।

किन्तु 'वीथी' नामक रूपकप्रकार में इनकी योजना अनिवार्य मानी गयी है और इसीलिये 'वीथी' के निरूपणप्रसङ्ग में इनका सोदाहरण निरूपण किया गया है। 'वीथी' को इसलिये वीथी कहा करते हैं क्योंकि यह रसभावों की वीथी अथवा पंक्ति (माला) सी रची जाया करती है। उदाहरण के लिये 'मालविका'।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'वीथी' नामक रूपक-प्रकार का उदाहरण 'मालविका' दिया है। यह रूपक-प्रबन्ध 'मालविकाग्निमित्र' के अतिरिक्त अन्य कोई रूपकप्रबन्ध होगा। भावप्रकाशनकार ने 'बकुलवीथी' और 'इन्दुलेखा' नामक वीथी-रूपकों का निर्देश किया है।

अनुवाद—'प्रहसन' वह रूपक-प्रकार है जिसमें संधि, संध्यङ्ग, लास्याङ्ग और अङ्क की रचना 'भाण' की भाँति हुआ करती है। इसका इतिवृत्त अधम प्रकृति के नायक का इतिवृत्त होता है और कविकल्पित होता है।

प्रहसन में 'आरभटी' वृत्ति नहीं हुआ करती और न विष्कम्भक और प्रवेशक की ही रचना की जाया करती है।

प्रहसन का अङ्गी रस हास्य रस हुआ करता है। इसमें वीथ्यङ्ग-योजना ऐच्छिक है अनिवार्य नहीं।

वह प्रहसन 'शुद्ध' प्रहसन कहा जाया करता है जिसमें तपस्वी, संन्यासी और ब्राह्मण श्रेणी के व्यक्तिओं में से किसी एक श्रेणी के व्यक्ति को धृष्टनायक के रूप में चित्रित किया जाया करता है। जैसे कि 'कन्दर्पकेलि' नामक प्रहसन-प्रबन्ध।

इसके अतिरिक्त 'संकीर्ण प्रहसन' वह प्रहसन-प्रकार है जिसमें किसी भी अधम प्रकृति के व्यक्ति का नायकरूप में चित्रण किया जाया करता है। जैसे कि 'धूर्तचरित'नामक प्रहसन-ग्रन्थ।

('संकीर्ण' प्रहसनविषयक मतभेद तथा 'विकृत'नामक प्रहसननिरूपण)

वृत्तं बहूनां धृष्टानां सङ्कीर्णं केचिदूचिरे।
तत्पुनर्भवति द्व्यङ्कमथवैकाङ्कनिर्मितम् ॥ २६७ ॥

यथा—लटकमेलकादिः।

मुनिस्त्वाह—

'वेश्याचेटनपुंसकविटधूर्ता बन्धकी च यत्र स्युः।
अविकृतवेषपरिच्छदचेष्टितकरणं तु सङ्कीर्णम् ॥' इति।

विकृतं तु विदुर्यत्र षण्ढकञ्चुकितापसाः।
भुजङ्गचारणभटप्रभृतेर्वेषवाग्युताः ॥ २६८ ॥

इदं तु सङ्कीर्णेनैव गतार्थमिति मुनिना पृथङ्नोक्तम्।

विमर्श—'प्रहसन' श्रेणी के रूपकों का अपना ही उपयोग है जैसा कि नाट्यदर्पणकार का कथन है—

'प्रहसनेन हि पाखण्डिप्रभृतीनां चरितं विज्ञाय विमुखः पुरुषो न भूयस्तान् वञ्चकानुपसर्पति।'

अर्थात् 'प्रहसन' में दम्भ-पाखण्ड आदि दुर्गुणोंवाले नायकचरित का जो चित्रण हुआ करता है उससे सामाजिकों को यह लाभ हुआ करता है कि वे दम्भी, पाखण्डी आदि लोगों के फेर में पड़ने से बच जाते हैं।

अनुवाद—कतिपय नाट्याचार्य उस प्रहसन को संकीर्ण प्रहसन कहा करते हैं जिसमें कई एक धृष्टनायकों का चरितचित्रण रहा करता है और जो एक अङ्क अथवा दो अंक का हुआ करता है। 'संकीर्ण' प्रहसन का उदाहरण 'लटकमेलक' आदि प्रहसन-प्रबन्ध हैं।

यहाँ भरतमुनि का मत यह है—

'संकीर्ण प्रहसन वह 'प्रहसन' है जिसमें वेश्या, विट, चेट, बन्धकी, नपुंसक और विदूषक आदि का चरित चित्रित रहा करता है और उनकी वेष-भूषा और प्रवृत्ति-चेष्टा का अविकल अनुकरण किया जाया करता है।'

इसके अतिरिक्त 'विकृत' प्रहसन वह प्रहसन-प्रकार है जिसमें नपुंसक, कञ्चुकी और तापसलोग कामुक, चारण और योद्धा लोगों की वेष-भूषा और बोल-चाल का अनुकरण किया करते हैं।

भरतमुनि ने इस तृतीय प्रहसन-प्रकार का निरूपण नहीं किया है क्योंकि उनके अनुसार यह भी द्वितीय प्रहसन-प्रकार अर्थात् 'संकीर्ण प्रहसन' में ही अन्तर्भूत है।

विमर्श—भावप्रकाशकार ने त्रिविध प्रहसन का यह स्वरूप बताया है—

'भाणवत् स्यात् प्रहसनं तत्त्रिधा परिभिद्यते।
शुद्धं क्वाप्यथ सङ्कीर्णं क्वचिद् वैकृतमित्यपि ॥
तत्र श्रोत्रियनिर्ग्रन्थशाक्यादीनां यथायथम्।
भाषाचेष्टिततद्रूपहास्यवाक्यसमन्वितम् ॥
चेटचेटीविटव्याप्तं शुद्धं प्रहसनं भवेत्।
उद्धात्यकादिवीथ्यङ्गैर्मिश्रं संकीर्णमुच्यते ॥
विटकामुकचेटादिवचोवेषधरैस्तु यत्।
परिव्राण्मुनिषण्डाद्यैः कृतं वैकृतमुच्यते ॥

(उपरूपक-निरूपण : १ला प्रकार : नाटिका)

अथोपरूपकाणि । तत्र—

नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्किका ।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः ॥ २६९ ॥
स्यादन्तःपुरसम्बद्धा सङ्गीतव्यापृताथवा ।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा ॥ २७० ॥
सम्प्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः ।
देवी भवेत्पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥ २७१ ॥
पदे पदे मानवती तद्वशः सङ्गमो द्वयोः ।
वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः ॥ २७२ ॥

द्वयोर्नायिकानायकयोः ।

यथा—रत्नावली—विद्धशालभञ्जिकादिः ।

'सैरन्ध्रिका' स्यात् संकीर्णं शुद्धा 'सागरकौमुदी' ।
'कलिकेलि'प्रहसनं यत्तद्वैकृतमीरितम् ॥'

(भावप्रकाशन : ८ अधिकार)

अनुवाद—अब उपरूपकों का निरूपण किया जा रहा है। इन उपरूपकों में—सर्वप्रथम जो उपरूपक है वह 'नाटिका' है। 'नाटिका' वह उपरूपक है जिसका वृत्त कवि द्वारा कल्पित हुआ करता है। इसमें स्त्री-चरित ही अधिकाधिक चित्रित हुआ करते हैं। इसका चार अङ्कों में समाप्त होना आवश्यक है। इसमें किसी प्रख्यात राजवंश के, धीर-ललित प्रकृति वाले, राजा को 'नायक' रूप में रखा जाया करता है। इसमें जो 'नायिका' हुआ करती है उसके लिए नायक के अन्तःपुर से सम्बद्ध होना अथवा संगीतकला में निपुण होना, राजकुलोत्पन्न होना तथा नवानुरागवती कन्या होना अपेक्षित है। इसमें नायक राजा का नायिका के प्रति रतिभाव देवी अथवा राजमहिषी के भय से अनुविद्ध रूप से ही प्रकाशित किया जाया करता है। यहाँ 'देवी' से अभिप्राय राजकुल में उत्पन्न किं वा 'प्रगल्भा' प्रकृति वाली राजरानी से है जो कि पग पग पर मान करती चित्रित की जाया करती है तथा जिसकी अनुकम्पा पर ही नायक और नायिका का प्रेम-मिलन वर्णित हुआ करता है। इसमें कैशिकी वृत्ति का प्राधान्य रहा करता है और अंशमात्र विमर्श सन्धि के साथ सन्धि-चतुष्टय की रचना हुआ करती है।

यहाँ (पदे पदे मानवती आदि कारिका में) 'द्वयोः' का अभिप्राय 'नायकानायिकयोः' नायक और नायिका (के प्रेम-मिलन) का अभिप्राय है। उदाहरण के लिए (महाकवि हर्ष-चरित) 'रत्नावली' (महाकवि राजशेखर-चरित) 'विद्धशालभञ्जिका' आदि आदि पर्याप्त हैं।

विमर्श—'नाटिका' नामक उपरूपक वस्तुतः 'नाटक' और 'प्रकरण' नामक रूपकों के ही वैचित्र्य-सम्मिश्रण से रचा जाया करता है। इसकी 'इतिवृत्त-रचना' का कल्पित होना आवश्यक है और इसमें 'नायक' का राजकुलोत्पन्न होना भी अपेक्षित है, इस प्रकार 'प्रकरण' की भाँति

(२२। प्रकार : त्रोटक)

अथ त्रोटकम्—

सप्ताष्टनवपञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसंश्रयम् ।
त्रोटकं नाम तत्प्राहुः प्रत्यङ्कं सविदूषकम् ॥ २७३ ॥

प्रत्यङ्कसविदूषकत्वादत्र शृङ्गारोऽङ्गी । सप्ताङ्कं यथा—स्तम्भितरम्भम् । पञ्चाङ्कं यथा—विक्रमोर्वशीयम् ।

'इतिवृत्त' और नाटक की भाँति 'नायक' की रचना और चर्चा से 'नाटिका' की रूप-रेखा बना करती है। नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने इसीलिये कहा है—

'प्रकरणनाटकभेदादुत्पन्नं वस्तु नायको नृपतिः ।
अन्तःपुरसंगीतककन्यामधिकृत्य कर्त्तव्या ॥
स्त्रीप्राया चतुरङ्का ललिताभिनयात्मिका सुविहिताङ्गी ।
बहुनृत्तगीतवाद्या रतिसम्भोगात्मिका चैव ॥
राजोपचारयुक्ता प्रसादनक्रोधदम्भसंयुक्ता ।
नायकदेवीदूती सपरिजना नाटिका ज्ञेया ॥'

(नाट्यशास्त्र २०. ६०. ६१ (चौ. सं. सी.)

अनुवाद—'त्रोटक' वह उपरूपक-प्रकार है जो पाँच, सात, आठ अथवा अधिक से अधिक नव अङ्कों में रचा जाया करता है। इसमें देव और मानव-दोनों का संमिश्र वृत्त वर्णित हुआ करता है। इसके प्रत्येक अङ्क में 'विदूषक' की उपस्थिति आवश्यक है।

'प्रत्येक अङ्क में विदूषक की उपस्थिति' का अभिप्राय यह है कि 'त्रोटक' में शृङ्गार रस का ही प्रधान अभिव्यञ्जन हुआ करता है। सप्ताङ्कपरिमित 'त्रोटक' के उदाहरण के लिए 'स्तम्भितरम्भ' नामक उपरूपक लिया जा सकता है। पञ्चाङ्कपरिमित 'त्रोटक' का उदाहरण (महाकवि कालिदास कृत) 'विक्रमोर्वशीयम्' है।

विमर्श—'त्रोटक' को ही 'तोटक' भी कहा जाया करता है। भावप्रकाशनकार आचार्य शारदातनय ने 'तोटक' (त्रोटक) का यह लक्षण दिया है जिसमें आचार्यों के मतभेद-निर्देश के साथ-साथ सोदाहरण स्वरूप-निर्देश भी स्पष्ट है—

'दिव्यमानुषसंयोगो यत्राङ्कैरविदूषकैः ॥

तदेव तोटकं भेदो नाटकस्येति हर्षवाक् । तदव्यापकमित्यन्ये नाद्रियन्ते विपश्चितः ॥
नवाष्टसप्तपञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसङ्गमम् । तोटकं नाम तत् प्राहुर्भेदं नाटकसम्भवम् ॥
इत्येके आहुराचार्या अन्ये त्वेवं प्रचक्षते । दिव्यमानुषसंयोगस्तोटकं नाटकानुगम् ॥
नवाङ्कं तोटकं दृष्टं मैनकानहुषाह्वयम् । तोटकं मदलेखाख्यं यत्तत् स्तम्भितरम्भकम् ॥
क्रमादष्टाङ्कसप्ताङ्कौ दृश्येते ह्यविदूषकौ । यद्विक्रमोर्वशीयाख्यं पञ्चाङ्कं तोटकं स्मृतम् ॥'

(भावप्रकाशन : ८म अधिकार)

विश्वनाथ कविराज ने केवल 'स्तम्भितरम्भक' नामक तोटक का उल्लेख किया है जब कि भावप्रकाशनकार को 'मैनकानहुष' और 'मदलेखा' नामक और तोटकों का पता है। ये तीनों तोटक' आजकल अनुपलब्ध हैं। महाराज भोज उपरूपकों में 'तोटक' का उल्लेख नहीं करते।

(३रा प्रकार : गोष्ठी)

अथ गोष्ठी—

प्राकृतैर्नवभिः पुंभिर्दशभिर्वाप्यलंकृता ।
नोदात्तवचना गोष्ठी कैशिकीवृत्तिशालिनी ॥ २७४ ॥
हीना गर्भविमर्शाभ्यां पञ्चषड्योषिदन्विता ।
कामशृङ्गारसंयुक्ता स्यादेकाङ्कविनिर्मिता ॥ २७५ ॥

यथा—रैवतमदनिका ।

(चौथा प्रकार : सट्टक)

अथ सट्टकम्—

सट्टकं प्राकृताशेषपाठ्यं स्यादप्रवेशकम् ।
न च विष्कम्भकोऽप्यत्र प्रचुरश्चाद्भुतो रसः ॥ २७६ ॥
अङ्का जवनिकाख्याः स्युः स्यादन्यन्नाटिकासमम् ।

यथा—कर्पूरमञ्जरी ।

अनुवाद—गोष्ठी—'गोष्ठी' वह उपरूपक-प्रकार है जिसमें नव या दस साधारण श्रेणी के पुरुषों का चरित वर्णित हुआ करता है । इसीलिये इसमें उदात्त वचन नहीं पाये जाते। इसमें कैशिकी वृत्ति ही प्रधान वृत्ति है । इसमें ५ या ६ स्त्री पात्र आ सकते हैं । सन्धिओं में गर्भ और विमर्श का यहाँ कोई स्थान नहीं । यहाँ 'कामशृङ्गार' अपेक्षित माना गया है। इसकी रचना एक अङ्क में ही की जाया करती है । उदाहरण के लिये 'रैवतमदनिका' नामक उपरूपक लिया जा सकता है ।

विमर्श—भावप्रकाशनकार शारदातनय के अनुसार 'गोष्ठी' का यह स्वरूप है—

'अथोत्पाद्यकथैकाङ्का गोष्ठी शृङ्गारमन्थरा ।
रूपसौन्दर्यलावण्योपेतषट्पञ्चनायिका ॥
प्राकृतैर्नवभिः पुंभिः दशभिर्वाऽप्यलङ्कृता ।
गर्भावमर्शसन्धिभ्यां शून्या नोदात्तवाक्कृता ॥
अत्र स्यात् कैशिकी वृत्तिः मृद्वी नान्यरसाश्रया ।
न कुञ्जरघटाघातपात्रं भवति कन्दली ॥'

(भावप्रकाशन : ८म अधिकार)

विश्वनाथ कविराज का भी गोष्ठी-लक्षण वस्तुतः इसी आशय का है ।

अनुवाद—सट्टक—'सट्टक' नामक उपरूपक वह है जिसकी रचना, आरम्भ से अन्त तक, प्राकृत भाषा में की जाया करती है । इसमें 'प्रवेशक' और 'विष्कम्भक' दोनों में से किसी की भी आवश्यकता नहीं हुआ करती । इसका प्रधान रूप से अभिव्यङ्ग्य रस 'अद्भुत' रस हुआ करता है । इसकी और विशेषतायें 'नाटिका' की ही विशेषतायें हैं । केवल इसके 'अङ्कों' का नाम 'जवनिका' हुआ करता है । उदाहरण के लिये (महाकवि राजशेखर-प्रणीत) 'कर्पूरमञ्जरी' पर्याप्त है ।

विमर्श—आचार्य शारदातनय के अनुसार 'सट्टक' का यह लक्षण है—

(पाँचवाँ प्रकार : नाट्यरासक)

अथ नाट्यरासकम्—

नाट्यरासकमेकाङ्कं बहुताललयस्थिति ॥ २७७ ॥
उदात्तनायकं तद्वत्पीठमर्दोपनायकम् ।
हास्योऽङ्ग्यत्र सशृङ्गारो नारी वासकसज्जिका ॥ २७८ ॥
मुखनिर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च ।
केचित्प्रतिमुखं सन्धिमिह नेच्छन्ति केवलम् ॥ २७९ ॥

तत्र सन्धिद्वयवती यथा—नर्मवती । सन्धिचतुष्टयवती यथा–विलासवती ।

'सट्टकं नाटिकाभेदो नृत्यभेदात्मकं भवेत् ।
कैशिकीभारतीयुक्तहीनरौद्ररसादिकम् ॥
सर्वसन्धिविहीनञ्च नाटिकाप्रतिरूपकम् ।
शूरसेनमहाराष्ट्रवाच्यभाषादिकल्पितम् ॥
अङ्कस्थानीयविच्छेदचतुर्यवनिकान्तरम् ।
छादनस्खलनभ्रान्तिनिह्नवादेरसंभवात् ॥
न वदेत् प्राकृतीं भाषां राजेति कतिचिज्जगुः ।
मागध्या शौरसेन्या वा वदेद्राजेति केचन ॥
नाटिकाप्रतिरूपं यद्विशेषो रूपकस्य तत् ।
सट्टकं तेन तस्याहुः भाषां तां प्राकृतीं परे ॥
राजशेखरक्लृप्तं तद् यथा कर्पूरमञ्जरी ।' (भावप्रकाशन : ९म अधिकार)

'सट्टक' श्रेणी के उपरूपकों में राजशेखररचित 'कर्पूरमञ्जरी' ही आजकल उपलब्ध है।

अनुवाद—नाट्यरासक—'नाट्यरासक' वह उपरूपक-प्रकार है जिसकी रचना एक अङ्क में ही हुआ करती है। इसमें लय और ताल का पर्याप्त स्थान और महत्त्व है। इसका नायक उदात्त प्रकृति का हुआ करता है। इसमें नायक का सहायक 'पीठमर्द' भी आवश्यक है। इसमें शृङ्गार के पुट के साथ-साथ हास्यरस को ही प्रधान रस रखा जाया करता है। इसकी नायिका 'वासकसज्जा' नायिका के रूप में चित्रित की जाया करती है। इसमें 'मुख' और 'निर्वहण' नाम की दो सन्धियों की ही रचना पर्याप्त है। लास्य के दस अङ्ग इसमें अपेक्षित हैं। कुछ नाट्याचार्यों की दृष्टि में, इसमें प्रतिमुख सन्धि नहीं रहा करती (और सन्धियाँ तो आवश्यक ही हैं)।

उदाहरण के लिये, 'नर्मवती' नामक नाट्यरासक, जिसकी रचना दो सन्धियों में की गयी है और 'विलासवती' नामक नाट्यरासक, जिसमें चार सन्धियाँ हैं।

विमर्श—'नाट्यरासक' का शारदातनय-सम्मत स्वरूप यह है—

कामिनीभिर्भुवो भर्तुः चेष्टितं यत्र नृत्यते । रागाद्वसन्तमालोक्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः ॥
(भावप्रकाशन : ९म अधिकार)

विश्वनाथ कविराज ने अपने लक्षण में 'नाट्यरासक' की जिन-जिन विशेषताओं का निर्देश किया है वे भावप्रकाशनकार के नाट्यरासक-लक्षण में नहीं पायी जातीं। 'भावप्रकाशन'कार और उनके पूर्ववर्ती 'शृङ्गारप्रकाश'कार के अनुसार 'नाट्यरासक' का अभिप्राय नारी-पात्रों द्वारा नायकचरित का नृत्याभिनय है किन्तु विश्वनाथ कविराज ने इसकी अङ्क-रचना, सन्धियोजना,

(छठा प्रकार : प्रस्थानक)

अथ प्रस्थानकम्—

प्रस्थाने नायको दासो हीनः स्यादुपनायकः ।
दासी च नायिका वृत्तिः कैशिकी भारती तथा ॥ २८० ॥
सुरापानसमायोगादुद्दिष्टार्थस्य संहृतिः ।
अङ्कौ द्वौ लयतालादिर्विलासो बहुलस्तथा ॥ २८१ ॥

यथा—शृङ्गारतिलकम् ।

(७ वाँ प्रकार : उल्लाप्य)

अथोल्लाप्यम्—

उदात्तनायकं दिव्यवृत्तमेकाङ्कभूषितम् ।
शिल्पकाङ्गैर्युतं हास्यशृङ्गारकरुणै रसैः ॥ २८२ ॥
उल्लाप्यं बहुसंग्राममस्त्रगीतमनोहरम् ।

रसाभिव्यञ्जना आदि-आदि विशेषताओं का भी उल्लेख किया है। विश्वनाथ कविराज द्वारा निर्दिष्ट 'नर्मवती' और 'विलासवती' नामक नाट्यरासक आजकल अनुपलब्ध हैं।

अनुवाद—प्रस्थानक—'प्रस्थानक' वह उपरूपक-भेद है जिसमें कोई भृत्य 'नायक'-रूप में चित्रित हुआ करता है और उसका उपनायक उससे भी हीन श्रेणी का रहा करता है। इसमें किसी दासी को 'नायिका'रूप में रखा जाया करता है। यहाँ 'कैशिकी' और 'भारती' दो वृत्तियाँ अपेक्षित हैं। इसके उपस्थापित विषय की समाप्ति मदिराविनोद के वर्णन के साथ हुआ करती है। इसे दो अङ्कों में ही रचा जाया करता है। इसमें लय और ताल आदि आदि सङ्गीतात्मक विलास अधिक मात्रा में रहा करते हैं। उदाहरण के लिये 'शृङ्गारतिलक' को लिया जा सकता है।

विमर्श—आचार्य शारदातनय ने 'प्रस्थानक' (अथवा प्रस्थान) का यह लक्षण किया है—

'प्रस्थानं कैशिकीवृत्तियुतं हीनोपनायकम् ।
आपानकेलिललितं लयतालकलानुगम् ॥
दासादिनायकं द्व्यङ्कं विटचेटादिनायकम् ।
सुखनिर्वहणोपेतं शृङ्गारतिलकं यथा ॥'

(भावप्रकाशन : ९म अधिकार)

वस्तुतः आचार्य शारदातनय और विश्वनाथ कविराज का 'प्रस्थानक'लक्षण एक समान ही है। दोनों आचार्यों ने 'शृङ्गारप्रकाश' को प्रस्थानक के ही उदाहरण-रूप में स्वीकार किया है।

अनुवाद—उल्लाप्य—'उल्लाप्य' (अथवा उल्लाप्यक) वह उपरूपक-प्रकार है जिसमें किसी उदात्त प्रकृति के नायक का चरित-चित्र खींचा जाया करता है। इसका वृत्त देवता-संबन्धी वृत्त हुआ करता है। इसमें एक अंक का ही विधान अपेक्षित है। (आगे निर्दिष्ट) 'शिल्पक' नामक उपरूपक-प्रकार के (आशंसनादि) अंक इसमें भी निबद्ध किये जाया करते हैं। इसमें शृङ्गार, हास्य और करुण रस का अवतार अपेक्षित माना गया है। इसे सुन्दर बनाने के लिये संग्राम के वर्णन और 'अस्त्रगीत' (अन्तर्जवनिक—परदे के पीछे गाया जाने वाला किंवा प्रस्तुत विषय-सूचक गीत) के गायन का सहारा लिया जाया

चतस्रो नायिकास्तत्र त्रयोऽङ्का इति केचन ॥ २८३ ॥

शिल्पकाङ्गानि वक्ष्यमाणानि । यथा—देवीमहादेवम् ।

(८ वाँ प्रकार—काव्य)

अथ काव्यम्—

काव्यमारभटीहीनमेकाङ्कं हास्यसङ्कुलम् ।
खण्डमात्राद्विपदिकाभग्नतालैरलंकृतम् ॥ २८४ ॥
वर्णमात्राछड्डणिकायुतं शृङ्गारभाषितम् ।
नेता स्त्री चाप्युदात्तात्र सन्धी आद्यौ तथान्तिमः ॥ २८५ ॥

यथा—यादवोदयम् ।

करता है। कुछ नाट्याचार्यों ने इसमें चार नायिकाओं का चित्रण और तीन अङ्कों का विधान आवश्यक माना है। शिल्पक के अङ्कों का आगे निरूपण किया जा रहा है। इसका उदाहरण 'देवीमहादेव' नामक उपरूपक लिया जा सकता है।

विमर्श—'उल्लाप्य' को ही 'उल्लोप्य' अथवा 'उल्लोप्यक' भी कहा गया है। और इसका यह लक्षण किया गया है—

'उल्लोप्यकं स्यादेकाङ्कमवमर्शविनाकृतम् ।
निष्प्रवृत्तिनिधानञ्च शिल्पकाङ्गविभूषितम् ॥
हास्यशृङ्गारकारुण्ययुक्तमुज्ज्वलवेषवत् ।
बहुपुस्तं च चतुरोज्ज्वलनायकनायिकम् ॥
यथा देवीमहादेवं यथा चोदात्तकुञ्जरम् ।
यस्मिन्नुल्लोप्यकं नाम त्र्यङ्कं गीतं प्रवर्तते ॥'

(भावप्रकाशनः ९ अधिकार)

विश्वनाथ कविराज के समय में 'देवीमहादेव' नामक 'उल्लाप्य' ही उपलब्ध होगा, किन्तु शारदातनय के समय में 'उदात्तकुञ्जर' नामक भी उल्लोप्य (अथवा उल्लाप्य) उपलब्ध था। आजकल इनमें कोई भी उपलब्ध नहीं।

अनुवाद—काव्य वह उपरूपक-भेद है जिसमें हास्य रस का प्राधान्य रहा करता है। इसमें 'आरभटी' को छोड़ कर और वृत्तियाँ अपेक्षित हैं। इसकी रचना एक अङ्क में ही की जाया करती है। इसमें 'खण्डमात्रा' 'द्विपदिका', 'भग्नताल' आदि गीतभेदों का उपरञ्जन आवश्यक है। इसमें शृङ्गार रस के प्रकाशक 'वर्णमाला' और 'छड्डुलिका' छन्दों से एक सुन्दरता आया करती है। इसके नायक और नायिका उदात्त प्रकृति के लोग हुआ करते हैं। इसमें 'मुख' और 'निर्वहण' दो ही सन्धियों का निबन्ध आवश्यक है। इसका उदाहरण 'यादवोदय' नामक उपरूपक है।

विमर्श—'भावप्रकाशन' कार के अनुसार 'काव्य' नामक उपरूपक का यह लक्षण है—

'काव्यं सहास्यशृङ्गारं सर्ववृत्तिसमन्वितम् ।
सभग्नतालद्विपदीखण्डमालापरिष्कृतम् ॥
गर्भावमर्शसन्धिभ्यां हीनमेकाङ्कमेव च ।
क्वचिल्लास्ययुतं वा स्याद्विटचेटीसमन्वितम् ॥

(९ वाँ प्रकार—प्रेङ्खण)

अथ प्रेङ्खणम्—

गर्भावमर्शरहितं प्रेङ्खणं हीननायकम् ।
असूत्रधारमेकाङ्कमविष्कम्भप्रवेशकम् ॥ २८६ ॥
नियुद्धसम्फेटयुतं सर्ववृत्तिसमाश्रितम् ।
नेपथ्ये गीयते नान्दी तथा तत्र प्ररोचना ॥ २८७ ॥

यथा—वालिवधः ।

कुलाङ्गनावेशयुतं ललितोदात्तनायकम् ।
एवं प्रकल्पयेत् काव्यं तद् गौडविजयो यथा ॥
विप्रामात्यवणिक्पुत्रनायिकानायकोज्ज्वलम् ।
मुदितप्रमदाभाषाचेष्टितैरन्तरान्तरा ॥
ग्रथितं विटचेटादिवेषभाषाभिरेव वा ।
एवं वा कल्पयेत् काव्यं यथा सुग्रीवकेलनम् ॥'

(भावप्रकाशन : ९म अधिकार)

'काव्य नामक उपरूपक और श्रव्य-काव्य का अवान्तर भेद 'काव्य' परस्पर भिन्न-भिन्न कृतियाँ हैं। शारदातनय का 'काव्य'लक्षण साहित्यदर्पण के 'काव्य'लक्षण से कुछ भिन्न है। शारदातनय को 'सुग्रीवकेलन' कामक एक और 'काव्य' का पता है।

अनुवाद—'प्रेंखण' वह उपरूपक-प्रकार है जिसमें नीच प्रकृति का नायक चित्रित किया जाया करता है। इसमें 'गर्भ' और 'विमर्श' दोनों सन्धियां नहीं रची जाया करतीं। इसमें सूत्रधार की कोई आवश्यकता नहीं। इसके लिये एक अङ्क की रचना अपेक्षित है। इसमें विष्कम्भक और प्रवेशक दोनों में से कोई नहीं रचा जाया करता। इसमें नियुद्ध (द्वन्द्वयुद्ध) और सम्फेट (सरोप भाषण) आवश्यक हैं। इसमें सभी वृत्तियाँ अपेक्षित हैं। इसमें नेपथ्य में ही 'नान्दी-गायन' किया जाया करता है और 'प्ररोचना' (कवि-नट-सामाजिक आदि की प्रशंसा) भी कर दी जाया करती है। इसका उदाहरण 'वालिवध' है।

विमर्श—'प्रेङ्खण' को ही 'प्रेक्षणक' भी कहते हैं। शारदातनय ने 'प्रेक्षणक' (प्रेङ्खण) का यह लक्षण दिया है—

'पदार्थाभिनयं यस्य ललितं च लयान्वितम् ।
कुरुते नर्तकी यत्र सोऽपि नर्तनकः पुनः ॥
लास्यं द्विधा स्याच्छलिकं समरथ्यासमन्वितम् ।
सुतालचतुरस्राभ्यां यत्र कर्तुं प्रवर्तते ॥
गर्भावमर्शरहितं सर्ववृत्तिसमन्वितम् ।
प्रभूतमागधीशौरसेनीकं रसभावयुक् ॥
द्विसन्धीति वदन्त्येतदुत्तमाधमनायकम् ।
भारत्यारभटीयुक्तं क्वचित्स्यात्तत्र सात्वती ॥
यथा वालिवधाख्यश्च नृसिंहविजयो यथा ।
पूर्णनेपथ्यपाठैर्वा नान्दी तस्य विधीयते ॥

(१०वां प्रकार—रासक)

अथ रासकम्—

रासकं पञ्चपात्रं स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम्।
भाषाविभाषाभूयिष्ठं भारतीकैशिकीयुतम्॥ २८८॥
असूत्रधारमेकाङ्कं सवीथ्यङ्गं कलान्वितम्।
श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं मूर्खनायकम्॥ २८९॥
उदात्तभावविन्याससंश्रितं चोत्तरोत्तरम्।
इह प्रतिमुखं सन्धिमपि केचित्प्रचक्षते॥ २९०॥

यथा—मेनकाहितम्।

क्वचिद् गर्भावमर्शौ स्तः क्वचिद् वृत्तिचतुष्टयम्।
क्वचिन्नेपथ्यवाक्पाठ्यं न कदाचन सूत्रधृत्॥
एवं प्रेक्षणकं विद्याद् यथा त्रिपुरमर्दनम्॥'

शारदातनय के अनुसार 'नर्तनक' और 'प्रेक्षणक' दोनों प्रेक्षणक-प्रकार हैं। विश्वनाथ कविराज ने 'नर्तनक' को छोड़ दिया है। शारदातनय के समय तक तीन प्रेक्षणक उपलब्ध प्रतीत होते हैं जबकि विश्वनाथ कविराज को एक अर्थात् 'वालिवध' का ही पता है।

अनुवाद—'रासक' वह उपरूपक-भेद है जिसमें पाँच-पाँच पात्र रहा करते हैं। इसमें 'मुख' और 'निर्वहण' दो संधियाँ ही रची जाया करती हैं। इसमें 'भाषा' और 'विभाषा' दोनों का अधिकाधिक प्रयोग हुआ करता है। इसके लिये भारती और कैशिकी—दो वृत्तियां पर्याप्त हैं। इसमें भी 'सूत्रधार' नहीं रहा करता। इसकी रचना एक अङ्क में ही की जाया करती है। इसमें 'वीथी' के सभी अङ्गों की योजना आवश्यक है। इसके लिये नृत्य-गीत आदि-आदि कलाओं की अपेक्षा हुआ करती है। इसका नान्दी-गायन श्लिष्ट पद द्वारा किया जाया करता है। इसकी नायिका कोई प्रसिद्ध रमणी हुआ करती है और इसका नायक कोई मूर्ख पुरुष। इसमें उत्तरोत्तर उदात्त भावों का विन्यास किया जाया करता है। कुछ नाट्याचार्य इसके लिये प्रतिमुख सन्धि की भी रचना आवश्यक मानते हैं। इसका उदाहरण 'मेनकाहित' नाम का उपरूपक-ग्रन्थ है।

विमर्श—'रासक' और 'नाट्यरासक' के सम्बन्ध में नाट्याचार्यों का भेदवाद, अभेदवाद और भेदाभेदवाद—तीनों मिलते हैं। विश्वनाथ कविराज भेदवादी हैं।

'अभिनवभारती' का 'रासक' स्वरूप विश्वनाथ कविराज के रासक-लक्षण से भिन्न है—

'अनेकनर्तकी योज्यं चित्रताललयान्वितम्।
आचतुष्षष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्॥'

अर्थात्—'रासक' एक नृत्तात्मक प्रबन्ध है न कि नाट्यात्मक।

विश्वनाथ कविराज का रासक-लक्षण भावप्रकाशनकार के एक प्रकार के रासक के लक्षण के समान है—

'अथ रासकमेकाङ्कं सूत्रधारेण वर्जितम्।
सुश्लिष्टनान्दीयुक्तञ्च पञ्चपात्रं त्रिसन्धिकम्॥
पूर्णभाषाविभाषाभिः कैशिकीभारतीयुतम्।

(११ वां प्रकार—संलापक)

अथ संलापकम्—

संलापकेऽङ्काश्चत्वारस्त्रयो वा नायकः पुनः ।
पाषण्डः स्याद्रसस्तत्र शृङ्गारकरुणेतरः ॥ २९१ ॥
भवेयुः पुरसंरोधच्छलसंग्रामविद्रवाः ।
न तत्र वृत्तिर्भवति भारती न च कैशिकी ॥ २९२ ॥

यथा—मायाकापालिकम् ।

(१२ वां प्रकार—श्रीगदित)

अथ श्रीगदितम्—

प्रख्यातवृत्तमेकाङ्कं प्रख्यातोदात्तनायकम् ।
प्रसिद्धनायिकं गर्भविमर्शाभ्यां विवर्जितम् ॥ २९३ ॥

वीथ्यङ्गमण्डितं मुख्यनायकं ख्यातनायिकम् ।
गर्भविमर्शशून्यं च कलापोद्देशभूषितम् ।
उदात्तभावविन्यासभूषितं सोत्तरोत्तरम् ॥
एवं लक्षणमुद्दिष्टं रासकस्यात्र कैश्चन ।'

(भावप्रकाशन : ९ म अधिकार)

अनुवाद—'संलापक' वह उपरूपक-प्रकार है जिसकी रचना तीन या चार अङ्कों में हुआ करती है, जिसमें किसी पाषण्डी को नायकरूप में चित्रित किया जाया करता है और जिसमें, शृङ्गार और करुण को छोड़कर और कोई भी एक रस अङ्गीरूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है। इसमें नगरोपरोध, छल, संग्राम, भ्रम-संभ्रम आदि आदि की वर्णना का बाहुल्य रहा करता है। इसके लिए न तो भारती वृत्ति अपेक्षित है और न कैशिकी, इसका उदाहरण 'माया-कापालिक' है।

विमर्श—भावप्रकाशनकार ने 'संलापक' का यह विशद लक्षण किया है—

'संल्लापस्येतिवृत्तं यत्ख्यातं चोत्पाद्यमेव वा ।
मिश्रं वा तत्र शृंगारहास्यौ नैवार्हतः क्वचित् ॥
शवलो वीररौद्राभ्यामङ्गान्यन्ये रसाः स्मृताः ।
प्रायः सपत्नशान्तश्च क्रुद्धपाषण्डनायकः ॥
दैवारिजन्यकपटयुद्धस्थानोपरोधवान् ।
सात्वत्यारभटीवृत्तिसहितश्च सविद्रवः ॥
अङ्कास्त्रयो द्वितीयेऽङ्के तालप्राचुर्ययुग्भवेत् ।
तृतीयोऽङ्कः सकपटः प्रथमोऽङ्कः सविद्रवः ।
चतुःसन्धिः प्रतिमुखशून्यः संल्लापको भवेत् ॥'

(भावप्रकाशन : ९ म अधिकार)

अनुवाद—श्रीगदित—'श्रीगदित' वह उपरूपकभेद है जिसका इतिवृत्त प्रख्यात वृत्त का बना हुआ होता है, जिसकी रचना एक अङ्क में समाप्त होती है और जिसमें किसी प्रख्यात और धीरोदात्त प्रकृति के नायक का चरित चित्रित किया हुआ होता है। इसकी

भारतीवृत्तिबहुलं श्रीतिशब्देन संकुलम् ।
मतं श्रीगदितं नाम विद्वद्भिरुपरूपकम् ॥ २९४ ॥

यथा—क्रीडारसातलम्—

श्रीरासीना श्रीगदिते गायेत्किंचित्पठेदपि ।
एकाङ्को भारतीप्राय इति केचित्प्रचक्षते ॥ २९५ ॥

ऊह्यमुदाहरणम् ।

(१३ वां प्रकार–शिल्पक)

अथ शिल्पकम्—

चत्वारः शिल्पकेऽङ्काः स्युश्चतस्रो वृत्तयस्तथा ।
अशान्तहास्याश्च रसा नायको ब्राह्मणो मतः ॥ २९६ ॥
वर्णनात्र श्मशानादेर्हीनः स्यादुपनायकः ।
सप्तविंशतिरङ्गानि भवन्त्येतस्य तानि तु ॥ २९७ ॥
आशंसातर्कसंदेहतापोद्वेगप्रसक्तयः ।

नायिका के लिये प्रख्यात होना आवश्यक है । इसमें गर्भ और विमर्श संधियाँ नहीं हुआ करतीं । इसमें भारती वृत्ति का बाहुल्य रहा करता है और 'श्री' शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ करता है ।

इसका उदाहरण 'क्रीडारसातल' नामक उपरूपक-प्रबन्ध है ।

'श्रीगदित' का एक और भी प्रकार है जिसे कतिपय नाट्याचार्य माना करते हैं । इस श्रीगदित-प्रकार में श्रीवेषधारिणी नटी रंगमंच पर बैठ कर कुछ गाती और पद पढ़ती दिखायी जाया करती है । इसमें एक अङ्क हुआ करता है और भारती वृत्ति का प्राचुर्य रहा करता है ।

इसका उदाहरण ढूँढ़ा जा सकता है ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का द्वितीय 'श्रीगदित' लक्षण भोजराज के इस श्रीगदित-लक्षण का अनुसरण करता है—

'तत्र श्रीरिव दानवशत्रोर्यस्मिन् कुलाङ्गना पत्युः ।
वर्णयति शौर्यधैर्यप्रभृतिगुणानग्रतस्सख्याः ॥
पत्या च विप्रलब्धा गातव्ये तान् क्रमादुपालभते ।
श्रीगदितमिति मनीषिभिरुदाहृतोऽसौ पदाभिनयः ॥' (शृङ्गारप्रकाश)

इस श्रीगदित प्रकार का उदाहरण भावप्रकाशनकार के अनुसार 'रामानन्द' नामक उपरूपक प्रबन्ध है ।

अनुवाद—शिल्पक–'शिल्पक' वह उपरूपक-प्रकार है जिसमें चार अङ्क और चारों वृत्तियां हुआ करती हैं । इसमें शान्त और हास्य को छोड़ कर अन्य रसों की अभिव्यञ्जना की जाया करती है । इसका नायक ब्राह्मण हुआ करता है । इसमें श्मशान आदि का वर्णन किया जाया करता है । इसका उपनायक अधम प्रकृति का व्यक्ति हुआ करता है । इसके २७ अङ्ग हुआ करते हैं-(१) आशंसा, (२) तर्क, (३) संदेह, (४) ताप, (५) उद्वेग

प्रयत्नग्रथनोत्कण्ठावहित्थाप्रतिपत्तयः ॥ २९८ ॥
विलासालस्यबाष्पाणि प्रहर्षाश्वासमूढताः ।
साधनानुगमोच्छ्वासविस्मयप्राप्तयस्तथा ॥ २९९ ॥
लाभविस्मृतिसंफेटा वैशारद्यं प्रबोधनम् ।
चमत्कृतिश्चेत्यमीषां स्पष्टत्वाल्लक्ष्म नोच्यते ॥ ३०० ॥

संफेटग्रथनयोः पूर्वमुक्तत्वादेव लक्ष्म सिद्धम् ।
यथा—कनकावतीमाधवः ।

(१४ वां प्रकार–विलासिका)

अथ विलासिका—

शृङ्गारबहुलैकाङ्का दशलास्याङ्गसंयुता ।
विदूषकविटाभ्यां च पीठमर्देन भूषिता ॥ ३०१ ॥
हीना गर्भविमर्शाभ्यां संधिभ्यां हीननायका ।
स्वल्पवृत्ता सुनेपथ्या विख्याता सा विलासिका ॥ ३०२ ॥

---

(६) प्रसक्ति, (७) प्रयत्न, (८) ग्रथन, (९) उत्कण्ठा, (१०) अवहित्था, (११) प्रतिपत्ति, (१२) विलास, (१३) आलस्य, (१४) बाष्प, (१५) प्रहर्ष, (१६) आश्वास, (१७) मूढता, (१८) साधनानुगम, (१९) उच्छ्वास, (२०) विस्मय, (२१) प्राप्ति, (२२) लाभ, (२३) विस्मृति, (२४) संफेट, (२५) वैशारद्य, (२६) प्रबोधन और (२७) चमत्कृति। इन अङ्गों के लक्षण इनके नाम से ही स्पष्ट हैं।

इनमें 'संफेट' और 'ग्रथन', जो अधिक पारिभाषिक हैं, पहले ही स्पष्ट कर दिये गये हैं। इस उपरूपक-प्रकार का उदाहरण 'कनकावतीमाधव' नामक उपरूपक-प्रबन्ध है।

विमर्श—विश्वनाथ कविराज का 'शिल्पक'-लक्षण भावप्रकाशनकार के इस शिल्पक-लक्षण का अनुसरण करता है—

'शिल्पकश्चतुरङ्कः स्याच्चतुर्वृत्तिविराजितः ।
हास्यं विना रसैः पूर्णः स्वतो ब्राह्मणनायकः ॥
हीनोपनायकः क्वापि श्मशानादिसमाकुलः ।
ऊढा पुनर्भूः कन्या वा ताः स्युः सचिवविप्रजाः ॥
मालती माधवस्येव कमलस्य कलावती ।
अङ्गानि सप्तविंशत्स्युरुत्कण्ठादीनि च क्रमात् ॥'

(भावप्रकाशन : ९ म अधिकार)

अनुवाद—विलासिका—'विलासिका' वह उपरूपक-प्रकार है जो शृङ्गाररस-प्रचुर हुआ करता है और जिसकी रचना के लिये एक अङ्क पर्याप्त माना गया है। इसमें लास्य के दसों अङ्गों की योजना आवश्यक है। इसमें विदूषक, विट और पीठमर्द का चरितचित्रण अपेक्षित है। इसमें गर्भ और विमर्श संधियां नहीं हुआ करतीं। इसका नायक अधम प्रकृति का पुरुष हुआ करता है। इसमें वृत्त की मात्रा थोड़ी रहा करती है। इसमें वेशभूषा पर विशेष ध्यान रखा जाया करता है।

केचित्तु तत्र विलासिकास्थाने विनायिकेति पठन्ति। तस्यास्तु 'दुर्मल्लि-कायामन्तर्भावः' इत्यन्ये।

(१५ वाँ प्रकार—दुर्मल्लिका)

अथ दुर्मल्लिका —

दुर्मल्ली चतुरङ्का स्यात् कैशिकीभारतीयुता।
अगर्भा नागरनरा न्यूननायकभूषिता ॥ ३०३ ॥
त्रिनालिः प्रथमोऽङ्कास्यां विटक्रीडामयो भवेत्।
पञ्चनालिर्द्वितीयोऽङ्को विदूषक विलासवान् ॥ ३०४ ॥
षण्णालिकस्तृतीयस्तु पीठमर्दविलासवान्।
चतुर्थो दशनालिः स्यादङ्कः क्रीडितनागरः ॥ ३०५ ॥

यथा—बिन्दुमती।

कतिपय नाट्याचार्य इसे 'विलासिका' न कह कर 'विनायिका' कहा करते हैं। और कुछ 'विनायिका' को 'दुर्मल्लिका' नामक उपरूपक-भेद में अन्तर्भूत देखा करते हैं।

विमर्श—भावप्रकाशनकार ने इस उपरूपक-प्रकार का कोई निर्देश नहीं किया है।

अनुवाद—दुर्मल्लिका—'दुर्मल्लिका' वह उपरूपक-प्रकार है जिसकी रचना चार अङ्कों में की जाया करती है और जिसमें कैशिकी और भारती वृत्ति का उपनिबन्धन हुआ करता है। इसमें गर्भ सन्धि नहीं हुआ करती। इसके पात्र कला-कुशल हुआ करते हैं। इसका नायक नीच प्रकृति का व्यक्ति हुआ करता है। इसका प्रथम अङ्क ऐसा हुआ करता है जिसका अभिनय तीन नाडी (६ घड़ी) का समय लिया करता है और विट की विविध क्रीडाओं से परिपूर्ण रहा करता है। इसके दूसरे अङ्क के अभिनय में पाँच नाडी (१० घड़ी) का समय लगा करता है और विदूषक की लीलायें प्रचुर मात्रा में रहा करती हैं। इसका तीसरा अङ्क ६ नाडी (१२ घड़ी) का समय लिया करता है और पीठ-मर्द की भावभंगिओं से भरपूर हुआ करता है। इसके चौथे अङ्क में दश नाडी (२० घड़ी) का समय लगा करता है और नायक की क्रीडायें प्रदर्शित की जाया करती हैं।

इसका उदाहरण 'बिन्दुमती' नामक उपरूपक-प्रबन्ध है।

विमर्श—भावप्रकाशनकार ने 'दुर्मल्लिका' का यह स्वरूप बताया है:—

'अथ दुर्मल्लिकानाम प्रौढनागरनायिका।
चतुरङ्का चतुस्सन्धिर्गर्भसन्धिविनाकृता॥
विटो विलसति स्वैरं प्रथमाङ्के त्रिनाडिकाः।
विदूषको द्वितीयेऽङ्के विलसत्पञ्चनाडिकः॥
पीठमर्दो विहरति तृतीये सप्त नाडिकाः।
विटादित्रितयक्रीडा चतुर्थे दश नाडिकाः॥
चौर्यरतिप्रतिभेदं यूनोरनुरागवर्णनं क्वापि।
यत्र ग्राम्यकथाभिः कुरुते किल दूतिका रहसि॥
मन्त्रयति च तद्विपयन्यगजातित्वेन याचते च वसु।
लब्ध्वापि लब्धुमिच्छति या सा दुर्मल्लिका नाम्ना॥

(१६ वाँ प्रकार—प्रकरणिका)

अथ प्रकरणिका—

नाटिकैव प्रकरणी सार्थवाहादिनायका ।
समानवंशजा नेतुर्भवेद्यत्र च नायिका ॥ ३०६ ॥

मृग्यमुदाहरणम् ।

(१७ वाँ प्रकार—हल्लीश)

अथ हल्लीशः—

हल्लीश एक एवाङ्कः सप्ताष्टौ दश वा स्त्रियः ।
वागुदात्तैकपुरुषः कैशिकीवृत्तिरुज्ज्वला ।
मुखान्तिमौ तथा सन्धी बहुताललयस्थितिः ॥३०७॥

यथा—केलिरैवतकम् ।

एनां दुर्मल्लिकां मन्ये प्राहुर्मत्तल्लिकामिति ।
यस्यामुद्धाव्यः स्यात् पुरोहितामात्यतापसादीनाम्॥
प्रारब्धानिर्वाहः सापि च मत्तल्लिका भवति ।
क्षुद्रकथा मत्तल्लिका येह महाराष्ट्रभाषया भवति ॥
गोरोचने च कार्याऽनङ्गवती भावरसविद्या ।'

(भावप्रकाशन : ९ म अधिकार)

साहित्यदर्पणकार का 'दुर्मल्लिका' लक्षण 'भावप्रकाशन' के प्रथम दुर्मल्लिका-प्रकार का लक्षण है ।

अनुवाद—प्रकरणिका—'प्रकरणिका' (प्रकरणी) वस्तुतः उस नाटिका को कहा करते हैं जिसमें नायक के रूप में सार्थवाह (सेठ) आदि का चित्रण किया जाया करता है और नायिका के रूप में उसकी सजातीय किसी स्त्री का ।

इसका उदाहरण ढूँढ़ना चाहिये ।

विमर्श—'प्रकरणी' का निरूपण नाट्यदर्पणकार ने भी किया है किन्तु इसे 'रूपक' की श्रेणी में स्थान दिया है न कि उपरूपक की । 'नाटिका' और 'प्रकरणी' वस्तुतः नाटक और प्रकरण की विशेषताओं के साङ्कर्य के परिणाम हैं (कैशिकीबहुलत्वं च नाटकधर्मः, प्रकरणस्याल्पकैशिकीत्वात् । कल्प्यार्थत्वं वणिगादिनायकत्वं च प्रकरणधर्मः । तथा नाटकप्रकरणोत्थितत्वेऽपि...)

(नाट्यदर्पण : २ य विवेक)

अनुवाद—हल्लीश—'हल्लीश' वह उपरूपक-प्रकार है जिसमें एक ही अङ्क रहा करता है और सात, आठ या दस स्त्रीपात्र हुआ करते हैं । इसका नायक उदात्तवाणी का व्यक्ति हुआ करता है । इसमें कैशिकी वृत्ति का बाहुल्य अपेक्षित है । इसमें मुख और निर्वहण केवल दो ही संधियाँ पर्याप्त हैं । इसमें राग, ताल, लय आदि का प्राचुर्य रहा करता है ।

उदाहरण के लिए 'केलिरैवतक' पर्याप्त है ।

विमर्श—अभिनवभारतीकार का हल्लीसक-लक्षण यह है—

'मण्डलेन तु यन्नृत्तं हल्लीसकमिति स्मृतम् ।
एकस्तत्र तु नेता स्यात् गोपस्त्रीणां यथा हरिः ॥'

(अभिनवभारती : पृष्ठ १८३)

(१८—वाँ प्रकार—भाणिका)

अथ भाणिका—

भाणिका श्लक्ष्णनेपथ्या मुखनिर्वहणान्विता ।
कैशिकीभारतीवृत्तियुक्तैकाङ्कविनिर्मिता ॥ ३०८ ॥
उदात्तनायिका मन्दनायकात्राङ्गसप्तकम् ।
उपन्यासोऽथ विन्यासो विबोधः साध्वसं तथा ॥ ३०९ ॥
समर्पणं निवृत्तिश्च संहार इति सप्तमः ।
उपन्यासः प्रसङ्गेन भवेत्कार्यस्य कीर्तनम् ॥ ३१० ॥
निर्वेदवाक्यव्युत्पत्तिर्विन्यास इति स स्मृतः ।
भ्रान्तिनाशो विबोधः स्यान्मिथ्याख्यानं तु साध्वसम् ॥३११॥
सोपालम्भवचः कोपपीडयेह समर्पणम् ।
निदर्शनस्योपन्यासो निवृत्तिरिति कथ्यते ॥ ३१२ ॥
संहार इति च प्राहुर्यत्कार्यस्य समापनम् ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि साहित्यदर्पणकार ने इस लक्षण का अनुसरण नहीं किया है। साहित्य-दर्पणकार का 'हल्लीश'-लक्षण 'भावप्रकाशन'कार के इस हल्लीसक-लक्षण से भी कुछ-कुछ भिन्न है:—

'अथ हल्लीसकं सप्त नवाष्टदशनायिकम् ।
सानुदात्तोक्ति चैकाङ्कं कैशिकीवृत्तिभूषितम् ॥
एकाङ्कं वा भवेद्द्व्यङ्कं विमर्शमुखसन्धिमत् ।
सगेयलास्यं यतिमत् खण्डताललयान्वितम् ॥
एकविश्रामसहितं यथा स्यात् केलिरैवतम् ॥'

अनुवाद—'भाणिका' वह उपरूपकभेद है जिसमें सुन्दर नेपथ्य-रचना अपेक्षित हुआ करती है। इसमें मुख और निर्वहण संधियाँ ही रहा करती हैं। इसमें कैशिकी और भारती वृत्तिओं की ही योजना हुआ करती है। इसके लिए एक अङ्क ही पर्याप्त है। इसकी नायिका उदात्त प्रकृति की रमणी हुआ करती है और नायक नीच वंश का व्यक्ति हुआ करता है। इसके सात अङ्ग हुआ करते हैं—(१) उपन्यास, (२) विन्यास, (३) विबोध, (४) साध्वस, (५) समर्पण, (६) निवृत्ति और (७) संहार। इस 'अङ्गसप्तक' में 'उपन्यास' का अभिप्राय प्रसङ्गवश कार्य का कीर्तन है, 'विन्यास' का अभिप्राय निर्वेदद्योतक वचनविन्यास है, 'विबोध' का अभिप्राय भ्रम का निराकरण है, 'साध्वस' का अभिप्राय मिथ्या-अहंकार का प्रदर्शन है, 'समर्पण' का अभिप्राय कोपपूर्वक निन्दाबहुल वचन है, 'निवृत्ति' का अभिप्राय निदर्शन (उदाहरण) का उपन्यास है और 'संहार' कार्य की समाप्ति का नाम है।

स्पष्टान्युदाहरणानि।

यथा—कामदत्ता।

एतेषां सर्वेषां नाटकप्रकृतित्वेऽपि यथौचित्यं यथालाभं नाटकोक्तविशेषपरिग्रहः। यत्र च नाटकोक्तस्यापि पुनरुपादानं तत्र तत्सद्भावस्य नियमः।

'श्रव्य' काव्य निरूपण

अथ श्रव्यकाव्यानि—

श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ॥ ३१३ ॥

इस अङ्ग-सप्तक का उदाहरण स्पष्ट है। इस उपरूपक-प्रकार का उदाहरण 'कामदत्ता' है।

यद्यपि ये सभी उपरूपक-प्रकार 'नाटक' नामक रूपकप्रबन्ध से ही निकले हैं किन्तु इनमें औचित्य की दृष्टि से नाटक की विशेषताओं का समावेश किया जाया करता है। जहाँ-जहाँ इन उपरूपक-प्रकारों के लक्षणों में नाटक की विशेषताओं का स्पष्ट निर्देश किया गया है वहाँ यह समझना आवश्यक है कि निर्दिष्ट विशेषतायें इनमें अवश्यमेव अपेक्षित हैं।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का यह भाणिका-लक्षण भावप्रकाशनकार के इस भाणिका-लक्षण से भिन्न है—

'प्रायो हरिचरितमिति स्वीकृतगाथादि वर्णमात्रश्च।
सुकुमारतः प्रयोगाद् भाणोऽपि च भाणिका भवति॥
दिव्याभिश्चारीभिर्विवर्जिता ललितकरणसंयुक्ता।
तालान्तरालनृत्ता क्वचिदपि रथ्यादिसङ्कलिता॥
अर्धोद्वाहनिवारणगायनवसन्तमत्तपालीभिः।
विश्रामैश्च विहीना स्त्रीयोज्या वर्जितोत्तालैः॥
वस्तूनि भाणिकायां नव दश वा नियमतो विधीयन्ते।
नवमादिपञ्चमेषु स्थानेषु च भग्नतालः स्यात्॥
स्थानान्तरेषु तस्या लयतालो यदृच्छया क्रियते।
विविधवचोविन्यासैः सभ्यजनोत्साहसंपत्तिः॥
लास्याङ्ग-सन्धिनियमो भाणवदेवात्र भाणकायां स्यात्॥
अथ भाण्यङ्गिश्शृङ्गाराश्लक्ष्णनेपथ्यनायिका।
गर्भावमर्शहीना च मुखादित्रयभूषिता॥
स्वल्पवृत्तप्रबन्धा च पीठमर्दविटान्विता।
विदूषकेण सहिता दशलास्यसमन्विता॥
पाञ्चालरीतिनियता भवेद्वीणावती यथा॥'

(भावप्रकाशन : ९ म अधिकार)

अनुवाद—अब तक 'दृश्य' काव्यों का निरूपण किया गया, अब इसके बाद, 'श्रव्य' काव्यों का निरूपण किया जा रहा है—

'श्रव्य' काव्य उस रसात्मक वाक्य को कहा करते हैं जो केवल श्रवण-योग्य हुआ करता है (अर्थात् जिसे रंगमंच पर अभिनय द्वारा प्रदर्शित नहीं किया जाया करता

(१ म श्रव्य काव्य-प्रकार : पद्यमय अथवा पद्य-काव्य)

तत्र पद्यमयान्याह—

छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् ।
द्वाभ्यां तु युग्मकं सांदानितकं त्रिभिरिष्यते ॥ ३१४ ॥
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम् ।

(१—पद्यात्मक काव्य-प्रकार : मुक्तक)

तत्र मुक्तकं यथा मम—

'सान्द्रानन्दमनन्तमव्ययमजं यद्योगिनोऽपि क्षणं
साक्षात्कर्तुमुपासते प्रति मुहुर्ध्यानैकतानाः परम् ।
धन्यास्ता मथुरापुरीयुवतयस्तद्ब्रह्म या कौतुका-
दालिङ्गन्ति समालपन्ति शतधाऽकर्षन्ति चुम्बन्ति च ॥'

अपितु स्वयं पढ़ा अथवा सुना जाया करता है ।) इस काव्य के भी दो भेद हैं—१ ला पद्यमय श्रव्य काव्य और २ रा गद्यमय श्रव्य काव्य ।

इन दोनों में, पहले 'पद्यात्मक' श्रव्य काव्यों के स्वरूप बताये जा रहे हैं—

'पद्यात्मक' काव्य वह है जिसके पद छन्दोवद्ध हुआ करते हैं । यह 'पद्यात्मक' काव्य भी कई प्रकार का हुआ करता है, जैसे कि १. 'मुक्तक', जिसके पद्य (अपने अर्थ में) अन्य किसी पद्य की आकांक्षा से 'मुक्त' अथवा स्वतन्त्र हुआ करते हैं; २. युग्मक, जिसमें दो पद्यों की रचना पर्याप्त मानी जाया करती है; ३. सांदानितक, जिसकी रचना तीन पद्यों में पूर्ण हो जाया करती है, ४. कलापक, जिसकी रूप-रेखा पद्य-चतुष्क में पूर्ण हो जाती है और ५. कुलक, जिसमें पाँच पद्यों का एक 'कुल' दिखायी दिया करता है ।

अनुवाद—इन पद्य काव्यों में जो 'मुक्तक' काव्य है उसका स्वरूप-निदर्शन निम्न स्वरचित सूक्ति में स्पष्ट है—

'धन्य हैं वे मथुरा की युवतियाँ, जो उस आनन्दमय, अनन्त, अनादि किंवा शाश्वत परात्पर परब्रह्म को अपने भुजापाश में बाँधा करती हैं, आलाप-संलाप में रिझाया करती हैं, छीना-झपटी में सताया करती हैं और चुम्बनों में भुलाया करती हैं, जिसके क्षण भर के भी साक्षात्कार के लिये, ध्यानमग्न योगियों को निर्विकल्प समाधि में लीन होना पड़ता है ।'

विमर्श—विश्वनाथ कविराज की उपर्युक्त सूक्ति 'मुक्तक' काव्य है । संस्कृत काव्य-साहित्य के जितने 'मुक्तक'-रत्न उपलब्ध हैं उनसे कहीं अधिक खो गये हैं और कदाचित् सदा के लिये खो गये हैं । 'मुक्तक' की रचना संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं में होती रही है । 'मुक्तक' काव्य के सम्बन्ध में आचार्य आनन्दवर्धन की यह उक्ति स्मरणीय है—

'मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते । यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमाना प्रसिद्धा एव—(ध्वन्यालोकः ३ य उद्योत) ।'

अर्थात् रसास्वाद की दृष्टि से 'मुक्तक' रचनायें प्रबन्ध काव्य की भाँति महत्त्वपूर्ण हैं । अमरुक के मुक्तकों में बहनेवाली शृङ्गार-मन्दाकिनी का जिसने आनन्द लिया हो, उसे प्रबन्ध काव्यों के क्षीरसागर से क्या प्रयोजन ?

(२—पद्यात्मक काव्य-प्रकार : युग्मक)

युग्मकं यथा मम—

'किं करोषि करोपान्ते कान्ते! गण्डस्थलीमिमाम्।
प्रणयप्रवणे कान्तेऽनैकान्ते नोचिताः क्रुधः ॥
इति यावत्कुरङ्गाक्षीं वक्तुमीहामहे वयम्।
तावदाविरभूच्चूते मधुरो मधुपध्वनिः ॥'

एवमन्यान्यपि।

'मुक्तक' और 'रस' का सम्बन्ध अटूट है। प्रबन्धकाव्यों में तो विभावादियोजना का प्रक्रिया-डम्बर दिखायी दिया करता है किन्तु 'मुक्तक' में रस-योजना के पृथक् पृथक् तत्त्व इतने शक्तिशाली हुआ करते हैं कि एक से ही अन्य-समाक्षेप हो जाया करता है और रस का आप्लावन प्रारम्भ हो जाता है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'मुक्तक' की जो यह निरुक्ति बतायी है—

'मुक्तमन्येनानालिङ्गितं तस्य संज्ञायां कन्। तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकाङ्क्षार्थमपि प्रबन्धमध्यवर्ति न मुक्तकमित्युच्यते—(ध्वन्यालोकलोचन : ३ य उद्योत)।'

उसमें 'मुक्तक' के स्वरूप की सुन्दर झांकी दिखायी देती है।

अनुवाद—इसी प्रकार 'युग्मक' का उदाहरण भी निम्न स्वरचित सूक्ति में स्पष्ट है—

'जैसे ही मैंने उस मृगनयनी सुन्दरी को कहना चाहा—प्रिये! तू क्योंकर अपने हाथों पर कपोलस्थली रखे पड़ी है, तेरा प्रियतम तो एकमात्र तेरे ही प्रेम में पगा है, भला ऐसे प्रेमी के प्रति मान-कोप की क्या आवश्यकता—कि आम्र-मञ्जरियों के झुरमुट में मधुर भ्रमर-गुंजार सुनाई पड़ने लगी।'

इसी भाँति और पद्यात्मक काव्य-प्रकारों जैसे कि सांदानितक आदि के उदाहरण स्वयं ढूँढ़ लिये जा सकते हैं।

विमर्श—विश्वनाथ कविराज ने 'युग्मक' और 'सान्दानितक' को दो पृथक् प्रकार का पद्य काव्य कहा है किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार 'युग्मक' ही 'सांदानितक' प्रतीत होता है। 'सांदानितक' का लक्षण आचार्य अभिनवगुप्त ने यह किया है—'द्वाभ्यां क्रियासमाप्तौ सन्दानितकम्' (ध्वन्यालोकलोचन : ३ य उद्योत)। काव्यानुशासनकार हेमचन्द्राचार्य के अनुसार भी 'युग्मक' कोई पृथक् पद्यकाव्य-प्रकार नहीं अपितु 'सांदानितक' ही, दो पद्यों में पूर्ण होने के कारण, 'युग्मक' कहा जा सकता है।

विश्वनाथ कविराज ने आचार्य अभिनवगुप्त और हेमचन्द्राचार्य के 'विशेषक' नामक काव्य-प्रकार को, जो तीन पद्यों में पूर्ण हो जाया करता है, (त्रिभिर्विशेषकम्) 'सांदानितक' मान रखा है।

इस 'विशेषक' अथवा 'सांदानितक' का उदाहरण महाकवि माघ का यह 'विशेषक' (अथवा सांदानितक) है—

'अशिथिलमपराऽवसज्य कण्ठे दृढपरिरब्धबृहद्बहिःस्तनेन।
हृषिततनुरुहो भुजेन भर्तुर्मृदुममृदुव्यतिबद्धमेकबाहुम् ॥
मुहुरसुसममाघ्नती नितान्तं प्रणदितकाञ्चिनितम्बमण्डलेन।
विषमितपृथुहारयष्टितिर्यक्कुचमितरं तदुरःस्थले निपीड्य ॥
गुरुतरकलनूपुरानुनादं सललितनर्तितवामपादपद्मा।
इतरदनतिलोलमादधाना पदमथ मन्मथमंथरं जगाम ॥'

(शिशुपालवध : ७. १६-१८)

(महाकाव्य : स्वरूप-विनिश्चय)

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥ ३१५ ॥

किन्तु आचार्य मल्लिनाथ ने महाकवि माघ के निम्न 'संदानितक' अर्थात्—

'विरोधिवचसो मूकान् वागीशानपि कुर्वते ।
जडानप्यनुलोमार्थान् प्रवाचः कृतिनां गिरः ॥
संक्षिप्तस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यस्यार्थगरीयसः ।
सुविस्तरतरा वाचो भाष्यभूता भवन्तु मे ॥'

(शिशुपालवध : २. २४, २५)

का उल्लेख किया है जिसकी रचना दो पद्यों में ही पूर्ण है ।

'कलापक' की परिभाषा आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार यह है—'चतुर्भिः कलापकम्' अर्थात् वह काव्यबन्ध 'कलापक' है जो चार पद्यों का बना होता है । इसका उदाहरण यह है—

'या घर्मभासस्तनयापि शीतलैः स्वसा यमस्यापि जनस्य जीवनैः ।
कृष्णाऽपि शुद्धेरधिकं विधातृभिर्विहन्तुमंहांसि जलैः पटीयसी ॥
यस्या महानीलतटीरिव द्रुताः प्रयान्ति पीत्वा हिमपिण्डपाण्डवः ।
कालीरपस्ताभिरिवाऽनुरञ्जिताः क्षणेन भिन्नाञ्जनवर्णतां घनाः ॥
व्यक्तं बलीयान् यदि हेतुरागमादपूरयत् सा जलधिं न जाह्नवी ।
गङ्गौघनिर्भर्त्सितशम्भुकन्धरासवर्णमर्णः कथमन्यथाऽस्य तत् ॥
अभ्युद्यतस्याक्रमितुं जवेन गां तमालनीला नितरां धृतायतिः ।
सीमेव सा तस्य पुरः क्षणं बभौ बलाम्बुराशेर्महतो महापगा ॥'

(शिशुपालवध : १२. ६७–७०)

'कुलक' को पाँच अथवा पाँच से अधिक पद्यों का बन्ध कहा गया है (पञ्चप्रभृतिभिः कुलकम् ध्वन्यालोकलोचन : ३ य उद्योत) महाकवि माघ का यह 'कुलक' बन्ध प्रसिद्ध है—

'सकलमपि निकामं कामलोलान्यनारीरतरभसविमर्दे भिन्नवत्यङ्गरागम् ।
इदमिति महदेवाश्चर्यमाश्चर्यधाम्नस्तव खलु मुखरागो यन्न भेदं प्रयातः ॥
प्रकटतरमिमं माद्राक्षुरन्या रमण्यः स्फुटमिति सविशंकं कान्तया तुल्यवर्णः ।
चरणतलसरोजाक्रान्तिसंक्रान्तयाऽसौ वपुषि नखविलेखो लाक्षया रंजितस्ते ॥
तदवितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति प्रियजनपरिमुक्तं यद्दुकूलं दधानः ।
मदधिवसतिमागाः कामिनां मण्डनश्रीर्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ॥
नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन स्थगयसि मुहुरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसंगशंसी विसर्पन् नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥
इति कृतवचनायाः कश्चिदभ्येत्य बिभ्यद् गलितनयनवारेर्याति पादावनामम् ।
करुणमपि समर्थं मानिनां मानभेदे रुदितमुदितमस्त्रं योषितां विग्रहेषु ॥'

(शिशुपालवध : ११. ३१–३५)

महाकवि माघ के 'शिशुपालवध' में पद्यषट्कात्मक, पद्यसप्तकात्मक, पद्याष्टकात्मक किं वा पद्यनवकात्मक 'कुलक' भी उपलब्ध होते हैं जिनमें 'काव्य' की विशेषतायें ओतप्रोत हैं ।

अनुवाद—पद्यकाव्य के प्रकारों में जो 'सर्गबन्धात्मक' काव्यप्रकार है उसे 'महाकाव्य' कहा करते हैं । (चरित्रवर्णन की दृष्टि से) इस 'सर्गबन्ध'रूप महाकाव्य में एक ही नायक का चरित चित्रित किया जाया करता है । यह नायक चाहे कोई देवविशेष हो,

सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ॥ ३१६ ॥
शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः ॥ ३१७ ॥
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ॥ ३१८ ॥
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ॥ ३१९ ॥
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ॥ ३२० ॥
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।

या प्रख्यात राजवंश का राजा हो, ऐसा हुआ करता है जिसमें 'धीरोदात्त' नायक के गुण विद्यमान रहा करते हैं। किसी किसी महाकाव्य में एक राजवंश में उत्पन्न, अनेकों कुलीन राजाओं की भी चरित्र-चर्चा दिखाई देती है। (रसाभिव्यञ्जन की दृष्टि से) श्रृंगार, वीर और शांत रसों में से कोई एक ही रस किसी महाकाव्य में 'अङ्गी' अथवा 'प्रधान' रूप से परिपुष्ट किया जा सकता है। इन तीनों रसों में से जो रस भी 'अङ्गी' अथवा 'प्रधान' रखा जाय, उसकी अपेक्षा अन्य सभी रस 'अङ्ग' अथवा 'अप्रधान' रूप से अभिव्यक्त किये जा सकते हैं। (संस्थान-रचना की दृष्टि से) नाटक की सभी सन्धियाँ महाकाव्य में आवश्यक मानी गई हैं। (इतिवृत्त-योजना की दृष्टि से) कोई भी ऐतिहासिक अथवा किसी महापुरुष के जीवन से सम्बद्ध कोई लोकप्रसिद्ध वृत्त यहाँ वर्णित किया जा सकता है। वैसे तो (उपयोगिता की दृष्टि से) महाकाव्य में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय का काव्यात्मक निरूपण किया जाया करता है किन्तु परम फल के रूप में किसी एक का ही सर्वतोभद्र उपनिबन्ध युक्तियुक्त माना गया है।

इन उपर्युक्त स्वरूप-संगत विशेषताओं के अतिरिक्त कतिपय अन्यान्य भी विशेषतायें हैं जो सर्गबन्धरूप महाकाव्य में पायी जाया करती हैं। जैसे कि—(१) महाकाव्य का आरम्भ मङ्गलात्मक हुआ करता है। यह मङ्गल या तो 'नमस्कारात्मक' हो, या 'आशीर्वादात्मक' हो या 'वस्तुनिर्देशात्मक' हो, महाकवि की इच्छा किं वा विषय-वर्णन पर निर्भर है। (२) किसी किसी महाकाव्य में 'खलनिन्दा' (दुष्ट प्रकृति के आलोचकों की निन्दा) तथा 'सत्प्रशंसा' (साधु प्रकृति के आलोचकों की प्रशंसा) भी उपनिबद्ध रहा करती है। (३) प्रत्येक सर्ग में किसी एक वृत्त में बद्ध पद्य रचे जाया करते हैं और प्रत्येक सर्गान्त में, उस वृत्त को छोड़ कर अन्य वृत्त में पद्य-रचना की जाया करती है। (४) आठ सर्ग से कम सर्ग महाकाव्य में नहीं हुआ करते और ये सर्ग भी ऐसे हुआ करते हैं जो न तो बहुत छोटे हों और न बहुत बड़े। (५) किसी किसी महाकाव्य में भिन्न भिन्न वृत्तों में भी बद्ध पद्यों से सर्ग-निर्माण हुआ करता है। (६) किसी सर्ग के

सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ॥ ३२१ ॥
संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ॥ ३२२ ॥
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ॥ ३२३ ॥
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ॥ ३२४ ॥
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ।

सन्ध्यङ्गानि यथालाभमत्र विधेयानि 'अवसानेऽन्यवृत्तकैः' इति बहुवचनमविवक्षितम् । साङ्गोपाङ्गा इति जलकेलिमधुपानादयः ।

यथा—रघुवंश–शिशुपालवध–नैषधादयः ।

अन्त में उसके अगले सर्ग में आने वाले वृत्त की सूचना आवश्यक हुआ करती है। (७) सर्गबन्धनात्मक काव्य में इन इन विषयों का यथास्थान किंवा यथासम्भव साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया जाया करता है—(१) संध्या (२) सूर्य (३) चन्द्र (४) रात्रि (५) प्रदोष (६) अन्धकार (७) दिन (८) प्रातःकाल (९) मध्याह्न (१०) मृगया (११) पर्वत (१२) ऋतु (१३) वन-उपवन (१४) समुद्र (१५) सम्भोग (१६) विप्रयोग (१७) मुनि (१८) स्वर्ग (१९) नगर (२०) यज्ञ (२१) संग्राम (२२) यात्रा (२३) विवाह (२४) सामाद्युपायचतुष्टय (२५) पुत्रजन्म आदि आदि ! (८) महाकाव्य का नामकरण-संस्कार कवि के नाम पर वर्ण्य चरित के आधार पर, नायक के नाम के अनुसार अथवा इनके अतिरिक्त किसी अन्य आधार पर किया हुआ रहता है और (९) महाकाव्य के सर्ग का भी नाम रखा जाया करता है जो कि उसमें वर्ण्य वृत्त के अनुसार हुआ करता है।

महाकाव्य में सन्धिपञ्चक की रचना तो अनिवार्यतः हुआ करती है किन्तु सन्ध्यङ्गों की रचना (अनिवार्य नहीं अपि तु) उनकी उपयोगिता की दृष्टि से ही यत्र-तत्र की जाया करती है।

यहाँ ('एकवृत्तमयैः पद्यैः' आदि कारिका में) 'अवसानेऽन्यवृत्तकैः (अन्त में भिन्न वृत्तों से रचना) का अभिप्राय (सर्ग-रचना में व्यवहृत वृत्त की अपेक्षा) सर्गान्त में किसी एक भिन्न वृत्त की रचना का अभिप्राय है (न कि अनेकानेक भिन्न वृत्तों का) क्योंकि यहाँ बहुवचन के प्रयोग में बहुत्व का अभिप्राय विवक्षित नहीं।

संध्यादि के 'साङ्गोपाङ्ग' वर्णन का तात्पर्य जलकेलि, मधुपान आदि-आदि, उन-उन कालों अथवा स्थानों आदि में संभव मानव कार्यकलापों तथा मनोविनोदों के वर्णन का तात्पर्य है।

सर्गबन्धरूप 'महाकाव्य' के उदाहरण के रूप में 'रघुवंश' (जिसका नाम वर्ण्य नायक के वंशज एक महाप्रतापी राजा के नाम पर है), 'शिशुपालवध' (जिसका नाम प्रतिनायक-संबन्धी वृत्त के नाम पर है और 'नैषध' (जिसका नाम नायक के उपनाम

यथा वा मम—राघवविलासादिः ।

पर है) आदि देखे जा सकते हैं । अथवा मेरी 'राघवविलास' आदि 'सर्गबन्ध' कृतियाँ 'महाकाव्य' के निदर्शनार्थ पर्याप्त हैं ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का 'महाकाव्य'-लक्षण जितना विशद और पूर्ण है उतना अन्य आलङ्कारिकों का नहीं । साहित्यदर्पणकार ने इतिवृत्त, चरितचित्रण और रसभावाभिव्यञ्जन—तीनों की दृष्टि से 'महाकाव्य' का स्वरूप-निरूपण किया है । साहित्यदर्पण का महाकाव्य-लक्षण वस्तुतः लोचनकार के इस सूक्ष्म संकेत अर्थात्—**'महाकाव्यरूपः पुरुषार्थफलः समस्तवस्तुवर्णनाप्रबन्धः सर्गबन्धः संस्कृत एव ।'** (ध्वन्यालोकलोचन : ३य उद्योत) का विशद वर्णन है ।

यहाँ महाकाव्य में सन्धि-सन्ध्यङ्गादि-योजना का निर्देश ध्वनिकार की इस मान्यता का ही समर्थन है—

'विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः ।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥
इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाननुगुणां स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्याऽप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः ॥
सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया ॥
उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा ।
रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिनः ॥
अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम् ।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥' (ध्वन्यालोक : ३य उद्योत)

साहित्यदर्पणकार ने 'महाकाव्य' की और जिन छोटी-मोटी विशेषताओं का उल्लेख किया है वे वस्तुतः सभी उपलब्ध महाकाव्यों की विशेषतायें हैं ।

भावप्रकाशनकार ने सर्गबन्ध' का तो लक्षण अवश्य किया है किन्तु इसे 'महाकाव्य' नहीं कहा है—

'यत्र श्रुतीतिहासार्थाः पेशला वाप्यपेशलाः ।
निबद्धा वर्णनोपेताः सर्गबन्धः स इष्यते ॥
सर्गबन्धेन तुल्यो यः प्राकृतेन निबध्यते ।
आश्वासबन्धः स इति सेतुबन्धवदुच्यते ॥
अपभ्रंशेन बद्धो यः मात्राच्छन्दोभिरन्वितः ।
स सन्धिबन्धो विज्ञेयः यथाऽब्धिमथनादिकः ॥
वृत्तान्ता विप्रकीर्णाः स्युः संहिता यत्र कोविदैः ।
सा संहितेत्यभिहिता रघुवंशो यथा कृतः ॥'

(भावप्रकाशन : ९ म अधिकार)

ऐसा प्रतीत होता है कि सर्गबन्धों में 'महाकाव्य' की कल्पना विश्वनाथ कविराज की प्रतिभा की एक देन है । भावप्रकाशनकार के अनुसार 'रघुवंश' 'संहिता' है किन्तु साहित्यदर्पणकार के अनुसार 'महाकाव्य' । वस्तुतः 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की कल्पना ने ही 'महाकाव्य' की कल्पना की है ।

(महाकाव्य-सम्बन्धी कतिपय आनुषङ्गिक विशेषतायें : आर्ष-महाकाव्य में 'सर्ग' के बदले 'आख्यान' रचना)

अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः ॥ ३२५ ॥

अस्मिन्महाकाव्ये । यथा—महाभारतम् ।

अनुवाद—**यही 'सर्गबन्ध' का काव्यप्रकार, जिसे प्राचीन ऋषि-कवियों ने रचा है 'सर्ग' के बदले 'आख्यान' में विभाजित किया गया है।**

यहाँ (कारिका में) 'अस्मिन्' से 'महाकाव्ये' (महाकाव्य में) का अर्थ लिया गया है। इसके उदाहरण के लिये (महर्षि-महाकवि व्यास-प्रणीत) 'महाभारत' लिया जा सकता है।

विमर्श—'महर्षि व्यास-प्रणीत 'महाभारत' आर्ष महाकाव्य है'—इस धारणा के प्रवर्त्तक साहित्यदर्पणकार हैं। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने महाभारत को महाकाव्य नहीं अपितु 'महाकाव्यात्मक शास्त्र' कहा है—**'महाभारतेऽपि शास्त्ररूपे काव्यच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डवविरसावसानवैमनस्यदायिनी समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः।.........तदेवमनुक्रमणीनिर्दिष्टेन वाक्येन भगवद्व्यतिरेकिणः सर्वस्यान्यस्यानित्यतां प्रकाशयता मोक्षलक्षण एवैकः परः पुरुषार्थः शास्त्रनये, काव्यनये च तृष्णाक्षयसुखपरिपोषलक्षणः शान्तो रसो महाभारतस्याङ्गित्वेन विवक्षित इति सुप्रतिपादितम्** (ध्वन्यालोक : ४र्थ उद्योत)। अर्थात् मोक्षरूप परम पुरुषार्थ के प्रतिपादन की दृष्टि से तो महाभारत 'शास्त्र' है किन्तु शान्त रस की मधुर अभिव्यञ्जना की दृष्टि से 'काव्य'।

'महाभारत' आदि आर्षकवि-प्रबन्धों को ही देखते अन्य आलङ्कारिकों ने काव्य के अन्यविध विभाग किये हैं :—

'शास्त्रं काव्यं शास्त्रकाव्यं काव्यशास्त्रं च भेदतः।
चतुष्प्रकारः प्रसरः सतां सारस्वतो मतः॥
शास्त्रं काव्यविदः प्राहुः सर्वकाव्याङ्गलक्षणम्।
काव्यं विशिष्टशब्दार्थसाहित्यसदलङ्कृति॥
शास्त्रकाव्यं चतुर्वर्गप्रायं सर्वोपदेशकृत्।
भट्टि-भौमककाव्यादि काव्यशास्त्रं प्रचक्षते॥
शास्त्रं कुर्यात् प्रयत्नेन प्रसन्नार्थमनुष्टुभा।
येन सर्वोपकाराय याति सुस्पष्टसेतुताम्॥
काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित्॥
शास्त्रकाव्येऽतिदीर्घाणां वृत्तानां न प्रयोजनम्।
काव्यशास्त्रेऽपि वृत्तानि रसायत्तानि काव्यवित्॥
पुराणप्रतिबिम्बेषु प्रसन्नोपायवर्त्मसु।
उपदेशप्रधानेषु कुर्यात्सर्वेष्वनुष्टुभम्॥
नानावृत्तविशेषास्तु कवेः शस्तस्य शासनात्।
यान्ति प्रभोरिवात्यन्तमयोग्या अपि योग्यताम्॥'

इस विभाग के अनुसार महाभारत 'शास्त्रकाव्य' सिद्ध होता है न कि महाकाव्य। विश्वनाथ

(प्राकृत भाषा में रचित महाकाव्य में 'सर्ग' के बदले 'आश्वास' की रचना)

प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन्सर्गा आश्वाससंज्ञकाः ।
छन्दसा स्कन्धकेनैतत्क्वचिद्गलितकैरपि ॥ ३२६ ॥

यथा—सेतुबन्धः । यथा वा मम—कुवलयाश्वचरितम् ।

(अपभ्रंश भाषा में रचित महाकाव्य में 'सर्ग' के बदले 'कुडवक' की रचना)

अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन् सर्गाः कुडवकाभिधाः ।
तथापभ्रंशयोग्यानि च्छन्दांसि विविधान्यपि ॥ ३२७ ॥

यथा—कर्णपराक्रमः ।

(काव्य : स्वरूप-निरूपण)

भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुज्झितम् ।
एकार्थप्रवणैः पद्यैः संधिसामग्र्यवर्जितम् ॥ ३२८ ॥

यथा—भिक्षाटनम्, आर्याविलासश्च ।

कविराज ने महाभारत को 'आर्ष महाकाव्य' कहकर अपने काव्यविषयक सिद्धान्त (वाक्यं रसात्मकं काव्यम्) का बड़ा सुन्दर पुष्टीकरण किया है ।

अनुवाद—यही महाकाव्य यदि प्राकृत भाषा में रचा गया हो तो 'सर्गों' में रचित न होकर 'आश्वासों' में रचित हुआ करता है । इन 'आश्वासों' में जो छन्द प्रयुक्त हुआ करते हैं वे अधिकतर 'स्कन्धक' अथवा 'गलितक' नाम के छन्द हुआ करते हैं ।

उदाहरण के लिये (महाकवि प्रवरसेन-विरचित) 'सेतुबन्ध' । अथवा मेरी अपनी रचना—'कुवलयाश्वचरित' ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने काव्यात्मकता की दृष्टि से संस्कृत और प्राकृत के महाकाव्यों में कोई भेद नहीं किया है और यह सर्वथा उचित ही है । 'सर्ग' के स्थान पर 'आश्वास' की रचना प्राचीन निर्माण-परम्परा का अनुसरण-मात्र है न कि अन्य कुछ ।

अनुवाद—यही महाकाव्य यदि अपभ्रंश भाषा में रचा जाय तो उसमें 'सर्ग' रचना के बदले 'कुडवक' की रचना हुआ करती है । इन 'कुडवकों' में अपभ्रंश भाषा के योग्य अनेकानेक छन्द रचे जाया करते हैं ।

उदाहरण के लिये—'कर्णपराक्रम' ।

अनुवाद—(महाकाव्य के अतिरिक्त) 'काव्य' पद्य-प्रबन्ध का वह प्रकार है जो संस्कृत प्राकृत किं वा अपभ्रंश भाषा में निबद्ध किया जाया करता है । इसमें 'सर्गों' का बन्ध आवश्यक नहीं, और न सन्धिपञ्चक की सम्पूर्ण रचना ही अपेक्षित है । इसकी रूप-रेखा 'एकार्थप्रवण' अर्थात् एक वृत्त अथवा चरित से सम्बद्ध पद्य-कदम्ब से ही पूर्ण हो जाया करती है ।

उदाहरण के लिये—'भिक्षाटन काव्य' और 'आर्याविलास' आदि ।

(खण्डकाव्य : लक्षण और उदाहरण)

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च ।

यथा—मेघदूतादि ।

('कोष' रूप पद्य-प्रबन्ध : स्वरूप-निर्देश)

कोषः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः ॥ ३२९ ॥

व्रज्याक्रमेण रचितः स एवातिमनोरमः ।

सजातीयानामेकत्र सन्निवेशो व्रज्या । यथा मुक्तावल्यादिः ।

(२ य श्रव्यकाव्य-प्रकार : गद्यमय अथवा गद्य-काव्य)

अथ गद्यकाव्यानि ।

तत्र गद्यम्—

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च ॥ ३३० ॥

भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम् ।

अनुवाद—'काव्य' अथवा 'महाकाव्य' के कतिपय लक्षणों से युक्त जो पद्य-प्रबन्ध है उसे 'खण्डकाव्य' कहा करते हैं। जैसे कि (महाकवि कालिदास-रचित) 'मेघदूत' इत्यादि ।

विमर्श—'मेघदूत' मुक्तकों का बना खण्डकाव्य है । मेघदूत के मुक्तकों के सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है—'पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम् । यथा—त्वामालिख्य प्रणयकुपितामित्यादिश्लोकः । (ध्वन्यालोकलोचन : ३ य उद्योत)

अनुवाद—'कोष' पद्यों का वह संग्रह है जिसमें सभी पद्य परस्पर स्वतंत्र अस्तित्व रखा करते हैं । यह 'कोष' तब अधिक सुन्दर लगा करता है जब कि सजातीय पद्य एक-एक स्थान पर संगृहीत रहा करते हैं ।

यहाँ 'व्रज्या' का अभिप्राय सजातीय पद्यों के एकत्र सन्निवेश' का अभिप्राय है । उदाहरण के लिए 'मुक्तावली' (सूक्तिमुक्तावली) आदि ।

विमर्श—काव्यानुशासनकार हेमचन्द्राचार्य के अनुसार 'कोष' (कोश) रूप पद्यप्रबन्ध का अभिप्राय स्वरचित अथवा अन्यरचित सूक्तियों का संग्रह है—'स्वपरकृतसूक्तिसमुच्चयः कोषः' (काव्यानुशासन : ८. १३) । संस्कृत काव्य-साहित्य में अनेकानेक पद्यप्रबन्ध आज भी उपलब्ध हैं जो 'कोष' रूप ही रचे गये हैं । 'आर्यासप्तशती' आदि पद्य-प्रबन्ध यदि स्वरचित सूक्तियों के समुच्चयरूप हैं तो 'सदुक्तिकर्णामृत' आदि पद्य प्रबन्ध अन्यान्य कवि-रचित सूक्तियों के संग्रह हैं । इन कोष-प्रबन्धों के निर्माण में विविधविषयक काव्य-सूक्तियों का प्रचार मूल कारण प्रतीत होता है । मनोरञ्जन और उपदेश—दोनों उद्देश्यों से कोष-प्रबन्ध रचे गये प्रतीत होते हैं ।

अनुवाद—अब श्रव्य-काव्य के २ य प्रकार 'गद्यकाव्य' का निरूपण किया जा रहा है । यहां 'गद्य' का अभिप्राय यह है—

'गद्य' वह शब्दार्थ-योजना है जो छन्दोबद्ध नहीं हुआ करती । गद्य के चार प्रकार हैं—(१) मुक्तक, (२) वृत्तगन्धि, (३) उत्कलिकाप्राय और (४) चूर्णक । इनमें (१) 'मुक्तक' वह गद्य-बन्ध है जो असमस्त पदों में रचा जाया करता है; (२) 'वृत्तगन्धि', वह गद्य-प्रकार है जिसमें वृत्तों के अंश यत्र-तत्र प्रतीत हुआ करते हैं; (३) 'उत्कलिकाप्राय', वह गद्य

आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम् ॥ ३३१ ॥
अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम् ।

मुक्तकं तथा—'गुरुर्वचसि पृथुरुरसि—' इत्यादि ।

वृत्तगन्धि यथा मम—

'समरकण्डूलनिविडभुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिञ्जिनीटंकारोज्जागरितवैरिनगर' इत्यादि । अत्र 'कुण्डलीकृतकोदण्ड'—इत्यनुष्टुब्वृत्तस्य पादः, 'समरकण्डूल' इति च प्रथमाक्षरद्वयरहितस्तस्यैव पादः ।

उत्कलिकाप्रायं यथा ममैव—'अणिसविसुमरणिसिदसरविसरविदलिदसमरपरिगदपवरपरवल—' ['अनिश–विसृमर–निशित–शर–विसर–विदलित–समर–परिगतप्रवर–परबल] इत्यदि ।

चूर्णकं यथा मम–'गुणरत्नसागर ! जगदेकनागर ! कामिनीमदन ! जनरञ्जन !' इत्यादि ।

(गद्यकाव्य के अवान्तर भेद—(१) कथा)

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ॥ ३३२ ॥
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके ।
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम् ॥ ३३३ ॥

भेद है जो लम्बे लम्बे समस्त पदों में रचा गया होता है और (४) 'चूर्णक' वह गद्यरचना है जिसमें छोटे छोटे समस्त पदों का उपनिबन्ध हुआ करता है ।

उदाहरण के लिये—(१) मुक्तकगद्यकाव्य 'गुरुर्वचसि पृथुरुरसि' (वचन में गौरव रखने वाला तथा बृहस्पतितुल्य; बल में विशाल तथा महाराज पृथु के तुल्य) आदि (जहां यह स्पष्ट है कि प्रत्येक पद 'मुक्त' अथवा अन्य पद-निरपेक्ष रहने के कारण सुन्दर लग रहा है); (२) वृत्तगन्धि गद्य-काव्य (मेरी स्वरचित कृति)—'समरकण्डूलनिबिडभुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिञ्जिनीटङ्कारोज्जागरितवैरिनगर ।' इत्यादि, जहां 'कुण्डलीकृतकोदण्ड' पद अनुष्टप् छन्द का चरण लग रहा है और 'समरकण्डूल' पद भी पहले के दो अक्षरों को हटा देने पर अनुष्टुप् छन्द का ही चरण बन जाता है; (३) उत्कलिकाप्राय गद्य-काव्य (मेरी स्वरचित कृति)—'अनिश-विसृमर-निशितशरविसर-विदलित-समर-परिगतप्रवर-परबल !' इत्यादि (जहां लम्बे समस्त पद स्पष्ट दिखायी पड़ रहे हैं और (४) 'चूर्णक' गद्यकाव्य (स्वरचित कृति)—'गुणरत्नसागर ! जगदेकनागर । कामिनीमदन ! जनरञ्जन !' इत्यादि (जहां स्वल्प समास वाले पदों की योजना का सौन्दर्य स्पष्ट झलक रहा है) ।

अनुवाद—गद्यकाव्य का एक प्रभेद 'कथा' है जिसमें सरस इतिवृत्त की रचना हुआ करती है । इस 'कथा' की यह भी विशेषता है कि इसमें कहीं-कहीं 'आर्या' छन्द रचा जाया करता है, और कहीं 'वक्त्र' और 'अपवक्त्र' छन्दों की भी रचना हुआ करती है । इसके प्रारम्भ में नमस्कारात्मक 'मङ्गल' किया जाया करता है और खल-निन्दा तथा सज्जन-प्रशंसा-सम्बन्धी पद्य भी उपन्यस्त रहा करते हैं । उदाहरण के लिये (महाकवि बाणरचित) 'कादम्बरी' आदि पर्याप्त हैं ।

यथा—कादम्बर्यादिः।

(२–आख्यायिका)

आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वंशानुकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित्॥ ३३४॥
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्॥ ३३५॥
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम्।

यथा—हर्षचरितादिः। 'अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्।' इति दण्ड्याचार्यवचनात् केचित् आख्यायिका नायकेनैव निबद्धव्या' इत्याहुः, तदयुक्तम्। आख्यानादयश्च कथाख्यायिकयोरेवान्तर्भावान्न पृथगुक्ताः।

यदुक्तं दण्डिनैव—

अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः।' इति।

एषामुदाहरणम्—पञ्चतन्त्रादि।

विमर्श—'कथा' गद्यकाव्य का एक प्रकार विशेष है। 'कथा' में विकट बन्धप्राचुर्य तो होता ही है किन्तु इसका रसबन्ध-वैचित्र्य ही इसे 'काव्य-श्रेणी में स्थापित करने में समर्थ होता है—'कथायां तु विकटबन्धप्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचित्यमनुसर्तव्यम्' (ध्वन्यालोक: ३य उद्योत)।

अनुवाद—'आख्यायिका' भी 'कथा की ही भांति गद्यकाव्य का एक प्रकार है। इसमें भी प्रायः 'कथा' की ही विशेषतायें रहा करती हैं। इसमें कवि अपने वंश का अनुकीर्तन करता है और यत्र-तत्र अन्य कवियों की भी चर्चा किया करता है। इसमें जहां-तहां पद्यसूक्तियां भी रहा करती हैं। इसके कथांशों का व्यवच्छेद (परिच्छेद) 'आश्वास' नाम से निर्दिष्ट किया जाया करता है। इसमें, 'आश्वास' के प्रारम्भ में, आर्या, वक्त्र और अपवक्त्र छन्दों में से किसी एक के द्वारा, किसी विषय-वर्णन के बहाने, वर्णनीय विषय की सूचना भी दी जाया करती है।

इसके उदाहरण रूप में (महाकवि बाण आदि कृत) 'हर्षचरित' आदि आख्यायिका-बन्ध प्रसिद्ध हैं।

कुछ काव्याचार्यों का यह कहना कि 'आख्यायिका' नायक द्वारा कथित आख्यान रूप है' ठीक नहीं है क्योंकि काव्याचार्य दण्डी ने स्पष्ट कहा है कि 'आख्यायिका में नायक द्वारा आख्यान-कथन का कोई नियम नहीं क्योंकि कतिपय आख्यायिकायें ऐसी भी हैं जिनके आख्यान-कथन नायक-भिन्न पात्रों द्वारा भी किये गये पाये जाते हैं।' 'कथा' और 'आख्यायिका' के अतिरिक्त 'आख्यान' आदि को भिन्न प्रकार के गद्यकाव्य मानने की आवश्यकता नहीं क्योंकि इन्हें 'कथा' अथवा 'आख्यायिका' में ही अन्तर्भूत किया जा सकता है। वस्तुतः आचार्य दण्डी का भी यही मत है—'अन्य अनेक आख्यान-जातियां 'कथा' अथवा 'आख्यायिका' में ही अन्तर्भूत हैं।' इन आख्यान-जातियों के उदाहरण-रूप में 'पञ्चतन्त्र' आदि रचनायें देखी जा सकती हैं।

(गद्यपद्यात्मक काव्य-प्रबन्ध : १—चम्पू)

अथ गद्यपद्यमयानि—

गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ॥ ३३६ ॥

यथा—देशराजचरितम् ।

(२—विरुद)

गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते ।

यथा—विरुदमणिमाला ।

(३—करम्भक)

करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम् ॥ ३३७ ॥

यथा मम—षोडशभाषामयी प्रशस्तिरत्नावली ।

(अन्यान्य काव्यप्रकारों का निर्दिष्ट काव्यभेदों में अन्तर्भाव)

एवमन्येऽपि भेदा उद्देशमात्रप्रसिद्धत्वादुक्तभेदानतिक्रमाच्च न पृथग्लक्षिताः ।

इति साहित्यदर्पणे दृश्यश्रव्यकाव्यनिरूपणो नाम षष्ठः परिच्छेदः ।

अनुवाद—गद्यपद्यात्मक काव्यबन्ध—वह काव्यप्रकार जो गद्यपद्यमय हुआ करता है 'चम्पू' कहा जाया करता है ।

इस काव्यप्रकार के उदाहरणरूप में 'देशराजचरित' आदि देखे जा सकते ।

अनुवाद—'विरुद' भी एक गद्य-पद्यमय काव्यप्रबन्ध है जिसमें राज-प्रशस्ति की जाया करती है ।

इसका उदाहरण 'विरुदमणिमाला' है ।

अनुवाद—'करम्भक' वह काव्य-प्रकार है जो विविध भाषाओं में रचा जाया करता है ।

इसका उदाहरण मेरी कृति 'प्रशस्तिरत्नावली' है जिसमें १६ भाषायें प्रयुक्त हैं ।

अनुवाद—इन उपरिनिर्दिष्ट काव्यप्रकारों के अतिरिक्त भी अनेकानेक काव्यप्रकार गिने-गिनाये गये हैं । किन्तु इनका यहाँ पृथक् लक्षण-निरूपण अभिप्रेत नहीं क्योंकि इनके और निर्दिष्ट काव्य-प्रकारों के स्वरूप में कोई भेद नहीं प्रतीत होता ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने जिन काव्य-प्रकारों का स्वरूप-निरूपण किया है उनके अतिरिक्त निम्न काव्य-प्रकारों का नाम निर्देश मिलता है—

'येन केनापि तालेन गद्यपद्यसमन्वितम् । जयेत्युपक्रमं मालिन्यादिप्रासविचित्रितम् ॥
तदुदाहरणं नाम्ना विभक्त्यष्टाङ्गसंयुतम् । संबोधनविभक्त्या यत् प्रचुरं पद्यपूर्वकम् ॥
विमुक्तपुनराकृष्टशब्दः स्याच्चक्रवालकम् । आद्यन्तपद्यसंयुक्ता संस्कृतप्राकृतात्मिका ॥
अष्टभिर्वा चतुर्भिर्वा वाक्यैः स्कन्धसमन्विता । प्रतिस्कन्धं भिन्नवाक्यरीतिर्देवनृपोचिता ॥
सर्वतो देवशब्दादिरेषा भोगावली मता । वर्ण्यनामाङ्कविरुदवर्णनप्रचुरोज्ज्वला ॥
वाक्याडम्बरसंयुक्ता कथिता विरुदावली । ताराणां संख्यया पद्यैर्युक्ता तारावली मता ॥
विश्वेषां संख्यया पद्यैर्युक्ता विश्वावली मता । रत्नानां संख्यया पद्यैर्युक्ता रत्नावली मता ॥
पद्यैश्च पञ्चभिर्युक्ता प्रोक्ता पञ्चाननावली ।

साहित्यदर्पण का छठा परिच्छेद समाप्त

सप्तमः परिच्छेदः

(काव्य के दोष : स्वरूप-निरूपण)

इह हि प्रथमतः काव्ये दोषगुणरीत्यलङ्काराणामवस्थितिक्रमो दर्शितः' संप्रति के त इत्यपेक्षायामुद्देशक्रमप्राप्तानां दोषाणां स्वरूपमाह—

रसापकर्षका दोषाः,—

अस्यार्थः प्रागेव स्फुटीकृतः। तद्विशेषानाह—

(दोष-तत्त्व : प्रकार-निरूपण)

—ते पुनः पञ्चधा मताः।

पदे तदंशे वाक्येऽर्थे संभवन्ति रसेऽपि यत् ॥ १ ॥

स्पष्टम्। तत्र—

अनुवाद—काव्य-लक्षण के प्रसङ्ग में यह बताया जा चुका है कि दोष, गुण, रीति और अलङ्कार की काव्य में कैसी अवस्थिति है। अब यहाँ यह बताना आवश्यक है कि दोष आदि काव्य-तत्त्व क्या हैं ? सर्वप्रथम, जैसा कि इनका निर्देश-क्रम है, दोष-तत्त्व का निरूपण किया जा रहा है—

'दोष' वे हैं जो रस (काव्य के आत्म-तत्त्व) के अपकर्षक हुआ करते हैं।

'दोष'के रसापकर्षक होने का जो अभिप्राय है वह पहले ही (अर्थात् वाक्यं रसात्मकं काव्यं दोषास्तस्यापकर्षकाः' साहित्यदर्पण १-३ आदि में) स्पष्ट कर दिया गया है।

विमर्श—विश्वनाथ कविराज ने काव्य-स्वरूप-निरूपण की अपनी दृष्टि से 'दोष'-तत्त्व का निरूपण किया है। काव्य के 'रसात्मक वाक्य' रूप होने के कारण, काव्य के दोष 'रस के अपकर्षक तत्त्व' ही हो सकते हैं। रस के अपकर्षकारक तत्त्वों में 'साक्षात्' और 'परम्परया' रस के अपकर्ष का स्वभाव मानना युक्तियुक्त ही है। 'साक्षात्' रस के अपकर्ष की ये तीन संभावनायें हैं—(१) रस की प्रतीति का अभाव, (२) रस की विलम्ब से प्रतीति और (३) रसप्रतीति में चमत्कार की मात्रा की न्यूनता। इस दृष्टि से काव्य के परम हेय तत्त्व रसदोष ही सिद्ध होते हैं। 'रस-दोष' की उत्पत्ति कवि की अशक्ति से सम्बद्ध है। कवि की 'अव्युत्पत्ति' भी काव्य के अपकर्ष का कारण है। इस अव्युत्पत्ति' से उन दोषों का संबन्ध है जो परम्परया रस के अपकर्ष-जनक तत्त्व हुआ करते हैं। मानव के शरीर में काणत्व, खञ्जत्व आदि की भांति काव्य के शब्दार्थ-शरीर में श्रुति-कटुत्व, अपुष्टार्थत्व आदि दोष हुआ करते हैं और मानव के मूर्खत्व, अलसत्व आदि की भांति काव्य के वे दोष हैं जिन्हें एक शब्द में 'रस-दोष' कहा गया है।

यहाँ काव्यप्रकाशकार की दोष-मीमांसा साहित्यदर्पणकार के दोष-स्वरूप-विवेक को प्रभावित कर रही है।

अनुवाद—ये रस के अपकर्षकारक दोष पाँच प्रकार के हैं—(क) पदगत दोष, (ख) पदांशगत दोष, (ग) वाक्यगत दोष, (घ) अर्थगत दोष और (ङ) रसगत दोष। इनका स्वरूप इनके नाम से ही स्पष्ट है।

(पद-पदांश-वाक्य-गत दोष-निर्देश)

दुःश्रवत्रिविधाश्लीलानुचितार्थाप्रयुक्तताः ।
ग्राम्याप्रतीतसन्दिग्धनेयार्थनिहतार्थताः ॥ २ ॥
अवाचकत्वं क्लिष्टत्वं विरुद्धमतिकारिता ।
अविमृष्टविधेयांशभावश्च पदवाक्ययोः ॥ ३ ॥
दोषाः केचिद्भवन्त्येषु पदांशेऽपि पदे परे ।
निरर्थकासमर्थत्वे च्युतसंस्कारता तथा ॥ ४ ॥

(पददोष-निरूपण : १–दुःश्रवत्व)

परुषवर्णतया श्रुतिदुःखावहत्वं दुःश्रवत्वम् ।

यथा—

'कार्त्तार्थ्यं यातु तन्वङ्गी कदाऽनङ्गवशंवदा ।'

(२—अश्लीलत्व : त्रिविध)

अश्लीलत्वं व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकत्वात्त्रिविधम् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

अनुवाद—पदगत दोष ये हैं—(१) दुःश्रवत्व (श्रुतिकटुत्व), (२) त्रिविध अश्लीलत्व, (३) अनुचितार्थत्व, (४) अप्रयुक्तत्व, (५) ग्राम्यत्व, (६) अप्रतीतत्व, (७) संदिग्धत्व, (८) नेयार्थत्व, (९) निहतार्थत्व, (१०) अवाचकत्व, (११) क्लिष्टत्व, (१२) विरुद्धमतिकारित्व, (१३) अविमृष्टविधेयांशत्व, (१४) निरर्थकत्व, (१५) असमर्थत्व और (१६) च्युतसंस्कारत्व। इनमें 'निरर्थकत्व' 'असमर्थत्व' और 'च्युतसंस्कारत्व' तो केवल पदगत दोष हैं किन्तु अन्य वाक्यगत भी हैं। साथ ही साथ इन्हीं में कतिपय जैसे कि 'दुःश्रवत्व' आदि ऐसे हैं जो 'पदांशगत' भी हुआ करते हैं।

अनुवाद—'दुःश्रवत्व' पद अथवा पदांश की वह परुषवर्णता है जो काव्य—पाठक के कानों को दुःखित किया करती है। जैसे कि इस पंक्ति अर्थात्—

'अनङ्गवशंवदा (कामोन्माद के वशीभूत) यह तन्वङ्गी (सुन्दरी) कब (अपने प्रियतम के मिलन सुख से) 'कार्तार्थ्य (प्रेम की कृतार्थता) पायेगी ?'

[यहाँ यह स्पष्ट है कि 'कार्तार्थ्य' पद की कर्कश वर्णध्वनियाँ कानों के पर्दे छेद डालती हैं जिससे 'अनङ्गवशंवदा तन्वङ्गी' का विप्रलम्भ काव्य-पाठक के हृदय तक नहीं पहुँच पाता]

विमर्श—'दुःश्रवत्व' का ही दूसरा नाम 'कष्टत्व' है। पद के कष्टकर श्रवण से सामाजिक का चित्त उद्विग्न हो उठता है और अर्थ-परामर्श के प्रति उन्मुख नहीं होना चाहता। पद की दुःश्रवता से निम्न पंक्तियां अत्यन्त नीरस लग रही हैं—

'वर्वर्ष्टि जलदो यत्र यत्र दर्धर्ष्टि चातकः।
पोफुल्लित नीपः कालोऽयं चर्कर्ति हृदयं मम ॥'

अनुवाद—'अश्लीलत्व' वह दोष है जो कि पद अथवा पदांश में व्रीडा (लज्जा), जुगुप्सा (घृणा) और अमङ्गल के अभिप्राय के अभिव्यञ्जन के कारण त्रिविध रूप से देखा जाया करता है।

इसके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

(व्रीडाभिव्यञ्जनरूप अश्लीलत्व)

'दृप्तारिविजये राजन् ! साधनं सुमहत्तव ।'

(जुगुप्सा और अमङ्गल के अभिव्यञ्जन में अश्लीलत्व)

'प्रससार शनैर्वायुर्विनाशे तन्वि ! ते तदा ।'

अत्र साधन-वायु-विनाश-शब्दा अश्लीलाः ।

(३—अनुचितार्थत्व)

'शूरा अमरतां यान्ति पशुभूता रणाध्वरे ।'

अत्र पशुत्वं कातर्यमभिव्यनक्तीत्यनुचितार्थत्वम् ।

(४—अप्रयुक्तत्व)

अप्रयुक्तत्वं तथा प्रसिद्धावपि कविभिरनादृतत्वम् ।

'राजन् ! दर्प में चूर शत्रुगण पर विजय पाने के लिये आप का 'साधन' (सैन्यबल) महान् है।'

'अरी सुन्दरी ! तेरे 'विनाश' (अदर्शन) के समय ऐसा हुआ कि 'वायु' धीरे-धीरे निकल पड़ी।'

यहाँ 'साधन' पद (यद्यपि सैन्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है किन्तु) 'लिङ्ग' के लज्जास्पद अभिप्राय का अभिव्यञ्जन करने के कारण अश्लील है; 'वायु' पद (यद्यपि पवन के अर्थ में प्रयुक्त है किन्तु) 'अपानवायु' के घृणास्पद अभिप्राय के अभिव्यञ्जन से अश्लील है और 'विनाश' पद (भले ही इसे 'न देखने' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया हो) 'मृत्यु' के अमङ्गलास्पद अभिप्राय का अभिव्यञ्जक होने के कारण अश्लील लग रहा है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाश' में उद्धृत अश्लील सूक्तियों के उद्धरण के बदले उन सूक्तियों के अश्लील पदों को लेकर अपने श्लोक बनाये हैं और व्रीडा, जुगुप्सा किं वा अमङ्गल के अभिव्यञ्जक त्रिविध 'अश्लीलत्व' के उदाहरण दिये हैं। 'दृप्तारिविजये' आदि में 'साधन' पद वस्तुतः व्रीडाभिव्यञ्जक है क्योंकि इससे वर्ण्य भूपाल का उत्साह युद्धविषयक उत्साह के रूप में प्रकाशित होने के बदले कामलम्पटता के उत्साह के रूप में प्रकाशित होने लगता है। इसी भांति 'प्रससार' आदि में 'वायु' और 'विनाश' पद 'जुगुप्सा' और 'अमङ्गल' के अभिव्यञ्जक हैं क्योंकि इनके द्वारा यहाँ नायक-हृदय में नायिका के विरह से वासन्तिक वायु के प्रेमोद्दीपन का अभिप्राय नहीं प्रकाशित होता अपि तु नायक की लम्पटता का ही अभिप्राय अभिव्यक्त होता है।

अनुवाद—'अनुचितार्थत्व' पद का वह दोष है जिसके द्वारा ऐसे अर्थ का अभिव्यञ्जन हुआ करता है जिससे वर्ण्य विषय में अनौचित्य प्रतीत होने लगता है। जैसे कि—'वे शूर-वीर जो संग्रामयज्ञ के पशु (भैंसे और बकरे) हैं, वस्तुतः अमर हो जाते हैं' आदि में 'पशु' पद में 'अनुचितार्थत्व' स्पष्ट है क्योंकि इसके द्वारा यहाँ शूर-वीरों की विवशता और दयनीयता का अभिप्राय प्रकाशित किया जा रहा है जो कि वर्ण्य विषय के लिये सर्वथा अनुचित है।

['अनुचितार्थत्व' उस कवि के पद-प्रयोग में सम्भव है जो अव्युत्पन्न हो। व्युत्पत्ति से ही उचितानुचितत्व का परिज्ञान संभव है।]

अनुवाद—'अप्रयुक्तत्व' वह दोष है जिसे किसी पद की, कोष आदि में उस रूप से प्रसिद्धि होने पर भी कवि-सम्प्रदाय में अप्रयुक्ति कहा गया है। जैसे कि—

यथा—

'भाति पद्मः सरोवरे ॥'

अत्र पद्मशब्दः पुंल्लिङ्गः ।

(५—ग्राम्यत्व)

ग्राम्यत्वं यथा—

'कटिस्ते हरते मनः ॥'

अत्र कटिशब्दो ग्राम्यः ।

(६—अप्रतीतत्व)

अप्रतीतत्वमेकदेशमात्रप्रसिद्धत्वम् ।

यथा—

'योगेन दलिताशयः ॥'

अत्र योगशास्त्र एव वासनार्थ आशयशब्दः ।

'सरोवर में पद्म (पद्मः-पुंल्लिङ्ग) सुशोभित हो रहा है ।' आदि में पुंल्लिग 'पद्म' शब्द में 'अप्रयुक्तत्व' स्पष्ट है क्योंकि,कोषादि में तो 'पद्म' शब्द पुंल्लिङ्ग रूप में प्रसिद्ध है किन्तु कविसम्प्रदाय में 'पद्म' शब्द सदा नपुंसकलिंग में ही प्रयुक्त हुआ करता है ।

['अप्रयुक्तत्व' दोष उसी कवि की रचना में रह सकता है जिसमें 'व्युत्पत्ति' का अभाव हो । 'व्युत्पत्ति' केवल शब्दानुशासन में प्रवीणता नहीं, अपितु काव्यानुशासन में विदग्धता भी है । 'अप्रयुक्तत्व' दोष से वही कवि बच सकता है जिसने काव्य-साहित्य का अध्ययन और अनुशीलन किया हो ।]

अनुवाद—'ग्राम्यत्व' वह दोष है जिसे पदों का गँवाँरूपन कहा जाया करता है । जैसे कि—'तेरी 'कटि' (कमर) तो मेरा चित्त चुरा रही है ।'
आदि में 'कटि' पद ग्राम्य है क्योंकि इसे गँवाँर लोग ही प्रयोग में लाया करते हैं । इसके प्रयोग से यहाँ कवि का गँवाँरूपन झलकता है ।

विमर्श—पदों के प्रयोग में ग्रामीणता और विदग्धता अथवा असभ्यता और सभ्यता की छान-बीन से 'ग्राम्य' दोष की कल्पना हुई है । विदग्ध अथवा सभ्य कवि 'नितम्ब' पद का प्रयोग करता है । यद्यपि 'कटि' और 'नितम्ब' का अर्थ एक ही है किन्तु विदग्ध-गोष्ठी में 'नितम्ब' पद का प्रयोग हुआ करता है न कि 'कटि' का । 'नितम्ब' पद के साथ जो विदग्ध भावनायें जुड़ी हैं उनका 'कटि' पद से कोई संपर्क नहीं । 'कटि' पद के प्रयोग से शृंगारभाव की उद्दीप्ति में ग्रामीणता अथवा असभ्यता की भी गन्ध आ जाती है । इसलिए आलङ्कारिकों ने ऐसे पदों को ग्राम्य कहा है ।

अनुवाद—'अप्रतीतत्व' वह दोष है जिसे पद की एकदेशिता अथवा एकशास्त्रमात्र में प्रसिद्ध कहा गया है ।

जैसे कि—'योग (चित्तवृत्तिनिरोध) से विनष्ट आशय (वासना) वाला (मोक्ष प्राप्त करता है)' आदि में । यहाँ 'आशय' पद ऐसा है जो एकमात्र योगदर्शन में ही 'वासना' के अर्थ में प्रसिद्ध है (न कि लोक अथवा काव्य में) ।

विमर्श—कविजन के लिए प्रतीत पदों का प्रयोग अपेक्षित है न कि अप्रतीत पदों का । भिन्न-भिन्न शास्त्रों के पदों के प्रयोग से कवि का पाण्डित्य-प्रदर्शन भले ही हो जाय, काव्य-निर्माण नहीं हो सकता ।

(७—संदिग्धत्व)

'आशीःपरम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु।'

अत्र वन्द्यामिति किं वन्दीभूतायामुत वन्दनीयामिति संदेहः।

(८—नेयार्थत्व)

नेयार्थत्वं रूढिप्रयोजनाभावादशक्तिकृतं लक्ष्यार्थप्रकाशनम्।

यथा—

'कमले चरणाघातं मुखं सुमुखि ! तेऽकरोत्।'

अत्र चरणाघातेन निर्जितत्वं लक्ष्यम्।

अनुवाद—'संदिग्धत्व' वह दोष है जिसे किसी पद के द्वारा संदेहात्मक अर्थ का उपस्थापन कहा गया है। जैसे कि—

'महाराज ! आप प्रशंसा से भरी (वन्द्यां) आशीर्वाद-परम्परा सुनें और कृपा करें।'

यहां 'वन्द्याम्' पद में 'संदिग्धत्व' स्पष्ट दिखायी दे रहा है क्योंकि यहां यह संदेह उत्पन्न हो जाता है कि इससे 'प्रशंसापूर्ण' का अर्थ लिया जाय या 'बन्दी बनायी गयी नारी' का।

विमर्श—'वन्द्याम्' प्रयोग ऐसा है जो 'वन्द्या' (वन्दनीया) शब्द की द्वितीया के एकवचन का रूप हैं और 'वन्दी' शब्द की सप्तमी के भी एक वचन का रूप है। दोनों का भिन्न भिन्न अर्थ है। ऐसे पद के प्रयोग में सहृदय काव्य-पाठक उद्विग्न हो उठता है क्योंकि उसे कवि का तात्पर्य निस्संदिग्ध नहीं प्रतीत हुआ करता। जब तक कवि का तात्पर्य निःसंदिग्ध न प्रतीत हो तब तक काव्य का आस्वाद क्यों कर मिले ?

अनुवाद—'नेयार्थत्व' वह दोष है जिसे किसी पद के द्वारा ऐसे लक्ष्यार्थ का प्रकाशन कहा गया है जिसमें न तो कोई रूढि हो और न प्रयोजन और जिसका कारण एकमात्र प्रयोक्ता की अशक्ति अर्थात् अव्युत्पत्ति हो। उदाहरण के लिए—

'अरी सुमुखि ! तेरे मुख ने तो कमल पर चरणाघात [पादप्रहार) कर दिया।'

यहां 'चरणाघात' पद में 'नेयार्थत्व' दोष है क्योंकि इससे 'जीत लेने' का जो लक्ष्यार्थ निकलता है ['चरणाघात' पद का वाच्यार्थ यहां अनुपपन्न है। भला 'मुख' के साथ चरणाघात—लात मारने—की क्रिया का क्या सम्बन्ध !] वह रूढि और प्रयोजन-शून्य ह और वस्तुतः प्रयोक्ता के असामर्थ्य के कारण है।

विमर्श—'नेयार्थ' पद उन पदों को कहा करते हैं जो निषिद्ध लाक्षणिक पद हैं जैसा कि आचार्य कुमारिल ने कहा है—

'निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः॥'

अर्थात् कुछ लाक्षणिक पद तो ऐसे हैं जो प्रयोग-प्रवाह में पड़कर 'वाचक' सरीखे बन गये हैं जैसे कि 'कुशल' आदि पद। कुछ पद ऐसे हैं जो प्रयोजनवश, यथासमय और यथासंभव लाक्षणिक बन जाया करते हैं जैसे कि 'गङ्गायां घोषः' आदि में 'गङ्गा' आदि पद। किन्तु विना रूढि अथवा प्रयोजन के ही जो पद लाक्षणिक मान लिये जाया करते हैं जैसे कि 'रूपो घटः' आदि में, रूपवान् के अर्थ में 'रूप' आदि पद, वे वस्तुतः निषिद्ध लाक्षणिक पद हैं और प्रयोक्ता की अव्युत्पत्ति के प्रदर्शक हुआ करते हैं।

इस प्रकार निषिद्ध लाक्षणिक पदों के प्रयोग में 'नेयार्थत्व' का दोष स्वाभाविक ही है।

(९—निहतार्थत्व)

निहतार्थत्वमुभयार्थस्य शब्दस्याप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगः ।

यथा—

'यमुनाशम्बरमम्बरं व्यतानीत् ।'

शम्बरशब्दो दैत्ये प्रसिद्धः, इह तु जले निहतार्थः ।

(१०—अवाचकत्व)

यथा—

'गीतेषु कर्णमादत्ते ।'

अत्राङ्पूर्वो दाञ्धातुर्दानार्थेऽवाचकः ।

यथा वा—

'दिनं मे त्वयि संप्राप्ते ध्वान्तच्छन्नाऽपि यामिनी ।'

अत्र दिनमिति प्रकाशमयार्थेऽवाचकम् ।

अनुवाद—'निहतार्थत्व' वह दोष है जिसे किसी उभयार्थक पद का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग कहा गया है। उदाहरण के लिये—

'यमुनाशम्बर (यमुना का जल) आकाश में व्याप्त हो गया।'

यहाँ 'शम्बर' शब्द में 'निहतार्थत्व' स्पष्ट है कि क्योंकि इसे इसके अप्रसिद्ध 'जल' रूप अर्थ में प्रयुक्त किया गया है जो कि इसके प्रसिद्ध दैत्यरूप अर्थ से (जो कि अनायास अविलम्ब प्रतीत हो उठता है) तिरोहित अथवा तिरस्कृत हो रहा है।

विमर्श—पदों के प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध अर्थों का विवेक 'निहतार्थत्व' दोष से बचने का उपाय है। कोशादि से पदों का चयन काव्य-निर्माण के उपयुक्त नहीं क्योंकि कोशादि से यह पता चलना कठिन है कि किसी पद का कौन अर्थ प्रसिद्ध है और कौन अप्रसिद्ध। अर्थ की प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि तो लोक-व्यवहार के परिज्ञान से ही जानी जा सकती है।

अनुवाद—'अवाचकत्व' वह दोष है जिसे किसी पद के द्वारा ऐसे अर्थ के उपस्थापन में देखा जाया करता है जिसमें उसकी वाचकता नहीं रहा करती। जैसे कि—

'वह (गीतेषु कर्णमादत्ते) गीत पर कान दे रहा है'।

यहाँ 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'दाञ्' धातु (आदत्ते) का जो प्रयोग है उसमें 'अवाचकत्व' स्पष्ट है क्योंकि 'आदत्ते' पद लेने के अर्थ का वाचक है न कि 'देने' के अर्थ का। 'देने' के अर्थ की वाचकता से शून्य इस पद के प्रयोग में 'अवाचकत्व' तो होगा ही।

अथवा—

'जब तुम आ गये तब तो अँधेरी रात भी मेरे लिये (दिन) प्रकाशपूर्ण हो गयी।'

यहाँ 'दिन' पद 'प्रकाशपूर्णता' के अर्थ में अवाचक है क्योंकि इसकी वाचकता तो 'सूर्यावच्छिन्न समय' के ही अर्थ में स्वीकृत है न कि प्रकाशमयता के अर्थ में भी।

विमर्श—जब पद विवक्षित अर्थ का उपस्थापन न करे तब वह 'अवाचक' न हो तो क्या हो? 'अवाचक' पद का प्रयोग भी कवि की अव्युत्पत्ति का ही परिणाम है। व्युत्पन्न कवि के पद अवाचक नहीं हुआ करते। 'अवाचक' पद को 'अन्यार्थक' भी कहा करते हैं। 'अवाचक' अथवा 'अन्यार्थक' पद वस्तुतः वह पद है जो कि 'रूढिच्युत' हुआ करता है अर्थात् ऐसे अर्थ में प्रयुक्त हुआ करता है। जिसमें वह अशक्त है। निम्न उदाहरण से 'अवाचकत्व' का अभिप्राय बहुत स्पष्ट हो जाता है—

(११—क्लिष्टत्व)

क्लिष्टत्वमर्थप्रतीतेर्व्यवहितम् ,

यथा—

'क्षीरोदजावसतिजन्मभुवः प्रसन्नाः ।'

अत्र क्षीरोदजा लक्ष्मीस्तस्या वसतिः पद्मं तस्य जन्मभुवो जलानि ।

[१२—विरुद्धमतिकृत्त्व]

'भूतयेऽस्तु भवानीशः ।'

अत्र भवानीशशब्दो भवान्याः पत्यन्तरप्रतीतिकारित्वाद्विरुद्धमतिकृत् ।

[१३—अविमृष्टविधेयांशत्व]

विधेयस्य विमर्शाभावेन गुणीभूतत्वम् अविमृष्टविधेयांशत्वम् ।

'विभजन्ते न ये भूपमालभन्ते न ते श्रियम् ।
आवहन्ति न ते दुःखं प्रस्मरन्ति न ये प्रियाम् ॥'

यहां 'विभजन' को 'सेवा', 'आलभन' को 'लाभ', आवहन' को 'वहन' अथवा 'धारण' और 'प्रस्मरण' को 'अत्यधिक स्मृति' के अर्थ में लिया गया है किन्तु इन अर्थों में इन पदों की कोई शक्ति नहीं। विभजन की शक्ति 'बांटने', 'आलभन' की शक्ति 'मारने', 'आवहन' की शक्ति करने और 'प्रस्मरण' की शक्ति 'भूलने' के अर्थ में है।

अनुवाद—'क्लिष्टत्व' वह दोष है जिसे किसी पद के द्वारा विवक्षित अर्थ की प्रतीति के व्यवधान अथवा विलम्ब में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'क्षीरोदजावसतिजन्मभूमि (जल) कितने प्रसन्न हैं।'

यहां 'क्षीरोदजावसतिजन्मभू' पद 'क्लिष्टत्व' से दूषित है क्योंकि इसके विवक्षित 'जल' रूप अर्थ की प्रतीति में इतना व्यवधान है कि पहले 'क्षीरोदजा' से 'लक्ष्मी' के अर्थ, फिर 'क्षीरोदजावसति' से 'कमल' के अर्थ और तब 'क्षीरोदजावसतिजन्मभू' से कमल के उत्पत्ति-क्षेत्र 'जल' के अर्थ तक पहुँचते-पहुँचते क्लेश होने लगता है।

विमर्श—बुझौवल बुझाने में तो क्लिष्ट पद के प्रयोग में कोई दोष नहीं किन्तु काव्य-रचना में क्लिष्ट पद रसभाव की प्रतीति को क्लेशमय और क्लेशकर बना देते हैं। जबकि पद से व्यवहित अर्थ की प्रतीति हो तब रस-प्रतीति कहां से हो ?

अनुवाद—'विरुद्धमतिकृत्त्व' अथवा 'विरुद्धमतिकारित्व' वह दोष है जिसे किसी पद से ऐसे अर्थ के उपस्थापन में देखा जाया करता है जो कि प्रकृत अर्थ से विपरीत हुआ करता है। जैसे कि—

'भवानीपति (शङ्कर) सबका कल्याण करें' में। यहां 'भवानीश' पद में 'विरुद्धमतिकृत्त्व' स्पष्ट है क्योंकि यह पद प्रकृत अर्थ के विपरीत अथवा उपमर्दक अर्थ का अवबोध करा रहा है ('भवानी' पद का अर्थ है वह देवी (पार्वती) जिसके पति भव अथवा शङ्कर हैं। 'शङ्कर' को 'भवानीश' कहने से यह अभिप्राय भी अभिव्यक्त हो उठता है कि भवानी के और भी पति होंगे और इस प्रकार यहाँ देवविषयक रतिभाव की अभिव्यञ्जना में अधर्म के आतङ्क का भी अंश अभिव्यक्त हो उठता है जो कि सर्वथा अनुचित है)।

अनुवाद—'अविमृष्टविधेयांशत्व' वह दोष है जिसे वहाँ देखा जाया करता है जहाँ 'विधेय' अथवा प्रधान रूप से परामर्श-योग्य अंश, अप्रधान रूप से निर्दिष्ट किया गया होता है। उदाहरण के लिये, इस सूक्ति अर्थात्—

यथा—

'स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ।

अत्र वृथात्वं विधेयम्, तच्च समासे गुणीभावादनुवाद्यत्वप्रतीतिकृत् ।

यथा वा—

'रक्षांस्यपि पुरः स्थातुमलं रामानुजस्य मे ।'

अत्र रामस्येति वाच्यम् ।

यथा वा—

'आसमुद्रक्षितीशानाम् ।'

अत्रासमुद्रमिति वाच्यम् ।

यथा वा—

'यत्र ते पतति सुभ्रु ! कटाक्षः षष्ठबाण इव पञ्चशरस्य ।'

अत्र षष्ठ इवेत्युत्प्रेक्ष्यम् ।

'स्वर्ग रूपी छोटे से टोले की लूट-खसोट में व्यर्थ के लिये मतवाले बने इन भुजदण्डों से क्या ?' में । यहाँ प्रधानतया परामर्श-योग्य जो अंश है वह (उच्छूनता का) 'वृथात्व' (व्यर्थ होना) है, किन्तु इसे समास में डालकर अप्रधान बना दिया गया है जिससे इसमें 'विधेयता' के बदले 'अनुवाद्यता' (उद्देश्यता) प्रतीत हो उठती है

[यहाँ कवि को कहना है—स्वर्गरूपी छोटे से टोले की लूट-खसोट में इन भुजदण्डों का 'मतवालापन व्यर्थ है', किन्तु कवि कहता है—स्वर्गरूपी छोटे से टोले की लूट-खसोट में व्यर्थ के लिये 'मतवाले बने इन भुजदण्डों का क्या काम ?' यहाँ 'उच्छूनता' (मतवालापन) उद्देश्यरूप से—और 'वृथा' विधेयरूप से रखने योग्य है किन्तु 'वृथोच्छूनैः' पद में, तत्पुरुष समास में पूर्वपद की अपेक्षा उत्तरपद की प्रायः प्रधानता होने से विधेयभूत 'वृथा' पद गौण हो गया है और उद्देश्यभूत 'उच्छून' पद प्रधान बन गया है । इस प्रकार प्रधानतया परामर्श-योग्य अंश अप्रधान रूप से पड़ा प्रतीत हो रहा है । जिससे विवक्षित अभिप्राय की प्रतीति में विघ्न पड़ रहा है ।]

अथवा इस सूक्ति अर्थात्—'मुझ रामानुज के भी सामने राक्षस टिक सकेंगे ?' में । यहां 'रामानुज' इस षष्ठीतत्पुरुष समास वाले पद के बदले 'राम के अनुज (रामस्यानुजः)' इस षष्ठी विभक्त्यन्त पद के प्रयोग में 'विधेय' अर्थात् दुर्दान्तराक्षस-संहारक राम के सम्बन्ध का 'विमर्श' अपेक्षित था क्योंकि तभी लक्ष्मण का वीर्याहङ्कार अधिकाधिक अभिव्यक्त हो सकता था किन्तु ऐसा न होने से अविमृष्टविधेयांशता का दोष लग गया ।

अथवा (महाकवि कालिदास की) इस सूक्ति अर्थात्—'समुद्रपर्यन्त पृथिवी के सम्राटों का' आदि में । यहाँ 'आसमुद्रं क्षितीशानाम्' इस असमस्त पद के प्रयोग से ही कवि का यह विवक्षित अभिप्राय किं 'रघुवंशी राजाओं का आधिपत्य पृथिवी के साथ-साथ समुद्र पर भी था', प्रकाशित हो सकता था किन्तु 'आसमुद्रक्षितीशानाम्' इस समस्त पद के प्रयोग से केवल यही प्रतीत हो पाता है कि 'रघुवंशी राजाओं का अधिकार समुद्रपर्यन्त पृथिवी पर ही था' । इस प्रकार यहाँ विधेय रूप से प्रयोग-योग्य 'आसमुद्रम्' पद को 'क्षितीश' पद के साथ समस्त कर देने से 'विधेयाविमर्श' दोष स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है ।

अथवा इस सूक्ति अर्थात्—'अरी सुन्दरी ! पञ्चशर (काम) के षष्ठ बाण (छठे बाण) की भांति जहाँ भी तेरा कटाक्ष चल पड़ता है' आदि में । यहाँ 'षष्ठबाण इव' पद में 'विधे-

यथा वा—

'अमुक्ता भवता नाथ ! मुहूर्त्तमपि सा पुरा ।'

अत्रामुक्तेत्यत्र 'नञः प्रसज्यप्रतिषेधत्व'मिति विधेयत्वमेवोचितम् ।

(नञ् का 'प्रसज्यप्रतिषेध' रूप अभिप्राय और समासाभाव में इसकी रक्षा)

यदाहुः—

'अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ् ॥'

याविमर्श' स्पष्ट है क्योंकि यहाँ जो कवि का उत्प्रेक्ष्य है वह 'षष्ठत्व' है और यही विधेय है जिसे बाण के साथ समस्त पद बना कर गौण कर दिया गया है। यहां 'षष्ठ इव' का प्रयोग होना चाहिये था जिसमें 'विधेय' का विमर्श स्पष्ट होता और उत्प्रेक्षण का चमत्कार अक्षुण्ण रहता।

अथवा इस सूक्ति अर्थात्—'नाथ ! पहले जो क्षण-भर के लिये भी आपसे अमुक्त रही' आदि में। यहाँ कवि को 'न मुक्ता' पद का प्रयोग करना चाहिये था क्योंकि तभी 'मुक्त करने' (छोड़ने) के विपरीत 'नहीं मुक्त करने' (न छोड़ने) का अभिप्राय जो कि यहाँ 'नञ्' का 'प्रसज्यप्रतिषेध' रूप अभिप्राय है, प्रधान रूप से प्रकाशित हो सकता था। किन्तु समास में पड़ जाने से यह अभिप्राय अप्रधान बन गया है जिससे यहाँ 'विधेयाविमर्श' दोष आ उपस्थित हुआ है।

विमर्श—'अविमृष्टविधेयांशत्व' अथवा 'विधेयाविमर्श' एक ही दोष के दो नाम हैं। 'विधेय' वह है जो प्रधानतया प्रतिपिपादयिषित अथवा प्रतिपादन योग्य अर्थ हुआ करता है। इस 'विधेय' रूप अर्थ का 'अविमर्श' तब होता है जब उसे उपसर्जन अथवा अप्रधान बना दिया जाता है। 'विधेय' के 'अविमर्श' के स्थलों में 'समास' का स्थल सबसे बड़ा है। 'समास' वस्तुतः सामर्थ्य अथवा अर्थों की सङ्गति पर निर्भर है न कि वक्ता अथवा लेखक की इच्छा पर। 'अर्थों की सङ्गति' का अभिप्राय, अर्थों का परस्पर सम्बन्ध' है। 'अमुक्ता' आदि सूक्ति में यह 'सामर्थ्य' विशेषण-विशेष्य-भाव-रूप है। यहाँ जो समास है वह नञ्समास है जिसमें उत्तरपदार्थ प्रधान हुआ करता है। 'अमुक्ता' में उत्तरपदार्थ की प्रधानता से यह स्पष्ट है कि यहा कोई न कोई पदार्थ, वस्तुतः नञ् का अर्थ, अप्रधान है अर्थात् विशेषण है। नञ्समास का विषय 'पर्युदास' का विषय हुआ करता है क्योंकि 'पर्युदास' में ही 'नञ्' विशेषण (अप्रधान) रूप से रहा करता है और सुबन्तरूप उत्तरपद के साथ समस्त हुआ करता है। 'पर्युदास' का शब्दार्थ है 'परि' अर्थात् प्रतिषेध का वर्जन करके (प्रतिषेध को गौण बना कर) किसी दूसरे (प्रतिषेध के प्रतियोगी) का विधान करना (उत्+आस)। नञ् समास का विषय 'प्रसज्यप्रतिषेध' नहीं। 'प्रसज्यप्रतिषेध' पर्युदास का ठीक उलटा है। 'प्रसज्यप्रतिषेधात्मक' 'नञ् में निषेध का अर्थ ही प्रधान रहा करता है इसलिये यहाँ समास निषिद्ध माना जाया करता है।

अनुवाद—'नञ्' की प्रसज्यप्रतिषेधात्मकता क्या है ? इसके सम्बन्ध में यह प्रमाण ध्यान में रखने योग्य है—

'जहाँ विध्यंश की अप्रधानता और प्रतिषेधांश की प्रधानता प्रतीत हुआ करती है और नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ रहा करता है वहाँ 'नञ्' का अभिप्राय 'प्रसज्य-प्रतिषेध' (प्राप्ति के विपरीत निषेध) का अभिप्राय हुआ करता है।' जैसे कि—

यथा—

'नवजलधरः संनद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः।'

उक्तोदाहरणे तु तत्पुरुषसमासे गुणीभावे नञः पर्युदासतया निषेधस्य विधेयतयानवगमः।

यदाहुः—

'प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो, यत्रोत्तरपदेन नञ्।'

तेन—

'जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः।
अगृध्नुराददे सोऽर्थानसक्तः सुखमन्वभूत्॥'

अत्रात्रस्ततादनूद्यात्मगोपनाद्येव विधेयमिति नञः पर्युदासतया गुणीभावो युक्तः।

ननु 'अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः' 'असूर्यंपश्या राजदारा' इत्यादिवत् 'अमुक्ता'

(महाकवि कालिदास की) यह सूक्ति अर्थात्—

'यह तो नवजलधर सन्नद्ध खड़ा है न कि दृप्त निशाचर।'

में यहाँ 'नञ्' को इसलिये समास में नहीं डाला गया है क्योंकि यहाँ प्रधान रूप से निषेध (दृप्त निशाचर के प्रतिषेध) का ही अभिप्राय विवक्षित है।

किन्तु 'अमुक्ता' आदि सूक्ति में 'नञ्' को तत्पुरुष समास में समस्त करके गौण बना दिया गया है जिससे इसका 'प्रसज्यप्रतिषेधात्मक' अभिप्राय न निकल कर 'पर्युदासात्मक अभिप्राय निकल रहा है जिससे निषेध की प्रधानता नहीं प्रतीत हो पाती।

यहाँ 'नञ्' की पर्युदासात्मकता के सम्बन्ध में यह प्रमाण ध्यान देने योग्य है—

'जहाँ विध्यंश प्रधान रूप से और प्रतिषेधांश अप्रधान रूप से प्रतीत हो और 'नञ्' का सम्बन्ध उत्तरपद के साथ हो वहाँ जो 'नञ्' का अभिप्राय हुआ करता है वह पर्युदासात्मक हुआ करता है।' जैसे कि—

(महाकवि कालिदास के रघुवंश की) यह सूक्ति अर्थात्—

'महाराज दिलीप निर्भीक होकर अपने शरीर की रक्षा करते रहे; नीरोग रहते हुये धर्म का पालन करते रहे, अलोलुप होकर अर्थ-संग्रह करते रहे और अनासक्त रहते हुये सुखभोग करते रहे।'

यहाँ 'अत्रस्त' आदि में 'नञ्' को समास में डाल दिया गया है जो कि उचित ही है क्योंकि यहाँ 'अत्रस्त (निर्भीक) रहते हुये' आदि उद्देश्य हैं न कि विधेय। यहां जो विधेय है वह तो 'आत्मरक्षण' आदि है। इस प्रकार यहाँ 'नञ्' का अभिप्राय 'पर्युदास' रूप है (न कि प्रसज्यप्रतिषेधरूप) और इसलिये इसका तत्पुरुष समास में अप्रधान हो जाना खटकता नहीं अपितु सर्वथा समीचीन लगता है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है—जैसे 'अश्राद्धभोजी ब्राह्मण' अथवा 'असूर्यंपश्या राजदारा' इत्यादि प्रसङ्गों में, नञ् के समास में पड़ जाने पर भी, 'नञ्' का अभिप्राय 'प्रसज्य-प्रतिषेध' रूप लिया जा सकता है (क्योंकि ब्राह्मण के 'अश्राद्धभोजी' कहे जाने से उसमें श्राद्धभोजन का अभाव और राजदारा के 'असूर्यंपश्या' कहे जाने से उसमें सूर्यदर्शन का अभाव ही प्रतीत होता है) वैसे ही 'अमुक्ता' आदि पूर्वोद्धृतप्रसङ्ग में, समास में पड़े

इत्यत्रापि प्रसज्यप्रतिषेधो भवतीति चेद् ? न, अत्रापि यदि भोजनादिरूप-क्रियांशेन नञः सम्बन्धः स्यात्तदैव तत्र प्रसज्यप्रतिषेधत्वं वक्तुं शक्यम्, न च तथा; विशेष्यतया प्रधानेन तद्भोज्यार्थेन कर्त्रंशेनैव नञः सम्बन्धात् ।

यदाहुः—

'श्राद्धभोजनशीलो हि यतः कर्ता प्रतीयते ।
न तद्भोजनमात्रं तु कर्तरीनेर्विधानतः ॥' इति ।

'अमुक्ता' इत्यत्र तु क्रिययैव सह संबन्ध इति दोष एव ।

'नञ्' का अभिप्राय प्रसज्यप्रतिषेधात्मक (मोचन का अभावरूप) क्योंकर न लिया जाय ? किन्तु इसका समाधान यह है—'अश्राद्धभोजी ब्राह्मण' आदि प्रसङ्गों में भी 'नञ्' का अभिप्राय प्रसज्यप्रतिषेधरूप नहीं अपितु वस्तुतः पर्युदासरूप ही है। यहाँ 'नञ्' का अभिप्राय तब कहीं प्रसज्यप्रतिषेधरूप हो सकता जब कि इसका सम्बन्ध 'भोजन' (और दर्शन) आदि रूप क्रिया-भाग के साथ जुड़ पाता। किन्तु यहाँ तो 'नञ्' का सम्बन्ध (विशेषणभूत भोजन-क्रिया अथवा दर्शन क्रिया के साथ नहीं अपितु) विशेष्य-भूत और इसलिये प्रधान रूप से अवस्थित कर्तृरूप अंश के साथ जुड़ा है। तभी तो कहा गया है—

'श्राद्धभोजी' पद में जो ('सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इस सूत्र से) 'इनि' प्रत्यय है वह कर्ता के अर्थ में है और इसलिये इसका अभिप्राय 'श्राद्धभोजनशील' हुआ करता है न कि श्राद्धभोजन मात्र (इससे यह स्पष्ट है कि 'अश्राद्धभोजी' पद में 'नञ' का सम्बन्ध क्रियांश के साथ नहीं अपि तु कर्त्रंश-प्रत्ययार्थ-के साथ है और 'नञ्' का अर्थ पर्युदा-सात्मक है ।)

इस नञ्विमर्श का निष्कर्ष यही निकला कि 'अमुक्ता' आदि में विधेयाविमर्श दोष तदवस्थ ही रहा क्योंकि यहाँ प्रसज्यप्रतिषेधार्थक 'नञ्' का सम्बन्ध क्रिया के साथ है और इसलिये इसे समास में डाल कर अप्रधान नहीं बनाया जा सकता ।

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार का यह विचार-विमर्श 'व्यक्तिविवेक'कार आचार्य महिम भट्ट की इन पंक्तियों का अनुसरण कर रहा है—

'नन्वश्राद्धभोजीत्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि यथा समास इष्यते तद्वदिहापि भविष्यति । ......नैवं शक्यम्, यतो न तावदत्र नञः श्राद्धेनोत्तरपदार्थेनाभिसम्बन्धः कश्चित् प्रतीयते, अपि तु विशेष्यतया प्राधान्येन तद्भोज्यर्थेनैव । तत्रापि कर्त्रंश एव प्रधानं न क्रियांशः । श्राद्धभोजनशीलो ह्यतः कर्ता प्रतीयते न तद्भोजनमात्रं कर्त्तरि णिनेर्विधानात् । ततस्तदभिसम्बन्ध एव शाब्दो न क्रियाभिसम्बन्धः । सा हि सामर्थ्यादवसीयते, तदुपादानमन्तरेण कर्तृत्वानुपपत्तेः । तच्छ्रवणमात्रविप्रलम्भकृतश्चायं प्रसज्यप्रतिषेधभ्रमः, न पुनराञ्जस्येन तत्र तद्रूपता नाम काचित् संभवति। सा हि वाक्यादेवावसीयते न वृत्तेः, तयोः सिद्धसाध्यार्थनिष्ठतया भिन्नार्थत्वादिति भवितव्यमेव तत्र समासेन । एवमसूर्यम्पश्यादिष्वपि द्रष्टव्यम् । इह तु प्रतिषेधस्य प्राधान्यविवक्षा न विधेः, ततः कोऽवकाशः समासस्य ।'

(व्यक्तिविवेक : २य विमर्श)

अर्थात् जैसे 'अश्राद्धभोजी' (न श्राद्धं भुंक्ते इत्यश्राद्धभोजी) आदि प्रसङ्गों में, समास में अप्रधानतया अवस्थित भी 'नञ्', अभावबोधक होने के कारण, प्रसज्यप्रतिषेधरूप ही माना जाया करता है वैसे ही 'अमुक्ता' आदि में भी समास में उपसर्जनीभूत नञ् को 'प्रसज्य-

(क्लिष्टत्व-विरुद्धमतिकारित्व और अविमृष्टविधेयांशत्व की पदगतता की व्यवस्था)

एते च क्लिष्टत्वादयः समासगता एव पददोषाः ।

(वाक्यगत दोष-निरूपण : १ दुःश्रवत्व)

वाक्ये दुःश्रवत्वं यथा—

'स्मरार्त्त्यन्धः कदा लप्स्ये कार्त्तार्थ्यं विरहे तव ॥'

(२ अश्लीलत्व)

कृतप्रवृत्तिरन्यार्थे कविर्वान्तं समश्नुते ॥

अत्र जुगुप्साव्यञ्जिकाश्लीलता ।

(३—नेयार्थत्व)

'उद्यत्कमललौहित्यैर्वक्त्राभिर्भूषिता तनुः ॥'

प्रतिषेध' हीं क्योंकर न माना जाय और 'अविमृष्टविधेयांशत्व' की संभावना न की जाय ? किन्तु यहां बात वस्तुतः यह है कि 'अश्राद्धभोजी' आदि प्रसङ्गों में नञ् प्रसज्यप्रतिषेधात्मक नहीं अपितु पर्युदासात्मक ही है । क्योंकि 'अश्राद्धभोजी (श्राद्धं भोक्तुं शीलमस्येति श्राद्धभोजी न श्राद्धभोजी अश्राद्धभोजी कश्चित् ब्राह्मणः) में यदि नञ् समास की उपपत्ति देखी जाय तो यही पता चलेगा कि यहां 'नञ्' का सम्बन्ध प्रधानभूत कर्तृरूप अंश के साथ है न कि अप्रधानरूप से अवस्थित क्रिया-रूप अंश के साथ । अब जब कि 'नञ्' का सम्बन्ध क्रियारूप अंश के साथ नहीं तब इसे पर्युदास रूप माना जायगा न कि प्रसज्यप्रतिषेधरूप ।

अनुवाद—क्लिष्टत्व आदि (अर्थात् विरुद्धमतिकारित्व तथा अविमृष्टविधेयांशत्व) दोष ऐसे हैं जो समास में ही पददोष कहे जा सकते हैं (क्योंकि समास के अभाव में ये वाक्यदोष हैं)

अनुवाद—'दुःश्रवत्व' दोष वाक्य का भी दोष है। जैसे कि—'तेरे विरह में स्मरार्त्ति (कामपीड़ा) से अन्धे मुझे कब कार्तार्थ्य (कृतार्थता) की प्राप्ति होगी' आदि में।

[यहाँ यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त वाक्य की कर्णकठोरता से सहृदय का हृदय उद्विग्न हो उठता है और विरही प्रेमी की प्रेमीभावना का स्पर्श भी नहीं करना चाहता ।]

अनुवाद—'अश्लीलत्व' भी वाक्यगत दोष के रूप में दिखायी दिया करता हैं। जैसे कि—'वह कवि जो दूसरे के शब्द और अर्थ अपनाया करता है वस्तुतः वान्त (वमन) भोजन किया करता है।' आदि में। यहाँ वाक्यगत 'अश्लीलत्व' स्पष्ट है क्योंकि 'वान्तं समश्नुते' आदि वाक्य एक घृणास्पद अभिप्राय का प्रकाशन करता हैं।

विमर्श—साहित्यदर्पण की 'विमला' और 'लक्ष्मी' टीका में, यहाँ वाक्यदोष की सिद्धि के लिये, 'प्रवृत्ति' पद से पुरीषोत्सर्ग का घृणास्पद अभिप्राय लिया गया है किन्तु 'प्रवृत्ति पद का 'पुरीषोत्सर्ग' अर्थ यहां संगत नहीं। यहाँ 'वान्तं समश्नुते' यह पदद्वयात्मक वाक्य अश्लील है क्यों कि इसीसे घृणा का अभिप्राय अभिव्यक्त हो जाता है।

अनुवाद—वाक्यगत 'नेयार्थत्व' इस दृष्टान्त से समझा जा सकता है—

'वक्त्राभिः—सुन्दरिओं ने 'उद्यत्कमललौहित्यैः'—चमकीले पद्मराग मणियों से (कमल=पद्म+लौहित्यैः=रागैः=पद्मरागमणिभिः) अपने-अपने शरीर अल-ङ्कृत किये।'

अत्र कमललौहित्यं पद्मरागः, वक्राभिर्वामाभिः, इति नेयार्थता।

(४—क्लिष्टत्व)

'धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाक्ष्याः।
रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम्॥'

अत्र धम्मिल्लस्य शोभां प्रेक्ष्य कस्य मानसं न रज्यतीति संबन्धः क्लिष्टः।

(५—अविमृष्टविधेयांशत्व)

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इति।

अत्र चायमेव न्यक्कार इति न्यक्कारस्य विधेयत्वं विवक्षितम्। तच्च शब्दरचनावैपरीत्येन गुणीभूतम्। रचना च पदद्वयस्य विपरीतेति वाक्यदोषः।

(अविमृष्टविधेयांशत्व (विधेयाविमर्श) की अन्यान्य सम्भावनाएँ)

'आनन्दयति ते नेत्रे योऽसौ सुभ्रु! समागतः।'

इत्यादिषु 'यत्तदोर्नित्यसंबन्धः' इति न्यायादुपक्रान्तस्य यच्छब्दस्य निरा-

---

यहाँ (विना रूढि अथवा प्रयोजन के) 'कमललौहित्य' पद से 'पद्मरागमणि' और 'वक्रा पद से वामा अथवा सुन्दरियों का लक्ष्यार्थ प्रतिपादित किया गया है। इसलिये यहाँ वाक्यगत 'नेयार्थत्व' स्पष्ट दिखायी दे रहा है।

अनुवाद—वाक्यगत 'क्लिष्टत्व' जैसे कि—

'कुरङ्गशावाक्ष्याः'—इस मृगनयनी की, 'अपूर्वबन्धव्युत्पत्तेः'–अद्भुत विन्यासवाली, 'धम्मिल्लस्य'–बँधी चोटी की, 'शोभाम्'–सुन्दरता को, निकामं प्रेक्ष्य–देख कर, कस्य मानसं न रज्यति' कौन है जिसका मन मोहित नहीं हो जाता?'

यहाँ वाक्यगत 'क्लिष्टत्व' स्पष्ट है क्योंकि 'धम्मिलस्य शोभां प्रेक्ष्य कस्य मानसं न रज्यति' (चोटी की सुन्दरता देख किसका मन मुग्ध नहीं हो जाता) आदि पद अपने परस्पर अन्वय में महाक्लेश उठाते दिखायी दे रहे हैं।

विमर्श—यहाँ किसी सुन्दरी के केशपाश का रत्युद्बोधक सौन्दर्य-वर्णन विवक्षित अवश्य है किन्तु सहृदय काव्य पाठक का हृदय इससे मुग्ध होने के बदले उद्विग्न हो उठता है क्योंकि उसे कवि-प्रयुक्त पदों के परस्पर सम्बन्ध-ज्ञान में क्लेश उठाना पड़ता है। क्लेश में 'रस' कहाँ?

अनुवाद—वाक्यगत 'अविमृष्टविधेयांशत्व', जैसे कि—

'अपमान तो यह है मेरे भी शत्रु हो गये' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति। यहां कवि को कहना है—'यही मेरा अपमान है······आदि, जिसमें यह स्पष्ट है कि 'अपमान' (न्यक्कार) विधेय रूप से विवक्षित है। किन्तु यहां शब्द-योजना ऐसी उलटी-पलटी कर दी गयी जिसमें विधेयवाचक 'न्यक्कार' पद (उद्देश्यवाचक 'अयम्' पद के पहले प्रयुक्त कर दिये जाने से) अप्रधान बन गया है। इस प्रकार यहां जो 'अविमृष्टविधेयांशत्व' है वह वाक्यदोष के रूप में दिखायी दे रहा है क्योंकि यहाँ दो पदों (वाक्य) की रचना में उलटफेर है।

अनुवाद—ऐसे वाक्यों में भी 'अविमृष्टविधेयांशत्व ही है—

'अरी सुन्दरी! वह जो तेरे नेत्रों को आनन्दित किया करता है, आया हुआ है।'

यहाँ 'अविमृष्टविधेयांशत्व' इस प्रकार है—शब्द-शास्त्र का यह सामान्य नियम है कि 'यत्' (जो) और 'तत्' (वह) पद नियमतः संबद्ध रहा करते हैं (क्योंकि ये दोनों परस्पर सापेक्ष और साकांक्ष पद हैं)। जब 'यत्' पद उद्देश्य रूप से प्रस्तुत हो तो

काङ्क्षत्वप्रतिपत्तये तच्छब्दसमानार्थतया प्रतिपाद्यमाना इदमेतददःशब्दा विधेया एव भवितुं युक्ताः। अत्र, तु यच्छब्दनिकटस्थतया अनुवाद्यत्वप्रतीतिकृत्।

तच्छब्दस्यापि यच्छब्दनिकटस्थितस्य प्रसिद्धपरामर्शित्वमात्रम्।

यथा—

'यः स ते नयनानन्दकरः सुभ्रु! स आगतः।'

यच्छब्दव्यवधानेन स्थितास्तु निराकाङ्क्षत्वमवगमयन्ति।

यथा—

'आनन्दयति ते नेत्रे योऽधुनाऽसौ समागतः।'

एवमिदमादिशब्दोपादानेऽपि। यत्र च यत्तदोरेकस्यार्थत्वं संभवति, तत्रैकस्योपादानेऽपि निराकाङ्क्षत्वप्रतीतिरिति न क्षतिः। तथाहि यच्छब्दस्योत्तरवाक्यगतत्वेनोपादाने सामर्थ्यात् पूर्ववाक्ये तच्छब्दस्यार्थत्वम्।

यथा—

'आत्मा जानाति यत्पापम्।'

उसकी अपेक्षा की पूर्ति के लिये 'तत्' पद के समानार्थक 'इदम्' 'एतत्' तथा 'अदस्' पदों में से कोई भी व्यवहृत हो सकता है। किन्तु जो भी व्यवहृत हो उसे विधेय रूप से ही व्यवहृत होना चाहिए। अब यहां 'आनन्दयति ते नेत्रे योऽसौ सुभ्रु समागतः' आदि में जो 'यत्' (यः) पद उद्देश्य रूप से प्रयुक्त है उसके लिये 'अदस्' (असौ) पद विधेय सा नहीं अपितु उद्देश्य सा ही लग रहा है क्योंकि 'यत्' के साथ इसके सान्निध्य से केवल यही पता चलता है कि यह जिसका निर्देश कर रहा है वह एक प्रसिद्ध वस्तु है। 'अदस्' शब्द ही क्यों यदि 'तत्' शब्द भी 'यत् के अत्यन्त संनिहित हो, तो वह भी 'यत्' पदार्थ की प्रसिद्धि का ही बोधक मात्र रह जाता है। जैसे कि यदि कहा जाय—

'अरी सुन्दरी! वह जो तेरे नेत्रों का आनन्ददायक है, आया हुआ है'।

तो, यहाँ 'यत्' (यः) पद का सन्निकटवर्ती 'तत्' (सः) पद भी (विधेय नहीं बन रहा—अपि तु) 'यत्' पदार्थ की प्रसिद्धि का ही अवबोध करा रहा है। अभिप्राय यह है कि यदि 'तत् आदि पद 'यत्' पद से कुछ दूर रहा करें तभी वे 'यत्' पद की अपेक्षापूर्ति कर सकते हैं (और विधेय रूप में देखे जा सकते हैं) जैसे कि—

'जो तेरे नेत्रों को आनन्दित किया करता है वह अभी आया हुआ है।' आदि वाक्य में। वस्तुतः यही बात वहां भी लागू होती है जहाँ 'इदम्' आदि पद ('यत्' पद से कुछ हट कर) प्रयुक्त हुआ करते हैं।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है और वह यह है कि यदि कहीं 'यत्'और 'तत्' पदों में से कोई एक पद अप्रयुक्त होने पर भी अर्थ-सामर्थ्य से प्रतीत हो तो वहां किसी एक के प्रयोग में भी दूसरे की अपेक्षा-पूर्ति हो जाती है और (उद्देश्य-विधेय भाव में) किसी प्रकार की कोई त्रुटि नहीं दिखायी देती। जैसे कि यदि बाद के वाक्य में (उद्देश्यबोधक) 'यत्' पद प्रयुक्त हो रहा हो तो पहले वाक्य में, (विधेयबोधक) 'तत्' पद के प्रयोग के विना भी, उसकी ('तत्' पद की) अर्थतः उपस्थिति हो जायगी। उदाहरण के लिये—

'जो पाप है [उसे] अन्तःकरण स्वयं जान लेता है।'

एवम्—

'यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधींश्च—'

इत्यादावपि।

तच्छब्दस्य प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थत्वे यच्छब्दस्यार्थत्वम्।

क्रमेण यथा—

(१—प्रक्रान्तवाचक 'तत्' के प्रयोग में)

'स हत्वा वालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते।
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत्॥'

(२—प्रसिद्धि-बोधक 'तत्' के प्रयोग में)

'स वः शशिकलामौलिस्तादात्म्यायोपकल्पताम्।'

(३—पूर्वानुभूत पदार्थ के स्मारक रूप 'तत्' के प्रयोग में)

'तामिन्दुसुन्दरमुखीं हृदि चिन्तयामि।'

यत्र च यच्छब्दनिकटस्थितानामपीदमादिशब्दानां भिन्नलिङ्गविभक्तित्वं तत्रापि निराकाङ्क्षत्वमेव।

इसी भाँति ऐसे प्रसङ्गों जैसे कि—

'दोहन कर्म में दक्ष मेरु पर्वत के दोग्धा रहने पर भी पर्वत-वृन्द ने जिसे वत्स बनाया और वसुन्धरा से महार्घ रत्नों और महौषधियों को दूह लिया, (वही यह हिमालय है)।' आदि में भी (बाद के वाक्य में प्रयुक्त 'यत्' पद की अपेक्षापूर्ति पहले वाक्य—'अस्त्युत्तरस्याम्'—आदि में अप्रयुक्त किन्तु अर्थतः लब्ध 'तत्' पद से स्वभावतः हो रही है जिससे विधेयाविमर्शत्व की आशङ्का दूर हो जाती है)।

प्रयुक्त न होने पर भी 'यत्' शब्द इन तीन परिस्थितियों में अर्थलभ्य रहा करता है—(१) जहाँ 'तत्' शब्द प्रक्रान्त अर्थात् प्रकरणप्राप्त के बोधकरूप से प्रयुक्त हो, (२) जहाँ 'तत्' शब्द प्रसिद्धि के बोधकरूप से व्यवहृत हो और (३) जहाँ 'तत्' शब्द से पूर्वानुभूत पदार्थ का स्मरण करवाया गया हो। जैसे कि क्रमशः—

'उस महावीर (राम) ने वाली को मार कर, बहुत पहले से आकांक्षित, उस (वाली) के स्थान पर, सुग्रीव को उसी प्रकार प्रतिष्ठित कर दिया जिस प्रकार (वैयाकरणों द्वारा) 'धातु' के स्थान पर 'आदेश' की प्रतिष्ठा की जाया करती है।'

[यहाँ प्रयुक्त 'तत्' (सः) पद प्रकरणप्राप्त का बोधक है और इसलिये 'यत्' अर्थतः उपस्थित हो जाता है जिससे उद्देश्य-विधेय-भाव में कोई त्रुटि नहीं आती।]

'वे चन्द्रशेखर भगवान् शिव आप सब को अपना सायुज्य प्रदान करें।'

[यहाँ प्रयुक्त 'तत्' (सः) पद प्रसिद्धिबोधक है और इसलिये 'यत्' पद के प्रयोग की आवश्यकता नहीं। 'यत्' यहाँ अर्थतः उपस्थित है।]

'उस चन्द्रमुखी का ध्यान मैं हृदय में कर रहा हूँ।'

[यहाँ 'तत्' (ताम्) पद पूर्वानुभूत वस्तु का वाचक है और इसलिये इसे 'यत्' शब्द की अपेक्षा नहीं। 'यत्' शब्द यहाँ अर्थसामर्थ्य से ही उपस्थित है।]

यहाँ एक और भी बात है और वह यह है—यदि 'इदम्' आदि शब्द 'यत्' शब्द के

क्रमेण यथा—

'विभाति मृगशावाक्षी येदं भुवनभूषणम् ।'

(भिन्न विभक्ति में, 'यत्' शब्द के सन्निकट 'तत्' शब्द की निराकांक्षता)

'इन्दुर्विभाति यस्तेन दग्धाः पथिकयोषितः ।'

क्वचिदनुपात्तयोर्द्वयोरपि सामर्थ्यादवगमः ।

यथा—

'न मे शमयिता कोऽपि भारस्येत्युर्वि ! मा शुचः ।
नन्दस्य भवने कोऽपि बालोऽस्त्यद्भुतपौरुषः ॥'

अत्र योऽस्ति, स ते भारस्य शमयितेति बुध्यते ।

'यद्यद्विरहदुःखम्मे तत्को वाऽपहरिष्यति ।'

इत्यत्रैको यच्छब्दः साकाङ्क्ष इति न वाच्यम् , तथाहि—यद्यदित्यनेन केन-

---

निकटवर्ती हों किन्तु भिन्न लिङ्ग अथवा भिन्न विभक्ति में हों तो वे निराकांक्ष माने जाया करते हैं (अर्थात् वे 'यत्' शब्द की आकांक्षा के पूरक हो जाया करते हैं)। जैसे कि क्रमशः (भिन्न लिङ्ग में, 'यत्' शब्द के सन्निकट 'इदम्' शब्द की निराकांक्षता)—

'यह मृगनयनी जो कि भुवनभूषण है बड़ी सुन्दर लग रही है ।'

[यहाँ 'या' पद का सन्निकटवर्ती भिन्न लिङ्ग 'इदम्' पद 'या' पद की आकांक्षा की पूर्ति कर देता है ।]

'वह चन्द्रमा, जो कि चमका करता है, विरहिणी रमणियों को संतप्त कर चुका है ।'

[यहाँ 'यत्' (यः) शब्द के सन्निकट भिन्नविभक्ति का 'तत्' (तेन) शब्द 'यत्' शब्द की आकांक्षा का पूरक बन गया है ।]

कहीं ऐसा भी संभव है कि 'यत्' और 'तत्' दोनों व्यवहृत न हों किन्तु अर्थसामर्थ्य से प्रतीत हो जायँ । जैसे कि—

'वसुन्धरे ! इसलिये शोक न कर कि तेरे भार को दूर करनेवाला कोई भी नहीं है, क्योंकि नन्द के घर में एक अद्भुत पौरुष वाला बालक विद्यमान है ।'

यहाँ (उपर्युक्त श्लोक-वाक्य में) यह स्पष्ट पता चल जाता है कि 'जो (अर्थात् बालकृष्ण) है वह तेरे (अत्याचार-) भार को दूर करेगा ।'

ऐसे प्रसङ्ग जैसे कि—

'मुझे विरह का जो-जो दुःख है उसे कौन दूर करेगा ?'

आदि में, ऐसी शङ्का ठीक नहीं कि (दो 'यत्' शब्दों में से) एक 'यत्' शब्द साकांक्ष रह जाता है । क्योंकि यहां बात यह है कि 'यद् यत्' शब्द से (वीप्सा द्वारा) सभी प्रकार के दुःख विवक्षित हैं और एक ही 'तत्' शब्द के द्वारा इन सभी प्रकार के दुःखों का परामर्श हो जाता है ।

विमर्श—विधेयाविमर्श दोष के उपर्युक्त वाक्यगत रूप की समीक्षा पर 'व्यक्तिविवेक'कार का प्रभाव स्पष्ट है । 'व्यक्तिविवेक'कार आचार्य महिमभट्ट का इस सम्बन्ध में यह कथन है—

'यत्र यत्तदोरेकतरनिर्देशेनोपक्रमस्तत्र तत्प्रत्यवमर्शिना तदितरेणोपसंहारो न्याय्यः तयोरप्यनुवाद्यविधेयार्थत्वेनेष्टत्वात् तयोश्च परस्परापेक्षाया नित्यत्वात् । अत एवाहुः—'यत्तदोर्नित्यमभिसम्बन्ध' इति । स चायमनयोरुपक्रमोपसंहारो द्विविधः शाब्दश्चार्थश्चेति । तत्रोभयोरुपादाने सति शाब्दो यथा—

चिद्रूपेण स्थितं सर्वात्मकं वस्तु विवक्षितम्। तथाभूतस्य तस्य तच्छब्देन परामर्शः। एवमन्येषामपि वाक्यगतत्वेनोदाहरणं बोध्यम्।

(पदांश–गत दोष : १–दुःश्रवत्व : स्वरूप तथा निदर्शन)

पदांशे दुःश्रवत्वं यथा—

'तद्गच्छ सिद्धयै कुरु देवकार्यम्।'

(२—निहतार्थत्व)

'धातुमत्तां गिरिर्धत्ते।'

'यदुवाच न तन्मिथ्या यद् ददौ न जहार तत्।'

यथा च—

'स दुर्मतिः श्रेयसि यस्य नादरः स पूज्यकर्मा सुहृदां शृणोति यः।' इति। एकतरस्योपादाने सत्यार्थः तदितरस्यार्थसामर्थ्येनोपक्षेपात्। तत्र तदः केवलस्योपादाने सत्यार्थस्त्रिविधः प्रसिद्धानुभूतप्रकान्तवस्तुविषयतयोपकल्पितसन्निधिना यदा तस्याभिसम्बन्धात्।.........

केचित् पुनरुपात्तवस्तुविषयतयोपकल्पितयोर्द्वयोरप्याक्षेपादस्य चतुर्थमपि प्रकारमिच्छन्ति। यथा—

'ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥'

अत्र स कोऽप्युत्पत्स्यते यं प्रति यत्नो मे सफलीभविष्यतीत्युभयोरपि तयोरर्थादाक्षेपः।
यश्चैकवाक्ये कर्तृत्वेनोक्तो यश्चेदमादिभिः। तच्छब्देन परामर्शो न तयोरुपपद्यते॥
यतोऽध्याह्रायमाणोऽर्थः स तेभ्यः प्रतिपद्यते। न चासौ तत्परामर्शसहिष्णुरसमन्वयात्॥

......तस्मादपेतप्रक्रान्तसम्बन्धसहायस्यास्य यदोऽनुपपन्नप्रक्रंस्यमानवस्तुसमन्वयस्यैकाकिनः सार्थभ्रष्टस्येव तपस्विनः पथिकस्य सन्मार्गोपदेशिकं तच्छब्दाध्याहारमेवैकं शरणमन्तरेण नापरोऽभिमतार्थसङ्गमोपायः संभवति। स चैवंविधेषु सूक्तिरत्नेषु कलङ्कायमानो मनागपि न काव्यमाणिक्यवैकटिकानां सचेतसां मनांस्यावर्जयितुमलमिति।

(व्यक्तिविवेक : २ य विमर्श)

अनुवाद— इसी भांति अन्य दोषों के भी वाक्यगत रूप स्वयं देखे जा सकते हैं।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने उपर्युक्त सभी दोषों के वाक्यगत स्वरूप का सोदाहरण निरूपण किया है। जैसे कि वाक्यगत 'ग्राम्यत्व' का निरूपण—

'ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भल्लं जल्पति मानुषः। करोति खादनं पानं सदैव तु यथा तथा॥'

आदि।

अनुवाद—इसी भाँति पद के अंश में भी 'दुःश्रवत्व' संभव है जैसे कि (महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव की) इस उक्ति में ही—

'अब जाओ, तुम्हारा कार्य सिद्ध हो, देवकार्य सम्पन्न हो।'

[यहाँ 'गच्छ' के 'च्छ' और 'सिद्धयै' के 'द्धयै' में कर्णकटुता स्पष्ट है क्योंकि इन्द्र के द्वारा मदन के प्रति निवेदन के प्रसङ्ग में श्रुतिमधुर ही पद किं वा पदांश-ध्वनियाँ सुनाई देनी चाहिये थीं।]

अनुवाद—पदांश में निहतार्थत्व—

अत्र मत्ताशब्दः क्षीबार्थे निहितः।

(३—अवाचकत्व)

'वर्ण्यते किं महासेनो विजेयो यस्य तारकः।'

अत्र विजेय इति कृत्यप्रत्ययः क्तप्रत्ययार्थेऽवाचकः।

(४—अश्लीलत्व)

'पाणिः पल्लवपेलवः।'

पेलवशब्दस्याद्याक्षरे अश्लीले।

(५—नेयार्थत्व)

'संग्रामे निहताः शूरा वचोवाणत्वमागताः।'

अत्र वचःशब्दस्य गीःशब्दवाचकत्वे नेयार्थत्वम्। तथा तत्रैव बाणस्थाने शरेति पाठे। अत्र पदद्वयमपि न परिवृत्तिसहम्। जलध्यादौ तूत्तरपदम्, वाडवानलादौ पूर्वपदम्।

'यह पर्वत धातुमत्ता (गन्धक, अभ्रक आदि धातुओं की भरमार) धारण करता है।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'धातुमत्ता' पद का 'मत्ता' रूप अंश 'मदमाती नारी' के अर्थ में प्रसिद्ध है जिससे यहाँ विवक्षित 'मतुप्' प्रत्यय का अर्थ निहत अथवा तिरस्कृत कर दिया गया है।

अनुवाद—पदांशगत अवाचकत्व—

'उन महासेन का क्या बखान किया जाय जो तारकासुर को जीत चुके हैं।'

यहाँ 'विजेय' पद में जो कृत्यसंज्ञक 'यत्' (अचो यत् से विहित) प्रत्यय है वह यहाँ विवक्षित (भूतकालवाचक) 'क्त' प्रत्यय के अर्थ में अवाचक है।

['विजेयः' पद का अंशभूत 'यत्' प्रत्यय यहाँ अवाचक है। इसलिये यहाँ जो अवाचकत्व है वह पदांशगत है न कि पदगत।]

अनुवाद—पदांशगत अश्लीलत्व (व्रीडाव्यञ्जक अश्लीलत्व)—

'इसका हाथ पल्लव की भाँति पेलव (कोमल) है।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'पेलव' पद का 'पेल' रूप अंश अश्लील है (क्योंकि इसका अभिप्राय अण्डकोष है जो कि व्रीडाव्यञ्जक है)।

अनुवाद—पदांशगत नेयार्थत्व—

'संग्राम में मर मिटने वाले शूर-वीर 'वचोवाण' (देव) रूप हो जाते हैं।'

यहाँ पद का 'वचस्' रूप अंश नेयार्थ है क्योंकि 'देवता' के अर्थ में 'गीर्वाण' पद प्रसिद्ध है न कि 'गिर्' और 'वाण' का पर्यायभूत अन्य वचोवाण आदि पद (बिना रूढि अथवा प्रयोजन के 'वचस्' शब्द का 'गिर्' के अर्थ में लाक्षणिक प्रयोग नेयार्थता के अतिरिक्त और कुछ नहीं)। 'गीर्वाण' पद के उत्तरवर्ती 'वाण' रूप अंश के बदले यदि उसके पर्यायभूत 'शर' पद को रख दें तब भी यहाँ पदांशगत नेयार्थत्व रह ही जायगा। वस्तुतः बात यह है कि 'गीर्वाण' पद के पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती अंशों को उनके पर्यायों के द्वारा बदला नहीं जा सकता (क्योंकि बदले जाने पर नेयार्थता का दोष लग जायगा) कुछ ऐसे भी पद हैं जिनके उत्तरवर्ती अंश का उनके पर्यायों में परिवर्तन असह्य है जैसे कि 'जलधि' पद (क्योंकि यदि 'धि' रूप अंश को बदल कर 'धर' कर दें तो 'जलधि' के अर्थ में 'जलधर' पद नेयार्थ हो जायगा)। कुछ पद ऐसे भी हैं जिनके पूर्ववर्ती अंश का

(पदांशगत दोष : उपसंहार)

एवमन्येऽपि यथासंभवं पदांशदोषा ज्ञेयाः। निरर्थकत्वादीनां त्रयाणां च पदमात्रगतत्वेनैव लक्ष्ये संभवः।

क्रमतो यथा—

(निरर्थकत्व दोष)

'मुञ्च मानं हि मानिनि !॥'

अत्र हिशब्दो वृत्तपूरणमात्रप्रयोजनः।

(असमर्थत्व दोष)

'कुञ्जं हन्ति कृशोदरी।'

अत्र हन्तीति गमनार्थे पठितमपि न तत्र समर्थम्।

('च्युतसंस्कृतित्व' दोष)

'गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः।'

'आङो यमहनः', 'स्वाङ्गकर्मकाच्च' इत्यनुशासनबलादाङ्पूर्वस्य हनः स्वाङ्गकर्मकस्यैवात्मनेपदं नियमितम्। इह तु तल्लङ्घितमिति व्याकरणलक्षण हीनत्वात् च्युतसंस्कारत्वम्।

उनके पर्यायों में परिवर्तन अनुचित है जैसे कि 'वाडवानल' पद (क्योंकि यदि 'वडवानल' पद के पूर्ववर्ती 'वडवा' रूप अंश को बदल कर 'अश्वानल' कर दिया जाय तो 'वडवाग्नि' की प्रतीति न हो पायगी और नेयार्थता का दोष लग जायगा)।

अनुवाद—इसी भाँति अन्य दोषों के भी पदांशगत रूप यथासम्भव स्वयं देखे जा सकते हैं।

इन दोषों में निरर्थकत्व आदि (अर्थात् निरर्थकत्व, असमर्थत्व और च्युतसंस्कृतित्व) दोष ऐसे हैं जो केवल पदगत रूप में ही काव्य-साहित्य में दिखाई देते हैं (न कि पदांशगत अथवा वाक्यगत रूप में भी)। जैसे कि क्रम से—

'अरी मान करने वाली ! अब तो अपना मान छोड़।'

यहाँ उपर्युक्त उक्ति में 'हि' पद केवल वृत्तपूर्ति के ही लिए प्रयुक्त है (क्योंकि इसका कोई भी अर्थ यहाँ अन्वित नहीं होता)। अथवा, जैसे कि—

'यह कृशोदरी कुञ्ज में जा रही है (कुञ्जं हन्ति)।'

यहाँ जो 'हन्ति' पद प्रयुक्त है वह शब्द-शास्त्र में गमन के अर्थ में निर्दिष्ट तो है किन्तु गमन के अभिप्राय का प्रत्यायक कदापि नहीं हो सकता।

इसी भाँति 'गाण्डीवधारी अर्जुन ने, त्रिलोचन शिव के कनकशिला-सरीखे वक्षःस्थल पर, अपनी भुजाओं से प्रहार प्रारम्भ कर दिया (आजघ्ने)।'

(महाकविभारवि की) इस सूक्ति में जो 'आजघ्ने' पद है उसमें 'च्युतसंस्कृतित्व' स्पष्ट है। कारण यह है कि 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'हन्' धातु का आत्मनेपद में प्रयोग पाणिनीय 'व्याकरणशास्त्र के 'आङो यमहनः (१. ३. २८)' सूत्र के अनुसार होता अवश्य है किन्तु 'स्वाङ्गकर्मकाच्च' आदि वार्तिक की अनुवृत्ति के कारण तभी होता है जब कि मारने की क्रिया का कर्म 'स्वाङ्ग' (मारनेवाले का अपना अङ्ग) हुआ करता है।

'नन्वत्र 'आजघ्ने' इति पदस्य स्वतो न दुष्टता, अपि तु पदान्तरापेक्षयैव इत्यस्य वाक्यदोषता ? मैवम्, तथाहि गुणदोषालङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थितेस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं हेतुः। इह तु दोषस्य 'आजघ्ने' इति पदमात्रस्यैवान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वम्, पदान्तराणां परिवर्त्तनेऽपि तस्य तादवस्थ्यादिति पददोषत्वमेव। तथा यथेहात्मनेपदस्य परिवृत्तावपि न पद-दोषः, तथा हन्प्रकृतेरपीति न पदांशदोषः।

एवं 'पद्मः' इत्यत्राप्रयुक्तस्य पदगतत्वं बोध्यम्। एवं प्राकृतादिव्याकरण-लक्षणहीनावपि च्युतसंस्कारत्वमूह्यम्।

(कतिपय दोषों के स्वरूप-भेद)

इह तु शब्दानां सर्वथा प्रयोगाभावेऽसमर्थत्वम्। विरलप्रयोगे निहतार्थ-त्वम्। निहतार्थत्वमनेकार्थशब्दविषयम्। अप्रतीतत्वं त्वेकार्थस्यापि शब्दस्य

यहाँ (भारवि ने) इस नियम का उल्लङ्घन किया है जिससे यह प्रयोग व्याकरण के नियम के विरुद्ध है यहाँ 'च्युतसंस्कृतित्व' दोष आ लगता है।

यहाँ ('आजघ्ने' आदि में) यह कहा जा सकता है कि अपने आप में तो 'आजघ्ने' पद व्याकरण से अनुमोदित है और इसमें जो भी दोष है वह दूसरे पद (अर्थात् विषम-विलोचनस्य वक्षः) की अपेक्षा से है जिसके देखते यहाँ 'वाक्यगत' च्युतसंस्कृतित्व की कल्पना की जा सकती है (न कि पदमात्रगत दोष की)। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं। बात यह है कि गुण, दोष किंवा अलङ्कारों को शब्दगत अथवा अर्थगत रूप से जो व्यवस्थित माना गया है उसका कारण 'अन्वय-व्यतिरेक' का सिद्धान्त है (अर्थात् जो दोष अथवा गुण अथवा अलङ्कार जिस शब्द अथवा अर्थ के रहने पर रहे और न रहने पर न रहे वह उसी शब्द अथवा अर्थ का दोष अथवा गुण अथवा अलङ्कार माना जाया करता है)। यहाँ जो च्युतसंस्कृतित्व है वह 'आजघ्ने' इस एक पद के रहने से ही है क्योंकि इसे हटा देने से यह दोष हट जाता है। इसलिये यहाँ 'च्युतसंस्कृतित्व' पददोष है (न कि वाक्यदोष) क्योंकि अन्य पदों के बदल देने पर भी यह दोष बना ही रह जाता है। यहाँ इसे पदांशगत दोष भी नहीं माना जा सकता क्योंकि जैसे 'आत्मनेपद' को बदल देने पर यह दोष हट जाता है वैसे ही हन् धातु को बदल देने पर भी (पदांश दोष तो यह तब होता जब कि प्रकृति और प्रत्यय दोनों में से किसी एक के बदल देने पर भी बना रहता)।

इसी भांति 'पद्मः' (पुल्लिंग में 'पद्म शब्द) आदि में जो 'अप्रयुक्तत्व' दोष है वह 'पद-गत' ही माना जाना चाहिये। साथ ही साथ प्राकृत भाषाओं के व्याकरण-नियमों के विरुद्ध जो प्रयोग हैं उनमें भी वस्तुतः 'च्युतसंस्कृतित्व' दोष ही देखा जाना चाहिये।

अनुवाद—यहां इन कतिपय उपर्युक्त दोषों का परस्पर भेद इस प्रकार समझना चाहिये—'असमर्थत्व' तब हुआ करता है जब कि किसी शब्द का ऐसे अर्थ में प्रयोग किया जाय जिसमें उसे कभी प्रयुक्त नहीं किया जाया करता। 'निहतार्थत्व' ऐसे शब्द के प्रयोग में रहा करता है जिसका किसी अर्थ में कदाचित् ही (जैसे कि श्लिष्टप्रसङ्ग में) प्रयोग किया जाया करता है। 'निहतार्थत्व' की सम्भावना तो अनेकार्थक शब्द के प्रयोग में (वस्तुतः विरल प्रयोग में) है किन्तु 'अप्रतीतत्व' ऐसे एकार्थक अथवा अनेकार्थक शब्द के भी प्रयोग में सम्भव है जो कि उस अर्थ में सर्वत्र प्रयुक्त न होता हो जिसमें उसे प्रयुक्त

सार्वत्रिकप्रयोगविरहः । अप्रयुक्तत्वमेकार्थशब्दविषयम् । असमर्थत्वमनेकार्थशब्दविषयम् । असमर्थत्वे हन्त्यादयोऽपि गमनार्थे पठिताः । अवाचकत्वे दिनादयः प्रकाशमयाद्यर्थं न तथेति परस्परभेदः ।

(वाक्यदोष : स्वरूप तथा भेद-निरूपण)

एवं पददोषसजातीया वाक्यदोषा उक्ताः, सम्प्रति तद्विजातीया उच्यन्ते—

'वर्णानां प्रतिकूलत्वं, लुप्ताऽऽहतविसर्गते ।
अधिकन्यूनकथितपदताहतवृत्तता ॥ ५ ॥
पतत्प्रकर्षता, सन्धौ विश्लेषाश्लीलकष्टताः ।
अर्धान्तरैकपदता समाप्तपुनरात्तता ॥ ६ ॥
अभवन्मतसम्बन्धाक्रमामतपरार्थताः ।
वाच्यस्यानभिधानं च भग्नप्रक्रमता तथा ॥ ७ ॥
त्यागः प्रसिद्धेरस्थाने न्यासः पदसमासयोः ।
संकीर्णता गर्भितता दोषाः स्युर्वाक्यमात्रगाः ॥ ८ ॥

किया गया है । 'अप्रयुक्तत्व' दोष का विषय वह शब्द है जो एकार्थक हुआ करता है और 'असमर्थत्व' दोष का वह जो अनेकार्थक हो । 'असमर्थत्व' और 'अवाचकत्व' का भेद उदाहरण से ही स्पष्ट है । 'असमर्थत्व' दोष का उदाहरण 'गमन' के भी अर्थ में पठित 'हन्' धातु (हन् हिंसागत्योः) का (हिंसा के बदले) गमन के अर्थ में प्रयोग है (क्योंकि जङ्घा, पद्धति आदि शब्दों के अतिरिक्त) इसे गमन के अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया जाया करता ('गच्छति' के बदले 'हन्ति' का प्रयोग सर्वथा दुष्ट प्रयोग है)। 'अवाचकत्व' के उदाहरण-रूप में 'प्रकाशमय' आदि अर्थों में प्रयुक्त 'दिन' आदि शब्दों को लिया जा सकता है जो कि इन अर्थों में शब्दशास्त्र में कदापि निर्दिष्ट नहीं ।

अनुवाद—अब उन वाक्यदोषों का निरूपण किया जा रहा है जो कि एकमात्र वाक्यगत हुआ करते हैं क्योंकि अब तक जिन वाक्यदोषों का निरूपण किया गया वे पददोषों के सजातीय थे । ये दोष एकमात्र वाक्यदोष हैं—

१. प्रतिकूलवर्णत्व
२. लुप्तविसर्गत्व
३. आहतविसर्गत्व
४. अधिकपदत्व
५. न्यूनपदत्व
६. कथितपदत्व
७. हतवृत्तत्व
८. पतत्प्रकर्षत्व
९. सन्धिविश्लेष
१०. सन्ध्यश्लीलत्व
११. सन्धिकष्टत्व
१२. अर्धान्तरैकपदत्व
१३. समाप्तपुनरात्तत्व
१४. अभवन्मतसम्बन्धत्व
१५. अक्रमत्व
१६. अमतपरार्थत्व
१७. वाच्यानभिधान
१८. भग्नप्रक्रमत्व
१९. प्रसिद्धित्याग
२०. अस्थानस्थपदत्व
२१. अस्थानस्थसमासत्व
२२. संकीर्णत्व
और
२३. गर्भितत्व ।

(वाक्यगतदोष : १ प्रतिकूलवर्णत्व)

वर्णानां रसानुगुण्यविपरीतत्वं प्रतिकूलत्वम् ।

यथा मम—

'ओवट्टइ उल्लट्टइ सअणे कहिँपि मोट्टाअइ णो परिहट्टइ।
हिअएण फिट्टइ लज्जाइ खुट्टइ दिहीए सा ॥'

(उद्वर्तयति उल्लोटयति शयने कहर्थपि मोट्टयति नो परिघट्टयति ।
हृदयेन स्फिट्टयति लज्जया खुट्टयति धृतेः सा ॥)

अत्र टकाराः श्रृङ्गाररसपरिपन्थिनः केवलं शक्तिप्रदर्शनाय निबद्धाः। एषां चैकद्वित्रिचतुःप्रयोगे न तादृक्प्रसभङ्ग इति न दोषः ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाशकार-सम्मत वाक्यदोषों का ही निरूपण किया है। काव्यप्रकाशकार के अनुसार वाक्यमात्रगत दोषों की संख्या २१ है। साहित्यदर्पणकार ने काव्य-प्रकाश-निरूपित 'विसन्धित्व' दोष को 'सन्धिविश्लेष', 'सन्ध्यश्लीलत्व' और 'सन्धिकष्टत्व' नामक तीन दोषों के रूप में देखा है जिससे साहित्यदर्पणकार की वाक्यदोषसङ्ख्या २३ हो गयी है।

अनुवाद—**'प्रतिकूलवर्णत्व'** वह दोष है जिसे रसाभिव्यञ्जन के प्रतिकूल वर्णों की योजनावाले वाक्य में देखा जाया करता है। उदाहरण के लिये इस स्वरचित काव्य-वाक्य अर्थात्—

'तुम्हारे विरह में यह सुन्दरी पलंग पर करवटें बदला करती है, हाथ-पैर पटका करती है, मोट्टायित में लगा करती है, और सभी काम छोड़-छाड़कर पड़ी रहा करती है, इसका हृदय फटा पड़ता है और लज्जा के कारण इसकी बेचैनी बढ़ती दिखायी दिया करती है।' आदि में। यहाँ 'प्रतिकूलवर्णत्व' इसलिये है क्योंकि यहां कवि ने शक्तिप्रदर्शन के लिये (प्रतिकूलवर्णत्व के निदर्शन में अपना कवि-कौशल दिखाने के लिये) यहां के कोमल रस—वस्तुतः श्रृंगार रस—के विरुद्ध टवर्गवर्णों की योजना की है। वैसे यदि दो-एक अथवा तीन-चार बार इनका प्रयोग हो जाय तो कोई-विशेष रसभंग अथवा दोष नहीं होता किन्तु इनका अनेक बार प्रयोग, जैसा कि यहाँ स्पष्ट है, दोषावह ही लग रहा है।

विमर्श—सरस्वतीकण्ठाभरणकार के अनुसार 'प्रतिकूलवर्णत्व' दोष का नाम 'अरीतिमत्' है—
'गुणानां दृश्यते यत्र श्लेषादीनां विपर्ययः। अरीतिमदिति प्राहुस्तत् त्रिधैव प्रचक्षते ॥
शब्दार्थोभययोगस्य प्राधान्यात् प्रथमं त्रिधा। भूत्वा श्लेपादियोगेन पुनस्त्रेधोपजायते ॥
अत्र यः श्लेषसमतासौकुमार्यविपर्ययः । शब्दप्रधानमाहुस्तमरीतिमतिदूषणम् ॥
विपर्ययेण श्लेषस्य संदर्भः शिथिलो भवेत्। भवेत्स एव विषमो समताया विपर्ययात् ॥
सौकुमार्यविपर्यासात् कठोर उपजायते । या तु कान्तिप्रसादार्थव्यक्तीनामन्यथागतिः ॥
अर्थप्रधानः प्रोक्तस्स वाक्ये गुणविपर्ययः। अप्रसन्नं भवेद् वाक्यं प्रसादस्य विपर्ययात् ॥'

(सरस्वतीकण्ठाभरण : १. २८-३४)

अर्थात् श्लेष, प्रसाद, समता, सौकुमार्य आदि गुणों के योग से तो वाक्यों में काव्यता की प्रतीति हुआ करती है किन्तु इनके अभाव में वाक्य काव्याभास में बदल जाते हैं। गुणों के विपर्यय में रीतिभङ्ग स्वाभाविक है क्योंकि गुणवती पदरचना का ही नाम 'रीति' है। 'श्लेष' के विपर्यय में, संदर्भ में शैथिल्य, 'समता' के विपर्यय में, बन्ध में वैषम्य और सौकुमार्य के विपर्यय में, रचना में कठोरता का होना निश्चित ही है।

(२—लुप्तविसर्गत्व)

'गता निशा इमा बाले !'

अत्र लुप्ता विसर्गाः ।

(३—आहतविसर्गत्व)

आहता ओत्वं प्राप्ता विसर्गा यत्र ।

यथा—'धीरो वरो नरो याति ।'

(४—अधिकपदत्व)

'पल्लवाकृतिरक्तोष्ठी ।'

अत्राकृतिपदमधिकम् ।

('अधिकपदत्व'विषयक विशेष विचार)

एवम्—

'सदाशिवं नौमि पिनाकपाणिम् ।'

इति विशेषणमधिकम् ।

यहाँ यह तो निश्चित है कि साहित्यदर्पणकार ने 'काव्यप्रकाश' के अनुरोध पर 'प्रतिकूलवर्णत्व' का स्वरूप-निरूपण किया है किन्तु 'रीति' को काव्योत्कर्षकारक अतिरिक्त तत्त्व माननेवाले आचार्य के लिये 'अरीतिमत्' का स्वरूप-निरूपण कदाचित् युक्तिसंगत होता ।

अनुवाद—'अरी सुन्दरी ! ये रातें यों ही बीत गयीं ।' यहाँ ('गता निशा इमा बाले' आदि में) विसर्गों का लोप है जिसमें 'लुप्तविसर्गत्व' दोष दिखायी दे रहा है ।

[सकार के 'ससजुषो रुः' से रुत्व, 'भोभगोअघोऽपूर्वस्य योऽशि' से यत्व तथा 'हलि सर्वेषाम्' और 'लोपः शाकल्यस्य' से यलोप होने पर 'लुप्तविसर्गत्व' का जन्म होता है । जिस वाक्य में विसर्ग का उच्चारण हो उसमें पाठ-सौन्दर्य किंवा पाठ-माधुर्य रहा करता है । किन्तु यदि विसर्ग लुप्त रहे तो पाठ में असौकर्य तो होता ही है साथ ही साथ नीरसता भी उत्पन्न हो जाती है ।]

अनुवाद—'आहतविसर्गत्व' वहाँ होता है जहाँ विसर्ग ओकार के रूप में परिवर्तित हो जाया करते हैं । जैसे कि 'धीरो वरो नरो याति' सरीखे वाक्य में ।

[विसर्गों के ओकार में परिवर्तन से वाक्यपाठ में नीरसता आ जाती है जिसके कारण 'आहतविसर्गत्व' अथवा 'उपहतविसर्गत्व' को वाक्य-दोष माना गया है ।]

अनुवाद—'अधिकपदत्व', जैसे कि—

'पल्लव की आकृति की भांति लाल ओठोंवाली ।' यहाँ यह स्पष्ट है कि 'आकृति' पद (अनुपयुक्त होने के कारण) अधिक लग रहा है (क्योंकि नायिका के ओठों की तुलना 'पल्लव' से ही की जाया करती है, उसकी आकृति से नहीं) ।

अनुवाद—इसी भाँति इस उक्ति जैसे कि—

'पिनाकपाणि सदाशिव (भगवान् शङ्कर) को प्रणाम ।' आदि में, विशेषणरूप से प्रयुक्त 'पिनाकपाणि' पद अधिक प्रतीत हो रहा है (क्योंकि भगवान् शङ्कर की स्तुति के प्रसङ्ग में इसका उपयोग अकिञ्चित्कर ही है) । किन्तु (महाकवि कालिदास के कुमार-संभव की) इस सूक्ति अर्थात्—

'कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेः' इति।

अत्र तु पिनाकपाणिपदं विशेषप्रतिपत्त्यर्थमुपात्तमिति युक्तमेव।

यथा वा—'वाचमुवाच कौत्सः।'

अत्र वाचमित्यधिकम्। उवाचेत्यनेनैव गतार्थत्वाद्।

क्वचित्तु विशेषणदानार्थं तत्प्रयोगो युज्यते।

यथा—'उवाच मधुरां वाचम्' इति।

केचित्त्वाहुः—यत्र विशेषणस्यापि क्रियाविशेषणत्वं सम्भवति तत्रापि तत्प्रयोगो न घटते।

यथा—'उवाच मधुरं धीमान्' इति।

(५—न्यूनपदत्व)

'यदि मय्यर्पिता दृष्टिः किं ममेन्द्रतया तदा।'

अत्र प्रथमे त्वयेति पदं न्यूनम्।

(६—कथितपदत्व)

'रतिलीलाश्रमं भिन्ते सलीलमनिलो वहन्।'

अत्र लीलाशब्दः पुनरुक्तः।

'पिनाकपाणि महादेव का भी धैर्य डिगा दूँ······' आदि में विशेषणरूप से प्रयुक्त यही 'पिनाकपाणि' पद सर्वथा (सार्थक किंवा) निर्दुष्ट है क्योंकि इसके द्वारा भगवान् शङ्कर की एक विशेषता (वस्तुतः दुर्जेयता) का अवबोध कराया जा रहा है।

'अधिकपदत्व' का यह भी एक स्पष्ट उदाहरण है—

'कौत्स वचन बोले'—('वाचमुवाच कौत्सः' रघुवंश : ५ म सर्ग) यहाँ 'वाचम्' पद अधिक है क्योंकि 'उवाच' पद के प्रयोग से ही 'वचन' के उच्चारण का अभिप्राय निकल जाता है। किन्तु कभी-कभी विशेषण के प्रयोग की सार्थकता के लिये इस पद का प्रयोग आवश्यक हो जाता है जैसे कि—

'वह बड़ा मीठा वचन बोला।' किन्तु यहाँ कतिपय आचार्य (जैसे कि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट) 'अधिकपदत्व' ही मानते हैं क्योंकि उनका कहना यह है कि यदि विशेषण (जैसे कि 'उवाच मधुरां वाचम्' में 'मधुराम्' पद) को क्रियाविशेषण ('उवाच मधुरं धीमान्' में मधुरम् पद) के रूप में व्यवहृत किया जाय तब यह स्पष्ट हो जायगा कि 'वाचम्' आदि पद अधिक हैं और प्रयोग योग्य नहीं हैं। इसीलिये—'उवाच मधुरं धीमान्' आदि वाक्य निर्दुष्ट हैं (क्योंकि यहाँ कोई पद अनुपयुक्त होने से अधिक नहीं हं)

अनुवाद—'न्यूनपदत्व' जैसे कि—

'यदि (आपने) मेरी ओर कृपा-दृष्टि की तो मुझे इन्द्रके पदकी भी कोई चिन्ता नहीं।'

'यहाँ (यदि मय्यर्पिता दृष्टिः-इस) प्रथम चरण में 'त्वया' पद की कमी रह गयी है जिससे इसमें 'न्यूनपदत्व' का दोष आ लगा हैं।

अनुवाद—'कथितपदत्व' जैसे कि—

'यह लीला' करती बहती समीर रतिलीला की श्रान्ति भगा रही है।'

'यहाँ 'लीला'पद पुनरुक्त है क्योंकि 'सलीलम्' के विशेषण के रहते हुये 'रतिलीलाश्रम' में 'लीला' पद अनावश्यक प्रतीत हो रहा है।

एवम्—'जक्षुर्बिसं धृतविकासिबिसप्रसूनाः।'

अत्र बिसशब्दस्य धृतपरिस्फुटतत्प्रसूना इति सर्वनाम्नैव परामर्शो युक्तः।

(७—हतवृत्तत्व)

हतवृत्तम्—लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यम्, रसाननुगुणम्, अप्राप्तगुरुभावान्त-लघु च। क्रमेण यथा—

'हन्त! सततमेतस्या हृदयं भिन्ते मनोभवः कुपितः।'

'अयि! मयि मानिनि! मा कुरु मानम्।'

इदं वृत्तं हास्यरसस्यैवाऽनुकूलम्।

'विकसित-सहकार-भार-हारि-परिमल एष समागतो वसन्तः'।

इसी भाँति (महाकवि माघ के शिशुपालवध ५म सर्ग की) इस सूक्ति अर्थात्—

'हाथों में कमल के फूल (बिसप्रसून) लिये हुये सैनिकों ने कमलनाल (बिस) खाना प्रारम्भ किया।'

में, जो 'धृतविकासिबिसप्रसूनाः' पद है उसमें 'बिस' पद पुनरुक्त है क्योंकि यहाँ 'धृत-परिस्फुटतत्प्रसूनाः' पद का प्रयोग होना चाहिये था जिसमें पूर्वप्रयुक्त 'बिस' का 'तत्' इस सर्वनाम पद द्वारा परामर्श हो जाता और 'कथितपदत्व' की कोई संभावना भी न रह पाती।

अनुवाद—'हतवृत्त' उस प्रकार का वृत्त है जो (१) छन्दःशास्त्र के नियमानुसार ठीक होने पर भी, सुनने में खटक जाया करता है, (२) प्रकृत रस के अननुगुण अथवा प्रतिकूल लगा करता है और (३) जिसके पाद के अन्त का लघुवर्ण गुरु नहीं हो पाता (जैसा कि नियमानुसार उसे होना चाहिये)। इस प्रकार के वृत्त में बद्ध काव्यवाक्य 'हतवृत्तत्व' दोष से दूषित रहा करता है। उदाहरण के लिये—

'ओह! निरन्तर ही ऐसा होता है कि कामदेव क्रुद्ध होकर इस सुन्दरी के हृदय पर प्रहार किया करते हैं।'

[यहाँ अर्थात् 'हन्त सततमेतस्याः हृदयं भिन्ते मनोभवः कुपितः' में 'हतवृत्तत्व' इस लिये है क्योंकि वैसे तो यह आर्या छन्दःशास्त्र के नियम अर्थात्—

'यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या॥'

आदि का अनुसरण कर रही है किन्तु सुनने में खटक जाती है क्योंकि प्रथम चरण 'अनुष्टुप्' सा सुनायी पड़ता है और बाद में आर्या की चाल प्रतीत होती है।]

अथवा

'अरी मान करने वाली! मुझ पर मान न कर।'

यहाँ भी 'हतवृत्तत्व' है क्योंकि यहाँ का जो (पज्झटिका नामक) वृत्त है वह हास्य रस के अभिव्यञ्जन के अनुकूल हुआ करता है (जब कि यहाँ का रस शृङ्गार है)।

अथवा

'खिली हुई आम की मंजरियों के मधुर सौरभ से सना वसन्त का समय आ पहुँचा।'

यत्पादान्ते लघोरपि गुरुभावः उक्तः, तत्सर्वत्र द्वितीयचतुर्थपादविषयम्। प्रथमतृतीयपादविषयन्तु वसन्ततिलकादेरेव।

अत्र 'प्रमुदितसौरभ आगतो वसन्तः' इति पाठो युक्तः।

यथा वा—

'अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवो धन्या मृदन्यैव सा
सम्भारः खलु तेऽन्य एव विधिना यैरेष सृष्टो युवा।
श्रीमत्कान्तिजुषां द्विषां करतलात् स्त्रीणां नितम्बस्थलात्
दृष्टे यत्र पतन्ति मूढमनसामस्त्राणि वस्त्राणि च'॥

अत्र 'वस्त्राणि च' इति बन्धस्य श्लथत्वश्रुतिः। 'वस्त्राण्यपि' इति पाठे तु दार्ढ्यमिति न दोषः। 'इदमप्राप्तगुरुभावान्तलघु' इति काव्यप्रकाशकारः। वस्तुतस्तु 'लक्षणाऽनुसरणेऽप्यश्रव्यम्' इत्यन्ये।

यहाँ 'हतवृत्तत्व' इसलिये है क्योंकि 'विकसितसहकारभारहारि' इस प्रथम चरण के अन्त का लघुवर्ण गुरुवर्ण के रूप में नहीं सुनायी देता (जैसा कि नियमानुसार उसे सुनायी देना चाहिये)। छन्दःशास्त्र का यह नियम कि पाद के अन्त का लघुवर्ण गुरुवर्ण के रूप में (विकल्पतः) सुनायी पड़ना चाहिये, वस्तुतः और छन्दों के तो द्वितीय और चतुर्थ चरणों के लिये अनिवार्य है किन्तु 'वसन्ततिलक' आदि वृत्तों के प्रथम और तृतीय चरणों में भी इसे लागू माना गया है (इसलिये यहाँ के पुष्पिताग्रा वृत्त के प्रथम चरण में इसे लागू होते न देखकर 'हतवृत्तत्व' की प्रतीति स्वाभाविक है)।

यहाँ यदि '(विकसितसहकारभारहारि) प्रमुदितसौरभ आगतो वसन्तः' यह पाठ कर दिया जाय तो 'हारि' का 'रि' आगे के संयुक्त 'प्र' के प्रभाव से गुरुवर्ण के रूप में सुनायी पड़ने लगता है और 'हतवृत्तत्व' का दोष हट जाता है।

अथवा

'गुणरत्नों की उत्पादिका वह भूमि कोई और ही भूमि है, वह सौभाग्यशालिनी मिट्टी कोई और ही मिट्टी है और वे सम्भार (साधन) कोई और ही सम्भार हैं जिनसे विधाता ने इस युवक को बनाया है। तभी तो यह बात है कि इसके देखते (भय अथवा काम से) मुग्ध हृदय बने शत्रुओं के हाथ से शस्त्र और सुन्दरियों के नितम्ब से वस्त्र सहसा छूट पड़ते हैं।'

यहाँ भी 'हतवृत्तत्व' है क्योंकि (यहाँ के 'शार्दूलविक्रीडित' वृत्त के अन्तिम चरण के अन्त में) 'वस्त्राणि च' में जो अन्तलघु वर्ण है उसके कारण यह वृत्त ढीला-ढाला सुनायी पड़ रहा है। यहीं यदि 'वस्त्राणि च' के बदले 'वस्त्राण्यपि' कर दिया जाय तो (बन्धशैथिल्य हट जाता है और) बन्ध में दृढता अथवा गम्भीरता आ जाती है।

काव्यप्रकाशकार (आचार्य मम्मट) ने भी इसे ('अन्यास्ता' आदि को) 'हतवृत्त' ही माना है किन्तु 'अप्राप्तगुरुभावान्तलघु'रूप 'हतवृत्त' कहा है (अर्थात् यहाँ 'हतवृत्तत्व' इसलिये है क्योंकि 'वस्त्राणि च' का अन्तिम लघुवर्ण किसी प्रकार से भी गुरुवर्ण के रूप में नहीं सुनायी देता जैसा कि इसके लिये आवश्यक है)। किन्तु इसकी 'हतवृत्तता' जैसा कि अन्य आचार्यों का कहना है, '(छन्दोलक्षण के अनुसरण में भी) अश्रव्यता के कारण' मानी जानी चाहिये।

(८—पतत्प्रकर्षत्व)

'प्रोज्ज्वलज्ज्वलनज्वालाविकटोरुसटाच्छटः ।
श्वासक्षिप्तकुलक्ष्माभृत् पातु वो नरकेशरी ॥'

अत्र क्रमेणानुप्रासप्रकर्षः पतितः ।

(९—सन्धिविश्लेष)

'दलिते उत्पले एते अक्षिणी अमलाङ्गि ! ते' ।

विमर्श—'रसवादी काव्याचार्य 'हतवृत्तता' को एक बड़ा दोष मानते हैं। वृत्त और रस का परस्पर सम्बन्ध है और इसीलिये रसानुगुण वृत्त की रचना आवश्यक मानी गयी है। महाकवि क्षेमेन्द्र ने ठीक ही कहा है—

'काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च । कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित् ॥'
'वृत्तरत्नावली कामादस्थाने विनिवेशिता । कथयत्यज्ञतामेव मेखलेव गले कृता ॥'

(सुवृत्ततिलक : ३य विन्यास)

अर्थात् वृत्तरचना के पहले 'रस' और 'वर्ण्यवस्तु' का विचार आवश्यक है। जो वृत्त रसानुकूल और वर्णनानुकूल होता है वही काव्य का वास्तविक माध्यम है। यदि बिना सोचे-समझे कोई कवि कविता के गले में छन्दों की माला पहना दे तो वह अपनी ही मूर्खता प्रकाशित करता है। करधनी को किसी सुन्दरी के गले में पहनानेवाला मूर्ख ही तो है !

'वृत्त' और 'रस' के आनुगुण्य के सम्बन्ध में भी क्षेमेन्द्र की ये पंक्तियां ध्यान देने योग्य हैं—

'शृङ्गारालम्बनोदारनायिकारूपवर्णनम् । वसन्तादितदङ्गं च सच्छायमुपजातिभिः ॥
रथोद्धता विभावेषु भव्या चन्द्रोदयादिषु । षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते ॥
वसन्ततिलकं भाति सङ्करे वीर-रौद्रयोः । उपपन्नपरिच्छेदकाले शिखरिणी मता ॥
औदार्यरुचिरौचित्यविचारे हरिणी वरा । साक्षेपक्रोधधिक्कारे परं पृथ्वी भरक्षमा ॥
प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते ।' (सुवृत्ततिलक : ३य विन्यास)

अनुवाद—**'पतत्प्रकर्षत्व' (वह दोष है जिसे बन्ध के क्रमिक प्रकर्ष के ह्रास में देखा जाया करता है), जैसे कि—**

'प्रचण्ड ज्वलन (अग्नि) की ज्वाला की भाँति विशाल और भयङ्कर सटाभार वाले किंवा श्वासोच्छ्वास से कुचालकों को डिगा देने वाले वे नरसिंह भगवान् आप सब का कल्याण करें ।'

यहाँ 'पतत्प्रकर्षत्व' स्पष्ट है क्योंकि अनुप्रास का प्रकर्ष क्रमशः गिरता ही दिखायी दे रहा है ।

विमर्श—बन्ध में क्रमशः प्रकर्ष के ह्रास का कारण कवि की अशक्ति है। प्रकर्ष के उत्तरोत्तर पतन से काव्य-पाठक के काव्यानन्द में भी क्रमिक ह्रास का होना स्वाभाविक है। बन्ध की पतत्प्रकर्षता रसविघातक हो सकती है। इसीलिये आलङ्कारिकों ने इसे वाक्यदोष माना है और इससे बचने के लिये कवियों को चेतावनी दी है।

अनुवाद—**'सन्धिविश्लेष' (वह दोष है जिसे इच्छानुसार अथवा शब्दशास्त्र के नियमानुसार सन्धि के अभाव में देखा जाया करता है ।) जैसे कि—**

'अरी सुन्दरी ! तेरी ये आँखें खिले नीलकमल हैं ।'

एवंविधसन्धिविश्लेषस्य असकृत् प्रयोग एव दोषः। अनुशासनमुल्लङ्घ्य वृत्तभङ्गभयमात्रेण सन्धिविश्लेषस्य तु सकृदपि।

यथा—

'वासवाशामुखे भाति इन्दुश्चन्दनबिन्दुवत्।'

(१०—संध्यश्लीलत्व)

'चलण्डामरचेष्टितः' इति।

अत्र सन्धौ जुगुप्साव्यञ्जकमश्लीलत्वम्।

(११—सन्धिकष्टत्व)

'उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः'।

अत्र सन्धौ कष्टत्वम्।

(यहाँ 'दलिते उत्पले एते अक्षिणी अमलाङ्गि' आदि पदों में प्रगृह्य संज्ञा के कारण कहीं भी सन्धि नहीं। इसलिये यहां 'सन्धिविश्लेष' का दोष स्पष्ट दिखायी दे जाता है।) इस प्रकार के 'सन्धिविश्लेष' को इसलिये दोष माना जाता है क्योंकि अनेक बार सन्धि-भङ्ग ठीक नहीं (अनेक बार सन्धिभङ्ग से तो पाठ-सौन्दर्य विगड़ जाता है)। व्याकरण-शास्त्र के नियम के उल्लंघन में किया गया सन्धिभङ्ग, चाहे वह छन्दोभङ्ग से ही क्यों न बचावे, 'सन्धिविश्लेष' का ही दोष है। उदाहरण के लिये—

'वासवाशा मुखे भाति इन्दुश्चन्दनविन्दुवत् (पश्चिम दिशा के मुखमण्डल पर चन्द्रमा ऐसा चमक रहा है मानो चन्दन-विन्दु हो)' आदि प्रसङ्गों में, छन्दोभङ्ग से बचने के लिये, जो ('भाति-इन्दुः', में) संधि न की गयी उसमें व्याकरणशास्त्र के सन्धि-नियम के उल्लंघन के कारण, भले ही वह एक बार ही क्यों न किया गया हो, 'सन्धिविश्लेष' का ही दोष झलक जाता है।

अनुवाद—'सन्ध्यश्लीलत्व' (वह दोष है जिसे सन्धि के कारण अश्लीलता की प्रतीति में देखा जाया करता है) जैसे कि—

'(वेगादुड्डीय गगने) चलण्डामरचेष्टितः।
(अयमुत्तपते पत्री ततोऽत्रैव रुचिङ्कुरु॥)'

आदि प्रसङ्गों में, 'चलन्+डामरचेष्टितः' में सन्धि के कारण जो 'लण्डा' (अथवा 'लण्ड') की श्रुति हो रही है उसमें एक लज्जास्पद अभिप्राय (स्थूल किंवा दीर्घ पुरीष अथवा पुरुष के जननेन्द्रिय) की प्रतीति के हो जाने के कारण अश्लीलता उत्पन्न हो जाती है।

अनुवाद—'सन्धिकष्टत्व' (वह दोष है जिसे सन्धिविधान के कारण उत्पन्न होनेवाली श्रुतिकटुता अथवा श्रुतिकर्कशता में देखा जाया करता है) जैसे कि—

'इस मर्वन्त' (मरुभूमि के प्रान्तभाग) में, 'चार्ववस्थिति' (बड़ी सुन्दर लगने वाली) और (उर्वी) बहुत बड़ी 'तर्वाली' (वृक्षपंक्ति) दिखायी पड़ रही है।'

आदि प्रसङ्गों में, जो (व्याकरण के नियमानुसार) सन्धिविधान दिखायी दे रहा है उसके कारण श्रुतिकर्कशता उत्पन्न हो रही है (जिसमें 'सन्धिकष्टत्व' स्पष्ट झलक उठता है)।

(१२—अर्धान्तरैकपदत्व)

'इन्दुर्विभाति कर्पूरगौरैर्धवलयन् करैः ।
जगन्मा कुरु तन्वङ्गि ! मानं पादानते प्रिये ॥'

अत्र जगदिति प्रथमार्द्धे पठितमुचितम् ।

(१३—समाप्तपुनरात्तत्व)

'नाशयन्तो घनध्वान्तं तापयन्तो वियोगिनः ।
पतन्ति शशिनः पादा भासयन्तः क्ष्मातलम् ॥'

अत्र चतुर्थपादो वाक्यसमाप्तावपि पुनरुपात्तः ।

(१४—अभवन्मतसंबन्धत्व)

अभवन्मतसम्बन्धो यथा—

'या जयश्रीर्मनोजस्य यया जगदलङ्कृतम् ।
यामेणाक्षीं विना प्राणा विफला मे कुतोऽद्य सा ॥'

अत्र यच्छब्दनिर्दिष्टानां वाक्यानां परस्परनिरपेक्षत्वात् तदेकान्तःपातिना एणाक्षीशब्देन अन्येषां सम्बन्धः कवेरभिमतो नोपपद्यत एव ।

अनुवाद—'अर्धान्तरैकपदत्व' (वह दोष है जिसे किसी श्लोक-वाक्य के पूर्वार्द्ध के पद के उत्तरार्ध में लगे रहने अथवा उत्तरार्ध के पद के पूर्वार्ध में चले जाने में देखा जाया करता है) जैसे कि—

'अरी सुन्दरी ! यह चन्द्रमा कर्पूर की भाँति शुभ्र किरणों से धवल बनाते हुये, चमक रहा है, जगत को । पैरों पर गिरे अपने प्रियतम पर अब तो मान न कर ।' आदि सूक्तियों में, जो दोष है वह 'अर्धान्तरैकपदत्व' का ही दोष है क्योंकि यहाँ पूर्वार्ध में रखने योग्य 'जगत्' पद उत्तरार्ध में रखा हुआ दिखायी दे रहा है ।

अनुवाद—'समाप्तपुनरात्तत्व' (वह दोष है जिसे वाक्य के समाप्त हो जाने पर भी पुनः उससे समन्वित होनेवाले पद के प्रयोग में देखा जाया करता है) जैसे कि—

'घने अँधेरे को छिन्न-भिन्न करने वाली, वियोगियों को संतप्त करती चन्द्र-किरणें नीचे उतर रही हैं, धरातल को चमकाती हुई ।'

यहाँ (तीन चरणों में) वाक्य के समाप्त हो जाने पर भी जो चतुर्थ चरण (भासयन्तः क्ष्मातलम्—धरातल को चमकाती हुई) रचा गया है उसमें 'समाप्तपुनरात्तत्व' का दोष आ लगा है ।

अनुवाद—'अभवन्मतसंबन्धत्व' (वह दोष है जिसे ऐसे वाक्य में देखा जाया करता है जहाँ किसी पद का अभिप्रेत सम्बन्ध अथवा अन्वय उत्पन्न न हो सके) जैसे कि—

'जो कि कामदेव की विजयलक्ष्मी है, जिसके द्वारा यह संसार सुशोभित हो रहा है और जिस मृगनयनी के विना मेरा जीवन निष्फल है, आज वह कहाँ है ?'

यहाँ 'अभवन्मतसंबन्धत्व' है क्योंकि कवि के चाहने पर भी 'एणाक्षी' पद का सम्बन्ध, पूर्वार्ध के परस्पर निरपेक्ष (स्वतन्त्र) दोनों वाक्यों ('या जयश्रीर्मनोजस्य' और 'यया जगदलङ्कृतम्') से नहीं बैठ पाता । पूर्वार्ध के दोनों वाक्य परस्पर निराकाङ्क्ष इसलिये हैं क्योंकि दोनों 'यत्' शब्द से युक्त हैं । और 'एणाक्षी' पद इनसे इसलिये संबद्ध नहीं हो

'यां विनामी वृथा प्राणा एणाक्षी सा कुतोऽद्य मे'।

इति तच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यान्तःपातित्वेऽपि यच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यैः सम्बन्धो घटते।

यथा वा—

'ईक्षसे यत्कटाक्षेण तदा धन्वी मनोभुवः।'

अत्र यदित्यस्य तदेत्यनेन सम्बन्धो न घटते।

'ईक्षसे चेत्' इति तु युक्तः पाठः।

यथा वा—

'ज्योत्स्नाचयः पयःपूरस्तारकाः कैरवाणि च।
राजति व्योमकासारराजहंसः सुधाकरः॥'

अत्र व्योमकासारशब्दस्य समासे गुणीभावात्तदर्थस्य न सर्वैः संयोगः। विधेयाविमर्शे यदेवाविमृष्टं तदेव दुष्टम्। इह तु प्रधानस्य कासारपदार्थस्य

पाता क्योंकि यह (उत्तरार्ध के) एक वाक्य ('यामेणाक्षीं विना' आदि) में ही अन्तर्भूत पड़ा दिखायी दे रहा है।

यहीं यदि 'यां विनामी वृथा प्राणा एणाक्षी सा कुतोऽद्य मे।'—और जिसके विना मेरा जीवन व्यर्थ है वह मृगनयनी अब कहाँ है—कर दिया जाय तो 'एणाक्षी' पद, भले ही यह 'तत्' शब्द से युक्त (विधेय) वाक्य के अन्तर्गत क्यों न रहे, 'यत्' शब्द से निर्दिष्ट दोनों (उद्देश्य) वाक्यों से यथेष्ट रूप से सम्बद्ध हो जाता है (और यहां से 'अभवन्मत-संबन्धत्व' का दोष भी हट जाता है)।

अथवा

'यदि तू किसी पर कटाक्ष चलाती है तब तो कामदेव धनुर्धररूप में उसके सामने खड़ा ही हो जाता है।'

यहाँ भी 'अभवन्मतसंबन्धत्व' है क्योंकि यहां प्रयुक्त 'यत्' पद (जिसका अर्थ 'यदि' है) 'तदा' पद के साथ (जो कि कालवाचक है) सम्बद्ध नहीं हो पाता। किन्तु यहीं यदि (ईक्षसे यत् के स्थान पर) 'ईक्षसे चेत्' कर दिया जाय तो 'चेत्' और 'तदा' का अभिमत संबन्ध स्थापित हो जाता है (और यह दोष भी हट जाता है)।

अथवा

'चाँदनी जलराशि है, तारे कुमुद हैं और व्योमसरोवर का राजहंस चन्द्रमा शोभा-यमान है।'

यहाँ 'अभवन्मतसंबन्धत्व' इसलिये है क्योंकि 'व्योमकासार' (गगनसरोवर) पद समास में पड़कर गौण हो गया है और पूर्वार्ध के दोनों वाक्यों ('ज्योत्स्नाचयः पयःपूरः' और 'तारका कैरवाणि च') में, जैसाकि उचित था, संबद्ध नहीं हो पाता।

'विधेयाविमर्श' (अविमृष्टविधेयांशत्व) और 'अभवन्मतसंबन्धत्व' में परस्पर भेद है। 'विधेयाविमर्श' में तो वही पद दोषयुक्त माना जाया करता है जो कि (प्रधानरूप से उपन्यस्त होने के बदले) अप्रधानरूप से उपन्यस्त किया गया होता है। किन्तु 'अभव-न्मतसम्बन्धत्व' में समस्त वाक्य के अर्थ में विरोध की प्रतीति हो उठती है क्योंकि जब कि 'कासार' (सरोवर) पद का अर्थ समास में पड़कर प्रधानतया प्रतीत न हो तब तो यह

प्राधान्येनाऽप्रतीतेः सर्वोऽपि पयःपूरादिशब्दार्थस्तदङ्गतया न प्रतीयत इति सर्व-वाक्यार्थविरोधाऽवभास इत्युभयोर्भेदः।

'अनेन च्छिन्दता मातुः कण्ठं परशुना तव।
बद्धस्पर्द्धः कृपाणोऽयं लज्जते मम भार्गव!॥'

अत्र 'भार्गवनिन्दायां प्रयुक्तस्य मातृकण्ठच्छेदनकर्तृत्वस्य परशुना सम्बन्धो न युक्तः' इति प्राच्याः। 'परशुनिन्दामुखेन भार्गवनिन्दाधिक्यमेव वैदग्ध्यं द्योतयति' इत्याधुनिकाः।

निश्चित ही है कि 'पयःपूर' आदि पदों के अर्थ उसके अङ्गरूप से कदापि प्रतीत नहीं हो सकते (और साङ्गरूपक की योजना समुचित नहीं बन सकती)।

[तात्पर्य यह है कि 'ज्योत्स्नाचयः' आदि में साङ्गरूपक बाँधा गया है। आकाश पर सरोवर (कासार) का आरोप किया गया है और चाँदनी पर जलराशि तथा तारागण पर कुमुद का। किन्तु जब तक तत्पुरुष समास में पड़ा 'कासार' पदार्थ अप्रधान बना रहे तब तक उसके अङ्गरूप से 'अभिप्रेत 'पयःपूर' आदि पदार्थ उससे क्योंकर संवद्ध हो पावें और क्योंकर साङ्गरूपक उपपन्न हो सके!]

प्राचीन आलङ्कारिकों (जैसे कि काव्यप्रकाशकार के अनुयायियों) के अनुसार इस सूक्ति अर्थात्—

'भार्गव परशुराम! माता का गला काटनेवाले, तुम्हारे इस परशु के साथ स्पर्द्धा करने में मेरा यह कृपाण लज्जित हो रहा है, अन्यथा......'

में, 'अभवन्मतसम्बन्धत्व' है क्योंकि यहाँ भार्गव परशुराम की निन्दा के प्रकाशन के लिये प्रयुक्त, मातृकण्ठ-छेदन के कर्तृत्व के साथ 'परशु' का सम्बन्ध नहीं स्थापित हो पाता (क्योंकि 'परशु' तो मातृकण्ठ-छेदन के 'करण'रूप से ही सम्बद्ध हो सकता है)। किन्तु नवीन काव्याचार्य (वस्तुतः साहित्यदर्पणकार और उनके अनुयायी लोग) यहाँ यह दोष नहीं मानते क्योंकि उनका कहना यह है कि यहाँ तो परशु की निन्दा के द्वारा भार्गव परशुराम का अधिकाधिक तिरस्कार अभिव्यक्त किया जा रहा है जिसमें दोष के बदले कवि-कौशल झलक रहा है (अचेतन परशु पर तो मातृकण्ठ-छेदन के कर्तृत्व का आरोप है और इसी से वह निन्दनीय है किन्तु चेतन परशुराम तो और भी अधिक निन्दनीय है जिसके साथ मातृकण्ठ-छेदन के मुख्य कर्तृत्व का सम्बन्ध है)।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने 'अभवन्मतसम्बन्धत्व' का वैज्ञानिक विवेचन किया है। उनके अनुसार इस दोष के ये ६ नियामक हैं—

१. विभक्ति-भेद
२. पदन्यूनत्व
३. आकांक्षाविरह
४. समासच्छन्नता
५. व्यङ्ग्यसम्बन्धाभाव और
६. व्युत्पत्तिविरोध

यहाँ साहित्यदर्पणकार को इस दोष की ये सभी नियामकतायें मान्य हैं। 'व्यङ्ग्यसम्बन्धाभाव-निबन्धन' अभवन्मतसम्बन्धत्व के उदाहरण में काव्यप्रकाशकार ने यह सूक्ति उद्धृत की है—

'चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्तिकेयो विजेयः शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः।
अस्त्येवैतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां बद्धस्पर्द्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः॥'

और इसमें इस दोष को इस प्रकार दिखाया है—

(१५—अक्रमत्व)

अक्रमता यथा—

'समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम् ।
शरदि हंसरवाः परुषीकृतस्वरमयूरमयूरमणीयताम् ॥'

अत्र परामृश्यमानवाक्यानन्तरमेवेति शब्दोपयोगो युज्यते, न तु 'प्रणिगदन्त' इत्यनन्तरम् ।

एवम्—

'द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥'

अत्र त्वमित्यनन्तरमेव चकारो युक्तः ।

'(चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी इत्यादौ) भार्गवस्य निन्दायां तात्पर्यम्, कृतवतेति परशौ सा प्रतीयते कृतवत इति तु पाठे मतयोगो भवति ।' (काव्यप्रकाश : ७म उल्लास)

यहाँ साहित्यदर्पणकार की जो आलोचना है उसमें कोई विशेष तत्त्व नहीं । 'शस्त्र की निन्दा से शस्त्रधारी की निन्दा की पराकाष्ठा' का अभिप्राय अभिव्यक्त तो हो सकता है किन्तु इसकी अभिव्यक्ति का माध्यम वही सूक्ति है जिसमें 'अभवन्मतसम्बन्धत्व' का दोष लगा है । यहाँ साहित्यदर्पणकार यह नहीं स्पष्ट कहते कि 'अनेन च्छिन्दन्ता' आदि में यह दोष गुण हो गया है ?

अनुवाद—'अक्रमता' अथवा 'अक्रमत्व' (वह दोष है जो कि, जिस पद के पहले या पीछे जिस पद का प्रयोग उचित हो, उसे वहाँ न कर अन्यत्र करने में देखा जाया करता है) जैसे कि (महाकवि माघ के 'शिशुपालवध' की) इस सूक्ति अर्थात्—'मानो इस बात को कहते हुये कि संसार में 'सबका बलाबल समय के ही अधीन है' शरद् ऋतु में कलहंसों की ध्वनि, मयूरों की केका को कठोर बनाती हुई, बड़ी मनोरम लग रही है ।'
में, जो दोष है वह 'अक्रमत्व' है। यहाँ 'इति' शब्द का प्रयोग, वस्तुतः, 'समय एव करोति बलाबलम्' इस वाक्यके बाद होना चाहिये था क्योंकि 'इति' शब्द के द्वारा इसी वाक्यार्थ का परामर्श अपेक्षित है। ऐसा न करके 'प्रणिगदन्तः' पद के बाद जो 'इति' का प्रयोग किया गया है उसमें 'अक्रमत्व' दोष आ लगा है ।

इसी प्रकार (महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव की) इस सूक्ति अर्थात्—

'कपालपाणि शिव के समागम की कामना के कारण संप्रति दो वस्तुयें शोचनीय हो गयी हैं—एक तो चन्द्रमा की वह (जगत्प्रसिद्ध) कान्तिमती कला और दूसरी लोकलोचन की चन्द्रिका तू (अर्थात् पार्वती) ।'
में, भी यह 'अक्रमत्व' ही दिखाई दे रहा है क्योंकि यहाँ 'त्वम्' पद के बाद ही 'च' शब्द का प्रयोग उचित था (न कि 'अस्य लोकस्य' के बाद । यहाँ तो 'च' के द्वारा 'चन्द्रकला' और 'लोकलोचन की चन्द्रिका पार्वती' का समुच्चय अभिप्रेत है 'लोक' का नहीं) ।

विमर्श—'अक्रमत्व' का ही दूसरा नाम 'क्रमभेद' है । भले ही यह दोष पदों के समुचित क्रम के विपर्यय के कारण हो किन्तु इसका प्रभाव श्रोता की प्रतीति पर पड़ता है और वाक्यार्थ में विसंस्थुलता उत्पन्न कर देता है जिससे 'वाक्य'-रचना के दूषित होने का निश्चय हो जाता है । 'समय एव करोति बलाबलं' आदि सूक्ति में परामर्शनीय पदार्थ के परिच्छेद के लिये 'इति' पद का प्रयोग है किन्तु यहां जो परामर्शनीय पदार्थ है वह 'समय एव करोति बलाबलम्' है न कि 'समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्तः' है । इसलिए यह स्पष्ट है कि 'इति' के

(१६—अमतपरार्थत्व)

अमतपरार्थता यथा—

'राममन्मथशरेण ताडिता—' इत्यादि।

अत्र शृङ्गाररसस्य व्यञ्जको द्वितीयोऽर्थः प्रकृतरसविरोधित्वादनिष्टः।

(१७—वाच्यानभिधान)

वाच्यस्यानभिधानं यथा—

व्युत्क्रम में यहां वाक्य विसंस्थुल हो रहा है और 'अक्रमत्व' का निदर्शन लग रहा है। यहां व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट की ये पंक्तियां ध्यान देने योग्य हैं—

'उक्तिस्वरूपावच्छेदफलो यत्रेतिरिष्यते।
न तत्र तस्मात् प्राक् किञ्चिदुक्तेरन्यत् पदं वदेत्॥
उपाधिभावाद् स्वां शक्तिं स पूर्वत्रादधाति हि।
न च स्वरूपावच्छेदः पदस्यान्यस्य सम्मतः॥
इतिनैवेतरेषामप्यव्ययानां गतिः समा।
ज्ञेयेत्थमेवमादीनां तज्जातीयार्थयोगिनाम्॥
यतस्ते चादय इव श्रूयन्ते यदनन्तरम्।
तदर्थमेवावच्छिन्द्युरासमञ्जस्यमन्यथा॥
अथानन्तर्यनियमस्तेषामर्थौचितीवशात्।
अन्यतरस्तर्हि तत्कार्यसिद्धेस्ते स्युरपार्थकाः॥
केश्चिदेव हि केषाञ्चिद् दूरस्थैरपि सङ्गतिः।
न जातु सर्वैः सर्वेषामित्येतदभिधास्यते॥ (व्यक्तिविवेक : २य विमर्श)

अर्थात् जहां किसी उक्ति के स्वरूप-व्यवच्छेद के लिए 'इति' शब्द प्रयुक्त हो वहां यह आवश्यक है कि इस 'इति' के पहले उस उक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी भी पद का प्रयोग न किया जाय। 'इति' शब्द वस्तुतः पूर्ववाक्य का अवच्छेदक हुआ करता है क्योंकि यह उसका उपाधिरूप है, इसलिए इसके पूर्व, वक्तव्य वस्तु के अतिरिक्त, अन्य किसी भी पद का निवेश अनुचित है। यही बात 'इत्थम्', 'एवम्' आदि अन्य अव्यय-पदों की भी है। क्योंकि जैसे समुच्चयार्थक 'च' अपने पूर्वनिर्दिष्ट पदार्थ का व्यवच्छेदक अथवा परामर्शकारक हुआ करता है वैसे ही 'इत्थम्', 'एवम्' आदि भी। यदि ऐसी बात न हो तो अर्थ ही असंगत हो जायगा।

वाक्य विन्यास एक कला है। इस कला में कवि को कितना सतर्क होना चाहिये इसका बड़ा सूक्ष्म विवेक 'अक्रमत्व' के निरूपण में किया गया है।

अनुवाद—'अमतपरार्थत्व' वह दोष है जिसे ऐसे वाक्य में देखा जाया करता है जिसका (अप्रकृत-रूप से अभिव्यङ्ग्य) अर्थ प्रकृत अर्थ के विरुद्ध हुआ करता है। जैसे कि (महाकवि कालिदास के रघुवंश की) इस सूक्ति अर्थात्—

'रामरूपी मन्मथ के द्वारा बाणों से आहत (ताडका)'—आदि में।

यहां 'अमतपरार्थत्व' स्पष्ट है क्योंकि यहां जो दूसरा शृङ्गारपरक (अप्रकृत) अर्थ निकल रहा है वह प्रकृत रस (वस्तुतः बीभत्स रस) रूप वाक्यार्थ का विरोधी होने के कारण 'अमत' अथवा अनुचित है।

अनुवाद—'वाच्यानभिधान' (वह दोष है जिसे ऐसे वाक्य में देखा जाया करता है जिसमें 'वाच्य' अथवा अवश्यवक्तव्य पद का 'अभिधान' नहीं रहा करता) जैसे कि—

'व्यतिक्रमलवं कं मे वीक्ष्य वामाक्षि ! कुप्यसि ।'

अत्र व्यतिक्रमलवमपीत्यपिरवश्यं वक्तव्यो नोक्तः ।

न्यूनपदत्वे वाचकपदस्यैव न्यूनता विवक्षिता, अपेस्तु न तथात्वमित्यनयोर्भेदः । एवमन्यत्रापि ।

यथा वा—

'चरणानतकान्तायास्तन्वि ! कोपस्तथापि ते ॥'

अत्र चरणानतकान्तासीति वाच्यम् ।

'अरी सुन्दर नयनों वाली ! तुमने मुझमें कौन सा प्रेम-व्यतिक्रम का लेश देखा कि रुष्ट हो गयी ?'

यहां 'व्यतिक्रमलवम्' के बाद 'अपि' (भी) का अभिधान आवश्यक था जिसके न होने से 'वाच्यानभिधान' का दोष आ लगा है क्योंकि बिना 'अपि' के अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति असंभव है । यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि 'वाच्यानभिधान' और 'न्यूनपदत्व' एक नहीं अपितु परस्पर भिन्न दोष हैं । 'न्यूनपदत्व' तो वहां हुआ करता है जहां (किसी अवश्य वक्तव्य) वाचक पद की कमी रहा करती है । उपर्युक्त उद्धरण में 'अपि' वाचक पद नहीं, इसलिए यहां 'न्यूनपदत्व' नहीं अपितु 'वाच्यानभिधान' दोष है । इसी प्रकार अन्य प्रसङ्गों में भी 'न्यूनपदत्व' और 'वाच्यानभिधान' का परस्पर भेद स्वयं समझा जा सकता है । जैसे कि इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'अरी सुन्दरी ! तुम्हारा, जिसके चरणों पर प्रियतम गिरा पड़ा हो, फिर भी, यह प्रेम-मान नहीं हटता ।'

आदि में 'वाच्यानभिधान' इसलिये है क्योंकि यहां अवश्यवक्तव्य पद 'चरणानतकान्ताऽसि' है जिसे प्रयुक्त न कर 'चरणानतकान्तायाः' का प्रयोग किया गया जो उचित नहीं ।

विमर्श (क)—काव्यप्रकाशकार का 'अनभिहितवाच्यत्व' और साहित्यदर्पणकार द्वारा निर्दिष्ट 'वाच्यानभिधान'-दोनों, वस्तुतः एक ही दोष के दो नाम हैं । काव्यप्रकाशकार ने तो 'विक्रमोर्वशीयम्' की इस सूक्ति अर्थात—

'त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः ।
कमपराधलवं मम पश्यसि त्यजसि मानिनि ! दासजनं यतः ॥'

में 'अनभिहितवाच्यत्व' की छानबीन की है और इसे इस प्रकार निरूपित किया है—

'अत्रापराधस्य लवमंपीति वाच्यम्'—(काव्यप्रकाश : ७ म उल्लास)

किन्तु साहित्यदर्पणकार ने इस दोष के ही निदर्शनार्थ 'विक्रमोर्वशीयम्' की उपर्युक्त पंक्तियों को तोड़-मरोड़ कर यह लिखा है—

'व्यतिक्रमलवं कं मे वीक्ष्य वामाक्षि ! कुप्यसि ।
अत्र व्यतिक्रमलवमपीत्यपिरवश्यं वक्तव्यो नोक्तः ॥'

यहां यह स्पष्ट है कि साहित्यदर्पणकार ने 'व्यक्तिक्रमस्य लवमपि' के बदले, बिना सोचे-समझे, समस्त 'व्यतिक्रमलवम्' पद को 'अवश्यवक्तव्य' पद बताया है । काव्यप्रकाश से भिन्नता और नवीनता के आग्रह के कारण कविराज विश्वनाथ ने यहां ऐसी असङ्गत बात लिख दी है जो कदापि क्षम्य नहीं । जब तक 'व्यतिक्रमलवम्' पद को असमस्त रूप से (व्यतिक्रमस्य लवम्) इस रूप से) प्रयुक्त न किया जाय तब तक 'अपि' की 'अवश्यवक्तव्यता' युक्तियुक्त नहीं हो सकती ।

(१८—भग्नप्रक्रमत्व)

भग्नप्रक्रमता यथा—

'एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै रावणः प्रत्यभाषत ।'

अत्र वचधातुना प्रक्रान्तं प्रतिवचनमपि तेनैव वक्तुमुचितम् । तेन 'रावणः प्रत्यवोचत' इति पाठो युक्तः । एवं च सति न कथितपदत्वदोषः, तस्योद्देश्य-व्यतिरिक्तविषयकत्वात् । इह हि वचनप्रतिवचनयोरुद्देश्यप्रतिनिर्देशत्वम् ।

यथा—

'उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।'

(ख) 'वाच्यानभिधान' दोष की एक और भी रूपरेखा है जिसे न तो काव्यप्रकाशकार ने दिखाया है और न कविराज विश्वनाथ ने ही । व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट के अनुसार, 'वाच्यानभिधान (वाच्यावचन) की यह रूप-रेखा किसी सूक्ति के लिये अपेक्षित किसी अलङ्कार के 'अवचन' अथवा 'अनभिधान' (योजना के न करने) में दिखायी दिया करती है—

'यत्रान्यस्यालङ्कारस्य विषयेऽलङ्कारान्तरनिबन्धस्सोऽपि वाच्यावचनं दोषः । तत्र समासोक्तिविषये श्लेषस्योपनिबन्धो यथा—

अलकालिकुलाकीर्णमारक्तच्छदसुन्दरम् ।
आमोदिकर्णिकाकान्तं भाति तेऽब्जमिवाननम् ॥'

अत्र हि अब्जसमुचितविशेषणोपादानसामर्थ्याच्चिप्तस्याब्जस्योपमानभावावगमः समासोक्तेरेव विषयो युक्तो न श्लेषस्य, तत्रैव तस्यानुमीयमानतया सचेतनचमत्कारकारित्वोपपत्तेः, श्लेषे तु तस्य वाच्यतया तद्विपरीतत्वादित्युक्तम् ।........',

(व्यक्तिविवेक : २य परामर्श)

अर्थात् 'वाच्यावचन' अथवा 'वाच्यानभिधान' का एक प्रकार वह है जहां किसी एक अलङ्कार के क्षेत्र में दूसरे अलङ्कार का समावेश कर दिया जाया करता है ।

अनुवाद—'भग्नप्रक्रमत्व' वह दोष है जिसे विना कारण के (किसी क्रम अथवा परिपाटी को छोड़ देना कहा जाया करता है) जैसे कि—

'मुख्य मुख्य मन्त्रियों के द्वारा इस प्रकार कहे-सुने गये (उक्तः) रावण ने उन्हें यह प्रतिभाषण दिया (प्रत्यभाषत) ।'

यहां 'उक्तः' पद में 'वच्' धातु का उपक्रम है और इसलिये (उपसंहार में भी) 'प्रत्यभाषत' के बदले 'प्रत्यवोचत' पद का ही प्रयोग उचित था (ऐसा न होने से यहां 'भग्नप्रक्रमत्व' का दोष आ लगा है)। यहां यह कहना कि 'एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै रावणः प्रत्यवोचत' कहने में 'कथितपदत्व' दोष हो जाता है, ठीक नहीं । बात यह है कि 'कथित-पदत्व' वहीं होता है जहां 'उद्देश्य-प्रतिनिर्देश-भाव' नहीं रहा करता । यहां ('एवमुक्तः··· प्रत्यवोचत ।' आदि सूक्ति में) 'कथितपदत्व' कैसे हो सकता है जबकि 'वचन' और 'प्रतिवचन' में 'उद्देश्यप्रतिनिर्देशभाव' झलक रहा है । (यह 'उद्देश्य-प्रतिनिर्देशभाव' है—'उद्देश्योऽनूद्यः स एव प्रतिनिर्देश्यः प्रतीतिमान्थर्यपरिहारार्थं पुनरभिधेयो यत्र सः' अर्थात् 'उद्देश्य-प्रतिनिर्देशभाव' वहां हुआ करता है 'जहां 'उद्देश्य' अथवा पूर्व उच्चारित का, प्रतीति की एकरसता की दृष्टि से, पुनः उच्चारण किया जाय)। 'उद्देश्यप्रतिनिर्देश-भाव' इस उदाहरण से स्पष्ट समझा जा सकता है—

'सूर्य लाल-लाल ही उदित होता है और लाल-लाल ही डूबता है ।'

इत्यत्र हि यदि पदान्तरेण स एवार्थः प्रतिपाद्यते तदान्योऽर्थ इव प्रतिभासमानः प्रतीतिं स्थगयति।

यथा वा—

'ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम्।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः॥'

अत्र 'अस्मै' इतीदमा प्रक्रान्तस्य तेनैव तत्समानाभ्यामेतददःशब्दाभ्यां वा परामर्शो युक्तो न तच्छब्देन।

यथा वा—

'उदन्वच्छिन्ना भूः स च पतिरपां योजनशतम्।'

अत्र 'मिता भूः पत्यापां स च पतिरपाम्' इति युक्तः पाठः।

एवम्—

'यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः॥'

अत्र 'सुखमीहितुम्' इत्युचितम्।

यहां यदि 'लाल-लाल' के अभिप्राय का 'ताम्र' पद के अतिरिक्त अन्य किसी (रक्त अथवा लोहित आदि) पद से प्रतिपादन किया जाय तब (पदभेद के कारण) इस अभिप्राय में भी कुछ भिन्नता प्रतीत होने लगेगी और (उदय किंवा अस्त के समय लाल-लाल सूर्य रूप) अर्थ की एकरस प्रतीति (जो यहां अपेक्षित है) स्थगित हो जायगी।

अथवा जैसे कि—'उन मरीचि आदि ऋषि-मुनियों ने हिमालय से विदा ली, शूली महादेव का दर्शन किया, उन्हें पार्वती के विवाह की पक्की बात बतायी और उनकी आज्ञा लेकर स्वर्ग-मार्ग की ओर प्रस्थान किया।' (कुमारसम्भव : सर्ग ६)

यहां भी 'भग्नप्रक्रमत्व' स्पष्ट है क्योंकि 'अस्मै' पद से, 'इदम्' के द्वारा शूली महादेव का परामर्श प्रारम्भ किया गया है और इसलिये 'इदम्' के ही द्वारा अथवा 'इदम्' के समानार्थक 'एतत्' अथवा 'अदस्' शब्द के द्वारा इसका उपसंहार भी किया जाना चाहिये था न कि 'तत्' शब्द के द्वारा ('इदम्' शब्द तो पूर्वानुभूत किंवा पुरोवर्ती वस्तु का वाचक है और 'तत्' शब्द पूर्वानुभूत किंतु अप्रत्यक्ष वस्तु का। 'इदम्' के बदले 'तत्' के प्रयोग से कवि का विवक्षित अर्थ एकरस नहीं प्रतीत होता)।

अथवा जैसेकि 'पृथ्वी समुद्र से घिरी है और सागर सैकड़ों योजन विस्तीर्ण है।'

यहां भी 'भग्नप्रक्रमत्व' ही है। यहां यदि 'मिता भूः पत्यापां स च पतिरपाम्' कर दिया जाय तो यह दोष दूर हो जायगा और अर्थ की अपेक्षित ऐक्य-प्रतीति निर्विघ्न होती रहेगी।

अथवा जेसे कि—'यश पाने के लिये, सुख पाने की इच्छा से अथवा समाज में सर्वश्रेष्ठ बनने के लिये, जो लोग निष्काम रूप से सतत कर्त्तव्यपरायण रहा करते हैं वस्तुतः उन्हीं के पास सफलता उत्सुकता से पहुँच सकती है—

(किरातार्जुनीय : ३ य सर्ग)

यहां भी 'भग्नप्रक्रमत्व' झलक रहा है। यहां यदि ('सुखलिप्सया' के बदले) 'सुखमीहितुम्' कर दिया जाय तो यह दोष दूर हो जायगा।

अत्राद्ययोः प्रकृतिविषयः प्रक्रमभेदः। तृतीये पर्यायविषयः, चतुर्थे प्रत्ययविषयः। एवमन्यत्रापि।

(१९—प्रसिद्धित्याग)

प्रसिद्धित्यागो यथा—

'घोरो वारिमुचां रवः।

अत्र मेघानां गर्जितमेव प्रसिद्धम्। यदाहुः—

'मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु च कूजितप्रभृति।
स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम्॥' इत्यादि।

इन उपर्युक्त उदाहरणों में, पहले दोनों (अर्थात् 'एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यैः' और 'ते हिमालयमामन्त्र्य') में 'भग्नप्रक्रमत्व' 'प्रकृतिविषयक' है; तीसरे (अर्थात् 'उदन्वच्छिन्ना भूः' आदि) में 'पर्यायविषयक' है और चौथे (अर्थात् 'यशोऽधिगन्तुम्' आदि) में 'प्रत्ययविषयक' है। इसी भांति अन्यत्र अन्यान्यविषयक 'भग्नप्रक्रमत्व' स्वयं देखा जा सकता है।

विमर्श—'भग्नप्रक्रमत्व' (प्रक्रमभेद) की व्यक्तिविवेककार-कृत यह मीमांसा यहां ध्यान देने योग्य है—

'प्रक्रमभेदोऽपि शब्दानौचित्यमेव। स हि यथा प्रक्रममेकरसप्रवृत्ताया प्रतिपत्तृप्रवृत्तेः खातः इव परिस्खलनखेददायी रसभङ्गाय पर्यवस्यति। किञ्च सर्वत्रैव शब्दार्थव्यवहारे विद्वद्भिरपि लौकिकक्रमोऽनुसर्त्तव्यः। लोकश्च मा भूद्रसास्वादप्रतीतेः परिम्लानतेति यथाप्रक्रममेवैनमाद्रियते नान्यथा। स चायमनन्तप्रकारः संभवति। प्रकृति-प्रत्यय-पर्यायादीनां तद्विषयभावाभिमतानामानन्त्यात्।.........',

(व्यक्तिविवेक : २य विमर्श)

अर्थात् प्रक्रमभेद एक प्रकार का शब्दानौचित्य है। जैसे कोई रथारोही ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर चलने में निरन्तर गिरने से डरा करता है और रथारोहण का आनन्द भी नहीं पाया करता वैसे ही 'प्रक्रमभेद' के प्रसङ्गों में सहृदय सामाजिक रसास्वाद से वञ्चित रहा करता है। प्रक्रम का भङ्ग काव्य का एक अक्षम्य अपराध है। इसके प्रकार अनन्त हैं।* प्रकृति-प्रक्रमभेद, सर्वनाम-प्रक्रमभेद, प्रत्यय-प्रक्रमभेद, पर्याय-प्रक्रमभेद, विभक्ति-प्रक्रमभेद, उपसर्ग-प्रक्रमभेद, वचन-प्रक्रमभेद, कालविशेष-प्रक्रमभेद, कारकशक्ति-प्रक्रमभेद आदि-आदि प्रकार इसके प्रमुख भेदों में गिने जाया करते हैं।

अनुवाद—'प्रसिद्धित्याग' (वह दोष है जिसे 'कविसमय'प्रसिद्धि का त्याग कहा गया है) जैसे कि—

'यह मेघों का भयङ्कर रव......आदि' सूक्ति।

यहाँ 'प्रसिद्धित्याग' इसलिये है क्योंकि मेघों के सम्बन्ध में 'गर्जित' शब्द प्रसिद्ध है न कि 'रव'। जैसे कि (रुद्रट के काव्यालङ्कार में) कहा भी गया है—

'मञ्जीर आदि की ध्वनि के सम्बन्ध में 'रणित' प्रभृति, पक्षियों के शब्द के सम्बन्ध में 'कूजित' प्रभृति, संभोग के शब्द के प्रसङ्ग में 'स्तनित', 'मणित' आदि और मेघ आदि के सम्बन्ध में 'गर्जित' प्रभृति शब्द प्रसिद्ध हैं।'

विमर्श—यहाँ 'प्रसिद्धि' का अभिप्राय जैसा कि काव्यप्रकाशकार का कथन है, एक प्रकार के 'कवि-समय' का अभिप्राय है—

(२०—अस्थानस्थपदत्व)

अस्थानस्थपदता यथा—

'तीर्थेतदीये गजसेतुबन्धात्प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम् ।
अयत्नबालव्यजनीबभूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः ॥'

अत्र तदीयपदात्पूर्वं गंगामित्यस्य पाठो युक्तः । एवम्—

'हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः ॥'

अत्र संशृणुत इत्यतः पूर्वं नञः स्थितिरुचिता ।

अत्र च पदमात्रस्यास्थाने निवेशेऽपि सर्वमेव वाक्यं विवक्षितार्थप्रत्यायने मन्थरमिति वाक्यदोषता । एवमन्यत्रापि । इह केऽप्याहुः—'पदशब्देन वाचक-

---

'मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु च कूजितप्रभृति ।
स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम् ॥'

इति प्रसिद्धिमतिक्रान्तम् । यथा—

'महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्त्तक—
प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरुतानुकारी मुहुः ।
रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः
कुतोऽद्य समरोदधे रयमभूदपूर्वः पुरः ॥'

अत्र रवो मण्डूकादिषु प्रसिद्धो न तूक्तविशेषे सिंहनादे ।

और इस 'प्रसिद्धि' के त्याग में प्रसिद्धित्याग अथवा 'प्रसिद्धिहतत्व' की संभावना स्वाभाविक है ।

अनुवाद—'अस्थानस्थपदत्व' (वह दोष है जिसे अनुचित स्थान में किसी पद के विन्यास में देखा जाया करता है) जैसे कि (महाकवि कालिदास के रघुवंश की यह सूक्ति—

'उसके तीर्थ अथवा जलावतरणस्थान पर, गजसमूह के द्वारा सेतु का निर्माण कर, जब कि महाराज कुश प्रतिकूलगामिनी गङ्गा को पार किया करते थे, तब आकाशमार्ग के पार करने में चञ्चल पङ्खवाले हंस, उनके लिये अकृत्रिम चमर का काम करने लगते थे ।'

यहां 'अस्थानस्थपदत्व' इसलिये है क्योंकि 'तदीय' पद अनुचित स्थान पर पड़ा हुआ है । यहां यदि 'तदीय' पद के पहले 'गङ्गाम्' का प्रयोग कर दिया जाय, तो ('तत्' के द्वारा पूर्वनिर्दिष्ट 'गङ्गा' का परामर्श होने से) यह दोष हट जाय ।

इसी प्रकार (महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय की) यह सूक्ति—

'जो राजा अपने हितचिन्तकों से हित की बात नहीं सुनता······' आदि ।

यहाँ भी 'अस्थानस्थपदत्व' है क्योंकि 'नञ्' का प्रयोग अनुचित स्थान पर किया हुआ है । यहां 'संशृणुते' के पहले 'न' का प्रयोग उचित होता (और तब यह दोष भी हट जाता) ।

यहां यह शङ्का ठीक नहीं कि जब पदमात्र के, अस्थान (अनुचित स्थान) पर रहने के कारण 'अस्थानस्थपदत्व' दोष उत्पन्न होता है तब इसको पददोष क्यों न माना जाय । कारण यह है कि किसी पद के अनुचित स्थान पर पड़े रहने पर, समस्त वाक्य अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति में शिथिल हो जाता है जिससे इसे 'वाक्यदोष' मानना ही युक्तियुक्त है । यही बात वस्तुतः अन्य वाक्यगत दोषों के सम्बन्ध में भी लागू होती है ।

यहाँ कुछ लोग यह कहते हैं कि 'अस्थानस्थपदत्व' में जो 'पद' शब्द है उससे वाचक

मेव प्रायशो निगद्यते, न च नञो वाचकता; निर्विवादात्स्वातन्त्र्येणार्थबोधनविरहात्' इति। यथा—'द्वयं गतम्-' इत्यादौ त्वमित्यनन्तरं चकारानुपादानादक्रमता तथात्रापीति।

(२१—अस्थानस्थसमासत्व)

अस्थानस्थसमासता यथा—

'अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः।
प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणा-
त्फुल्लत्कैरवकोषनिःसरदलिश्रेणीकृपाणं शशी॥'

पद का ही ग्रहण हुआ करता है और इसलिये जब कि 'हितान्न यः संश्रृणुते' आदि में 'नञ्' वाचक पद नहीं, क्योंकि निर्विवाद और स्वतन्त्र रूप से इसमें अर्थबोधकता नहीं रहा करती, तब यहां यह दोष भी नहीं माना जा सकता। यहाँ तो जैसे (द्वयं गतम्) आदि सूक्ति में, 'त्वम्' के बाद 'च' के अनुपादान में 'अक्रमत्व' माना जाया करता है, वैसे ही 'अक्रमत्व' ही मानना ठीक है (अस्थानस्थपदत्व नहीं)।

विमर्श—यहाँ यह बात विचारणीय है कि साहित्यदर्पणकार ने तो महाकवि कालिदास की 'तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्' आदि सूक्ति में 'अस्थानस्थपदत्व' का निरीक्षण किया है और प्राचीन काव्याचार्य महिमभट्ट ने 'क्रमभेद', जैसा कि इन पंक्तियों में स्पष्ट है—

'तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात् प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम्।' इति। अत्र हि परामर्शनीयमर्थमनुक्त्वैव यस्तस्य सर्वनामपरामर्शः स क्रमभेदो दोषः। तस्य हि प्रक्रान्तोऽर्थो विषय इष्टो न प्रक्रंस्यमानः, तस्य स्मृतिपरामर्शरूपत्वात्। स्मृतेश्चानुभूत एवार्थो विषयो नानुभविष्यमाणः। अत्र च प्रतीतिमात्रमनुभवोऽभिमतो नेन्द्रियविषयभावः। न स गङ्गार्थः प्रतीतपूर्वो यः परामृश्येतेति परामर्श-क्रमभेदो दोषः।' (व्यक्तिविवेक : २य विमर्श)

अर्थात् 'तीर्थे तदीये' आदि में 'क्रमभेद' है क्योंकि यहाँ परामर्शयोग्य अर्थ का निरूपण किये बिना ही, उसे 'तत्' सर्वनाम द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। प्रक्रान्त (वर्णन के लिये उपस्थापित) अर्थ ही 'तत्' के द्वारा परामर्श योग्य माना जा सकता है न कि प्रक्रंस्यमान अर्थ (वह अर्थ जिसका निरूपण आगे किया जाय)। जब गङ्गारूप अर्थ का पहले कोई पता नहीं, तब उसका ('तदीये') 'तत्' द्वारा कैसा परमर्श ? इसलिये परामर्श के क्रम का भंग होने से यहाँ 'क्रमभेद' निश्चित है।

वस्तुतः यहाँ व्यक्तिविवेककार की ही दोष-समीक्षा ठीक है, साहित्यदर्पणकार की नहीं। बात यह है कि 'तीर्थे तदीये' आदि सूक्ति में पदनिवेश के अनौचित्य से अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति नहीं हो पाती जिसके कारण यहाँ क्रमभेद अथवा अक्रमत्व मानना ही उचित है। 'अस्थानस्थपदत्व' में प्रस्तुत अर्थ प्रतीत होता है और पद-निवेश खटका करता है।

अनुवाद—'अस्थानस्थसमासत्व' (वह दोष है जिसे किसी वाक्य में, किसी समस्त पदावली के अनुचित प्रयोग में देखा जाया करता है) जैसे कि—

'अरे ! यह चन्द्रमा तो संभवतः यह सोचकर कि उसके सामने भी, स्तनों के 'शैल दुर्ग से विकट, रमणियों के हृदय में प्रेम-कोप स्थान पाना चाहता है, क्रोध से तमतमाया'

अत्र कोपिन उक्तौ समासो न कृतः, कवेरुक्तौ कृतः।

(२२—सङ्कीर्णत्व)

वाक्यान्तरपदानां वाक्यान्तरेऽनुप्रवेशः सङ्कीर्णत्वम्। यथा—

'चन्द्रं मुञ्च कुरङ्गाक्षि! पश्य मानं नभोऽङ्गने।'

अत्र नभोऽङ्गने चन्द्रं पश्य मानं मुञ्चेति युक्तम्।

'क्लिष्टत्वमेकवाक्यविषयम्' इत्यस्माद्भिन्नम्।

(२३—गर्भितत्व)

वाक्यान्तरे वाक्यान्तरानुप्रवेशो गर्भितता। यथा—

'रमणे चरणप्रान्ते प्रणतिप्रवणेऽधुना।

वदामि सखि! तत्त्वं ते कदाचिन्नोचिताः क्रुधः॥'

हुआ अपने लम्बे-लम्बे किरण-हस्त को फैलाये, शीघ्रता के साथ, विकसित कुमुद-कोश से भ्रमरावली के रूप में, अपनी कटार खींचता दिखायी पड़ रहा है।'

यहां 'अस्थानस्थसमासत्व' है क्योंकि क्रुद्ध (चन्द्रमा) की उक्ति में समास नहीं किया गया (जोकि बन्धदार्ढ्य के लिये उचित था) और कवि की उक्ति (अर्थात् प्रोद्यद्-दूरतरप्रसारितकरः' और 'फुल्लत्कैरवकोशनिःसरदलिश्रेणीकृपाणः') में समास कर दिया गया (जहां बन्ध सौकुमार्य कहीं अधिक अच्छा लगता)।

विमर्श—'अस्थानस्थसमासत्व' का साहित्यदर्पणकारकृत निरूपण वस्तुतः 'काव्यप्रकाश' का अक्षरशः अनुकरण अथवा अनुसरण है। 'अस्थानस्थसमासत्व इसलिये वाक्यदोष है क्योंकि बन्ध की ओजस्विता के विना रसभाव का समुचित आस्वाद नहीं मिल सकता।

अनुवाद—**'सङ्कीर्णत्व'** वह दोष है जिसे एक वाक्य के अन्तर्गत प्रयोगोचित पदों का, दूसरे वाक्य में अनुप्रवेश कहा करते हैं। जैसे कि—

'अरी मृगनयनी! चन्द्रमा को छोड़, देख अपने मान को, इस आकाश के आंगन में।'

यहां युक्तियुक्त वाक्य यह होता—'नभोङ्गने चन्द्रं पश्य, मानं मुञ्च'—(आकाश के आंगन में चन्द्रमा को देख और अपना मान छोड़)।'

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि 'सङ्कीर्णत्व' और 'क्लिष्टत्व' में परस्पर भेद है। 'सङ्कीर्णत्व' अनेक वाक्यविषयक दोष है और 'क्लिष्टत्व' एक वाक्यविषयक।

विमर्श—सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोजराज के अनुसार 'सङ्कीर्णत्व' का यह स्वरूप विमर्श है—

'वाक्यान्तरपदैर्मिश्रं संकीर्णमिति तद्विदुः। यथा—

काकं खादति क्षुधितः कूरं फेल्लति निर्भरं रुष्टः।

श्वानं गृह्णाति कण्ठे हक्कायति नप्तारं स्थविरः॥'

जिसे 'रत्नदर्पणकार' ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'वाक्यान्तरसंवलितानि पदानि वाक्यान्तरमनुप्रविश्य तथा प्रतीतिं विघ्नन्ति, यथा समुदाय एव दूषितो भवति।'

अनुवाद—**'गर्भितत्व'** वह दोष है जिसे एक वाक्य के भीतर दूसरे वाक्य का अनुप्रवेश कहा गया है। जैसे कि—

'अरी सखी! जब कि प्रियतम पैरों पर क्षमायाचना के लिये गिरा पड़ा हो, तब इस समय, मेरा तुमसे यही कहना है कि, क्रोध करना उचित नहीं।'

(अर्थदोष : स्वरूप तथा भेद)

अर्थदोषानाह—

अपुष्टदुष्क्रमग्राम्यव्याहताश्लीलकष्टताः ।
अनवीकृतनिर्हेतुप्रकाशितविरुद्धताः ॥ ९ ॥
सन्दिग्धपुनरुक्तत्वे ख्यातिविद्याविरुद्धते ।
साकाङ्क्षता सहचरभिन्नताऽस्थानयुक्तता ॥ १० ॥
अविशेषे विशेषश्चानियमे नियमस्तथा ।
तयोर्विपर्ययौ विध्यनुवादायुक्तते तथा ॥ ११ ॥
निर्मुक्तपुनरुक्तत्वमर्थदोषाः प्रकीर्तिताः ।

तद्विपर्ययो विशेषेऽविशेषो नियमेऽनियमः ।

(१—अपुष्टत्व)

अत्रापुष्टत्वं मुख्यानुपकारित्वम् । यथा—

'विलोक्य वितते व्योम्नि विधुं मुञ्च रुषं प्रिये !'

अत्र विततशब्दो मानत्यागं प्रति न किञ्चिदुपकुरुते ।

[यहां 'रमणे चरणप्रान्ते प्रणतिप्रवणेऽधुना क्रुधः कदाचित् नोचिताः'—इस वाक्य के भीतर 'वदामि सखि ते तत्त्वम्' यह वाक्य आ घुसा है जिससे अर्थ की प्रतीति ठीक नहीं हो पाती ।]

अनुवाद—अर्थ के दोष ये हैं—

(१) अपुष्टत्व, (२) दुष्क्रमत्व, (३) ग्राम्यत्व, (४) व्याहतत्व, (५) अश्लीलत्व, (६) कष्टत्व, (७) अनवीकृतत्व, (८) निर्हेतुत्व, (९) प्रकाशितविरुद्धत्व, (१०) सन्दिग्धत्व, (११) पुनरुक्तत्व, (१२) ख्यातिविरुद्धत्व, (१३) विद्याविरुद्धत्व, (१४) साकांक्षत्व, (१५) सहचरभिन्नत्व, (१६) अस्थानयुक्तत्व, (१७) अविशेष में विशेष (अविशेषपरिवृत्तत्व), (१८) अनियम में नियम (अनियमपरिवृत्तत्व), (१९) विशेष में अविशेष (विशेषपरिवृत्तत्व), (२०) नियम में अनियम (नियमपरिवृत्तत्व), (२१) विध्ययुक्तत्व, (२२) अनुवादायुक्तत्व और (२३) निर्मुक्तपुनरुक्तत्व ।

यहां 'तयोर्विपर्ययौ' का अभिप्राय है (अविशेष में विशेष का विपर्यय अर्थात्) 'विशेष में अविशेष' और (अनियम में नियम का विपर्यय अर्थात्) 'नियम में अनियम' ।

अनुवाद—'अपुष्टत्व' वह अर्थदोष है जिसे मुख्य अर्थ के अनुपकारक किसी पदार्थ की योजना में देखा जाया करता है । जैसे कि—

'प्रिये ! इस वितत व्योम में चन्द्रमा को देख और मान छोड़ दे ।' यहां जो मुख्य अर्थ है वह 'मानत्याग' है और इस मुख्य अर्थ के प्रति, व्योम के विशेषणरूप से प्रयुक्त

अधिकपदत्वे पदार्थान्वयप्रतीतेः समकालमेव बाधप्रतिभासः, इह तु पश्चादिति विशेषः।

(२—दुष्क्रमत्व)

दुष्क्रमता यथा—

'देहि मे वाजिनं राजन्! गजेन्द्रं वा मदालसम्।'

अत्र गजेन्द्रस्य प्रथमं याचनमुचितम्।

(३—ग्राम्यत्व)

'स्वपिहि त्वं समीपे मे स्वपिम्येवाधुना प्रिये!।'

अत्रार्थो ग्राम्यः।

(४—व्याहतत्व)

कस्यचित्प्रागुत्कर्षमपकर्षं वाभिधाय पश्चात्तदन्यप्रतिपादनं व्याहतत्वम्!

यथा—

'हरन्ति हृदयं यूनां न नवेन्दुकलादयः।
वीक्ष्यते यैरियं तन्वी लोकलोचनचन्द्रिका॥'

'वितत' रूप पदार्थ की कोई उपयोगिता नहीं प्रतीत होती। यहाँ 'अधिकपदत्व' की शंका नहीं होनी चाहिए क्योंकि 'अपुष्टत्व' और 'अधिकपदत्व' में परस्पर भेद है। 'अधिकपदत्व' में तो पदार्थों की अन्वय-प्रतीति के ही साथ बाध का भी भान हो उठता है किन्तु 'अपुष्टत्व' में (जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण में स्पष्ट है), अन्वय-प्रतीति के बाद ही बाध-प्रतीति हुआ करती है।

अनुवाद—'दुष्क्रमत्व' वह अर्थदोष है जिसे वस्तुओं के निबन्धन-क्रम के अनौचित्य में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'महाराज! मुझे एक घोड़ा दे दीजिये अथवा न हो तो एक मदोन्मत्त गजराज ही दे डालिए।'

यहाँ 'दुष्क्रमत्व' स्पष्ट है क्योंकि 'अश्वयाचन' से पहले गजेन्द्र-याचन का उपनिबन्ध उचित होता।

[बहुमूल्य वस्तु की माँग पहले की जाती है जिसके न मिल सकने की दशा में अल्पमूल्य वस्तु की याचना का अवसर आता है। लोक में याचना का यही क्रम है। इसे बिगाड़ कर यहाँ कवि ने 'दुष्क्रमत्व' का आह्वान किया है]

अनुवाद—'ग्राम्यत्व' वह अर्थदोष है जिसे अविदग्ध मनुष्यों की सी बातचीत में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'तू मेरे पास सोना। प्रिये! मैं अभी तेरे पास ही सोऊँगा।'

यहाँ 'ग्राम्यत्व' स्पष्ट है क्योंकि यहाँ प्रेमी और प्रेमिका का यह प्रेम-प्रकाशन अविदग्धता और असभ्यता-पूर्ण लग रहा है।

अनुवाद—'व्याहतत्व' वह अर्थदोष है जिसे वहाँ देखा जाया करता है जहाँ किसी वस्तु का पहले उत्कर्ष या अपकर्ष दिखा कर, बाद में, उसके विपरीत अपकर्ष या उत्कर्ष-वर्णन होने लगता है। जैसे कि—

'नवोदित चन्द्र-चन्द्रिका आदि के दर्शन से युवा प्रेमियों का हृदय वश में नहीं हो पाता। उनका हृदय तो इस सुन्दरी के दर्शन से वश में हुआ करता है जो कि लोक-लोचन की चन्द्रिका है।'

अत्र येषामिन्दुकला नानन्दहेतुस्तेषामेवानन्दाय तन्व्याश्चन्द्रिकात्वारोपः।

(५—अश्लीलत्व)

'हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः।
यथाशु जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः॥'

अत्रार्थोऽश्लीलः।

(६—कष्टत्व)

'वर्षत्येतदहर्पतिर्न तु घनो धामस्थमच्छं पयः
सत्यं सा सवितुः सुता सुरसरित्पूरो यया प्लावितः।
व्यासस्योक्तिषु विश्वसित्यपि न कः, श्रद्धा न कस्य श्रुतौ
न प्रत्येति तथापि मुग्धहरिणी भास्वन्मरीचिष्वपः॥'

अत्र यस्मात्सूर्योद्‌वृष्टेर्यमुनायाश्च प्रभवस्तस्मात्तयोर्जलमपि सूर्यप्रभवम्। ततश्च सूर्यमरीचीनां जलप्रत्ययहेतुत्वमुचितम्, तथापि मृगी भ्रान्तत्वात्तत्र

यहां 'व्याहतत्व' इसलिए है क्योंकि पहले तो चन्द्र-चन्द्रिका को युवा प्रेमियों का आनन्द-निदान न बताया गया (अपकर्ष-वर्णन) और अब उनके आनन्द के हेतु-रूप में सुन्दरी पर चन्द्रिका का आरोप कर दिया गया (उत्कर्ष-वर्णन)।

अनुवाद—'अश्लीलत्व' वह अर्थदोष है जिसे व्रीडा, जुगुप्सा, अमङ्गल आदि-आदि के अभिव्यञ्जक अर्थ में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'ऐसे क्रूरहृदय पुरुष का, जो मारने में लगा रहता है, अकड़ा रहा करता है और छिन्द्रान्वेषण में तत्पर हुआ करता है, पतन जितना शीघ्र संभव है उतना उत्थान नहीं।'

यहाँ 'अश्लीलत्व' स्पष्ट है क्योंकि यहाँ जो दूसरा अर्थ अभिव्यक्त हो रहा है—'जो सुरतक्रीड़ा में, योनि-ताडन में लगा करता है, स्तब्ध है और योनिच्छिद्र को ढूँढ़ा करता है ऐसे दुष्ट शिश्न (पुरुषेन्द्रिय) का पतन जितना शीघ्र संभव है उतना उत्थान नहीं।' यह अश्लील है।

विमर्श—अर्थगत 'अश्लीलत्व' काव्य-साहित्य में इसलिये दोष माना गया है क्योंकि काव्य का प्रयोजन सरसोपदेश भी है। 'सरसोपदेश' और 'अश्लीलत्व' साथ नहीं रह सकते। सभ्यता और संस्कृति की रक्षा कविता का भी उद्‌देश्य है। इसलिये कविजन को अश्लीलता-पूर्ण विषयों की अवतारणा से बचना आवश्यक है। अन्यथा सहृदय-हृदय में उद्वेग उत्पन्न हो सकता है, न कि भाव-संवेग जोकि रसास्वाद में ही संभव है। 'अश्लीलता' रस-विघातक है। इसलिये दोष है।

अनुवाद—'कष्टत्व' वह अर्थदोष है जिसके कारण कोई अर्थ कष्टपूर्वक अवगत हुआ करता है। जैसे कि—

'वह सूर्य है जो कि अपने मण्डलान्तर्गत निर्मल जल की वर्षा किया करता है, मेघ भला यह वर्षा कैसे करे। वह सूर्यसुता यमुना है जो कि सुरनदी गङ्गा को आप्लावित किया करती है, न कि और कोई। भला कौन है जो महर्षि व्यास के वचन (सूर्य से वृष्टि की होने की बात) पर विश्वास न करे? ऐसा कौन है जिसे श्रुति पर ('आदित्याज्जायते वृष्टिः' आदि श्रुति-वचन पर) श्रद्धा न हो? किन्तु यह मुग्ध मृगी ऐसी है जा सूर्यरश्मियों में जल की संभावना पर बिलकुल विश्वास नहीं करती।'

यहाँ 'कष्टत्व' है। यहां यह अप्रस्तुत अर्थ निकल रहा है—'वृष्टि और यमुना—दोनों का जल सूर्य से उत्पन्न होता है क्योंकि वृष्टि और यमुना—दोनों सूर्य से उत्पन्न हैं। इसलिये

जलप्रत्ययं न करोति। अयमप्रस्तुतोऽप्यर्थो दुर्बोधः, दूरे चास्मत्प्रस्तुतार्थबोध इति कष्टार्थत्वम्।

(७—अनवीकृतत्व)

'सदा चरति खे भानुः सदा वहति मारुतः।
सदा धत्ते भुवं शेषः सदा धीरोऽविकत्थनः॥'

अत्र सदेत्यनवीकृतत्वम्।

अत्रास्य पदस्य पर्यायान्तरेणोपादानेऽपि यदि नान्यद्विच्छित्त्यन्तरं तदास्य दोषस्य सद्भाव इति कथितपदत्वाद्भेदः।

नवीकृतत्वं यथा—

'भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति।
बिभर्त्ति शेषः सततं धरित्रीं षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः॥' इति।

सूर्यरश्मियों में जल की संभावना पर विश्वास उचित है किन्तु हरिणी मतिभ्रम में पड़ी है और उसे सूर्य-किरणों में पानी का विश्वास नहीं हो रहा है।' यह अप्रस्तुत अर्थ स्वयं कष्टसाध्य है और इसलिये इसके आधार पर निकलने वाला प्रस्तुत अर्थ अर्थात् नायक पर नायिका के अविश्वास का अभिप्राय और भी अधिक दुःसाध्य बन रहा है।

अनुवाद—'अनवीकृतत्व' वह अर्थदोष है जिसे, एक ही प्रकार से, बिना किसी विचित्रता और नवीनता के, किसी अर्थ के उपन्यास में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'सूर्य सदा आकाश में विचरण करता है, वायु सदा बहती रहा करती है, शेषनाग सदा पृथ्वी का भार वहन किया करते हैं और गम्भीर स्वभाव के लोग सदा आत्मश्लाघा-पराङ्मुख हुआ करते हैं।'

यहां 'अनवीकृतत्व' है क्योंकि प्रत्येक बार 'सदा' के प्रयोग से चारों चरणों के अर्थ, विचित्रता और नवीनता से शून्य लग रहे हैं।

यहां 'कथितपदत्व' की आशङ्का नहीं होनी चाहिये क्योंकि 'कथितपदत्व' और 'अनवीकृतत्व' में परस्पर भेद है। यहां तो 'अनवीकृतत्व' स्पष्ट है क्योंकि 'सदा' पद के बदले इसके अन्य (सर्वदा, अजस्र आदि) पर्यायवाचक पद के प्रयोग में भी यहां किसी विचित्रता का आधान नहीं हो सकता (किन्तु 'कथितपदत्व' में पर्याय-परिवर्तन से दोष-मुक्ति सभी मानते हैं)।

उपर्युक्त सूक्ति में नवीनता का आधान इस प्रकार सम्भव है (जैसा कि महाकवि कालिदास की निम्न सूक्ति में स्पष्ट है)—

'सूर्य एक बार ही अपने रथ में घोड़ों को जोता करता है, वायु, क्या रात और क्या दिन, निरन्तर बहा करती है, शेष सदा पृथ्वी का भार वहन किया करता है और जो षष्ठांशवृत्ति (प्रजापालक) राजगण हैं उनका भी धर्म यह सतत कर्त्तव्यशीलता ही है।'

विमर्श—'सदा चरति खे भानुः' में 'अनवीकृतत्व' और भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव' में 'नवीकृतत्व' स्पष्ट है। नवीनता में चमत्कार है। पिष्टपेषण में चमत्कार कहाँ? 'सदा चरति' आदि में तो एक प्रकार के ही अर्थ का एक प्रकार से ही अभिधान है किन्तु 'भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव' आदि में, भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णित भिन्न-भिन्न धर्मों में संवलित एक अर्थ का उपन्यास किया हुआ है।

(८—निर्हेतुत्व)

'गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि
प्रभावाद्यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः ।
परित्यक्तं तेन त्वमपि सुतशोकान्न तु भया-
द्विमोक्ष्ये शस्त्र ! त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥'

अत्र द्वितीयशस्त्रमोचने हेतुर्नोक्त इति निर्हेतुत्वम् ।

(९—प्रकाशितविरुद्धत्व)

'कुमारस्ते नराधीश ! श्रियं समधिगच्छतु ।'

अत्र 'त्वं म्रियस्व' इति विरुद्धार्थप्रकाशनात्प्रकाशितविरुद्धत्वम् ।

(१०—संदिग्धत्व)

'अचला अबला वा स्युः सेव्या ब्रूत मनीषिणः ? ।'

अत्र प्रकरणाभावाच्छान्तश्रृङ्गारिणोः को वक्तेति निश्चयाभावात्सन्दिग्धत्वम् ।

अनुवाद—'निर्हेतुत्व' वह अर्थदोष है जिसे बिना किसी हेतु के उपन्यस्त अर्थ में देखा जाया करता है । जैसे कि (वेणीसंहार, ३य अङ्क की यह सूक्ति)—

'अरे शस्त्र ! क्षात्रकृत तिरस्कार के भय से, ब्राह्मणोचित आचार के प्रतिकूल भी, तुझे, जिस मेरे पूज्य पिता ने ग्रहण किया, उनके प्रभाव से तू सर्वत्र अप्रतिहत और अप्रधृष्य रहता आया है । उन्होंने तेरा परित्याग कर दिया केवल पुत्र-शोक के कारण, किसी के डर से नहीं । अब मैं भी तुझे छोड़ रहा हूँ । जा तेरा कल्याण हो ।'

यहाँ 'निर्हेतुत्व' इसलिये है क्योंकि (जैसे द्रोण-कृत शस्त्रपरित्याग के लिये सुतशोक को हेतुरूप से उपन्यस्त किया गया है वैसे) अश्वत्थामा द्वारा किये जानेवाले शस्त्र-परित्याग के लिये कोई हेतु उपन्यस्त नहीं किया गया ।

अनुवाद—'प्रकाशितविरुद्धत्व' वह अर्थदोष है जिसे ऐसे अभिव्यङ्ग्य अर्थ में देखा जाया करता है जो कि विवक्षित अर्थ के प्रतिकूल लगा करता है । जैसे कि—

'महाराज ! आपके राजकुमार को राजलक्ष्मी मिले ।' यहां एक अर्थ प्रकाशित हो रहा है—'महाराज ! अब आप मर जाँय ।' और यह स्पष्ट है कि यह अर्थ यहां विवक्षित अभिप्राय के सर्वथा विरुद्ध है । इसलिए यहां 'प्रकाशितविरुद्धत्व' स्पष्ट है ।

अनुवाद—'संदिग्धत्व' वह अर्थदोष है जिसे ऐसे अर्थ में देखा जाया करता है जो कि संदिग्ध रहा करता है । जैसे कि—

'पण्डितगण ! आप ही बतावें कि (परमेश्वर की आराधना के लिये) पर्वत की शरण लूँ या (सुरत-सुख के लिये) अबलाओं की सेवा करूँ ।'

यहां 'संदिग्धत्व' इसलिये है क्योंकि प्रकरण के अभाव में यह निश्चय करना असम्भव है कि यहां का वक्ता शान्तप्रकृति का है या श्रृङ्गारी ।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने 'संदिग्धत्व' के निदर्शन-रूप में यह काव्य-सूक्ति उद्धृत की थी—

'मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥'

और साहित्यदर्पणकार ने इस को तोड़-मरोड़कर इस प्रकार बना दिया—

'अचला अबला वा स्युः सेव्या ब्रूत मनीषिणः ।'

(११—पुनरुक्तत्व

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥'
अत्र द्वितीयार्धे व्यतिरेकेण द्वितीयपादस्यैवार्थ इति पुनरुक्तता ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि विश्वनाथ कविराज की उदाहरण-सूक्ति काव्य-सूक्ति नहीं और तब यहाँ दोष-निरीक्षण भी निष्प्रयोजन ही है।

अनुवाद—'पुनरुक्तत्व' वह अर्थदोष है जिसे एक प्रकार से प्रतिपादित अर्थ के पुनः प्रकारान्तर से प्रतिपादन में देखा जाया करता है जैसे कि—

'सहसा कोई कार्य करना ठीक नहीं, अविवेकिता ही आपदाओं की जननी है। संपदा तो स्वयं ही गुण खोजती है और विवेकी का स्वयंवरण किया करती है।'

यहाँ 'पुनरुक्तत्व' है क्योंकि (इस श्लोक के पूर्वार्द्ध के) द्वितीय पाद (अविवेकः परमापदां पदम्) का ही अर्थ उत्तरार्ध में व्यतिरेक द्वारा (वृणते हि विमृश्यकारिणं गुण-लुब्धाः स्वयमेव संपदः) उपन्यस्त किया हुआ है।

विमर्श—व्यक्तिविवेककार ने 'पुनरुक्तत्व' (पौनरुक्त्य) का बड़ा विशद विचार किया है। उनकी दृष्टि में 'आर्थ पौनरुक्त्य' एक महादोष है—

'पौनरुक्त्यमार्थमेवाभ्युपगन्तुं युक्तं न शाब्दं तस्यार्थभेदे सत्यदुष्टत्वात्। यदुक्तं 'तच्च न शब्दपुनरुक्तं पृथग् वाच्यम्, अर्थपुनरुक्तत्वेनैव गतार्थत्वात्। न ह्यर्थभेदे शब्द-साम्येऽपि कश्चिद्दोषः। यथा—

'हसति हसति स्वामिन्युच्चै रुदत्यपि रोदिति
द्रविणकणिकाक्रीतं यन्त्रं प्रनृत्यति नृत्यति ॥' इति

तदभेदे तु दुष्टतैव। अन्यत्र तात्पर्यभेदात्। तच्च भूषणमेव न दूषणम्। तस्यानुप्रासविशेष-विषयत्वेनेष्टत्वात्।' (व्यक्तिविवेक : २य विमर्श)

अर्थात् 'अर्थपुनरुक्ति' के अतिरिक्त 'शब्दपुनरुक्ति' मानने की कोई आवश्यकता नहीं। 'शब्द-पुनरुक्ति' सर्वत्र दोष भी नहीं क्योंकि अर्थभेद होने पर शब्द-साम्य में क्या दोष ! अर्थ के एक होने पर ही शब्द-साम्य दोषावह हुआ करता है। किन्तु तात्पर्यभेद होने पर अर्थैक्य में भी शब्द-साम्य निर्दुष्ट ही है।

. इस 'पौनरुक्त्य' दोष में नाना प्रकारों की संभावना है जिन्हें 'व्यक्तिविवेक'कार ने संक्षेप में निर्दिष्ट भी किया है—

'सामर्थ्यसिद्धस्यार्थस्य यथार्था पुनरुक्तता।
तात्पर्यभेदाच्छब्दस्य द्विरुक्तिः शाब्दयपीष्यते ॥
पौनरुक्त्यमिति द्वेधा गौणमुख्यतया स्थितम्।
तत्र दूषणमेवाद्यमपरं भूषणं स्मृतम् ॥
शब्दालङ्कारनिपुणैर्लाटानुप्राससंज्ञया ।
तच्चोदाहृतमेव प्राग् दूषणं तु वितन्यते ॥
प्रकृतिप्रत्ययार्थोऽस्य पदवाक्यार्थ एव च।
विषयो बहुधा ज्ञेयः स क्रमेणोपदर्श्यते ॥
अभिन्न एव यत्रार्थः प्रकृतेः प्रत्ययस्य च।
तत् पौनरुक्त्योपहतं पदमादौ विवर्जयेत् ॥

(१२—प्रसिद्धिविरुद्धत्व)

प्रसिद्धिविरुद्धता यथा—

'ततश्चचार समरे शितशूलधरो हरिः ।'

अत्र हरेः शूलं लोकेऽप्रसिद्धम् ।

यथा वा—

'पादाघातादशोकस्ते सञ्जाताङ्कुरकण्टकः ।'

अत्र पादाघातादशोकेषु पुष्पमेव जायत इति प्रसिद्धं न त्वङ्कुर इति कविसमयख्यातिविरुद्धता ।

(१३—विद्याविरुद्धत्व)

'अधरे करजक्षतं मृगाक्ष्याः ।'

विहितस्य बहुव्रीहेः कर्मधारयशंकया ।
शब्दस्य मत्वर्थीयादेर्व्यक्तैव पुनरुक्तता ॥

....

पुनरुक्तिप्रकाराणामिति दिङ्मात्रमीरितम् ।
विवेक्तुं को हि कार्त्स्न्येन शक्नोत्यवकरात्करम् ॥' (व्यक्तिविवेकः २य विमर्शः)

साहित्यदर्पणकार द्वारा उदाहृत 'पुनरुक्तत्व' वस्तुतः 'पौनरुक्त्य' का एक प्रकार है जिसे 'व्यक्तिविवेककार' ने इस प्रकार संकेनित किया है—

'वाक्यार्थविषयं पौनरुक्त्यं यथा—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ॥

अत्र हि अविवेकप्रयुक्तमविमृश्यकारित्वलक्षणं सहसाकार्यकारित्वं नामापदामविकलं कारणमिति तेषां कार्यकारणभावमन्वयवाक्येन प्रतिपाद्य पुनः कारणाभावरूपं विमृश्यकारित्वमनूद्य तत्कार्यभूतविपदभावरूपाणां संपदां सद्भावो भणित इति व्यतिरेकवाक्येनापि तेषां कार्यकारणभाव एवाभिहित इति तस्य पुनरुक्तता । अन्वय-वाक्यादेव तदवगतेः ।'

(व्यक्तिविवेक : २य विमर्श)

अनुवाद—'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' वह अर्थदोष है जिसे लोक-प्रसिद्धि अथवा कवि-प्रसिद्धि के विरुद्ध किसी अर्थ के उपन्यास में देखा जाया करता है । जैसे कि—

'तब तीक्ष्ण शूल धारण किये भगवान् विष्णु संग्राम में विचरण करने लगे ।'

यहाँ 'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' स्पष्ट है क्योंकि लोक में विष्णु का शूल-धारण अप्रसिद्ध है (शूल-धारण तो वस्तुतः महादेव के लिये प्रसिद्ध है, विष्णु के लिये नहीं)।

अथवा

'अरी सुन्दरी ! तेरे पाद-प्रहार से यह अशोक-पादप अङ्कुरों से भर उठा है ।'

यहाँ भी 'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' है क्योंकि कवि समय के अनुसार, रमणी के चरण-प्रहार से, अशोक-पादप में पुष्पोद्गम प्रसिद्ध है, अङ्कुरोद्गम नहीं । पहले उदाहरण में तो लोक-प्रसिद्धि के विरुद्ध अर्थ के अभिधान में 'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' रहा, किन्तु यहाँ कवि-समय-प्रसिद्धि के विरुद्ध अर्थ के वर्णन में 'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' है ।

अनुवाद—'विद्याविरुद्धत्व' वह अर्थदोष है जिसे व्याकरण-भिन्न शास्त्र के विरुद्ध प्रतीत होने वाले अर्थ के अभिधान में देखा जाया करता है (व्याकरण-भिन्न इसलिये क्योंकि

अत्र शृङ्गार (काम) शास्त्रविरुद्धत्वाद्विद्याविरुद्धता ।
एवमन्यशास्त्रविरुद्धत्वमपि ।

(१४—साकाङ्क्षत्व)

'ऐशस्य धनुषो भङ्गं क्षत्त्रस्य च समुन्नतिम् ।
स्त्रीरत्नं च कथं नाम मृष्यते भार्गवोऽधुना ॥'

अत्र स्त्रीरत्नमुपेक्षितुमिति साकाङ्क्षता ।

(१५—सहचरभिन्नत्व)

'सज्जनो दुर्गतौ मग्नः कामिनी गलितस्तनी ।
खलः पूज्यः समज्यायां तापाय मम चेतसः ॥'

अत्र सज्जनः कामिनी च शोभनौ तत्सहचरः खलोऽशोभन इति सहचरभिन्नत्वम् ।

(१६—अस्थानयुक्तत्व)

'आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं

व्याकरण के विरुद्ध अभिधान में तो 'च्युतसंस्कारत्व' का नित्यदोष एक पृथक् दोष है ही)। जैसे कि—

'मृगनयनी के अधर पर यह नखक्षत' आदि ।

यहाँ 'विद्याविरुद्धत्व' है क्योंकि यहाँ 'अधर पर नखक्षत' का जो वर्णन है वह कामशास्त्र के विरुद्ध है ।

इसी भाँति अन्यान्य शास्त्रों के विपरीत अर्थों के अभिधान में भी 'विद्याविरुद्धत्व' ही माना जाया करता है ।

अनुवाद—'साकाङ्क्षत्व' वह अर्थदोष है जिसे ऐसे अर्थ के अभिधान में देखा जाया करता है जिसकी आकांक्षा तो बनी रहे किन्तु जिसका प्रतिपादन न किया जाय । जैसे कि—

'अब भला भार्गव परशुराम के लिये यह कैसे सम्भव हो कि वे शिव-पिनाक का भङ्ग और क्षत्रिय जाति का उत्कर्ष और साथ ही साथ स्त्रीरत्न (की उपेक्षा) सहन कर लें ।'

यहाँ 'साकांक्षत्व' है क्योंकि यहां स्त्रीरत्न की 'उपेक्षा' के अर्थ की आकांक्षा बनी है किन्तु इसे प्रतिपादित नहीं किया गया है ।

विमर्श—अर्थ की निराकांक्ष प्रतीति के बिना रसास्वाद संभव नहीं । इसलिये साकांक्ष अर्थ के उपन्यास में दोष की मान्यता आवश्यक है ।

अनुवाद—'सहचरभिन्नत्व' वह अर्थदोष है जिसे सजातीय अर्थों के बीच किसी विजातीय अर्थ के उपनिबन्ध में देखा जाया करता है । जैसे कि—

'दुर्गति में पड़ा सज्जन पुरुष, उन्नत स्तनों से रहित सुन्दरी और सभा में पूजा पाने वाला खल—ये तीनों मेरे चित्त में चुभा करते हैं ।'

यहां 'सहचरभिन्नत्व' स्पष्ट है क्योंकि 'सज्जन' और 'सुन्दरी' के शोभन अर्थों के साथ 'खल' के अशोभन अर्थ का उपन्यास किया हुआ है ।

अनुवाद—'अस्थानयुक्तत्व' वह अर्थदोष है जिसे अनुपयुक्त स्थान पर समाप्त होने वाले वाक्यार्थ में देखा जाया करता है जैसे कि—(महाकवि राजशेखर के 'बालरामायण' के प्रथम अङ्क की यह सूक्ति)—

'जिसकी आज्ञा मुकुट-मणि की भांति इन्द्र को भी शिरोधार्य है, जिसके लिये शास्त्र

भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्या पुरी ।
उत्पत्तिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते
स्याच्चेदेष न रावणः क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥'
अत्र न रावण इत्येतावतैव समाप्यम् ।

(१७—अविशेष में विशेष)

हीरकाणां निधेरस्य सिन्धोः किं वर्णयामहे ।'
अत्र रत्नानां निधेरित्यविशेष एव वाच्यः ।

(१८—अनियम में नियम)

'आवर्त्त एव नाभिस्ते नेत्रे नीलसरोरुहे ।
भङ्गाश्च वलयस्तेन त्वं लावण्याम्बुवापिका ॥'
अत्रावर्त एवेति नियमो न वाच्यः ।

(१९—विशेष में अविशेष)

'यान्ति नीलनिचोलिन्यो रजनीष्वभिसारिकाः ।'

नवीन दिव्य दृष्टि का कार्य किया करते हैं, जिसकी शिवभक्ति सर्वविदित है, जिसका दिव्य स्थान लङ्कापुरी के नाम से प्रसिद्ध है और जिसका जन्म ब्रह्मा के महान् वंश में हुआ है उसके समान भला और कोई वर कहाँ मिले ! बस एक बात है कि यह 'रावण' है । किन्तु सब गुण सर्वत्र रहते कहाँ हैं ?'

यहाँ 'अस्थानयुक्तत्व' है क्योंकि यहाँ के वाक्यार्थ को, जिसे 'स्याच्चेदेष न रावणः' पर ही समाप्त हो जाना चाहिये (क्योंकि 'रावण' पद से ही 'वर के रूप में रावण के निषेध' की 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि' प्रतीत हो उठती है), अनुपयुक्तस्थान पर समाप्त किया गया है ('क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः' पर वाक्यार्थ का समाप्त होना तो अनुचित है क्योंकि यह विवक्षित अर्थ के विरुद्ध पड़ता है)।

अनुवाद—'अविशेष में विशेष' वह अर्थदोष है जिसे सामान्य-कथन के बदले विशेष-कथन में देखा जाया करता है (जिससे विवक्षित अर्थ-प्रतीति में विलम्ब पड़ता है और रसभाव-प्रतीति भी विलम्ब से हो पाती है)। जैसे कि—

'हीरों के निधान इस समुद्र का क्या वर्णन करें' आदि।

यहाँ 'अविशेष में विशेष' का अर्थदोष स्पष्ट है क्योंकि यहाँ 'रत्नों के निधान' इस सामान्य-कथन के बदले 'हीरों के निधान' इस विशेष-कथन से अभिप्रेत अर्थ-प्रतीति में विलम्ब लग रहा है।

अनुवाद—'अनियम में नियम' वह अर्थदोष है जिसे अनियमतः कथन के बदले नियमाभिधान में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'तेरी नाभि आवर्त ही ठहरी, तेरे नेत्र नीलकमल रहे और तेरी त्रिवली तरङ्ग है— अरी ! सचमुच ही तू लावण्य की जलवापी है।'

यहाँ 'अनियम में नियम' का दोष स्पष्ट है क्योंकि 'आवर्त एव' इस नियमाभिधान की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

अनुवाद—'विशेष में अविशेष' वह अर्थदोष है जिसे विशेष-वचन के बदले सामान्य के अभिधान में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'नीले वस्त्र पहन कर अभिसारिकायें रातों में निकल रही हैं।'

अत्र तमिस्रास्विति रजनीविशेषो वाच्यः।

(२०—नियम में अनियम)

'आपातसुरसे भोगे निमग्नाः किं न कुर्वते।'

अत्र आपात एवेति नियमो वाच्यः।

ननु वाच्यस्यानभिधाने 'व्यतिक्रमलवम्' इत्यादावपेरभावः, इह चैवकारस्येति कोऽनयोर्भेदः। अत्राह—'नियमस्य वचनमेव पृथग्भूतं नियमपरिवृत्तेर्विषयः' इति, तन्न तथा सत्यपि द्वयोः शब्दार्थदोषतायां नियामकाभावात्।

तत्का गतिरिति चेत्? 'व्यतिक्रमलवम्' इत्यादौ शब्दोच्चारणानन्तरमेव दोषप्रतिभासः, इह त्वर्थप्रत्ययानन्तरमिति भेदः। एवं च शब्दपरिवृत्तिसहत्वा-

---

यहाँ 'विशेष में अविशेष' का दोष है क्योंकि यहाँ 'रजनी' (रात) इस सामान्य-वचन का कोई प्रयोजन नहीं, यहाँ तो 'तमिस्रा' (अँधेरी रात) इस विशेष-वचन का स्वारस्य है (क्योंकि नीलनिचोल वाली रमणिओं के अभिसार के लिये इसी की उपयोगिता है)।

अनुवाद—'नियम में अनियम' वह अर्थदोष है जिसे नियमतः अभिधान के बदले अनियम से अभिधान में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'आरम्भ में अच्छे लगने वाले विषय-सुख में डूबे लोग सभी प्रकार के अकार्य किया करते हैं।'

यहाँ 'नियम में अनियम' का दोष दिखायी दे रहा है क्योंकि यहाँ 'आपातसुरसे'—'आरम्भ में अच्छे लगने वाले' इस अनियमतः अभिधान के बदले 'आपात एव सुरसे'—'आरम्भ में ही अच्छे लगने वाले' इस नियमाभिधान की आवश्यकता प्रतीत होती है (क्योंकि तभी 'अन्य समय के व्यावर्तन' का अपेक्षित अभिप्राय निकल सकता है)।

यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि 'वाच्यानभिधान' और 'नियमेऽनियमाभिधान' में भेद क्या? जैसे 'व्यतिक्रमलवम्' आदि में 'अपि' के अभाव में 'वाच्यानभिधान' वैसे ही यहां 'आपातसुरसे' आदि में 'एव' के अभाव में 'नियमेऽनियमाभिधान'! इसका यह उत्तर कि 'नियमेऽनियमाभिधान' तो एक विशेष बात है जो कि नियम के अकथन में देखी जाती है और जिसके कारण नियमपरिवृत्ति अथवा नियम में अनियम के अभिधान का दोष उत्पन्न होता है किन्तु 'वाच्यावचन' वह है जिसे नियमद्योतक पद के अतिरिक्त भी पद के अभाव में देखा जाया करता है, ठीक नहीं जँचता। बात यह है कि यदि ऐसा मान भी लिया जाय तब भी न तो 'वाच्यानभिधान' को शब्ददोष सिद्ध करने का कोई कारण बताया जा सकता है और न 'नियमेऽनियमाभिधान' को अर्थदोष मानने का (क्योंकि जब कि दोनों में वक्तव्य पद का अभाव ही कारण है तब दोनों को पददोष क्यों न मान लिया जाय)।

किन्तु यहां एक बात है और वह यह है—'वाच्यानभिधान' के प्रसङ्गों—जैसे कि 'व्यतिक्रमलवम्' आदि—में तो ऐसा होता है कि शब्दोच्चारण के बाद ही दोष का ज्ञान हो उठता है किन्तु 'नियमेऽनियमाभिधान' के स्थल पर, जैसे कि 'आपातसुरसे' आदि में, अर्थबोध के बाद पता चलता है कि कुछ खटक रहा है। इस प्रकार प्राचीन आलङ्कारिकों द्वारा मान्य शब्दार्थदोष-व्यवस्था का यह सिद्धान्त कि 'शब्ददोष वह है जो शब्द बदलने से हट जाय और अर्थदोष वह जो शब्द बदलने पर भी न हटे', अन्ततोगत्वा इस

सहत्वाभ्यां पूर्वैराहतोऽपि शब्दार्थदोषविभाग एवं पर्यवस्यति—यो दोषः शब्द-परिवृत्त्यसहः स शब्ददोष एव। यश्च पदार्थान्वयप्रतीतिपूर्वबोध्यः सोऽपि शब्ददोषः। यश्चार्थप्रतीत्यनन्तरं बोध्यः सोऽर्थाश्रय इति। एवं चानियमपरि-वृत्तित्वादेरप्यधिकपदत्वाद् भेदो बोद्धव्यः। अमतपरार्थत्वे तु 'राममन्मथश-रेण–' इत्यादौ नियमेन वाक्यव्यापित्वाभिप्रायाद्वाक्यदोषता। अश्लीलत्वादौ तु न नियमेन वाक्यव्यापित्वम्।

(२१—विध्ययुक्तत्व)

'आनन्दितस्वपक्षोऽसौ परपक्षान् हनिष्यति।'

अत्र परपक्षं हत्वा स्वपक्षमानन्दयिष्यतीति विधेयम्।

(२२—अनुवादायुक्तत्व)

'चण्डीशचूडाभरण ! चन्द्र ! लोकतमोपह !।
विरहिप्राणहरण ! कदर्थय न मां वृथा॥'

अत्र विरहिण उक्तौ तृतीयपादस्यार्थो नानुवाद्यः।

रूप में परिनिष्ठत होता है—'वह दोष, जो शब्द-परिवर्तन के बाद भी बना रहे, शब्द-दोष है और वह दोष भी शब्ददोष ही है जो कि पदार्थों के अन्वय-बोध के पहले ही प्रतीत हो जाता है। इसके विपरीत अर्थदोष वह है जिसका पता अर्थबोध के बाद लगा करता है'। इस परिनिष्ठित सिद्धान्त का अनुसरण करने से यह भी निर्धारित हो जाता है कि 'अनियमपरिवृत्ति' आदि अर्थदोष 'अधिकपदत्व' आदि पददोषों से सर्वथा भिन्न प्रकार के दोष हैं।

यहाँ एक और भी बात ध्यान में रखनी चाहिये और वह यह है—'अमतपरार्थत्व' में भी अर्थप्रतीति के बाद दोष-प्रतिभास होता है जैसा कि 'राममन्मथशरेण' आदि प्रसङ्गों में स्पष्ट है किन्तु इसे अर्थदोष न मान कर वाक्यदोष ही माना जाया करता है क्योंकि वह दोष वस्तुतः समस्त वाक्य में व्याप्त होने से वाक्यदोष ही कहा जा सकता है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि 'हन्तुमेव प्रवृत्तस्य' आदि में 'अश्लीलत्व' भी, वाक्य-व्यापक होने से, वाक्यदोष मान लिया जाय क्योंकि यहाँ यह आवश्यक नहीं की अश्ली-लता समस्त वाक्य में ही व्याप्त हो (क्योंकि यहाँ यह 'अश्लीलता' 'हन्तुमेव' आदि वाक्यांश में भी है और 'विवरैषिणः' आदि पद में भी)।

अनुवाद—'विध्ययुक्तत्व' वह अर्थदोष है जिसे विधेय के अयोग्य अर्थ में विधेय-तात्पर्य का समर्पण कहा जाया करता है। जैसे कि—

'अपने पक्ष को आनन्दित करने वाला वह राजा शत्रुपक्ष का संहार कर डालेगा।'

यहां 'विध्ययुक्तत्व' है क्योंकि यहाँ जो विधेय है वह यह है—'परपक्ष का संहार कर यह राजा अपने पक्ष के लोगों को प्रसन्न कर देगा।' इस विधेय के बदले, यहाँ ऐसे अर्थ को विधेय बनाया गया है जो कि वस्तुतः विधेय बनने के योग्य नहीं।

अनुवाद—'अनुवादायुक्तत्व' वह अर्थदोष है जिसे ऐसे उद्देश्य के अभिधान में देखा जाया करता है जो कि विधेय के अनुकूल नहीं प्रतीत हुआ करता। जैसे कि—

'हे चण्डीशचूडाभरण ! हे संसार के तमोनाशक ! हे विरहिप्राणहरण-चन्द्र ! मुझे व्यर्थ के लिये तंग न कर।'

(२३—निर्मुक्तपुनरुक्तत्व)

'लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह ययैवासियष्ट्यारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिति गतेवाम्बुधिं यस्य कीर्तिः ॥'

अत्र विदितं तेऽस्त्वित्यनेन समापितमपि वचनं तेनेत्यादिना पुनरुपात्तम् ।

(रसदोष : स्वरूप तथा प्रकार-निरूपण)

अथ रसदोषानाह—

रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि ॥ १२ ॥
परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः ।
आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः ॥ १३ ॥
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः ।

यहां 'अनुवादायुक्तत्व' स्पष्ट है क्योंकि जब कि यहाँ का वक्ता एक विरही है तब इस सूक्ति के तृतीय चरण ('विरहिप्राणहरण') का अर्थ क्योंकर उचित उद्देश्य के रूप में समझा जा सकता है ! (अर्थात् चन्द्र के विशेषणरूप में 'विरहिप्राणहरण' का उपन्यास ठीक नहीं क्योंकि कोई विरही, किसी ऐसी वस्तु से, जोकि 'विरहिप्राणहरण' हो, प्राणभिक्षा क्योंकर मांग सके !)

अनुवाद—'निर्मुक्तपुनरुक्तत्व' वह अर्थदोष है जिसे वहां देखा जाया करता है जहां पहले समाप्त की हुई बात पुनः प्रतिपादित की जाया करती है । जैसे कि—

'इस राजा की कीर्ति लक्ष्मी के पिता समुद्र के पास पहुँच रही है और लक्ष्मी की आज्ञा से उसे मानो यह सन्देश दे रही है कि 'यह राजा तो मुझ लक्ष्मी को कुछ समझता नहीं, यह तो उस तलवार का प्रेमी बना है जो कि 'रागावृताङ्गी' (रक्त से सनी और प्रेम में पगी) शत्रुओं के गले लगा करती है और जिसे हजारों लोग मातङ्गों (हाथियों और नीच चाण्डालों) के ऊपर भी गिरती-पड़ती देखा करते हैं । इस राजा ने मुझे अपने भृत्यों तक को सौंप दिया है—यह भी जान लेना ।'

यहाँ 'निर्मुक्तपुनरुक्तत्व' स्पष्ट है क्योंकि यहां वाक्यार्थ तो 'विदितं तेऽस्तु' पर ही समाप्त हो चुका था किन्तु इसे 'तेनास्मि'आदि के द्वारा पुनः प्रतिपादित किया गया ।

अनुवाद—अब रस-सम्बन्धी दोषों का निरूपण किया जा रहा है । रस-दोष ये हैं—

(१) रस की स्वशब्द-वाच्यता (रसस्य स्वशब्दवाच्यत्वम्)
(२) स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता (स्थायिनः स्वशब्दवाच्यत्वम्)
(३) व्यभिचारिभाव की स्वशब्द-वाच्यता (सञ्चारिणः स्वशब्द-वाच्यत्वम्)
(४) प्रकृतरस-विरुद्धविभावादियोजना (परिपन्थिरसाङ्गग्रहणम्)
(५) अनुभाव की कष्ट-कल्पना (कष्टाक्षिप्तानुभावत्वम्)
(६) विभाव की कष्ट-कल्पना (कष्टाक्षिप्तविभावत्वम्)
(७) अकाण्ड में रस-विस्तार (अकाण्डे रसप्रथनम्)

अङ्गिनोऽननुसंधानमनङ्गस्य च कीर्तनम् ॥ १४ ॥
अतिविस्तृतिरङ्गस्य प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः ।

(१—रस की स्वशब्दवाच्यता)

रसस्य स्वशब्दो रसशब्दः शृङ्गारादिशब्दश्च ।

क्रमेण यथा—

'तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं रसो नः कोऽप्यजायत ।'
'चन्द्रमण्डलमालोक्य शृङ्गारे मग्नमन्तरम् ।'

(२—स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता)

स्थायिभावस्य स्वशब्दवाच्यत्वं यथा—

'अजायत रतिस्तस्यास्त्वयि लोचनगोचरे ।'

(३—व्यभिचारिभाव की स्वशब्दवाच्यता)

व्यभिचारिणः स्वशब्दवाच्यत्वं यथा—

---

(८) अकाण्ड में रसच्छेद (अकाण्डे रसच्छेदः)
(९) पुनः पुनः रस-दीप्ति (पुनः पुनः रसोद्दीप्तिः)
(१०) अङ्गी रस का अननुसंधान (अङ्गिरसाननुसंधानम्)
(११) प्रकृत रस के अनुपकारक का अति विस्तृत वर्णन (अनङ्गरसकीर्तनम्)
(१२) अङ्गभूत रस-भावादि का अतिविस्तार (अङ्गरसातिविस्तृतिः)
(१३) प्रकृति-विपर्यय
(१४) अर्थानौचित्य

अनुवाद—रसदोषों के उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं। सर्वप्रथम 'रस की स्वशब्द-वाच्यता' वह रसदोष है जिसे आस्वादात्मक रसरूप अनुभव अथवा उसके प्रकार-वैचित्र्य का 'रस' अथवा 'शृङ्गार' आदि वाचक पदों द्वारा अभिधान किया गया है। जैसे कि—

'उस मृगनयनी को देखकर हम लोगों में एक अपूर्व रस उत्पन्न हुआ।'

अथवा

'चन्द्रमण्डल को देखकर हृदय शृङ्गार में डूब गया।'

विमर्श—'रस' शब्द के प्रयोग से न तो रस उपस्थित होता है और न 'शृङ्गार' शब्द के प्रयोग से शृङ्गार। रस तो एक अखण्ड स्वप्रकाशानन्दरूप संवेदन है। यह एकमात्र अभिव्यङ्ग्य तत्त्व है। इसे कदापि वाच्य नहीं बनाया जा सकता। इसे वाच्य बनाने में कोई चमत्कार नहीं मिल सकता। इसीलिए 'रस की स्वशब्दवाच्यता' एक रसदोष के रूप में मान्य है।

अनुवाद—'स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता', जैसे कि—

'तुम पर दृष्टिपात क्या हुआ, उसके हृदय में रति उत्पन्न हो गयी।'

[यहाँ शृङ्गार रस के स्थायी भाव रति को उसके वाचक शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। इस अभिधान से सहृदय-हृदय में रति की अभिव्यञ्जना कहाँ ?]

अनुवाद—'व्यभिचारिभाव की स्वशब्दवाच्यता', जैसे कि—

'जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने।'

अत्र प्रथमे पादे 'आसीन्मुकुलिताक्षी सा' इति लज्जाया अनुभावमुखेन कथने युक्तः पाठः।

(४—प्रकृत रस-विरुद्ध विभावादि-योजना)

'मानं मा कुरु तन्वङ्गि ! ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम्।'

अत्र यौवनास्थैर्यनिवेदनं शृङ्गाररसस्य परिपन्थिनः शान्तरसस्याङ्गं शान्तस्यैव च विभाव इति शृङ्गारे तत्परिग्रहो न युक्तः।

(५—अनुभाव की कष्ट-कल्पना)

'धवलयति शिशिररोचिषि भुवनतलं लोकलोचनानन्दे।
ईषत्क्षिप्तकटाक्षा स्मेरमुखी सा निरीक्ष्यतां तन्वी॥'

अत्र रसस्योद्दीपनालम्बनविभावावनुभावपर्यवसायिनौ स्थिताविति कष्टकल्पना।

'प्रियतम के परिचुम्बन में वह मुग्धा लजा गयी।'

[यहाँ लज्जा के व्यभिचारिभाव का उसके वाचक पद द्वारा जो उपस्थापन है उससे रति की अभिव्यञ्जना का सम्बन्ध नहीं और न उसमें सहृदय-हृदय को ही स्पर्श करने का सामर्थ्य है।]

यहीं यदि प्रथम चरण में 'आसीन्मुकुलिताक्षी सा' (उसकी आँखें मुकुलित हो गयीं) कर दिया जाय तो 'लज्जा' रूप व्यभिचारी भाव अनुभाव द्वारा अभिव्यक्त होने लगे और यह दोष भी हट जाय।

अनुवाद—'प्रकृत रस-विरुद्ध विभावादि-योजना', जैसे कि—

'अरी सुन्दरी ! यौवन टिकने वाला नहीं। तू अपना मान छोड़।'

यहाँ शृङ्गार रस का प्रसङ्ग है और इसलिए यहाँ उसके विरोधी शान्त रस के अङ्गभूत और शान्त के ही विभावरूप से उपयुक्त 'यौवन के अस्थैर्य' का वर्णन सर्वथा अनुचित है।

विमर्श—विरोधी रस से सम्बद्ध विभावादि का परिग्रह एक भयङ्कर रसदोष है। ध्वनिदार्शनिक आनन्दवर्धनाचार्य ने इसे इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

'प्रस्तुतरसापेक्षया विरोधी यो रसस्तस्य संबन्धिनां विभावभावानुभावानां परिग्रहो रसविरोधहेतुकः संभवनीयः। तत्र विरोधिरसविभावपरिग्रहो यथा शान्तरसविभावेषु तद्विभावतयैव निरूपितेष्वनन्तरमेव शृङ्गारादिविभाववर्णने। विरोधिरसभावपरिग्रहो यथा प्रियं प्रति प्रणयकलहकुपितासु कामिनीषु वैराग्यकथाभिरनुनये।'

(ध्वन्यालोक : ३य उद्योत)।

अनुवाद—'अनुभाव की कष्टकल्पना', जैसे कि—

'तिरछी निगाहों और विहँसते वदनवाली उस सुन्दरी को तब देखो जब कि संसार के नेत्रों को आनन्दित करने वाले चन्द्रमा की शीतल चांदनी चारों ओर छिटक रही हो।'

यहां शृङ्गार के उद्दीपनविभाव 'चन्द्रदर्शन' और आलम्बनविभाव 'वर्णित नायिका' दोनों के द्वारा 'मानापनयन के आह्लाद' रूप अनुभाव का बड़ी कष्ट-कल्पना से पता चल पाता है और इस विलम्ब में रसास्वाद भी कष्टसाध्य हो जाता है (क्योंकि यहाँ जब तक नायकनिष्ठ अनुभाव का उपनिबन्ध न किया जाय तब तक नायकगत शृङ्गार की अभिव्यक्ति कैसे हो)।

(६—विभाव की कष्ट-कल्पना)

'परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलतितरां परिवर्तते च भूयः ।
इति बत विषमा दशाऽस्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥'

अत्र रतिपरिहारादीनां करुणादावपि सम्भवात्कामिनीरूपो विभावः कृच्छ्राद्दाक्षेप्यः ।

(७—अकाण्ड में रसविस्तार)

अकाण्डे प्रथनं यथा—वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्के प्रवर्तमानानेकवीरसंक्षयेऽकाले दुर्योधनस्य भानुमत्या सह शृङ्गारप्रथनम् ।

(८—अकाण्ड में रसच्छेद)

छेदो यथा—वीरचरिते राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढेऽन्योन्यसंरम्भे 'कङ्कणमोचनाय गच्छामी'ति राघवस्योक्तिः ।

(९—पुनः पुनः रसदीप्ति)

पुनः पुनर्दीप्तिर्यथा—कुमारसंभवे रतिविलापे ।

(१०—अङ्गी रस का अननुसंधान)

अङ्गिनोऽननुसंधानं यथा—रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः ।

अनुवाद—'विभाव की कष्टकल्पना', जैसे कि—

'मेरे मित्र की दशा बड़ी बुरी है। इसे न तो किसी वस्तु की कोई स्पृहा होती है और न यह धैर्य ही धर पाता है, अकारण ही यह कुछ इधर-उधर की बोल पड़ता है और सदा करवटें बदला करता है। समझ में नहीं आता कि क्या किया जाय।'

यहाँ 'स्पृहा के निराकरण' (रतिपरिहार) आदि अनुभाव ऐसे हैं जो करुण रस में भी संभव हैं और इसलिये इनके द्वारा यहाँ का 'कामिनी'रूप आलम्बन विभाव बड़े कष्ट से पता चल पाता है (जिसमें रसभंग स्पष्ट है)।

अनुवाद—'अकाण्ड अथवा अनवसर में रसविस्तार', जैसे कि—

वेणीसंहार के द्वितीय अङ्क में, जहाँ महाभयङ्कर नरसंहार मचा हुआ है, असमय में ही, दुर्योधन और भानुमती का जो प्रेम-प्रकाशन है वह अकाण्ड में शृङ्गार का विपुल वर्णन होने से एक महादोष है।

अनुवाद—'अकाण्ड अथवा अनवसर में रसच्छेद', जैसे कि—

'महावीरचरित' में, जहाँ राम और परशुराम का वीरदर्प उमड़ा पड़ रहा है, राम का यह कथन कि 'वे कङ्कणमोचन के लिये जा रहे हैं' (जिसमें राम के हृदय में उत्साह के बदले कातर्य का ही भाव प्रतीत हो उठता है और रसभङ्ग की अवस्था आ पहुँचती है)।

अनुवाद—'पुनः पुनः रसदीप्ति', जैसे कि—

'कुमारसंभव' के रतिविलाप का प्रसङ्ग (जहाँ शोक का पौनःपुन्येन आस्वाद आनन्दात्मक होने के बदले उद्वेगात्मक हो उठता है)।

अनुवाद—'रत्नावली' नाटिका के चतुर्थ अङ्क का वह प्रसङ्ग जहाँ कञ्चुकी 'बाभ्रव्य' के आगमन से, वत्सराज उदयन सागरिका को ही भूल जाते हैं।

(११—प्रकृतरस के अनुपकारक का विस्तृत वर्णन)

अनङ्गस्य कीर्तनं यथा—कर्पूरमञ्जर्यां राजनायिकयोः स्वयं कृतं वसन्तस्य वर्णनमनादृत्य बन्दिवर्णितस्य प्रशंसनम्।

(१२—अङ्गभूत रस-भावादि का अतिविस्तार)

अङ्गस्यातिविस्तृतिर्यथा—किराते सुराङ्गनाविलासादिः।

(१३—प्रकृतिविपर्यय)

प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्चेति। तेषां धीरोदात्तादिता। तेषामप्युत्तमाधममध्यमत्वम्। तेषु च यो यथाभूतस्तस्यायथावर्णने प्रकृतिविपर्ययो दोषः। यथा—धीरोदात्तस्य रामस्य धीरोद्धतवच्छद्मना वालिवधः। यथा वा—कुमारसंभवे उत्तमदेवतयोः पार्वतीपरमेश्वरयोः संभोगश्रृङ्गारवर्णनम्। 'इदं पित्रोः संभोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्' इत्याहुः।

(१४—अर्थानौचित्य)

अन्यदनौचित्यं देशकालादीनामन्यथा यद्वर्णनम्। तथा सति हि काव्यस्यासत्यताप्रतिभासेन विनेयानामुन्मुखीकारासंभवः।

अनुवाद—'अनङ्गकीर्तन' (प्रकृत रस के अनुपकारक का विस्तृत वर्णन) जैसे कि—

'कर्पूरमञ्जरी' (राजशेखरकृत सट्टक-प्रबन्ध) का वह प्रसङ्ग जहाँ दोनों राजनायिकायें स्वयंवर्णित वसन्तसौन्दर्य की प्रशंसा के बदले, चारण द्वारा वर्णित वसन्त-सुषमा की प्रशंसा करने में लग जाती हैं।

अनुवाद—'अङ्ग की अतिविस्तृति' (अङ्गभूत रसभावादि का अति विस्तृत वर्णन) जैसे कि—

'किरातार्जुनीय' में अप्सराओं के राग-रंग की अतिविस्तृत वर्णन (जिससे अर्जुननिष्ठ उत्साह की अभिव्यक्ति में विलम्ब और विघ्न दोनों पड़ते दिखायी देते हैं)।

अनुवाद—'प्रकृतिविपर्यय' वह रसदोष है जिसे प्रकृति अर्थात् दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य रूप से त्रिविध प्रकृति और इसके धीरोदात्त आदि भेद-प्रभेद और इन भेद-प्रभेदों के भी उत्तम, मध्यम और अधम रूप प्रकार-त्रय के स्वरूप के प्रतिकूल वर्णन में देखा जाया करता है। जैसे कि, धीरोदात्त प्रकृति के राम का, धीरोद्धत प्रकृति के नायक की भांति, छल से वालि को मारना 'प्रकृतिविपर्यय' नामक रसदोष है। अथवा 'कुमारसंभव' में देवश्रेष्ठ पार्वती और परमेश्वर का संभोगश्रृङ्गार वर्णन, जिसे आचार्य मम्मट ने 'अपने माँ-बाप के सम्भोग-वर्णन की भांति अत्यन्त अनुचित माना है' 'प्रकृतिविपर्यय' का एक अत्यन्त सुन्दर निदर्शन है।

अनुवाद—'अन्यविध अनौचित्य' अथवा अर्थानौचित्य वह रसदोष है जिसे देश, काल आदि के अयथोचित वर्णन में देखा जाया करता है। यह इसलिये एक भयङ्कर रसदोष है क्योंकि ऐसे वर्णन से काव्य में असत्यता प्रतीत होने लगती है और सामाजिक, जिन्हें काव्य से शिक्षा लेनी है, ऐसे काव्य के प्रति कदापि आकृष्ट नहीं किये जा सकते।

विमर्श—औचित्य-निर्वाह के सम्बन्ध में ध्वनिदार्शनिक आनन्दवर्धन की यह कारिका यहाँ स्मरण रखने योग्य है—

'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥' (ध्वन्यालोक : ३य उद्योत)

(अलङ्कार-दोष : पूर्वनिरूपित दोष-वर्ग में अन्तर्भाव, उपमादिगत दोष 'अनुचितार्थत्व')

एभ्यः पृथगलङ्कारदोषाणां नैव संभवः ॥ १५ ॥

एभ्य उक्तदोषेभ्यः। तथाहि—उपमायामसादृश्यासंभवयोरुपमानस्य जाति-प्रमाणगतन्यूनत्वाधिकत्वयोरर्थान्तरन्यासे उत्प्रेक्षितार्थसमर्थने चानुचितार्थत्वम्। क्रमेण यथा—

'ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम् ।'
'प्रज्वलज्जलधारावन्निपतन्ति शरास्तव ।'
'चण्डाल इव राजाऽसौ संग्रामेऽधिकसाहसः ।'
'कर्पूरखण्ड इव राजति चन्द्रबिम्बम् ।'
'हरवन्नीलकण्ठोऽयं विराजति शिखावलः ।'
'स्तनावद्रिसमानौ ते ।'

अनुवाद—जिन दोषों का अब तक निरूपण किया गया उनके अतिरिक्त 'अलङ्कार-दोष' की प्राचीन आलङ्कारिक-सम्मत मान्यता निरर्थक है।

यहाँ कारिका के 'एभ्यः' का अभिप्राय 'उपर्युक्त दोषों' का अभिप्राय है। तात्पर्य यह है कि प्राचीन आलङ्कारिकों द्वारा माने गये उपमालङ्कार में 'असादृश्य' और 'असंभव' उपमान में जातिगत किं वा प्रमाणगत 'न्यूनत्व' तथा 'आधिक्य' तथा 'अर्थान्तरन्यास' में उत्प्रेक्षित अर्थ का 'यथाकथंचित् समर्थन' आदि जो अलङ्कारगत दोष हैं वे सब के सब 'अनुचितार्थत्व' दोष में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। जैसे कि क्रमशः—

'मैं ऐसे काव्य-चन्द्र की रचना में लगा हूँ जिसकी अर्थ-रश्मियाँ चतुर्दिक् फैला करें।'

[यहां उपमालंकार में 'असादृश्य' अथवा साधारण धर्म की अप्रसिद्धि के कारण सादृश्याभाव का जो दोष है वह वस्तुतः 'अनुचितार्थत्व' ही है।]

'तुम्हारे बाण ऐसे निकल रहे हैं मानों तपे जल की धार हों।'

[यहां उपमालंकार में 'असम्भव' अर्थात् उपमान की असंभावना का जो दोष है वह भी 'अनुचितार्थत्व' रूप ही है।]

'यह राजा तो संग्राम में चण्डाल की भांति महा साहसी दिखायी देता है।'

[यहां उपमालंकार में उपमान के जातिगत न्यूनत्व का जो दोष है वह वस्तुतः 'अनुचितार्थत्व' दोष ही है।]

'यह चन्द्रबिम्ब कर्पूरखण्ड की भांति शोभित हो रहा है।'

[यहां उपमालङ्कार में उपमान के प्रमाणगत न्यूनत्व का जो दोष है वह एक प्रकार का 'अनुचितार्थत्व' है।]

'यह मयूर महादेव की भाँति नीलकण्ठ है और बड़ा ही सुन्दर लग रहा है।'

[यहाँ उपमालङ्कार में उपमान के जातिगत आधिक्य का जो दोष है वह 'अनुचितार्थत्व' में ही अन्तर्भूत है।]

'तेरे स्तन पहाड़ की भांति हैं।'

[यहां उपमालङ्कार में उपमान के प्रमाणगत आधिक्य का जो दोष है वह 'अनुचितार्थत्व' के अतिरिक्त कोई पृथक दोष नहीं।]

'दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम् ।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसामतीव ॥'

एवमादिषूत्प्रेक्षितार्थस्यासंभूततयैव प्रतिभासनं स्वरूपमित्यनुचितमेव तत्समर्थनम् ।

(यमक-दोष : अप्रयुक्तत्व)

यमकस्य पादत्रयगतस्याप्रयुक्तत्वं दोषः । यथा—

'सहसाभिजनैः स्निग्धैः सहसा कुञ्जमन्दिरम् ।
उदिते रजनीनाथे सहसा याति सुन्दरी ॥'

(उत्प्रेक्षागत दोष : अवाचकत्व)

उत्प्रेक्षायां यथाशब्दस्योत्प्रेक्षाद्योतकत्वेऽवाचकत्वम् ।

यथा—

'एष मूर्तो यथा धर्मः क्षितिपो रक्षति क्षितिम् ।

(अनुप्रासगत दोष : प्रतिकूलवर्णत्व)

एवमनुप्रासे वृत्तिविरुद्धस्य प्रतिकूलवर्णत्वम् ।

'यही वह हिमालय है जो मानो सूर्य से डरे हुए और गुफाओं में लुके-छिपे अँधेरे की रक्षा किया करता है। और ऐसा करे भी क्यों नहीं क्योंकि जो बड़े हैं वे शरण में आए छोटों पर भी ममत्व ही रखा करते हैं।' (कुमारसंभव : १म सर्ग)'

यहां अर्थान्तरन्यास में जो उत्प्रेक्षित अर्थ है वह असद्रूप है और इसलिये उसका समर्थन भी अनुचित है। इस प्रकार यह अर्थान्तरन्यास-दोष भी 'अनुचितार्थत्व' में ही अन्तर्भूत है।

अनुवाद—'यमक' अलङ्कार में 'पादत्रयवर्तिता' का जो दोष है वह वस्तुतः 'अप्रयुक्तत्व' रूप ही दोष है। जैसे कि—

'वह सुन्दरी, चन्द्रोदय होने पर, अपने स्निग्ध सखीजन के साथ (स्निग्धैः अभिजनैः सह), हँसती-मुस्कराती (सहसा = हसेन हास्येन सह इति सहसा) विना कुछ सोचे-विचारे (सहसा) कुञ्ज-मन्दिर की ओर चल पड़ी है।'

यहाँ यमक में 'पादत्रयवर्तिता' का दोष है क्योंकि आलङ्कारिकों का सिद्धांत है कि 'यमक त्रिपात् (पादत्रययुक्त) नहीं होना चाहिये' (यमकं तु विधातव्यं न कदाचिदपि त्रिपात्)। किन्तु यह यमक-दोष वस्तुतः 'अप्रयुक्तत्व' में ही अन्तर्भूत दिखायी देता है क्योंकि जब कि पादत्रयवर्ती यमक प्रयोग-योग्य नहीं तब उसका बन्ध 'अप्रयुक्तत्व' दोष से ही दूषित माना जायगा।

अनुवाद—'उत्प्रेक्षालङ्कार' में 'उत्प्रेक्षण अथवा संभावन के अर्थ में, (सादृश्यार्थक) 'यथा' शब्द के प्रयोग में जो दोष माना गया है वह 'अवाचकत्व'रूप ही दोष है। जैसे कि—

'यह राजा मानो शरीर-धारी धर्म होकर पृथ्वी की रक्षा करता है।'

यहां 'यथा' के प्रयोग में जो उत्प्रेक्षा-दोष है (क्योंकि सादृश्यबोधक 'यथा' शब्द से उत्प्रेक्षा का अभिप्राय अभिव्यक्त नहीं हो पाता) वह 'अवाचकत्व' में अन्तर्भूत है।

अनुवाद—'अनुप्रास' में 'वृत्तिविरोध' का दोष 'प्रतिकूलवर्णत्व' में अन्तर्भूत समझना चाहिये। जैसे कि—

यथा—

'ओवट्टइ उल्लट्टइ—' इत्यादौ ।

(उपमागत दोष : अधिकपदत्व, न्यूनपदत्व)

उपमायां च साधारणधर्मस्याधिकन्यूनत्वयोरधिकपदत्वं न्यूनपदत्वं च ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'नयनज्योतिषा भाति शंभुर्भूतिसितद्युतिः ।
विद्युतेव शरन्मेघो नीलवारिदखण्डधृक् ॥'

अत्र भगवतो नीलकण्ठत्वस्याप्रतिपादनाच्चतुर्थपादोऽधिकः ।

'कमलालिङ्गितस्तारहारहारी मुरं द्विषन् ।
विद्युद्विभूषितो नीलजीमूत इव राजते ॥'

अत्रोपमानस्य सबलाकत्वं वाच्यम् ।

(उपमागत दोष : भग्नप्रक्रमत्व)

अस्यामेवोपमानोपमेययोर्लिङ्गवचनभेदस्य कालपुरुषविध्यादिभेदस्य च भग्नप्रक्रमत्वम् ।

'ओवट्टइ उल्लट्टइ' आदि ।'

यहां' शृङ्गार रस की सानुप्रास रचना में, ओजोगुण के अभिव्यञ्जक वर्णों की जो योजना है, जिसे प्राचीन आलङ्कारिक 'वृत्तिविरोध' माना करते हैं, उसमें 'प्रतिकूलवर्णत्व' रूप ही दोष दिखायी देता है ।

अनुवाद—'उपमालङ्कार' में 'धर्माधिकत्व' और 'धर्मन्यूनत्व' के जो दोष माने गये हैं वे वस्तुतः 'अधिकपदत्व' और 'न्यूनपदत्व' में ही अन्तर्भूत हैं । जैसे कि क्रमशः—

'भस्माङ्गराग से शुभ्रकान्तिवाले महादेव शङ्कर अपने भाललोचन से ऐसे शोभायमान हुआ करते हैं जैसे नीलमेघ के टुकड़े से युक्त 'शरत्कालीन शुभ्र मेघ विद्युत्प्रकाश से शोभायमान लगा करता है ।'

यहां उपमालङ्कार में साधारण धर्मगत 'अधिकत्व' का दोष है क्योंकि (उपमेयभूत) महादेव शङ्कर के लिये 'नीलकण्ठ धारण' का साधारण धर्म प्रतिपादित नहीं । और (उपमान रूप) शरन्मेघ में 'नीलवारिद–खण्ड-धारण' का धर्म प्रतिपादित है । यहां इस प्रकार 'नीलवारिदखण्डधृक्' यह चतुर्थ चरण 'अधिकपदत्व' दोष से दूषित है ।

'लक्ष्मी से आलिङ्गित तथा मनोहर मुक्ताहार से सुशोभित मुरजित् भगवान् विष्णु विद्युत् से विभूषित नीलमेघ की भांति सुन्दर लगा करते हैं ।'

यहां जो 'उपमालङ्कार' है उसमें 'धर्मन्यूनत्व' का दोष है क्योंकि जैसे (उपमेयभूत) भगवान् विष्णु के लिये 'मुक्ताहार धारण' का धर्म प्रतिपादित है वैसे ही (उपमानभूत) नीलमेघ के लिये भी बलाका अथवा 'बकपंक्ति योग' का धर्म प्रतिपादित होना चाहिये था । किन्तु यह 'धर्मन्यूनत्व' वस्तुतः 'न्यूनपदत्व' दोष से ही गतार्थ समझा जाना चाहिये ।

अनुवाद—'उपमालङ्कार' में ही (प्राचीन आलङ्कारिकों द्वारा मान्य) जो अन्य अलङ्कार-दोष जैसे कि उपमान और उपमेय में 'भिन्नलिङ्गत्व', 'भिन्नवचनत्व', 'कालभेद',

क्रमेणोदाहरणम्—

'सुधेव विमलश्चन्द्रः ।'

'ज्योत्स्ना इव सिता कीर्तिः ।'

'काप्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतोः शुद्धवेषयोः ।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ॥'

अत्र तथाभूतचित्राचन्द्रमसोः शोभा न खल्वासीत् । अपि तु सर्वदापि भवति ।

'लतेव राजसे तन्वि !'

अत्र लता राजते, त्वं तु राजसे ।

'चिरं जीवतु ते सूनुर्मार्कण्डेयमुनिर्यथा ।'

अत्र मार्कण्डेयमुनिर्जीवत्येव, न खल्वेतदस्य 'जीवतु' इत्यनेन विधेयम् ।

इह तु यत्र लिङ्गवचनभेदेऽपि न साधारणधर्मस्यान्यथाभावस्तत्र न दोषः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'मुखं चन्द्र इवाभाति ।'

'पुरुषभेद', 'विभक्तिभेद' आदि-आदि हैं वे अन्ततोगत्वा 'भग्नप्रक्रमत्व' में अन्तर्भूत दिखायी देते हैं । क्रमशः उदाहरण के लिये—

'वह चन्द्रमा सुधा की भाँति निर्मल है ।'

[यहाँ 'उपमा' में उपमानगत जो 'लिङ्गभेद' है वह 'प्रक्रमभेद' रूप ही दोष है ।]

'ज्योत्स्नाओं की भाँति शुभ्र कीर्ति ।'

[यहाँ 'उपमा' में उपमानगत 'वचनभेद' का दोष एक प्रकार का 'प्रक्रमभेद'रूप ही दोष है ।]

'शुद्ध वेष में महर्षि वसिष्ठ के तपोवन के प्रति एकसाथ प्रस्थानोन्मुख महारानी सुदक्षिणा और महाराज दिलीप की वही शोभा हुई जो कि हिमनिर्मुक्त चित्रा और चन्द्रमा की हुआ करती है । (रघुवंश : १ म सर्ग) ।'

यहाँ 'उपमा' में 'कालभेद' का जो दोष है क्योंकि उपमेयभूत सुदक्षिणा और दिलीप की शोभा तो अतीत से संबद्ध है जब कि उपमानभूत चित्रा और चन्द्रमा की शोभा प्रतिवर्ष की वस्तु है, वह 'प्रक्रमभेद' का ही रूपान्तर है ।

'अरी सुन्दरी ! तुम लता की भांति सुन्दर हो ।'

यहां उपमा' में 'पुरुषभेद' का जो दोष है क्योंकि 'लता सुन्दर है' और 'तुम सुन्दर हो' कहने में पुरुषव्यत्यय स्पष्ट है वह 'प्रक्रमभेद' के अतिरिक्त और कोई अलङ्कारदोष नहीं

'तेरा पुत्र मार्कण्डेय मुनि की भांति चिरजीवी होवे ।'

[यहां 'उपमा' में 'विधिभेद' का जो दोष है क्योंकि मार्कण्डेय मुनि तो सदा चिरजीवी हैं और इसलिये उनके चिरजीवन ('जीवतु') की विधेयता असङ्गत है, वह वस्तुतः 'प्रक्रमभेद' रूप ही दोष है ।]

यहां एक बात ध्यान देने योग्य है और वह यह है कि जहां उपमा में लिङ्ग और वचन का भेद होने पर भी साधारण धर्म में कोई वैषम्य नहीं उत्पन्न हुआ करता वहां 'भग्न-प्रक्रमत्व' का दोष नहीं लगा करता । जैसे कि क्रमशः—

'मुख चन्द्रमा की भांति चमक रहा है ।'

'तद्वेषोऽसदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभृतः ।
दधते स्म परां शोभां तदीया विभ्रमा इव ॥'

पूर्वोदाहरणेषु उपमानोपमेययोरेकस्यैव साधारणधर्मेणान्वयसिद्धेः प्रकान्तस्यार्थस्य स्फुटोऽनिर्वाहः ।

(अनुप्रासगत दोष : अपुष्टार्थत्व)

एवमनुप्रासे वैफल्यस्यापुष्टार्थत्वम् ।

यथा—'अनणुरणन्मणिमेखलमविरलशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम् ।
परिसरणमरुणचरणे ! रणरणकमकारणं कुरुते ॥'

[यहाँ उपमेयभूत 'मुख' और उपमानभूत 'चन्द्र' में लिङ्गभेद स्पष्ट है किन्तु 'आभाति' का साधारण धर्म दोनों में समानरूप से अनुगत है। इसलिये यहाँ 'प्रक्रमभेद' की कोई सम्भावना नहीं।]

'(मधुरताभृतः) माधुर्यमय किंवा (अन्याभिः स्त्रीभिरसदृशः तद्वेषः) और स्त्रियों से विलक्षण उस सुन्दरी का वेष वैसे ही अनिर्वचनीयरूप से सुन्दर लगता है जैसे (मधुरताभृतः) मधुरता से भरे तथा (अन्याभिः स्त्रीभिरसदृशः) और स्त्रियों से विलक्षण लगने वाले (तदीया विभ्रमाः) उसके हावभाव अनिर्वचनीय रूप से सुन्दर लगा करते हैं।'

[यहाँ 'उपमा' में, उपमान और उपमेय के 'वचनभेद' का दोष स्पष्ट है, क्योंकि 'मधुरताभृतः', 'असदृशः' और 'दधते' तो उपमेय में एकवचनान्त रूप से संबद्ध होते हैं किन्तु उपमान में बहुवचनान्त रूप से। किन्तु यहाँ 'प्रक्रमभेद' इसीलिये नहीं क्योंकि ये साधारणधर्मबोधक पद अपने स्वरूप को अक्षुण्ण बनाये हुये ही उपमान और उपमेय में अनुगत हो जाते हैं।]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पूर्वोद्धृत ('नयनज्योतिषा' आदि से लेकर 'मार्कण्डेयमुनिर्यथा' तक की) उदाहरण—सूक्तिओं में 'भग्नप्रक्रमत्व' क्यों माना गया है। बात यह है कि उनमें, उपमेय और उपमान में से केवल एक ही साधारण धर्म से संबद्ध हो पाता है और इस प्रकार प्रक्रान्त अर्थ (उपमान और उपमेय में साधर्म्य की अनुगति) का निर्वाह नहीं हो पाता और जबकि प्रक्रान्त अर्थ का निर्वाह न हो तब तो 'प्रक्रमभेद' का मानना अनिवार्य ही है।

अनुवाद—'अनुप्रास' में (वस्तुतः शब्दालङ्कार में) 'वैफल्य' अथवा 'वैयर्थ्य' का जो दोष माना गया है वह एक प्रकार का 'अपुष्टार्थत्व' है। जैसे कि—

'अरी लाल कमल की भांति लाल चरणवाली ! क्या बात है कि मणिमेखला की विपुल ध्वनि तथा निरन्तर ध्वनित मञ्जीर की मोहक रुनझुन से सुशोभित, तेरा यह इतस्ततः संचरण, अकारण ही मुझमें रणरणक (कामचिंता) उत्पन्न किया करता है।'

[यहाँ जो अनुप्रास है उसमें प्रकृत रस की कोई उत्कर्षाधायकता नहीं। मणिमेखला के रणन के लिये 'अनणु', मञ्जु मञ्जीर के लिये 'अविरलशिञ्जान' आदि-आदि पद केवल अनुप्रास-बन्ध के लिये उपन्यस्त हैं। इस प्रकार अनुप्रास का यह दोष 'अपुष्टार्थत्व' का ही एक रूपान्तर प्रतीत हो रहा है।]

(समासोक्ति तथा अर्थान्तरन्यासगत दोष : पुनरुक्तत्व)

एवं समासोक्तौ साधारणविशेषणवशात्परार्थस्य प्रतीतावपि पुनस्तस्य शब्देनोपादानस्याप्रस्तुतप्रशंसायां व्यञ्जनयैव प्रस्तुतार्थावगतेः शब्देन तदभिधानस्य च पुनरुक्तत्वम् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'अनुरागवन्तमपि लोचनयोर्दधतं वपुः सुखमतापकरम् ।
निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका ॥'

अत्रापरदिगित्येतावतैव तस्या गणिकात्वं प्रतीयते ।

'आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान् पुरो वार्यते
मध्ये वा धुरि वा वसंस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां धुरम् ।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां
धिक्सामान्यमचेतसं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम् ॥'

अत्राचेतसः प्रभोरभिधानमनुचितम् ।

अनुवाद—इसी भांति 'समासोक्ति' में, जहाँ साधारण विशेषण के सामर्थ्य से प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति स्वाभाविक है, पुनः शब्दतः प्रतीयमान अर्थ के अभिधान के कारण अथवा 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में जहाँ व्यञ्जनाव्यापार से ही प्रस्तुत अर्थ का बोध संभव है, पुनः शब्दतः प्रस्तुत अर्थ के अभिधान के कारण, जो 'अलङ्कारदोष' हो सकता है वह वस्तुतः 'पुनरुक्तत्व' (पौनरुक्त्य रूप ही दोष समझा जाना चाहिये। उदाहरण के लिये, क्रमशः—

'पश्चिम दिशा रूप गणिका ने अनुराग युक्त (लाल) और नेत्रों के लिये सुखकर और शीतल भी सूर्य को 'अपेतवसु' (किरणरहित और निर्धन) समझकर गगनालय से ही बाहर निकाल दिया।'

यहाँ (शिशुपालवध : ९म सर्ग की सूक्ति) समासोक्ति में 'अपरदिक्' पद से ही 'वेश्या' का व्यङ्ग्यार्थ निकल सकता है किन्तु 'गणिका' पद के द्वारा उसे जो पुनः प्रतिपादित किया गया है उसके कारण यहाँ 'पुनरुक्तत्व' का दोष आ लगा है।

इसी प्रकार 'जब पक्षिओं को बुलाओ तो मच्छड़ भी अपने को विहङ्गम जाति का मान कर उनके साथ दौड़ पड़ता है, जब मणिओं का लेखा-जोखा करो तो तृणमणि भी, मणि जाति का होने के कारण, उनके बीच स्थान पा जाता है; जब ज्योतिर्मय पदार्थों की गणना करो तो खद्योत (जुगनू) भी अपने आप को ज्योतिर्मय जाति का पदार्थ मानकर पहुँच जाते हैं। धिक्कार है किसी विवेकशून्य किंवा मूर्ख राजा की भांति उस 'सामान्य' (जातिमात्र) को जो कहीं भी स्वरूपतारतम्य नहीं देखा करता'।

यहां (भल्लटशतक की इस सूक्ति में) 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में व्यञ्जनाव्यापार से ही प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति संभव है। किन्तु 'अचेतसं प्रभुम्' इस शब्दोपादान से इसे पुनः अभिहित करके अलङ्कार-दोष से दूषित कर दिया गया है। किन्तु यह अलङ्कार-दोष भी वस्तुतः एक प्रकार का 'पुनरुक्तत्व' (पौनरुक्त्य) दोष ही है।

(अनुप्रासगत अन्य दोष : ख्यातिविरुद्धत्व)

एवमनुप्रासे प्रसिद्ध्यभावस्य ख्यातविरुद्धत्वम् ।

यथा—

'चक्राधिष्ठिततां चक्री गोत्रं गोत्रभिदुच्छ्रितम् ।
वृषं वृषभकेतुश्च प्रायच्छन्नस्य भूभुजः ॥'

(उपर्युक्त दोष : अनित्यत्वव्यवस्था, 'दुःश्रवत्व' की अनित्यता)

उक्तदोषाणां च क्वचिद् गुणत्वमित्याह—

**वक्तरि क्रोधसंयुक्ते तथा वाच्ये समुद्धते ।
रौद्रादौ तु रसेऽत्यन्तं दुःश्रवत्वं गुणो भवेत् ॥ १६ ॥**

एषु चास्वादस्वरूपविशेषात्मकतया मुख्यगुणप्रकर्षोपकारित्वाद् गुण इति व्यपदेशो भाक्तः ।

क्रमेण यथा—

'तद्विच्छेदकृशस्य कण्ठलुठितप्राणस्य मे निर्दयं
क्रूरः पञ्चशरः शरैरतिशितैर्भिन्दन्मनो निर्भरम् ।
शम्भोर्भूतकृपाविधेयमनसः प्रोद्दामनेत्रानल-
ज्वालाजालकरालितः पुनरसावास्तां समस्तात्मना ॥'

अनुवाद—अनुप्रास में 'प्रसिद्ध्यभाव' का जो दोष माना गया है उसे 'ख्यातिविरुद्धत्व' में ही अन्तर्भूत समझना चाहिये। जैसे कि—

'ये ही वे महाराज हैं जिन्हें चक्रधारी विष्णु भगवान् ने चक्रवर्तित्व दिया है, गोत्रभिद् इन्द्र भगवान् ने वंश दिया है और वृषभकेतु महादेव शंकर ने धर्म दिया है।'

यहाँ (चक्राधिष्ठिततां चक्री आदि में) अनुप्रास के आवेश में कवि ने ऐसी बातों का उल्लेख कर दिया है जो पुराणादि के द्वारा प्रमाणित नहीं। यह 'अनुप्रास-दोष' ख्याति-विरुद्धत्व का ही एक रूपान्तर है।

अनुवाद—उपर्युक्त दोष कैसे कहीं दोष नहीं लगते और कहीं गुण सरीखे लगा करते हैं, इसका विचार किया जा रहा है—

सर्वप्रथम 'दुःश्रवत्व' दोष ऐसा है जो कि वक्ता के क्रोधावेश, वर्ण्य विषय के औद्धत्य तथा रौद्र आदि रसभाव के अभिव्यञ्जन में वस्तुतः गुण का ही कार्य किया करता है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि उपर्युक्त परिस्थितिओं में 'दुःश्रवत्व' दोष का 'गुण' कहने में उपचार का आश्रय लिया गया है। बात यह है कि वैसे तो ओज, माधुर्य आदि गुण आनन्दानुभवात्मक रसभाव के स्वरूपविशेष हैं किन्तु उपर्युक्त परिस्थितिओं में 'दुःश्रवत्व' आदि के द्वारा रसभाव के समुत्कर्ष और रसधर्मभूत ओज आदि मुख्य गुणों के अभिव्यञ्जन में साहाय्य के कारण यदि 'दुःश्रवत्व' आदि को 'गुण' कहा गया तो आपत्ति क्या?

उदाहरण के लिये क्रमशः—

'उसके विरह में दीन-हीन और वस्तुतः कण्ठागतप्राण मेरे हृदय पर, निर्दयतापूर्वक, तीक्ष्ण बाणों से प्रहार करनेवाला यह क्रूर पञ्चशर काम, क्या ही अच्छा होता यदि,

अत्र शृङ्गारे कुपितो वक्ता।

'मूर्धव्याधूयमानध्वनदमरधुनीलोलकल्लोलजालो-
द्धूताम्भःक्षोददम्भात्प्रसभमभिनभःक्षिप्तनक्षत्रलक्षम्।
ऊर्ध्वन्यस्ताङ्घ्रिदण्डभ्रमिभररभसोद्यन्नभस्वत्प्रवेग-
भ्रान्तब्रह्माण्डखण्डं प्रवितरतु शिवं शाम्भवं ताण्डवं वः॥'

अत्रोद्धतताण्डवं वाच्यम्। इमे पद्ये मम।

रौद्रादिरसत्व एतद्द्वितयापेक्षयापि दुःश्रवत्वमत्यन्तं गुणः।

यथा—

'उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिम्—' इत्यादि।

अत्र बीभत्सो रसः।

(अश्लीलत्व की अनित्यत्व-व्यवस्था)

सुरतारम्भगोष्ठ्यादावश्लीलत्वं तथा पुनः।

तथा पुनरिति गुण एव।

जीवदया के वशंवद भगवान् शङ्कर के प्रचण्ड नेत्रानल की ज्वालाओंमें पुनः पूर्णरूप से भस्मसात् हो जाता।'

यहाँ इस शृङ्गाररसमयी सूक्ति में जो 'दुःश्रवत्व' है वह वस्तुतः गुण का कार्य कर रहा है। कारण यह है कि यहाँ जो वक्ता है वह काम के प्रति क्रोधावेश से भरा हुआ है और इसलिये उसके मनःक्षोभ के प्रकाशक कर्णकटु वर्ण खटकते नहीं अपितु अच्छे ही लगते हैं।

और

'भगवान् शङ्कर का वह ताण्डव, जिसमें उनके जटाजूट में चक्कर काटने वाली और अमन्द निध्वान से भरी सुरनदी की तुमुलतरङ्ग-मालाओं से छिटकते जलकणों के बहाने लाखों लाख नक्षत्र गगन-मण्डल की ओर फेंके जाते दिखायी पड़ा करते हैं और जिसमें उनके ऊपर उठे चरण के इतस्ततः वेगपूर्वक नचाने से उत्पन्न प्रबल प्रभञ्जन के झोंकों के साथ समस्त ब्रह्मांड नाचता सा लगा करता है, आप सबका सदा कल्याण करता रहे।'

यहाँ जो वर्ण्य विषय है अर्थात् 'ताण्डव' वह एक औद्धत्यपूर्ण विषय है और इसलिये यहाँ जो भी 'दुःश्रवत्व' है वह गुण का ही कार्य करता दिखायी दे रहा है।

ये उपर्युक्त सूक्तियाँ स्वरचित सूक्तियाँ हैं।

रौद्र आदि दीप्त रसों में 'दुःश्रवत्व' वस्तुतः उपर्युक्त दोनों परिस्थितियों की अपेक्षा कहीं अधिक गुण सा लगा करता है। जैसे कि (महाकवि-भवभूति रचित 'मालतीमाधव' की सूक्ति)—

'उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिम्' आदि। यहाँ जो अभिव्यङ्ग्य रस है वह 'बीभत्स' है और यह निर्विवाद है कि यहाँ का 'दुःश्रवत्व' रसाभिव्यञ्जक हो रहा है।

अनुवाद—'अश्लीलत्व' दोष भी काम-गोष्ठी आदि की परिस्थिति में दोष के बदले गुण का ही कार्य किया करता है।

यहाँ (कारिका में) 'तथा पुनः' (पुनः उसी प्रकार होने) का अभिप्राय 'गुणवत् होने' का अभिप्राय है। जैसे कि—

यथा—

'करिहस्तेन संबाधे प्रविश्यान्तर्विलोडिते ।
उपसर्पन् ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते ॥'

अत्र हि सुरतारम्भगोष्ठ्याम्—

'ताम्बूलदानविधिना विसृजेद्वयस्यां
व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु' इति कामशास्त्रस्थितिः ।

आदिशब्दाच्छमकथाप्रभृतिषु बोद्धव्यम् ।

(निहतार्थत्व-अप्रयुक्तत्व : अनित्यत्वनियम)

स्यातामदोषौ श्लेषादौ निहतार्थाप्रयुक्तते ॥ १७ ॥

यथा—

'पर्वतभेदि पवित्रं जैत्रं नरकस्य बहुमतं गहनम् ।
हरिमिव हरिमिव हरिमिव सुरसरिदम्भः पतन्नमत ॥'

'जब कि घमासान युद्ध में घुसकर गजराज की सूँड़ रास्ता बना दे, तब वीर योद्धा का विजय-ध्वज सेना के बीच पहुँच कर बड़ा भव्य दृश्य उपस्थित किया करता है।'

[यहाँ अभिव्यङ्ग्य अश्लील अर्थ यह है—'जब कि 'करिहस्त' (अर्थात् तर्जनी, मध्यमा और अनामिका अंगुलियों द्वारा योनि-शैथिल्य के लिये बनाये गये, मुद्राविशेष) के द्वारा 'संबाध' (योनि) में प्रवेश पाकर और उसे अच्छी तरह विलोडित करके पुरुष का 'ध्वज' (लिङ्ग) 'साधन' (योनि) के भीतर बारंबार आया-जाया करता है तो सचमुच बड़ा आनन्द आता है।']

यहाँ जो भी 'अश्लीलत्व' है वह 'गुण' हो रहा है क्योंकि यह उक्ति काम-गोष्ठी से सम्बद्ध है और काम-शास्त्र की यह मर्यादा है कि 'सखी को पान आदि देकर बाहर भेज दिया जाय और गोपनीय कामवार्ता द्व्यर्थक पदों द्वारा ही प्रकाशित की जाय।'

यहाँ कारिका में 'आदि' पद इसीलिये प्रयुक्त है जिसमें 'कामगोष्ठी' की भांति 'शमगोष्ठी' आदि का भी ग्रहण कर लिया जाय।

अनुवाद—'निहतार्थत्व' और 'अप्रयुक्तत्व' दोष भी श्लेष आदि के प्रसङ्गों में दोष नहीं समझे जाते। जैसे कि—

'सुरनदी के उस पवित्र जल-प्रपात को नमस्कार है जो कि 'हरिमिव हरिमिव हरिमिव' विष्णु और इन्द्र और दुर्गावाहन सिंह की भाँति 'पर्वतभेदि'—हिमालय को विदीर्ण कर प्रवाहित हुआ है। 'पवित्रम्' परम पावन है, 'नरकस्य जैत्रम्'—पाप-संताप का नाशक है और 'गहनम्' अचिन्त्य प्रताप वाला है।'

[विष्णुपक्ष में—'पर्वतभेदि पवित्रम्'—पर्वतों के विदारक वज्र से गोकुल के रक्षक; 'नरकस्य जैत्रम्'—नरकासुर के संहारक, 'बहुमतम्'—सर्वपूज्य, गहनम्'—अचिन्तनीय महिमावाले। इन्द्रपक्ष में—'पर्वतभेदि पवित्रम्'—पहाड़ों के पंख काटनेवाले, पवि अथवा वज्र से देवों की रक्षा करने वाले, 'जैत्रम्'—सर्वत्र विजयी, 'नरकस्य बहुमतम्' दयापात्र मानव के पूज्य, 'गहनम्'—दुर्जेय। सिंहपक्ष में—'पर्वतभेदि पवित्रम्'—पहाड़ों की गुफा में रहने वाले और अपनी वासभूमि के स्वयं एकमात्र रक्षक, 'नरकस्य जैत्रम्' दुर्बल मानव को तुच्छ समझने वाले, बहुमतं गहनम्' अनेकानेक गजराजों के संहारक।]

अत्रेन्द्रपक्षे पवित्रशब्दो निहतार्थः। सिंहपक्षे मतङ्गशब्दो मातङ्गार्थेऽप्रयुक्तः।

(अप्रतीत्व : अनित्यता-नियम)

गुणः स्यादप्रतीतत्वं ज्ञत्वं चेद्वक्तृवाच्ययोः।

यथा—

'त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
त्वद्दर्शनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥'

स्वयं वापि परामर्शे—

अप्रतीतत्वं गुण इत्यनुषज्यते।

यथा—

'युक्तः कलाभिस्तमसां विवृद्ध्यै क्षीणश्च ताभिः क्षतये य एषाम्।
शुद्धं निरालम्बपदावलम्बं तमात्मचन्द्रं परिशीलयामि॥'

यहाँ 'पवित्र' पद इन्द्रपक्ष में 'निहतार्थ' है (क्योंकि इसका लोकप्रसिद्ध अर्थ 'पावन' है, 'पवि' अथवा 'वज्र' से रक्षक नहीं)। साथ ही साथ 'मतङ्ग' पद, सिंहपक्ष में 'अप्रयुक्त' है क्योंकि यहाँ 'मातङ्ग' पद ही प्रयुक्त होता है। किन्तु यहाँ श्लेष का प्रसंग होने से 'निहतार्थत्व' और 'अप्रयुक्तत्व' के दोनों दोष दोष नहीं प्रतीत होते।

अनुवाद—'अप्रतीत्व' दोष वहाँ गुण की भांति रहा करता है जहां वक्ता और वाच्य (श्रोता) दोनों विषय के समझनेवाले हुआ करते हैं। जैसे कि (कुमारसम्भवः २य सर्ग की सूक्ति)—

'हे देवाधिदेव! आप ही वह प्रकृति हैं जिससे पुरुषार्थचतुष्टय का प्रवर्तन हुआ करता है। हे शङ्कर! आप ही वह पुरुष हैं जो द्रष्टामात्र रहा करता है और सदा अनासक्त कूटस्थ, चित्तत्व है।'

[यहां 'प्रकृति', 'पुरुष' आदि-आदि पद के प्रयोग में 'अप्रतीतत्व' की आशङ्का इसलिये नहीं होनी चाहिये क्योंकि यहां महाकवि ने ऐसे वक्ता (अर्थात् देववृन्द) और ऐसे श्रोता (अर्थात् महादेव शङ्कर) की उद्भावना की है जो सर्वज्ञ हैं।]

यह 'अप्रतीतत्व' वहां भी गुण सा ही लगा करता है जहां कोई विज्ञाता वक्ता किसी दुर्बोध वस्तु-परामर्श में निरत प्रतीत हुआ करता है।

[यहां 'स्वयं वापि परामर्शे' के साथ 'अप्रतीतत्वं गुणः' का, जोकि कारिका के पूर्वचरण में है, अनुषङ्ग अथवा संबन्ध समझ लेना चाहिये। जैसे कि—

'मैं उस अपूर्व, निष्फल किंवा निरालम्ब आत्म-चन्द्र का चिन्तन करता हूँ जोकि अविद्यात्मक काव्यकलाप के संचालन के लिये अपनी मायाविभूति-रूपी कलाओं से पूर्ण हो जाता है और इन अविद्यात्मक कार्यकलापों के संहार के लिये, अपनी मायाविभूति से रहित होकर, परब्रह्मरूप से अवस्थित हो जाता है।'

[यहां जब कि वक्ता वेदान्त-रहस्य से परिचित है और स्वयं तत्त्व-पर्यालोचन में निरत है तब 'अप्रतीतत्व' की क्या संभावना? यहां औरों को प्रतीत होने वाला यह 'अप्रतीतत्व' वस्तुतः गुणरूप ही लग रहा है।]

(कथितपदत्वः अनित्यत्व-व्यवस्था)

—कथितं च पदं पुनः ॥ १८ ॥
विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विस्मये क्रुधि ।
दैन्येऽथ लाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादने ॥ १९ ॥
अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे ।

गुण इत्येव।

यथा—

'उदेति सविता ताम्रः—' इत्यादि ।

अत्र विहितानुवादः ।

'हन्त ! हन्त ! गतः कान्तो वसन्ते सखि ! नागतः ।'

अत्र विषादः ।

'चित्रं चित्रमनाकाशे कथं सुमुखि ! चन्द्रमाः ।'

अत्र विस्मयः ।

'सुनयने नयने निधेहि' इति ।

अत्र लाटानुप्रासः ।

'नयने तस्यैव नयने च ।'

अनुवाद—जिसे 'कथितपदत्व' दोष कहा करते हैं वह निम्न परिस्थितिओं में गुण-सा लगा करता है ।

(१) विहित अथवा उद्देश्य के प्रतिनिर्देश में, (२) विषाद में, (३) विस्मय में, (४) क्रोध में, (५) दीनता में, (६) लाटानुप्रास में, (७) अनुकम्पा में, (८) किसी के प्रसादन = प्रसन्न करने में, (९) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि में, (१०) हर्ष में और (११) अवधारण अथवा विषय-निश्चय में ।

यहाँ पूर्वकारिका से 'गुणः' पद की अनुवृत्ति आ रही है जिससे यह अभिप्राय निकलता है कि 'कथितपदत्व' गुण हो जाता है । जैसे कि—

'उदेति सविता ताम्रः' (सूर्य लाल-लाल ही उगता है) आदि, यहाँ उद्देश्य का प्रतिनिर्देश करना है इसलिये 'ताम्र एवास्तमेति च' में 'ताम्र' पद में 'कथितपदत्व' दोष नहीं ।

'ओह ! वसन्त आ गया; ओह ! कान्त न आये ।'

यहाँ विषाद के कारण 'हन्त', 'हन्त' आदि पदों में 'कथितपदत्व' दोष नहीं अपितु गुण है ।

'अरे ! अरे ! विना आकाश के यह चन्द्रमा कहाँ से निकल पड़ा !'

यहाँ विस्मय के कारण 'चित्रं चित्रम्' आदि में कथितपदत्व गुण का कार्य कर रहा है ।

'अरी सुनयने ! अपने नयन तो इधर कर ।'

यहाँ लाटनुप्रास के कारण 'नयने नयने' में 'कथितपदत्व' गुण सा सुंदर लग रहा है ।

'उसी के नयन नयन हैं ।'

इत्यादावर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः।

एवमन्यत्रापि।

(संदिग्धत्व : अनित्यता-नियम)

सन्दिग्धत्वं तथा व्याजस्तुतिपर्यवसायि चेत् ॥ २० ॥

गुण इत्येव यथा—

'पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥'

(कष्टत्व : गुणव्यवस्था)

वैयाकरणमुख्ये तु प्रतिपाद्येऽथ वक्तरि।

कष्टत्वं दुःश्रवत्वं वा—

गुण इत्येव।

यहाँ 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि' में 'नयने-नयने में प्रतीत होनेवाला 'कथित-पदत्व' दोष नहीं अपितु गुण है। इसी भांति अन्य प्रसङ्गों में 'कथितपदत्व' की गुणरूपता स्वयं देखी जा सकती है।

अनुवाद—'संदिग्धत्व' दोष भी गुण हो जाता है यदि वह व्याजस्तुति में समाप्त हो।

यहाँ भी पूर्वकारिका से 'गुणः' की अनुवृत्ति आ रही है।

उदाहरण के लिये—

'महाराज! इस समय तो हमारा और आपका भवन एक समान ही है—'पृथुकार्त-स्वरपात्रम्' (राजपक्ष में) पृथूनि बृहन्ति कार्तस्वरस्य सुवर्णस्य पात्राणि भाजनादीनि यत्र—अनेकानेक स्वर्ण-पात्रों से विभूषित; (याचक-पक्ष में) पृथुकानां शिशूनां आर्तस्वर-स्य क्षुत्पिपासाध्वनेः पात्रं स्थानम्—भूख प्यास से चीखते-बिलबिलाते बाल-बच्चों की करुण ध्वनि से भरा, 'भूषितनिःशेषपरिजनम्' (राज-पक्ष में) भूषिताः रत्नालङ्कृताः निःशेषाः सर्वे परिजनाः सेवकाः यत्र—रत्नालंकृत अनुचर-परिचरों से भरपूर; (याचक-पक्ष में) भुवि स्थण्डिले उषिताः आसनाद्यभावात् स्थिताः निःशेषाः परिजनाः समग्राः पुत्रकल-त्रादयः यत्र—पृथ्वी पर इधर उधर लोट लगानेवाले लोगों से भरपूर; 'विलसत्करेणुगह-नम्' (राज-पक्ष में) विलसन्तीभिः करेणुभिः गहनम्—सुंदर-सुंदर हथिनियों से सुशो-भित; (याचक-पक्ष में) विलसत्का बिलवर्तिनः मूषकादयस्तेषां रेणुभिर्गहनम्—बिल में घुसे चूहों की धूल से धूसर!'

यहाँ 'सन्दिग्धत्व' स्पष्ट है क्योंकि 'पृथुकार्तस्वरपात्रम्' आदि का अर्थ-निर्णय नहीं हो पाता। किन्तु इस उक्ति के व्याजस्तुतिरूप होने से यह 'सन्दिग्धत्व' दोष के बदले गुण सा लगा करता है।

अनुवाद—'कष्टत्व' तथा 'दुःश्रवत्व' भी गुण हो जाया करते हैं यदि वक्ता और श्रोता दोनों वयाकरण होने का अभिमान रखने वाले हों।

यहाँ भी 'गुणः' की अनुवृत्ति है। उदाहरण के लिये—

यथा—

'दीधीवेवीट्समः कश्चिद्गुणवृद्ध्योरभाजनम् ।
क्विप्प्रत्ययनिभः कश्चिद्यत्र सन्निहिते न ते ॥'

अत्रार्थः कष्टः । वैयाकरणश्च वक्ता । एवमस्य प्रतिपाद्यत्वेऽपि ।

'अत्रास्मार्षमुपाध्यायं त्वामहं न कदाचन ।'

अत्र दुःश्रवत्वम् । वैयाकरणो वाच्यः । एवमस्य वक्तृत्वेऽपि ।

(ग्राम्यत्व : अतित्यत्व-व्यवस्था)

—ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु ॥ २१ ॥

गुण इत्येव । यथा मम—

'यहाँ कुछ लोग तो ऐसे हैं जो 'दीधीङ्' और 'वेवीङ्' धातुओं के समान न तो गुण (दया दाक्षिण्य और 'अदेङ् गुणः' से परिभाषित गुण) के भाजन हैं और न वृद्धि (धन-समृद्धि और 'वृद्धिरेचि' से परिभाषित वृद्धि) के ही। साथ ही साथ कुछ ऐसे भी हैं जो क्विप् प्रत्यय की भाँति सर्वलुप्त हैं और जिनके सम्पर्क में आने से औरों को भी गुण और वृद्धि का सौभाग्य नहीं मिल पाता ।'

यहाँ जो अर्थ है वह बड़ा कष्टगम्य है किन्तु यह सब 'कष्टत्व' इसलिये गुणवत् प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ का वक्ता एक वैयाकरण है और अपने शास्त्र-पाण्डित्य के प्रदर्शन का इच्छुक है ।

इसी भाँति यह 'कष्टत्व' वहाँ भी गुण ही समझा जायगा जहाँ श्रोता वैयाकरण हो और अपने व्याकरण-पाण्डित्य का अभिमान रखता हो ।

इसी प्रकार— -

'इस विषय में मैंने कभी भी अपने उपाध्याय को स्मरण करने का कष्ट नहीं किया ।'

यहां 'अस्मार्षम्' आदि में 'दुःश्रवत्व' है किन्तु यहां के श्रोता के वैयाकरण होने से इसे दोष न मानकर, गुण ही माना जायगा । इसी प्रकार यह 'दुःश्रवत्व' वहां भी गुण ही होगा जहां वक्ता वैयाकरण हो ।

विमर्श—बोद्धव्य-वैशिष्ट्य से 'कष्टत्व' की गुणरूपता के उदाहरण में काव्यप्रकाशकार ने यह सूक्ति उद्धृत की थी—

'यदा त्वामहमद्राक्षं पदविद्याविशारदम् ।
उपाध्यायं तदाऽस्मार्षं समस्प्राक्षं च संमदम् ॥

जिसे साहित्यदर्पणकार ने तोड़-मरोड़कर 'दुःश्रवत्व' की गुणरूपता के उदाहरण में उद्धृत किया है । किन्तु पाठकों से यह छिपा नहीं है कि साहित्यदर्पण के उद्धरण में 'दुःश्रवत्व' का आभासमात्र भले ही मिले सम्पूर्ण स्वरूप कदापि नहीं है ।

अनुवाद— जिसे 'ग्राम्यत्व' दोष कहा गया है वह, अधम अथवा अपढ़ लोगों की उक्ति में, गुण सा ही लगा करता है ।

यहां भी पूर्वकारिका से 'गुणः' पद अनुवृत्त है ।

उदाहरण के लिये, यह स्वरचित सूक्ति—

'एसो ससहरबिम्बो दीसइ हेअङ्गवीणपिण्डो व्व ।
एदे अस्ससमोहा पडन्ति आसासु दुद्धधार व्व ॥'
[एष शशधरबिम्बो दृश्यते हैयङ्गवीनपिण्ड इव ।
एते चांशुसमूहाः पतन्त्याशासु दुग्धधारा इव ॥]

इयं विदूषकोक्तिः ।

('निर्हेतुत्व' की गुण व्यवस्था)

निर्हेतुता तु ख्यातेऽर्थे दोषतां नैव गच्छति ।

यथा—'संप्रति संध्यासमयश्चक्रद्वन्द्वानि विघटयति ।'

('ख्यातिविरुद्धत्व' की गुणव्यवस्था, 'कविसमय-कीर्तन')

कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातविरुद्धता ॥ २२ ॥

कविसमयख्यातानि च—

**मालिन्यं व्योम्नि पापे, यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः
रक्तौ च क्रोधरागौ ; सरिदुदधिगतं पङ्कजेन्दीवरादि ।
तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति च मरालादिकः पक्षिसङ्घो ।
ज्योत्स्ना पेया चकोरैर्जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः ॥२३॥
पादाघातादशोकं विकसति वकुलं योषितामास्यमद्यै-
र्यूनामङ्गेषु हाराः, स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः ।**

'चन्द्रमा का यह बिम्ब ऐसा लगता है जैसे मक्खन का गोला हो और उसकी ये किरणें चारों ओर ऐसी छिटक रही हैं मानों दूध की धारायें हों।'

यहाँ जो 'ग्राम्यत्व' है, वह, इसके वक्ता के विदूषक होने के कारण, गुण का कार्य कर रहा है।

अनुवाद—'निर्हेतुत्व' दोष वहाँ दोष नहीं माना जाया करता जहाँ वर्ण्य विषय लोक-प्रसिद्ध हुआ करता है। जैसे कि—

'इस समय यह संध्याकाल चक्रवाक-मिथुन को अलग-अलग करता प्रतीत हो रहा है।'

यहाँ संध्या के समय चक्रवाक-मिथुन के परस्पर विघटन की बात वस्तुतः लोक-प्रसिद्ध बात है। इसलिये यहाँ जो भी 'निर्हेतुत्व' है वह खटकता नहीं।

अनुवाद—जिसे 'ख्यातिविरुद्धत्व' का दोष कहा गया है, वह, कवि-समयप्रसिद्धि के कारण, कहीं, गुण का ही कार्य किया करता है।

यहाँ कवि-समय-प्रसिद्धि में इनकी गणना है—

'आकाश और पाप में कृष्णवर्णता, यश, हास और कीर्ति में शुभ्रवर्णता, क्रोध और अनुराग में रक्तवर्णता, श्वेत और नील कमल का नदी-समुद्रादि में अस्तित्व, समस्त भुवनवर्ती जलाशयों में कलहंस किंवा चक्रवाक आदि का अवस्थान, चकोर पक्षी के द्वारा चन्द्रिका का पान, वर्षाकाल में हंसों का मानसरोवर के प्रति प्रस्थान, रमणिओं के पाद-प्रहार से अशोक में फूल खिलना और उनके मुखोच्छिष्ट मद्य से बकुल का विकसित

मौर्वी रोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतो-
भिन्नं स्यादस्य बाणैर्युवजनहृदयं स्त्रीकटाक्षेण तद्वत् ॥ २४ ॥
अह्न्यम्भोजं, निशायां विकसति कुमुदं, चन्द्रिका शुक्लपक्षे
मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनां नाप्यशोके फलं स्यात् ।
न स्याज्जाती वसन्ते; न च कुसुमफले गन्धसारद्रुमाणा-
मित्याद्युन्नेयमन्यत्कविसमयगतं सत्कवीनां प्रबन्धे ॥ २५ ॥

एषामुदाहरणान्याकरेषु स्पष्टानि ।

होना, युवक और युवती के अङ्गों में मुक्ताहार, वियोग में संताप से हृदय का विदीर्ण हो जाना, कामदेव की प्रत्यञ्चा के रूप में भ्रमर-पंक्ति, काम के धनुष और बाण के रूप में पुष्प, काम-बाण और नारी-कटाक्ष से युवा प्रेमियों के हृदय का विदीर्ण होना, दिन में कमल का खिलना, रात में कुमुद का विकसित होना, शुक्लपक्ष में ही चाँदनी का छिटकना, मेघ-गर्जन के समय मयूरों का नाच उठना, अशोक में फल का अभाव, वसन्त में मालती का न खिलना, चन्दन में फूल और फल का न होना और इसी भाँति काव्य-साहित्य में उपलब्ध कवि-समय अथवा कवि-सम्प्रदाय की चित्र-विचित्र बातें।'

इनके उदाहरण काव्य-प्रबन्धों में यत्र-तत्र स्वयं ढूँढ़े जा सकते हैं।

विमर्श—'कविसमय' क्या है ? इसकी मीमांसा महाकवि राजशेखर के शब्दों में यह है—

'अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः। 'नन्वेष दोषः कथङ्कारं पुनरुपनिबन्धनार्हः' इति आचार्याः। 'कविमार्गानुग्राही कथमेषः दोष ? इति यायावरीयः।'

अर्थात् 'कविसमय' वस्तुतः ऐसे काव्य-वर्णित अर्थ का नाम है जो कि अशास्त्रीय किंवा अलौकिक होने पर भी कविपरम्परा के द्वारा काव्य-साहित्य में उपनिबद्ध किया जाया करता है। अशास्त्रीय और अलौकिक होने पर भी इस अर्थप्रकार का उपनिबन्ध दोषावह नहीं क्योंकि इसका कार्य काव्य-मार्ग को प्रशस्त करना है।

यह 'कविसमय' तीन प्रकार का है—१. असत् का उपनिबन्ध, २. सत् का अनिबन्ध और ३. पदार्थ-नियम। महाकवि राजशेखर के अनुसार इस त्रिविध कविसमय का यह अभिप्राय है—

'तत्र सामान्यस्यासतो निबन्धनम्—यथा नदीषु पद्मोत्पलादीनि, जलाशयमात्रेऽपि हंसादयः, यत्र तत्र पर्वतेषु सुवर्णरत्नादिकञ्च। नदीपद्मानि यथा—

'दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥'...

सतोऽप्यनिबन्धनम्—तद् यथा—न मालती वसन्ते, न पुष्पफलं चन्दनद्रुमेषु, न फलमशोकेषु।......

अनेकत्र प्रवृत्तवृत्तीनामेकत्राचरणं नियमः, तद् यथा समुद्रेष्वेव मकराः, ताम्रपर्ण्यामेव मौक्तिकानि।......

('पुनरुक्तत्व' की अदोषता)

धनुर्ज्यादिषु शब्देषु शब्दास्तु धनुरादयः ।

आरूढत्वादिबोधाय—

यथा—'पूरिते रोदसी ध्वानैर्धनुर्ज्यास्फालनोद्भवैः ।'

अत्र ज्याशब्देनापि गतार्थत्वे धनुःशब्देन ज्याया धनुष्यायत्तीकरणं बोध्यते ।

असतोऽपि द्रव्यस्य निबन्धनम्—मुष्टिग्राह्यत्वं सूचिभेद्यत्वं च तमसः, कुम्भापवाह्यत्वं च ज्योत्स्नायाः ।······

द्रव्यस्य सतोऽनिबन्धनम्, तद्यथा—कृष्णपक्षे सत्या अपि ज्योत्स्नायाः, शुक्लपक्षे त्वन्धकारस्य ।······

द्रव्यनियमः, तद्यथा—मलय एव चन्दनस्थानम्, हिमवानेव भूर्जोत्पत्तिस्थानम् ।

असतोऽपि क्रियार्थस्य निबन्धनम्, यथा—चक्रवाकमिथुनस्य निशि भिन्नतटाश्रयणम्, चकोराणां चन्द्रिकापानञ्च ।······

सतोऽपि क्रियार्थस्यानिबन्धनम्, तद्यथा—दिवा नीलोत्पलानामविकासः, निशानिमित्तश्च शेफालिकाकुसुमानामविस्रंसः ।······

असतो गुणस्य निबन्धनम्, यथा—यशोहासप्रभृतेः शौक्ल्यम्, अयशसः पापप्रभृतेश्च कृष्णत्वम् ।······

सतोऽपि गुणस्यानिबन्धनम्, यथा—कुन्दकुड्मलानां कामिदन्तानां च रक्तत्वम्, कमलमुकुलप्रभृतेश्च हरितत्वम्, प्रियङ्गुपुष्पाणां च पीतत्वम् ।······

गुणनियमस्तु तद्यथा—सामान्योपादाने माणिक्यानां शोणता, पुष्पाणां शुक्लता, मेघानां कृष्णता च ।······

कृष्णनीलयोः, कृष्णहरितयोः, कृष्णश्यामयोः, पीतरक्तयोः, शुक्लगौरयोरेकत्वेन निबन्धनं च कविसमयः ।' (काव्यमीमांसा अध्याय १४, १५)

संस्कृत काव्य-साहित्य का एक अर्थ-प्रकार, 'कविसमय' के रूप में, प्रायः सभी कवियों द्वारा उपनिबद्ध हुआ है । महाकवि राजशेखर की निम्न उक्ति से यह अनुमान किया जा सकता है कि सर्वप्रथम 'कविसमय' का निर्धारण राजशेखर का ही किया हुआ है—

'सोऽयं कवीनां समयः काव्ये सुप्त इव स्थितः ।
स साम्प्रतमिहास्माभिर्यथाबुद्धि विबोधितः ॥'

(काव्यमीमांसा, १६ अध्याय)

अनुवाद—कतिपय पदों में 'पुनरुक्तत्व' दोष नहीं माना जाता । जैसे कि 'ज्या' (धनुष की प्रत्यञ्चा) आदि के बदले 'धनुर्ज्या' आदि प्रयुक्त किये जा सकते हैं जिनके अभिप्राय धनुष पर चढ़ाई प्रत्यञ्चा आदि निकलते हैं (न कि केवल धनुष की प्रत्यञ्चा आदि जो कि 'ज्या' आदि के अभिप्राय हैं) ।

उदाहरण के लिये—

'(धनुर्ज्या) धनुष पर चढ़ी प्रत्यञ्चा के आस्फालन से उत्पन्न ध्वनियों से पृथ्वी और आकाश दोनों भर गये ।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि केवल 'ज्या' पद के प्रयोग से भी 'धनुर्ज्या' का अभिप्राय निकल सकता था किन्तु 'धनुर्ज्या' कहने से 'धनुष पर चढ़ी अथवा चढ़ाई प्रत्यञ्चा का' विशेष अभिप्राय निकल रहा है जो कि यहाँ वस्तुतः विवक्षित है ।

आदिशब्दात्—

'भाति कर्णावतंसस्ते।'

अत्र कर्णस्थितत्वबोधनाय कर्णशब्दः। एवं श्रवणकुण्डलशिरःशेखर-प्रभृतिः। एवं निरुपपदो मालाशब्दः पुष्पस्रजमेवाभिधत्त इति स्थितावपि 'पुष्प-माला विभाति ते।' अत्र पुष्पशब्द उत्कृष्टपुष्पवृद्ध्यै।

एवं 'मुक्ताहार' इत्यत्र मुक्ताशब्देनान्यरत्नामिश्रितत्वम्।

—प्रयोक्तव्याः स्थिता अमी ॥ २६ ॥

धनुर्ज्यादयः सत्काव्यस्थिता एव निबद्धव्याः, न त्वस्थिता 'जघनकाञ्ची-करकङ्कणादयः।

(न्यूनपदत्व की अदोषता)

उक्तावानन्दमग्नादेः स्यान्न्यूनपदता गुणः।

यथा—

'गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भिन्नरोमोद्गमा

यहाँ (धनुर्ज्यादिषु में) 'आदि' पद का प्रयोग इसलिये किया गया है जिसमें अन्य पुनरुक्तवत् प्रतीत होने वाले पदों में भी पुनरुक्तत्व का परिहार समझ लिया जाय।

जैसे कि—

'तेरा कर्णावतंस बड़ा सुन्दर लग रहा है।'

यहाँ केवल 'अवतंस' शब्द से ही 'कर्णावतंस' का अभिप्राय निकल सकता था किन्तु 'कान में पहने कनफूल' के विशेष अभिप्राय के अवबोधनार्थ 'कर्ण' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'श्रवणकुण्डल', 'शिरःशेखर' प्रभृति पदों में भी, इन इन अङ्गों में अवस्थिति के अवबोध के लिये, 'श्रवण' और 'शिरस्' आदि पदों का प्रयोग निर्दुष्ट माना जायगा।

इसी प्रकार विना किसी उपपद के प्रयुक्त 'माला' शब्द से भी पुष्पहार (फूल की माला) का अर्थ निकल सकता है किन्तु 'तेरी पुष्पमाला बड़ी सुन्दर लग रही है' आदि प्रयोगों में 'पुष्प' पद के योग से सुन्दर-सुन्दर फूलों की गुथी माला का विशेष अभिप्राय प्रकाशित किया जाया करता है।

इसी प्रकार 'हार' के बदले 'मुक्ताहार' के प्रयोग से 'अन्य रत्नों से अमिश्रित मौक्तिक के हार' का विशेष अभिप्राय प्रकाशित किया जाया करता है।

किन्तु इन उपर्युक्त पुनरुक्तवत् प्रतीत होने वाले पदों के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि इनमें से उन्हीं का प्रयोग दोषावह नहीं जो कि काव्य-प्रबन्धों में यत्र-तत्र प्रयुक्त हो चुके हैं।

जैसे कि 'धनुर्ज्या' आदि पद काव्य-प्रबन्धों में यत्र-तत्र प्रयुक्त है और इनके प्रयोग में कोई आपत्ति नहीं। किन्तु 'जघनकाञ्ची', 'करकङ्कण' आदि का प्रयोग ठीक नहीं क्योंकि काव्य-प्रबन्धों में इन्हें प्रयुक्त नहीं किया गया।

अनुवाद—'न्यूनपदत्व' दोष भी वहाँ गुण ही हो जाया करता है जहाँ आनन्द में विभोर अथवा शोकाकुल लोगों की उक्ति का उपनिबन्ध हो। जैसे कि—

'गाढालिङ्गन से दबे हुए स्तनोंवाली, आनन्द के रोमाञ्च से भरी, सान्द्र स्नेहरस के

सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा ।
मा मा मानद ! माति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी
सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम् ॥'

अत्र पीडयेति न्यूनम् ।

क्वचिन्न दोषो न गुणः—

न्यूनपदत्वमित्येव । यथा—

'तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्जातेति कोऽयं विधिः ॥'

अत्र प्रभावपिहितेति भवेदिति चेत्यनन्तरं 'नैतद्यतः' इति पदानि न्यूनानि। एषां पदानां न्यूनतायामप्येतद्वाक्यव्यङ्ग्यस्य वितर्काख्यव्यभिचारिभावस्योत्कर्षाकरणान्न गुणः । 'दीर्घं न से'त्यादिवाक्यजन्यया च प्रतिपत्त्या तिष्ठेदित्यादिवाक्यप्रतिपत्तेर्बाधः स्फुटमेवावभासत इति न दोषः ।

आधिक्य से नितम्ब को अनावृत कर देनेवाली, 'अरे ! बस, बस करो, अब नहीं' इत्यादि अक्षरों को अस्फुट स्वर से निकालती. यह सुन्दरी, पता नहीं, सो गयी है या मर गयी है या मेरे मन में बस गयी है या हृदय में घुल-मिल गयी है ।'

यहाँ 'न्यूनपदत्व' प्रतीत ही है क्योंकि 'माम्' के बाद 'पीडय' पद, जो कि प्रयुक्त होना चाहिये, छोड़ दिया गया है । किन्तु यह सब इसलिये न्यूनपदत्व' नहीं क्योंकि आनन्दातिरेक में इतना ही पर्याप्त है और इसी से रसातिरेक का अनुभव सम्भव है ।

कहीं-कहीं पर ऐसा भी होता है कि 'न्यूनपदत्व' न तो दोष सा लगे और न गुण सा ही ।

यहाँ, 'क्वचिन्न दोषो न गुणः' आदि में 'न्यूनपदत्वम्' पद की आवृत्ति है । उदाहरण के लिये (महाकवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' की यह सूक्ति) ।

'क्या ऐसा तो नहीं कि मेरी प्रिया उर्वशी, प्रणय-कोप के कारण, अपनी अन्तर्धान विद्या के प्रभाव से, अन्तर्हित हो गयी ? किन्तु इतनी देर तक तो वह कभी क्रुद्ध नहीं हुई । क्या ऐसा तो नहीं कि वह स्वर्गलोक में उड़ कर चली गयी ? किन्तु मुझे तो वह हृदय से चाहती है ! क्या ऐसा तो नहीं कि असुर उसे चुरा ले गये ? किन्तु मेरे रहते भला असुर उसे कैसे चुरा सकें ! कहीं भी वह दिखाई नहीं पड़ती ! यह सब क्या हो गया ! क्या हो रहा है !'

यहाँ भी 'न्यूनपदत्व' है क्योंकि (प्रथम चरण में) 'प्रभावपिहिता' और (द्वितीय चरण में) 'भवेत्' पदों के बाद 'नैतद्यतः' (ऐसी बात नहीं, क्योंकि) पद की न्यूनता प्रतीत हो रही है । किन्तु इन पदों की यह न्यूनता यहाँ 'गुण' का कार्य इसलिये नहीं कर रही है क्योंकि इसके द्वारा, इस समस्त वाक्य में व्यङ्ग्य 'वितर्क' रूप व्यभिचारी भाव का कोई विशेष परिपोष नहीं प्रतीत होता इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह 'न्यूनपदत्व' यहाँ दोष है । वस्तुतः यह 'न्यूनपदत्व' यहाँ दोष भी नहीं क्योंकि 'दीर्घं न सा कुप्यति' आदि प्रतिचरणगत उत्तरार्धं वाक्य के अर्थसामर्थ्य से ही 'तिष्ठेत् कोपवशात्

(अधिकपदत्व की अदोषता)

—गुणः क्वाऽप्यधिकं पदम् ॥ २७ ॥

यथा—

'आचरति दुर्जनो यत्सहसा मनसोऽप्यगोचरानर्थान् ।
तन्न न जाने जाने स्पृशति मनः किं तु नैव निष्ठुरताम् ॥'

अत्र 'न न जान' इत्ययोगव्यवच्छेदे ।

द्वितीये 'जान' इत्यनेन नाहमेव जाने इत्यन्ययोगव्यवच्छेदाद्विच्छित्ति-विशेषः ।

(समाप्तपुनरात्तत्व की अदोषता)

समाप्तपुनरात्तत्वं न दोषो न गुणः क्वचित् ।

यथा—'अन्यास्ता गुणरत्न—' इत्यादि ।

अत्र प्रथमार्धेन वाक्यसमाप्तावपि द्वितीयार्धवाक्यं पुनरुपात्तम् ।

एवं च विशेषणमात्रस्य पुनरुपादाने समाप्तपुनरात्तत्वं न वाक्यान्तरस्येति विज्ञेयम् ।

प्रभावपिहिता' आदि प्रतिचरणगत पूर्वार्द्ध वाक्य के अभिप्राय का निराकरण स्पष्ट प्रतीत हो रहा है जिसके लिये 'नैतद्यतः' पद की न्यूनता कोई न्यूनता नहीं प्रतीत होती ।

अनुवाद—कहीं-कहीं 'अधिकपदत्व' गुणवत् प्रतीत हुआ करता है । जैसे कि—

'यह बात कि 'दुष्ट मनुष्य अकस्मात् कुछ ऐसे कार्य कर डालते हैं जिन्हें कोई सोच भी न सकें' ऐसा नहीं कि मैं न जानता होऊँ किन्तु कुछ प्रतिकार इसलिए नहीं करता क्योंकि मेरे हृदय में निष्ठुरता का भाव उत्पन्न ही नहीं होता ।'

यहाँ 'अधिकपदत्व' प्रतीत होता है क्योंकि 'न जाने' में 'न' अधिक है । किन्तु यह 'अधिकपदत्व' यहाँ गुण का ही कार्य कर रहा है क्योंकि इससे वक्ता के साथ, प्रस्तुत दुर्जन पुरुष के आचरण के ज्ञान का जो 'अयोग'–असंबन्ध–हो सकता था उसका व्यवच्छेद अथवा निवारण किया जा रहा है (अयोगव्यवच्छेद) जिससे 'अहं जाने एव' का विशेष अभिप्राय अभिव्यक्त हो उठता है ।

इसी प्रकार 'जाने जाने' में दूसरी बार प्रयुक्त 'जाने' पद अधिक प्रतीत होता है किन्तु यह 'अधिकपदत्व' गुण सा ही लग रहा है क्योंकि इसके द्वारा 'अहमेव जाने' (मैं ही जानता हूँ, कोई दूसरा क्या जानेगा) का एक सुन्दर अभिप्राय प्रकाशित हो जाता है जिसमें 'अन्ययोगव्यवच्छेद' (वक्ता के अतिरिक्त अन्य लोगों में प्रस्तुत दुर्जन पुरुष के दुराचरण के ज्ञान के निराकरण) का मर्म अन्तर्निहित है ।

अनुवाद—कहीं-कहीं 'समाप्तपुनरात्तत्व' न तो दोष सा लगता है और न गुण सा ही । जैसे कि—

'अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवः' आदि सूक्ति में ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि प्रथमार्ध में ही वाक्य समाप्त हो चुका है किन्तु 'श्रीमत्कान्ति-जुषाम्' आदि द्वितीयार्ध वाक्य के रूप में पुनः उपात्त है । किन्तु तब भी यहाँ 'समाप्त-पुनरात्तत्व' कोई दोष नहीं क्योंकि यहाँ विशेषणमात्र का पुनः उपादान नहीं अपितु साकांक्ष वाक्य का पुनः उपादान है । 'समाप्तपुनरात्तत्व' तो विशेषणमात्र के उपादान में

(गर्भितत्व की अदोषता)

गर्भितत्वं गुणः क्वापि—

यथा—

'दिङ्मातङ्गघटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते
सिद्धा सापि वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत ।
विप्राय प्रतिपाद्यते किमपरं रामाय तस्मै नमो
यस्मात्प्रादुरभूत्कथाद्भुतमिदं यत्रैव चास्तं गतम् ॥'

अत्र वदन्त एवेत्यादि वाक्यं वाक्यान्तरप्रवेशात् चमत्कारातिशयं पुष्णाति।

(पतत्प्रकर्षत्व की अदोषता)

—पतत्प्रकर्षता तथा ॥ २८ ॥

तथेति क्वचित् गुणः। यथा—'चञ्चद्भुज—' इत्यादि ।
अत्र चतुर्थपादे सुकुमारार्थतया शब्दाडम्बरत्यागो गुणः ।

(रसगत दोषों की अनित्यत्वव्यवस्था)

क्वचिदुक्तौ स्वशब्देन न दोषो व्यभिचारिणः ।
अनुभावविभावाभ्यां रचना यत्र नोचिता ॥ २९ ॥

सम्भव था। यहाँ इसे गुण भी नहीं माना जा सकता क्योंकि इसके पुनः उपादान से कोई चमत्कार-विशेष भी यहाँ उत्पन्न नहीं होता।

अनुवाद—'गर्भितत्व' दोष भी कहीं-कहीं गुण सा लगा करता है। जैसे कि—

'उस पृथ्वी को जीता जाता है जिसकी चारों सीमायें चारों दिग्गजों तक पहुँचा करती हैं। और 'वह पृथ्वी जीत ली गयी' कहते हुये जब लोग रोमाञ्चित हो उठते हैं तो उसे ब्राह्मण को दान में दे दिया जाता है। हम तो, बस, यह अद्भुत कथा जिनसे उत्पन्न हुई और जिनके साथ अस्त हो गयी, उन अद्वितीय दानवीर परशुराम के आगे हाथ जोड़े खड़े हैं।'

यहाँ 'गर्भितत्व' है क्योंकि 'वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत' यह वाक्य 'दिङ्मातङ्गघटाविभक्तचतुराघटा मही साध्यते, सिद्धा साऽपि विप्राय प्रतिपाद्यते' इस वाक्य के बीच में घुसा पड़ा है। किन्तु तब भी इसे यहाँ गुण ही माना जाएगा क्योंकि इसी के द्वारा विस्मय-चमत्कार का यहाँ अधिकाधिक परिपोष किया जा रहा है जो कि सर्वथा अपेक्षित है।

अनुवाद—इसी प्रकार 'पतत्प्रकर्षत्व' भी कहीं-कहीं गुण हो जाता है।

यहाँ, 'पतत्प्रकर्षता तथा' में 'तथा' से 'पतत्प्रकर्षत्व' के गुण होने का अभिप्राय लिया गया है। जैसे कि—

'चञ्चद्भुजभ्रमित' आदि पूर्वोद्धृत वेणीसंहार-सूक्ति।

यहाँ चतुर्थ चरण (उत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीम-) में शब्दाडम्बर का जो परित्याग है, जिसमें पतत्प्रकर्षत्व स्पष्ट है, वह गुणवत् प्रतीत हो रहा है क्योंकि इससे यहाँ का कोमल भाव सुंदरता से अभिव्यक्त हो उठता है।

अनुवाद—कहीं-कहीं पर, व्यभिचारिभाव का, उसके वाचक पद द्वारा अभिधान भी दोष नहीं हुआ करता, यदि, यहां अनुभाव तथा विभाव की योजना में कोई औचित्य न हो।

यत्रानुभावविभावमुखेन प्रतिपादने विशदप्रतीतिर्नास्ति, यत्र च विभावानुभावकृतपुष्टिराहित्यमेवानुगुणं तत्र व्यभिचारिणः स्वशब्देनोक्तौ न दोषः।

यथा—

'औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः।
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः॥'

अत्रौत्सुक्यस्य त्वरारूपानुभावमुखेन प्रतिपादने सङ्गमे न झटिति प्रतीतिः, त्वराया भयादिनापि सम्भवात्। ह्रियोऽनुभावस्य च व्यावर्तमानस्य कोपादिना सम्भवात्। साध्वसहासयोस्तु विभावादिपरिपोषस्य प्रकृतरसप्रतिकूलप्रायत्वादित्येषां स्वशब्दाभिधानमेव न्याय्यम्।

सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यत्वेन वचो गुणः।

तात्पर्य यह है कि जबकि अनुभाव और विभाव की योजना से किसी व्यभिचारी भाव की विशद प्रतीति न हो सके अथवा जब कि विभाव और अनुभव के द्वारा परिपोष न पाना ही किसी रसभाव के चमत्कार के लिए अधिक उपयुक्त हो जाय तब वाचक पद से उस व्यभिचारी भाव का अभिधान दोष नहीं माना जा सकता। जैसे कि (रत्नावली की यह सूक्ति)—

'प्रियतम शिव के साथ नवमिलन में उत्सुकता से शीघ्र चल पड़ने वाली किन्तु स्वाभाविक लज्जा से पुनः लौट पड़ने में लगी, उन-उन सखी-सहेलियों के कहने-सुनने से सामने लायी गयी किन्तु महादेव को वर के रूप में देखते ही भय के वशीभूत बनी और हँसते प्रियतम के द्वारा आलिङ्गन में बँधी तथा आनन्द से रोमाञ्चित वह देवी पार्वती आप सबका कल्याण करें।'

यहाँ 'व्यभिचारिभावों का स्वशब्दोपादान' दोष नहीं क्योंकि यदि 'औत्सुक्य' रूप व्यभिचारी भाव को सत्वर गमन के अनुभाव द्वारा प्रतिपादित किया गया होता तो प्रेममिलन में औत्सुक्य की अविलम्ब प्रतीति न हो पाती। इसका कारण यह है कि सत्वर गमन भय अथवा हर्ष से भी संभव है औत्सुक्य से ही क्यों ? (किन्तु यहाँ तो 'औत्सुक्य' की ही अभिव्यञ्जना अभिप्रेत है जो कि इसी पद के उपादान में संभव है) इसी प्रकार 'ह्री' (लज्जा) की विशद अभिव्यक्ति के लिए इसके वाचक पद का ही प्रयोग उचित है क्योंकि 'व्यावर्तन' (लौट पड़ने) के अनुभाव द्वारा इसका प्रकाशन असंभव है। व्यावर्तन के अनुभाव का संबन्ध केवल लज्जा से ही नहीं अपितु कोप अथवा भय से भी है और इसी के निराकरण के लिए यहाँ 'ह्री' (लज्जा) पद प्रयुक्त किया गया है।

इसी प्रकार 'साध्वस' और 'हास' के भाव भी अपने वाचक पदों द्वारा ही यहाँ प्रतिपादित हैं और इसी में औचित्य है क्योंकि यदि विभाव आदि के द्वारा इन भावों का परिपोष किया गया होता तब तो ये सब यहां के श्रृङ्गाररस के प्रतिकूल से लगते (क्योंकि भयानक और हास्य रस के स्थायीभावों का प्रकाशन-प्रपञ्च श्रृङ्गार के प्रतिकूल ही पड़ेगा अनुकूल नहीं)।

इसी प्रकार जहां विरुद्ध रस-भाव के विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों की

यथा—

'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्–' इत्यादि ।

अत्र प्रशमाङ्गानां वितर्कमतिशङ्काधृतीनामभिलाषाङ्गौत्सुक्यस्मृतिदैन्यचिन्ताभिस्तिरस्कारः पर्यन्ते चिन्ताप्रधानमास्वादप्रकर्षमाविर्भावयति ।

विरोधिनोऽपि स्मरणे साम्येन वचनेऽपि वा ॥ ३० ॥
भवेद्विरोधो नान्योन्यमङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयोः ।

क्रमेण यथा—

'अयं स रशनोत्कर्षी–' इत्यादि ।

अत्रालम्बनविच्छेदे रतेरसात्मतया स्मर्यमाणानां तदङ्गानां शोकोद्दीपकतया करुणानुकूलता ।

'सरागया स्रुतघनघर्मतोयया कराहतिध्वनितपृथूरुपीठया ।
मुहुर्मुहुर्दशनविलङ्घितोष्ठया रुषा नृपाः प्रियतमयेव भेजिरे ॥'

योजना इस प्रकार की गयी होती है जिसमें वे प्रकृत रस से दबे-दबाये रहा करते हैं तो वहां यह 'विरुद्धविभावादिपरिग्रह' दोष न होकर गुण ही हुआ करता है । जैसे कि—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्' इत्यादि ।

यहां यह स्पष्ट है कि विरुद्धरसभावरूप 'शम' के अङ्गभूत वितर्क, मति, शङ्का और धृतिरूप व्यभिचारिभावों की ऐसी योजना की गई है जिसमें ये यहां के 'अभिलापविप्रलम्भ' श्रृंगार के परिपोषक औत्सुक्य, स्मृति, दैन्य और चिन्ता के व्यभिचारिभावों से दबा दिये गये हैं जिससे अन्त में चिन्ता की धारावाहिकता की आनन्दानुभूति हो उठती है और अधिकाधिक परिपुष्ट विप्रलम्भ का आस्वाद मिल जाता है । इस प्रकार यहां 'विरुद्धविभावादिपरिग्रह' का दोष गुण का ही कार्य करता प्रतीत हो रहा है ।

इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध रसों के अङ्गों का एकत्र समावेश भी दोष होने के बदले गुण ही हो जाया करता है यदि निम्न दृष्टियों से यह विरुद्ध रस-योजना हुई हो—

(क) प्रकृत रस के विरोधी रस या भाव का स्मरण-रूप से उपनिबन्ध,
(ख) परस्पर विरुद्ध रस या भाव की साम्य-विवक्षा-पूर्वक योजना और
(ग) एक प्रधान रस के साथ परस्पर विरुद्ध रसों का अङ्गरूप से अभिव्यञ्जन ।

जैसे कि (प्रकृत रस के विरोधी रस या भाव के स्मरण रूप से उपनिबन्ध में रस-दोष-परिहार)—

'अयं स रशनोत्कर्षी' इत्यादि (महाभारतसूक्ति) ।

यहां यह स्पष्ट है कि रतिभाव की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो रही है क्योंकि इसका आलम्बनविभावरूप नायक भूरिश्रवा मर चुका है किन्तु तब भी इसके अङ्गभूत रशनाकर्षण आदि की ऐसी योजना की हुई है जिसमें ये अतीत की स्मृति के रूप में प्रतीत हो रहे हैं और अन्ततोगत्वा शोक को उद्दीप्त करते हुये यहां के करुणरस के ही परिपोषक बने दिखायी दे रहे हैं ।

अथवा

(परस्पर विरुद्ध रस या भाव की साम्यविवक्षा-पूर्वक योजना में रसदोष-परिहार)—

'सरागया'-राग अर्थात् क्रोध या अनुराग के आवेश में लाल-लाल नेत्रों अथवा स्नेहार्द्र

अत्र सम्भोगश्रृङ्गारो वर्णनीयवीरव्यभिचारिणः क्रोधस्यानुभावसाम्येन विवक्षितः ।

'एकं ध्याननिमीलनान्मुकुलितप्रायं द्वितीयं पुनः
पार्वत्या वदनाम्बुजस्तनभरे सम्भोगभावालसम् ।
अन्यद्दूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं
शम्भोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः ॥'

अत्र शान्तश्रृङ्गाररौद्ररसपरिपुष्टा भगवद्विषया रतिः ।

यथा वा—

'क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥'

नेत्रों वाली, 'स्रुतघनघर्मतोयया'—'क्रोध अथवा सत्त्व के उद्रेक से निकले स्वेद-जल से भींगी, 'कराहतिध्वनितपृथूरुपीठया'—अपने या प्रियतम के कराघात से 'ऊरुदेश पर चोट पड़ने से विह्वल बनी और 'मुहुर्मुहुर्दशनविलंघितोष्ठया' बार बार ओठ चबाती या प्रियतम के दशन-क्षत से पीड़ित अधर वाली, क्रुद्धतारूपिणी प्रियतमा ने, शिशुपाल के पक्षवाले सभी राजाओं को अपने वश में कर लिया ।'

यहाँ प्रकृत वीर रस के विरोधी संभोगश्रृंगार की योजना है किन्तु यह योजना इस प्रकार की गयी है जिसमें इसके अनुभाव (सरागता आदि) प्रकृत वीररस के व्यभिचारी 'क्रोध' के अनुभावों के समान वर्णित हैं । इसलिये यहाँ भी रसदोष की कोई संभावना नहीं ।

अथवा

(एक प्रधान रस के साथ परस्पर विरुद्ध रसों के अङ्गरूप से अभिव्यञ्जन में रसदोष-परिहार)

'समाधिस्थ महादेव शङ्कर का वह पहला नेत्र जो कि ध्यान-बन्ध में बन्द सा रहा करता है, वह दूसरा नेत्र जो कि पार्वती के मुख-कमल और उन्नत उरोजों पर प्रणय-भाव रखा करता है और वह तीसरा नेत्र जो कि धनुर्धर कामदेव को भस्मीभूत करने वाले क्रोधानल की ज्वालाओं से जला करता है, विविध रसभावों की अनुभूति कराते हुये, आप सब का कल्याण-मङ्गल करता रहे ।'

यहां भगवद्विषयक रतिभाव ही मुख्य रूप से अभिव्यङ्ग्य है और इसलिये इसके परिपोषक और इसके साथ अङ्गरूप से अभिव्यङ्ग्य शान्त, श्रृङ्गार और रौद्ररस किसी प्रकार का पारस्परिक विरोध करते नहीं प्रतीत होते ।

अथवा

'त्रिपुरान्तक महादेव शङ्कर का वह वाणानल जो कि प्रेमापराधी कामी की भांति, त्रिपुरासुर की विरह-विह्वल सुन्दरियों से झिटक दिये जाने पर भी, उनका हाथ पकड़ा करता है, दूर किये जाने पर भी उनके वस्त्र के अञ्चल छूआ करता है, हटा दिये जाने पर भी उनके केशपाश में हाथ लगाया करता है, संभ्रमवश आंखों से परे किये जाने पर भी, उनके पैरों पर आ गिरा करता है और दूर से रोके जाने पर भी उन्हें आलिङ्गन करना चाहता है, आप सबके पाप-सन्ताप का शमन करता रहे ।'

अत्र कविगता भगवद्विषया रतिः प्रधानम् । तस्याः परिपोषकतया भगवत-त्रिपुरध्वंसं प्रत्युत्साहस्यापरिपुष्टतया रसपदवीमप्राप्ततया भावमात्रस्य करुणोऽङ्गम् । तस्य च कामीवेतिसाम्यबलादायातः शृङ्गारः ।

एवं चाविश्रान्तिधामतया करुणस्याप्यङ्गत्वैवेति द्वयोरपि करुणशृङ्गारयोर्भगवदुत्साहपरिपुष्टतद्विषयरतिभावास्वादप्रकर्षकतया यौगपद्यसम्भवादङ्गत्वेन न-विरोधः ।

ननु समूहालम्बनात्मकपूर्णघनानन्दरूपस्य रसस्य तादृशेनेतररसेन कथं विरोधः सम्भावनीयः? एकवाक्ये निवेशप्रादुर्भावैर्यौगपद्यविरहेण परस्परोपमर्दकत्वानुपपत्तेः । नाप्यङ्गाङ्गिभावः, द्वयोरपि पूर्णतया स्वातन्त्र्येण विश्रान्तेः ।

सत्यमुक्तम् । अत एवात्र प्रधानेतरेषु रसेषु स्वातन्त्र्यविश्रामराहित्यात्पूर्णरसभावमात्राच्च विलक्षणतया संचारिरसनाम्ना व्यपदेशः वाच्यानाम् ।

अस्मत्पितामहानुजकविपण्डितमुख्यश्रीचण्डीदासपादानां तु खण्डरसनाम्ना ।

यहां प्रधानरूप से अभिव्यङ्ग्य जो भाव है वह कविनिष्ठ शिवविषयक रति अथवा भक्ति का भाव है। इसके परिपोष के लिये जिस विरुद्ध भाव की यहां योजना हैं वह हैं त्रिपुरध्वंस में निरत भगवान् शङ्कर के 'उत्साह' का भाव जो कि वीररस के रूप में परिपुष्ट न हो सकने के कारण भाव रूप में ही रह गया है और जिसके अङ्ग के रूप में करुण रस का अवभास हो रहा है जो कि वस्तुतः 'कामीव' इस साम्य-विवक्षा से आक्षिप्त शृङ्गार को अपना अङ्ग बनाये विराजमान है। यह करुण भी यहां अन्तिम आस्वाद का विषय नहीं बन रहा है। और इसीलिये अङ्गरूप से ही यहां इसका अनुभव हो रहा है। इस प्रकार करुण और शृङ्गार दोनों यहां भगवन्निष्ठ उत्साहभाव से परिपुष्ट कविनिष्ठ भगवद्-विषयक रतिभाव के परिपोषक बन रहे हैं और इसलिये इनका सहावस्थान रसदोष का उत्पादक नहीं अपितु कविनिष्ठ भगवद्विषयक रतिभाव का अधिकाधिक परिपोषक ही प्रतीत हो रहा है

यहां यह प्रश्न उठ सकता है—जब कि 'रस' विभावादि-वर्ग का सम्वलित निष्यन्द-रूप एक अखण्ड आनन्दात्मक अनुभव है तब इसी प्रकार के दूसरे रसरूप अनुभव से इसका विरोध क्योंकर सम्भव है? साथ ही साथ, जब कि इस प्रकार के दो रसरूप अनुभवों का एक काव्य-वाक्य में निवेश अथवा एक काव्य-वाक्य द्वारा अभिव्यञ्जन एक समय में असम्भव है तब इनमें परस्पर उपमर्द्य-उपमर्दक-भाव की क्या सम्भावना हो सकती है? इसके अतिरिक्त, जबकि दो रस पूर्णतया अभिव्यक्त हों और स्वतन्त्र रूप से आनन्दानुभव के विषय बन रहे हों तब उनमें अङ्गाङ्गिभाव भी क्योंकर माना जा सकता है?

प्रश्न तो ठीक है और वस्तुतः इसीलिये प्राचीन आलङ्कारिक ऐसे प्रसङ्गों पर अप्रधान तथा व्यङ्ग्य रस को 'सञ्चारी रस' कहा करते हैं क्योंकि उनके अनुसार इस प्रकार का रस न तो स्वतन्त्र रूप से आस्वाद-विषय हो पाता है और न मुख्य रस की भांति पूर्णतया अभिव्यङ्ग्य ही हो सकता है अपितु अपनी ही सामग्री से परिपुष्ट होकर एक विलक्षण भाव सा बना रहता है।

और वस्तुतः इसीलिये हमारे पितामह के अनुज कवि पण्डित-प्रकाण्ड, आचार्य श्रीचण्डीदा १ ने इस प्रकार के रस को 'खण्ड रस' कहा है—

यदाहुः—

'अङ्गं बाध्योऽथ संसर्गी यद्यङ्गी स्याद्रसान्तरे।
नास्वाद्यते समग्रं तत्ततः खण्डरसः स्मृतः॥' इति।

ननु 'आद्यः करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकैः' इत्युक्तनयेन विरोधिनोर्वीरशृङ्गारयोः कथमेकत्र—

'कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरस्फोरोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम्।
मुहुः पश्यच्छृण्वन् रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः॥'

इत्यादौ समावेशः। अत्रोच्यते—इह खलु रसानां विरोधितताया अविरोधितायाश्च त्रिधा व्यवस्था। कयोश्चिदालम्बनैक्येन, कयोश्चिदाश्रयैक्येन, कयोश्चिन्नैरन्तर्येणेति। तत्र वीरशृङ्गारयोरालम्बनैक्येन विरोधः। तथा हास्यरौद्रबीभत्सैः सम्भोगस्य। वीरकरुणरौद्रादिभिर्विप्रलम्भस्य। (आलम्बनैक्येन) आश्रयैक्येन च वीरभयानकयोः। नैरन्तर्यविभावैक्याभ्यां शान्तशृङ्गारयोः। त्रिधाऽयं

'वह रस जो कि अपने आप में अङ्गी (मुख्य) होने पर भी दूसरे रस का अङ्ग (उपकारक) बन जाया करता है अथवा विरोधी होने पर भी, प्रकृत रस के साथ, साम्यविवक्षा से, एकत्र समावेश पा जाता है अथवा बिना विरोध के, स्वतन्त्र रूप से ही प्रकृत रस में सम्मिलित हो जाता है, जिससे उसका पार्यन्तिक आस्वाद नहीं मिल सकता, 'खण्डरस' कहा जाया करता है।'

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जबकि 'प्रथम अर्थात् शृङ्गार रस, करुण-बीभत्स-रौद्र-वीर और भयानक रसों से विरुद्ध पड़ता है' इस पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार वीर और शृङ्गार में परस्पर विरोध है तब एक काव्यवाक्य जैसे कि—

'एक ओर तो रघुराज राम हाथी के बच्चे के दांत की कांति से पूर्ण कपोलवाले सीता के मुख-कमल पर काम-विकास और प्रेम के रोमाञ्च देखने में निरत हैं और दूसरी ओर वे राक्षस-सेना का कोलाहल सुनकर अपने जटाजूट की गाँठ भी बाँध रहे हैं।'

इत्यादि में, इनका एकत्र समावेश क्योंकर अनुचित नहीं? किन्तु इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है—

'दो रसों के विरोध या अविरोध की तीन संभावनायें हैं—(१) या तो दोनों का आलम्बन एक हो (२) या दोनों का आश्रय एक हो (३) या दोनों एक दूसरे के बाद बिना व्यवधान के अभिव्यङ्ग्य हो रहे हों। अब वीर और शृङ्गार का जो विरोध है उसका कारण उनके आलम्बन का एक होना है। इसी भाँति संभोग शृङ्गार के साथ हास्य, रौद्र और बीभत्स के विरोध का कारण आलम्बन का ऐक्य ही है। यही बात विप्रलम्भ शृङ्गार के साथ वीर, करुण और रौद्र आदि के विरोध की भी है। आश्रय की एकता (और आलम्बन की एकता) के कारण जो विरोध संभव है वह वीर और भयानक में देखा जा सकता है। अव्यवहित रूप से एक दूसरे के बाद अभिव्यञ्जन में और विभावैक्य के कारण शांत और शृङ्गार परस्पर विरुद्ध पड़ते हैं। वीर रस का अद्भुत और रौद्र से उपर्युक्त तीनों संभावनाओं में अविरोध ही रहा करता है। यही अविरोध शृङ्गार का अद्भुत के साथ और भयानक का बीभत्स के भी साथ दिखायी देता है।'

विरोधो वीरस्याद्भुतरौद्राभ्याम्। शृङ्गारस्याद्भुतेन भयानकस्य बीभत्सेनेति।

तेनात्र वीरशृङ्गारयोर्भिन्नालम्बनत्वान्न विरोधः। एवं च वीरस्य नायकनिष्ठत्वेन भयानकस्य प्रतिनायकनिष्ठत्वेन निबन्धे भिन्नाश्रयत्वेन न विरोधः। यच्च नागानन्दे प्रशमाश्रयस्यापि जीमूतवाहनस्य मलयवत्यनुरागो दर्शितः, तत्र 'अहो गीतमहो वादित्रम्' इत्यद्भुतस्यान्तरा निवेशनान्नैरन्तर्याभवान्न शान्तशृङ्गारयोर्विरोधः। एवमन्यदपि ज्ञेयम्। 'पाण्डुक्षामं वदनम्–' इत्यादौ च पाण्डुतादीनामङ्गभावः करुणविप्रलम्भेऽपीति न विरोधः।

(सर्वदोष-प्रतिप्रसव : समस्तदोषों की अनित्यत्वव्यवस्था)

अनुकारे च सर्वेषां दोषाणां नैव दोषता ॥ २१ ॥

सर्वेषां दुःश्रवत्वप्रभृतीनाम्।

यथा—

'एष दुश्च्यवनं नौमीत्यादि जल्पति कश्चन।'

अत्र दुश्च्यवनशब्दोऽप्रयुक्तः।

अब यदि इस दृष्टि से 'कपोले जानक्याः' आदि काव्य-वाक्य पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट है कि यहां वीर और शृङ्गार में कोई विरोध नहीं क्योंकि दोनो भिन्न-भिन्न आलम्बन पर अभिव्यक्त हो रहे हैं (अर्थात् शृङ्गार तो सीता रूप आलम्बन पर प्रकाशित हो रहा है और वीर राक्षस-सैन्य रूप आलम्बन पर)। इसी प्रकार जब कि वीर रस नायकनिष्ठ रूप से अभिव्यङ्ग्य हो और भयानक रस की अभिव्यक्ति प्रतिनायक के आलम्बन पर हो तब दोनों में आश्रय-भेद के कारण जो भी विरोध है वह हट जाया करता है। 'नागानन्द' नाटक में जो शम रूप स्थायीभाव के आश्रय (नायक) 'जीमूतवाहन' का (नायिका) 'मलयवती' के प्रति प्रेमानुराग प्रकाशित है उसमें शांत और शृङ्गार का इसलिये कोई विरोध नहीं क्योंकि यहां इन दोनों रसों का अव्यवहित अभिव्यञ्जन नहीं है अपितु इनके बीच में 'अहो गीतम् अहो वादित्रम्' आदि के द्वारा अद्भुत रस का संचार कर दिया गया है। इसी भांति अन्यत्र काव्य-नाट्य-प्रबन्ध में अन्य रसों के भी अविरोध का रहस्य समझा जा सकता है।

'पाण्डुक्षामं वदनम्' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में भी 'करुण' और 'करुण विप्रलम्भ' के अंगों का विरोध इसलिये नहीं क्योंकि यहां 'पाण्डुता' आदि करुण रस के असाधारण अनुभाव नहीं अपितु करुण विप्रलम्भ के भी साधारण अनुभाव हैं।

अनुवाद– इन उपर्युक्त समस्त दोषों का एक अमोघ अपवाद वह है जिसे 'अनुकरण' कहते हैं। अर्थात् अनुकरण में कोई भी दोष दोष नहीं माना जा सकता। (क्योंकि अनुकार्य का दोष अनुकरण में दोष नहीं हुआ करता)। जैसे कि—

'यह मैं दुश्च्यवन (इन्द्र) को प्रणाम कर रहा हूँ, ऐसी बात कोई बक झक रहा है।'

यहां 'दुश्च्यवन' शब्द, इन्द्र के अर्थ में अप्रयुक्त होने पर भी, प्रयुक्त किया हुआ है किन्तु यह 'अप्रयुक्तत्व' यहां दोष नहीं क्योंकि यहां वक्ता किसी दूसरे की उक्ति का अनुकरण करते यह सब कह रहा है।

अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः ।
अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता ॥ ३२ ॥

अनुभयात्मता अदोषगुणता ।

इति साहित्यदर्पणे दोषनिरूपणो नाम सप्तमः परिच्छेदः ।



इस उपर्युक्त विचारधारा का अनुसरण करते हुये, औचित्य की दृष्टि से, अन्य दोषों की भी अदोषता अथवा गुणरूपता अथवा अदोष-गुणता यत्र-तत्र स्वयं बुद्धिमान् पाठक समझ सकते हैं ।

यहाँ कारिका में 'अनुभयात्मता' का अभिप्राय 'अदोष-गुणता' (न तो दोष हो और न गुण हो) का अभिप्राय है ।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने 'अनुकरण' को समस्त पद-दोषों का अपवाद-स्थान माना है—

'अनुकरणे तु सर्वेषाम् ।
सर्वेषां श्रुतिकटुप्रभृतीनां दोषाणाम् । यथा—
मृगचक्षुषमद्राक्षमित्यादि कथयत्ययम् ।
पश्यैष च गवित्याह सुत्रामाणं यजेति च ॥' (काव्यप्रकाश : ७म उल्लास)

यहाँ साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाशकार की ही मान्यता का अनुसरण किया है किन्तु ऐसे प्रसंग में किया है जिससे यह स्पष्ट होना कठिन है कि अनुकरण पद-दोषों का ही अपवाद-स्थान है या अन्य दोषों, जैसे कि अर्थगत अथवा रसगत दोषों का भी । अर्थगत अथवा रसगत दोष अनुकार्य अथवा अनुकरण—दोनों प्रकार के वाक्यों में दोष ही प्रतीत होते हैं, गुण नहीं ।

साहित्यदर्पण सातवाँ परिच्छेद समाप्त



अष्टमः परिच्छेदः

(काव्य में गुण-तत्त्व : स्वरूप और उपयोग)

गुणानाह—

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा ।

गुणाः—

यथा खल्वङ्गित्वमाप्तस्यात्मन उत्कर्षहेतुत्वाच्छौर्यादयो गुणशब्दवाच्याः, तथा काव्येऽङ्गित्वमाप्तस्य रसस्य धर्माः स्वरूपविशेषा माधुर्यादयोऽपि स्वसमर्पकपदसन्दर्भस्य काव्यव्यपदेशस्यौपयिकानुगुण्यभाज इत्यर्थः। यथा चैषां रसमात्रस्य धर्मत्वं तथा दर्शितमेव ।

(गुणविभाग : माधुर्य, ओज तथा प्रसाद)

माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा ॥ १ ॥

ते गुणाः ।

अनुवाद—अब गुण-निरूपण किया जा रहा है—

'जैसे प्राणि-शरीर में सारभूत आत्मतत्त्व के धर्म शौर्य, औदार्य आदि गुण कहे गये हैं वैसे ही काव्य-शरीर में सारभूत रस-तत्त्व के धर्म माधुर्य-ओज आदि भी गुण कहे जाया करते हैं।

तात्पर्य यह है कि जैसे प्राणिमात्र के शरीर-संस्थान में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण आत्म-तत्त्व के उत्कर्षकारक, शौर्य और औदार्य आदि 'गुण' शब्द से प्रतिपादित किये जाया करते हैं, वैसे ही शब्दार्थ-शरीर रूप काव्य के परमसार रस के धर्मभूत माधुर्य, ओज आदि, भी, जो कि वस्तुतः रस के स्वरूपविशेष हैं, 'गुण' कहे गये हैं और इसलिए गुण कहे गये हैं क्योंकि ये ही वे रस-धर्म हैं जो कि रसाभिव्यञ्जक पद समुदाय के 'काव्य' कहे जाने के एकमात्र निदान हैं और जिनका एकमात्र कार्य अपने आधारभूत 'रस' का उत्कर्षवर्धन है। किस प्रकार यह 'गुण' रसरूप आत्मतत्त्व के ही धर्म हैं—इसका प्रतिपादन पहले ही (प्रथम परिच्छेद में) किया जा चुका है।

विमर्श—'गुण रस के धर्म हैं'—यह सिद्धान्त ध्वनिदार्शनिकों का एक परिनिष्ठित काव्य-सिद्धान्त है। आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा है—

'तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥'

ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्। वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्। (ध्वन्यालोक : २य उद्योत)

काव्यप्रकाशकार और साहित्यदर्पणकार ने इसी 'गुणवाद' का निरूपण और विवेचन किया है जिसके अनुसार 'गुण' रसरूप काव्यात्मतत्त्व के धर्म सिद्ध होते हैं न कि शब्द अथवा अर्थ के।

अनुवाद—ये रसधर्मभूत गुण तीन हैं—(१) माधुर्य, (२) ओज और (३) प्रसाद। यहाँ कारिका में 'ते' का अभिप्राय 'गुणाः' का है।

तत्र—

(माधुर्यनिरूपण)

चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते ।

यत्तु-केनचिदुक्तम्—'माधुर्यं द्रुतिकारणम्' इति तन्न, द्रवीभावस्यास्वाद-स्वरूपाह्लादाभिन्नत्वेन कार्यत्वाभावात् । द्रवीभावश्च स्वाभाविकानाविष्टत्वात्मककाठिन्यमन्युक्रोधादिकृतदीप्तत्वविस्मयहासाद्युपहितविक्षेपपरित्यागेन रत्याद्याकारानुविद्धानन्दोद्बोधेन सहृदयचित्तार्द्रप्रायत्वम् । तच्च—

विमर्श—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद रूप से गुणत्रैविध्य के निर्धारण में काव्यप्रकाशकार का यह कथन है—

'इदानीं गुणानां भेदमाह—माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ।'

(काव्यप्रकाश : ८म उल्लास)

जिसमें यह स्पष्ट है कि रस-धर्म होने के नाते तीन ही गुण काव्य-गुण कहे जा सकते हैं न कि वामनादि-सम्मत दस गुण। साहित्यदर्पणकार ने वाद-विवाद की आशंका से 'न पुनर्दश' का संकेत छोड़ दिया है किन्तु इसका निर्देश आवश्यक-सा लगता है क्योंकि ध्वनिवादी आचार्य यों ही तीनों गुणों को काव्य-गुण नहीं मानते अपितु रसधर्मता की कसौटी पर कसकर ही इन्हें काव्य-गुण मानते हैं। वामनादिसम्मत १० गुण शब्द अथवा अर्थ के धर्म भले ही हों रसके धर्म कदापि नहीं। रसवाद और गुणवाद के इस समन्वय में काव्यप्रकाशकार की भाँति साहित्यदर्पणकार का भी कार्य स्तुत्य है।

अनुवाद—इस 'गुणत्रितय' में—

'माधुर्य' वह है जिसे एक ऐसा आह्लाद अथवा आनन्द कह सकते हैं जिसका स्वरूप सहृदय-हृदय की 'द्रुति' अथवा 'द्रवीभूतता' (पिघल पड़ना) है।

'माधुर्य' के सम्बन्ध में किसी काव्याचार्य (काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट) का यह कहना कि 'माधुर्य चित्त की द्रुति का कारण है' सर्वथा चतुरस्र नहीं लगता। बात यह है कि जबकि 'हृदय की द्रुति अथवा द्रवीभावमयता' आस्वादात्मक आह्लाद से कोई भिन्न वस्तु नहीं तब इसे (हृदयाह्लाद रूप) 'माधुर्य' का कार्य कैसे मान लिया जाय ? हृदय की द्रुति अथवा द्रवीभावमयता क्या है ? 'हृदय की द्रुति अथवा द्रवीभावमयता' वस्तुतः सहृदय के हृदय का पिघल-सा पड़ना है और यह तभी संभव है जब कि सहृदय का हृदय (उत्साहादिजन्य) अनावेश अर्थात् विषयग्रहण में असामर्थ्य के स्वभाव-सुलभ 'काठिन्य', अनुताप-अमर्ष आदि से संभूत 'दीप्तत्व' किंवा हास-विस्मय आदि से उत्पन्न 'विक्षेप' से सर्वथा मुक्त होकर रति आदि कोमल भावों के स्वरूप से अनुविद्ध आनन्द के अनुभव में लीन हो जाता है।

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार ने आचार्य मम्मट की इस माधुर्य-मीमांसा अर्थात्—

'आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ।' (काव्यप्रकाश ८. ६८)

आदि पर आक्षेप किया है। 'माधुर्य' और आह्लाद' अथवा आस्वाद एक अभिन्न अनुभव है—इस सम्बन्ध में दोनों आचार्य एकमत हैं। दोनों में जो भेद है उसका कारण दोनों के काव्यविषयक मत का भेद है। काव्यप्रकाशकार के अनुसार 'माधुर्य' द्रुतिकारक है, द्रुतिरूप नहीं क्योंकि वैसे तो 'माधुर्य' शृङ्गार आदि मधुर रसों का आस्वादविशेष है किन्तु इसका अभिव्यक्ति-क्षेत्र वह शब्दार्थयुगल है जो कि मधुर शृङ्गारमय हुआ करता है। शब्दार्थयुगल के माधुर्य

(माधुर्य का अभिव्यक्ति-क्षेत्र)

संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात् ॥ २ ॥

सम्भोगादिशब्दा उपलक्षणानि। तेन सम्भोगाभासादिष्वप्येतस्य स्थितिर्ज्ञेया।

का अभिप्राय, मधुर शृङ्गार रस के अभिव्यञ्जन का सामर्थ्य है। इसीलिये गुण भी शब्दार्थ-युगल के 'काव्य' होने के कारण रूप से निर्दिष्ट किये गये हैं। साहित्यदर्पणकार ने 'माधुर्य' 'आह्लाद' और 'द्रुति' को एक ही आनन्दानुभव मान लिया है। भले ही यह मान्यता साहित्य-दर्पणकार की वैयक्तिक अनुभूति से प्रमाणित हो किन्तु यह निश्चित है कि जो भी शास्त्रीय प्रमाण है वह काव्यप्रकाशकार के ही पक्ष के अधिक अनुकूल है।

ध्वनिदार्शनिक आनन्दवर्धन की ये पंक्तियाँ भी काव्यप्रकाशकार की मान्यता को ही प्रमाणित करती प्रतीत हो रही हैं—

'शृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः॥'

यहाँ जब कि यह कहा गया कि 'माधुर्य सम्भोग शृङ्गार की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार में और विप्रलम्भ शृङ्गार की भी अपेक्षा करुण रस में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट लगा करता है क्योंकि सहृदय के हृदय की आर्द्रता (द्रुति या द्रवीभावमयता) संभोग की अपेक्षा विप्रलम्भ में और विप्रलम्भ की अपेक्षा करुण में अधिक बढ़ी रहा करती है' तब तो यह सिद्ध ही है कि माधुर्य 'आर्द्रता' का कारण है न कि 'आर्द्रता' से अभिन्न वस्तु है।

यह 'आर्द्रता' अथवा चित्त की द्रुति या द्रवीभावमयता क्या है ? इसके सम्बन्ध में लोचनकार की यह पंक्ति ध्यान देने योग्य है—

'आर्द्रतामिति—सहृदयस्य चेतः स्वाभाविकमनाविष्टत्वात्मकं काठिन्यं क्रोधादिदीप्तरूपत्वं विस्मयहासादिरागित्वं च त्यजतीत्यर्थः। (ध्वन्यालोकलोचन : २य उद्योत)

अनुवाद—अब 'माधुर्य' के क्षेत्र का निरूपण किया जा रहा है। यह 'माधुर्य' संभोग-शृङ्गार, करुण रस, विप्रलम्भ शृङ्गार और शान्त रस में अनुगत रहा करता है और इनमें भी उत्तरोत्तर मधुर लगा करता है।

यहाँ, कारिका में 'संभोग' आदि शब्द उपलक्षण-मात्र हैं और इसलिये 'संभोग-शृङ्गार' आदि की भाँति 'संभोगशृङ्गाराभास' आदि में भी 'माधुर्य' की अवस्थिति मानी जानी चाहिये।

विमर्श—(क) माधुर्य के अभिव्यक्ति-क्षेत्र के सम्बन्ध में काव्यप्रकाशकार का यह कथन है—

'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।' (काव्यप्रकाश ८. ६९)

साहित्यदर्पणकार यहाँ काव्यप्रकाशकार से सहमत हैं। किन्तु साहित्यदर्पणकार की यह धारणा कि 'माधुर्य शृङ्गाराभास आदि का भी धर्म अथवा स्वरूप-विशेष है', काव्यप्रकाशकार आदि प्राचीन काव्याचार्यों में नहीं दिखाई देती।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने 'गुण' के अतिरिक्त 'गुणाभास' की कल्पना नहीं की है। शृङ्गाराभासमयी रचना में माधुर्य की अपेक्षा संभवतः माधुर्याभास (!) का अस्तित्व मानना अधिक युक्तियुक्त होता। वैसे तो आस्वादात्मक अनुभव की दृष्टि से 'रस' और 'रसाभास' में कोई तारतम्य नहीं और गुणों को रस की भांति रसाभास का भी धर्म मानना उचित है किन्तु, 'आत्माभास' में अनुगत धर्म भी 'धर्माभास' न हो जाय, इसलिये संभवतः प्राचीन काव्याचार्यों ने इस 'रस-गुण'-मीमांसा में विश्लेषण-बुद्धि को बहुत अधिक नहीं थकाया।

(माधुर्य के अभिव्यञ्जन-साधन)

मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान्विना ।
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः ॥ ३ ॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा ।

यथा—

'अनङ्गमङ्गलभुवस्तदपाङ्गस्य भङ्गयः ।
जनयन्ति मुहुर्यूनामन्तःसन्तापसन्ततिम् ॥'

यथा वा मम—

'लताकुञ्जं गुञ्जन् मदवदलिपुञ्जं चपलयन्
समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन् ।
मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि ॥'

अनुवाद—(रसधर्मभूत) इस 'माधुर्य' के अभिव्यञ्जन के जो निमित्त हैं वे ये हैं—

(१) वर्ण, जैसे कि (कर्णकटु) ट, ठ, ड और ढ को छोड़कर 'क' से 'म' पर्यन्त के वर्ण, जो कि अपने-अपने वर्ग के अन्त्य वर्ण से मिलकर श्रुतिमधुर ध्वनि की सृष्टि किया करते हैं (जैसे कि अनङ्ग, कुञ्ज आदि में), अन्य वर्ण से असंयुक्त रेफ और मूर्धन्य 'ण'कार।

(२) असमस्त रचना ।

(३) अल्पसमासवती रचना और (४) मधुर पद-योजना ।

जैसे कि (अपने-अपने वर्ग के अन्त्य वर्ण से संबद्ध वर्णों की माधुर्य-व्यञ्जकता)—

'उस सुन्दरी के अपाङ्गों (नेत्रप्रान्तों) की वे (भङ्गिमायें) लीलायें, जो अनङ्ग की मङ्गलमयी जन्मभूमियाँ हैं, युवा प्रेमिओं के हृदय में निरन्तर संताप उत्पन्न किया करती हैं ।'

[यहाँ 'अनङ्ग', 'मङ्गल', 'अपाङ्ग', 'भङ्गी', 'जनयन्ति', और 'अन्तःसन्तापसन्ततिम्' में वर्ग के प्रथम वर्ण, अपने वर्गान्त्य वर्ण से संबद्ध हुये, माधुर्य की अभिव्यञ्जना में तत्पर लग रहे हैं ।]

इसी भांति (असमस्त किंवा अल्प समासवती रचना में उपर्युक्त प्रकार के वर्णों की माधुर्य-व्यंञ्जकता)—

'यह समीर मधुर गुञ्जन में मग्न भ्रमरपुञ्ज से भरे लताकुञ्ज को चञ्चल बना रहा है, प्रेमी-जन के अङ्ग-अङ्ग का आलिङ्गन करता हुआ, उनके अन्तरङ्ग में अनङ्ग (काम) का सञ्चार कर रहा है, मन्द-मन्द सञ्चरित होता हुआ अरविन्द वन को तरङ्गित कर रहा है और सुरभित सुमनों के पराग का अङ्गराग लगाकर चारों ओर मकरन्द की मधुर वृष्टि करता जा रहा है ।'

यह सूक्ति स्वरचित सूक्ति है ।

[यहाँ असमस्त अथवा अल्पसमासवाली रचना की माधुर्य-व्यञ्जकता स्पष्ट है । यह सूक्ति विश्वनाथ कविराज की कविता का एक सुन्दर निदर्शन है । विश्वनाथ कविराज कवि थे और परम रसिक थे । यहाँ कवित्व और रसिकत्व का मणिकाञ्चन-संयोग स्पष्ट दिखाई दे रहा है ।]

(ओजोगुण : स्वरूप तथा क्षेत्र-निरूपण)

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ॥ ४ ॥
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ।

अस्यौजसः। अत्रापि वीरादिशब्दा उपलक्षणानि। तेन वीराभासादावप्यस्यावस्थितिः।

(ओजोगुण के अभिव्यञ्जन-साधन)

वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ॥ ५ ॥
उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफौ टठडढैः सह ।
शकारश्च षकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गता ॥ ६ ॥
तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यशालिनी ।

अनुवाद—जिसे 'ओज' कहते हैं वह सहृदयहृदय की वह दीप्ति अथवा प्रज्वलितप्रायता है जिसका स्वरूप चित्त की विस्तृति अथवा उष्णता है। यह ओज वीर, बीभत्स और रौद्ररस में उत्तरोत्तर प्रकृष्टरूप से विराजमान रहा करता है।

यहाँ कारिका में 'अस्य' पद का अभिप्राय 'ओज' का अभिप्राय है। यहाँ भी वीर आदि शब्द उपलक्षण हैं। इसलिये वीराभास आदि में भी ओज की अवस्थिति मान्य है।

विमर्श—यहां भी साहित्यदर्पणकार ने आचार्य मम्मट की आलोचना की है। काव्यप्रकाशकार मम्मट के अनुसार ओज 'दीप्तिकारण' है 'दीप्तिरूप' नहीं, जैसा कि इस पंक्ति से स्पष्ट है—

'दीप्त्याऽऽत्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः।' (काव्यप्रकाश : ८.६९)

'दीप्ति' एक आस्वादविशेष है और रौद्रादि रसों के अनुभव का परिणामस्वरूप है। यह दीप्ति ही वस्तुतः 'ओज' है और रौद्रादि रस इस दीप्ति अथवा ओज के ही आस्वादरूप हैं। रौद्रादिरसों को ओज कहा जा सकता है किन्तु यहाँ उपचार का आश्रय मानना पड़ेगा। इसी प्रकार रौद्रादि रस के प्रकाशनसमर्थ शब्द और अर्थ तथा दीर्घ समासयुक्त वाक्य भी उपचारतः 'दीप्ति' ही कहे जा सकते हैं। 'चित्त की विस्तृति' चित्त की एक अवस्था है जिसकी उत्पत्ति दीप्ति अथवा ओज अथवा रौद्रादिरसास्वाद से संबद्ध है।

अनुवाद—इस ओज के जो अभिव्यञ्जन साधन हैं वे ये हैं—

(१) वर्ण—जैसे कि कवर्ग आदि वर्गों के प्रथम (क, च, ट, त, प) और तृतीय (ग, ज, ड, द, ब) वर्णों का, उनके अपने-अपने अन्त्य वर्णों (वर्गों के प्रथम वर्णों के अन्त्य वर्ण ख, छ, ठ, थ, फ और वर्गों के तृतीय वर्णों के अन्त्य वर्ण (घ, झ, ढ, ध, भ) से संयोग (जैसे कि पुच्छ, बद्ध आदि में), नीचे, ऊपर अथवा दोनों ओर से, किसी वर्ण के साथ संयुक्त रेफ (जैसे कि वक्त्र, निर्ह्राद आदि में) संयुक्त अथवा असंयुक्त ट, ठ, ड और ढ, तालव्य शकार और मूर्धन्य षकार।

(२) दीर्घसमासवती रचना।

(३) औद्धत्यपूर्ण पदयोजना।

यथा—

'चञ्चद्भुज–' इत्यादि।

(प्रसादगुण : स्वरूप तथा क्षेत्र-निर्देश)

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ॥ ७ ॥
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।

व्याप्नोति आविष्करोति।

उदाहरण के लिये (दीर्घसमासवती किंवा उद्धत पदरचना में दीप्त वर्णों की ओजोव्यञ्जकता) 'चञ्चद्भुजभ्रमित' आदि पूर्वोदाहृत वेणीसंहार-सूक्ति।

विमर्श—'चञ्चद्भुजभ्रमित' आदि सूक्ति की ओजोमयता के प्रदर्शन में लोचनकार की ये पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

'चञ्चदिति—चञ्चद्भ्यां वेगादावर्तमानाभ्यां भुजाभ्यां भ्रमिता येयं चण्डा दारुणा गदा तया योऽभितः सर्वत ऊर्वोर्घातस्तेन सम्यक् चूर्णितं पुनरनुत्थानोपहतं कृतमूरुयुगलं युगपदेवोरुद्वयं यस्यतं सुयोधनमनादृत्यैव स्त्यानेनाश्यानतया न तु कालान्तरशुष्कतयावबद्धं हस्ताग्रयामविगलद्रूपमत्यन्तमाभ्यन्तरतया घनं न तु रसमात्रस्वभावं यच्छोणितं रुधिरं तेन शोणौ लोहितौ पाणी यस्य सः। अत एव स भीमः कातरत्रासदायी। तवेति—यस्यास्तत्तदपमानजातं कृतं देव्यनुचितमपि तस्यास्तव कचानुत्तंसयिष्यति, उत्तंसवतः करिष्यति, वेणीत्वमपहरन् करविच्युतशोणितशकलैर्लोहितकुसुमापीडेनेव योजयिष्यतीत्युत्प्रेक्षा, देवीत्यनेन कुलकलत्रखिलीकारस्मरणकारिणा क्रोधस्यैवोद्दीपनविभावत्वं कृतमिति नात्र शृङ्गारशङ्का कर्त्तव्या। सुयोधनस्य चानादरणं द्वितीयगदाघातदानाद्यनुद्यमः। स च सञ्चूर्णितोरुत्वादेव। स्त्यानग्रहणेन द्रौपदीमन्युप्रक्षालने त्वरा सूचिता। समासेन च सन्ततवेगवहनस्वभावात् तावत्येव मध्ये विश्रान्तिमभमाना चूर्णितोरुद्वयसुयोधनानादरणपर्यन्ता प्रतीतिरेकत्वेनैव भवतीत्यौद्धत्यस्य परं परिपोषिका।' (ध्वन्यालोकलोचनः २य उद्योत)

अर्थात् 'चञ्चद्भुजभ्रमित' आदि जो रचना है उसमें दीर्घसमास की ओजोव्यञ्जकता स्पष्ट है। दीर्घसमास के कारण सहृदय-हृदय की प्रज्वलितप्रायता आरम्भ से अन्ततक अविश्रान्त रहा करती है। दीप्ति की यह अविश्रान्ति ओज का एक अनुभव-विशेष है।

अनुवाद— जिसे 'प्रसाद' कहते हैं वह सहृदय-हृदय की एक ऐसी निर्मलता है जो कि चित्त में उसी भाँति व्याप्त हो जाती है जिस भाँति सूखी लकड़ी में आग। यह 'प्रसाद' सभी रसों का धर्म अथवा स्वरूप-विशेष है और इसकी अवस्थिति सभी रचनाओं की विशेषता हुआ करती है।

यहां कारिका में 'व्याप्नोति' का अभिप्राय 'आविष्करोति' का अभिप्राय है। चित्त का आविष्कार, चित्त के व्यासङ्ग—विक्षेप की निवृत्ति में, उसकी विमलता है।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने 'प्रसाद' का यह स्वरूप-विवेक किया है—

'शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥
अन्यदिह चित्तम्..............................,'

(काव्यप्रकाश : ८म उल्लास)

और यही वस्तुतः ध्वनिकार-कृत भी प्रसाद-विवेक है—

(प्रसादगुण के अभिव्यञ्जन-साधन)

शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः ॥ ८ ॥

यथा—

'सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं
मुक्ताकलाप ! लुठसि स्तनयोः प्रियायाः ।
बाणैः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्मा
स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि ॥'

(माधुर्यादि गुणत्रय की शब्दगुणता : औपचारिक)

एषां शब्दगुणत्वं च गुणवृत्त्योच्यते बुधैः ।

शरीरस्य शौर्यादिगुणयोग इव इति शेषः ।

'समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति ।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधरणक्रियः ॥' (ध्वन्यालोक : २य उद्योत)

लोचनकार ने भी 'प्रसाद' की यही स्वरूप-मीमांसा की है—

'समर्पकत्वम्—सम्यगर्पकत्वं हृदयसंवादेन प्रतिपत्तॄन् प्रति स्वात्मावेशेन व्यापारकत्वं झटिति शुष्ककाष्ठाग्निदृष्टान्तेन । अकलुषोदकदृष्टान्तेन च तदकालुष्यं प्रसन्नत्वं नाम सर्वरसानां गुणः । उपचारात्तु, तथाविधे व्यङ्ग्येऽर्थे यच्छब्दार्थयोः समर्पकत्वं तदपि प्रसादः । तमेव व्याचष्टे=प्रसादेति–ननु रसगतो गुणस्तत् कथं शब्दार्थयोः स्वच्छतेत्याशङ्क्याह–स चेति । च शब्दोऽवधारणे । सर्वरससाधारण एव गुणः । स एव च गुण एवंविधः । सर्वा येयं रचना शब्दगता चार्थगता च समस्ता चासमस्ता च तत्र साधारणः ।'

(ध्वन्यालोकलोचन : २य उद्योत)

अनुवाद—इस 'प्रसाद' के अभिव्यञ्जन-साधन वे शब्द हैं, जिनके अर्थ, उनके श्रवण मात्र से ही झलक उठते हैं।

उदाहरण के लिये—

'अरे मुक्ताहार ! जब कि एक बार भी (गूँथे जाने के समय) सूची के अग्र भाग से विद्ध होने पर, तू, किसी प्रेयसी के स्तनों पर लोटने लगता है तो सहस्रों वार काम के बाणों से छिन्न-भिन्न हृदयवाले मुझे, वह प्रेयसी, क्या बात है कि, स्वप्न में भी कभी नहीं दीख पड़ती।'

विमर्श—'प्रसाद' के उदाहरण-रूप में काव्यप्रकाशकार द्वारा उदधृत यह सूक्ति बड़ी सुन्दर है—
'परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम् ॥'

(काव्यप्रकाश : ८म उल्लास)

अनुवाद—आलङ्कारिक आचार्य, (उपर्युक्त) माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों को शब्दगुण भी कहा करते हैं किन्तु ऐसा कहने में 'गुणवृत्ति' अथवा 'उपचार' का ही आश्रय लिया करते हैं।

यहां 'गुणवृत्ति' अथवा 'उपचार' से माधुर्यादि के शब्दगुण होने में जो अभिप्राय छिपा है वह यह है—जैसे आत्ममात्र के धर्म भी शौर्य और औदार्य आदि (स्वाश्रयाश्रयित्वरूप परम्परासंबन्ध से) शरीर के धर्म रूप में कल्पित किये जा सकते हैं वैसे

(प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत श्लेष, समाधि, औदार्य तथा प्रसाद का ओजोगुण में अन्तर्भाव)

श्लेषः समाधिरौदार्यं प्रसाद इति ये पुनः ॥ ६ ॥
गुणाश्चिरन्तनैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्ति ते ।

ओजसि भक्त्या ओजःपदवाच्ये शब्द (अर्थ) धर्मविशेषे । तत्र श्लेषो बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासनात्मा ।

यथा—

'उन्मज्जज्जलकुञ्जरेन्द्ररभसास्फालानुबन्धोद्धताः
सर्वाः पर्वतकन्दरोदरभुवः कुर्वन् प्रतिध्वानिनीः ।
उच्चैरुच्चरति ध्वनिः श्रुतिपथोन्माथी यथायं तथा
प्रायप्रेंखदसंख्यशङ्खधवला वेलेयमुद्गच्छति ॥'

ही रसमात्र के धर्म, माधुर्य और ओज आदि भी (स्वाश्रयाश्रयित्वरूप परम्परासंवन्ध से) शब्द अथवा अर्थ के गुण-रूप में मान लिये जाया करते हैं ।

विमर्श—रसधर्मभूत माधुर्यादि गुणत्रय के शब्दगुण और अर्थगुण कहे जाने में 'उपचार' के आश्रय का जो अभिप्राय है वह लोचनकार की इस पंक्ति से अत्यधिक स्पष्ट है—

'एतदुक्तं भवति—वस्तुतो माधुर्यं नाम शृङ्गारादे रसस्यैव गुणः । तन्मधुररसाभिव्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरुपचरितं मधुरशृङ्गाररसाभिव्यक्तिसमर्थता शब्दार्थयोर्माधुर्यमिति हि लक्षणम् ।'

और इस पंक्ति से भी—

'एवं माधुर्यौजःप्रसादा एव त्रयो गुणा उपपन्ना भामहाभिप्रायेण । ते च प्रतिपत्रास्वादमया मुख्यतया तत आस्वाद्ये उपचारिता रसे ततस्तद्व्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरिति तात्पर्यम् ।'

(ध्वन्यालोक लोचनः २य उद्योत)

अर्थात् वस्तुतः माधुर्यादि तीनों गुण सहृदय सामाजिक के आस्वादरूप हैं । इन्हें रसगुण कहने में उपचार का आश्रय लिया गया है और उपचार से ही इन्हें शब्द और अर्थ के भी गुण कहा जा सकता है जैसा कि कहा भी गया है ।

अनुवाद—प्राचीन आलङ्कारिकों (जैसे कि आचार्य वामन आदि) के द्वारा, शब्द-गुण के रूप में गिनाये गये 'श्लेष', 'समाधि', 'औदार्य', और 'प्रसाद' गुण कोई अतिरिक्त गुण-तत्त्व नहीं अपितु 'ओज' में ही अन्तर्भूत दिखायी देते हैं ।

यहां 'श्लेष' आदि के 'ओज' में अन्तर्भूत होने का अभिप्राय वस्तुतः 'ओज' पद की उपादानलक्षणा-द्वारा लक्षित ओजोमय शब्द-धर्म अथवा वन्धगाढत्व में अन्तर्भूत होने का अभिप्राय है ।

जैसे कि वामनादि-सम्मत 'श्लेष'रूप शब्दगुण, जो कि अनेकों पदों के ऐसे बन्ध का नाम है जिसमें वे एक पद की भाँति संश्लिष्ट प्रतीत हुआ करते हैं और जिसे निम्न सूक्ति जैसे कि—

'कानों के परदों को फाड़ डालनेवाली किंवा ऊपर उठते हुए भीमकाय गजाकार तरङ्गों के निरन्तर सवेग आस्फालन से विकट लगने वाले समस्त पर्वत-कंदरागर्भ को प्रतिध्वनित करने वाली यह घोर ध्वनि ऐसी उठ रही है जिससे यही पता चलता है जैसे

अयं बन्धवैकट्यात्मकत्वादोज एव ।

समाधिरारोहावरोहक्रमः । आरोह उत्कर्षः, अवरोहोऽपकर्षः, तयोः क्रमो वैरस्यतानावहो विन्यासः । यथा—'चञ्चद्भुज—' इत्यादि । अत्र पादत्रये क्रमेण बन्धस्य गाढता । चतुर्थपादे त्वपकर्षः । तस्यापि च तीव्रप्रयत्नोच्चार्यतया ओजस्विता ।

उदारता विकटत्वलक्षणा । विकटत्वं पदानां नृत्यत्प्रायत्वम् ।

यथा—

'सुचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां झणिति रणितमासीत्तत्र चित्रं कलं च ।'

अत्र च तन्मतानुसारेण रसानुसन्धानमन्तरेणैव शब्दप्रौढोक्तिमात्रेणौजः । प्रसाद ओजोमिश्रितशैथिल्यात्मा ।

यथा—

'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदात् पाण्डवीनां चमूनाम्' इति ।

इतस्ततः चलायमान असंख्य शंखों से शुभ्र-धवल लगने वाले समुद्र की प्रलयकालीन जलराशि उमड़ पड़ी हो ।'

इत्यादि में, स्पष्ट देखा जा सकता है, वस्तुतः विकट गुम्फरूप 'ओज' के अतिरिक्त और कोई काव्य-तत्त्व नहीं ।

इसी प्रकार 'समाधि'रूप शब्दगुण, जिसे बन्ध का क्रमिक आरोह और अवरोह (उतार चढ़ाव) रूप कहा गया है—और 'बन्ध के क्रमिक आरोह और अवरोह' का अभिप्राय उसके आरोह अथवा उत्कर्ष और अवरोह अथवा अपकर्ष (बन्धगाढत्व और बन्ध-शैथिल्य) के ऐसे क्रम अथवा विन्यास का अभिप्राय है जिससे समाजिक हृदय में वरस्य (नीरसता) का संचार नहीं हुआ करता और जिसे 'चञ्चद्भुजभ्रमित' आदि सूक्ति द्वारा उदाहृत किया गया है जिसके तीन चरणों में बन्ध-गाढत्व से और चतुर्थ चरण में बन्ध-शैथिल्य होने पर भी तीव्र प्रयत्न से उच्चारण किये जाने के कारण, ओजोमयता स्पष्ट है, वह भी वस्तुतः ओज में ही अन्तर्भूत है ।

इसी प्रकार 'औदार्य'रूप शब्दगुण, जिसे पदों का विकटत्व अथवा नृत्यत्प्रायत्व कहा गया है और जिसे इस सूक्ति अर्थात्—

'नर्तकियों के सुन्दर चरणों में विन्यस्त नूपुरों ने ऐसी झनझनाहट पैदा की जो मिठास से भरी और सर्वत्र विस्मयजनक प्रतीत हुई ।'

के आधार पर समझाया गया है, वह भी 'ओज' से ही गतार्थ है । वैसे तो यहाँ वीररस के अभाव में 'ओज' नहीं हो सकता किन्तु, वामन के मत का अनुसरण करते हुए, रस के अनुसंधान के विना ही, केवल गाढबन्धता के देखते, इस सूक्ति को भी ओजस्विनी मान लेने में कोई आपत्ति नहीं (क्योंकि यहां एकमात्र तात्पर्य औदार्य अथवा विकटबन्धता का ओज में अन्तर्भाव है) ।

इसी प्रकार 'प्रसाद' नामक शब्दगुण, जिसका स्वरूप ओज अथवा बन्धगाढत्व से संमिश्र बन्ध शैथिल्य का सौन्दर्य है और जिसे—'यो यः शस्त्रं बिभर्त्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनाम्' आदि पूर्वोद्धृत वेणीसंहारसूक्ति द्वारा उदाहृत किया जाया करता है, वस्तुतः 'ओज' में ही अन्तर्भूत है ।

(प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत 'पृथक्पदत्व'रूप माधुर्य का 'माधुर्य' गुण में अन्तर्भाव)

माधुर्यव्यञ्जकत्वं यदसमासस्य दर्शितम् ॥ १० ॥
पृथक्पदत्वं माधुर्यं तेनैवाङ्गीकृतं पुनः ।

यथा—

'श्वासान्मुञ्चति' इत्यादि ।

(प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत अर्थव्यक्ति का 'प्रसाद' में अन्तर्भाव)

अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्यगुणेनैव परिग्रहः ॥ ११ ॥
अर्थव्यक्तिः पदानां हि झटित्यर्थसमर्पणम् ।

स्पष्टमुदाहरणम् ।

विमर्श—'श्लेष' की परिभाषा यह है—

'शब्दानां भिन्नानामप्येकत्वप्रतिभानप्रयोजकः संहितयैकजातीयवर्णविन्यासविशेषो गाढत्वापरपर्यायः श्लेषः ।'

'समाधि'-लक्षण—

'बन्धगाढत्वशिथिलत्वयोः क्रमेणावस्थापनं समाधिः ।'

'औदार्य'-स्वरूप—

'कठिनवर्णघटनारूपविकटत्वलक्षणोदारता ।'

'प्रसाद'—

'गाढत्वशैथिल्याभ्यां व्युत्क्रमेण मिश्रणं प्रसादः ।'

अनुवाद—प्राचीन आलङ्कारिक-सम्मत 'माधुर्य' को भी, जिसे 'पृथक्पदत्व' कहा गया है, उस रसधर्मभूत 'माधुर्य' में अन्तर्भूत मानना उचित है जिसकी अभिव्यक्ति असमस्त पदरचना द्वारा हुआ करती है ।

जैसे कि—'श्वासान् मुञ्चति' आदि पूर्वोदाहृत सूक्ति में जो 'पृथक्पदत्व'रूप माधुर्य है उसे असमस्त पदरचना द्वारा अभिव्यङ्ग्य 'माधुर्य' का ही निदर्शन माना जा सकता है ।

विमर्श—आचार्य वामन ने 'माधुर्य'रूप शब्दगुण का यह लक्षण किया है—

'पृथक्पदत्वं माधुर्यम्' बन्धस्य पृथकपदत्वं यत्तन्माधुर्यम् ।
···समासदैर्घ्यनिवृत्तिपरञ्चैतत् । (काव्यालङ्कारसूत्र : ३. १. २०)

अनुवाद—इसी प्रकार प्राचीन आलङ्कारिकों का 'अर्थव्यक्ति' नामक शब्दगुण, जिसका स्वरूप पदों का अनायास अर्थबोधन है, 'प्रसाद' गुण द्वारा ही गतार्थ समझना चाहिये ।

'अर्थव्यक्ति' का उदाहरण स्पष्ट है ।

विमर्श—'अर्थव्यक्ति' का यह लक्षण है—

'झगिति प्रतीयमानार्थान्वयकत्वमर्थव्यक्तिः ।'

उदाहरण के लिये यह सूक्ति—

'नितरां परुषा सरोजमाला न मृणालानि विचारपेशलानि ।
यदि कोमलता तवाङ्गकानामथ का नाम कथाऽपि पल्लवानाम् ॥'
(रसगङ्गाधर : १म आनन)

(प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत 'कान्ति' तथा 'सुकुमारता' : दोषत्यागरूप)

ग्राम्यदुःश्रवतात्यागात्कान्तिश्च सुकुमारता ॥ १२ ॥

अंगीकृतेति सम्बधः। तच्च हालिकादिपदविन्यासवैपरीत्येनालौकिकशोभाशालित्वम्। सुकुमारता अपारुष्यम् अनयोरुदाहरणे स्पष्टे।

(प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत 'समता' : गुणत्रय में अन्तर्भाव)

क्वचिद्दोषस्तु समता मार्गाभेदस्वरूपिणी।
अन्यथोक्तगुणेष्वस्या अन्तःपातो यथायथम् ॥ १३ ॥

मसृणेन विकटेन वा मार्गेणोपक्रान्तस्य सन्दर्भस्य तेनैव परिनिष्ठानं मार्गाभेदः। स च क्वचिद्दोषः।

तथाहि—

'अव्यूढाङ्गमरूढपाणिजठराभोगं च बिभ्रद्वपुः
पारीन्द्रः शिशुरेष पाणिपुटके सम्मातु किं तावता।
उद्यद्दुर्धरगन्धसिन्धुरशतप्रोद्दामदानार्णव-
स्रोतः शोषणरोषणात्पुनरितः कल्पाग्निरल्पायते ॥'

अनुवाद—प्राचीन अलङ्कारशास्त्र में वर्णित 'कान्ति' और 'सुकुमारता' नामक जो दो शब्दगुण हैं वे क्रमशः 'ग्राम्यत्व' और 'दुःश्रवत्व' दोषों के परिहाररूप ही हैं।

यहाँ 'ग्राम्यदुःश्रवतात्यागात् कान्तिश्च सुकुमारता' आदि कारिका में 'तेनैवाङ्गीकृतं पुनः' आदि कारिका से, विभक्तिविपरिणाम के द्वारा, 'अङ्गीकृता' पद अध्याहृत समझना चाहिए। 'कान्ति'गुण वस्तुतः हालिक (हरवाहे) प्रभृति लोगों के पद-प्रयोग से विलक्षण पद-प्रयोग में रहा करता है। अग्राम्य-पद-प्रयोग में एक अलौकिक सौन्दर्य होने के कारण 'कान्ति' की कल्पना की गयी है। 'सुकुमारता' का अभिप्राय बन्ध का अपारुष्य अथवा 'निष्ठुर अक्षरों से राहित्य' है। इन दोनों के उदाहरण यहाँ अपेक्षित नहीं क्योंकि ये स्वयं देखे जा सकते हैं।

अनुवाद—प्राचीन आलङ्कारिकों द्वारा स्वीकृत 'समता' नामक शब्दगुण, जिसे 'मार्गाभेद' अथवा उपक्रम और उपसंहार में बन्ध का ऐकरूप्य कहा जाया करता है, वस्तुतः तो गुण होने के बदले यत्र-यत्र 'दोष' सा ही प्रतीत होता है और यदि कहीं गुण सा भी लगा करता है तो उपर्युक्त प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत गुणों में ही यथासंभव अन्तर्भूत दिखायी दिया करता है।

यहाँ 'मार्गाभेद' का तात्पर्य मसृण (माधुर्याधायक) अथवा विकट (ओजोव्यञ्जक) बन्ध के रूप में रचित सन्दर्भ का उसी प्रकार से समापन है। किन्तु इस प्रकार का सन्दर्भ-समापन कहीं-कहीं दोष भी हो जाता है। जैसे कि—

'भला इससे क्या होता है कि एक सिंह-शावक, जिसके अङ्ग पुष्ट नहीं और न जिसके हाथ, पैर, पेट आदि ही पूर्णरूपेण सशक्त हैं किसी के हाथों में आ जाय? अरे, जब कि इसके क्रोध में वह शक्ति आती है जिससे सैकड़ों मदोन्मत्त गजराजों के मदसमुद्र की तुमुल तरङ्गें सूखने लगती हैं, तब, पता चलता है कि कल्पान्त की अग्नि भी इसके आगे कुछ नहीं है!'

अत्रोद्धतेऽर्थे वाच्ये सुकुमारबन्धत्यागो गुण एव। अनेवंविधस्थाने माधुर्यादावेवान्तःपातः।

यथा—

'लताकुञ्जं गुञ्जन्–' इत्यादि।

(प्राचीन-अलंकारशास्त्र-सम्मत अर्थगुण : गुणत्रय में अन्तर्भाव)

ओजः प्रसादो माधुर्यं सौकुमार्यमुदारता।
तदभावस्य दोषत्वात्स्वीकृता अर्थगा गुणाः॥ १४॥

ओजः साभिप्रायत्वरूपम्। प्रसादोऽर्थवैमल्यम्। माधुर्यमुक्तिवैचित्र्यम्। सौकुमार्यमपारुष्यम्। उदारता अग्राम्यत्वम्। एषां पञ्चानामप्यर्थगुणानां यथाक्रममपुष्टार्थाधिकपदानवीकृतामङ्गलरूपाश्लीलग्राम्याणां निराकरणेनैवांगीकारः। स्पष्टान्युदाहरणानि।

अर्थव्यक्तिः स्वभावोक्त्यालङ्कारेण तथा पुनः।
रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यानां कान्तिनामकः॥ १५॥

आदि सन्दर्भ के तृतीय चरण में जहाँ वाच्य अथवा वर्णनीय विषय औद्धत्यपूर्ण है, प्रथम और द्वितीय चरणों के प्रक्रान्त सुकुमारबन्ध का निर्वाह दोष ही होता गुण नहीं। और वस्तुतः इसीलिये यहाँ कवि ने इसे छोड़कर विकटबन्ध का आश्रय लिया है।

इससे भिन्न प्रकार के प्रसङ्गों में, यदि प्रक्रान्त मार्ग का निर्वाह अथवा 'समता' गुण हो तब उसे कहीं (ललितबन्ध के देखते) माधुर्य में अथवा कहीं (उद्धतबन्ध के देखते) ओज में अन्तर्भूत मानना ही युक्तियुक्त है। जैसे कि यदि 'लताकुञ्जं गुञ्जन्' आदि सूक्ति में, मार्गाभेद के देखते, 'समता' को गुण माना जाय, तब यह स्पष्ट है कि यह 'समता गुण' ललितबन्ध से अभिव्यङ्ग्य 'माधुर्य' के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं।

अनुवाद—इसी प्रकार, प्राचीन आलंकारिकों (जैसे कि आचार्य वामन आदि) द्वारा मान्य 'ओज', 'प्रसाद', 'माधुर्य', 'सौकुमार्य' और 'औदार्य' नामक जो अर्थ-गुण हैं, वे भी, इन गुणों के अभावरूप दोष के परिहार के अतिरिक्त और कोई गुण-तत्त्व नहीं।

प्राचीन आलंकारिकों ने 'ओज' से पदों की अभिप्राय-गर्भता, 'प्रसाद' से अर्थ-निर्मलता, 'माधुर्य' से उक्ति-विचित्रता, 'सौकुमार्य' से अपरुषता और 'औदार्य' से अग्राम्यता का अभिप्राय लिया है। अब ये पाँच अर्थ-गुण ऐसे हैं जिन्हें गुण मानने के बदले 'दोषाभावरूप मानना अधिक उचित है। अर्थात् यह मानना अधिक उचित है कि 'ओज' 'अपुष्टार्थत्व' का अभाव प्रसाद, 'अधिकपदत्व' का परित्याग माधुर्य, 'अनवीकृतत्व' का परिहार सौकुमार्य, 'असंगलव्यञ्जक अश्लीलत्व' का वर्जन और 'औदार्य' 'ग्राम्यत्व' का निराकरण है। इन अर्थ-गुणों अथवा वस्तुतः दोष-परिहारों के उदाहरण यत्र-तत्र स्वयं देखे जा सकते हैं।

इसी भांति, प्राचीन आलंकारिक-सम्मत 'अर्थव्यक्ति' नामक जो गुण है वह भी वस्तुतः अर्थगुण नहीं अपितु स्वभावोक्ति अलंकार का एक स्वरूप-विशेष है। और जिसे 'कान्ति' नामक अर्थ-गुण कहा गया है उसे तो रस की मुख्य अभिव्यक्ति अथवा गुणीभूत अभिव्यक्ति में, निःसंदिग्धरूप से अन्तर्भूत मानना ही उचित है।

अङ्गीकृत इति सम्बन्धः। अर्थव्यक्तिर्वस्तुस्वभावस्फुटत्वम्। कान्तिर्दीप्तरसत्वम्। स्पष्टे उदाहरणे।

श्लेषो विचित्रतामात्रमदोषः समता परम्।

श्लेषः क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा। तत्र क्रमः क्रियासन्ततिः, विदग्धचेष्टितं कौटिल्यम्, अप्रसिद्धवर्णनाविरहोऽनुल्बणत्वम्, उपपादकयुक्तिविन्यास उपपत्तिः, एषां योगः सम्मेलनं स एव रूपं यस्या घटनायास्तद्रूपः श्लेषो वैचित्र्यमात्रम्। अनन्यसाधारणरसोपकारित्वातिशयविरहादिति भावः।

यथा—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे–' इत्यादि।

अत्र दर्शनादयः क्रियाः, उभयसमर्थनरूपं कौटिल्यम्, लोकसंव्यवहाररूपमनुल्बणत्वम्, 'एकासनसंस्थिते', 'पश्चादुपेत्य', 'नयने पिधाय', 'ईषद्वक्रित-

---

यहाँ, 'अर्थव्यक्ति······कान्तिनामकः॥' आदि कारिका में पूर्वकारिका से, विभक्ति-विपरिणाम द्वारा, 'अंगीकृताः' (स्वीकृताः) का अध्याहार है। 'अर्थव्यक्ति' का अभिप्राय 'वस्तुस्वभाव की स्फुटता' का अभिप्राय है और रस की प्रदीप्ति अथवा स्फुट अभिव्यक्ति का जो नाम है वह 'कान्ति' है।

यहां 'अर्थव्यक्ति' (वस्तुतः स्वभावोक्ति) और 'कान्ति' (रस की स्फुट प्रतीति) के उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं क्योंकि ये स्वयं देखे जा सकते हैं।

इसी प्रकार प्राचीन-अलंकारशास्त्र-सम्मत 'श्लेष' नामक अर्थ-गुण कोई गुण नहीं अपितु एक बन्ध-वैचित्र्य मात्र है। और जिसे 'समता' नामक अर्थ-गुण कहा गया है वह दोषाभाव के अतिरिक्त कोई और तत्त्व नहीं।

'श्लेष' क्या है? 'श्लेष' है—एक ऐसी घटना अथवा रचना जिसमें 'क्रम' और 'कौटिल्य' किंवा 'अनुल्बणत्व' और 'उपपत्ति' का समुचित मेल रहा करे।

यहां 'क्रम' का अभिप्राय क्रियासंतति अथवा क्रिया-परम्परा का अभिप्राय है, 'कौटिल्य' वस्तुतः विदग्धचेष्टा का नाम है; 'अनुल्बणत्व' में अप्रसिद्ध वर्णन के विरह का अभिप्राय अन्तर्गर्भ है, 'उपपत्ति' से उपपादक युक्तियों के विन्यास का तात्पर्य लिया गया है और 'श्लेष' उस रचना को कहा गया है जिसका रूप 'क्रम-कौटिल्य-अनुल्बणत्व-उपपत्ति' के योग अथवा सम्मेलन का रूप है। यह 'श्लेष' अन्ततोगत्वा एक प्रकार का बन्ध-वैचित्र्य सा ही सिद्ध होता है। इसे 'गुण' कहना निरर्थक है क्योंकि गुण तो वह है जो, अधिक से अधिक अनन्य सामान्यरूप से, रस का उपकार किया करता है। बन्ध-वैचित्र्य से रसोत्कर्ष का क्या सम्बन्ध? उदाहरण के लिए—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे'

इत्यादि सूक्ति में 'श्लेष' अथवा बन्ध-वैचित्र्य है क्योंकि यहाँ 'दर्शन', 'नयनपिधान' आदि क्रिया-सन्ततिरूप 'क्रम', ज्येष्ठा और कनिष्ठा नायिकाओं के चुम्बन तथा नयन-पिधान द्वारा अनुरञ्जन में 'कौटिल्य', इस प्रकार के दृश्य के लोकव्यवहारात्मक होने में 'अनुल्बणत्व' और 'एकासन पर संस्थिति', पीछे से पहुँचने, 'आँखमिचौनी के खेल', 'गर्दन के तिरछे घुमाने' आदि की उपपत्ति' अथवा उपपादकता के परस्पर सम्मेलन का

कन्धरः' इति चोपपादकानि, एषां योगः। अनेन च वाच्योपपत्तिग्रहणव्यग्रतया रसस्वादो व्यवहितप्रोय इत्यस्यागुणता।

समता च प्रक्रान्तप्रकृतिप्रत्ययाविपर्यासेनार्थस्य विसंवादिताविच्छेदः। स च प्रक्रमभङ्गरूपविरह एव।

स्पष्टमुदाहरणम्।

न गुणत्वं समाधेश्च—

समाधिश्चायोन्यन्यच्छायायोनिरूपद्विविधार्थदृष्टिरूपः। तत्रायोनिरर्थो यथा—

'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धि नारङ्गकम्।

अन्यच्छायायोनिर्यथा—

'निजनयनप्रतिबिम्बैरम्बुनि बहुशः प्रतारिता काऽपि।
नीलोत्पलेऽपि विमृशति करमर्पयितुं कुसुमलावी॥'

अत्र नीलोत्पलनयनयोरतिप्रसिद्धं सादृश्यं विच्छित्तिविशेषेण निबद्धम्।

सौन्दर्य स्पष्ट झलक रहा है। किन्तु यह सब रस का उपकारक नहीं अपितु व्यवधायक ही है क्योंकि जब कि सहृदय सामाजिक का मन यहाँ के वर्ण्य विषय की उपपत्ति और युक्ति में व्यग्र रहे, जैसा कि उसके लिये स्वाभाविक है, तो रसभावादि की प्रतीति तो व्यवहित-प्राय हो ही गयी। अन्ततोगत्वा यही कहा जा सकता है कि 'श्लेष' गुण नहीं अपितु रचनावैचित्र्यमात्र है जो कि सर्वत्र रसानुगुण नहीं हुआ करता।

इसी प्रकार प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत 'समता' नामक अर्थगुण, जिसे, उपक्रम और उपसंहार-दोनों में समान प्रकृति और प्रत्यय के प्रयोग द्वारा वर्ण्य वस्तु में विसंवादित और विषमता की प्रतीति का निराकरण रूप माना जाया करता है, गुण नहीं अपितु 'भग्नप्रक्रमत्व' रूप दोष का अभावमात्र है। इसका उदाहरण भी नहीं दिया जा रहा है क्योंकि यह स्वयं स्पष्ट है।

इसी प्रकार 'समाधि' नामक अर्थगुण को भी गुण मानना अनुचित है। यह 'समाधि' क्या है ? 'समाधि' है—'अयोनि' अर्थात् अपने बुद्धिवैभव से उपकल्पित अवर्णितपूर्व काव्यार्थ और 'अन्यच्छायायोनि' अर्थात् कवि-परम्परा-प्रसिद्ध काव्यार्थ के आधार पर पुनः परिकल्पित पूर्ववर्णितच्छाय काव्यार्थ—दोनों प्रकार के काव्यविषयक अर्थों का दर्शन। जैसे कि 'अयोनि' अथवा स्वबुद्धिवैभव से उपकल्पित काव्यार्थ के दर्शन में 'समाधि'—

'यह नारङ्गी का फल ऐसा लग रहा है जैसे अभी-अभी मुण्डित, किसी मदोन्मत्त यवन की ठुड्डी हो।'

इसी प्रकार 'अन्यच्छायायोनि' अथवा कवि-परम्परा-प्रसिद्ध काव्यार्थ के आधार पर पुनः परिकल्पित काव्यार्थ के दर्शन में 'समाधि'—

'कोई मालिन पानी में पड़ते अपने नेत्र के प्रतिबिम्ब से ठगी सी होकर, नील कमल के तोड़ने में भी सोच-विचार करती दिखायी दे रही है।'

यहाँ 'निजनयन' आदि सूक्ति में 'अन्यच्छायायोनि' रूप अर्थ-दर्शन का अभिप्राय है—कविपरम्परा से ही नीलकमल और नयन का सादृश्य सिद्ध चला आ रहा है किन्तु यहाँ कवि ने इस प्रसिद्ध सादृश्य रूप अर्थ में, अपनी कल्पना से एक और ही विचित्रता

अस्य चासाधारणशोभानाधायकत्वान्न गुणत्वम् , किन्तु काव्यशरीरमात्र-निर्वर्तकत्वम् ।

क्वचित् 'चन्द्रम्' इत्येकस्मिन् पदार्थे वक्तव्ये 'अत्रेर्नयनसमुत्थं ज्योतिः' इति वाक्यवचनम् । क्वचित् 'निदाघशीतलहिमकालोष्णसुकुमारशरीरावयवा योषित्' इति वाक्यार्थे वक्तव्ये 'वरवर्णिनी' इति पदाभिधानम् । क्वचिदेकस्य वाक्यार्थस्य किञ्चिद्विशेषनिवेशादनेकैर्वाक्यैरभिधानमित्येवंरूपो व्यासः । क्वचिद् बहुवाक्यप्रतिपाद्यस्यैकवाक्येनाभिधानमित्येवंरूपः समासश्च, इत्येवमादीनामन्यैरुक्तानां न गुणत्वमुचितम् , अपि तु वैचित्र्यमात्रावहत्यम् ।

—तेन नार्थगुणाः पृथक् ॥ १६ ॥

तेनोक्तप्रकारेण । अर्थगुणा ओजःप्रभृतयः प्रोक्ताः ।

इति साहित्यदर्पणे गुणविवेचनो नामाष्टमः परिच्छेदः ।

का आधान कर दिया है जिससे यह प्रसिद्ध काव्यार्थ नवीन सा लग रहा है । किन्तु यह सब अर्थदर्शनरूप 'समाधि' गुण नहीं क्योंकि इससे रस का कोई अनन्यसामान्य उपकार नहीं हो रहा है । यह 'समाधि' तो वस्तुतः यहाँ के अर्थात्मक काव्यशरीर के निष्पादन से ही संबद्ध है । रस-सौन्दर्य के उल्लास से इसका क्या सम्बन्ध ?

इसी प्रकार, प्राचीन आलङ्कारिकों द्वारा मान्य ओज के चार भेद (क्योंकि पाँचवें भेद को पहले ही 'अपुष्टार्थत्व' रूप दोष का अभावमात्र सिद्ध किया जा चुका है) गुण नहीं अपि तु वैचित्र्यमात्र ही है । जैसे कि, पदार्थ में वाक्यरचना रूप 'ओज', जिसे 'चन्द्र' इस एक पदार्थ के बदले 'अत्रेर्नयनसमुत्थं ज्योतिः (रघुवंश २. ७५) इस वाक्यरचना में देखा जा सकता है, वाक्यार्थ में पदरचनारूप 'ओज' जो कि 'निदाघशीतल हिमकालोष्ण-सुकुमारशरीरावयवा योषित् (गरमी में शीतल और सर्दी में उष्ण तथा सुकुमार अङ्गों वाली स्त्री) इस वाक्यार्थ के बदले 'वरवर्णिनी' इस पदबन्ध में स्पष्ट है, 'व्यासरूप ओज', जिसे एक वाक्यार्थ के बदले, किञ्चिन्मात्र विशेषाधानपूर्वक, अनेक वाक्यार्थ की रचना में देखा जाया करता है और 'समास' रूप ओज, जो कि अनेक वाक्यार्थ के बदले एक वाक्य में विषय-प्रतिपादन का अभिप्राय रखता है और इसी भाँति अन्य आचार्यों द्वारा गुण रूप से मान्य अन्यान्य वैशिष्ट्य, वस्तुतः 'गुण' नहीं अपितु वैचित्र्याधायक मात्र ही माने जा सकते हैं क्योंकि रस का इनसे क्या सम्बन्ध ?

इस विचार-विमर्श से यही सिद्ध होता है कि प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत अर्थगुण माधुर्यादि गुणत्रय के अतिरिक्त कोई अन्य काव्य-तत्त्व नहीं ।

यहाँ कारिका में 'तेन' का अभिप्राय 'उक्तप्रकारेण' (उपर्युक्त विचारदृष्टि से देखते हुये) का अभिप्राय है और 'अर्थगुण' का तात्पर्य ओज आदि (आचार्य वामन तथा भोजराज-प्रतिपादित) गुणों का तात्पर्य है जिनका प्रतिपादन किया जा चुका है ।

विमर्श—(क) यहाँ, साहित्यदर्पणकार ने, आचार्य मम्मट की अर्थगुण-समीक्षा के आधार पर, अर्थगुणों को, गुणत्रय में अन्तर्भूत सिद्ध किया है। प्राचीन अलङ्कारशास्त्र-सम्मत अर्थगुण रस के

धर्म अथवा स्वरूपविशेष नहीं और इसलिये इन्हें गुण मानना निरर्थक है—यह सिद्धान्त वस्तुतः एक समीचीन सिद्धान्त है।

(ख) दस अर्थगुणों में 'ओज' का यह स्वरूप है—

'एकस्य पदार्थस्य बहुभिः पदैरभिधानम्, बहूनां चैकेन, तथैकस्य वाक्यार्थस्य बहुभिर्वाक्यैर्बहुवाक्यार्थस्यैकवाक्येनाभिधानम्, विशेषणानां साभिप्रायत्वञ्चेति पञ्चविधमोजः।'

(रसगङ्गाधर)

जिसमें 'पदार्थ में वाक्यरचना', 'वाक्यार्थ में 'पदाभिधान', 'व्यास' और 'समास' रूप चतुर्विध प्रौढिप्रतिपादनवैचित्र्य के अतिरिक्त और कोई गुण-तत्त्व नहीं। जैसे कि 'पदार्थ में वाक्यरचना'—

'सरसिजवनबन्धुश्रीसमारम्भकाले रजनिरमणराज्यं नाशमाशु प्रयाति।
परमपुरुषवक्त्राद्युद्गतानां नराणां मधु मधुरगिरां च प्रादुरासीद् विनोदः॥'

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'उषःकाल में' इस एक पदार्थ के स्थान पर—'सरसिजवनबन्धुश्रीसमारम्भकाले' यह वाक्यरचना की गयी है जिसमें 'प्रौढि' तो अवश्य है किन्तु रसोल्लास-सामर्थ्य नहीं।

इसी प्रकार वाक्यार्थ में पदाभिधान'—

'खण्डितानेककक्षालिमधुरञ्जनपण्डिताः।
मण्डिताखिलदिक्प्रान्ताश्चण्डांशोर्भान्ति भानवः॥'

यहाँ 'यस्याः पराङ्गनागेहात् पतिः प्रातर्गृहेऽञ्चति' इस वाक्यार्थ के स्थान पर 'खण्डिता' इस एक पद के प्रयोगस्वारस्य में 'प्रौढि' अवश्य है किन्तु यह 'प्रौढि' कोई रसधर्म नहीं अपितु उक्ति-वैचित्र्य मात्र है।

इसी प्रकार 'व्यास अथवा विस्तीर्ण वचन'—

'अयाचितः सुखं दत्ते याचितश्च न यच्छति।
सर्वस्वं चापि हरते विधिरुच्छृङ्खलो नृणाम्॥'

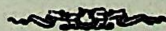
यहाँ 'सर्वं दैवाधीनम्' इस एक वाक्यार्थ के स्थान पर अनेकों वाक्यों की रचना में व्यास' रूप प्रौढि है जो कि प्रतिपादनवैचित्र्य के अतिरिक्त और कोई काव्य-तत्त्व नहीं।

इसी प्रकार 'समास' अथवा संक्षिप्त वचन—

'तपस्यतो मुनेर्वक्त्राद्वेदार्थमधिगत्य सः।
वासुदेवनिविष्टात्मा विवेश परमं पदम्॥'

यहाँ **'मुनिस्तपस्यति, तद्वक्त्रात् स वेदार्थमधिगतवान्, तदनन्तरं वासुदेवे परब्रह्मणि मनः प्रावेशयत्, ततश्च मुक्तोऽभूत्'** इत्यादि वाक्यार्थसमूह के स्थान पर एक वाक्यार्थ की योजना में 'प्रौढि' का स्वरूप स्पष्ट है। किन्तु यह भी प्रतिपादनवैचित्र्यमात्र ही है, रसधर्मरूप गुण नहीं।

साहित्यदर्पण आठवाँ परिच्छेद समाप्त



नवमः परिच्छेदः

(काव्य में रीति-तत्त्व : स्वरूप और उपयोग)

अथोद्देशक्रमप्राप्तमलङ्कारनिरूपणं बहुवक्तव्यत्वेनोल्लङ्घ्य रीतिमाह—

पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।

उपकर्त्री रसादीनां—

रसादीनामर्थाच्छब्दार्थशरीरस्य काव्यस्यात्मभूतानाम् ।

(रीतिभेद : वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली तथा लाटी)

—सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ॥ १ ॥

वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा ।

अनुवाद—अब काव्य में रीति-तत्त्व क्या है ? इसका विचार-विमर्श किया जा रहा है। अलङ्कार का निरूपण बाद में किया जायगा। वैसे तो 'रीति'-निरूपण के पहले, जैसे की 'उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः' इस काव्यतत्त्व के उद्देश्य-क्रम से सिद्ध है, अलङ्कार का ही निरूपण आवश्यक था, किन्तु इस विषय के विस्तृत होने के कारण, इसे बाद में ही प्रस्तुत करना उचित है।

'रीति' क्या है ?

रीति, अङ्ग-रचना की भाँति, पद-रचना अथवा पद-संघटना है जो कि रसभावादि की अभिव्यञ्जना में सहायक हुआ करती है।

यहाँ कारिका में 'रसादीनाम्' का अभिप्राय 'शब्दार्थशरीररूप काव्य के आत्मभूत रसादि' का अभिप्राय है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार के अनुसार 'रीति' और 'संघटना' एक ही वस्तु है। 'रीति' अथवा 'संघटना' रस की अभिव्यक्ति का निमित्त है और इसीलिये साहित्यदर्पणकार ने इसे रसभावादि की उपकर्त्री माना है। काव्यप्रकाशकार ने रीतितत्त्व पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला था क्योंकि प्राचीन ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि में 'वृत्ति' और 'रीति' का रहस्य वर्ण-संघटनावैशिष्ट्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। ध्वनिकार का स्पष्ट कथन है—

'वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः।'

और लोचनकार की भी इस सम्बन्ध में यही समीक्षा है—

'रीतयश्चेति—तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि गताः श्रवणगोचरमिति संबन्धः। तच्छब्देनात्र माधुर्यादयो गुणाः, तेषां च समुचितवृत्त्यर्पणे यदन्योन्यमेलनक्षमत्वेन पानक इव गुड-मरिचादिरसानां संघातरूपतागमनं दीप्तललितमध्यमवर्णनीयविषयं गौडीय-वैदर्भ-पाञ्चाल-देशहेवाकप्राचुर्यदृशा तदेव त्रिविधं रीतिरित्युक्तम्।' (ध्वन्यालोक तथा लोचन : १म उद्योत) किन्तु साहित्यदर्पणकार 'रीति' को न छोड़ सके। संभवतः रुद्रट और भोजराज के प्रभाव में पड़कर साहित्यदर्पणकार ने 'रीति' और 'काव्य' के उपकार्योपकारकभाव-सम्बन्ध पर यह सब जोर दिया है।

अनुवाद—रीति चार प्रकार की है—(१) वैदर्भी, (२) गौडी, (३) पाञ्चाली और (४) लाटी।

सा रीतिः।

(वैदर्भी : सोदाहरण स्वरूप-निरूपण)

तत्र—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका ॥ २ ॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ।

यथा—

'अनङ्गमङ्गलभुवः-' इत्यादि ।

यहाँ कारिका में 'सा' का अभिप्राय 'रीति' का अभिप्राय है।

विमर्श—रीतिचतुष्टय में 'वैदर्भी' और 'गौडी' की मान्यता भामह और दण्डी से भी प्राचीन है। दण्डी की यह उक्ति—

'इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात् । तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः ॥
इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत् । तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि पार्यते ॥'
(काव्यादर्श : १. १०१-१०२)

'वैदर्भ' और 'गौड' मार्गों (वैदर्भी और गौडी रीतियों) के स्वरूप-विवेक को अलङ्कार-शास्त्र की समीक्षा की एक बहुत बड़ी कसौटी सी मानती है। रीतिवाद के प्रवर्त्तक आचार्य वामन 'पाञ्चाली' रीति के प्रथम प्रवर्तक हैं। वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली के अतिरिक्त 'लाटी' अथवा 'लाटीया' को, चौथी रीति के रूप में स्वीकार करनेवाले सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट हैं। इस प्रकार साहित्यदर्पणकार ने कई शताब्दिओं में प्रवर्तित रीति-चतुष्टय-तत्त्व को काव्य के एक तत्त्वरूप में स्वीकार किया है। रीति-चतुष्टय की मान्यता में साहित्यदर्पणकार का अभिप्राय वस्तुतः यही है कि 'जब काव्य रसात्मक वाक्य है तो 'रीति' इसकी एक विशेषता अवश्य है'। 'भावप्रकाशन'कार कि इन पंक्तियों में, जिन्होंने साहित्यदर्पणकार की काव्य-समीक्षा को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है, 'रीतिचतुष्टय' का यह संकेत ध्यान देने योग्य है—

'प्रतिवचनं प्रतिपुरुषं तदवान्तरजातितः प्रतिप्रीति ।
आनन्त्यात् संक्षिप्य प्रोक्ता कविभिश्चतुर्धैव ॥
त एवाक्षरविन्यासास्ता एवाक्षरपंक्तयः ।
पुंसि पुंसि विशेषेण कापि कापि सरस्वती ॥'
(भावप्रकाशन, पृष्ठ ११-१२)

अनुवाद—इस रीतिचतुष्टय में—

'वैदर्भी' वह रीति है जिसे माधुर्य के अभिव्यञ्जक वर्णों से पूर्ण, असमस्त अथवा स्वल्प-समासयुक्त ललित रचना कहा गया है।

जैसे कि—

'अनङ्गमङ्गलभुवः' आदि पूर्वोद्धृत रचना।

विमर्श—'वैदर्भी' के सम्बन्ध में महाकवि श्रीहर्ष की यह सूक्ति बड़ी सुन्दर है—

'धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥'
(नैषधीयचरित ३. ११६)

(आचार्य रुद्रट-सम्मत वैदर्भी-स्वरूप : निर्देश)

रुद्रटस्त्वाह—

असमस्तैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी ।
वर्गद्वितीयबहुला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविधेया ॥

अत्र दशगुणास्तन्मतोक्ताः श्लेषादयः ।

(गौडीरीति : सोदाहरण स्वरूप-निर्देश)

ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ॥ ३ ॥

समासबहुला गौडी—

यथा—

'चञ्चद्भुज–' इत्यादि ।

(आलङ्कारिक पुरुषोत्तम-सम्मत गौडी-स्वरूप : संकेत)

पुरुषोत्तमस्त्वाह—

महाकवि बिल्हण की यह वैदर्भी-गुणगाथा भी ध्यान देने योग्य है—

'अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः ।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम् ॥'

(विक्रमाङ्कदेवचरित १. ९)

अनुवाद—'वैदर्भी' के सम्बन्ध में (काव्यालङ्कार के रचयिता) आचार्य रुद्रट का यह मत है—

'वैदर्भी रीति अथवा ललित-पद-रचना इस प्रकार की हुआ करती है जिसमें समस्त पदावली का प्रयोग नहीं हुआ करता, जहाँ एक आध पद समस्त हो जाँय तो कोई हानि नहीं, जिसमें श्लेषादि दसों शब्दगुण विराजमान रहा करते हैं, जिसमें द्वितीय वर्ग अर्थात् चवर्ग के वर्णों का बाहुल्य सुन्दर लगा करता है और जिसमें ऐसे वर्ण रहा करते हैं जोकि स्वल्प प्रयत्न से उच्चरित हो सकते हैं।'

यहाँ 'युक्ता दशभिर्गुणैश्च' में दस गुणों का अभिप्राय आचार्य रुद्रट-सम्मत 'श्लेष' आदि दस शब्दगुणों का अभिप्राय है ।

अनुवाद—'गौडी' वह रीति है जिसे ओज गुण के अभिव्यञ्जक वर्णों से पूर्ण समास—प्रचुर, उद्भट रचना कहा गया है ।

जैसे कि—

'चञ्चद्भुजभ्रमित' आदि पूर्वोद्धृत रचना ।

विमर्श—रीतिवाद के प्रवर्तक आचार्य वामन के अनुसार 'गौडी' रीति का स्वरूप यह है—

'समस्तात्युद्भटपदामोजःकान्तिगुणान्विताम् ।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः ॥' (काव्यालङ्कारसूत्र)

जिसमें यह स्पष्ट है कि वैदर्भी और गौडी परस्पर विषम स्वभाव की रीतियाँ अथवा पद-रचनायें हैं ।

अनुवाद—'गौडी' के सम्बन्ध में आलङ्कारिक पुरुषोत्तम का यह मत है—

'बहुतरसमासयुक्ता सुमहाप्राणाक्षरा च गौडीया।
रीतिरनुप्रासमहिमपरतन्त्रा स्तोकवाक्या च॥'

(पाञ्चाली रीति : सोदाहरण स्वरूप-निरूपण)

—वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः।
समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता॥ ४॥

द्वयोर्वैदर्भीगौड्योः।

यथा—

'मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे॥'

(भोजराज-सम्मत पाञ्चाली-स्वरूप)

भोजस्त्वाह—

'समस्तपञ्चषपदामोजःकान्तिसमन्विताम्।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः॥'

(लाटी रीति : सोदाहरण स्वरूप-विवेक)

लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तर स्थिता।

'गौडी रीति ऐसी हुआ करती है जिसमें समासबाहुल्य रहा करता है, जिसमें ऐसे वर्णों का प्राचुर्य हुआ करता है जो कि महाप्राण (जैसे कि वर्ग के द्वितीय और चतुर्थ वर्ण) कहे जाया करते हैं, जिसमें अनुप्रास-वैशिष्ट्य आवश्यक है और जिसमें (समास-बाहुल्य के कारण) वाक्यों का प्रयोग कम हुआ करता है।

अनुवाद—'पाञ्चाली' वह रीति है जिसे माधुर्य और ओज के अभिव्यञ्जक वर्णों को छोड़कर अन्य अवशिष्ट वर्णों अर्थात् प्रसाद के अभिव्यञ्जक वर्णों से।ऐसी पदरचना कहा गया है जिसमें पाँच या छः पदों के समासों से बड़े समासों का प्रयोग नहीं हुआ करता।

यहाँ कारिका में 'द्वयोः' का अभिप्राय वैदर्भी और गौडी रीतिओं का अभिप्राय है।

जैसें कि (महाकवि माघ के शिशुपालवध की यह सूक्ति)—

'वसन्त के कारण विकसित वासन्ती की मकरन्द-संपदा से बढ़ी-चढ़ी स्वरमाधुरी वाली स्वतः मधुरकण्ठी किंवा उत्तरोत्तर उन्मादकता में बढ़ती ध्वनि वाली भ्रमरी ने बड़ी मीठी गुञ्जार प्रारम्भ कर दी।'

यहाँ 'पाञ्चाली' रीति अथवा प्रसन्न वर्णों की पदरचना का सौन्दर्य दर्शनीय है।

अनुवाद—'पाञ्चाली' के सम्बन्ध में आलंकारिक भोजराज का यह मत है—

'पाञ्चाली रीति वह रीति है जिसमें पाँच या छः पदों से अधिक पद वाले समास नहीं प्रयुक्त किये जाया करते, जिसमें ओज और कान्ति के गुण विराजमान रहा करते हैं और जो कि माधुर्य के अभिव्यञ्जक किंवा कोमल वर्णों से पूर्ण पदरचना हुआ करती है।'

अनुवाद—'लाटी' वह रीति है जिसमें वैदर्भी और पाञ्चाली—दोनों रीतिओं की विशेषतायें विराजमान रहा करती हैं।

यथा—

'अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनामुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम् ।
विरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुर्विभिन्दन् कुपितकपिकपोलक्रोडताम्रस्तमांसि ।।'

(अन्य काव्याचार्य-सम्मत लाटी-स्वरूप)

कश्चिदाह—

'मृदुपदसमाससुभगा युक्तैर्वर्णैर्न चातिभूयिष्ठा ।
उचितविशेषणपूरितवस्तुन्यासा भवेल्लाटी ।।'

(अन्य आलंकारिक-सम्मत रीति चतुष्टय-स्वरूप)

अन्ये त्वाहुः—

'गौडी डम्बरबद्धा स्याद्वैदर्भी ललितक्रमा ।
पाञ्चाली मिश्रभावेन लाटी तु मृदुभिः पदैः ।।'

(रचना के नियामक)

क्वचित्तु वक्त्राद्यौचित्यादन्यथा रचनादयः ।। ५ ।।

जैसे कि—

'कमलवन को विकसित करने वाला, उदयाचल पर्वत की वनवीथिका का नवविकसित मन्दारपुष्प, विरहविधुर चक्रवाक के जोड़े का एकमात्र बान्धव किंवा कुपित कपि के कपोल की भाँति रक्तवर्ण यह सूर्य अँधेरे का उन्मूलन करते हुए उदय हो रहा है।'

विमर्श—आचार्य रुद्रट के अनुसार 'गौडी-पाञ्चाली-लाटी' का स्वरूप-विवेक यह है—

'पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः ।
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र ।।
द्वित्रपदा पाञ्चाली लाटीया पञ्च सप्त वा यावत् ।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया ।।'

(काव्यालंकार २. ४ ५)

अनुवाद—किसी काव्याचार्य के मत में 'लाटी' का स्वरूप यह है—

'लाटी रीति ऐसी हुआ करती है जिसमें कोमल पदों के समास का सौन्दर्य देखने योग्य हुआ करता है, जिसमें संयुक्त वर्णों का प्रयोग स्वल्पमात्रा में ही हुआ करता है और जिसमें प्रकृतोपयुक्त विशेषणों से रमणीय वर्ण्य वस्तु की एक अपनी ही छटा छिटका करती है।'

अनुवाद— कतिपय काव्याचार्यों ने रीति-चतुष्टय का यह संक्षिप्त स्वरूप बताया है—

'वैदर्भी' रीति का अभिप्राय 'मधुरबन्ध' 'गौडी' रीति का अभिप्राय 'उद्धतबन्ध', 'पाञ्चाली' रीति का अभिप्राय 'मिश्रबन्ध' और 'लाटी' रीति का अभिप्राय 'मृदुबन्ध' का अभिप्राय है।

विमर्श—रीति-चतुष्टय का यह उपर्युक्त संक्षिप्त विवेक 'रीति' और 'बन्ध' (संघटना) के अभेद का एक सुन्दर विमर्श है। काव्य-साहित्य के चार 'बन्ध' चतुर्विध काव्यमार्ग से एकरूप हैं।

अनुवाद—काव्य-साहित्य में रीति अथवा पदरचना के उपर्युक्त सिद्धान्त का अपवाद भी दृष्टिगत होता है जिसके कारण वक्त्रौचित्य, वाच्यौचित्य आदि-आदि हैं।

वक्त्रादीत्यादिशब्दाद्वाच्यप्रबन्धौ। रचनादीत्यादिशब्दाद् वृत्तिवर्णौ। तत्र वक्त्रौचित्याद्यथा—

'मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसङ्घट्टचण्डः।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम्॥

अत्र वाच्यक्रोधाद्य (न) भिव्यञ्जकत्वेऽपि भीमसेनवक्तृत्वेनोद्धता रचनादयः। वाच्यौचित्याद्यथोदाहृते 'मूर्धव्याधूयमान–' इत्यादौ। प्रबन्धौचित्याद्यथा नाटकादौ रौद्रेऽप्यभिनयप्रतिकूलत्वेन न दीर्घसमासादयः। एवमाख्यायिकायां शृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः। कथायां रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धताः। एवमन्यदपि ज्ञेयम्।

इति साहित्यदर्पणे रीतिविवेचनो नाम नवमः परिच्छेदः।

यहाँ करिका में 'वक्त्राद्यौचित्यात्' में जो 'आदि' पद प्रयुक्त है उससे वाच्य और प्रबन्ध के औचित्यों का ग्रहण किया गया है। साथ ही साथ 'रचनादयः' में प्रयुक्त 'आदि' शब्द वृत्ति अर्थात् समास और वर्णों के अन्यथाभाव अथवा वैपरीत्य के सूचनार्थ है।

जैसे कि वक्त्रौचित्य से रचनादि का अन्यथाभाव—

'मन्थन के कारण विक्षुब्ध पारावार के जलसंघात से भरी कन्दराओंवाले मन्दराचल के घोर निध्वान के समान गम्भीर, नक्कारों के बजने के समय, गर्जना करनेवाले प्रलयकालीन मेघसंघात के परस्पर संघर्षण के प्रचण्ड नाद के समान भयङ्कर, द्रौपदी के क्रोध के संसूचक, कुरुवंश के विनाश के सूचक, उत्पातरूप निर्घात वात के समान भीषण और हमारे सिंहनाद के प्रतिध्वान की भाँति भयानक यह रणदुन्दुभि-निध्वान कहाँ से प्रारम्भ हो गया ?'

यहाँ (वेणीसंहार की इस सूक्ति में) क्रोधादि दीप्त रसों की अभिव्यञ्जकता का प्रश्न न होने पर भी, क्योंकि यहाँ जो वर्ण्य वस्तु है वह सहदेव के प्रति भीम की जिज्ञासा मात्र है, रचना, वृत्ति और वर्णों का अन्यथाभाव स्पष्ट है। इस अन्यथाभाव अथवा रचनादि-विपर्यय का कारण वक्ता भीमसेन के उद्धत व्यक्तित्व के औचित्य का अनुसरण है।

इसी प्रकार वाच्यौचित्य के कारण रचनादिविपर्यय—

जैसे कि 'मूर्धव्याधूयमान' आदि पूर्वोद्धृत ताण्डव वर्णन-सूक्ति।

प्रबन्धौचित्य के कारण रचनादि-विपर्यय का दर्शन वहाँ हुआ करता है जहाँ नाटकादि-प्रबन्ध में, रौद्ररस के प्रसङ्ग में भी, अभिनय की दृष्टि से, लम्बे-लम्बे समास आदि का प्रयोग नहीं किया जाया करता। प्रबन्धौचित्य की रचना-नियामकता वहाँ भी स्पष्ट है जहाँ आख्यायिका-प्रबन्ध में, शृङ्गार रस के प्रसङ्ग में भी, मृदुल वर्ण इत्यादि का अभाव दिखायी दिया करता है। इसी प्रकार कथा प्रबन्ध में, रौद्र रस के प्रसङ्ग में भी, उद्धत-वन्ध का परिहार प्रबन्धौचित्य की रचना-नियामकता का ही निदर्शन है। इसी भाँति अन्यान्य प्रबन्धों के औचित्य के कारण जो रचनादि-विपर्यय हुआ करता है वह स्वयं देखा जा सकता है।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने तो 'गुणाश्रया संघटना' के अपवाद-रूप में 'वाच्यौचित्य' आदि का निर्देश किया है किन्तु साहित्यदर्पणकार के अनुसार 'वाच्यौचित्य' आदि 'रीति' के अपवादरूप हैं।

रचना के नियामकों में 'रसौचित्य' का स्थान सर्वोपरि है जैसा कि ध्वनिकार का स्पष्ट कथन है—

रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद् विभेदवत्॥ (ध्वन्यालोक ३. ९)

अर्थात् क्या पद्यबन्ध और क्या गद्यबन्ध-सर्वत्र रसौचित्य ही रचना अथवा संघटना का नियामक है। जहाँ-तहाँ 'विषयौचित्य' के कारण रचना में जो वैषम्य संभव है वह वस्तुतः 'रसौचित्य' का ही एक अवान्तरवैचित्र्य है।

रसौचित्य के बाद 'वक्त्रौचित्य' का स्थान है। 'वक्त्रौचित्य' की रचना-नियामकता के सम्बन्ध में ध्वनिकार का यह विवेचन ध्यान देने योग्य है—

'तत्र वक्ता कविः कविनिबद्धो वा, कविनिबद्धश्चापि रसभावरहितो रसभावसमन्वितो वा......। तत्र यदा कविरपगतरसभावो वक्ता तदा रचनायाः कामचारः। यदापि कविनिबद्धो वक्ता रसभावरहितस्तदा स एव। यदा तु कविः कविनिबद्धो वा वक्ता रसभावसमन्वितो रसश्च प्रधानाश्रितत्वाद् ध्वन्यात्मभूतस्तदा नियमेनैव तत्रासमासा-मध्यमसमासे एव संघटने'—(ध्वन्यालोक : तृतीय उद्योत)

अर्थात् वक्ता के औचित्य के कारण रचना-नियमन में सर्वप्रथम यह देखना है कि 'वक्ता' का अभिप्राय 'कवि' और 'कविप्रतिभोत्थापित चरित' दोनों का है। जहाँ कवि अथवा कविनिबद्ध चरित रसभावविवक्षाशून्य हों वहाँ कोई भी रचना क्षम्य है किन्तु यदि कवि अथवा कविनिबद्ध चरित रसभावसमन्वित हैं तो रचना का 'असमासा' अथवा 'मध्यमसमासा' होना अनिवार्य है।

रचना का तीसरा नियामक 'वाच्यौचित्य' है। 'वाच्यौचित्य' का अभिप्राय यह है—

'वाच्यं च ध्वन्यात्मरसाङ्गं रसाभासाङ्गं वा, अभिनेयार्थमनभिनेयार्थं वा, उत्तम-प्रकृत्याश्रयं तदितराश्रयं वेति बहुप्रकारम्।' (ध्वन्यालोकः तृतीय उद्योत)

चतुर्थ रचनानियामक 'विषयौचित्य' अथवा प्रबन्धौचित्य है जैसा कि ध्वनिकार का यह कथन है—

'विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति। काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा॥'

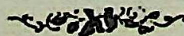
वक्तृवाच्यगतौचित्ये सत्यपि विषयाश्रयमन्यदौचित्यं संघटनां नियच्छति। यतः काव्यस्य प्रभेदा मुक्तकं संस्कृत-प्राकृतापभ्रंशनिबद्धम्। संदानितक-विशेषक-कलापक-कुलकानि। पर्यायबन्धः, परिकथा, खण्डकथासकलकथे, सर्गबन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिका-कथे इत्येवमादयः। तदाश्रयेणापि संघटना विशेषवती भवति।

(ध्वन्यालोक : तृतीय उद्योत)

जिसे लोचनकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'विषयाश्रयमिति—विषयशब्देन संघातविशेष उक्तः। यथा हि सेनाद्यात्मकसंघात-निवेशी पुरुषः कातरोऽपि तदौचित्यादनुगुणतयैवास्ते तथा काव्यवाक्यमपि घातविशे-षात्मकसन्दानितकादिमध्यनिविष्टं तदौचित्येन वर्तते। अपिशब्देनेदमाह—सत्यपि वक्तृवाच्यौचित्ये विषयौचित्यं केवलं तारतम्यभेदमात्रन्यासम्, न तु विषयौचित्येन वक्तृवाच्यौचित्यं निवार्यत इति।' (ध्वन्यालोकलोचन : तृतीय उद्योत)

साहित्यदर्पण नवाँ परिच्छेद समाप्त



दशमः परिच्छेदः

(काव्य में अलङ्कार-तत्त्व : स्वरूप और उपयोगिता)

अथावसरप्राप्तानलङ्कारानाह—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ १ ॥

यथा अङ्गदादयः शरीरशोभातिशायिनः शरीरिणमुपकुर्वन्ति, तथानुप्रासोपमादयः शब्दार्थशोभातिशायिनो रसादेरुपकारकाः। अलङ्कारा अस्थिरा इति नैषां गुणवदावश्यकी स्थितिः।

अनुवाद—अब (काव्य के दोष, गुण और रीति-तत्त्व के निरूपण के वाद) जो अवशिष्ट काव्य-तत्त्व हैं अर्थात् 'अलङ्कार', उनका निरूपण किया जा रहा है—

'अलङ्कार' शब्द और अर्थ के उन अस्थिर धर्मों को कहा करते हैं जो (मानव के शरीर की शोभा के बढ़ानेवाले) 'अङ्गद' (बाजूबन्द) आदि अलङ्कारों की भाँति (काव्य के शरीरभूत) शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाया करते हैं और (अन्ततोगत्वा) (काव्य के आत्मभूत) रस-भाव के अभिव्यञ्जन में सहायक हुआ करते हैं।

तात्पर्य यह है कि जैसे अङ्गद (बाजूबन्द) आदि आभूषण मनुष्य-शरीर के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करते हुए मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रकाशन में सहायता पहुँचाया करते हैं वैसे ही 'अनुप्रास' और 'उपमा' आदि 'अलङ्कार' (काव्य के शरीरभूत) शब्द और अर्थ के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करते हुए (काव्य के आत्मतत्त्व) रस-भाव के प्रकाशन में सहायता पहुँचाया करते हैं। अलङ्कारों को 'शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म' कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य में इनकी स्थिति गुणों की भाँति आवश्यक अथवा अनिवार्य नहीं हुआ करती।

विमर्श—ध्वनिवादी आलङ्कारिक अलङ्कारों को काव्य के 'अस्थिर धर्म' के रूप में मानते हैं। इस मान्यता की मूल भावना ध्वनिकार की यह उक्ति है—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन। काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्। रूपकादेरलङ्कारवर्जस्याङ्गत्वसाधनम् ॥'
(ध्वन्यालोक २. १८–१९)

जिसमें यह स्पष्ट है कि रसरूप अङ्गी की दृष्टि से ही अलङ्कारों का ग्रहण-परित्याग, निर्वाह-अनिर्वाह आदि संभव हैं। और अलङ्कारों का ग्रहण-परित्याग इस बात का प्रमाण है कि अलङ्कार काव्य के अस्थिर धर्म अथवा आगमापायी वैशिष्ट्य हैं।

काव्य में अलङ्कारों की उपयोगिता काव्य के वाच्यवाचक-रूप अङ्गों की शोभावर्धकता के ही कारण है जैसा कि लोचनकार ने स्पष्ट कहा है—

'वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनः (अवलम्बन्ते) तदाश्रितास्तेऽलङ्काराः मन्तव्याः कटकादिवत्।' (ध्वन्यालोकलोचन २.६)

यही बात काव्यप्रकाशकार की इस उक्ति का भी रहस्य है—

'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्। हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥'

(शब्दालङ्कार : १ पुनरुक्तवदाभास)

शब्दार्थयोः प्रथमं शब्दस्य बुद्धिविषयत्वाच्छब्दालङ्कारेषु वक्तव्येषु शब्दार्थालङ्कारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य चिरन्तनैः शब्दालङ्कारमध्ये लक्षितत्वात्प्रथमं तमेवाह—

आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येन भासनम् ।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः ॥ २ ॥

उदाहरणम्—

'भुजङ्गकुण्डली व्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगुः ।
जगन्त्यपि सदापायादव्याच्चेतोहरः शिवः ॥'

अत्र भुजङ्गकुण्डल्यादिशब्दानामापातमात्रेण सर्पाद्यर्थतया पौनरुक्त्यप्रतिभासनम् । पर्यवसाने तु भुजङ्गरूपं कुण्डलं विद्यते यस्येत्याद्यन्यार्थत्वम् । 'पायादव्यात्' इत्यत्र क्रियागतोऽयमलङ्कारः, 'पायात्' इत्यस्य 'अपायात्' इत्यत्र पर्यवसानात् ।

'ये वाच्य-वाचकलक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यरसं संभविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽप्युपकारका हारादय इवालङ्काराः। यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः । क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति ।' (काव्यप्रकाश : ८.६७)

साहित्यदर्पणकार को यह 'अलङ्कारवाद' सर्वथा मान्य है किन्तु 'उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः'(साहित्यदर्पण १.३) आदि उक्ति में, एक सांस में ही, 'गुण' के साथ 'अलङ्कारों' का रसविषयक उत्कर्ष-योग , यदि न बताया गया होता तो क्या ही अच्छा होता !

अनुवाद—यद्यपि यहाँ पहले शब्दालङ्कारों का ही विवेचन उचित है क्योंकि शब्द और अर्थरूप युगल तत्त्व में शब्द की ही उपस्थिति पहले हुआ करती है किन्तु यहाँ सर्वप्रथम शब्द और अर्थ—दोनों के अलङ्कार 'पुनरुक्तवदाभास' का निरूपण इसलिये किया जा रहा है क्योंकि प्राचीन आलङ्कारिक इसे शब्दालङ्कारमें ही अन्तर्भूत मान चुके हैं।

'पुनरुक्तवदाभास'—

'पुनरुक्तवदाभास' वह अलङ्कार है जिसमें अर्थ (वस्तुतः तो नहीं किन्तु) आपाततः पुनरुक्तवत् प्रतीत हुआ करता है और शब्द भिन्न आकार अथवा स्वरूप के हुआ करते हैं।

जैसे कि—'भुजङ्गकुण्डली' कान में कुण्डलरूप में सर्पों को धारण करनेवाले, 'व्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगुः' (मस्तक पर) स्पष्टतया दृष्टिगत 'शशि' अथवा कलङ्क-चिह्न से युक्त किंवा शुभ्र किरणोंवाले 'शीतगु' अथवा चन्द्रमा से विभूषित 'चेतोहरः शिवः' वे भक्तभावन भगवान् शङ्कर 'जगन्त्यपि सदापायादव्यात्' इस संसार को सदा 'अपाय' अथवा विघ्न-बाधा से बचाते रहा करें ।'

यहाँ 'पुनरुक्तवदाभास' है क्योंकि आपाततः 'भुजङ्गकुण्डली' और 'शशि-शुभ्रांशु-शीतगु' आदि शब्द सर्प अथवा चन्द्र आदि रूप अर्थ के ही अभिधायक होने से पुनरुक्त से प्रतीत हो रहे हैं। यह तो अन्त में होता है कि इन शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ जैसे कि 'भुजङ्गकुण्डली' आदि के 'भुजङ्गरूपं कुण्डलं विद्यते यस्य' (भुजङ्गरूप कुण्डलधारी) आदि अर्थ स्पष्ट हो पाते हैं। यहाँ 'पायादव्यात्' में क्रियाबोधक शब्दों के आपाततः

'भुजङ्गकुण्डली' इति शब्दयोः प्रथमस्यैव परिवृत्तिसहत्वम्। 'हरः शिवः' इति द्वितीयस्यैव। 'शशिशुभ्रांशु' इति द्वयोरपि। 'भाति सदानत्यागः' इति न द्वयोरपि। इति शब्दपरिवृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यामस्योभयालङ्कारत्वम्।

(२—अनुप्रास : भेद-प्रभेद-निर्देश)

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।

स्वरमात्रसादृश्यं तु वैचित्र्याभावान्न गणितम्। रसाद्यनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यासोऽनुप्रासः।

(प्रथम भेद : छेकानुप्रास)

छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा ॥ ३ ॥

पौनरुक्त्य में भी यही अलङ्कार दिखायी देता है क्योंकि अन्त में 'सदापायादव्यात्' का अभिप्राय 'सदाऽपायात् विघ्नात् अव्यात्' निकल पड़ता है।

यहाँ 'भुजङ्गकुण्डली' इन दो शब्दों में पहला अर्थात् 'भुजङ्ग' शब्द ही परिवृत्तिसह शब्द है (अर्थात् इसे बदल देने पर भी इस अलङ्कार में कोई क्षति नहीं हो सकती) और 'हरः शिवः' में दूसरा अर्थात् 'शिव' शब्द ही बदला जा सकता है (किन्तु तब भी यह अलङ्कार अक्षुण्ण ही रहेगा)।

काव्यप्रकाशकार द्वारा उदाहृत इस सूक्ति अर्थात्—

'अरिवधदेहशरीरः सहसारथिसूततुरगपादातः।
भाति सदानत्यागः स्थिरतायामवनितलतिलकः॥'

में 'भाति सदानत्यागः' में दान और त्याग—दोनों शब्द ऐसे हैं जिनका पर्याय द्वारा परिवर्तन नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने से यहाँ इस अलङ्कार के ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाने का डर है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह अलङ्कार शब्द और अर्थ—दोनों का अलङ्कार है—शब्द का अलङ्कार इसलिये क्योंकि कहीं शब्द की परिवृत्ति में यह अलङ्कार नष्ट हो जाता है और अर्थ का अलङ्कार इसलिये क्योंकि कहीं शब्द की परिवृत्ति से भी इस अलङ्कार का स्वरूप नहीं बिगड़ता (जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट ही है)।

विमर्श—'पुनरुक्तवदाभास' से शब्दालङ्कार-वर्णन के प्रारम्भ की परिपाटी प्राचीन है। साहित्यदर्पणकार ने भी प्राचीन आलङ्कारिकों की परम्परा का अनुसरण किया है। यहाँ भी 'काव्यप्रकाशकार' की एक प्रकार से आलोचना ही की गयी है।

अनुवाद—'अनुप्रास' वह शब्दालङ्कार है जिसे स्वर के वैसादृश्य में भी, शब्द अथवा व्यञ्जन का सादृश्य कहा गया है।

स्वरमात्र के सादृश्य में 'अनुप्रास' इसलिये नहीं माना जाया करता क्योंकि स्वर-सादृश्य में कोई विचित्रता नहीं प्रतीत हुआ करती। 'अनुप्रास' को इसलिये अनुप्रास कहा करते हैं क्योंकि यह रसभावादि के अनुकूल एक 'प्रकृष्ट' अथवा चमत्कारपूर्ण शब्द-न्यास (अनु+प्र+आस) अथवा शब्दावृत्तिरूप अलङ्कार हुआ करता है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'शब्दसाम्य' को अनुप्रास की रूपरेखा कहा है जब कि काव्य-प्रकाशकार के अनुसार अनुप्रास का अभिप्राय 'वर्णसाम्य' है—**वर्णसाम्यमनुप्रासः।**

(काव्यप्रकाश ९म उल्लास)

अनुवाद—अनुप्रास का प्रथम भेद अर्थात् 'छेकानुप्रास' वह है जिसे व्यञ्जन-समुदाय के सकृत् अथवा एक बार होनेवाले अनेक प्रकार के साम्य में देखा जाया करता है।

छेकश्छेकानुप्रासः। अनेकधेति स्वरूपतः क्रमतश्च। रसः सर इत्यादेः क्रमभेदेन सादृश्यं नास्यालङ्कारस्य विषयः।

उदाहरणं मम तातपादानाम्—

'आदाय बकुलगन्धानन्धीकुर्वन् पदे पदे भ्रमरान्।
अयमेति मन्दमन्दं कावेरीवारिपावनः पवनः॥'

अत्र गन्धानन्धीतिसंयुक्तयोः, कावेरीवारीत्यसंयुक्तयोः, पावनः पवन इति व्यञ्जनानां बहूनां सकृदावृत्तिः। छेको विदग्धस्तत्प्रयोज्यत्वादेष छेकानुप्रासः।

(२य भेद : वृत्त्यनुप्रास)

अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाप्यनेकधा।

एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते॥ ४॥

एकधा स्वरूपत एव, न तु क्रमतोऽपि। अनेकधा स्वरूपतः क्रमतश्च। सकृदपीत्यपि शब्दादसकृदपि।

उदाहरणम्—

'उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताङ्कुर-
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलकलैरुद्गीर्णकर्णज्वराः।

यहां कारिका में 'छेकः' का अभिप्राय छेकानुप्रास का अभिप्राय है, 'अनेकधा' (साम्य) का तात्पर्य स्वरूपतः साम्य और क्रमतः साम्य का तात्पर्य है। यहाँ यह ध्यान रखना उचित है कि 'रसः सरः' आदि पदों में, क्रमभेद से जो व्यञ्जनसादृश्य है, उसमें 'छेकानुप्रास' की कोई संभावना नहीं।

जैसे कि मेरे पूज्य पितृचरण की इस सूक्ति का 'छेकानुप्रास'—

'कावेरी के जल-संस्पर्श से पावन पवन मन्द-मन्द गति से चल रही है और वकुल की सुरभि से सुरभित बना, पग-पग पर भ्रमरों को मस्त बना रहा है।'

यहाँ 'गन्धानन्धीकुर्वन्' में संयुक्त 'न्ध्' 'कावेरीवारि' में असंयुक्त 'वार' और 'पावनः पवनः' में अनेक असंयुक्त व्यञ्जनों (प-व-न) की जो एक वार आवृत्ति है, उसमें 'छेक' अथवा विदग्ध कवि द्वारा प्रयुक्त इस अनुप्रास अर्थात् 'छेकानुप्रास' की छटा वस्तुतः दर्शनीय है।

अनुवाद—द्वितीय अनुप्रास-भेद अर्थात् वृत्त्यनुप्रास वह शब्दालङ्कार है जिसे अनेक व्यञ्जनों की एक प्रकार की (अर्थात् स्वरूपतः) समानता अथवा अनेक व्यञ्जनों की अनेक वार (स्वरूपतः और क्रमतः) आवृत्ति या एक वर्ण की एक वार किंवा अनेक वार आवृत्ति कहा करते हैं।

यहाँ कारिका में 'एकधा' (साम्य) का तात्पर्य केवल 'स्वरूपतः' (साम्य) का तात्पर्य है क्रमतः (साम्य) का नहीं। 'अनेकधा' (साम्य) का अभिप्राय स्वरूप और क्रम—दोनों प्रकार के साम्य का अभिप्राय है और 'सकृदपि' में 'अपि' शब्द के प्रयोग से 'असकृत्' (अनेक वार) का भी अर्थ संगृहीत किया गया है।

उदाहरण के लिये—

'वसन्त ऋतु के ये दिन, जो कि प्रचुर मात्रा में समुद्भूत पुष्परस के सौरभ से मस्त मधुपों द्वारा कम्पित आम्रमञ्जरियों के आस्वाद में लीन कोकिलकुल की काकली की

नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण-
प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासराः ॥'

अत्र 'रसोल्लासैरमी' इति रसयोरेकधैव साम्यम्, न तु तेनैव क्रमेणापि द्वितीये पादे, कलयोरसकृत्तेनैव क्रमेण च। प्रथमे एकस्य मकारस्य सकृत्, धकारस्य चासकृत्। रसविषयव्यापारवती वर्णरचना वृत्तिः, तदनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यसनाद् वृत्त्यनुप्रासः।

(३ य भेद : श्रुत्यनुप्रास)

उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके।
सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ॥ ५ ॥

उदाहरणम्—

'दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः ॥'

अत्र जीवयन्ति' इति, 'याः' इति, 'जयिनी' इति। `अत्र जकारयकारयोरेकत्र स्थाने तालावुच्चार्यत्वात्सादृश्यम्। एवं दन्त्यकण्ठ्यानामप्युदाहार्यम्। एष च सहृदयानामतीव श्रुतिसुखावहत्वाच्छ्रुत्यनुप्रासः।

कलध्वनि से विरहिओं के कानों को दुःखित कर रहे हैं, वस्तुतः उन वियोगिओं के लिये, जिन्हें प्रियाचिन्तन के समय प्रियामिलन का परमानन्द मिलने लगता है, बड़े कष्टकर प्रतीत हो रहे हैं।

यहाँ 'रसोल्लासैरमी' में 'र-स' का एक प्रकार का ही अर्थात् स्वरूपतः ही साम्य दिखायी देता है क्रमतः नहीं। इसके दूसरे चरण में 'क-ल' की, अनेक वार, स्वरूपतः किंवा क्रमशः—दोनों प्रकार की समानता है। साथ ही साथ प्रथम चरण में 'म' की एक बार और 'ध' की अनेक वार आवृत्ति स्पष्ट है। इस प्रकार इस सूक्ति में वृत्त्यनुप्रास का सौन्दर्य स्पष्ट दिखायी दे रहा है। इस अनुप्रासभेद के वृत्त्यनुप्रास कहे जाने का यह अभिप्राय है—'वृत्ति' एक ऐसी रचना है जिसमें रसाभिव्यञ्जन का सामर्थ्य रहा करता है और इस 'वृत्ति' के अनुकूल वर्णों का जो प्रकृष्ट न्यास है वह 'वृत्त्यनुप्रास' है।

अनुवाद—'श्रुत्यनुप्रास' वह अनुप्रासभेद है जिसे तालु, दन्त आदि स्थानों में से किसी एक स्थान में उच्चरित व्यञ्जनों का सादृश्य कहा जाया करता है। उदाहरण के लिये—

'उन वामलोचनाओं (सुन्दर नयनोंवाली रमणिओं) को नमस्कार है जो कि दग्ध काम को दृष्टि से ही पुनरुज्जीवित किया करती हैं और इस प्रकार विरूपाक्ष भगवान् शिव को भी जीतनेवाली हैं।'

यहाँ 'श्रुत्यनुप्रास' स्पष्ट है क्योंकि 'जीवयन्ति', 'याः' और 'जयिनीः' में ऐसे 'ज' और 'य' वर्णों का सादृश्य है जो कि तालु-स्थानीय हैं।

इसी प्रकार दन्तस्थानीय, कण्ठस्थानीय आदि वर्णों के सादृश्य में श्रुत्यनुप्रास के स्वरूप स्वयं देखे जा सकते हैं।

इस अनुप्रास-प्रकार को इसलिये 'श्रुत्यनुप्रास' कहा जाया करता है क्योंकि समान स्थानीय वर्णों का सादृश्य सहृदयों को बड़ा श्रुतिसुखावह (कर्ण-प्रिय) लगा करता है।

(४र्थ भेद : अन्त्यानुप्रास)

व्यञ्जनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु ।
आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत् ॥ ६ ॥

यथावस्थमिति यथासम्भवमनुस्वारविसर्गस्वरयुक्ताक्षरविशिष्टम् । एष च प्रायेण पादस्य पदस्य चान्ते प्रयोज्यः ।

पादान्तगो यथा मम—

'केशः काशस्तबकविकासः कायः प्रकटितकरभविलासः ।
चक्षुर्दग्धवराटककल्पं त्यजति न चेतः काममनल्पम् ॥'

'मन्दं हसन्तः पुलकं वहन्तः' इत्यादि ।

विमर्श—काव्यप्रकाश में 'श्रुत्यनुप्रास' की कोई चर्चा नहीं। कविराज विश्वनाथ ने संभवतः सरस्वतीकण्ठाभरणकार के प्रभाव में पड़कर, इसकी चर्चा की है। सरस्वतीकण्ठाभरणकार के अनुसार 'श्रुत्यनुप्रास' सर्वश्रेष्ठ अनुप्रास है:—

'प्रायेण श्रुत्यनुप्रासस्तेष्वनुप्रासनायकः। सनाथैव हि वैदर्भी भाति तेन विचित्रिता ॥
निवेशयति वाग्देवी प्रतिभानवतः कवेः। पुण्यैरमुमनुप्रासं ससमाधिनि चेतसि ॥

(सरस्वतीकण्ठाभरण २. ७२–७३)

अर्थात् अनुप्रास-प्रकारों में सर्वोत्तम जो अनुप्रास है वह 'श्रुत्यनुप्रास' है। यह अनुप्रास प्रतिभाशाली कवि की मनःसमाधि का परिणाम है। यही वह अनुप्रास है जिसे 'वैदर्भी' की रूपरेखा का निष्पादक कहा जा सकता है।

सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने इस अनुप्रास-प्रकार के अनेकानेक अवान्तर प्रभेदों का निर्देश किया है जिनमें मसृण, वर्णमसृग, वर्णोत्कट, वर्णानुत्कट आदि-आदि मुख्य हैं।

निम्न पंक्तिओं में इस अनुप्रास-प्रकार की महिमा गायी हुई है—

'यथा ज्योत्स्ना चन्द्रमसं यथा लावण्यमङ्गनाम् । अनुप्रासस्तथा काव्यमलङ्कर्त्तुमयं क्षमः ॥
अनुप्रासः कविगिरां पदवर्णमयोऽपि यः। सोऽप्यनेन स्तबकितः श्रियं कामपि पुष्यति ॥'

(सरस्वतीकण्ठाभरण २. ७६–७७)

अनुवाद—चतुर्थ अनुप्रास-भेद अर्थात् अन्त्यानुप्रास वह है जिसे प्रथम स्वर के साथ यथावस्थ व्यञ्जन की ऐसी आवृत्ति में देखा जाया करता है जोकि पद अथवा पाद के अन्त में पड़ा करती है।

यहाँ कारिका में 'यथावस्थम्' का अभिप्राय अनुस्वार, विसर्ग किंवा स्वरयुक्त अक्षर के यथासंभव पूर्ववत् रहने का अभिप्राय है। यह अन्त्यानुप्रास प्रायः पाद के अन्त में अथवा जहाँ-तहाँ पद के अन्त में भी प्रयुक्त हुआ करता है।

उदाहरण के लिये पादान्तवर्ती अन्त्यानुप्रास, जोकि मेरी इस स्वरचित सूक्ति अर्थात्—'केश हैं कास के फूल सरीखे श्वेत, काय है करभ अथवा ऊँट के समान बेढंगा और आँखें हैं जली कौड़ी की भाँति निस्तेज! किन्तु मन अभी भी विषय–तृष्णा में रम रहा है।'

अथवा

'मन्दं हसन्तः पुलकं वहन्तः' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में स्पष्ट है।

विमर्श—'अन्त्यानुप्रास' की मान्यता में, विश्वनाथ कविराज ने समसामयिक वंगदेशी-

(५ म भेद : लाटानुप्रास)

शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः ।
लाटानुप्रास इत्युक्तो—

उदाहरणम्—

स्मेरराजीवनयने नयने किं निमीलिते ।
पश्य निर्जितकन्दर्पं कन्दर्पवशगं प्रियम् ॥

अत्र विभक्त्यर्थस्य पौनरुक्त्येऽपि मुख्यतरस्य प्रातिपदिकांशद्योत्यधर्मिरूपस्य भिन्नार्थत्वाल्लाटानुप्रासत्वमेव ।

'नयने तस्यैव नयने च ।'

अत्र द्वितीयनयनशब्दो भाग्यवत्त्वादिगुणविशिष्टत्वरूपतात्पर्यमात्रेण भिन्नार्थः ।

यथा वा—

'यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥'

संस्कृत कवियों की रचनाओं के माधुर्य का विश्लेषण किया है।। पीयूषवर्ष जयदेव-कृत 'चन्द्रालोक' में एक अनुप्रास-प्रकार को 'स्फुटानुप्रास' कहा गया है—
'श्लोकस्याद्ये तदर्धे वा वर्णावृत्तिर्यदि ध्रुवा । तदा मता मतिमतां स्फुटानुप्रासता सताम् ॥'
अर्थात् श्लोक के पूर्वार्द्ध के अन्त में आनेवाले वर्ण की, श्लोक के उत्तरार्थ के अन्त में, आवृत्ति का नाम 'स्फुटानुप्रास' है किन्तु, विश्वनाथ कविराज का 'अन्त्यानुप्रास' और पीयूषवर्ष जयदेव का 'स्फुटानुप्रास' वस्तुतः एक हीं अनुप्रास-भेद के दो नाम हैं ।

अनुवाद—'लाटानुप्रास' वह अनुप्रासभेद है जिसे ऐसे शब्दों और अर्थों की आवृत्ति कहा करते हैं जोकि केवल तात्पर्यतः भिन्न हुआ करते हैं । उदाहरण के लिये—

'अरी 'स्मेरराजीवनयने' (खिले कमल सरीखे नेत्रोंवाली) ! 'नयने किं निमीलिते'—(तूने अपने नेत्र क्यों बन्द कर लिये हैं ?) देख, अपने 'निर्जितकन्दर्प' (काम को भी सौंदर्य में परास्त करनेवाले) 'कन्दर्पवशग' ('काम के वशीभूत) प्रियतम को तो देख !'

यहाँ विभक्त्यर्थ की आवृत्ति के न होने पर भी, प्रातिपदिक रूप अंशों जैसे कि 'नयन-नयन', 'कन्दर्प-कन्दर्प' आदि की आवृत्ति स्पष्ट है और यह भी स्पष्ट है कि प्रातिपदिक रूप अंशों द्वारा बोध्य प्रधानभूत धर्मीरूप (नेत्र और काम) अर्थ अभिन्न है (तथा तात्पर्यतः भिन्न भी है) इस प्रकार यहाँ 'लाटानुप्रास' स्पष्ट है ।

अथवा

जैसे कि—'नयने तस्यैव नयने च' (वस्तुतः उसी की आँखें आँखें हैं) ।

यहाँ 'नयने-नयने' में विभक्त्यर्थ भी आवृत्त है और दूसरा नयन शब्द तात्पर्यतः भिन्न अर्थ का भी उपस्थापक है क्योंकि इसमें भाग्यशीलता आदि गुणों की विशेषता का अभिप्राय निगूढ है । इस प्रकार यह 'लाटानुप्रास' का एक सर्वांग समीचीन उदाहरण है ।

अथवा

जैसे कि—'जिसके पास प्रेमिका नहीं उसके लिये तुहिनदीधिति (चन्द्रमा) भी

अत्रानेकपदानां पौनरुक्त्यम्। एष च प्रायेण लाटजनप्रियत्वाल्लाटानुप्रासः।

—ऽनुप्रासः पञ्चधा ततः ॥ ७ ॥

स्पष्टम्।

(३—यमक)

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥ ८ ॥

अत्र द्वयोरपि पदयोः क्वचित्सार्थकत्वं क्वचिन्निरर्थकत्वम्। क्वचिदेकस्य सार्थकत्वमपरस्य निरर्थकत्वम्। अत उक्तम्—'सत्यर्थे' इति। 'तेनैव क्रमेण' इति दमो मोद इत्यादेर्विविक्तविषयत्वं सूचितम्। एतच्च पादपादार्द्धश्लोकावृत्तित्वेन पादावृत्तेश्चानेकविधतया प्रभूततमभेदम्।

दवदहन (दावाग्नि) है और जिसके पास प्रेमिका है उसके लिये दवदहन (दावानल) भी तुहिनदीधिति (चन्द्रमा) है।'

यहाँ अनेक पदों की आवृत्ति का सौन्दर्य दर्शनीय है जिससे यहाँ का 'लाटानुप्रास' बड़ा मनोरम बन रहा है। यह अनुप्रासभेद इसलिये 'लाटानुप्रास' कहा जाया करता है क्योंकि लाटदेश के कविजनों का यह बड़ा प्रिय अनुप्रास है।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अनुप्रास पाँच प्रकार का हुआ करता है (अर्थात् १. छेकानुप्रास, २. वृत्त्यनुप्रास, ३. श्रुत्यनुप्रास, ४. अन्त्यानुप्रास और ५. लाटानुप्रास)।

यह कारिकांश स्वयं स्पष्ट है।

विमर्श—लाटानुप्रास वह अनुप्रासप्रकार है जिसे 'लाटजनवल्लभ' अर्थात् लाटप्रान्त के कवियों और रसिकों का परमप्रिय अनुप्रास कहा गया है। प्राचीन आलंकारिकों ने इसके भी अनेकानेक भेद-प्रभेद बताये हैं। सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने इसके प्रकार-षट्क का निरूपण किया है—

'स चाव्यवहितो व्यस्तः समस्त उभयः पुनः।
उभयं चक्रवालं च गर्भश्चैवाभिधीयते ॥'

(सरस्वतीकण्ठाभरण २०. १०२)

और इसकी अवान्तर जातियों को यमक-जातियों की भाँति प्रचुर संख्यावाली बताया है—

'यमकानां हि यावन्त्यो वर्ण्यन्ते भेदभक्तयः।
अनुप्रासस्य लाटानां भिदास्तावन्त्य एव हि ॥'

(सरस्वतीकण्ठाभरण २. १०५)

अनुवाद—'यमक' यह शब्दालंकार है जिसे, सार्थक होने पर भिन्न अर्थवाले स्वर-व्यंजन-समूह की पूर्वक्रमानुसार आवृत्ति कहा करते हैं।

यहाँ कारिका में 'सत्यर्थे' (अर्थे सति, सार्थक होने पर) इसलिये कहा गया है क्योंकि 'यमक' में ऐसा होता है कि कहीं-कहीं तो दोनों पद सार्थक हुआ करते हैं और कहीं-कहीं दोनों निरर्थक और कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ करता है कि एक पद तो सार्थक रहा करता है और दूसरा निरर्थक। 'तेनैव क्रमेण' (पूर्वक्रमानुसार) कहने का यह अभिप्राय है कि दमो मोदः' सरीखे स्वर-व्यंजन-समूह की आवृत्ति को 'यमक' न समझा जाय क्योंकि

(पदावृत्तिरूप यमक)

दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

'नवपलाश-पलाशवनं पुरः स्फुटपराग-परागत-पङ्कजम् ।
मृदुल तान्त-लतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥'

अत्र पदावृत्तिः । 'पलाशपलाश' इति 'सुरभिं सुरभिम्' इत्यत्र च द्वयोः सार्थकत्वम् । 'लतान्तलतान्त' इत्यत्र प्रथमस्य निरर्थकत्वम् । 'परागपराग' इत्यत्र द्वितीयस्य । एवमन्यत्राऽप्युदाहार्यम् ।

'यमकादौ भवेदैक्यं डलोर्बवोर्लरोस्तथा ।'

इत्युक्तनयात् 'भुजलतां जडतामबलाजनः' इत्यत्र न यमकत्वहानिः ।

यहाँ 'द' और 'म' रूप स्वर-व्यंजन-समूह का क्रम उलटा हुआ दिखायी दे रहा है । 'यमक' की भेदसंख्या अतिप्रचुर है क्योंकि पादावृत्ति, पादार्धावृत्ति, श्लोकावृत्ति आदि-आदि प्रकार की आवृत्तियाँ 'यमक' की ही विविध रूपरेखायें हैं और इनमें भी प्रत्येक के अनेकानेक प्रकार (जैसे कि पाद के आद्यभाग की आवृत्ति, मध्यभाग की आवृत्ति और अन्त्यभाग की आवृत्ति आदि-आदि) संभव हैं (जोकि काव्य-साहित्य में उपलब्ध भी हुआ करते हैं) ।

दिग्दर्शनमात्र के लिये उदाहरण :—

'श्रीकृष्ण ने 'सुमनोभरैः सुरभिं सुरभिम्' फूलों से सुरभित उस 'सुरभि' अर्थात् वसन्त समय का दर्शन किया जो 'नवपलाशपलाशवनम्' नये-नये पलाशों अर्थात् किसलयों से लहलहाते पलाशवन के सौन्दर्य से समृद्ध, 'स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्'—खिले हुए और पराग अर्थात् पुष्परज से परागत अथवा व्याप्त कमलों की मोहकता से मधुर और 'मृदुलतान्तलतान्तम्'—मृदुल अर्थात् सुकुमार किंवा तान्त अथवा आतप से संतप्त लताओं की कोमलता से रमणीय लग रहा था ।'

यहाँ जो 'यमक' है वह 'पदावृत्ति'प्रकार का है क्योंकि 'पलाश', 'पराग', 'मृदुल' आदि पदों की आवृत्ति स्पष्ट दिखाई दे रही है ।

यहाँ 'पलाश-पलाश', 'सुरभिं-सुरभिम्' ये दोनों पद ऐसे हैं जो सार्थक हैं । किन्तु 'लतान्त-लतान्त'—में पहला 'लतान्त' निरर्थक है [क्योंकि यहाँ जो पद है वह 'लतान्त' नहीं अपितु 'मृदुल'–'तान्त' है) । इसी प्रकार 'पराग-पराग' में दूसरा जो 'पराग' पद है वह कोई अर्थ नहीं रखता (क्योंकि यहाँ पद 'पराग' नहीं अपितु 'परागत' है) ।

इसी भाँति 'पादावृत्ति' आदि यमक-प्रकारों में सार्थक अथवा निरर्थक स्वर-व्यंजन-समुदाय की आवृत्ति के उदाहरण स्वयं ढूँढ़ लिये जा सकते हैं ।

'यमक में 'ड' और 'ल', 'ब' और 'व' किंवा 'र' और 'ल' वर्णों में कोई भेद नहीं माना जाया करता'—यह एक सर्वमान्य आलंकारिक सिद्धान्त है । इसलिये 'भुजलतां जडतामबलाजनः' आदि प्रसंगों में यमक-बन्ध में कोई क्षति नहीं मानी जाती ।

विमर्श—यमक का अवान्तर जातियों की संख्या के संबंध में सरस्वतीकण्ठाभरणकार का यह कथन है—

'चतुस्त्रिद्व्येकपादेषु यमकानां विकल्पनाः ।
आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्यन्ताश्च सर्वतः ॥

(४—वक्रोक्ति)

अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि ।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥ ९ ॥

द्विधेति श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्च । क्रमेणोदाहरणम्—

(श्लेषवक्रोक्ति : सभङ्ग और अभङ्ग श्लेषवक्रोक्ति)

'के यूयं स्थल एव सम्प्रति वयं प्रश्नो विशेषाश्रयः
किं ब्रूते विहगः स वा फणिपतिर्यत्रास्ति सुप्तो हरिः ।
वामा यूयमहो विडम्बरसिकः कीदृक् स्मरो वर्तते
येनास्मासु विवेकशून्यमनसः पुंस्वेव योषिद्भ्रमः ॥'

अत्र विशेषपदस्य 'विः पक्षी', 'शेषो नागः' इत्यर्थद्वययोग्यत्वात् सभङ्ग-श्लेषः । अन्यत्र त्वभङ्गः ।

(काकुवक्रोक्ति)

'काले कोकिलवाचाले सहकारमनोहरे ।
कृतागसः परित्यागात्तस्याश्चेतो न दूयते ॥'

अत्यन्तबहवस्तेषां भेदाः संभेदयोनयः ।
सुकरा दुष्कराश्चैव दर्श्यन्ते तत्र केचन ॥'

(सरस्वतीकण्ठाभरण २. ६१-६२)

अनुवाद— 'वक्रोक्ति' वह शब्दालङ्कार है जहाँ 'श्लेष' के कारण अथवा 'काकु' (ध्वनि-विकार) के कारण, किसी के अन्यार्थक वाक्य को किसी अन्य अर्थ में लगा लिया जाया करना है । 'श्लेष' के कारण ऐसा होने से 'श्लेष-वक्रोक्ति' और 'काकु' के कारण ऐसा होने से 'काकु-वक्रोक्ति' इस प्रकार वक्रोक्ति के दो प्रकार हुआ करते हैं ।

यहाँ कारिका में 'द्विधा' (दो प्रकार की) कहने का अभिप्राय 'श्लेषवक्रोक्ति' और 'काकुवक्रोक्ति' रूप से वक्रोक्ति के दो प्रकारों के संग्रह का अभिप्राय है ।

क्रमशः उदाहरण—

(वक्ता-) के 'यूयम्'—कौन हैं आप लोग ? (श्रोता-) 'स्थल एव संप्रति वयम्'—हम लोग तो अभी सूखी जमीन पर हैं ('के' का अर्थ (जलपर) लिया गया है जिसके प्रत्युत्तर में 'स्थले' (स्थल पर) कहा गया है) । (वक्ता–) 'प्रश्नो विशेषाश्रयः'–हम तो आप लोगों के बारे में जानना चाहते हैं (श्रोता–) क्या आप ने किसी 'पक्षिविशेष' के बारे में पूछा या 'फणिराज' शेषनाग के बारे में–साफ बताइये ? (यहाँ 'वि+शेष' का भंग कर पक्षी और शेषनाग अर्थ लिया गया है) । (वक्ता-) आप भी बड़े टेढ़े हैं ! (श्रोता-) अरे ! आप कम नहीं, आप भी बड़े ठग हैं, अरे, कहाँ से ऐसा प्रेम आप के गले लग गया जिससे हम पुरुषों में, आप को, स्त्री का भ्रम होने लगा ? (यहाँ 'वामा' का अर्थ 'स्त्री' लिया गया है ।)

यहाँ 'विशेष' पद में 'वि=पक्षी और शेष=शेषनाग' ये दो अर्थ हैं जिससे यहाँ जो 'श्लेष' है वह सभङ्ग श्लेष है । किन्तु अन्यत्र (जैसे कि 'के' आदि में) अभङ्ग श्लेष है । इस प्रकार यहाँ 'द्विविध श्लेषवक्रोक्ति' स्पष्ट है ।

'कोकिल की कूक से मधुर और आम्रमञ्जरी से मनोहर इस वसन्त में, अपराधी प्रेमी के परित्याग से उस सुन्दरी का हृदय दुःखित नहीं होता ।'

अथ कयाचित्सख्या निषेधार्थे नियुक्तो नञ् अन्यथा काक्वा दूयत एवेति विध्यर्थे घटितः।

(५—भाषासमक)

शब्दैरेकविधैरेव भाषासु विविधास्वपि।
वाक्यं यत्र भवेत्सोऽयं भाषासम इतीष्यते॥ १०॥

यथा मम—

'मञ्जुलमणिमञ्जीरे कलगम्भीरे विहारसरसीतीरे।
विरसासि केलिकीरे किमालि! धीरे च गन्धसारसमीरे!॥'

एष श्लोकः संस्कृत-प्राकृत-शौरसेनी-प्राच्यावन्तीनागरापभ्रंशेष्वेकविध एव।

'सरसं कइण कव्वम्।'

इत्यादौ तु 'सरसम्' इत्यत्र संस्कृतप्राकृतयोः साम्येऽपि वाक्यगतत्वाभावे वैचित्र्याभावान्नायमलङ्कारः।

(६—श्लेष)

श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते।

यहाँ 'काकुवक्रोक्ति' इसलिये है क्योंकि 'न दूयते' का निषेधार्थक नञ्, विदग्ध सखी द्वारा, काकु (गले की आवाज़) से, 'दूयते एव' (अवश्य दुखित होता है) के अर्थ में बदल दिया गया है जिससे यह निषेधार्थक वाक्यविध्यर्थक बन रहा है।

अनुवाद—'भाषासम' (अथवा भाषासमक) वह शब्दालङ्कार है जिसे देखने में एक प्रकार के किन्तु वस्तुतः विविध भाषाओं के शब्दों से बने वाक्य के सौन्दर्य में देखा जाया करता है।

जैसे कि मेरी यह स्वरचित सूक्ति—

'अरी सखी! मधुर और गम्भीर ध्वनि वाले मंजुल मणि-मंजीरों से क्या रूठना? क्रीडा-वापिका के तीर से क्या रोष? क्रीडाशुक पर क्या क्षोभ? और इस चन्दन-सुरभित मलय-समीर से कैसी अनबन? अरे, रूठो अपने प्रेमी पर, इन्हें तो अपनाओ!'

यहाँ 'भाषासम' इसलिये है क्योंकि यह श्लोक-वाक्य संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती, नागर और अपभ्रंश भाषाओं में एक सा ही लगेगा।

'सरसं कइण कव्वं' इत्यादि में, संस्कृत और प्राकृत में एक प्रकार से लगने वाले 'सरसं' पद के देखते, 'भाषासम' का भ्रम नहीं होना चाहिये क्योंकि यह अलङ्कार तो विविध भाषाओं के एक समान लगने वाले शब्दों द्वारा घटित वाक्य-बन्ध का वैचित्र्य है। 'सरसं' इस एक पद में कोई वैचित्र्य नहीं और इसलिये यहाँ इस अलङ्कार की भी कोई संभावना नहीं।

विमर्श—'भाषासमक' प्राचीन आलङ्कारिकों का शब्दालङ्कार नहीं। 'भाषाश्लेष' से 'भाषासमक' की रूपरेखा का पार्थक्य १४ वीं शताब्दी के आलङ्कारिकों का कार्य है। संभव है विश्वनाथ कविराज ही इसके प्रथम प्रवर्त्तक हों।

अनुवाद—'श्लेष' वह अलङ्कार है जिसे श्लिष्ट पदों द्वारा अनेक अर्थों के अभिधान में

वर्णप्रत्ययलिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि ॥ ११ ॥
श्लेषाद्विभक्तिवचनभाषाणामष्टधा च सः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१—वर्णश्लेष)

'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता ।
अवलम्बनाय दिनभर्त्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि ॥'

अत्र 'विधौ' इति विधुविधिशब्दयोरुकारेकारयोरौकाररूपत्वाच्छ्लेषः ।

(२—प्रत्ययश्लेष)

'किरणा हरिणाङ्कस्य दक्षिणश्च समीरणः ।
कान्तोत्सङ्गजुषां नूनं सर्व एव सुधाकिरः ॥'

अत्र 'सुधाकिरः' इति क्विप्-क-प्रत्यययोः । किं चात्र बहुवचनैकवचनयोरैकरूप्याद्वचनश्लेषोऽपि ।

देखा जाया करता है । यह श्लेष आठ प्रकार का हुआ करता है—(१) वर्णश्लेष, (२) प्रत्ययश्लेष, (३) लिङ्गश्लेष, (४) प्रकृतिश्लेष, (५) पदश्लेष, (६) विभक्तिश्लेष, (७) वचनश्लेष और (८) भाषाश्लेष ।

श्लेष के इन आठ प्रकारों के उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं—

(१—वर्णश्लेष)

'विधौ—विधि के और चन्द्रमा के प्रतिकूल हो जाने पर, सभी साधन व्यर्थ हो जाते हैं । तभी तो सूर्य के 'करसहस्र' किरण-समूह, और हस्त-समूह, अस्तकाल के समय, उसे सहारा देने में असमर्थ रहा करते हैं ।

यहाँ (शिशुपालवध की उपर्युक्त सूक्ति में) 'वर्णश्लेष' स्पष्ट है क्योंकि 'विधौ' पद ऐसा है जिसमें 'विधि' और 'विधु' के अन्तिम वर्ण, इकार और उकार, सप्तमी विभक्ति के एक वचन में 'औ' के एक रूप में परिणत दिखायी दे रहे हैं ।

(२—प्रत्ययश्लेष)

'कान्तोत्सङ्गजुषाम्—कान्ता (प्रिया) अथवा कान्त (प्रियतम) के आलिङ्गन में आनन्दित प्रेमी अथवा प्रेमिकाओं के लिये, हरिणाङ्कस्य किरणा दक्षिणश्च समीरणः—चन्द्रमा की चाँदनी और मलय समीर, नूनं सर्व एव-वस्तुतः सब कुछ, 'सुधाकिरः'-(बहुवचनान्त 'किरणाः' के योग में, सुधां किरन्तीति सुधाकिरः और एकवचनान्त 'समीरण' के साथ सुधां किरतीति सुधाकिरः) अमृत की वर्षा करने वाले ही लगा करते हैं ।'

यहाँ 'सुधाकिरः' में 'क्विप्' और 'क' दोनों प्रत्ययों के मेल के कारण 'प्रत्ययश्लेष' स्पष्ट है ('किरणाः सुधाकिरः'='सुधां किरन्तीति सुधाकिरः', सुधा+कृ+क्विप् प्रथमा बहुवचनान्त रूप और 'समीरणः सुधाकिरः'=सुधां किरतीति सुधाकिरः, सुधा+कृ+क, प्रथमा एकवचनान्त रूप) ।

'सुधाकिरः' में (श्लेष का सप्तम प्रकार) वचनश्लेष भी माना जा सकता है क्योंकि यहाँ बहुवचन और एकवचन के रूप एक सरीखे लग रहे हैं ।

(३—लिङ्गश्लेष)

'विकसन्नेत्रनीलाब्जे तथा तन्व्याः स्तनद्वयी।
तव दत्तां सदामोदं लसत्तरलहारिणी ॥'

अत्र नपुंसकस्त्रीलिङ्गयोः श्लेषो वचनश्लेषोऽपि।

(४—प्रकृतिश्लेष)

अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति।
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः ॥'

अत्र 'वक्ष्यति' इति वहि-वच्योः, 'सामर्थ्यकृत्' इति कृन्तति-करोत्योः प्रकृत्योः।

(५—पदश्लेष)

'पृथुकार्तस्वरपात्रम्–' इत्यादि। अत्र पदभङ्गे विभक्तिसमासयोरपि वैलक्षण्यात्पदश्लेषः, न तु प्रकृतिश्लेषः।

(३—लिङ्गश्लेष)

'तन्व्याः लसत्तरलहारिणी विकसन्नेत्रनीलाब्जे तथा स्तनद्वयी—इस सुन्दरी के दो खिले कमल सरीखे नेत्र (विकसन्नेत्रनीलाब्जे), जो कि 'लसत्तरलहारिणी' (लसन्ती शोभमाने तरले चञ्चले हारिणी मनोज्ञे चेति–नपुंसकलिङ्ग प्रथमा द्विवचनान्त रूप) बड़े सुन्दर, बड़े चञ्चल किंवा बड़े मनोहर हैं और इसकी 'स्तनद्वयी' जो 'लसत्तरलहारिणी' (लसन् शोभमानः तरलः मध्यमणिर्यस्य स हारो यस्याः सा–स्त्रीलिङ्ग प्रथमा एकवचनान्त रूप) सुन्दर मध्यमणि से सुशोभित मुक्ताहार से मनोरम है–ये दोनों, 'तव आमोदम् सदा दत्ताम्' सदा तुम्हें प्रसन्नता प्रदान करें (विकसन्नेत्रनीलाब्जे के साथ 'दत्ताम्' = दद्याताम्, लोट् परस्मैपद द्विवचन और स्तनद्वयी के साथ 'दत्ताम्'=दद्यात्, लोट् आत्मनेपद एकवचन)।

यहाँ 'लसत्तरलहारिणी' में नपुंसकलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के मेल के कारण लिङ्गश्लेष स्पष्ट है। यहाँ 'दत्ताम्' में द्विवचन और एकवचन के मेल से 'वचनश्लेष' भी दर्शनीय लग रहा है।

(४—प्रकृतिश्लेष)

'अयं नृपात्मजः'—यह राजकुमार, अमित्राणां मित्राणाञ्च सामर्थ्यकृत्—जो कि शत्रुओं का 'सामर्थ्यकृत्' (सामर्थ्यं कृन्तति छिनत्तीति) बल–संहारक है और मित्रों का भी 'सामर्थ्यकृत्' (सामर्थ्यं करोतीति) बल–वर्द्धक है, सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति–अपने हृदय और विद्वत्समाज में सभी शास्त्रों का धारण और प्रवचन द्वारा प्रतिपादन करेगा।'

यहाँ 'प्रकृतिश्लेष' इसलिये है क्योंकि 'वक्ष्यति' में वह् धातु और वच् धातु, परस्पर मिली–जुली दिखायी दे रही हैं और 'सामर्थ्यकृत्' में कृत् और कृन् धातुओं का परस्पर मेल दर्शनीय है।

(५—पदश्लेष)

'पृथुकार्त्तस्वरपात्रम्' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति। यहाँ 'पदश्लेष' है प्रकृतिश्लेष नहीं क्योंकि पदों के भङ्ग करने (जैसे कि पृथु + कार्त्तस्वर, पृथुक् + आर्त्तस्वर आदि रूप से पृथक्-पृथक् करने) पर, विभक्ति और समास दोनों पृथक्–पृथक् प्रतीत होने लगते हैं। 'पद-श्लेष' में 'प्रकृतिश्लेष' से यही भेद है कि पदश्लेष में तो पद के साथ–साथ विभक्ति और समास भी पृथक्–पृथक प्रतीत हुआ करते हैं किन्तु 'प्रकृतिश्लेष' में विभक्ति और समास का वैलक्षण्य अथवा पार्थक्य नहीं रहा करता। इस दृष्टि से, इस सूक्ति अर्थात्—

एवञ्च—

'नीतानामाकुलीभावं लुब्धैर्भूरिशिलीमुखैः ।
सदृशे वनवृद्धानां कमलानां तदीक्षणे ॥'

अत्र लुब्धशिलीमुखादिशब्दानां श्लिष्टत्वेऽपि विभक्तेरभेदात्प्रकृतिश्लेषः, अन्यथा सर्वत्र पदश्लेषप्रसङ्गः ।

(६—विभक्तिश्लेष)

'सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः ।
नयोपकारसांमुख्यमायासि तनुवर्तनम् ॥'

अत्र 'हर' इति पक्षे शिवसम्बोधनमिति सुप् । पक्षे हृधातोस्तिङिति विभक्तेः । एवं 'भव' इत्यादौ ।

(७—वचनश्लेष)

अस्य च भेदस्य प्रत्ययश्लेपेणापि गतार्थत्वे प्रत्ययान्तरासाध्यसुबन्ततिङन्तगतत्वेन विच्छित्तिविशेषाश्रयणात्पृथगुक्तिः ।

'तदीक्षणे, उस सुन्दरी के नेत्र 'लुब्धैः भूरिशिलीमुखैः आकुलीभावं नीतानां वनवृद्धानां कमलानां सदृशे'—ऐसे हैं जिन्हें बहुत अधिक बाणों से सजे-धजे व्याधों द्वारा व्याकुल किये गये वनवासी मृगों के नेत्र किंवा सौरभ के प्रेमी अनेकानेक भ्रमरों द्वारा घिरे जलवासी कमलों के दलों के समान कहा जा सकता है ।'
में, 'प्रकृतिश्लेष' मानना ही उचित है क्योंकि यहाँ 'लुब्ध', 'शिलीमुख' आदि शब्दों में श्लिष्टता रहने पर भी, विभक्ति (और साथ ही साथ समास) में कोई भेद नहीं प्रतीत होता । यदि ऐसी बात न मानी जाय (अर्थात् यदि विभक्ति आदि के अभेद में भी पदश्लेष ही माना जाया करे) तब तो सर्वत्र पदश्लेष ही हुआ करे और प्रकृतिश्लेष का कहीं भी कोई क्षेत्र न रह जाय ।

(६—विभक्तिश्लेष)

'(शिव के प्रति शिवभक्त की उक्ति) हे शङ्कर महादेव ! 'त्वं सर्वस्य सर्वस्वम्'–तुम्हीं इस चराचर जगत् के सर्वस्व हो, 'त्वं भवच्छेदतत्परः' तुम्हीं प्राणिमात्र के लिये इस संसार अथवा जन्म–मरण–परम्परा के तोड़ने वाले हो और 'त्वं नयोपकारसांमुख्यं तनुवर्तनमायासि, तुम्हीं ऐसे हो जो समय–समय पर ऐसा शरीर धारण किया करते हो जो सदाचरण और सदुपदेश से सबका कल्याणकारी हुआ करता है ।'

'(अपने पुत्र के प्रति चोर की उक्ति)' 'हे पुत्र ! त्वं सर्वस्य सर्वस्वं हर' तू सब का सब कुछ चुराया कर, 'त्वं छेदतत्परो भव'–जो कोई भी तुझे रोके–टोके, उसे मिट्टी में मिला दे, 'आयासि वर्तनं तनु'–ऐसा व्यवहार कर जिसमें लोग तंग हो जाँय और 'उपकारसांमुख्यं नय'–किसी के साथ कोई भी उपकार न कर ।'

यहाँ एक पक्ष (अर्थात् शिवपक्ष) में 'हर' पद सम्बोधन का पद है जिससे यहाँ 'सु' विभक्ति आयी है और दूसरे अर्थात् चोर-पक्ष में यह पद (हरणार्थक) 'हृ' धातु से (लोट्लकार में) विहित 'सिप्' विभक्ति का रूप है । इसी प्रकार 'भव' पद, शिवपक्ष में, संबोधन की 'सु' विभक्ति का रूप है और चोरपक्ष में 'भू' धातु से (लोट्लकार में) विहित 'सिप्' विभक्ति का रूप है । इस प्रकार यहां 'विभक्तिश्लेप' का सौन्दर्य स्पष्ट है ।
यद्यपि इस प्रकार के विभक्तिश्लेप को प्रत्ययश्लेप में अन्तर्भूत भी किया जा सकता है

(८—भाषाश्लेष)

'महदे सुरसन्धं मे तमव समासङ्गमागमाहरणे ।
हर बहुसरणंतं चित्तमोहमवसर उमे सहसा ॥'

अत्र संस्कृतमहाराष्ट्रयोः ।

(श्लेषगत भेद-प्रभेद)

पुनस्त्रिधा सभङ्गोऽथाभङ्गस्तदुभयात्मकः ॥ १२ ॥

एतद्भेदत्रयं चोक्तभेदाष्टके यथासम्भवं ज्ञेयम् ।

यथा वा—

'येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत् ।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥'

क्योंकि सुप् और तिङ् विभक्ति भी प्रत्ययरूप ही हैं किन्तु इसे इसलिये एक पृथक् श्लेष-प्रकार माना गया है क्योंकि यह और प्रत्ययों (जैसे कि क्विप् आदि) से निष्पन्न न होने और एक मात्र सुबन्त और तिङन्तरूप होने के कारण एक अपनी ही विचित्रता रखता प्रतीत होता है ।

'(संस्कृत भाषा में अर्थ) हे महदे ! हे उमे ! हे भक्तजनों को आनन्दित करनेवाली देवी पार्वती ! आगमाहरणे सुरसन्धं मे समासङ्गमव—आगम-ज्ञान के उपार्जन में, देवों द्वारा अभिलषित ज्ञान-प्रेम को, मुझ में स्थापित करो, अवसरे बहुसरणं तं चित्तमोहं सहसा हर—और समय-समय पर, मेरे मन के उस मोहान्धकार का शीघ्र नाश करती रहो जो कि उसे नाना प्रकार से घेरा करता है ।

'(महाराष्ट्री में अर्थ) हे हरबहु ! हे गौरी ! हे पार्वती ! धंमे मह रसं देसु—धर्म में मेरा प्रेम बढ़ाओ, तमवसं आसं गमागमा हर—इस जन्ममरणरूप संसार से, मेरी तमोमयी तृष्णा को, दूर हटा दो, तं सरणं तुम ही मेरे लिये एक मात्र शरण हो, मे चित्तमोहं अवसरउ-और मेरे चित्त के सभी व्यामोहों को दूर कर दो ।'

यहाँ संस्कृत और महाराष्ट्री भाषाओं का श्लेष स्पष्ट है ।

अनुवाद—यह श्लेष, पदों के भङ्ग-अभङ्ग के कारण, तीन प्रकार का हो जाया करता है—(१) सभङ्गश्लेष, (२) अभङ्गश्लेष और (३) सभङ्गाभङ्गश्लेष ।

श्लेष का यह भेदत्रय इसके उपर्युक्त आठ प्रकारों में ही यथासंभव अनुगत समझ लेना चाहिये । अथवा इसके लिये यह निम्न सूक्ति उदाहृत की जा रही है जिसमें सभङ्ग, अभङ्ग और सभङ्गाभङ्ग श्लेष का स्वरूप एकत्र स्पष्ट है—

'(विष्णु-पक्ष में) स माधवः त्वां पायात्—वे माधव अर्थात् लक्ष्मीपति विष्णु तुम्हारी रक्षा करें, येन अभवेन अनः ध्वस्तम्—जो अजन्मा हैं और (कृष्णरूप में) शकटासुर के संहारक हैं, येन पुरा बलिजित्कायः स्त्रीकृतः—जिन्होंने, अमृतमंथन के समय, बलिदानव के संहारक अपने रूप को 'मोहिनी' रूप में परिवर्तित किया है, यश्च उद्वृत्तभुजगङ्गहा—जो अनाचारी कालियनाग का दमन कर चुके हैं, यः रवलयः—जो श्रुतियों और उपनिषदों के अन्तिम रहस्य हैं, यः अगं गाञ्च अधारयत्—जिन्होंने (कृष्णरूप में) गोवर्धन पर्वत

अत्र 'येन-' इत्यादौ सभङ्गश्लेषः। 'अन्धक-' इत्यादावभङ्गः। अनयोश्चै- कत्र सम्भवात्सभङ्गाभङ्गात्मको ग्रन्थगौरवभयात्पृथङ्नोदाहृतः।

(श्लेषविषयक शास्त्रार्थ)

इह केचिदाहुः—'सभङ्गश्लेष एव शब्दश्लेषविषयः। यत्रोदात्तादिस्वरभेदा- द्भिन्नप्रयत्नोच्चार्यत्वेन भिन्नयोः शब्दयोर्जतुकाष्ठन्यायेन श्लेषः। अभङ्गस्त्वर्थ- श्लेष एव। यत्र स्वराभेदादभिन्नप्रयत्नोच्चार्यतया शब्दाभेदादर्थयोरेकवृन्तगत- फलद्वयन्यायेन श्लेषः। यो हि यदाश्रितः स तदलङ्कार एव। अलङ्कार्यालङ्करण- भावस्य लोकवदाश्रयाश्रयिभावेनोपपत्तिः' इति।

और (कूर्मरूप में) इस पृथिवी को धारण किया है, यस्य च शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्य नाम अमराः आहुः—जिन्हें देवता लोग शशिमत् अर्थात् चन्द्रमा के नाशक राहु के मस्तक का काटनेवाला कहा करते हैं, अन्धकक्षयकरः—जो कि यादवों के निवास (द्वारका धाम) के संस्थापक और संहारक दोनों हैं, सर्वदः—और जो कि सब कुछ के दाता हैं, सब के मनोरथ सफल करने वाले हैं।'

(शिव-पक्ष में) येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरा अस्त्रीकृतः—मनोभव अथवा काम के संहारक, जिन्होंने, त्रिपुरदाह के समय, बलिजित् विष्णु के शरीर को अपने अस्त्ररूप में प्रयुक्त किया, यश्च उद्वृत्तभुजङ्गहारवलयः—जिन्होंने लपेटे हुये सर्पराज को अपना हार और वलय बनाया, यः गङ्गाञ्च अधारयत्—जिन्होंने अपने मस्तक पर गङ्गा को सम्हाला, यस्य च शिरः शशिमत् इति हर इति च स्तुत्यं नाम अमरा आहुः—जिनका चन्द्रालंकृतमस्तक और स्तुत्य 'हर' नाम देवगण की वन्दना का विषय है, स्वयमन्धक- क्षयकरः—जिन्होंने अन्धकासुर का संहार किया, उमाधवः—और जो उमा के पति हैं वे भगवान् शङ्कर सर्वदा तुम्हारी रक्षा करें।

यहाँ सभङ्ग, अभङ्ग और सभङ्गाभङ्ग—तीनों प्रकार के श्लेष दर्शनीय हैं। इस एक ही सूक्ति में, 'येन' इत्यादि में सभङ्गश्लेष, 'अन्धकक्षयकरः' में अभङ्गश्लेष और अन्यत्र सभङ्गाभङ्गश्लेष की अवस्थिति देखते हुये यह आवश्यक नहीं कि उन्हें भिन्न-भिन्न सूक्तियों द्वारा उदाहृत किया जाय क्योंकि ग्रन्थ के आकार-प्रकार के बढ़ने का भी तो डर है।

अनुवाद—यहाँ कतिपय काव्याचार्यों (जैसे कि अलङ्कारसर्वस्वकार आचार्य रुय्यक् आदि) का यह कहना है कि 'सभङ्ग श्लेष की गणना शब्दालङ्कारों में की जानी चाहिये क्योंकि यही श्लेष-प्रकार शब्दश्लेष का विषय है क्योंकि यहीं ऐसा संभव है कि उदात्तादि स्वरों के भेद के कारण भिन्न-भिन्न प्रयत्नों द्वारा उच्चारण करने योग्य, भिन्न-भिन्न भी शब्द, 'जतु' (लाख) और 'काष्ठ' (लकड़ी) की भाँति, परस्पर, एक दूसरे से, श्लिष्ट अथवा मिले-जुले से प्रतीत हुआ करते हैं'। अभङ्गश्लेष को तो अर्थालङ्कार मानना उचित है क्योंकि यह श्लेष-प्रकार अर्थश्लेष का विषय है। यहाँ उदात्तादि स्वरों की अभिन्नता से, उच्चारण के बाह्य और आभ्यन्तर प्रयत्नों में भेद न होने के कारण शब्दों में भेद नहीं हुआ करता और अर्थ एक गुच्छे में लटके दो फलों की भाँति परस्पर श्लिष्ट अथवा जुड़े-जुड़ाये लगा करते हैं। कोई अलङ्कार इसीलिये शब्द अथवा अर्थ का अलङ्कार कहा जाया करता है क्योंकि वह शब्द अथवा अर्थ पर आश्रित रहा करता है। जिसे काव्य में अलङ्कार्य—अलङ्करणभाव कहते हैं उसमें वस्तुतः, लोक के अलङ्कार्य-अलङ्करणभाव की ही भाँति आश्रयाश्रयिभाव (आधाराधेयभाव) रूप संबन्ध ही ठीक जँचता है।'

तदन्ये न क्षमन्ते । तथाहि—अत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यदोषगुणालङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थितेरन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन नियम इति ।

न च 'अन्धकक्षय-' इत्यादौ शब्दाभेदः, 'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इति दर्शनात् । किं चात्र शब्दस्यैव मुख्यतया वैचित्र्यबोधोपायत्वेन कविप्रतिभयोट्टङ्कनाच्छब्दालङ्कारत्वमेव । विसदृशशब्दद्वयस्य बन्धे चैवंविधस्य वैचित्र्याभावाद् वैचित्र्यस्यैव चालङ्कारत्वात् । अर्थमुखप्रेक्षितया चार्थालङ्कारत्वेऽनुप्रासादीनामपि रसादिपरत्वेनार्थमुखप्रेक्षितयार्थालङ्कारत्वप्रसङ्गः । शब्दस्याभिन्नप्रयत्नोच्चार्यत्वेनार्थालङ्कारत्वे 'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ' इत्यादौ शब्दभेदेऽप्यर्थालङ्कारत्वं तवापि प्रसज्यतीत्युभयत्रापि शब्दालङ्कारत्वमेव । यत्र तु शब्दपरिवर्त्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डना, तत्र—

किन्तु अन्य काव्याचार्यों (जैसे कि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट आदि) को यह सब मान्य नहीं । उनका कहना यह है—ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य, दोष, गुण और अलङ्कार की शब्दगतता अथवा अर्थगतता की व्यवस्था का एकमात्र नियामक 'अन्वयव्यतिरेक' का सिद्धान्त है । यहाँ 'आश्रयाश्रयिभाव' अथवा 'आधाराधेयभाव' का क्या काम ? इसलिये शब्द के भेद अथवा अभेद से, 'येन ध्वस्तमनोभवेन' आदि सूक्ति में, कहीं शब्दश्लेष (सभङ्गश्लेष) और कहीं जैसे कि 'अन्धकक्षय' आदि में अर्थश्लेष (अभङ्ग श्लेष) का मानना युक्तियुक्त नहीं क्योंकि 'अन्धकक्षय' आदि में, जब कि अर्थ भिन्न हैं, तब, शब्द की अभिन्नता कैसी ? क्योंकि यह तो एक मान्य सिद्धान्त है कि 'यदि कहीं अर्थ भिन्न-भिन्न हैं तो वहाँ शब्द भी भिन्न-भिन्न ही होंगे ।'

साथ ही साथ 'अन्धकक्षय' आदि में शब्दश्लेष की मान्यता अधिक युक्तिसंगत दिखायी देती है क्योंकि यहाँ जो भी चमत्कार है वह एकमात्र इस शब्द के ही कारण है जिसे कवि की प्रतिभा यहाँ उट्टङ्कित कर रही है । यदि यहाँ अन्य प्रकार के दो शब्द रख दिये जाँय तो यह चमत्कार नष्ट होता दिखायी देगा और जब चमत्कार ही नष्ट हो जायगा तो अलंकार कहाँ से रह पायगा क्योंकि जो भी 'अलंकार' है वह तो 'वैचित्र्य' रूप है । इसके अतिरिक्त यहां यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि अर्थ की दृष्टि से इस अलकार को अर्थालंकार मानना है तो अनुप्रास आदि को भी अर्थालंकार ही मानना पड़ेगा क्योंकि अनुप्रास आदि शब्दालंकार भी (अर्थनिरपेक्ष नहीं अपितु) रसभावादि रूप अर्थ की अपेक्षा रखा करते हैं । यहां यह भी कहना उचित नहीं कि जब कि 'अन्धकक्षय' आदि शब्द एक ही प्रयत्न से उच्चारण किये जाने योग्य हैं ,तब इन्हें अर्थश्लेष का ही विषय मानना ठीक है क्योंकि तब तो 'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ' आदि में भी, जहां 'विधि' और 'विधु' शब्द के सप्तमी एकवचनान्तरूप वस्तुतः भिन्न-भिन्न होने पर भी, एक प्रयत्न से उच्चरित हो सकते हैं, अर्थश्लेष ही मानना पड़ जायगा । इसलिये यहां यही मानना ठीक है कि सभङ्ग और अभङ्ग दोनों प्रकार के श्लेष शब्दालंकाररूप ही हैं (और 'अन्धकक्षय' आदि तथा 'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ' आदि में जो श्लेष है वह शब्दश्लेष ही है) । इसका यह अभिप्राय नहीं कि अर्थश्लेष का कोई विषय ही नहीं बच पाता । अर्थश्लेष का विषय वह है जहां शब्द के बदल देने पर भी श्लेष में कोई क्षति नहीं आया करती । जैसे कि निम्नसूक्ति अर्थात्—

'स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥'

इत्यादावर्थश्लेषः । अस्य चालङ्कारान्तरविविक्तविषयताया असम्भवाद्विद्यमानेष्वलंकारान्तरेष्वपवादत्वेन तद्बाधकतया तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुत्वमिति केचित् ।

इत्थमत्र विचार्यते—समासोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसादौ द्वितीयार्थस्यानभिधेयतया नास्य गन्धोऽपि । 'विद्वन्मानसहंस–' इत्यादौ श्लेषगर्भे रूपकेऽपि मानसशब्दस्य चित्तसरोरूपोभयार्थत्वेऽपि रूपकेण श्लेषो बाध्यते । सरोरूपस्यैवार्थस्य विश्रान्तिधामतया प्राधान्यात्, श्लेषे ह्यर्थद्वयस्यापि समकक्षत्वम् ।

'सन्निहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च' इत्यादौ विरोधाभासेऽपि विरुद्धार्थस्य प्रतिभातमात्रस्य प्ररोहाभावान्न श्लेषः । एवं पुनरुक्तवदाभासेऽपि ।

'थोड़े में ही ऊपर उठना और थोड़े में ही नीचे गिरना यही वह चाल है जो कि तराजू की डंडी और खल की एक समान चाल है'।

में, जो श्लेष है वह अर्थश्लेष है (क्योंकि 'स्तोकेन' आदि पदों के बदले 'स्वल्पेन' आदि रख देने पर भी यहां 'श्लेष' तो अक्षुण्ण ही दिखायी देता रहता है)।

यहां प्राचीन काव्याचार्यों (जैसे कि आचार्य उद्भट और आचार्य रुय्यक) की यह मान्यता भी ठीक नहीं जँचती कि 'श्लेष का क्षेत्र अन्य अलंकारों से असंकीर्ण रहा करता है, श्लेष अन्य अलंकारों के आभानमात्र का उत्पादक हुआ करता है और 'श्लेष' अन्य अलंकारों का अपवादरूप होने से उनका बाधक है (अर्थात् अन्य अलंकार सामान्य रूप है और श्लेष, विशेष रूप होने से बाधक है')। यहां इस प्रकार देखना है—'समासोक्ति', 'अप्रस्तुतप्रशंसा' आदि के प्रसङ्गों में श्लेष की गन्ध भी नहीं रहती क्योंकि वहां प्रतीत होनेवाला जो दूसरा अभिप्राय हुआ करता है वह अभिधेयरूप नहीं अपितु व्यङ्ग्यरूप ही हुआ करता है (और श्लेष के लिये दोनों अर्थों का वाच्यरूप होना ही सर्वमान्य है)। 'विद्वन्मानसहंस' आदि सूक्ति में भी, जहां श्लेषगर्भ रूपक है और 'मानस' शब्द मन और सरोवररूप दोनों अर्थों का वाचक है, ऐसा नहीं कि श्लेष द्वारा रूपक बाधित हो, अपितु ऐसा है कि रूपक द्वारा ही श्लेष बाधित हो रहा है क्योंकि यहां अन्ततोगत्वा रूपक चमत्कार के कारण, 'सरोवररूप' अर्थ पर ही सहृदय की आस्था जमती है। यहां श्लेष की संभावना तो तब होती जबकि सरोवररूप और मनरूप दोनों अर्थ परस्पर निरपेक्ष होते और प्रधानतया विराजमान प्रतीति होते !

इसी प्रकार यदि 'सन्निहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च' (विरोध—कुछ-कुछ अन्धकार युक्त और सूर्य की मूर्ति; विरोधपरिहार—केशरूप अन्धकार से युक्त और प्रकाशमान रूपवाली) आदि विरोधाभास के प्रसङ्गों को देखा जाय तो यहां भी (आपाततः विरुद्ध और अन्ततः अविरुद्ध अर्थों के मेल के कारण) 'श्लेष' की संभावना नहीं दिखायी पड़ती क्योंकि यहां जो विरुद्ध अर्थ है वह आपाततः भले ही प्रतीत हो, अन्ततः तो कदापि अवस्थित नहीं रहता। यही बात 'पुनरुक्तवदाभास' के स्थलों पर भी लागू होती है (क्योंकि वहां भी दूसरे अर्थ के आभासमात्र रूप से ही रह जाने के कारण 'श्लेष' की संभावना समाप्त हो जाती है)।

तेन 'येन ध्वस्त-' इत्यादौ प्राकरणिकयोः, 'नीतानाम्-' इत्यादावप्राकरणिकयोरेकधर्माभिसंबन्धात्तुल्ययोगितायाम्,

'स्वेच्छोपजातविषयोऽपि न याति वक्तुं
देहीति मार्गणशतैश्च ददाति दुःखम्।
मोहात्समुत्क्षिपति जीवनमप्यकाण्डे
कष्टं प्रसूनविशिखः प्रभुरल्पबुद्धिः॥'

इत्यादौ च प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरेकधर्माभिसम्बन्धाद् दीपके।

'सकलकलं पुरमेतज्जातं संप्रति सुधांशुबिम्बमिव'।

इत्यादौ चोपमायां विद्यमानायामपि श्लेषस्यैतद्विषयपरिहारेणासंभवाद् एषां च श्लेषविषयपरिहारेणापि स्थितेरेतद्विषये श्लेषस्य प्राधान्येन चमत्का-

---

इससे जो निष्कर्ष निकल सकता है वह यही है कि 'येन ध्वस्तमनोभवेन' आदि में विष्णुपरक और शिवपरक-दोनों प्राकरणिक (प्रकृतरूप से विवक्षित) अर्थों और 'नीतानामाकुलीभावम्' आदि में, (कमल और हरिणरूप) दोनों अप्राकरणिक (अप्रकृत) अर्थों में, एक धर्म ('येन ध्वस्तमनोभवेन' आदि में 'अन्धकक्षयकरत्व' आदि और 'नीतानामाकुलीभावम्' आदि में 'वनवृद्धत्व' आदि) के अनुप्रवेश के कारण 'तुल्ययोगिता' (पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्। एकधर्माभिसंबन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता) की संभावना होने पर भी 'श्लेष' की ही मान्यता युक्तिसंगत है। इसी प्रकार इस सूक्ति अर्थात्—

'बड़े दुःखकी बात है कि प्रसूनविशिख (पुष्पबाण) कामदेव और अल्पबुद्धि राजा दोनों समानरूप से ही दुःखदायी हुआ करते हैं—स्वेच्छोपजातविषयोऽपि देहीति वक्तुं न याति—कामदेव स्वेच्छामात्र से प्राणिमात्र को अपने बाणों का लक्ष्य बनाया करता है और सदा अनङ्ग ही कहा जाया करता है और अल्पबुद्धि राजा भी स्वेच्छया देश-देशान्तरों पर प्रभुत्व प्राप्त करता है किन्तु किसी के द्वारा 'कुछ दीजिये' की याचना से अछूता रहा करता है, मार्गणशतैश्च दुःखं ददाति—कामदेव अपने बाणों से प्राणिमात्र को विद्ध करता है, और अल्पबुद्धि राजा याचना की यातनाओं से लोगों को पीड़ित किया करता है और, मोहात् अकाण्डे जीवनमपि समुत्क्षिपति—कामदेव प्राणिमात्र के हृदय में प्रेम-मोह उत्पन्न करके अचानक प्राण भी हर लेता है और अल्पबुद्धि राजा भी मोहवश प्रजाजन का प्राण हरण किया करता है।'

आदि में, प्राकरणिक (राजरूप) और अप्राकरणिक (कामरूप) अर्थों में, एक धर्म (स्वेच्छोपजातविषयत्व आदि) के 'अभिसंबन्ध के कारण 'दीपक' (अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते) की संभावना होने पर भी 'श्लेष' मानना ही अधिक उचित है। यही बात 'सकलकलं पुरमेतज्जातं संप्रति सुधांशुबिम्बमिव' (सकलकल-कोलाहल से युक्त यह नगर इस समय सकलकल-सम्पूर्ण कलाओंवाले-चन्द्रबिम्ब की भांति लग रहा है) आदि प्रसङ्गों में भी लागू होती है। क्योंकि यहाँ 'उपमा' की संभावना होने पर भी, 'श्लेष' की ही मान्यता युक्तिसिद्ध प्रतीत होती है। अब इन उपर्युक्त अलङ्कारों के प्रसङ्गों में अन्ततोगत्वा 'श्लेष' की ही मान्यता क्यों युक्तिसिद्ध होती है? इस पर यदि विचार किया जाय तो यही कहा जायगा कि इन अलङ्कारों के क्षेत्रों के अतिरिक्त 'श्लेष' का कोई क्षेत्र नहीं बचता और इन अलङ्कारों के क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ 'श्लेष' की कोई छुआ-

रित्वप्रतीतेश्च श्लेषेणैव व्यपदेशो भवितुं युक्तः, अन्यथा तद्व्यपदेशस्य सर्वथाभावप्रसङ्गाच्चेति।

अत्रोच्यते—न तावत्परमार्थतः श्लेषस्यालङ्कारान्तराविविक्तविषयता 'येन ध्वस्त–' इत्यादिना विविक्तविषयत्वात्। न चात्र तुल्ययोगिता, तस्याश्च द्वयोरप्यर्थयोर्वाच्यत्वनियमाभावात्। अत्र च माधवोमाधवयोरेकस्य वाच्यत्वनियमे परस्य व्यङ्ग्यत्वं स्यात्। किञ्च—तुल्ययोगितायामप्येकस्यैव धर्मस्यानेकधर्मिसंबन्धितया प्रतीतिः इह त्वनेकेषां धर्मिणां पृथक्पृथग्धर्मसंबन्धतया। 'सकलकलम्—' इत्यादौ च नोपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः। पूर्णोपमाया निर्विषयत्वापत्तेः 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्' इत्याद्यस्ति पूर्णोपमाया विषय इति चेत्? न, यदि 'सकल'–' इत्यादौ शब्दश्लेषतया नोपमा तत्किमपराद्धं 'मनोज्ञम्' इत्यादावर्थश्लेषेण।

छूत नहीं रहती। साथ ही साथ जब कि इन उपर्युक्त प्रसङ्गों में 'श्लेष' का ही प्राधान्य स्पष्ट है और यह भी स्पष्ट है कि जो भी वैचित्र्य है वह श्लेष-जन्य ही है तो इन्हें 'श्लेष' मानने में क्या आपत्ति है? क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तब तो 'श्लेष' नाम का कोई अलङ्कार ही कहीं प्रतीत नहीं होता। किन्तु 'श्लेष' के सम्बन्ध में यह विचार-विमर्श सर्वथा चतुरस्र नहीं। यहाँ जो समझना है वह यह है—वस्तुतः ऐसी बात नहीं कि 'श्लेष' का क्षेत्र सदा अन्य अलङ्कारों से संकीर्ण ही रहा करता है क्योंकि 'येन ध्वस्तमनोभवेन' आदि से ही यह स्पष्ट है कि किस प्रकार 'श्लेष' का क्षेत्र अन्य अलङ्कारों से सर्वथा विविक्त अथवा भिन्न हुआ करता है। 'येन ध्वस्तमनोभवेन' आदि में, विष्णुपरक और शिवपरक रूप से विवक्षित दोनों प्राकरणिक अर्थों में 'तुल्ययोगिता' की तो संभावना ही नहीं हो सकती क्योंकि यहाँ ये दोनों अर्थ स्पष्टतया वाच्यरूप से विवक्षित हैं जब कि 'तुल्ययोगिता' के लिये यह आवश्यक नहीं कि जिन दो प्राकरणिक अर्थों में एक धर्म का योग हो वे दोनों अर्थ वाच्य रूप ही हुआ करें। यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं कि 'मा-धव' (विष्णु) और 'उमा-धव' (शिव) रूप अर्थों में कोई एक अर्थ वाच्य है क्योंकि तब दूसरा अर्थ व्यङ्ग्य हो जायगा और 'श्लेष' की गन्ध ही उड़ जायगी! जहाँ 'तुल्ययोगिता' की इसलिये भी कोई संभावना नहीं क्योंकि 'तुल्ययोगिता' में तो ऐसा हुआ करता है कि एक ही धर्म अनेकों धर्मियों से सम्बद्ध प्रतीत हुआ करता है और यहाँ ऐसा है कि अनेकों धर्मी भिन्न-भिन्न धर्मों से संबद्ध प्रतीति हो रहे हैं। (अर्थात् यदि शिव-पक्ष में मनोभवध्वंस आदि धर्म अनुगत हैं तो विष्णु-पक्ष में शकटासुरवध आदि धर्म समवेत प्रतीत हो रहे हैं)।

इसी प्रकार यदि 'सकलकलम्' आदि सूक्ति को लिया जाय तो यह स्पष्ट दिखायी देगा कि यहाँ जो 'श्लेष' है वह उपमा के प्रतिभासमात्र का कारण नहीं जिससे यह सिद्ध हो जाय कि यहाँ जो अलङ्कार है वह श्लेष ही है उपमा नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर तो 'पूर्णोपमा' का विषय ही उच्छिन्न हो जायगा! अब यदि यह कहा जाय कि पूर्णोपमा के विषय तो 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्' आदि-आदि काव्य-सन्दर्भ हैं ही और इसलिये 'सकलकलम्' आदि में, श्लेषद्वारा पूर्णोपमा के बाधित हो जाने से, ऐसा नहीं हो सकता कि पूर्णोपमा का क्षेत्र ही कहीं न दिखायी दे, तब यहाँ यह उत्तर दिया जायगा कि 'यदि सकलकलम्' आदि में शब्दश्लेष मानने से उपमा मानना अनुचित हो, तब 'कमल-

'स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ, किन्तु।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि संभवतः॥'

इति रुद्रटोक्तदिशा गुणक्रियासाम्यवच्छब्दसाम्यस्याप्युपमाप्रयोजकत्वात्।

ननु गुणक्रियासाम्यस्यैवोपमाप्रयोजकता युक्ता, तत्र साधर्म्यस्य वास्तवत्वात्। शब्दसाम्यस्य तु न तथा, अत्र साधर्म्यस्यावास्तवत्वात्। ततश्च पूर्णोपमाया अन्यथानुपपत्त्या गुणक्रियासाम्यस्यैवार्थश्लेषविषयतया परित्यागे पूर्णोपमाविषयता युक्ता, न तु 'सकल-' इत्यादौ शब्दसाम्यस्यैवेति चेत्? न-'साधर्म्यमुपमा' इत्येवाविशिष्टस्योपमालक्षणस्य शब्दसाम्याद्व्यावृत्तेरभावात्। यदि च शब्दसाम्ये साधर्म्यमवास्तवत्वान्नोपमाप्रयोजकम्, तदा कथं 'विद्वन्मानस-' इत्यादावाधारभूते चित्तादौ सरोवराद्यारोपो राजादेर्हंसाद्यारोपप्रयोजकः।

किञ्च-यदि वास्तवसाम्य एवोपमाङ्गीकार्या, तदा कथं त्वयापि 'सकल-

---

मिव मुखं मनोज्ञमेतत्' में भी उपमा न मानकर, अर्थश्लेष ही क्यों न मान लिया जाय, (क्योंकि यहाँ 'मनोज्ञत्व' आदि धर्म उपमान और उपमेय—दोनों में अन्वित होने से श्लिष्ट ही तो है)? यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं कि 'इव' शब्द की उपस्थिति में 'उपमा' की ही मान्यता युक्तियुक्त होगी क्योंकि तब तो 'सकलकलम्' आदि में भी 'उपमा ही मानना पड़ जायगा क्योंकि औपम्य जैसे 'इव' शब्द के सद्भाव में संभव है वैसे ही शब्द-साधर्म्य में भी, जैसा कि 'सकलकलम्' आदि में स्पष्ट ही है। तभी तो आचार्य रुद्रट का वह कथन है—

'यह ठीक है कि अर्थाश्रित होने से उपमा और समुच्चय-दोनों निस्संदिग्धरूप से अर्थ के ही अलङ्कार हैं किन्तु यह भी ठीक है कि कहीं शब्द-साधर्म्य के आधार पर, इन्हें शब्द-गत भी मान लिया जाय।

जिसके देखते यही मानना उचित है कि जैसे गुण-साम्य और क्रिया-साम्य उपमा के नियामक हैं वैसे ही शब्द-साम्य भी उपमा का एक नियामक ही है। अब यहाँ यदि यह कहा जाय कि गुण-साम्य और क्रिया-साम्य तो उपमा के वास्तविक प्रयोजक हैं क्योंकि-ये ही दोनों ऐसे हैं जिन्हें वास्तविक साधर्म्य का आश्रय माना जा सकता है और जो शब्दसाम्य है उसमें उपमा की कोई प्रयोजकता नहीं क्योंकि ऐसा साम्य वास्तविक साधर्म्य का आश्रय नहीं और इस दृष्टि से जहां कहीं जैसे कि कमलमिव आदि में, गुण-साम्य और क्रिया-साम्य हो, वहाँ, अर्थश्लेष न मानकर (क्योंकि उपमा ऐसे प्रसङ्गों में अर्थश्लेष का अपवाद है) पूर्णोपमा ही मानी जायगी और जहाँ, जैसे कि 'सकलकलम्' आदि में, केवल शब्द-साम्य हो वहाँ पूर्णोपमा नहीं मानी जायगी क्योंकि विना ऐसी व्यवस्था के पूर्णोपमा का विषय ही कहीं नहीं मिल पायेगा, तो इसका सीधा उत्तर यह होगा कि जब कि 'भेद में साधर्म्य' (साधर्म्यमुपमा) ही उपमा का लक्षण है और साधर्म्य में सभी प्रकार के (अर्थात् शब्दकृत भी) साधर्म्य संगृहीत हैं तो यह कदापि संभव नहीं कि शब्द-साधर्म्य में उपमा न मानी जाय।

यहाँ यह कहकर भी छुटकारा मिलना कथिन है कि शब्दकृत साधर्म्य अवास्तविक साधर्म्य है और इसलिये इसे उपमा का प्रयोजक नहीं माना जायगा क्योंकि तब को 'विद्वन्मानसहंस' आदि सूक्ति में राकादिरूप अर्थपर हंसादिरूप अर्थ के आरोप (रूपण) के

कलम्–' इत्यादौ बाध्यभूतोपमाङ्गीक्रियते ? किञ्च अत्र श्लेषस्यैव साम्यनिर्वाहकता, न तु साम्यस्य श्लेषनिर्वाहकता, श्लेषबन्धतः प्रथमं साम्यस्यासंभवात्, इत्युपमाया एवाङ्गित्वेन व्यपदेशो ज्यायान् 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायात्।

ननु शब्दालंकारविषयेऽङ्गाङ्गिभावसंकरो नाङ्गीक्रियते तत्कथमत्र श्लेषोपमयोरङ्गाङ्गिभावः संकर इति चेत्? न, अर्थानुसंधानविरहिण्यनुप्रासादावेव तथानङ्गीकारात्। एवं दीपकादावपि ज्ञेयम्।

'सत्पक्षा मधुरगिरः प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भाः।
निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे॥'

निमित्तरूप से चित्तादिरूप अर्थपर सरोवरादिरूप अर्थ का अभेदारोप (रूपण), जो कि शब्द-साधर्म्यकृत होने पर भी मान्य है, अमान्य हो जायगा!

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि वास्तविक साम्य में ही उपमा की मान्यता ठीक है तब अवास्तविक साम्य के प्रसङ्ग जैसे कि 'सकलकलम्' आदि में उपमा की चर्चा भी नहीं होनी चाहिये, चाहे उसे अन्त में श्लेप द्वारा वाधित ही क्यों न कह दिया जाय। वैसे 'सकलकलम्' आदि के सम्वन्ध में वस्तुतः जो बात है वह तो यह है—यहाँ (शब्द) श्लेष ही साम्य का निर्वाह कर रहा है न कि साम्य द्वारा श्लेष का निर्वाह किया जा रहा है क्योंकि श्लेप के पहले साम्य की संभावना ही असंभव है और इस दृष्टि से यहाँ 'उपमा' ही प्रधान (अङ्गी) रूप से विराजमान है (क्योंकि श्लेष तो उपमा के अङ्ग अथवा साधनरूप से ही चरितार्थ हो चुका है) और इस नियम अर्थात् जो प्रधान हुआ करता है उसी का नाम लिया जाया करता है' के देखते यहाँ जिस अलङ्कार का नाम लिया जायगा वह 'उपमा' है, श्लेष नहीं।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'सकलकलम्' आदि में 'श्लेष' और 'उपमा' का अङ्गाङ्गिभाव संकर मानना ठीक नहीं क्योंकि शब्दालङ्कारों ('सकलकलम्' में शब्द-श्लेष और शब्द-साधर्म्याश्रित उपमा) में अङ्गाङ्गिभाव संकर नहीं माना जाया करता। किन्तु इसका उत्तर यह होगा कि जिन शब्दालङ्कारों में अङ्गाङ्गिभाव–सङ्कर नहीं माना जाया करता वे अनुप्रास आदि ही हैं क्योंकि उन्हीं में अर्थ के अनुसंधान की आवश्यकता नहीं पड़ा करती। (किन्तु जहाँ जैसे कि 'सकलकलम्' आदि में शब्द-श्लेष और शब्दसाधर्म्याश्रित उपमा में अर्थानुसंधान की आवश्यकता है वहां तो अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर की मान्यता युक्तियुक्त ही है।)

यही उपर्युक्त दृष्टि शब्द-साधर्म्यकृत दीपक आदि अलङ्कारों के प्रसङ्गों में जो श्लेप हो, वहां भी रखनी चाहिये।

अन्त में वेणीसंहार की इस सूक्ति अर्थात्—

'सत्पक्षाः'—सुन्दर पंखोंवाले, मधुरगिरः–मधुर शब्द करते, प्रसाधिताशाः–सर्वत्र शरत्सौन्दर्य बिखेरते, मदोद्धतारम्भाः—शरदागम के आनन्द में स्वच्छन्द विहार करते, धार्तराष्ट्राः–ये हंस, कालवशात्—इस शरत्समय में, मेदिनीपृष्ठे निपतन्ति—इतस्ततः सर्वत्र पृथिवी-पर विचरते दिखायी दे रहे हैं।'

अत्र शरद्वर्णनया प्रकरणेन धार्तराष्ट्रादिशब्दानां हंसाद्यर्थाभिधाने नियमनाद्दुर्योधनादिरूपोऽर्थः शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिः। इह च प्रकृतप्रबन्धाभिधेयस्य द्वितीयार्थस्य सूच्यतयैव विवक्षितत्वादुपमानोपमेयभावो न विवक्षित इति नोपमाध्वनिर्न वा श्लेष इति सर्वमवदातम्।

(७—चित्रालङ्कार)

पद्माद्याकरहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते।

आदिशब्दात्खड्ग-मुरज-चक्र-गोमूत्रिकादयः। अस्य च तथाविधलिपिसन्निवेशविशेषवशेन चमत्कारविधायिनामपि वर्णानां तथाविधश्रोत्राकाशसमवायवि-

---

में, 'उपमाध्वनि' और 'श्लेष' का जो झगड़ा है उसका भी निपटारा कर दिया जा रहा है। यहाँ कुछ काव्याचार्य 'उपमाध्वनि' मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार यहाँ यह अभिप्राय निकलता है कि जैसे 'सत्पक्षाः-बड़े-बड़े सहायकोंवाले, मधुरगिरः-मिष्टभाषी, प्रसाधिताशाः-विजय की आकांक्षा से भरे, मदोद्धतारम्भाः-वीरदर्प में चूर होकर संग्राम की तैयारी किये, धार्तराष्ट्राः-दुर्योधन आदि कौरवराजकुमार, कालवशात्-समय के फेर से, मेदिनीपृष्ठे निपतन्ति-सर्वत्र युद्ध-क्षेत्र में मर-कट कर गिर-पड़ रहे हैं वैसे ही सत्पक्षाः-सुन्दर पंखोंवाले··· धार्तराष्ट्राः-ये हंस······इतस्ततः······विचरते दिखायी दे रहे हैं।'

किन्तु वस्तुतः यह सब उपमाध्वनि नहीं क्योंकि यहाँ 'सत्पक्षा' आदि शरद्वर्णन-संबन्धी सन्दर्भ का जो दुर्योधन-सम्बद्ध दूसरा अभिप्राय है उसमें उपमानोपमेयभाव की विवक्षा नहीं अपितु नाटकीय इतिवृत्त की सूचना ही विवक्षित है। यहां 'श्लेष' की भी कोई संभावना इसलिये नहीं क्योंकि हंसपरक वाच्यार्थ और दुर्योधनादिपरक व्यङ्ग्यार्थ में श्लेष कैसा? यहां तो वस्तुतः शब्दशक्तिमूल वस्तुध्वनि का सौन्दर्य दर्शनीय है क्योंकि जहां एक ओर शरद्वर्णन रूप प्रकरण के कारण 'धार्तराष्ट्र' आदि शब्दों की अभिधा 'हंस' आदि अर्थों के प्रतिपादन में नियन्त्रित हो रही है वहाँ दूसरी ओर शब्दशक्ति की महिमा से (शाब्दी व्यञ्जना के कारण) दुर्योधनादिपरक द्वितीयार्थ भी प्रकाशित हो रहा है।

इस विशद विचार से श्लेष का स्वरूप स्पष्ट हो गया इसमें कोई संदेह नहीं।

अनुवाद—'चित्र' वह शब्दालङ्कार है जिसे वर्णों के ऐसे विन्यास-वैचित्र्य में देखा जाया करता है जिसमें पद्म आदि की रूपरेखा झलक जाया करती है।

यहां कारिका में 'आदि' पद का प्रयोग इसलिये है जिसमें खड्ग, मुरज, चक्र, गोमूत्रिका आदि आदि चित्रों की रूपरेखा का भी ग्रहण कर लिया जाय।

'चित्र' को शब्दालङ्कार कहने में उपचार का आश्रय लिया जाया करता है। यहां 'उपचार' के आश्रय का अभिप्राय यह है—वस्तुतः तो शब्दात्मक वर्ण आकाश के गुण हैं और समवाय सम्बन्ध से आकाश में ही रहा करते हैं और चित्रालङ्कार के रूप में जो वर्ण-विन्यास है वह पद्मादि रूप में रचित लिपिसन्निवेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं। किन्तु वैचित्र्याधायक लिपिसन्निवेशरूप वर्णों का वैचित्र्याधायक श्रोत्राकाशसमवेत वर्णों से कोई भेद नहीं हुआ करता। इसलिये यह निश्चित ही है कि आकाशनिष्ठ वर्णों को उपचारतः आकारनिष्ठ मान लिया जाय। इस प्रकार आकाशसमवेत वर्णों का पद्माद्याकारनिष्ठ वर्णों से औपचारिक अभेद ही 'चित्रालङ्कार' के शब्दगत अलङ्कार होने का कारण है।

शेषवशेन चमत्कारविधायिभिर्वर्णैरभेदेनोपचाराच्छब्दालङ्कारत्वम्। तत्र पद्मबन्धो यथा मम—

'मारमा सुषमा चारुरुचा मारवधूत्तमा।
मात्तधूर्ततमावासा सा वामा मेऽस्तु मा रमा॥'

एषोऽष्टदलपद्मबन्धो दिग्दलेषु निर्गमप्रवेशाभ्यां श्लिष्टवर्णः, किन्तु विदिग्दलेष्वन्यथा, कर्णिकाक्षरं तु श्लिष्टमेव। एवं खड्गबन्धादिकमप्यूह्यम्।

काव्यान्तर्गडुभूततया तु नेह प्रपञ्च्यते।

उदाहरण के लिये यह स्वरचित 'पद्मबन्ध'—

'मारमा सुषमा...........'

[जिसका अर्थ यह है—मार-मा-सुषमा = मार अर्थात् कामदेव की मा = शोभा की भाँति सुषमा अथवा शोभावाली, चारुरुचा मारवधूत्तमा = अपनी सुन्दरता से मार अर्थात् कामदेव की वधू रति को भी पराजित करनेवाली, मात्तधूर्ततमावासा = विट-चेट आदि के द्वारा अप्राप्य भवन में विराजमान, सा वामा=वह सुन्दरी, मेऽस्तु=मुझे मिल जाय, रमा माऽस्तु=भले ही, लक्ष्मी न मिले]

यह उपर्युक्त पद्मबन्ध 'अष्टदल-पद्म'-बन्ध है। इसके अष्टदलपद्मबन्ध होने का अभिप्राय यह है कि इसके कतिपय वर्ण चारों दिशाओं में फैले दलों अथवा किसलयों पर निर्गम और प्रवेश अर्थात् अनुलोम और प्रतिलोम-पाठ में श्लिष्ट अथवा एकरूप के लगा करते हैं और कतिपय ऐसे भी रहा करते हैं जो विदिशाओं में विस्तृत दलों पर केवल प्रवेश अथवा निर्गम (केवल अनुलोम अथवा केवल प्रतिलोम पाठ) के कारण श्लिष्ट अथवा एकरूप नहीं रहा करते। इसका जो कर्णिकाक्षर है वह श्लिष्ट अथवा एकरूप का ही रहा करता है। इस प्रकार के चित्र-बन्ध की भाँति अन्य भी चित्र-प्रकार जैसे कि खड्गबन्ध आदि स्वयं समझ लिये जा सकते हैं।

यहां चित्रालङ्कार का भेद-प्रभेद सविस्तर नहीं बताया जा रहा है क्योंकि काव्य के लिये यह अलङ्कार एक ऐसी गांठ का काम करता है जिससे रस का प्रवाह विच्छिन्न हो जाता है और सहृदयहृदय उद्विग्न हो उठता है।

विमर्श—(क) प्रायः सभी आलङ्कारिकों ने 'चित्र' अलङ्कार की चर्चा की है। ध्वनिवादी आलङ्कारिक इसे आभ्यासिक कवि की रचना कहा करते हैं। चित्रालङ्कार का निर्माण-नैपुण्य काव्य की एक तान्त्रिक साधना है। इस साधना का अभ्यास प्रायः सभी संस्कृत के कवि कर चुके हैं।

(ख) विश्वनाथ कविराज का चित्रालङ्कार-लक्षण 'अलङ्कारसर्वस्व' के इस चित्र-लक्षण का अनुसरण करता है—

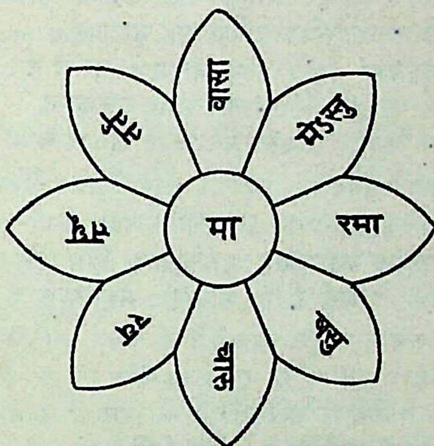
'वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम्।'

पौनरुक्त्यप्रस्तावे स्थानविशेषश्लिष्टवर्णपौनरुक्त्यात्मकं चित्रवचनम्। यद्यपि लिप्यक्षराणां खड्गादिसंनिवेशविशिष्टत्वं तथापि श्रोत्राकाशसमवेत-वर्णात्मक-शब्दाभेदेन तेषां लोके प्रतीतेर्वाचकशब्दालङ्कारोऽयम्।

—अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २०

(ग) विश्वनाथ कविराज द्वारा उदाहृत 'अष्टदलपद्मचित्र' इस प्रकार देखा जा सकता है—

(अष्टदलपद्मचित्र)



(घ) चित्रालङ्कार का विशद विवेचन सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने किया है। सरस्वतीकण्ठाभरणकार के अनुसार 'चित्र' ध्वनिशून्य रचना नहीं जिससे वह आलेख्य की भाँति निर्जीव लगा करे। चित्र की परिभाषा वस्तुतः यह है—

'वर्णस्थानस्वराकारगतिबन्धान् प्रतीह यः। नियमस्तद् बुधैः षोढा चित्रमित्यभिधीयते ॥'

अर्थात् 'चित्र' वह रचना है जो कि व्यञ्जन, (उच्चारण) स्थान, स्वर, पद्मादि आकृति, गति (पढ़ने का विशेष ढंग) और बन्ध के नियम से आश्चर्यजनक हुआ करती है।

'चित्र' के अनेकानेक भेद-प्रभेद हैं जो कि उपर्युक्त षड्विध वर्णादि-नियम के ही परिणाम हैं। वर्ण अथवा व्यञ्जन-नियम के कारण 'वर्णचित्र' बनता है जिसे निम्न सूक्ति में देखा जा सकता है—

'न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥'

यहाँ 'न' इस एक व्यञ्जन के ही नियमतः प्रयोग से 'एकव्यञ्जन-चित्र' बना हुआ है।

स्थान नियम से 'स्थान-चित्र' की रचना हुआ करती है जिसमें 'निष्कण्ठ्य', 'निस्तालव्य', 'निरोष्ठ्य' आदि-आदि के अनेकों भेद-प्रभेद हैं। उदाहरण के लिये यह 'निष्कण्ठ्य-चित्र'—

'भूरिभूतिं पृथुप्रीतिमुरुमूर्तिं पुरुस्थितिम्।
विरिञ्चिं सूचिरुचिधीः शुचिभिर्नुतिभिर्धिनु ॥'

स्वर-नियम से 'स्वर चित्र' रचे जाते हैं। इस 'स्वरचित्र' के भी 'ह्रस्वैकस्वर', 'दीर्घैकस्वर' आदि-आदि भेद-प्रभेद हैं। जैसे कि, यह 'ह्रस्वैकस्वर'-चित्र—

'उरुगुं द्युगुरुं युत्सु चुक्रुशुस्तुष्टुवुः पुरु। लुलुभुः पुपुषुर्मुत्सु मुमुहुर्नु मुहुर्मुहुः ॥'

आकार-नियम के परिणाम-स्वरूप पद्मादि आकृतिओं के उन्मुद्रण में जो 'चित्र' बना करता है उसके प्रकार-वैचित्र्य का क्या कहना ? आकार-चित्रों में चतुर्दलपद्म, अष्टदलपद्म, षोडशदलपद्म, आदि-आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जैसे कि 'अष्टदलपद्म'—

'याश्रिता पावनतया यातनच्छिदनीचया।
याचनीया धिया माया यामायासं स्तुता श्रिया ॥'

गति-नियम भी चित्र-निर्माण का कारण है। गति-चित्र के भी अनेकों भेद हैं जिनमें 'गत-प्रत्यागत', 'तुरङ्ग-पद', 'सर्वतोभद्र' आदि प्रसिद्ध हैं। उदाहरण के लिये 'गतप्रत्यागत' चित्र—

'वारणागगभीरा सा साराभीगगणारवा। कारितारिवधा सेना नासेधावरितारिका ॥'

बन्ध-नियम से 'चित्र' के अनेकानेक भेद निकल पड़ते हैं जिनमें 'द्विचतुष्कचक्रबन्ध' 'द्विशृङ्गाटकबन्ध', 'विविडितबन्ध' आदि मुख्य हैं। उदाहरण के लिये 'व्योमबन्ध'—

'कमलावलिहारिविकासविशेषवहं जनकाङ्क
न नगामिकरं दिवि सारमनारमणं जरतां न।
तमसां बलहानि विलासवशेन वरं जनकान्त
न नमामि चिरं सवितारमनादिमहं जगतां न ॥'

'चित्र' की भेद-गणना असंभव है। साथ ही साथ काव्य-साहित्य में इसका कोई विशेष उपयोग भी नहीं। सरस्वतीकण्ठाभरणकार का इसीलिये यह कथन है—

'दुष्करत्वात् कठोरत्वाद् दुर्बोधत्वाद् विनावधेः।
दिङ्मात्रं दर्शितं चित्रे शेषमूह्यं महात्मभिः ॥'

(ङ) साहित्यदर्पणकार ने उपर्युक्त चित्र-भेदों में केवल आकृति-नियम के चित्र-भेदों का निर्देश किया जिनमें, 'अष्टदलपद्मचित्र' की रचना का संकेत भी कर दिया है। 'अष्टदलपद्मचित्र' के निर्माण का यह नियम है जैसा कि सरस्वतीकण्ठाभरणकार का कथन है—

'कर्णिकायां न्यसेदेकं द्वे द्वे दिक्षु विदिक्षु च।
प्रवेशनिर्गमौ दिक्षु कुर्यादष्टदलाम्बुजे ॥'

अर्थात् 'अष्टदलपद्म' में एक वर्ण कर्णिका अथवा बीजकोष के केन्द्र में रहना चाहिये और पूर्व आदि दिशाओं तथा पूर्व-पश्चिम आदि की विदिशाओं में दो-दो वर्णों को विन्यस्त करना चाहिये। दिशाओं में विन्यस्त वर्णों का अनुलोम-प्रतिलोम पाठ हुआ करता है और विदिशाओं में स्थित वर्ण केवल अनुलोमतः पढ़े जाया करते हैं।

कभी-कभी कविजन अपने काव्यों को देवार्पण करने के लिये 'अष्टदलपद्म' चित्र रचा करते हैं और उसमें अपने नाम भी अंकित रखा करते हैं। उदाहरण के लिये महाकवि राजशेखर-रचित यह 'अष्टदलकमल' चित्र जो कि 'राजशेखरकमल' कहा जाया करता है—

'रातावद्याधिराज्या विसररसविद्व्याजवाक्छ्मापकारा
राका पद्माभशेषा नयननननयनस्वा स्वया स्तव्यमारा।
रामा व्यस्तस्थिरत्वा तुहिननननहितुः श्रीः करद्वारधारा
राद्या रवास्तु मह्यं शिवममवशिव्यालविद्यावतारा ॥'

(च) ध्वनिवादी आलङ्कारिकों के लिये अलङ्कार-विवेचन आवश्यक है। विश्वनाथ कविराज ध्वनिवादी आलङ्कारिक हैं। विश्वनाथ कविराज ने 'चित्रालङ्कार' का सोदाहरण लक्षण-निरूपण किया है और इसे 'काव्यान्तर्गड्डुभूत' कहा है। किन्तु विश्वनाथ कविराज का यह सब विवेचन अलङ्कारशास्त्र की प्राचीन परम्परा का अनुसरण भले ही हो, 'रसात्मक वाक्य की अलङ्कार-योजना' का निरूपण कदापि नहीं। विश्वनाथ कविराज को 'चित्रकाव्य' नामक काव्य-प्रकार मान्य नहीं किन्तु शब्दालङ्कारों में 'चित्रालङ्कार' अवश्य मान्य है। ऐसा लगता है जैसे प्राचीन साहित्यिक परम्परा और नवीन काव्य-मर्यादा के द्वन्द्व में ही 'साहित्यदर्पण' की रचना हुई है और इसलिये साहित्यदर्पणकार का समीक्षणात्मक संतुलन जहाँ-तहाँ शिथिल हो गया है। चित्रालङ्कार यदि 'काव्यान्तर्गड्डुभूत' है और रसात्मक वाक्य को काव्य मानने वाले आचार्य के लिये तो ऐसा ही है—तब इसके लक्षण-निरूपण की भी कोई आवश्यकता न थी। किन्तु अलङ्कारसर्वस्वकार आचार्य रुय्यक और सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोजराज के प्रभाव में पड़कर विश्वनाथ कविराज ने चित्रालङ्कार को भी 'साहित्यदर्पण' के ही भीतर देख लिया है और सहृदयों को भी दिखाने का प्रयास कर दिया है। साहित्यिक रूढिओं से लड़ना कितना कठिन है!

(प्रहेलिका : अलङ्कारत्वखण्डन)

रसस्य परिपन्थित्वान्नालङ्कारः प्रहेलिका ॥ १३ ॥
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका ।

च्युताक्षरा दत्ताक्षरा च्युतदत्ताक्षरा च ।

उदाहरणम्—

'कूजन्ति कोकिलाः साले यौवने फुल्लमम्बुजम् ।
किं करोतु कुरङ्गाक्षी वदनेन निपीडिता ॥'

अत्र 'रसाले' इति वक्तव्ये 'साले' इति 'र' च्युतः । 'वने' इत्यत्र 'यौवने' इति 'यौ' दत्तः । 'वदनेन' इत्यत्र 'मदनेन' इति 'म' च्युतः 'व' दत्तः । आदिशब्दात्क्रियाकारकगुप्त्यादयः ।

तत्र क्रियागुप्तिर्यथा—

'पाण्डवानां सभामध्ये दुर्योधन उपागतः ।
यस्मै गां च सुवर्णं च सर्वाण्याभरणानि च ॥'

अत्र 'दुर्योधनः' इत्यत्र 'अदुर्योऽधनः' इति । 'अदुः' इति क्रियागुप्तिः । एवमन्यत्रापि ।

अनुवाद—शब्दालङ्कारों में 'प्रहेलिका' को भी एक अलङ्कार माना गया है । किन्तु इसे अलङ्कार मानना ठीक नहीं क्योंकि इससे काव्यात्मभूत रस में विघ्न ही पड़ा करता है । 'प्रहेलिका' के 'च्युताक्षरा', 'दत्ताक्षरा', 'च्युतदत्ताक्षरा' आदि प्रकार अधिक से अधिक उक्तिवैचित्र्य-मात्र ही कहे जा सकते हैं ।

यहाँ कारिका के 'च्युतदत्ताक्षरादिका' पद में 'च्युताक्षरा', 'दत्ताक्षरा' और 'च्युतदत्ताक्षरा' इन तीन प्रकार की प्रहेलिकाओं का ग्रहण किया गया है ।

उदाहरण के लिये—

'साल पर कोयलें कूक रही हैं और यौवन में कमल खिले हुये हैं । यह मृगनयनी, जो कि वदन से निपीडित है, क्या करे ?'

यहाँ 'साले' में 'च्युताक्षरा' प्रहेलिका है क्योंकि यहाँ के उपयुक्त पद 'रसाले' के 'र' को छोड़ दिया गया है । यहीं 'यौवने' में 'दत्ताक्षरा' प्रहेलिका है । क्योंकि यहाँ के उचित 'वने' पद में 'यौ' को जोड़ दिया गया है । इसी प्रकार 'वदनेन' में 'च्युतदत्ताक्षरा' प्रहेलिका है क्योंकि यहाँ के उपयुक्त 'मदनेन' पद का 'म' निकल गया है (च्युत) और उसके स्थान पर 'व' चला आया है (दत्त) ।

कारिका के 'च्युतदत्ताक्षरादिका' पद में 'आदि' का प्रयोग इसलिये है जिसमें यहाँ 'क्रियागुप्ति', 'कारकगुप्ति' आदि-आदि प्रहेलिका-प्रकार संगृहीत मान लिये जाँय । जैसे कि क्रियागुप्ति—

'पाण्डवों की सभा में जो निर्धन व्यक्ति गया उसे उन्होंने गौ, भूमि, स्वर्ण किंवा नाना भाँति के रत्न दिये ।'

यहाँ 'क्रियागुप्ति' स्पष्ट है क्योंकि यहाँ 'दुर्योधनः' पद में 'अदुः' क्रिया छिपी हुई है । सभामध्ये दुर्योधनः' में यह छिपी क्रिया इस प्रकार निकलती है—'अदुः+यः+अधनः

(अर्थालङ्कार : १—उपमा)

अथावसरप्राप्तेष्वर्थालङ्कारेषु सादृश्यमूलेषु लक्षितव्येषु तेषामप्युपजीव्यत्वेन प्राधान्यात् प्रथममुपमामाह—

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः ॥ १४ ॥

रूपकादिषु साम्यस्य व्यङ्ग्यत्वम् , व्यतिरेके च वैधर्म्यस्याप्युक्तिः, उपमेयोपमायां वाक्यद्वयम् , अनन्वये त्वेकस्यैव साम्योक्तिरित्यस्या भेदः ।

उपागतः'। इसी प्रकार 'कारकगुप्ति' आदि रूप की प्रहेलिकाओं के उदाहरण स्वयं देख लिये जा सकते हैं।

विमर्श—(क) चित्रालङ्कार 'काव्यान्तर्गडुभूत' है और प्रहेलिका 'रसपरिपन्थिनी' है। तब इनका सोदाहरण लक्षण-निरूपण करना 'गड्डुरिकाप्रवाह' नहीं तो और क्या है ?

(ख) विश्वनाथ कविराज का 'प्रहेलिका'-निरूपण सरस्वतीकण्ठाभरणकार के प्रभाव में हुआ है। 'प्रहेलिका' क्या है ? सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने 'प्रहेलिका' को 'पहेली-बुझौवल' कहा है और इसके ६ प्रकारों का सविस्तर निरूपण किया है—

'प्रहेलिका सकृत्प्रश्नः साऽपि षोढा च्युताक्षरा। दत्ताक्षरोभयं मुष्टिर्बिन्दुमत्यर्थवत्यपि ॥
क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे । परव्यामोहने चापि सोपयोगा प्रहेलिका ॥'

(सरस्वतीकण्ठाभरण २. १३३-३४)

'प्रहेलिका' का उपयोग गोष्ठी-विनोद, रहस्यभाषण और दूसरे को व्यामोहित करने में ही है। इससे यह स्पष्ट है कि काव्य में 'प्रहेलिका' का कोई स्थान नहीं।

(ग) विश्वनाथ कविराज द्वारा निर्दिष्ट 'क्रियागुप्ति' 'कारकगुप्ति' आदि प्रहेलिका-प्रकार सरस्वतीकण्ठाभरण के अनुसार 'गूढ' के भेद-प्रभेद हैं—

क्रियाकारकसंबन्धे पदाभिप्रायवस्तुभिः। गोपितैः षड्विधं प्राहुर्गूढं गूढार्थवेदिनः ॥'

(सरस्वतीकण्ठाभरण २. १३५)

इनमें 'क्रियागुप्ति' का यह उदाहरण बड़ा सुन्दर है—

'स्तनजघनभराभिराममन्दं गमनमिदं मदिरारुणेक्षणायाः ।
कथमिव सहसा वलोकयन्तो मदनशरज्वरजर्जरा युवानः ॥'

यहाँ 'स्त' क्रियापद गुप्त है क्योंकि उपर्युक्त श्लोक-वाक्य इस प्रकार है—**'जघनभराभिराममन्दं मदिरारुणेक्षणायाः गमनमवलोकयन्तो हे युवानः ! कथमिव यूयं मदनशरज्वरजर्जरा न स्त ।'**

अनुवाद—अब, अर्थालंकारों के निरूपण के आरम्भ में, सादृश्यमूलक अर्थालङ्कारों का विवेचन आवश्यक समझ कर, सर्वप्रथम 'उपमा' का स्वरूप-विवेक किया जा रहा है क्योंकि यही वह अलङ्कार है जिसे सादृश्यमूलक अर्थालङ्कारों का मूल माना गया है और जो कि वस्तुतः एक सर्वाधिक चमत्कारपूर्ण अलंकार है :—

'उपमा' क्या है ? 'उपमा' वह अलंकार है, जिसे उपमान और उपमेय का ऐसा साम्य अथवा 'सादृश्य' कहा करते हैं जो कि स्पष्टतः एक वाक्य में प्रतिपादित रहा करता है और जिसमें वैधर्म्य की कोई भी चर्चा नहीं हुआ करती।

'उपमा दो पदार्थों का वह वैधर्म्यवाच्य साम्य है जो कि एक वाक्य-प्रतिपाद्य हुआ करता है'—इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि उपमा 'रूपक' आदि अलङ्कारों से भिन्न जिनमें (दो पदार्थों का) साम्य (वाच्य नहीं अपितु) व्यङ्ग्य हुआ करता है, 'व्यतिरेक' से

(उपमा के भेद-प्रभेद : १म पूर्णोपमा : श्रौती और आर्थी)

सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च ।
उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम्—

सा उपमा । साधारणधर्मो द्वयोः सादृश्यहेतू गुणक्रिये मनोज्ञत्वादि । औपम्यवाचकमिवादि । उपमेयं मुखादि । उपमानं चन्द्रादि ।

पृथक् है जिसमें (साम्य के साथ-साथ) वैधर्म्य की भी चर्चा रहा करती है, 'उपमेयोपमा' से एक रूप नहीं जिसमें साम्य (एक वाक्य में नहीं अपितु) दो वाक्यों में प्रतिपादित हुआ करता है और 'अनन्वय' से भी अलग है जिसमें (दो पदार्थों का नहीं अपितु) एक पदार्थ का ही साम्य वर्णित रहा करता है।

विमर्श—(क) काव्य में 'उपमा' की उपयोगिता और उत्कर्षाधायकता के संबन्ध में एक कवि ने यह कहा—

'अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसंपदाम् ।
उपमा कविवंशस्य मातेवेति, मतिर्मम ॥'

अर्थात् 'उपमा' वस्तुतः कविता की जननी है। 'उपमा' पर कविवंश का अस्तित्व निर्भर है। 'उपमा' कविता का सर्वस्व है और यही वह अलंकार है जो कि कविता का चूड़ामणि है।

आलंकारिक 'उपमा' को अलंकार-वृक्ष का बीज मानते हैं—

'उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालङ्कारबीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा ।'
(रुय्यक : अलङ्कारसर्वस्व)

अर्थात् 'उपमा' में वह शक्ति है जो कि अनेकानेक अलंकारों को जन्म दे सकती है। अलंकार का तात्पर्य वैचित्र्य है और उपमा समस्त वैचित्र्य की मातृभूमि है।

(ख) 'उपमा' को 'अवैधर्म्य साम्य' मानने का यह अभिप्राय है—'साम्य' अथवा 'साधर्म्य' के तीन प्रकार हैं—(१) भेदप्राधान्य जैसे कि 'व्यतिरेक' में, (२) अभेदप्राधान्य, जैसे कि रूपक में और (३) भेदाभेदतुल्यत्व। इस साम्य अथवा साधर्म्य के तृतीय प्रकार अर्थात् 'भेदाभेदतुल्यत्व' की संभावना में जो सादृश्य की अनुभूति है वह उपमा है (**एवं च भेदाभेदतुल्यत्वविषये यः सादृश्यप्रत्ययो जायते तस्योपमाविषयत्वमुक्तम्**—आचार्य जयरथ)। अलङ्कारसर्वस्वकार ने भी इसीलिए कहा है—

'**यत्र किञ्चित् सामान्यं कश्चिच्च विशेषः स विषयः सदृशतायाः ।**'

अर्थात् सादृश्य की प्रतीति का विषय वह वस्तु है जिसमें अभेदहेतुक सामान्य और भेदहेतुक विशेष दोनों रहा करते हैं।

अनुवाद—**यह उपमा तब 'पूर्णोपमा' हुआ करती है जबकि इसमें उपमेय, उपमान, साधारण धर्म और उपमावाचक पद सभी स्पष्टतया प्रतिपादित रहा करते हैं।**

यहां कारिका में 'सा' का अभिप्राय 'उपमा' का है, 'साधारण धर्म' का अभिप्राय उपमान और उपमेयरूप से अवस्थित दो पदार्थों के पारस्परिक सादृश्य के नियामक 'मनोज्ञत्व' (सौन्दर्य) आदि गुण किंवा क्रिया आदि का है और 'औपम्यवाचक' का अभिप्राय सादृश्य के साक्षात् प्रतिपादक 'इव' आदि पदों का अभिप्राय है। 'उपमेय' उसे कहते हैं जो कि सादृश्य का आश्रयभूत पदार्थ हुआ करता है जैसे कि 'मुख' आदि और 'उपमान' वह है जिसे सादृश्य का निश्चितरूप से संबन्धी पदार्थ कहा जाया करता है जैसे कि 'चन्द्र' आदि।

—इयं पुनः ॥ १५ ॥

श्रौती यथेववाशब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि ।
आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वा वतिः ॥ १६ ॥

यथेववादयः शब्दा उपमानानन्तरप्रयुक्ततुल्यादिपदसाधारणा अपि श्रुतिमात्रेणोपमानोपमेयगतसादृश्यलक्षणसम्बन्धं बोधयन्तीति तत्सद्भावे श्रौत्युपमा। एवं 'तत्र तस्येव' इत्यनेनेवार्थे विहितस्य वतेरुपादाने। तुल्यादयस्तु—'कमलेन तुल्यं मुखम्' इत्यादावुपमेय एव। 'कमलं मुखस्य तुल्यम्' इत्यादावुपमान एव। 'कमलं मुखं च तुल्यम्' इत्यादावुभयत्रापि विश्राम्यन्तीत्यर्थानुसन्धानादेव साम्यं प्रतिपादयन्तीति तत्सद्भावे आर्थी। एवं 'तेन तुल्यम्—' इत्यादिना तुल्यार्थे विहितस्य वतेरुपादाने।

यह 'पूर्णोपमा' दो प्रकार की हुआ करती है—(१) वह, जिसे 'श्रौती' पूर्णोपमा कहा करते हैं क्योंकि इसमें 'यथा', 'इव', 'वा' आदि जैसे औपम्यवाचक पद अथवा 'इव' के अर्थ में विहित 'वति' प्रत्यय का प्रयोग हुआ करता है जिसके श्रवणमात्र से ही सादृश्य का अभिप्राय प्रतीत हो उठता है और (२) वह, जो कि 'आर्थी' पूर्णोपमा कही गई है क्योंकि इसमें प्रयुक्त 'तुल्य', 'समान' आदि औपम्यवाचक पद अथवा तुल्यार्थक 'वति' प्रत्यय से जो सादृश्य प्रतीत हुआ करता है वह (साक्षात् नहीं अपितु) अर्थानुसन्धान-पूर्वक ही प्रतीत हुआ करता है।

यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि क्योंकर 'यथा', 'इव', 'वा' आदि जैसे किसी पद के प्रयोग में उपमा 'श्रौती' हुआ करती है। 'यथा', 'इव', 'वा' आदि के रहने से उपमा इसलिये 'श्रौती' हुआ करती है क्योंकि ये पद ऐसे हैं जो कि उपमान के बाद 'प्रयुक्त' किये जानेवाले 'तुल्य' आदि पदों के समान होने पर भी, श्रवणमात्र से ही उपमान और उपमेय दोनों में अनुगत सादृश्य के स्वरूप को स्पष्ट प्रकट कर दिया करते हैं। इसी भाँति 'तत्र तस्येव' (५-१-११६) इस पाणिनि-सूत्र से 'इव' के अर्थ में विहित 'वति' प्रत्यय के प्रयोग में भी उपमा 'श्रौती' ही हुआ करती है क्योंकि इस प्रत्यय का श्रवणमात्र ही उपमान और उपमेय के पारस्परिक साम्य का स्पष्ट परिचय दे दिया करता है।

किन्तु 'तुल्य' आदि पदों के प्रयोग में उपमा 'आर्थी' हुआ करती है। 'तुल्य' आदि पदों के प्रयोग में उपमा के 'आर्थी' होने का कारण यह है कि उपमान और उपमेय दोनों में अनुगम सादृश्य के मूलभूत साम्य अथवा साधर्म्य का प्रतिपादन इनके श्रवणमात्र से नहीं अपितु इनके अर्थावबोध के कारण हुआ करता है क्योंकि कहीं जैसे कि 'कमल के तुल्य मुख है' आदि में 'तुल्य' आदि पद केवल उपमेय से संबद्ध प्रतीत होते हैं, कहीं जैसे कि 'कमल मुख के तुल्य है' आदि में 'तुल्य' आदि पद केवल उपमान से संबद्ध दिखाई देते हैं और कहीं-कहीं जैसे कि 'कमल और मुख तुल्य हैं' आदि में ऐसा भी होता है कि ये पद उपमान और उपमेय दोनों में संबद्ध लगा करते हैं (इसलिये जब तक इनके अर्थ का पर्यालोचन न हो जब तक उभयगत साम्य अथवा साधर्म्य का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता)। इसी प्रकार 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (५-१-१५) इस पाणिनिसूत्र से विहित 'वति' प्रत्यय के अर्थानुसन्धान से साम्य का अवबोध होने के कारण, इस प्रत्यय के प्रयोग में भी उपमा 'आर्थी' ही हुआ करती है।

(पूर्णोपमागत भेद : तद्धितगा, समासगा और वाक्यगा पूर्णोपमा)

द्वे तद्धिते समासेऽथ वाक्ये—

द्वे श्रौती आर्थी च। उदाहरणम्—

(तद्धितगा, समासगा और वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा)

'सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य कुम्भाविव स्तनौ पीनौ।
हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले !॥'

अत्र क्रमेण त्रिविधा श्रौती।

विमर्श—उपमा के 'श्रौती' होने का तात्पर्य सादृश्य का 'इवादि' शब्द से प्रतिपादित होना है—इवादि शब्द दो भिन्न वस्तुओं के सादृश्य के अभिधायक हुआ करते हैं—'यथेवशब्दौ सादृश्यमाहतुर्व्यतिरेकिणोः' (भामह)।

'उपमा' का 'आर्थी' होना 'तुल्यादि' शब्द से सादृश्य का प्रत्यायन है जैसा कि आचार्य मल्लिनाथ का कथन है—

'इवादीनामप्यर्थात् सदृशपर्यवसानं श्रुत्या तु सादृश्यगमकत्वमेवेति तत्प्रयोगे श्रौतीत्यर्थः। तुल्यादिशब्दानां तु श्रुत्या सदृशपरत्वमर्थात्तु सादृश्यपर्यवसानमिति तेषां प्रयोगे त्वार्थीत्याह।'

अनुवाद—'श्रौती' और 'आर्थी' प्रकारों की यह द्विविध पूर्णोपमा तद्धितगा, समासगा और वाक्यगा होने के कारण ६ प्रकार की हो जाया करती है।

यहाँ कारिका में 'द्वे' से श्रौती और आर्थी दोनों प्रकार की पूर्णोपमाओं का अभिप्राय लिया गया है। जैसे कि—

अनुवाद—'अरी सुन्दरी ! तेरे मुख का सौरभ कमलवत् है, तेरे दोनों स्तन दो घड़ों की भाँति पीन (मोटे) हैं और तेरा मुख उसी प्रकार हृदय को आनन्दित किया करता है जिस प्रकार शरद् ऋतु का चन्द्रमा।'

यहाँ पूर्वार्द्ध के प्रथम और द्वितीय वाक्य में क्रमशः 'तद्धितगा' और 'समासगा' श्रौती पूर्णोपमा है और उत्तरार्ध में 'वाक्यगा' श्रौती पूर्णोपमा परिलक्षित हो रही है।

[यहां 'सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य' में तद्धितगा श्रौती पूर्णोपमा है—उपमेय 'मुख' हैं, उपमान अम्भोरुह है, सौरभ दोनों में अनुगत साधारण धर्म है और 'अम्भोरुहवत्' (अम्भोरुहस्येव अम्भोरुहवत्) में 'इव' के अर्थ में विहित तद्धित प्रत्यय 'वति' के रूप में औपम्यवाचक पद भी विराजमान है। इसी प्रकार—'कुम्भाविव स्तनौ पीनौ' में समासगा श्रौती पूर्णोपमा दिखायी दे रही है क्योंकि यहां उपमेय 'स्तन', उपमान 'कुम्भ', साधारण धर्म 'पीनत्व' और उपमावाचक पद 'इव'—ये उपमा के चारों अङ्ग विराजमान हैं। यह श्रौती पूर्णोपमा 'समासगा' इसलिये है क्योंकि यहां 'कुम्भाविव' समस्तपद है जिसमें 'इवेन समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' इस वार्तिक के अनुसार समास तथा विभक्ति के लोप का अभाव दोनों स्पष्ट हैं। इसी भाँति 'हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले' में वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा का स्वरूप स्पष्ट है क्योंकि यहां 'वदन' उपमेय है, 'शरदिन्दु' उपमान है, 'मादकता' साधारण धर्म है और 'यथा' के रूप में औपम्यवाचक पद भी विद्यमान है।]

(तद्धितगा, समासगा और वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा)

'मधुरः सुधावदधरः पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः।
चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः ॥'

अत्र क्रमेण त्रिविधा आर्थी।

—पूर्णा षडेव तत्।

स्पष्टम्।

(लुप्तोपमा : भेद-प्रभेद)

लुप्ता सामान्यधर्मादेरेकस्य यदि वा द्वयोः ॥ १७ ॥
त्रयाणां वानुपादाने श्रौत्यार्थी सापि पूर्ववत्।

सा लुप्ता।

अनुवाद—'उस सुन्दरी का अधर सुधावत् मधुर है, हाथ पल्लवतुल्य सुकुमार हैं और नेत्र चकित मृग के नेत्रों के समान चञ्चल हैं।'

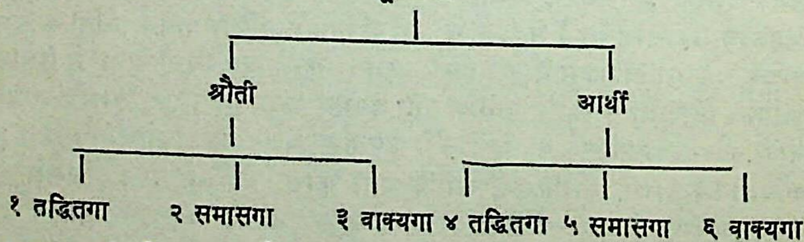
यहाँ प्रथमार्ध के प्रथम वाक्य में 'तद्धितगा', द्वितीय वाक्य में 'समासगा' और उत्तरार्ध में 'वाक्यगा' आर्थी पूर्णोपमा क्रमशः दिखायी दे रही हैं।

['मधुरः सुधावदधरः' में तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा है क्योंकि यहाँ अधर 'उपमेय', सुधा 'उपमान', माधुर्य 'साधारण धर्म' और (सुधावत् में) 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (५ १. ११५) इस पाणिनि-सूत्र से 'तुल्य' के अर्थ में विहित तद्धित 'वति' प्रत्ययरूप औपम्यवाचक पद—ये चारों विराजमान हैं। 'पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः' में समासगा आर्थी पूर्णोपमा का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है क्योंकि यहाँ उपमेय 'पाणि' उपमान 'पल्लव', साधारण धर्म 'सौकुमार्य' और (पल्लवतुल्य में) औपम्यवाचक समासगत 'तुल्य' पद, ये सभी उपमा के अङ्ग उपस्थित हैं। इसी प्रकार 'चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः' में वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा की शोभा दिखायी दे रही है क्योंकि यहां लोचन 'उपमेय', चकितमृगलोचन 'उपमान', चपलता 'साधारणधर्म' और सदृश के रूप में 'औपम्यवाचक' पद, ये चारों उपमा के अङ्ग विद्यमान हैं।]

इस प्रकार यह सिद्ध है कि पूर्णोपमा ६ प्रकार की हुआ करती है।

'पूर्णा षडेव तत्' आदि कारिकांश स्वयं स्पष्ट है।

विमर्श—'पूर्णोपमा' के प्रकारषट्क का कोष्ठक :—



अनुवाद—'लुप्तोपमा' वह है जिसमें उपमा के साधारण धर्म आदि अङ्ग-चतुष्टय में से एक या दो या तीन लुप्त रहा करते हैं। 'पूर्णोपमा' की ही भांति लुप्तोपमा भी मुख्यतः 'श्रौती' और 'आर्थी' दो रूपों की हुआ करती है।

यहां कारिका में 'सा' का अभिप्राय 'लुप्तोपमा' का अभिप्राय है।

तद्भेदमाह—

पूर्णावद्धर्मलोपे सा विना श्रौतीं तु तद्धिते ॥ १८ ॥

सा लुप्तोपमा धर्मस्य साधारणगुणक्रियारूपस्य लोपे पूर्णावदिति पूर्वोक्त-रीत्या षट्प्रकारा, किं त्वत्र तद्धिते श्रौत्या असम्भवात्पञ्चप्रकारा।

उदाहरणम्—

'मुखमिन्दुर्यथा पाणिः पल्लवेन समः प्रिये।
वाचः सुधा इवोष्ठस्ते बिम्बतुल्यो मनोऽश्मवत् ॥'

इस 'लुप्तोपमा' का भेद-परिगणन किया जा रहा है—

सर्वप्रथम वह लुप्तोपमा, जिसमें साधारण धर्म लुप्त अथवा अप्रतिपादित रहा करता है और जिसे 'धर्मलुप्ता उपमा' कहा जाया करता है, पूर्णोपमा की भाँति ६ प्रकार की होनी चाहिये किन्तु तद्धित में इसके 'श्रौतीरूप' की असंभावना के कारण, पांच प्रकार की ही मानी जाया करती है।

तात्पर्य यह है कि गुण अथवा क्रियारूप साधारण धर्म के लोप अथवा अनुपादान में जो 'लुप्तोपमा' हुआ करती है उसमें, पूर्वप्रतिपादित प्रकार से, पूर्णोपमा की भांति, प्रकार-षट्क की संभावना है किन्तु वस्तुतः इसके जितने प्रकार माने जाया करते हैं वे पांच ही हैं क्योंकि 'तद्धितगा श्रौती लुप्तोपमा' नामक प्रकार की कोई रूप-रेखा यहां बनती नहीं दिखायी देती (कारण यह है कि 'तत्र तस्येव' सूत्र से षष्ठ्यन्त अथवा सप्तम्यन्त साधर्म्य-वाचक पद के ही सहारे 'वति' रूप तद्धित प्रत्यय विहित हो सकता है किन्तु जब कि यहाँ साधर्म्यवाचक पद का लोप अथवा अनुपादान है तब तो यह निश्चित ही है कि 'वति' प्रत्यय प्रयुक्त ही नहीं हो सकता और साधारण धर्म के लोप में 'तद्धितगा श्रौती लुप्तोपमा' की कोई संभावना भी नहीं हो सकती)।

उदाहरण के लिये—

'प्रिये ! तुम्हारा मुख चन्द्रमा की भाँति है, तुम्हारा हाथ पल्लव के समान है, तुम्हारी वाणी सुधा सरीखी है, तुम्हारे ओठ बिम्बतुल्य हैं किन्तु तुम्हारा मन अश्मवत् (पत्थर की भाँति) है।'

['मुखमिन्दुर्यथा' में वाक्यगा श्रौती धर्मलुप्तोपमा है क्योंकि मुख 'उपमेय', इन्दु 'उपमान' तथा 'यथा' औपम्यवाचक पद—ये तीनों यहां, इस वाक्य में, उपस्थित हैं किन्तु 'मदयति अथवा आनन्दयति' का साधारण धर्म लुप्त अथवा अप्रतिपादित पड़ा है। 'पाणिः पल्लवेन समः' में वाक्यगा आर्थी धर्मलुप्तोपमा है क्योंकि पाणि के रूप में 'उपमेय' पल्लव के रूप में 'उपमान' और सम के रूप में 'औपम्यवाचक' पद तो हैं किन्तु कोमलता का साधारण धर्म लुप्त है। 'वाचः सुधा इव' में समासगा श्रौती धर्म लुप्तोपमा है क्योंकि यहाँ माधुर्यरूप साधारण धर्म तो अप्रयुक्त है किन्तु उपमेय 'वाणी' उपमान 'सुधा' और 'सुधा इव' में 'इवेन सह' आदि वार्तिक के अनुसार, विभक्त्यलोप के साथ, औपम्यवाचक समासगत 'इव' पद—तीनों उपस्थित हैं। 'ओष्ठस्ते बिम्बतुल्यः' में समासगा आर्थी धर्म-लुप्तोपमा दिखायी दे रही है क्योंकि यहां 'रक्तता' का साधारण धर्म अनुपात्त है और उपमेय के रूप में 'ओष्ठ', उपमान के रूप में 'बिम्ब' और औपम्यवाचक पद के रूप में समासगत 'तुल्य' शब्द विराजमान हैं। इसी प्रकार 'मनोऽश्मवत्' में तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्तोपमा स्पष्ट है क्योंकि यहाँ तृतीयान्त 'अश्मन्' शब्द से 'तुल्य' के अर्थ में 'तेन

(धर्मलुप्तोपमा के पाँच-प्रकार)

आधारकर्मविहिते द्विविधे च क्यचि क्यङि ।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि च स्यादेवं पञ्चधा पुनः ॥ १९ ॥

(१—आधार और २ कर्म से विहित 'क्यच्' प्रत्यय के प्रयोग में धर्मलुप्तोपमा)

'धर्मलोपे लुप्ता' इत्यनुषज्यते । क्यच्-क्यङ्-णमुलः कलापमते इन्-आयिणमः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'अन्तःपुरीयसि रणेषु, सुतीयसि त्वं
पौरं जनं तव सदा रमणीयते श्रीः ।
दृष्टः प्रियाभिरमृतद्युतिदर्शमिन्द्र-
सञ्चारमत्र भुवि सञ्चरसि क्षितीश ! ॥'

अत्र 'अन्तःपुरीयसि' इत्यत्र सुखविहारास्पदत्वस्य, 'सुतीयसि' इत्यत्र स्नेहनिर्भरत्वस्य च साधारणधर्मस्य लोपः ।

तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' से विहित 'वति' रूप औपम्यवाचक तद्धित प्रत्यय, उपमान के रूप में 'अश्म' और उपमेय के रूप में 'मन'—ये तीन तो स्पष्टतया प्रतिपादित हैं किन्तु कठिनता का साधारण धर्म लुप्त है । इस प्रकार यहाँ 'धर्मलुप्तोपमा' के प्रकार-पञ्चक का निदर्शन स्पष्ट है ।]

विमर्श—धर्मलुप्तोपमा को सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने 'लुप्तपूर्णा' उपमा कहा है—'लोपे सामान्यधर्मस्य लुप्तपूर्णेति गद्यते' (सरस्वतीकण्ठाभरण ४. १७) । 'लुप्तपूर्णा' का उदाहरण यह है—'राजीवमिव ते वक्त्रं नेत्रे नीलोत्पले इव । रम्भास्तम्भाविवोरू च करिकुम्भाविव स्तनौ ॥'

धर्मलुप्तोपमा के उपर्युक्त पाँचों प्रकार वस्तुतः 'लुप्तपूर्णा' की कल्पना में अन्तर्भूत प्रतीत होते हैं । ऐसा लगता है कि विभाजन के आग्रह के कारण अन्य आलङ्कारिकों को 'लुप्तपूर्णा' मान्य नहीं हुई ।

अनुवाद—इस धर्मलुप्तोपमा के ये अन्य भी पाँच प्रकार हुआ करते हैं—(१) आधार अथवा अधिकरण से विहित 'क्यच्' प्रत्यय के प्रयोग में, (२) कर्म से विहित 'क्यच' प्रत्यय के प्रयोग में, (३) कर्ता से विहित 'क्यङ्' प्रत्यय के प्रयोग में, (४) कर्मोपपद 'णमुल्' प्रत्यय के प्रयोग में और (५) कर्त्रुपपद 'णमुल्' प्रत्यय के प्रयोग में ।

यहाँ कारिका में पूर्वकारिका से 'धर्मलोपे लुप्ता' इस पद का अध्याहार है । पाणिनि-व्याकरण के मत में जो 'क्यच्', 'क्यङ्' और 'णमुल्' प्रत्यय हैं, वे ही कलाप अथवा कातन्त्र व्याकरण के मत में क्रमशः 'इन्', 'आयि' और 'णम्' कहे जाया करते हैं ।

धर्मलुप्तोपमा के इन पाँचों प्रकारों के उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं—

'महाराज ! आप ही ऐसे हैं जो संग्रामों में ऐसा किया करते हैं जैसे अन्तःपुर में, आप ही ऐसे हैं जो अपने प्रजाजन के प्रति पुत्र की भाँति व्यवहार किया करते हैं, आप ही ऐसे हैं जिनके लिये राजलक्ष्मी रमणी की भाँति रहा करती है, आप ही ऐसे हैं जो अपनी प्रेमिकाओं द्वारा चन्द्र की भाँति देखे जाया करते हैं और आप ही ऐसे हैं जो इस भूलोक में इन्द्र की भाँति विचरण किया करते हैं ।'

यहाँ 'अन्तःपुरीयसि' (अन्तःपुरेष्विवाचरसि—अन्तःपुरीयसि—'उपमानादाचारे'

एवमन्यत्र।

इह च यथादितुल्यादिविरहाच्छ्रौत्यादिविशेषचिन्ता नास्ति। इदं च केचिदौपम्यप्रतिपादकस्येवादेर्लोप उदाहरन्ति, तदयुक्तम्—क्यङादेरपि तदर्थविहितत्वेनौपम्यप्रतिपादकत्वात्।

ननु क्यङादिषु सम्यगौपम्यप्रतीतिर्नास्ति प्रत्ययत्वेनास्वतन्त्रत्वाद् इवादिप्रयोगाभावाच्चेति न वाच्यम्, कल्पबादावपि तथाप्रसङ्गात्। न च कल्पबादी-

---

(३-१-१०) सूत्र के अन्तर्गत 'अधिकरणाच्चेति०' इस वार्तिक के द्वारा, उपमानवाचक 'अन्तःपुरे' रूप अधिकरण पद से आचार के अर्थ में विहित क्यच् प्रत्यय) में 'सुखपूर्वक विहार' का साधारण धर्म लुप्त है और 'सुतीयसि' (सुतं पुत्रमिवाचरसि सुतीयसि-'उपमानादाचारे' सूत्र से उपमानवाचक 'सुतम्' रूप कर्मपद से आचार के अर्थ में विहित क्यच् प्रत्यय) में 'स्नेहाधिक्य' का साधारण धर्म अनुपात्त है। इसी भांति 'रमणीयते' (रमणी इव आचरति-रमणीयते-'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' ३-१-११ सूत्र से उपमानवाचक 'रमण' रूप कर्तृपद से आचार के अर्थ में विहित 'क्यङ्' प्रत्यय) 'वशंवदता अथवा अधीनता' के साधारण धर्म का लोप, 'अमृतद्युतिदर्शम्' (अमृतद्युतिमिव दृष्ट्वा-अमृतद्युतिदर्शम्-'उपमाने कर्मणि च' २३-४-३५ सूत्र से, उपमानवाचक 'अमृतद्युतिम्' इस कर्मोपपद में, दृश् धातु से भाव में णमुल् प्रत्यय तथा 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः'—३-४-४९, यस्माण्णमुलुक्तः स एव धातुरनुप्रयोक्तव्यः' के अनुसार दृश् धातु का अनुप्रयोग) में 'लोचनाह्लादकत्व' के साधारण धर्म का लोप और 'इन्द्रसञ्चारं सञ्चरसि' (इन्द्र इव चरित्वा इन्द्रसञ्चारं सञ्चरसि, 'उपमाने कर्मणि च' ३-४-३५ सूत्र से उपमानवाचक इन्द्र रूप कर्त्रुपपद में 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'चर्' धातु से भाव में 'णमुल्' प्रत्यय) में 'अप्रतिहतगतित्व' के साधारण धर्म का लोप स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है।

धर्मलुप्तोपमा के इन उपर्युक्त पांचों प्रकारों में 'श्रौती' और 'आर्थी' रूपों के अनुसंधान की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि यहाँ यथा, इव आदि पद, जो कि उपमा के 'श्रौती' रूप के सूचक हैं और तुल्य, सदृश आदि पद जो कि उसके 'आर्थी' रूप के परिचायक हैं, व्यवहृत ही नहीं हो सकते।

कतिपय काव्याचार्य (जैसे कि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट) क्यच् आदि प्रत्ययों के प्रयोग में निर्दिष्ट उपर्युक्त धर्मलुप्तोपमा को 'वाचकलुप्तोपमा' कहा करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में यहां उपमावाचक पद का लोप दिखायी दिया करता है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि 'क्यङ्' आदि प्रत्यय ऐसे हैं जो 'इव' के अर्थ में विहित हुआ करते हैं और औपम्य का अभिप्राय रखा करते हैं जिससे इनके प्रयोग में 'वाचकलुप्तोपमा' की मान्यता असंगत ही सिद्ध हो जाती है (यहां तो धर्मलुप्तोपमा की ही मान्यता युक्ति-संगत है और प्रमाणसिद्ध भी है)।

यहां यह कहना भी ठीक नहीं कि जब कि "क्यङ्' आदि प्रत्यय स्वतन्त्र नहीं और साथ ही साथ जब कि यहां 'इव' आदि पदों का भी प्रयोग नहीं, तब इनसे सादृश्य की समीचीन प्रतीति क्योंकर युक्तिसंगत हो। बात यह है कि यदि 'क्यङ्' आदि के प्रयोग में औपम्य की प्रतीति समीचीन नहीं मानी जा सकती तब 'कल्पप्' आदि प्रत्ययों के प्रयोग में औपम्य की प्रतीति क्योंकर समीचीन मान ली जाय? यहां यह कहना भी निरर्थक ही है कि 'कल्पप' आदि प्रत्यय तो 'इव' आदि की भांति औपम्य के अभिधायक

नामिवादितुल्यतयौपम्यस्य वाचकत्वम्, क्यङादीनां तु द्योतकत्वम्; इवादीनामपि वाचकत्वे निश्चयाभावात्। वाचकत्वे वा 'समुदितं पदं वाचकम्' 'प्रकृतिप्रत्ययौ स्वस्वार्थबोधकौ' इति च मतद्वयेऽपि वत्यादिक्यङाद्योः साम्यमेवेति। यच्च केचिदाहुः—'वत्यादय इवाद्यर्थेऽनुशिष्यन्ते, क्यङादयस्त्वाचाराद्यर्थे' इति, तदपि न; न खलु क्यङादय आचारमात्रार्थाः अपि तु सादृश्याचारार्था इति। तदेवं धर्मलोपे दशप्रकारा लुप्ता।

हैं किन्तु 'क्यङ्' आदि ऐसे हैं जिन्हें औपम्य का अभिधायक अथवा वाचक नहीं अपितु द्योतक अथवा व्यञ्जक ही कहा जा सकता है क्योंकि इसका कहां से निश्चय कि 'इव' आदि औपम्य के वाचक ही हैं (द्योतक नहीं), और यदि 'कल्पप्' आदि को औपम्य का वाचक ही माना जाय तब इसी सिद्धान्त के अनुसार ऐसा माना जा सकता है कि 'प्रकृति-प्रत्ययरूप समुदित पद ही वाचक पद है' और 'प्रकृति तथा प्रत्यय अपने-अपने अर्थ के बोधक हुआ करते हैं।' किन्तु तब 'कल्पप्' तथा 'वति' और 'क्यङ्' आदि प्रत्ययों में समानता ही माननी पड़ेगी (क्योंकि जैसे 'कल्पप्' प्रत्यय सादृश्य का वाचक अथवा द्योतक है वैसे ही 'वति' और 'क्यङ्' आदि प्रत्यय भी सादृश्य के वाचक अथवा द्योतक ही प्रत्यय हैं)।

यहां कुछ आलङ्कारिकों का यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं कि 'वति आदि प्रत्यय तो इव आदि के अर्थ में विहित हुआ करते हैं और क्यङ् आदि ऐसे हैं जो आचार आदि के अर्थ में अनुशिष्ट हैं (और इसलिये क्यङ् आदि के द्वारा औपम्य की समीचीन प्रतीति असंभव है)।' कारण यह है कि 'क्यङ्' आदि प्रत्यय केवल आचार का ही नहीं अपितु सादृश्यान्वित आचार का अभिप्राय रखा करते हैं (जिससे इनके प्रयोग में उपर्युक्त 'अन्तःपुरीयसि' आदि सूक्ति में वाचकलुप्तोपमा की अपेक्षा धर्मलुप्तोपमा की ही मान्यता अधिक युक्तियुक्त प्रतीत हो रही है)।

इस प्रकार साधारणधर्म के लोप में दस प्रकार की धर्मलुप्तोपमा स्पष्ट है।

विमर्श—(क) काव्यप्रकाशकार के अनुसार 'समासगता', 'कर्मक्यज्गता', आधारक्यज्गता', 'क्यङ्गता', 'कर्मणमुल्गता' और 'कर्तृणमुल्गता' लुप्तोपमायें 'वाचकलुप्ता' के भेद-प्रभेद हैं किन्तु साहित्यदर्पणकार ने इन्हें धर्मलुप्तोपमा के प्रकारपञ्चक के रूप में स्वीकार किया है। साहित्यदर्पणकार की यह मान्यता ही पण्डितराज जगन्नाथ की इस समीक्षा को जन्म देती है—

'अत्रेदमवधेयम्—कर्माधारक्यचि, क्यङि च वाचकलुप्तोदाहरणं प्राचामसंगतमिव धर्मलोपस्यापि तत्र संभवात्। न च क्यजाद्यर्थ आचार एव साधारणधर्मोऽस्तीति वक्तव्यम्। धर्ममात्ररूपस्याचारस्योपमाप्रयोजकत्वाभावात्। 'नारीयते सपत्नसेना' इत्यादौ वृत्त्यन्तरनिवेदितैः कातरत्वादिभिरभिन्नतयाऽध्यवसितस्याचारस्योपमानिष्पादकत्वात्। यदि च क्यङर्थे आचारमात्रमुपमानिष्पादकं स्यात्तदा 'त्रिविष्टपं तत्खलु भारतायते' इत्यादौ सुप्रसिद्धत्वादिरूपाचारोपस्थितावप्युपमालङ्कृतेरनिष्पत्तेः तस्यैव च 'सुपर्वभिः शोभितमन्तराश्रितैः' इति चरणान्तरनिर्माणे तस्या निष्पत्तेः क्यङाद्यर्थः साधारणोऽपि नोपमां प्रयोजयति। उपमाप्रयोजकतावच्छेदकरूपेण साधारणधर्मवाचकशून्यत्वस्यैव धर्मलोपशब्देनाभिधानात्। अन्यथा 'मुखरूपमिदं वस्तु प्रफुल्लमिव पङ्कजम्' इत्यादौ पूर्णोपमापत्तेरिति दिक्।' (रसगङ्गाधर : उपमाप्रकरण)

(ख) 'इव' आदि की 'वाचकता-द्योतकता' के संबन्ध में रसगङ्गाधरकार की ये पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

(उपमानलुप्तोपमा : वाक्यगा तथा समासगा)

उपमानानुपादाने द्विधा वाक्यसमासयोः ।

उदाहरणम्—

'तस्या मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते न वा नयनतुल्यम्'।

अत्र मुखनयनप्रतिनिधिवस्त्वन्तरयोर्गम्यमानत्वादुपमानलोपः। अत्रैव च 'मुखेन सदृशम्' इत्यत्र 'मुखं 'यथेदं' 'नयनतुल्यम्' इत्यत्र 'दृगिव' इति पाठे श्रौत्यपि संभवतीति । अनयोर्भेदयोः प्रत्येकं श्रौत्यार्थीत्वभेदेन चतुर्विधत्वसंभवेऽपि प्राचीनानां रीत्या द्विप्रकारत्वमेवोक्तम् ।

(वाचकलुप्तोपमा : समासगा और क्विप्प्रत्ययगा)

औपम्यवाचिनो लोपे समासे क्विपि च द्विधा ॥ २० ॥

'तत्रेवादीनां द्योतकत्वमेव न वाचकत्वम्, निपातत्वादुपसर्गवत्। द्योतकत्वञ्च स्वसमभिव्याहृतपदान्तरेण शक्त्या लक्षणया वा तादृशार्थबोधने तात्पर्यग्राहकत्वेनोपयोगित्वमिति वैयाकरणाः। उपसर्गाणां द्योतकत्वमावश्यकम्। अन्यथा 'उपास्यते गुरुः', 'अनुभूयते सुखम्' इत्यादौ गुर्वादेर्लेनाभिधानं न स्यात्। धात्वर्थकर्मताविरहात्। इवादीनां तु वाचकत्वम्, बाधकाभावात्। प्रागुक्तहेतुस्त्वप्रयोजकत्वान्न साधकः। अन्यथा अव्ययत्वादिति हेतुना अव्ययमात्रस्यैव द्योतकापत्तिरिति नैयायिकाः।'

(रसगङ्गाधर : उपमाप्रकरण)

अनुवाद—उपमान के लोप में जो 'उपमानलुप्तोपमा' हुआ करती है वह दो प्रकार की है—(१) वाक्यगा उपमानलुप्तोपमा और (२) समासगा उपमानलुप्तोपमा ।

जैसे कि—

'उसके मुख के सदृश कोई वस्तु सुन्दर नहीं और न उसके नयनतुल्य ही कोई सुन्दर वस्तु है।'

यहाँ उपमान का लोप है क्योंकि न तो यहाँ 'मुख' के प्रतिनिधिरूप में किसी अन्य वस्तु का उपादान है और न नयन के प्रतिनिधिरूप में ही किसी दूसरी वस्तु का प्रतिपादन है। यहाँ तो 'मुख' और 'नयन' के उपमानरूप से चन्द्र और पद्मरूप वस्तुओं की अभिव्यञ्जना हो जाती है (और उपमानलुप्ता उपमा की रूप-रेखा स्पष्ट झलक उठती है)। यहीं यदि 'मुखेन सदृशम्' के स्थान पर 'मुखं यथेदम्' और 'नयनतुल्यम्' के स्थान पर 'दृगिव' कर दिया जाय तो उपमानलुप्तोपमा के 'श्रौती'रूप की भी संभावना स्पष्ट दिखायी दे जाय। वैसे तो 'वाक्यगा' किंवा 'समासगा' उपमानलुप्तोपमा में भी 'श्रौती' और 'आर्थी' भेदों की संभावना है जिससे इसके चार प्रकार माने जा सकते हैं किन्तु प्राचीन आलङ्कारिकों की रीति का अनुसरण करते हुये, यहाँ इसके वाक्यगत और समासगत भेदों की ही गणना की गयी है।

विमर्श—'उपमानलुप्तोपमा' क्योंकर वाक्यगा और समासगा-दो प्रकारों की ही हो सकती है ? इसके संबन्ध में प्रदीपकार की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'न वा श्रौती। इवादीनामुपमानमात्रान्विततया तदनुपादाने तेषामप्यनुपादानात् अतो वाक्यसमासयोरेव। तयोरप्यार्थी एवेति द्विप्रकारा लुप्तोपमानोपमा।'

अनुवाद—औपम्यवाचक पद के लोप में जो वाचकलुप्तोपमा हुआ करती है उसके दो भेद हैं—(१) समासगा वाचकलुप्तोपमा और (२) क्विप्गा वाचकलुप्तोपमा।

क्रमेणोदाहरणम्—

(समासगा वाचकलुप्तोपमा)

'वदनं मृगशावाक्ष्याः सुधाकरमनोहरम् ।'

(क्विप्गा वाचकलुप्तोपमा)

'गर्दभति श्रुतिपरुषं व्यक्तं निनदन् महात्मनां पुरतः ।'

अत्र 'गर्दभति' इत्यत्रौपम्यवाचिनः क्विपो लोपः। न चेहोपमेयस्यापि लोपः, 'निनदन्' इत्यनेनैव निर्देशात् ।

(धर्मोपमानलुप्तोपमा: भेदद्वय)

द्विधा समासे वाक्ये च लोपे धर्मोपमानयोः ।

इनके क्रमशः उदाहरण ये रहे—

'इस मृगनयनी का मुख चन्द्र सुन्दर है ।'

'बड़ लोगों के सामने कर्कशतापूर्वक और जोर से बोलता हुआ यह मनुष्य गधे का सा काम कर रहा है ।'

(यहाँ 'वदनं मृगशावाक्ष्याः सुधाकरमनोहरम्' में समासगा वाचकलुप्तोपमा है क्योंकि उपमेय 'वदन', उपमान 'सुधाकर' और साधारणधर्म 'मनोहरत्व' तो स्पष्ट प्रतिपादित हैं किन्तु 'सुधाकर इव मनोहरम् सुधाकरमनोहरम्' में उपमावाचक 'इव' पद लुप्त है) इसी प्रकार 'गर्दभति' (गरभ इव आचरति गर्दभति 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः' इस वार्तिक-नियम के अनुसार उपमानवाचक 'गर्दभ' पद से आचार के अर्थ में क्विप् प्रत्यय और क्विप् का सर्वापहारी लोप) में औपम्यवाचक क्विप् के लोप में वाचक लुप्तोपमा स्पष्ट है (क्योंकि यहाँ 'निनदन्' के रूप में 'उपमेय', 'गर्दभ' के रूप में 'उपमान' और 'श्रुतिपारुष्य' के रूप में साधारणधर्म स्पष्टतया प्रतिपादित हैं)।

'गर्दभति श्रुतिपरुषम्' आदि में उपमेय के लोप की आशंका नहीं होनी चाहिये क्योंकि यहां 'निनदन्' इस कर्तृपद से ही यहां उपमेय का निर्देश स्पष्टतया प्रतीत हो रहा है ।

विमर्श—रसगङ्गाधरकार के अनुसार 'क्विप्गा' लुप्तोपमा केवल वाचकलुप्तोपमा नहीं अपितु 'वाचकधर्मलुप्तोपमा' है—

'वाचकधर्मलुप्ता क्विब्गता यथा—

कुचकलशेष्वबलानामलकायामथ पयोनिधेः पुलिने ।
क्षितिपालकीर्तयस्ते हारन्ति हरन्ति हीरन्ति ॥'

अत्र हार-हर-हीर-शब्दाः आचारार्थके क्विपि लुप्ते धातवः। तत्र हारादिशब्दा लक्षणया हारादिसादृश्यं बोधयन्ति । लुप्तोऽपि स्मृतः क्विबाचारमिति पक्षे वाचकधर्मलोप स्पष्ट एव । हारादिशब्दा एव लक्षणया तादृशसादृश्याभिन्नमाचारमिति पक्षे सादृश्यस्येव धर्मस्यापि तन्मात्रबोधकाभावाल्लोप एव ।' (रसगङ्गाधर : उपमाप्रकरण)

अनुवाद—साधारणधर्म और उपमान-दोनों के लोप में जो 'धर्मोपमानलुप्तोपमा' हुआ करती है वह दो प्रकार की है—(१) समासगा धर्मोपमानलुप्तोपमा और (२) वाक्यगा धर्मोपमानलुप्तोपमा ।

'तस्या मुखेन' इत्यादौ 'रम्यम्' इति स्थाने 'लोके' इति पाठेऽनयोरुदाहरणम्।

(धर्मवाचकलुप्तोपमा : भेदद्वय)

क्विप्समासगता द्वेधा धर्मेवादिविलोपने ॥ २१ ॥

उदाहरणम्—

'विधवति मुखाब्जमस्याः'

अत्र 'विधवति' इति मनोहरत्व-क्विप्प्रत्यययोर्लोपः। 'मुखाब्जम्' इति च समासगा। केचित्त्वत्रायिप्रत्ययलोपमाहुः।

(उपमेयलुप्तोपमा)

उपमेयस्य लोपे तु स्यादेका प्रत्यये क्यचि।

यथा—

'अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः।
कृपाणोदग्रदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति ॥'

'तस्या मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते न वा नयनतुल्यम्।' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में 'रम्यम्' के बदले 'लोके' कर देने से (अर्थात् 'तस्या मुखेन सदृशं लोके नास्ते न वा नयनतुल्यम्' आदि पाठ में) धर्मोपमानलुप्तोपमा के 'वाक्यगत' और 'समासगत' दोनों रूपों के उदाहरण मिल जायेंगे।

विमर्श—'धर्मोपमानलुप्ता' का यह उदाहरण बड़ा सुन्दर है—

'गाहितमखिलं विपिनं परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे।
सहकार न प्रपेदे मधुपेन तथापि ते समं जगति ॥'

यहाँ 'तथापि ते समम्' के बदले 'भवत्समम्' कर देने पर 'समासगा धर्मोपमानलुप्ता' दिखायी देने लगती है।

अनुवाद—साधारण धर्म और उपमावाचक पद के लोप में जो 'धर्मवाचकलुप्तोपमा' हुआ करती है उसके दो प्रकार हैं—(१) क्विप्गा धर्मवाचकलुप्तोपमा और (२) समासगा धर्मवाचकलुप्तोपमा। जैसे कि—

'विधवति मुखाब्जमस्याः (इसका मुखकमल चन्द्र-सा लग रहा है)।'

यहाँ जो 'विधवति' (विधुरिवाचरति विधवति) पद है उसमें 'मनोहरत्व' रूप साधारणधर्म और क्विप्प्रत्ययरूप औपम्यवाचक–दोनों लुप्त हैं। इसी प्रकार 'मुखाब्जम्' में समासगा धर्मवाचकलुप्तोपमा है (क्योंकि यहाँ भी 'मनोहरत्व' रूप साधारणधर्म और 'इव' रूप उपमावाचक पद–दोनों लुप्त हैं)।

कुछ लोग 'विधवति' में 'आयि' प्रत्यय का लोप मानते हैं (किन्तु यहाँ जो धर्मवाचक लुप्तोपमा है वह धर्म और 'आयि' प्रत्यय के लोप के कारण नहीं अपितु धर्म और सादृश्य वाचक प्रत्यय के लोप के ही कारण है)।

अनुवाद—उपमेय के लोप में जो 'उपमेयलुप्तोपमा' हुआ करती है वह क्यच् प्रत्यय के प्रयोग में ही हुआ करती है और एक प्रकार की ही हुआ करती है।

जैसे कि—

'शत्रुओं के पराक्रमपूर्ण कृत्यों के दर्शन से प्रसन्न नेत्रवाला और कृपाण-धारण से

अत्र 'सहस्रायुधमिवात्मानमाचरति' इति वाक्ये उपमेयस्यात्मनो लोपः। न चेहौपम्यवाचकलोपः, उक्तादेव न्यायात्। अत्र केचिदाहुः—'सहस्रायुधेन सह वर्तत इति ससहस्रायुधः स इवाचरतीति वाक्यात्ससहस्रायुधीयतीति पद-सिद्धौ विशेष्यस्य शब्दानुपात्तत्वादिहोपमेयलोपः' इति, तन्न विचारसहम्; कर्तरि क्यचोऽनुशासनविरुद्धत्वात्।

(धर्मोपमेयलुप्तोपमा)

धर्मोपमेयलोपेऽन्या—

यथा—

भयङ्कर भुजदण्डवाला वह शूरवीर राजा अपने आप को सहस्रायुध की भाँति (संग्राम में) प्रकाशित कर रहा है।'

यहाँ 'सहस्रायुधमिवात्मानमाचरति' (उपमानादाचारे ३.१.१० सूत्र से उपमानवाचक 'सहस्रायुधम्' इस कर्मपद से आचार के अर्थ में 'क्यच्' = सहस्रायुधीयति) इस वाक्य में उपमेयभूत 'आत्मानम्' (स्वयं) का लोप है जिससे यहाँ 'उपमेयलुप्तोपमा' स्पष्ट है (क्योंकि यहाँ उपमान 'सहस्रायुध', साधारणधर्म 'अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनत्व' आदि और क्यच् प्रत्यय के रूप में उपमावाचक पद—ये तो तीनों विराजमान हैं)।

यहाँ 'वाचकलुप्तोपमा' की आशंका नहीं करनी चाहिये (जो कि काव्यप्रकाशकार ने की है) क्योंकि, जब कि 'क्यच्' आदि प्रत्यय सादृश्य-वाचक प्रत्यय हैं और यहाँ 'क्यच्' की उपस्थिति है, तब वाचकलुप्तोपमा की यहाँ क्या संभावना !

कतिपय आलङ्कारिकों (चण्डीदास आदि) ने यहाँ 'उपमेयलुप्तोपमा' की स्वरूप-सिद्धि के लिये, जो यह कहा है कि (यहाँ 'ससहस्रायुधीयति' में 'स' और 'सहस्रायुधीयति' को पृथक्-पृथक् पद मानकर उपमेयलुप्तोपमा की रूप-रेखा नहीं देखी जा सकती और इसलिये) यहाँ जो पद है वह 'ससहस्रायुधीयति' है, जिसकी निष्पति 'सहस्रायुधेन सह वर्तते इति ससहस्रायुधः स इवाचरतीति' आदि रूप से हुआ करती है और इस प्रकार यहाँ 'ससहस्रायुधीयति' इस क्रिया के कर्तृपद का अनुपादान ही दिखायी दे रहा है जिससे यहाँ 'उपमेयलुप्तोपमा' स्पष्ट है, वह सब वस्तुतः युक्तियुक्त नहीं। कारण यह है कि 'उपमानादाचारे' के द्वारा कर्मोपपद से ही 'क्यच्' का विधान हो सकता है न कि कर्त्रुपपद से भी (यहाँ 'ससहस्रायुधीयति' में कर्त्रुपपद से क्यच्विधान तो सर्वथा अपाणिनीय है)।

विमर्श—रसगङ्गाधरकार के अनुसार 'क्यज्गा' लुप्तोपमा केवल उपमेयलुप्ता नहीं अपि तु 'वाचकोपमेयलुप्ता' उपमा हुआ करती है—

'तया तिलोत्तमीयन्त्या मृगशावकचक्षुषा।
ममायं मानुषो लोको नाकलोक इवाभवत्॥

तिलोत्तमीयन्त्येति तिलोत्तमामिवात्मानमाचरन्त्येत्याचारार्थके क्यचि तिलोत्तमापदस्य तिलोत्तमासादृश्ये लाक्षणिकतया वाचकस्य, स्फुटत्वेन प्रतीयमानतया आत्मन उपमेयस्य चानुपादानाल्लोपः। स्वयं तु सा नोपमेया। आचारकर्मण उपमानस्य तिलोत्तमारूपस्य तत्कर्म्यामुपमेयायामुपमानत्वासंगतेः। अत आत्मैवात्रोपमेयतयोन्नेयः।'

(रसगङ्गाधर : उपमाप्रकरण)

अनुवाद—साधारण धर्म और उपमेय के लोप में जो 'धर्मोपमेयलुप्तोपमा' हुआ करती है वह भी एक प्रकार की ही है। जैसे कि—

'यशसि प्रसरति भवतः क्षीरोदीयन्ति सागराः सर्वे।'

अत्र क्षीरोदमिवात्मानमाचरन्तीत्युपमेय आत्मा साधारणधर्मः शुक्लता च लुप्तौ।

(त्रिलुप्तोपमा)

—त्रिलोपे च समासगा ॥ २२ ॥

यथा—

'राजते मृगलोचना।'

अत्र मृगस्य लोचने इव चञ्चले लोचने यस्या इति समासे उपमाप्रतिपादकसाधारणधर्मोपमानानां लोपः।

(उपमाभेद-संकलन)

तेनोपमाया भेदाः स्युः सप्तविंशतिसंख्यकाः।

पूर्णा षड्विधा, लुप्ता चैकविंशतिविधेति मिलित्वा सप्तविंशतिप्रकारोपमा। एषु चोपमाभेदेषु मध्येऽलुप्तसाधारणधर्मेषु भेदेषु विशेषः प्रतिपाद्यते—

'आपके यश के फैलते हुये, ऐसा लगता है जैसे, सभी सागर क्षीरसागर बन रहे हैं।'

यहाँ 'धर्मोपमेयलुप्तोपमा' इसलिये है क्योंकि यहाँ 'क्षीरोदीयन्ति' 'क्षीरोदमिवात्मानमाचरन्ति' में उपमेयभूत 'आत्मानम्' और 'शुक्लत्वादि' रूप साधारणधर्म—दोनों लुप्त हैं।

अनुवाद—उपमान, साधारणधर्म और औपम्यवाचक पद, तीनों के लोप में जो 'धर्मोपमानवाचकलुप्तोपमा' हुआ करती है वह केवल 'समासगा' ही हुआ करती है।

जैसे कि—'वह मृगलोचना बड़ी सुन्दर है।'

यहाँ 'मृगलोचना' इस समस्त पद में, जिसका विग्रह 'मृगस्य लोचने इव चञ्चले लोचने यस्याः' है, उपमानभूत 'लोचन', वाचक रूप 'इव' और साधारणधर्मरूप 'चाञ्चल्य'—तीनों लुप्त दिखायी दे रहे हैं।

विमर्श—'मृगलोचना' में त्रिलुप्तोपमा की जो निष्पत्ति है वह 'प्रदीप'कार के शब्दों में इस प्रकार है—

'अत्र यदि मृगशब्देन लक्षणया तल्लोचने विवक्ष्येते तदा नेदमुदाहरणम्। यदा तु मृगलोचने इव लोचने यस्या इत्यर्थो विवक्ष्यते तदा 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इत्यनेन मृगलोचनेत्युपमानपूर्वपदस्य नयनशब्देन बहुव्रीहौ उपमानवाचिनि मृगलोचने इति पूर्वपदे उत्तरपदभूतस्य लोचनशब्दस्य लोपे उपमेयभूतस्य नयनमात्रस्योपादानादिदमुदाहरणम्।'

अनुवाद—इस प्रकार 'उपमा' के सब मिलाकर २७ प्रकार सिद्ध हुए।

उपमा के २७ प्रकारों का अभिप्राय यह है—पूर्णोपमा के छः भेद+लुप्तोपमा के २१ भेद=उपमा के २७ प्रकार।

विमर्श—(क) विश्वनाथ कविराज-सम्मत 'उपमा-भेद' यह हैं—

पूर्णोपमा के ६ प्रकार

१—तद्धितगा श्रौती पूर्णोपमा—'सौरभमम्भोरुहवत् ।'
२—समासगा श्रौती पूर्णोपमा—'कुम्भाविव स्तनौ पीनौ ।'
३—वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा—'हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा ।'
४—तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा—'मधुरः सुधावदधरः'
५—समासगा आर्थी पूर्णोपमा—'पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः ।'
६—वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा—'चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः ।'

लुप्तोपमा के २१ प्रकार

१—तद्धितगा श्रौती लुप्तोपमा—'मनोऽश्मवत् ।'
२—समासगा श्रौती लुप्तोपमा—'वाचः सुधा इव ।'
३—वाक्यगा श्रौती लुप्तोपमा—'मुखमिन्दुर्यथा बाले ।'
४—समासगा आर्थी लुप्तोपमा—'ओष्ठस्ते बिम्बतुल्यः ।'
५—वाक्यगा आर्थी लुप्तोपमा—'पाणिः पल्लवेन समः ।'
६—आधारक्यच्निबन्धना लुप्तोपमा—'अन्तःपुरीयसि ।'
७—कर्मक्यच्निबन्धना लुप्तोपमा—'पौरं जनं सुतीयसि ।'
८—कर्त्रुपपदक्यङ्निबन्धना लुप्तोपमा—'श्रीस्तव रमणीयते ।'
९—कर्मोपपदणमुल्निबन्धना लुप्तोपमा—'अमृतद्युतिदर्शं दृष्टः ।
१०—कर्त्रुपपदणमुल्निबन्धना लुप्तोपमा—'इन्द्रसञ्चारं सञ्चरसि ।'
११—समासगा उपमानलुप्तोपमा—'न वा नयनतुल्यं (रम्यमास्ते) ।'
१२—वाक्यगा उपमानलुप्तोपमा—'तस्या मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते ।'
१३—समासगा वाचकलुप्तोपमा—'सुधाकरमनोहरं वदनम् ।'
१४—क्विप्गा वाचकलुप्तोपमा—'गर्दभति श्रुतिपरुषम् ।'
१५—समासगा धर्मोपमानलुप्तोपमा—'लोके न वा नयनतुल्यमास्ते ।'
१६—वाक्यगा धर्मोपमानलुप्तोपमा—'तस्या मुखेन सदृशं रम्यं लोके नास्ते ।
१७—समासगा धर्मौपम्यवाचकलुप्तोपमा—'मुखाब्जमस्याः ।'
१८—क्विप्गा ,, ,, ,, —'विधवति मुखाब्जमस्याः ।'
१९—उपमेयलुप्तोपमा—'विकस्वरविलोचनः स सहस्रायुधीयति ।'
२०—धर्मोपमेयलुप्तोपमा—'क्षीरोदीयन्ति सागराः ।'
२१—धर्मोपमानवाचकलुप्तोपमा—'राजते मृगलोचना ।'

इस प्रकार सब मिलकर उपमा के २७ भेद हैं ।

(ख) शब्दानुशासनशास्त्र (व्याकरण) के आधार पर 'उपमा' के भेद-प्रभेद की परम्परा आचार्य उद्भट द्वारा प्रवर्तित हुई है—

'यथेवशब्दयोगेन सा श्रुत्यान्वयमर्हति । सदृशादिपदश्लेपादन्यथेत्युदिता द्विधा ॥
संक्षेपाभिहिताप्येषा साम्यवाचकविच्युतेः । साम्योपमेयतद्वाचिवियोगाच्च निबध्यते ॥
उपमानोपमेयोक्तौ साम्यतद्वाचिविच्यवात् । क्वचित् समासे तद्वाचिविरहेण क्वचिच्च सा ॥
तथोपमानादाचारे क्यच्प्रत्ययबलोक्तितः । क्वचित्सा कर्त्तुराचारे क्यङा सा च क्रिया क्वचित् ॥

(उपमा में साधारण धर्म : स्वरूप तथा प्रकार-निर्देश)

एकरूपः क्वचित्क्वापि भिन्नः साधारणो गुणः ॥ २३ ॥
भिन्ने बिम्बानुबिम्बत्वं शब्दमात्रेण वा भिदा ।

तत्र एकरूपे यथा उदाहृतम्—'मधुरः सुधावदधरः—' इत्यादि ।

बिम्बप्रतिबिम्बत्वे यथा—

'भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम् ।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ॥'

अत्र 'श्मश्रुलैः' इत्यस्य 'सरघाव्याप्तैः' इति दृष्टान्तवत्प्रतिबिम्बनम् ।

उपमाने कर्मणि वा कर्तरि वा यो णमुल् कषादिगतः ।
तद्वाच्या सा वतिना च कर्मसामान्यवचनेन ॥
षष्ठीसप्तम्यन्ताच्च यो वतिर्नामतस्तदभिधेया ।
कल्पपूप्रभृतिभिरन्यैश्च तद्धितैः सा निबध्यते कविभिः॥ (अलङ्कारसारसंग्रह)

किन्तु व्याकरणशास्त्र के आधार पर उपमा के विभाजन के अनौचित्य के संबन्ध में अप्पयदीक्षित की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'एवमयं पूर्णालुप्ताविभागो वाक्य-समास-प्रत्ययविशेषगोचरतया शब्दशास्त्रव्युत्पत्तिकौशलप्रदर्शनमात्रप्रयोजनो नातीवालङ्कारशास्त्रे व्युत्पाद्यतामर्हति । न वा लुप्तानामयं सामस्त्येन विभागः ।' (चित्रमीमांसा)

अनुवाद—'उपमा' के उपर्युक्त २७ प्रकारों में से अब उन प्रकारों की कतिपय विशेषतायें निर्दिष्ट की जा रही हैं जिनमें साधारण धर्म का लोप नहीं हुआ करता—

जिन उपमा-भेदों में साधारण धर्म लुप्त नहीं हुआ करता, उनमें उसकी (साधारण धर्म की) ये कतिपय अवस्थायें हुआ करती हैं—

(१) कहीं-कहीं (उपमान और उपमेय दोनों में) साधारण धर्म एक रूप का ही रहा करता है ।

(२) कहीं-कहीं साधारण धर्म भिन्नरूप का हुआ करता है (अर्थात् उपमानगत साधारण धर्म से उपमेयगत साधारण धर्म भिन्न लगा करता है) और साधारण धर्म की इस भिन्नरूपता की दो संभावनायें हुआ करती हैं—(क) या तो उसमें बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का सम्बन्ध हो या (ख) केवल शब्दमात्र का भेद हो ।

साधारण धर्म की पहली अवस्था अर्थात् 'एकरूपता' की अवस्था की पहचान के लिये 'मधुरः सुधावदधरः' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति पर्याप्त है (जहाँ 'सुधा' उपमान और 'अधर'-उपमेय में 'माधुर्य' का साधारण धर्म एक रूप से ही विराजमान दिखायी दे रहा है)।

साधारण धर्म की दूसरी अवस्था अर्थात् भिन्नरूपता में 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' की अवस्था के निदर्शन के लिये (महाकवि कालिदास की) यह सूक्ति दर्शनीय है—

'महाराज रघु के द्वारा, बाणों से काटे गये यवनों के दाढ़ीभरे सिर जमीन पर ऐसे बिछने लगे जैसे मधुमक्खियों से भरे मधु के छत्ते बिछे हों ।'

यहाँ, जैसा कि 'दृष्टान्त' अलङ्कार में दिखायी दिया करता है, उपमेयगत 'श्मश्रुलता' और उपमानगत 'सरघाव्याप्तता' के भिन्नरूप साधारण धर्मों में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का सम्बन्ध स्पष्ट झलक रहा है ।

शब्दमात्रेण भिन्नत्वे यथा—

'स्मेरं विधाय नयनं विकसितमिव नीलमुत्पलं मयि सा ।
कथयामास कृशाङ्गी मनोगतं निखिलमाकूतम् ॥'

अत्रैके एव स्मेरत्वविकसितत्वे प्रतिवस्तूपमावच्छब्देन निर्दिष्टे ।

(उपमा के अन्यान्य वैचित्र्य : (क) एकदेशविवर्तिनी उपमा)

एकदेशविवर्तिन्युपमा वाच्यत्वगम्यते ॥ २४ ॥
भवेतां यत्र साम्यस्य—

यथा—

'नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैर्मुखैरिव सरःश्रियः ।
पदे पदे विभान्ति स्म चक्रवाकैः स्तनैरिव ॥'

अत्रोत्पलादीनां नेत्रादीनां सादृश्यं वाच्यं सरःश्रीणां चाङ्गनासाम्यं गम्यम् ।

इसी प्रकार शब्दमात्र के भेद से साधारण धर्म की भिन्नरूपता के उदाहरण के लिये यह सूक्ति—

'उस कृशाङ्गी सुन्दरी ने खिले नीलकमल सरीखे अपने विहँसते नेत्रों को मेरे सामने किया और (बिना बोले ही) अपने हृदय के समस्त भावों को मुझ पर प्रकाशित कर दिया।'

यहाँ, जैसे कि 'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार में हुआ करता है, एक रूप के ही प्रतीत होनेवाले उपमानगत 'विकसितत्व' और उपमेयगत 'स्मेरत्व' में, शब्दभेद से भिन्नरूपता स्पष्ट झलक रही है।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार का यह साधारणधर्मस्वरूप-विवेचन 'अलङ्कारसर्वस्व' की इन पङ्क्तियों पर अवलम्बित है—

'तत्रापि साधारणधर्मस्य क्वचिदनुगामितया ऐकरूप्येण निर्देशः। क्वचिद् वस्तुप्रतिवस्तुभावेन पृथङ्निर्देशः। पृथङ्निर्देशे च संबन्धिभेदमात्रम् (न पुनः स्वरूपभेदः कश्चिदित्यर्थः—जयरथ) प्रविवस्तूपमावत्। विम्बप्रतिविम्बभावो वा दृष्टान्तवत्।

(ख) 'वस्तुप्रतिवस्तुभाव' का अभिप्राय यह है—

'एकस्यैव धर्मस्य संबन्धिभेदेन द्विरुपादानं वस्तुप्रतिवस्तुभावः।'

और 'विम्बप्रतिविम्बभाव' का अभिप्राय है—

'वस्तुतो भिन्नयोर्धर्मयोः परस्परसादृश्यादभिन्नतयाध्यवसितयोर्द्विरुपादानं विम्बप्रतिविम्बभावः।'

अनुवाद—यह भी उपमा की एक विचित्रता ही है जिसे 'एकदेशविवर्तिनी' उपमा कहा करते हैं। यह 'एकदेशविवर्तिनी उपमा' वह है जहाँ साम्य (अथवा सादृश्य) वाच्य और व्यङ्ग्य—दोनों रूपों में दिखायी दिया करता है।

जैसे कि—

'शरत्कालीन सरोवर-सुषमा, नेत्रों की भाँति उत्पलों, मुख की भाँति कमल और स्तनों की भाँति चक्रवाकयुगलों से सुशोभित लगती रही।'

यहाँ 'नेत्र' और 'उत्पल', 'मुख' और 'पद्म' तथा 'स्तन' और 'चक्रवाक' का सादृश्य तो वाच्य है (साक्षात् शब्दतः प्रतिपादित है) किन्तु 'सरोवर–सुषमा' और 'रमणी' का साम्य व्यङ्ग्यरूप से विवक्षित है।

(ख—रसनोपमा)

—कथिता रसनापमा ।

यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता ॥ २५ ॥

यथा—

'चन्द्रायते शुक्लरुचापि हंसो हंसायते चारुगतेन कान्ता ।
कान्तायते स्पर्शसुखेन वारि वारीयते स्वच्छतया विहायः ॥'

(ग—मालोपमा)

मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते ।

यथा—

'वारिजेनेव सरसी शशिनेव निशीथिनी ।
यौवनेनेव वनिता नयेन श्रीर्मनोहरा ॥'

विमर्श—साहित्यदर्पणकार की 'एकदेशविवर्तिनी' उपमा की मान्यता ने रसगङ्गाधरकार की निम्न उपमा-कल्पना को प्रभावित किया है—

'इयमपि रूपकवत् केवलनिरवयवा, मालारूपनिरवयवा, समस्तवस्तुविषयसावयवा, एकदेशविवर्तिसावयवा, केवलश्लिष्टपरम्परिता, मालारूपश्लिष्टपरम्परिता, केवलशुद्धपरम्परिता, मालारूपशुद्धपरम्परिता चेत्यष्टधा ।' (रसगङ्गाधर : उपमाप्रकरण)

अनुवाद—**उपमा की दूसरी विचित्रता 'रसनोपमा' है । 'रसनोपमा' वह उपमा है जिसमें उपमेय उत्तरोत्तर उपमानरूप में परिणत होते-चलते दिखाई दिया करता है ।**

जैसे कि—

'शरद् ऋतु की महिमा से इस स्वच्छ सरोवर में, यह हंस, अपनी शुभ्र कान्ति से, चन्द्रमा-सा लग रहा है; यह सुन्दरी, अपनी सुन्दर चाल से, हंस सी चलती दिखाई दे रही है; यह जल, अपने आनन्ददायक स्पर्श से, रमणी का सा आनन्द दे रहा है और यह आकाश, अपनी निर्मलता से अपने आपको ऐसा दिखा रहा है जैसे निर्मल जल हो ।'

यहां यह स्पष्ट है कि पूर्ववर्णित उपमेय उपमानरूप में परिवर्तित होता चल रहा है जैसे कि 'हंस' जो प्रथम वाक्य में चन्द्र की अपेक्षा उपमेय था, द्वितीय वाक्य में 'रमणी' की अपेक्षा उपमान बन रहा है और 'जल' जो कि उत्तरार्ध के पूर्व वाक्य में रमणी की अपेक्षा उपमेय था, उत्तर वाक्य में 'आकाश' की अपेक्षा उपमान बन गया है ।

विमर्श—रसगङ्गाधरकार को भी 'रसनोपमा' मान्य है—

'उपमेयानां स्वस्वोपमानानुपमानानामुपमेयतायां रसनोपमा । यथा—

'भूधरा इव मत्तेभा मत्तेभा इव सूनवः ।
सुता इव भटास्तस्य परमोन्नतविग्रहाः ॥'

अनुवाद—**मालोपमा भी उपमा की ही एक विचित्रता है । 'मालोपमा' वह उपमा है जिसमें एक उपमेय के अनेक उपमान दिखायी दिया करते हैं ।**

'राजनय से राजलक्ष्मी इस प्रकार मनोरम लगा करती है जिस प्रकार कमल से सरसी, चन्द्रमा से रात्रि और यौवन से रमणी मनोरम लगा करती है ।'

(उपमा के अनन्त वैचिच्य : वर्गीकरण की असंभावना)

क्वचिदुपमानोपमेययोरपि प्रकृतत्वं यथा—

'हंसश्चन्द्र इवाभाति जलं व्योमतलं यथा।
विमलाः कुमुदानीव तारकाः शरदागमे ॥'

'अस्य राज्ञो गृहे भान्ति भूपानां ता विभूतयः।
पुरन्दरस्य भवने कल्पवृक्षभवा इव ॥'

अत्रोपमेयभूतविभूतिभिः 'कल्पवृक्षभवा इव' इत्युपमानभूता विभूतय आक्षिप्यन्त इत्याक्षेपोपमा। अत्रैव 'गृहे' इत्यस्य 'भवने' इत्यनेन प्रतिनिर्देशात्प्रतिनिर्देश्योपमा इत्यादयश्च न लक्षिताः, एवंविधवैचित्र्यस्य सहस्रधा दर्शनात्।

(२—अनन्वय)

उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः ॥ २६ ॥

अनुवाद—(उपमा-वैचित्र्य का वर्गीकरण असंभव है क्योंकि प्राचीन अलङ्कारशास्त्र की यह मान्यता कि 'उपमान सदा अप्रकृत हुआ करता है' इस वास्तविकता के देखते ठीक नहीं जँचती कि) कहीं-कहीं काव्य-साहित्य में उपमेय की भाँति उपमान भी प्रकृत ही रहा करता है जैसे कि—

'शरद् के आगमन पर, हंस चन्द्रमा की भाँति, जल आकाश की भाँति और कुमुद तारागण की भाँति सुन्दर लगा करते हैं।'

'इस महाप्रतापी राजा के भवन में सामन्त राजगण की वे विभूतियाँ इस प्रकार सुशोभित लगा करती हैं जिस प्रकार पुरन्दर इन्द्र के भवन में कल्पवृक्ष की विभूतियाँ।'

[यहाँ 'हंसश्चन्द्र इवाभाति' आदि में यह स्पष्ट है कि 'हंस' आदि उपमेय की भाँति 'चन्द्र' आदि उपमान भी प्रकृत रूप से विवक्षित हैं क्योंकि शरद्-वर्णन में दोनों ही अपेक्षित हैं। किन्तु इस प्रकार के वैचित्र्य के आधार पर उपमा की भेद-गणना असंभव है।]

इसी प्रकार 'अस्य राज्ञो गृहे' आदि सूक्ति में एक विचित्र ही उपमा (आक्षेपोपमा) दिखायी दे रही है क्योंकि यहाँ उपमेयरूप से अवस्थित 'सामन्त राजगण की विभूतियों' द्वारा उपमान रूप से अवस्थित 'कल्पवृक्ष की विभूतियों' का आक्षेप अथवा अभिव्यञ्जन हो रहा है जिसमें 'कल्पवृक्षभवा इव' की शाब्दी व्यञ्जना का हाथ स्पष्ट दिखायी दे रहा है। यहीं '(राज्ञः) गृहे' का '(पुरन्दरस्य) भवने' द्वारा जो प्रतिनिर्देश है उसमें 'प्रतिनिर्देश्योपमा' की विचित्रता झलक रही है। किन्तु इस प्रकार के उपमावैचित्र्य की गणना ही वस्तुतः असम्भव है। इसलिये यहाँ इनके आधार पर सम्भव उपमाभेदों का निर्देश अपेक्षित नहीं।

विमर्श—उपमा की विचित्रताओं को ही लक्ष्य कर अप्पयदीक्षित ने इसे एक ऐसी 'शैलूषी' अथवा नर्तकी कहा है जो कि काव्य के रङ्गमञ्च पर विविध हावभावों के साथ नाचती रहा करती है।

अनुवाद—'अनन्वय' वह अलङ्कार है जिसमें एक ही वस्तु उपमान और उपमेय—दोनों रूपों में कल्पित हो जाया करती है—

अर्थादेकवाक्ये । यथा—

'राजीवमिव राजीवं जलं जलमिवाजनि ।
चन्द्रश्चन्द्र इवातन्द्रः शरत्समुदयोद्यमे ॥'

अत्र राजीवादीनामन्यसदृशत्वप्रतिपादनार्थमुपमानोपमेयभावो वैवक्षिकः । 'राजीवमिव पाथोजम्' इति चास्य लाटानुप्रासाद्विविक्तो विषयः । किन्त्वत्रोचितत्वादेकशब्दप्रयोग एव श्रेयान् ।

तदुक्तम्—

'अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुषङ्गिकम् ।
अस्मिंस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव प्रयोजकम् ॥' इति ।

यहाँ 'एक ही वस्तु की उपमान और उपमेय रूप में कल्पना' के निर्देश से यह स्वयं पता चल जाता है कि ऐसी सम्भावना तभी हो सकती है जब कि 'वाक्य भी एक ही हो' जैसे कि—

'शरद् ऋतु के समुल्लास का आरम्भ क्या हुआ कमल कमल सरीखा, जल जल सरीखा और चन्द्रमा चन्द्रमा सरीखा निर्मल लगने लगा।'

यहाँ 'अनन्वय' अलङ्कार है क्योंकि एक ही वाक्यमें 'कमल' आदि वस्तुओंकी उपमान और उपमेय–दोनों रूपों में जो कल्पना है उसमें 'अनन्वय' अर्थात् अन्य उपमानों के सद्भाव और सादृश्यके 'अभाव' (अनन्वय) का कविहृदय-सम्मत अभिप्राय स्पष्ट घटित हो रहा है।

'अनन्वय' और 'लाटानुप्रास' परस्पर भिन्न-भिन्न अलङ्कार हुआ करते हैं क्योंकि 'राजीवमिव पाथोजम्' आदि में, शब्द-भेद होने पर भी, एक ही पद्मरूप वस्तु में, उपमान और उपमेयरूपता की कल्पना के कारण 'अनन्वय' की रूपरेखा तो स्पष्ट हो जाती है किन्तु 'लाटानुप्रास' की कोई भी संभावना नहीं दिखायी देती। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिये कि यदा-कदा 'अनन्वय' में शब्द-भेद का भी होना अपेक्षित है क्योंकि 'अनन्वय' के लिये यही उचित है कि उपमान और उपमेय-वाचक शब्दों में कोई स्वरूप-भेद नहीं प्रतीत हुआ करे। इसीलिये ऐसा कहा भी गया है—

'अनन्वय' में (उपमान और उपमेय-विषयक) शब्द की जो अभिन्नरूपता है वह वर्ण्य वस्तु की, उपमान और उपमेयरूपता की कल्पना के औचित्य की दृष्टि से स्वाभाविक ही है (यह एक दूसरी बात है कि कहीं शब्द-भेद होने पर भी 'अनन्वय' ही हो)। किन्तु जिसे 'लाटानुप्रास' कहते हैं उसके लिये तो शब्द की एकरूपता अनिवार्य है (क्योंकि शब्द-भेद में 'लाटानुप्रास' हो ही नहीं सकता)।

विमर्श—(क) 'अनन्वय' की यह व्युत्पत्ति है—

'न विद्यते उपमेयस्य उपमानान्तरेण अन्वयः संबन्धो वाऽत्रेति अनन्वयः।' अर्थात् 'अनन्वय' वह है जिसमें उपमेय, अपने अतिरिक्त किसी अन्य उपमान से, किसी प्रकार सादृश्य रखता नहीं प्रतिपादित किया जाया करता। इसीलिये 'अनन्वय' का प्रयोजन 'द्वितीयसब्रह्मचारि-निवृत्ति' अथवा 'अपने अतिरिक्त अन्य उपमान का निषेध' हुआ करता है। अलङ्कारशास्त्र के प्रणेता आचार्य भामह ने इसीलिये 'अनन्वय' का यह लक्षण किया है—

'यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता। असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम् ॥'

जिसे आचार्य उद्भट ने इस सूक्ति में घटाया है—

'यस्य वाणी स्ववाणीव स्वक्रियेव क्रियाऽमला।
रूपं स्वमिव रूपं च लोकलोचनलोभनम् ॥'

(३—उपमेयोपमा)

पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता।

एतदुपमानोपमेयत्वम्। अर्थाद्वाक्यद्वये।

यथा—

'कमलेव मतिर्मतिरिव कमला, तनुरिव विभा विभेव तनुः।
धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी, सततं विभाति बत यस्य ॥'

अत्रास्य राज्ञः श्रीबुद्ध्यादिसदृशं नान्यदस्तीत्यभिप्रायः।

(ख) 'अनन्वय' और 'लाटानुप्रास' का भेद-निर्देश आलङ्कारिकों की परम्परा से चलता आ रहा है। अनन्वय में शब्द-भेद क्षम्य है किन्तु लाटानुप्रास में शब्द-भेद अक्षम्य माना गया है। 'अनन्वय' में 'अर्थपौनरुक्त्य' रहा करता है किन्तु लाटानुप्रास के लिये 'शब्दार्थपौनरुक्त्य' अपेक्षित है। इसीलिये 'राजीवमिव पाथोजम्' में 'अनन्वय' हो सकता है किन्तु लाटानुप्रास नहीं। वैसे 'अनन्वय' को सर्वतोभद्र बनाने के लिये शब्दैक्य की अपेक्षा अवश्य है क्योंकि तभी उपमान और उपमेय की एकरूपता निस्संदिग्ध प्रतीत हो सकती है। 'एकावली'कार ने 'अनन्वय' और 'लाटानुप्रास' के भेद के सम्बन्ध में इसीलिये कहा है—

'पौनरुक्त्यस्य तात्पर्यमात्रभिन्नस्यात्र प्रयोजकत्वात् अनन्वये चार्थमात्रगतयुगपदुपमानोपमेयभावस्य उपयुक्तत्वात्। शब्दैक्यस्य पुनरौचितीवशेन प्रसङ्गसङ्गतत्वात्।'

'औचितीवश' से अथवा औचित्य के कारण 'अनन्वय' में शब्दैक्य का अभिप्राय यह है—

'उद्देशप्रतिनिर्देशयोरैकरूप्यमिति न्यायबलेनान्यथा पर्यायप्रक्रमभङ्गापत्तेर्न तु लक्षणत्वेनेत्यर्थः।' (तरलव्याख्या)

अर्थात् 'अनन्वय' के लक्षण का अनुसरण करते अनन्वय में शब्दैक्य नहीं माना जाया करता। अनन्वय में शब्दैक्य तो उद्देश और प्रतिनिर्देश की एकरूपता की रक्षा के ही लिये आवश्यक है।

अनुवाद—'उपमेयोपमा' वह अलङ्कार है जहाँ, दो वस्तुयें, बारी-बारी से, परस्पर उपमान और उपमेयरूप में कल्पित दिखायी दिया करती हैं।

यहाँ कारिका में 'एतत्' का अभिप्राय 'उपमानोपमेयत्व' का अभिप्राय है (क्योंकि 'एतत्' शब्द से पूर्व कारिका के 'उपमानोपमेयत्व' का निर्देश किया जा रहा है)।

यहाँ 'दो वस्तुओं में परस्पर उपमानोपमेय-भाव की कल्पना' से यह स्पष्ट पता चल रहा है कि ऐसी सम्भावना दो वाक्यों में ही हो सकती है (अनन्वय की भांति एक वाक्य में नहीं)। जैसे कि—

'कितने आश्चर्य और आनन्द की बात है कि ये महाराज ऐसे हैं जिनकी बुद्धि लक्ष्मी-सरीखी, लक्ष्मी बुद्धि-सरीखी, कान्ति दिव्य देह-सरीखी, दिव्य देह कान्ति-सरीखी, धृति पृथिवी-सरीखी और पृथिवी धृति-सरीखी विराजमान हैं।'

यहाँ 'उपमेयोपमा' का एक निगूढ अभिप्राय है और वह यह प्रकाशित करता है कि वर्ण्य भूपाल की बुद्धि और लक्ष्मी आदि के समान और किसी की बुद्धि और लक्ष्मी आदि नहीं हैं।

विमर्श—'उपमेयोपमा' में वस्तुओं के पारस्परिक उपमानोपमेयभाव का पर्यायतः (बारी-बारी से) परिवर्तन स्वाभाविक है क्योंकि 'उपमेयोपमा' का अभिप्राय 'उपमेय के द्वारा उपमा' है—'अत एव उपमेयेनोपमा इत्यस्या अन्वर्थाभिधानम्'। 'उपमेय के द्वारा उपमा' वहीं हो सकती है,

(४—स्मरणालङ्कार)

सदृशानुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते ॥ २७ ॥

यथा—

'अरविन्दमिदं वीक्ष्य खेलत्खञ्जनमञ्जुलम् ।
स्मरामि वदनं तस्याश्चारु चञ्चललोचनम् ॥'

जहाँ दो वाक्य हों। पूर्ववाक्यस्थ उपमेय के द्वारा द्वितीय वाक्यस्थ उपमान की उपमा अथवा सादृश्य-कल्पना दो वाक्यों की ही अपेक्षा करती है।

'उपमेयोपमा' का उद्देश्य 'उपमानान्तरतिरस्कार' है। इसलिये जहाँ 'उपमेय के द्वारा उपमा' होने पर भी अन्य उपमान का तिरस्कार अभिव्यङ्ग्य नहीं हुआ करता वहाँ 'उपमेयोपमा' भी नहीं हुआ करती। जैसे कि—

'सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः ।
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥

आदि सूक्ति में, दो वस्तुओं में उपमानोपमेयभाव का पर्यायतः परिवर्तन तो अवश्य है किन्तु उपमेयोपमा नहीं क्योंकि इसका उद्देश्य 'उपमानान्तरतिरस्कार' नहीं अपितु सुखदुःखादिरूप संवेगों के कारण मन की विवशता का प्रदर्शन है। 'उपमेयोपमा' में भी साधारण धर्म की एकरूपता और बिम्बप्रतिबिम्ब तथा वस्तुप्रतिवस्तुरूपता की संभावनायें संगत हैं। साधारण धर्म की एकरूपता में 'उपमेयोपमा' का एक सुन्दर निदर्शन यह सूक्ति है—

'खमिव जलं जलमिव खं हंसश्चन्द्र इव हंस इव चन्द्रः ।
कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि ॥'

यहाँ यह स्पष्ट है कि सर्वत्र उपमेय और उपमान में विमलता का धर्म एक रूप का ही प्रतीत हो रहा है।

इसी प्रकार साधारण धर्म की वस्तुप्रतिवस्तुरूपता की अवस्था में 'उपमेयोपमा' का यह निदर्शन ध्यान देने योग्य है—

'सच्छायाम्भोजवदनाः सच्छायवदनाम्बुजाः ।
वाप्योऽङ्गना इवाभान्ति यत्र वाप्य इवाङ्गनाः ॥'

पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा उद्धृत इस सूक्ति अर्थात्—

'रमणीयस्तबकयुता विकसितवक्षोजयुगलशालिन्यः ।
लतिका इव ता वनिता वनिता इव रेजिरे लतिकाः ॥'

में भी, साधारण धर्म की बिम्ब-प्रतिबिम्बरूपता में 'उपमेयोपमा' का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है।

अनुवाद—'स्मरण' वह अलङ्कार है जिसे समान रूप अथवा समान गुण वाली एक वस्तु के अनुभव से, उसके सदृश दूसरी वस्तु की स्मृति का उपनिबन्ध कहा जाया करता है। जैसे कि—

'जब कि इस कमल को देखता हूँ जो कि पास विचरते खंजन-युगल से सुन्दर लग रहा है तब उस सुन्दरी के उस मुख का स्मरण हो आता है जिसमें दोनों चञ्चल नेत्रों की शोभा विराजमान रहा करती है।'

'मयि सकपटम्—' इत्यादौ च स्मृतेः सादृश्यानुभवं विनोत्थापितत्वान्नायमलङ्कारः। राघवानन्दमहापात्रास्तु—वैसादृश्यात्स्मृतिमपि स्मरणालङ्कारमिच्छन्ति। तत्रोदाहरणं तेषामेव।

यथा—

'शिरीषमृद्वी गिरिषु प्रपेदे यदा यदा दुःखशतानि सीता।
तदा तदास्याः सदनेषु सौख्यलक्षाणि दध्यौ गलदश्रु रामः॥'

'स्मरण' अलङ्कार तो सादृश्य-दर्शन से उत्थापित स्मृति-रूप ही हुआ करता है और इसीलिये 'मयि सकपटं किञ्चित् क्वापि प्रणीतविलोचने' आदि (तृतीय परिच्छेद में 'स्मृति' रूप व्यभिचारी भाव के उदाहरणार्थ उद्धृत) सूक्ति में 'स्मरण' अलङ्कार की कोई संभावना नहीं क्योंकि यहाँ जो 'स्मृति' है वह सादृश्य-दर्शन से उत्थापित स्मृति नहीं अपि तु प्रणय की चिन्ता से उत्पन्न 'स्मृति' है।

'सादृश्यदर्शन से संभूत स्मृति के अतिरिक्त वैसादृश्यदर्शन से संभूत स्मृति भी 'स्मरण' अलङ्कार है'—यह 'स्मरण'-संबन्धी मत राघवानन्द महापात्र ने अपनाया है। इस मत में 'स्मरण' का यह उदाहरण उन्हीं का दिया हुआ है—

'जब जब शिरीषकोमलाङ्गी सीता पहाड़ी जगहों पर तरह तरह से व्यथित दिखायी पड़ी, तब तब राम, आँखों से आँसू बहाते, राजभवन में सुलभ, उसके अगणित सुखों का ध्यान करते रहे।'

विमर्श—विश्वनाथ कविराज का 'स्मरण'-लक्षण अलङ्कार-सर्वस्व और काव्य-प्रकाश के स्मरण लक्षणों का अनुसरण करता है। अलङ्कार-सर्वस्व और काव्यप्रकाश में 'सदृशानुभव से वस्त्वन्तर की स्मृति' को 'स्मरण' अलङ्कार कहा गया है—'सदृशानुभवाद् वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्' (अलङ्कार-सर्वस्व), 'यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः। स्मरणम्' (काव्यप्रकाश)। स्मरण अलङ्कार केवल 'स्मृति' नहीं अपि तु सादृश्योत्थापित स्मृति है—यही धारणा प्रायः सभी आलङ्कारिकों की है। आचार्य रुय्यक (अलङ्कारसर्वस्वकार) ने स्पष्ट कहा है—

'सादृश्यं विना तु स्मृतिर्नायमलङ्कारः।'

विश्वनाथ कविराज भी वस्तुतः 'सादृश्योत्थापित स्मृति' को ही स्मरण अलङ्कार मानते हैं किन्तु सादृश्य की भाँति वैसादृश्य भी स्मृति का कारण हो सकता है और इसलिये 'वैसादृश्योत्थापित स्मृति' को भी स्मरण अलङ्कार मानने वाले आचार्य हो चुके हैं जिनमें राघवानन्द महापात्र का नामोल्लेख स्वयं विश्वनाथ कविराज ने ही किया है।

'स्मरण' अलङ्कार की रूपरेखा के सम्बन्ध में 'अलङ्कारसर्वस्व' के व्याख्याकार आचार्य जयरथ की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'अतएव स्मर्यमाणेनानुभूयमानस्य, अनुभूयमानेन वा स्मर्यमाणस्य सादृश्यपरिकल्पनमयमलङ्कारः। यदुक्तम्—

यथा दृश्येन जनिता साम्यधीः स्मर्यमाणगा।
स्मर्यमाणकृताप्यस्ति तथेयं दृश्यगामिनी॥'

अर्थात् 'स्मरण' अलङ्कार अथवा 'सदृशानुभव से वस्त्वन्तर-स्मृति' का अभिप्राय स्मरण की जाती हुई वस्तु से अनुभव की जाती हुई वस्तु की सादृश्य-कल्पना अथवा अनुभव की जाती

(५—रूपक)

रूपकं रूपितारोपाद्वि(पो वि)षये निरपह्नवे ।

हुई वस्तु से स्मरण की जाती हुई वस्तु की सादृश्य-कल्पना है। अनुभव की जाती हुई वस्तु से स्मरण की जाती हुई वस्तु की सादृश्य-परिकल्पना में 'स्मरण' का स्वरूप निम्न मेघदूत-सूक्ति में देखिये—

'तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः॥
मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि॥'

यहाँ प्रत्यक्षदृश्य मेघ और स्मृति-सिद्ध क्रीडाशैल की सादृश्य-कल्पना में 'स्मरण' अलङ्कार की रूपरेखा बड़ी सुन्दरता से उभर आयी है।

(ख) पण्डितराज जगन्नाथ को 'स्मरण' अलङ्कार के इस उपर्युक्त लक्षण पर आपत्ति है क्योंकि उनके अनुसार 'स्मरण' का लक्षण यह है—

'सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यं स्मरणं स्मरणालङ्कारः'

यहाँ 'सादृश्यानुभव' के बदले 'सदृशज्ञान' से उद्बुद्ध स्मृति को स्मरण अलङ्कार माना गया है जिसमें सदृशानुभव की भाँति सदृशस्मृति से भी उत्थापित स्मृति में 'स्मरण' अलङ्कार का दर्शन किया जा सके। बात भी वस्तुतः ठीक ही है। पण्डितराज ने स्पष्ट कहा है—

'यदपि 'सदृशानुभवाद्वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्' इत्यलङ्कारसर्वस्वरत्नाकरयोः स्मरणालङ्कारलक्षणमुक्तम्' तदपि न। सदृशस्मरणादुद्बुद्धेन संस्कारेण जनिते स्मरणे अव्याप्तेः। यथा—

'सन्त्येवास्मिञ् जगति बहवः पक्षिणो रम्यरूपा-
स्तेषां मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु।
यैरध्यक्षैरथ निजसखं नीरदं स्मारयद्भिः
स्मृत्यारूढं भवति किमपि ब्रह्म कृष्णाभिधानम्॥'

अत्र च चातकदर्शनादेकसम्बन्धिज्ञानादुत्पन्नेनापरसम्बन्धिनो जलधरस्य भगवत्सदृशस्य स्मरणेन जनितं भगवतः स्मरणं भगवद्विषयकरतिभावाङ्गम्। यदि च 'सदृशानुभवात्' इत्यपहाय 'सदृशज्ञानात्' इति लक्षणे निवेश्यते तदा भवत्यस्यापि संग्रह इति दिक्।'

अर्थात् सदृशानुभव की भाँति सदृशस्मरणद्वारा उद्बुद्ध संस्कार से उत्थापित स्मृति भी स्मरणालङ्कार ही है।

(ग) 'स्मरण' अलङ्कार की जन्मभूमि वस्तुतः उपमा है। उपमा में साधारणधर्म को एकरूपता और भिन्नरूपता में बिम्बप्रतिबिम्बभाव तथा वस्तुप्रतिवस्तुभाव की जो कतिपय संभावनायें हैं वे 'स्मरण' के लिये भी लागू हैं।

अनुवाद—'**रूपक वह अलङ्कार है जिसे (विषयी अथवा उपमान द्वारा) अनपह्नुत (न छिपाये गये) विषय (आरोप विषय-उपमेय) पर विषयी (उपमान) का अभेदारोप कहा जाया करता है।**

'रूपित-' इति परिणामाद् व्यवच्छेदः। एतच्च तत्प्रस्तावे विवेचयिष्यामः। 'निरपह्नवे' इत्यपह्नुतिव्यवच्छेदार्थम्।

तत्परम्परितं साङ्गं निरङ्गमिति च त्रिधा ॥ २८ ॥

तद्रूपकम्।

(परम्परितरूपकः सप्रभेद निरूपण)

तत्र—

यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम्।
तत्परम्परितं श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिबन्धनम् ॥ २९ ॥
प्रत्येकं केवलं मालारूपं चेति चतुर्विधम्।

यहाँ कारिका में 'रूपित' पद का प्रयोजन 'परिणाम' अलङ्कार से 'रूपक' के व्यवच्छेद अथवा पार्थक्य का प्रदर्शन है और इसका विवेचन 'परिणाम' अलङ्कार के निरूपण-प्रसङ्ग में किया जा रहा है। साथ ही साथ यहाँ 'निरपह्नवे' पद इसलिये रखा गया है जिसमें 'अपह्नुति' से (जिसमें विषय का निषेध रहा करता है) 'रूपक' का स्वरूप-व्यवच्छेद स्पष्ट होता रहे।

विमर्श—अलङ्कारसर्वस्वकार ने 'रूपक' की इस व्युत्पत्ति में ही 'रूपक' का स्वरूप बता दिया है—

'विषयिणा विषयस्य रूपवतः करणाद्रूपकम्।'

'एकावली' की यह 'रूपक'-व्युत्पत्ति भी युक्तियुक्त ही है—

'यदा तु विषयी विषयं रूपयति रूपवन्तं करोति तदन्वर्थाभिधानं रूपकम्।'

अनुवाद—'रूपक' के तीन (मुख्य) प्रकार हैं—(१) परम्परित, (२) साङ्ग और (३) निरङ्ग।

यहाँ (कारिका में) 'तत्' से 'रूपक' का निर्देश किया जा रहा है।

विमर्श—'साङ्ग' रूपक को 'सावयव' और 'निरङ्ग' को 'निरवयव' भी कहा जाया करता है। साङ्ग अथवा सावयव रूपक का अभिप्राय है—'सहावयवैरारोप्यमाणो वर्तते यत्र तत्' (अर्थात् उपमेय का ऐसा रूपण जिसमें उसके अवयव भी रूपित हुआ करें); 'निरङ्ग' अथवा निरवयव रूपक का तात्पर्य है—'अवयवेभ्यो निष्क्रान्त आरोप्यमाणो यत्र तत्' (अर्थात् अवयवरहित उपमेय का उपमान से तादात्म्यारोप) और 'परम्परित' रूपक का अर्थ है 'परम्परयैकस्य माहात्म्यादपरस्यारूपणत्वमायातं यत्र तत्' (अर्थात् एक के ताद्रात्म्यारोप के कारण अन्य का तादात्म्यारोप)।

अनुवाद—रूपक के उपर्युक्त भेदत्रय में—

'परम्परित' रूपक वह रूपक है जिसमें एक का अभेदारोप दूसरे के अभेदारोप का कारण हुआ करता है। इसके दो भेद हैं—(१) श्लिष्टशब्दनिबन्धनपरम्परित और (२) अश्लिष्टशब्दनिबन्धनपरम्परित। (१ ला) अर्थात् श्लिष्ट-शब्दनिबन्धनपरम्परित भी दो प्रकार का है—श्लिष्टशब्दनिबन्धन'केवल'परम्परित और श्लिष्टशब्दनिबन्धन-'माला'परम्परित। इसी प्रकार (२ रा) अर्थात् अश्लिष्टशब्दनिबन्धनपरम्परित भी 'केवल' और 'माला' रूप होने से दो प्रकार का ही है।

तत्र श्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलपरम्परितम्।

यथा—

आहवे जगदुद्दण्ड ! राजमण्डलराहवे।
श्रीनृसिंहमहीपाल ! स्वस्त्यस्तु तव बाहवे ॥'

अत्र राजमण्डलं नृपसमूह एव चन्द्रबिम्बमित्यारोपो राजबाहौ राहुत्वारोपे निमित्तम्।

मालारूपं यथा—

'पद्मोदयदिनाधीशः सदागतिसमीरणः।
भूभृदावलिदम्भोलिरेक एव भवान् भुवि ॥'

अत्र पद्मायाः उदय एव पद्मानामुदयः, सतामागतिरेव सदागमनम्, भूभृतो राजान एव पर्वता इत्याद्यारोपो राज्ञः सूर्यत्वाद्यारोपनिमित्तम्।

अश्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलं यथा—

'पान्तु वो जलदश्यामाः शार्ङ्गज्याघातकर्कशाः।
त्रैलोक्यमण्डपस्तम्भाश्चत्वारो हरिबाहवः ॥'

जैसे कि श्लिष्टशब्दनिबन्धन'केवल'परम्परित—

'हे नृसिंह महीपाल ! हे महापराक्रमी महाराज ! संग्राम में प्रचण्डबलशाली राजमण्डल रूपी चन्द्रमा के लिये राहुस्वरूप आप का भुजदण्ड सदा विजयी हो।'

यहाँ 'राजमण्डल' शब्द श्लिष्ट है क्योंकि इसका अभिप्राय 'राजसमूह' और 'चन्द्रबिम्ब' दोनों है। इस प्रकार यहाँ 'राजमण्डल' (राजसमूह) रूप विषय पर 'राजमण्डल' (चन्द्रबिम्ब) रूप विषयी का आरोप स्पष्ट है। और जैसा कि यह आरोप वर्ण्य भूपाल के बाहुदण्ड पर राहु के आरोप का निमित्त लग रहा है, यहाँ श्लिष्टशब्दनिबन्धन 'केवल'-परम्परित रूपक का लक्षण स्पष्टतया घटित हो रहा है।

इसी प्रकार, श्लिष्टशब्दनिबन्धन'माला'परम्परित, जैसे कि—

'हे महाराज ! इस जगतीतल पर आप ही एक ऐसे हैं जो 'पद्मोदय' (ऐश्वर्य-पराकाष्ठा) रूप 'पद्मोदय' (कमलविकास) के लिये सूर्यरूप, 'सदागति' (सज्जनागम) रूप 'सदागति' (निरन्तर विचरण) के लिये पवन रूप और 'भूभृदावलि' (राजवर्ग) रूप 'भूभृदावलि' (पर्वतसमूह) के लिये वज्ररूप से सदा विराजमान हैं।'

यहाँ भी 'पद्मोदय', 'सदागति' और 'भूभृदावलि' पद श्लिष्ट पद हैं। यहाँ पद्मा अथवा लक्ष्मी के उदय (पद्मोदय) पर, पद्मों के उदय (पद्मोदय = कमलविकास) का आरोप, सज्जनों के आगमन (सदागति) पर सदा आगमन (सदागति) का आरोप और 'भूभृदावलि' (राजसमूह) पर भूभृदावलि (पर्वतसमूह) का आरोप स्पष्ट है और यह भी स्पष्ट है कि यह आरोप वर्ण्य भूपाल पर सूर्य, पवन और वज्र की आरोप-माला का निमित्त बन रहा है।

अश्लिष्टशब्दनिबन्धन'केवल'परम्परित का उदाहरण यह है—

'मेघ के समान श्याम, शार्ङ्ग धनुष की प्रत्यञ्चा के आस्फालन से कठोर किंवा त्रैलोक्य रूपी मण्डल के स्तम्भरूप, भगवान् विष्णु के चारों भुजदण्ड आप सब का कल्याण करें।'

यहाँ कोई भी शब्द श्लिष्ट नहीं और त्रैलोक्य पर मण्डप का जो आरोप है वह विष्णु-भुजाओं पर स्तम्भों के आरोप के निमित्तरूप से प्रतीत हो रहा है।

अत्र त्रैलोक्यस्य मण्डपत्वारोपो हरिबाहूनां स्तम्भत्वारोपे निमित्तम् ।

मालारूपं तथा—

मनोजराजस्य सितातपत्रं श्रीखण्डचित्रं हरिदङ्गनायाः ।
विराजते व्योमसरः सरोजं कर्पूरपूरप्रभमिन्दुबिम्बम् ॥'

अत्र मनोजादे राजत्वाद्यारोपश्चन्द्रबिम्बस्य सितातपत्रत्वाद्यारोपे निमित्तम् । 'तत्र च राजभुजादीनां राहुत्वाद्यारोपो राजमण्डलादीनां चन्द्रमण्डलत्वाद्यारोपे निमित्तम्' इति केचित् ।

इसी प्रकार अश्लिष्टशब्दनिबन्धन 'माला' परम्परित का उदाहरण—

'कामरूप राजराजेश्वर का श्वेत राजच्छत्र, पूर्वदिशारूप सुन्दरी का चन्दनतिलक और गगनरूप सरोवर का कमल यह कर्पूरशुभ्रचन्द्रबिम्ब कितना सुन्दर लग रहा है ।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'काम' आदि पर 'राजा' आदि का जो अभेदारोप है वह 'चन्द्र-बिम्ब' आदि पर 'श्वेतच्छत्र' आदि के अभेदारोप के निमित्तरूप से विराजमान है । इस प्रकार इस आरोप-माला में, अश्लिष्ट शब्दों के प्रयोग के कारण, अश्लिष्टशब्दनिबन्धन 'माला'परम्परित रूपक स्पष्ट झलक रहा है ।

उक्त चतुर्विध परम्परित रूपक के सम्बन्ध में कतिपय काव्याचार्यों का यह कहना है- 'राजमण्डलराहवे' आदि में, एक के रूपण को दूसरे के रूपण का निमित्त 'इस प्रकार मानना उचित है कि 'राजबाहु' आदि पर 'राहु' आदि के अभेदारोप को 'राजमण्डल' (राजवर्ग) आदि पर 'राजमण्डल' (चन्द्रबिम्ब) आदि के अभेदारोप का निमित्त माना जाय (इसलिये 'राजमण्डल' आदि पर 'राजमण्डल' आदि के अभेदारोप को 'राजबाहु' आदि पर 'राहु' आदि के अभेदारोप का निमित्त मानना ठीक नहीं) ।

विमर्श—'एक के आरोपमाहात्म्य से दूसरे के अभेदारोप में परम्परित रूपक की मान्यता तो सभी आलङ्कारिकों की है किन्तु 'किसका आरोप-माहात्म्य किसके अभेदारोप का निमित्त है' इस सम्बन्ध में, विश्वनाथ कविराज ने उदाहृत प्रसङ्गों में, अपने मत का निर्देश कर, जिन काव्याचार्यों के भिन्न मत का उल्लेख किया है उनमें अलङ्कारसर्वस्वकार आचार्य रुय्यक मुख्य हैं । रुय्यक ने श्लिष्टशब्दनिबन्धन'माला'परम्परित का यह उदाहरण दिया है—

'विद्वन्मानसहंस वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते
दुर्गामार्गणनीललोहित समित्स्वीकारवैश्वानर ।
सत्यप्रीतिविधानदक्ष विजयप्राग्भावभीम प्रभो
साम्राज्यं वरवीर वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः ॥'

और इसमें 'परम्परित' का लक्षण इस प्रकार घटाया है—

'अत्र त्वमेव हंस इत्यारोपणपूर्वको मानसमेव मानसमित्याद्यारोप इति श्लिष्टशब्दं मालापरम्परितम् ।'

जिसे, आचार्य जयरथ ने, इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

'विद्वदित्यादिहंसरूपणा माहात्म्यान्मानसरूपणेति परम्परितम्'......'

आचार्य रुय्यक का यह मत सर्वप्रथम काव्यप्रकाशकार द्वारा ही खण्डित किया गया है—

'अत्र (विद्वन्मानसहंस इत्यादौ) मानसमेव मानसम्, कमलायाः संकोच एव कमलानामसंकोचः, दुर्गाणाममार्गणमेव दुर्गायाः मार्गणम्, समितां स्वीकार एव समिधां

(साङ्गरूपक : समस्तवस्तुविषय और एकदेशविवर्ति)

अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत् ॥ ३० ॥
समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च ।

तत्र—

आरोप्याणामशेषाणां शाब्दत्वे प्रथमं मतम् ॥ ३१ ॥

प्रथमं समस्तवस्तुविषयम् ।

यथा—

'रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः ।
अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥'

अत्र कृष्णस्य मेघत्वारोपे वागादीनाममृतत्वादिकमारोपितम् ।

यत्र कस्यचिदार्थत्वमेकदेशविवर्ति तत् ।

स्वीकारः, सत्ये प्रीतिरेव सत्यामप्रीतिः, विजयः पराभव एव विजयोऽर्जुनः एवमारोपणनिमित्तो हंसादेरारोपः ।' (काव्यप्रकाश १०. ९५)

इन दोनों मतों में, विश्वनाथ कविराज और आचार्य मम्मट का मत एक ही है। दोनों ही आचार्य अलङ्कारसर्वस्वकार का खण्डन करते हैं। किन्तु निष्पक्ष भाव से देखते. अलङ्कारसर्वस्वकार का ही मत अधिक युक्तिसंगत लगता है। कारण यह है कि जब कि कवि का ध्यान मुख्य वर्ण्य विषय (और इसलिए मुख्य आरोप विषय) प्रकृत भूपाल पर है तो उस पर की जाने वाली 'हंस' आदि की अभेदारोप-माला ही मुख्य आरोप-माला है जिसकी दृष्टि से 'मानस' पर 'मानस' आदि के आरोप का स्वारस्य और सार्थक्य ठीक-ठीक समझा जा सकता है।

अनुवाद—रूपक का द्वितीय भेद 'साङ्ग' रूपक वह रूपक है जिसमें अङ्गों के रूपण के साथ-साथ अङ्गी का रूपण हुआ करता है। इस रूपक-प्रकार के भी दो भेद हैं—(१) समस्तवस्तुविषय और (२) एकदेशविवर्ति ।

इनमें (१ ला) अर्थात् 'समस्तवस्तुविषय' साङ्गरूपक वह रूपक हुआ करता है जिसमें (कवि-निरूपित) समस्त आरोप्यमाण (उपमान) शब्दतः उपात्त रहा करते हैं।

यहाँ (कारिका में) 'प्रथमम्' का तात्पर्य 'समस्तवस्तुविषय' प्रकार के रूपक का तात्पर्य है।

इसका उदाहरण यह है—

'जब कि विष्णुरूपी मेघ ने रावणरूपी अवग्रह (अवर्षण) से क्लान्त देववृन्दरूपी सस्य (धान्य शालि-क्षेत्र) को वाणीरूपी अमृतवर्षा से सींच दिया तब वह तिरोहित हो गया।'

यहाँ रूपक की 'साङ्गता' और 'समस्तवस्तुविषयता' इसलिये है क्योंकि कवि ने अङ्गी रूप से अवस्थित 'मेघ' रूप आरोप्यमाण (उपमानभूत) पदार्थों को शब्दतः प्रतिपादित किया है और इसके अङ्ग-रूप से निरूपित 'सस्य' तथा 'अवग्रह' और 'अमृत'-रूप आरोप्यमाण पदार्थों को भी शब्दतः ही उपनिबद्ध किया है।

और (२ रा) अर्थात् 'एकदेशविवर्ति' साङ्गरूपक वह रूपक-प्रकार है जिसमें (किसी न किसी अङ्ग से सम्बद्ध) कोई न कोई आरोप्यमाण (उपमानभूत चन्द्र आदि) पदार्थ शब्दतः प्रतिपादित न हो कर अर्थलभ्य रहा करता है।

कस्यचिदारोप्यमाणस्य।

यथा—

'लावण्यमधुभिः पूर्णमास्यमस्या विकस्वरम्।
लोकलोचनरोलम्बकदम्बैः कैर्न पीयते ?॥'

अत्र लावण्यादौ मधुत्वाद्यारोपः शाब्दः, मुखस्य पद्मत्वारोप आर्थः।

न चेयमेकदेशविवर्तिन्युपमा विकस्वरत्वधर्मस्यारोप्यमाणे पद्मे मुख्यतया वर्तमानात् मुखे वोपचरितत्वात्।

यहाँ, कारिका में, 'कस्यचित्' का अभिप्राय 'आरोप्यमाण' (उपमान) का अभिप्राय है। इसका उदाहरण यह है—

'लोगों के कौन ऐसे नेत्ररूपी भ्रमरसंघ नहीं हैं जो कि लावण्यरूपी मधु रस से भरे इसके खिले मुख के पान के लम्पट हैं।'

यहाँ रूपक की 'साङ्गता' और 'एकदेशविवर्तिता' इसलिये है क्योंकि कवि ने 'रोलम्ब' को अङ्गी आरोप्यमाण मानकर, अङ्गरूप से अवस्थित 'मधु'रूप आरोप्यमाण को तो शब्दतः प्रतिपादित किया है किन्तु ('आस्य' के लिये) 'कमल' आदि रूप आरोप्यमाण को अर्थतः ही प्रकाशित छोड़ दिया है। यहां ('नेत्रैरिवोत्पलैः....' आदि की भांति) 'एकदेशविवर्तिनी' उपमा की आशङ्का न होनी चाहिये क्योंकि यहां कवि ने 'विकस्वरता' (खिल उठने) के धर्म का जो उल्लेख किया है वह (जैसा कि 'रूपक' के लिये आवश्यक है) आरोप्यमाणभूत 'कमल' में तो अवश्य अवस्थित है (किन्तु, जैसा कि 'उपमा' के लिये स्वाभाविक है) 'मुख' में (अवस्थित नहीं अपि तु) उपचरित अथवा कल्पित ही प्रतीत हो रहा है (जिससे यहां रूपक की मान्यता ही युक्तियुक्त दिखायी दे रही है)।

विमर्श—(क) सप्रभेद 'साङ्ग' अथवा 'सावयव' रूपक का पण्डितराज जगन्नाथकृत यह लक्षण बड़ा स्पष्ट है—

'परस्परसापेक्षनिष्पत्तिकानां रूपकाणां संघातः सावयवम्।'

तत्रापि—

'समस्तानि वस्तून्यारोप्यमाणानि शब्दोपात्तानि यत्र तत्समस्तवस्तुविषयम्।'

'यत्र च क्वचिदवयवे शब्दोपात्तमारोप्यमाणं क्वचिच्चार्थसामर्थ्याक्षिप्तं तदेकदेशे शब्दानुपात्तविषयिके अवयवरूपके विवर्तनात् स्वस्वरूपगोपनेनान्यथात्वेन वर्तनादेकदेशविवर्ति।'

यद्वा—

'एकदेशे उपात्तविषयिके अवयवे विशेषेण स्फुटतया वर्तनादेकदेशविवर्ति।'

(रसगङ्गाधर : रूपक-प्रकरण)

(ख) 'एकदेशविवर्ति रूपक' और 'एकदेशविवर्तिनी उपमा' का भेद साधारण धर्म की उपमान-संगति और उपमेय-संगति के भेद के आधार पर स्पष्ट हो जाता है। जैसे कि 'मुखकमलं विकस्वरम्' में विकस्वरता का धर्म कमल में तो समवेत है किन्तु मुख में असंगत और इसलिये यहाँ 'मुखमेव कमलम्' इस अभेदारोप में रूपक ही मान्य होगा। इसके अतिरिक्त 'मुखकमलं विहसति' में 'विहसन' का धर्म मुख में तो वस्तुतः संगत लगता है किन्तु कमल में केवल उपचारतः ही संगत प्रतीत होता है। इसलिये यहाँ 'मुखं कमलमिव' इस उपमित समास में 'उपमा' ही मानी जायगी।

(निरङ्गरूपक : भेदद्वय)

निरङ्गं केवलस्यैव रूपणं तदपि द्विधा ॥ ३२ ॥

मालाकेवलरूपत्वात्—

तत्र मालारूपं निरङ्गं यथा—

'निर्माणकौशलं धातुश्चन्द्रिका लोकचक्षुषाम् ।
क्रीडागृहमनङ्गस्य सेयमिन्दीवरेक्षणा ॥'

केवलं यथा—

'दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां
पादप्रहार इति सुन्दरि ! नात्र दूये ।
उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रै-
र्यद्भिद्यते मृदु पदं ननु सा व्यथा मे ॥'

(रूपकभेद : संकलन)

—तेनाष्टौ रूपके भिदाः ।

'चिरन्तनैरुक्ता' इति शेषः ।

अनुवाद—रूपक का तृतीय-भेद 'निरङ्ग' रूपक वह रूपक है जिसमें अङ्गीरूप से अवस्थित आरोप्यमाण (उपमान) का ही अभेदारोप हुआ करता है। यह भी दो प्रकार का है—

(१ ला) 'माला'निरङ्गरूपक और (२ रा) केवलनिरङ्गरूपक ।

(१ ले) अर्थात् 'माला'निरङ्गरूपक का उदाहरण यह है—

'यह कमलनयनी सुन्दरी विधाता की निर्माणचातुरी है, लोक-नेत्र की चन्द्रिका है और अनङ्ग की विलासभूमि है ।'

[यहाँ रूपक की 'निरङ्गता' और 'मालारूपता' इसलिए है क्योंकि कवि ने यहाँ अपने प्रधान वर्ण्य विषय 'सुन्दरी' का ही तीन-तीन आरोप्यमाणपदार्थों जैसे कि 'निर्माण-चातुरी', 'चन्द्रिका' और 'विलासभूमि' से तादात्म्यारोप स्थापित किया है, न कि इससे संबद्ध अङ्गों का भी ।]

(२ रे) अर्थात् 'केवल' निरङ्गरूपक का उदाहरण यह रहा—

'अरी सुन्दरी ! इसका मुझे क्लेश नहीं कि यदि दास अपराध करे तो उसे स्वामी का पादप्रहार सहना ही पड़ता है। मुझे तो इसका डर है कि तेरे चरण-स्पर्श से उत्पन्न, मेरे अङ्ग के पुलकाङ्कुररूपी काँटों से, तेरा कोमल चरण न छिद जाय ।'

[यहाँ 'केवल' निरङ्ग रूपक इसलिये है क्योंकि कवि ने 'पुलकाङ्कुर'रूप विषय का ही 'कण्टकाग्र'रूप विषयी से अभेदारोप स्थापित किया है न कि उससे सम्बद्ध अङ्गों का भी।]

विमर्श—'साङ्ग' रूपक में तो परस्पर सापेक्ष रूपक-संघात का दर्शन हुआ करता है किन्तु 'निरङ्ग' रूपक रूपक-संघात की सापेक्षता से शून्य हुआ करता है

अनुवाद—इस प्रकार 'रूपक' अलङ्कार के सब मिलाकर आठ भेद हैं।

यहाँ कारिका में 'रूपक' के आठ प्रकारों का जो निर्देश है वह प्राचीन आलङ्कारिकों के मतानुसार है ।

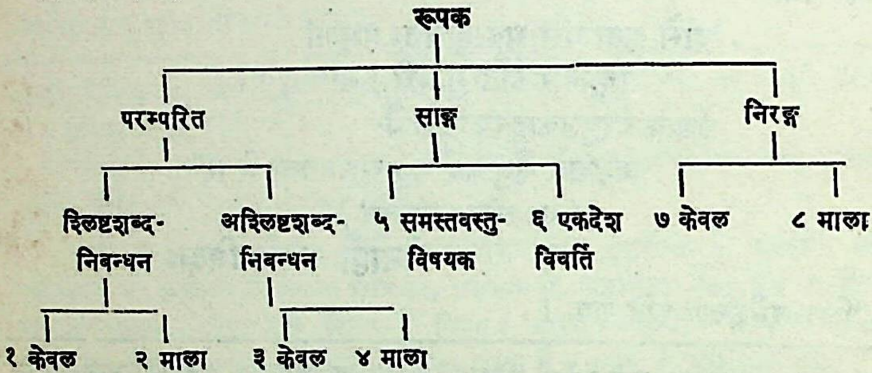
(रूपक-वैचित्र्य)

क्वचित्परम्परितमप्येकदेशविवर्ति यथा—

'खड्गः क्ष्मासौविदल्लः समिति विजयते मालवाखण्डलस्य ।।'

अत्रार्थः क्ष्मायां महिषीत्वारोपः खड्गे सौविदल्लत्वारोपे निमित्तम् । अस्य भेदस्य पूर्ववन्मालारोपत्वेऽप्युदाहरणं मृग्यम् ।

विमर्श—(क) 'रूपक' का भेद-कोष्ठक इस प्रकार है—



(ख) विश्वनाथ-कविराज का उपर्युक्त रूपक-विभाजन आचार्य रुय्यक और आचार्य मम्मट के रूपक-विभाजन का अनुसरण करता है ! आचार्य रुय्यक ने 'अष्टविध' रूपक का यह उल्लेख किया है—

'इदं तु निरवयवं सावयवं परम्परितमिति त्रिविधम् । आद्यं केवलं मालारूपकं चेति द्विधा । द्वितीयं समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति चेति द्विधैव । तृतीयं श्लिष्टाश्लिष्टशब्द-निबन्धनत्वेन द्विविधं सत् प्रत्येकं केवल-मालारूपकत्वाच्चतुर्विधम् । तदेवमष्टौ रूपकभेदाः ।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ ४५)

(ग) किसी प्रयोजनविशेष के ही कारण कविजन एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से अभेदारोपण स्थापित किया करते हैं, भ्रमवश नहीं । सादृश्यनिमित्तिक आरोप ही 'रूपक' है । किन्तु कुछ काव्याचार्य अन्यनिमित्तक आरोप को भी 'रूपक' मानते हैं । जैसे कि निम्नसूक्ति अर्थात्—

'अमृतकवलः शोभाराशिः प्रमोदरसप्रभा सितिमशकटं ज्योत्स्नावापी तुषारघरट्टिका ।
मनसिजवृसी शृङ्गारश्रीविमानमहो नु भो निरवधिसुखश्रद्धा दृष्टेः कृती मृगकेतनः ॥'

में 'इन्दुरूप' कारण पर कार्यरूप श्रद्धा का जो आरोप है वह सादृश्यनिमित्तिक नहीं अपितु सम्बन्धान्तरनिमित्तक है, किन्तु है 'रूपक' ही ।

अनुवाद—उपर्युक्त अष्टविध रूपक के अन्यविध भी वैचित्र्य काव्य-साहित्य में दृष्टिगत हुआ करते हैं । जैसे कि कहीं-कहीं 'परम्परित' रूपक में 'एकदेशविवर्तिता'—

'मालव के आखण्डल मालवेन्द्र का खड्ग जो कि पृथ्वी का काञ्चुकीय है, संग्राम में विजयशील ही रहा करता है ।'

यहाँ 'परम्परित' रूपक में 'एकदेशविवर्तिता' का वैचित्र्य इसलिए झलक रहा है क्योंकि 'खड्ग' पर 'काञ्चुकीयत्व' का जो आरोप है वह 'क्ष्मा' (पृथिवी) पर, अर्थ-सामर्थ्य से लब्ध, 'राजमहिषीत्व' के आरोप के कारण है ।

इस 'एकदेशविवर्ति' परम्परित रूपक में 'माला'रूप की भी संभावना है जिसका उदाहरण ढूँढ़ा जा सकता है ।

दृश्यन्ते क्वचिदारोप्याः श्लिष्टाः साङ्गेऽपि रूपके ॥ ३३ ॥

तत्रैकदेशविवर्ति श्लिष्टं यथा मम—

'करमुदयमहीधरस्तनाग्रे गलिततमःपटलांशुके निवेश्य ।
विकसितकुमुदेक्षणं विचुम्बत्ययममरेशदिशो मुखं सुधांशुः ॥'

समस्तवस्तुविषयं यथा—अत्रैव 'विचुम्बति—' इत्यादौ 'चुचुम्बे हरिदबलामुखमिन्दुनायकेन' इति पाठे। न चात्र श्लिष्टपरम्परितम् ? अत्र हि 'भूभृदावलिदम्भोलिः—' इत्यादौ राजादौ पर्वतत्वाद्यारोपं विना वर्णनीयस्य राजादेर्-

---

['माला' एकदेशविवर्ति परम्परितरूपक का उदाहरण यह रहा—
'छत्रं सितं शाम्बरशात्रवस्य श्रीखण्डचित्रं हरितोऽबलायाः ।
विराजते चारु नभःसरोजं कर्पूरपूरप्रभमिन्दुबिम्बम् ॥
यहाँ शम्बरशत्रु पर अर्थलभ्य 'राजत्व' के आरोप से एकदेशविवर्तिता और एकनिमित्तक अन्यारोप की माला के कारण 'माला-परम्परित' रूपक का स्वरूप स्पष्ट है।]

इसी प्रकार कहीं-कहीं 'साङ्ग' रूपक भी (परम्परित की भाँति) श्लिष्ट-शब्द-निबन्धन रूप में दिखायी दिया करता है क्योंकि कतिपय आरोप्यमाण श्लिष्ट शब्दों द्वारा उपात्त रहा करते हैं।

उदाहरण के लिये 'एकदेशविवर्ति' प्रकार का श्लिष्ट-शब्द-निबन्धन साङ्गरूपक—

'यह चन्द्रमा, उदयाचलरूपी स्तनाग्रभाग पर, जिस पर से अन्धकाररूपी अञ्चल गिर गया है, अपने किरणरूपी हाथ रख रहा है और पश्चिम दिशा के विकसित कुमुद रूपी नेत्रों से रमणीय मुख का चुम्बन करता दिखायी दे रहा है।'

यहीं यदि 'विचुम्बत्ययममरेशदिशो मुखं सुधांशुः' के स्थान पर (चुचुम्बे हरिदबलामुखमिन्दुनायकेन। पश्चिमदिशारूपी रमणी के मुख का चन्द्ररूपी नायक चुम्बन कर रहा है) कर दिया जाय तो 'समस्तवस्तुविषय' प्रकार के श्लिष्टशब्दनिबन्धन साङ्गरूपक का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा (क्योंकि पश्चिम दिशा पर 'नायिकात्व' और चन्द्रमा पर 'नायकत्व' का आरोप शब्दतः उपात्त दिखायी देने लगेगा)।

यहाँ 'करमुदयमहीधरस्तनाग्रे' आदि एकदेशविवर्ति-श्लिष्टशब्द-निबन्धन-साङ्ग रूपक-सूक्ति में 'श्लिष्टपरम्परित' रूपक का भ्रम नहीं होना चाहिये। कारण यह है कि 'परम्परित' रूपक के 'भूभृदावलिदम्भोलि' आदि पूर्वोद्धृत प्रसङ्ग में 'राजवर्ग' आदि पर 'पर्वत' आदि के आरोप के बिना वर्ण्य भूपाल आदि पर 'वज्र' आदि के आरोप की असंगति के देखते यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'परम्परित' रूपक वहाँ हुआ करता है जहां एक के आरोप-माहात्म्य से दूसरे के आरोप में अप्रसिद्ध सादृश्य का भी निमित्त रहा करता है ('करमुदयमहीधरस्तनाग्रे' आदि में ऐसी बात कहां ? यहाँ 'कर' (हाथ) का 'कर' (किरण) पर आरोप, 'नायक' का 'सुधांशु' पर आरोप और 'नायिका' का 'पश्चिम दिशा' पर आरोप ऐसा नहीं जो एक दूसरे के आरोप पर निर्भर हो और न यहाँ आरोप का निमित्त अप्रसिद्ध सादृश्य ही दिखायी दे रहा है)।

किन्तु, 'भूभृदावलिदम्भोलिः' आदि में 'परम्परित' की उपर्युक्त संगति के देखते 'पद्मोदयदिनाधीशः' आदि में 'परम्परित' को असङ्गत क्यों न माना जाय ? 'पद्मोदयदिनाधीशः' आदि में 'परम्परित' मानना इसलिये ठीक नहीं लगता कि यहाँ सूर्य आदि के साथ वर्ण्य

म्भोलितादिरूपणं सर्वथैव सादृश्याभावादसङ्गतम्। तर्हि कथं 'पद्मोदयदिनाधीशः-' इत्यादौ परम्परितम्, राजादेः सूर्यादिना सादृश्यस्य तेजस्वितादिहेतुकस्य संभवादिति न वाच्यम्। तथा हि—राजादेस्तेजस्वितादिहेतुकं सुव्यक्तं सादृश्यम्, न तु प्रकृते विवक्षितम्, पद्मोदयादेरेव द्वयोः साधारणधर्मतया विवक्षितत्वात्। इह तु महीधरादेः स्तनादिना सादृश्यं पीनत्तुङ्गत्वादिना सुव्यक्तमेवेति न श्लिष्टपरम्परितम्।

क्वचित्समासाभावेऽपि रूपकं दृश्यते—

'मुखं तव कुरङ्गाक्षि! सरोजमिति नान्यथा।'

क्वचिद्वैयधिकरण्येऽपि यथा—

'विदधे मधुपश्रेणीमिह भ्रूलतया विधिः।'

क्वचिद्वैधर्म्येऽपि यथा—

भूपाल आदि का, तेजस्विता की दृष्टि से, प्रसिद्ध सादृश्य विद्यमान है और साथ ही साथ इस आरोप के निमित्तरूप से 'पद्मोदय' आदि पर 'पद्मोदय' आदि का आरोप भी नहीं दिखायी देता (और इसलिये यहाँ 'साङ्ग' रूपक भले ही माना जाय 'परम्परित' तो नहीं ही माना जा सकता)। किन्तु, इस समस्या का समाधान यह है—'पद्मोदयदिनाधीशः' आदि में, सूर्य के साथ वर्ण्य भूपाल का, तेजस्विताहेतुक सादृश्य स्पष्ट तो अवश्य है किन्तु अभिप्रेत नहीं। यहाँ जो सादृश्य अभिप्रेत है वह 'पद्मोदयत्व' हेतुक ही सादृश्य है और साथ ही साथ 'पद्मोदय' (लक्ष्मी के अभ्युदय) पर 'पद्मोदय' (कमलविकास) का जो आरोप है वह 'वर्ण्यभूपाल' पर 'सूर्य' के आरोप के निमित्तरूप से भी दिखायी पड़ रहा है (जिससे 'पद्मोदयदिनाधीशः' में साङ्गरूपक की संभावना निर्मूल हो जाती है)। इस प्रकार 'करमुदयमहीधरस्तनाग्रे' आदि में जो 'रूपक' है वह 'परम्परित' नहीं अपितु श्लिष्टशब्दनिबन्धन एकदेशविवर्ति 'साङ्ग' रूपक ही है क्योंकि 'स्तन' आदि के साथ 'महीधर' आदि का जो सादृश्य है उसमें 'पीनता' और 'उत्तुङ्गता' की हेतुता स्वयं अतिपरिस्फुट है।

कहीं-कहीं समास के अभाव में भी 'रूपक' का दर्शन स्वाभाविक है। जैसे कि—
'अरी मृगनयनी! यह सच है कि तेरा मुख सरोज है।'

(इस प्रकार 'रूपक' में 'व्यस्त', 'समस्त' और 'व्यस्तसमस्त' आदि वैचित्र्य भी पाये ही जाते हैं)।

('सामानाधिकरण्य' की भांति) 'वैयधिकरण्य' में भी 'रूपक' का सौन्दर्य विराजमान रहा करता है। जैसे कि—

'विधाता ने इस सुन्दरी के मुखपङ्कज पर, भ्रूलता के रूप में भ्रमरश्रेणी की रचना कर दी है।'

[यहाँ यह स्पष्ट है कि 'भ्रूलता' और 'मधुपश्रेणी' भिन्न-भिन्न विभक्तियों में हैं किन्तु 'भ्रूलता' पर 'मधुपश्रेणी' का आरोप अवश्य प्रतीत हो रहा है।]

कहीं-कहीं (साधर्म्य की भांति) वैधर्म्य में भी 'रूपक' दिखायी दिया करता है। जैसे कि इस सूक्ति में ही—

'सौजन्याम्बुमरुस्थली सुचरितालेख्यद्युभित्तिर्गुण-
ज्योत्स्नाकृष्णचतुर्दशी सरलतायोगश्वपुच्छच्छटा।
यैरेषापि दुराशया कलियुगे राजावली सेविता
तेषां शूलिनि भक्तिमात्रसुलभे सेवा कियत्कौशलम् ॥'

इदं मम।

अत्र च केषाञ्चिद्रूपकाणां शब्दश्लेषमूलत्वेऽपि रूपकविशेषत्वादर्थालङ्कार-मध्ये गणनम्। एवं वक्ष्यमाणालङ्कारेषु बोध्यम्।

अधिकारूढवैशिष्ट्यं रूपकं यत्तदेव तत्।

तदेवाधिकारूढवैशिष्ट्यसंज्ञकम्।

यथा मम—

'इदं वक्त्रं साक्षाद्विरहितकलङ्कः शशधरः सुधाधाराधारश्चिरपरिणतं बिम्बमधरः।
इमे नेत्रे रात्रिन्दिवमधिकशोभे कुवलये तनुर्लावण्यानां जलधिरवगाहे सुखतरः ॥'

अत्र कलङ्कराहित्यादिनाधिकं वैशिष्ट्यम्।

'इस कलिकाल में जो लोग उस दुष्ट हृदयवाली राजावली (राजगण) की सेवा कर चुके हैं जो कि सुजनतारूपी जलधारा के लिये मरुभूमि, सच्चरित्रतारूपी चित्रवीथी के लिये आकाशभित्ति, गुणावलीरूपी चन्द्रिका के लिये अँधेरी चौदस की तिथि और सरलता के सम्बन्ध के लिये कुत्ते की पूँछ है, उनके लिये, केवल भक्ति से सुलभ भगवान् शङ्कर की आराधना में, कोई कौशल अपेक्षित नहीं।'

[यहाँ 'मरुभूमित्व' आदि विरुद्ध धर्मों के आरोप में भी 'रूपक' अक्षुण्ण ही दिखायी दे रहा है।]

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि कई रूपक ऐसे भी हुआ करते हैं जो कि शब्द-श्लेष के आधार पर रचित रहा करते हैं। किन्तु ये भी रूपक के ही विविध वैचित्र्य रूप हैं और इसीलिये इन्हें सामान्यतः अर्थालङ्कारभूत रूपक के ही अन्तर्गत मान लिया गया है। यही बात आगे प्रतिपादित अलङ्कारों में भी समझनी चाहिये।

एक और भी रूपकवैचित्र्य है जिसे 'अधिकारूढवैशिष्ट्य' संज्ञक 'रूपक' कहा करते हैं क्योंकि इसमें आरोप्यमाण (उपमान) की अपेक्षा आरोपविषय (उपमेय) में कुछ वैशिष्ट्य (विशेषण-योग) भी विराजमान रहा करता है। उदाहरणके लिये इस स्वर-चित सूक्ति में 'अधिकारूढवैशिष्ट्य' रूपक—

'उस सुन्दरी का मुख साक्षात् कलङ्करहित चन्द्र है, अमृतधारा का आधार उसका अधर सुपक्व बिम्बफल है, उसके नेत्र रात-दिन रमणीय लगनेवाले नीलकमल हैं और उसका शरीर लावण्य का वह समुद्र है जिसमें स्नान सुखदायक ही सिद्ध होता है।'

यहाँ 'अधिकारूढवैशिष्ट्य' इसलिये है क्योंकि आरोपविषय (उपमेय) में 'कलङ्क-राहित्य' आदि की वह विशेषता विराजमान है जो कि आरोप्यमाण (उपमान) में नहीं दिखायी देती।

विमर्श—(क) विश्वनाथ कविराज के रूपक-वैचित्र्य-निरूपण का आधार 'अलङ्कारसर्वस्व'-कार का रूपक-वैचित्र्य निर्देश है। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने 'अष्टविध' रूपक का निरूपण करके उन अन्य रूपक-प्रकारों का भी संकेत किया है जो कि प्राचीन आलङ्कारिकों को मान्य है। आचार्य दण्डी का रूपक-विभाग यह है—

(६—परिणाम)

विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि ॥ ३४ ॥
परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा ।

आरोप्यमाणस्यारोपविषयात्मतया परिणमनात्परिणामः ।

यथा—'स्मितेनोपायनं दूरादागतस्य कृतं मम ।
स्तनोपपीडमाश्लेषः कृ(त)तो द्यूते पणस्तया ॥'

अन्यत्रोपायनपणौ वसनाभरणादिभावेनोपयुज्येते । अत्र तु नायकसंभावनद्यूतयोः स्मिताश्लेषरूपतया । प्रथमार्द्धे वैयधिकरण्येन प्रयोगः, द्वितीये सामानाधिकरण्येन ।

'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते । यथा बाहुलता पाणिपद्मं चरणपल्लवः ॥
अङ्गुल्यः पल्लवान्यासन् कुसुमानि नखार्चिषः । बाहू लते वसन्तश्रीस्त्वं नः प्रत्यक्षचारिणी ॥
इत्येतदसमस्ताख्यं समस्तं पूर्वरूपकम् (बाहुलता इत्यादि) ।
स्मितं मुखेन्दोर्ज्योत्स्नेति समस्तव्यस्तरूपकम् ॥'

(काव्यादर्श : २. ६६–६८)

और इसे भी विश्वनाथ कविराज ने निर्दिष्ट कर दिया है। इसके अतिरिक्त आचार्य रुय्यक द्वारा उद्धृत—

'पर्यङ्को राजलक्ष्म्याः हरितमणिमयः पौरुषाब्धेस्तरङ्गो
भग्नप्रत्यर्थिवंशोल्वणविजयकरिस्त्यानदानाम्बुपट्टः ।
संग्रामत्रासताम्यन्मुरलपतियशोहंसनीलाम्बुवाहः
खड्गः क्ष्मासौविदल्लः समिति विजयते मालवाखण्डलस्य ॥'

आदि सूक्ति में, 'एकदेशविवर्ति परम्परित' और 'सौजन्याम्बुमरुस्थली' आदि में वैधर्म्यनिमित्तक 'परम्परित' भी विश्वनाथ कविराज को मान्य ही है ।

(ख) रसगङ्गाधरकार का रूपक निरूपण विश्वनाथ कविराज के रूपक-निरूपण से प्रभावित है। रसगङ्गाधरकार ने रूपक-वैचित्र्य में साधारणधर्म की एकरूपता, बिम्बप्रतिबिम्बरूपता, औपचारिकता और केवल शब्दोपात्तता आदि का भी विश्लेषण किया है और साथ ही साथ पदार्थ-रूपक, वाक्यार्थरूपक, आदि-आदि रूपक-प्रकारों का भी लक्षण-निरूपण कर दिया है।

अनुवाद—'परिणाम' वह अलङ्कार है जिसमें 'उपमेय' से 'उपमान' का अभेदारोप ऐसा हुआ करता है जो कि प्रकृतार्थोपयोगी हुआ करता है। इसके भी दो भेद हैं—
(१) तुल्याधिकरण (अर्थात् समानविभक्तिक अथवा समानाधिकरणक) परिणाम और
(२) अतुल्याधिकरणक (अर्थात् असमानविभक्तिक अथवा व्यधिकरणक) परिणाम ।

'परिणाम' को परिणाम इसलिये कहते हैं क्योंकि इसमें जो आरोप्यमाण (उपमान) रहा करता है वह आरोपविषय (उपमेय) के रूप में परिणत हुआ करता है।

इसका उदाहरण यह है—

'जब मैं अपनी प्रेमिका के पास पहुँचा तब उसने अपने स्मित के रूप में तो मुझे भेंट दी और द्यूतक्रीडा में गाढालिङ्गन के रूप में बाजी भी बद दी।'

यहाँ 'परिणाम' इसलिये है क्योंकि 'उपायन' और 'पण' (भेंट और बाजी) जो कि और परिस्थिति में वस्त्र अथवा आभूषण आदि के रूप में उपयुक्त होते, यहाँ प्रेमी के समादर और प्रेमी के साथ द्यूतक्रीड़ा की परिस्थिति में 'स्मित' और 'आश्लेष' के रूप में

रूपके 'मुखचन्द्रं पश्यामि' इत्यादावारोप्यमाणचन्द्रादेरुपरञ्जकतामात्रम्, न तु प्रकृते दर्शनादावुपयोगः। इह तूपायनादेर्विषयेण तादात्म्यं प्रकृते च नायकसंभावनादावुपयोगः। अत एव रूपके आरोप्यस्यावच्छेदकत्वमात्रेणान्वयः, अत्र तु तादात्म्येन।

'दासे कृतागसि–' इत्यादौ रूपकमेव, न तु परिणामः। आरोप्यमाणकण्टकस्य पादभेदनकार्यस्याप्रस्तुतत्वात्। न खलु तत्कस्यचिदपि प्रस्तुतकार्यस्य घटनार्थमनुसन्धीयते।

अयमपि रूपकवदधिकारूढवैशिष्ट्यो दृश्यते।

यथा—

'वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥'

उपयुक्त होते दिखाई दे रहे हैं। यहाँ प्रथमार्ध में जो 'परिणाम' है उसमें आरोप्यमाण (उपायनम्) और आरोपविषय (स्मितेन) भिन्न-भिन्न विभक्तियोंवाले शब्दों द्वारा उपात्त हैं और द्वितीयार्थ में ऐसा है कि आरोप्यमाण (पणः) और आरोपविषय (आश्लेषः) दोनों एक ही वभक्तिओंवाले शब्दों द्वारा उपात्त हैं।

'रूपक' और 'परिणाम' का भेद इसी से स्पष्ट है कि 'मुखचन्द्रं पश्यामि' (मुखचन्द्र का दर्शन कर रहा हूँ) आदि रूपक के प्रसङ्गों में तो आरोप्यमाण (उपमान) 'चन्द्र' आदि पदार्थ आरोपविषय (उपमेयभूत) 'मुख' के उपरञ्जक अथवा शोभातिशय के सूचकमात्र ही प्रतीत हुआ करते हैं न कि प्रस्तुत विषय जैसे कि दर्शन (पश्यामि) की क्रिया आदि के साथ सम्बद्ध रहा करते हैं किन्तु उपर्युक्त 'परिणाम' के प्रसङ्गों में यह स्पष्ट है कि आरोप्यमाण 'उपायन' आदि परार्थ, आरोपविषय 'स्मित' आदि के साथ, इस प्रकार तादात्म्य स्थापित किये पड़े हैं कि प्रस्तुत विषय—जैसे कि प्रेमी के स्वागत-सत्कार आदि में उपयुक्त होते दिखाई दे रहे हैं। तात्पर्य यह है कि जहाँ 'रूपक' में 'उपमान' (आरोप्यमाण) 'उपमेय' के अवच्छेदक अथवा उपरञ्जक रूप से अन्वित हुआ करता है, वहाँ 'परिणाम' में यह (उपमान), उस (उपमेय) के साथ, सर्वात्मना एकरूप हो जाया करता है और उसके कार्य में भी उपयुक्त हुआ करता है। इस दृष्टि से 'दासे कृतागसि' आदि प्रसङ्गों में 'परिणाम' नहीं अपितु 'रूपक' अलङ्कार ही सिद्ध होता है क्योंकि यहाँ 'रोमाञ्च' पर आरोप्यमाण (उपमान) 'कण्टकाग्र' आदि पदार्थ ऐसे हैं जिनके सम्बन्ध में 'पादभेदन' (पैर के छेदने) आदि कार्यों की चर्चा सर्वथा अप्रासङ्गिक सी ही लगती है। यहाँ भला प्रस्तुत मानभङ्गरूप कार्य में कण्टकाग्र के 'पादभेदन' (पैर में चुभने) का क्या उपयोग?

'परिणाम' भी, रूपक की ही भाँति' 'अधिकारूढवैशिष्ट्य' प्रकार का भी हो सकता है। जैसे कि, इस सूक्ति अर्थात्—

'यही वह हिमालय है जिसकी कन्दराओं में किरणों को फैलाती दिव्य औषधियाँ, प्रियतमाओं के साथ प्रेमविहार करते वनेचरों के लिये, रात के समय, बिना तेल के रति-प्रदीप का कार्य किया करती हैं।'

अत्र प्रदीपानामोषध्यात्मतया प्रकृते सुरतोपयोगिन्यन्धकारनाशे उपयोगोऽतैलपूरत्वेनाधिकारूढवैशिष्ट्यम्।

(७—संदेह : सप्रभेदनिरूपण)

सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः ॥ ३५ ॥

शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा।

यत्र संशय एव पर्यवसानं स शुद्धः।

यहाँ 'परिणाम' इसलिये है कि 'औषधियों' पर आरोपित 'सुरतप्रदीप' औषधियों के साथ इतने एकरूप (अभिन्न) हो रहे हैं कि प्रस्तुत प्रेमविहार के उपयुक्त अन्धकार-विनाशरूप कार्य का सम्पादन करते दिखायी दे रहे हैं और इसमें 'अधिकारूढवैशिष्ट्य' की विचित्रता इस प्रकार मिली है कि 'अतैलपूरता' का विशेषणयोग प्रदीपों की अपेक्षा औषधियों को ही अधिक उत्कृष्ट सिद्ध कर रहा है।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने 'परिणाम' अलङ्कार की कोई चर्चा नहीं की। विश्वनाथ कविराज ने 'अलङ्कारसर्वस्व' की 'परिणाम'मान्यता के आधार पर 'परिणाम' का लक्षण-परीक्षण किया है। 'अलङ्कारसर्वस्व' में 'परिणाम' का यह स्वरूप है—

'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः।'

आरोप्यमाणं रूपके प्रकृतोपयोगित्वाभावात् प्रकृतोपरञ्जकत्वेनैव केवलेनान्वयं भजते। परिणामे तु प्रकृतात्मतया—आरोप्यमाणस्योपयोग इति प्रकृतमारोप्यमाणरूपत्वेन परिणमति।

अर्थात् 'परिणाम' का अभिप्राय आरोप्यमाण अथवा उपमान की प्रकृतोपयोगिता है। 'रूपक' में जो आरोप्यमाण अथवा उपमान हुआ करता है वह प्रकृतोपयोगी नहीं हुआ करता अपितु प्रकृतोपरञ्जक हुआ करता है किन्तु 'परिणाम' में आरोप्यमाण, प्रकृत का अङ्ग बनकर, प्रकृतोपयोगी हो जाया करता है।

'रसगङ्गाधर'कार ने आरोप्यमाण की प्रकृतोपयोगिता का यह तात्पर्य लिया है—

'विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण स परिणामः।' अत्र च विषयाभेदो विषयिण्युपयुज्यते। रूपके तु नैवमिति रूपकादस्य भेदः। यथा—

अपारे संसारे विषमविषयारण्यसरणौ
मम भ्रामं भ्रामं विगलितविरामं जडमतेः।
परिश्रान्तस्यायं तरणितनयातीरनिलयः
समन्तात् संतापं हरिनवतमालस्तिरयतु॥'

अत्र भगवदात्मतयैव तमालस्य संसारतापनिवर्त्तनक्षमत्वम्। मार्गश्रान्तजनसंतापहारकत्वाद्रमणीयशोभाधारत्वाच्च तमालो विषयितयोपात्तः।' (रसगङ्गाधर : परिणाम-प्रकरण)

अनुवाद—'संदेह' वह अलङ्कार है जिसे प्रकृत (उपमेय) में अप्रकृत का कवि-प्रतिभोत्थापित संशय कहा जाया करता है। यह तीन प्रकार का हुआ करता है—(१) शुद्ध संदेह, (२) निश्चयगर्भसंदेह और (३) निश्चयान्त संदेह।

'संदेह' के इन तीन भेदों में, पहला अर्थात् शुद्ध संदेह वह है जिसमें वाक्यआदि, मध्य और अन्त में संशय में ही समाप्त रहा करता है। जैसे कि—

यथा—

'किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी
वेलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः।
उद्गाढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविश्रम्भिणः
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृङ्गारिणः ॥'

यत्रादावन्ते च संशय एव मध्ये निश्चयः स निश्चयमध्यः।

यथा—

'अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
कृशानुः किं सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम्।
कृतान्तः किं साक्षान्महिषवहनोऽसाविति पुनः
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः ॥'

अत्र मध्ये मार्तण्डाद्यभावनिश्चयः, राजनिश्चये द्वितीयसंशयोत्थानासंभवात्

यत्रादौ संशयोऽन्ते च निश्चयः स निश्चयान्तः।

यथा—

'किं तावत्सरसि सरोजमेतदारादाहोस्विन्मुखमवभासते तरुण्याः।
संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद्विब्वोकैर्बकसहवासिनां परोक्षैः ॥'

'यह सुन्दरी क्या है? क्या यह तारुण्यतरु की रसीली नवमञ्जरी है? क्या यह उद्वेल्लित लावण्य-सागर की लहर तो नहीं? अथवा क्या यह, प्रेमिकाजन के लिये उत्कण्ठित प्रेमीजनों को प्रणय-पाठ पढ़ाने में उत्सुक, कामदेव की उपदेश-यष्टि है?

[यहाँ उपमेयभूत कामिनी में उपमानभूत वल्लरी आदि का ऐसा संशय विराजमान है जो कविप्रतिभा द्वारा उत्थापित है (स्वारसिक नहीं) और साथ ही साथ आदि से अन्त तक अक्षुण्ण बना हुआ है।]

दूसरा अर्थात् निश्चयगर्भ संदेह वह संदेह प्रकार है जिसके आदि और अन्त में संशय, किन्तु, मध्य में निश्चय विराजमान रहा करता है। जैसे कि—

'महाराज! संग्राम में आपको देख-देख शत्रु-सैनिक यह सोचा करते हैं—'क्या यह सूर्य तो नहीं? किन्तु सूर्य के तो सात घोड़े हुआ करते हैं! क्या यह अग्नि तो नहीं? किन्तु अग्नि तो सर्वत्र विचरणशील नहीं? तो क्या यह यमराज है? किन्तु यमराज तो महिष-वाहन हुआ करता है।'

[यहाँ आदि से अन्ततक उपमेयभूत भूपाल पर, उपमानभूत 'मार्त्तण्ड' आदि का जो कविप्रतिभोत्थापित संशय है, उसके मध्य में 'मार्तण्ड' आदि के अन्योन्याभाव (भेद) का निश्चय भी विराजमान दिखाई दे रहा है। यहाँ यह मानना ठीक नहीं कि 'मार्तण्ड' के अभाव-निश्चय के बाद (उपमेयभूत) भूपाल का भी निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है क्योंकि यदि ऐसी बात होती तो आगे कृशानुरूप से और उसके भी आगे यमरूप से संशय की जो उत्पत्ति हो रही है वह क्योंकर हो पाती?]

तीसरा अर्थात् 'निश्चयान्त' संदेह वह संदेह प्रकार है जिसके आदि में संशय किन्तु अन्त में निश्चय प्रतीत हुआ करता है। जैसे कि—(शिशुपालवध की यह सूक्ति)—

'कृष्ण के किसी सहचर को क्षणभर के लिये यह संशय हुआ कि दूर, सरोवर में कमल खिला है या स्नान करती हुई किसी तरुणी का मुख झलक रहा है किन्तु जैसे ही

अप्रतिभोत्थापिते तु 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादिसंशये नायमलङ्कारः।

'मध्यं तव सरोजाक्षि ! पयोधरभरार्दितम्।
अस्ति नास्तीति संदेहः कस्य चित्ते न भासते ॥'

अत्रातिशयोक्तिरेव, उपमेये उपमानसंशयस्यैवैतदलङ्कारविषयत्वात्।

(८—भ्रान्तिमान्)

साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः ॥ ३६ ॥

यथा—

'मुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानधो वल्लवाः
कर्णे कैरवशङ्कया कुवलयं कुर्वन्ति कान्ता अपि।

उसने वहाँ बक-सहवासी कमलों में अलभ्य हाव-भाव का दर्शन किया, उसे निश्चय हो गया कि वह वस्तु क्या है।'

[यहाँ आरम्भ में, उपमेयभूत तरुणीवदन में उपमानभूत कमल का संशय और अन्त में तरुणी वदनरूप वस्तुतत्त्व का निश्चय स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।]

'संदेह' अलङ्कार उस प्रकार के संशय में नहीं हुआ करता जिसमें कविप्रतिभा का अपि तु संशयात्मक ज्ञानप्रकारमात्र है।

कविप्रतिभोत्थापित भी 'संशय' तभी 'संदेह' अलङ्कार हो सकता है जब कि वह प्रकृत में अप्रकृतविषयक संशयात्मक अनुभवरूप रहा करता है। इसलिये निम्न सूक्ति अर्थात्—

'अरी कमल सरीखे नेत्रोंवाली ! स्तनों के भार से तेरी कमर ऐसी निपीडित हो रही है कि सब के मन में यह सन्देह हो उठता है कि वह (तेरी कमर) है भी या नहीं' में जो संशय है उसमें 'संदेह' नहीं अपि तु (असम्बन्ध में सम्बन्धरूप) 'अतिशयोक्ति' की ही रूपरेखा स्पष्ट है क्योंकि 'संदेह'-अलङ्कार का विषय वही संशय हुआ करता है जो कि उपमेय में उपमान-विषयक संशय कहा जाया करता है।'

विमर्श—(क) विश्वनाथ कविराज का यह 'संदेह'-निरूपण आचार्य रुय्यक की इस 'संदेह' मीमांसा से प्रभावित है—

'विषयस्य संदिह्यमानत्वे संदेहः। अभेदप्राधान्ये आरोप इत्येव। विषयः प्रकृतोऽर्थः, यद्भित्तित्वेनाप्रकृतः संदिह्यते। अप्रकृतमसंदेहे विषयोऽपि संदिह्यते एव। तेन प्रकृताप्रकृतगतत्वेन कविप्रतिभोत्थापिते संदेहे संदेहालङ्कारः। स च त्रिविधः। शुद्धो निश्चयगर्भो निश्चयान्तश्च। (अलङ्कारसर्वस्व, पृ० ५३)।'

(ख) उत्तररामचरित (३. ११) की निम्न-सूक्ति में जो 'संदेह' अलङ्कार है उसकी रसोत्कर्षकता वस्तुतः अपूर्व है—

'प्रश्चोतनं नु हरिचन्दनपल्लवानां निष्पीडितेन्दुकरकन्दलजो नु सेकः।
आतप्तजीविततरोः परितर्पणो मे सञ्जीवनौषधिरसो नु हृदि प्रसिक्तः ॥'

अनुवाद—'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार वह है जिसे, सादृश्य के कारण, एक वस्तु में दूसरी वस्तु का ऐसा अनुभव कहा जाया करता है जो (स्वारसिक नहीं अपि तु) कविप्रतिभोत्थापित हुआ करता है।

इसका उदाहरण यह है—

'चन्द्रमा की चमकती चांदनी किसके हृदय में भ्रम नहीं पैदा करती ! मुग्ध-हृदय

कर्कन्धूफलमुच्चिनोति शबरी मुक्ताफलाशङ्कया
सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका ॥'

अस्वरसोत्थापिता भ्रान्तिर्नायमलङ्कारः। यथा—'शुक्तिकायां रजतम्' इति। न चासादृश्यमूला।

यथा—

'संगमविरहविकल्पे वरमिह न संगमस्तस्याः।
सङ्गे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे ॥'

गोपवृन्द, इसे दूध की धार समझ लेते हैं और उसे रोकने के लिये, गौओं के स्तनों के नीचे दोहन-घट रखने लगते हैं, मुग्धहृदय रमणियाँ इसे देख कर, नीलकमल को भी श्वेत-कमल मान लेती हैं, और कानों का अलङ्कार बनाने लगती हैं और शबरयुवतियां जब इसे देखती हैं तब तो कर्कन्धू (झरबेरी) को भी मोती मानकर चुनने में लग जाती हैं।'

[यहाँ चन्द्रिका में दुग्ध, कुवलय में कुमुद और बदरीफल में मुक्ताफल का जो कवि-प्रतिभोत्थापित भ्रम है उसमें 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार का स्वरूप स्पष्टतया परिलक्षित हो रहा है।]

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि 'सीप में चांदी' सरीखी भ्रान्ति को भ्रान्तिमान् अलङ्कार नहीं माना जाया करता। 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार वह 'भ्रान्ति' है जो कि एक-मात्र कविप्रतिभा द्वारा उत्थापित हुआ करती है। साथ ही साथ यह भी ध्यान रहे कि वही 'भ्रान्ति' भ्रान्तिमान् अलङ्कार की रूप-रेखा है जो कि सादृश्यमूलक हुआ करती है? इसलिये इस प्रकार की भ्रान्ति जो कि निम्न सूक्ति अर्थात्—

'यदि यह सोचा जाय कि उस सुन्दरी के मिलन और विरह में कौन अच्छा है तो मिलन को तो कदापि अच्छा नहीं माना जा सकता, क्योंकि जब कि उससे मिलन होता है तब वह अकेली लगा करती है और जब उससे विरह होता है तब ऐसा लगता है जैसे समस्त संसार में वही व्याप्त है।'

में, प्रतीत हो रही है, 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार नहीं अपितु भावनासंभूत भ्रान्तिमात्र है।

विमर्श—अलङ्कार को 'भ्रान्तिमान्' कैसे कह सकते हैं? 'भ्रान्तिमान्' वह हो सकता है जिसके मन में भ्रान्ति हो। अलङ्कार तो वाच्य-सौन्दर्य है। वाच्य सौन्दर्य क्योंकर 'भ्रान्तिमान्' हो जाय? यह एक शङ्का है जिसके समाधान के लिये आचार्य रुय्यक की यह उक्ति स्मरण रखने योग्य है—

'भ्रान्तिश्चित्तधर्मः। स विद्यते यस्मिन् भणितिप्रकारे स भ्रान्तिमान्।'

जिस पर आचार्य जयरथ की यह समीक्षा भी भुलाने योग्य नहीं—

'अतश्चालङ्कारे भ्रान्तिसद्भाव उपचरितः।'

पण्डितराज जगन्नाथ ने इसीलिये कहा है—

'अत्र च भ्रान्तिमात्रमलङ्कारः। भ्रान्तिमानलङ्कार इति व्यवहारस्त्वौपचारिकः। तथा चाहुः—

'प्रमात्रन्तरधीर्भ्रान्तिरूपा यस्मिन्ननूद्यते।
स भ्रान्तिमानिति ख्यातोऽलङ्कारे त्वौपचारिकः॥'

(९—उल्लेख)

क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित् ।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते ॥ ३७ ॥

क्रमेणोदाहरणम्—

(ज्ञातृभेदनिबन्धन : उल्लेख)

'प्रिय इति गोपवधूभिः शिशुरिति वृद्धैरधीश इति देवैः ।
नारायण इति भक्तैर्ब्रह्मेत्यग्राहि योगिभिर्देवः ॥'

अत्रैकस्यापि भगवतस्तत्तद्गुणयोगादनेकधोल्लेखे गोपवधूप्रभृतीनां रुच्यादयो यथायोगं प्रयोजकाः ।

यदाहुः—

'यथारुचि यथार्थित्वं यथाव्युत्पत्ति भिद्यते ।
आभासोऽप्यर्थ एकस्मिन्ननुसन्धानसाधितः ॥'

अत्र भगवतः प्रियत्वादीनां वास्तवत्वाद् ग्रहीतृभेदाच्च न मालारूपकम्, न च भ्रान्तिमान्, न चायमभेदे भेद इत्येवं रूपातिशयोक्तिः। तथा हि—'अन्य-

---

अनुवाद—'उल्लेख' वह अलङ्कार है जिसे कहीं ज्ञातृभेद से अथवा विषय-भेद से, एक वस्तु का, अनेक प्रकार का उल्लेख अर्थात् ज्ञान अथवा वर्णन कहा करते हैं ।

क्रमशः उदाहरण—

'भगवान् कृष्ण का दर्शन कर, युवती गोपिओं ने उनमें प्रियतम का; वृद्ध गोपों ने शिशु का; देवों ने अधीश्वर का, भक्तों ने नारायण का और योगिओं ने परात्पर ब्रह्म का दर्शन किया ।'

यहाँ 'उल्लेख' स्पष्ट है क्योंकि भगवान् कृष्णरूप वस्तु तो एकरूप ही है किन्तु उसमें प्रियत्वादिरूप अनेक धर्म हैं जिनके कारण उसका अनेक प्रकार का अनुभव किंवा वर्णन हो रहा है ।

यहाँ इस प्रकार के 'उल्लेख' अथवा अवधारणा का एक निमित्त है और वह निमित्त गोपी प्रभृति दर्शकों की रुचि आदि का भेद है । 'उल्लेख' के निमित्तों के सम्बन्ध में (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में) यह कहा गया है—

'चाहे वस्तु एक ही क्यों न हो किन्तु उसका अनुसन्धानसाधित अथवा मनःप्रवणतापूर्वक ज्ञान द्वारा सम्भूत भी आभास रुचि-भेद, प्रयोजन-भेद और भावना-भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का ही हुआ करता है ।'

(जिसके देखते यह स्पष्ट है कि 'प्रिय इति' आदि सूक्ति में, कृष्णरूप वस्तु का विविध आभास वर्णित है जिसमें 'उल्लेख' की रूपरेखा निखर रही है ।) यहाँ न तो 'मालारूपक' की शङ्का होनी चाहिये और न 'भ्रान्तिमान्' की और न अतिशयोक्ति की ही, क्योंकि भगवान् कृष्ण के प्रियत्व आदि धर्म आरोपित नहीं अपितु वास्तविक हैं और साथ ही साथ यहाँ भगवान् कृष्ण के प्रियत्व आदि विविध धर्मों के दर्शक एक नहीं अपि तु अनेक निर्दिष्ट हैं (जो कि भ्रान्त नहीं अपि तु सर्वथा निर्भ्रान्त हैं और रुच्यादिभेद से कृष्ण को

देवाङ्गलावण्यम्–' इत्यादौ लावण्यादेर्विषयस्य पृथक्त्वेनाध्यवसानम्। न चेह भगवती गोपवधूप्रभृतिभिः प्रियत्वाद्यध्यवसीयते प्रियत्वादेर्भगवति तत्काले तात्त्विकत्वात्। केचिदाहुः—'अयमलङ्कारो नियमेनालङ्कारान्तरविच्छित्तिमूलः। उक्तोदाहरणे च शिशुत्वादीनां नियमनाभिप्रायात्प्रियत्वादीनां भिन्नत्वाध्यवसाय इत्यतिशयोक्तिरस्ति, तत्सद्भावेऽपि ग्रहीतृभेदेन नानात्वप्रतीतिरूपो विच्छित्ति-विशेष उल्लेखाख्यभिन्नालङ्कारप्रयोजकः। श्रीकण्ठजनपदवर्णने—'वज्रपञ्जरमिति शरणागतैः, अम्बरविवरमिति वातिकैः' इत्यादिश्चातिशयोक्तेर्विविक्तो विषयः। इह च रूपकालङ्कारयोगः।'

वस्तुतस्तु—'अम्बरविवरम्–' इत्यादौ भ्रान्तिमन्तमेवेच्छन्ति न रूपकम्, भेदप्रतीतिपुरःसरस्यैवारोपस्य गौणीमूलरूपकादिप्रयोजकत्वात्।

भिन्न-भिन्न रूप में देख रहे हैं)। अतिशयोक्ति (अथवा वस्तुतः अभेद में भेदरूपा अति-शयोक्ति) भी यहाँ इसलिये नहीं हो सकती क्योंकि जैसे 'अन्यदेवाङ्गलावण्यम्' आदि सूक्ति में नायिका के प्रकृत नारीसुलभ लावण्य को ही अप्रकृत असाधारण लावण्य के रूप में अध्यवसित अथवा निश्चितरूप से प्रतिपादित किया जा रहा है वैसे यहाँ भगवान् कृष्ण में गोपवधू प्रभृति के द्वारा प्रियत्व आदि का अध्यवसान नहीं किया जा रहा है। भगवान् कृष्ण का प्रियत्व आदि तो, गोपी आदि के स्थितिकाल में, वास्तविक अथवा तात्त्विक रूप का है (न कि काल्पनिक रूप का)।

'उल्लेख' अलङ्कार के सम्बन्ध में कतिपय काव्याचार्यों का यह भी कथन है–'उल्लेख' ऐसा अलङ्कार है जो कि नियमतः अन्य अलङ्कारों के चमत्कारों के आधार पर बना करता है। इस प्रकार 'प्रिय इति' आदि सूक्ति में, ऐसा नहीं कि 'अतिशयोक्ति' न हो क्योंकि 'कृष्ण गोपवृद्धों के लिये ही शिशु हैं' आदि रूप से, कृष्ण में जो 'शिशुत्व' आदि धर्मों का नियम-निर्धारण है, उसमें यह स्पष्ट है कि कृष्ण के प्रियत्वादि धर्मों में शिशुत्वादिक धर्मों का अध्यवसान अथवा अभेद-निश्चय किया जा रहा है जिसमें अभेद में भेदरूपा 'अति-शयोक्ति' बन चुकी है। किन्तु इस 'अतिशयोक्ति' के होने पर भी यहाँ एक और भी विचित्रता है जो कि ज्ञातृभेद से कृष्णरूप एक वस्तु के नानाविध आभास के रूप में दिखायी दे रही और इसी विचित्रता के कारण, यह मानना पड़ता है कि यहाँ 'अति-शयोक्ति' से भिन्न एक और ही अलङ्कार है और वह अलङ्कार 'उल्लेख' है। इस दृष्टि से (महाकवि बाणरचित 'हर्षचरित' में) 'श्रीकण्ठ'जनपद के वर्णन में आयी, 'शरणागतों ने नगर को, वज्रपञ्जर समझा, वातिकों (खनिजशास्त्रिओं) ने अम्बरविवर (असुरविवर= खान) समझा' आदि सूक्ति में भी, 'उल्लेख' अलङ्कार की ही शोभा दिखायी देती है किन्तु यहाँ जो 'उल्लेख' है उसका मूल अतिशयोक्ति नहीं अपितु 'रूपक' अलङ्कार है (क्योंकि श्रीकण्ठजनपद पर वज्रपञ्जरत्व, अम्बरविवरत्व आदि का अभेदारोप किया हुआ है न कि अभेदाध्यवसान)।'

वैसे, श्रीकण्ठजनपद-वर्णन की उपर्युक्त सूक्ति में जैसा कि कुछ काव्यमर्मज्ञों का कहना है, वस्तुतः जो अलङ्कार है वह 'भ्रान्तिमान्' है (जिसके आधार पर 'उल्लेख'की रूपरेखा खड़ी है), न कि 'रूपक' क्योंकि गौणी लक्षणा के आधार पर निर्भर 'रूपक' के लिए जिस 'अभेदारोप' की आवश्यकता हुआ करती है उसका नियामक भेदपुरस्सर अथवा भेददर्शनपूर्वक अभेदारोप है (जिसकी यहाँ कोई संभावना नहीं और जिस अभेदारोप की

यदाहुः शारीरकमीमांसाभाष्यव्याख्याने श्रीवाचस्पतिमिश्राः—'अपि च परशब्दः परत्र लक्ष्यमाणगुणयोगेन वर्तते इति यत्र प्रयोक्तृप्रतिपत्त्रोः संप्रतिपत्तिः स गौणः, स च भेदप्रत्ययपुरःसरः' इति। इह तु वार्तिकानां श्रीकण्ठजनपदवर्णने भ्रान्तिकृत एवाम्बरविवराद्यारोप इति।

अत्रैव च 'तपोवनमिति मुनिभिः कामायतनमिति वेश्याभिः' इत्यादौ परिणामालङ्कारयोगः।

(विषयनिबन्धन : उल्लेख)

'गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि गौरवेणासि पर्वतः।'

इत्यादौ चानेकधोल्लेखे गाम्भीर्यादिविषयभेदः प्रयोजकः। अत्र च रूपकयोगः। 'गुरुर्वचसि, पृथुरुरसि, अर्जुनो यशसि—' इत्यादिषु चास्य रूपकाद्विविक्तो विषय इति। अत्र हि श्लेषमूलातिशयोक्तियोगः।

यहाँ सम्भावना है वह भ्रमपुरस्सर अभेदारोप है जो कि 'भ्रान्तिमान्' का नियामक हो सकता है)। अब गौणी लक्षणा क्योंकर भेदपुरस्सर अभेदारोप में ही संभव है इसके लिये (भगवत्पाद शङ्कराचार्यकृत) 'शारीरक मीमांसाभाष्य' की 'भामती' व्याख्या में, श्रीवाचस्पति मिश्र की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'शब्द का गौणी लक्षणारूप व्यापार वहाँ रहा करता है जहाँ, प्रयोक्ता (वक्ता) और प्रतिपत्ता (श्रोता) का यह अनुभव हुआ करता है कि भिन्न अर्थ के वाचक शब्द को, सादृश्य के रूप में प्रतीत धर्म के सम्बन्ध से, भिन्न अर्थ में व्यवहृत किया गया है। इस प्रकार गौणीलक्षणारूप शब्दव्यापार में भेदप्रतीति का पुट अनिवार्य है।'

अब, श्रीवाचस्पति मिश्र की उपर्युक्त 'गौणी' मीमांसा के देखते यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि श्रीकण्ठजनपदवर्णन में, श्रीकण्ठजनपद पर 'वज्रपञ्जर', 'असुरविवर' आदि का जो आरोप है वह भेदप्रतीतिपुरस्सर नहीं अपितु भ्रान्तिपुरस्सर ही है (जिससे यहाँ 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार के योग से 'उल्लेख' मानना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है)।

श्रीकण्ठजनपद-वर्णन के प्रसङ्ग में ही 'मुनियों द्वारा (नगर) तपोवन समझा गया, वेश्याओं द्वारा कामायतन समझा गया' आदि उक्ति में भी 'उल्लेख' ही अलङ्कार है किन्तु इसके मूल में 'परिणाम' अलङ्कार का वैचित्र्य पड़ा है (न कि रूपक अथवा भ्रान्तिमान् का)।

इसी प्रकार विषयभेद में 'उल्लेख' का उदाहरण यह है—

'महाराज! आप गम्भीरता में समुद्र हैं और गौरव में पर्वत···आदि'।

यहाँ प्रकृत भूपाल का समुद्र आदि रूप में जो उल्लेख है उसका कारण गाम्भीर्य आदि-आदि धर्मों का भेद है जिससे इसे रूपकयोगमूलक 'उल्लेख' कहा जा सकता है।

इसी प्रकार (हर्षचरित) 'वचन में गौरवयुक्त और बृहस्पतिरूप, वक्षःस्थल में विशाल और पृथुराजरूप, यश में स्वच्छ और अर्जुनरूप' आदि प्रसङ्गों में जो अलङ्कार है वह विषयभेदनिबन्धन 'उल्लेख' ही है जिसके मूल में श्लेषमूलक अतिशयोक्ति का योग पड़ा है 'रूपक' का नहीं (क्योंकि यहाँ 'त्वम्' आदि विषय के निगरण और 'समुद्र' आदि विषयी के अध्यवसान की सी कोई भी बात नहीं दिखायी देती)।

विमर्श—विश्वनाथ कविराज का उल्लेख-विमर्श बड़ा सुन्दर और सारगर्भित है। इसमें अलङ्कारसर्वस्व का आधार सर्वत्र स्पष्ट है। आचार्य रुय्यक ने स्पष्ट कहा है—

'यत्रैकं वस्तु अनेकधा गृह्यते सा रूपबाहुल्योल्लेखनादुल्लेखः। न चेदं निर्निमित्त-

(१०—अपह्नुतिः)

प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः ।

इयं द्विधा । क्वचिदपह्नवपूर्वक आरोपः, क्वचिदारोपपूर्वकोऽपह्नव इति । क्रमेणोदाहरणम्—

(अपह्नवपूर्वक आरोप में 'अपह्नुति')

'नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः ।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नासौ कलङ्कः शयितो मुरारिः ॥'

(आरोपपूर्वक अपह्नव में 'अपह्नुति')

'एतद्विभाति चरमाचलचूडचुम्बि
डिण्डीर-पिण्ड-रुचि-शीतमरीचिबिम्बम् ।
उज्ज्वालितस्य रजनीं मदनानलस्य
धूमं दधत्प्रकटलाञ्छनकैतवेन ॥'

इदं पद्यं मम ।

एवम्—

'विराजति व्योमवपुः पयोधिस्तारामयास्तत्र च फेनभङ्गाः' इत्याद्याकारेण च प्रकृतनिषेधो बोध्यः ।

मुल्लेखमात्रमपि तु नानाविधधर्मयोगित्वाख्यनिमित्तवशादेतत् क्रियते । तत्र रुच्यर्थित्व-व्युत्पत्त्योः यथायोगं प्रयोजिकाः ।'

अनुवाद—'अपह्नुति' वह अलङ्कार है जिसे प्रकृत (उपमेय) के (शब्दतः अथवा अर्थतः) प्रतिषेध अथवा असत्यत्व-व्यवस्थापन के साथ, अप्रकृत (उपमान) का आहार्य-निश्चय कहा गया है । इसके भी दो प्रकार हैं—(१) अपह्नव अथवा उपमेय-प्रतिषेध-पूर्वक आरोप (उपमान-व्यवस्थापन) और (२) आरोप अथवा उपमान-स्थापनपूर्वक अपह्नव अर्थात् उपमेय-प्रतिषेध । क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'यह गगनमण्डल नहीं, यह तो क्षीरसागर है; ये तारागण नहीं, ये तो फेनखण्ड हैं; यह चन्द्रमा नहीं, यह तो कुण्डल बाँधे शेषनाग है और यह कलङ्क नहीं, यह तो शयन करते भगवान् विष्णु हैं ।'

[यहाँ शब्दतः अपह्नवपूर्वक आरोप स्पष्ट है क्योंकि नञ्चतुष्टय के उपादान से, 'नभोमण्डल' आदि 'प्रकृत' का प्रतिषेध करके 'क्षीरसागर' आदि अप्रकृत की सत्यत्व-स्थापना की गयी है ।]

'अस्ताचल के शिखर पर विराजमान, यह फेनपिण्डधवल चन्द्र-बिम्ब ऐसा लग रहा है जैसे स्पष्ट दृश्यमान कलङ्क के बहाने, रातभर जलकर बुझनेवाली कामाग्नि की धूम-शिखा धारण कर रहा हो ।'

यह स्वरचित सूक्ति है (इसमें अर्थतः आरोपपूर्वक अपह्नव स्पष्ट है क्योंकि 'धूम' रूप अप्रकृत का आरोप करके 'कलङ्क' रूप प्रकृत का अपह्नव किया जा रहा है और नञ् के अभाव में, 'कैतव' पद के अर्थसामर्थ्य से ही, प्रकृत का प्रतिषेध भी विवक्षित दिखाई दे रहा है)।

प्रकृत-प्रतिषेध की और भी विचित्रतायें सम्भव हैं जिनमें 'अपह्नुति' अलङ्कार रहा

(अपह्नुति का प्रकारान्तर)

गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथञ्चन ॥ ३८ ॥
यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथयेत्साप्यपह्नुतिः ।

श्लेषेण यथा—

'काले वारिधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम् ।
उत्कण्ठितासि तरले ! नहि नहि सखि ! पिच्छिलः पन्थाः ॥'

अत्र 'अपतितया' इत्यत्र पतिं विनेत्युक्त्वा पश्चात्पतनाभावेन इत्यन्यथा कृतम् ।

करता है। जैसे कि 'यह तो आकाश के रूप में क्षीरसागर है जिसमें तारारूप में फेन दिखायी पड़ रहे हैं।' आदि प्रकृति के प्रतिषेध की एक विचित्रता है और इस प्रकार के प्रकृतप्रतिषेध में भी 'अपह्नुति' की ही रूपरेखा रहा करती है।

विमर्श—'अपह्नुति' का अभिप्राय आरोपविषय (उपमेय) के अपह्नव में आरोप्यमाण (उपमान) की प्रतीति है जिसकी बन्धच्छाया तीन रूपों की है—(१) अपह्नवपूर्वक आरोप, (२) आरोपपूर्वक अपह्नव और (३) छलादि शब्द से अपह्नवनिर्देश। आचार्य रुय्यक का इसीलिए कथन है—

'आरोपप्रस्तावादारोपविषयापह्नुतावारोप्यमाणप्रतीतावपह्नुत्याख्योऽलङ्कारः । तस्य च त्रयी बन्धच्छाया—अपह्नवपूर्वक आरोपः, आरोपपूर्वकोऽपह्नवः, छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादकैर्वापह्नवनिर्देशः। पूर्वोक्तभेदद्वये वाक्यभेदः। तृतीयभेदे त्वेकवाक्यम् ।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ ६३)

'अपह्नुति' में सादृश्यनिबन्धन अथवा संबन्धान्तरनिबन्धन आरोप आवश्यक है। इसमें सादृश्यनिबन्धन आरोप में साधारणधर्म की एकरूपता किंवा बिम्बप्रतिबिम्बरूपता—दोनों सम्भव है। साधारणधर्म की बिम्बप्रतिबिम्बरूपता में आरोपगर्भ 'अपह्नव' का दृष्टान्त यह सुन्दर सूक्ति है—

'न ज्योत्स्नाभरणं नभो न मिलितच्छायापथो वाम्बुदो
नो ताराप्रकरो न चेदममृतज्योतिष्मतो मण्डलम् ।
क्षीरक्षोभमयोऽप्यपांनिधिरसौ नेत्राहिना मन्दरः
पृक्तोऽयं मणिपूग एष कलशश्चायं सुधानिर्झरः ॥'

अनुवाद—'अपह्नुति' का एक प्रकारविशेष वह है जिसमें, किसी गोपनीय उद्देश्य का, किसी प्रकार, द्योतन करके पुनः श्लेष द्वारा अथवा प्रकारान्तर से, अन्य अभिप्राय के रूपमें प्रकाशन हुआ करता है।

जैसे कि श्लेष द्वारा गोपनीय अर्थ के द्योतनपूर्वक अन्यथाकरण में अपह्नुति—

'(वियोगिनी की उक्ति है—) मेघों का यह समय है, इस समय बिना प्रियतम के (अपतितया) जीना कठिन है (नैव शक्यते स्थातुम्)। (सखी कहती है—) अरी चपले ! इतनी उत्कण्ठित क्यों हो गयी ? (वियोगिनी उत्तर देती है—) अरी सखी ! ऐसी बात नहीं। रास्ता पिछलहर (अपतितया स्थातुं न शक्यते—) चलने पर गिर पड़ना आवश्यक होगा।'

यहाँ 'अपतितया' (अविद्यमानः संनिधौ अवर्तमानः पतिर्यस्याः सा अपतिस्तस्या भाव अपतिता तया) में 'पतिविना' पद से एक गोपनीय अर्थविशेष को प्रकाशित करके,

अश्लेषेण यथा—

'इह पुरोऽनिलकम्पितविग्रहा
मिलति का न वनस्पतिना लता।
स्मरसि किं सखि! कान्तरतोत्सवं
नहि घनागमरीतिरुदाहृता॥'

वक्रोक्तौ परोक्तेरन्यथाकारः, इह तु स्वोक्तेरेवेति भेदः। गोपनकृता गोपनीयस्यापि प्रथममभिहितत्वाच्च व्याजोक्तेः।

पुनः श्लेष से, (अपतितया = न पतिता अपतिता तया) उसे 'पतनाभाव' रूप से छिपाया जा रहा है।

इसी प्रकार, विना श्लेप के, किसी प्रकाशित होते गोपनीय अर्थ के अन्यथाकरण अथवा अपह्नव में 'अपह्नुति' का उदाहरण यह है—

'(नायिका की उक्ति—) अरी सखी! ऐसी कौन सी लता है जो बरसात की इस हवा से काँपती हुई किसी वनस्पति से नहीं सट जाती? (सखी की उक्ति—) अरी क्या! ऐसा तो नहीं कि इसे देख तू अपने प्रियतम के साथ अपना रतिविहार याद कर उठी! (नायिका की उक्ति—) नहीं-नहीं, मैंने तो बरसात के स्वभाव के बारे में कहा।'

यहाँ 'वक्रोक्ति' की आशङ्का इसलिये नहीं होनी चाहिये क्योंकि 'वक्रोक्ति' में तो दूसरे की उक्ति का अन्यथाकरण हुआ करता है और यहाँ, जैसा कि स्पष्ट है, अपनी ही उक्ति का दूसरा अर्थ लिया जाया करता है। यहाँ 'व्याजोक्ति' की भी कोई संभावना नहीं क्योंकि यहाँ बात छिपानेवाला गोपनीय बात को पहले ही कह दिया करता है (जब कि 'व्याजोक्ति' में गोपनीय बात पहले नहीं कही जाती है)।

विमर्श—'अपह्नुति' का उपर्युक्त प्रकारान्तर काव्यप्रकाशकार को मान्य नहीं। आचार्य दण्डी ने इस अपह्नुति भेद का निरूपण अवश्य किया है जैसा कि काव्यादर्श (२. ३०४) की निम्न उक्ति से स्पष्ट है—

'अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थदर्शनम्।
न पञ्चेषुः स्मरस्तस्य सहस्रं पत्रिणामिति॥'

यहाँ, साहित्यदर्पणकार ने, आचार्य दण्डी का अनुसरण करते हुए, इस अपह्नुति-प्रकार का भी परिगणन और लक्षण-निरूपण किया है।

'अपह्नुति' के दो भेदों में तो 'औपम्य' अन्तर्गर्भ रहा करता है किन्तु यह तृतीय भेद ऐसा है जिसमें उपमानोपमेयभाव की कोई चर्चा नहीं रहा करती। सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने इस अपह्नुति-भेद का सप्रभेद निरूपण किया है—

'अनौपम्याभिधीयमानापह्नोतव्यवस्तुः पूर्वा यथा—

'राजकन्यानुरक्तं मां रोमोद्भेदेन रक्षकाः।
अवगच्छेयुरा ज्ञातमहो शीतानिलं वनम्॥'

अत्र राजकन्यानुरागलक्षणस्य रोमाञ्चकारणस्य रक्षकावगतिहेतोः पूर्वमेवाभिहितस्य च वनानिलशैत्यलक्षणेन कारणान्तरेणापह्नवः। न चैतयोः, सादृश्यमस्ति सेयमनौपम्याभिधीयमानापह्नोतव्यवस्तुः। कार्यात्पूर्वं कारणोपन्यासेन पूर्वेत्युच्यते।'

(सरस्वतीकण्ठाभरण : ४. ८२)

(११—निश्चय)

अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः ॥ ३९ ॥

निश्चयाख्योऽयमलङ्कारः। अन्यदित्यारोप्यमाणम्।

यथा मम—

'वदनमिदं न सरोजं नयने नेन्दीवरे एते।
इह सविधे मुग्धदृशो भ्रमर! मुदा किं परिभ्रमसि॥'

यथा वा—

'हृदि बिसलताहारो नायं भुजङ्गमनायकः
कुवलयदलश्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युतिः।
मलयजरजो नेदं भस्म प्रियारहिते मयि
प्रहर न हरभ्रान्त्यानङ्ग! क्रुधा किमु धावसि॥'

न ह्ययं निश्चयान्तः संदेहः, तत्र संशयनिश्चययोरेकाश्रयत्वेनावस्थानात्। अत्र तु भ्रमरादेः संशयो नायकादेर्निश्चयः। किञ्च न भ्रमरादेरपि संशयः एक-

---

अनुवाद—'निश्चय' वह अलङ्कार है जिसे अप्रकृत के निषेध के साथ प्रकृत का आहार्य-निश्चय कहा करते हैं।

(प्रकृतनिषेध के साथ अप्रकृत के आहार्यनिश्चय में अपह्नुति-कल्पना की भाँति, अप्रकृतनिषेध के साथ प्रकृत का आहार्यनिश्चय) 'निश्चय' नामक एक अलङ्कार है। यहाँ (कारिका में) 'अन्यत्' का अभिप्राय आरोप्यमाण (अथवा उपमान) का अभिप्राय है।

इसका उदाहरण यह स्वरचित सूक्ति है—

'यह मुख है कमल नहीं; ये नयन हैं इन्दीवर नहीं। अरे भ्रमर! इस मुग्धाक्षी सुन्दरी के पास, इतनी प्रसन्नता के साथ, क्यों घूम रहा है?'

अथवा यह सूक्ति—

'अरे अनङ्ग! मैं प्रियतमा के वियोग में एक विरही जीव ठहरा, मेरे हृदय पर कमल-नाल का यह हार है, सर्पराज वासुकि नहीं; मेरे गले में नीलकमल के किसलय पड़े हैं, हलाहल की काली कान्ति नहीं और मेरे शरीर में चन्दन का चूर्ण लगा है- भस्म नहीं। मुझ पर भला शङ्कर के भ्रम से, तू क्यों क्रोधपूर्वक दौड़ पड़ना चाहता है।'

[यहाँ 'वदनमिदम्' आदि में उपमेयभूत वदन और नयन के आहार्यनिश्चय के साथ उपमानभूत 'सरोज' और 'इन्दीवर' का निषेध है और 'हृदि बिसलताहारः' आदि में उपमेयभूत 'बिसलता' आदि के स्थापन के साथ उपमानभूत 'भुजङ्गमनायक' का प्रतिषेध है जिसमें 'निश्चय' की रूपरेखा स्पष्ट है।]

निश्चय' और 'निश्चयान्त संदेह' परस्पर भिन्न अलङ्कार हैं। 'निश्चयान्त संदेह' में ऐसा होता है कि 'संशय' और 'निश्चय' दोनों एक ही आश्रय पर (एक ही व्यक्ति में) अवस्थित रहते हैं। किन्तु 'निश्चय' में, जैसा कि उपर्युक्त 'वदनमिदम्' आदि सूक्ति में स्पष्ट है, 'संशय' के आश्रय भ्रमर आदि हैं और निश्चय के आश्रय (वक्ता) नायक आदि। वैसे तो वस्तुतः भ्रमर में भी यहाँ संशय नहीं माना जा सकता क्योंकि यदि भ्रमर के हृदय में संशय हो, जो कि यहाँ वदन और सरोजरूप कोटिद्वयावगाही ज्ञान है, तब यह कैसे संभव है कि वह वदन और नयन के पास पहुँचे (क्योंकि भ्रमर के लिये ऐसा करना तभी संभव है जब कि वह निस्संदिग्ध हो)।

कोटयधिके ज्ञाने, तथा समीपागमनासंभवात् । तर्हि भ्रान्तिमानस्तु, अस्तु नाम भ्रमरादेर्भ्रान्तिः । न चेह तस्याश्चमत्कारविधायित्वम्, अपि तु तथाविधनायकाद्युक्तेरेवेति सहृदयसंवेद्यम् । किञ्चाविवक्षितेऽपि भ्रमरादेः पतनादौ भ्रान्तौ वा नायिकाचाटूवादिरूपेणैव संभवति तथाविधोक्तिः । न च रूपकध्वनिरयम्, मुखस्य कमलत्वेनानिर्धारणात् । न चापह्नुतिः, प्रस्तुतस्यानिषेधादितिपृथगेवायमलङ्कारश्चिरन्तनोक्तालङ्कारेभ्यः । शुक्तिकायां रजतधिया पतति पुरुषे शुक्तिकेयं न रजतमिति कस्यचिदुक्तिर्नायमलङ्कारो वैचित्र्याभावात् ।

(१२—उत्प्रेक्षालङ्कार : सप्रभेदनिरूपण)

भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना ।
वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथमं द्विविधा मता ॥ ४० ॥
वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः ।
जातिर्गुणः क्रिया द्रव्यं यदुत्प्रेक्ष्यं द्वयोरपि ॥ ४१ ॥

किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यहां 'भ्रान्तिमान्' मान लिया जाय क्योंकि 'भ्रमर' आदि के हृदय में, सरोज आदि की भ्रान्ति से सरोज आदि के समीप जाने की बात संगत लगने लगती है । क्यों ? इसलिये कि यहां, जैसा कि सहृदयों का अनुभव है, भ्रान्ति में कोई चमत्काराधायकता नहीं प्रतीत होती । यहाँ जो भी चमत्कार है वह नायकादि की इस प्रकार की उक्ति में ही है क्योंकि चाहे भ्रमर आदि नायिका-वदन पर टूट पड़े या न टूट पड़े या भ्रमर आदि के हृदय में भ्रान्ति हो या न हो, नायिका को प्रसन्न करने के लिये, इस प्रकार की चाटूक्ति सर्वथा संभव है और युक्तिसंगत भी है । यहाँ 'रूपक-ध्वनि' की भी कोई संभावना नहीं क्योंकि यहाँ नायिका-वदन और कमल में अभेदारोप का निर्धारण कहाँ किया जा रहा है ? इसमें 'अपह्नुति' भी नहीं क्योंकि यहाँ प्रस्तुत (उपमेय) का निषेध नहीं किया गया । इसलिये यहाँ यही मानना आवश्यक है कि यहाँ जो (निश्चय नामक) अलङ्कार है वह प्राचीन आलङ्कारिकों के निर्धारित अलङ्कारों से विलक्षण रूप का ही अलङ्कार है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि चांदी समझकर सीप उठानेवाले को यह कहा जाय कि 'यह सीप है चांदी नहीं' तो इस प्रकार की उक्ति को 'निश्चय' अलङ्कार नहीं माना जाया करता क्योंकि इस प्रकार के लौकिक, स्वारसिक प्रकृत-स्थापन में कोई वैचित्र्य नहीं (और अलङ्कार के लिये वैचित्र्य होना आवश्यक है) ।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार का 'निश्चय'-कल्पना में एक मौलिकता है । इस कल्पना में युक्ति यह है कि यदि प्रकृत के निषेध और अप्रकृत के प्रतिष्ठापन में 'अपह्नुति' है तो अप्रकृत के निषेध और प्रकृत के प्रतिष्ठापन' में भी कोई 'अलङ्कार' अवश्य होना चाहिये । साहित्यदर्पणकार ने इस 'अलङ्कार' को 'निश्चय' नामक अलङ्कार माना है क्योंकि इसमें 'अप्रकृत निषेध के साथ प्रकृत-निर्धारण' की जो विचित्रता है उसका विश्लेषण किए बिना 'उत्प्रेक्षा' का विश्लेषण पूरा नहीं हो पाता ।

अनुवाद- 'उत्प्रेक्षा' वह अलङ्कार है जिसे अप्रकृत के रूप में प्रकृत की सम्भावना कहा करते हैं । इसके प्रथमतः दो प्रकार हैं—(१) वाच्योत्प्रेक्षा और (२) प्रतीयमानोत्प्रेक्षा । इनमें पहली अर्थात् वाच्योत्प्रेक्षा वहीं है जिसमें 'इव' आदि उत्प्रेक्षा

तदष्टधापि प्रत्येकं भावाभावाभिमानतः।
गुणक्रियास्वरूपत्वान्निमित्तस्य पुनश्च ताः॥ ४२॥
द्वात्रिंशद्विधतां यान्ति—

तत्र वाच्योत्प्रेक्षायामुदाहरणं दिङ्मात्रं यथा—

(वाच्योत्प्रेक्षा)

'ऊरुः कुरङ्गकदृशश्चञ्चलचेलाञ्चलो भाति।
सपताकः कनकमयो विजयस्तम्भः स्मरस्येव॥'

अत्र विजयस्तम्भस्य बहुवाचकत्वाज्जात्युत्प्रेक्षा।

(वाच्यगुणोत्प्रेक्षा)

'ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः।
गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव॥'

अत्र सप्रसवत्वं गुणः।

वाचक पदों का प्रयोग हुआ करता है और दूसरी अर्थात् प्रतीयमानोत्प्रेक्षा वह, जिसमें 'इव' आदि उत्प्रेक्षावाचक पदों का प्रयोग नहीं हुआ करता। इन दोनों प्रकार की उत्प्रेक्षाओं में जो 'उत्प्रेक्ष्य' वस्तु है वह चतुर्विध है—१ जाति, २ गुण, ३ क्रिया और ४ द्रव्य। इस प्रकार से उत्प्रेक्षायें आठ प्रकार की हुईं। ये अष्टविध उत्प्रेक्षाएँ भी उत्प्रेक्ष्य में 'भावाभिमान' और 'अभावाभिमान' के द्वैविध्य से सोलह प्रकार की हुईं, और इन षोडशविध उत्प्रेक्षाओं में उत्प्रेक्षण के निमित्त के, गुणरूप और क्रियारूप से द्विविध होने के कारण उत्प्रेक्षा के ३२ प्रकार हो गये।

यहां पहले 'वाच्योत्प्रेक्षा' के कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

'इस मृगनयनी का ऊरु, जिस पर हवा से हिलता अंशुक लहरा रहा है, ऐसा लगता है मानो कामदेव का वह स्वर्णमय विजयस्तम्भ हो, जिस पर पताका फहरा रही हो।'

यहाँ 'वाच्योत्प्रेक्षा' स्पष्ट है क्योंकि उत्प्रेक्षावाचक 'इव' शब्द प्रयुक्त है। यहाँ जो उत्प्रेक्ष्य है वह 'जाति' रूप है क्योंकि 'विजयस्तम्भ' एक व्यक्ति का नहीं अपितु अनेक व्यक्तियों में अनुगत 'सामान्य' अथवा 'जाति' ('स्तम्भत्व') का वाचक शब्द है। (यहां इस उत्प्रेक्ष्य में भावाभिमान भी स्पष्ट है क्योंकि 'विजयस्तम्भ' भावरूप पदार्थ है। साथ ही साथ यहां उत्प्रेक्षण का गुणरूप निमित्त भी है जो कि नायिका के ऊरु का 'सौन्दर्य' है।)

'महाराज दिलीप में ज्ञान था और ज्ञान के साथ मौन भी। उनमें शक्ति थी और शक्ति के साथ क्षमा भी। उनमें त्याग था और त्याग के साथ आत्मश्लाघा का अभाव भी। ऐसा लगता था मानो उनके प्रत्येक गुण, परस्पर निर्विरोध रहते हुए, सहोदर से थे।'

यहां भी वाच्योत्प्रेक्षा स्पष्ट है क्योंकि उत्प्रेक्षण में 'इव' शब्द का प्रयोग किया हुआ है। यहां जो उत्प्रेक्ष्य है वह 'गुण' रूप है क्योंकि 'सप्रसव' पद का अभिप्राय 'सप्रसवत्व' गुण का अभिप्राय है (क्योंकि 'संयोग', 'विभाग' आदि पदों की भांति 'प्रसव' पद भी 'प्रसवत्व' का अभिप्राय रखने से गुणवाचक पद है)।

(वाच्यक्रियोत्प्रेक्षा)

'गङ्गाम्भसि सुरत्राण ! तव निःशाननिस्वनः ।
स्नातीवारिवधूवर्गगर्भपातनपातकी ॥'

अत्र स्नातीति क्रिया ।

(वाच्यद्रव्योत्प्रेक्षा)

'मुखमेणीदृशो भाति पूर्णचन्द्र इवापरः ।,

अत्र चन्द्र इत्येकव्यक्तिवाचकत्वाद् द्रव्यशब्दः । एते भावाभिमाने । अभावाभिमाने यथा—

'कपोलफलकावस्याः कष्टं भूत्वा तथाविधौ ।
अपश्यन्ताविवान्योन्यमीदृक्षां क्षामतां गतौ ॥'

अत्रापश्यन्ताविति क्रियाया अभावः । एवमन्यत् । निमित्तस्य गुणक्रिया-रूपत्वे यथा—'गङ्गाम्भसि' इत्यादौ स्नातीवेत्युत्प्रेक्षानिमित्तं पातकित्वं गुणः । 'अपश्यन्तौ–' इत्यादौ क्षामतागमनरूपं निमित्तं क्रिया । एवमन्यत् ।

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा यथा—

'सुल्तान ! विजययात्रा का सूचक, आपके रणवाद्य (नक्कारे) का निनाद गङ्गाजल में स्नान करता-सा लग रहा है मानो उसे शत्रुनारियों के गर्भपात के महापातक का प्रायश्चित्त करना हो ।'

यहाँ क्रियोत्प्रेक्षा है क्योंकि यहाँ जो उत्प्रेक्ष्य है वह 'स्नानरूप क्रिया है। साथ ही साथ 'इव' शब्द के प्रयोग में इस उत्प्रेक्षा की वाच्यता भी स्पष्ट है ।

'इस मृगनयनी का मुख ऐसा चमक रहा है मानो दूसरा चन्द्रमा हो ।'

यहाँ 'द्रव्योत्प्रेक्षा' इसलिए है क्योंकि यहाँ जो उत्प्रेक्ष्य है वह 'चन्द्र' शब्द द्वारा प्रतिपादित है और चन्द्र शब्द ऐसा है जो कि एक व्यक्ति का वाचक शब्द है अर्थात् 'द्रव्य' शब्द है ।

ये उपर्युक्त उत्प्रेक्षायें 'भावाभिमानिनी' हैं क्योंकि इनमें जो भी जात्यादिरूप वस्तु उत्प्रेक्ष्य है वह 'भाव'रूप है (अभाव'रूप नहीं)।

'उत्प्रेक्ष्य' के अभावाभिमान में उत्प्रेक्षा का यह उदाहरण देखिए—

'इस विरहिणी के सुन्दर कपोल, कितने दुःख की बात है कि अब, ऐसे कृश हो रहे हैं मानो एक दूसरे को न देख पा रहे हों ।'

यहाँ अभावाभिमान स्पष्ट है क्योंकि 'अपश्यन्तौ' पद से दर्शन की क्रिया के अभाव का ही अभिप्राय निकलता है जो कि उत्प्रेक्ष्य है (और जिसका निमित्त अत्यधिक कृशता है)। इसी भाँति जाति, गुण और द्रव्यरूप उत्प्रेक्ष्यों में अभावाभिमान के उदाहरण स्वयं ढूँढ़े जा सकते हैं। इन उत्प्रेक्षाओं में उत्प्रेक्षण-निमित्त की गुणरूपता और क्रिया-रूपता भी स्पष्ट है क्योंकि जैसे 'गङ्गाम्भसि' आदि सूक्ति में उत्प्रेक्ष्य स्नान-क्रिया के निमित्तरूप से 'पातकित्व' का गुण प्रतीत हो रहा है वैसे ही 'अपश्यन्ताविमं' आदि सूक्ति में—अदर्शन-क्रिया के निमित्तरूप से 'कृशताप्राप्ति' की क्रिया प्रतीत हो रही है ।

अब प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के उदाहरण दिये जा रहे हैं—

'तन्वङ्ग्याः स्तनयुग्मेन मुखं न प्रकटीकृतम् ।
हाराय गुणिने स्थानं न दत्तमिति लज्जया ॥'

अत्र लज्जयेवेति इवाद्यभावात् प्रतीयमानोत्प्रेक्षा । एवमन्यत् ।

ननु ध्वनिनिरूपणप्रस्तावेऽलङ्काराणां सर्वेषामपि व्यङ्ग्यत्वं भवतीत्युक्तम् । सम्प्रति पुनर्विशिष्य कथमुत्प्रेक्षायाः प्रतीयमानत्वम् ? उच्यते–व्यङ्ग्योत्प्रेक्षायाम्–'महिलासहस्स–' इत्यादावुत्प्रेक्षणं विनापि वाक्यविश्रान्तिः । इह तु स्तनयोर्लज्जाया असम्भवाल्लज्जयेवेत्युत्प्रेक्ष्यैवेति व्यङ्ग्यप्रतीयमानोत्प्रेक्षयोर्भेदः ।

अत्र वाच्योत्प्रेक्षायाः षोडशसु भेदेषु मध्ये विशेषमाह—

—तत्र वाच्याभिदाः पुनः ।

विना द्रव्यं त्रिधा सर्वाः स्वरूपफलहेतुगाः ॥ ४२ ॥

यत्रोक्तेषु वाच्यप्रतीयमानोत्प्रेक्षयोर्भेदेषु मध्ये ये वाच्योत्प्रेक्षायाः षोडश भेदास्तेषु च जात्यादीनां त्रयाणां ये द्वादश भेदास्तेषां प्रत्येकं स्वरूपफलहेतु-

---

'इस सुन्दरी के स्तनयुग्म ने मानो गुणी (सूत्र में गुम्फित) हार के लिए स्थान न दिया हो, इस लज्जा से अपना मुख ही प्रकट नहीं किया।'

यहाँ 'इव' आदि उत्प्रेक्षावाचक पद के अभाव में 'प्रतीयमाना' उत्प्रेक्षा स्पष्ट है और 'लज्जया' पद से निमित्तभूत लज्जारूप गुण की उत्प्रेक्ष्यता भी स्पष्ट है। इसी भाँति अन्यविध प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के उदाहरण स्वयं समझ लिये जा सकते हैं।

यहाँ यह आशङ्का हो सकती है कि जब कि ध्वनि-निरूपण के प्रसङ्ग में सभी वाच्यालङ्कारों की व्यङ्ग्यता का निर्देश किया जा चुका है तब यहां 'उत्प्रेक्षा' को, अलग से, 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' कहने की क्या आवश्यकता ? इसका समाधान यह रहा—'व्यङ्ग्य' 'उत्प्रेक्षालङ्कार' और 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' एक नहीं अपितु भिन्न काव्यतत्त्व हैं। 'व्यङ्ग्य उत्प्रेक्षा' के महिलासहस्स' आदि उदाहरणों में जो बात दिखायी देती है वह यह है कि वहाँ 'अमान्तीव'आदि की सम्भावना के बिना भी वाक्यसमाप्ति में कोई त्रुटि नहीं आती। किन्तु वाच्यालङ्काररूप 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' के 'तन्वङ्ग्याः' आदि प्रसङ्गों में जब तक उत्प्रेक्षावाचक 'इव' आदि पद का काल्पनिक अध्याहार न किया जाय—क्योंकि अचेतन स्तनों में चेतन के धर्म लज्जा की क्या सम्भावना !—तब तक वाक्यविश्रान्ति ही असंभव लगने लगती है।

वाच्योत्प्रेक्षा के उपर्युक्त १६ भेदों के कुछ और विशेष अथवा वैचित्र्य मिलते हैं जिसका निरूपण किया जा रहा है—

वाच्योत्प्रेक्षा के भेदों में, द्रव्यमूलक भेद-चतुष्टय को छोड़कर; जाति-गुण और क्रियामूलक जो १२ भेद हैं उनमें प्रत्येक के तीन तीन भेद हुआ करते हैं—(१) स्वरूपोत्प्रेक्षा, (२) फलोत्प्रेक्षा और (३) हेतूत्प्रेक्षा।

तात्पर्य यह है वाच्योत्प्रेक्षा और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के जो भेद बताये जा चुके हैं जिनमें वाच्योत्प्रेक्षा के १६ भेद निर्दिष्ट हैं उनमें जाति, गुण और क्रिया—इन तीन उत्प्रेक्ष्य प्रकारों के आधार पर हुए १२ भेद ऐसे हैं जो स्वरूप, फल और हेतुगत होने के कारण ३६ प्रकार के हो जाते हैं। द्रव्य का उत्प्रेक्षण द्रव्य-स्वरूप का ही उत्प्रेक्षण हो सकता है

गतत्वेन द्वादशभेदतया षट्त्रिंशद्भेदाः। द्रव्यस्य स्वरूपोत्प्रेक्षणमेव सम्भवतीति चत्वार इति मिलित्वा चत्वारिंशद्भेदाः।

अत्र स्वरूपोत्प्रेक्षया यथा पूर्वोदाहरणेषु 'स्मरस्य विजयस्तम्भः' इति। 'सप्रसवा इव' इत्यादयो जातिगुणस्वरूपगाः। फलोत्प्रेक्षा यथा—

'रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः।
विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥'

अत्राख्यातुमिति भूप्रवेशस्य फलं क्रियारूपमुत्प्रेक्षितम्।

हेतूत्प्रेक्षा यथा—

'सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥'

अत्र दुःखरूपो गुणो हेतुत्वेनोत्प्रेक्षितः। एवमन्यत्।

उक्त्यनुक्त्योर्निमित्तस्य द्विधा तत्र स्वरूपगाः।

तेषु चत्वारिंशत्संख्याकेषु भेदेषु मध्ये ये स्वरूपगायाः षोडशभेदास्ते उत्प्रेक्षानिमित्तस्योपादानानुपादानाभ्यां द्वात्रिंशद् भेदा इति मिलित्वा षट्पञ्चा-

---

(द्रव्यफल अथवा द्रव्यहेतु का नहीं)—इसलिये द्रव्यगत वाच्योत्प्रेक्षा के भेद-चतुष्टय के साथ जात्यादिगत वाच्योत्प्रेक्षा के ३६ भेदों को मिलाकर ४० प्रकार की वाच्योत्प्रेक्षायें सिद्ध हुईं। इन ४० प्रकार की वाच्योत्प्रेक्षाओं में, स्वरूपगा वाच्योत्प्रेक्षा के उदाहरण के लिये, पूर्वोदाहृत सूक्तियों में आयी 'स्मरस्य विजयस्तम्भः' आदि सूक्ति ही ली जा सकती हैं जहाँ 'स्तम्भत्व' जाति के स्वरूप की उत्प्रेक्षा स्पष्ट है। इसी प्रकार पूर्वोदाहृत 'ज्ञाने मौनम्' आदि में 'सप्रसवा इव' में जो उत्प्रेक्षा है, उसमें गुण स्वरूप का उत्प्रेक्षण देखा जा सकता है। फलोत्प्रेक्षा के उदाहरण के लिये निम्न सूक्ति देखिये—

'राम द्वारा चलाये गये बाण ने रावण के भी हृदय को विद्ध कर दिया और मानों इस प्रसन्नता की बात को सर्पों पर प्रकट करने के लिये, वह पृथिवी में घुस गया।'

यहाँ भूप्रवेश के फल के रूप में प्रियाख्यानरूप क्रिया के स्वरूप की उत्प्रेक्षा स्पष्ट है।

इसी प्रकार हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण यह है—

'यही वह जगह है, जहाँ तुम्हें ढूँढ़ते हुए, मुझे पृथिवी पर गिरा हुआ, तुम्हारा एक नूपुर ऐसा निःशब्द दिखायी पड़ा मानो तुम्हारे चरणारविन्द के विश्लेष के दुःख से वह मौन—मूक पड़ा हो।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि दुःखरूप गुण (बद्धमौनता के) हेतुरूप से उत्प्रेक्षित है।

इसी प्रकार अन्यविध उत्प्रेक्षाओं के दृष्टान्त स्वयं समझ लिये जा सकते हैं।

इन उपर्युक्त स्वरूपगत, फलगत तथा हेतुगत वाच्योत्प्रेक्षा-भेदों में 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' दो प्रकार की हुआ करती है—(१) 'उक्तनिमित्ता' स्वरूपोत्प्रेक्षा और (२) 'अनुक्तनिमित्ता' स्वरूपोत्प्रेक्षा।

यहाँ ऐसा समझना चाहिये—'उत्प्रेक्षा' के ४० प्रकार बताये जा चुके हैं। इन ४० प्रकारों में स्वरूपोत्प्रेक्षा के १६ प्रकार हैं। इन १६ प्रकार की स्वरूपोत्प्रेक्षाओं में उत्प्रेक्षण का निमित्त उपात्त भी हो सकता है और अनुपात्त भी। इस प्रकार 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' के ३२ भेद सिद्ध हुए। अब 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' के ३२ भेद और 'फलोत्प्रेक्षा' तथा 'हेतूत्प्रेक्षा' के

शब्दभेदा वाच्योत्प्रेक्षायाः। तत्र निमित्तस्योपादनं यथा पूर्वोदाहृते 'स्नातीव' इत्युत्प्रेक्षायां निमित्तं पातकित्वमुपात्तम्। अनुपादाने यथा—'चन्द्र इवापरः' इत्यत्र तथाविधसौन्दर्याद्यतिशयो नोपात्तः।

हेतुफलयोस्तु नियमेन निमित्तस्योपादानमेव, तथा हि—'विश्लेषदुःखादिव' इत्यत्र यन्निमित्तं बद्धमौनत्वम् 'आख्यातुमिव' इत्यत्र च भूप्रवेशस्तयोरनुपादानेऽसङ्गतमेव वाक्यं स्यात्।

प्रतीयमानायाः षोडशसु भेदेषु विशेषमाह—

प्रतीयमानाभेदाश्च प्रत्येकं फलहेतुगाः ॥ ४४ ॥

यथोदाहृते 'तन्वङ्ग्याः स्तनयुग्मेन' इत्यत्र लज्जयेवेति हेतुरुत्प्रेक्षितः। अस्यामपि निमित्तस्यानुपादानं न सम्भवति। इवाद्यनुपादाने निमित्तस्य चाकीर्तने उत्प्रेक्षणस्य प्रमातुर्निश्चेतुमशक्यत्वात्। स्वरूपोत्प्रेक्षाऽप्यत्र न भवति, धर्मान्तरतादात्म्यनिबन्धनायामस्यामिवाद्यप्रयोगे विशेषणयोगे सत्यतिशयोक्तेरभ्युपगमात्।

---

२४ भेदों को मिलाकर ५६ प्रकार की वाच्योत्प्रेक्षायें स्पष्ट हो गयीं। निमित्त के उपादान में, स्वरूपोत्प्रेक्षा के उदाहरण के लिए, पूर्वोदाहृत 'गङ्गाम्भसि' आदि सूक्ति में, स्नातीव' में जो उत्प्रेक्षा है उसे लिया जा सकता है क्योंकि उसमें उत्प्रेक्षण के निमित्तरूप से 'पातकित्व' का उपादान स्पष्टतया किया हुआ है। निमित्त के अनुपादन में, 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' का उदाहरण पूर्वोदाहृत 'मुखमेणीदृशो भाति' आदि सूक्ति में, 'पूर्णचन्द्र इवापरः' की उत्प्रेक्षा है जहाँ, उत्प्रेक्षण के निमित्तरूप से, असाधारण सौन्दर्य आदि का उपादान नहीं किया गया।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' की भाँति 'फलोत्प्रेक्षा' और 'हेतूत्प्रेक्षा' के भी ३६-३६ भेद नहीं हुआ करते क्योंकि फल और 'हेतु की उत्प्रेक्षायें निमित्त के उपादान के बिना हो ही नहीं सकतीं। 'फलोत्प्रेक्षा' और 'हेतूत्प्रेक्षा'में निमित्त का उपादान नितान्त आवश्यक है। उदाहरण के लिए 'सैषा स्थली' आदि सूक्ति में, 'विश्लेषदुःखादिव' में जो 'हेतूत्प्रेक्षा' है वह तब तक नहीं हो सकती जब तक 'बद्धमौनता' के निमित्त का उपादान न किया जाय। इसी भाँति 'एवास्यापि' आदि सूक्ति में, 'आख्यातुमिव' में जो फलोत्प्रेक्षा है वह तब तक असंभव है जब तक 'भूप्रवेश'रूप निमित्त उपात्त न हो। यहाँ वस्तुतः बात यह है कि इन उत्प्रेक्षा-भेदों में निमित्त के उपादान के बिना वाक्य ही असंगत हो जाता है (और जब वाक्य असंगत हो गया तो उत्प्रेक्षा कहाँ से संगत हो जाय)।

अब प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के १६ भेदों के अवान्तर वैशिष्ट्य का दिग्दर्शन किया जा रहा है—

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के जो १६ भेद हैं उनमें, प्रत्येक के, 'फलगत' और 'हेतुगत' रूप से दो-दो प्रकार हो जाया करते हैं। जैसे कि पूर्वोदाहृत 'तन्वङ्ग्याः स्तनयुग्मेन' आदि सूक्ति में 'मुख (चूचुक) के प्रकट करने' के हेतुरूप से 'लज्जा' की उत्प्रेक्षा की हुई है। 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' में भी निमित्त का उपादान अत्यावश्यक है क्योंकि जब कि यहाँ उत्प्रेक्षावाचक 'इव' आदि पद नहीं और उत्प्रेक्षा का निमित्त भी अनुपात्त हो तब यह

यथा—'अयं राजापरः पाकशासनः' इति। विशेषणाभावे च रूपकस्य, यथा—'राजा पाकशासनः' इति।) तदेवं द्वात्रिंशप्रकारा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा।

उक्त्यनुक्त्योः प्रस्तुतस्य प्रत्येकं ता अपि द्विधा।

ता उत्प्रेक्षाः। उक्तौ यथा—'ऊरुः कुरङ्गकदृशः–' इति।

अनुक्तौ यथा मम प्रभावत्याम् 'प्रद्युम्नः—इह हि सम्प्रति दिगन्तरमाच्छादयता तिमिरपटलेन—

घटितमिवाञ्जनपुञ्जैः पूरितमिव मृगमदक्षोदैः।
ततमिव तमालतरुभिर्वृतमिव नीलांशुकैर्भुवनम्॥'

अत्राञ्जनेन घटितत्वादेरुत्प्रेक्षणीयस्य विषयव्याप्तत्वं नोपात्तम्।

कैसे संभव है कि कोई भी यह जान सके कि वहाँ 'उत्प्रेक्षा' हुई है। 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' में स्वरूपगत भेद भी असंभव ही है क्योंकि जब कि 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' में एकधर्मी के साथ 'धर्म्यन्तर' (अर्थात् अन्य धर्मी) का तादात्म्य अथवा अभेद आवश्यक हो और इव आदि उत्प्रेक्षावाचक पद भी न रहें तथा साथ ही साथ असंभवविशेषण का भी उपादान हो तब यह सब वैचित्र्य 'अतिशयोक्ति' की रूपरेखा का निर्देश कर सकता है न कि उत्प्रेक्षा का।

जैसे कि 'यह राजा दूसरा इन्द्र है' आदि प्रसङ्गों में, राजरूप एकधर्मी के साथ इन्द्ररूप अन्यधर्मी की तादात्म्यभावना में, 'अपर'रूप असंभवविशेषण ('अपर' विशेषण इसलिये असंभव है क्योंकि 'इन्द्र' एक ही हैं) का जो योग है (और साथ ही साथ 'इव' आदि उत्प्रेक्षावाचक पद का भी जो अनुपादान है) उसमें 'अतिशयोक्ति' ही दिखायी देती है (प्रतीयमाना स्वरूपोत्प्रेक्षा नहीं) और यदि 'यह राजा इन्द्र है' आदि कहा जाय, तब असंभव-विशेषण के अभाव में (और साथ ही साथ 'इव' आदि उत्प्रेक्षावाचक पद के अनुपादान में) जो 'अलङ्कार' दिखायी देगा वह (प्रतीयमाना स्वरूपोत्प्रेक्षा नहीं अपितु) 'रूपक' अलङ्कार ही होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' के ३२ ही भेद हुआ करते हैं।

'उत्प्रेक्षा' के अब तक जो भेद निर्दिष्ट किये गये, उन सब में प्रस्तुत (प्राकरणिक अथवा उपमेय) की उक्ति और अनुक्ति के भेद से, दो-दो भेद हो जाया करते हैं।

यहाँ (कारिका में) 'ताः' का अभिप्राय 'उत्प्रेक्षा' के समस्त भेदों का अभिप्राय है (न कि पूर्वपरामृष्ट ३२ प्रकार की प्रतीयमानोत्प्रेक्षा का) उत्प्रेक्षा में 'प्रस्तुत की उक्ति' के उदाहरण के लिये 'ऊरुः कुरङ्गकदृशः' आदि सूक्ति पर्याप्त है (जिसमें प्रस्तुत अथवा उपमेयभूत 'ऊरु' स्पष्टतया शब्दतः उपात्त है)। इसी प्रकार 'प्रस्तुत की अनुक्ति' में, उत्प्रेक्षा के उदाहरणरूप में, स्वरचित 'प्रभावती' नाटिका की यह सूक्ति ध्यान देने योग्य है—

'प्रद्युम्न—इस समय यह अन्धकार दिग्दिगन्त को आच्छन्न कर रहा है जिससे ऐसा लगता है—

मानो सारा संसार अञ्जनराशि से बना हुआ सा हो, कस्तूरीचूर्ण से भरा हुआ सा हो, तमालवीथी से व्याप्त सा हो और नीलांशुक से आवृत सा हो।'

यहाँ जो उत्प्रेक्षणीय है अर्थात् उपमानभूत 'अञ्जनघटितत्व' आदि है वह ऐसा है जिसके लिये उपमेयरूप 'तिमिरव्यापन' आदि शब्दतः उपात्त नहीं।

यथा वा—

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।'

अत्र तमसो लेपनस्य व्यापनरूपो विषयो नोपात्तः । अञ्जनवर्षणस्य तमःसम्पातः । अनयोरुत्प्रेक्षानिमित्तं च तमसोऽतिबहुलत्वं धारारूपेणाधःसंयोगश्च यथासंख्यम् ।

केचित्तु—'अलेपनकर्तृभूतमपि तमो लेपनकर्तृत्वेनोत्प्रेक्षितं व्यापनं च निमित्तम् , एवं नभोऽपि वर्षणक्रियाकर्तृत्वेन' इत्याहुः ।

'प्रस्तुत की अनुक्ति' में 'उत्प्रेक्षा' की रूपरेखा निम्न (मृच्छकटिक) सूक्ति में भी स्पष्ट है—

'ऐसा लगता है जैसे अन्धकार समस्त शरीर को लेप रहा हो और आकाश अञ्जन बरसा रहा हो ।'

यहाँ अन्धकार के 'लेपन' रूप उपमान के लिये 'व्यापन' रूप प्रस्तुत अथवा विषय का उपादान नहीं किया गया है। इसी प्रकार 'अञ्जनवर्षण' रूप उपमान के लिये 'तमस्संपात' रूप प्रस्तुत अथवा विषय भी अनुपात्त ही छोड़ दिया गया है। इन दोनों उत्प्रेक्षाओं में उत्प्रेक्षा का निमित्त भी दिया हुआ है जो कि क्रमशः 'अन्धकार का बाहुल्य' और उसका 'धारासम्पातरूप से पृथिवी पर गिरना' है (इस प्रकार यहाँ—प्रस्तुत की अनुक्ति में, क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा का स्वरूप स्पष्ट है) ।

वैसे कुछ काव्याचार्य 'लिम्पति' आदि में द्रव्योत्प्रेक्षा मानते हैं क्योंकि उनका यह कहना है कि यहाँ 'तिमिर', जो कि 'लेपन' की क्रिया का कर्ता नहीं हो सकता, 'लेपन' क्रिया के कर्ता के रूप में उत्प्रेक्षित है जिसके लिये 'व्यापन' रूप निमित्त भी प्रतीत हो रहा है और 'आकाश' जिसमें 'वर्षण' की क्रिया का कर्तृत्व असम्भव है, वर्षण-क्रिया के कर्ता के रूप में उत्प्रेक्षित है ।

विमर्श—(क) 'उत्प्रेक्षा' की व्युत्पत्ति यह है—'उत्+प्र+ईक्षा = उत्कटा प्रकृष्टस्य उपमानस्य ईक्षा ज्ञानमुत्प्रेक्षा' (उद्योत, पृष्ठ २३) । इस व्युत्पत्ति से ही यह स्पष्ट है कि उत्प्रेक्षा अलङ्कार का चमत्कार किसी 'प्रकृत' की उत्कृष्ट 'अप्रकृत' के रूप में 'सम्भावना' है । 'संभावना' एक ज्ञानप्रकार है । 'सम्भावनात्मक ज्ञान' संशय अथवा भ्रम आदि नहीं अपितु इनसे एक भिन्न प्रकार का ही अनुभव है जैसा कि 'अलङ्कारसर्वस्व' की 'विमर्शिनी' व्याख्या के रचयिता आचार्य जयरथ ने कहा है—

'उत्प्रेक्षा सम्भावनादिशब्दाभिधेयतर्कप्रतीतिमूलेति नास्याः संदेहमूलत्वम् । तस्य भिन्नलक्षणत्वात् । अथानवधारणज्ञानं संशय इत्यनवधारणज्ञानत्वाविशेषात् संशयान्नार्थान्तरभावस्तर्कस्येत्यस्या संशयमूलत्वमिति चेत्' नैतत् । अनवधारणज्ञानत्वाविशेषेऽपि संशयतर्कयोर्भिन्नरूपत्वात् । तथा हि—स्थाणुर्वा पुरुषो वेति सामान्येन पक्षद्वयोल्लेखः संशयः । पुरुषेणानेन भवितव्यमित्येकतरपक्षानुकूलकारणदर्शनेन पक्षान्तरबाधनमिव तर्कः । पुरुष एवायमिति पक्षान्तरसंस्पर्शेनैकतरपक्षनिर्णयो निश्चय इत्यस्ति सहृदयसाक्षिकं प्रत्ययानां त्रैविध्यम् ।.........अनियतोभयपक्षावलम्बी किं स्विदिति विमर्शः सन्देहः । एकतरपक्षावलम्बी तु तर्क इति ।.........तेन संदेहनिश्चयान्तरालवर्ती तद्विलक्षणः संभावनाप्रत्ययस्त्रिशङ्कुरिव लम्बमानोऽवश्याभ्युपगन्तव्यः ।

अर्थात् वैसे तो 'संशयात्मक' और 'सम्भावनात्मक' दोनों ज्ञान अनिश्चयात्मक (अनवधारणारूप) ज्ञानप्रकार हैं किन्तु दोनों में परस्पर भेद है। 'संशय' में दो पक्षों का उल्लेख अनिवार्य है। 'क्या यह ठूंठ है या आदमी' इसी प्रकार का ज्ञान 'संशय' रूप हुआ करता है। किन्तु 'संभावना' में, किसी कारणवश, दो पक्षों में से. एक पक्ष का बाध और एक का प्रतिष्ठापन स्वाभाविक है। 'यह आदमी ही होगा' इस प्रकार का ज्ञान संभावनात्मक ज्ञान-प्रकार है। इस प्रकार दोनों पक्षों के अवलम्बन करनेवाले 'संदेह' और एकपक्षावलम्बी 'तर्क' अथवा 'संभावना' को एक मानना अनुचित है इसलिये यह स्पष्ट है कि 'उत्प्रेक्षा' और 'संदेह' पृथक्-पृथक् स्वरूप के अलङ्कार अथवा काव्य-वैचित्र्य हैं।

(ख) 'उत्प्रेक्षा' और 'अतिशयोक्ति' अध्यवसायगर्भ अलङ्कार हैं किन्तु दोनों में दो प्रकार का 'अध्यवसाय' रहा करता है जिससे दोनों परस्पर भिन्न-भिन्न अलङ्कार के रूप में माने जाया करते हैं। 'अध्यवसाय' का अर्थ 'विषयनिगरण' है। -उत्प्रेक्षा में भी 'विषयनिगरण' रहा करता है किन्तु यह 'सिद्ध' रूप का न होकर 'साध्य' रूप का हुआ करता है। 'अतिशयोक्ति' में जो 'विषयनिगरण' हुआ करता है वह 'साध्य' नहीं अपितु 'सिद्ध' रहा करता है। 'विमर्शिनी'कार ने इसीलिये कहा है—

'एवमप्यनिश्चयात्मकसंभावनाप्रत्ययमूलत्वादुत्प्रेक्षायाः कथमध्यवसायमूलत्वम्। तस्य हि विषयनिगरणं विषयिनिश्चयश्च स्वरूपम्। न चात्रैकमपि संभवति। विषयोपादाना-न्निश्चयाभावाच्चेति। अत्रोच्यते—इह द्विधास्त्यध्यवसायः। स्वारसिक उत्पादितश्च। तत्र स्वारसिके विषयानवगम एव निमित्तसामर्थ्यात् स्वरसत एव विषयप्रतीतेरुल्ला-सात्।.........इतरत्र तु विषयमवगत्यापि तदन्तःकारेण प्रतिपत्तौ स्वात्मपरतन्त्र-विकल्पनाद् विषये प्रतिपत्तिमुत्पादयेत्। जानान एव हि विषयिविविक्तं विषयं तत्र प्रयो-जनपरतया विषयिणमध्यवस्येत्। तत्राद्यो भ्रान्तिमदादिविषयः। तत्र हि प्रमात्रन्तरगता स्वारसिकयेव तथाविधा प्रतिपत्तिर्वक्त्रानूद्यते न तूत्पाद्यते।.........स्वारसिकत्वं पुनः कविप्रतिभानिर्वर्तितमेवेष्टम्। अन्यथा हि भ्रान्तिमात्रं स्यादिति.........इतरस्तूत्प्रेक्षाविषयः स च द्विविध सिद्धः साध्यश्च। सिद्धो यत्र विषयस्यानुपात्ततया निगीर्णत्वादध्यवसितप्राधा-न्यम्। साध्यो यत्रेवाद्युपादानात् संभावनाप्रत्ययात्मकत्वाद्विषयस्य निगीर्यमाणत्वादध्य-वसायक्रियाया एव प्राधान्यम्।.........अत एव चात्र क्वचिद्विषयानुपादानम्। वाच्यो-पयोग्यध्यवसायस्य साध्यमानत्वेनोपक्रान्तत्वात्। क्वचिच्च विषयस्यानुपादानेऽपि न सिद्धत्वम्। इवाद्युपादानान्निगीर्यमाणतायाः प्राधान्यात् संभावनाप्रत्ययस्यैवोद्रेकात्। अत एव चात्र विषयस्य निगीर्यमाणत्वादारोपगर्भत्वं न वाच्यम्। तत्र विषयस्य विषयितया प्रतीतिः। इह पुनर्विषयस्य निगीर्यमाणत्वेन विषयिण एव प्रतीतिः। ननु विषयनिग-रणमध्यवसायस्य लक्षणम्, इह पुनर्विषयस्य निगीर्यमाणतेति कथमत्राध्यवसायतेति चेत्, नैतत्। 'विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् चाध्यवसानिका' इत्याद्युक्त्याऽध्यव-सायस्य विषयिणा विषयस्यान्तःकरणं लक्षणम्। तच्च विषयस्य निगरणेन निगीर्यमाण-त्वेन वा भवतीति न कश्चिद्विशेषः निगीर्यमाणमपि पूर्वोक्तरीत्या विषयस्योपात्तस्यानु-पात्तस्य वा भवतीत्यपि न कश्चिद्विशेषः। एवं सिद्धेऽध्यवसायेऽध्यवसितप्राधान्यम् साध्ये च स्वरूपप्राधान्यमिति सिद्धम्। यदेव चाध्यवसायस्य साध्यत्वं तदेव संभावना-त्मकत्वम्। संभावना ह्येकतरपक्षशिथिलीकारेण पक्षान्तरदार्ढ्येन च प्रादुर्भवती-त्यस्याः साध्याध्यवसायतुल्यकक्षत्वम्। तस्यापि विषयशिथिलीकारेण विषयि-दार्ढ्येन चोत्पत्तेः।'

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ ६९-७०)

(उत्प्रेक्षावैचित्र्य)

अलङ्कारान्तरोत्था सा वैचित्र्यमधिकं भजेत् ॥ ४५ ॥

तत्र सापह्नवोत्प्रेक्षा यथा मम—

'अश्रुच्छलेन सुदृशो हुतपावकधूमकलुषाक्ष्याः ।
अप्राप्य मानमङ्गे विगलति लावण्यवारिपूर इव ॥'

(ग) 'उत्प्रेक्षा' सर्वप्रथम दो प्रकार की है—१. वाच्योत्प्रेक्षा और २. प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। 'वाच्योत्प्रेक्षा' भी 'स्वरूपगत', 'फलगत' और 'हेतुगत' रूप से मुख्यतया तीन प्रकार की है। इन तीनों प्रकारों में 'स्वरूपगत वाच्योत्प्रेक्षा' के ३२ भेद हैं। ३२ भेद इसलिए क्योंकि पहले तो अपकृत के रूप में अध्यवसेय प्रकृत के 'जाति', 'गुण', 'क्रिया' और 'द्रव्य' रूप से चार प्रकार हैं जो कि 'भावाभिमान' और 'अभावाभिमान' के रूप से, दो-दो प्रकार के होकर आठ प्रकार के हो जाया करते हैं। ये आठों प्रकार उत्प्रेक्षा के निमित्त के 'गुणरूप' और 'क्रियारूप' से द्विविध होने के कारण दो दो प्रकार के होकर, १६ बन जाते हैं। इन १६ प्रकारों में, प्रत्येक में निमित्त के 'उपादान' और 'अनुपादान' के द्वैविध्य के कारण, दो दो प्रकार स्वाभाविक हैं जिससे स्वरूपगत वाच्योत्प्रेक्षा के ३२ प्रकार सिद्ध हो जाते हैं।

(२) अर्थात् 'फलगत' वाच्योत्प्रेक्षा में द्रव्य की फलोत्प्रेक्षा और उसके प्रकारचतुष्टय की कोई संभावना न होने के कारण बारह भेद ही संभव हैं।

(३) अर्थात् 'हेतुगत' वाच्योत्प्रेक्षा भी बारह प्रकार की ही हुआ करती है क्योंकि वाच्योत्प्रेक्षा के इस भेद में द्रव्य की हेतूत्प्रेक्षा और उसके भेदचतुष्टय की संभावना नहीं रहा करती। इस प्रकार वाच्योत्प्रेक्षा के ये ५६ (स्वरूपगत के ३२, फलगत के १२, हेतुगत के १२) भेद प्रस्तुत के 'प्रतिपादन' और 'अप्रतिपादन' के द्विविध वैचित्र्य के कारण ११२ प्रकार के सिद्ध होते हैं।

'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' ६४ प्रकार की है। ६४ प्रकार की इसलिये क्योंकि इसमें स्वरूपोत्प्रेक्षा के ३२ भेद असंभव हैं किन्तु १६ 'फलगत' और १६ 'हेतुगत' भेद आवश्यक हैं जो कि प्रस्तुत के 'प्रतिपादन' और 'अप्रतिपादन' के द्वैविध्य के कारण ६४ हो जाते हैं।

इस प्रकार उत्प्रेक्षा की भेदसंख्या १७६ है (वाच्योत्प्रेक्षा ११२ + प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ६४ = उत्प्रेक्षा १७६)।

(घ) किन्तु 'रसगङ्गाधर'कार के अनुसार उपर्युक्त उत्प्रेक्षाभेद-संख्या प्राचीन आलङ्कारिकों की परम्परा सी ही, तात्त्विक नहीं—

'इह जात्यादयो हि भेदाः प्राचामनुरोधादुदाहृताः। वस्तुतस्तु नैषां चमत्कारे वैलक्षण्यमस्तीत्यनुदाहार्यं तैव। चमत्कारवैलक्षण्यं पुनर्हेतुफलस्वरूपात्मकानां त्रयाणां प्रकाराणामेवेति।'

(रसगङ्गाधर : उत्प्रेक्षाप्रकरण)

अनुवाद—यही 'उत्प्रेक्षा', यदि उसके मूल में और अलंकार पड़ जांय, तो अधिकाधिक वैचित्र्य धारण करती दिखाई दिया करती है। उदाहरण के लिये, यह स्वरचित सूक्ति, जिसमें 'अपह्नुति'-अलंकार-मूलक उत्प्रेक्षा का वैचित्र्य स्पष्ट है—

'आहुतियों से भरी यज्ञाग्नि के धूम से कलुषित आंखोंवाली इस सुन्दरी के आंसुओं के बहाने, ऐसा लगता है जैसे, इसका मान, इसके अङ्गों में न समा सकने के कारण, लावण्यजल के प्रवाह के रूप में बह निकला है।'

श्लेषहेतुगा यथा—

'मुक्तोत्करः सङ्कटशुक्तिमध्याद्विनिर्गतः सारसलोचनायाः।
जानीमहेऽस्याः कमनीयकम्बुग्रीवाधिवासाद्गुणवत्त्वमाप ॥'

अत्र गुणवत्त्वे श्लेषः कम्बुग्रीवाधिवासादिवेति हेतूत्प्रेक्षाया हेतुः। अत्र 'जानीमहे' इत्युत्प्रेक्षावाचकम्।

एवम्—

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः।

क्वचिदुपमोपक्रमोत्प्रेक्षा यथा—

'पारेजलं नीरनिधेरपश्यन्मुरारिरानीलपलाशराशीः।
वनावलीरुत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभाः ॥'

इत्यत्राभाशब्दस्योपमावाचकत्वादुपक्रमे उपमा। पर्यवसाने तु जलधितीरे शैवालस्थितेः सम्भावनानुपपत्तौ सम्भावनोत्थापनमित्युत्प्रेक्षा।

एवं विरहवर्णने—'केयूरायितमङ्गदैः—' इत्यत्र 'विकासिनीलोत्पलतिस्म कर्णे मृगायताक्ष्याः कुटिलः कटाक्षः' इत्यादौ च ज्ञेयम्।

[यहाँ 'छल' शब्द के उपादान से, प्रस्तुत 'अश्रु' के प्रतिषेध के साथ, अप्रस्तुत 'लावण्यवारिपूर' के स्थापन में 'अपह्नुति' स्पष्ट है और इस 'अपह्नुति' की भित्ति पर, क्रियोत्प्रेक्षा का जो वैचित्र्य है वह देखने ही योग्य है।]

इसी प्रकार 'श्लेषालंकारमूलक उत्प्रेक्षा का उदाहरण यह रहा—

'ऐसा लगता है जैसे 'संकटशुक्ति' (छोटी सीप और संकटाकीर्ण संसार) के भीतर से निकला हुआ यह 'मुक्तोत्कर' (मोतियों और मुक्त पुरुषों का समूह) इस सारसलोचना (कमलनयनी) सुन्दरी के, कमनीयशंखतुल्य ग्रीवा के 'अधिवास' (निवास या वासना) के कारण 'गुणवान्' (सूत्रयुक्त और सत्त्वादिगुणयुक्त) हो गया है।'

यहाँ 'गुणवत्त्व' पद श्लिष्ट है (क्योंकि इसके 'सूत्रयुक्तत्व' और 'उत्कर्षवत्त्व' दो-दो अभिप्राय निकलते हैं)। यहाँ 'कम्बुग्रीवाधिवासादिव' के रूप में हेतु की भी उत्प्रेक्षा है और 'जानीमहे' पद उत्प्रेक्षावाचक है (इस प्रकार यहाँ श्लेषमूलक उत्प्रेक्षा स्पष्ट है)।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि ('जानीमहे' की भाँति) और भी उत्प्रेक्षावाचक पद हैं जिनमें 'मन्ये', 'शंके', 'ध्रुवम्', 'प्रायः', 'नूनम्' (खलु-किमु-किम्) आदि प्रसिद्ध हैं।

अब उपमामूलक उत्प्रेक्षा का उदाहरण देखिये—

'भगवान् कृष्ण ने, समुद्र के तीर पर, हरे-हरे पत्तों से भरी वनवीथी क्या देखी, लहरों से निरन्तर फेंकी जाती शैवलराशि देख ली।'

यहाँ उपमामूलक उत्प्रेक्षा इसलिये है क्योंकि कवि ने, उपक्रम में, उपमावाचक 'आभा' शब्द के प्रयोग में, उपमा की रचना की है और अन्त में संभावना अथवा उत्प्रेक्षण का उत्थान दिखाया है क्योंकि जबकि समुद्र के तीर पर शैवलपंक्ति की अवस्थिति अनुपपन्न है तब उसकी स्थिति का वर्णन 'संभावना' रूप ही हो सकता है। इसी भांति—

'प्रयास्यन्तं प्रियं श्रुत्वा गोविन्दं व्रजयोषिताम्।
तत्क्षणाजातमौनानां केयूरायितमङ्गदैः ॥'

'प्रियतम कृष्ण प्रवास पर जा रहे हैं—यह सुनकर अकस्मात् मौन धारण की हुई व्रज की

भ्रान्तिमदलङ्कारे 'मुग्धा दुग्धधिया—' इत्यादौ भ्रान्तानां बल्लवादीनां विषयस्य चन्द्रिकादेर्ज्ञानमेव नास्ति, तदुपनिबन्धनस्य कविनैव कृतत्वात्। इह तु संभावनाकर्तुर्विषयस्यापि ज्ञानमिति द्वयोर्भेदः।

संदेहे तु समकक्षतया कोटिद्वयस्य प्रतीतिः, इह तूत्कटा संभाव्यभूतैककोटिः। अतिशयोक्तौ विषयिणः प्रतीतस्य पर्यवसानेऽसत्यता प्रतीयते, इह तु प्रतीतिकाल एवेति भेदः।

सुन्दरियों के बाजूबंद केयूर अर्थात् कंगन से हो गये।' (विरह की कृशता के कारण कंगन की जगह पर आ गये) आदि विरहवर्णन-सूक्ति में 'केयूरायितमङ्गदैः' में क्यङ् प्रत्यय के प्रयोग में, उपक्रम में उपमा स्पष्ट है जिसके आधार पर (अङ्गद) बाजूबन्दों की, कंकण स्थान पर स्थिति की अनुपपत्ति में, स्थिति की संभावना की गयी है जिसमें उत्प्रेक्षा स्पष्ट है। यही बात—

'नासाग्रमुक्तामधरप्रसारिरोचिर्निनायेव च विद्रुमाणाम्।
विकासिनीलोत्पलतिस्म कर्णे मृगायताक्ष्याः कुटिलः कटाक्षः॥'

आदि सूक्ति में 'मृगनयनी के कुटिल कटाक्ष उसके कानों पर खिले नीलकमल से लगने लगे' आदि की उपक्रमोपमा में दिखायी देती है जहाँ अन्त में, कानों पर, कटाक्ष की स्थिति की अनुपपत्ति में स्थिति की 'सम्भावना' की गयी है और 'उत्प्रेक्षा' में वाक्य-समाप्ति होती है।

यहां यह शङ्का हो सकती है कि जैसे 'मुग्धा दुग्धधिया' आदि सूक्ति में 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार का दर्शन हुआ करता है वैसे ही 'ऊरुः कुरङ्गकदृशः' आदि सूक्ति में भी, नायिका के 'ऊरु' आदि में 'विजयस्तम्भ' आदि की भ्रान्ति के कारण, 'भ्रान्तिमान्' क्यों न माना जाय। किन्तु यह शङ्का इसलिये निर्मूल है कि 'मुग्धा दुग्धधिया' आदि भ्रान्तिमान् प्रसङ्गों में तो भ्रम में पड़े गोप आदि को विषय अथवा उपमेयभूत 'चन्द्रिका' आदि आदि का ज्ञान भी नहीं होता क्योंकि यह तो कवि है जो 'चन्द्रिका' का कथन करता है (और गोप आदि 'सीप में चांदी' की भ्रान्ति की भांति 'चाँदनी आदि में दुग्ध-धार आदि' की भ्रान्ति में ही मग्न हैं) किन्तु 'ऊरुः कुरङ्गकदृशः' आदि उत्प्रेक्षा-प्रसङ्ग ऐसे हैं जिनमें, सम्भावना करने वाले को, विषय अथवा उपमेयभूत 'ऊरु' आदि का भी ज्ञान हो रहा है। इस प्रकार 'भ्रान्तिमान्' और 'उत्प्रेक्षा' के क्षेत्र परस्पर पृथक-पृथक् ही प्रतीत होते हैं।

'उत्प्रेक्षा' में संदेहालङ्कार' का भी भ्रम नहीं हो सकता क्योंकि 'संदेह' में ऐसा होता है कि उपमेय और उपमानविषयक ज्ञान की दोनों कोटियां समकक्ष प्रतीत हुआ करती हैं और यहां, 'उत्प्रेक्षा' में ऐसा कि एक ही संभाव्यकोटि उत्कटतया प्रतीत होती है। 'उत्प्रेक्षा' में 'अतिशयोक्ति' की भी भ्रान्ति असंभव ही है क्योंकि 'अतिशयोक्ति' में ऐसा होता है कि आरम्भ में विषयी का स्वरूप प्रतीत हो जाता है और अन्त में उसकी असत्यता का पता चलता है किन्तु यहां, उत्प्रेक्षा में, विषयी (उपमान) के स्वरूप की प्रतीति के समय में ही उसकी असत्यता की भी प्रतीति हो उठती है।

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि कुछ काव्याचार्यों (अलङ्कारसर्वस्वकार आदि) ने (किरातार्जुनीय—नवम सर्ग की) निम्नसूक्ति अर्थात्—

'रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु ।
पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहृता नु ककुभस्तिमिरेण ॥'

इत्यत्र यत्तर्वादौ तिमिराक्रान्तता रञ्जनादिरूपेण संदिह्यत इति संदेहालङ्कार इति केचिदाहुः, तन्न—एकविषये समानबलतयाऽनेककोटिस्फुरणस्यैव संदेहत्वात् । इह तु तर्वादिव्याप्तेः प्रतिसंबन्धिभेदो व्यापनादेर्निगरणेन रञ्जनादेः स्फुरणं च ।

अन्ये तु—'अनेकत्वनिर्धारणरूपविच्छित्त्याश्रयत्वेनैककोट्यधिकेऽपि भिन्नोऽयं संदेहप्रकारः' इति वदन्ति स्म, तदप्ययुक्तम्—निगीर्णस्वरूपस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिर्हि संभावना, तस्याश्चात्र स्फुटतया सद्भावात् नुशब्देन चेवशब्दवत्तस्या द्योतनादुत्प्रेक्षैवेयं भवितुं युक्ता, अलमदृष्टसंदेहप्रकारकल्पनया ।

'क्या अन्धकार से सब वृक्ष और पर्वत काले रंग में रँग से दिये गये ? क्या ऐसा तो नहीं कि आकाश नीचे गिर पड़ा या ढक सा गया ? क्या पृथिवी ऊँची-नीची जगहों में बराबर कर दी गयी ? अथवा क्या फैली दिशायें सिकोड़ दी गयीं ?'

आदि में, 'संदेहालङ्कार' का जो दर्शन किया है और यह कहा है कि यहाँ वृक्षादि की अन्धकारपूर्णता रञ्जनादि के रूप में सन्देहास्पद बन रही है, वह ठीक नहीं। कारण यह है कि यहाँ 'संदेह' की कोई संभावना ही नहीं क्योंकि जिसे 'संदेह' कहते हैं वह तो एक विषय (अर्थात् उपमेय) में, समकक्षरूप से, अनेककोटिक ज्ञान का स्फुरण हुआ करता है । यहाँ ऐसा स्फुरण कहाँ ? यहां तो तरु, शैल, गगन, पृथिवी आदि प्रत्येक पदार्थ की तिमिराच्छन्नता भिन्न-भिन्न प्रकार की बतायी गयी है और रञ्जन, नामन, स्थगन आदि भिन्न-भिन्न रूपों में संभावित प्रतीत हो रही है और साथ ही साथ यहां यह भी स्पष्ट है कि तमोव्यापनरूप विषय के निगरण अथवा अपलाप में रञ्जन आदि रूप विषयी की संभावना हो रही है (जिसमें 'उत्प्रेक्षा' की ही रूपरेखा निखरती दिखायी दे रही है)।

उपर्युक्त तिमिरवर्णन-सूक्ति में ही, कुछ और आलङ्कारिकों ने एक और प्रकार के संदेहालङ्कार का दर्शन किया है और यह कहा है कि यहाँ 'संदेह' का जो स्वरूप है उसमें तमोव्यापन और रञ्जनादिरूप ज्ञान का स्फुरण नहीं अपितु तमोव्यापनरूप एककोटिक ज्ञान का ऐसा उत्कट स्फुरण है जो कि रञ्जन, नामन, स्थगन आदि अनेक रूपों में निर्धारित होने के कारण एक और ही वैचित्र्य रख रहा है । किन्तु यह मत भी अनुपपन्न ही है क्योंकि यहाँ 'संशय' नहीं अपितु 'संभावना' है जो कि निगीर्णस्वरूप विषय की, अन्य अथवा विषयी के साथ; एक तादात्म्य-भावना है । यह तादात्म्य-भावना यहाँ इसलिये स्पष्ट है क्योंकि 'इव' शब्द के समानार्थक 'नु' शब्द के द्वारा (जो कि उत्प्रेक्षावाचक शब्द है) इसे यहाँ प्रतिपादित कर दिया गया है। इसलिये यहाँ जो अलङ्कार है वह 'उत्प्रेक्षा' ही है । यहाँ ऐसे संदेहप्रकार की कल्पना की क्या आवश्यकता जिसे और किसी ने भी नहीं माना !

अब यह बताना आवश्यक है कि 'मन्ये' आदि उत्प्रेक्षावाचक पदों के प्रयोग में भी संभावना की प्रतीति के अभाव में, उत्प्रेक्षालङ्कार नहीं हुआ करता । जैसे कि निम्नसूक्ति अर्थात्—

'यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलां वितनुते
तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा।
अहं त्विन्दुं मन्ये त्वदरिविरहाक्रान्ततरुणी-
कटाक्षोल्कापातव्रणकिणकलङ्काङ्किततनुम् ॥'

इत्यत्र 'मन्ये'शब्दप्रयोगेऽप्युक्तरूपायाः सम्भावनाया अप्रतीतेर्वितर्कमात्रं नासावपह्नवोत्प्रेक्षा।

'राजन्! चन्द्रमा में काले बादल के टुकड़े सा जो दिखायी पड़ा करता है उसे लोग 'शश' कहा करते हैं, किन्तु मुझे यह सब मान्य नहीं। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि चन्द्रमा में जो दाग हैं वह तुम्हारे शत्रुओं की विरहिणी प्रेमिकाओं के कटाक्षरूपी उल्कापात से उत्पन्न व्रण का चिह्न है।'

में, 'मन्ये' शब्द तो अवश्य प्रयुक्त है किन्तु यहां 'निगीर्णस्वरूप विषय की अन्यतादात्म्य-प्रतीति' रूप संभावना नहीं दिखायी देती। इसलिये ऐसे प्रसङ्गों में अपह्नवमूलक-उत्प्रेक्षा नहीं अपि तु वितर्कमात्र ही मानना उचित है और युक्तियुक्त भी है।

विमर्श—उत्प्रेक्षा-वैचित्र्य का अभिप्राय अन्य अलङ्कारमूलक उत्प्रेक्षा-प्रकार के सौन्दर्य का अभिप्राय है। साहित्यदर्पणकार का यह उत्प्रेक्षा-वैचित्र्य-विचार 'अलङ्कारसर्वस्व' की उत्प्रेक्षा-मीमांसा से प्रभावित है। अलङ्कारसर्वस्वकार ने उत्प्रेक्षा-वैचित्र्य के रूप में 'सापह्नवोत्प्रेक्षा' का उल्लेख किया है—'सापह्नवोत्प्रेक्षा यथा—

गतासु तीरं तिमिघट्टनेन ससंभ्रमं पौरविलासिनीषु।
यत्रोल्लसत्फेनततिच्छलेन मुक्ताट्टहासेव विभाति सिप्रा॥

अत्र इवशब्दमाहात्म्यात् संभावनं छलशब्दप्रयोगाच्चापह्नवो गम्यते। एवं छद्मादि-शब्दप्रयोगेऽपि ज्ञेयम्।'

इसी प्रकार 'उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा' भी उत्प्रेक्षा की ही एक विचित्रता के रूप में, आचार्य रुय्यक द्वारा निर्दिष्ट है—'उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा यथा—

कस्तूरीतिलकन्ति भालफलके देव्या मुखाम्भोरुहे
रोलम्बन्ति तमालबालमुकुलोत्तंसन्ति मौलावपि।
याः कर्णे विकचोत्पलन्ति कुचयोरङ्के च कालागुरु—
स्थासन्ति प्रथयन्तु तास्तव शिवं श्रीकण्ठकण्ठत्विषः॥

अत्र यद्यपि 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप्' इत्युपमानात् क्विब्विधावामुखे उपमाप्रतीति-स्तथाप्युपमानस्य प्रकृते संभवौचित्यात् संभावनोत्थाने उत्प्रेक्षायां पर्यवसानम्।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ–७६)

'विमर्शिनी'कार के अनुसार 'अतिशयोक्तिमयी' उत्पेक्षा में भी काव्य-साहित्य की विशेषतायें दिखाई दिया करती हैं। जैसे कि—

'गृह्णद्भिः परया भक्त्या बाणलिङ्गपरम्पराः।
अनर्मदेव यत्सैन्यैर्निरमीयत नर्मदा॥'

आदि में, 'अभेद में भेद' रूप अतिशयोक्तिमूलक 'उत्प्रेक्षा'। अथवा, जैसे कि—

'यशसेव सहोद्भूतः श्रियेव सहवर्धितः।
तेजसेव सहोद्भूतस्त्यागेनेव सहोत्थितः॥'

आदि में, कार्यकारण की तुल्यकालतारूप अतिशयोक्ति से अनुप्राणित 'उत्प्रेक्षा' अथवा, जैसे कि—

(१२—अतिशयोक्तिः सप्रभेद निरूपण)

सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते ।

विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः ।

अस्य चोत्प्रेक्षायां विषयिणोऽनिश्चितत्वेन निर्देशात्साध्यत्वम्, इह तु निश्चितमात्रेण, इहापि मुखं द्वितीयश्चन्द्र इत्यादौ ।

यदाहुः—

'विषयस्यानुपादानेऽप्युपादानेऽपि सूरयः ।
अधःकरणमात्रेण निगीर्णत्वं प्रचक्षते ॥' इति ।

भेदेऽप्यभेदः सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययौ ॥ ४६ ॥
पौर्वापर्यात्ययः कार्यहेत्वोः सा पञ्चधा ततः ।

तद्विपर्ययौ अभेदे भेदः, असम्बन्धे सम्बन्धः । सा अतिशयोक्तिः । अत्र भेदेऽभेदो यथा मम—

'अखर्वगर्वस्मितदन्तुरेण विराजमानोऽधरपल्लवेन ।
समुत्थितः क्षीरविपाण्डुराणि पीत्वेव सद्यो द्विषतां यशांसि ॥'

आदि में, कार्यकारणभाव की क्रमिकता की विपर्ययरूपा अतिशयोक्ति से उत्थापित 'उत्प्रेक्षा' ।

अनुवाद—'अतिशयोक्ति' वह अलङ्कार है जिसे 'अध्यवसाय' की सिद्धि की प्रतीति कहा करते हैं ।

'अध्यवसाय' क्या है ? 'अध्यवसाय' है विषय (उपमेय) के निगरणपूर्वक, उस (निगीर्ण-स्वरूप-विषय) के साथ विषयी (उपमान) की अभेद-प्रतिपत्ति । यह 'अध्यवसाय' उत्प्रेक्षा में भी रहा करता है किन्तु सिद्धरूप का न होकर साध्यरूप का ही हुआ करता है क्योंकि जब कि 'उत्प्रेक्षा' में 'विषयी' (उपमान) का निर्देश अनिश्चित रूप से किया जाया करता है, 'अतिशयोक्ति' में ऐसा हुआ करता है कि 'विषयी' (उपमान) निश्चित रूप से निर्दिष्ट प्रतीत हुआ करता है । 'उत्प्रेक्षा' में 'विषय-निगरण' का अभिप्राय 'विषय का अधःकरणमात्र'—उसके वास्तविक स्वरूप का अपलापमात्र है और 'अतिशयोक्ति' में, जैसे कि 'यह मुख दूसरा चन्द्रमा है' आदि अतिशयोक्ति में, जो विषयनिगरण है उसमें भी विषय का अधःकरणमात्र ही दिखायी दे रहा है । इसलिये कहा भी गया है—

'चाहे विषय का शब्दतः उपादान हो या न हो, यदि उसका स्वरूप अधःकृत है अर्थात् छिपा-छिपाया प्रतीत हो रहा है तो यही उसका 'निगरण' है ।'

'अतिशयोक्ति' पाँच प्रकार की हुआ करती है—१ ला, भेद में भी अभेद-वर्णना, २ री, सम्बन्ध में भी असंबन्ध-वर्णना, ३ री, अभेद में भी भेद-वर्णना, ४ थी, असम्बन्ध में भी सम्बन्ध-वर्णना और ५ वीं, कार्य-कारण भाव-नियम की विपर्यय-वर्णना ।

यहाँ कारिका में 'तद्विपर्ययौ' का अभिप्राय भेद में अभेद-वर्णन और सम्बन्ध में असम्बन्ध-वर्णन के विपरीत अभेद में भेद और असम्बन्ध में सम्बन्ध-वर्णन का अभिप्राय है और 'सा' पद से 'अतिशयोक्ति' का निर्देश किया गया है ।

इन अतिशयोक्ति-भेदों का उदाहरण दिया जा रहा है । पहली—अर्थात् भेद में अभेद-वर्णनारूप अतिशयोक्ति का यह स्वरचित उदाहरण देखिये—

'कथमुपरि कलापिनः कलापो विलसति तस्य तलेऽष्टमीन्दुखण्डम् ।
कुवलययुगलं ततो विलोलं तिलकुसुमं तदधः प्रवालमस्मात् ॥'

अत्र कान्ताकेशपाशादेर्मयूरकलापादिभिरभेदेनाध्यवसायः ।

यथा वा—'विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्' । अत्र चेतनगतमौनित्वमन्यत्, अचेतनगतं चान्यदिति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदः ।

एवम्—

'सहाधरदलेनास्या यौवने रागभाक्प्रियः ।'

अत्राधरस्य रागे लौहित्यम्, प्रियस्य रागः प्रेम, द्वयोरभेदः ।

अभेदे भेदो यथा—

'अन्यदेवाङ्गलावण्यमन्याः सौरभसम्पदः ।
तस्याः पद्मपलाशाक्ष्याः सरसत्वमलौकिकम् ॥'

सम्बन्धेऽसम्बन्धो यथा—

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।

'कैसा आश्चर्य है ! ऊपर मयूर-कलाप है, नीचे अष्टमी का चन्द्रमा विराजमान है, उसके नीचे दो चञ्चल नीलकमल झलक रहे हैं, उनके नीचे तिल का फूल दिखायी दे रहा है और तब विद्रुम (मूंगे) का सौन्दर्य निखर रहा है।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि कामिनी के केशपाश-भालफलक-नेत्र-नासिका और अधरोष्ठ का, मयूरकलाप, अष्टमीचन्द्र, नीलकमल, तिलपुष्प और विद्रुम से भेद होने पर भी, अभेदाध्यवसाय विराजमान है जिसमें 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार झलक रहा है।

उसी प्रकार, पूर्वोदाहृत 'विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्' आदि में भी, भेद में अभेदरूपा अतिशयोक्ति स्पष्ट है क्योंकि यहाँ भी चेतन के धर्मभूत 'मौन' (वाणी के रोकने) और अचेतन के धर्मभूत 'मौन' (निःशब्दता) में, भेद होने पर भी, अभेद अथवा तादात्म्य का ही अध्यवसान दिखायी दे रहा है। इसी भांति, इस सूक्ति अर्थात्—

'इस सुन्दरी का यौवनकाल ऐसा रहा कि इसके अधरोष्ठ के साथ-साथ इसका प्रियतम भी रागमय हो गया।'

में भी, भेद में अभेद के अध्यवसान में, 'अतिशयोक्ति' की ही रूपरेखा दिखायी दे रही है क्योंकि अधर और प्रियतम के 'राग' में, भेद होने पर भी—अधर का 'राग' उसकी लालिमा है और प्रियतम का राग है प्रेम—अभेद का ही वर्णन किया गया है।

दूसरी अतिशयोक्ति अर्थात् अभेद में भेदरूपा अतिशयोक्ति का उदाहरण यह रहा—

'इस कमलनयनी कामिनी के अङ्गों का लावण्य भी कुछ और, मुखसौरभ भी कुछ और तथा उसकी सरसता भी कुछ और ही है !'

[यहाँ यह स्पष्ट है कि वर्ण्य रमणी के लावण्य आदि नारीसुलभ ही लावण्य आदि हैं किन्तु कवि ने, इनमें असाधारणता की कल्पना कर भेद का अध्यवसान कर लिया है।]

तीसरी 'अतिशयोक्ति' अर्थात् सम्बन्ध में असम्बन्धरूप अतिशयोक्ति का उदाहरण (विक्रमोर्वशीय की) यह सूक्ति है—

'क्या इस उर्वशी की सृष्टि का प्रजापति कान्ति का अनवरत स्रोत चन्द्रमा है ?

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥'

अत्र पुराणप्रजापतिनिर्माणसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धः।

असम्बन्धे सम्बन्धो यथा—

'यदि स्यान्मण्डले सक्तमिन्दोरिन्दीवरद्वयम्।
तदोपमीयते तस्या वदनं चारुलोचनम् ॥'

अत्र यद्यर्थबलादाहृतेन सम्बन्धेन सम्भावनया सम्बन्धः। कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययश्च द्विधा भवति। कारणात्प्रथमं कार्यस्य भावे द्वयोः समकालत्वे च।

क्रमेण यथा—

'प्रागेव हरिणाक्षीणां चित्तमुत्कलिकाकुलम्।
पश्चादुद्भिन्नबकुलरसालमुकुलश्रियः ॥'

'सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना।
तेन सिंहासनं पित्र्यं मण्डलं च महीक्षिताम् ॥'

या प्रेम का देवता मदन है? या फूलों का आकर वसन्त है? भला वेदाभ्यास से जडबुद्धि किंवा विषयों से विरत हृदयवाले ब्रह्मा का क्या सामर्थ्य जो ऐसे मनोहर रूप का निर्माण कर सके!'

यहाँ 'सम्बन्ध में असम्बन्ध' इसलिये स्पष्ट है क्योंकि उर्वशी की सृष्टि में जगत्स्रष्टा ब्रह्मा के सामर्थ्य का सम्बन्ध होने पर भी, 'वेदाभ्यासजडत्व' आदि के कारण, असम्बन्ध का ही निरूपण किया गया है।

चौथी 'अतिशयोक्ति' अर्थात् 'असम्बन्ध में सम्बन्ध'रूप अतिशयोक्ति का उदाहरण यह है—

'यदि चन्द्रमा के मण्डल में दो नीलकमल जुड़े हों तब कहीं संभव है कि इस रमणी के मनोरम नयनों वाले मुख की उपमा मिल जाये।'

यहाँ 'असम्बन्ध में सम्बन्ध' इसलिये है क्योंकि 'यदि' पद के अर्थ-सामर्थ्य से, चन्द्रमण्डल के साथ नीलकमल के आरोपित सम्बन्ध की संभावना स्पष्ट है।

कार्य-कारणभाव के पौर्वापर्य के विपर्यय में होनेवाली 'अतिशयोक्ति' दो प्रकार की हुआ करती है क्योंकि कार्य और कारण के पूर्वापरभाव का विपर्यय दो प्रकार का है—पहला, कारण के पहले कार्य का प्रादुर्भावरूप और दूसरा, कार्य और कारण का एककालिक अवस्थानरूप। जैसे कि 'कारण के पहले कार्य के प्रादुर्भावरूप' कार्यकारणभाव-विपर्यय में होनेवाली 'अतिशयोक्ति' अर्थात् चौथी 'अतिशयोक्ति' का उदाहरण—

'मृगनयनी सुन्दरिओं का हृदय प्रेममिलन की उत्कण्ठा से पहले भर उठा और बाद में ऐसा हुआ कि मौलश्री और आम की मञ्जरिओं में शोभा आ विराजी।'

इसी प्रकार कार्य और कारण के समकालिक अवस्थानरूप कार्यकारणभाव-विपर्यय में होनेवाली पाँचवीं 'अतिशयोक्ति' का उदाहरण—

'गजगामी महाराज रघु ने पिता के राजसिंहासन और समस्त राजमण्डल पर एक साथ ही अपना अधिकार जमा लिया (रघुवंश)।'

इह केचिदाहुः—'केशपाशादिगतो लौकिकोऽतिशयोऽलौकिकत्वेनाध्यवसीयते। केशपाशादीनां कलापादिभिरध्यवसाये 'अन्यदेवाङ्गलावण्यम्' इत्यादिप्रकारेष्वव्याप्तिर्लक्षणस्य' इति।

तन्न, तत्रापि ह्यन्यदङ्गलावण्यमन्यत्वेनाध्यवसीयते। तथाहि 'अन्यदेव' इति स्थाने 'अन्यदिव' इति पाठेऽध्यवसायस्यासाध्यत्वमेवेत्युत्प्रेक्षाङ्गीक्रियते। 'प्रागेव हरिणाक्षीणाम्—' इत्यत्र बकुलादिश्रीणां प्रथमभावितापि पश्चाद्भावित्वे-

[यहाँ यह स्पष्ट है कि 'प्रागेव हरिणाक्षीणाम्' आदि सूक्ति में, कामिनिओं के हृदय में, उत्कण्ठारूप कार्य का प्रादुर्भाव, पहले वर्णित है और उसके कारणरूप से अवस्थित, वकुल और आम्र-मंजरिओं का विकास, बाद में वर्णित है। इस प्रकार यहाँ वस्तुतः परभाविनी उत्कण्ठा के साथ कविकल्पना से, पूर्वभाविनी उत्कण्ठा के अध्यवसाय में, कार्यकारणभाव की विपर्ययरूपा 'अतिशयोक्ति' का स्वरूप स्पष्ट है। इसी प्रकार 'सममेव समाक्रान्तम्' आदि सूक्ति में, पैत्रिक सिंहासन पर अधिकाररूप 'कारण' और राजमण्डलवशीकरणरूप 'कार्य' की एककालिकता के वर्णन में, कार्यकारणभाव का विपर्यय स्पष्ट है जिसमें कार्य और कारण के लौकिक पूर्वापरभाव का, उनकी काल्पनिक एककालिकता के साथ अध्यवसाय भी स्पष्ट है।]

यहां कतिपय काव्याचार्यों (जैसे कि अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक आदि) का यह कहना है कि—'कथमुपरि कलापिनः' आदि सूक्ति में जो 'अतिशयोक्ति' है उसमें वर्ण्य रमणी के केशपाश आदि से संवद्ध वास्तविक सौन्दर्य (रूप धर्म) का ही कविसमर्पित सौन्दर्य (रूप धर्म) के साथ अध्यवसाय–अभेद में भेद का आहार्यनिश्चय किया हुआ है न कि उसके केशपाश आदि (रूप धर्मी) का मयूरकलापादि (रूप धर्मी) के रूप में कोई अध्यवसाय विवक्षित है क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तब 'अन्यदेवाङ्गलावण्यम्' आदि सूक्ति में (जहाँ सामान्य लावण्यरूप धर्म में असामान्य लावण्यरूप धर्म अध्यवसित प्रतीत हो रहा है) अभेद में भेदरूप 'अतिशयोक्ति' का लक्षण अव्याप्त हो जायगा (क्योंकि जब कि एक धर्मी का दूसरे धर्मी के रूप में 'अध्यवसाय' ही 'अतिशयोक्ति' हो तो एक धर्म का दूसरे धर्म के रूप में अध्यवसाय 'अतिशयोक्ति' न हो सकेगी)। किन्तु यह सब कथन युक्तियुक्त नहीं क्योंकि 'अन्यदेवाङ्गलावण्यम्' आदि में जो 'अभेद में भेद के अध्यवसाय' का रूप है उसमें यह स्पष्ट है कि 'अन्यनारीसुलभ' (अभिन्न) लावण्य ही 'अनन्यनारीसुलभ' (भिन्न, असाधारण, केवल प्रकृत नायिकावर्ती) लावण्य के रूप में अध्यवसित है। क्यों? इसलिये कि यदि 'अन्यदेव' के बदले यहां 'अन्यदिव' कर दिया जाय, तो, यह, अभेद में भेद का अध्यवसाय, (सिद्ध न होकर) साध्य बन जाता है और यहां 'अतिशयोक्ति' न होकर 'उत्प्रेक्षा' होने लगती है (इसलिये यह स्पष्ट है कि 'अन्यदेव' के प्रयोग में अभेद में भेद के अध्यवसाय के सिद्ध होने के कारण, 'अन्यदेवाङ्गलावण्यम्' आदि सूक्ति में 'अतिशयोक्ति' लक्षण सर्वथा घटित हो रहा है)। यही बात 'प्रागेव हरिणाक्षीणाम्' आदि सूक्ति में, कार्यकारणभाव के विपर्ययरूप 'अतिशयोक्ति' में भी दिखायी देती है क्योंकि यहां भी बकुलशोभा आदि की 'पूर्वभाविता' (रमणी-हृदय में रत्युद्रेक के पहले खिलनेवाली मौलश्री आदि की सुन्दरता) ही उसकी 'पश्चाद्भाविता' (रमणी-हृदय में रत्युद्रेक के बाद में खिलने वाली मौलश्री आदि की सुन्दरता) के रूप में

नाध्यवसिता, अत एवात्रापीवशब्दयोगे उत्प्रेक्षा, एवमन्यत्र।

अध्यवसित दिखायी दे रही है और वस्तुतः इसीलिये यहाँ भी 'एव' के बदले 'इव' कर देने से, अध्यवसाय की साध्यता में 'उत्प्रेक्षा' दिखायी पड़ने लगती है (जिससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'एव' के रहने से, अध्यवसाय की सिद्धता के कारण, यहाँ अतिशयोक्ति का लक्षण सर्वथा लागू हो रहा है)। (इसी प्रकार सम्बन्ध में असम्बन्ध और असम्बन्ध में सम्बन्धरूप की अतिशयोक्तिओं में भी अध्यवसाय की सिद्धता स्पष्ट है जिसके अभाव में अर्थात् अध्यवसाय की साध्यता में 'उत्प्रेक्षा' की रूपरेखा सिद्ध हो जाती है। निष्कर्ष यही है कि 'अलङ्कारसर्वस्व' आदि की यह मान्यता कि 'दो धर्मों–एक वास्तविक और दूसरे कविसमर्पित–के ही अध्यवसाय में 'अतिशयोक्ति' संभव है, न कि दो धर्मिओं के अध्यवसाय में' ठीक नहीं जँचती)।

विमर्श—(क) एक धर्म का दूसरे धर्म के रूप में 'अध्यवसाय' अतिशयोक्ति है या एक धर्मी का दूसरे धर्मी के रूप में 'अध्यवसाय'—इस समस्या के सम्बन्ध में अलङ्कारसर्वस्वकार का मत यह है—

'एषु पञ्चसु भेदेषु भेदेऽभेदादिवचनं लोकातिक्रान्तगोचरम्। अत्र चातिशयाख्यं यत् फलं प्रयोजकत्वान्निमित्तं तत्राऽभेदाध्यवसायः। तथा हि—'कमलमनम्भसि' इत्यादौ वदनादीनां कमलाद्यैर्भेदेऽपि वास्तवं सौन्दर्यं कविसमर्पितेन सौन्दर्येणाभेदेनाध्यवसितं, भेदेऽभेदवचनस्य निमित्तम्। तत्र च सिद्धोऽध्यवसाय इत्यध्यवसितप्राधान्यम्। न तु वदनादीनां कमलादिभिरभेदाध्यवसायो योजनीयः। अभेदे भेद इत्यादिषु प्रकारेष्वव्याप्तेः। तत्र हि 'अण्णं लडहत्तणअं' इत्यादौ सातिशयं लडहत्वं निमित्तभूतमभेदेनाध्यवसितम्। एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ ८८)

अर्थात् 'अतिशयोक्ति' में 'कमल' आदि धर्मी के रूप में 'वदन' आदि धर्मी का अध्यवसाय विवक्षित नहीं अपितु कविसमर्पित सौन्दर्य के रूप से वास्तव सौन्दर्य का अध्यवसाय अपेक्षित है। किन्तु 'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी' कार ने 'धर्म' और 'धर्मी' दोनों के अध्यवसाय में अतिशयोक्ति का औचित्य माना है—

'यावता ह्यध्यवसितप्राधान्यमस्या लक्षणम्। तच्च धर्मिणामस्तु धर्माणां वेति को विशेषो येनाऽव्याप्तिः स्यात्। प्रत्युत धर्मयोरभेदाध्यवसायाभ्युपगमे उपमादीनामप्यतिशयोक्तिप्रसङ्गः स्यात्। तत्रापि धर्माणामेव भेदेऽभेदविवक्षणात्।'

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी : पृष्ठ ८८)

(ख) 'अतिशयोक्ति' को अलङ्कारों का 'परायण' अथवा 'आश्रय' कहा गया है। वेदों की ऋचाओं में भी इस अलङ्कारसौन्दर्य का दर्शन होता है। यह ऋचा—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥'

अतिशय के चमत्कार से पूर्ण है। इसी प्रकार स्मृतिओं में 'अतिशयोक्ति' पायी जाती है। भगवद्गीता-स्मृति की यह सूक्ति—

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥'

अतिशयोक्ति का एक सुन्दर उदाहरण है।

(१४—तुल्ययोगिता)

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ॥ ४७ ॥
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ।

अन्येषामप्रस्तुतानाम् । धर्मो गुणक्रियारूपः ।

उदाहरणम्—

(दो प्रस्तुत पदार्थों में एक क्रियारूप धर्म के योग में 'तुल्ययोगिता')

'अनुलेपनानि कुसुमान्यबलाः
कृतमन्यवः पतिषु दीपदशाः ।
समयेन तेन सुचिरं शयित-
प्रतिबोधितस्मरमबोधिषत ॥'

अत्र सन्ध्यावर्णनस्य प्रस्तुतत्वात्प्रस्तुतानामनुलेपनादीनामेकबोधनक्रिया-भिसम्बन्धः ।

(दो अप्रस्तुत पदार्थों में एक गुणरूप धर्म के योग में 'तुल्ययोगिता'

'तदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते ।
मालतीशशभृल्लेखाकदलीनां कठोरता ॥'

इत्यत्र मालत्यादीनामप्रस्तुतानां कठोरतारूपैकगुणसम्बन्धः ।

अनुवाद—'तुल्ययोगिता' वह अलङ्कार है जिसे केवल प्रस्तुत (प्रकरणप्राप्त) पदार्थों अथवा अप्रस्तुत पदार्थों का एक धर्म से अभिसम्बन्ध कहा गया है ।

यहाँ कारिका में 'अन्येषाम्' का अभिप्राय 'अप्रस्तुत' अथवा 'अप्राकरणिक' पदार्थों का अभिप्राय है और 'धर्म' से गुण अथवा क्रियारूप धर्म अभिप्रेत है । उदाहरण के लिये—

'संध्याकाल ने, चन्दनादि के अङ्गरागों, फूलों, पतियों पर मान-कोप करने वाली अबलाओं और दीपकों की वत्तियों को इस प्रकार प्रतिबोधित किया जिसमें बहुत देर तक सोया हुआ काम जग उठा ।'

'यहाँ, इस शिशुपालवध-सूक्ति में, यह स्पष्ट है कि सन्ध्यावर्णन के प्रसङ्ग में, जितने भी प्रस्तुत अथवा प्राकरणिक 'अनुलेपन' आदि हैं, उन सब में, एक ही 'प्रतिबोधन' रूप क्रिया सम्बद्ध दिखाई दे रही है ।

[तात्पर्य यह है कि यद्यपि अनुलेपन, पुष्प, मानवती अवलाओं और दीपशिखाओं के 'अवबोधन' में—स्वरूप-भेद अवश्य है क्योंकि अनुलेपनों का 'बोध' उनका 'स्मरण', पुष्पों का 'बोध' उनका विकास, मानवती अबलाओं का 'बोध' उनके लिये मान छोड़ने की शिक्षा और दीपशिखाओं का 'बोध' उनका प्रज्वलित होना है किन्तु तब भी, धातु की एकरूपता में, क्रियाओं की एकरूपता की कल्पना से, इन प्राकरणिक पदार्थों का एकक्रियारूप धर्म से सम्बन्ध स्पष्ट है जिसमें 'तुल्ययोगिता' की शोभा झलक रही है ।]

इसी प्रकार—

'उस सुन्दरी के अङ्गों की सुकुमारता के दर्शन से कौन ऐसे लोग हैं जिनके मन में यह ध्यान नहीं आता कि मालती के पुष्प, चन्द्रमा की कला और कदली के किसलय कठोरता से भरे हैं ।'

यहाँ 'तुल्ययोगिता' इसलिये स्पष्ट है क्योंकि वर्ण्य नायिका के प्रसङ्ग में, जितने

एवम्—

'दानं वित्तादृतं वाचः कीर्त्तिधर्मौ तथायुषः ।
परोपकरणं कायादसारात्सारमाहरेत् ॥'

अत्र दानादीनां कर्मभूतानां सारतारूपैकगुणसम्बन्ध एकाहरणक्रियासम्बन्धः ।

भी मालती आदि अप्रस्तुत पदार्थ उपनिबद्ध हैं, उन सब में 'कठोरता' का गुणरूप धर्म सर्वथा सम्बद्ध प्रतीत हो रहा है ।

इसी प्रकार गुण और क्रिया रूप द्विविध धर्म के एकत्र अभिसम्बन्ध में भी 'तुल्ययोगिता' ही हुआ करती है जैसे कि निम्न सूक्ति अर्थात्—

'बुद्धिमान् लोगों के लिये यह आवश्यक है कि वे धन से दान, वाणी से सत्य, जीवन से यश और धर्म तथा शरीर से परोपकार—इस प्रकार, असार से सार का ग्रहण किया करें ।'

में ही । यहाँ 'आहरण' की क्रिया के कर्मरूप से उपनिबद्ध दान, ऋत, कीर्ति, धर्म और परोपकार रूप पदार्थों के साथ 'सारता' रूप गुण का सम्बन्ध और साथ ही साथ 'आहरण' के क्रियारूप धर्म का भी सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत हो रहा है ।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार ने 'तुल्ययोगिता' के निरूपण में यह स्पष्ट नहीं किया कि यहाँ 'औपम्य' अभिव्यङ्ग्य रहा करता है या नहीं । 'अलङ्कारसर्वस्व'कार के अनुसार 'तुल्ययोगिता' में औपम्य अथवा उपमानोपमेयभाव की अभिव्यङ्ग्यता आवश्यक है—

'औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा समानधर्माभिसम्बन्धे तुल्ययोगिता । इवाद्यप्रयोगे ह्यौपम्यस्य गम्यत्वम् ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ ८९)

अर्थात् 'तुल्ययोगिता' उन अलङ्कारों में से है जो कि 'गम्यमानौपम्याश्रय' हुआ करते हैं अर्थात् उपमानोपमेयभाव की अभिव्यञ्जना किया करते हैं । इस अलङ्कार में प्रस्तुत (प्राकरणिक) पदार्थों अथवा अप्रस्तुत (अप्राकरणिक) पदार्थों में गुणरूप अथवा क्रियारूप धर्म का योग 'पदार्थगत' रूप से प्रतीत हुआ करता है और इसलिये इसे 'वाक्यार्थगत'रूप से औपम्य की अभिव्यञ्जना रखने वाली 'प्रतिवस्तूपमा' से पृथक् किया जा सकता है ।

(ख) यद्यपि साहित्यदर्पणकार ने तुल्ययोगिता के भेद-चतुष्टय का निर्देश नहीं किया किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसके चारों भेद साहित्यदर्पणकार को मान्य हैं । 'विमर्शिनी'कार आचार्य जयरथ ने 'तुल्ययोगिता' के चार भेदों का निर्देश किया है—

'अनेनैव चास्याः प्रकृतानामप्रकृतानां च गुणक्रियात्मकधर्मयोगाद् द्वैविध्येन चतुष्प्रकारत्वमप्युक्तम्' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी—पृष्ठ ९०) ।

(ग) 'तुल्ययोगिता' की व्युत्पत्ति यह है —

'तुल्यधर्मेण योगो (सम्बन्धो) जातोऽस्यामिति अन्वर्थनामा तुल्ययोगिता' (एकावली, पृष्ठ २३९) । इस व्युत्पत्ति से ही 'तुल्ययोगिता' का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है ।

(घ) 'औपम्य, की अभिव्यञ्जना में 'तुल्ययोगिता' के निदर्शन के लिये ये सूक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

(१) 'शम्भोर्नखरश्मिभिः प्रणमतश्चूडामणित्वे स्थिता
गङ्गा चन्द्रकला च सर्वजगतां वन्द्यत्वमापादिता ।
युक्तायाः परतापदावविपदः कन्या पितॄणामसौ
दूरीकार्यहिमालया कथमुमापादद्वयी प्राप्यते ॥'

यहाँ पार्वती की पादद्वयी के वर्णन-प्रसङ्ग में, गङ्गा और चन्द्रकलारूप अप्रकृत पदार्थों में

(१५—दीपकालङ्कार)

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते ॥ ४८ ॥
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'बलावलेपादधुनापि पूर्ववत्
प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।
सतीव योषित्प्रकृतिः सुनिश्चला
पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥'

अत्र प्रस्तुतायाः सुनिश्चलायाः प्रकृतेरप्रस्तुतायाश्च योषित एकानुगमनक्रिया-सम्बन्धः ।

'दूरं समागतवति त्वयि जीवनाथे
भिन्ना मनोभवशरेण तपस्विनी सा ।
उत्तिष्ठति स्वपिति वासगृहं त्वदीय-
मायाति याति हसति श्वसिति क्षणेन ॥'

इदं मम । अत्रैकस्या नायिकाया उत्थानाद्यनेकक्रियासम्बन्धः । अत्र च गुणक्रिययोरादिमध्यावसानसद्भावेन त्रैविध्यं न लक्षितम्, तथाविधवैचित्र्यस्य सर्वत्रापि सहस्रधासम्भवात् ।

'आपादन' की क्रिया का सम्बन्ध स्पष्ट है एवं गङ्गा और चन्द्रकला में 'वन्द्यत्व' आदिरूप औपम्य भी झलक रहा है ।

अनुवाद—'दीपक' वह अलङ्कार है जिसे प्रस्तुत (प्राकरणिक) और अप्रस्तुत (अप्राकरणिक) में एक धर्म का अभिसंबन्ध कहा जाया करता है। साथ ही साथ अनेक क्रियाओं के साथ एक कारक का सम्बन्ध भी 'दीपक' ही है।

'दीपक' के क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'महापराक्रमी शिशुपाल, अपने बल के घमण्ड से, आज भी (इस जन्म में भी) संसार को पीडित कर रहा है। ठीक ही है क्योंकि सती स्त्री की भाँति मानव-प्रकृति भी, जन्म-जन्मान्तर में मनुष्य का साथ दिया करती है।'

यहाँ, 'शिशुपालवध' की इस सूक्ति में, स्थिर मानव प्रकृति 'प्रस्तुत' और 'प्राकरणिक' है और सती स्त्री 'अप्रस्तुत' अथवा 'अप्राकरणिक', और इन दोनों में 'अनुगमन' रूप क्रिया का धर्म समान भाव से सम्बद्ध निर्दिष्ट किया हुआ है।

'तुम्हारे सरीखे प्रियतम के दूर चले जाने पर, काम के बाणों से विद्ध, वह बेचारी कभी उठती है, कभी लेटती है, कभी तुम्हारे निवासस्थान पर जाती है, कभी तुम्हारे निवासस्थान से लौटती है, कभी हँसती है और कभी-कभी आह भरा करती है।'

'यहाँ, इस स्वरचित सूक्ति में, एक नायिका का उत्थान-शयन आदि अनेक क्रियाओं से संबन्ध वर्णित है।

प्राचीन आलङ्कारिकों ने गुण अथवा क्रियारूप धर्म के आदि, मध्य और अन्त में उपनिबद्ध किये जाने के कारण, 'दीपक' को, आदि, मध्य किंवा अन्त्य दीपक के रूप में

तीन प्रकार का मान रखा है। किन्तु यह 'त्रैविध्य' यहाँ अनावश्यक समझा गया है क्योंकि इस प्रकार का वैचित्र्य अन्य अलङ्कारों में भी सम्भव है और सहस्रों प्रकार से सम्भव है (जिससे केवल 'दीपक' में इसका उल्लेख निरर्थक है)।

विमर्श—(क) कतिपय काव्याचार्य, जैसे कि आचार्य उद्भट आदि, 'दीपक' में भी 'औपम्य' की अभिव्यङ्ग्यता आवश्यक मानते हैं। साहित्यदर्पणकार इसके विरुद्ध नहीं किन्तु स्पष्टतया समर्थक भी नहीं प्रतीत होते। 'अनेक क्रियाओं से एक कारक के अभिसंबन्ध में दीपक की मान्यता इस बात का प्रमाण है कि साहित्यदर्पणकार को यहाँ 'औपम्य' की अभिव्यञ्जना अनिवार्य नहीं प्रतीत हुई।

(ख) 'दीपक' पद की निरुक्ति यह है—

'प्राकरणिकाप्राकरणिकयोर्मध्यादेकत्र निर्दिष्टः समानो धर्मः प्रसङ्गेनान्यत्रोपकाराद् दीपनाद् दीपसादृश्येन दीपकाख्यालङ्कारोत्थापकः।' (अलङ्कारसर्वस्व पृ० ७२)

अर्थात् 'दीपक' को इसलिये 'दीपक' कहते हैं क्योंकि इसमें प्राकरणिक अथवा अप्राकरणिक के बीच, कहीं भी, एक के साथ, निर्दिष्ट धर्म दूसरे के साथ, उसी प्रकार समवेत हो जाया करता है जिस प्रकार एक स्थान पर रखा दीपक, उस स्थान के साथ-साथ अन्य स्थान को भी प्रकाशित किया करता है।

रसगङ्गाधरकार ने 'दीपक' का तात्पर्य इस प्रकार बताया है—

प्रकृतानामप्रकृतानाञ्चैकधर्माभिसम्बन्धो दीपकम्।······प्रकृतार्थमुपात्तो धर्मः प्रसङ्गादप्रकृतमपि दीपयति प्रकाशयति सुन्दरीकरोतीति दीपकम्। यद्वा दीप इव दीपकम्, संज्ञायां कन्। दीपस,दृश्यञ्च-प्रकृताप्रकृतप्रकाशकत्वेन बोध्यम्।'

(रसगङ्गाधर : दीपकप्रकरण)

(ग) आचार्य भामह की 'दीपक' परिभाषा यह थी—

'आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते। एकस्यैव व्यवस्थत्वादिति तद्भिद्यते त्रिधा॥
अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात्। त्रिभिर्निदर्शनञ्चेदं त्रिधा निर्दिश्यते यथा॥'

(काव्यालङ्कार : २. २५, २६)

जिसे आचार्य उद्भट ने इस प्रकार स्पष्ट किया—

'आदिमध्यान्तविषयाः प्राधान्येतरयोगिनः। अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद्दीपकं विदुः॥'

इन त्रिविध दीपकों में 'आदिदीपक' का उदाहरण यह है—

'श्यामलाः प्रावृषेण्याभिर्दिशो जीमूतपङ्क्तिभिः। भुवश्च सुकुमाराभिर्नवशाद्वलराजिभिः॥'

यहाँ 'श्यामलता' का धर्म आरम्भ में ही निर्दिष्ट है।

'मध्यदीपक' के निदर्शन के लिये निम्न सूक्ति पर्याप्त है—

'मालिनीरंशुकभृतः स्त्रियोऽलङ्कुरुते मधुः। हारीतशुकवाचश्च भूधराणामुपत्यकाः॥'

यहाँ 'अलङ्कृत' किये जाने का धर्म मध्य में उपात्त है।

'अन्त्यदीपक' का दृष्टान्त यह है—

'तदानीं स्फीतलावण्यचन्द्रिकाभरनिर्भरः। कान्ताननेन्दुरिन्दुश्च कस्य नानन्दकोऽभवत्॥'

यहाँ 'आनन्दकत्व' का धर्म अन्त में प्रतिपादित है।

साहित्यदर्पणकार ने उपर्युक्त 'दीपक'-मान्यता का ही खण्डन किया है जो कि युक्तियुक्त है क्योंकि 'दीपक' की वास्तविक रूपरेखा प्रकृत और अप्रकृत के एकधर्माभिसम्बन्ध में ही बनती है। धर्म का आदि, मध्य और अन्त में निर्देश तो दीपक के सहस्रों बन्ध-वैचित्र्यों में से एक वैचित्र्य-मात्र है न कि उसकी विभाजक उपाधि।

(१६—प्रतिवस्तूपमा)

प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः ॥ ४९ ॥
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ।

यथा—

'धन्यासि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥'

अत्र समाकर्षणमुत्तरलीकरणं च क्रियैकैव पौनरुक्त्यनिरासाय भिन्नवाचकतया निर्दिष्टा ।

इयञ्च मालयाऽपि दृश्यते यथा—

'विमल एव रविर्विशदः शशी प्रकृतिशोभन एव हि दर्पणः ।
शिवगिरिः शिवहाससहोदरः सहजसुन्दर एव हि सज्जनः ॥'

(घ) 'तुल्ययोगिता' से 'दीपक' का भेद इसलिये स्पष्ट है क्योंकि जहाँ 'तुल्ययोगिता' में केवल प्रस्तुत अथवा केवल अप्रस्तुत पदार्थों में एकधर्माभिसम्बन्ध अपेक्षित है वहाँ 'दीपक' में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का एकधर्माभिसम्बन्ध अभिप्रेत है। रसगङ्गाधरकार 'दीपक' को पृथक् अलङ्कार न मानकर, 'तुल्ययोगिता' का ही एक प्रकार-वैचित्र्य मानने के समर्थक हैं—

'तुल्ययोगितातो दीपकं न पृथग्भावमर्हति । धर्मसकृद्वृत्तिमूलाया विच्छित्तेरविशेषात् । विच्छित्तिवैलक्षण्यस्यैवालङ्कारविभागहेतुत्वात् । न च धर्मस्य सकृद्वृत्तेरविशेषेऽपि धर्मिणां प्रकृतत्वाप्रकृतत्वाभ्यां प्रकृताप्रकृतकत्वेन च तुल्ययोगिताया दीपकस्य विशेष इति वाच्यम्......सर्वेषामप्यलङ्काराणां प्रभेदवैलक्षण्याद्वैलक्षण्यापत्तेश्च।......तस्मात्तुल्ययोगितायाया एव त्रैविध्यमुचितम् । प्रकृतानामेव धर्मस्य सकृद्वृत्तिः, अप्रकृतानामेव, प्रकृताप्रकृतानां चेति ।' (रसगङ्गाधर ३२६-३२७)

अनुवाद—'प्रतिवस्तूपमा' वह अलङ्कार है जिसे सादृश्य की अभिव्यञ्जना से भरे दो वाक्यार्थों में, पृथक्-पृथक् शब्दों द्वारा, एक साधारण धर्म का निर्देश माना जाया करता है। जैसे कि—

हे विदर्भकुमारी दमयन्ती ! तुम सचमुच ही धन्य हो क्योंकि तुम्हीं ऐसी हो, जिसने 'अपने महनीय गुणों से, महाराज नल का हृदय आकृष्ट कर रखा है। भला, इससे बढ़ कर चन्द्रिका की क्या स्तुति कि वह समुद्र को भी, अपनी ओर, चञ्चल बना दिया करती है।'

यहां ('नैषधीयचरित'की इस सूक्ति में) 'प्रतिवस्तूपमा' स्पष्ट है क्योंकि 'समाकर्षण' (आकृष्ट करने) और 'उत्तरलीकरण' (चञ्चल बनाने) की एक रूपवाली क्रिया ही, पुनरुक्ति-दोष के निराकरण के लिये, भिन्न-भिन्न वाचक शब्दों द्वारा निर्दिष्ट की गयी है।

प्रतिवस्तूपमा का 'माला'रूप भी काव्यसाहित्य में दिखायी पड़ा करता है। इस सूक्ति में 'माला प्रतिवस्तूपमा' देखिये—

'सूर्य स्वभाव से ही विमल है, चन्द्रमा स्वभाव से ही विशद है, दर्पण स्वभावतः ही सुन्दर हुआ करता है, कैलास स्वभावतः ही महादेव के अट्टहास की भाँति शुभ्र है और सज्जन पुरुष भी स्वभाव से ही सुन्दर हुआ करते हैं।

अत्र विमलविशदादिरर्थत एक एव।

वैधर्म्येण यथा—

'चकोर्य एव चतुराश्चन्द्रिकापानकर्मणि।
विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि॥'

(१७—दृष्टान्त)

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् ॥ ५० ॥

सधर्मस्येति प्रतिवस्तूपमाव्यवच्छेदः। अयमपि साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्विधा। क्रमेणोदाहरणम्—

'अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला॥'

यहाँ भी 'कथितपदता' रूप दोष के निवारण के लिये, एक ही 'स्वच्छता' का धर्म विमल, विशद आदि आदि भिन्न-भिन्न वाचक पदों द्वारा प्रतिपादित किया हुआ है। जिसमें 'माला-प्रतिवस्तूपमा' का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है।

यह 'प्रतिवस्तूपमा' साधर्म्य की भांति वैधर्म्य में भी हुआ करती है, जैसे कि—

'चन्द्रिका के पान में चकोरियाँ ही चतुर हैं। तभी तो अवन्ती की रमणिओं को छोड़ कर और रमणियाँ रतिक्रीड़ा में निपुण नहीं पायी जातीं।'

[यहां 'चतुरता' और 'निपुणता' का एकरूप ही धर्म, पृथक्-पृथक् पदों द्वारा निर्दिष्ट है और 'चकोरिओं' तथा 'अवन्ती की नारिओं' में साम्य भी अभिव्यङ्ग्य है। 'वैधर्म्य' में प्रतिवस्तूपमा यहां इसलिये है क्योंकि आपाततः 'नैपुण्य', निषेधार्थक नञ् के योग के, 'चातुर्य' से विलक्षण सा लग रहा है।]

विमर्श—'प्रतिवस्तूपमा' की निरुक्ति यह है—

प्रतिवस्तुप्रतिवाक्यार्थमुपमा समानधर्मोऽस्यामिति (प्रतिवस्तूपमा)'।

तात्पर्य यह है कि 'वस्तु' शब्द वाक्यार्थ का अभिप्राय रखता है और इस प्रकार प्रत्येक वाक्यार्थ में समान धर्म के अभिसंबन्ध के कारण 'प्रतिवस्तूपमा' की रूपरेखा निष्पन्न होती है। रसगङ्गाधरकार ने इसीलिये 'प्रतिवस्तूपमा' का यह लक्षण किया है—

'वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नसाधारणधर्मकवाक्यार्थयोरार्थमौपम्यं प्रतिवस्तूपमा।'

अनुवाद—'दृष्टान्त' वह अलङ्कार है जिसे समान धर्म से युक्त उपमान और उपमेय रूप वाक्यार्थों (अथवा प्रकृत और अप्रकृतरूप धर्मिद्वय में) बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव की झलक कहा करते हैं।

यहां कारिका में 'सधर्मस्य' पद का उपादान इसलिये है जिसमें 'प्रतिवस्तूपमा' से 'दृष्टान्त' को पृथक् किया जा सके ('प्रतिवस्तूपमा' में साधारण धर्म में बिम्बप्रतिबिम्बभाव अपेक्षित नहीं अपितु धर्मिद्वय में बिम्बप्रतिबिम्बभाव अपेक्षित हुआ करता है और 'दृष्टान्त' में, धर्मसहित धर्मिद्वय में प्रतिबिम्बन अथवा बिम्बप्रतिबिम्बभाव की झलक आवश्यक है)।

'दृष्टान्त' भी, साधर्म्य और वैधर्म्य के कारण, दो प्रकार का हुआ करता है। जैसे कि 'साधर्म्य' में दृष्टान्त—

'किसी अच्छे कवि की सूक्ति, चाहे उसके गुण की परख हुई हो या न हुई हो, सुनने वाले के कानों में मधुधार बरसाया करती है। और यह ठीक भी है क्योंकि मालती की

'त्वयि दृष्टे कुरङ्गाक्ष्याः स्रंसते मदनव्यथा ।
दृष्टानुदयभाजीन्दौ ग्लानिः कुमुदसंहतेः ॥'

'वसन्तलेखैकनिबद्धभावं परासु कान्तासु मनः कुतो नः ।
प्रफुल्लमल्लीमधुलम्पटः किं मधुव्रतः काङ्क्षति वल्लिमन्याम् ॥'

इदं पद्यं मम। अत्र 'मनः कुतो नः' इत्यस्य 'काङ्क्षति वल्लिमन्याम्' इत्यस्य चैकरूपतयैव पर्यवसानात्प्रतिवस्तूपमैव ।

इह तु कर्णे मधुधारावमनस्य नेत्रहरणस्य च साम्यमेव, न त्वैकरूप्यम् । अत्र समर्थ्यसमर्थकवाक्ययोः सामान्यविशेषभावोऽर्थान्तरन्यासः, प्रतिवस्तूपमा-दृष्टान्तयोस्तु न तथेति भेदः ।

माला, चाहे उसकी गन्ध पहचान में आये या न आये, देखने वालों की दृष्टि को अपनी ओर बरबस खींच ही लिया करती है।'

इसी प्रकार 'वैधर्म्य' में दृष्टान्त—

'जब तुम दिखायी पड़ जाते हो तब तो उस मृगनयनी की मदनपीड़ा दूर भाग जाती है क्योंकि कुमुदावली तभी तक दीन-हीन दिखायी पड़ा करती है जब तक चन्द्रमा उदित न हुआ हो।'

अथवा निम्न स्वरचित-सूक्ति में 'दृष्टान्त' (!)

'वसन्तलेखा में लगा हुआ हमारा मन अन्य सुन्दरिओं में क्योंकर रमना चाहे? भला खिली चमेली के मधुरस का लम्पट भौंरा क्या किसी अन्य लता को चाहा करता है।'

यहां 'मनः कुतो नः' (हमारा मन क्योंकर लगे) और 'कांचति वल्लिमन्याम्' (दूसरी लता को चाहे) ये दोनों वाक्य ऐसे हैं जो कि अन्ततोगत्वा एक ही अभिप्राय रखते हैं और 'प्रतिवस्तूपमा' की रूपरेखा बना रहे हैं। इसलिये यहां 'दृष्टान्त' नहीं अपितु 'प्रति-वस्तूपमा' ही मानी जा सकती है। किन्तु 'अविदितगुणापि' आदि सूक्ति में 'कानों में मधुधार की वर्षा' और 'नेत्रों के आकृष्ट करने' के धर्मों में, एकरूपता के बदले, समान-रूपता ही प्रतीत होती है जिससे वहां 'दृष्टान्त' के ही स्वरूप का दर्शन हो सकता है।

यहां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि 'प्रतिवस्तूपमा' और 'दृष्टान्त' में जो प्रकृत और अप्रकृत-विषयक 'समर्थ्य' और 'समर्थक' वाक्यार्थ हुआ करते हैं उनमें सामान्य-विशेषभाव नहीं (अपितु बिम्बप्रतिबिम्बभाव) हुआ करता है। सामान्यविशेषभाव तो 'अर्थान्तरन्यास' में रहा करता है जहां 'समर्थ्य' और 'समर्थक' रूप से अवस्थित दो वाक्यार्थों में, सामान्य और विशेष को सम्बन्ध के माने विना काम नहीं चलता।

विमर्श—(क) 'दृष्टान्त' और 'प्रतिवस्तूपमा' के पारस्परिक भेद के सम्बन्ध में रसगङ्गा-धरकार की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'अस्य चालङ्कारस्य (दृष्टान्तस्य) प्रतिवस्तूपमया भेदकमेतदेव यत्तस्यां धर्मो न प्रतिबिम्बितः, किन्तु शुद्धसामान्यात्मनैव स्थितः। इह तु प्रतिबिम्बितः।'

(रसगङ्गाधर : दृष्टान्तप्रकरण)

अर्थात् 'दृष्टान्त' और 'प्रतिवस्तूपमा' परस्पर भिन्न-भिन्न अलङ्कार हैं 'दृष्टान्त' में तो दोनों वाक्यों के धर्मों का बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव आवश्यक है, किन्तु 'प्रतिवस्तूपमा' के लिये, दोनों वाक्यों में भिन्न पदों द्वारा प्रतिपादित एक साधारण धर्म की ही अपेक्षा है।

(१८—निदर्शनालङ्कार)

सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वाऽपि कुत्रचित् ।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना ॥ ५१ ॥

तत्र सम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना यथा—

'कोऽत्र भूमिवलये जनान् मुधा तापयन् सुचिरमेति सम्पदम् ।
वेदयन्निति दिनेन भानुमानाससाद चरमाचलं ततः ॥'

अत्र रवेरीदृशार्थवेदनक्रियायां वक्तृत्वेनान्वयः सम्भवत्येव । ईदृशार्थज्ञापनसमर्थचरमाचलप्राप्तिरूपधर्मवत्त्वात् । स च रवेरस्ताचलगमनस्य परितापिनां

आचार्य जयरथ के अनुसार 'दृष्टान्त' और 'प्रतिवस्तूपमा' के भेद का अभिप्राय यह भी है—

'यतोऽस्याः प्रकृतार्थस्य विशेषाभिधित्सया सादृश्यार्थमप्रकृतमर्थान्तरमुपादीयते । अत एव चात्र प्रकृताप्रकृतयोरुपमानोपमेयभावः । दृष्टान्ते पुनरेतादृशो वृत्तान्तोऽन्यत्रापि स्थित इति प्रकृतस्यार्थस्याविस्पष्टा प्रतीतिर्मा भूदिति प्रतीतिविशदीकरणार्थमर्थान्तरमुपादीयते । (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २५)

अर्थात् 'प्रतिवस्तूपमा' में अप्रकृत का उपादान, प्रकृत के सम्बन्ध में किसी विशेषता के वर्णन की इच्छा से किया जाया करता है किन्तु 'दृष्टान्त' में अप्रकृत का उपादान इसलिये हुआ करता है जिसमें प्रकृत की विशद प्रतीति हुआ करे ।

(ख) पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार 'दृष्टान्त' और 'प्रतिवस्तूपमा' को भिन्न-भिन्न अलङ्कार मानना अनावश्यक है—

'यदि तु न तेषां दाक्षिण्यं तदैकस्यैवालङ्कारस्य द्वौ भेदौ—प्रतिवस्तूपमा दृष्टान्तश्च । यच्चानयोः किञ्चिद्वैलक्षण्यं तत्प्रभेदताया एव साधकम् , नालङ्कारताया इति सुवचम् ।'
(रसगङ्गाधर : दृष्टान्तप्रकरण)

अर्थात् यदि प्राचीन आलंकारिकों के अलंकार-विभाजन में कोई विशेष चातुर्य नहीं माना जाय तब तो एक अलंकार के ही विभागरूप में 'प्रतिवस्तूपमा' और 'दृष्टान्त' देखे जा सकते हैं न कि भिन्न-भिन्न अलंकारों के रूप में ।

अनुवाद—'निदर्शना' वह अलङ्कार है जिसे सम्भव अथवा असम्भव (उपपन्न अथवा अनुपपन्न) 'वस्तुसम्बन्ध' अर्थात् दो वाक्यार्थों के परस्परान्वय में बिम्बप्रतिबिम्बभाव (सादृश्य) की झलक कहा करते हैं ।

उपपन्न अथवा अबाधित वाक्यार्थों के परस्परान्वय में, बिम्बप्रतिबिम्बभाव की झलक में जो 'निदर्शना' होती है उसे 'सम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना' कहा करते हैं । इसका उदाहरण यह है—

'इस संसार में ऐसा कौन है जो व्यर्थ के लिये लोगों को पीड़ा पहुँचावे और सम्पदाओं का उपभोग करता रहे । वस्तुतः इसी बात को सूचित करते हुए दिन भर के बाद ही सूर्य अस्ताचल की ओर चला जाया करता है ।'

यहाँ 'वस्तुसम्बन्ध' की 'सम्भाव्यता' अथवा उपपत्ति स्पष्ट है । कारण यह है कि यहाँ इस प्रकार के आशय अर्थात् 'इस संसार में दूसरों को दुख देने वाले बहुत दिन तक सुखी नहीं रह सकते' आदि के सूचित करने (वेदन) में 'सूर्य' को जो वक्तारूप से वर्णित किया गया है उसमें कोई अनुपपत्ति नहीं दिखाई देती क्योंकि जब कि 'सूर्य' के लिये

विपत्प्राप्तेश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावं बोधयति । असम्भवद्वस्तुनिदर्शना त्वेकवाक्या-नेकवाक्यगतत्वेन द्विविधा ।

तत्रैकवाक्यगा यथा—

'कलयति कुवलयमालाललितं कुटिलः कटाक्षविक्षेपः ।
अधरः किसलयलीलामाननमस्याः कलानिधेर्विलासम् ॥'

अत्रान्यस्य धर्मं कथमन्यो वहत्विति कटाक्षविक्षेपादीनां कुवलयमालादि-गतललितादीनां कलनमसम्भवात्तल्ललितादिसदृशं ललितादिकमवगमयत्कटाक्ष-विक्षेपादेः कुवलयमालादेश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावं बोधयति ।

यथा वा—

'प्रयाणे तव राजेन्द्र ! मुक्ता वैरिमृगीदृशाम् ।
राजहंसगतिः पद्भ्यामाननेन शशिद्युतिः ॥'

'अस्ताचल की ओर चल पड़ने' के सामर्थ्य का निर्देश किया हुआ है तब तो इस प्रकार के अभिप्राय के 'वेदन' में भी उस (सूर्य) का सामर्थ्य युक्तियुक्त ही है । यहाँ, इस प्रकार, सूर्य का, वक्तृत्व-क्रिया से, यह सम्बन्ध, अन्ततोगत्वा, 'सूर्य के अस्ताचल की ओर चले जाने' और 'अत्याचारी लोगों के विपत्ति में पड़ने'—इन दोनों वाक्यार्थों में, बिम्बप्रति-बिम्बभाव (सादृश्य) की स्थापना करता प्रतीत हो रहा है ।

इसके अतिरिक्त ऐसी 'निदर्शना' जो कि ऐसे वाक्यार्थों के परस्परान्वय में होनेवाले 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' में रहा करती है जो अनुपपन्न अथवा बाधित प्रतीत हुआ करते हैं, वह है जिसे 'असंभवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना' कहा करते हैं। 'असंभवद्वस्तुसंबन्धनिदर्शना' भी दो प्रकार की है—पहली एकवाक्यगा (एक वाक्य में ही होनेवाली) और दूसरी अनेकवाक्यगा (एक से अधिक वाक्यों में होने वाली) । इसके 'एकवाक्यगा' रूप का निदर्शन यह सूक्ति है—

'इस सुन्दरी के कुटिल कटाक्ष नीलकमलों की माला के विलास अपनाये हुये हैं, इसका अधरोष्ठ ऐसा है जो कोमल पल्लव की लीला धारण किया करता है और इसका मुख तो चन्द्रमा के विभ्रमविलास से पूर्ण है ही ।'

यहाँ 'वस्तुसम्बन्ध' की अनुपपत्ति इसीसे स्पष्ट है कि यहाँ यह प्रतिपादित किया हुआ है कि 'एक का धर्म दूसरे में संक्रान्त हो रहा है' । जब कि 'एक का धर्म दूसरे में नहीं संक्रान्त हो सकता' तब यह निश्चित है कि 'कटाक्षविक्षेप' आदि कुवलयमाला आदि के धर्मरूप से अवस्थित 'विलास आदि' का धारण नहीं कर सकते । इसलिये यहां जो तात्पर्य प्रकाशित हो रहा है वह यह है कि 'कटाक्षविक्षेप आदि कुवलयमाला आदि के विलास आदि के समान विलास का धारण कर रहे हैं' और यह तात्पर्य वस्तुतः 'कटाक्षविक्षेप आदि' और 'कुवलयमाला आदि' में 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' अथवा सादृश्य की ही झलक, अन्ततोगत्वा, दिखला रहा है (यहां एक वाक्य में ही दो धर्मिओं का सादृश्य-निदर्शन है जिससे यहां 'एकवाक्यगा' असंभवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना का स्वरूप दिखायी दे रहा है) ।

अथवा, इस सूक्ति में 'एकवाक्यगा' असंभवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना देखिये—

'महाराज ! जब आप शत्रुओं पर विजययात्रा के लिये चल पड़े तब उनकी मृगनयनी सुन्दरिओं के चरणों ने राजहंसों की चाल छोड़ दी और उनके मुखों ने चन्द्रमा की कान्ति से हाथ धो लिया ।'

अत्र पादाभ्यामसम्बद्धराजहंसगतेस्त्यागोऽनुपपन्न इति तयोस्तत्सम्बन्धः कल्प्यते, स चासम्भवन् राजहंसगतिमिव गतिं बोधयति ।

अनेकवाक्यगा यथा—

'इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्लमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥'

अत्र यच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यार्थयोरभेदेनान्वयोऽनुपपद्यमानस्तादृशवपुषस्तपःक्लमत्वसाधनेच्छा नीलोत्पलपत्रधारया शमीलताच्छेदनेच्छेवेति बिम्बप्रतिबिम्बभावे पर्यवस्यति ।

यथा—

'जन्मेदं वन्ध्यतां नीतं भवभोगोपलिप्सया ।
काचमूल्येन विक्रीतो हन्त ! चिन्तामणिर्मया ॥'

अत्र भवभोगलोभेन जन्मनो व्यर्थतानयनं काचमूल्येन चिन्तामणिविक्रय इवेति पर्यवसानम् ।

यहाँ वर्ण्य शत्रुनारिओं के चरणों के लिये राजहंसों की चाल के छोड़ने की बात अनुपपन्न सी लगती है । यहाँ 'नारीचरण' और 'राजहंसगति के त्याग' में (धर्मधर्मिभावरूप) संबन्ध की कल्पना आवश्यक हो जाती है। यह सम्बन्ध तभी उपपन्न होता है जब शत्रुनारिओं की चाल और राजहंसों की चाल में 'सादृश्य' प्रकाशित होने लगता है जिससे यह प्रतीत होता है कि यहां शत्रुनारिओं के चरण राजहंसों की चाल के समान चाल का परित्याग करते वर्णित किये जा रहे हैं ।

इसी प्रकार 'अनेकवाक्यगा' असंभवद्वस्तुसंबन्धनिदर्शना का उदाहरण (महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल की) यह सूक्ति है—

'अरे ! इस निसर्गसुन्दर (शकुन्तला के) शरीर को, जिस ऋषि ने तपस्या के कष्टों के सहन करने में समर्थ बनाना ठान लिया है उसने सचमुच, नीलकमल के किसलय की कोर से शमीवृक्ष के काटने का निश्चय कर लिया है ।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'तपस्या के कष्टों के सहन करने में समर्थ बनाने' और 'शमीवृक्ष के काटने'—इन दोनों वाक्यार्थों में, जोकि 'यः' और 'सः' पदों से सम्बद्ध रूप से रचे गये हैं, परस्पर अभेदरूप से अन्वय अनुपपन्न है किन्तु अन्ततोगत्वा इनमें इस प्रकार के 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' (सादृश्य) का दर्शन हो जाता है कि 'कोमलाङ्गी शकुन्तला के शरीर को तपःसाधन में समर्थ बनाने की इच्छा' ऐसी है जो कि 'नीलोत्पलपत्र की धार से शमीवृक्ष के काटने की इच्छा' के समान है । इस प्रकार इन दोनों वाक्यार्थों का अन्वय संगत बन जाता है ।

अथवा दूसरे निदर्शन के लिये यह सूक्ति देखिये—

'संसार के सुखों की भोगलिप्सा से मेरा सारा जीवन व्यर्थ बीत गया। ओह ! मैंने तो चिन्तामणि को काच के मोल बेच डाला ।'

यहाँ भी इन दोनों वाक्यार्थों का अनुपपन्न संबन्ध अन्त में इनके इस 'बिम्बप्रतिबिम्ब' भाव में विश्रान्त हो रहा है कि 'भवभोग की लिप्सा से जीवन का व्यर्थयापन, वस्तुतः, काच के मूल्य में चिन्तामणि के विक्रय के समान है' ।

एवम्—

'क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥'

अत्र मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनमुडुपेन सागरतरणमिवेति पर्यवसानम्।

इयं च क्वचिदुपमेयवृत्तस्योपमानेऽसम्भवेऽपि भवति।

यथा—

'योऽनुभूतः कुरङ्गाक्ष्यास्तस्या मधुरिमाधरे।
समास्वादि स मृद्वीकारसे रसविशारदैः ॥'

अत्र प्रकृतस्याधरस्य मधुरिमधर्मस्य द्राक्षारसेऽसम्भवात्पूर्ववत्साम्ये पर्यवसानम्।

मालारूपाऽपि यथा मम—

'क्षिपसि शुकं वृषदंशकवदने मृगमर्पयसि मृगादनरदने।
वितरसि तुरगं महिषविषाणे निदधच्चेतो भोगविताने ॥'

इह बिम्बप्रतिबिम्बताक्षेपं विना वाक्यार्थापर्यवसानम्। दृष्टान्ते तु पर्यव-

---

इसी भाँति (महाकवि कालिदास के रघुवंश की) यह सूक्ति भी इस निदर्शना प्रकार का ही उदाहरण है—

'कहाँ तो सूर्यवंशका वर्णन! और कहाँ मेरी अल्पज्ञ बुद्धि! ऐसा लगता है जैसे मैं अज्ञानवश उडुप (तमेड़ या डोंगी) के सहारे अपार पारावार को पार करने चल पड़ा होऊँ।'

यहाँ भी दोनों वाक्यार्थों अर्थात् 'अल्प बुद्धि से सूर्यवंश के वर्णन' और 'उडुप से सागर के संतरण' में संबन्ध अनुपपन्न है किन्तु अन्त में इनकी इस 'सादृश्य' में विश्रान्ति हो जाती है कि 'मेरी अल्प बुद्धि से सूर्यवंश का वर्णन हो सकना ऐसा ही है जैसा कि उडुप से सागर के पार पहुँच सकना'।

यह निदर्शना वहाँ भी दिखायी देती है जहाँ 'उपमेय'-संबन्धी व्यवहार 'उपमान' में असंभव सा प्रतीत होता है। जैसे कि यहाँ—

'उस मृगनयनी के अधर में मुझे जिस मधुरता का आस्वाद मिला उसे रसज्ञजन मृद्वीका रस (अंगूर) में ही पा सके।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि वर्ण्य नायिका-अधर की मधुरता द्राक्षारस में असंभव है किन्तु अन्त में यह भी स्पष्ट है कि वर्ण्य नायिका-अधर की मधुरता द्राक्षारस की मधुरता के समान प्रतिपादित की जा रही है।

यह 'निदर्शना' मालारूप में भी पायी जाया करती है। जैसे कि मेरी इस स्वरचित सूक्ति में जो 'निदर्शना' है वह 'माला' निदर्शना है—

'अरे तुम जो अपने मन को सांसारिक भोग-विलास में रमा रहे हो, याद रक्खो, तोते को बिलाव के मुँह में फेंक रहे हो, हिरन को बघेरे के जबड़ों में डाल रहे हो और घोड़े को भैंसे की सींगों पर रख रहे हो।'

यहां यह स्पष्ट है कि 'विषयभोग में मन के रमाने' और 'तोते को बिलाव के मुँह में फेंकने आदि' में, जब तक, 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' (सादृश्य) की स्थापना न हो जाय तब तक वाक्यार्थ में विश्रान्ति नहीं आ सकती। यहां वाक्यार्थ 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' में

सितेन वाक्यार्थेन सामर्थ्याद्बिम्बप्रतिबिम्बताप्रत्यायनम्। नापीयमर्थापत्तिः, तत्र 'हारोऽयं हरिणाक्षीणाम्—' इत्यादौ सादृश्यपर्यवसानाभावात्।

(१९—व्यतिरेकः सप्रभेद निरूपण)

आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा।
व्यतिरेकः—

ही समाप्त होकर संगत हो जाते हैं जिससे यह प्रतीत हो जाता है कि यहाँ 'विषय-भोग में चित्त का अर्पण' वस्तुतः 'बिलाव के मुँह में तोते के फेंकने' आदि के समान प्रति-पादित किया जा रहा है।

यहाँ 'निदर्शना' और 'दृष्टान्त' का यह भेद समझ लेना आवश्यक है—'निदर्शना' में तो बिम्बप्रतिबिम्बभाव के आक्षेप के बिना वाक्यार्थ ही विश्रान्त नहीं हुआ करता किन्तु 'दृष्टान्त' में वाक्यार्थ की विश्रान्ति के बाद, सामर्थ्यवश, बिम्बप्रतिबिम्बभाव का आक्षेप अथवा प्रत्यायन हुआ करता है।

'निदर्शना' और 'अर्थापत्ति' अलङ्कार में भी परस्पर भेद है—'निदर्शना' के लिये बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव अनिवार्य है किन्तु 'अर्थापत्ति' के लिये, जैसा कि 'हारोऽयं हरिणा-क्षीणाम्' आदि अर्थापत्ति-प्रसङ्गों में स्पष्ट है, बिम्बप्रतिबिम्बभाव अथवा सादृश्य में वाक्यार्थ की विश्रान्ति अपेक्षित नहीं।

विमर्श—अलङ्कारसर्वस्वकार ने 'दृष्टान्त' और 'निदर्शना' का भेदक यह माना है—

निरपेक्षयोर्वाक्यार्थयोर्हि बिम्बप्रतिबिम्बभावो दृष्टान्तः। यत्र च प्रकृते वाक्यार्थे वाक्यार्थान्तरमारोप्यते सामानाधिकरण्येन तत्र सम्बन्धानुपपत्तिमूला निदर्शनैव युक्ता, न दृष्टान्तः। एवं च—

'शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥'

इत्यत्र दृष्टान्तबुद्धिर्न कार्या। उक्तन्यायेन निदर्शनाप्राप्तेः'। (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ ९९)
अर्थात् 'दृष्टान्त' तो स्वतन्त्र रूप से अवस्थित दो वाक्यार्थों का बिम्बप्रतिबिम्बभाव है किन्तु 'निदर्शना' तब होती है जब कि प्रकृत वाक्यार्थ पर अप्रकृत वाक्यार्थ के सामानाधिकरण्यपूर्वक आरोप में, दोनों में, सम्बन्ध की अनुपपत्ति के निवारण के लिये, 'सादृश्य' कल्पना की जाया करती है।

अनुवाद—'व्यतिरेक' वह अलङ्कार है जिसे उपमान की अपेक्षा उपमेय के आधिक्य-वर्णन अथवा न्यूनत्व-वर्णन में देखा जाया करता है।

यह 'व्यतिरेक' ४८ प्रकार का हुआ करता है—(१ ला) 'व्यतिरेक' वह है जिसमें उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष का 'हेतु' प्रतिपादित रहा करता है। इसके अतिरिक्त जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष का 'हेतु' प्रतिपादित नहीं हुआ करता वहाँ इस (व्यतिरेक) के ये तीन प्रकार हुआ करते हैं—(१ ला) जिसमें केवल उपमेय का आधिक्य-साधक हेतु उपनिबद्ध हो, (२ रा) जिसमें केवल उपमान का न्यूनत्व-साधक हेतु उपनिबद्ध हो और (३ रा) जिसमें उपमेय के उत्कर्ष अथवा उपमान के अपकर्ष के साधक किसी भी हेतु का कोई भी उपनिबन्ध न हो। इस प्रकार उपमेय के उत्कर्ष-हेतु की उक्ति में एक और अनुक्ति में तीन भेदों को मिलाकर व्यतिरिक्त के ४ भेद सिद्ध हुये। इन चारों में से प्रत्येक साम्य अथवा उपमानोपमेयभाव के शब्दतः कथन, अर्थतः अव-

स च—

—एक उक्तेऽनुक्ते हेतौ पुनस्त्रिधा ॥ ५२ ॥

चतुर्विधोऽपि साम्यस्य बोधनाच्छब्दतोऽर्थतः ।
आक्षेपाच्च द्वादशधा श्लेषेऽपीति त्रिरष्टधा ॥ ५३ ॥
प्रत्येकं स्यान्मिलित्वाऽष्टचत्वारिंशद्विधः पुनः ।

उपमेयस्योपमानादाधिक्ये हेतुरुपमेयगतमुत्कर्षकारणमुपमानगतं निकर्षकारणं च । तयोर्द्वयोरप्युक्तावेकः, प्रत्येकं समुदायेन वाऽनुक्तौ त्रिविध इति चतुर्विधेऽप्यस्मिन्नुपमानोपमेयत्वस्य निवेदनं शब्देन अर्थेन आक्षेपेण चेति द्वादशप्रकारोऽपि श्लेषे, 'अपि' शब्दादश्लेषेऽपीति चतुर्विंशतिप्रकारः । उपमानान्न्यूनतायामप्यनयैव भङ्ग्या चतुर्विंशतिप्रकारतेति मिलित्वा अष्टचत्वारिंशत्प्रकारो व्यतिरेकः ।

उदाहरणम्—

'अकलङ्कं मुखं तस्या न कलङ्की विधुर्यथा ।'

बोधन और आक्षेपतः प्रत्यायन के कारण तीन-तीन प्रकार के हुआ करते हैं जिससे 'व्यतिरेक' के १२ प्रकार निष्पन्न होते हैं । व्यतिरेक के ये बारहों भेद 'श्लेष' और 'अश्लेष' दोनों में संभव हैं जिससे इसके २४ प्रकार हो गये । इसी प्रकार उपमान की अपेक्षा उपमेय के न्यूनत्व-वर्णन में जो 'व्यतिरेक' हुआ करता है उसके भी ये ही २४ प्रकार हुआ करते हैं । इस प्रकार सब मिलाकर 'व्यतिरेक' के ४८ प्रकार सिद्ध हुये ।

यहाँ 'व्यतिरेक' का अर्थात् उपमान से उपमेय के उत्कर्ष का जो 'हेतु' है उसका अभिप्राय उपमेयगत उत्कृष्टता और उपमानगत निकृष्टता से सम्बद्ध किसी कारणविशेष का अभिप्राय है । इन दोनों प्रकार के हेतुओं की 'उक्ति' में तो प्रथम प्रकार का 'व्यतिरेक' हुआ करता है और इनकी 'अनुक्ति' में द्वितीय प्रकार का 'व्यतिरेक' जो कि तीन प्रकार का है—(१ ला) केवल उपमेयगत उत्कर्षहेतु की अनुक्ति में, (२ रा) केवल उपमानगत अपकर्ष हेतु की अनुक्ति में और (३ रा) दोनों प्रकार के हेतुओं की अनुक्ति में । इस चतुर्विध 'व्यतिरेक' में उपमानोपमेयभाव तीन प्रकार से प्रतिपादित हो सकता है—(१ ला) शब्दतः, (२ रा) अर्थतः और (३ रा) आक्षेपतः (अर्थात् इवादि पदों के अभाव में भी उपमानोपमेयभाव की कल्पना द्वारा) । इसलिये इस चतुर्विध 'व्यतिरेक' के बारह प्रकार निष्पन्न होते हैं । ये बारहों प्रकार श्लिष्टपदनिबन्धन भी हो सकते हैं और, जैसा कि 'अपि' का अभिप्राय है, अश्लिष्टपदनिबन्धन भी । इस प्रकार उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्षरूप व्यतिरेक के ये २४ प्रकार हैं । इसी ढंग से, उपमान की अपेक्षा उपमेय के अपकर्षरूप 'व्यतिरेक' के भी २४ ही प्रकार सिद्ध होते हैं और इन दोनों को मिलाकर यह स्पष्ट है कि 'व्यतिरेक' के समस्त प्रकार ४८ हैं ।

उदाहरण के लिये यह सूक्ति—

'उस सुन्दरी का जो निष्कलङ्क मुख है वह कलङ्की चन्द्रमा जैसा नहीं ।'

अत्रोपमेयगतमकलङ्कत्वमुपमानगतं च कलङ्कित्वं हेतुद्वयमप्युक्तम्, यथा शब्दप्रतिपादनाच्च शाब्दमौपम्यम्।

अत्रैव 'न कलङ्किविधूपमम्' इति पाठे आर्थम्। 'जयतीन्दुं कलङ्किनम्' इति पाठे त्विववत्तुल्यादिपदविरहादाक्षिप्तम्। अत्रैवाकलङ्कपदत्यागे उपमेयतोत्कर्षकारणानुक्तिः। कलङ्किपदत्यागे चोपमानगतनिकर्षकारणानुक्तिः। द्वयोरनुक्तौ द्वयोरनुक्तिः।

श्लेषे यथा—

'अतिगाढगुणायाश्च नाब्जवद्भङ्गुरा गुणाः।'

अत्रेवार्थे वतिरिति शाब्दमौपम्यम्। उत्कर्षनिकर्षकारणयोर्द्वयोरप्युक्तिः। गुणशब्दः श्लिष्टः। अन्ये भेदाः पूर्ववदूह्याः। एतानि चोपमेयस्योपमानादाधिक्य उदाहरणानि। न्यूनत्वे दिङ्मात्रं यथा—

यहाँ उपमेयगत उत्कर्ष के हेतुरूप में 'निष्कलङ्कता' और उपमानगत अपकर्ष के हेतुरूप में 'कलङ्कित्व' दोनों उपात्त हैं। साथ ही साथ 'यथा' शब्द के प्रयोग में, चन्द्र और मुख का 'शाब्द' उपमानोपमेयभाव भी स्पष्ट है। यहीं यदि 'न कलङ्की विधुर्यथा' के बदले 'न कलङ्किविधूपमम्' कर दिया जाय तो 'आर्थ' उपमानोपमेयभाव स्पष्ट हो जाता है और यदि 'जयतीन्दुं कलङ्किनम्' (कलङ्की चन्द्रमा को पराजित कर रहा है) कर दिया जाय तो 'आक्षिप्त' उपमानोपमेयभाव की प्रतीति हो जाती है क्योंकि इव, तुल्य आदि पदों के अभाव में भी जो 'उपमानोपमेयभाव' हो वह 'आक्षिप्त' ही कहा जा सकता है।

इसी उदाहरण में यदि 'अकलङ्क' पद हटा दिया जाय, तो उपमेयगत उत्कर्षहेतु की अनुक्ति में 'व्यतिरेक' का स्वरूप दिखायी देने लगता है और यदि 'कलङ्की' पद हटा दिया जाय, तो उपमानगत अपकर्ष हेतु की अनुक्ति में जो 'व्यतिरेक' की रूपरेखा है वह स्पष्ट हो जाती है। और यदि 'अकलङ्क' और 'कलङ्की' दोनों पद हटा दिये जाँय तब उपमेयगत उत्कर्षहेतु और उपमानगत अपकर्षहेतु—दोनों की 'अनुक्ति' में 'व्यतिरेक' का स्वरूप दिखायी देने लगता है। यहाँ जो व्यतिरेक है वह 'अश्लिष्टशब्दनिबन्धन' है।

श्लिष्टशब्दनिबन्धन 'व्यतिरेक' का उदाहरण यह है—

'अत्यन्त गाढ़ (चिरस्थायी) गुण (सौन्दर्य आदि गुण तथा तन्तुसन्तान) वाली इस सुन्दरी के जो गुण हैं वे कमल की भांति भङ्गुर नहीं।'

यहां जो औपम्य अर्थात् उपमानोपमेयभाव है वह 'शाब्द' है क्योंकि 'अब्जवत्' में जो 'वति' प्रत्यय है वह ('तत्र तस्येव' से विहित होने के कारण) 'इव' के अर्थ में विहित है। यहां उपमेयगत उत्कर्षकारण के रूप में 'अतिगाढगुणत्व' और उपमानगत अपकर्षकारण के रूप में 'भङ्गुरगुणत्व'—दोनों की उक्ति है। साथ ही साथ यहां 'गुण' शब्द श्लिष्ट है।

'व्यतिरेक' के और जो प्रकार हैं उन्हें उपर्युक्त रीति से स्वयं काव्य-साहित्य में देखा जा सकता है। यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि उदाहृत-सूक्तिओं में जो 'व्यतिरेक' है वह उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्य अथवा उत्कर्ष-वर्णन रूप 'व्यतिरेक' है।

उपमान की अपेक्षा उपमेय का अपकर्ष-वर्णनरूप जो 'व्यतिरेक'-प्रकार है उसके दिग्दर्शन के लिये यह सूक्ति पर्याप्त है—

'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम् ।
विरम प्रसीद सुन्दरि ! यौवनमनिवर्ति यातं तु ॥'

अत्रोपमेयभूतयौवनास्थैर्यस्याधिक्यम् । तेनात्र 'उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः' इति केषांचिल्लक्षणे विपर्यये 'वेतिपदमनर्थकम्' इति यत्केचिदाहुः । तन्न विचारसहम् । तथाहि-अत्राधिकन्यूनत्वे सत्त्वासत्त्वे एव विवक्षिते । अत्र च चन्द्रापेक्षया यौवनस्यासत्त्वं स्फुटमेव । अस्तु वात्रोदाहरणे यथाकथंचिद्गतिः ।

'हनूमदाद्यैर्यशसा मया पुनर्द्विषां हसैर्दूतपथः सितीकृतः ।'

इत्यादिषु का गतिरिति सुष्ठूक्तं 'न्यूनताऽथवा' इति ।

'अरी सुन्दरी ! यह तो सच है कि चन्द्रमा बार-बार क्षीण होता है और बार-बार बढ़ भी जाता है। किन्तु यौवन यदि एक बार चला गया तो फिर लौटने का नहीं। देख ले, मान छोड़, प्रसन्न हो जा।'

[यहाँ स्पष्ट है कि उपमानभूत 'चन्द्रमा' की अपेक्षा उपमेयभूत 'यौवन' के अपकर्ष का वर्णन है क्योंकि जहाँ 'चन्द्रमा' में 'क्षीणता में भी अभिवृद्धि' की विशेषता (अधिकता) का निर्देश है वहाँ 'यौवन' में 'अपुनरागमन' (चले जाने पर न लौट सकने की) न्यूनता का प्रतिपादन है।]

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि कतिपय काव्याचार्य (जैसे कि 'काव्यप्रकाश'-कार आदि), इस सूक्ति में भी, उपमेयगत आधिक्य-वर्णन रूप 'व्यतिरेक' मानकर—क्योंकि उपमानभूत 'चन्द्रमा' के 'स्थैर्य' की अपेक्षा उपमेयभूत 'यौवन' में 'अस्थैर्य' का वर्णन उपमेय के आधिक्य का ही वर्णन है—अलङ्कारसर्वस्वकार के इस 'व्यतिरेक' लक्षण अर्थात् 'व्यतिरेक वह है जिसमें उपमान से उपमेय का आधिक्य अथवा इसके विपर्यय (अर्थात् उपमान से उपमेय के न्यूनत्व) का वर्णन हुआ करता है' का मण्डन कर चुके हैं क्योंकि उनके अनुसार, इस लक्षण में, 'उपमान से उपमेय के आधिक्य के 'विपर्यय' का उल्लेख निरर्थक सिद्ध होता है। किन्तु इन काव्याचार्यों की यह मान्यता युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होती। कारण यह है कि 'क्षीणः क्षीणः' आदि सूक्ति, में उपमानगत आधिक्य के रूप में 'स्थैर्य' का प्रतिपादन है और उपमेयगत न्यूनत्व के रूप में 'अस्थैर्य' का और यह सब के लिये स्पष्ट है कि चन्द्रमा की अपेक्षा यौवन अस्थिर हुआ करता है जिससे यहां उपमेयगत 'न्यूनत्व'-वर्णन रूप 'व्यतिरेक' निःसंदिग्ध सिद्ध हो जाता है।

अथवा, यदि यहां किसी प्रकार उपमेयभूत यौवन का आधिक्य-वर्णन रूप ही 'व्यतिरेक' मान लिया जाय तब भी निम्न सूक्ति जैसे कि—

'हनूमान् आदि ने तो दूतमार्ग (दूत-कर्म) को यश से शुभ्र बनाया किन्तु मैंने उसे शत्रुओं के हास-परिहास से शुभ्र किया।'

आदि के लिये, उपमेयगत न्यूनत्व-वर्णन रूप व्यतिरेक का मानना, अगत्या, आवश्यक ही हो जाता है। इसलिये 'अलङ्कारसर्वस्व'कार का उपमेयगत न्यूनत्वरूप भी 'व्यतिरेक' मानना उचित ही है और सर्वथा चतुरस्र भी है।

विमर्श—उपमान की अपेक्षा उपमेय के न्यूनगुणत्व में 'व्यतिरेक' की मान्यता और उसके तात्पर्यविशेष के सम्बन्ध में 'विमर्शिनी' कार की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'शशियौवनयोर्हि समानेऽपि गत्वरत्वे शशिनः पुनरागमनमपि संभवति न तु यवनौ-

(२०—सहोक्ति)

सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः ॥ ५४ ॥
सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत् ।

अतिशयोक्तिरप्यत्राभेदाध्यवसायमूला कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययरूपा च। अभेदाध्यवसायमूलापि श्लेषभित्तिकान्यथा च।

क्रमेणोदाहरणम्—

(श्लेषमूल-अभेदाध्यवसायमूल-अतिशयोक्तिमूलक सहोक्ति)

'सहाधरदलेनास्या यौवने रागभाक्प्रियः।'

अत्र रागपदे श्लेषः।

स्येति ततोऽस्य न्यूनगुणत्वम्। नन्वत्र विपर्यये वेति सूचितं भेदान्तरमयुक्तम्-उपमाना-दुपमेयस्य न्यूनगुणत्वे वास्तवत्वात्तत्त्वे चालङ्कारत्वानुपपत्तेः। यौवनस्य चात्रास्थिरत्वे प्रति-पाद्ये चन्द्रापेक्षयाऽधिकगुणत्वमेव विवक्षितम् यदेतच्चन्द्रवद्यातं सन्न पुनरायातीति। अस-देतत्—यतोऽत्र चन्द्रवद् गतं सद्यौवनं यदि पुनरप्यागच्छेत्तत्प्रियं प्रति चिरमीर्ष्यानुबन्धो युज्येत। कालान्तरेऽपि ह्यस्य तदवलोकनादिना सफलीकारः स्यात्। इदं पुनर्हतयौवनं यातं सत् पुनर्नागच्छतीति ईर्ष्याद्यन्तरायपरिहारेण निरन्तरतयैव प्रियेण सह सफलयित-व्यमिति 'धिगीर्ष्याम्, त्यज प्रियं प्रति मन्युं, कुरु प्रसादम्' इत्यस्मिन् प्रियवयस्योपदेशे प्रियं प्रति कोपोपशमाय चन्द्रापेक्षया यौवनस्यापुनरागमनं न्यूनगुणत्वेनैव विवक्षितमिति वाक्यार्थविद एव प्रमाणम्। न चैतद् वास्तवमुपमेयस्य न्यूनगुणत्वम्। तस्यैव सातिशय-त्वेन प्रतिपाद्यत्वात्। प्रकृतार्थोपरञ्जकत्वे हि सर्वथा कवेः संरम्भः तच्चाधिकगुणमुखेन भवत्वितरथा वेति को विशेषः। तस्माद् युक्तमेव विपर्यये वेति सूत्रम्'।

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १०२)

इसका तात्पर्य यह है कि उपमेय का न्यूनगुणत्व भी प्रकृत अर्थ की एक शोभाधायकता ही है और इसलिए व्यतिरेक के एक प्रकार के रूप में इसे मानना युक्तियुक्त ही है।

अनुवाद—'सहोक्ति' वह अलङ्कार है जिसे 'सह' शब्द के अर्थ-सामर्थ्य से, एक शब्द द्वारा दो अर्थों की ऐसी वाचकता में देखा जाया करता है जिसके मूल में 'अतिशयोक्ति' का रहना आवश्यक है।

यहाँ कारिका में जिस 'अतिशयोक्ति'प्रकार को 'सहोक्ति' का मूलभूत बताया गया है वह अभेदाध्यवसायमूलक किंवा कार्यकारणभाव का पौर्वापर्य-विपर्यय-मूलक अति-शयोक्ति-प्रकार है। यह अभेदाध्यवसायमूल अतिशयोक्तिप्रकार 'श्लेषमूलक' और 'अश्लेष-मूलक' दोनों रूपों का हो सकता है। जैसे कि क्रमशः—

'यौवन के आगमन में इस सुन्दरी के अधरोष्ठ के साथ ही साथ इसका प्रेमी भी रागयुक्त हो गया।'

यहाँ 'राग' पद श्लिष्ट है (और इस श्लिष्ट पद के एक अर्थ 'लाल रंग' और दूसरे अर्थ 'अनुराग' में अभेद का भी अध्यवसाय है। साथ ही साथ 'सह' शब्द के अर्थ-सामर्थ्य से, 'राग' पद के द्वारा इसके दोनों अर्थ अभिहित भी हो रहे हैं।

अथवा जैसे कि इस स्वरचित सूक्ति में अध्यवसायमूल अतिशयोक्तिमूलक सहोक्ति—

'सह कुमुदकदम्बैः काममुल्लासयन्तः
सह घनतिमिरौघैर्धैर्यमुत्सारयन्तः ।
सह सरसिजषण्डैः स्वान्तमामीलयन्तः
प्रतिदिशममृतांशोरंशवः सञ्चरन्ति ॥'

इदं मम । अत्रोल्लासादीनां संबन्धिभेदादेव भेदः, न तु श्लिष्टतया ।

'सममेव नराधिपेन सा गुरुसंमोहविलुप्तचेतना ।
अगमत् सह तैलबिन्दुना ननु दीपार्चिरिव क्षितेस्तलम् ॥'

इयं च मालयापि संभवति । यथोदाहृते 'सह कुमुदकदम्बैः—' इत्यादौ ।

'लक्ष्मणेन समं रामः काननं गहनं ययौ ।'

इत्यादौ चातिशयोक्तिमूलाभावान्नायमलङ्कारः ।

'चन्द्रमा की किरणें, कुमुदों के साथ काम को भी उल्लसित कर रही हैं, संतमस-तमःसमूह के साथ (विरहीजनों) के धैर्य का भी ध्वंस कर रही हैं, कमलों के साथ (प्रेमीजनों के) हृदय को भी निमीलित कर रही हैं और चारों ओर यही दृश्य दिखलाती हुई फैलती जा रही हैं।'

यहाँ 'उल्लासयन्तः' आदि पद श्लिष्ट नहीं किन्तु अपने सम्बन्धी पदार्थों, जैसे कि 'कुमुद' आदि और 'काम' आदि के भेद से, भिन्न भिन्न अर्थ के प्रतिपादक लग रहे हैं जिससे कुमुद-कदम्ब के 'उल्लास' (खिलने) आदि और काम के 'उल्लास' (बढ़ने) आदि में अभेदाध्यवसाय स्पष्ट है जिसके आधार पर, 'सह' शब्द के अर्थ-सामर्थ्य से 'उल्लासयन्तः' आदि से दोनों अर्थों का अभिधान हो रहा है।

इसी प्रकार 'कार्यकारणपौवापर्यविपर्ययरूप अतिशयोक्तिमूलक सहोक्ति का यह उदाहरण देखिए—

'मूर्च्छा से चेतना-शून्य बनी वह सुन्दरी, महाराज के साथ-साथ ऐसे नीचे आ गिरी जैसे तैलबिन्दु के साथ-साथ दीपशिखा गिर पड़ी हो।'

[यहां जो 'सहोक्ति' है वह कार्यकारणभाव के पौवापर्य के विपर्ययरूप 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार के आधार पर है। यहां कार्यकारणभाव के पौर्वापर्य का विपर्यय इसलिए है क्योंकि वर्ण्य नायिका के 'भूपतन' और वर्ण्य भूपाल के 'भूपतन' में कारण और कार्य का सम्बन्ध है जो कि यहां विपरीत रूप से अर्थात् एक समय में ही सम्पन्न होते हुए प्रतिपादित किया हुआ है।]

यह 'सहोक्ति' मालारूप की भी हुआ करती है जिसके उदाहरण रूप में 'सह कुमुद-कदम्बैः' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति देखी जा सकती है।

'सहोक्ति' के अलङ्कार होने के लिए (केवल 'सह' पद और इसके समानार्थक 'साकम्' आदि पदों की उक्ति अभिप्रेत नहीं अपितु) 'अतिशयोक्ति' की मूल-भित्ति अपेक्षित है। इसलिए 'राम लक्ष्मण के साथ-साथ बीहड़ बन में गये' आदि प्रसङ्गों में (जहां अतिशयोक्ति के चमत्कार का सर्वथा अभाव है) 'सह' शब्द की उक्तिमें भी, 'सहोक्ति' अलङ्कार नहीं हुआ करता।

विमर्श—'सहोक्ति' के निरूपण में विश्वनाथ कविराज ने यह नहीं निर्दिष्ट किया कि 'सह' शब्द के योग से, एक पद से निःसृत दो अर्थों में 'उपमानोपमेय'भावरूप संबन्ध रहा करता है या नहीं। वस्तुतः काव्यप्रकाशकार का यह 'सहोक्ति'-लक्षण—

(२१—विनोक्ति)

विनोक्तिर्यद्विनान्येन नासाध्वन्यदसाधु वा ॥ ५५ ॥

नासाधु अशोभनं न भवति। एवं च यद्यपि शोभनत्व एव पर्यवसानं तथाप्यशोभनत्वाभावमुखेन शोभनवचनस्यायमभिप्रायो यत्कस्यचिद्वर्णनीयस्याशोभनत्वं तत्परसन्निधेरेव दोषः तस्य पुनः स्वभावतः शोभनत्वमेवेति।

यथा—

विना जलदकालेन चन्द्रो निस्तन्द्रतां गतः।
विना ग्रीष्मोष्मणा मञ्जुर्वनराजिरजायत ॥'

'सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्'

ही साहित्यदर्पण-सम्मत 'सहोक्ति' का आधार है। किन्तु अलङ्कारसर्वस्वकार ने 'सहोक्ति' में औपम्य की विवक्षा भी मानी है—

'उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसंबन्धे सहोक्तिः'—

'सहार्थप्रयुक्तश्च गुणप्रधानभावः। उपमानोपमेयत्वं चात्र वैवचिकम्। द्वयोरपि प्राकरणिकत्वादप्राकरणिकत्वाद्वा सहार्थसामर्थ्याद्धि तयोस्तुल्यकचत्वम्। तत्र तृतीयान्तस्य नियमेन गुणत्वादुपमानत्वम्। अर्थाच्च परिशिष्टस्य प्रधानत्वादुपमेयत्वम्। शाब्दश्चात्र गुणप्रधानभावः। वस्तुतस्तु विपर्ययोऽपि स्यात्। तत्र नियमेनातिशयोक्तिमूलत्वमस्याः। सा च कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा अभेदाध्यवसायरूपा च। अभेदाध्यवसायश्च श्लेषभित्तिकोऽन्यथा वा।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १०३-१०४)

अर्थात् 'सहोक्ति' अलङ्कार की संभावना तभी होती है जब कि उपमान और उपमेय में एक तो प्रधानतया निर्दिष्ट रहा करता है और दूसरा, 'सह' शब्द के योग से, उसके साथ संबद्ध हुआ करता है। उपमान और उपमेय का अभिप्राय अप्राकरणिक और प्राकरणिक का भी है और इसलिये, 'सह' शब्द के योग में, दोनों की समकक्षता की प्रतीति 'सहोक्ति' का वैचित्र्य है जिसके मूल में अतिशयोक्ति का रहना स्वाभाविक है और आवश्यक भी। 'सहोक्ति' में अप्रधान और प्रधान का औपम्य वैवक्षिक है वास्तविक नहीं।

महाकवि कालिदास की यह सहोक्ति-सूक्ति बड़ी सुन्दर है—

'वपुषा करणोज्झितेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत्।
ननु तैलनिषेकबिन्दुना सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीम् ॥' (रघुवंश : ८. ३८)

अनुवाद—'विनोक्ति' वह अलङ्कार है जिसे (विना अथवा इसके समानार्थक अन्य पदों के अर्थ-सामर्थ्य से) एक वस्तु के अभाव में दूसरी वस्तु की साधुता (शोभनता) अथवा असाधुता (अशोभनता) के प्रतिपादन में देखा जाया करता है।

यहां कारिका में 'न असाधु' का अभिप्राय 'अशोभन न होने' का अभिप्राय है। और यद्यपि 'अशोभन न होने' का, अन्ततोगत्वा, अभिप्राय 'शोभन होना' ही है किन्तु 'शोभन होने' के लिये 'अशोभन न होना' जो कहा गया है उसका तात्पर्य 'किसी दूसरी वस्तु के सान्निध्य से किसी वस्तु की अशोभनता' किन्तु अपने आप में शोभनता के प्रतिपादन का तात्पर्य है।

उदाहरण के लिये (अशोभनता की अभावरूपा 'विनोक्ति') 'बिना वर्षा ऋतु के चन्द्रमा निर्मल लगने लगता है और ग्रीष्म के संताप के बिना वनवीथी रमणीय हो जाता है।'

[यहां यह स्पष्ट है कि 'चन्द्रमा' और 'वनवीथी' अपने आप में तो शोभन हैं किन्तु

'असाध्वशोभनं यथा—

'अनुयान्त्या जनातीतं कान्तं साधु त्वया कृतम् ।
का दिनश्रीर्विनार्केण का निशा शशिना विना ॥'

'निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम् ।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव दृष्टा विनिद्रा नलिनी न येन ॥'

अत्र परस्परविनोक्तिभङ्ग्या चमत्कारातिशयः । विनाशब्दप्रयोगाभावेऽपि विनार्थविवक्षायां विनोक्तिरेवेयम् । एवं सहोक्तिरपि सहशब्दप्रयोगाभावेऽपि सहार्थविवक्षायां भवतीति बोध्यम् ।

वर्षा और ग्रीष्म के सद्भाव में अशोभन हो जाया करते हैं। इस अशोभनता के अभाव का यहां प्रतिपादन भी स्पष्ट ही है।]

इसी प्रकार, शोभनता को अभावरूपा 'विनोक्ति'

'जनकनन्दिनि ! अपने लोकोत्तरचरित प्रियतम का अनुगमन करनेवाली तूने बड़ा ही अच्छा किया। भला सूर्य के बिना दिनश्री क्या ? और चन्द्रमा के बिना रजनी क्या ?'

इसी प्रकार 'विना' पद के समानार्थक पदों के योग में भी 'विनोक्ति' हुआ करती है जैसे कि निम्न सूक्ति में—

'उस कमलिनी का जन्म व्यर्थ गया जिसने शीतकिरण चन्द्रमा का दर्शन न किया और उस चन्द्रमा का आविर्भाव भी निष्फल ही रहा जिसने खिली हुई कमलिनी को न देखा।'

यहां एक दूसरे के बिना 'कमलिनी' और 'चन्द्रमा' की उत्पत्ति की निरर्थकता का जो वर्णन है उसमें एक विशेष चमत्कार आ गया है। यद्यपि यहां 'विना' पद का प्रयोग नहीं हुआ है किन्तु यह स्पष्ट है कि 'विना' पद के अर्थ का अभिप्राय विवक्षित है। इसलिये इसे 'विनोक्ति' अलङ्कार का ही निदर्शन माना जायगा। 'सहोक्ति' में भी 'सह' शब्द का प्रयोग नहीं अपितु 'सह' शब्द की अर्थविवक्षा अपेक्षित है जिससे 'सह' शब्द का प्रयोग न होने पर भी, 'सह' शब्द के अर्थ की विवक्षा में 'सहोक्ति' ही मानी जाया करती है।

विमर्श—'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने 'विनोक्ति' का यह लक्षण किया है—

'विना कश्चिदन्यस्य सदसत्त्वाभावो विनोक्तिः। सत्त्वस्य शोभनत्वस्य भावः शोभनत्वम्। एवमसत्त्वस्याऽशोभनत्वस्य भावोऽशोभनत्वम्। ते द्वे सत्त्वासत्त्वे यत्र कस्यचित्संनिधानान्निवध्येते सा द्विधा विनोक्तिः। अत्र च शोभनत्वाशोभनत्वसत्तायामेव वक्तव्यायामसत्तामुखेनाभिधानमन्यनिवृत्तिप्रयुक्ता तन्निवृत्तिरिति ख्यापनार्थम्।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १०६)

'सहोक्ति' की कल्पना से 'विनोक्ति' का जन्म हुआ है। 'विनोक्ति' अलङ्कार वस्तुतः 'सहोक्ति' का प्रतिपक्ष है। कवि कहता है—'विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना। रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता ॥' कवि की इस उक्ति में 'विनोक्ति' का चमत्कार झलक रहा है। 'विनय' के असद्भाव में 'श्री' भी असद्भूत है—इसका अभिप्राय है 'विनय' के रहने पर ही 'श्री' के रहने में सुन्दरता है अर्थात् 'श्री' की चिन्ता छोड़ 'विनय' की ही चिन्ता की जाय, आदि। 'विना' शब्द के अभाव में भी 'विना' शब्द की अर्थविवक्षा हुआ करती है और ऐसी अवस्था में भी 'विनोक्ति' का ही वैचित्र्य रहा करता है।

(२२—समासोक्ति)

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः॥ ५६॥

अत्र समेन कार्येण प्रस्तुतेऽप्रस्तुतव्यवहारसमारोपः।

यथा—

'व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनाया
वक्षोजयोः कनककुम्भविलासभाजोः।
आलिङ्गसि प्रसभमङ्गमशेषमस्या
धन्यस्त्वमेव मलयाचलगन्धवाह!॥'

अत्र गन्धवाहे हठकामुकव्यवहारसमारोपः।

लिङ्गसाम्येन यथा—

'असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः।
अनाक्रम्य जगत्कृत्स्नं नो सन्ध्यां भजते रविः॥'

अत्र पुंस्त्रीलिङ्गमात्रेण रविसन्ध्ययोर्नायकनायिकाव्यवहारः।

विशेषणसाम्यं तु श्लिष्टतया, साधारण्येन, औपम्यगर्भत्वेन च त्रिधा।

अनुवाद—'समासोक्ति' वह अलङ्कार है जिसे 'सम' अर्थात् (प्रस्तुत और अप्रस्तुत में) समानरूप से समन्वित होनेवाले कार्य, लिङ्ग और विशेषण के बल से, प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप कहा जाया करता है।

उदाहरण के लिये, समानरूप से समन्वित हो सकनेवाले 'कार्य' के सामर्थ्य से, प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार-समारोप में 'समासोक्ति'—

'अरे मलयानिल! तू धन्य है क्योंकि तू ही ऐसा है जो इस कमलनयनी सुन्दरी के, कनक-कलश सरीखे कुचों से, वस्त्र हटाकर, इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का हठपूर्वक आलिङ्गन किया करता है।'

यहाँ 'मलयानिल' पर (जो कि प्रस्तुत है क्योंकि यहाँ कवि मलयानिल का ही वर्णन कर रहा है) 'हठकामुक' के व्यवहार (जैसे कि बलात् आलिङ्गन आदि) का समारोप स्पष्ट है जिसमें 'समकार्यमूला' समासोक्ति की रूपरेखा झलक रही है।

इसी प्रकार 'समलिङ्ग-मूला' समासोक्ति का उदाहरण यह सूक्ति है—

'जिसकी विजयाकांक्षा पूर्ण न हुई हो, उस वीर मनस्वी की स्त्री-चिन्ता कैसी? ऐसा कभी नहीं होता कि सूर्य, समस्त संसार पर छाये बिना, सन्ध्या का संग किया करे।'

यहाँ 'रवि' के पुंल्लिङ्ग और 'संध्या' के स्त्रीलिंग होने के कारण 'रवि' और 'संध्या' पर नायक और नायिका के व्यवहार का समारोप हो रहा है जिसमें 'समलिङ्गमूला' समासोक्ति स्पष्ट है।

'समविशेषणमूला' समासोक्ति के तीन भेद हैं क्योंकि विशेषण की समानता (१) श्लिष्टता, (२) साधारणता और (३) औपम्यगर्भता के कारण तीन रूपों की हुआ करती है।

श्लिष्टतया यथा मम—

'विकसितमुखीं रागासङ्गाद् गलत्तिमिरावृतिं
दिनकरकरस्पृष्टामैन्द्रीं निरीक्ष्य दिशं पुरः।
जरठलवलीपाण्डुच्छायो भृशं कलुषान्तरः
श्रयति हरितं हन्त ! प्राचेतसीं तुहिनद्युतिः ॥'

अत्र मुखरागादिशब्दानां श्लिष्टता। अत्रैव हि 'तिमिरावृतिम्' इत्यत्र 'तिमिरांशुकाम्' इति पाठे एकदेशस्य रूपणेऽपि समासोक्तिरेव, न त्वेकदेशविवर्तिरूपकम्, तत्र हि तिमिरांशुकयो रूप्यरूपकभावो द्वयोरावरकत्वेन स्फुटसादृश्यतया परसाचिव्यमनपेक्ष्यापि स्वमात्रविश्रान्त इति न समासोक्तिबुद्धिं व्याहन्तुमीशः।

यत्र तु रूप्यरूपकयोः सादृश्यमस्फुटं तत्रैकदेशान्तररूपणं विना तदसङ्गतं स्यादित्यशाब्दमप्येकदेशान्तररूपणमार्थमपेक्षत एवेति तत्रैकदेशविवर्तिरूपकमेव। यथा—

जैसे कि श्लिष्टता से विशेषण-साम्य में 'समासोक्ति' की यह स्वरचित निदर्शन-सूक्ति—

'चन्द्रमा ने अपने सामने ऐन्द्री दिशा (इन्द्रसंबन्धिनी, पूर्व दिशा) को देखा—'दिनकरकरस्पृष्टा' जो कि सूर्य के 'कर' (किरणों तथा हाथों) के स्पर्श-सुख में विभोर पड़ी थी, 'रागासङ्गाद् विकसितमुखीम्' जिसका मुख (अग्रभाग और मुँह) राग (उषा की लालिमा और प्रेम) के आसङ्ग से 'विकसित' (प्रफुल्लित और प्रकाशित लग रहा था, 'गलत्तिमिरावृतिम्' और जिसकी 'तिमिरावृति' (अन्धकार का आवरण और अभिसार का कृष्णांशुक) खिसक चुकी थी और अन्त में वह (चन्द्रमा) 'जरठलवलीपाण्डुच्छायः' पकी लवली (हरफरवरी) के समान पीला पड़ कर तथा 'कलुषान्तर' (मध्य भाग में मलिन और हृदय में दुःखाकुल) होते हुये, 'प्राचेतसीम्' (प्राचेतस अथवा वरुण-संबन्धिनी दिशा और मृत्यु) की शरण में ही जाकर शान्त हुआ।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'मुख', 'राग' आदि पद श्लिष्ट हैं (जिनकी महिमा से 'समासोक्ति', रचना हुई है)।

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि यदि 'तिमिरावृतिम्' (तिमिरस्य आवृतिर्यस्याः, तिमिरवद्वावृतिर्यस्यास्ताम्) पद के बदले 'तिमिरांशुकाम्' (तिमिरमेव अंशुकं यस्याः ताम् तिमिरांशुकाम्) पद रख दिया जाय तो, एक अंश में आरोप की प्रतीति के होते रहने पर भी, इस सूक्ति में 'एकदेशविवर्तिरूपक' न हो सकेगा अपितु 'समासोक्ति' ही रहेगी। कारण यह है कि 'तिमिर' और 'अंशुक' का रूप्यरूपकभाव ऐसा है जो 'प्राची' और 'नायिका' के रूप्यरूपकभाव की अपेक्षा नहीं रखता अपितु अपने आप में पूर्णतया प्रकाशित हो रहा है और इस रूप्यरूपकभाव का मूलभूत 'आवरकत्व' (आच्छादन) रूप सादृश्य भी ऐसा है जो परिस्फुटरूप से ही प्रतीत हो रहा है। इसलिये इस सूक्ति के एक अंश में अवस्थित 'एकदेशविवर्तिरूपक' में यह क्षमता नहीं कि सम्पूर्ण सूक्ति में व्याप्त 'समासोक्ति' को हटा सके।

किन्तु कई ऐसे प्रसङ्ग भी हैं जहाँ 'एकदेशविवर्तिरूपक' का ही चमत्कार अन्त तक विराजमान रहता है और 'समासोक्ति' की कोई भी संभावना नहीं हुआ करती। ऐसे प्रसङ्ग वे हैं जिनमें एकदेश में रूप्यरूपकभाव रहा करता है किन्तु इस रूप्यरूपकभाव का

'जस्स रणन्तेउरए करे कुणन्तस्स मण्डलग्गलअं।
रससंमुही वि सहसा परम्मुही होइ रिउसेणा॥'
(यस्य रणान्तःपुरके करे कुर्वाणस्य मण्डलाग्रलताम्।
रससम्मुख्यपि सहसा पराङ्मुखी भवति रिपुसेना॥)

अत्र रणान्तःपुरयोः सादृश्यमस्फुटमेव। क्वचिच्च यत्र स्फुटसादृश्यानामपि बहूनां रूपणं शाब्दमेकदेशस्य चार्थं तत्रैकदेशविवर्तिरूपकमेव। रूपकप्रतीतेर्व्याप्तितया समासोक्तिप्रतीतितिरोधायकत्वात्। नन्वस्ति रणान्तःपुरयोरपि सुखसंचारतया स्फुटं सादृश्यमिति चेत्? सत्यमुक्तम्, अस्त्येव, किन्तु वाक्यार्थपर्यालोचनसापेक्षम्, न खलु निरपेक्षम्, मुखचन्द्रादेर्मनोहरत्वादिवद्रणान्तःपुरयोः स्वतः सुखसञ्चारत्वाभावात्।

मूलभूत सादृश्य अस्फुट रहा करता है और अन्य अंशों में रूप्यरूपकभाव की कल्पना के बिना असंगत भी लगा करता है और इस असंगति के निवारण के लिये, अन्य अंशों में भी, शाब्द आरोप के न होने पर भी, अर्थसामर्थ्य से रूप्यरूपकभाव का आक्षेप कर लिया जाया करता है। उदाहरण के लिये निम्न सूक्ति देखी जाय—

'यह वह राजा है जिसके हाथ की पकड़ में, रणरूपी अन्तःपुर में खड्गलता (तलवार) को देख देख रणरस में पगी भी शत्रुसेना सहसा पीछे भाग खड़ी होती है।'

यहाँ जो अलङ्कार है वह 'एकदेशविवर्ति' रूपक है न कि 'समासोक्ति'। कारण यह है कि इस सूक्ति के एक अंश में विराजमान 'रण' और 'अन्तःपुर' का रूप्यरूपकभाव ऐसा है जिसका आधारभूत सादृश्य अस्फुट है (और इसलिये 'खड्गलता' और 'रिपुसेना' में स्त्रीलिङ्ग के कारण, 'खड्गलता' पर नायिका-व्यवहार और 'रिपुसेना' पर प्रतिनायिका-व्यवहार के समारोप की प्रतीति होने पर भी 'समासोक्ति' की संभावना नहीं हो रही है क्योंकि जब कि 'रण' और 'अन्तःपुर' का रूप्यरूपकभाव 'खड्गलता' और 'रिपुसेना' पर 'नायिकात्व' और 'प्रतिनायिकात्व' के आरोप के बिना असंगत हो जाय, तब तो, शाब्द हो या न हो, आर्थ आरोप के कारण यहाँ 'एकदेशविवर्ति' रूपक की मान्यता अनिवार्य ही हो जाती है)।

इसके अतिरिक्त ऐसे प्रसङ्गों में भी 'एकदेशविवर्ति' रूपक ही माना जायगा जहाँ रूप्यरूपक-भाव के मूलभूत सादृश्य के स्फुट होने पर भी, बहुत अंशों में तो आरोप शाब्द रहे किन्तु एक अंश में अर्थ-सामर्थ्य-सिद्ध बन जाय। कारण यह है कि ऐसे प्रसङ्गों में, शाब्द आरोप के बाहुल्य के कारण, रूप्यरूपकभाव की प्रतीति, निःसन्दिग्ध रूप से अधिक व्यापक हुआ करती है और 'समासोक्ति' की सम्भावना को ढक लिया करती है। किन्तु इसका निष्कर्ष यह नहीं कि 'यस्य रणान्तःपुरे' आदि में भी, यह मानकर कि यहाँ भी 'रण' और 'अन्तःपुर' में 'सुखसंचरण' रूप सादृश्य स्फुट है, 'समासोक्ति' की सम्भावना कर ली जाय। क्यों? इसलिये कि भले ही यहां 'रण' और 'अन्तःपुर' में 'सुखसंचरण' रूप सादृश्य स्फुट हो किन्तु यह 'सुखसंचरण' (आनन्द से विचरण) रूप सादृश्य ऐसा है जो (निरपेक्ष) स्वतंत्र नहीं अपितु यहाँ के सम्पूर्ण वाक्यार्थ की पर्यालोचना पर निर्भर (सापेक्ष) है और साथ ही साथ 'मुख' और 'चन्द्र' के 'मनोहरत्व' आदि रूप सादृश्य की भांति स्वतःसिद्ध भी नहीं (क्योंकि यह तो वर्ण्य भूपाल से

साधारण्येन यथा—

'निसर्गसौरभोद्भ्रान्तभृङ्गसंगीतशालिनी।
उदिते वासराधीशे स्मेराजनि सरोजिनी॥'

अत्र निसर्गेत्यादिविशेषणसाम्यात्सरोजिन्यां नायिकाव्यवहारप्रतीतौ स्त्रीमात्रगामिनः स्मेरत्वधर्मस्य समारोपः कारणम्। तेन विना विशेषणसाम्यमात्रेण नायिकाव्यवहारप्रतीतेरसम्भवात्।

औपम्यगर्भत्वं पुनस्त्रिधा सम्भवति, उपमारूपकसङ्करगर्भत्वात्।

तत्रोपमागर्भत्वे यथा—

'दन्तप्रभापुष्पचिता पाणिपल्लवशोभिनी।
केशपाशालिवृन्देन सुवेषा हरिणेक्षणा॥'

सम्बद्ध 'प्रताप' रूप अर्थ की अभिव्यञ्जना है न कि 'रण' पर 'अन्तःपुरत्व' का आरोप जोकि 'सुखसंचरण' रूप सादृश्य की स्फुट प्रतीति का निमित्त बन रहा है)।

अब समभेदक धर्ममूल 'समासोक्ति' का उदाहरण देखिये—

'दिनपति सूर्य का उदय हुआ और स्वाभाविक सौरभ से मुग्ध भ्रमरों की गुंजाररूप गीतध्वनि से भरी पद्मिनी मुसकुरा उठी (खिल पड़ी)।'

यहां, साधारण धर्म की समानता में, 'समविशेषणमूला' समासोक्ति स्पष्ट है क्योंकि यहाँ 'निसर्गसौरभोद्भ्रान्तभृङ्गसङ्गीतशालित्व' का विशेषण ऐसा है जो प्रस्तुत 'सरोजिनी' और अप्रस्तुत 'नायिका' दोनों ओर समान रूप से अन्वित हो रहा है और 'सरोजिनी' में 'नायिका' के व्यवहार की प्रतीति का निमित्त बन रहा है। किन्तु यहाँ जिसे व्यवहार-समारोप कहते हैं उसकी प्रतीति का कारण केवल 'नायिका' से संबद्ध 'स्मेरत्व' (मुसकुराहट (धर्म को ही माना जा सकता है जो कि सरोजिनी के 'स्मेरत्व' अर्थात् विकास रूप धर्म पर आरोपित है क्योंकि केवल 'निसर्गसौरभ' आदि विशेषणसाम्य से ही यहां नायिका-व्यवहार का समारोप नहीं सिद्ध हो पाता (तात्पर्य यह है कि ऐसे प्रसङ्गों में विशेषणसाम्य पर जो 'समासोक्ति' हुआ करती है वहां अप्रस्तुतगत धर्म का प्रस्तुत के धर्म पर समारोप ही वस्तुतः कारणरूप से अवस्थित रहा करता है)।

अब औपम्यगर्भ विशेषण-साम्य में 'समासोक्ति' की मान्यता अथवा अमान्यता का विचार आवश्यक है। विशेषण-साम्य में जो 'औपम्य' छिपा रहता है उसकी ये तीन अवस्थायें हुआ करती हैं—(१ ली) उपमागर्भता की अवस्था, (२ री) रूपकगर्भता की अवस्था और (३ री) उपमा-रूपक सांकर्य-गर्भता की अवस्था। अब (१ ली) अर्थात् विशेषण-साम्य में औपम्यगर्भता की अवस्था निम्न सूक्ति में स्पष्ट है—

'यह मृगनयनी, जो कि 'दन्तप्रभापुष्पचिता' (दन्तप्रभाः पुष्पाणीव तैः चिता = फूल सरीखी दांतों की कान्ति से पूर्ण और 'दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चिता' = दांतों की कान्ति के सदृश कान्ति वाले फूलों से भरी), 'पाणिपल्लवशोभिनी' (पाणिः पल्लव इव तेन शोभिनी = किसलय सरीखे हाथों से सुन्दर और 'पाणिसदृशेन पल्लवेन शोभते तच्छीला' = हाथों के सदृश पल्लवों से सुशोभित) और 'सुवेषा' (सुन्दर वेष-भूषा से सुसज्जित) है, 'केशपाशालिवृन्देन राजते' भ्रमरसमूह सरीखे अपने केशपाश से बड़ी मनोहर लग रही है तथा केशपाश सरीखे भ्रमरसमूह से बड़ी मनोहर प्रतीत हो रही है ('केशपाशः अलिवृन्दमिव तेन' तथा 'केशपाशसदृशेन' अलिवृन्देन)।

अत्र सुवेषत्ववशात्प्रथमं दन्तप्रभाः पुष्पाणीवेत्युपमागर्भत्वेन समासः। अनन्तरं च दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चितेत्यादिसमासान्तराश्रयेण समानविशेषणमाहात्म्याद्धारणेक्षणायां लताव्यवहारप्रतीतिः। रूपकगर्भत्वे यथा—'लावण्यमधुभिः पूर्णम्-' इत्यादि। सङ्करगर्भत्वे यथा-'दन्तप्रभापुष्प-' इत्यादि। 'सुवेषा' इत्यत्र 'परीता' इति पाठे ह्युपमारूपकसाधकाभावात्सङ्करसमाश्रयणम्। समासान्तरं पूर्ववत्। समासान्तरमहिम्ना लताप्रतीतिः। एषु च येषां मते उपमासङ्करयोरेकदेशविवर्तिता नास्ति तन्मते आद्यतृतीययोः समासोक्तिः।

द्वितीयस्तु प्रकार एकदेशविवर्तिरूपकविषय एव। पर्यालोचने त्वाद्ये प्रकारे एकदेशविवर्तिन्युपमैवाङ्गीकर्तुमुचिता।

यहाँ 'सुवेषा' इस विशेषण-पद की महिमा से, जो कि उपमा का उपपादक पद है और प्रस्तुत 'नायिका' में ही अन्वित हो सकता है, यह स्पष्ट है कि 'दन्तप्रभापुष्पचिता' आदि विशेषण भी प्रस्तुत नायिका में ही अन्वित होने योग्य हैं क्योंकि 'दन्तप्रभापुष्पचिता' आदि में 'दन्तप्रभाः पुष्पाणीव तैश्चिता' आदि अर्थ में जो समास सम्पन्न होता है उसमें 'उपमा' का अन्तर्भाव निर्विवाद है। इसके बाद जब कि 'दन्तप्रभापुष्पचिता' आदि में 'दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चिता' आदि रूप से मध्यमपदलोपी समास किया जाता है तब यह स्पष्ट हो जाता है कि इन विशेषणों की महिमा से, जो कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों में समान रूप से अन्वित हो सकते हैं, प्रकृत 'मृगनयनी' पर 'लता' के व्यवहार का समारोप किस प्रकार किया हुआ है (इस प्रकार यहाँ औपम्यगर्भ विशेषण-साम्य में 'समासोक्ति' की रूपरेखा स्पष्ट दिखायी देने लगेगी)।

इसी प्रकार (२ री) अर्थात् रूपकगर्भता की अवस्था में, विशेषणसाम्य में 'समासोक्ति' के दर्शन के लिये यह पूर्वोद्धृत सूक्ति देखिये—

'लावण्यरूपी मधुरस से भरा इस सुन्दरी का विकसित मुख...आदि'

[यहाँ 'लावण्यमधुभिः' आदि में 'मयूरव्यंसकादयश्च' इस सूत्र से रूपक समास है। 'लावण्य' और 'मधु' आदि में 'आह्लादकत्व' आदि रूप 'सादृश्य' भी स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। जो कि यहाँ के रूप्यरूपक-भाव में मूलरूप से पड़ा है। साथ ही साथ 'लावण्य मधु' आदि का रूप्यरूपक-भाव ऐसा है जो निरपेक्ष-स्वतन्त्रतया अवस्थित-प्रतीत हो रहा है क्योंकि, इसके लिये, जैसा कि स्पष्ट है, 'मुख' पर 'पद्मत्व' के आरोप की कोई अपेक्षा नहीं दिखायी देती। 'किन्तु 'पद्म' में ही अन्वित हो सकने वाला 'विकस्वरत्व' का धर्म इसी बात को सिद्ध करता है कि 'पद्म' का 'विकस्वरत्व' मुख के 'विकस्वरत्व' पर आरोपित है जिससे 'मुख' पर पद्मव्यवहार की प्रतीति में 'समासोक्ति' स्पष्ट प्रतीत हो उठती है।]

अब, (३ री) अर्थात् उपमा-रूपक-साङ्कर्यगर्भता की अवस्था में, विशेषण-साम्य में 'समासोक्ति' के निदर्शन के लिये पूर्वोद्धृत 'दन्तप्रभापुष्पचिता' आदि सूक्ति ही पर्याप्त है। यहाँ यदि 'सुवेषा' के स्थान पर 'परीता' कर दिया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि यहाँ न तो 'उपमा' का साधक कोई प्रमाण रहेगा और न 'रूपक' का ही (क्योंकि 'दन्तप्रभापुष्पचिता' में 'दन्तप्रभा पुष्पाणीव तैश्चिता' इस रूप में उपमा समास भी संगत होगा और 'दन्तप्रभा एव पुष्पाणि तैश्चिता' इस रूप में रूपकसमास भी उपपन्न रहेगा) और अन्त में उपमारूपक संदेह-संकर की मान्यता अनायास सिद्ध हो जायगी। और

अन्यथा—

'ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रमोदयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ॥'

इत्यत्र कथं शरदि नायिकाव्यवहारप्रतीतिः, नायिकापयोधरेणार्द्रनखक्षताभ-शक्रचापधारणासम्भवात्।

ननु 'आर्द्रनखक्षताभम्' इत्यत्र स्थितमप्युपमानत्वं वस्तुपर्यालोचनया ऐन्द्रे

इसके बाद जब कि, 'दन्तप्रभापुष्पचिता' आदि पदों में उसी रूप का समास माना जाय जो कि 'सुवेषा' पद के सद्भाव में, पहले माना गया, तब यह स्पष्ट हो जायगा कि यहाँ किस प्रकार प्रकृत नायिका पर लता का आरोप किया गया है (क्योंकि जहाँ 'सुवेषत्व' का धर्म केवल नायिका में अन्वित प्रतीत होता था वहाँ 'परीतत्व' का धर्म नायिका और लता दोनों में अनुगत प्रतीत होगा और 'नायिका' में 'लता' की प्रतीति निस्संदिग्ध रूप से होने लगेगी)।

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि कुछ आलङ्कारिकों (जैसे कि उद्भट आदि) के अनुसार, जो कि उपमा और रूपक के संदेह संकर की 'एकदेशविवर्तिता' नहीं मानते, 'दन्तप्रभापुष्पचिता' सुवेशा आदि प्रथम और 'दन्तप्रभापुष्पचिता परीता' आदि तृतीय उद्धरणों में तो 'समासोक्ति' अलङ्कार है किन्तु 'लावण्यमधुभिः' आदि द्वितीय उद्धरण में जो अलङ्कार है वह 'एकदेशविवर्तिरूपक' है (क्योंकि 'लावण्यमधुभिः' आदि में जिस 'विकस्वरत्व' धर्म का निर्देश है वह, वैसे तो, 'मुख' में बाधित प्रतीत होता है किन्तु 'मुख' पर 'कमलत्व' के आरोप में उपचारतः अन्वित हो जाता है)।

किन्तु यदि उपर्युक्त समासोक्ति-मान्यता पर विमर्श किया जाय तो यही निष्कर्ष निकल सकता है कि 'दन्तप्रभा···सुवेषा···' आदि प्रथम सूक्ति में 'समासोक्ति' की अपेक्षा 'एकदेशविवर्तिनी उपमा' की ही मान्यता अधिक युक्तियुक्त है। अन्यथा निम्न सूक्ति अर्थात्—

'यह शरद् ऋतु, जिसके 'पाण्डुपयोधर' (शुभ्र मेघमण्डल और शुभ्रपीत स्तनयुग्म) पर नूतन नखक्षत की आभावाला इन्द्रधनुष झलक रहा है, जो कि 'सकलङ्क' ('शश' रूप लाञ्छनयुक्त और परस्त्रीगमनरूप दोषयुक्त) चन्द्रमा को प्रमुदित (निर्मल किंवा रतिसुख में विभोर) बना रही है और सूर्य (और प्रियतम) को बहुत अधिक 'संतप्त' (तीक्ष्ण आतपमय और मनस्तापयुक्त) करती दिखायी दे रही है (आ पहुँची)।'

आदि में (जहां इन्द्रधनुप में नखक्षत का सादृश्य और मेघ में कुच का सादृश्य तो शाब्द है और शरदृतु में नायिका, चन्द्रमा में उपनायक तथा सूर्य में नायक का औपम्य अर्थसामर्थ्य सिद्ध है) यह कैसे संभव है कि शरदृतु में नायिका के व्यवहार की प्रतीति में 'समासोक्ति' होने लगे जब कि नायिकापयोधर (स्त्री के स्तन) के साथ नवीन नखक्षत की कान्तिवाले इन्द्रधनुप के धारण का धर्म अन्वित ही नहीं हो सकता ('ऐन्द्रं धनुः' आदि में यह तो 'एकदेशविवर्तिनी उपमा' है जिसके दर्शन में 'इन्द्रधनुष' और 'नखक्षत', 'शरद्' और 'नायिका', 'चन्द्रमा' और 'प्रतिनायक' तथा 'सूर्य' और 'नायक' का औपम्य स्पष्ट हो जाता है)।

यहाँ यदि 'ऐन्द्रं धनुः' आदि में यह कहा जाय कि 'एकदेशविवर्तिनी उपमा' की संभावना इसलिये नहीं होनी चाहिये क्योंकि 'आर्द्रनखक्षताभम्' में औपम्य शब्दतः

धनुषि सञ्चारणीयम्। यथा—'दध्ना जुहोति' इत्यादौ हवनस्यान्यथासिद्धेर्दधिनि सञ्चार्यते विधिः।

एवञ्चेन्द्रचापाभमार्द्रनखक्षतं दधानेति प्रतीतिर्भविष्यतीति चेत्? न, एवंविधनिर्वाहे कष्टसृष्टिकल्पनादेकदेशविवर्त्युपमाङ्गीकारस्यैव ज्यायस्त्वात्।

अस्तु वात्र यथाकथञ्चित्समासोक्तिः। 'नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैः–' इत्यादौ चान्यगत्यसम्भवात्। किं चोपमायां व्यवहारप्रतीतेरभावात्कथं तदुपजीविकायाः समासोक्तेः प्रवेशः।

यदाहुः—

'व्यवहारोऽथवा तत्त्वमौपम्ये यत्प्रतीयते।
तन्नौपम्यं समासोक्तिरेकदेशोपमा स्फुटा॥'

प्रतिपादित है और इसलिये यहाँ 'समासोक्ति' मानना ही ठीक है क्योंकि 'आर्द्रनखक्षताभम्' में, जैसा कि इस सूक्ति का अर्थ रहस्य है, 'नखक्षत' की उपमानता 'इन्द्रधनुष' में लागू मान ली जायगी और 'इन्द्रधनुष की भाँति नखक्षत धारण करती' इस अर्थ की प्रतीति में 'समासोक्ति' सिद्ध हो जायगी। अब 'नखक्षत' की उपमानता का 'इन्द्रधनुष' में क्योंकर संचार किया गया (अर्थात् नखक्षत को उपमेय मानकर इन्द्रधनुष को क्योंकर उपमान मान लिया गया) इसके लिये मीमांसकों का 'अदग्धदहन-न्याय' ही प्रमाण है जिसके अनुसार 'अप्राप्त का ही विधान' संभव है, प्रमाणान्तर से प्राप्त का नहीं अर्थात् जैसे कि 'दध्ना जुहोति' आदि विधिवाक्य का अभिप्राय 'दधि'मात्र का विधान है न कि 'अग्निहोत्र' का भी जो कि 'अग्निहोत्रं जुहोति'इस विधि से ही प्राप्त है वैसे ही 'आर्द्रनखक्षताभम् ऐन्द्रं धनुर्दधाना' का अभिप्राय 'ऐन्द्रचापाभं नखक्षतं दधाना' ही है, जैसा कि इस सूक्ति के पूर्वापरपर्यालोचन से सिद्ध है।

किन्तु इस उपर्युक्त 'समासोक्ति-कल्पना' में, जैसा कि स्पष्ट है, कष्टकल्पना ही प्रतीत हो रही है। इसलिये यहाँ 'समासोक्ति' न मानकर 'एकदेशविवर्तिनी उपमा' का ही मानना श्रेयस्कर है। अथवा यदि 'ऐन्द्रं धनुः' आदि में किसी प्रकार उपमानुप्राणित 'समासोक्ति' मान भी ली जाय तब भी यह तो अगत्या मानना ही पड़ेगा कि 'नेत्रैरिवोत्पलैः' आदि में 'समासोक्ति' नहीं अपितु केवल 'एकदेशविवर्तिनी उपमा' ही अलङ्कार है। यहां एक बात और भी विशेषरूप से विचारणीय है और वह यह है कि जब कि 'उपमा' में, एक वस्तु (उपमेयरूप वस्तु) पर दूसरी (उपमानरूप) वस्तु के व्यवहार का समारोप नहीं हुआ करता अपितु एक वस्तु की, दूसरी वस्तु से सादृश्य-प्रतीति ही सब कुछ है, तब यह कैसे मान लिया जाय कि सादृश्यप्रतीति पर निर्भर 'उपमा' में व्यवहार-समारोप की प्रतीति पर निर्भर 'समासोक्ति' प्रवेश पा जाया करती है (अर्थात् 'उपमानुप्राणित समासोक्ति' की कल्पना निराधार-सी ही है)। तभी तो यह कहा गया है कि—

'औपम्य अर्थात् सादृश्यगर्भ विशेषण-प्रयोग के प्रसंगों में जो व्यवहार-समारोपरूप अथवा स्वरूप-समारोपरूप सादृश्य प्रतीत हुआ करता है उसमें 'समासोक्ति' नहीं हुआ करती क्योंकि उसमें तो 'एकदेशविवर्तिनी उपमा' का ही चमत्कार-प्रतीति सिद्ध हुआ करता है।'

एवञ्चोपमारूपकयोरेकदेशविवर्तिताङ्गीकारे तन्मूलसङ्करेऽपि समासोक्तेरप्रवेशो न्यायसिद्ध एव।

तेनौपम्यगर्भविशेषणोत्थापितत्वं नास्या विषय इति विशेषणसाम्ये श्लिष्टविशेषणोत्थापिता साधारणविशेषणोत्थापिता चेति द्विधा। कार्यलिङ्गयोस्तुल्यत्वे च द्विविधेति चतुःप्रकारा समासोक्तिः।

सर्वत्रैवात्र व्यवहारसमारोपः कारणम्। स च क्वचिल्लौकिके वस्तुनि लौकिकवस्तुव्यवहारसमारोपः, शास्त्रीये वस्तुनि शास्त्रीयवस्तुव्यवहारसमारोपः, लौकिके वा शास्त्रीयवस्तुव्यवहारसमारोपः, शास्त्रीये वा लौकिकवस्तुव्यवहारसमारोप इति चतुर्धा।

तत्र लौकिकवस्त्वपि रसादिभेदादनेकविधम्। शास्त्रीयमपि तर्कायुर्वेदज्योतिःशास्त्रप्रसिद्धतयेति बहुप्रकारा समासोक्तिः। दिङ्मात्रं यथा—'व्याधूय यद्वसनम्–' इत्यादौ लौकिके वस्तुनि लौकिकस्य हठकामुकव्यवहारादेः समारोपः।

इससे क्या सिद्ध हुआ? यही कि जब कि 'उपमा' और 'रूपक' में 'एकदेशविवर्तिता' की मान्यता निर्विवाद है (जिससे इनके प्रसङ्गों में 'समासोक्ति' कदापि नहीं मानी जा सकती) तब यह भी निर्विवाद ही है कि उपमा और रूपकमूल संदेहसंकर के प्रसंगों में भी 'समासोक्ति' की मान्यता युक्तियुक्त नहीं। इससे यह सिद्ध है कि (अलङ्कारसर्वस्वकार आदि आलङ्कारिकों द्वारा मान्य) औपम्यगर्भ विशेषण-साम्य 'समासोक्ति' का विषय नहीं हुआ करता।

निष्कर्ष यह निकलता है कि वह 'समासोक्ति' जो कि विशेषण-साम्य में हुआ करती है केवल दो प्रकार की ही है—(१ ली) श्लिष्टविशेषणनिबन्धना समासोक्ति और (२ री) साधारणविशेषणनिबन्धना समासोक्ति। इस प्रकार समविशेषणमूला 'समासोक्ति' के इन दो प्रकारों को मिलाकर 'समासोक्ति' के चार प्रकार युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं।

'समासोक्ति' का प्रयोजक व्यवहार-समारोप ही है जो कि इसके चारों प्रकारों में व्याप्त है। इस व्यवहार-समारोप के भी चार रूप हैं—(१ ला) लौकिक वस्तु पर लौकिक वस्तु का व्यवहार-समारोप, (२ रा) शास्त्रीय वस्तु पर शास्त्रीय वस्तु का व्यवहार-समारोप, (३ रा) लौकिक वस्तु पर शास्त्रीय वस्तु का व्यवहार-समारोप और (४ था) शास्त्रीय वस्तु पर लौकिक वस्तु का व्यवहार-समारोप। इसके पहले रूप की भी अनेकों प्रकार की संभावनाएँ हैं क्योंकि लौकिक वस्तु में भी, रसभावादि के भेद से भिन्न भिन्न रूपों का दर्शन हुआ करता है। इसी भांति दूसरे रूप के भी अनेक प्रकार प्रतीत होते हैं क्योंकि शास्त्रीय वस्तु के भी प्रकार अनेक हैं जैसा कि तर्क-आयुर्वेद-ज्योतिःशास्त्र आदि-आदि भिन्न-भिन्न शास्त्रों के प्रचलन और प्रवर्तन से स्पष्ट है।

इस दृष्टि से देखते, यही कहा जा सकता है कि 'समासोक्ति' (चार ही प्रकार की नहीं, जैसा कि कहा गया अपितु) अनेक प्रकार की हुआ करती है जैसा कि स्पष्ट है। दिग्दर्शनमात्र के लिए, यदि 'व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनायाः' आदि सूक्ति की 'समासोक्ति' को देखें तो यह पता चल जायगा कि एक ('मलयानिल'रूप) लौकिक वस्तु पर, दूसरी 'हठकामुक'रूप लौकिक वस्तु के व्यवहार का समारोप क्या है और कैसा है? इसी प्रकार यदि निम्न-सूक्ति अर्थात्—

'यैरेकरूपमखिलास्वपि वृत्तिषु त्वां
पश्यद्भिरव्ययमसंख्यतया प्रवृत्तम्।
लोपः कृतः किल परत्वजुषो विभक्ते-
स्तैर्लक्षणं तव कृतं ध्रुवमेव मन्ये ॥'

अत्रागमशास्त्रप्रसिद्धे वस्तुनि व्याकरणप्रसिद्धवस्तुव्यवहारसमारोपः। एवमन्यत्र।

रूपकेऽप्रकृतमात्मस्वरूपसन्निवेशेन प्रकृतस्य रूपमवच्छादयति। इह तु स्वावस्थासमारोपेणावच्छादितस्वरूपमेव तं पूर्वावस्थातो विशेषयति। अत एवात्र व्यवहारसमारोपो न तु स्वरूपसमारोप इत्याहुः।

उपमाध्वनौ श्लेषे च विशेष्यस्यापि साम्यम्, इह तु विशेषणमात्रस्य। अप्रस्तुतप्रशंसायां गम्यत्वम्, इह त्वप्रस्तुतस्येति भेदः।

'हे प्रभो! सोचता हूँ कि जिन लोगों ने तुम्हें, तुम्हारी विविध (सृष्टि-स्थिति-संहृति आदि) अवस्थाओं में भी एकरूप किंवा अव्यय (अनश्वर) निर्विकार और असङ्ख्य रूपों वाला देखा है और ऐसा देख कर 'तत्'-'त्वम्' आदि रूप में प्रकाशित समस्त भेद-भाव का उच्छेद कर दिया है, उन्होंने ही तुम्हारा सचमुच लक्षण किया है (उन्होंने ही तुम्हें सचमुच पहचाना है)।'

आदि की 'समासोक्ति' पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि (एक शास्त्र अर्थात्) वेदान्तशास्त्र में प्रसिद्ध (ब्रह्मरूप) वस्तु पर (दूसरे शास्त्र अर्थात्) व्याकरण-शास्त्र में प्रसिद्ध ('निपात'रूप) वस्तु का व्यवहार-समारोप क्या और कैसा हुआ करता है। यहाँ व्याकरण-प्रसिद्ध 'निपात'रूप वस्तु के व्यवहार-समारोप का अभिप्राय 'यैरेक' आदि सूक्ति के इस निपातपरक अर्थ में समझा जा सकता है—'हे निपात! सोचता हूँ कि जिन लोगों ने तुम्हें, अनेक (कृत्-तद्धित-समास आदि) वृत्तिओं में भी परिवर्तन-शून्य किं वा अव्यय ('अव्यय' पद द्वारा बोध्य) तथा वचननिर्देश से शून्य—व्याकरण में अव्यय पदों के वचन आदि का विचार नहीं हुआ करता—माना है और ऐसा देखकर तुममें, तुम्हारी परवर्तिनी (सुप् आदि) विभक्तिओं का लोप स्वीकार किया है, उन्होंने ही तुम्हें सचमुच पहचाना है (तुम्हारे लिये 'चादयोऽसत्त्वे', 'प्रादयः', आदि सूत्रों और सिद्धान्तों को बनाया)।

इसी प्रकार अन्यत्र भी (काव्य-साहित्य में) विविध प्रकार के व्यवहार-समारोप के दृष्टान्त देखे जा सकते हैं।

यहाँ (वस्तुतः एकदेशविवर्तिरूपक) और 'समासोक्ति' का यह परस्पर भेद समझ लेना चाहिये—'रूपक' में जो 'अप्रकृत' (उपमानरूप) रहा करता है वह अपने स्वरूप के समारोप से, 'प्रकृत' के स्वरूप को ढँक लिया करता है किन्तु 'समासोक्ति' में ऐसा हुआ करता है कि 'अप्रकृत' अपनी अवस्था को 'प्रकृत' पर आरोपित किया करता है जिससे उस (प्रकृत) का स्वरूप तो नहीं ढका करता किन्तु उसकी अवस्था में कुछ विशेषता अवश्य आ जाया करती है। वस्तुतः इसीलिये 'समासोक्ति' को 'व्यवहार-समारोप' कहा गया है न कि 'स्वरूपसमारोप'।

'समासोक्ति' और 'उपमाध्वनि' भी एक नहीं और न 'समासोक्ति' और 'अर्थश्लेष' ही एक हैं। यह है कि 'उपमाध्वनि' और 'अर्थश्लेष' में तो विशेष्य का भी

साम्य अपेक्षित है किन्तु 'समासोक्ति' में एकमात्र विशेषण-साम्य की ही अपेक्षा रहा करती है। 'समासोक्ति' से 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का भेद इसलिये सिद्ध है क्योंकि जहाँ 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में 'प्रस्तुत' गम्यरूप से प्रतीत हुआ करता है वहाँ 'समासोक्ति' में 'अप्रस्तुत' की ही गम्यरूप से प्रतीति हुआ करती है।

विमर्श—(क) 'समासोक्ति' की कल्पना विशेषण-वैचित्र्य के अनुसंधान का परिणाम है। कविजन अपने काव्यों में ऐसे विशेषणों का प्रयोग किया करते हैं जिनसे अप्रस्तुत की अभिव्यञ्जना हुआ करती है और प्रस्तुत का सौन्दर्य और भी अधिक निखरा करता है। 'समासोक्ति' में अप्रस्तुत अभिव्यङ्ग्य होकर प्रस्तुत की ही विशेषता बढ़ाया करता है। आचार्य जयरथ ने इसी लिए कहा है—

'एवं समासोक्तौ व्यवहारसमारोपादप्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य वैशिष्ट्यलक्षणमवच्छेदकत्वं विधीयते। रूपके तु रूपसमारोपाद्रूपरूपितत्वाख्यमाच्छादकत्वमित्यनयोर्भेदः।'

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १०९)

अर्थात् 'समासोक्ति' में अप्रस्तुत प्रस्तुत का अवच्छेदक अथवा वैशिष्ट्याधायक रहा करता है। किन्तु रूपक में अप्रस्तुत प्रस्तुत का आच्छादक अथवा अपने रूप में रूपित करने वाला हुआ करता है।

अप्रस्तुत की 'अवच्छेदकता' का अभिप्राय प्रस्तुत पर उसके व्यवहार का समारोप है और 'आच्छादकता' का अभिप्राय प्रस्तुत पर उसके रूप का समारोप है—

'विशेषणसाम्याद्धि प्रतीयमानमप्रस्तुतं प्रस्तुतावच्छेदकत्वेन प्रतीयते। अवच्छेदकत्वञ्च व्यवहारसमारोपो न रूपसमारोपः। रूपसमारोपे त्ववच्छादितत्वेन प्रकृतस्य तद्रूपरूपितत्वाद्रूपकमेव।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १०९)

अर्थात् 'रूपक' में भले ही ऐसा हो कि प्रस्तुत अप्रस्तुत के रूप में रूपित होकर अपने स्वरूप का परित्याग कर दे किन्तु 'समासोक्ति' में तो प्रस्तुत अपने स्वरूप में विराजमान रहा करता है और अभिव्यङ्ग्य अप्रस्तुत की वैशिष्ट्याधायकता के कारण विचित्र रूप से रमणीय भी लगा करता है।

(ख) विश्वनाथ कविराज ने अलङ्कारसर्वस्वकार की ही 'समासोक्ति'-सम्भावनाओं को अपने शब्दों में प्रकट किया है। जो कुछ भी अलङ्कारसर्वस्व का खण्डन-मण्डन सा प्रतीत होता है वह सब वस्तुतः आचार्य रुय्यक द्वारा ही प्रतिपादित प्राचीन और नवीन मान्यताओं की आलोचना-प्रत्यालोचना है। वैसे विश्वनाथ कविराज ने 'औपम्यगर्भ विशेषणोत्थापित' समासोक्तिप्रकार का खण्डन अवश्य किया है किन्तु इसका भी आधार 'अलंकारसर्वस्व' और 'विमर्शिनी' की ही युक्ति-प्रतियुक्तियाँ हैं। 'विमर्शिनी' कार ने स्पष्ट कहा है—

अभावादिति उद्भटमतेन। यदाहुः—'न च रुद्रटस्येवोद्भटस्यैकदेशविवर्तिरूपकवदुपमासंकरावेकदेशिनौ स्तः।' अतश्चैतन्मताभिप्रायेणोक्तम्। ग्रन्थकृन्मते हि वक्ष्यमाणनीत्या तयोः संभवः। ननु यदि तयोर्ग्रन्थकृन्मते संभवस्तदौपम्यगर्भविशेषणोत्थापितः समासोक्तिप्रकारस्तर्हि न संभवति। तस्यैकदेशविवर्तिरूपकवदेकदेशविवर्तिभ्यामुपमासंकराभ्यामेवार्थान्तरप्रतीतिसिद्धेर्वैयर्थ्यात्। नैतत्। यतोऽस्त्येव तावदौपम्यगर्भविशेषणहेतुकत्वं समासोक्तेः। किंत्वेतदन्यभेदसहचरितमेवास्या निमित्ततां भजते न पुनः केवलम्। तथात्वे हि विशेषणानामौपम्यगर्भत्वे एकदेशविवर्तिन्या उपमायाः प्राप्तिः। तत्र श्लिष्टत्वसहचरितमेतद् यथा—

(२३—परिकर)

उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः ।

यथा—

'अङ्गराज ! सेनापते ! द्रोणोपहासिन् ! कर्ण ! रक्षैनं भीमाद् दुःशासनम् !'

'परिपिञ्जरितासिताम्बरैर्निविडैः कं न हरन्ति हारिभिः ।
अयि सायमिमाः पयोधरैः स्फुटरागाश्चलतारका दिशः ॥'

अत्र 'स्फुटसंध्यातपकुङ्कुमैः' इति पाठे 'संध्यातपकुङ्कुमैरि'त्यौपम्यगर्भं विशेषणम् ।

साधारण्यसहचरितं यथा—

'तन्वी मनोरमा बाला लोलाक्षी स्तबकस्तनी । विकासमेति सुभग भवद्दर्शनमात्रतः ॥'

अत्र स्तबकस्तनीत्यौपम्यगर्भं विशेषणम् ।

शुद्धकार्यसमारोपसहचरितं यथा—

'समारुरोहोपरि पादपानां लुलोठ पुष्पोत्करेणुपुञ्जे ।
लताप्रसूनांशुकमाचकर्ष क्रीडन्वने किं न चकार चैत्रः ॥'

अत्र प्रसूनांशुकमित्यौपम्यगर्भविशेषणम् ।

केवलत्वे पुनरेतेषामेकदेशविवर्तिन्युपमैव । यथा—

'बभौ लोलाधरदलस्फुरद्दशनकेसरम् । भ्रूविलासालिवलयं-ललितं ललनामुखम् ॥'

अत्र ललितत्वमुपमासाधकम् । समासान्तराश्रयात् समानविशेषणत्वं भवदपि नात्र समासोक्तेः प्रयोजकम् । एकदेशविवर्त्युपमामुखेनैवार्थान्तरप्रतीतेस्तस्या वैयर्थ्यम् । एवं दन्तप्रभेत्यादावपि ज्ञेयम् । दन्तप्रभाः पुष्पाणीवेत्येव समासे कृते उपमानभूताया लतायाः प्रतीतिसिद्धेः समासान्तराश्रयेणागतायास्तत्प्रतीतेर्व्यर्थत्वात् । अप्रकृतागूरणे हि कवेः संरम्भः तच्चानयैव सिद्धमिति किं समासोक्त्या । चिरन्तनानुरोधात् पुनरत्र ग्रन्थकृता समासोक्तिरुक्ता । यत्तु—'यत्र समासोक्तावुपमायां समासान्तरेण विशेषणसाम्यं योजयितुं शक्यं तत्रौपम्यगर्भविशेषणप्रभाविता समासोक्तिरुक्ता ।' इति वक्ष्यति तदपि चिरन्तनानुरोधपरमेव । अन्यथा हि समानन्यायत्वादेकदेशविवर्तिनि रूपकेऽपि यत्र समानविशेषणत्वं योजयितुं शक्यं तत्रापि समासोक्तिरिति किं नोक्तम् । यत्तु नोक्तं तद् युक्तमेव ।···"

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ ११२)

अनुवाद—'परिकर' वह अलङ्कार है जिसे विशेषणों की अभिप्रायगर्भता कहा जाया करता है । जैसे कि (वेणीसंहार की) इस उक्ति में—

'अङ्गराज ! सेनापते ! द्रोणोपहासिन् ! कर्ण ! बचाओ भीम से, अब बचाओ भीम से दुःशासन को ।'

[यहाँ यह स्पष्ट है कि कर्ण के सेनापतित्व से क्रुद्ध किंवा कर्ण से आक्षिप्त अश्वत्थामा द्वारा, कर्ण के लिये, प्रयुक्त सभी विशेषण-पद साभिप्राय हैं क्योंकि इनसे कर्ण की अयोग्यता और असमर्थता का अभिप्राय अभिव्यक्त हो रहा है ।]

विमर्श—(क) 'परिकर' शब्द का अभिप्राय 'पर्यङ्क' अथवा 'परिवार' हुआ करता है । वाच्य की विचित्रतायें ही अर्थ का अलङ्कार कही जाती हैं । कहीं-कहीं वाच्य-वैचित्र्य के अनुसंधान में ऐसा लगता है जैसे व्यङ्ग्यरूप से प्रतीत होने वाला अर्थ वाच्यार्थ का पर्यङ्क बन गया है अथवा वाच्यार्थ का अनुचर-परिचर (परिवार) सा प्रतीत हो रहा है ! वाच्यार्थ की ऐसी अवस्था जिसमें वह व्यङ्ग्यार्थ की शय्या पर आसीन दिखायी दिया करता है अथवा व्यङ्ग्यार्थ को अपनी ओर

(२४—श्लेष)

शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम् ॥ ५७ ॥

'स्वभावादेकार्थैः' इति शब्दश्लेषाद् व्यवच्छेदः। 'वाचनम्' इति च ध्वनेः। उदाहरणम्—

'प्रवर्तयन् क्रियाः साध्वीर्मालिन्यं हरितां हरन्।
महसा भूयसा दीप्तो विराजति विभाकरः॥'

आकृष्ट करता प्रतीत हुआ करता है 'परिकर' अलङ्कार की कल्पना का मूलकारण है। अलङ्कार-सर्वस्वकार ने इसीलिये कहा है—

'विशेषणानां साभिप्रायत्वं प्रतीयमानार्थगर्भाकारः। अत एव प्रसन्नगम्भीरपदत्वान्नायं ध्वनेर्विषयः। एवं च प्रतीयमानांशस्य वाच्योन्मुखत्वात् परिकर इति सार्थकं नाम।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १२०)

(ख) 'परिकर' के लिये एक विशेषण की अभिप्रायगर्भता अपेक्षित है या अनेक विशेषणों की इस संबन्ध में काव्याचार्यों में पर्याप्त मतभेद है।

काव्यप्रकाशकार, अलङ्कारसर्वस्वकार, विमर्शिनीकार आदि के अनुसार अनेक विशेषणों की साभिप्रायता ही 'परिकर' की रूपरेखा है—

'यद्यप्यपुष्टार्थस्य दोषताभिधानात्तन्निराकरणेन पुष्टार्थस्वीकारः कृतः, तथाप्येकनिष्ठत्वेन बहूनां विशेषणानामेवमुपन्यासे वैचित्र्यमित्यलङ्कारमध्ये गणितः।'

(काव्यप्रकाश : परिकरलक्षण)

'विशेषणानाञ्चात्र बहुत्वमेव विवक्षितम्। अन्यथा ह्यपुष्टार्थस्य दोषत्वाभिधानात्तन्निराकरणेन स्वीकृतस्य पुष्टार्थस्यायं विषयः स्यात्। एवमेवंविधानेकविशेषणोपन्यासद्वारेण वैचित्र्यातिशयः संभवतीत्यस्यालङ्कारत्वम्' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १२०)।

विश्वनाथ कविराज भी इस संबन्ध में इन्हीं आचार्यों के अनुयायी हैं। किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ के मत में एक विशेषण की अभिप्रायगर्भता भी 'परिकर' की ही रूपरेखा मानी गयी है—

'विशेषणानेकत्वं हि व्यङ्ग्याधिक्याधायकत्वाद्वैचित्र्यविशेषाधायकमस्तु नाम। न तु प्रकृतालङ्कारशरीरमेव तदिति शक्यं वक्तुम्। 'वीचिचालितकालिमाहितपदे (स्वर्लोककल्लोलिनि)! त्वं तापं तिरयाधुना भवभयव्यालावलीढात्मनः॥' इति प्रागुक्ते एकस्यैव विशेषणस्य चमत्कारिताया अनपह्नवनीयत्वात्। 'अयि लावण्यजलाशय तस्या हा हन्त मीननयनायाः। दूरस्थे त्वयि किं वा कथयामो विस्तरेणालम्॥' अत्रैकैकविशेषणमात्रेणैव सकलवाक्यार्थसञ्जीवनाच्च।' (रसगङ्गाधर : परिकरप्रकरण)

अनुवाद—'श्लेष' वह अलङ्कार है जिसे स्वभावतः एक अर्थ के वाचक पदों द्वारा अनेक अर्थों का अभिधान अथवा प्रतिपादन कहा जाया करता है।

यहाँ, कारिका में 'स्वभावादेकार्थैः' इसलिये कहा गया है जिसमें इस अलङ्कार (श्लेष अथवा अर्थश्लेष) को 'शब्दश्लेष' से (जिसमें शब्द स्वभावतः द्व्यर्थक रहा करते हैं) पृथक् रूप से समझा जा सके। साथ ही साथ 'अनेकार्थवाचनम्' में 'वाचनम्' का प्रयोग इसलिये है जिसमें 'ध्वनि' से (जहाँ अनेक अर्थों की व्यञ्जना हुआ करती है) इस अलङ्कार को (जिसमें अनेक अर्थों का अभिधान अपेक्षित है) पृथक् किया जा सके। इसका उदाहरण यह है—

'सर्वत्र धार्मिक क्रिया-कर्म में प्रवृत्ति बढ़ाते हुये, चतुर्दिक् मालिन्य का निराकरण करते हुये किं वा महनीय तेज से दीप्त ये विभाकर (भगवान् सूर्य अथवा विभाकर

अत्र प्रकरणादिनियमाभावाद् द्वावपि राजसूर्यौ वाच्यौ।

(२५—अप्रस्तुतप्रशंसालंकार : सप्रभेद निरूपण)

क्वचिद्विशेषः सामान्यात्सामान्यं वा विशेषतः।
कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम्॥ ५८॥
अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् गम्यते पञ्चधा ततः।
अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद्—

क्रमेणोदाहरणम्—

(सामान्य से विशेष की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

'पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः॥'

अत्रास्मदपेक्षया रजोऽपि वरमिति विशेषे प्रस्तुते सामान्यमभिहितम्।

नामक राजा) प्रकाशित हो रहे हैं।'

यहाँ 'प्रकरण' आदि अभिधानियामकों में एक की भी सम्भावना नहीं। इसलिये यहाँ राजपरक किं वा सूर्यपरक—दोनों अर्थ वाच्यरूप से ही विवक्षित प्रतीत हो रहे हैं (जिसमें 'श्लेष' का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है)।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'श्लेष' को शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार—दोनों प्रकार का अलङ्कार माना है। शब्दालङ्कार के रूप में 'श्लेष' को शब्दश्लेष कहा है और अर्थालङ्कार के रूप में इसे 'अर्थश्लेष' माना है। 'अर्थश्लेष' और 'शब्दशक्त्युद्भवध्वनि' के भेद के सम्बन्ध में 'प्रदीप'कार की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'यत्रोभयोरर्थयोस्तात्पर्यं स श्लेषः। यत्र त्वेकस्मिन्नेव तत्, सामग्रीमहिम्ना तु द्वितीयार्थप्रतीतिः सा व्यञ्जनेति।'

अलङ्कारसर्वस्वकार ने 'समासोक्ति' और 'अर्थश्लेष' के भेद के सम्बन्ध में यह कहा है—

'केवलविशेषणसाम्यं समासोक्तावुक्तं विशेष्ययुक्तविशेषणसाम्यं त्वधिकृत्येदमुच्यते।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १२१)

अनुवाद—'अप्रस्तुतप्रशंसा' वह अलङ्कार है जिसे अप्रस्तुत से प्रस्तुत की ऐसी अभिव्यञ्जना में देखा जाया करता है जिसकी ये पाँच सम्भावनायें हुआ करती हैं—(१ ली) अप्रस्तुतरूप सामान्य से प्रस्तुतरूप विशेष की अभिव्यञ्जना, (२ री) अप्रस्तुतरूप विशेष से प्रस्तुतरूप सामान्य की अभिव्यञ्जना, (३ री) अप्रस्तुतरूप कार्य से प्रस्तुतरूप कारण की अभिव्यञ्जना, (४ थी) अप्रस्तुतरूप कारण से प्रस्तुतरूप कार्य की अभिव्यञ्जना और (५ वीं) अप्रस्तुतरूप समान वस्तु से प्रस्तुतरूप समान वस्तु की अभिव्यञ्जना। इन पञ्चविध संभावनाओं के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा भी पांच प्रकार की हुआ करती है।

इसके उदाहरण क्रमशः ये हैं—

'अपमानित होने पर भी चुप बैठ जाने वाले मनुष्य से तो वह धूल अच्छी है जो कि पैरों तले रौंदी जाने पर भी रौंदनेवाले के सिर पर जा बैठती है।' (शिशुपालवध)

यहाँ जो प्रस्तुत अभिव्यङ्ग्य है वह यह विशेषरूप अर्थ है—'शिशुपाल से अपमानित और किंकर्त्तव्यविमूढ पड़े रहने वाले हम लोगों की अपेक्षा धूल अच्छी है'। इसे सामान्य-

(विशेष से सामान्य की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

'स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥'

अत्रेश्वरेच्छया क्वचिदहितकारिणाऽपि हितकारित्वं हितकारिणोऽप्यहित-कारित्वमिति सामान्ये प्रस्तुते विशेषोऽभिहितः । एवञ्चात्राप्रस्तुतप्रशंसामूलोऽर्थान्तरन्यासः ।

दृष्टान्ते प्रख्यातमेव वस्तु प्रतिबिम्बत्वेनोपादीयते । इह तु विषामृतयोरमृत-विषीभावस्याप्रसिद्धेर्न तस्य सद्भावः ।

(कार्य से कारण की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

'इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव,
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमदलं श्यामेव हेमप्रभा ।
कार्कश्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं
सीतायाः पुरतश्च हन्त ! शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव ॥'

(अपमानित और अपमान सहने वाले मनुष्य मात्र की अपेक्षा धूल अच्छी है, आदि) रूप अर्थ के अभिधान द्वारा अभिव्यङ्ग्य रखा गया है ।

'यदि यह फूल की माला प्राण ले लेने वाली है तो मेरी छाती पर लटकती हुई मेरा प्राण क्यों नहीं ले लेती ! ओह ! ईश्वर की भी क्या लीला है कि एक के लिये तो विष भी अमृत हो जाता है और दूसरे के लिये अमृत भी विष बन जाता है ।' (रघुवंश)

यहां 'ईश्वर की इच्छा से अमङ्गलजनक भी वस्तु की मङ्गलकारिता और मङ्गलजनक भी वस्तु की अमङ्गलकारिता' का जो अभिप्राय है वह एक प्रस्तुतरूप 'सामान्य' अभिप्राय है और इसकी प्रतीति जिससे हो रही है वह यहां उपनिबद्ध एक अप्रस्ततरूप विशेष अभिप्राय अर्थात् 'अमृत के विषवत् और विष के अमृतवत् होने' का अभिप्राय है । यहां एक प्रकार से 'अर्थान्तरन्यास' का भी वैचित्र्य झलक रहा है (क्योंकि यहां सामान्य से विशेष का समर्थन भी हो रहा है) किन्तु इसका भी मूल यहां की 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' ही है ।

यहां 'दृष्टान्त' अलङ्कार की कोई सभावना नहीं क्योंकि (वैसे भले ही यहाँ 'विष के कदाचित् अमृत और अमृत के कदाचित् विष होने' तथा 'माला के द्वारा इन्दुमती के प्राणहरण और अज के प्राणदान' में बिम्बप्रतिबिम्बभाव प्रतीत हो, किन्तु) 'दृष्टान्त' में जिस वस्तु को 'प्रतिबिम्ब' (उपमान) रूप से उपन्यस्त किया जाया करता है उसके लिये यह आवश्यक है कि वह प्रसिद्ध हो । यहां 'विष के अमृत और अमृत के विष होने' का जो उपनिबन्ध है वह एक अप्रसिद्ध वस्तु है और इसलिये यहां 'दृष्टान्त' की कल्पना निर्मूल ही है ।

'सीता के (मुख के) आगे चन्द्रमा ऐसा लगता है जैसे कालिख से पुता हो; (नेत्रों के आगे) हिरनियों के नयन ऐसे लगते हैं जैसे जड़ीभूत हो रहे हों; (ओठों की लाली के आगे) मूंगे के दाने ऐसे लगते हैं जैसे उनकी लाली फीकी पड़ गयी हो; (अङ्गशोभा के आगे) सोने की चमक ऐसी लगती है जैसे काली पड़ गयी हो, (मीठी बोली के आगे) कोयल की कूक ऐसी लगती है जैसे कर्कशता से भर उठी हो और (केशपाश के आगे) मोर के पंख ऐसे लगते हैं जैसे किसी भी काम के न हों ।'

अत्र सम्भाव्यमानेभ्य इन्द्रादिगताञ्जनलिप्तत्वादिभ्यः कार्येभ्यो वदनादिगतसौन्दर्यविशेषरूपं प्रस्तुतं कारणं प्रतीयते।

(कारण से कार्य की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

'गच्छामीति यथोक्तया मृगदृशा निःश्वासमुद्रेकिणं
त्यक्त्वा तिर्यगवेद्य बाष्पकलुषेणैकेन मां चक्षुषा।
अद्य प्रेम मदर्पितं प्रियसखीवृन्दे त्वया वध्यता-
मित्थं स्नेहविवर्धितो मृगशिशुः सोत्प्रासमाभाषितः॥'

अत्र कस्यचिद्गमनरूपे कार्ये कारणमभिहितम्।

(समान वस्तु से समान वस्तु की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने च द्विधा श्लेषमूला सादृश्यमात्रमूला च। श्लेषमूलाऽपि समासोक्तिवद्विशेषणमात्रस्य श्लेषवद्विशेष्यस्यापि श्लेषे भवतीति द्विधा।

क्रमेण यथा—

(समासोक्ति की भाँति केवल विशेषण की श्लिष्टता में श्लेषमूला 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

'सहकारः सदामोदो वसन्तश्रीसमन्वितः।
समुज्ज्वलरुचिः श्रीमान् प्रभूतोत्कलिकाकुलः॥'

यहाँ 'चन्द्रमा आदि में कालिख की पुताई आदि' (अप्रस्तुतरूप) कार्यों की जो संभावना की गई है उसके द्वारा, उनके कारणभूत, सीता के मुख आदि के सौन्दर्य-विशेष की, जोकि यहाँ प्रस्तुत है, स्पष्टतया प्रतीति हो उठती है।

'जब कि मैंने उस सुन्दरी से यह कहा कि 'मैं अब जा रहा हूँ' तब उसने लम्बी आह खींची, आँसूभरी आँख से मुझे तिरछे देखा और प्रेम से पाले मृगछौने से, एक दुख-भरी मुस्कराहट के साथ, यह कहा कि 'अब तू मेरी सखियों से वैसे ही प्यार करना जैसे आज तक मुझसे करता रहा है।'

यहां जिसका अभिधान है वह एक अप्रस्तुतरूप कारण (विरहविह्वला नायिका की मृत्यु-सूचना) है और इससे जिस प्रस्तुतरूप कार्य की प्रतीति हो रही है वह नायक की देशान्तरगमननिवृत्ति का कार्य है।

जहां समान वस्तु से समान वस्तु की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' हुआ करती है वहां वह दो प्रकार की हुआ करती है—(१ ली) श्लेषमूला अप्रस्तुतप्रशंसा और (२ री) सादृश्यमात्रमूला अप्रस्तुतप्रशंसा।

यह (१ ली) अर्थात् श्लेषमूला अप्रस्तुतप्रशंसा 'समासोक्ति' की भांति, केवल विशेषण की श्लिष्टता में भी हुआ करती है और 'श्लेष' की भांति वहां भी हुआ करती है जहाँ विशेष्य भी श्लिष्ट रहा करता है। जैसे कि क्रमशः—

'आम्र का वृक्ष भी कितना विचित्र हुआ करता है—'सदामोद'—निरन्तर 'आमोद' अर्थात् सौरभ और 'मोद' अर्थात् आनन्द से युक्त, 'वसन्तश्रीसमन्वित'—वसन्त की श्री अर्थात् शोभा और वसन्तकालीन वेशभूषा से विभूषित, 'समुज्ज्वलरुचि' चमकती कान्ति से भरपूर, 'श्रीमान्'—शोभा से पूर्ण और सुन्दर वेषधारी और 'प्रभूतोत्कलिकाकुल' निकली हुई मञ्जरियों से भरा और अत्यधिक उत्कण्ठा से भरा।'

अत्र विशेषणमात्रश्लेषवशादप्रस्तुतात्सहकारात्कस्यचित्प्रस्तुतस्य नायकस्य प्रतीतिः।

(श्लेष की भाँति विशेष्य की भी श्लिष्टता में श्लेषमूला 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

'पुंस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि
याायाद्यदि प्रणयने न महानपि स्यात्।
अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयं
केनापि दिक्प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥'

अत्र पुरुषोत्तमपदेन विशेष्येणापि श्लिष्टेन प्रचुरप्रसिद्ध्या प्रथमं विष्णुरेव बोध्यते। तेन वर्णनीयः कश्चित्पुरुषः प्रतीयते।

सादृश्यमात्रमूला यथा—

'एकः कपोतपोतः शतशः श्येनाः क्षुधाभिधावन्ति।
अम्बरमावृतिशून्यं हरहर शरणं विधेः करुणा ॥'

अत्र कपोतादप्रस्तुतात्कश्चित्प्रस्तुतः प्रतीयते। इयं च क्वचिद्वैधर्म्येणाऽपि भवति।

'धन्याः खलु वने वाताः कह्लारस्पर्शशीतलाः।
राममिन्दीवरश्यामं ये स्पृशन्त्यनिवारिताः ॥'

यहां केवल विशेषणों के श्लेष से, अप्रस्तुतरूप 'सहकार' (आम्रवृक्ष) के द्वारा किसी प्रस्तुतरूप नायक की प्रतीति हो रही है—

'वह ('मोहिनी'अवतार में) चाहे पुंस्त्व (वीरता अथवा पुरुष के स्वरूप) का भी परित्याग कर दे, चाहे नीचे (वराह अवतार में पाताल में या निम्न स्थान पर) भी क्यों न चला जाय, चाहे (वामनअवतार में) 'प्रणयन' (रूप या प्रतिष्ठा) में बड़ा भी न हो सके, किन्तु इतना निश्चित है कि संसार का उद्धार अवश्य करता रहता है। और वस्तुतः यही तो वह आदर्श है जो कि इस विलक्षण पुरुषोत्तम (भगवान् विष्णु और पुरुषोत्तम नामक राजा) ने प्रकट कर दिखाया है।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि विशेष्यभूत 'पुरुषोत्तम' पद भी (विष्णुवाचक और राजवाचक होने से) श्लिष्ट है। इस पद के द्वारा, पहले, विष्णुरूप अर्थ, जो कि अधिक प्रसिद्ध है, प्रतीत हो जाता है और इसके बाद यहाँ प्रकृत पुरुषोत्तम नामक राजा की अभिव्यक्ति हो उठती है।

अब (२ री) अर्थात् 'सादृश्यमात्रमूला' अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण यह है—

'एक छोटा सा कबूतर का बच्चा उड़ रहा है। उस पर सैकड़ों भूखे बाज टूट पड़ रहे हैं। आकाश में छिपने की कोई जगह नहीं! ओह! ईश्वर की दया का ही सहारा है।'

यहाँ 'कपोत' अप्रस्तुत है और उससे किसी प्रस्तुतरूप असहाय पुरुष की प्रतीति हो उठती है।

यह (सादृश्यमात्रमूला) अप्रस्तुतप्रशंसा कहीं-कहीं वैधर्म्य के आधार पर भी दिखाई दिया करती है—

'कमलों के स्पर्श से शीतल वनवायु के वे झोंके सचमुच धन्य हैं जो कि बिना किसी रोक-टोक के नीलकमलवत् श्याम राम का स्पर्श किया करते हैं।'

अत्र वाता धन्या अहमधन्य इति वैधर्म्येण प्रस्तुतः प्रतीयते। वाच्यस्य सम्भवासम्भवोभयरूपतया त्रिप्रकारेयम्। तत्र सम्भवे उक्तोदाहरणान्येव।

असम्भवे यथा—

'कोकिलोऽहं भवान् काकः समानः कालिमावयोः।
अन्तरं कथयिष्यन्ति काकलीकोविदाः पुनः॥'

अत्र काककोकिलयोर्वाकोवाक्यं प्रस्तुतस्याध्यारोपणं विनाऽसम्भवि।

उभयरूपत्वे यथा—

'अन्तश्छिद्राणि भूयांसि कण्टका बहवो बहिः।
कथं कमलनालस्य माभूवन् भङ्गुरा गुणाः॥'

अत्र प्रस्तुतस्य कस्यचिदध्यारोपणं विना कमलनालान्तश्छिद्राणां गुणभङ्गुरीकरणे हेतुत्वमसम्भवि। अन्येषां तु सम्भवीत्युभयरूपत्वम्। अस्याश्च समासोक्तिवद् व्यवहारसमारोपप्राणत्वाच्छब्दशक्तिमूलाद्वस्तुध्वनेर्भेदः।

यहाँ 'वनवायु के झोंके भाग्यशाली' हैं यह तो अप्रस्तुत है और इससे 'मैं अभागा हूँ' यह प्रस्तुत, जिसमें वैधर्म्य का अभिप्राय स्पष्ट है, अभिव्यक्त हो उठता है।

यह 'अप्रस्तुतप्रशंसा' इस दृष्टि से तीन प्रकार की हुआ करती है (१) कहीं तो 'अप्रस्तुतरूप वाच्यार्थ संभाव्य हुआ करता है, (२) कहीं वह असंभाव्य रहा करता है और (३) कहीं वह संभाव्य और असंभाव्य दोनों रूपों में अवस्थित दिखायी पड़ा करता है। वाच्यार्थ की संभाव्यता में जो 'अप्रस्तुतप्रशंसा' हुआ करती है उसके उदाहरण-रूप में तो पूर्वोद्धृत सूक्तियाँ ही देखी जा सकती हैं। और वाच्यार्थ की असंभाव्यता में अप्रस्तुत प्रशंसा' के उदाहरण के लिये यह सूक्ति देखने योग्य है—

'मैं कोयल हूँ, तू कौआ है—हम दोनों में कालापन तो समान ही है किन्तु हम दोनों में जो भेद है उसे वे ही जानते हैं जो कि 'काकली' (स्वरमाधुरी) की पहचान रखा करते हैं।'

यहां काक और कोकिल का यह वाकोवाक्य (प्रश्नोत्तरपूर्ण आलाप) रूप वाच्यार्थ असंभाव्य है (क्योंकि काक और कोकिल यह सब प्रश्नोत्तर क्यों कर सकें) किन्तु इसकी असंभाव्यता का निराकरण इसलिए हो जाता है क्योंकि यहां प्रस्तुतरूप अर्थ (बाहर से समान किन्तु भीतर से असमान दो पुरुषों के व्यवहाररूप अर्थ) की अभिव्यञ्जना स्पष्टरूप से हो उठती है।

वाच्यार्थ की संभाव्यता असंभाव्यता की अवस्था में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का उदाहरण यह है—

'भीतर छिद्र ही छिद्र हैं और बाहर काँटे ही काँटे। फिर भला कमलनाल के गुण क्यों कर न भंगुर हुआ करें!'

यहां यह स्पष्ट है कि 'कमलनाल के छिद्रों के कारण उस (कमलनाल) के गुणों (तन्तुओं) की भङ्गुरता' का वाच्यार्थ, जो कि अप्रस्तुतरूप है, असम्भाव्य है और इस असम्भाव्यता के निराकरण के लिये यहां 'किसी प्रस्तुत पुरुष के दोषों और उस (पुरुष) के गुणों की नाशवत्ता' का व्यङ्ग्यार्थ अवश्य समझा जाया करता है। किन्तु यहीं 'कमलनाल के बाहर के काँटों और उस (कमलनाल) के गुणों (तन्तुओं) की भङ्गुरता' का अप्रस्तुतरूप वाच्यार्थ सम्भाव्य भी है किन्तु इसकी भी उपपत्ति तभी हो पाती है

उपमाध्वनावप्रस्तुतस्य व्यङ्ग्यत्वम्। एवं समासोक्तावपि। श्लेषे तु द्वयोरपि वाच्यत्वम्।

(२६—व्याजस्तुति)

—उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः ॥ ५९॥

निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः।

जब कि इसके द्वारा 'किसी प्रस्तुत पुरुष के क्षुद्र शत्रुओं और उसके दया-दाक्षिण्यादि गुणों की भङ्गुरता' का व्यङ्ग्यार्थ निकल जाता है जो कि वस्तुतः यहाँ निकल ही रहा है। इस प्रकार अप्रस्तुतरूप वाच्यार्थ की संभाव्यता-असंभाव्यता के सङ्कर में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का स्वरूप यहाँ स्पष्ट झलक उठता है। यहाँ जो 'अप्रस्तुतप्रशंसा' है उसके संबन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि, समासोक्ति की भाँति, इसका भी प्राण अथवा अन्तस्तल 'व्यवहारसमारोप' ही है (न कि रूपक की भांति रूपसमारोप)। इससे यह भी स्पष्ट है कि यह 'अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकार' शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि से सर्वथा भिन्न हुआ करता है (क्योंकि शब्दशक्त्युद्भवध्वनि में व्यवहारसमारोप का कोई भी पुट नहीं रहा करता)। यह 'अप्रस्तुतप्रशंसा-प्रकार' अलङ्कारध्वनि—वस्तुतः उपमालङ्कार-ध्वनि—भी नहीं क्योंकि (जब कि अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुतरूप अर्थ वाच्य हुआ करता है) 'उपमाध्वनि' में अप्रस्तुतरूप अर्थ व्यङ्ग्यरूप से अवस्थित दिखायी दिया करता है। 'समासोक्ति' में भी अप्रस्तुतरूप अर्थ व्यङ्ग्य रहा करता है और इसलिये यहाँ 'समासोक्ति' का भी भ्रम नहीं हो सकता। इस 'अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकार' में श्लेषालङ्कार का भी भ्रम न होना चाहिये क्योंकि श्लेषालङ्कार में अप्रस्तुत और प्रस्तुत दोनों अर्थ वाच्य रहा करते हैं (और अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुतरूप अर्थ वाच्य तथा प्रस्तुतरूप अर्थ व्यङ्ग्य हुआ करता है)।

विमर्श—(क) अप्रस्तुत और प्रस्तुत में सामान्यविशेषभाव, कार्यकारणभाव और सारूप्य की संभावना के कारण- अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' की कल्पना स्वाभाविक है। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इसीलिये कहा है—

'इहाऽप्रस्तुतस्य वर्णनमेवायुक्तमप्रस्तुतत्वात्। प्रस्तुतपरत्वे तु कदाचित्तद् युक्तं स्यात्। न चाऽप्रस्तुतादसंबन्धे प्रस्तुतप्रतीतिः अतिप्रसङ्गात्। सम्बन्धे तु भवन्ती न त्रिविधं संबंधमतिवर्तते। तस्यैवार्थान्तरप्रतीतिहेतुत्वोपपत्तेः। त्रिविधश्च संबन्धः—सामान्यविशेषभावः, कार्यकारणभावः, सारूप्यं चेति।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १३२)

'अप्रस्तुत और प्रस्तुत में 'सामान्यविशेषभाव' और 'कार्यकारणभाव' के संबन्ध के कारण सामान्य से विशेष और विशेष से सामान्य की प्रतीति तथा कार्य से कारण और कारण से कार्य की प्रतीति भी स्वाभाविक ही है और इसलिए 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के चार भेद युक्तियुक्त ही हैं। और अप्रस्तुत और प्रस्तुत में सारूप्यसंबन्ध के कारण 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का पाँचवाँ भेद भी युक्तिसिद्ध ही है।

(ख) अप्रस्तुतप्रशंसा में 'अर्थान्तरन्यास' और 'दृष्टान्त' के सौन्दर्य के आविर्भाव के संबन्ध में 'अलङ्कारसर्वस्व'कार की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'तदत्र सामान्यविशेषत्वेन, कार्यकारणत्वेन, सारूप्येण च यद्भेदपञ्चकमुद्दिष्टं तत्र द्वयोः सामान्यविशेषयोः कार्यकारणयोश्च यदा वाच्यत्वं भवति तदार्थान्तरन्यासाविर्भावः। सरूपयोस्तु वाच्यत्वे दृष्टान्तः। अप्रस्तुतस्य वाच्यत्वे प्रस्तुतस्य गम्यत्वे सर्वथाऽप्रस्तुतप्रशंसेति निर्णयः।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १३८)

अनुवाद—'व्याजस्तुति' वह अलङ्कार है जिसे निन्दारूप वाच्यार्थ से स्तुतिरूपव्यङ्ग्यार्थ

निन्दया स्तुतेर्गम्यत्वे व्याजेन स्तुतिरिति व्युत्पत्त्या व्याजस्तुतिः। स्तुत्या निन्दाया गम्यत्वे व्याजरूपा स्तुतिः।

क्रमेण यथा—

(व्याजेन स्तुतिः = निन्दा के बहाने स्तुति)

'स्तनयुगमुक्ताभरणाः कण्टककलिताङ्गयष्टयो देव !।
त्वयि कुपितेऽपि प्रागिव विश्वस्ता द्विट्स्त्रियो जाताः ॥'

इदं मम।

(व्याजरूपा स्तुतिः = स्तुति का बहाना मात्र)

'व्याजस्तुतिस्तव पयोद ! मयोदितेयं
यज्जीवनाय जगतस्तव जीवनानि।
स्तोत्रं तु ते महदिदं घन ! धर्मराज-
साहाय्यमर्जयसि यत्पथिकान्निहत्य ॥'

और स्तुतिरूप वाच्यार्थ से निन्दारूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में देखा जाया करता है।

'निन्दारूप वाच्यार्थ से स्तुतिरूप व्यङ्ग्यार्थ' की प्रतीति में 'व्याजस्तुति' की व्युत्पत्ति है 'व्याजेन स्तुतिः' अर्थात् 'निन्दा के बहाने स्तुति' और 'स्तुतिरूप वाच्यार्थ से निन्दारूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति' में 'व्याजस्तुति' की जो व्युत्पत्ति है वह है—'व्याजरूपा स्तुतिः' अर्थात् स्तुति का बहाना मात्र।

क्रमशः जैसे कि—

'महाराज ! आपके क्रुद्ध होने पर भी शत्रुनारियां निश्चिन्त हैं क्योंकि पहले की ही भांति उनके स्तन अब भी 'मुक्ताभरण' हैं (पहले इसलिये 'मुक्ताभरण' थे क्योंकि मौक्तिक के आभूषणों से विभूषित थे और अब आभूषणशून्य होने के कारण 'मुक्ताभरण' हैं) और उनकी अङ्गयष्टि भी पूर्ववत् ही 'कण्टककलित' है (पहले इसलिये 'कण्टककलित' थी क्योंकि रतिसुख के आनन्द-रोमाञ्चों से भर उठती थी और अब इसलिये 'कण्टककलित' है क्योंकि प्राण लेकर जंगलों में भागते-फिरने के कारण जंगली कांटों से बिंधी) हैं।'

यह सूक्ति स्वरचित सूक्ति है।

'हे मेघ ! यह तो मैं तुम्हारी व्याजस्तुति कर रहा हूँ कि तुम्हारा जल जगत् के जीवन के लिये है। किन्तु वस्तुतः तुम्हारी सबसे बड़ी स्तुति तो यह है कि तुम वियोगी जनों का प्राण लेकर यमराज की सहायता किया करते हो।'

विमर्श—'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने 'व्याजस्तुति' की यह स्वरूप-मीमांसा की है—

'यत्र स्तुतिरभिधीयमानाऽपि प्रमाणान्तराद् बाधितस्वरूपा निन्दायां पर्यवस्यति तत्राऽसत्यत्वाद् व्याजरूपा स्तुतिरित्यनुगमेन व्याजस्तुतिः। यत्रापि निन्दाशब्देन प्रतिपाद्यमाना पूर्ववद् बाधितरूपा स्तुतिः पर्यवसिता भवति सा द्वितीया व्याजस्तुतिः। व्याजेन निन्दामुखेन स्तुतिरिति कृत्वा।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १४२)

अर्थात् 'व्याजस्तुति' की दो ही संभावनायें हैं। पहली संभावना वह है जिसमें अप्रस्तुत स्तुतिरूप अर्थ से प्रस्तुत निन्दारूप अर्थ अभिव्यङ्ग्य हुआ करता है और दूसरी वह जिसमें अप्रस्तुत निन्दारूप अर्थ के आधार पर प्रस्तुत स्तुतिरूप व्यङ्ग्यार्थ निकला करता है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि अप्रस्तुत निन्दा अथवा स्तुतिरूप अर्थ से स्तुति अथवा निन्दारूप प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होने पर भी 'व्याजस्तुति' में अप्रस्तुतप्रशंसा की भ्रान्ति नहीं

(२७—पर्यायोक्त)

पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते ॥ ६० ॥

उदाहरणम्—

'स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसम्भोगलालिताः ।
सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः ॥'

अत्र हयग्रीवेण स्वर्गो विजित इति प्रस्तुतमेव गम्यं कारणं वैचित्र्यविशेष-प्रतिपत्तये सैन्यस्य पारिजातमञ्जरीसावज्ञस्पर्शनरूपकार्यद्वारेणाभिहितम् । न चेदं कार्यात्कारणप्रतीतिरूपाप्रस्तुतप्रशंसा, तत्र कार्यस्याप्रस्तुतत्वात्; इह तु वर्णनीयस्य प्रभावातिशयबोधकत्वेन कार्यमिति कारणवत्प्रस्तुतम् ।

हुआ करती । कारण यह है कि 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में तो अप्रस्तुत और प्रस्तुत में 'सामान्यविशेष-भाव', 'कार्यकारणभाव' और 'सारूप्य' का संबन्ध रहा करता है किन्तु 'व्याजस्तुति' में, अप्रस्तुत और प्रस्तुत में, इन तीनों संबन्धों से भिन्न, स्तुतिनिन्दारूप संबन्ध-वैचित्र्य का चमत्कार मिला करता है । इसीलिये आचार्य रुय्यक का यह कथन है—'**स्तुतिनिन्दारूपत्वस्य विच्छित्तिविशेषस्य भावादप्रस्तुतप्रशंसातो भेदः ।** (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १४२)

'व्याजस्तुति' में लक्षणामूलक 'ध्वनि' का भी भ्रम निराधार है क्योंकि जहाँ 'व्याजस्तुति' में स्तुति अथवा निन्दारूप वाच्यार्थ, अनुपपन्न होकर, निन्दा अथवा स्तुतिरूप अर्थ के लिये जिसमें वाक्यार्थ विश्रान्त हुआ करता है, अपने आपको समर्पित कर डालता है वहाँ 'ध्वनि' में ऐसा हुआ करता है कि वाक्यार्थ की विश्रान्ति के बाद, वक्ता अथवा वाच्य के औचित्य-पर्यालोचन से, स्तुति अथवा निन्दारूप वाच्यार्थ निन्दा अथवा स्तुतिरूप व्यङ्ग्यार्थ का प्रत्यायन किया करता है । 'विमर्शिनी'कार आचार्य जयरथ ने इसीलिये कहा है—

'अत एवाऽस्या ध्वनेर्भेदः । स (ध्वनिः) हि विश्रान्ते वाक्यार्थे वक्तृवाच्यौचित्य-पर्यालोचनाबलादवगम्यते । इह (व्याजस्तुतौ) पुनः प्रमाणान्तराद् बाधितस्सन् वाक्यार्थः स्वयमनुपपद्यमानत्वात् परत्र निन्दादौ स्वं समर्पयति । तत्रैव प्रकृतवाक्यार्थस्य विश्रान्तेः ।'
(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १४२)

और यही अभिप्राय 'रसगङ्गाधर'कार की इस उक्ति का भी है—

'आमुखेत्यादि विशेषणेन ('आमुखप्रतीताभ्यां निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः क्रमेण पर्यवसानं व्याजस्तुतिः' इति लक्षणसूत्र उपात्तं यद् विशेषणं तेनेति) तयोः पर्यवसाना-भावं वदन् बाधितत्वमभिप्रैति । अत एव नास्या ध्वनित्वम् । ध्वनौ हि निर्बाधेन वाच्ये-नाऽऽगूरणमहिम्नाऽर्थान्तरमवगम्यते । न चैवं प्रकृते ।' (रसगङ्गाधर, व्याजस्तुतिप्रकरण)

अनुवाद—'पर्यायोक्त' वह अलङ्कार है जिसे व्यङ्ग्य अर्थ के उक्तिवैचित्र्यपूर्वक अभिधान में देखा जाया करता है । इसका उदाहरण यह है—

'(यह वह प्रतापी दैत्यराज हयग्रीव है) जिसके सैनिक इन्द्राणी के केशों के सँवारने के काम में आने वाली, नन्दनवन की पारिजात-मञ्जरियों को बड़ी उद्दण्डता के साथ तोड़ा करते हैं ।'

यहाँ जो व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है वह यह है कि 'हयग्रीव ने स्वर्ग पर विजय पा ली है' यह व्यङ्ग्यार्थ प्रस्तुतरूप अर्थ है और कारणरूप भी अर्थ है किन्तु इसे एक विशेष प्रकार के चमत्कार के उत्पादन के लिये, इस रूप में न कह कर, दूसरे रूप में अर्थात् कार्यरूप में कहा गया है क्योंकि यहाँ 'सैनिकों द्वारा पारिजात-मञ्जरियों के उद्दण्डतापूर्वक तोड़ने की बात'

एवञ्च—

'अनेन पर्यासयताऽश्रुबिन्दून् मुक्ताफलस्थूलतमान् स्तनेषु ।
प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीनामाक्षेपसूत्रेण विनैव हाराः ॥'

अत्र वर्णनीयस्य राज्ञो गम्यभूतशत्रुमारणरूपकारणवत्कार्यभूतं तथाविध-शत्रुस्त्रीक्रन्दनजलमपि प्रभावातिशयबोधकत्वेन वर्णनार्हमिति पर्यायोक्तमेव ।

'राजन् राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः
कुब्जे ! भोजय मां कुमारसचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यते ।
इत्थं राजशुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरा-
च्चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥'

अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्तं श्रुत्वा सहसैवारयः पलायिता इति कारणं प्रस्तुतम् । 'कार्यमपि वर्णनार्हत्वेन प्रस्तुतम्' इति केचित् ।

(हयग्रीव के स्वर्गविजयरूप कारण के) कार्यरूप में ही प्रतीत हो सकती है । यहाँ (वाच्य) कार्य से (व्यङ्ग्य) कारण की प्रतीति सी जो लग रही है उसमें कार्य से कारण की प्रतीति में होने वाली 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का भ्रम नहीं होना चाहिये क्योंकि 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में तो कार्य प्रस्तुत नहीं रहा करता किन्तु पर्यायोक्त में कारण की भाँति कार्य भी प्रस्तुत ही रहा करता है जैसे कि यहाँ ही (व्यङ्ग्य) स्वर्गविजयरूप कारण की भाँति वाच्यभूत हैं 'सैनिकजनकृत मञ्जरी-त्रोटनरूप' कार्य भी प्रस्तुत ही लग रहा है क्योंकि इसी के द्वारा यहाँ वर्ण्य विषय (जैसे कि यहाँ दैत्यराज हयग्रीव) के प्रभावातिशय का प्रतिपादन किया जा रहा है ।

इसी प्रकार इस सूक्ति अर्थात्—

'इस प्रतापी भूपाल ने शत्रुनारियों के स्तनों पर मोतियों सरीखे उनके अश्रुकणों की वर्षा करके उन्हें ऐसे मुक्ताहार से विभूषित कर दिया है जिसमें गुम्फनसूत्र की भी आवश्यकता नहीं ।'

में भी जो अलङ्कार है वह 'पर्यायोक्त' ही है क्योंकि यहाँ भी वर्ण्य भूपालकृत शत्रुसंहाररूप कारण की भाँति, जो कि व्यङ्ग्य है, वाच्यरूप से अवस्थित, 'शत्रुनारीजनसंबद्ध अश्रुजल-रूप' कार्य भी प्रस्तुत ही प्रतीत हो रहा है और वर्ण्यविषय का एक प्रभावशाली प्रति-पादन-प्रकार सा ही लग रहा है ।

इस सूक्ति अर्थात्—

'राजन् ! आपके शत्रु के प्रासाद में पथिकों द्वारा पिंजड़ा खोलकर बाहर निकाला गया राजशुक, सूनी अटारी में अपने चित्रलिखित स्वामी आदि को देख-देख उन सबसे इस प्रकार कहा करता है—'महाराज ! राजकुमारी मुझे 'राम राम' नहीं सिखाती, राज-रानियाँ भी चुपचाप बैठी हुई हैं; अरी कुब्जे ! मुझे खाना क्यों नहीं देती; राजकुमार और उनके सचिव लोग भी क्या अब तक उपासे पड़े हैं ?'

में भी, कतिपय काव्याचार्य (वस्तुतः साहित्यदर्पणकार और उनके अनुयायी लोग) 'पर्यायोक्त' ही मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार यहाँ (कारण की भाँति) कार्य (राजशुक का अपने स्वामी आदि की मृत्यु में यह प्रलाप) भी वर्ण्य भूपाल के प्रभावातिशय के प्रतिपादनार्थ प्रस्तुतरूप से ही उपात्त है क्योंकि यहाँ (व्यङ्ग्यरूप से अवस्थित) 'राजन् !

अन्ये तु—'राजशुकवृत्तान्तेन कोऽपि प्रस्तुतप्रभावो बोध्यत इत्यप्रस्तुतप्रशंसैव' इत्याहुः।

आपको विजययात्रा के लिये प्रस्थानोद्यत सुनकर शत्रुगण सहसा भाग खड़े हुये' आदि कारण भी प्रस्तुत ही लग रहा है।

किन्तु कुछ काव्याचार्य उपर्युक्त 'राजन्' आदि सूक्ति में 'अप्रस्तुत प्रशंसा' ही मानते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में यहां 'राजशुक के वृत्तान्त से किसी प्रस्तुत प्रभावशाली राजा का ही बोध' विवक्षित है।

विमर्श—(क) 'अलङ्कारसर्वस्व'कार का 'पर्यायोक्त'विवेचन यह है—

'गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्।

यदेव गम्यत्वं तस्यैवाभिधाने पर्यायोक्तम्। गम्यस्य सतः कथमभिधानमिति चेत्, गम्यापेक्षया प्रकारान्तरेणाभिधानस्याभावात्। न हि तस्यैव तदेव तथैव विच्छित्त्या गम्यत्वं वाच्यत्वं च सम्भवति। अतः कार्यमुखद्वारेणाभिधानम्।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १४१)

अर्थात् कोई भी अर्थ एक ही समय गम्य और वाच्य दोनों रूपों का नहीं हो सकता। इसलिये गम्य अर्थ का वाच्यरूप में अभिधान एक वैचित्र्य है जैसे कि यदि 'कारण'रूप प्रस्तुत अर्थ गम्य है तो उसे 'कार्य'रूप में अभिहित किया जा सकता है और यह अभिधान-वैचित्र्य 'पर्यायोक्त' की रूपरेखा है।

विश्वनाथ कविराज के 'पर्यायोक्त'निरूपण पर इसका पूरा प्रभाव पड़ रहा है।

(ख) प्राचीन अलङ्कारवादी काव्याचार्य 'पर्यायोक्त' को इसलिये एक अलङ्कारविशेष मानते रहे हैं क्योंकि इसमें व्यङ्ग्यरूप अर्थ का चमत्कार झलकता रहा है किन्तु ध्वनिवादी काव्याचार्य भी 'पर्यायोक्त' को एक अलङ्कार मानते हैं जैसाकि आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है—

'अत एव पर्यायेण प्रकारान्तरेण अवगमात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षितं सद्यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सत् पर्यायोक्तमेवाभिधीयते इति लक्षणपदम्, पर्यायोक्तमिति लक्ष्यपदम्, अर्थालङ्कारत्वं सामान्यलक्षणञ्चेति सर्वं युज्यते।'

(ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ३९, निर्णयसागर संस्करण)

ध्वनिवादी अलङ्कारशास्त्र में 'पर्यायोक्त' का स्वरूप वही नहीं जो अलङ्कारवादी अलङ्कारशास्त्र में है। अलङ्कारवादी अलङ्कारशास्त्र के अनुसार तो प्रस्तुत अर्थ का वाच्यवाचकवृत्ति के अतिरिक्त व्यङ्ग्यव्यञ्जकवृत्ति द्वारा अभिधान 'पर्यायोक्त' है किन्तु ध्वनिवादी अलङ्कारशास्त्र में 'पर्यायोक्त' वह है जहाँ गम्य अर्थ का प्रकारान्तर से अभिधान हुआ करता है। 'पर्यायोक्त' में गम्य अथवा व्यङ्ग्य अर्थ उतना चमत्कारपूर्ण नहीं हुआ करता जितना कि उसका प्रकारान्तर से अभिधान।

(ग) पण्डितराज जगन्नाथ ने 'पर्यायोक्त' की अन्य सम्भावनायें भी निर्दिष्ट की हैं—

'अयं चालङ्कारः क्वचित् कारणेन वाच्येन कार्यस्य गम्यत्वे क्वचित् कार्येण कारणस्य, क्वचिदुभयोदासीनेन सम्बन्धिमात्रेण सम्बन्धिमात्रस्य चेति विपुलविषयः।'

(रसगङ्गाधर, पर्यायोक्तप्रकरण)

'तदेवं संक्षेपतस्त्रिविधः। वाग्भङ्गीनां तु पर्यालोचने एकस्मिन्नेव विषयेऽनन्तप्रकारः सम्पद्यते, किमुत विषयभेदे। यथा 'इह भवद्भिरागन्तव्यम्' इति विषये 'अयं देशोऽलङ्कर्त्तव्यः' इति, 'पवित्रीकर्त्तव्यः' इति, 'सफलजन्मा कर्त्तव्यः' इति, 'प्रकाशनीयः' इति 'देशस्यास्य भाग्यान्युज्जीवनीयानि' इति, 'तमांसि तिरस्करणीयानि' इति, 'अस्मन्नयनयोः सन्तापो हरणीयः' इति, 'मनोरथः पूरणीयः' इत्यादिः।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५५६)

(२८—अर्थान्तरन्यास)

सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि ।
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ॥ ६१ ॥
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(साधर्म्य के द्वारा सामान्य का विशेष से समर्थन)

'बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा ॥'

अत्र द्वितीयार्धगतेन विशेषरूपेणार्थेन प्रथमार्धगतः सामान्योऽर्थः सोपपत्तिकः क्रियते ।

(साधर्म्य के द्वारा विशेष का सामान्य से समर्थन)

'यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः ।
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ॥'

(साधर्म्य के द्वारा कार्य का कारण से समर्थन)

'पृथ्वि ! स्थिरा भव भुजङ्गम ! धारयैनां
त्वं कूर्मराज ! तदिदं द्वितयं दधीथाः ।
दिक्कुञ्जराः ! कुरुत तत्त्रितये दिधीर्षा-
मार्यः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥'

अनुवाद—'अर्थान्तरन्यास' वह अलङ्कार है जिसे साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के द्वारा, 'सामान्य' का विशेष से, 'विशेष' का सामान्य से, 'कार्य' का कारण से और 'कारण' का कार्य से समर्थन कहा गया है। इस 'अर्थान्तरन्यास' के इस प्रकार आठ भेद सिद्ध होते हैं। इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'बड़े की सहायता से छोटा भी कार्य सिद्ध कर लेता है। बड़ी नदी के साथ मिली छोटी पहाड़ी नदी भी समुद्र तक पहुँच जाती है।' (शिशुपालवध २. १००)

यहाँ पूर्वार्द्ध-प्रतिपाद्य 'सामान्य'रूप अर्थ द्वितीयार्ध-वर्णित 'विशेष'रूप अर्थ से समर्थित हो रहा है जिसमें साधर्म्य का सम्बन्ध स्पष्ट है (क्योंकि कार्यान्तगमन और समुद्रगमन परस्पर समान रूप से ही विवक्षित हैं)।

'श्रीकृष्ण ऐसी बात बोले जिसके शब्द और अर्थ परस्पर नपे-तुले रहे और इसके बाद चुप हो गये। वस्तुतः बड़े लोगों का यह स्वभाव ही है कि वे मितभाषी हुआ करते हैं।'

यहाँ पूर्वार्द्धगत अर्थ 'विशेष'रूप अर्थ है जिसका उत्तरार्धगत अर्थ से, जो कि 'सामान्यरूप है, समर्थन किया जा रहा है' यहाँ 'नपी-तुली बात' और 'मितभाषित्व' में परस्पर साम्य अथवा साधर्म्य भी स्पष्ट है जो कि इस 'समर्थन' का प्रयोजक है।

'अरी पृथिवी ! सम्हल जा, अरे शेषनाग ! पृथिवी को सम्हालो, अरे कूर्मराज ! पृथिवी और शेष दोनों को सम्हालो, अरे दिग्गजगण ! इन तीनों का सम्हालना तुम्हारा काम है, देखो, आर्य राम शिव के धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ा रहे हैं।'

अत्र कारणभूतं हरकार्मुकाततज्यीकरणं पृथिवीस्थैर्यादेः कार्यस्य समर्थकम्।

(साधर्म्य के द्वारा कारण का कार्य से समर्थन)

'सहसा विदधीत न क्रियाम्' इत्यादौ सम्पद्वरणं कार्यं सहसा विधानाभावस्य विमृश्यकारित्वरूपस्य कारणस्य समर्थकम्।

एतानि साधर्म्य उदाहरणानि।

वैधर्म्ये यथा—

'इत्थमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम्।
शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ॥'

अत्र सामान्यं विशेषस्य समर्थकम्।

'सहसा विदधीत–' इत्यत्र सहसाविधानाभावस्यापत्प्रदत्वं विरुद्धं कार्यं समर्थकम्। एवमन्यत्।

यहां कार्य का कारण से समर्थन स्पष्ट है क्योंकि 'पृथिवी के सम्हालने' आदि कार्यों को 'हरकार्मुक की प्रत्यञ्चा के चढ़ाने' के कारण द्वारा समर्थित किया जा रहा है। यहां जो 'साधर्म्य' है वह कार्य की उत्पत्तियोग्यता और कारण की उत्पादनयोग्यता का साम्य-रूप है।

'सहसा विदधीत न क्रियाम्' आदि (किरातार्जुनीय-सूक्ति)। यहां कारण का कार्य द्वारा समर्थन स्पष्ट है क्योंकि 'सहसा कार्य न करना अर्थात् सोच-विचारकर कार्य करना' तो यहाँ कारणरूप से उपनिवद्ध है और 'लक्ष्मीवरण' (सम्पत्तिलाभ) के कार्य द्वारा समर्थित किया गया है (यहां 'सम्पत्प्राप्ति'रूप कार्य की उत्पत्तियोग्यता और 'विमृश्य-कारित्व'रूप कारण की उत्पादनयोग्यता में साम्य के कारण 'साधर्म्य' की प्रयोजकता भी स्पष्ट है)।

ये उपर्युक्त उदाहरण तो साधर्म्यनिबन्धन समर्थ्यसमर्थक भाव के उदाहरण रहे।

निम्न सूक्ति में 'वैधर्म्य के द्वारा, विशेष का सामान्य से समर्थन' देखिए—

'यह तारकासुर, देवों द्वारा, इस प्रकार, आराधना पाकर भी त्रिभुवन पर अत्याचार करता जा रहा है। दुष्ट प्रत्यपकार से शान्त हुआ करता है; उपकार से कहां ? (कुमार संभव–२य सर्ग)'

यहां उत्तरार्धगत अर्थ 'सामान्य'रूप अर्थ है जिसके द्वारा पूर्वार्धगत 'विशेष'रूप अर्थ का समर्थन किया जा रहा है (यहां जो समर्थ्य-समर्थक भाव है उसमें वैधर्म्य का हाथ स्पष्ट है क्योंकि 'आराधना पाकर लोकमङ्गल का कार्य किया जाता है और यहां उसके विरुद्ध अत्याचार का कार्य हो रहा है')।

इसी प्रकार 'सहसा विदधीत' आदि सूक्ति में वैधर्म्य द्वारा 'कारण का कार्य से समर्थन' देखा जा सकता है क्योंकि यहां आपदाओं के प्रदान (आपत्प्रदत्व) रूप कार्य से 'सहसा क्रियाविधान के अभाव' अथवा 'विमृश्यकारित्व' (सोच समझकर कार्य करने) का समर्थन किया जा रहा है जिसमें 'वैधर्म्य' की प्रयोजकता स्पष्ट है क्योंकि यहां 'विमृश्यकारित्व' और 'आपत्प्रदत्व' (कारण और कार्य) में जो संबन्ध है वह वैधर्म्य का ही संबन्ध है (साधर्म्य का नहीं)।

विमर्श—(क) 'अर्थान्तरन्यास' एक प्रसिद्ध अलङ्कार है। अलङ्कारशास्त्र के प्रवर्त्तकाचार्य

भामह ने भी इसका निरूपण किया है। आचार्य भामह के शब्दों में इस अलङ्कार का स्वरूप यह है—

'उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदितादृते। ज्ञेयस्सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा ॥'

(काव्यालङ्कार २. ७१)

वस्तुतः यही बात आचार्य दण्डी को भी मान्य है—

'ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किञ्चन।
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः॥ (काव्यादर्श २. १६९)

'अर्थान्तरन्यास' शब्द की व्युत्पत्ति से भी यही अभिप्राय निकलता है—

'अर्थ्यत इति अर्थः प्रस्तुत इति यावत्, अन्यः अर्थः अर्थान्तरं तस्य न्यासः'

अर्थात् प्रस्तुत से अतिरिक्त अप्रस्तुत अर्थ का ऐसा उपनिबन्ध जो कि अन्ततोगत्वा प्रस्तुत का समर्थक हो, 'अर्थान्तरन्यास' है। अलङ्कारसर्वस्वकार ने इस अलङ्कार की यह समीक्षा की है—

'सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः।'

निर्दिष्टस्याभिहितस्य समर्थनार्हस्य प्रकृतस्य समर्थकात्पूर्वं पश्चाद्वा निर्दिष्टस्य यत्समर्थनमुपपादनं न स्वपूर्वत्वेन प्रतीतिरनुमानरूपा सोऽर्थान्तरन्यासः। तत्र सामान्यं विशेषस्य विशेषो वा सामान्यस्य समर्थक इति द्वौ भेदौ। तथा कार्यं कारणस्य कारणं वा कार्यस्य समर्थकमित्यपि द्वौ भेदौ। तत्र भेदचतुष्टये प्रत्येकं साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां भेदद्वयेऽष्टौ भेदाः। हिशब्दाभिधानानभिधानाभ्यां समर्थकपूर्वोपन्यासोत्तरोपन्यासाभ्यां च भेदान्तरसंभवेऽपि न तद्गणना सहृदयहृदयहारिणी। वैचित्र्यस्याभावात्। तस्माद् भेदाष्टकमेवेहोट्टङ्कितम्।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १३९)

अर्थात् 'अर्थान्तरन्यास' एक इस प्रकार का वाच्यचमत्कार है जिसमें उपपादन की अपेक्षा रखने वाले 'प्रकृत' का, चाहे वह पहले निर्दिष्ट किया गया हो या बाद में निर्दिष्ट किया जाय, समर्थक वाक्य द्वारा उपपादन अथवा समर्थन कहा करते हैं। 'अर्थान्तरन्यास' में प्रकृत का समर्थन होता है न कि उसका अनुमानतः नवीन अनुभव। 'सामान्य' वस्तु का विशेष से और 'विशेष' वस्तु का 'सामान्य' से उपपादन 'हि', 'यत्' आदि शब्दों के उपादान में शाब्द भी हो सकता है और इन शब्दों के अनुपादान में आर्थ भी।

(ख) 'अर्थान्तरन्यास' और दृष्टान्त' भिन्न-भिन्न रूप के अलङ्कार हैं जैसा कि 'उद्योत'कार का कथन है—

'अनुपपद्यमानतया सम्भाव्यमानस्यार्थस्योपपादनार्थं यदर्थान्तरं न्यस्यते सोऽर्थान्तरन्यासः। दृष्टान्ते तु सामान्यं सामान्येन विशेषो विशेषेण समर्थ्यते इति ततो भेदः।'

अर्थात् अर्थान्तरन्यास में तो 'सामान्य'रूप सम्भाव्य अर्थ के समर्थन के लिये, 'विशेष'रूप अर्थान्तर का और 'विशेष'रूप सम्भाव्य अर्थ के समर्थन के लिये 'सामान्य'रूप अर्थान्तर का उपन्यास हुआ करता है किन्तु 'दृष्टान्त' में ऐसा होता है कि 'सामान्य' का समर्थन 'सामान्य' से और 'विशेष' का समर्थन 'विशेष' से ही किया जाया करता है।

(ग) विश्वनाथ कविराज ने 'अलङ्कारसर्वस्व'कार की मान्यता का ही अनुसरण कर कार्यकारणभाव के आश्रय पर 'अर्थान्तरन्यास' के दो भेदों का निरूपण किया है। किन्तु 'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी'कार की दृष्टि में 'अर्थान्तरन्यास' के कार्यकारणभावनिबन्धन दोनों भेद युक्तियुक्त नहीं हैं—

कार्यकारणभावाश्रयस्य भेदद्वयस्य काव्यलिङ्गत्वं ग्रन्थकृदेव वक्ष्यतीति सामान्यविशेषभावाश्रयमेव भेदद्वयमाश्रयणीयम् (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १३९)।

(२९—काव्यलिङ्ग)

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते ॥ ६२ ॥

तत्र वाक्यार्थता यथा—

'यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं
मेघैरन्तरितः प्रिये ! तव मुखच्छायानुकारी शशी ।
येऽपि त्वद्गमनानुकारिगतयस्ते राजहंसा गता-
स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते ॥'

अत्र चतुर्थपादे पादत्रयवाक्यानि हेतवः ।

पदार्थता यथा मम—

'त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलीपटलपङ्किलाम् ।
न धत्ते शिरसा गङ्गां भूरिभारभिया हरः ॥'

अत्र द्वितीयार्धे प्रथमार्धमेकपदं हेतुः ।

अनेकपदं यथा मम—

'पश्यन्त्यसंख्यपथगां त्वद्दानजलवाहिनीम् ।
देव ! त्रिपथगात्मानं गोपयत्युग्रमूर्धनि ॥'

'रसगङ्गाधर'कार का भी यही मत है—

'यत्तु कारणेन कार्यस्य कार्येण कारणस्य वा समर्थनम्' इत्यपि भेदद्वयमर्थान्तरन्यासस्यालङ्कारसर्वस्वकारो न्यरूपयत्, तन्न । तस्य काव्यलिङ्गविषयत्वात् ।' (रसग०, पृष्ठ ४७४)

अनुवाद—'काव्यलिङ्ग' वह अलङ्कार है जिसे किसी अर्थ के उपपादन के लिये 'वाक्यार्थ' अथवा 'पदार्थ' के हेतुरूप से उपनिवन्धन में देखा जाया करता है। जैसे कि 'वाक्यार्थ के हेतुरूप में उपनिवन्धन में 'काव्यलिङ्ग', जिसका उदाहरण यह है—

'हे जानकि ! तुम्हारी नेत्र-कान्ति की भाँति कान्तिवाला नीलकमल तो पानी में डूब गया, तुम्हारी मुख-कान्ति सी कान्तिवाला चन्द्रमा मेघों के पर्दे में छिप गया और तुम्हारी विचित्र चाल सी चालवाले राजहंस (वर्षा के आते ही) मानसरोवर भाग निकले। ओह ! ऐसा लगता है जैसे दैव को यह भी क्षम्य नहीं कि मैं तुम्हारे सादृश्य के साथ भी अपना मन बहला सकूँ !'

यहाँ प्रथम तीन चरणों के वाक्यार्थ चौथे चरण के वाक्यार्थ के (काव्यात्मक) उपपादन के लिये हेतुरूप से उपनिबद्ध हैं।

इसी प्रकार 'पदार्थ के हेतुरूप में उपनिवन्धन में काव्यलिङ्ग' का यह स्वरचित निदर्शन—

'राजन् ! रणभूमि में आपके अश्वसंघों के द्वारा उड़ाई हुई धूलराशि से पंकिल गङ्गा को, भारी बोझ के डर से, महादेव शिव अपने मस्तक पर धारण नहीं करते।'

यहाँ प्रथम चरण का (त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलीपटलपङ्किलाम्) समस्त एक पद द्वितीय चरण के उपपादकरूप से ही उपन्यस्त दिखायी दे रहा है।

इसी भाँति 'अनेक पदार्थ के भी हेतुरूप में उपनिबन्धन में काव्यलिङ्ग' का यह स्वरचित उदाहरण देखिए—

'महाराज ! आपके दान-सङ्कल्प के जल की नदी को असंख्य मार्गों में प्रवाहित देख-देखकर त्रिपथगा गङ्गा अपने आपको भगवान् शिव के जटा-जूट में छिपा रही है।'

इह केचिद् वाक्यार्थगतेन काव्यलिङ्गेनैव गतार्थतया कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासं नाद्रियन्ते। तदयुक्तम्, तथा ह्यत्र हेतुस्त्रिधा भवति—ज्ञापको निष्पादकः समर्थकश्चेति। तत्र ज्ञापकोऽनुमानस्य विषयः, निष्पादकः काव्यलिङ्गस्य, समर्थकोऽर्थान्तरन्यासस्य, इति पृथगेव कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासः काव्यलिङ्गात्। तथा हि—'यत्त्वन्नेत्र–' इत्यादौ चतुर्थपादवाक्यम्, अन्यथा साकाङ्क्षतयासमञ्जसमेव स्यात् इति पादत्रयगतवाक्यं निष्पादकत्वेनापेक्षते। 'सहसा विदधीत–' इत्यादौ तु—

'परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह सङ्गतिः।
वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन॥'

[यहाँ पूर्वार्ध के अनेकों पद (के अर्थ) उत्तरार्ध के अर्थ के उपपादक हेतु के रूप में उपन्यस्त हैं।]

कुछ काव्याचार्यों (जैसे कि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट आदि) का यहाँ यह कहना है कि जब कि वाक्यार्थगत 'काव्यलिङ्ग' में ही कार्य से कारण और कारण से कार्य का समर्थन-वैचित्र्य अन्तर्भूत हो जाता है तब कार्य से कारण और कारण से कार्य के समर्थनरूप 'अर्थान्तरन्यास' की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु उनका यह कथन युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। यहाँ इस प्रकार देखना है—'हेतु' तीन प्रकार का हो सकता है—(१) ज्ञापक हेतु, (२) निष्पादक हेतु और (३) समर्थक हेतु। इनमें 'ज्ञापक' रूप हेतु अनुमानालङ्कार का विषय है और जिसे 'निष्पादक' रूप हेतु कहते हैं वह 'काव्यलिङ्ग' का विषय है और तीसरा अर्थात् 'समर्थक'रूप हेतु 'अर्थान्तरन्यास' का ही विषय हो पाता है। इस प्रकार यह निःसंदिग्ध है कि कार्यकारणभाव का 'अर्थान्तरन्यास' (जिसमें समर्थक हेतु रहा करता है) कार्यकारणभावगत 'काव्यलिंङ्ग' से (जिसके लिये निष्पादक हेतु की अपेक्षा है) सर्वथा भिन्न प्रकार का ही अलङ्कार है और इसे 'यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति' आदि सूक्ति में देखा जा सकता है जिसका चौथा चरण साकांक्ष पड़ा है और अपने निष्पादक हेतु के रूप में पहले तीन चरणों के वाक्यार्थ की अपेक्षा कर रहा है जिससे वह समंजस बन जाता है।

यहाँ एक बात ध्यान देने की है और वह यह है कि 'सहसा विदधीत न क्रियाम्' आदि सूक्ति में, जिसमें कार्यकारण भाव पर आश्रित 'अर्थान्तरन्यास' है, 'काव्यलिङ्ग' की शङ्का नहीं होनी चाहिये। कारण यह है कि यहाँ विना विचारे कार्य न किया जाय' यह वाक्यार्थ स्वयं उपपन्न है और इसे किसी अन्य उपपादक वाक्य की कोई आकांक्षा नहीं दिखायी देती क्योंकि इसमें उसी प्रकार का उपदेश है जैसे कि इस सूक्ति अर्थात्—

'परापकारी दुर्जन पुरुषों का संग कदापि न करना चाहिये—यही सच्ची बात है जिसे मैं बता रहा हूँ।' आदि में। 'विमृश्यकारी व्यक्ति को सम्पत्ति स्वयं वरण करती है'—यह वाक्यार्थ 'विना सोचे-समझे कार्य न किया जाय' इस वाक्यार्थ का केवल समर्थन करने के लिये उपनिबद्ध है न कि इसके हेतुरूप में उपन्यस्त है। इससे यह स्पष्ट है कि कार्यकारणभाव-निबन्धन 'अर्थान्तरन्यास' जिसमें एक वाक्यार्थ, अपनी उपपत्ति के लिये, दूसरे वाक्यार्थ की आकांक्षा नहीं किया करता 'काव्यलिङ्ग' से सर्वथा भिन्न है जिसमें एक वाक्यार्थ दूसरे उपपादक वाक्यार्थ की आकांक्षा रखा करता है।

इत्यादिवदुपदेशमात्रेणापि निराकाङ्क्षतया स्वतोऽपि गतार्थं सहसा विधानाभावं सम्पद्धरणं सोपपत्तिकमेव करोतीति पृथगेव कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासः काव्यलिङ्गात्।

'न धत्ते शिरसा गङ्गां भूरिभारभिया हरः।
त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलिभिः पङ्किला हि सा॥'

इत्यत्र हिशब्दोपोदानेन पङ्किलत्वादितिवद्धेतुत्वस्य स्फुटतया नायमलङ्कारः, वैचित्र्यस्यैवालङ्कारत्वात्।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ उपपादक हेतु का उपन्यास हेतुरूप में किया गया हो वहाँ 'काव्यलिङ्ग' नहीं हुआ करता (क्योंकि 'काव्यलिङ्ग' के लिये गम्यहेतु की अपेक्षा हुआ करती है वाच्य हेतु की नहीं)। जैसे कि यदि निम्न सूक्ति अर्थात्—

'राजन्! महादेव ने बहुत भारी बोझ के डर से गङ्गा को अपने सिर पर रखना छोड़ दिया है क्योंकि अब वह तुम्हारी अश्वसेनाओं से उड़ायी गयी धूल के कारण कीचड़ ही कीचड़ हो गयी है।'

आदि को देखा जाय जहाँ (हेतुत्वबोधक) 'हि' (हि हेताववधारणे) शब्द के उपादान से हेतुत्व की वाच्यता स्पष्ट है और ऐसा लगता है जैसे (त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलिभिः) 'पङ्किलत्वात्' के अर्थ में ही 'हि' पद प्रयुक्त किया गया है तो यह निस्संदिग्ध है कि यहाँ 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार की कोई संभावना नहीं। अलङ्कार तो वैचित्र्य को कहते हैं और जब कि हेतु की वाच्यता में वैचित्र्य ही नष्ट हो गया तब 'अलङ्कार' ही कहाँ रहा!

विमर्श—(क) आचार्य भामह और दण्डी आदि प्राचीन काव्याचार्य 'काव्यलिङ्ग' को अलङ्कार नहीं मानते। उनकी दृष्टि में वैचित्र्य ही अलङ्कार है और काव्यलिङ्ग में कोई वैचित्र्य नहीं, इसलिये यहाँ किसी प्रकार का 'अलङ्कारत्व' नहीं। 'काव्यलिङ्ग' केवल 'निर्हेतुत्व' दोष का अभावमात्र माना जा सकता है। 'रसगङ्गाधर'कार ने इसलिये कहा है—

'अत्र वदन्ति—काव्यलिङ्गं नालङ्कारः। वैचित्र्यात्मनो विच्छित्तिविशेषस्याभावात्। स हि जन्मतासंसर्गेण कविप्रतिभाविशेषः तन्निर्मितत्वप्रयुक्तश्चमत्कृतिविशेषो वेत्युक्तम्। न चानयोरन्यतरस्याप्यत्र सम्भवः। हेतुहेतुमद्भावस्य वस्तुसिद्धत्वेन कविप्रतिभानिर्वर्त्यायोगात्। अत एव चमत्कृतिरपि दुर्लभा। श्लेषादिसंमिश्रणेन विच्छित्तिविशेषोऽत्राप्यस्तीति तु न वाच्यम्। तस्य श्लेषाद्यङ्गप्रयोज्यत्वेन काव्यलिङ्गस्यालङ्कारतायास्तथाप्यसिद्धेः। यत्र तूपस्कारकवैचित्र्याद्विलक्षणं तदुपस्कार्यवैचित्र्यं तत्रास्तु नामोपस्कारकादुपस्कार्यस्य पृथगलङ्कारत्वम्। यथातिशयोक्ते हेतुफलोत्प्रेक्षयोः। यत्र तूपस्कारकवैचित्र्य एव विश्रान्तिस्तत्रोपस्कार्यमनलङ्कार एव। यथा प्रकृते। एवं तर्हि बहूनामलङ्कारत्वेन प्राचीनैरूरीकृतानामनलङ्कारतापत्तिरिति चेत्, अस्तु, किं नश्छिन्नम्। तस्मात् निर्हेतुरूपदोषाभावः काव्यलिङ्गमित्यपि वदन्ति।' (रसगङ्गाधर० काव्यलिङ्गप्रकरण)

अर्थात् 'काव्यलिङ्ग' को अलङ्कार मानना अनुचित है क्योंकि 'काव्यलिङ्ग' में वह शोभा नहीं जिसे विचित्रता कहा जाया करता है। न तो 'काव्यलिङ्ग' में कविप्रतिभा का ही कोई हाथ है जिससे उसे अलङ्कार माना जाय और न किसी चमत्कारविशेष का ही कोई पुट है जिससे उसमें किसी वैचित्र्य का पता चले। दो वाक्यार्थों का हेतुहेतुमद्भाव वास्तविक हुआ करता है, कविप्रतिभानिर्वर्तित नहीं। यहाँ यह भी कहना ठीक नहीं कि 'श्लेष' आदि के अनुप्राणन से काव्यलिङ्ग को अलङ्कार माना जा सकता है क्योंकि तब तो 'श्लेष' के ही अलङ्कार मानने से काम चल जाता

है 'काव्यलिङ्ग' को पृथक् अलङ्कार मानने की क्या आवश्यकता है ? ऐसे प्रसंगों में जो भी चमत्कार है वह उपस्कारक 'श्लेष' का चमत्कार है न कि उपस्कार्य 'काव्यलिङ्ग' का। अन्ततोगत्वा यही कहा जा सकता है कि 'काव्यलिङ्ग' कोई अतिरिक्त अलंकार-तत्त्व नहीं अपितु 'निर्हेतुत्व' दोष का अभाव-रूप है।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने 'अलंकारसर्वस्व'कार के काव्यलिङ्ग-विवेचन के आधार पर 'काव्य-लिङ्ग' का लक्षण-निरूपण किया है। किन्तु 'अलंकारसर्वस्वविमर्शिनी'कार की इन युक्तियों के देखते यही प्रतीत होता है कि अलङ्कारसर्वस्व का काव्यलिङ्ग-विवेचन केवल प्राचीन आलङ्कारिक (आचार्य उद्भटप्रवर्तित) परम्परा का अनुसरणमात्र है न कि वस्तुतत्त्व का पर्यालोचन—

'ननु हेतोर्वाक्यपदार्थोभयनिबन्धे न कश्चिद्विच्छित्तिविशेषः प्रतीयत इति कथमस्या-लङ्कारत्वमुक्तम्। न हि साध्यसाधनायोपात्तस्य हेतोरेवं प्रकारद्वयातिरेकेणोपनिबन्धः स्यात्। न च यथासंभवविनोपनिबन्धमात्रेणालङ्कारत्वं वक्तुं युक्तम्। कविप्रतिभात्मकस्य विच्छित्तिविशेषात्मकस्यालङ्कारत्वेनोक्तत्वात्। न चैवमुपनिबन्धात् कश्चिदतिशय इति कथमस्यालङ्कारत्वम्''' । सत्यम्। यद्यप्येवमुपनिबन्धस्य वस्तुवृत्तेरसम्भवान्न कश्चिदति-शयः प्रतीयते तथापि ग्रन्थकृता प्राच्यैर्लक्षितत्वादेतदिह लक्षितम्।'''अथ साध्यप्रतीतये हेतोरुपनिबन्धादस्त्येव वैचित्र्यातिशय इति चेत् तर्ह्यनुमानमेवेदं स्यान्नालङ्कारान्तरम्। साध्यसाधनस्य तल्लक्षणत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्। एवं हेतोर्वाक्यपदार्थतयोपनिबद्धस्य वास्त-वत्वादस्य पृथगलङ्कारत्वं न युक्तम्। उक्तवक्ष्यमाणनीत्याऽनुमान एवान्तर्भावोपपत्तेः।'

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १८३-१८४)

ऐसी स्थिति में 'साहित्यदर्पण'कार का 'काव्यलिङ्ग'–निरूपण केवल एक प्राचीन आलङ्कारिक परम्परा का अनुसरणमात्र-सा लगता है न कि और कुछ।

(ग) साहित्यदर्पणकार ने हेतुत्रय के विभाग के आधार पर अनुमान, अर्थान्तरन्यास और काव्यलिङ्ग का जो विषय-विभाजन किया है वह एक नवीन कल्पना है। प्राचीन काव्याचार्य 'ज्ञापक' और 'कारक' दो ही हेतु मानते रहे हैं जैसा कि आचार्य दण्डी का कथन है—.

'कारकज्ञापकौ हेतू तौ चानेकविधौ तथा' (काव्यादर्श २-२३५)।

और जैसे अग्निपुराण (३४३, २९-३०) ने निर्दिष्ट किया है—

'सिसाधयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः।
कारको ज्ञापक इति द्विधा सोऽप्युपजायते॥'

इन दोनों हेतुओं में 'कारक' हेतु का अभिप्राय यह है—

'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च प्रयुक्तिं चान्तरा विशन्।
उदासीनोऽपि वा कुर्यात् कारकं तत् प्रचक्षते॥'

(सरस्वतीकण्ठाभरण, ३-१३)

अर्थात् 'कारक' हेतु वह है जो कि उदासीन रहते हुये भी प्रवृत्ति, निवृत्ति और प्रमुक्ति का सम्पादक हुआ करता है।

जिसे 'ज्ञापक' हेतु कहते हैं उसका स्वरूप यह है—

'द्वितीया च तृतीया च चतुर्थी सप्तमी च यम्।
क्रियानाविष्टमाचष्टे लक्षणं ज्ञापकश्च यः॥'

अर्थात् वह हेतु जो 'ज्ञापक' हुआ करता है किसी क्रिया का निर्वर्तक नहीं हुआ करता—अपितु कार्य अथवा कारणरूप से रहते हुये कारण अथवा कार्य की स्थिति का समर्थन मात्र किया करता है।

(३०—अनुमानालङ्कार)

अनुमानं तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात् ।

यथा—

'जानीमहेऽस्या हृदि सारसाक्ष्या विराजतेऽन्तः प्रियवक्त्रचन्द्रः ।
तत्कान्तिजालैः प्रसृतैस्तदङ्गेष्वापाण्डुता कुड्मलताक्षिपद्मे ॥'

अत्र रूपकवशाद्विच्छित्तिः ।

यथा वा—

'यत्र पतत्यबलानां दृष्टिर्निशिताः पतन्ति तत्र शराः ।
तच्चापरोपितशरो धावत्यासां पुरः स्मरो मन्ये ॥'

अत्र कविप्रौढोक्तिवशाद्विच्छित्तिः । उत्प्रेक्षायामनिश्चिततया प्रतीतिः, इह तु निश्चिततयेत्युभयोर्भेदः ।

साहित्यदर्पणकार ने 'कारक' हेतु को ही 'निष्पादक' और 'समर्थक' दो भिन्न रूपों में विभक्त कर 'काव्यलिङ्ग' और 'अर्थान्तरन्यास' की भेद-सिद्धि की है जिसमें नवीनता अवश्य है किन्तु युक्तियुक्तता नहीं ।

अनुवाद—'अनुमान' वह अलङ्कार है जिसे, एक विचित्रता के साथ, साधन द्वारा साध्य का ज्ञान कहा जाया करता है । जैसे कि—

'ऐसा लगता है जैसे इस कमलनयनी सुन्दरी के हृदय में उसके प्रियतम का मुख-चन्द्र विराज रहा है क्योंकि तभी तो उसकी सर्वत्र फैलने वाली शुभ्र कान्ति से इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग पाण्डु (श्वेत-पीत) वर्ण के हो रहे हैं और नेत्रकमल भी मुकुलित (मुँदे) दिखायी पड़ रहे हैं ।'

यहाँ 'अनुमान' अलङ्कार है जिसमें रूपक—वस्तुतः निरङ्ग केवलरूपक ('वक्त्रचन्द्र' तथा 'अक्षिपद्म' का रूप्यरूपकभाव) के कारण एक चमत्कारविशेष की प्रतीति स्पष्ट है ।

अथवा, जैसे कि—

'जहाँ सुन्दरियों के कटाक्ष पड़ते हैं वहीं काम के बाण बरसने लगते हैं । ऐसा प्रतीत होता है जैसे इन सुन्दरियों के आगे-आगे धनुष पर बाण चढ़ाये कामदेव दौड़ता जा रहा हो ।'

यहाँ भी 'अनुमान' ही अलङ्कार है किन्तु इसकी विचित्रता का निदान (कोई अन्य अलङ्कार नहीं अपितु) कवि की प्रौढ़ उक्ति है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि 'उत्प्रेक्षा' और 'अनुमान' भिन्न-भिन्न प्रकार के अलङ्कार हैं क्योंकि 'उत्प्रेक्षा' में सम्भावनात्मक ज्ञान अनिश्चितरूप का रहा करता है किन्तु 'अनुमान' में यह निश्चितरूप का हो जाया करता है ।

विमर्श—(क) 'अनुमान' लोक और काव्य दोनों के क्षेत्र की वस्तु है । लौकिक 'अनुमान' में कोई चमत्कार नहीं रहा करता । किन्तु काव्यात्मक 'अनुमान' चमत्कारपूर्ण हुआ करता है । चमत्कारपूर्ण 'अनुमान' ही अनुमानालङ्कार है । 'अनुमान' में चमत्कार का आधान कविप्रतिभा का कार्य है जैसा कि 'रसगङ्गाधर'कार का भी कथन है—

'अनुमितिकरणमनुमानम्—

अनुमितिश्चानुमितित्ववती । अनुमितित्वं चानुमिनोमीति मानससाक्षात्कारसाक्षिको

(३१—हेत्वलङ्कार)

अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह ॥ ६३ ॥

जातिविशेषः । व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मतानिश्चयजन्यज्ञानं वानुमितिः। तस्याश्च करणं व्याप्तिप्रकारकलिङ्गनिश्चय इत्येके । व्याप्यत्वेन निश्चीयमानं लिङ्गमित्यपरे । इदं च साधारणमनुमानम् । अस्य च कविप्रतिभोल्लिखितत्वेन चमत्कारित्वे काव्यालङ्कारता ।' (रसग० अनु०)

(ख) 'अनुमान' शब्द की व्युत्पत्ति, जैसा कि नैयायिकों का मत है, यह है—'अनुमीयते अनेन इत्यनुमानम् (करणे ल्युट्)।' इस दृष्टि से 'अनुमान' अथवा 'अनुमितिकरण' का अभिप्राय 'परामर्श' अथवा 'तृतीय लिङ्गपरामर्श' है। कुछ नैयायिक 'लिङ्गज्ञान' अथवा 'व्याप्तिज्ञान' को अनुमितिकरण कहा करते हैं। किन्तु आलङ्कारिकों की 'अनुमान' की व्युत्पत्ति यह है—

'अनुमीयत इत्यनुमानम् (भावे ल्युट्)।'

अर्थात् 'अनुमान' साधन से साध्य का ज्ञान है। 'अनुमिति' ही अनुमान है। यह 'अनुमान' (अथवा 'अनुमिति') तभी अलङ्कार हो सकता है जब कि उसमें लौकिक अनुमान से विलक्षणता हो। लौकिक अनुमान अथवा तार्किक अनुमान लोक-जीवन की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति से संबद्ध है किन्तु काव्यात्मक अनुमान का प्रयोजन काव्यपाठक के हृदय में चमत्कार का उत्पादन है। आचार्य जयरथ (अलंकारसर्वस्वविमर्शिनी के रचयिता) ने इसीलिये कहा है—

'अतश्चास्य (अनुमानालङ्कारस्य) कविकर्मैव वैलक्षण्यनिमित्तमिति भावः। एवं च कविकर्माभावाद् यत्र विच्छित्तिविशेषाश्रयणं न स्यात् तत्र नायमलङ्कारः। यथा—'यो यत्कथाप्रसङ्गेच्छिन्नच्छिन्नायतोष्णनिश्वासः। स भवति तं प्रति रक्तस्त्वं च तथा दृश्यसे सुतनु ॥' अत्र रक्तत्वं प्रति विशिष्टस्य निःश्वसितस्यार्थेऽपि हेतुत्वे वास्तवत्वात् कविप्रतिभानिर्वर्तितत्वाभावान्नायमलङ्कारः। कविकर्मण एवालङ्कारनिबन्धनत्वेनोक्तत्वात् आर्थत्वस्य तदप्रयोजकत्वात् ।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १८३)

(ग) अलङ्कारान्तरगर्भ 'अनुमान' के अतिरिक्त शुद्ध 'अनुमान' भी अनुमानालङ्कार हुआ करता है। शुद्ध 'अनुमान' के उदाहरणरूप में आचार्य रुय्यक ने निम्न सूक्ति उद्धृत की है—

"यत्रैता लहरीचलाचलदृशो व्यापारयन्ति भ्रुवं यत्तत्रैव पतन्ति संततममी मर्मस्पृशो मार्गणाः।
तच्चक्रीकृतचापमञ्चितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्यं सदासां स्मरः॥"

यह सूक्ति कितनी सुन्दर है! इसी सूक्ति को अपने शब्दों में गढ़ते हुये साहित्यदर्पणकार ने 'यत्र पतत्यबलानाम्' आदि सूक्ति गढ़ी है जिसमें 'अनुमान' का लक्षण तो अवश्य घटता है किन्तु 'काव्यात्मकता' नहीं घटित होती। कारण यह है कि 'अबलानाम्' की ध्वनि में वह सौन्दर्य नहीं जो कि 'लहरीचलाचलदृशः' की ध्वनि में है जो कि यहाँ अत्यन्त उपयोगी है।

(घ) अनुमानालङ्कार के विवेचन में रसगङ्गाधरकार की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है। 'रसगङ्गाधर'कार ने 'अनुमान' की रूपरेखा का यह विशद दर्शन किया है—

'अत्रेदं बोध्यम्—मन्ये इत्यादिवाचकपदोपादाने वाच्यमनुमानम्।···वक्ति, कथयतीत्यादि लक्षकपदोपादाने लक्ष्यम्।···तदन्यतरानुपादाने साध्यासिद्धायामनुमितौ प्रतीयमानम्।···साध्यस्याप्यनुपादाने लिङ्गमात्रोपादानेन यत्रागूर्यमाणं साध्यं तत्र ध्वन्यमानम्।···अतोऽनुमितिरेवानुमानम्। तस्याश्च वाच्यत्व-लक्ष्यत्व-प्रतीयमानत्व-ध्वन्यमानत्वानां साम्राज्यम् ल्युटश्च करण इव भावेऽपि।' (रसगङ्गाधर : अनुमानप्रकरण)

अनुवाद—'हेतु' वह अलङ्कार है जिसे हेतुमान् के साथ हेतु का अभेदरूप से वर्णन कहा गया है।

यथा मम—'तारुण्यस्य विलासः–' इत्यत्र वशीकरणहेतुर्नायिकावशीकरणत्वेनोक्ता, विलासहासयोस्त्वध्यवसायमूलोऽयमलङ्कारः।

(३२—अनुकूलालङ्कार)

अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलानुबन्धि चेत्।

यथा—

'कुपितासि यदा तन्वि ! निधाय करजक्षतम्।
बधान भुजपाशाभ्यां कण्ठमस्य दृढं तदा ॥'

इसका उदाहरण मेरी स्वरचित सूक्ति—'तारुण्यस्य विलासः' आदि है। यहाँ 'हेतु' अलङ्कार इसलिये है क्योंकि (प्रेमी युवकों के हृदय के) वशीकरण की 'हेतु' वर्ण्य नायिका को 'वशीकरण'रूप से वर्णित किया गया है। साथ ही साथ (तारुण्यस्य विलासः में) 'विलास' और (समधिकलावण्यसंपदो हासः में) 'हास' में अभेदाध्यवसायमूलक 'हेतु' अलङ्कार स्पष्ट दिखायी दे रहा है।

विमर्श—(क) आचार्य भामह की दृष्टि में 'हेतु' नाम का कोई भी अलङ्कार नहीं। आचार्य दण्डी ने 'हेतु' को वाणी अथवा कविता का उत्तम भूषण कहा है—

'हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्।' (काव्यादर्श २. २३५)

किन्तु आचार्य दण्डी का 'हेतु' अलङ्कार 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है।

आचार्य रुद्रट 'हेतु' अलङ्कार के सर्वप्रथम समर्थक आलङ्कारिक हैं—

'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद्भवेद्यत्र।
सोऽलङ्कारो हेतुः स्यादन्येभ्यः पृथग्भूतः॥' (काव्यालङ्कार ७. ८२)

किन्तु काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने आचार्य रुद्रट का खण्डन किया है और 'हेतु' को अतिरिक्त अलङ्कार न मानने का आदेश दिया हैं—

'(हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः) इति हेत्वलङ्कारोऽत्र न लक्षितः। आयुर्घृतमित्यादिरूपो ह्येष न भूषणतां कदाचिदर्हति, वैचित्र्याभावात्। 'अविरलकमलविकासः सकलालिमदश्च कोकिलानन्दः। रम्योऽयमेति संप्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः॥' इत्यत्र काव्यरूपतां कोमलानुप्रासमहिम्नैव समाम्नासिषुर्न तु हेत्वलङ्कारकल्पनयेति पूर्वोक्तं काव्यलिङ्गमेव हेतुः।' (काव्यप्रकाश, १०म उल्लास)

किन्तु ऐसा लगता है कि काव्यप्रकाशकार के खण्डन के आवेश में विश्वनाथ कविराज ने 'हेतु' को 'काव्यलिङ्ग' और 'अनुमान' से पृथक्रूप का अलङ्कार मान लिया है।

उद्योतकार ने इसीलिये यह निर्णय किया है कि 'हेतु' को पृथक् अलङ्कार मानना अनुचित है—

'एवं हेतुफलयोरभेदाध्यवसायेऽप्येषा (अतिशयोक्तिः)। यथा 'विलासनं समरसीमनि शात्रवाणामाजीवनं विबुधपर्षदि कोविदानाम्। संमोहनं सुरतसंसदि कामिनीनां रूपं तदीयमवलोकयतोऽद्भुतं मे॥' इत्यादौ विलासनादिपदस्य तद्धेतौ शुद्धसाध्यवसाना। एतेन 'हेतोर्हेतुमता सार्धमभेदो हेतुरुच्यते।' इति हेत्वलङ्कारोऽयं पृथगित्यपास्तमित्याहुः।'

अनुवाद—'अनुकूल' वह अलङ्कार है जिसे प्रतिकूल (वस्तु) द्वारा अनुकूलता के संपादन में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'अरी सुन्दरी ! यदि तू कुपित हो गयी तो इस (प्रेमी) के शरीर पर नखक्षत लगा कर, इसके गले को अपने बाहुपाश से बाँध दे।'

अस्य च विच्छित्तिविशेषस्य सर्वालङ्कारविलक्षणत्वेन स्फुरणात्पृथगलङ्कारत्वमेव न्याय्यम्।

(३३—आक्षेपालङ्कार)

वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये ॥ ६४ ॥

निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा ।

तत्र वक्ष्यमाणविषये क्वचित्सर्वस्यापि सामान्यतः सूचितस्य निषेधः क्वचिदंशोक्तावंशान्तरे निषेध इति द्वौ भेदौ। उक्तविषये च क्वचिद्वस्तुस्वरूपस्य निषेधः, क्वचिद्वस्तुकथनस्येति द्वौ, इत्याक्षेपस्य चत्वारो भेदाः।

यहाँ (इस सूक्ति में) एक ऐसी विचित्रता झलक रही है जिसे अन्य किसी भी अलङ्कार के वैचित्र्य में नहीं देखा जा सकता। इसलिये यही उचित है कि इस वैचित्र्य-प्रकार को एक पृथक् अलङ्कार (अर्थात् 'अनुकूल' अलङ्कार) के रूप में स्वीकार किया जाय।

विमर्श—'अनुकूल' अलङ्कार' रसवादी विश्वनाथ कविराज की कल्पना की एक देन है। 'अनुकूल' अलङ्कार की नयी कल्पना का आधार 'विषम' अलङ्कार की प्राचीन मान्यता है। 'विषम' अलङ्कार की परिभाषा यह रही—

'गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः। यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च संभवः॥
विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम्।' (साहित्यदर्पण)

जिसमें यह स्पष्ट है कि यदि अननुरूप पदार्थों का एक प्रकार का संसर्ग एक 'अलङ्कार' है तो अननुरूप पदार्थों का दूसरे प्रकार का संसर्ग भी एक 'अलङ्कार'प्रकार अवश्य हो सकता है। किन्तु इस यत्किञ्चिन्मात्र वैलक्षण्य के आधार पर 'अनुकूल' की अतिरिक्त मान्यता आचार्य दण्डी के इस अलङ्कारनिरूपण सिद्धान्त के प्रतिकूल ही दिखायी देती है—

'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते। ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति॥
किन्तु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्। तदेव परिसंस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः॥'
(काव्यादर्श, २. १-२)

अर्थात् अलङ्कार तो शब्द अथवा अर्थ के वे धर्म अथवा वैशिष्ट्य हैं जो कि काव्य की शोभा के संपादक हुआ करते हैं। काव्य की शोभा के आधायक शब्द-धर्मों अथवा अर्थ-धर्मों का इयत्ता-निर्धारण नहीं हो सकता। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यत्किञ्चिन्मात्र वैचित्र्य के आधार पर नये-नये अलङ्कारों की कल्पना की जाय।

कम से कम विश्वनाथ कविराज को यहां यह देखना आवश्यक था कि 'अनुकूल' अलङ्कार के पृथक् अलङ्कार मानने अथवा न मानने से 'रसात्मक वाक्य' में विशेषता का आधान संभव है अथवा नहीं। रसध्वनिवादी काव्याचार्य के लिये 'अनुकूल' को अतिरिक्त अलङ्कार मानना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता।

अनुवाद—'आक्षेप' वह अलङ्कार है जिसे विवक्षित वस्तु के ऐसे आपाततः निषेध में देखा जाया करता है जो कि अन्ततोगत्वा उसकी विशेषता के प्रतिपादन के लिये किया जाया करता है। इसके ये दो प्रकार हैं—(१ ला) वक्ष्यमाण वस्तुगत निषेधाभासरूप आक्षेप और (२ रा) उक्त वस्तुगत निषेधाभासरूप आक्षेप।

वक्ष्यमाण वस्तुगत निषेधाभासरूप 'आक्षेप' भी दो प्रकार का हुआ करता है—(१ ला) वह, जिसमें सामान्यतया सूचित समस्त वस्तु का निषेध किया जाया करता है और (२ रा) वह, जिसमें एक अंश में सूचित वस्तु का दूसरे अंश में निषेध हुआ

क्रमेण यथा—

(सामान्यतया सूचित वस्तु का सर्वात्मना निषेधरूप वक्ष्यमाणविषयगत आक्षेप)

'स्मरशरशतविधुराया भणामि सख्याः कृते किमपि।
क्षणमिह विश्रम्य सखे! निर्दयहृदयस्य किं वदाम्यथवा॥'

अत्र सख्या विरहस्य सामान्यतः सूचितस्य वक्ष्यमाणविषये निषेधः।

(एक अंश के वर्णन और दूसरे अंश के निषेध में वक्ष्यमाण विषयगत आक्षेप)

'तव विरहे हरिणाक्षी निरीक्ष्य नवमालिकां दलिताम्।
हन्त! नितान्तमिदानीम् आः किं हतजल्पितैरथवा॥'

अत्र मरिष्यतीत्यंशो नोक्तः।

(वस्तुस्वरूप के निषेध में उक्त विषयगत आक्षेप)

'बालअ! णाहं दूती तुअ पिओसि त्ति ण मह वावारो।
सा मरइ तुज्झ अअसो एअं धम्मक्खरं भणिमो॥'

[बालक! नाहं दूतीः तस्याः प्रियोऽसि इति न मे व्यापारः।
सा म्रियते तवायशः एतत् धर्माक्षरं भणामः॥]

अत्र दूतीत्वस्य वस्तुनो निषेधः।

करता है। इसी प्रकार उक्त वस्तुगत निषेधाभासरूप आक्षेप भी दो प्रकार का है—(१ ला) वह, जिसमें वस्तु के स्वरूप का निषेध हुआ करता है और (२ रा) वह, जिसमें वस्तु के कथन अथवा वर्णन का निषेध किया जाया करता है। इस प्रकार 'आक्षेप' के चार भेद सिद्ध होते हैं।

जैसे कि क्रमशः—

'हे सखे! क्षण भर विश्राम करके मैं तुमसे अपनी उस सखी के विषय में कहूँगी जिसका हृदय काम के असंख्य बाणों द्वारा विद्ध हो चुका है। अथवा तुम जैसे निष्ठुरहृदय के आगे कहूँ भी तो क्या कहूँ।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि किसी सखी द्वारा किसी नायिका की विरह-व्यथा की सामान्यतः सूचना दी जा रही है किन्तु 'किं भणामि' की उक्ति से उसके सम्बन्ध में आगे कही जाने वाली बात (वस्तुतः उसकी मृत्यु) का निषेध कर दिया जा रहा है।

'अरे सुभग! तुम्हारे विरह में वह मृगनयनी सुन्दरी खिली हुई नवमालिका को देख कर, इस समय, कितने दुःख की बात है कि, अवश्य ही······ओह! अथवा, इन बुरी बातों के कहने से भी क्या लाभ।'

यहाँ 'हन्त नितान्तम्' की उक्ति में वर्ण्य नायिका की दुर्दशा का अंशतः कथन है किन्तु 'मरिष्यति' का आगे कहा जाने वाला दूसरा अंश निषिद्ध कर दिया गया है।

'बच्चे! मैं दूती नहीं। मैं इसलिये भी नहीं आयी कि तुम उसके प्यारे हो। मैं तो तुमसे केवल ये धर्माक्षर कहने आयी हूँ कि वह मर जायगी और सभी पाप तुम पर लगेगा।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि उक्त दूतीस्वरूप का निषेध किया गया है।

(वस्तुकथन के निषेध में उक्त वस्तुगत आक्षेप)

'(विरहे तव तन्वङ्गी कथं क्षपयतु क्षपाम् ।
दारुणव्यवसायस्य पुरस्ते भणितेन किम् ? ।।'

अत्र कथनस्योक्तस्यैव निषेधः ।

प्रथमोदाहरणे सख्या अवश्यम्भाविमरणमिति विशेषः प्रतीयते । द्वितीयेऽशक्यवक्तव्यत्वादि, तृतीये दूतीये यथार्थवादित्वम्, चतुर्थे दुःखस्यातिशयः ।

न चायं विहितनिषेधः, अत्र निषेधस्याभासत्वात् ।

(आक्षेप का प्रकारान्तर)

अनिष्टस्य तथार्थस्य विध्याभासः परो मतः ॥ ६५ ॥

तथेति पूर्ववद्विशेषप्रतिपत्तये ।

यथा—

'गच्छ गच्छसि चेत् कान्त ! पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् ।।'

'अरे सुभग ! तुम्हारे वियोग में वह सुन्दरी भला किस प्रकार रात बितावे ? अथवा तुम्हारे सरीखे क्रूर आचरण वाले के आगे कुछ कहने से भी क्या ?'

यहाँ उक्त वस्तुकथन का निषेध स्पष्ट है ।

इन चारों उदाहरणों में विवक्षित वस्तु की 'विशेषता' का जो अभिप्राय है जिसके लिये वक्ष्यमाण अथवा उक्त विषय का निषेध किया गया है वह यह है—पहले अर्थात् 'स्मरशरशतविधुरायाः' आदि में सखी का 'अवश्यंभावी मरण' रूप जो अभिप्राय प्रतीत हो रहा है वह 'विशेष' है; दूसरे अर्थात् 'तव विरहे हरिणाक्षी' आदि में यह 'विशेष' प्रतीत हो रहा है कि 'उसकी दुर्दशा का वर्णन असंभव है'; तीसरे अर्थात् 'बालअ ! णाहं दूती' आदि में 'दूती होने पर भी यथार्थवादिता' का अभिप्राय 'विशेष' रूप से विवक्षित है और चौथे अर्थात् 'विरहे तव तन्वङ्गी' आदि में जो 'विशेष' है वह विरहिणी की 'दुःख-पराकाष्ठा' का अभिप्राय है ।

इन 'आक्षेप'-सूक्तियों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें जिसका विधान अथवा प्रतिपादन किया गया है उसका निषेध ही वह वैचित्र्य है जो आक्षेप-अलङ्कार का स्वरूप है क्योंकि वस्तुतः जिसे 'आक्षेप' अलङ्कार कहा करते हैं वह 'विहित' के 'निषेध' में नहीं अपितु उसके 'निषेधाभास' (आपाततः निषेध) में रहा करता है ।

अनुवाद—एक प्रकार का 'आक्षेप' वह भी है जिसे अनिष्ट अर्थ के ऐसे 'विध्याभास' अथवा (आपाततः विधान) में देखा जाया करता है जिससे किसी विशेष अभिप्राय का प्रकाशन हुआ करता है ।

यहाँ कारिका में 'तथा' का अभिप्राय यह है कि जैसे प्रथम 'आक्षेप' प्रकार में विहित का निषेधाभास एक विशेष अभिप्राय के प्रकाशनार्थ अपेक्षित माना गया है वैसे ही इस 'आक्षेप'-प्रकार में भी अनिष्ट अर्थ का विध्याभास एक विशेष अभिप्राय के अवबोधनार्थ ही अभिप्रेत हुआ करता है ।

जैसे कि—

'मेरे प्रियतम ! जा रहे हो तो जाओ, तुम्हारे मार्ग मङ्गलमय हों, किन्तु, ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है कि मैं भी पुनः वहीं जन्म लूँ जहाँ तुम जा रहे हो ।'

अत्रानिष्टत्वाद्गमनस्य विधिः प्रस्खलद्रूपो निषेधे पर्यवस्यति। विशेषश्च गमनस्यात्यन्तपरिहार्यत्वरूपः प्रतीयते।

यहाँ जो 'अनिष्ट' अर्थ है वह 'प्रियतम का प्रवास'रूप अर्थ है। इस अनिष्ट अर्थ का 'गच्छ गच्छसि चेत्' के रूप में जो विधान है वह अपने आप में असंगत है और अन्ततः ('मा गच्छ' के रूप में) गमन के निषेध का ही अर्थ रखता है जिससे यह विशेष अभिप्राय प्रकाशित हो रहा है कि 'ऐसी अवस्था में अन्यत्र जाना सर्वथा अनुचित है।

विमर्श—(क) 'साहित्यदर्पण'कार का 'आक्षेप'-लक्षण आचार्य उद्भट के इस आक्षेप-लक्षण के अनुरूप है—

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
आक्षेप इति तं सन्तं शंसन्ति कवयः सदा॥
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स च द्विविध इष्यते।
निषेधेनेवतद्बन्धो विधेयस्य च कीर्तितः॥' (काव्यालङ्कारसारसंग्रह, २-२-३)

'आक्षेप' में जिस 'अर्थविशेष' की प्रतिपत्ति के लिये विहित का निषेधाभास अथवा अनिष्ट का विध्याभास अपेक्षित रहा करता है वह 'अर्थविशेष' वस्तुतः व्यङ्ग्यरूप अर्थ है। इस व्यङ्ग्यरूप अर्थ के कारण आक्षेप-सूक्तियों को 'ध्वनि' नहीं कहा जा सकता क्योंकि इन सूक्तियों का सौन्दर्य इस 'व्यङ्ग्य'रूप 'विशेष' में नहीं अपितु इस व्यङ्ग्यरूप 'विशेष' के प्रतिपादन-वैचित्र्य में रहा करता है। ध्वनिकार ने इसीलिये कहा है—

'आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणो वाच्यस्यैव चारुत्वम्। प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते। तत्र शब्दोपारूढरूपो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन् मुख्यं काव्यशरीरम्। चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा।' (ध्वन्यालोक, पृष्ठ १११)

अर्थात् वैसे 'आक्षेप' में भले ही व्यङ्ग्यरूप 'विशेष' प्रतीत हो किन्तु इस अलङ्कार की रूप-रेखा इस व्यङ्ग्यरूप 'विशेष' में नहीं अपितु इस व्यङ्ग्यरूप 'विशेष' के व्यञ्जक वाच्य-वैचित्र्य में ही रहा करती है। व्यङ्ग्य के सौन्दर्य की अपेक्षा वाच्य का अधिक सौन्दर्य ही 'आक्षेप' रूप काव्यशरीर की भाँति प्रतीत हुआ करता है। इसलिये यहाँ 'ध्वनि' की कोई संभावना नहीं।

(ख) 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने 'आक्षेप' की यह सुन्दर समीक्षा की है—

'उक्तवक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं निषेधाभास आक्षेपः—

इह प्राकरणिकोऽर्थः प्राकरणिकत्वादेव वक्तुमिष्यते, तथाविधस्य विधानार्हस्य निषेधः कर्तुं न युज्यते। स कृतोऽपि बाधितस्वरूपत्वात् निषेधायत इति निषेधाभासः सम्पन्नः। तस्यैतस्य करणं प्रकृतगतत्वेन विशेषप्रतिपत्त्यर्थम्। अन्यथा गजस्नानतुल्यं स्यात्। स चाऽभासमानोऽपि निषेधस्तत्रोक्तस्य वा स्यात् आसूत्रिताभिधानत्वेन वक्ष्यमाणस्य वा स्यात्। इत्याक्षेपस्य द्वयी गतिः। तत्रोक्तविषयत्वेन वैयर्थ्यपरमालोचनमाक्षेपः। वक्ष्यमाणविषयत्वेनानयनरूपमागूरणमाक्षेपः। एवं चार्थभेदाक्षेपशब्दस्य द्वावाक्षेपाविति वदन्ति। तत्रोक्तविषये यस्यैवेष्टस्य विशेषस्तस्यैवाक्षेपः। वक्ष्यमाणविषये त्विष्टस्य विशेषः। इष्टसम्बन्धिनस्त्वन्यस्य सामान्यरूपस्य निषेधः। तेनात्र लक्षणभेदः। विशेषस्य चात्र शब्दानुपात्तत्वाद्गम्यत्वम् तत्रोक्तविषय आक्षेपे क्वचिद्वस्तु निषिध्यते क्वचिद्वस्तुकथनमिति द्वौ भेदौ। वक्ष्यमाणविषये तु वस्तुकथनमेव निषिध्यते तच्च सामान्यप्रतिज्ञायां क्वचिद् विशेषनिष्ठत्वेन निषिध्यते क्वचित्पुनरङ्गोक्तावंशान्तरगतत्वेनेत्यत्रापि द्वौ भेदौ। तदेवमस्य चत्वारो भेदः। शब्दसाम्यनिबन्धनं सामान्यविशेषभावमवलम्ब्य चात्र प्रकारिप्रकारभाव-कल्पनम्।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १४५-१४६)

अर्थात् 'आक्षेप' का अभिप्राय 'विधि' और 'निषेध' द्वारा 'निषेध' और 'विधि' का उक्ति-वैचित्र्य है। यदि प्राकरणिक अर्थ 'विधि'रूप है तो उसका 'निषेध' असंगत है। इसी प्रकार यदि प्राकरणिक अर्थ 'निषेध'रूप है तो उसका 'विधान' अनुपपन्न है। इसलिये 'विधि' का निषेध अथवा 'निषेध' का विधान वास्तविक नहीं अपितु प्रातीतिक अथवा आभासरूप ही सिद्ध होता है। 'विधि' का निषेध अथवा 'निषेध' का विधान यों ही नहीं किया जाया करता अपितु किसी विशेष अभिप्राय के प्रकाशनार्थ ही किया जाया करता है। नहीं तो जिसका विधान किया जाय उसी का निषेध किया जाय अथवा जिसका निषेध किया जाय उसीका विधान किया जाय—यह सब 'गज-स्नान' (हाथी के नहाने) की भाँति निरर्थक ही है। प्राचीन आलङ्कारिकों ने दो प्रकार के 'आक्षेप' इसलिए माने थे क्योंकि एक आक्षेपप्रकार में 'कैमर्थ्यपर्यालोचन' (क्यों ऐसा किया गया इस प्रश्न) और दूसरे आक्षेपप्रकार में 'वक्ष्यमाणानयनागूरण' (आगे कही जानेवाली बात के प्रकाशन) का रहस्य अन्तर्निहित रहा करता है। किन्तु वस्तुतः यहां ऐसा है कि उक्तविषयक 'आक्षेप' की ही भाँति 'वक्ष्यमाणविषयक' आक्षेप में भी 'कैमर्थ्यपर्यालोचन' (क्यों ऐसा किया गया—इस प्रश्न) का ही तात्पर्य रहा करता है। इसलिये प्राचीन आलङ्कारिकों के 'आक्षेप'—लक्षण में 'आक्षेप' के प्रकारद्वय का कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

वस्तुतः 'आक्षेप' का पृथक्-पृथक् लक्षण ही युक्तियुक्त है। जैसे कि 'उक्तविषयक' आक्षेप के लिए यह कहना उचित है कि इसमें 'वस्तुनिषेध' और 'वस्तुकथननिषेध' हुआ करता है और 'वक्ष्यमाणविषयक' आक्षेप में केवल 'वस्तुकथन' निषेध ही 'सामान्यतः' सूचित के निषेध' और 'एक अंश के कथनपूर्वक अन्य अंश के निषेध'—इन दो रूपों में दिखाई दिया करता है।

(ग) अनिष्ट अर्थ के विध्याभासरूप 'आक्षेप' की 'आक्षेप' प्रकार के रूप में कल्पना आचार्य रुय्यक ने सर्वप्रथम की है। यह कल्पना विश्वनाथ कविराज को भी मान्य है। आचार्य रुय्यक का इस सम्बन्ध में यह कथन है—

'यथेष्टस्येष्टत्वादेव निषेधोऽनुपपन्नः एवमनिष्टस्याप्यनिष्टत्वादेव विधानं नोपपद्यते। तत्क्रियमाणं प्रस्खलद्रूपत्वान्निषेधं पर्यवस्यति। ततश्च विधेरुपकरणीभूतो निषेध इति विधिनाऽयं निषेधोऽनिष्टविशेषपर्यवसायी निषेधागूरणादाक्षेपः।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १५२)

अर्थात् जैसे इष्ट होने के नाते इष्ट का निषेध अनुपपन्न है वैसे ही अनिष्ट होने के नाते अनिष्ट का भी विधान अनुपपन्न ही है। तब भी यदि 'अनिष्टविधान' किया जाता है तो इसका अभिप्राय अन्ततोगत्वा निषेधरूप ही निकल सकता है जिसे 'विध्याभास' कहा जा सकता है।

निम्न सूक्तियाँ 'आक्षेप' की बड़ी सुन्दर सूक्तियाँ हैं—

'त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण॥'

(उत्तररामचरित, ३य अङ्क)

'नो किञ्चित् कथनीयमस्ति सुभग प्रौढाः परं त्वादृशाः
पन्थानः कुशला भवन्तु भवतः को मादृशामाग्रहः।
किंत्वेतत् कथयामि संततरतक्लान्तिच्छिदस्तास्त्वया
स्मर्त्तव्याः शिशिराः सहंसगतयो गोदावरीवीचयः॥'

(अलङ्कारसर्वस्व : उद्धरण)

'रे खल तव चरितं विदुषामग्रे विविच्य वक्ष्यामि।
अलमथवा पापात्मन् कृतया कथयापि ते हतया॥'

(पण्डितराज जगन्नाथ)

(३४—विभावना : भेद-प्रभेद)

विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।
उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद्द्विधा सा परिकीर्तिता ॥ ६६ ॥

विना कारणमुपनिबध्यमानोऽपि कार्योदयः किञ्चिदन्यत्कारणमपेक्ष्यैव भवितुं युक्तः। तच्च कारणान्तरं क्वचिदुक्तं क्वचिदनुक्तमिति द्विधा।

यथा—

(उक्तनिमित्ता विभावना मध्य में)

'अनायासकृशं मध्यमशङ्कतरले दृशौ ।
अभूषणमनोहारि वपुर्वयसि सुभ्रुवः ॥'

अत्र वयोरूपनिमित्तमुक्तम् ।

(अनुक्तनिमित्ता विभावना)

अत्रैव 'वपुर्भाति मृगीदृशः' इति पाठेऽनुक्तम् ।

अनुवाद—'विभावना' वह अलङ्कार है जिसे कारण के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति का वर्णन कहा करते हैं। 'विभावना' के दो प्रकार हैं—(१) वह, जिसमें कारणाभाव में कार्योत्पत्ति का निमित्त प्रतिपादित हो अर्थात् 'उक्तनिमित्ता' विभावना और (२) वह, जिसमें कारणाभाव में कार्योत्पत्ति के निमित्त का प्रतिपादन न किया जाय अर्थात् 'अनुक्तनिमित्ता' विभावना।

यह निश्चित है कि कारण के विना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि कारण के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो तो यह अवश्यम्भावी है कि कोई न कोई ऐसा कारणविशेष अवश्य होगा (जिसकी दृष्टि से कारण के विना भी कार्य संपन्न हो सकता है)। कहीं पर यह कारणविशेष प्रतिपादित हो सकता है (जैसे कि उक्तनिमित्ता विभावना में) और कहीं इसका प्रतिपादन नहीं किया जाया करता (जैसे कि अनुक्तनिमित्ता विभावना में। वस्तुतः इस कारण अथवा निमित्तविशेष की 'उक्ति' और 'अनुक्ति' के ही कारण 'विभावना के दो भेद निष्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिए—

'यौवन की अवस्था में इस सुन्दरी की कमर विना आयास-प्रयास के ही कृश हो रही है, इसकी आंखें विना किसी आशंका के ही चञ्चलता से भर उठी हैं और इसकी देह विना किसी आभूषण के ही मनोहर लग रही है।'

यहाँ 'आयास', 'आशंका' और 'आभूषण'रूप प्रसिद्ध कारणों के अभाव में ही 'कृशता', 'तरलता' और 'मनोहरता'रूप कार्यों की उत्पत्ति वर्णित है और ऐसे वर्णन का निमित्त भी प्रतिपादित है जो कि 'यौवन'रूप निमित्त है (इस प्रकार यहां 'उक्तनिमित्ता' विभावना की झलक स्पष्ट है)।

'उपर्युक्त 'अनायासकृशं मध्यम्' आदि सूक्ति में ही 'वपुर्वयसि सुभ्रुवः' के बदले 'वपुर्भाति मृगीदृशः' कर देने से 'अनुक्तनिमित्त' विभावना का लक्षण घटित हो जाता है (क्योंकि 'यौवन'रूप निमित्त के न रहने पर यहां की विभावना 'अनुक्तनिमित्ता' ही कही जा सकती है)।

विमर्श—'विभावना' एक प्राचीन अलङ्कार है। आचार्य दण्डी का 'विभावना'-लक्षण यह है—

'प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किञ्चित्कारणान्तरम् ।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना ॥' (काव्यादर्श, २. १९९)

(३५—विशेषोक्ति)

सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा।

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'विभावना' का वैचित्र्य प्रसिद्ध कारण के परित्याग के साथ-साथ अप्रसिद्ध कारण की कल्पना में रहा करता है अलङ्कारसर्वस्वकार का इसीलिए यह कथन है—

'इह कारणान्वयव्यतिरेकानुविधानात् कार्यस्य कारणमन्तरेणासंभवः। अन्यथा विरोधो दुष्परिहरः स्यात्। यदि तु कयाचिद्भङ्ग्या तथाभाव उपनिबध्यते तदा विभावनाख्योऽलङ्कारः। विशिष्टतया कार्यस्य भावनात्। सा च भङ्गिर्विशिष्टकारणाभावोपनिबद्धा (यया भङ्ग्या कारणं विनापि कार्यसंभव उपनिबध्यत इत्यर्थः—विमर्शिनी)। अप्रस्तुतं कारणं वस्तुतोऽस्तीति विरोधपरिहारः।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १५७)

अर्थात् जब कि यह सभी जानते हैं कि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता तब कारण के अभाव में कार्य का सद्भाव वर्णन एक ऊटपटांग-सी ही बात है। किन्तु कविजन ऐसा वर्णन किया करते हैं। उनके इस प्रकार के वर्णन में एक वैचित्र्य है और वहीं 'विभावना' अलङ्कार है। 'विभावना' का अर्थ है कार्योत्पत्ति की ऐसी 'भावना' जिसमें एक विचित्रता है। यह 'विचित्रता' वस्तुतः कारण के अभाव में कार्यसद्भाव की ही विचित्रता है। जीवलोक में यह विचित्रता संभव नहीं। यह तो एक मात्र काव्यलोक की विशेषता है। 'कारण के अभाव में कार्य का सद्भाव' क्या है? प्रस्तुत कारण के परिहार के साथ, अप्रस्तुत कारण की कार्यसाधकता ही, कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति—कल्पना है।

(ख) 'विभावना' के मूल में अतिशयोक्ति का बीज पड़ा रहता है। जैसे कि 'अनायासकृशम्' आदि सूक्ति में ही यौवन-जन्य 'कृशता' और परिश्रमजन्य 'कृशता' का अभेदाध्यवसान स्पष्ट है क्योंकि तभी 'कृशता' के परिश्रमरूप कारण के परिहार और यौवनरूप कारण की भावना की उपपत्ति ठीक बैठती है। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इसीलिये कहा है—

'सा (अतिशयोक्तिः) च अस्यामव्यभिचारिणीति न तद्बाधेनास्या उत्थानम्, अपि तु तदनुप्राणितत्वेन।' (अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ १५९)

अर्थात् 'विभावना' में अतिशयोक्ति का अनुप्राणन स्वाभाविक है। यहाँ 'अतिशयोक्ति' द्वारा 'विभावना' बाधित नहीं होती अपितु सबल बना करती है।

'अलङ्कारसर्वस्व' विमर्शिनीकार को भी यह मत अभिप्रेत है—

'अतश्च क्वचिच्छुद्धस्यापि संभवात् सर्वत्रास्यातिशयोक्त्यनुप्राणितत्वमिति न वाच्यमिति यदुक्तं तदयुक्तम्।'

किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने 'विभावना' के लिये सर्वत्र 'अतिशयोक्ति' का अनुप्राणन आवश्यक नहीं माना है—

'मा स्म भूत्सर्वत्र विभावनायामतिशयोक्तिरनुप्राणिका। आहार्याभेदबुद्धिमात्रमेवानुप्राणकम्। तच्च क्वचिदतिशयोक्त्या, क्वचिच्च रूपकेणेति न दोषः।' (रसगङ्गाधर पृष्ठ ५८०)

निम्न 'विभावना' सूक्ति बड़ी सुन्दर है—

'निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते। जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥'

अनुवाद—'विशेषोक्ति' वह अलङ्कार है जिसे कारण के सद्भाव में कार्य का अभाव-वर्णन कहा जाया करता है। यह भी दो प्रकार की है—(१) 'उक्तनिमित्ता' विशेषोक्ति और (२) 'अनुक्तनिमित्ता' विशेषोक्ति।

यहाँ कारिका में 'तथा' का अभिप्राय, निमित्त की उक्ति और अनुक्ति के कारण 'विशेषोक्ति' के दो भेदों में विभक्त होने का अभिप्राय है।

तथेत्युक्तानुक्तनिमित्तत्वात् । तत्रोक्तनिमित्ता यथा—

'धनिनोऽपि निरुन्मादा युवानोऽपि न चञ्चलाः ।
प्रभवोऽप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः ॥

अत्र महामहिमशालित्वं निमित्तमुक्तम् । अत्रैव चतुर्थपादे 'कियन्तः सन्ति भूतले' इति पाठे त्वनुक्तम् । अचिन्त्यनिमित्तत्वं चानुक्तनिमित्तस्यैव भेद इति पृथङ् नोक्तम् ।

यथा—

'स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरताऽपि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम् ॥'

अत्र तनुहरणेनापि बलाहरणे निमित्तमचिन्त्यम् । इह च कार्याभावः कार्यविरुद्धसद्भावमुखेनापि निबद्ध्यते । विभावनायामपि कारणभावः कारणविरुद्धसद्भावमुखेन ।

जैसे कि 'उक्तनिमित्ता' विशेषोक्ति—

'वे लोग महामहिमशाली महापुरुष हैं जो धनी होने पर भी निरभिमान, युवा होने पर भी स्थिर बुद्धिवाले और प्रभुत्व रखने पर भी अप्रमत्त हुआ करते हैं ।'

यहाँ 'धन', 'यौवन' और 'प्रभुत्व'रूप कारण के सद्भाव में भी 'उन्माद', 'चञ्चलता' और 'अप्रमाद'रूप कार्य के अभाव का वर्णन है और इसके निमित्तरूप से 'महामहिमशालित्व' का भी प्रतिपादन है जिसमें 'विशेषोक्ति' का 'उक्तनिमित्ता' होना स्पष्ट है ।

यहाँ यदि 'महामहिमशालिनः' इस चतुर्थ चरण के स्थान पर 'कियन्तः सन्ति भूतले' (संसार में ऐसे कितने लोग हैं जो···) कर दिया जाय तो 'अनुक्तनिमित्ता' विशेषोक्ति का स्वरूप झलक उठता है ।

(काव्यप्रकाशकार द्वारा प्रतिपादित) विशेषोक्ति का 'अचिन्त्यनिमित्तक' रूप वस्तुतः उसका 'अनुक्तनिमित्तक' रूप ही है । इसलिये यहाँ 'अचिन्त्यनिमित्तक' विशेषोक्ति-भेद का कोई निरूपण अपेक्षित नहीं ।

जैसे कि 'विशेषोक्ति' के 'अचिन्त्यनिमित्तक' भेद के उदाहरणरूप से उद्धृत यह सूक्ति अर्थात्—

'वह कुसुमायुध (काम) ही ऐसा है जो अकेला होते हुये भी तीनों लोकों पर विजय पाया करता है क्योंकि तभी तो उसके शरीर का विनाश करने पर भी उसके बल का विनाश भगवान् शङ्कर द्वारा न हो सका ।'

वस्तुतः 'अनुक्तनिमित्ता' विभावना का ही निदर्शन प्रतीत होता है क्योंकि शरीर के विनाश में भी बल के विनाश के अभाव का जो वर्णन है उसमें निमित्त का 'अचिन्त्य' होना उसके 'अनुक्त' होने के ही बराबर है ।

'विशेषोक्ति' के संबन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि यहाँ (कारण के सद्भाव में) कार्य के अभाव का वर्णन किसी कार्य के विरोधी किसी पदार्थ के सद्भाव-वर्णन द्वारा भी किया जा सकता है । 'विभावना' में भी यही बात है क्योंकि वहां भी (कार्य के सद्भाव में) कारण के अभाव का वर्णन कारण के विरोधी किसी पदार्थ के सद्भाव-वर्णन में संभव है । उदाहरण के लिए 'यः कौमारहरः' आदि (पूर्वोद्धृत) सूक्ति पर्याप्त है जहां (उत्कण्ठारूप कार्य के सद्भाव में) उत्कण्ठा-कारण 'वर' आदि का अभाव-वर्णन उत्कण्ठा-

एवञ्च 'यः कौमारहरः' इत्यादेरुत्कण्ठाकारणविरुद्धस्य निबन्धनाद्विभावना। 'यः कौमार–' इत्यादेः कारणस्य च कार्यविरुद्धाया उत्कण्ठाया निबन्धनाद्विशेषोक्तिः, एवञ्चात्र विभावनाविशेषोक्त्योः सङ्करः। शुद्धोदाहरणं तु मृग्यम्।

कारण के विरोधी (अर्थात् 'वर' आदि के सद्भाव) के वर्णन द्वारा किया गया है जिसमें 'विभावना' स्पष्ट झलक रही है। यहीं 'विशेषोक्ति' का भी चमत्कार प्रतीत हो रहा है जिसमें 'वर' आदिरूप कारण के सद्भाव में (उत्कण्ठाभावरूप) कार्य के अभाव का वर्णन (उत्कण्ठाभावरूप) कार्य के विरोधी अर्थात् उत्कण्ठा के सद्भाव के वर्णन द्वारा किया जा रहा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'यः कौमारहरः' आदि सूक्ति में 'विभावना' और 'विशेषोक्ति' का (संदेह) 'सङ्कर' बड़ा सुन्दर लग रहा है।

वस्तुतः जहाँ भी एक दृष्टि से 'विभावना' है वहाँ दूसरी दृष्टि से 'विशेषोक्ति' का संदेह स्वाभाविक है इसलिये 'शुद्ध' विभावना अथवा 'शुद्ध' विशेषोक्ति के निदर्शन काव्य-साहित्य में ढूँढ़ने पर ही संभवतः कहीं मिलें (अन्यथा तो इन दोनों के सदेहसंकर का वैचित्र्य उपलब्ध ही होता है)।

विमर्श—(क) 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने विशेषोक्ति का यह स्वरूप-निर्देश किया है—

'कारणसामग्र्ये कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः—इह समग्राणि कारणानि नियमेन कार्यमुत्पादयन्ति इति प्रसिद्धम्। अन्यथा समग्रत्वस्यैवाभावप्रसङ्गात्। यत्तु सत्यपि सामग्र्ये न जनयति कार्यं सा किञ्चिद्विशेषमभिव्यक्तुंप्रयुज्यमाना विशेषोक्तिः।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृ. १६१) अर्थात् यह तो सिद्ध ही है कि एक कोई कारण कार्य-जनक नहीं अपितु कारण-सामग्री कार्य-जनक है। कारण-सामग्री के रहने पर भी कार्य का न होना एक विशेष कारण की अभिव्यञ्जना है जो कि 'विशेषोक्ति'रूप वाच्यवैचित्र्य के द्वारा ही संभव है। इसलिये 'विभावना' के विपरीत स्वभाववाली 'विशेषोक्ति' एक अलङ्कारप्रकार है।

'विशेषोक्ति' की व्युत्पत्ति यह है—'विशेषं कञ्चित् प्रतिपादयितुमुक्तिः विशेषोक्तिः'। यह व्युत्पत्ति भी कारण-सामग्री के सद्भाव में कार्योत्पत्ति के अभाव के निमित्तरूप से एक विशेष कारण की कल्पना की सिद्धि कर रही है।

(ख) 'यः कौमारहरः' आदि में काव्यप्रकाशकार को 'विभावना-विशेषोक्तिसङ्कर' की स्फुटता नहीं दिखायी देती किन्तु विश्वनाथ कविराज ने यहां 'विभावना-विशेषोक्तिसङ्कर' का सौन्दर्य अत्यन्त स्पष्ट रूप से देखा है। यहां पण्डितराज जगन्नाथ की यह समीक्षा ध्यान देने योग्य है—

'कारणाभावकार्याभावयोर्यत्र प्रतियोगितावच्छेदकविशेषवैशिष्ट्येन श्रुत्या प्रतिपादनं तत्र विभावनाविशेषोक्त्योः शाब्दत्वम्। यथा—

'भगवद्वदनाम्भोजं पश्यन्त्या अप्यहर्निशम्। तृष्णाधिकमुदेतिस्म गोपसीमन्तिनीदृशः'॥

लोके ह्यसन्निकर्षस्तृष्णाकारणम्। तदभावे सन्निकर्षेऽपि तृष्णोपनिबद्धा। तथा सन्निकर्षस्तृप्तिकारणम्। तस्मिन् सत्यपि तृप्त्यभावो बोधितः। परन्तु कारणाभाव-कार्याभावयोर्न प्रागुक्तप्रकारेण प्रतिपादनमित्यार्थत्वमेव तदुभयसंशयसंकरस्य। अमुमेव चार्थं मनसिकृत्य मम्मटभट्टैः 'यः कौमारहरः' इति पद्यमुदाहृत्योक्तम्-'अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः' इति।

(रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५८९)

अर्थात् काव्यप्रकाशकार का यह कथन कि 'यः कौमारहरः' आदि में कोई अलङ्कार स्फुटरूप से नहीं झलकता, सर्वथा युक्तियुक्त है। कारण यह है कि यहाँ विभावना विशेषोक्ति का 'संदेहसंकर'

(३६—विरोधालङ्कार : सप्रभेद निरूपण)

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः ॥ ६७ ॥
क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः ।
विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः ॥ ६८ ॥

क्रमेण यथा—

(जाति का जाति से विरोधवर्णन-रूप 'विरोध')

'तव विरहे मलयमरुद्दवानलः, शशिरुचोऽपि सोष्माणः ।
हृदलिविरुतमपि भिन्ते नलिनीदलमपि निदाघरविरस्याः ॥'

(गुण का गुण से विरोधवर्णनरूप 'विरोध')

'सन्ततमुसलासङ्गाद्बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते ! ।
द्विजपत्नीनां कठिनाः सति भवति कराः सरोजसुकुमाराः ॥'

स्फुटतया नहीं प्रतीत हो सकता । 'विभावना' और 'विशेपोक्ति' अलङ्कार 'शाब्द' और 'आर्थ' रूप से दो प्रकार के हुआ करते हैं । इनका 'शाब्द' रूप वह है जहां 'कारणाभाव' और 'कार्याभाव' का प्रतिपादन इनके 'प्रतियोगी' के वैशिष्ट्य के प्रतिपादनपूर्वक अर्थात् शब्दतः किया जाया करता है । 'यः कौमारहरः' आदि में ऐसी बात नहीं क्योंकि यहां उत्कण्ठारूप कार्य के कारण का अभाव शब्दतः प्रतिपादित नहीं । यहां यह कहा गया है कि 'जो वर आदि हैं वे वे ही हैं' । न कि यह कि 'जो वर आदि हैं । वे वे नहीं हैं ऐसा नहीं' । इसी प्रकार यहां उत्कण्ठाभावरूप कार्य का अभाव शब्दतः प्रतिपादित नहीं क्योंकि यहाँ यह नहीं कहा गया कि 'मन नहीं उत्कण्ठित होता ऐसी बात नहीं' अपितु यह कि 'मन उत्कण्ठित होता है' । इस प्रकार अन्ततः यहां आर्थ 'विशेषोक्ति' और आर्थ 'विभावना' का 'संदेहसंकर' आर्थ ही हो सकता है जिसका अभिप्राय यही है कि यहां 'विभावना विशेषोक्ति' संकर स्फुट नहीं अपितु अस्फुट है और अस्फुट होने के कारण विचारणीय भी नहीं ।

अनुवाद—'विरोध' वह अलङ्कार है जिसे इन दस रूपों में देखा जाया करता है—

(१) जाति के जाति से विरोधवर्णन में ।
(२) जाति के गुण से विरोधवर्णन में ।
(३) जाति के क्रिया से विरोधवर्णन में ।
(४) जाति के द्रव्य से विरोधवर्णन में ।
(५) गुण के गुण से विरोधवर्णन में ।
(६) गुण के क्रिया से विरोधवर्णन में ।
(७) गुण के द्रव्य से विरोधवर्णन में ।
(८) क्रिया के क्रिया से विरोधवर्णन में ।
(९) क्रिया के द्रव्य से विरोधवर्णनमें और
(१०) द्रव्य के द्रव्य से विरोधवर्णन में ।

इस 'दशरूप' विरोधालङ्कार के क्रमशः ये उदाहरण हैं—

'अरे प्रेमी युवक ! तुम्हारे वियोग में उस सुन्दरी की यह दशा है कि मलयानिल दावानल बन रही है, चन्द्रमा की किरणें संतापदायक हो रही हैं, भ्रमरों की गुञ्जार हृदय विदारण कर रही है और नलिनी-किसलय ग्रीष्म का सूर्य लग रहा है ।'

'राजन् ! ब्राह्मणों की स्त्रियों के वे हाथ जो अब तक सदा मूसल की कुटाई-पिसाई और दिन-रात घरेलू काम में लगे रहने के कारण कड़े हो रहे थे, आज आप के राजा होते, कमल के समान कोमल दिखायी दे रहे हैं ।'

(क्रिया के साथ गुण-विरोध-वर्णन-रूप 'विरोध')

'अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥'

(गुण का द्रव्य से विरोध-वर्णनरूप 'विरोध')

'वल्लभोत्सङ्गसङ्गेन विना हरिणचक्षुषः।
राकाविभावरीजानिर्विषज्वालाकुलोऽभवत् ॥'

(क्रिया के साथ क्रिया का विरोध-वर्णन रूप 'विरोध')

'नयनयुगासेचनकं मानसवृत्त्यापि दुष्प्रापम्।
रूपमिदं मदिराक्ष्या मदयति हृदयं दुनोति च मे ॥'

(क्रिया का द्रव्य के साथ विरोध-वर्णनरूप 'विरोध')

'त्वद्वाजि' इत्यादि।

(द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध-वर्णनरूप 'विरोध')

'वल्लभोत्सङ्ग'—इत्यादिश्लोके चतुर्थपादे 'मध्यन्दिनदिनाधिप' इति पाठे द्रव्ययोर्विरोधः।

अत्र 'तव विरह–' इत्यादौ पवनादीनां बहुव्यक्तिवाचकत्वात् जातिशब्दानां दवानलोष्महृदयभेदनसूर्यैर्जातिगुणक्रियाद्रव्यरूपैरन्योन्यं विरोधो मुखत आभासते, विरहहेतुकत्वात्समाधानम्। 'अजस्य–' इत्यादावजत्वादिगुणस्य जन्मग्रहणादिक्रियया विरोधः, भगवतः प्रभावस्यातिशायित्वात्तु समाधानम्।

'हे परमेश्वर ! आप अजन्मा होकर भी जन्म ग्रहण किया करते हैं, निरीह होकर भी शत्रु-संहार किया करते हैं, योगनिद्रामग्न रहते हुये भी जागरूक रहा करते हैं—आपका यथार्थ स्वरूप भला कौन जान सकता है ?'

'प्रियतम के अङ्क के सुख-सम्बन्ध के न रहने से उस मृगनयनी सुन्दरी के लिये, अब पूर्णिमा का चन्द्रमा विष की लपटों से लिपटा प्रतीत हुआ करता है।'

'उस मदिरेक्षणा सुन्दरी का वह रूप, जो नयनयुगल के शान्तिदायक और अचिन्तनीय सौन्दर्य का केन्द्र है, मेरे हृदय में पीड़ा भी पहुँचाया करता है और आनन्द भी भरा करता है।'

'त्वद्वाजिराजिनिर्धूत' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति (जहाँ शिवरूप 'द्रव्य' और 'न धारण करने' की क्रिया का विरोध आभासित हो रहा है)।

'वल्लभोत्सङ्गसङ्गेन' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति के चतुर्थ चरण में, 'विषज्वालाकुलोऽभवत्' के स्थान पर, यदि 'मध्यन्दिनदिनाधिपः' (पूर्णिमा का चन्द्रमा मध्याह्न का सूर्य हो जाया करता है) कर दिया जाय तब दो द्रव्यों का विरोध आभासित होने लगता है।

इन उपर्युक्त उदाहरण-सूक्तिओं में 'विरोध' और 'विरोध-परिहार' का अभिप्राय इस प्रकार समझना चाहिये—'तव विरहे' आदि सूक्ति में 'मलयसमीर' आदि शब्द जातिवाचक शब्द हैं क्योंकि इनमें अनेकानेक व्यक्तिओं की वाचकता निहित है। यहाँ 'मलयपवन' आदि का 'दावानल'रूप जाति (क्योंकि 'दावानल' पद जातिवाचक पद है), 'ऊष्मा'रूप गुण (क्योंकि 'ऊष्मा' शब्द गुणवाचक शब्द है), 'हृदयभेदन'रूप क्रिया

'त्वद्वाजि-' इत्यादौ 'हरोऽपि शिरसा गङ्गां न धत्ते' इति विरोधः, 'त्वद्वाजि-' इत्यादिकविप्रौढोक्त्या तु समाधानम्। स्पष्टमन्यत्।

विभावनायां कारणाभावेनोपनिबध्यमानत्वात्कार्यमेव बाध्यत्वेन प्रतीयते, विशेषोक्तौ च कार्याभावेन कारणमेव; इह त्वन्योन्यं द्वयोरपि बाध्यत्वमिति भेदः।

(क्योंकि 'हृदयभेदन' पद क्रियावाचक शब्द है) और 'सूर्य' रूप द्रव्य (क्योंकि 'सूर्य' शब्द द्रव्यवाचक शब्द है) के साथ विरोध आपाततः अवश्य प्रतीत हो रहा है किन्तु यहाँ इस विरोध के परिहार का हेतु भी उपनिबद्ध है जो कि 'विरह' रूप हेतु है (इस प्रकार यहाँ 'विरोध' (वस्तुतः विरोधाभास) रूप वाच्य-वैचित्र्य की प्रतीति निर्विवाद रूप से हो रही है)। 'अजस्य गृह्णतो जन्म' आदि सूक्ति में जो विरोध आभासित होता है जैसे कि 'अजत्व' आदि गुण और 'जन्मग्रहण' आदि क्रिया का पारस्परिक विरोध, उसका समाधान परमेश्वर की अलौकिक महिमा के द्वारा हो रहा है। 'त्वद्वाजिराजि' आदि सूक्ति में जो यह विरोध प्रतीत होता है कि 'हैं तो भगवान् शङ्कर किन्तु गङ्गा को नहीं धारण कर सकते' उसका परिहार 'त्वद्वाजिराजि' आदि की कविप्रौढोक्ति द्वारा किया जा रहा है। अन्य सूक्तिओं में आपाततः प्रतीत विरोध का उपशमन स्पष्ट है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि (आपाततः विरोध-प्रतीति में समान होने पर भी) 'विरोध', 'विभावना' और विशेषोक्ति' पृथक्-पृथक् स्वरूप वाले अलङ्कार हैं। 'विभावना' में कवि जब कारण के अभाव का उपनिबन्ध करके कार्य की उत्पत्ति का वर्णन करता है तो यह स्पष्ट है कि यहाँ 'कार्योत्पत्ति' (असंगत सी प्रतीत होने के कारण) 'बाध्य' रूप की रहा करती है। 'विशेषोक्ति' में जो बात है वह इससे ठीक उलटी है क्योंकि वहाँ कार्याभाव के उपनिबन्ध के साथ कारण-सद्भाव का जो वर्णन हुआ करता है उसमें 'कारण' ही (असंगत प्रतीत होने के कारण) 'बाध्य' रूप का लगा करता है। किन्तु 'विरोध' में जो बाध्य-बाधक भाव की प्रतीति हुआ करती है वह समान बलवाले पदार्थों की परस्पर 'बाध्यता' अथवा 'विरुद्धता' की प्रतीति है।

विमर्श—(क) 'विरोध' अलङ्कार का अभिप्राय आपाततः विरोध के प्रत्यायक और इसीलिये अन्ततः विरोध-समाधायक वाच्यवैचित्र्य का अभिप्राय है। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने स्पष्ट कहा है–

'विरुद्धाभासत्वं विरोधः—

इह जात्यादीनां चतुर्णां पदार्थानां प्रत्येकं तन्मध्य एव सजातीयविजातीयाभ्यां विरोधिभ्यां सम्बन्धे विरोधः। स च समाधानं विना प्ररूढो दोषः। सति तु समाधाने प्रमुख एवाभासमानत्वाद्विरोधाभासः'। (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १५४)

अर्थात् जाति-गुण-द्रव्य और क्रियारूप चतुर्विध पदार्थ का अपने विरोधी सजातीय अथवा विजातीय पदार्थ से परस्पर सम्बन्ध ही 'विरोध' अलङ्कार की कल्पना का मूल है। यदि इस विरोध का समाधान न किया जाय तब तो यह काव्यदोष है किन्तु जब इस विरोध का उपशमन कर दिया जाता है तब आपात में विरोध की प्रतीति का एक नया चमत्कार उत्पन्न हो जाता है और यह 'विरोध' (आपाततः प्रतीत विरोध अथवा विरोधाभास) एक काव्य-सौन्दर्य का रूप धारण कर लेता है। विरोध का समाधान होने के कारण 'विरोध' को दोषाभाव कहना ठीक नहीं क्योंकि 'आभासमान विरोध' एक वैचित्र्यविशेष है जिसके देखते 'विरोध' का 'अलङ्कार' रूप निर्विवाद सिद्ध है।

(३७—असङ्गति)

कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः ।

पण्डितराज जगन्नाथ का भी यही कथन है—

'एकाधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रतिपादितयोरर्थयोर्भासमानैकाधिकरणासम्बद्धत्वम् , एकाधिकरणासम्बद्धत्वभानं वा विरोधः।

स च प्ररूढोऽप्ररूढश्च । प्ररोहश्च बाधबुद्ध्यनभिभूतत्वम् । तद्वैपरीत्यमप्ररोहः । तत्राद्यो दोषस्य विषयः, द्वितीयश्चालङ्कारस्य । अत एवेमं विरोधाभासमाचक्षते । आ ईषद्भासत इत्याभासः । विरोधश्चासावाभासश्चेति । आमुख एव प्रतीयमानो झगिति जायमानाविरोधबुद्धितिरस्कृत इति यावत्' । (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५७०)

अर्थात् 'विरोध' का अभिप्राय एक आश्रय के साथ सम्बद्ध रूप से प्रतिपादित दो पदार्थों के ऐसे परस्पर असम्बन्ध का अभिप्राय है जो कि उस आश्रय पर उनमें आभासित हुआ करता है । यह विरोध 'प्ररूढ' अथवा वास्तविक और 'अप्ररूढ' अथवा आपाततः प्रतीत दो रूपों का हो सकता है । इनमें वास्तविक 'विरोध' तो एक महादोष है किन्तु आपाततः प्रतीत 'विरोध' अथवा 'विरोधाभास' एक अलङ्कार अथवा वैचित्र्य है ।

(ख) 'विरोध' का क्षेत्र 'विभावना' तथा 'विशेषोक्ति' के क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसीलिये कहा है—

'तत्रापि कार्यकारणादिबुद्ध्यनालीढो विरोधाभासो विरोधालङ्कारः। तदालीढस्तु विभावनादिर्वक्ष्यमाणः।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५७०)

अर्थात् कार्यकारणभाव के क्षेत्र को छोड़ कर अन्यत्र आपाततः विरोधप्रतीति 'विरोध' अलङ्कार की कल्पना का मूल है । यह तो 'विभावना' और 'विशेषोक्ति' का क्षेत्र है जहां कार्यकारणभाव-सम्बद्ध विरोध प्रतीत हुआ करता है ।

अलङ्कारसर्वस्वकार ने भी इसी दृष्टि से कहा था—

'कारणाभावेन चोपक्रान्तत्वाद् बलवता कार्यमेव बाध्यमानत्वेन प्रतीयते, न तु तेन कारणाभाव इत्यन्योन्यबाधकत्वानुप्राणिताद् विरोधालङ्काराद् भेदः । एवं विशेषोक्तौ कार्याभावेन कारणसत्ताया एव बाध्यमानत्वमुन्नेयम्। येन साऽपि विरोधाद् भिन्ना स्याद्' ।

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १५८)

अर्थात् 'विभावना' और 'विशेषोक्ति' विरोधालङ्कार से भिन्न अलङ्कार-प्रकार हैं। कारण यह है कि जहाँ 'विभावना' और 'विशेषोक्ति' में पहले में कारणाभाव के द्वारा कार्य 'बाध्य' प्रतीत होता है और दूसरे में कार्याभाव के द्वारा कारण, वहाँ 'विरोधालङ्कार' में कार्य और कारण दोनों में पारस्परिक 'विरोध' रहा करता है ।

आचार्य जयरथ ने इसी की पुष्टि में यह पङ्क्ति उद्धृत की है—

'कारणस्य निषेधेन बाध्यमानः फलोदयः । विभावनायामाभाति विरोधोऽन्योन्यबाधनम् ॥

अतो दूरविभेदोऽस्या विरोधेन व्यवस्थितः ॥' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १५७)

अनुवाद—'असङ्गति' वह अलङ्कार है जिसे कार्य और कारण के भिन्न-भिन्न आश्रय में अवस्थान का वर्णन कहा जाया करता है (जिसका निमित्त कारण-वैचित्र्य हुआ करता है)।

यथा—

'सा बाला, वयमप्रगल्भमनसः, सा स्त्री, वयं कातराः
सा पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगं धत्ते, सखेदा वयम् ।
साक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा, गन्तुं न शक्ता वयं
दोषैरन्यजनाश्रयैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम् ॥'

जैसे कि—

'बाला (थोड़ी अवस्था वाली) तो वह सुन्दरी है और अप्रगल्भता (चञ्चलता) हमारे मन में बसी है; स्त्री तो वह है और कातरता हम में रहा करती है; मांसल और उन्नत उरोजों वाली तो वह है और खेद हमें हो रहा है; जघनस्थल के भार से तो वह दबी है और चलने-फिरने में असमर्थ हम हैं। कितना आश्चर्य है कि दूसरे के दोषों से हममें दोष उत्पन्न हो रहे हैं।'

[यहाँ 'असङ्गति' इसलिये है क्योंकि 'बालत्व', 'स्त्रीत्व' आदि कारणों का आश्रय तो वर्ण्य नायिका है और 'अप्रगल्भत्व', 'कातरत्व' आदि कार्यों का आश्रय वर्ण्य नायक बन रहा है।]

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि 'असङ्गति' और 'विरोध' एक रूप के अलङ्कार नहीं क्योंकि जहाँ 'असङ्गति', 'विरोध' (रूप उत्सर्ग अथवा नियम) का अपवाद है (क्योंकि 'असङ्गति' के लिए कार्य-कारण भाव से संबद्ध दो पदार्थों का, जो कि वस्तुतः 'समानाधिकरणक' अथवा एक आश्रय पर अवस्थित हुआ करते हैं, भिन्न-भिन्न अधिकरणों में अवस्थानरूप विरोध अपेक्षित है) वहां 'विरोध' के लिए भिन्न-भिन्न आश्रय वाले दो पदार्थों के आश्रयैक्यरूप विरोध की अपेक्षा है।

विमर्श—(क) 'असङ्गति' का अभिप्राय है—उचित सङ्गति का अभाव। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इसकी यह समीक्षा की है—

'तयोस्तु भिन्नदेशत्वेऽसङ्गतिः। तयोरिति कार्यकारणयोः। यद्देशमेव कारणं तद्देशमेव कार्यं दृष्टम्। न हि महानसस्थो वह्निः पर्वतदेशस्थं धूमं जनयति। यदा त्वन्यदेशस्थं कारणमन्यदेशस्थं वा कार्यमुपनिबध्यते तदोचितसंगतिनिवृत्तेरसङ्गत्याख्योऽलङ्कारः। (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १६४)

अर्थात् कार्यकारण के वैयधिकरण्य-वर्णन में 'असङ्गति'रूप वाच्यवैचित्र्य रहा करता है। लोक में यही देखा जाता है कि जहाँ 'कारण' विद्यमान रहता है वहीं वह 'कार्य' भी उत्पन्न कर सकता है। ऐसा नहीं हुआ करता कि रसोईघर की आग से पहाड़ पर धुआँ उत्पन्न हो। किन्तु जब कवि कारण और कार्य का स्थान भिन्न-भिन्न बताता है जिसमें उसकी लोकातिक्रान्त प्रतिभा का हाथ स्पष्ट है तब 'असङ्गति'रूप काव्यवैचित्र्य का निर्देश आवश्यक हो जाता है।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने 'असङ्गति' में 'अतिशयोक्ति' के अनुप्राणन की बात नहीं कही है। वस्तुतः यहाँ 'अभेदाध्यवसाय' की अन्तर्गर्भता आवश्यक है। जैसे कि 'सा बाला' आदि सूक्ति में जो 'असङ्गति' है उसमें अभेद का अध्यवसाय स्पष्ट है क्योंकि बाल्यनिमित्त 'अप्रगल्भत्व' आदि और प्रेम-निमित्त 'अप्रगल्भत्व' आदि में 'अभेदाध्यवसाय' होने से ही (अर्थात् दोनों में एकरूपता की कल्पना के ही कारण) भिन्न-भिन्न देश में कार्य और कारण के अवस्थान में जो 'विरोध' संभव है उसका समाधान किया जा सकता है। अन्यथा 'असङ्गति' का अलङ्कार होना असंभव है। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इसीलिये कहा है।

'अत्र (सा बाला वयमप्रगल्भमनस—इत्यादौ) बाल्यनिमित्तमप्रगल्भत्वचनत्वमन्यदन्यच्च स्मरनिमित्तकमित्यनयोरभेदाध्यवसायः। एवमन्यत्र ज्ञेयम्।'

(अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ १६४)

अस्याश्चापवादकत्वादेकदेशस्थयोर्विरोधे विरोधालङ्कारः ।

(३८—विषमालङ्कार : सप्रभेद निरूपण)

गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः ॥ ६९ ॥
यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः ।
विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम् ॥ ७० ॥

क्रमेण यथा—

और 'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी'कार ने इसका इसीलिए समर्थन किया है—

'अनेनातिशयोक्तिरस्या अप्यनुप्राणकत्वेन कटाक्षिता। अन्यथा हि विरोधो दुष्परिहरः स्यात्।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १६४)

किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार, 'असङ्गति' के लिए 'अतिशयोक्ति का अनुप्राणन' उतना आवश्यक नहीं जितना कि यथासंभव 'अभेदाध्यवसान' का हुआ करता है—

'अस्यां च विभावनायामिव कार्यांशेऽतिशयोक्त्यनुप्राणनमावश्यकम्। अन्यथा विरोधो दुष्परिहर एव स्यादित्यलङ्कारसर्वस्वकारादीनां मतम्। तच्च—

'दृष्टिर्मृगीदृशोऽत्यन्तं श्रुत्यन्तपरिशीलिनी ।
मुच्यन्ते बन्धनात् केशा विचित्रा वैधसी गतिः ॥'

इत्यस्मन्निर्मितोदाहरणे व्यभिचारादसङ्गतम्। न हि। 'मुच्यन्ते बन्धनात् केशाः' इत्यत्र केशबन्धनमुक्त्यंशेऽतिशयोक्तिरस्ति। किन्तु श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसानमात्रम्। तस्माद् येन केनापि प्रकारेण कार्यांशेऽभेदाध्यवसानमावश्यकमिति तु सङ्गतम्।'

(रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५९०-५९१)

(ग) 'असङ्गति' अलङ्कार 'विरोध' का बाधक है न कि 'विरोध' 'असङ्गति' का। 'विरोध' उत्सर्गरूप है और 'असङ्गति' विरोध का अपवादरूप। उत्सर्ग (नियम) अपवाद का क्षेत्र छोड़कर ही अपना क्षेत्र बनाता है। रसगङ्गाधरकार ने इसीलिए कहा है—

'व्यधिकरणत्वेन प्रसिद्धयोः समानाधिकरणत्वेनोपनिबन्धने विरोधालङ्कारः। समानाधिकरणत्वेन प्रसिद्धयोर्द्वयोर्वैयधिकरण्येनोपनिबन्धनेऽसङ्गतिः। ......इत्थं च स्फुट एव विरोधालङ्कारादसङ्गतेर्भेदः। (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५९२)

अर्थात् 'विरोध' से 'असङ्गति' भिन्न है क्योंकि 'विरोध' में तो उन पदार्थों के समान आधार पर अवस्थान में विरोध आभासित होता है जिनकी भिन्न भिन्न आधार पर अवस्थिति प्रसिद्ध है। किन्तु 'असङ्गति' में, जिन पदार्थों के भिन्न-भिन्न आधार पर अवस्थान वर्णन में विरोध की प्रतीति होती है वे ऐसे हुआ करते हैं जिनकी समान आधार पर अवस्थित प्रसिद्ध रहा करती है।

अनुवाद—'विषम' वह अलङ्कार है जिसे निम्न संभावनाओं में देखा जाया करता है—

(१) जब कि कारण और कार्य के गुण अथवा उनकी क्रियायें परस्पर विरुद्ध रूप से वर्णित हों।

(२) जब कि आरब्ध कार्य की विफलता और साथ ही उसमें अनर्थ की उत्पत्ति का वर्णन हो।

(३) जब कि दो विरुद्ध पदार्थों की परस्पर संघटना का उपनिबन्ध हो।

'विषम'अलङ्कार के क्रमशः उदाहरण ये हैं—

(कारणगुण से कार्यगुण के विरोध में 'विषम')

'सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते ॥'

अत्र कारणरूपासिलतायाः 'कारणगुणा हि कार्यगुणमारभन्ते' इति स्थितेर्विरुद्धा शुक्लयशस उत्पत्तिः ।

(कारण की क्रिया से कार्य की क्रिया के विरोध में 'विषम')

'आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने ! ददासि त्वम् ।
विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ॥'

अत्रानन्दजनकस्त्रीरूपकारणात्तापजनकविरहोत्पत्तिः ।

(आरब्ध कार्य के वैफल्य में अनर्थोत्पत्तिरूप 'विषम')

'अयं रत्नाकरोऽम्भोधिरित्यसेवि धनाशया ।
धनं दूरेऽस्तु वदनमपूरि क्षारवारिभिः ॥'

अत्र केवलं काङ्क्षितधनलाभो नाभूत्, प्रत्युत क्षारवारिभिर्वदनपूरणम् ।

(विरूपसंघटना में 'विषम')

'क्व वनं तरुवल्कभूषणं नृपलक्ष्मीः क्व महेन्द्रवन्दिता ।
नियतं प्रतिकूलवर्तिनो बत धातुश्चरितं सुदुःसहम् ॥'

'रणस्थली में जगह-जगह पर उस प्रतापी राजा के हाथ का स्पर्श पाकर, कितने आश्चर्य की बात है कि, उसकी तलवार, जो तमालपत्र की भाँति नीली-नीली चमका करती है, ऐसे यश का विस्तार कर देती है जो शरदृतु की चाँदनी की भाँति शुभ्र-धवल और संसार का एक अलङ्कार हो जाता है ।' (नवसाहसाङ्कचरित)

यहाँ 'विषम'अलङ्कार का सौन्दर्य दिखायी दे रहा है क्योंकि यहाँ इस नियम अर्थात् 'कारण के गुण ही कार्य के गुण के उत्पादक हुआ करते हैं' के विरुद्ध यह वर्णन किया गया है कि 'असिलता'रूप कारण का 'नीलत्व'गुण कार्यभूत यश में 'नीलत्व' का उत्पादन न कर 'शुक्लत्व' का उत्पादन कर रहा है ।

'अरी नीलकमल से नयनों वाली ! तू ही मुझे (अपने मिलन में) वह सान्द्र आनंद दिया करती है और तेरा ही विरह मेरे शरीर को इतना संतप्त किया करता है ।'

(रुद्रट : काव्यालङ्कार-उद्धरण)

यहाँ भी 'विषम' है क्योंकि यहाँ आनन्दजनक 'नायिका'रूप कारण से जिस क्रिया की उत्पत्ति का वर्णन किया जा रहा है वह संतापजनक 'विरह' है जो कि उसके सर्वथा विरुद्ध है ।

'यह समुद्र रत्नाकर है—यह सोचकर धनप्राप्ति की अभिलाषा से उसकी सेवा की गई, किन्तु हुआ क्या ? धन मिलना तो दूर रहा, उलटे मुँह में खारा पानी आ घुसा ।'

यहाँ 'विषम' है क्योंकि यहाँ यह वर्णन है कि 'आरब्ध कार्य अर्थात् मनोवांछित धनलाभ तो हुआ नहीं, उलटे अनर्थ अर्थात् क्षारजल से मुखपूरण हो गया ।'

'कहाँ तो वन जिसमें पेड़ों की छाल के वस्त्र पहने जाते हैं और कहाँ राजलक्ष्मी, जिसकी देवराज भी उपासना किया करते हैं । ओह ! उस विधाता का चरित, जो सदा प्रतिकूल रहा करता है, कितना दुखद हुआ करता है ।'

अत्र वनराज्यश्रियोर्विरूपयोः संघटना। इदं मम।

यथा वा—

'विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये।
मदविभ्रमासकलया पपे पुनः स पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥'

यह विषम-सूक्ति स्वरचित सूक्ति है। इसमें दो विरूप पदार्थों अर्थात् 'वन' और 'राज्यश्री' का एकत्र मेल वर्णित किया हुआ है।

अथवा (विरूपपदार्थों की संघटना में 'विषम' का यह उदाहरण)—

'जो सागरशायी कृष्ण भगवान्, युगान्तकाल में, अपनी कुक्षि (उदर) में समस्त भुवनों को आत्मसात् कर लिया करते हैं उन्हें द्वारका की एक नागरी ने, कामोन्माद के कारण अधखुली अपनी एक आँख में ही भरकर रख लिया।' (शिशुपालवध : सर्ग १३)

[यहाँ भगवान् कृष्ण के सम्बन्ध में दो विरूप पदार्थों अर्थात् 'भुवनों के आत्मसात् करने' और 'एक नारी की एक आँख में ही समा जाने' का वर्णन है जिसमें 'विषम' का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है।]

विमर्श— (क) 'अलङ्कारसर्वस्व'कार के शब्दों में 'विषम' की समीक्षा यह है—

'विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम्। विरोधप्रस्तावेनेह लक्षणम्। तत्र कारणगुणप्रक्रमेण कार्यमुत्पद्यत इति प्रसिद्धौ यद्विरूपं कार्यमुत्पद्यमानं दृश्यते तदेकं विषमम्। तथा कंचिदर्थं साधयितुमुद्यतस्य न केवलं तस्यार्थस्याप्रतिलम्भो यावदनर्थप्राप्तिरपीति द्वितीयं विषमम्। अत्यन्तानुरूपसंघटनयोर्विरूपयोश्च संघटनं तृतीयं विषमम्। अननुरूपसंसर्गो हि विषमम्।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १६५)

अर्थात् 'विषम' का अभिप्राय वस्तुतः अननुरूप पदार्थों के परस्पर संसर्ग का वर्णन है। एक 'विषम'रूप वाच्यवैचित्र्य वह है जिसमें कारणगुण के विरुद्ध कार्यगुण की उत्पत्ति का वर्णन हुआ करता है। दूसरा 'विषम'रूप वाच्यसौन्दर्य वह है जिसमें आरब्ध अर्थ की असमाप्ति के साथ-साथ अनर्थ की भी प्राप्ति का वर्णन किया जाया करता है और तीसरा 'विषम' रूप वाग्वैलक्षण्य वह है जिसमें अत्यन्त अननुरूप संसर्ग वाले पदार्थों अथवा अननुरूप पदार्थों का परस्पर संसर्ग वर्णित हुआ करता है। ये तीनों 'विषम' पृथक्-पृथक् हैं। इनमें 'प्रकार' और 'प्रकारी' (प्रकारप्रकारिभाव) के संबन्ध की कोई विवक्षा नहीं हो सकती (एकमिस्याद्यभिदधता ग्रन्थकृता विषमाणां भिन्नत्वमुक्तम्, न प्रकारप्रकारित्वम्, सामान्यलक्षणस्यासंभवात्— विमर्शिनी, पृष्ठ १६५)।

(ख) 'विषम'रूप वाच्यवैचित्र्य में कविप्रतिभा का हाथ मानना आवश्यक है क्योंकि स्वभावतः अननुरूप पदार्थों के संसर्ग अथवा कार्यकारणभाव के स्वाभाविक वैरूप्य में 'विषम'रूप अलङ्कार नहीं हुआ करता। 'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी'कार ने इसीलिये कहा है—

'यद्यपि 'गोमयाद् वृश्चिकोत्पत्तिः' इतिवत् कार्यकारणयोर्वास्तवं विरूपत्वं संभवति, तथापीह कविप्रतिभानिर्वर्तितमेव तद् ग्राह्यम्। तेन—

'द्राक्षाफलानि शिखरेषु शिलोच्चयानां पीयूषसाररसनिर्भरगर्भवन्ति।
विष्वग्दृषत्कठिनकायनिगूढश्टङ्गश्टङ्गाटकानि पुनरम्भसि संभवन्ति ॥'

इत्यादौ विषमं न वाच्यम्। ईदृश एव कार्यकारणभावस्य वस्तुतः संभवात्।

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १६५

निम्नलिखित सूक्ति एक बड़ी सुन्दर 'विषम'-सूक्ति है—

(३९—समालङ्कार)

समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः ।

यथा—

'शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं
जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा ।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौराः
श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः ॥'

'अरण्यानी क्वेयं धृतकनकसूत्रः क्व स मृगः, क्व मुक्ताहारोऽयं क्व च स पतगः क्वेयमवला ।
क्व तत् कन्यारत्नं ललितमहिभर्तुः क्व च वयः, स्वमाकूतं धाता निभृतनिभृतं कन्दलयति ॥'
(अलङ्कारसर्वस्व : उद्धरण)

अनुवाद—'सम' वह अलङ्कार है जिसे परस्पर अनुरूप पदार्थों के संसर्ग का वर्णन कहा गया है ।

उदाहरण के लिये—

'यह चांदनी मेघनिर्मुक्त चन्द्रमा से जा मिली, यह जाह्नवी अपने योग्य समुद्र के पास जा पहुंची—इस प्रकार इन्दुमती और अज की जोड़ी की प्रशंसा में लगे, परस्पर अनुरूप पदार्थों के संसर्ग में प्रसन्न होने वाले, नगरवासी जन, एक स्वर से, यह सब ऐसे कहने लगे, जिससे अन्य राजगण के कान, ईर्ष्यावश, फटने लगे ।' (रघुवंश : सर्ग ६)

[यहाँ परस्पर अनुरूप पदार्थों के संसर्ग-वर्णन में 'सम' का सौन्दर्य स्पष्ट झलक रहा है]

विमर्श—(क) 'सम' वस्तुतः विरूपसंघटनात्मक 'विषम' का विपर्यय है जैसा कि 'अलङ्कार-सर्वस्व'कार का कथन है—

'तद्विपर्ययः समम् ।'

'विषमवैधर्म्यादिह प्रस्तावः । यद्यपि विषमस्य भेदत्रयमुक्तं तथापि तच्छब्देन संभवादन्त्यो भेदः परामृश्यते । पूर्वभेदद्वयविपर्ययस्यानलङ्कारत्वात् । अन्त्यभेदविपर्ययस्तु चारुत्वात्समाख्योऽलङ्कारः । स चाभिरूपानभिरूपविषयत्वेन द्विविधः ।'
(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १६७)

अर्थात् 'सम'अलङ्कार की कल्पना में 'विषम' के वैधर्म्य से संवद्ध वाच्यवैचित्र्य के विश्लेषण का हाथ है । 'विषम' के तीन भेदों में, पहले दो भेदों का विपर्यय तो अलङ्काररूप नहीं हो सकता किन्तु तीसरे अर्थात् विरूपसंघटनात्मक 'विषम' के विपर्यय में 'सम'रूप वाच्यवैचित्र्य का दर्शन स्वाभाविक है ।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने समालङ्कार को केवल 'अनुरूपसंघटनात्मक' माना है 'अननुरूप-संघटनात्मक' नहीं । अलङ्कारसर्वस्वकार ने अननुरूप पदार्थों के परस्पर संसर्ग में भी 'सम'रूप वाच्यवैचित्र्य देखा है—

'चित्रं चित्रं बत बत महच्चित्रमेतद् विचित्रं, जातो दैवादुचितरचनासंविधाता विधाता ।
यन्निम्बानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया, यच्चैतस्याः कवलनकलाकोविदः काकलोकः ॥
अत्रानभिरूपाणां निम्बानां काकानां च समागमः आशंसितः ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १६७)

(ग) पण्डितराज जगन्नाथ की 'समालङ्कार-समीक्षा' दूसरी ही है—

'अनुरूपसंसर्गः समम् ।

संसर्गः पूर्ववद् द्विविधः । तत्रोत्पत्तिलक्षणस्य संसर्गस्यानुरूपत्वं कारणात् स्वसमानगुण-कार्योत्पत्त्या, यादृशगुणकवस्तुसंसर्गस्तादृशगुणोत्पत्त्या, यत्किञ्चिदिष्टप्राप्त्यर्थं प्रयुक्ताद्

(४०—विचित्रालङ्कार)

विचित्रं तद्विरुद्धस्य कृतिरिष्टफलाय चेत् ॥ ७१ ॥

यथा—

'प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।
दुःखीयति सुखहेतोः को मूढः सेवकादन्यः ॥'

कारणात्तत्प्राप्त्या च । संयोगादिलक्षणस्यापि संसर्गिणोरन्यतरगुणस्वरूपानुग्राह्यान्यतर-गुणस्वरूपतयाऽनुरूपत्वम् । एवं चानुरूपसंसर्गत्वेन सामान्यलक्षणेन सर्वे भेदाः संगृहीता भवन्ति ।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६०३)

यहाँ अलङ्कारसर्वस्व की समीक्षा में यह प्रदर्शित किया गया है कि 'सम' भी 'विषम' की भाँति तीन भेदों वाला है क्योंकि 'अनुरूपसंसर्गता' की विशेषता इसके तीनों भेदों में, जो कि 'विषम' के तीनों भेदों के विपर्यय रूप हैं, सर्वथा अनुगत प्रतीत होती है।

अनुवाद—'विचित्र' वह अलङ्कार है जिसे अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिये, उसके अननुरूप अथवा विरुद्ध कार्य के वर्णन में देखा जाया करता है।

जैसे कि—

'सेवक से बढ़कर मूढ़ और कौन है जो कि अपनी उन्नति के लिये प्रणत हुआ करता है, अपने जीवन के लिये प्राण-परित्याग किया करता है और अपने सुख के लिये दुःख भोगा करता है।'

[यहाँ 'विचित्र' अलङ्कार है क्योंकि 'उन्नति' के लिये 'प्रणति' (झुकने), 'जीवन' के लिये 'प्राणत्याग' और 'सुख' के लिये 'दुःखभोग' के कार्य विरुद्ध हैं और इन्हीं का यहाँ वर्णन किया हुआ है।]

विमर्श—(क) 'विचित्र'अलङ्कार की सर्वप्रथम कल्पना 'अलङ्कारसर्वस्व'कार की कल्पना है जैसा कि 'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी'कार का स्पष्ट निर्देश है—

'एतद्धि ग्रन्थकृतैवाभिनवत्वेनोक्तम् ।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १६९) ।'

'अलङ्कारसर्वस्व'कार के अनुसार 'विचित्र' का स्वरूप यह है—

'स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम् । यस्य हेतोर्यत्फलं तस्य यदा तद्विपरीतं भवति तदा तद्विपरीतफलनिष्पत्त्यर्थं कस्यचित्प्रयत्न उत्साहो विचित्रालङ्कारः । आश्चर्य-प्रतीतिहेतुत्वात् ।'

अर्थात् 'विचित्र'अलङ्कार इसलिये मान्य है क्योंकि यह आश्चर्यप्रतीति का एक हेतु है। यहाँ आश्चर्यप्रतीति इसलिये हुआ करती है क्योंकि अभीष्टप्राप्ति के लिये, उसके विपरीत क्रिया के अनुष्ठान का आग्रह, एक आश्चर्यजनक बात है।

(ख) 'विचित्र' और 'विषम' परस्पर भिन्न अलङ्कार हैं। 'विचित्र' में तो ऐसा है कि 'कारण-निषेध की प्रतीति' के बाद 'कार्यवैपरीत्यप्रतीति' हुआ करती है किन्तु 'विषम' में 'कार्यवैपरीत्य-प्रतीति' के बाद 'कारणनिषेध' का अवसर आता है। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने 'विचित्र' और 'विषम' का यह भेद, इन शब्दों में निर्दिष्ट किया है—

'न चायं प्रथमो विषमालङ्कारप्रकारः । स्वनिषेधमुखेन वैपरीत्यप्रतीतेः । विपरीत-प्रतीत्या तु स्वनिषेधस्तस्य विषयः । यथा—'तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोका-भरणं प्रसूते' इत्यादि । इह त्वन्यथा प्रतीतिः ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १६८)

'विषम' और 'विचित्र' के परस्पर भेद के संबन्ध में पण्डितराज जगन्नाथ ने एक और बात बताई है—

(४१—अधिकालङ्कार)

आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते ।

आश्रयाधिक्ये यथा—

'किमधिकमस्य ब्रूमो महिमानं वारिधेर्हरिर्यत्र ।
अज्ञात एव शेते कुक्षौ निक्षिप्य भुवनानि ।।'

आश्रिताधिक्ये यथा—

'युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ।।'

'न च कारणाननुरूपं कार्यमिति विषमभेदोऽयं वाच्यः, विषमे पुरुषकृतेरनपेक्षणात् । कार्यकारणगुणवैलक्षण्येनैव तद्भेदनिरूपणाच्च ।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६०९)
अर्थात् 'विषम' और 'विचित्र' इसलिये भी परस्पर भिन्न-भिन्न अलङ्कार हैं क्योंकि जहाँ 'विषम' में, कारण के विरुद्ध कार्य की स्वयं उत्पत्ति का वर्णन हुआ करता है वहाँ 'विचित्र' में, विरुद्ध फल की उत्पत्ति के लिये कार्यानुष्ठान में, पुरुष-प्रयत्न का वर्णन हुआ करता है ।

'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी'कार ने भी 'विषम' और 'विचित्र' का यही भेद निर्दिष्ट किया है—

'यद्यपि विषमे विरूपस्य कार्यस्य स्वयमेवोत्पत्तिरिह (विचित्रे) च तन्निष्पत्तये प्रयत्न इति स्थितोऽप्यनयोः स्फुटो भेदस्तथापि ग्रन्थकृता विशेषपरिपोषायैव सूक्ष्मेक्षिकागम्यो भेदोऽयमुक्तः ।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १६९)

अनुवाद—'अधिक' वह अलङ्कार है जो, आधार और आधेय में से, एक के आधिक्य के वर्णन में देखा जाया करता है ।

जैसे कि आधार के आधिक्य के वर्णन में यह 'अधिक' रूप वाच्यवैचित्र्य (अलङ्कार) ।

'इस सागर की महिमा का इससे अधिक क्या वर्णन किया जाय कि इसमें, कहीं किसी कोने में, अज्ञातरूप से, वे भगवान् विष्णु शयन किया करते हैं जिनकी कुक्षि में (प्रलय के समय) समस्त संसार समा जाया करता है ।'

अथवा

जैसे कि आधेय के आधिक्य के वर्णन में यह 'अधिक'अलङ्कार—

'युगान्त में जीवमात्र को अपने में समेट लेनेवाले, जिस कैटभारि कृष्ण के शरीर में सारा ब्रह्माण्ड फैलकर समा जाता है, उसमें तपोधन नारद के शुभागमन की प्रसन्नता न समा सकी ।' (शिशुपालवध)

विमर्श—'अधिक' की समीक्षा 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इस प्रकार की है—

'आश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यमधिकम् । विरोधप्रस्तावादिह निर्देशः । अनानुरूप्यस्य विरोधोत्थापकत्वात् । तच्चानानुरूप्यमाश्रयस्य वैपुल्येऽपि आश्रितस्य परिमितत्वाद्वा भवति यद्वाश्रितस्य वैपुल्येऽप्याश्रयस्य परिमितत्वाद् वा स्यात् ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १६९)
अर्थात् यद्यपि आश्रयाश्रयिभाव की अननुरूपता भी, एक अननुरूप संघटना होने से, 'विषम' की ही कल्पना करा सकती है किन्तु यहाँ 'विषम' नहीं अपितु 'अधिक'अलङ्कार की रूपरेखा देखी जानी चाहिये । कारण यह है कि जहाँ 'विषम' के लिये केवल दो अननुरूप पदार्थों की संघटना का वर्णन अपेक्षित हुआ करता है वहाँ 'अधिक' के लिये आश्रयाश्रयिभाव (आधाराधेयभाव) रूप से ही सम्बद्ध दो पदार्थों की अननुरूप संघटना का वर्णन आवश्यक माना जाया करता है । 'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी' कार ने इसीलिये कहा है—

(४२—अन्योन्यालङ्कार)

अन्योन्यमुभयोरेकक्रियायाः कारणं मिथः ॥ ७२ ॥

'त्वया सा शोभते तन्वी तया त्वमपि शोभसे।
रजन्या शोभते चन्द्रश्चन्द्रेणापि निशीथिनी ॥'

(४३—विशेषालङ्कारः)

यदाधेयमनाधारमेकं चानेकगोचरम् ।
किञ्चित्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्येतरस्य वा ॥ ७३ ॥
कार्यस्य करणं दैवाद्विशेषस्त्रिविधस्ततः ।

'एवं च परिमितत्वापरिमितत्वयोः सापेक्षत्वात्तथाविधवस्तुद्वयसंघटनयैव तदवगमन-सिद्धिरित्यत्राधाराधेययोस्संघटनेनैवानुरूपत्वमवगम्यते। विषमे चानन्यापेक्षत्वेन स्वत एवाननुरूपयोः संघटनमित्यनयोर्महान् भेद इत्यत्र पिण्डार्थः।'

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १७०)

अनुवाद—'अन्योन्य' वह अलङ्कार है जो परस्पर दो पदार्थों के द्वारा की गई एक क्रिया के वर्णन में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'वह सुन्दरी तुम से सुशोभित होती है और तुम उससे सुशोभित होते हो। रात से चन्द्रमा की और चन्द्रमा से रात की शोभा है।'

विमर्श—'अन्योन्य' की कल्पना 'विरोध' की रूपरेखा पर आश्रित है। 'परस्पर क्रियाजनन का वर्णन 'अन्योन्य' अलङ्कार है किन्तु परस्पर जनन विरुद्ध बोध है, इसका वर्णन 'अलङ्कार' क्योंकर कहा जाय? इसके सम्बन्ध में 'अलङ्कारसर्वस्व'कार का यह कथन है—

'इहापि विरोधप्रस्ताव एव निर्देशकारणम्। परस्परजननस्य विरुद्धत्वात्। क्रियाद्वारकं यत्र परस्परोत्पादकत्वं (परस्परनिष्पादकत्वम्), न स्वरूपनिबन्धनं, स्वरूपस्य तथात्वो-क्तिविरोधात्, तत्रान्योन्याख्योऽलङ्कारः। यथा—

'कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य।
अन्योन्यशोभाजननाद् बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः ॥'

अत्र शोभाक्रियामुखकं परस्परजननम्। (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १७०)

अर्थात् 'अन्योन्य' अलङ्कार में जिसमें दो पदार्थों की परस्परजनकता का वर्णन हुआ करता है दो पदार्थों के स्वरूपतः परस्परोत्पादन का अभिप्राय विवक्षित नहीं अपितु क्रिया अथवा धर्म द्वारा परस्पर निष्पादन का अभिप्राय विवक्षित है।

रसगङ्गाधरकार ने 'अन्योन्य' का यह स्वरूप और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है—

'द्वयोरन्योन्येनान्योन्यस्य विशेषाधानमन्योन्यम्। विशेषश्च क्रियादिरूपः। यथा—

'सुदृशो जितरत्नजालया सुरतान्तश्रमबिन्दुमालया। अलिकेन च हेमकान्तिना विदधे काऽपि रुचिः परस्परम् ॥' अत्र गुणरूपविशेषाधानम्। रुचेर्गुणत्वात्। न च विधानरूप-क्रियात्मकविशेषाधानमिह शङ्क्यम्, भावनासामान्यरूपस्य (क्रियासामान्यरूपस्य) विधानस्याचमत्कारित्वेनाविशेषत्वात्।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६११)

अनुवाद—'विशेष' वह अलङ्कार है जिसे निम्न संभावनाओं में देखा जाया करता है—

(१) जब कि बिना आधार के ही आधेय का वर्णन-वैचित्र्य दिखायी दे।

(२) जब कि एक वस्तु अनेक स्थानों पर एक समय में विराजमान वर्णित हो।

क्रमेण यथा—

'दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम् ।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिव कवयो न ते वन्द्याः ॥'

'कानने सरिदुद्देशे गिरीणामपि कन्दरे ।
पश्यन्त्यन्तकसङ्काशं त्वामेकं रिपवः पुरः ॥'

'गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥'

---

(३) जब कि एक कार्य करते हुये, किसी के द्वारा, अन्य अशक्य कार्य का भी दैववश सम्पादन उपनिबद्ध हो ।

इन तीनों संभावनाओं में, तीनों विशेषालङ्कारों के क्रमशः उदाहरण ये हैं—

(विना आधार के आधेय के वर्णन में 'विशेष') 'उन कवियों की वन्दना क्यों न की जाय जिनकी महनीय गुणमयी कविता, उनके दिवंगत हो जाने पर भी, कल्प-कल्पान्तर तक, संसार को आनन्द-निमग्न बनाया करती है।'

[यहाँ कविता के आधारभूत कविजन के अभाव में भी आधेयभूत कविता की अवस्थिति के वर्णन में 'विशेष' का वैचित्र्य स्पष्ट झलक रहा है ।]

(एक वस्तु के, एक समय में, अनेक आधार पर अवस्थान-वर्णन में 'विशेष')

'राजन् ! आपके शत्रुगण, यमराज के समान, आपको, वनों में देखते हैं, नदियों के कछारों पर देखते हैं और पहाड़ों की कन्दराओं में देखते हैं।'

[यहाँ एक समय में ही एक राजा का 'कानन' आदि अनेक स्थानों पर जो अवस्थान-वर्णन है उसमें 'विशेष' के दूसरे रूप का चमत्कार स्पष्ट है ।]

(अशक्य कार्य के दैववश सम्पादन में 'विशेष') 'इन्दुमुखि ! निर्दय मृत्यु ने तेरा हरण करते हुए, मेरी गृहिणी, मेरे सचिव, मेरी सखी, मेरी ललित कलाओं में प्रियशिष्या—मेरे सब कुछ का हरण कर लिया।' (रघुवंश)

[यहाँ इन्दुमतीहरणरूप एक कार्य में संलग्न यम के द्वारा, दैववश, 'गृहिणी' आदि अनेक वस्तु-हरण का जो वर्णन है उसमें 'विशेष' का तीसरा रूप स्पष्ट दिखाई दे रहा है।]

विमर्श—'अलङ्कारकारसर्वस्व'कार की 'विशेष'-परिभाषा यह है—

'अनाधारमाधेयमेकमनेकगोचरमशक्यवस्त्वन्तरकरणं विशेषः ।

इहाधारमन्तरेणाधेयं न वर्तत इति स्थितावपि यस्तत्परिहारेणाधेयस्योपनिबन्धः स एको विशेषः । यच्चैकं वस्तु परिमितं युगपदनेकधा वर्तमानं क्रियते स द्वितीयो विशेषः । यच्च किञ्चिदारभमाणस्यासंभाव्यवस्त्वन्तरकरणं स तृतीयो विशेषः । आनुरूप्यपरिहाररूप-विरोधप्रस्तावादिहोक्तिः ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १७१)

अर्थात् 'विशेष' तीन अलङ्कारों का संघरूप अलङ्कार है । 'विशेष' के तीनों रूपों में 'विशिष्टता' अनुस्यूत है ।

निम्न 'विशेष' सूक्तियां बड़ी सुन्दर हैं—

'अङ्गेषु सान्द्रहरिचन्दनपङ्कचर्चा मार्णालहारवलयादि च पान्थवध्वाः ।
योऽभूद्दिवा पतिवियोगविषाददम्भो ज्योत्स्नाभिसारपरिकर्म स नक्तमासीत् ॥'

(४४—व्याघात)

व्याघातः स तु केनापि वस्तु येन यथाकृतम् ॥ ७४ ॥
तेनैव चेदुपायेन कुरुतेऽन्यस्तदन्यथा ।

यथा—

'दृशा दग्धं मनसिजम्—' इत्यादि ।

(व्याघातः प्रकारान्तर)

सौकर्येण च कार्यस्य विरुद्धं क्रियते यदि ॥ ७५ ॥

(अत्र हरिचन्दनचर्चादिना न केवलं पतिवियोगविषाददम्भः कृतो यावदभिसारिकापरिकर्मापि कृतमित्यस्य वस्त्वन्तरकरणात्मैवायं 'विशेषः' ।)

'अङ्गानि चन्दनरसादपि शीतलानि चन्द्रातपं वमति बाहुरयं यशोभिः ।
चालुक्यगोत्रतिलक ! क्व वसत्यसौ ते दुर्वृत्तभूपपरितापगुरुः प्रतापः ॥'

(अत्राङ्गादीनामनर्हत्वेनाधारत्वाभावेऽप्याधेयस्य प्रतापस्य स्थितिरिति विशेषालङ्कारत्वम् ।) (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १७२, १७३)

अनुवाद—'व्याघात' वह अलङ्कार है जिसे, एक उपाय द्वारा, किसी से सिद्ध की गयी किसी वस्तु का, उसी उपाय द्वारा, दूसरे से उस (वस्तु) के ठीक विपरीत बना देने के वर्णन-वैचित्र्य में देखा जाया करता है ।

जैसे कि 'दृशा दग्धं मनसिजम्' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति (जहाँ यह वर्णन है कि जिस दृष्टि से शिव ने कामदेव को जला दिया उसी दृष्टि से सुन्दरियों ने उसे जिला दिया)।

विमर्श—'व्याघात' के इस रूप की मीमांसा 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इस प्रकार की है—

'यं कश्चिदुपायविशेषमवलम्ब्य केनचिन्निष्पादितं वस्तु तत्तोऽन्येन केनचित् तत्प्रतिद्वन्द्विना तेनैवोपायविशेषेण यदन्यथा क्रियते स निष्पादितवस्तुव्याहतिहेतुत्वाद् व्याघातः।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १७३)

अर्थात् 'व्याघात' का तात्पर्य 'किसी निष्पादित वस्तु के विघात' का उपनिबन्ध है ।

'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी'कार ने इसे और भी स्पष्ट कर दिया है—

'अतश्च यत्र न निष्पन्नस्य वस्तुनो व्याहतिरुपनिबध्यते तत्र नायमलङ्कारः । निष्पत्तेरेवाप्ररोहाद्व्याघातायोगात् । निष्पन्नवस्तुव्याहतिर्हि व्याघातः । फलं चात्र—व्याहतिकारिणस्तद्वैलक्षण्यम् । अत एव 'उत्पत्तिविनाशयोरेकोपायत्वे व्याघात' इति न सूत्रणीयम् । एवं हि व्याघातत्वमेव न स्यात् ।

'कुलममलिनं भद्रामूर्तिर्मतिः श्रुतिशालिनी
भुजबलमलं स्फीता लक्ष्मीः प्रभुत्वमखण्डितम् ।
प्रकृतिसुभगा ह्येते भावा अमीभिरयं जनो
व्रजति सुतरां दर्पं राजंस्त एव तवाङ्कुशाः ॥'

इत्यत्र च कुलादयो यथान्येषां दर्पहेतवो न तथा तव । प्रत्युत विनयकारिण इत्येवंविधगुणविशिष्टेभ्यः पुरुषान्तरेभ्योऽस्य वैलक्षण्यमात्रं विवक्षितम् । न तु कुलादिभिरुत्पादितोऽपि तव दर्पो व्याहत इति येन व्याघातालङ्कारो भवति ।''''''निष्पादितवस्तुव्याहतेरभावात्तन्निबन्धनत्वेन चास्योक्तत्वात् । (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १७४)

अनुवाद—दूसरे प्रकार का 'व्याघात' वह अलङ्कार है जिसे सौकर्य के साथ, किसी के द्वारा निष्पादित कार्य के अन्यथाकरण (उलट देने) के वर्णन में देखा जाया करता है ।

व्याघात इत्येव।

> 'इहैव त्वं तिष्ठ द्रुतमहमहोभिः कतिपयैः
> समागन्ता कान्ते ! मृदुरसि न चायाससहना।
> मृदुत्वं मे हेतुः सुभग ! भवता गन्तुमधिकं
> न मृद्वी सोढा यद्विरहकृतमायासमसमम् ॥'

अत्र नायकेन नायिकाया मृदुत्वं सहगमनाभावहेतुत्वेनोक्तम्। नायिकया च प्रत्युत सहगमने ततोऽपि सौकर्येण हेतुतयोपन्यस्तम्।

यहाँ पूर्वकारिका से 'व्याघात' पद अनुवृत्त समझना चाहिये। उदाहरण के लिये—

'प्रिये ! तू यहीं रह, मैं दो-चार दिनों में ही, बहुत शीघ्र, वापस लौट आऊँगा। तू सुकुमार है, तू मार्ग-कष्ट नहीं सहन कर सकती। (प्रियतमा की उक्ति) प्रियतम ! मैं सुकुमार हूँ इसीलिये तो मुझे तुम्हारे साथ चलने की अधिक आवश्यकता है क्योंकि सुकुमार होने के नाते, तुम्हारे विरह के विषम कष्ट सहने में मैं कैसे समर्थ हो सकूँगी ?'

यहाँ 'व्याघात' स्पष्ट है क्योंकि यहाँ, नायक ने, नायिका की जिस 'मृदुता' (सुकुमारता) को, अपने साथ न चलने के हेतुरूप से प्रस्तुत किया है वही नायिका द्वारा, उलटे ही, बड़ी सरलता के साथ, सहगमन के प्रबल हेतुरूप में उपन्यस्त कर दी गयी है।

विमर्श—'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इस 'व्याघात'-प्रकार को 'सौकर्येण कार्यविरुद्धक्रिया च व्याघातः' कहा है और इसका तात्पर्य यह बताया है—

'किञ्चित्कार्यं निष्पादयितुं सम्भाव्यमानः कारणविशेषस्तत्कार्यविरुद्धनिष्पादकत्वेन यत्समर्थ्यते सोऽपि सम्भाव्यमानकार्यव्याहतिनिबन्धनत्वाद् व्याघातः। कार्यविरुद्धकार्यनिष्पत्तिश्च कार्यापेक्षया सुकरा। तस्य कारणस्यात्यन्तं तदानुगुण्यात्। नत्वत्र कार्याभिमतस्य कार्यत्वाभावः। तद्विरुद्धस्यात्र सौकर्येण कार्यत्वात्। अत एव द्वितीयाद् विषमाद् भेदः। तत्र हि कार्यस्यानुत्पत्तिरनर्थस्य चोद्गमनम्। इह तु कार्यं कार्यमेव न भवति तद्विरुद्धस्यानर्थस्य व्यतिरेकिणोऽप्यत्र सुष्ठुकार्यत्वात्'। (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १७५)

अर्थात् 'व्याघात' का वह एक रूप है जिसे 'सम्भाव्यमान कार्य की व्याहति' अथवा विघात कहा जा सकता है। किसी कार्य की निष्पत्ति की अपेक्षा उसके विरुद्ध कार्य की निष्पत्ति अधिक सुगम हुआ करती है क्योंकि वहाँ जो कारण हो सकता है वह कार्यविरुद्ध कार्य की निष्पत्ति के लिये अधिक उपयुक्त हो सकता है। इस 'व्याघात'प्रकार में 'विषम' की भाँति ऐसा नहीं कि कार्य की अनुत्पत्ति के साथ-साथ अनर्थ की उत्पत्ति का उपनिबन्ध हो। यहाँ (इस 'व्याघात'-प्रकार में) जो कार्य है वह वस्तुतः कार्य का विरोधी होने पर भी कार्यरूप ही है न कि अनर्थरूप।

दोनों व्याघात-प्रकारों का भेद 'विमर्शिनी'कार के शब्दों में यह है—

'अत एवास्य प्रथमाद् व्याघाताद् भेदः। तत्र हि येन केनचिदुपायेन निष्पादितं सद् वस्तु तथैवान्येनान्यथाक्रियते इत्युक्तम्। इह तु किञ्चिन्निष्पादयितुं संभाव्यमानस्य कारणस्य तद्विरुद्धनिष्पादकत्वेन समर्थनम्।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १७५)

अर्थात् जहाँ प्रथम व्याघातभेद में एक के द्वारा, किसी कारण से निष्पादित वस्तु का, उसके प्रतिद्वन्द्वी द्वारा, अन्यथाकरण विवक्षित रहा करता है, वहाँ द्वितीय व्याघातभेद में किसी कार्य के निष्पादक रूप से संभावित, किसी कारण द्वारा, उस कार्य के विरुद्ध कार्य-निष्पादन का समर्थन अपेक्षित हुआ करता है।

(४५—कारणमाला)

परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता।
तदा कारणमाला स्यात्—

यथा—

'श्रुत कृतधियां सङ्गाज्जायते विनयः श्रुतात्।
लोकानुरागो विनयान्न किं लोकानुरागतः॥

अनुवाद—'कारणमाला' वह अलङ्कार है जो उत्तरोत्तर वस्तु के लिये पूर्व-पूर्व-वर्णित वस्तु की हेतुता के उपनिबन्ध में देखा जाया करता है। जैसे कि—

'विद्वान् लोगों के संग-साथ से शास्त्रज्ञान मिलता है, शास्त्रज्ञान से विनय की प्राप्ति होती है, विनय से लोगों का प्रेम प्राप्त होता है और जब कि लोगों का प्रेम प्राप्त हो जाय तो ऐसी कौन वस्तु है जो प्राप्त न हो जाय?'

[यहाँ पूर्व-पूर्ववर्णित 'शास्त्र'ज्ञान आदि को उत्तरवर्ण्य 'विनय' आदि के कारण-रूप से उपनिबद्ध किया गया है जिसमें 'कारणमाला'रूप वाच्य-वैचित्र्य स्पष्ट है।

विमर्श—(क) 'कारणमाला' का अलङ्कार-कल्पना में 'कार्यकारणक्रम' निमित्तरूप से पड़ा है न कि वस्तुओं का शृङ्खलारूप से उपनिबन्ध, जैसा कि 'विमर्शिनीकार' का स्पष्ट कथन है—

'न पुनः केवलमेव शृंखलात्वमित्यर्थः। अतएव कारणमालेत्यस्या अन्वर्थमभिधानम्। एवमन्येभ्यः शृंखलाबन्धोपचित्रितेभ्योऽलङ्कारेभ्योऽस्या विषयविभागः, न हि तेषु कार्य-कारणक्रम एव चारुत्वहेतुः, विशेषणविशेष्यभावादेवान्तरस्य विच्छित्तिविशेषस्य सम्भवात्।
(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १७७)

(ख) पण्डितराज जगन्नाथ (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६२०) ने 'कारणमाला' की एक और भी सम्भावना निर्दिष्ट की है जिसमें उत्तरोत्तर वर्णित, वस्तु पूर्वपूर्ववर्णित वस्तु के कारणरूप से उपन्यस्त की गयी होती है—'तत्र पूर्वं पूर्वं कारणं परं परं कार्यमित्येका (कारणमाला), पूर्वंपूर्वं कार्यं परंपरं कारणमित्यपरा (कारणमाला)।'
इस 'कारणमाला'-भेद का उदाहरण यह है—

'स्वर्गापवर्गौ खलु दानलक्ष्मीर्दानं प्रसूते विपुला समृद्धिः।
समृद्धिमल्पेतरभागधेयं भाग्यं च शंभो! तव पादभक्तिः॥'

(ग) 'कारणमाला'रूप वाच्यवैचित्र्य की निष्पत्ति के लिये पण्डितराज जगन्नाथ की यह विचारधारा ध्यान देने योग्य है—

'इह च यद्यादौ कारणोक्तिरेव प्रस्तूयते तदा पुनस्तस्य कारणं तस्यापि कारणमिति, तत्कस्यचित् कारणं तदपि कस्यचिदिति वा कारणमाला युक्ता। यदा तु कार्योक्तिस्तदा तस्य कार्यं तस्यापि कार्यमिति, तत् कस्यचित् कार्यं तदपि कस्यचिदिति वा युक्ता। सर्वथैव यः शब्दः कार्यकारणतोपस्थापक आदौ प्रयुक्तः स एव निर्वाह्यः। एवं क्रमेण निब-न्धनमाकांक्षानुरूपत्वाद्रमणीयम्। अन्यथा तु भग्नप्रक्रमं स्यात्। यथा प्राचीनानां पद्यम्—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणाधिके पुंसि जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः॥'

अत्र जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं श्रुत्वा जितेन्द्रियत्वस्यापि किं कारणमिति, विनयः कस्य कारणमिति वा आकांक्षोदेति। कारणस्यैव श्रुतिवशात् पूर्वमुपस्थितेः।......एवं च

(४६—मालादीपक)

—तन्मालादीपकं पुनः ॥ ७६ ॥

धर्मिणामेकधर्मेण सम्बन्धो यद्यथोत्तरम् ।

यथा—

'त्वयि सङ्गरसम्प्राप्ते धनुषासादिताः शराः ।
शरैररिशिरस्तेन भूस्तया त्वं त्वया यशः ॥'

अत्रासादनक्रिया धर्मः ।

(४७—एकावली)

पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम् ॥ ७७ ॥

विनयः कस्य कारणमित्याकांक्षायां 'गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यत' इति वाक्यं यद्यपि फलतः परिपूरकं भवति तथापि न साक्षादित्यहृदयङ्गमम् ।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६२०)

अनुवाद—'मालादीपक' वह अलङ्कार है जो 'धर्मी'रूपसे वर्णित अनेक वस्तुओं का, उत्तरोत्तर, एकधर्माभिसम्बन्ध (एक धर्म से सम्बद्ध होना) कहा जाया करता है। जैसे कि—

'राजन् ! जब आप संग्राम में पहुँचे तब आपके धनुष ने बाणों को प्राप्त किया, बाणों ने शत्रु के मस्तक प्राप्त किये, शत्रु के मस्तकों ने (नीचे गिरकर) पृथिवी प्राप्त की, पृथिवी ने आपको प्राप्त किया और आपने यश प्राप्त किया।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'आसादन-क्रिया' (प्राप्त करने की क्रिया) रूप 'धर्म' अनेकों धर्मियों के साथ, उत्तरोत्तर, संबद्ध होता हुआ वर्णित किया गया है (जिसमें 'मालादीपक' की झलक स्पष्ट दिखायी दे रही है)।

विमर्श—'मालादीपक' की एक पृथक् अलङ्कार रूप में कल्पना इसलिये की गयी है क्योंकि इसमें भी शृङ्खलाबन्ध का एक अतिरिक्त वैचित्र्य दिखायी दिया करता है। आचार्य रुय्यक ने इसीलिये कहा है—

'उत्तरोत्तरस्य पूर्वं पूर्वं प्रत्युत्कर्षहेतुत्वे एकावली। पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरोत्कर्षनिबन्धनत्वे तु मालादीपकम्। मालात्वेन चारुत्वविशेषमाश्रित्य दीपकप्रस्तावोल्लंघनेनेह लक्षणं कृतम्। गुणावहत्वमुत्कर्षहेतुत्वम्।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १७२)

और इसी लिये आचार्य जयरथ ने इसका इस प्रकार समर्थन किया है—

'मालाशब्देनात्र शृङ्खला लक्ष्यते। तस्या एवोपक्रान्तत्वात्। नचात्र मालोपमावद् मालाशब्दो ज्ञेयः। एकस्योपमेयस्य बहूपमानोपादानाभावात्। अत्र ह्यौपम्यमेव नास्ति। कोदण्डशरादीनां ('संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते, देवाकर्णय येन येन सहसा यद् यत्समासादितम्। कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं, तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोके भयम्' इत्यादौ) तस्याविवक्षणात्। अत एवास्य दीपकभेदत्वं न वाच्यम्। औपम्यजीवितं हि तत् (दीपकम्) प्राच्यैः पुनरेतद्दीपनमात्रानुगुण्यात्तदनन्तरं लक्षितम्। शृङ्खलात्वेन तु विशिष्टमस्य चारुत्वमितीह लक्षणं युक्तम्। एतच्च दीपक एव ग्रन्थकृतोक्तम्—छायान्तरेण तु मालादीपकं प्रस्तावान्तरे लक्षयिष्यत इति।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १७९)

अनुवाद—'एकावली' वह अलङ्कार है जिसे पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु के विशेषणरूप से

स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात्तदैकावली द्विधा ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(पूर्व-पूर्ववर्णित के विशेषणरूप से उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु के स्थापन में एकावली)

'सरो विकसिताम्भोजमम्भोजं भृङ्गसङ्गतम् ।
भृङ्गा यत्र ससङ्गीताः सङ्गीतं सस्मरोदयम् ॥'

(पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु के विशेषण रूप से उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु के अपोहन में एकावली)

'न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम् ।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥'

क्वचिद्विशेष्यमपि यथोत्तरं विशेषणतया स्थापितमपोहितं च दृश्यते ।

यथा—

'वाप्यो भवन्ति विमलाः स्फुटन्ति कमलानि वापीषु ।
कमलेषु पतन्त्यलयः करोति सङ्गीतमलिषु पदम् ॥'

एवमपोहनेऽपि ।

उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु का स्थापन अथवा अपोहन (रखना अथवा हटाना) कहा जाया करता है । इस 'स्थापन' और 'अपोहन' के भेद से 'एकावली' अलङ्कार के भी दो भेद हुआ करते हैं । इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'सरोवर ऐसा है जिसमें कमल खिले हैं; कमल ऐसे हैं जिन पर भ्रमर बैठे हैं; भ्रमर ऐसे हैं जिनमें संगीत-माधुरी भरी है और संगीत ऐसा है जो कामोद्दीपक प्रतीत हो रहा है ।'

यहाँ पूर्व-पूर्ववर्णित 'सरोवर' आदि के विशेषणरूप में उत्तरोत्तर वर्ण्य 'अम्भोज' आदि का उपनिबन्ध है जिसमें 'एकावली' का रूप स्पष्ट झलक रहा है ।

(विश्वामित्र के साथ चलते राम के मार्ग में) 'ऐसा कोई सरोवर न था, जिसमें सुन्दर कमल न खिले हों; ऐसा कोई कमल न था, जिसमें भौंरे न छिपे हों; ऐसा कोई भौंरा न था, जो मधुर गुंजार न कर रहा हो और ऐसी कोई गुंजार न थी, जो मन को न लुभा रही हो ।' (भट्टिकाव्य २. १९) ।

[यहाँ यह स्पष्ट है कि पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु के लिये, उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु, जो कि विशेषणरूप से उपनिबद्ध है, अपोहित (हटायी जाती) दिखायी दे रही है ।]

'एकावली' में यदा-कदा ऐसा भी हुआ करता है कि विशेष्य का, उत्तरोत्तर, विशेषण-रूप से स्थापन अथवा अपोहन किया जाया करता है । जैसे कि—

'जलवापियाँ स्वच्छ दीख रही हैं, जलवापियों में कमल खिले हुए हैं, कमलों पर भ्रमर टूट पड़ रहे हैं और भ्रमरों में गुंजार समा रही है ।'

[यहाँ प्रथम चरण में विशेष्यभूत 'वाप्यः' है जिसके विशेषण रूप से 'विमलाः' का उपादान है किन्तु दूसरे चरण में विशेष्यभूत वापी को 'कमल' का विशेषण बना दिया गया है । यही क्रम आगे भी चल रहा है, जिसमें 'एकावली' का एक नया रूप झलक रहा है ।]

विशेष्य के, विशेषण रूप से स्थापन की भाँति 'अपोहन' में भी 'एकावली' का यह नया रूप दिखाई दिया करता है । जैसे कि—

(४८—सार)

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते ॥ ७८ ॥

यथा—

'राज्ये सारं वसुधा वसुधायामपि पुरं पुरे सौधम् ।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम् ॥'

'पुण्यक्षेत्रं न सर्वत्र पुण्यक्षेत्रे न नास्तिकाः ।
नास्तिकेषु न धर्मोऽस्ति न धर्मे दुःखहेतुता ॥'

विमर्श—(क) 'एकावली' में पूर्व-पूर्ववर्णित की उत्तरोत्तर वर्ण्य के 'विशेषण'रूप से जो स्थापना हुआ करती है उसमें 'विशेषण' का अभिप्राय यह है—

'स्वरूपमात्रेणावगतस्य वस्तुनो यत्सम्बन्धबलेन वैशिष्ट्यमवगम्यते तद्विशेषणम् । यद्वक्ष्यति (अलङ्कारसर्वस्वकारः)—'उत्तरोत्तरस्य पूर्वं पूर्वं प्रत्युत्कर्षहेतुत्वे एकावली'ति ।'

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी)

अर्थात् 'विशेषण' वह है जो अपने से सम्बद्ध (विशेष्यरूप) वस्तु की विशेषता बताया करता है अथवा उत्कर्षवृद्धि किया करता है ।

(ख) निम्न सूक्ति 'एकावली' का एक सुन्दर निदर्शन है—

'पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्ग्यः ।
रूपं समुन्मीलितसद्विलासमस्त्रं विलासाः कुसुमायुधस्य ॥'

(नवसाहसाङ्कचरित)

अनुवाद—'सार'अलङ्कार वह है जिसे वर्ण्य वस्तु के उत्तरोत्तर उत्कर्ष-वर्णन में देखा जाया करता है । जैसे कि—

'राज्य में यदि कोई सार है तो वह पृथिवी है; पृथिवी में यदि कोई सार है तो वह नगर है, नगर में यदि कोई सार है तो वह महल है, महल में यदि कोई सार है तो वह पलंग है और पलंग में यदि कोई सार है तो वह है रतिसर्वस्व एक सुन्दरी ।'

[यहाँ 'राज्य' आदि वर्ण्य वस्तु का जो उत्तरोत्तर उत्कर्ष-वर्णन किया जा रहा है उसमें 'सार' का वैचित्र्य स्पष्ट है ।]

विमर्श—(क) 'सार' को 'अलङ्कारसर्वस्व'कार 'उदार' कहते हैं—'उत्तरोत्तरमुत्कर्षणमुदारः' । किन्तु ये दोनों नाम एक ही वाच्यवैचित्र्य के नाम हैं । उत्तरोत्तर उत्कर्ष-वर्णन की चतुर्विध सम्भावनायें हैं—(१ ली) एक वस्तु के स्वरूपतः उत्कर्ष के वर्णन की, (२ री) एक वस्तु के धर्मतः उत्कर्ष के वर्णन की, (३ री) अनेक वस्तुओं के स्वरूपतः उत्कर्ष के वर्णन की और (४ थी) अनेक वस्तुओं के धर्मतः उत्कर्ष के वर्णन की । जैसे कि एक वस्तु के स्वरूपतः उत्कर्ष-वर्णन में 'सार'—

'किं छत्त्रं किं नु रत्नं तिलकमथ तथा कुण्डलं कौस्तुभो वा
चक्रं वा वारिजं वेत्यमरयुवतिभिर्यद्बलिद्वेषिदेहे ।
ऊर्ध्वे मौलौ ललाटे श्रवसि हृदि करे नाभिदेशे च दृष्टं
पायात्तद्वोऽर्कबिम्बं स च दनुजरिपुर्वर्धमानः क्रमेण ॥'

अथवा, जैसे कि एक वस्तु के धर्मतः उत्कर्षवर्णन में 'सार'—

'अतसीकुसुमप्रभं मुखे तदनु त्वत्कचमेचकद्युति ।
अथ बालतमालमांसलं प्रसृतं सम्प्रति सर्वतस्तमः ॥'

(४९—यथासंख्यालङ्कार)

यथासंख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत्।

'उन्मीलन्ति नखैर्लुनीहि वहति क्षौमाञ्चलेनावृणु
क्रीडाकाननमाविशन्ति वलयक्वाणैः समुत्त्रासय।
इत्थं वञ्जुलदक्षिणानिलकुहूकण्ठेषु साङ्केतिक-
व्याहाराः सुभग! त्वदीयविरहे तस्याः सखीनां मिथः॥'

(अत्रैकस्यैव तमसो निविडत्वाख्यधर्ममुखेनोत्तरोत्तरमुत्कर्षः।)
(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १८०)

(ख) पण्डितराज जगन्नाथ ने उत्तरोत्तर निकर्ष-वर्णन को भी 'सार' का एक रूप-विशेष माना है—

'सैव (शृङ्खलैव) संसर्गस्योत्कृष्टापकृष्टभावरूपत्वे सारः।'

इस 'सार' विशेष का उदाहरण यह है—

तृणाल्लघुतरस्तूलस्तूलादपि च याचकः।
वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं प्रार्थयेदिति॥'

(ग) आचार्य जयरथ और पण्डितराज जगन्नाथ ने शृङ्खलाबन्धरूप चार अलङ्कारों जैसे कि 'कारणमाला', 'मालादीपक', 'एकावली' और 'सार' के सम्बन्ध में यह सिद्ध किया है कि ये अलङ्कार 'शृंखला' नामक एक अलङ्कार के चार भेद नहीं अपितु पृथक् पृथक् अलङ्कार हैं—

'(शृङ्खलाबन्धोपचिताः) अलङ्कारा इति न पुनः शृङ्खलैवैकोऽलङ्कारः। एवं हि साधर्म्यमप्येक एवालङ्कारः स्यात्। न ह्युपमादिषु साधर्म्यपरिहारेण प्रत्येकं कश्चिद् विच्छित्तिविशेषसम्भवः येनालङ्कारभेदः स्यात्। एवं विरोधोऽप्येक एव वाच्यः।······एवं सप्ताष्टानामेवालङ्काराणां लक्षणप्रणयनप्रसङ्गः। अथोपमादीनामपि साधर्म्यादाववान्तरोऽस्ति विशेष इति चेत् तर्हि कारणमालादीनामपि शृङ्खलाबन्धोपचित्रितत्वेऽपि वक्ष्यमाणनीत्या कार्यकारणविशेषणविशेष्यभावाद्यात्मास्त्येवावान्तरोऽपि विच्छित्तिविशेषः येनोपमादिवत् पृथगेवैषामलङ्कारत्वं युक्तम्।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १७६)

'एवं शृङ्खलाविषयाणामलङ्काराणां विच्छित्तिवैलक्षण्यस्यानुभवसिद्धत्वात् पृथगलङ्कारत्वे सिद्धे शृंखलाया विरोधाऽभेदसाधर्म्यादिवदनुप्राणकतैवोचिता न पृथगलङ्कारता। तथात्वेऽभेदादीनामपि पृथगलङ्कारतापत्तेः।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६२१)

अनुवाद—'यथासंख्य' वह अलङ्कार है जिसे पूर्वोद्दिष्ट (पहले प्रतिपादित) पदार्थों का क्रमशः पुनः कथन कहा जाया करता है।

जैसे कि—

'अरे सुभग प्रेमी युवा! तुम्हारे वियोग में विह्वल उस सुन्दरी की सखियाँ वंजुल, दक्षिणानिल और कोकिलकण्ठ के सम्बन्ध में इस प्रकार संकेतभाषा में बात-चीत करती सुनायी दिया करती हैं—एक कहती है-'खिल रहे हैं' तो दूसरी बोलती है-'नखों से नोच डालो'; एक कहती है 'बह रही है' तो दूसरी बोलती है-'रेशमी दुपट्टे से ढक दे'; एक कहती है-'केलिवन में आ रही है' तो दूसरी कहती है-'कङ्कण की आवाज से डरा कर भगा दे।'

विमर्श—'यथासंख्य'अलङ्कार, 'अलङ्कारसर्वस्व'कार की दृष्टि में, वाक्यन्यायमलक

(५०—पर्यायालङ्कार)

क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात् ॥ ७९ ॥
भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते ।

क्रमेण यथा—

(एक वस्तु के अनेक स्थान पर क्रमशः अवस्थान-वर्णन में 'पर्याय')

'स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे क्रमेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥'

(अनेक वस्तुओं के एकत्र क्रमशः अवस्थान-वर्णन में 'पर्याय')

'विचरन्ति विलासिन्यो यत्र श्रोणिभरालसाः ।
वृककाकशिवास्तत्र धावन्त्यरिपुरे तव ॥'

अलङ्कार है। तात्पर्य यह है कि 'यथासंख्य' अलङ्कार के रूप में जिस वाच्यवैचित्र्य का विश्लेषण किया जा सकता है वह वाक्यविधान का एक वैशिष्ट्य है न कि और कुछ--

'उद्दिष्टानामर्थानां क्रमेणानूद्देशो यथासंख्यम्। ऊर्ध्वं निर्दिष्टाः उद्दिष्टाः। पश्चान्निर्देशोऽनूद्देशः। स चार्थादर्थान्तरगतः सम्बन्धश्चात्र सामर्थ्यात् प्रतीयते। ऊर्ध्वं निर्दिष्टानामर्थानां पश्चान्निर्दिष्टैरर्थैः क्रमेण सम्बन्धो यथासंख्यमिति वाक्यार्थः। अन्ये त्विममलङ्कारं क्रमसंज्ञयाऽभिदधिरे। तच्च यथासंख्यं शाब्दमार्थं च द्विधा। शाब्दं यत्रासमस्तानां पदानामसमस्तैः पदरर्थद्वारकः संबन्धः। तत्र क्रमसम्बन्धस्यातिरोहितस्य प्रत्येयत्वात्। आर्थं तु यत्र समासः क्रियते तत्र समुदायस्य समुदायेन सह सम्बन्धस्य शाब्दत्वादर्थावगमपर्यालोचनया त्ववयवगतः क्रमसम्बन्धः प्रतीयते।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १८८)

अर्थात् पूर्वनिर्दिष्ट पदार्थों का पश्चान्निर्दिष्ट पदार्थों के साथ क्रम से सम्बन्ध एक प्रकार की वाक्य-शोभा है और यही वाक्य-शोभा 'यथासंख्य' अलङ्कार की रूपरेखा है। यदि पहले प्रतिपादित पदार्थ के साथ बाद में प्रतिपादित पदार्थ का सम्बन्ध व्युत्क्रम से हो तब तो वह दोष है। किन्तु 'यथासंख्य' अलङ्कार है, 'अपक्रम' रूप दोष का अभावमात्र नहीं। 'यथासंख्य' इसलिये 'अलङ्कार' है क्योंकि इस वाच्यवैचित्र्य के निर्माण में कविप्रतिभा का हाथ रहा करता है। 'विमर्शिनी'कार ने इसी लिये कहा है—

'दोषाभावमात्रं (अपक्रमरूपदोषपरिहारमात्रमिति) च नालङ्कारत्वम्। अस्य (यथासंख्यस्य) कविप्रतिभात्मकविच्छित्तिविशेषत्वेनोक्तत्वात्। तत्त्वे चास्य 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' इत्यादिसूत्रोदाहरणानां 'तूदीशालातुरवर्मतीकुचवाराड्ढक्छणढञ्यकः' इत्यादीनामप्यलङ्कारत्वप्रसङ्गः।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १८८)

अनुवाद--'पर्याय' वह अलङ्कार है जिसे एक वस्तु के अनेक में, अथवा अनेक वस्तुओं के एक में, क्रमशः 'अवस्थान' अथवा क्रमशः 'सम्पादन' के वर्णन में देखा जाया करता है। इसके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'वर्षा की पहली बूँदें, तपस्या में लगी गिरिराज कुमारी (पार्वती) पर जब गिरीं तब पहले, क्षण भर के लिये पलकों पर टिकीं, तदनन्तर अधरोष्ठ पर रुकीं, बाद में उन्नत उरोजों पर टकरायीं, फिर त्रिवली तक पहुँचीं और तब अन्त में नाभि तक पहुँच गयीं।' (कुमारसंभव)

'राजन्! आपके शत्रु की राजधानी में, जहाँ पहले जघनभार से अलसायीं विलासिनी रमणियाँ विहार किया करती थीं, वहाँ अब भेड़िये, कौए और गीदड़ दौड़ मचाते दिखायी दे रहे हैं'।

(एक वस्तु के अनेक स्थान पर क्रमशः संपादन अथवा विधान-वर्णन में 'पर्याय')

'विसृष्टरागादधरान्निवर्तितः स्तनाङ्गरागादरुणाच्च कन्दुकात् ।
कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः ॥'

(अनेक वस्तुओं के एकत्र संपादन अथवा विधान-वर्णन में 'पर्याय')

'ययोरारोपितस्तारो हारस्तेऽरिवधूजनैः ।
निधीयन्ते तयोः स्थूलाः स्तनयोरश्रुबिन्दवः ॥

एषु च क्वचिदाधारः संहतरूपोऽसंहतरूपश्च । क्वचिदाधेयमपि । यथा— 'स्थिताः क्षणम्–' इत्यत्रोदबिन्दवः पक्ष्मादावसंहतरूप आधारे क्रमेणाभवन् । 'विचरन्ति–' इत्यत्राधेयभूता वृकादयः संहतरूपारिपुरे क्रमेणाभवन् । एवमन्यत् ।

अत्र चैकस्यानेकत्र क्रमेणैव वृत्तेर्विशेषालङ्काराद् भेदः । विनिमयाभावात्परिवृत्तेः ।

'गिरिराज कुमारी (पार्वती) ने, अपना वह हाथ, जिसे, वह लाक्षाराग से शून्य अपने अधरोष्ठ से और स्तनों के अंगराग से रंचित कन्दुक से हटा चुकी थी, तपस्या करते समय, अंगुलियों के क्षत-विक्षत करने वाले कुशों के अङ्कुरों के उखाड़ने में और रुद्राक्ष की माला के फेरने में लगा दिया ।' (कुमारसम्भव)

'राजन् ! आपकी शत्रुनारिओं ने अपने जिन उरोजों पर पहले विशुद्ध मोतियों के हार धारण किये थे, अब, उन्हीं पर, वे अपने आँसुओं की बड़ी बड़ी बूँदें रखतीं दिखाई दे रही हैं ।'

'पर्याय' के उपर्युक्त चारों प्रकारों के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि इनमें जो वस्तु 'आधार'रूप हुआ करती है वह कहीं-कहीं पर तो 'संहत' अथवा मिली-जुली हुआ करती है और कहीं-कहीं पर 'असंहत' अथवा अलग अलग रहा करती है । इसी प्रकार 'आधेय'रूप वस्तु भी, यहाँ, यत्र-तत्र 'संहत' और 'असंहत'—दोनों रूपों की हुआ करती है । जैसे कि 'स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः' आदि (कुमारसंभव) सूक्ति में, वर्षा की बूँदें, क्रमशः, 'असंहत' अलग-अलग 'पलक' आदि रूप आधारों पर अवस्थित वर्णित की गयी हैं । 'विचरन्ति विलासिन्याः' आदि सूक्ति में ऐसा है कि 'वृक' आदिरूप आधेय वस्तुओं का, 'शत्रुनगर'रूप 'संहत' अथवा सम्मिलित आधार पर, क्रमशः अवस्थान उपनिबद्ध किया हुआ है । इसी भाँति 'विसृष्टरागादधरान्निवर्तितः' और 'ययोरारोपितस्तारो हारः' आदि सूक्तियों में भी, क्रमशः 'संहत' और 'असंहत' आधारों पर एक और अनेक वस्तुओं के, क्रमशः, संपादन अथवा विधान का वर्णन, स्पष्ट है ।

'पर्याय' (प्रथम प्रकार के पर्याय) का 'विशेष' अलङ्कार से भेद इसीलिये स्पष्ट है क्योंकि जहाँ 'पर्याय' के लिए, एक वस्तु के, अनेक स्थानों पर, क्रमशः अवस्थान अथवा विधान का वर्णन अपेक्षित है वहाँ 'विशेष' (द्वितीय प्रकार के 'विशेष') के लिये, जो अपेक्षित है, वह, एक वस्तु की, अनेक स्थान पर, एक साथ ही, अवस्थिति का वर्णन-वैचित्र्य है ।

'पर्याय' परिवृत्ति से भी भिन्नरूप का अलंकार है क्योंकि 'पर्याय' में (एक वस्तु, अनेक स्थानों पर, क्रमशः अवस्थित अथवा संपादित रूप से वर्णित होती है और)

(५१—परिवृत्ति)

परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत् ॥ ८० ॥

क्रमेणोदाहरणम्—

('समान' और 'न्यून' वस्तु के साथ विनिमय में 'परिवृत्ति')

'दत्त्वा कटाक्षमेणाक्षी जग्राह हृदयं मम।
मया तु हृदयं दत्त्वा गृहीतो मदनज्वरः॥'

अत्र प्रथमेऽर्धे समेन, द्वितीयेऽर्धे न्यूनेन।

(अधिक के साथ 'विनिमय' में 'परिवृत्ति')

'तस्य च प्रवयसो जटायुषः स्वर्गिणः किमिव शोच्यतेऽधुना।
येन जर्जरकलेवरव्ययात्क्रीतमिन्दुकिरणोज्ज्वलं यशः॥'

अत्राधिक्येन।

किसी प्रकार की परस्पर लेन-देन (विनिमय)की कोई बात नहीं होती, किन्तु 'परिवृत्ति' में परस्पर 'विनिमय' का अभिप्राय अन्तर्निहित रहा करता है।

विमर्श—'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने 'पर्याय' की यह समीक्षा का है—

'क्रमप्रस्तावादिदमुच्यते। एकमाधेयमनेकस्मिन्नाधारे यत्तिष्ठति स एकः पर्यायः। नन्वेकमनेकगोचरमिति प्राक्तनेन लक्षणेन विशेषालङ्कारोऽत्रोक्तः। तत्किमर्थमिदमुच्यते इत्याशङ्क्योक्तम्—क्रमेणेति। इह च क्रमोपादानादर्थात्तत्र यौगपद्यप्रतीतिः। तेनास्य ततो विविक्तविषयत्वम्। तथा—

'एकस्मिन्नाधारेऽनेकमाधेयं यत्स द्वितीयः पर्यायः·····। विनिमयाभावात् परिवृत्तेर्वैलक्षण्यम्। तस्या हि विनिमयो लक्षणत्वेन वक्ष्यते। तत्रानेकोऽसंहतरूपः संहतरूपश्चेति द्विविधः। तच्च द्वैविध्यमाधाराधेयगतमिति चत्वारोऽस्य भेदाः।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १९०)

जिससे यह स्पष्ट है कि 'साहित्यदर्पण' का पर्याय-निरूपण 'अलङ्कारसर्वस्व' का ऋणी है। 'पर्याय' के अलङ्कार माने जाने में 'रसगङ्गाधर' कार की यह युक्ति ध्यान देने योग्य है—

'यत्राधाराधेयतत्संबन्धक्रमेषु क्वचिदपि कविकल्पनापेक्षा तत्रैवायमलङ्कारः। यत्र तु सर्वांशे लोकसिद्धत्वं न तत्र कश्चिदलङ्कारः।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६४७)

अनुवाद—'परिवृत्ति' वह अलङ्कार है जिसे किसी वस्तु के, 'समान', 'न्यून' अथवा 'अधिक' वस्तु से विनिमय-वर्णन में देखा जाया करता है।

इसके उदाहरण क्रमशः ये हैं—

'उस मृगनयनी सुन्दरी ने, मुझे, अपना कटाक्ष दिया और बदले में, मुझसे, मेरा हृदय ले लिया। मैंने उस सुन्दरी को अपना हृदय दिया और बदले में, उससे कामज्वर ले लिया।'

यहाँ प्रथमार्ध में 'समान' के साथ और उत्तरार्ध में 'न्यून' के साथ 'विनिमय' में 'परिवृत्ति' का वैचित्र्य स्पष्ट झलक रहा है।

'दिवंगामी उस वृद्ध जटायु के लिए क्योंकर शोक मनाया जाय जिसने अपने जीर्ण-शीर्ण शरीर के मोल, चन्द्रमा की किरणों के समान शुभ्र निर्मल यश खरीद लिया।'

यहाँ 'अधिक' के साथ 'विनिमय' में 'परिवृत्ति' अलंकार दिखाई दे रहा है।

विमर्श—(क) 'परिवृत्ति' अलङ्कार के लिये जिस प्रकार का 'विनिमय' (लेन-देन का व्यवहार) अपेक्षित है वह कविकल्पना-प्रसूत होना चाहिये न कि लोक-सिद्ध। लोक-सिद्ध 'विनिमय' अलङ्कार नहीं—

'एषु दानादानव्यवहारः कविकल्पित एव न तु वास्तवः। यत्र वास्तवस्तत्र नालङ्कारः यथा—'कीणन्ति प्रविकचलोचनाः समन्तात् मुक्ताभिर्बदरफलानि यत्र बालाः।'

(रसगङ्गाधरः पृष्ठ ६४८)

(ख) 'परिवृत्ति' के लक्षण में 'विनिमय' का अभिप्राय, 'अलङ्कारसर्वस्व'कार के अनुसार यह है—

'विनिमयोऽत्र किञ्चित्त्यक्त्वा कस्यचिदादानम्। समेन तुल्यगुणेन त्यज्यमानेन तादृशस्यैवादानम्। तथाधिकेनोत्कृष्टगुणेन दीयमानेन न्यूनस्य गुणहीनस्य परिग्रहः। एवं न्यूनेन हीनगुणेन त्यज्यमानेनाधिकगुणस्योत्कृष्टस्य स्वीकारः। तदेषा त्रिप्रकारा परिवृत्तिः।'

(अलंकारसर्वस्व पृष्ठ : १९१)

अर्थात् 'विनिमय' एक वस्तु को देकर दूसरी वस्तु के लेने का नाम है।

किन्तु आचार्य मम्मट ने 'विनियम' का अर्थ 'एक वस्तु को देकर दूसरी वस्तु का लेना' नहीं माना है अपि तु 'एक व्यक्ति के द्वारा, अपनी कोई वस्तु देकर, दूसरे से उसकी किसी वस्तु का लेना' स्वीकार किया है। पण्डितराज जगन्नाथ का भी यही मत है—

'परकीययत्किञ्चिद्वस्त्वादानविशिष्टं परस्मै स्वकीययत्किञ्चिद्वस्तुसमर्पणं परिवृत्तिः।'

क्रम इति यावत्। सा च तावद् द्विविधा समपरिवृत्तिर्विषमपरिवृत्तिश्च। समपरिवृत्तिरपि द्विविधा—उत्तमैरुत्तमानाम् न्यूनैर्न्यूनानाञ्चेति। विषमपरिवृत्तिरपि तथा—उत्तमैर्न्यूनानां न्यूनैरुत्तमानाञ्चेति।' (रसगङ्गाधरः पृष्ठ ६४७)

विश्वनाथ कविराज 'विनिमय' के दोनों अभिप्रायों में 'परिवृत्ति' अलङ्कार मानते हैं जैसा कि उनके उद्धृत उदाहरणों से स्पष्ट है।

(ग) 'परिवृत्ति' में जिन दो वस्तुओं में 'आदान-प्रदान' विवक्षित है, उनमें 'औपम्य' के अभिप्राय का अन्तर्निहित होना बहुत उत्तम है। आचार्य जयरथ ने इसका इस प्रकार समर्थन किया है—

'अतश्चात्र द्वयोरपि तुल्यगुणत्वात्त्यज्यमानादीयमानयोर्गम्यमानमौपम्यम्। एवं च तन्निमित्तस्य साधारणधर्मस्यापि त्रैविध्यम्।'.....साधारणधर्मस्यानुगामितया पुनरत्र तुल्यगुणत्वं यथा—'

'सुधावदातं पाण्डुत्वं विनिधाय कपोलयोः। भीर्यत्कथोत्था शत्रूणां निःशेषमकरोद् यशः॥'

(अत्र) सुधावदातमित्यस्यानुगामित्वम्। बिम्बप्रतिबिम्बभावो यथा—

'लतानामेतासामुदितकुसुमानां मरुदसौ
मतं लास्यं दत्त्वा श्रयति भृशमामोदमसमम्।
लतास्त्वध्वन्यानामहह दृशमादाय रभसाद्
ददत्याधिव्याधिभ्रमरुदितमोहव्यतिकरम्॥'



......शुद्धसामान्यरूपत्वं यथा—

'मनोहरं स्वं प्रतिवेतनाय रुतं प्रकल्प्योन्मदचित्तहारि।
मध्वाददानो मधुपायिलोकः पद्माकराणामनृणी बभूव॥'

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १९२)

(५२—परिसंख्यालङ्कार)

प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनो भवेत् ।
तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा ॥ ८१ ॥
परिसंख्या—

क्रमेणोदाहरणम्—

(शब्दव्यपोह में 'परिसंख्या')

'किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नं
किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषः ।
कि चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रं
जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम् ॥'

अत्र व्यवच्छेद्यं रत्नादि शाब्दम् ।

(आर्थव्यपोह में 'परिसंख्या')

'किमाराध्यं सदा पुण्यं कश्च सेव्यः सदागमः ।
को ध्येयो भगवान् विष्णुः किं काम्यं परमं पदम् ॥'

अत्र व्यवच्छेद्यं पापाद्यार्थम् । अनयोः प्रश्नपूर्वकत्वम् ।

अप्रश्नपूर्वकत्वे यथा—

अनुवाद—'परिसंख्या' वह अलङ्कार है जो प्रश्नपूर्वक अथवा विना प्रश्न के, किसी एक वस्तु के कथन से, उसके सदृश, किसी दूसरी वस्तु के शब्दतः अथवा अर्थतः 'व्यपोह' अथवा 'व्यवच्छेद' में देखा जाया करता है ।

इसके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'संसार में, सुदृढ भूषण क्या है ? यश, न कि रत्न। कर्त्तव्य क्या है ? सज्जनों की भांति पुण्याचरण, न कि (सुरापानादि) दुष्कर्म। अप्रतिहतचक्षु क्या है ? बुद्धि, न कि नेत्र। और सदसद्विवेक का ज्ञान किसे है ? तुम्हें, न कि और किसी को।'

यहाँ (प्रश्नपूर्वक, 'यश' आदि रूप वस्तु के कथन से) 'रत्न' आदि रूप तत्सदृश अन्य वस्तु की जो 'व्यावृत्ति' अथवा 'व्यवच्छेद्य' है वह 'शाब्द' अर्थात् साक्षात् शब्द लभ्य है (क्योंकि व्यवच्छेद्य 'रत्न' आदि शब्दतः उपात्त हैं)।

'आराध्य क्या है ? पुण्य; सेव्य क्या है ? सत्संग, ध्येय क्या है ? भगवान् विष्णु और काम्य क्या है ? परम पद।'

यहाँ (प्रश्न पूर्वक) 'पुण्य' आदि रूप वस्तु-कीर्तन से, अर्थसामर्थ्य-वश, 'पाप' आदि सामर्थ्यरूप वस्तु की व्यावृत्ति स्पष्ट है (अर्थवश इसलिये क्योंकि यहाँ 'पाप' आदि रूप व्यवच्छेद्य वस्तुओं का शब्दतः उपादान नहीं किया जा रहा है)।

इन दोनों उदाहरणों में प्रश्नपूर्वक (एक वस्तु के कीर्तन से, दूसरी सदृश वस्तु की) 'व्यावृत्ति' की गयी है ।

विना प्रश्न के (एक वस्तु के कीर्तन से दूसरी सदृश वस्तु के व्यवच्छेद में) 'परिसंख्या' के ये उदाहरण हैं—(शाब्द व्यावृत्ति में 'परिसंख्या')

'भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे।
चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥'

(अर्थलभ्य व्यावृत्ति में 'परिसंख्या')

'बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां संमतये बहु श्रुतम्।
वसु तस्य न केवलं विभोर्गुणवत्तापि परप्रयोजनम् ॥'

श्लेषमूलत्वे चास्या वैचित्र्यविशेषो यथा—

'यस्मिंश्च राजनि जितजगति पालयति महीं चित्रकर्मसु वर्णसङ्कराश्चापेषु गुणच्छेदाः—' इत्यादि।

'बड़े लोगों की भक्ति 'भव' (शिव-शङ्कर) में होती है न कि 'विभव' (धन-समृद्धि) में, व्यसन शास्त्र में होता है न कि रमणी रूप कामास्त्र में और चिन्ता यश के लिये रहती है न कि शरीर के लिये।'

[यहाँ जो अप्रश्नपूर्वक 'परिसंख्या' है उसमें शाब्द व्यावृत्ति स्पष्ट है।]

'महाराज दशरथ का बल, आर्त प्रजाजन के भय-निवारण के लिये; शास्त्रज्ञान, विद्वज्जन के संमान के लिये; धन, परोपकार के लिये और गुण भी दूसरों की भलाई के ही लिये थे।' (रघुवंश ८. ३१)

'परिसंख्या' श्लेषमूलक भी हुआ करती है और इसमें और भी अधिक विचित्रता रहा करती है। जैसे कि (कादम्बरी की यह सूक्ति)—

'जब कि दिग्विजयी और प्रजापालक महाराज शूद्रक राजा थे तब 'वर्णसंकरता' (रंगों का मिश्रण) चित्रों में ही हुआ करती थी (न कि जातियों में वर्णसङ्करता थी), 'गुणच्छेद' (प्रत्यञ्चा का टूटना) धनुषों में ही दिखायी देता था (न कि प्रजाजन में गुणों की कमी थी) आदि, आदि।'

विमर्श—(क) 'परिसंख्या' के अलङ्कार होने के लिये 'कवि-प्रतिभा-प्रसूत ही अन्यवस्तु-व्यवच्छेद, अपेक्षित है न कि लोकसिद्ध वस्तु-व्यवच्छेद अथवा नैयायिक या मीमांसक-सम्मत वस्तु-व्यवच्छेद—

'अत्र चालौकिकं वस्तु गृह्यमाणं वस्त्वन्तरव्यवच्छेदे पर्यवस्यति इति व्यवच्छेद्यं वस्त्वन्तरशब्दमात्रं वेति नियमाभावः। अलौकिकत्वाभिप्रायेणैव क्वचित् प्रश्नपूर्वकं ग्रहणम्।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १९४)

'अलौकिकमिति कविप्रतिभानिर्वर्तितम्'। (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १९४)

(ख) 'परिसंख्या' शब्द का अर्थ 'वर्जनबुद्धि' है—

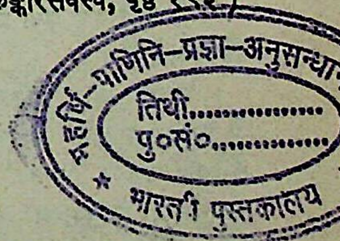
'कस्यचित् परिवर्जनेन कुत्रचित् संख्यानं वर्णनीयत्वेन गणनं परिसंख्या'।

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १९३)

(ग) निम्न 'परिसंख्या'सूक्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं—

'कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते।
काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति ॥'

'किमासेव्यं पुंसां सविधमनवद्यं द्युसरितः
किमेकान्ते ध्येयं चरणयुगलं कौस्तुभभृतः।
किमाराध्यं पुण्यं किमभिलषणीयं च करुणा
यदासक्त्या चेतो निरवधिविमुक्त्यै प्रभवति ॥'



(५२—उत्तरालङ्कार)

—उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुन्नयो यदि ।
यच्चासकृदसंभाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम् ॥ ८२ ॥

यथा मम—

'वीक्षितुं न क्षमा श्वश्रूः स्वामी दूरतरं गतः ।
अहमेकाकिनी बाला तवेह वसतिः कुतः ॥'

अनेन पथिकस्य वसतियाचनं प्रतीयते ।

'का विसमा देव्वगई किं लद्धव्वं जणो गुणग्गाही ।
किं सोक्खं सुकलत्तं किं दुग्गेज्झं खलो लोओ ॥'
(का विषमा 'दैवगतिः, किं लब्धव्यं जनो गुणग्राही ।
किं सौख्यं ! सुकलत्रं, किं दुर्ग्राह्यं ! खलो लोकः ॥)

अत्रान्यव्यपोहे तात्पर्याभावात् परिसंख्यातो भेदः । न चेदमनुमानम्, साध्यसाधनयोर्द्वयोर्निर्देश एव तस्याङ्गीकारात् । न च काव्यलिङ्गम्, उत्तरस्य प्रश्नं प्रत्यजनकत्वात् ।

'तीर्थं गङ्गा तदितरदपां निर्मलं संघमात्रं
देवौ तस्याः प्रसवनिलयौ नाकिनोऽन्ये वराकाः ।
सा यत्रास्ते स हि जनपदो मृत्तिकामात्रमन्यत्
तां यो नित्यं नमति स बुधो बोधशून्यस्ततोऽन्यः ॥'

अनुवाद—'उत्तर' वह अलङ्कार है जो (१) उत्तर द्वारा प्रश्न के उन्नयन (ऊहापोह) में अथवा (२) प्रश्न होने पर अनेक असम्भाव्य उत्तर के वैचित्र्य में देखा जाया करता है ।

उदाहरण के लिए यह स्वरचित सूक्ति—

'सास देख नहीं पाती, स्वामी परदेश गये हैं, मैं बाला अकेली हूँ, अब भला तुम्हें यहाँ रहने की जगह कैसे मिले ?'

यहाँ (नायिका) के उत्तर से, निवास-स्थान की याचना के सम्बन्ध में, पथिक के प्रश्न का उन्नयन-वैचित्र्य स्पष्ट दिखाई दे रहा है ।

अथवा

'सबसे कठोर क्या है ? भाग्य का विधान; किसकी प्राप्तिकामना होनी चाहिये ? गुण ग्राही व्यक्ति की; सुख क्या है ? सुशील साध्वी स्त्री, और किसे वश में करना दुष्कर है ? दुष्ट को ।'

[यहाँ कई एक प्रश्न हैं जिनके असम्भाव्य (साधारण बुद्धि द्वारा अगम्य) उत्तर दिये गये हैं ।]

'उत्तर' और 'परिसंख्या' परस्पर भिन्नस्वरूप के अलंकार हैं क्योंकि जहाँ 'परिसंख्या' में 'अन्यव्यावृत्ति' की आवश्यकता है वहाँ 'उत्तर' में 'अन्यव्यावृत्ति' की अपेक्षा का कोई तात्पर्य नहीं । 'उत्तर' को 'अनुमान' अलङ्कार से भी गतार्थ करना असंभव है क्योंकि 'अनुमान' में 'साध्य' और 'साधन'—दोनों का निर्देश अनिवार्य हुआ करता है (और 'उत्तर' में, अर्थात् प्रथम प्रकार के 'उत्तरालङ्कार' में केवल उत्तर का ही निर्देश अपेक्षित

(५४—अर्थापत्ति)

दण्डापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते ।

'मूषिकेण दण्डो भक्षित' इत्यनेन तत्सहचरितमपूपभक्षणमर्थादायातं भवतीति नियतसमानन्यायादर्थान्तरमापततीत्येष न्यायो दण्डापूपिका ।

अत्र च क्वचित्प्राकरणिकादर्थादप्राकरणिकस्यार्थस्यापतनं क्वचिदप्राकरणिकार्थात् । प्राकरणिकार्थस्येति द्वौ भेदौ ।

है । 'उत्तरालङ्कार' को 'काव्यलिङ्ग'रूप भी नहीं माना जा सकता क्योंकि 'उत्तरालङ्कार' में जो प्रश्न उपनिबद्ध हुआ करता है वह 'उत्तर' का कारक हेतु नहीं हुआ करता (अपितु व्यञ्जक हेतु ही माना जा सकता है) ।

विमर्श—(क) 'अलङ्कारसर्वस्व'कार की 'उत्तरालङ्कार'-समीक्षा यह है—

'उत्तरात् प्रश्नोन्नयनमसकृदसंभाव्यमुत्तरं चोत्तरम् । यत्रानुपनिबध्यमानोऽपि प्रश्न उपनिबध्यमानादुत्तरादुन्नीयते तदेकमुत्तरम् । न चेदमनुमानम् । पक्षधर्मतादेरनुद्देशात् । यत्र च प्रश्नपूर्वकसंभावनीयमुत्तरं तच्च न सकृत् तावन्मात्रेण चारुत्वाप्रतीतेः, अतश्चासकृन्निबन्धे द्वितीयमुत्तरम् । न चेयं परिसंख्या व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकपरत्वाभावात् ।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१६)

इसमें यह स्पष्ट है कि उत्तर के द्वारा प्रश्न के उन्नयन अथवा प्रश्न के लिये अनेक बार असम्भावनीय उत्तर-दान में, कविप्रतिभा का हाथ आवश्यक है । 'विमर्शिनी'कार ने इसीलिये 'असंभावनीय' उत्तर का अभिप्राय 'कविप्रतिभानिर्वर्तित उत्तर' माना है—(असंभावनीयमिति कविप्रतिभानिर्वर्तितमित्यर्थः) ।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २१६)

(ख) पण्डितराज जगन्नाथ को 'प्रश्न' अथवा 'असंभावनीय उत्तर' का 'असकृत'-दान मान्य नहीं । उनके अनुसार एक भी प्रश्न या असंभावनीय उत्तर में 'उत्तरालङ्कार' का वैचित्र्य झलक जाता है—

'प्रश्नोत्तरयोराकूतगर्भत्वे तावतैव चमत्कारान्नासकृदुपादानापेक्षा । आकूतविरहे त्वसकृदुपादानकृतश्चमत्कारोऽपेक्ष्यते निबद्धप्रश्ने । आक्षिप्तप्रश्ने तु प्रश्नाक्षेपकृतं चमत्कारं यदि मन्यन्ते सहृदयास्तदा सकृदुपादानेऽप्यलङ्कारत्वमस्तु ।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ७०३)

अर्थात् यदि प्रश्न अथवा उत्तर ऐसे हों जिनके भीतर एक विशेष अभिप्राय छिपा हो, तब 'उत्तरालङ्कार' रूप वाच्य-वैचित्र्य निष्पन्न ही हो जाया करता है । इसके लिये 'असकृत्' प्रश्न या 'उत्तर' की कोई अपेक्षा नहीं मानी जाती ।

(ग) निम्न सूक्तियाँ 'उन्नीत-प्रश्न' अथवा 'निबद्ध-प्रश्न' दोनों रूप के 'उत्तरालङ्कार' की सुन्दर सूक्तियाँ हैं—

'रोगस्य ते चिकित्सां निदानमालोच्य सुन्दरि करिष्ये ।
मा हन्त कातरा भू रसक्रियायां नितान्तनिपुणोऽस्मि ॥'

'किमिति कृशासि कृशोदरि किं तव परकीयवृत्तान्तैः ।
कथय तथापि मुदे मम, कथयिष्यति, याहि पान्थ, तव जाया ॥'

अनुवाद—'अर्थापत्ति' वह अलङ्कार है जिसे 'दण्डापूपिका-न्याय' से अन्य अर्थ की 'आपत्ति' अथवा प्रतीति कहा करते हैं ।

यहाँ 'दण्डापूपिका-न्याय' का अभिप्राय यह है—किसी ने कहा—'चूहा लकड़ी चबा गया' और इससे अनायास समझ लिया गया 'चूहा लकड़ी पर रखे मालपूए भी साथ-साथ

क्रमेणोदाहरणम्—

(प्राकरणिक से अप्राकरणिक अर्थ की आपत्ति में 'अर्थापत्ति')

'हारोऽयं हरिणाक्षीणां लुठति स्तनमण्डले।
मुक्तानामप्यवस्थेयं के वयं स्मरकिङ्कराः॥'

(अप्राकरणिक से प्राकरणिक अर्थ की आपत्ति में 'अर्थापत्ति')

'विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अतितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिणाम्॥'

अत्र च समानन्यायस्य श्लेषमूलत्वे वैचित्र्यविशेषो यथोदाहृते–'हारोऽयम्–' इत्यादौ। न चेदमनुमानम्, समानन्यायस्य सम्बन्धरूपत्वाभावात्।

खा गया'। इसी भाँति अर्थवश, एक अर्थ से, अनायास, दूसरे अर्थ की प्रतीति का होना 'दण्डापूपिका-न्याय' से अर्थप्रतीति का होना है क्योंकि 'चूहे के लकड़ी चबा जाने से उसके मालपूए खा जाने' और 'एक बात से दूसरी बात के अनायास समझ लेने' में एक सी ही बात (समानन्याय) दिखाई देती है। 'अर्थापत्ति' में कहीं तो 'प्राकरणिक' अर्थ से 'अप्राकरणिक' अर्थ की आपत्ति या अनायास प्रतीति दिखाई देती है और कहीं ऐसा भी हुआ करता है कि—'अप्राकरणिक' अर्थ से 'प्राकरणिक' अर्थ आपन्न या अनायास प्रतीत हो जाय। इस प्रकार इसके दो रूप स्पष्ट दिखाई देते हैं।

इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'मोती का हार हरिणाक्षी सुन्दरिओं के स्तनमण्डलों पर लोटा करता है! जब कि 'मुक्तों' या 'मौक्तिकों' (मुक्तानाम्=मौक्तिकानाम् वीतरागाणाञ्च) की यह दशा है तब हमारे सरीखे काम-किङ्कर लोगों की तो बात ही क्या है?

[यहाँ 'मौक्तिक' और 'वीतराग' रूप वस्तु प्राकरणिक है और 'अवीतरागव्यक्ति' रूप वस्तु अप्राकरणिक है। दोनों में जो समानता है वह 'पुरुषत्व'रूप धर्म की समानता है। यहाँ, जब कि यह कह दिया गया कि 'मुक्ता या मुक्त भी रमणिओं के प्रेम में पागल हैं' तो यह अनायास प्रतीत हो गया कि 'जो स्मर-किंकर हो वह तो रमणीजन का क्रीतदास है ही'।]

'महाराज अज, अपनी स्वाभाविक धीरता को छोड़ कर, आँसू बहा-बहा कर विलाप करने लगे। जब बहुत तपा हुआ लोहा भी मुलायम हो जाता है तब प्राणिओं की तो बात ही क्या? (रघुवंश : ८. ४३)'

यहाँ जो अप्राकरणिक अर्थ है वह 'तपे लोहे का मुलायम पड़ना' है जिससे 'प्राणिओं के शरीर की मृदुता' का प्राकरणिक अर्थ आपन्न अथवा प्रतीत होता वर्णित किया जा रहा है। यहाँ दोनों में जो समानता है वह 'संतप्तता' की समानता है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि जबकि 'समानन्याय' (समानता की बात) श्लेषोत्थापित हो, तब 'अर्थापत्ति' अलङ्कार और भी अधिक वैचित्र्यपूर्ण लगने लगता है जैसा कि 'हारोऽयम्' आदि सूक्ति में (जहाँ 'मुक्तानाम्' पद श्लिष्ट है क्योंकि इससे 'मौक्तिक' और 'वीतराग' दोनों अर्थों का अभिधान हो रहा है) स्पष्ट है।

'अर्थापत्ति' अलङ्कार अनुमानालङ्कार से भिन्न रूप का अलङ्कार हुआ करता है क्योंकि यहाँ जो 'समानन्याय' अपेक्षित है उसमें (व्याप्यव्यापकभाव रूप) सम्बन्ध का कोई अभिप्राय विवक्षित नहीं।

विमर्श—'अर्थापत्ति' मीमांसा-संमत एक प्रमाण है—

'प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत्।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं साऽर्थापत्तिरुदाहृता ॥' (श्लोकवार्तिक)

जिसका तात्पर्य 'उपपाद्यज्ञान' से 'उपपादककल्पना' हैं। जैसे कि जब हम यह कहते या समझते हैं कि **'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'** (देवदत्त मोटा है किन्तु दिन में खाना नहीं खाता), तब यह कल्पना कर ली जाती है कि 'देवदत्तः रात्रौ भुङ्क्ते' अर्थात् 'रात में देवदत्त अवश्य खाता होगा।' यहाँ देवदत्त की पीनता (मोटाई) 'उपपाद्य' है और इसके ज्ञान से 'उपपादक' अथवा 'रात्रिभोजन' की कल्पना अर्थापत्ति है। इस प्रकार 'अर्थापत्ति' का अभिप्राय 'अर्थस्यापत्तिर्यस्मात्' और 'अर्थस्यापत्तिः'—दोनों प्रकार का निकलता है अर्थात् 'उपपाद्यज्ञान', जो कि उपपादक-कल्पना का 'करण' है वह भी अर्थापत्ति है और 'उपपादक-कल्पना', जो कि उपपाद्यज्ञान का फल है वह भी 'अर्थापत्ति' ही है।

मीमांसकों की इस 'अर्थापत्ति' और आलङ्कारिकों की 'अर्थापत्ति' में यह समानता है कि जैसे 'रात्रिभोजन' रूप उपपादक-कल्पना से दिवाभोजन-रहित देवदत्त की 'पीनता' की उपपत्ति हो जाया करती है वैसे ही 'तपे लोहे के मुलायम पड़ने' से, समान न्याय द्वारा, संतप्त प्राणी का द्रवीभूत होना, भी अनायास समझ लिया जा सकता है।

किन्तु मीमांसकों की 'अर्थापत्ति' में 'अर्थापत्ति'रूप वाच्यसौन्दर्य का कोई अन्तर्भाव नहीं, पण्डितराज जगन्नाथ ने इसीलिये कहा है—

'नेयं (अर्थापत्तिरूपालङ्कृतिः) वाक्यवित्संमतायामर्थापत्तौ निविशते। आपादकस्यार्थस्यापतितमर्थं विनाऽनुपपत्तेरत्राभावात्। नाप्यनुमाने। आपततोऽर्थस्यापादकासमानाधिकरणत्वेन व्याप्यत्व-पक्षधर्मत्वयोर्दूरापास्तत्वात्। न च येन कारणेनैकार्थसिद्धिस्तेनैव लिङ्गेनापरार्थानुमानमिति वाच्यम्। अर्थान्तरसिद्धेरनुमित्यात्मकताविरहात्। यतोऽयमर्थोऽपि भवितुमर्हतीति बुद्धेराकारः, न तु भवत्येवेति। नापि यद्यर्थातिशयोक्तौ। तस्या विपरीतार्थ एव द्वयोर्विश्रान्तेः। न चेह तथा, आपादकस्य सिद्धत्वादापततश्च संभाव्यमानत्वाद् यथाश्रुत एव विश्रान्तेः, तस्माद् येन न्यायेनैकोऽर्थः सिद्धस्तेनैव न्यायेनापरोऽप्यर्थः सेद्धुमर्हतीत्येवंरूपेयमर्थापत्तिः। अस्यां चार्थान्तरं लोकेऽविद्यमानमपि कविना स्वप्रतिभया कल्पयित्वा यदापाद्यते तदालङ्कारत्वम्। यथा—

(लीलालुण्ठितशारदापुरधियामस्मादृशानां पुरो
विद्यासद्मविनिर्गलत्कणमुषो वल्गन्ति चेद् बालिशाः।
अद्य श्वः) 'फणिनां शकुन्तशिशवो' (दन्तावलानां शशाः
सिंहानां च सुखेन मूर्धनि पदं धास्यन्ति शालावृकाः॥)

इत्यादौ।' अन्यथा तु कैमुतिकन्यायतामात्रम्। यथा—

'उदुम्बरफलानीव (ब्रह्माण्डान्यत्ति यः सदा।
सर्वगर्वापहः कालस्तस्य के मशका वयम्॥)' इत्यादौ।'

(रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६५४-५५)

अर्थात् आलङ्कारिकों की अर्थापत्ति में 'समानन्याय' से एक उपपन्न अर्थ से, दूसरे उपपाद्यमान अर्थ की जो 'आपत्ति' (प्रतीति) हुआ करती है उसमें कविप्रतिभा का हाथ अवश्य रहा करता है। विना कविप्रतिभा के जो अर्थ आपादित किया जायगा उसमें 'कैमुतिकता' (जब यह ऐसे हो सकता है तब उसके वैसे होने में क्या हर्ज है) की ही बात रहेगी, 'काव्यात्मकता' की नहीं। 'कैमुतिक-न्याय' से अलौकिक अर्थ की आपत्ति अथवा अनायास प्रतीति नहीं हुआ करती। यह तो कवि की 'अर्थापत्ति' है जो कि 'समानन्याय' से लोकोत्तर अर्थों की भी आपत्ति करवाया करती है।

(५५—विकल्पालङ्कार)

विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयु(य)तः ॥ ८३ ॥

यथा—

'नमयन्तु शिरांसि धनूंषि वा कर्णपूरीक्रियन्तामाज्ञा मौर्व्यो वा ।'

अत्र शिरसां धनुषां च नमनयोः सन्धिविग्रहोपलक्षणत्वात् सन्धिविग्रहयोश्चैकदा कर्तुमशक्यत्वाद्विरोधः, स चैकपक्षाश्रयणपर्यवसानः ।

तुल्यबलत्वं चात्र धनुःशिरोनमनयोर्द्वयोरपि स्पर्धया सम्भाव्यमानत्वात् । चातुर्यं चात्रौपम्यगर्भत्वेन । एवं 'कर्णपूरीक्रियन्ताम्' इत्यत्रापि ।

एवं—

'युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः ।'

अत्र श्लेषावष्टम्भेन चारुत्वम् ।

'दीयतामर्जितं वित्तं देवाय ब्राह्मणाय वा ।'

इत्यत्र चातुर्याभावान्नायमलङ्कारः ।

कुमारसम्भव की यह सूक्ति 'अर्थापत्ति' का एक सुन्दर निदर्शन है—

'पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥'

अनुवाद—'विकल्प' वह अलङ्कार है जिसे, एक विचित्रता के साथ दो समबल वस्तुओं के पारस्परिक विरोध का निरूपण कहा जाया करता है ।

जैसे कि—

'शत्रुगण या तो अपने सिर झुका दें या धनुष झुका लें, या तो हमारी आज्ञा अपने कानों तक ले आवें या अपने धनुष की प्रत्यञ्चा अपने कानों तक ले जाँय' ।

यहाँ 'विकल्प' का चमत्कार दिखायी दे रहा है क्योंकि यहाँ संधि के उपलक्षणभूत 'सिर झुकाने' (शिरोनमन) और विग्रह के उपलक्षणभूत 'धनुष झुकाने' (धनुर्नमन) में इसलिये विरोध स्पष्ट झलक रहा है क्योंकि ये दोनों बातें एक समय में सम्भव नहीं । यह विरोध, अन्ततः, दोनों में से एक पक्ष के अवलम्बन से समाप्त होता है । यहाँ 'सिर झुकाने' और 'धनुष झुकाने' में तुल्यबलता इसलिये है क्योंकि दोनों में परस्पर स्पर्धा सी दिखायी जा रही है । यहाँ (समबल वस्तुओं के विरोध-प्रदर्शन में) 'चातुर्य' अथवा 'वैचित्र्य' का अभिप्राय (दोनों समबल वस्तुओं में) परस्पर 'औपम्य' अथवा 'सादृश्य'-निर्देश का अभिप्राय है (जैसे यहाँ 'नमयन्तु' आदि में 'नमन' रूप साधारण धर्म 'सिर' और 'धनुष' दोनों में अनुगत रूप से निर्दिष्ट किया गया है)। यही बात 'आज्ञा कानों तक ले जाँय या प्रत्यञ्चा कानों तक ले जाँय' आदि में भी लागू है । इसी प्रकार इस सूक्ति अर्थात्—

'(भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये ।
लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती)
'युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः' ॥'

में जो 'विकल्प'-बन्ध है, उसमें श्लेषनिबन्धन औपम्यगर्भता का वैचित्र्य झलक रहा

है क्योंकि 'आप के पाप-संताप की शान्ति भगवान् विष्णु की आँखें करें या उनकी देह करे' की उक्ति में 'आँखों' और 'देह' की समस्पर्धिता स्पष्ट है जिसका कारण 'कुरुताम्' (कृ=परस्मैपद, प्रथमपुरुष, द्विवचनान्त रूप, 'नेत्रे' से क्रियारूप से सम्बद्ध और 'कृ' आत्मनेपद, प्रथमपुरुष, एकवचनान्त रूप, 'तनुः' से क्रियारूप से सम्बद्ध) नी के 'वचन-श्लेष' और 'भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी' आदि विशेषणों के लिङ्ग-श्लेष (प्रणयिन्) नपुंसक लिङ्ग, प्रथमा द्विवचनान्त रूप 'नेत्रे' से सम्बद्ध और 'प्रणयिनी' स्त्रीलिङ्ग, प्रथमा एक वचनान्त रूप, 'तनुः' से संबद्ध) से 'नेत्र' और 'देह' की सादृश्यगर्भता स्पष्ट दिखायी दे रही है।

इससे यह निष्कर्ष स्वयं निकल पड़ता है कि ऐसी सूक्तिओं जैसे कि—

'जो भी अर्जित धन हो उसे देवों या ब्राह्मणों को दे देना चाहिये।'

आदि में, जहाँ शुद्ध और श्लेषनिबन्धन औपम्यगर्भता का वैचित्र्य नहीं, 'विकल्प' अलङ्कार नहीं रहा करता।

विमर्श—(क) 'विकल्प' अलङ्कार 'अलङ्कारसर्वस्व' कार की कल्पना की एक देन है। 'अलङ्कारसर्वस्व' कार ने स्वयं कहा है—'प्राचीन आलङ्कारिक विकल्प का स्वरूपविवेक नहीं कर पाये थे' (पूर्वैरकृतविवेकोऽत्र दर्शित इत्यवगन्तव्यम्–अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २००)। आचार्य जयरथ ने भी यही माना है कि 'समुच्चय' अलङ्कार के प्रतिपक्षरूप से 'विकल्प' अलङ्कार की कल्पना सर्वप्रथम आचार्य रुय्यक की ही कल्पना है—

'अनेनास्य (विकल्पालङ्कारस्य) ग्रन्थकृदुपज्ञत्वमेव दर्शितम्'। (विमर्शिनी, पृष्ठ २००)

(ख) 'विकल्प' एक ज्ञानप्रकार है। इस ज्ञानप्रकार में 'नियत उभय पक्ष का अवलम्बन' स्वाभाविक है 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा' आदि वास्तविक विकल्प में कोई अलङ्कार नहीं। अलङ्कार तो उसी 'विकल्प' में सम्भव है जो कि कवि-प्रतिभा-निर्वर्तित हो। इसीलिये 'विकल्प-अलङ्कार' की रूपरेखा में शुद्ध औपम्य-गर्भता अथवा श्लेषोत्थापित औपम्य-गर्भता आवश्यक हुआ करती है। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इसीलिये कहा है—

'औपम्यगर्भत्वाच्चात्र चारुत्वम्······क्वचिच्छ्लेषावलम्बनेनाप्ययं दृश्यते'।

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १९८)

और इसीलिये 'विमर्शिनी'कार का भी कथन है—

'ननु च 'यवैर्व्रीहिभिर्वा यजेत' इति वास्तवाद् विकल्पादस्य को विशेष इत्याशङ्क्याह–औपम्येत्यादि। औपम्यं साधारणधर्मनिबन्धनमिति तस्याप्यत्र त्रैधम्। एवं च यत्रैवौपम्यगर्भत्वं तत्रैवायमलङ्कारो न त्वन्यथेति भावः। यथा—

'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु, लक्ष्मीः परापततु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा, न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥'

'अत्रौपम्यगर्भत्वाभावाद् विकल्पमात्रत्वम् (न तु विकल्पालङ्कारः)'।

(अलङ्कारसर्वस्व-विमर्शिनी, पृष्ठ १९८)

पण्डितराज जगन्नाथ का भी यही मत है—

'अयं (विकल्पालङ्कारः) च समुच्चयस्य प्रतिपक्षभूतो व्यतिरेक इवोपमायाः। अत्र च विकल्प्यमानयोरौपम्यमलङ्कारताबीजम्, तदादायैव चमत्कारस्योल्लासात्, अन्यथा तु विकल्पतामात्रम्। यथा 'जीवनं मरणं वाऽस्तु नैव धर्मं त्यजाम्यहम्' इत्यादौ। अत्र जीवनमरणयोर्नौपम्यस्य प्रतीतिः।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६५६)

(५६—समुच्चयालङ्कार : सप्रभेद-निरूपण)

समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके।
खले कपोतिकान्यायात्तत्करः स्यात्परोऽपि चेत् ॥ ८४ ॥
गुणौ क्रिये वा युगपत्स्यातां यद्वा गुणक्रिये।

यथा मम—

'हंहो धीरसमीर ! हन्त जननं ते चन्दनक्ष्माभृतो
दाक्षिण्यं जगदुत्तरं परिचयो गोदावरीवारिभिः।
प्रत्यङ्गं दहसीति मे त्वमपि चेदुद्दामदावाग्निव-
न्मत्तोऽयं मलिनात्मको वनचरः किं वक्ष्यते कोकिलः ॥'

अत्र दाहे एकस्मिंश्चन्दनक्ष्माभृज्जन्मरूपे कारणे सत्यपि दाक्षिण्यादीनां हेत्वन्तराणामुपादानम्।

अत्र सर्वेषामपि हेतूनां शोभनत्वात्सद्योगः। अत्रैव चतुर्थपादे मत्तादीनामशोभनानां योगादसद्योगः।

अनुवाद—'समुच्चय' वह अलङ्कार है जिसे निम्न सम्भावनाओं में देखा जाया करता है—

(१ ली) यदि कोई एक वस्तु किसी कार्य की सिद्धि कर रही हो तो 'खले कपोतिका' न्याय से किसी दूसरी वस्तु का भी, उस कार्य के साधकरूप से, वर्णन किया जाय।

(२ री) जब दो गुणों या दो क्रियाओं या गुण और क्रिया का एक साथ ही एकत्र उत्पादन अथवा अवस्थान वर्णित हो।

उदाहरण के लिए यह स्वरचित सूक्ति—

'अरे मलयमारुत ! तेरा जन्म चन्दनवन से भरे पहाड़ों से हुआ है, तेरा दाक्षिण्य (दक्षिण दिशा से बहना और प्राणिमात्र के लिए अनुकूलता) अलौकिक है, तू गोदावरी की शीतल लहरिओं के सम्पर्क से शीतल है किन्तु तब भी धधकती दावाग्नि की भाँति तुझसे मेरे अङ्ग-अङ्ग जलाये जा रहे हैं ! अरे ! अब मैं उस वनचर (जंगली) कोयल को क्या उलाहना दूँ जो कि (बाहर और भीतर—दोनों ओर से) काली है (और अपनी कूक से मुझे संतप्त कर रही है)।'

यहाँ 'समुच्चय' स्पष्ट है क्योंकि मलयमारुत में 'दाह' के अनौचित्य के प्रदर्शनार्थ 'चन्दनवन से भरे पहाड़ों से उत्पत्ति' के कारण के उपनिबद्ध होने पर भी 'दाक्षिण्य' आदि अन्य कारणों का उपन्यास किया जा रहा है।

यहाँ जो 'समुच्चय' है उसे 'सद्योग' रूप समुच्चय समझना चाहिये क्योंकि यहाँ (चन्दनवनोत्पत्ति, दाक्षिण्य, गोदावरीजलसंपर्क आदि) शोभनरूप के ही हेतुओं का समुच्चय दिखायी दे रहा है। इस सूक्ति के चतुर्थ चरण में (दाह के औचित्य के प्रदर्शनार्थ) 'असद्योग'रूप 'समुच्चय' माना जा सकता है क्योंकि 'मत्तता' 'मलिनात्मकता' आदि अशोभनरूप के हेतुओं का 'खले कपोत' न्याय से संयोग यहाँ स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

सदसद्योगो यथा—

'शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गनगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥'

इह केचिदाहुः—'शशिप्रभृतीनां शोभनत्वं खलस्याशोभनत्वं चेति सदसद्योगः' इति। अन्ये तु—'शशिप्रभृतीनां स्वतः शोभनत्वं धूसरत्वादीनां त्वशोभनत्वमिति सदसद्योगः।' अत्र हि शशिप्रभृतिषु धूसरत्वादेरत्यन्तमनुचितत्वमिति विच्छित्तिविशेषस्यैव चमत्कारविधायित्वम्। 'मनसि सप्त शल्यानि मे' इति सप्तानामपि शल्यत्वेनोपसंहारश्च। 'नृपाङ्गनगतः खल' इति तु क्रमभेदाद् दुष्टत्वमावहति सर्वत्र विशेष्यस्यैव शोभनत्वेन प्रक्रमादिति।

इसी प्रकार 'सदसद्योग'रूप समुच्चय, जैसे कि—

'मेरे मन में ये सात कांटे चुभे हुये हैं—वह 'चन्द्रमा', जिसकी शोभा दिन के कारण नष्ट हो जाया करती है; वह 'कामिनी' जिसका यौवन नष्ट हो चुका होता है; वह 'सरोवर', जिसमें कमल नहीं खिलते, वह 'मुखड़ा', जो सुन्दर लगता है किन्तु मूर्खता झलकाया करता है; वह 'राजा', जो धन का लोलुप है, वह 'सज्जन', जो दुर्गति में पड़ा रहता है और वह 'खल' जो राज-दरबार में पहुँच रखा करता है।'

इस उपर्युक्त 'शशी दिवसधूसरो गलितयौवना' आदि सूक्ति के 'समुच्चय' के सम्बन्ध में कुछ आलंकारिकों का यह कहना है कि 'यहाँ सदसद्योगरूप समुच्चय इसलिये है क्योंकि शशिप्रभृतिरूप शोभन वस्तुओं और 'खल'रूप अशोभन वस्तु का एकत्र संयोग दिखायी देता है'। किन्तु कुछ आलङ्कारिक ऐसा कहते हैं कि 'यहाँ सदसद्योगरूप समुच्चय इसलिये है क्योंकि शशिप्रभृतिरूप स्वयं शोभन पदार्थों के साथ 'धूसरत्व' आदि रूप अशोभन वस्तुओं का संयोग प्रतीत हो रहा है। अब यहाँ यह देखना है कि इस 'समुच्चय' में 'सदसद्योग' का क्या रहस्य है? बात वस्तुतः यहाँ यह है कि यहाँ शशिप्रभृति स्वयं शोभन वस्तुओं के साथ (अन्य कारणजन्य) 'धूसरत्व' आदि अशोभन वस्तुओं का जो अत्यन्त अनुचित संयोग है उसी में 'सदसद्योग' है क्योंकि जो भी वैचित्र्य है वह उसी में है और उसी के चमत्कार के कारण यहाँ सदसद्योगरूप समुच्चय का सौन्दर्य झलक रहा है। साथ ही साथ 'मेरे मन के ये सात कांटे हैं' इस उपसंहार से भी यही सिद्ध है कि यहाँ शोभन वस्तु का अशोभन वस्तु के साथ अनुचित संयोग ही 'सदसद्योग' का अभिप्राय है (न कि शशिप्रभृति शोभनरूप पदार्थषट्क के साथ 'खल'रूप अशोभन पदार्थ का संयोग)। वस्तुतः इस सूक्ति में 'नृपाङ्गनगतः खलः' की उक्ति तो 'भग्नप्रक्रमत्व' के दोष से दूषित है (और इसलिये यहाँ चरणत्रय में ही 'सदसद्योग' के देखते सदसद्योग-रूप समुच्चय मानना उचित है)। 'नृपाङ्गनगतः खलः' में 'भग्नप्रक्रमत्व' इसलिये है क्योंकि अन्यत्र तो शोभनरूप वस्तुयें (जैसे कि शशी, कामिनी आदि) विशेष्यरूप से उपनिबद्ध हैं (और अशोभन वस्तुयें विशेषणरूप से, किन्तु यहाँ अशोभनरूप वस्तु जैसे कि 'खल' का उपन्यास विशेष्यरूप से है और शोभनरूप वस्तु जैसे कि 'नृपाङ्गन' का उपनिबन्ध विशेषणरूप से हुआ है)।

इह च खले कपोतवत्सर्वेषां कारणानां साहित्येनावतारः। समाध्यलङ्कारे त्वेककार्यं प्रति साधके समग्रेऽप्यन्यस्य काकतालीयन्यायेनापतनमिति भेदः।

'अरुणे च तरुणि नयने तव मलिनं च प्रियस्य मुखम्।
मुखमानतं च सखि ते ज्वलितश्चास्यान्तरे स्मरज्वलनः॥'

अत्राद्येऽर्थे गुणयोर्यौगपद्यम्, द्वितीये क्रिययोः।

उभयोर्यौगपद्ये यथा—

'कलुषं च तवाहितेष्वकस्मात्सितपङ्केरुहसोदरश्रि चक्षुः।
पतितं च महीपतीन्द्र! तेषां वपुषि प्रस्फुटमापदां कटाक्षैः॥'

'धुनोति चासिं तनुते च कीर्त्तिम्।'

इत्यादावेकाधिकरणेऽप्येष दृश्यते।

न चात्र दीपकम्, एते हि गुणक्रियायौगपद्ये समुच्चयप्रकारानियमेन कार्यकारणकालनियमविपर्ययरूपातिशयोक्तिमूलाः, दीपकस्य चातिशयोक्तिमूलत्वाभावः।

यहाँ 'समुच्चय' और (आगे प्रतिपादित) 'समाधि' का भेद समझ लेना चाहिये— 'समुच्चय' में कारणों का एकत्र उपनिपात (उतरना) 'खले कपोतन्याय' से होता है (अर्थात् जैसे खलिहान में दाना चुगने के लिये सभी कबूतर एक साथ उतर पड़ते हैं वैसे ही यहाँ एक कार्य की सिद्धि के लिये सभी कारण एक साथ आ उपस्थित होते हैं) और 'समाधि' में ऐसा होता है कि एक हेतु के पर्याप्तरूप से कार्य-साधन में समर्थ होने पर अन्य हेतु 'काकतालीयन्याय' से अकस्मात् उपस्थित होता दिखायी देता है।

गुणों के यौगपद्य में 'समुच्चय' तथा क्रियाओं के यौगपद्य में भी) जैसे कि—

'अरी सुन्दरी! इधर तेरी आँखें लाल हुई और उधर तेरे प्रिय का मुँह काला पड़ा। किन्तु जब तेरा सिर (कोप-शान्ति के कारण) नीचे झुकेगा तब तेरे प्रिय के हृदय में कामाग्नि जल उठेगी।'

यहां पूर्वार्द्ध में 'अरुणत्व' और 'मलिनत्व' रूप दो गुणों का युगपदुत्पादन वर्णित है और उत्तरार्ध में 'आनमन' और 'ज्वलन' रूप दो क्रियाओं का युगपदवस्थान वर्णित है (जिसमें 'समुच्चय' का वैचित्र्य स्पष्ट झलक रहा है)।

गुण और क्रिया के यौगपद्य में समुच्चय, जैसे कि—

'राजन्! श्वेत कमल की कान्ति वाले आप के नेत्र जब शत्रुओं पर कलुषित हुये, तब उन पर आपदाओं की टेढ़ी निगाहें बरसने लगीं।'

'राजन्! एक ओर तो तुम अपनी तलवार भाँजते हो और दूसरी ओर कीर्ति फैलाते हो।'

यहाँ, 'कलुषं च' आदि में, एक अधिकरण में ही गुण और क्रिया ('कलुषत्व'रूप गुण और 'पतन'रूप क्रिया) का यौगपद्य है और 'धुनोति' आदि में दो क्रियाओं ('धुनोति' और 'तनुते' रूप क्रियाओं) का युगपदवस्थान है। इससे यह स्पष्ट है कि 'समुच्चय' (केवल व्यधिकरण में, 'गुण-क्रिया' आदि के युगपत् अवस्थान में ही नहीं अपि तु) एकाधिकरण में भी (गुण-क्रिया आदि के यौगपद्य में) रहा करता है। यहाँ 'दीपक' की संभावना न होनी चाहिये (यह सोच कर कि 'धुनोति' और 'तनुते' क्रियायें एक राजरूप कर्ता से संबद्ध हैं) कारण यह है कि 'समुच्चय' के सभी प्रकारों में, जिनमें गुण-क्रिया आदि का यौगपद्य अनिवार्य रूप से अपेक्षित है, 'अतिशयोक्ति' का ही चमत्कार

(५७—समाधि)

समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद्वस्त्वन्तरागमात् ॥ ८५ ॥

मूलरूप से रहा करता है क्योंकि यहाँ जो भी गुण-क्रियादि-यौगपद्य है वह नियमतः कारण और कार्य के पौर्वापर्य का विपर्ययरूप ही हुआ करता है। जब कि 'दीपक' में 'अतिशयोक्ति' का कोई अन्तर्भाव विवक्षित नहीं तब 'दीपक' को समुच्चय के मूल में मानना निरर्थक है।

विमर्श—(क) 'समुच्चय' में 'खले कपोत' न्याय अथवा 'खले कपोतिका' न्याय से गुणों, क्रियाओं अथवा गुण और क्रिया आदि का भिन्न अथवा अभिन्न अधिकरण में युगपदवस्थान विवक्षित रहा करता है। 'खले कपोत न्याय' की परिभाषा यह है—

'खले कपोताः इव प्रतिकृतिः खले कपोतिका। धान्यमर्दनस्थले कपोतानां युगपदापतनं तन्न्यायः खले कपोतिका-न्यायः'।

अर्थात् खलिहान में एक साथ दाना चुगने के लिए गिरने वाले कबूतरों की भाँति, किसी एक आधार पर, एक साथ, अनेकों (गुण-कारण आदि) का अवतरण 'खले कपोतिकान्याय' से अवतरण अथवा अवस्थान हुआ करता है। मीमांसाचार्य शबरस्वामी ने भी कहा है—

'अर्थेन प्रधानोपकारेण खले कपोतवद् युगपत्संनिपतन्त्यङ्गानि (मीमांसा-सूत्र-भाष्य ११. १. १६)।'

किन्तु 'समाधि' में 'काकतालीय' न्याय से एक कार्य में, एक कारण के रहते हुए, दूसरा प्रबल कारण, अकस्मात् आ पहुँचता है। 'काकतालीय' न्याय का लक्षण यह है—

'काकागमनमिव तालपतनमिव काकतालं काकतालमिव काकतालीयं तस्य न्यायः।'

अर्थात् जैसी आकस्मिकता ताड़ के पेड़ पर कौए के आकर बैठने और उसके सिर पर ताड़ के फल के गिर जाने से उसकी मृत्यु में है वैसी ही आकस्मिकता से, किसी कार्य की सिद्धि के लिए, एक कारण के रहते, दूसरे का उपनिपात, 'काकतालीय' न्याय से उपनिपात है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी स्पष्ट कहा है—

'न चास्मिन् वक्ष्यमाण-समाध्यलङ्कारत्वमाशङ्क्यम्, समाधौ हि एकेन कार्ये निष्पाद्यमानेऽप्यन्येनाकस्मिकमापतता कारणेन सौकर्यादिरूपोऽतिशयो यत्र संपाद्यते स विषयः। अस्मिंस्तु समुच्चयप्रभेदे यत्रैककार्यं संपादयितुं युगपदनेके खले कपोता इवाहमहमिकया संपतन्ति, कार्यस्य च न कोऽप्यतिशयः सः।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६६०)

(ख) निम्न सूक्तियाँ 'समुच्चय' की सुन्दर सूक्तियाँ हैं—

'दुर्वाराः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽत्युत्सुकं
गाढं प्रेम नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्मलम्।
स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् कालः कृतान्तोऽक्षमो
नो सख्यश्चतुराः कथं नु विरहः सोढव्य इत्थं शठः॥'

'सितं ज्योत्स्नाजालैररुणरुचि संध्याकरभरै-
स्तमस्तोमैः श्यामच्छवि भपटलैः पीतमपि च।
नभो नीलीनीलं रतिरमण-लीला-विहरणे
स्थली धात्रा चित्रं चतुरमधुना चित्रितमदः॥'

अनुवाद—**'समाधि' वह अलङ्कार है जिसे दैववश उपस्थित किसी वस्तु के कारण, किसी कार्य के सौकर्य-वर्णन में देखा जाया करता है। जैसे कि—**

यथा—

'मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम् ॥'

(५८—प्रत्यनीक)

प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपोर्यदि।
तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्षसाधकः ॥ ८६ ॥

तस्यैवेति रिपोरेव। यथा मम—

'जब तक मैं उस मानिनी के मान के निराकरण के लिए उसके पैरों पर पड़ूँ, तब तक भाग्यवश, मेरी सहायता के लिए, मेघ की गर्जना प्रारम्भ हो गई।'

यहाँ 'समाधि' इसलिए है क्योंकि 'मान-निराकरण' रूप कार्य के लिए 'पादपतन' रूप कारण के रहते हुए भी, अकस्मात्, 'मेघगर्जन' रूप प्रबल कारण का उपनिपात वर्णित हुआ है जिससे 'माननिवारण' के कार्य का सुकरता से संपादन प्रतीत हो रहा है।

विमर्श—'अलङ्कारसर्वस्व' कार ने 'समाधि' की यह परिभाषा की है—

'कारणान्तरयोगात् कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः। केनचिदारब्धस्य कार्यस्य कारणान्तरयोगात् सौकर्यं यत् स सम्यगाधानात् समाधिः। समुच्चय-सादृश्यात्तदनन्तरमुपक्षेपः'।

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २०५)

अर्थात् 'समुच्चय' के साथ 'समाधि' का कुछ सादृश्य है क्योंकि 'एक के कार्यसाधक रहते दूसरे के कार्यसाधक होने का वर्णन जैसे 'समुच्चय' है वैसे ही 'एक के कार्यकारक रहते, दूसरे के द्वारा कार्य की सुकरता का वर्णन 'समाधि' है। किन्तु दोनों में परस्पर वैलक्षण्य भी है जो कि दोनों के भिन्न-भिन्न अलङ्कार होने का कारण है। यह वैलक्षण्य एक में (समुच्चय में) 'खले कपोत-न्याय' से दोनों कारणों का एक साथ उपस्थित होना है और दूसरे में (समाधि में) 'काकतालीय-न्याय' से एक कारण के रहते दूसरे का आकस्मिक सहयोग-संपादन है। 'सौकर्य' का तात्पर्य अन्य कारण के योग से कार्य का 'सरलता' से संपादन और 'सौष्ठव' से संपादन—दोनों हैं।

'मानमस्याः' आदि सूक्ति में सुखपूर्वक अथवा सरलता से कार्य-संपादनरूप 'समाधि' है और सौष्ठव के साथ कार्य-संपादनरूप 'समाधि' के लिए निम्नसूक्ति देखी जा सकती है—

'क्षैणं लीलाभरणमभितस्त्रोटयित्वा श्रमाम्भः
शक्त्या पत्रावलि-मृगमद-व्यञ्जितश्मश्रुदेहः।
केलिक्षोभः कुवलयदृशां मान्मथे कार्यभावे
पुंवद्भावं घटितमभितः पारिपूर्ण्यं निनाय ॥'

(विमर्शिनी : उद्धरण, पृष्ठ २०६)

अनुवाद—'प्रत्यनीक' वह अलङ्कार है जिसे वहाँ देखा जाया करता है जहाँ किसी प्रबल शत्रु के प्रतीकार में, असामर्थ्य के कारण, उसके किसी संबन्धी के प्रतीकार का वर्णन हुआ करता है जिससे अन्ततः उस प्रबल शत्रु का ही उत्कर्ष प्रकट हुआ करता है।

यहाँ कारिका में 'तस्यैव' का अभिप्राय 'रिपोरेव' का अभिप्राय है। उदाहरण के लिए यह स्वरचित सूक्ति—

'मध्येन तनुमध्या मे मध्यं जितवतीत्ययम्।
इभकुम्भौ भिनत्त्यस्याः कुचकुम्भनिभौ हरिः ॥'

(५९—प्रतीपालङ्कार)

**प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम्।
निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥ ८७ ॥**

'इस पतली कमर वाली सुन्दरी ने, अपनी पतली कमर से, मेरी (पतली) कमर की सुन्दरता जीत ली है—यह सोचकर ही वस्तुतः सिंह, इन सुन्दर कुच कुम्भों की भाँति गज-कुम्भों (हाथी के मस्तक के दोनों भागों) को फाड़ डालना चाहता है।'

विमर्श—(क) आचार्य रुय्यक ने 'प्रत्यनीक' का यह स्वरूप बताया है—

'प्रतिपक्षतिरस्काराशक्तौ तदीयस्य तिरस्कारः प्रत्यनीकम्।

यत्र बलवतः प्रतिपक्षस्य दुर्बलेन प्रतिपक्षेण तिरस्कारः कर्तुं न शक्यते इति तत्संबन्धिनो दुर्बलस्य तं बाधितुं तिरस्कारः क्रियते तत् प्रत्यनीकम्। अनीकस्य सैन्यस्य प्रतिनिधिः प्रत्यनीकमुच्यते। तत्तुल्यत्वादिदमपि प्रत्यनीकमुच्यते। यथाऽनीकेऽभियोक्तव्ये तत्राऽसामर्थ्यात् तत्प्रतिनिधिभूतमन्यदभियुज्यते, तद्वदिह प्रतिपक्षे विजेये तदीयस्य दुर्बलस्य तिरस्करणमित्यर्थः। प्रतिपक्षगतत्वेन बलवत्त्वख्यापनं प्रयोजनम्।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २०६-२०७)

इसमें यह स्पष्ट है कि 'प्रत्यनीक' के रूप में जिस वाच्यवैचित्र्य की कल्पना है उसमें 'प्रबल' और 'दुर्बल' अनीक अथवा सैन्य की गतिविधि की भाँति दो प्रतिपक्षभूत पदार्थों की गतिविधि का चित्रण किया हुआ रहता है। 'प्रत्यनीक' में प्रबल शत्रु के 'सम्बन्धी' दुर्बल शत्रु के प्रतीकार का जो अभिप्राय है उसमें प्रबल और दुर्बल शत्रु का 'सम्बन्ध' सादृश्यादिमूलक ही सम्बन्ध हुआ करता है (तत्संबन्धित्वं च सादृश्यादिसम्बन्धमूलम्—विमर्शिनी, पृष्ठ २०६) 'प्रत्यनीक' के प्रयोजन के सम्बन्ध में 'अलङ्कारसर्वस्व-विमर्शिनी'कार का यह कथन है—

'अत्र प्रतिरस्कार्यतिरस्करणा(त्)तिरस्करणकर्तुर्निन्दाद्वारेण बलवतः प्रतिपक्षस्य प्रतीकार्यत्वात् स्तुतिप्रतिपादने तात्पर्यम्।' (विमर्शिनी, पृष्ठ २०७)

(ख) पण्डितराज जगन्नाथ ने 'प्रत्यनीक' को 'हेतूत्प्रेक्षा' में अन्तर्भूत मानना अधिक युक्तियुक्त समझा है—

'हेतूत्प्रेक्षयैव गतार्थत्वान्नेदं (प्रत्यनीकम्) अलङ्कारान्तरं भवितुमर्हति।...अस्मिन्नलङ्कारे हेतुत्वनिश्चीयमानं, हेतूत्प्रेक्षायां तु संभाव्यमानमित्यस्ति विशेष इति चेत्, प्रतीयमानहेतूत्प्रेक्षाया अनुत्प्रेक्षात्वापत्तेः। वाचकस्येवादेरभावाद्धेतुत्वस्य निश्चीयमानतायास्तत्रापि (हेतूत्प्रेक्षायामपि) वक्तुं शक्यत्वात्।

'यस्य किञ्चिदपकर्तुमक्षमः कायनिग्रह-गृहीत-विग्रहः।
कान्तवक्त्रसदृशाकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनाऽपि बाधते ॥'

इत्यलङ्कारसर्वस्वकृतोदाहृते प्राचीनपद्येऽपि भगवद्-वैरानुबन्धादिव भगवद्वक्त्रसदृशमिन्दुं राहुर्बाधत इति प्रतीतेरुत्प्रेक्षैव गम्यमाना।...प्रतिपक्षगतबलवत्त्वस्वात्मगतदुर्बलत्वयोः प्रतीतेर्हेतूत्प्रेक्षान्तरादस्य वैलक्षण्यम्। नैतावता हेतूत्प्रेक्षाया बहिर्भवितुमिदं (प्रत्यनीकम्) ईष्टे, किंतु तदवान्तरविशेषीभवितुम्।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६६६)

अनुवाद—'प्रतीप' वह अलङ्कार है जिसे उपमेयरूप में प्रसिद्ध उपमान की कल्पना अथवा निष्फलता का प्रतिपादन कहा करते हैं।

क्रमेण यथा—

(प्रसिद्ध उपमान की उपमेय-कल्पना में 'प्रतीप')

'यत्त्वन्नेत्रसमानकान्तिसलिले मग्नं तदिन्दीवरम् ।' इत्यादि ।

(प्रसिद्ध उपमान की निष्फलता के प्रतिपादन में 'प्रतीप')

'तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा हा हेम सा चेद्द्युतिः;
तच्चक्षुर्यदि हारितं कुवलयैस्तच्चेत्स्मितं का सुधा ? ।
धिक्कन्दर्पधनुर्भ्रुवौ यदि च ते किं वा बहु ब्रूमहे
यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविमुखः सर्गक्रमो वेधसः ॥'

अत्र वक्त्रादिभिरेव चन्द्रादीनां शोभातिवहनात्तेषां निष्फलत्वम् ।

क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'अरी सुन्दरी ! वह नीलकमल जो तेरे नयनों के समान सुंदर और मनोहर था, अब पानी में जा डूबा है ।' आदि ।

'यदि सच पूछा जाय तो विधाता की इस सृष्टि में, एक वस्तु के बराबर दूसरी वस्तु नहीं रहा करती क्योंकि यदि वह (सुन्दरी का) मुख है तो चन्द्रमा की चर्चा चलाना व्यर्थ है, यदि वह (सुन्दरी के देह की) कान्ति है तो सोना विचारा किस काम का, यदि वह (सुन्दरी की) आँखें हैं तो नीलकमल तो कहीं के न रहे, यदि वह (सुन्दरी की) मुसकुराहट है तो सुधा कुछ नहीं जँचती और अधिक क्या कहा जाय, यदि वह (सुन्दरी की) भ्रकुटि है तो कामदेव के धनुष को धिक्कार है ।'

यहाँ 'मुख' आदि में ही 'चन्द्र' आदि की अपेक्षा अधिक 'सौन्दर्य' आदि के होने के कारण चन्द्र आदिरूप प्रसिद्ध उपमानों की निष्फलता का प्रतिपादन स्पष्ट है जिसमें 'प्रतीप' का स्वरूप झलक रहा है ।

विमर्श—'प्रतीप' की 'अलङ्कारसर्वस्वकार' कृत मीमांसा यह है—

'उपमानस्याक्षेप उपमेयताकल्पनं वा प्रतीपम् । उपमेयस्यैवोपमानभारोद्वहनसामर्थ्या-दुपमानस्य कैमर्थक्येनाक्षेपः आलोचनं क्रियते, तदेकं प्रतीपम्' उपमानप्रतिकूलत्वादुप-मेयस्य प्रतीपमिति व्यपदेशः । यद्युपमानतया प्रसिद्धस्योपमानान्तरप्रतितिष्ठापयिषयाऽ-नादरणार्थमुपमेयत्वं कल्प्यते, तत्पूर्वोक्तगत्या द्वितीयं प्रतीपम् ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २०७)

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'प्रतीप' का सामान्यलक्षण नहीं किया गया अपि तु दो प्रकार के 'प्रतीप' अलङ्कारों का स्वरूप-निर्देश किया गया है (एकं द्वितीयमित्यभिदधता ग्रन्थकृता प्रतीपाख्यमलङ्कारद्वयं पुनः सामान्यलक्षणाभावादेकमेव द्विप्रकारमित्युक्तम्—विमर्शिनी, पृष्ठ २०८) । ये दोनों प्रकार के 'प्रतीप' उपमा के प्रकार-विशेष नहीं अपितु स्वतन्त्र अलङ्कार हैं । कारण यह है कि यहाँ उपमान के आक्षेप और उपमान की उपमेय-कल्पना का वैचित्र्य ऐसा है जो 'उपमा' में असंभव है । इन दोनों प्रतीप-प्रकारों का प्राण 'साधर्म्य' है जो कि यहाँ अपने त्रिविधरूप में विराजमान रहा करता है । विना 'साधर्म्य' अथवा 'औपम्य' के प्रतीप के ये दोनों प्रकार अलङ्कार नहीं कहे जा सकते ।

निम्न सूक्तियाँ 'प्रतीप' की सुन्दर सूक्तियाँ हैं—

'मुखेन सखि पीयूषपेलवेन निशासु ते । उपमानतया चन्द्रं प्रियेणाशिष्यते ध्रुवम् ॥'

'किं कर्णपूरैर्यदि साधुवादा मुक्ताफलैः किं यदि वाग्विलासाः ।
किं चूर्णयोगैर्यदि रूपशोभा लावण्यमास्ते यदि चन्दनैः किम् ॥'

(प्रतीप : प्रकारान्तर)

उक्त्वा चात्यन्तमुत्कर्षमत्युत्कृष्टस्य वस्तुनः ।
कल्पितेऽप्युपमानत्वे प्रतीपं केचिदूचिरे ॥ ८८ ॥

यथा—

'अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल ! तात ! मा स्म दृश्यः ।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम् ॥'

अत्र प्रथमपादेनोत्कर्षातिशय उक्तः । तदनुक्तौ तु नायमलङ्कारः ।

यथा—

'ब्रह्मेव ब्राह्मणो वदति' इत्यादि ।

अनुवाद—'प्रतीप' का एक रूप वह भी है जिसमें पहले तो किसी अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु का उत्कर्ष-वर्णन किया जाया करता है और बाद में उसे, किसी दूसरी वस्तु के उपमान रूप में कल्पित कर दिया जाता है । जैसे कि—

'अरे कालकूट विष ! तुझे यह घमण्ड क्योंकि तू ही दारुणतम वस्तुओं के सिरमौर है ! अरे ! तुझ सरीखे दारुण तो दुष्टों के वचन हैं जिनकी इस संसार में कोई गणना नहीं हो सकती ।'

यहाँ प्रथम चरण में 'हालाहल' का अत्यधिक उत्कर्ष प्रतिपादित है (जिससे यह स्पष्ट है कि इससे बढ़कर प्राणघातक संसार में कुछ भी नहीं किन्तु बाद में दुष्ट वचनों के उपमान रूप में इसे कल्पित भी कर लिया गया है जिसमें यह अभिप्राय अभिव्यक्त हो रहा है कि भले ही दुष्ट वचनों से प्राण न निकले किन्तु हालाहल-पान की सी व्याकुलता इनमें अवश्य रहा करती है)। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ वस्तु का अत्यधिक उत्कर्ष न वर्णित हो वहाँ 'प्रतीप' की कोई संभावना नहीं हुआ करती ।

जैसे कि 'यह ब्राह्मण ब्रह्मा के समान बोल रहा है' आदि उक्ति में 'प्रतीप' की खोज व्यर्थ है क्योंकि यहाँ 'ब्रह्मा' के उत्कर्ष का कोई वर्णन नहीं (यहाँ तो अधिक से अधिक 'उपमा' ही मानी जा सकती है)।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पण की 'विमला'टीका (पृष्ठ २२३) में 'उक्त्वा चात्यन्तमुत्कर्षम्' आदि संदर्भ का यह अनुवाद दिया गया है—

'किसी अत्युत्कृष्ट वस्तु का अत्यन्त उत्कर्ष वर्णन करके पीछे किसी दूसरी वस्तु को उसकी उपमान बना देने पर भी कोई लोग प्रतीपालङ्कार मानते हैं । जैसे—अहमिति । हे तात हालाहल, (कालकूट विष) यह घमण्ड मत करो कि दारुण वस्तुओं में सब के गुरु हम ही हैं । तुम्हारे जैसे प्राणघातक इस संसार में दुर्जनों के बहुतेरे वचन विद्यमान हैं । यहाँ प्रथम चरण में हालाहल का उत्कर्ष कहा फिर उसे दुर्जन वचनों का उपमान बना दिया ।'

किन्तु यदि यहाँ के रेखाङ्कित पदों को देखा जाय तो यह स्पष्ट पता चल जाता है कि पहले रेखाङ्कित पद का जो आशय है वह दूसरे रेखाङ्कित पद के आशय से झगड़ा कर रहा है । पहले तो यह कहा गया कि अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु के उत्कर्ष-वर्णन के बाद, किसी दूसरी वस्तु को, उस अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु का उपमान बना देना, कुछ लोगों का 'प्रतीप' है किन्तु 'अहमेव' आदि में, इसे घटित करते समय, यह संकेत कर दिया गया (क्योंकि 'उसे' पद से बड़े-चढ़े, दारुणता के उत्कर्ष वाले 'हालाहल' का ही सम्बन्ध बैठ सकता है) कि यहाँ 'किसी दूसरी वस्तु को' उस अत्यन्त

(६०—मीलित)

मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित्तुल्यलक्ष्मणा ।

अत्र समानलक्षणं वस्तु क्वचिदागन्तुकम् ।

क्रमेण यथा—

(सहज रूप की तुल्यलक्षण वस्तु के द्वारा गोपन में 'मीलित')

'लक्ष्मीवक्षोजकस्तूरीलक्ष्म वक्षःस्थले हरेः ।
ग्रस्त नालक्षि भारत्या भासा नीलोत्पलाभया ॥'

उत्कृष्ट वस्तु का उपमान नहीं बनाया जाता अपितु उसी अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु को किसी दूसरी वस्तु का उपमान बनाया जाता है ।

इस झगड़ा का निपटारा तभी हो सकता है जब कि यह कहा जाय—'किसी अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु का अत्यन्त उत्कर्ष वर्णन करके, पीछे, उसे, किसी दूसरी वस्तु का उपमान बना देने पर भी कोई लोग प्रतीपालङ्कार मानते हैं ।

'अलङ्कार-सर्वस्वकार' की यह 'प्रतीप'-समीक्षा भी यही सिद्ध करती है कि स्वतः अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु का, पहले अत्यधिक उत्कर्ष-वर्णन करके, पीछे, अन्य वस्तु के उपमानरूप में प्रतिपादन 'प्रतीप' है—

'अनेन न्यायेनोत्कृष्टगुणत्वाद् यदुपमानभावमपि न सहते तस्यैवोपमानभावकल्पने प्रतीममेव' । (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१०)

'विमर्शिनी' कार भी वस्तुतः इसी अभिप्राय के समर्थक हैं—

'उपमानभावं यो न सहते तस्योपमानत्वपरिकल्पनेन प्रतिकूलवर्तित्वात् (प्रतीपत्वादिति)' । (अलङ्कारसर्वस्व-विमर्शिनी, पृष्ठ २१०)

(ख) पण्डितराज जगन्नाथ की मीमांसा देखिए तो 'प्रतीप' नाम का अलङ्कार ही छूमन्तर हो जाता है—

एवं चाद्यं प्रतीपं प्रसिद्धोपमावदुपमाविशेष एव, अत एव द्वितीयतृतीयावपि भेदावुपमाविशेषावेव । उपमानोपमेययोस्तिरस्कारस्तूपमान्तराद् वैलक्षण्यं प्रयोजयेत्, न तूपमासामान्यात्, तदनुस्यूतत्वेनैव तत्प्रतीतेः । न हि द्राक्षा माधुर्यातिशयेन पार्थिवान्तराद् विलक्षणेत्यपार्थिवी भवति । अपि च यद्युपमानोपमेययोस्तिरस्कारोऽलङ्कारताप्रयोजकः स्यात्, पुरस्कारोऽपि तथा स्यात् ।......एवं च फलवैलक्षण्यमात्रेणालङ्कारान्तरत्वं ब्रुवता अस्याप्यलङ्कारान्तरत्वमभ्युपेयं स्यात्' । (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६७०)

अनुवाद—'मीलित' वह अलङ्कार है जिसे किसी समान लक्षण वाली वस्तु से किसी दूसरी वस्तु के गोपन (छिपाने) के वैचित्र्य में देखा जाया करता है ।

यहाँ यह 'तुल्यलक्षण' अथवा 'समानलक्षण' वस्तु (अथवा वस्तु का चिह्नरूप समान धर्म) 'सहज' (स्वाभाविक) और 'आगन्तुक' दोनों रूपों में मान्य है ।

इसके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'भगवान् विष्णु के वक्षस्थल में लगा, लक्ष्मी के उरोजों के कस्तूरी-लेप का चिह्न, सरस्वती को न पता चला क्योंकि, वह, नीलकमल की कान्ति वाली, विष्णु की देहशोभा से एक रूप का हो गया था ।'

अत्र भगवतः श्यामा कान्तिः सहजा।

(आगन्तुक रूप की तुल्यलक्षण वस्तु द्वारा गोपन में 'मीलित')

'सदैव शोणोपलकुण्डलस्य यस्यां मयूखैररुणीकृतानि।
कोपोपरक्तान्यपि कामिनीनां मुखानि शङ्कां विदधुर्न यूनाम् ॥'

अत्र माणिक्यकुण्डलस्यारुणिमा मुखे आगन्तुकः।

(६१—सामान्यालङ्कार)

सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः ॥ ८९ ॥

यथा—

'मल्लिकाचितधम्मिल्लाश्चारुचन्दनचर्चिताः।
अविभाव्याः सुखं यान्ति चन्द्रिकास्वभिसारिकाः ॥'

मीलिते उत्कृष्टगुणेन निकृष्टगुणस्य तिरोधानम्, इह तूभयोस्तुल्यगुणतया भेदाग्रहः।

यहां भगवान् विष्णु की जिस श्यामल कान्ति से कस्तूरी-चिह्न की एकरूपता बताई गई है वह 'सहज' रूप की है।

'जिस नगरी में पद्मरागमणि के कर्ण-कुण्डलों की लाल-लाल किरणों से लाल-लाल लगने वाले, रमणीजन के मुख, क्रोध से लाल होने पर भी, कामीजन के हृदय में कोई शंका नहीं उत्पन्न करते थे (अर्थात् कामीजन को यह पता न चल पाता था कि रमणियों के मुख क्रोध से लाल हैं या लाल मणि के कर्णाभरण की किरणों से लाल हैं)।

यहाँ पद्मरागमणि के कुण्डलों की लालिमा, जिसके द्वारा क्रोध में लाल रमणी-मुख की लाली का छिप जाना बताया गया है, मुख के लिये 'आगन्तुक' है।

विमर्श—'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने 'मीलित' को 'एक वस्तु के द्वारा दूसरी वस्तु का निगूहन' कहा है—

'सहजेनागन्तुकेन वा लक्ष्मणा यद्वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरं निगूह्यते तदन्वर्थाभिधानं मीलितम्। न चायं सामान्यालंकारः, तस्य हि साधारणगुणयोगाद् भेदानुपलक्षणं रूपम्। अस्य तूत्कृष्टगुणेन निकृष्टगुणस्य तिरोधानमिति महाननयोर्विशेषः।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१०)

अर्थात् 'मीलित' वह है जिसमें एक वस्तु के उत्कृष्ट गुण के द्वारा दूसरी वस्तु के निकृष्ट गुण का तिरोधान प्रतीत हुआ करता है। इससे यह स्पष्ट है कि यह अलङ्कार 'सामान्य' अलङ्कार से भिन्न है क्योंकि 'सामान्य' में दो वस्तुओं के भेद के अदर्शन का कारण उनका सामान्य गुण-योग है न कि एक के द्वारा दूसरे का तिरोधान।

अनुवाद—'सामान्य' वह अलङ्कार है जिसमें साधारण गुण के योग से, प्रकृत वस्तु अन्य वस्तु से अभिन्न रूप की निरूपित हुआ करती है। जैसे कि—

'मल्लिका की कलिओं से केशपाशों को सजा कर और देह में चन्दन के अङ्गराग लगा कर, अभिसारिकायें, चांदनी रातों में, अभिसार किया करती हैं और किसी की भी पहचान में नहीं आतीं।'

'मीलित' में उत्कृष्ट गुण से निकृष्ट गुण का तिरोधान विवक्षित रहा करता है किन्तु 'सामान्य' में दो वस्तुओं के भेद की अप्रतीति का कारण (गुण-तिरोधान नहीं अपितु)

(६२—तद्गुणालङ्कार)

तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः ।

यथा—

'जगाद वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तपातिनः ।
नयन् मधुलिहः श्वैत्यमुदग्रदशनांशुभिः ॥'

समान गुणों का योग माना जाया करता है जिससे दोनों भिन्न-भिन्न रूप के अलङ्कार सिद्ध होते हैं।

विमर्श—'सामान्य' का 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने यह स्वरूप बताया है—

'यत्र प्रस्तुतस्य वस्तुनोऽप्रस्तुतेन साधारणगुणयोगादैकात्म्यं भेदानध्यवसायादेकरूपत्वं निबध्यते तत्समानगुणयोगात् सामान्यम् ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१२)

अर्थात् 'सामान्य' का अभिप्राय समान गुणयोग के कारण प्रस्तुत और अप्रस्तुत के भेद का अग्रह अथवा अनध्यवसाय है।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत के भेदाग्रह में भी यह अलङ्कार 'अपह्नुति' रूप नहीं अपितु एक स्वतंत्र अलङ्कार हुआ करता है—

'न चेयमपह्नुतिः किंचिन्निबध्यं कस्यचिदप्रतिष्ठानात् ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१३)

अर्थात् जहां 'अपह्नुति' में एक के अपह्नुत से दूसरे का आरोप विवक्षित है वहां 'सामान्य' में अपह्नुत-पूर्वक आरोप का कोई अभिप्राय नहीं रहा करता अपितु सामान्यगुणयोग से उपमेय और उपमान का 'भेदाग्रह' अथवा 'ऐकरूप्य' ही अभिप्रेत रहा करता है।

यहाँ भी साधारण गुण का 'त्रित्व' अर्थात् अनुगामित्व, शुद्धसामान्यरूपत्व और विम्ब-प्रतिविम्बभाव आवश्यक है जैसा कि 'विमर्शिनी'कार ने कहा है—

'साधारणगुणानां च त्रिरूपत्वमत्रार्थं सिद्धम् । तेन साधारणगुणस्यानुगामितया यथा· 'मध्ये जानपदस्त्रैणमुखानाममलत्विषाम् । राहोरलक्ष्यतामेति यत्र पूर्णेन्दुमण्डलम् ॥

'अत्रामलकान्तित्वमनुगामितया सकृन्निर्दिष्टम्'''आदि ।'

पण्डितराज जगन्नाथ की यह 'सामान्य'-समीक्षा यहाँ ध्यान देने योग्य है—

'ननु भेदाग्रह एव मीलित-सामान्य-तद्गुण-साधारण एकोऽलङ्कारोऽस्तु, किमलङ्कार-त्रयेण । मीलिते तावत् प्रकृताप्रकृतधर्मिगुणानां भेदाग्रहः······। सामान्ये केषांचित् गुण-गुणिभेदाग्रहः, केषाञ्चित्क्वचिदयं क्वचिज्जातिमात्रभेदाग्रहश्च । तद्गुणेऽपि रक्तगुणे रञ्जकगुणभेदाग्रहः । न चावान्तरभेदसत्त्वाच्चैकालङ्कारत्वमुपपद्यत इति वाच्यम् । लुप्तोप-मादितः पूर्णोपमादेः पृथगलङ्कारतापत्तेः । तस्माद् भेदाग्रहस्य त्रयो मीलितादयोऽवान्तर-भेदा इति युक्तम्, न तु पृथगलङ्कार इति चेत्, उच्यते—एवं तर्ह्यभेदोऽप्येकोऽलङ्कारः । तदवान्तरभेदा रूपकपरिणामाद्यतिशयोक्तिप्रमुखा इत्यपि शक्यते वक्तुम् । विच्छित्ति-भेदस्तु प्रकृतेऽपि तुल्यः ।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६९५)

अनुवाद—'तद्गुण वह अलङ्कार है जिसमें कोई वस्तु अपने गुण का परित्याग करती और (अपने समीपस्थ) उत्कृष्ट गुणवाली वस्तु के गुण का ग्रहण करती निरूपित हुआ करती है। जैसे कि—(शिशुपालवध की यह सूक्ति)

'बलदेव जब बोले तब ऐसा लगा जैसे वे अपने मुखरूप कमल के चतुर्दिक् उड़ने-वाले भ्रमरों को अपनी उत्कट दन्त-कान्ति से शुक्लरूप बना रहे हों।'

मीलिते प्रकृतस्य वस्तुनो वस्त्वन्तरेणाच्छादनम्, इह तु वस्त्वन्तरगुणेनाक्रान्तता प्रतीयत इति भेदः।

(६३—अतद्गुणालङ्कार)

तद्रूपाननुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः ॥ ९० ॥

यथा

'हन्त ! सान्द्रेण रागेण भृतेऽपि हृदये मम।
गुणगौर ! निषण्णोऽपि कथं नाम न रज्यसि ॥'

यथा वा—

'गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः।
राजहंस ! तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥'

'मीलित' और 'तद्गुण' में परस्पर भेद है क्योंकि 'मीलित' में तो प्रकृत वस्तु का अन्य वस्तु से आच्छादन विवक्षित रहा करता है किन्तु 'तद्गुण' में ऐसा होता है कि एक वस्तु अन्य वस्तु के गुण से आक्रान्त प्रतीत हुआ करती है।

विमर्श—'तद्गुण' की व्युत्पत्ति है—'तस्योत्कृष्टगुणस्य गुणा अस्मिन्निति तद्गुणः' अर्थात् 'तद्गुण' को इसलिये 'तद्गुण' कहा जाता है क्योंकि इसमें उत्कृष्ट गुणवाली 'अप्रकृत' वस्तु का गुण 'प्रकृत' वस्तु में विद्यमान वर्णित हुआ करता है। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इसीलिये कहा है—

'यत्र परिमितस्य वस्तुनः समीपवर्तिप्रकृष्टवस्तुगुणस्य स्वीकरणं स तद्गुणः। तस्योत्कृष्टगुणस्य गुणा अस्मिन्निति कृत्वा। न चेदं मीलितम्। तत्र हि प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तरेणाच्छादितत्वेन प्रतीयते। इह त्वनपह्नुतस्वरूपमेव प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तरगुणोपरक्ततया प्रतीयत इत्यस्त्यनयोर्भेदः'। (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१३)

अर्थात् 'तद्गुण' में अनपह्नुतस्वरूप प्रकृत का अप्रकृत के गुण से उपराग अभिप्रेत है क्योंकि यहाँ अप्रकृत वस्तु से प्रकृत वस्तु के स्वरूप-तिरोधान की कोई विवक्षा नहीं हुआ करती।

निम्न 'तद्गुण'सूक्तियां बड़ी सुन्दर हैं—

'विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचं रुचा स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनालैः ॥'

'इन्दूदयश्चन्दनमिन्दुवक्त्रा चैत्रस्तवेत्यादि सहायसंपत्।
वपुश्च शृङ्गारमयं स मन्ये सन्तापकस्त्वं हरवह्नियोगात् ॥'

'अधरेण समागमाद्रदानामरुणिम्ना पिहितोऽपि शुद्धभावः।
हसितेन सितेन पक्ष्मलाक्ष्याः पुनरुल्लाससमवाप जातपक्षः ॥'

अनुवाद—'अतद्गुण' वह अलङ्कार है जिसमें, कारण होने पर भी, प्रकृत वस्तु, अप्रकृत वस्तु के गुण का अनुहार अथवा स्वीकार करती नहीं वर्णित होती। जैसे कि—

'अरे प्रियतम ! मेरे हृदय में, जो कि प्रगाढ राग (प्रेम या लाली) से भरा हुआ है, रहते हुए भी, तुम, कुछ ऐसे 'गुणगौर' अपने गुणों के कारण शुभ्र-रूप हो कि तुममें कोई राग (प्रेम या लाली) संभव नहीं।'

अथवा—

'राजहंस ! तुम शुभ्र वर्ण के गंगाजल और कज्जल वर्ण के यमुनाजल—दोनों में स्नान किया करते हो किन्तु तुम्हारी शुभ्रता न बढ़ती है और न घटती है अपितु जैसी की तैसी ही रहा करती है।'

पूर्वत्रातिरक्तहृदयसंपर्कात् प्राप्तवदपि गुणगौरशब्दवाच्यस्य नायकस्य रक्तत्वं न निष्पन्नम्, उत्तरत्राप्रस्तुतप्रशंसायां विद्यमानायामपि गङ्गायमुनापेक्षया प्रकृतस्य हंसस्य गङ्गायमुनयोः संपर्केऽपि न तद्रूपता। अत्र च गुणाग्रहणरूपविच्छित्तिविशेषाश्रयाद्विशेषोक्तेर्भेदः, वर्णान्तरोत्पत्त्यभावाच्च विषमात्।

(६४—सूक्ष्मालङ्कार)

संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थ आकारेणेङ्गितेन वा।
कयापि सूच्यते भङ्ग्या यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते ॥ ६१ ॥

यहाँ पहले उदाहरण (अर्थात् 'हन्त सान्द्रेण' आदि) में यह स्पष्ट है कि नायिका के प्रगाढ़ राग से भरे हृदय के सम्पर्क से, नायक के हृदय में 'अनुराग' की संभावना के होने पर भी, अनुराग का न होना निर्दिष्ट है क्योंकि 'गुणगौर' शब्द का यही अभिप्राय है कि नायिका के अनुरक्त हृदय में निवास करने पर भी नायक अनुराग-शून्य पड़ा है।

दूसरे उदाहरण (अर्थात् गाङ्गमम्बु आदि) में, जहाँ राजहंस के इस प्रकार के वर्णन में एक प्रकार की 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का भी अभिप्राय स्पष्ट है (क्योंकि अप्रस्तुत 'राजहंस' की प्रशंसा से, किसी प्रस्तुत धीरप्रकृति महापुरुष की प्रशंसा का ही भाव प्रकाशित हो रहा है) यह निश्चित है कि गङ्गा-यमुना की अपेक्षा राजहंस अधिक प्रकृतरूप का है और गङ्गाजल तथा यमुनाजल के साथ सम्पर्क में भी, उनके गुणों का ग्रहण न करते वर्णित हो रहा है जिसमें 'अतद्गुण' का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है।

'तद्गुण' को 'विशेषोक्ति'रूप नहीं माना जा सकता क्योंकि जहाँ 'तद्गुण' में गुण के अननुहार अथवा अग्रहण का एक विशेष चमत्कार रहा करता है वहाँ 'विशेषोक्ति' में इस प्रकार का कोई चमत्कार विवक्षित नहीं। (तात्पर्य यह है कि 'हन्त सान्द्रेण' आदि में कवि 'नायिका के प्रेम-पगे हृदय में रहते रहने' और 'तब भी अनुरक्त न होने' में कार्यकारणभाव की कोई कल्पना नहीं कर रहा अपितु 'लाल वस्तु के सम्पर्क में भी लाली न पकड़ने' की ही विचित्र कल्पना का आनन्द ले रहा है)।

'अतद्गुण' में 'विषम' का भी भ्रम नहीं हो सकता क्योंकि जहाँ 'विषम' में (प्रथम प्रकार के 'विषम' में) कार्य का गुण या क्रियारूप धर्म कारण के गुण या क्रियारूप धर्म से विरुद्ध रूप का वर्णित किया जाया करता है वहाँ 'अतद्गुण' में (कार्यकारण की गुण-क्रिया में परस्पर विरोध का कोई अर्थ अपेक्षित नहीं, अपि तु उपराग-हेतु के होने पर भी) उपराग अथवा अन्य वर्ण की उत्पत्ति का अभाव-वर्णन ही अभिप्रेत रहा करता है।

विमर्श—'अतद्गुण' तद्गुण का प्रतिपक्षरूप अलङ्कार है—'तस्य प्रकृतस्य गुणा अस्मिन् अप्रकृते न सन्तीति अतद्गुणः' अथवा, 'तस्य अप्रकृतस्य गुणा अस्मिन् प्रकृते न सन्तीति अतद्गुणः'। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने भी कहा है—

'तद्गुणप्रस्तावात्तद्विपर्ययरूपोऽतद्गुण उच्यते।''' तस्योत्कृष्टगुणस्यास्मिन् गुणा न सन्तीति। यद्वा तस्याप्रकृतस्य रूपाननुहारः सत्यनुहरणहेतौ सोऽतद्गुणः। तस्याप्रकृतस्य गुणा नास्मिन् सन्तीति कृत्वा।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१४)

निम्न सूक्ति में 'अतद्गुण' की बड़ी सुन्दर रचना हुई है—

'धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर तथापि त्वया मम रञ्जितं हृदयम्।
रागभरितेऽपि हृदये सुभग निहितो न रक्तोऽसि॥'

अनुवाद—'सूक्ष्म' वह अलङ्कार है जिसमें आकार अथवा चेष्टा से पहचान में आनेवाली

सूक्ष्मः स्थूलमतिभिरसंलक्ष्यः।

अत्राकारेण यथा—

'वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुङ्कुमं कापि कण्ठे।
पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख॥'

अत्र कयाचित्कुङ्कुमभेदेन संलक्षितं कस्याश्चित्पुरुषायितं पाणौ पुरुषचिह्न-खड्गलेखालिखनेन सूचितम्।

इङ्गितेन यथा—

'सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥'

अत्र विटस्य भ्रूविक्षेपादिना लक्षितः सङ्केतकालाभिप्रायो रजनीकाल-भाविना पद्मनिमीलनेन प्रकाशितः।

कोई सूक्ष्म (सूक्ष्म बुद्धि द्वारा संवेद्य) वस्तु किसी और युक्ति से प्रकाशित की जाया करती है।

यहाँ 'सूक्ष्मः' का अभिप्राय 'स्थूल बुद्धि द्वारा असंलक्ष्य होने' का अभिप्राय है।

जैसे कि आकार द्वारा संलक्ष्य सूक्ष्म वस्तु के, अन्य युक्ति से प्रकाशन में 'सूक्ष्म'—

'किसी सुन्दरी ने, अपनी किसी सखी के मुख से टपकी पसीने की बूंदों की रेखाओं से उसके गले के कुंकुम-लेप को दो भागों में बँटे देखकर, मुसकराहट के साथ, उसकी हथेली पर तलवार का एक रेखाचित्र खींच दिया जिससे उसका पुरुषत्व (उसका पुरुषायित रतिविलास) सूचित हो गया।'

यहां 'सूक्ष्म' इसलिये है क्योंकि यहां किसी सुन्दरी ने अपनी सखी के गले के कुंकुम-भेद से उसकी पुरुषायित रति की पहचान तो कर ली है किन्तु उसकी हथेली पर, पुरुष के चिह्नविशेष 'खड्ग' के चित्रण की युक्ति से, उसे (विपरीत रतिविलास को) सूचित भी कर दिया है।

इङ्गित अथवा चेष्टा द्वारा संलक्ष्य सूक्ष्म वस्तु के, अन्य युक्ति से प्रकाशन में 'सूक्ष्म'—

'जब कि उस चतुर सुन्दरी ने, अपने प्रेमी को प्रेममिलन के समय के जानने के लिये बड़ा उत्सुक देखा तब उसने अपनी हँसती आंखों से अपना अभिप्राय बताते, अपने हाथ के क्रीडा-कमल की पंखुडिओं को बन्द कर लिया।'

यहाँ जो सूक्ष्म अर्थ है वह प्रेममिलन का समय है जिसके जानने के लिये प्रेमी बड़ा उत्सुक है। यह सूक्ष्मरूप अर्थ प्रेमी द्वारा नायिका की 'आंखों की हँसी' से ज्ञात किया गया है (हँसी में आंखें बंद हो जाती हैं इसलिये प्रकाश की समाप्ति अर्थात् 'संध्या' को प्रेममिलन के समय-रूप में जान लिया गया है) किन्तु लीलाकमल के निमीलन की युक्ति से इस सन्ध्याकालरूप सूक्ष्म अर्थ को पुनः प्रकाशित किया जा रहा है।

विमर्श—'सूक्ष्म' की 'अलङ्कारसर्वस्व'कारकृत समीक्षा यह है—

'संलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशनं सूक्ष्मम्।

इह सूक्ष्मः स्थूलमतिभिरसंलक्ष्यो योऽर्थः, यदा कुशाग्रमतिभिरिङ्गिताकाराभ्यां संलक्ष्यते तदा तस्य संलक्षितस्य विदग्धं प्रति प्रकाशनं सूक्ष्ममलङ्कारः।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१७)

यहां यह स्पष्ट है कि 'सूक्ष्म'अलंकार का अभिप्राय, इंगित अथवा आकार द्वारा संलक्षित सूक्ष्म-अर्थ का प्रकाशन है।

(६५—व्याजोक्ति)

व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः ।

यथा—

'शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस-
द्रोमाञ्चादिविसंष्ठुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः ।
आः शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं
शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद्वः शिवः ॥'

नेयं प्रथमापह्नुतिः, अपह्नवकारिणो विषयस्यानभिधानात्। द्वितीयापह्नुतेर्भेदश्च तत्प्रस्तावे दर्शितः ।

अनुवाद—'व्याजोक्ति' वह अलङ्कार है जिसमें किसी उद्भिन्न अथवा प्रकट हुई भी वस्तु के, किसी बहाने से छिपाने का अभिप्राय अन्तर्भूत रहा करता है । जैसे कि—

'वे शिव, जो हिमालय द्वारा कन्यादान के समय, पार्वती के करालिङ्गन से उत्पन्न आनन्द-रोमाञ्च से व्यग्र होने के कारण, समस्त विवाह-विधि में गड़बड़ी पैदा करने से व्याकुल हुआ करते हैं और अपने इस प्रेमातिरेक को छिपाने के लिये 'ओह ! हिमालय के हाथ कितने ठंढे हैं' कह-कहकर मुसकरा दिया करते हैं जिससे हिमालय के अन्तःपुर में विराजमान मातृमण्डल (ब्राह्मी आदि मातृवर्ग) भी हँसी से लोटपोट हो जाता है, आप सब का सदा कल्याण करते रहें ।'

यहां 'व्याजोक्ति' स्पष्ट है क्योंकि शिव के रोमाञ्चित होने से पार्वती के प्रति उनका जो अनुराग उद्भिन्न है उसे हिमालय के हाथों की शीतलता के व्याज से छिपाया जा रहा है ।

'व्याजोक्ति' और पहले प्रकार की 'अपह्नुति' (वह अपह्नुति, जिसमें उपमेय का निषेध करके, उसके स्थान पर, अन्य की स्थापना की जाया करती है) परस्पर भिन्न-भिन्न अलङ्कार हैं क्योंकि 'व्याजोक्ति' में छिपाने वाला व्यक्ति, 'विषय' का (उपमेय का) निर्देश नहीं किया करता (यह तो पहली अपह्नुति में होता है कि 'विषय' का निर्देश किया जाता है और उसके अपह्नव के साथ, अन्य की स्थापना हुआ करती है)।

'व्याजोक्ति' और 'द्वितीय प्रकार की अपह्नुति' का भेद, पहले ही, अपह्नुति के प्रसङ्ग में, बताया जा चुका है (जिससे यहां इसका पुनर्निर्देश अपेक्षित नहीं)।

विमर्श—'व्याजोक्ति' की 'अलंकारसर्वस्वकार'कृत परिभाषा यह है—

'उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिः

यत्र निगूढं वस्तु कुतश्चिन्निमित्तादुद्भिन्नं प्रकटतां प्राप्तं सद् वस्त्वन्तरप्रक्षेपेण निगूह्यते अपलप्यते सा वस्त्वन्तरप्रक्षेपरूपस्य व्याजस्य वचनाद् व्याजोक्तिः ।'

(अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ २१८)

इसमें यह स्पष्ट है कि व्याजोक्ति में 'उद्भिन्न' और 'निगूहित' (जैसे कि शिव के रतिभाव और शैत्यरूप) वस्तुओं में उपमानोपमेयभाव का कोई अभिप्राय अपेक्षित नहीं। यहां जो 'व्याज' है उसका तात्पर्य 'वस्त्वन्तरप्रक्षेप' है जैसे कि 'शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमान' आदि सूक्ति में रतिभाव के निगूहन के लिये 'शैत्य'रूप वस्तु का प्रक्षेप ।

(६६—स्वभावोक्ति)

स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम् ॥ ९२ ॥

दुरूहयोः कविमात्रवेद्ययोः अर्थस्य डिम्भादेः स्वयोस्तदेकाश्रययोश्चेष्टास्वरूपयोः ।

यथा मम—

'लाङ्गूलेनाभिहत्य क्षितितलमसकृद्दारयन्नग्रपद्भ्या-
मात्मन्येवावलीय द्रुतमथ गगनं प्रोत्पतन् विक्रमेण ।
स्फूर्जद्धूङ्कारघोषः प्रतिदिशमखिलान् द्रावयन्नेष जन्तून्
कोपाविष्टः प्रविष्टः प्रतिवनमरुणोच्छूनचक्षुस्तरक्षुः ॥'

'काव्यप्रकाश'कार ने भी 'व्याजोक्ति' में साम्य अथवा सादृश्य का अन्तर्भाव अपेक्षित नहीं माना है—'न चैषाऽपह्नुतिः प्रकृताप्रकृतोभयनिष्ठस्य साम्यस्येहासंभवात् ।'

(काव्यप्रकाश : १० म उल्लास)

उद्योतकार ने भी इसी अभिप्राय से कहा है—

'तत्र (अपह्नुतौ) उपमेयनिषेधपूर्वकमुपमानव्यवस्थापनम् । अत्र तु किञ्चिदनिषिध्यैव निमित्तान्तरप्रयुक्तत्वज्ञापनमित्यपि बोध्यम् ।

अनुवाद—'स्वभावोक्ति' वह अलङ्कार है जिसे दुरूह अर्थात् सूक्ष्म अथवा कल्पनाशील कविजन द्वारा संवेद्य, पदार्थों के स्वरूप किंवा उनकी क्रियाओं का वर्णन कहा करते हैं ।

यहाँ (कारिका के पद) 'दुरूहार्थ-स्वक्रियारूपवर्णनम्' में 'दुरूहयोः' का अभिप्राय है—केवल कविजन द्वारा वेद्य का, 'अर्थस्य' का अभिप्राय है—बालक प्रभृति विविध वस्तुजात का और 'स्वक्रियारूपयोः' का अभिप्राय है—'स्वयोः' अर्थात् अपने-अपने प्रातिस्विक, 'क्रियारूपयोः' अर्थात् चेष्टा किंवा स्वरूप का ।

इसके उदाहरण के लिये यह स्वरचित सूक्ति देखिये—

'बार बार अपनी पूँछ से धरती पर चोट करते और अगले पंजों से उसे बार-बार नोचते-खसोटते, अपने शरीर को एक क्षण में सिकोड़ते और सहसा जोर से ऊपर की ओर उछलते, भयङ्कर 'घूँ घूँ' शब्द करते और जानवरों को चारों ओर भगाते, क्रोध में चूर, लाल-लाल फूली हुई आँखों वाला यह बघेरा जंगल में घुसा जा रहा है ।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि बघेरे के स्वरूप का जो चित्रण है वह 'स्वभावोक्ति' के सौन्दर्य से पूर्ण है ।

विमर्श—(क) 'स्वभावोक्ति' प्राचीन आलङ्कारिक-मर्यादा का एक अलङ्कार है । आचार्य रुद्रट ने इसका यह लक्षण किया है—

'संस्थानावस्थान-क्रियादि यद्यस्य यादृशं भवति ।
लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जातिः ॥
शिशुमुग्धयुवतिकातर-तिर्यक्संभ्रान्तहीनपात्राणाम् ।
सा कालावस्थोचित-चेष्टासु विशेषतो रम्या ॥'

(काव्यालंकार : ७. ३०-३१)

इसमें यह स्पष्ट है कि 'स्वभावोक्ति' को 'जाति' भी कहा जाता है ! 'जाति' का अभिप्राय सरस्वतीकण्ठाभरणकार के अनुसार यह है—

'नानावस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुनः। स्वेभ्यः स्वेभ्यो निसर्गेभ्यस्तानि जातिं प्रचक्षते।।

अर्थव्यक्तेरियं भेदमियता प्रतिपद्यते। जायमानं प्रियं वक्ति रूपं सा सार्वकालिकम्॥
स्वरूपमाश्रयो हेतुरिति तद्भेदहेतवः। ते संस्थानादयस्तेषु सा विशेषेण शोभते॥
तत्र स्वरूपं संस्थानमवस्थानं तथैव च। वेषो व्यापार इत्याद्यैः प्रभेदैर्बहुधा स्थितम्॥
मुग्धाङ्गनार्भकस्तिर्यङ् नीचपात्राणि चाश्रयः। देशः कालश्च शक्तिश्च साधनानि च हेतवः॥
(सरस्वतीकण्ठाभरण : ३.४-८)

अर्थात् 'जाति' का अभिप्राय 'वस्तु-स्वभाव' है। 'वस्तु-स्वभाव' का वह उन्मीलन अथवा उट्टङ्कन, जिसमें कवि-प्रतिभा का हाथ रहा करता है जाति-अलंकार है (कविप्रतिभामात्रप्रकाशनीयरूपोट्टङ्कनं जातिरिति लक्षणम्-रत्नदर्पणव्याख्या-सरस्वतीकण्ठाभरण, पृष्ठ ३१२)। 'वस्तु-स्वभाव' में 'वस्तु स्वरूप, वस्तु-संस्थान, वस्तु-अवस्थान, वेष, व्यापार आदि-आदि सभी अन्तर्भूत हैं। कवि की प्रतिभा-दृष्टि में ही वह सामर्थ्य है जिससे वह वस्तु-स्वभाव के उल्लेख में सफल हुआ करता है जैसे कि कहा भी गया है—

'रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः। क्षणं विशेषस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः॥
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते। येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः॥'

'जाति अथवा 'स्वभावोक्ति' का अलङ्कार की श्रेणी में इसीलिए स्थान है क्योंकि इसमें वस्तु-स्वभाव का जो वर्णन हुआ करता है वह कविप्रतिभा-प्रसूत होने से चमत्कारपूर्ण लगा करता है। चमत्कार-शून्य वस्तु-वर्णन 'स्वभावोक्ति' नहीं अपितु 'वार्ता' अथवा बात-चीत है।

(ख) विश्वनाथ कविराज ने अलङ्कारसर्वस्व की 'स्वभावोक्ति'-मीमांसा का अनुसरण किया है। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार की स्वभावोक्ति-मीमांसा यह है—

'सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः—

इह वस्तुस्वभाववर्णनमात्रं नालङ्कारः। तत्त्वे सति सर्वं काव्यमलङ्कारि स्यात्। न हि तत्काव्यमस्ति यत्र न वस्तुस्वभाववर्णनम्। तदर्थं सूक्ष्मग्रहणम्। सूक्ष्मः कवित्वमात्रस्य गम्यः। अत एव तन्निर्मित एव यो वस्तुस्वभावस्तस्य यथावदन्यूनानतिरिक्तत्वेन वर्णनं स्वभावोक्तिरलङ्कारः।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २२३)

अर्थात् 'स्वभावोक्ति' (स्वभाव + उक्ति) का तात्पर्य सूक्ष्म अर्थात् कविप्रतिभामात्र से संवेद्य वस्तु-स्वभाव की तदनुरूप उक्ति अथवा वर्णन का तात्पर्य है। केवल वस्तु-स्वभाव-वर्णन 'स्वभावोक्ति' अलंकार नहीं अपितु कविप्रतिभामात्रवेद्य वस्तु स्वभाव का यथावद् वर्णन 'स्वभावोक्ति' है।

वस्तु के सूक्ष्म-सुभग स्वभाव-वर्णन को 'अलङ्कार' इसलिए माना जाया करता है क्योंकि इसमें सहृदय-हृदय एक चमत्कार का अनुभव किया करता है। लोक-जीवन की वस्तुओं के सूक्ष्म धर्मों के चित्रण में सहृदय पाठक का जो 'हृदयसंवाद' हुआ करता है वही 'स्वभावोक्ति' की अलंकार-कल्पना का मूलकारण है। 'स्वभावोक्ति'में किस प्रकार का 'हृदयसंवाद' संभव है—इसका निरूपण आचार्य जयरथ के शब्दों में इस प्रकार है—

'ईदृगिदं वस्तु इत्यत्र हृदयसंवादः। स च यथा—
यत्र स्तनन्धयान् हस्ते रत्नदीपाञ्जिघृक्षतः।
दृष्ट्वा हा हेति संभ्रान्ता धात्री चेटैर्विहस्यते॥
अत्र धात्रीणामीदृगयं स्वभाव इति वस्तुनिर्दिष्टो हृदयसंवादः।
यथा वा—

'यदास्वाद्यं सीता वितरति तदग्रे स्वगृहिणे
सुमित्रापुत्राय प्रणिहितविशेषं तदनु च।
यदामं यत्क्षामं यदनतिरसं यच्च विरसं
फलं वा मूलं वा रचयति तु तेन स्वमशनम्॥

(६७—भाविक)

अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः ।
यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम् ॥ ९३ ॥

यथा—

'मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः ।
येनैकचुलुके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ ॥'

यथा वा—

'आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने ।
भाविभूषणसम्भारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम् ॥'

अत्रेदृगेव गृहिणीनां स्वभाव इति संवादः ।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २२६-२२७) अर्थात् 'स्वभावोक्ति' में 'हृदयसंवाद' का अभिप्राय 'वस्तुसंवाद' का अभिप्राय है। 'रसादि' में जो 'हृदयसंवाद' है उसका तात्पर्य 'परकीय चित्तवृत्ति की आत्मीय चित्तवृत्ति से अभेद-भावना' है—

'परकीयायाश्चित्तवृत्तेरात्मीयचित्तवृत्त्यभेदेन परामर्शो हृदयसंवादः । तस्य च स्वपर-विभागाभावाद् देशकालाभावाच्च व्यापकत्वेन प्रतीतेः साधारण्यम् । अत एव परमाद्वैत-ज्ञानतुल्यत्वम् । तस्य ह्ययमित्यत्रेव परामर्शः । तद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्याऽसंभवात् ।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २२६)

'स्वभावोक्ति' के वैचित्र्य से प्रभावित सहृदय-हृदय यही अनुभव किया करता है कि कवि ने जिस वस्तु का वर्णन किया है वह वस्तु वस्तुतः वैसी है। 'हृदयसंवाद' ही वस्तुगत और चित्त-वृत्तिगत—द्विविध होने से स्वभाव-वर्णन किंवा रस वर्णन-दोनों में व्याप्त रहा करता है।

निम्नलिखित सूक्ति 'स्वभावोक्ति' का एक सुन्दर निदर्शन है जिसमें 'वस्तुसंवाद' के साथ-साथ 'हृदयसंवाद' भी स्वतःसिद्ध दिखाई देता है।

'किञ्चित् कुञ्चितचञ्चुचुम्बनसुखस्फारीभवल्लोचना
स्वप्ने मोदितचारुचाटुकरणैश्चेतोऽर्पयन्ती मुहुः ।
कूजन्ती विततैकपक्षतिपुटेनालिङ्ग्य लीलालसं
धन्यं कान्तमुपान्तवर्तिनमियं पारावतं सेवते ॥'

अनुवाद—'भाविक' वह अलङ्कार है जिसे किसी भूत अथवा भावी अद्भुत पदार्थ का ऐसा चित्रण कहा जाया करता है जिससे वह प्रत्यक्षवत् प्रतीत होने लगता है।

इसका उदाहरण यह है—

'उन योगिराज कुम्भजन्मा महामुनि अगस्त्य की जय हो जिन्होंने (समुद्र का आचमन करते समय) अपने एक चुल्लू में, उन दिव्य मत्स्य (मत्स्यावतार विष्णु) और कच्छप (कच्छपावतार विष्णु)—दोनों को देख लिया था।'

अथवा यह—'अब भी मुझे तुम्हारी वे आँखें दिखाई दे रही हैं जिनमें कभी तुम अञ्जन लगाया करती थी और तुम्हारी वह रूपरेखा भी मेरी आँखों के आगे खड़ी है जिसे तुम आभूषणों से सुशोभित करोगी।'

यहाँ 'मुनिर्जयति' आदि में 'भाविक' का वैचित्र्य इसलिए स्पष्ट है क्योंकि इस सूक्ति के अनुशीलन-मात्र से सहृदय काव्य-पाठक की भावना-दृष्टि के आगे लोकोत्तर-चरित

न चायं प्रसादाख्यो गुणः, भूतभाविनोः प्रत्यक्षायमाणत्वे तस्याहेतुत्वात् । न चाद्भुतो रसः, विस्मयं प्रत्यस्य हेतुत्वात् । न चातिशयोक्तिरलङ्कारः, अध्यवसायाभावात् । न च भ्रान्तिमान्, भूतभाविनोर्भूतभावितयैव प्रकाशनात् ।

न च स्वभावोक्तिः, तस्य लौकिकवस्तुगतसूक्ष्मधर्मस्वभावस्यैव यथावद्वर्णनं स्वरूपम्; अस्य तु वस्तुनः प्रत्यक्षायमाणस्वरूपो विच्छित्तिविशेषोऽस्तीति ।

यदि पुनर्वस्तुनः क्वचित्स्वभावोक्तावप्यस्या विच्छित्तेः सम्भवस्तदोभयोः सङ्करः ।

'अनातपत्रोऽप्ययमत्र लक्ष्यते सितातपत्रैरिव सर्वतो वृतः ।
अचामरोऽप्येष सदैव वीज्यते विलासबालव्यजनेन कोऽप्ययम् ॥'

अत्र प्रत्यक्षायमाणस्यैवं वर्णनान्नायमलङ्कारः, वर्णनावशेन प्रत्यक्षायमाणत्वस्यैव स्वरूपत्वात् ।

महर्षि अगस्त्य का अति प्राचीन रूप प्रत्यक्ष सा दिखाई देने लगता है । इसी प्रकार 'आसीदञ्जनमत्रेति' आदि में 'भाविक' का जो दर्शन होता है उसमें किसी रमणी को भूतकाल किंवा भविष्यत्काल से संबद्ध अलौकिक रमणीयता का स्पष्टतया साक्षात्कार होने लगता है ।

'भाविक' एक अलङ्कार है—वाच्यवैचित्र्य अथवा वर्णनवैचित्र्य है । इसे 'प्रसाद' गुण में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता क्योंकि 'प्रसाद' गुण से भूत और भावी वस्तु की प्रत्यक्षवत् प्रतीति का कोई संबन्ध नहीं माना जाया करता । 'भाविक' अलङ्कार 'अद्भुत रस' नहीं क्योंकि यह विस्मय का हेतु हो सकता है (और अद्भुत रस ऐसा हुआ करता है जिसे अभिव्यक्त विस्मयरूप कहा गया है) । इसे 'अतिशयोक्ति' रूप भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यहाँ (भूत अथवा भावी वस्तु में, प्रत्यक्ष वस्तु के) किसी प्रकार के 'अध्यवसाय' की कोई सम्भावना नहीं (जब कि 'अतिशयोक्ति' में अध्यवसाय अथवा तादात्म्य-प्रतीतिरूप अतिशय ही सब कुछ हुआ करता है) । 'भाविक' में 'भ्रान्तिमान्' की भी भ्रांति नहीं होनी चाहिये क्योंकि यहाँ भूत वस्तु भूत वस्तु के ही रूप में और भावी वस्तु भावी वस्तु के ही रूप में प्रकाशित हुआ करती है (यहाँ ऐसा कभी नहीं होता कि भावी वस्तु में भूतता अथवा भूत वस्तु में भाविता का प्रकाशन हो)।

'भाविक' वस्तुतः 'स्वभावोक्ति' से भी भिन्न रूप का अलङ्कार हुआ करता है क्योंकि जहाँ 'स्वभावोक्ति' में लौकिक वस्तु के सूक्ष्म धर्म का यथावद् वर्णन अभिप्रेत है वहाँ 'भाविक' में वस्तु के ऐसे वर्णन का वैचित्र्य रहा करता है जिससे वह प्रत्यक्षवत् प्रतीत हुआ करती है । यह दूसरी बात है कि जहाँ-तहाँ सूक्ष्म-सुभग वस्तु-स्वभाव-वर्णन (स्वभावोक्ति) में 'भाविक' (वस्तुस्वभाव की प्रत्यक्षायमाणता) का भी पुट दिया गया हो । किन्तु जहाँ कहीं भी ऐसी बात हो वहाँ 'स्वभावोक्ति' नहीं अपि तु 'स्वभावोक्ति' और 'भाविक' का 'सङ्कर' ही मानने योग्य है ।

'भाविक' के उपर्युक्त स्वरूप की दृष्टि से यदि निम्नलिखित सूक्ति अर्थात्—

'राजच्छत्र के बिना भी ये ऐसे लगते हैं जैसे चारों ओर से श्वेत राजच्छत्र से वेष्टित हों और बिना चँवर के भी ये ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे चतुर्दिक् से चँवरों द्वारा सुशोभित हों—भला ऐसा महापुरुष और कौन है ?'

को देखें, तो यह निःसंदिग्ध है कि यहाँ 'भाविक' की कोई संभावना नहीं हो सकती ।

यत्पुनरप्रत्यक्षायमाणस्यापि वर्णने प्रत्यक्षायमाणत्वं तत्रायमलङ्कारो भवितुं युक्तः, यथोदाहृते 'आसीदञ्जनम्'—इत्यादौ।

कारण यह है कि 'भाविक' वहाँ नहीं हुआ करता जहाँ किसी प्रत्यक्षवत् प्रतीत होने वाली वस्तु का वर्णन किया जाया करता है (जैसा कि यहाँ स्पष्ट है) अपितु वहाँ हुआ करता है जहाँ कवि के वर्णना-वैचित्र्य से भूत अथवा भावी वस्तु की प्रत्यक्षवत् प्रतीति हुआ करती है। कवि की वर्णना-वैचित्री से अप्रत्यक्ष वस्तु की प्रत्यक्षवत् प्रतीति में ही 'भाविक' की रूपरेखा रहा करती है जैसा कि 'आसीदञ्जनमत्रेति' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में स्पष्ट है।

विमर्श—(क) 'भाविक' प्राचीन आलङ्कारिक-मान्यता का एक अलङ्कार है। आचार्य भामह ने इसका स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

'भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्। प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः॥
चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायां स्वभिनीतता। शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते॥'

(भामह : काव्यालङ्कार ३. ५२-५३)

आचार्य भामह की यह मान्यता आचार्य उद्भट द्वारा भी प्रमाणित है—

'प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविनः। अत्यद्भुताः स्यात्तद्वाचामनाकुल्येन भाविकम्॥'

(अलङ्कारसारसंग्रह : ६.१२)

'भाविक' के सम्बन्ध में इन विचारधाराओं का विशदीकरण 'अलङ्कारसर्वस्व' कार ने इस प्रकार किया है—

'अतीतानागतयोः प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम्। अतीतानागतयोर्भूतभाविनोरर्थयोरलौकिकत्वेनात्यद्भुतत्वाद् व्यस्तसम्बन्धरहितशब्दसन्दर्भसमर्पितत्वाच्च प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम्। कविगतो भाव आशयः श्रोतरि प्रतिबिम्बत्वेनास्तीति, भावो भावना वा पुनः पुनश्चेतसि निवेशनं सोऽत्रास्तीति। न चेयं भ्रान्तिः, भूतभाविनोः भूतभावितयैव प्रकाशनात्। नाऽपि रामोऽभूदितिवद् वस्तुमात्रम्। भूतभाविगतस्य प्रत्यक्षत्वादिगतस्य धर्मस्य स्फुटस्याधिकस्य प्रतिलम्भात्। नापीयमतिशयोक्तिः, अन्यस्यान्यतयाऽध्यवसायाभावात्। न हि भूतभव्यभूतभावित्वेनाध्यवसीयते, अभूतभावि वा भूतभावित्वेनापि, प्रत्यक्षमप्रत्यक्षगतत्वेन, अप्रत्यक्षमपि प्रत्यक्षत्वेन।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २२३-२२४)

अर्थात् 'भाविक' की पृथक् अलङ्काररूप में मान्यता इसीलिये अनिवार्य है क्योंकि यही वह वाच्यवैचित्र्य है जिससे कवि-हृदयगत भाव अथवा अभिप्राय सहृदय-हृदय में प्रतिबिम्बित हुआ करता है। 'भाविक' को इसलिये भी 'भाविक' कहा जाया करता है क्योंकि इसी में वह सामर्थ्य है जिससे सहृदय-हृदय वर्ण्य वस्तु की 'भावना' करने में समर्थ हुआ करता है। कवि के हृद्गत अभिप्राय के सहृदय-हृदय में प्रतिबिम्बित होने अथवा कविवर्णित वस्तु की सहृदय-हृदय द्वारा 'भावना' किये जाने का जो कारण है वह एक ऐसा वर्णना-वैचित्र्य है जिससे अतीत और अनागत अथवा भूत और भावी वस्तु का ऐसा अनुभव हुआ करता है जो भावनाप्रत्यक्षरूप अनुभव है और एक अलौकिक अनुभव है। सहृदय-हृदय में इस अलौकिक अनुभव की उत्पत्ति तभी हो सकती है जब कि कवि की शब्दार्थ-योजना में प्रसाद हो और कविवर्णित वस्तु में विस्मयजनकता की शक्ति हो। भूत अथवा भावी वस्तु की 'भावना' भ्रान्ति नहीं अपि तु एक अलौकिक साक्षात्कार है जो कवि और सहृदय के हृदय की एक विशेषता है। 'भूत अथवा भावी वस्तु में ऐसी कोई विशेषता नहीं जिसमें वह प्रत्यक्षवत् प्रतीत होने लगे।' यह तो कवि-प्रतिमा है जो अपनी शब्दमूर्ति में भूत और भावी वस्तुओं का प्रत्यक्ष कराया करती है और सहृदय-हृदय में चमत्कार उत्पन्न

किया करती है। भाविक' एक सर्वोत्तीर्ण अलङ्कार है, ऐसा अलङ्कार है जिसका स्वरूप अन्य अलङ्कारों में नहीं देखा जा सकता।

यह 'भावना' क्या है जो 'भाविक' की कल्पना का आधार है-इसके सम्बन्ध में 'अलङ्कारसर्वस्व' कारने यह विचार किया है—

'केवलवस्तुप्रत्यक्षत्वे प्रतिपत्तुः सामग्री उपयुज्यते। सा च लोकयात्रायां चक्षुरादीन्द्रियस्वभावा, योगिनामतीन्द्रियार्थदर्शने भावना वस्तुगत्याऽत्यद्भुतत्वप्रयुक्ता। अत्यद्भुतानां च वस्तूनामादरप्रत्ययेन हृदि सन्धार्यमाणत्वात्'। (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २२५)
अर्थात् 'भाविक' के रूप में कवि का जो वस्तु-वर्णन-वैचित्र्य हैं वह वस्तुतः कवि की 'भावना' शक्ति के ही कारण है। कवि की 'भावना' की भाँति सहृदय की भी 'भावना' होती है। कवि और सहृदय की 'भावना' एक अलौकिक, अतीन्द्रिय, योगजप्रत्यक्षवत् प्रत्यक्ष ज्ञान है जिसमें भूत और भावी वस्तु, अपने-अपने काल से अवच्छिन्न रूप में ही, प्रत्यक्षवत् प्रतीत हुआ करती है। 'भावना' वस्तुमात्र की नहीं हो सकती अपितु उसी वस्तु की हुआ करती है जिसके प्रति कवि के हृदय में विस्मयावेश उत्पन्न हुआ करता है। विस्मय से आविष्ट कवि-हृदय में जो वस्तु प्रवेश करती है उसमें एक अलौकिक चमत्कार रहा करता है। सहृदय-हृदय जब ऐसी वस्तु की 'भावना' करता है तब उसे भी वह वस्तु चमत्कारजनक लगा करती है और वह उसमें एकतान हो कर रमने लगता है।

कवि किसी वस्तु की 'भावना' को ऐसे शब्दों में ही प्रकाशित करने पर 'भाविक अलङ्कार'-की रचना कर सकता है। जो कि 'अनाकुल' हों अथवा प्रसाद गुण से पूर्ण हों। 'अलङ्कारसर्वस्व'-विमर्शिनीकार ने इसीलिये कहा है—

'यद्यपि वाचामाकुलत्वं सर्वत्रैव वर्जनीयम्, तथापि तत्तत्र वैषम्येणार्थाविशेषात् प्रतीतेर्विघ्नमात्रफलम्। इह तु तदाकुलत्वेनातीतानागतयोः प्रत्यक्षायमाणत्वमेव न स्यात् इति प्राधान्येनैतदुक्तम्। एवमनेन हेतुद्वयेन (अलौकिकत्वेन, वाचामनाकुलत्वेन च) अस्यालङ्कारत्वमुक्तम्। इह हि केचिदर्थाः कविवचसि सुस्पष्टमधिरूढा वाच्यवाचकयो रामणीयकमित्युक्तम्। अत एवैकस्यापि रामणीयकहानौ नास्यालङ्कारत्वम्। इह हि केचिदर्थाः कविवचसि सुस्पष्टमधिरूढा अपि निजसौभाग्याभावात्तृणशर्करावत् सहृदयानामवज्ञास्पदतया नावधानार्हाः। केचिच्च सुभगा अपि दुर्भगशब्दोपारोहितया सहृदयानामनावर्जका एवेत्युभयमपीहावश्यमाश्रयणीयम्।' (अलङ्कारसर्वस्व-विमर्शिनी, पृष्ठ २२४)

अर्थात् वैसे तो प्रसादपूर्णता सर्वत्र अपेक्षित है किन्तु 'भाविक' में इसे अत्यन्त आवश्यक माना गया है। कारण यह है कि प्रसाद के अभाव में भूत और भावी वस्तु का ऐसा वर्णन जिसमें वह प्रत्यक्षवत् प्रतीत हो उठे, असंभव है। वस्तुतः वाणी की अनाकुलता और वर्ण्य वस्तु की विस्मयजनकता ही 'भाविक' की कल्पना का कारण है। जिसे शब्द और अर्थ की रमणीयता कहा करते हैं उसका अभिप्राय कवि-वर्णित वस्तुओं का कवि-प्रयुक्त शब्दों में स्पष्टतया झलक उठना है। बहुत सी ऐसी भी वस्तुयें हैं जो कवि की शब्दार्थ-योजना में स्पष्ट झलका करती हैं किन्तु उनमें, अपना कोई सौन्दर्य न होने से, सहृदय-हृदय के आवर्जन की शक्ति नहीं रहा करती और इस लिये वे सहृदय काव्य-पाठक द्वारा उसी भाँति हेय समझी जाया करती हैं जिस भाँति तिनके में सटी मिश्री। ऐसी वस्तुओं के वर्णन में 'भाविक' की संभावना नहीं हुआ करता। 'भाविक' की संभावना वहाँ भी नहीं है जहाँ वर्ण्य वस्तु तो सुभग-सुकुमार हो किन्तु रचना सौभाग्य-हीन हो। इसीलिये, 'भाविक' के लिये दोनों की अपेक्षा है—सूक्ष्म-सुभग वस्तु-स्वभाव की और अनाकुल अथवा प्रसादपूर्ण शब्दार्थ-योजना की भी।

(९८—उदात्तालङ्कार)

लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते ।
यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत् ॥

क्रमेणोदाहरणम्—

(लोकोत्तर वैभव-वर्णनरूप 'उदात्त')

'अधःकृताम्भोधरमण्डलानां यस्यां शशाङ्कोपलकुट्टिमानाम् ।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने 'अनातपत्रोऽपि' आदि में 'भाविक' की रूपरेखा की जो असंभावना निर्दिष्ट की है उसे 'अलङ्कारसर्वस्व' (पृष्ठ २२९-२३०) की इस उक्ति के पर्यालोचन से स्पष्टतया समझा जा सकता है—

'अयं त्वत्र विचारलेशः संभवति—इह क्वचिद् वर्णनीयस्य वर्णनावशादेव प्रत्यक्षायमाणत्वम्, क्वचित् प्रत्यक्षायमाणस्यैव वर्णनम् । आद्यो यथोदाहृतं प्राक् (मुनिर्जयतीत्यत्र) । द्वितीयो यथा—'अनातपत्रोऽप्ययमत्र···' इति । अत्र प्रथमप्रकारविषयोऽयमलङ्कारो न प्रकारान्तरगोचरः । कविसमर्पितानां धर्माणां ह्यलङ्कारत्वात् । न हिमांशुलावण्यादीनामिव वस्तुसन्निवेशिनाम् । अपि च 'शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतून्प्रचक्षते' इति भामहीये, 'वाचामनाकुलत्वेनापि भाविक' मिति चोद्भटलक्षणे व्यस्तसंबन्धरहितशब्दसंदर्भसमर्पितत्वं प्रत्यक्षायमाणत्वप्रतिपादकं कथं प्रयोजकीभवेत्, यदि वस्तुसन्निवेशधर्मिगतत्वेनापि भाविकं स्यात् । तस्माद् वास्तवमेव महत्त्वमुत्तरत्र प्रकारविषये वर्णितमिति नायमलङ्कारः । यदि तु वास्तवमेवात्र सौन्दर्यं कविनिबद्धं कविनिबद्धवक्तृनिबद्धं वा सकलवक्तृगोचरीभूतं स्वभावोक्तिवदलङ्कारतया वर्ण्यते यदायमपि प्रकारो नातीव दुःश्लिष्टः । अत एव 'प्रत्यक्षा इव यत्रार्थाः क्रियन्ते भूतभाविनः । तद्भाविकम्' इति एवमन्यैर्भाविकलक्षणमकारि ।'

अर्थात् वैसे तो यह निर्विवाद है कि कवि की वर्णनाशक्ति से, देशतः अथवा कालतः सुदूर वस्तु के भावनाप्रत्यक्ष में ही, 'भाविक' की रूपरेखा निहित रहा करती है किन्तु प्रत्यक्षवत् प्रतीत होने वाली वस्तु के वर्णन को भी 'भाविक' मानना असंगत नहीं । वस्तु में संनिविष्ट धर्म का नाम 'अलङ्कार' नहीं अपितु उस 'धर्म' का नाम अलङ्कार है जो वस्तु में कविप्रतिभा द्वारा समर्पित किया जाय—इस दृष्टि से देखते तो यह निश्चित है कि 'अनातपत्रोऽप्ययमत्र' आदि में 'भाविक' की मान्यता अनुचित है क्योंकि यहाँ कविसमर्पित वस्तु-धर्म का उल्लेख नहीं अपितु केवल वस्तुगत धर्म का उल्लेख है । किन्तु यहीं यदि यह माना जाय कि कवि ने वस्तुसंनिविष्ट धर्म का ऐसा स्वाभाविक वर्णन किया है जिससे वह सहृदयमात्र के लिये प्रत्यक्षकल्प प्रतीत हो उठी है तो इस सूक्ति में भी 'भाविक' की मान्यता किसी प्रकार संभव ही है ।

'अलङ्कारसर्वस्व' की इस समीक्षा के देखते 'साहित्यदर्पण' के एक आध टीकाकारों का यह कहना कि विश्वनाथ कविराज ने 'अलङ्कारसर्वस्व' का यहाँ खण्डन किया है, सर्वथा उचित नहीं प्रतीत होता ।

अनुवाद—'उदात्त' वह अलङ्कार है जिसे लोकोत्तर वैभव का वर्णन कहा गया है । साथ ही साथ उदात्त अथवा महनीयचरित पुरुषों का वह वर्णन भी 'उदात्त' अलङ्कार ही कहा जाया करता है जो कि प्रस्तुत वर्ण्य वस्तु के अङ्ग अथवा उपकारकरूप से प्रतीत हुआ करता है ।

क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'यही वह नगरी है जिसमें मेघ-मण्डल से भी ऊँची-ऊँची अटारिओं पर चन्द्रकान्त

ज्योत्स्नानिपातात्क्षरतां पयोभिः केलीवनं वृद्धिमुरीकरोति ॥'

(अङ्गभूत उदात्तचरित का वर्णनरूप 'उदात्त')

'नाभिप्रभिन्नाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान् पुरुषोऽधिशेते ॥'

मणि की बनी फर्शें चाँदनी के स्पर्श से जलधारा बहाया करती हैं जिससे क्रीडावन सदा लहलहाते रहा करते हैं।'

[यहाँ यह स्पष्ट है कि कवि ने वर्ण्य नगरी की ऐसी संपत्ति का वर्णन किया है जिसे लोक में देखना असंभव है। यही उदात्त-वर्णन यहाँ का अलङ्कार है जिसे 'उदात्त' अलङ्कार कहा करते हैं।]

'सीते! यही वह समुद्र है जिसमें नाभिकमलयोनि (भगवान् विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल से जन्म लेनेवाले) आदि ब्रह्मा द्वारा पूजनीय परमपुरुष (भगवान् विष्णु) जगत् के प्रलय के बाद, योगनिद्रा में निलीन हुये, शयन किया करते हैं।'

(रघुवंश १३·६)

[यहाँ महाकवि कालिदास ने भगवान् विष्णु का जो वर्णन किया है जो कि एक महनीय किंवा उदात्त चरित-वर्णन है वह समुद्र-वर्णन के अङ्गरूप से रहने के कारण, 'उदात्त' अलङ्कार का एक सुन्दर निदर्शन बन गया है।

विमर्श—(क) 'उदात्त' शब्द का ही अर्थ समृद्धिमत् वस्तु है और साथ ही साथ महनीय चरित भी 'उदात्त' ही कहा जाया करता है। जिस वस्तु का वर्णन ऐसा हुआ करता है जिससे उसकी अलौकिक विभूतिओं का अभिव्यञ्जन हो, उसमें 'उदात्त' अलङ्कार की मान्यता स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार किसी महनीय पुरुष का ऐसा वर्णन जिससे किसी प्रस्तुत वस्तु की महनीयता प्रतीत हुआ करे, 'उदात्त' अलङ्कार की ही रूपरेखा है। 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने इसीलिये कहा है—

'स्वभावोक्तौ भाविके च यथावद्वस्तुवर्णनम्। तद्विपक्षत्वेनारोपितवस्तुवर्णनात्मन उदात्तस्यावसरः। तत्रासंभाव्यमानविभूतियुक्तस्य वस्तुनो वर्णनं कविप्रतिभोत्थापितमैश्वर्यलक्षणमुदात्तम्।…'

'महापुरुषाणमुदात्तचरितानामङ्गिभूतवस्त्वन्तराङ्गभावेनोपनिबध्यमानं चरितं चोदात्तम्। महापुरुषचरितस्योदात्तत्वात्।'…(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २३०)

अर्थात् जैसे यथावस्थित वस्तु के एक प्रकार के वर्णन में 'स्वभावोक्ति' और दूसरे प्रकार के वर्णन में 'भाविक' अलङ्कार का अनुसंधान किया जाया करता है वैसे ही कविकल्पित वस्तु के वर्णन में 'उदात्त' की कल्पना स्वाभाविक ही है। अलौकिक समृद्धि से सम्पन्न वस्तु का वर्णन कविप्रतिभोत्थापित ऐश्वर्य का वर्णन है और यही 'उदात्त' अलङ्कार है। उदात्त महापुरुष के वर्णन से यदि किसी अन्य वर्ण्य वस्तु की उदात्तता प्रकाशित हो तो वहाँ भी 'उदात्त' अलङ्कार का ही चमत्कार रहा करता है।

(ख) 'अलङ्कारसर्वस्व-विमर्शिनी'कार ने अङ्गभूत महापुरुष-वर्णन में 'उदात्त' का स्वरूप और भी अधिक स्पष्ट किया है—

'अङ्गिभूतस्य वस्तुनो महापुरुषचरितमुत्कर्षप्रतिपिपादयिषयाऽङ्गतयोपनिबध्यमानमेतदलङ्काराङ्गम्, न तूपलक्षणपरतयोपात्तमिति तात्पर्यार्थः। तच्च यथोदाहृतम् ('तदिदमरण्यं यस्मिन् दशरथवचनानुपालनव्यसनी। निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः' इत्यत्र)

(६९—रसवत् , ७०-प्रेय, ७१-ऊर्जस्वि, ७२-समाहित)

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदाऽलङ्कृतयस्तदा ॥ ९५ ॥
रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितमिति क्रमात्।

तदाभासौ रसाभासो भावाभासश्च। तत्र रसयोगाद्रसवदलङ्कारो यथा—'अयं स रसनोत्कर्षी–' इत्यादि।

'कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।
यत्तश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥'

अत्राङ्गिनो गिरिविशेषस्य वसतियोग्यत्वादिदर्शनार्थमुत्कर्षप्रतिपिपादयिषया रामसीतादिचरितमुपलक्षणपरं तत्र नायमलङ्कारः।

यथा—

'गोदावर्याः करिकुलमदक्षोदद्धोदकायाः पारे पारे वत वत परामृश्यतामृष्यमूकः।
कङ्कालाद्रौ पिहितगगने दुन्दुभेर्यत्र रामः पादाङ्गुष्ठं निजमपि भवद्दैवतं निर्ममेऽस्तम् ॥'

अत्र पवनं प्रति वियोगिन्या उक्तौ रामचरितमुपलक्षणमात्रपरम्। न ह्यङ्गभूतेनाङ्गिनः कश्चिद् विशेषो विवक्षितः।

'अत्रासीत् फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः।
दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापित-
स्तस्याप्यत्र मृगाक्षि ! राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ॥'

इत्यत्र तु रामस्य सीतां प्रत्युक्तावुपलक्षणीभूतदेशविशेषं पाशबन्धनाद्येव साक्षाद्विवक्षितमिति न महापुरुषचरितस्य वस्त्वन्तरं प्रत्यङ्गभाव इति नायमलङ्कारः'।

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २३१)

अर्थात् 'अङ्गभूतमहापुरुषवर्णन' रूप उदात्त इसीलिये उदात्त का एक प्रकार माना गया है क्योंकि इसके द्वारा अङ्गिरूप वर्ण्य वस्तु के उत्कर्ष का प्रकाशन किया जाया करता है। इस दृष्टि से जहाँ कहीं ऐसा महापुरुष का वर्णन हो, जो कि वर्ण्य वस्तु का उत्कर्ष-प्रकाशक न हो कर, केवल उपलक्षणमात्र अथवा संसूचक सा लगा करे वहाँ 'उदात्त' की कोई सम्भावना नहीं होनी चाहिये। 'कश्चित् कान्ता' आदि सूक्तिओं में महापुरुष-वर्णन अवश्य है किन्तु इसका उद्देश्य वर्ण्य वस्तु का वैभव-प्रकाशन नहीं अपि तु वर्ण्यवस्तु का उपलक्षण होना है। इसलिये इन सूक्तिओं में 'उदात्त' का अनुसंधान असंगत है।

जिसे 'उदात्त' अलङ्कार की शोभासम्पत्ति का दर्शन करना हो उसके लिये महाकवि परिमल गुप्त के 'नवसाहसाङ्कचरित' और महाकवि रत्नाकर के 'हरविजय' की सूक्तियाँ देखने योग्य हैं।

अनुवाद—'रसवत्', प्रेय', 'ऊर्जस्वि' और 'समाहित' वे अलङ्कार हैं जिन्हें क्रमशः 'रस', भाव', रसाभास-भावाभास' तथा 'भावप्रशम' को अङ्गरूप से अवस्थान में देखा जाया करता है।

यहाँ कारिका में 'तदाभासौ' का अभिप्राय 'रसाभास' और 'भावाभास'–दोनों का है।

इन चारों अलङ्कारों में, 'रसवत्', जिसमें अङ्गरूप से अवस्थित रस रहा करता है, इस सूक्ति में स्पष्ट है—

'अयं स रशनोत्कर्षी (पीनस्तनविमर्दनः। नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥)'

अत्र श्रृङ्गारः करुणस्याङ्गम्। एवमन्यत्रापि। प्रकृष्टप्रियत्वात्प्रेयः।
यथा मम—

'आमीलितालसविवर्तिततारकाक्षी
मत्कण्ठबन्धनदरश्लथबाहुवल्लीम्।
प्रस्वेदवारिकणिकाचितगण्डबिम्बां
संस्मृत्य तामनिशमेति न शान्तिमन्तः॥'

अत्र संभोगश्रृङ्गारः स्मरणाख्यभावस्याङ्गम्। स च विप्रलम्भस्य। ऊर्जो बलम्, अनौचित्यप्रवृत्तौ तदत्रास्तीत्यूर्जस्वि।
यथा—

'वनेऽखिलकलासक्ताः परिहृत्य निजस्त्रियः।
त्वद्वैरिवनितावृन्दे पुलिन्दाः कुर्वते रतिम्॥'

अत्र श्रृङ्गाराभासो राजविषयकरतिभावस्याङ्गम्। एवं भावाभासोऽपि।
समाहितं परिहारः।

यहाँ 'रसवत्' इसलिये है क्योंकि यहाँ 'श्रृङ्गार' रस 'करुणरस' के अङ्गरूप से उपनिबद्ध है (अङ्गरूप से इसलिये क्योंकि यहाँ कवि 'करुण' की अभिव्यञ्जना में दत्त-चित्त है और उसी की उत्कट उद्दीप्ति के लिये 'श्रृङ्गार' का आधान कर रहा है)।

इसी प्रकार अन्य रसों की अङ्गता में भी 'रसवत्' अलङ्कार यत्र-तत्र स्वयं देखा जा सकता है।

'प्रेय', जिसे काव्याचार्यों का अत्यधिक आवर्जक अथवा सहृदय का अत्यधिक मनो-रञ्जक अलङ्कार कहा करते हैं, निम्न स्वरचित सूक्ति में दिखायी दे रहा है—

'अधखुली, अलसायी किं वा कनीनिका की चञ्चलता से भरी आँखों वाली, मेरे द्वारा आलिङ्गित होने पर प्रत्यालिङ्गन में शिथिल भुजलता वाली, कपोलों पर पसीने की बूंदें झलकाती, उस सुन्दरी की जब याद आती है तो मेरा हृदय, रह-रह कर, उद्विग्न हो उठता है।'

यहाँ 'प्रेय' अलङ्कार इसलिये है क्योंकि यहां जो 'सम्भोगश्रृङ्गार' उपनिबद्ध है वह 'स्मृति' रूप भाव का अधिकाधिक परिपोषक होने से अङ्गरूप से ही उपनिबद्ध है। और यह 'स्मृति' रूप व्यभिचारिभाव, अन्ततोगत्वा, यहां के अङ्गी रस 'विप्रलम्भश्रृङ्गार' के उत्कट रूप से उद्दीपक होने के कारण, अङ्गरूप से ही उपनिबद्ध पड़ा है।

'उर्जस्वी', जिसका अभिप्राय वह 'अलङ्कार' है जिसमें अनौचित्य प्रवृत्त रस और भाव (रसाभास और भावाभास) रूप 'ऊर्ज' अथवा 'बल' विद्यमान रहा करता है, इस सूक्ति में दर्शनीय है—

'राजन्! जंगलों के भील, अपनी-अपनी कलावती स्त्रियों को छोड़ कर, अब आपकी शत्रु-रमणिओं के प्रेम में पागल हो रहे हैं।'

यहां 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार इसलिये है क्योंकि यहां राजविषयक 'रति' भाव के अङ्गरूप में अवस्थित 'श्रृङ्गाराभास' का 'ऊर्ज' अथवा बल स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। इसी प्रकार राजादिविषयक रतिभाव के अङ्गरूप से उपनिबद्ध 'भावाभास' रूप 'ऊर्ज' के कारण जो 'ऊर्जस्वी' अलङ्कार हुआ करता है उसका उदाहरण स्वयं देखा जा सकता है।

यथा—

'अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः।
ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणेक्षणात् ॥'

अत्र मदाख्यभावस्य प्रशमो राजविषयरतिभावस्याङ्गम्।

'समाहित', जिसे किसी भाव के परिहार या प्रगमन (भावशान्ति अथवा भाव की प्रशाम्यदवस्था) के अङ्गरूप से उपनिबन्ध में देखा जाया करता है, इस सूक्ति में स्पष्ट है-

'राजन्! आपके शत्रुओं का वह मद जो कि पहले, उनकी तलवारों के चमकाने और भौंहों के तरेरने और तर्जन-गर्जन में दिखाई पड़ता रहा, अब, आपके सामने आने पर, पता नहीं, क्षणभर में कहां गायब हो गया।'

यहाँ 'समाहित' अलङ्कार इसलिये है क्योंकि राजविषयक रतिभाव के अङ्गरूप से उपनिबद्ध 'मद' की प्रशाम्यदवस्था (भावशान्ति) का सौन्दर्य स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

विमर्श—(क) रसवदादि अलङ्कार-चतुष्टय का निरूपण साहित्यदर्पणकार ने इसीलिये किया है जिसमें 'काव्यप्रकाशकार' से उनकी नवीनता झलक उठे। काव्यप्रकाशकार ने तो 'रसवत्' आदि को अलङ्कार ही नहीं माना है क्योंकि उनकी दृष्टि में रसध्वनिवादी आनन्दवर्धनाचार्य की यह मान्यता सर्वथा शिरोधार्य है कि रस, भाव आदि 'अलङ्कार्य' है 'अलङ्कार' नहीं। रस, भाव आदि की अङ्गरूप से योजना 'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य' का विषय है न कि 'अलङ्कार' अथवा वाच्य वाचक-वैचित्र्य का। काव्यप्रकाशकार के अनुसार 'रसवत्', 'प्रेय', 'ऊर्जस्वि' और 'समाहित' 'अपराङ्गव्यङ्ग्य-गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य' के रूप हैं। साहित्यदर्पणकार भी रसध्वनिवादी आचार्य हैं और 'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य' के अपराङ्गव्यङ्ग्य' रूप प्रभेद में 'रसवत्' आदि को अन्तर्भूत सा भी दिखा चुके हैं जैसा कि इन पंक्तिओं से स्पष्ट है—

'इतरस्य रसादेरङ्गं रसादिव्यङ्ग्यम्।

यथा—

'अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः। नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥'

अत्र शृङ्गारः करुणस्याङ्गम्......'

किन्तु अलङ्कारनिरूपण के प्रसङ्ग में पुनः 'रसवत्' आदि का अलङ्काररूप में प्रदर्शन करना कुछ विचित्र सा लगता है। वस्तुतः साहित्यदर्पणकार ने यहाँ 'अलङ्कारसर्वस्व' और 'विमर्शिनी' की विचारधाराओं का अनुसरण किया है।

(ख) 'अलङ्कारसर्वस्व' की विचारधारा यह है—

'रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धनेन रसवत्-प्रेय-ऊर्जस्वि,समाहितानि।'

'चित्तवृत्तिविशेषस्वभावत्वाच्च रसादीनामिह तद्वदलङ्काराणां प्रस्तावः। अत एव चत्वारोऽलङ्कारा युगपल्लक्षिताः। तत्र विभावानुभावव्यभिचारिभिः प्रकाशितो रत्यादिश्चित्तवृत्तिविशेषो रसः। भावो विभावानुभावाभ्यां सूचितो निर्वेदादिस्त्रयस्त्रिंशद्भेदः। देवादिविषयश्च रत्यादिर्भावः। तदाभासो रसाभासो भावाभासश्च। आभासत्वमविषयप्रवृत्त्यानौचित्यम्। तत्प्रशम उक्तप्रकाराणां निवर्तमानत्वेन प्रशाम्यदवस्था। तत्रापि रसस्य परविश्रान्तिरूपत्वात् सा न संभवति इति परिशिष्टभेदविषयो द्रष्टव्यः। एषामुपनिबन्धक्रमेण रसवदादयोऽलङ्काराः। रसो विद्यते यत्र निबन्धेने व्यापारात्मनि तद्रसवत्। प्रियतरं प्रेयो निबन्धनमेव द्रष्टव्यम्। एवमूर्जं बलं विद्यते यत्र, तदपि निबन्धनमेव। अनौचित्यप्रवृत्तत्वादत्र बलयोगः। समाहितं परिहारः। स च प्रकृतत्वादुक्तभेदविषयः प्रशमापरपर्यायः'

(अलङ्कारसर्वस्व : पृष्ठ २३२-२३३)

अर्थात् विभावादि द्वारा अभिव्यक्त रत्यादिरूप चित्तवृत्तिविशेष तो 'रस' है और जिसे 'रसवत्' अलङ्कार कहा करते हैं वह कवि की एक विचित्र वर्णना है जिसमें 'रस' रहा करता है। इसी प्रकार 'प्रेय' 'ऊर्जस्वि' और 'समाहित' भी इसीलिये अलङ्कार हैं क्योंकि ये भी कवि के ऐसे वर्णना-वैचित्र्य-रूप हैं जिनमें 'भाव' 'रसाभास-भावाभास' तथा 'भावप्रशम' रहा करते हैं।

यहाँ सबसे बड़ा प्रश्न यह उठता है, जैसा कि 'विमर्शिनी'कार की इस उक्ति में स्पष्ट है—

'ननु च परविश्रान्तिरूपस्य काव्यात्मनोऽलङ्कार्यस्य रसस्य कथमलङ्कारत्वं सङ्गच्छते।'

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी पृष्ठ २३३)

कि जब कि 'रस' एकघन आत्मविश्रान्तिरूप और काव्य के आत्मतत्त्वरूप होने के कारण 'अलङ्कार्य' है तब इसे 'अलङ्कार' क्योंकर कहा जा सकता है? इसका उत्तर 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने यह दिया है—

'तत्र यस्मिन् दर्शने वाक्यार्थीभूता रसादयो रसवदाद्यलङ्काराः, तत्राङ्गभूतरसादिविषये द्वितीय (महापुरुषचरितैश्वर्यवर्णनरूपः) उदात्तालङ्कारः। यन्मते त्वङ्गभूते रसादिविषये रसवदाद्यलङ्काराः अन्यस्य रसादिध्वनिना व्याप्तत्वात्तत्रोदात्तालंकारस्य विषयो नावशिष्यते तद्विषयस्य रसवदादिना व्याप्तत्वात्।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २३३)

अर्थात् 'ध्वन्यभाववाद' और 'ध्वनिवाद' दोनों की दृष्टि से 'रसवत्' अलङ्कार की मान्यता सिद्ध है। 'ध्वन्यभाववाद' में तो 'रसवत्' अलङ्कार वाक्यार्थीभूत अथवा अङ्गीरूप से अवस्थित 'रस' का ही नाम है क्योंकि अङ्गरूप से उपनिबद्ध रस 'उदात्त' अलङ्कार के क्षेत्र का विषय बन जाता है। 'ध्वनिवाद' की दृष्टि में भी 'रस' के अतिरिक्त 'रसवत्' अलङ्कार की मान्यता आवश्यक है क्योंकि यदि अङ्गिरूप से अवस्थित रस काव्यात्मतत्त्व है, तब अङ्गरूप से उपनिबद्ध रस को 'रसवत्' अलङ्कार के रूप में माना ही जा सकता है।

'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी'कार ने उपर्युक्त 'रसवत्' विमर्श पर यह परामर्श किया है—

'अङ्गभूतस्य रसादेश्चालङ्कारत्वं युक्तम्। तथा च यावतोपमादीनां सर्वालङ्काराणां प्रकृतवस्तूपरञ्जकत्वमलङ्कारत्वे निबन्धनम्, अङ्गभूतेनापि रसेन तत् क्रियत एव, प्रकृतस्य रसादेस्तदुपस्कृतत्वेन भावात्। अतश्चोपमादीनामलङ्कारत्वे यादृश्येव वार्ता तादृश्येव रसादीनाम्, यद्यपि चोपमादयोऽर्थालङ्कारास्तथापि तस्य वाच्यार्थस्य विभावादिरूप-तात्पर्यपर्यवसनाद्रसपर्यवसायित्वमेवेति काव्यात्मनो व्यङ्ग्यस्य रसादेरेव तदलङ्कार्यत्वम्। किं पुनस्तस्य शब्दमुखेनोपस्कारकाः शब्दालङ्काराः, अर्थमुखेन त्वर्थालङ्काराः। तत्तदवयवगतैरपि हि कटकादिभिश्चेतन आत्मैव तत्तच्चित्तवृत्तिविशेषौचित्यसूचनात्मना तथालङ्क्रियते। तथा ह्यचेतनं शवशरीरादिकं कटकाद्यलङ्कृतमपि न भाति, अलङ्कार्यस्याभावात्। अतश्च देहद्वारेण सर्वत्रात्मैवालङ्कार्यः। एवमस्यापि शब्दार्थशरीरत्वात्तन्मुखेनैवालङ्कार्यत्वम्। तेन 'रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्। अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥' इति दृशा रसाद्याश्रयेणैवालङ्काराणां विनिवेशनं जीवितम्। अतश्चेहापि प्रकृतस्य वाक्यार्थीभूतत्वेन प्रधानस्य रसादेरुपस्कार्यस्याङ्गभावेन रसादेरलङ्कारत्वं युक्तम्। यदाहुः—

'प्रधानतां यत्र रसादयो गता रसो रसादिध्वनिगोचरो भवेत्।
भवन्ति ते यत्र रसादिपोषका रसाद्यलङ्कारदशा हि सा पृथक्॥'

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २३३)

अर्थात् अङ्गीरूप से विराजमान 'रस' को 'अलङ्कार्य' (काव्यात्मतत्त्व) और अङ्गतया अवस्थित 'रस' को 'अलङ्कार' मानना सर्वथा युक्तियुक्त है। जैसे प्रकृत वस्तु की उपरञ्जकता के कारण 'उपमा' आदि को 'अलंकार' कहना उचित ही है। उपमा आदि अलंकार अर्थ के अलंकार हैं किन्तु उनके द्वारा जो अर्थ अलंकृत किया जाया करता है वह अन्त में रसाभिव्यञ्जक विभावादिरूप में

ही परिणत हो जाया करता है जिससे यह मानना आवश्यक हो जाता है कि उपमादि के द्वारा काव्यात्मभूत रसरूप 'अलंकार्य' ही अन्ततः अलंकृत किया जाया करता है। शरीर के कटक, कुण्डल आदि अलङ्कारों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है कि वैसे तो भले ही उनके द्वारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग अलङ्कृत प्रतीत हों किन्तु अन्ततोगत्वा 'व्यक्तित्व' ही अलङ्कृत हुआ करता है। अलङ्कार का रसापेक्ष होना ही उसका 'अलङ्कारत्व' अथवा वास्तविक स्वरूप है। इस दृष्टि से वाक्यार्थीभूत रस को 'अलङ्कार्य' और उसके उपरञ्जक अथवा उपस्कारक (शोभाधायक) रस को 'अलङ्कार' मानना युक्तिसंगत ही है। तात्पर्य यह है कि प्रधान रस सदा 'अलङ्कार्य' है और रस की 'अलङ्कार'-दशा वह है जिसमें एक रस प्रधानतया अभिव्यङ्ग्य दूसरे रस के परिपोषण के लिये पड़ा रहता है।

(ग) व्यभिचारी भावों की 'अङ्गता' में उनका 'प्रेय' अलङ्कार होना स्वाभाविक है। व्यभिचारी भावों की तीन श्रेणियाँ हैं—१ली वह, जिसमें 'निर्वेद' आदि व्यभिचारी भाव रसाभिव्यञ्जन के साधनरूप से ही उपनिबद्ध दिखायी दिया करते हैं, २री वह, जिसमें यदा-कदा 'निर्वेद' आदि व्यभिचारी भाव स्वयं अभिव्यङ्ग्यरूप से प्रतीत हुआ करते हैं और ३री वह, जिसमें 'निर्वेद' आदि व्यभिचारी भाव वर्ण्य विषय के अङ्गरूप से अवस्थित होने के कारण, 'अलङ्कार' (प्रेयोलङ्कार) के रूप में देखे जा सकते हैं। इस श्रेणीविभाग की व्यवस्था से ही 'प्रेयोलङ्कार' की मान्यता निर्विवाद सिद्ध है और इस प्रकार की सम्भावनायें—

> 'निर्वेदादीनां सर्वदैवाङ्गभावात् प्रेयोऽलङ्कारस्तद्व्यपेक्षो न वाच्यः।
> तस्मादेतेषां व्यङ्ग्यतायां ध्वनित्वं न प्राधान्यं क्वापि यस्माद् भजन्ते ॥
> एतेन भावप्रशमादयोऽपि व्यङ्ग्याः सदैव ध्वनितां प्रयान्ति।
> ध्वनित्वमिष्टं यदि तर्हि तेषु न लक्षणीयस्तु समाहितादिः ॥'

निर्मूल हैं जैसा कि 'विमर्शिनी'कार का कथन है।

(घ) 'अयं स रशनोत्कर्षी' आदि सूक्तिओं में ध्वन्यभाववाद के अनुसार वाक्यार्थीभूत 'करुण' रस 'रसवत्' अलङ्कार और अङ्गभूत 'शृङ्गार' रस 'उदात्त' अलङ्कार कहा जायगा किन्तु ध्वनिवाद की दृष्टि में यहाँ का करुण 'रसध्वनि' रूप और शृङ्गार 'रसवत्' अलङ्काररूप दिखायी देगा। दोनों मतों में 'रसवत्' आदि अलङ्कार-चतुष्टय संगत हैं असंगत नहीं।

(ङ) विश्वनाथ कविराज की दृष्टि सम्भवतः आचार्य कुन्तक की 'रसवत्'-मीमांसा पर नहीं पड़ी। आचार्य कुन्तक ने 'रसवत्' की ऐसी मीमांसा की है जिसके देखते 'रसवत्' की रूपरेखा कुछ और ही रूप की दिखाई देती है उनका कहना यह है—

'रसवत्' नाम का अलङ्कार एक कोरी कल्पना है। कारण यह है कि यहाँ 'अलङ्कार्य' और 'अलङ्कार' का विश्लेषण असंभव है। यह तो कहा नहीं जा सकता कि 'रस' ही 'अलङ्कार्य' है और वही 'अलङ्कार' है क्योंकि प्रतिपाद्य और प्रतिपादनवैचित्र्य में भेद का होना अनिवार्य है। 'रस तो सदा प्रतिपाद्य है और जिसे 'अलङ्कार' कहते हैं वह प्रतिपादन-वैचित्र्य के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? जब हम यह कहते हैं कि 'यह काव्य 'रसवत्' अलङ्कारयुक्त काव्य है' तब यह कहाँ पता चल पाता है कि उस काव्य में 'रस' के अतिरिक्त 'रसवत्' भी कोई अतिरिक्त तत्त्व है? जैसे कि यदि शृङ्गारादि रस 'अलङ्कार्य' है तब उसके 'अलङ्कार'रूप से कुछ दूसरी वस्तु ही देखी जानी चाहिये। यदि 'शृङ्गारादि'रस ही आनन्दचमत्कारात्मक होने के नाते 'अलङ्कार' कहा जाय, तब इस अलंकार द्वारा अलंकृत होने वाली किसी दूसरी वस्तु को ही 'अलङ्कार्य' मानना पड़ेगा?

> 'अलङ्कारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात्।
> स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि ॥'

(७३—भावोदय, ७४-भावसन्धि, ७५-भावशबलता)

भावस्य चोदये संधौ मिश्रत्वे च तदाख्यकाः ॥ ९६ ॥

तदाख्यका भावोदयभावसंधिभावशबलनामानोऽलङ्काराः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(भावोदय)

'मधुपानप्रवृत्तास्ते सुहृद्भिः सह वैरिणः ।
श्रुत्वा कुतोऽपि त्वन्नाम लेभिरे विषमां दशाम् ॥'

अत्र त्रासोदयो राजविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

तब 'रसवत्' का क्या अभिप्राय ? इसका अभिप्राय यह है—

'रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्त्वविधानतः ।
योऽलङ्कारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मितेः ॥'

'योऽलङ्कारः स रसवत्' इत्यन्वयः । यः किल एवंस्वरूपो रूपकादिः रसवदभिधीयते ; किं स्वभावेन—'रसेन वर्तते तुल्यम्' । रसेन शृङ्गारादिना तुल्यं वर्तते, यथा ब्राह्मणवत् क्षत्रियस्तथैव । स रसवदलङ्कारः । कस्मात्—'रसवत्त्वविधानतः' । रसोऽस्यास्तीति रसवत् काव्यं तस्य भावस्तत्त्वम् ततः, सरसत्वसंपादनात् । 'तद्विदाह्लादनिर्मितेश्च' । तत् काव्यं विदन्तीति तद्विदः, तज्ज्ञास्तेषामाह्लादनिर्मितेरानन्दनिष्पादनात् । यथा रसः काव्यस्य रसवत्तां तद्विदाह्लादं च विदधाति एवमुपमादिरप्युभयं निष्पादयन् भिन्नो रसवदलङ्कारः संपद्यते । यथा—

'उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम् ॥'

अत्र स्वावसरसमुचितसुकुमारस्वरूपयोर्निशाशशिनोर्वर्णनायां ... रूपकालङ्कारः समारोपितकान्तवृत्तान्तः कविनोपनिबद्धः । स च श्लेषच्छायामनोज्ञविशेषणवक्रभावात्... काव्यस्य सरसतामुल्लासयंस्तद्विदाह्लादमादधानः स्वयमेव रसवदलङ्कारतां समासादितवान् ।' (वक्रोक्तिजीवित : ३य उन्मेष)

अर्थात् 'रसवत्' कोई अतिरिक्त अलङ्कार नहीं, अपितु काव्य में रसवत्ता के आधायक उपमा, रूपक आदि अलङ्कारों का ही एक रमणीय रूपविशेष है । जहाँ 'उपमा' काव्य में सरसता का संपादन करे वहाँ उपमा ही 'रसवत्' होगी, जहाँ 'रूपक' आदि वहाँ रूपक आदि 'रसवत्' होंगे ।

अनुवाद—'भावोदय', 'भावसन्धि' और 'भावशबलता' वे अलङ्कार हैं जिन्हें क्रमशः भाव की उदयावस्था सन्ध्यवस्था और मिश्रणावस्था के उपनिवन्ध में देखा जा सकता है ।

यहां कारिका में 'तदाख्यकाः' का अभिप्राय भाव के उदय में 'भावोदय', सन्धि में 'भावसन्धि' और मिश्रण अथवा शबलता में 'भावशबलता' नामक अलंकारों का अभिप्राय है ।

इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'राजन् ! मित्रगण के साथ मदिरापान में लगे आपके शत्रुगण, कहीं से आप का नाम सुनते ही, बड़ी बुरी दशा में पड़ गये ।'

यहां 'त्रास' के भाव की उदयावस्था का चित्रण है । यह 'त्रासोदय' वस्तुतः यहां (कविनिष्ठ) राजविषयक रतिभाव के अङ्ग अथवा उपस्कारकरूप से उपनिबद्ध है (और इसीलिये इसे 'भावोदय' अलंकार के रूप में देखा जाया करता है) ।

(भावसन्धि)

'जन्मान्तरीणरमणस्याङ्गसङ्गसमुत्सुका ।
सलज्जा चान्तिके सख्याः पातु नः पार्वती सदा ॥'

अत्रौत्सुक्यलज्जयोश्च संधिर्देवताविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

(भावशबलता)

'पश्येत्कश्चिच्चल चपल ! रे ! का त्वराहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर हहहा ! व्युत्क्रमः क्वासि यासि ।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ ! भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः
कन्या कञ्चित्फलकिसलयान्याददानाभिधत्ते ॥'

अत्र शङ्कासूयाधृतिस्मृतिश्रमदैन्यविबोधौत्सुक्यानां शबलता राजविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

इह केचिदाहुः-'वाच्यवाचकरूपालङ्करणमुखेन रसाद्युपकारका एवालङ्काराः, रसादयस्तु वाच्यवाचकाभ्यामुपकार्या एवेति न तेषामलङ्कारता भवितुं युक्ता' इति ।

'भगवती पार्वती हमारा कल्याण करें जो कि अपने जन्मान्तर के पति (भगवान् शङ्कर) के अङ्ग-स्पर्श के आनन्द के लिये उत्कण्ठित रहा करती हैं और अपने सखीवृन्द के समीप होने से लज्जित भी हुआ करती हैं ।'

यहाँ 'औत्सुक्य' और 'लज्जा' के (व्यभिचारी) भावों की जो सन्ध्यवस्था चित्रित है वह (कविनिष्ठ) पार्वतीविषयक रतिभाव के अङ्गरूप से ही चित्रित है (जिसमें 'भावसन्धि' अलङ्कार का सौन्दर्य स्पष्ट दिखाई दे रहा है) ।

'राजन् ! जंगल में भगे आप के किसी शत्रु राजा की राजकुमारी फल-फूल तोड़ती, इस प्रकार किसी से बातचीत करती सुनाई पड़ा करती है—अरे । कोई देख लेगा, तू बड़ा चचल है, जा परे हट; इतनी जल्दी क्या है ? मैं तो अभी कुमारी ही हूँ; अरे ! जरा हाथ का सहारा दे, ओह ! क्या कर रहा है ? किधर चल पड़ा ?'

यहाँ शङ्का, असूया, धृति, स्मृति, श्रम, दैन्य, विबोध और औत्सुक्य—इन भावों की शबलता (परस्पर उपमर्द्य-उपमर्दकरूप से अवस्थिति) स्पष्ट है और यह भी स्पष्ट है कि यह भावशबलता-चित्रण यहाँ (कविनिष्ठ) राजविषयक रतिभाव के अङ्ग होने से 'अलङ्कार' ('भावशबलता' नामक अलङ्कार) के रूप में दिखाई दे रहा है ।

'रसवत्' आदि की अलङ्कार रूप में कल्पना के (औचित्य और अनौचित्य के) संबन्ध में कतिपय काव्याचार्यों का यह कथन है—

'जिन्हें 'अलङ्कार' कहा करते हैं वे इसीलिये 'अलङ्कार' हुआ करते हैं क्योंकि उनके द्वारा वाच्य और वाचक (अर्थ और शब्द) में शोभा का आधान किया जाया करता है जिससे रस के उल्लास में सहायता मिला करती है । इस दृष्टि से देखते यह कैसे कहा जाय कि 'रस' आदि ही, जो कि वस्तुतः वाच्य और वाचक में आहित वैचित्र्य से अलंकृत किये जाया करते हैं ('अलङ्कार्य' हुआ करते हैं), 'रसवत्' आदि अलङ्कार-रूप में माने जा सकते हैं ?'

अन्ये तु—'रसाद्युपकारमात्रेणेहालङ्कृतिव्यपदेशो भाक्तश्चिरन्तनप्रसिद्ध्याङ्गीकार्य एव' इति।

अपरे च—'रसाद्युपकारमात्रेणालङ्कारत्वं मुख्यतो रूपकादौ तु वाच्याद्युपधानम्, अजागलस्तनन्यायेन' इति।

अभियुक्तास्तु—'स्वव्यञ्जकवाच्यवाचकाद्युपकृतैरङ्गभूतैः रसादिभिरङ्गिनो रसादेर्वाच्यवाचकोपस्कारद्वारेणोपकुर्वद्भिरलङ्कृतिव्यपदेशो लभ्यते। समासोक्तौ तु नायिकादिव्यवहारमात्रस्यैवालङ्कृतिता, न त्वास्वादस्य, तस्योक्तरीतिविरहात्' इति मन्यन्ते।

अत एव ध्वनिकारेणोक्तम्—

अन्य काव्यमर्मज्ञों का यह मत है—

'रस आदि को 'रसवत्' आदि अलङ्कार इसलिये माना जा सकता है क्योंकि प्राचीन आलङ्कारिकों की यही परम्परा रही है और साथ ही साथ ऐसा भी है कि (जब कि 'रूपक' आदि रस के उपकारक होने से अलङ्कार कहे जाया करते है तब) अङ्गभूत 'रस' आदि भी, यदि, अङ्गीरूप से अवस्थित रस आदि के उपकारक हों तो उपचारतः 'अलङ्कार' ही कहे जाने योग्य हैं।'

कुछ लोगों की विचारधारा यह है—

'वस्तुतः तो 'रसवत' आदि ही मुख्यतया 'अलङ्कार' माने जाने योग्य हैं क्योंकि रस का उपकार मुख्यतः इन्हीं के द्वारा संभव है। इनके अतिरिक्त 'रूपक' आदि को जो अलङ्कार कहा जाया करता है वह इसलिये क्योंकि ये साक्षात् तो वाच्य (अर्थ) आदि के सौन्दर्याधायक हुआ करते हैं और परम्परया (उपचारतः) 'अजागलस्तनन्याय' से (बकरी के गले में लटकता मांस 'स्तन' न होने पर भी जैसे 'स्तन' के आकार का होने से 'स्तन' कहा जाया करता है वैसे ही उपकारकरणरूप आकार-साम्य से) 'रस' के उपकारकारक अथवा उपस्कारक हुआ करते हैं।

किन्तु प्रामाणिक लोगों की धारणा यह है—

'अपने-अपने अभिव्यञ्जक वाच्य और वाचक (तथा वाच्य और वाचक के वैचित्र्य) द्वारा उपस्कृत अथवा उपकृत 'रस' 'भाव' आदि को 'रसवत्' आदि अलङ्कारों का रूप इसलिये दिया जा सकता है क्योंकि उनका कार्य अङ्गी अथवा प्रधान रूप से अवस्थित 'रस' 'भाव' आदि के अभिव्यञ्जक वाच्य-वाचक का उपस्कार अथवा उपकार ही हुआ करता है। जैसे 'समासोक्ति' में जो 'अलङ्कारता' है उसका अभिप्राय नायक-नायिकादिगत व्यवहार का समारोप मात्र है न कि इस समारोप से उत्पन्न 'आस्वाद', क्योंकि यह आस्वाद, यदि हो भी तो, वाच्य-वाचक का उपकारक न होने से, कदापि अलङ्काररूप नहीं हो सकता। (वैसे ही 'रसवत्' आदि में 'अलङ्कारता' का अभिप्राय अङ्गभूत रस द्वारा अङ्गी रस का उपस्कारमात्र है और 'अङ्ग'-रस के 'आस्वाद' का अभिप्राय (अङ्गीरस के)—क्योंकि 'रसवत्' में अङ्गभूत रस भी आस्वाद्य है—अङ्गी रस के आस्वाद का, उसके अभिव्यञ्जक वाच्यवाचक के उपस्कार द्वारा, अधिकाधिक उत्कर्षाधान-मात्र है)।'

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने इसीलिये कहा है—

'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥'

यदि च रसाद्युपकारमात्रेणालङ्कृतित्वं तदा वाचकादिष्वपि तथा प्रसज्येत। एवं च यच्च कैश्चिदुक्तम्—'रसादीनामङ्गित्वे रसवदाद्यलङ्कारः, अङ्गत्वे तु द्वितीयोदात्तालङ्कारः' इति तदपि परास्तम्।

'जहाँ कोई रस, वस्तु अथवा अलंकृतिरूप वाक्यार्थ प्रधानतया प्रतीत हो वहाँ यदि किसी 'रस' आदि की अङ्गरूप से अवस्थिति दिखायी पड़े तो इन अङ्गभूत 'रस' आदि को 'अलङ्कार' अथवा 'रसवत्' आदि अलङ्कार मानना उचित ही है।'

इस दृष्टि से देखते कतिपय काव्याचार्यों का यह कहना कि 'अलङ्कार' होने का अभिप्राय 'रसादि का उपकारमात्र' है वस्तुतः युक्तिसंगत नहीं क्योंकि तब तो 'वाच्य-वाचक' भी 'अलङ्कार' कहे जायेंगे क्योंकि इनका कार्य रसादि के उपकारमात्र के अतिरिक्त और क्या है? अन्ततोगत्वा अलङ्काराचार्यों का यह कथन भी कि 'जब रस आदि अङ्गीरूप से अवस्थित रहा करते हैं तब उन्हें 'रसवत्' आदि अलङ्कार कहा जाया करता है और जब कि वे अङ्गरूप से ही रह जाते हैं तब उन्हें 'उदात्त' का द्वितीय प्रकार माना जाया करता है' सर्वथा खण्डित ही सिद्ध होता है।

विमर्श—(क) 'रसवत्' आदि अलङ्कारचतुष्टय की भाँति 'भावोदय' आदि तीन अलङ्कारों की मान्यता प्राचीन अलङ्कारवादी परम्परा की मान्यता है। ध्वनिवादी आचार्य रुय्यक और जयरथ ने 'ध्वन्यभाववाद' और 'ध्वनिवाद'-दोनों की दृष्टि से इन अलङ्कारों को माना है और इनका लक्षण-निरूपण भी किया है। आचार्य रुय्यक ने इन अलङ्कारों को 'चित्तवृत्तिगत' कहा है और इनका यह स्वरूप निर्दिष्ट किया है—

'भावोदयो भावसंधिर्भावशबलता च पृथगलङ्काराः।

भावस्योक्तरूपस्योदय उद्गमावस्था, संधिर्द्वयोर्विरुद्धयोः स्पर्धित्वेनोपनिबन्धः, शबलता च बहूनां पूर्वपूर्वोपमर्देनोपनिबन्धः। एते च पृथग् रसवदादिभ्यो भिन्नालङ्काराः। एतत् प्रतिपादनं चोद्भटादिभिरेषां पृथगलङ्कारत्वेन निर्दिष्टत्वात्। अथ च संकरसंसृष्टिवैलक्षण्येनेते सर्वालङ्काराः पृथक्केवलत्वेनालङ्कारा इति सर्वालङ्कारशेषत्वेनोक्तम्।' अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २३९)

इसमें यह स्पष्ट है कि 'भावोदय' आदि की पृथक् अलङ्काररूप में मान्यता का कारण उनका अङ्गरूप में अवस्थान है।

(ख) विश्वनाथ कविराज ध्वनिवादी आलङ्कारिक हैं। उन्होंने इन अलङ्कारों के उदाहरण ध्वनिवाद की दृष्टि से दिये हैं न कि ध्वन्यभाववाद की दृष्टि से। वस्तुतः विश्वनाथ कविराज ने इनके 'अलङ्कार' मानने में वही विचारधारा अपनायी है जो कि आचार्य जयरथ की विचारधारा है—

'एवं निर्वेदादीनां रसव्यक्तौ सहकारित्वम्, अङ्गित्वे ध्वनित्वम्, अङ्गत्वे चालङ्कारत्वमिति विषयविभागः।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २३६)

किन्तु एक बात विचारणीय है—एक सूक्ति में अङ्गभूत और अङ्गीरूप दो रसों के होने पर, यह तो कहा जा सकता है कि अङ्गरूप से अवस्थित 'रस' अङ्गीरूप से अभिव्यङ्ग्य रस का 'अलङ्कार' अथवा उपस्कारक (शोभावर्धक) है क्योंकि अपने अभिव्यञ्जक-तत्त्वों से अभिव्यक्त अङ्गभूत रस का काम, अपने ही अभिव्यञ्जक तत्त्वों से अभिव्यङ्ग्य 'अङ्गी' अथवा प्रधान रस का परिपोषण हुआ करता है किन्तु इसका क्या अभिप्राय कि 'अङ्गरूप से अभिव्यङ्ग्य रस अङ्गीरस के अभिव्यञ्जक वाच्य-वाचकवर्ग का उपस्कारक हुआ करता है? क्या ऐसा निर्णय विश्वनाथ कविराज के लिये युक्तियुक्त है? भला, 'रस' चाहे वह अङ्गरूप से ही अभिव्यङ्ग्य क्यों न हो, वाच्यवाचकवर्ग

(उपर्युक्त अलङ्कारों का परस्पर-संमिश्रण : १ म प्रकार-संसृष्टि)

यद्येत एवालङ्काराः परस्परविमिश्रिताः ।
तदा पृथगलङ्कारौ संसृष्टिः सङ्करस्तथा ॥ ९७ ॥

यथा लौकिकालङ्काराणामपि परस्परमिश्रणे पृथक्चारुत्वेन पृथगलङ्कारत्वं तथोक्तरूपाणां काव्यालङ्काराणामपि परस्परमिश्रत्वे संसृष्टिसङ्कराख्यौ पृथगलङ्कारौ ।

तत्र—

'मिथोऽनपेक्षमेतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते ।

एतेषां शब्दार्थालङ्काराणाम् ।

यथा—

'देवः पायादपायान्नः स्मेरेन्दीवरलोचनः ।
संसारध्वान्तविध्वंसहंसः कंसनिषूदनः ॥'

अत्र पायादपायादिति यमकम् , संसारेत्यादौ चानुप्रास इति शब्दालङ्कारयोः

का सौन्दर्याधायक माना जा सकता है ? यदि अङ्गभूत 'रस' को अङ्गी रस के वाच्यवाचकवर्ग का उपस्कारक अथवा सौन्दर्याधायक मान लिया गया तब तो प्राचीन अलङ्कारवाद की रसविषयक मान्यतायें ही स्वीकार कर ली गयीं ! 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के सिद्धान्त के अनुसार, यह कैसे संभव है कि 'रस' वाच्यवाचकवर्ग का उपकारक अथवा उपस्कारक भी हो सकता है ? यह एक बड़ी समस्या है । साहित्यदर्पणकार ने इस समस्या पर ध्यान नहीं दिया अपितु 'विमर्शिनी' की मान्यतायें ही अपने शब्दों में उद्धृत कर दीं ।

अनुवाद— उपर्युक्त अलङ्कार ही, जिनका पृथक-पृथक् लक्षण निरूपण किया गया है, परस्पर संमिश्र रूप से भी काव्य-साहित्य में दिखाई दिया करते हैं और ऐसी अवस्था में इन्हें पृथक् अलङ्कार माना जाया करता है जो कि 'संसृष्टि' और 'सङ्कर' नाम से दो प्रकार का हुआ करता है ।

तात्पर्य यह है कि जैसे लोकप्रसिद्ध (सुवर्ण, मणि आदि निर्मित) अलङ्कार परस्पर मिले-जुले (अर्थात् एक अङ्ग में निविष्ट) होने पर, एक अतिरिक्त ही शोभा रखने के कारण, एक भिन्न प्रकार के अलङ्कार से प्रतीत हुआ करते हैं वैसे ही उपर्युक्त सभी काव्य-प्रसिद्ध अलङ्कार, परस्पर मिले-जुले रहने पर, एक और ही शोभा रखा करते हैं और 'संसृष्टि' तथा 'सङ्कर' नाम से पृथक् अलङ्कार के रूप में माने जाया करते हैं ।

इन द्विविध अलङ्कारों में—

'संसृष्टि' वह अलङ्कार-प्रकार है जिसे परस्परनिरपेक्ष अलङ्कारों की 'तिलतण्डुलवत्' एकत्र अवस्थिति कहा करते हैं ।

यहाँ (कारिका में) 'एतेषाम्' का अभिप्राय शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और शब्दार्थालङ्कार—तीनों का अभिप्राय है । जैसे कि—

'खिले नीलकमल सरीखे नेत्रोंवाले और संसाररूपी अन्धकार के विध्वंस के लिये सूर्य, वे कंसनिषूदन भगवान् कृष्ण हमें सभी संकटों से बचाते रहें ।'

यहाँ कई एक अलंकार परस्पर संसृष्ट हैं । 'पायादपायात्' में यमक है और 'संसारध्वान्तविध्वंसहंसः' में अनुप्रास है । इस प्रकार दो शब्दालंकारों की (तिलतण्डुलवत्)

संसृष्टिः। द्वितीये पादे उपमा, द्वितीयार्धे च रूपकमित्यर्थालङ्कारयोः संसृष्टिः। एवमुभयोः स्थितत्वाच्छब्दार्थालङ्कारसंसृष्टिः।

परस्पर 'संसृष्टि' का सौन्दर्य यहाँ स्पष्ट है। इसी प्रकार द्वितीय चरण (अर्थात् स्मेरेन्दीवर-लोचनः-स्मेरे विकसिते इन्दीवरे इव लोचने यस्य सः) में 'उपमा' और द्वितीयार्ध (अर्थात् 'संसारध्वान्तविध्वंसहंसः'-संसार एव ध्वान्तं तस्य विध्वंसः तस्मिन् हंसः रविः) में 'रूपक'-इन दोनों अर्थालङ्कारों की 'संसृष्टि' अलग झलक रही है। साथ ही साथ इस सूक्ति में निरपेक्षतया अवस्थित शब्दालंकार और अर्थालंकार की 'संसृष्टि' भी पृथक् रूप से ही दर्शनीय है।

विमर्श—(क) 'संसृष्टि'अलङ्कार की कल्पना एक प्राचीन आलंकारिक कल्पना है। इस कल्पना का आधार लोकप्रसिद्ध अलंकारों की परस्पर संघटना से सम्भूत एक विचित्र सौन्दर्य का दर्शन और विश्लेषण है जैसा कि 'अलंकारसर्वस्व'कार का यह कथन है—

'अधुनैषां सर्वेषामलङ्काराणां संश्लेषसमुत्थापितमलङ्कारद्वयमुच्यते। तत्र संश्लेषः संयोगन्यायेन समवायन्यायेन च द्विविधः। संयोगन्यायो यत्र भेदस्योत्कटतया स्थितिः। समवायन्यायो यत्र तस्यैवानुत्कटत्वेनावस्थानम्। तत्रोत्कटत्वेन स्थितौ तिलतण्डुलन्यायः। इतरत्र तु क्षीरनीरसादृश्यम्। क्रमेणैतदुच्यते—

'एषां तिलतण्डुलन्यायेन मिश्रत्वं संसृष्टिः।...तत्र यथा बाह्यालङ्काराणां सौवर्णमणिमयप्रभृतीनां पृथक्चारुत्वहेतुत्वेऽपि संघटनाकृतं चारुत्वान्तरं जायते, तद्वत् प्रकृतालङ्काराणामपि संयोजने चारुत्वान्तरमुपलभ्यते।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २४१)

अर्थात् जैसे सोने और मणि के अलङ्कार अपना-अपना अलग-अलग सौन्दर्य रखा करते हैं और परस्पर संश्लिष्ट होने पर एक और ही सौन्दर्य की सृष्टि किया करते हैं वैसे ही शब्द और अर्थ के अलङ्कार भी अलग-अलग सौन्दर्य तो रखा ही करते हैं किन्तु परस्पर संश्लेष में एक और ही विचित्र सौन्दर्य की झलक दिखाया करते हैं। अलङ्कारों का परस्पर संश्लेष दो प्रकार का हो सकता है—प्रथम वह, जिसे परस्पर निरपेक्ष अलङ्कारों का संश्लेष कहा जा सकता है और द्वितीय वह जिसे परस्पर सापेक्ष अलङ्कारों का संश्लेष कह सकते हैं। परस्पर निरपेक्ष अलङ्कारों का संमिश्रण, 'तिल' और 'तण्डुल' के संमिश्रण सा होने के कारण, 'संसृष्टि' अलङ्कार की पृथक् रूपरेखा का नियामक है।

(ख) 'संसृष्टि' के तीन प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं :—

'तत्र तिलतण्डुलन्यायेन भवन्ती संसृष्टिस्त्रिधा। शब्दालङ्कारगतत्वेन, अर्थालङ्कारगतत्वेन, उभयालङ्कारगतत्वेन च।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २४४)

विश्वनाथ कविराज ने यद्यपि स्पष्टतया 'त्रिविध संसृष्टि' का उल्लेख नहीं किया है किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि विश्वनाथ कविराज के मत में भी संसृष्टि का त्रैविध्य सिद्ध है। शब्दालङ्कार-संसृष्टि का एक सुन्दर उदाहरण शिशुपालवध की यह सूक्ति है—

'वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसंभ्रमसंभृतशोभया।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशान्यया॥'

जहाँ 'अनुप्रास' और 'यमक'—दो विजातीय अथवा भिन्न-स्वरूप के शब्दालङ्कार परस्पर संश्लिष्ट हुये एक ही सौन्दर्य की सृष्टि करते दिखायी दे रहे हैं। इसी प्रकार अर्थालङ्कार-संसृष्टि के निदर्शन-रूप में 'मृच्छकटिक' की निम्न सूक्ति देखिये—

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता॥'

जहाँ 'उपमा' और 'उत्प्रेक्षा' की संसृष्टि बड़ी मनोरम लग रही है।

'उभयालङ्कार संसृष्टि' के निदर्शनार्थ निम्न सूक्ति पर्याप्त है—

'आनन्दमन्थरपुरंदरमुक्तमाल्यं मौलौ हठेन निहितं महिषासुरस्य।
पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः॥'

जहाँ 'उपमा' और 'अनुप्रास' का तिलतण्डुल-योग एक पृथक् ही काव्य-वैचित्र्य सा लग रहा है।

(ग) आचार्य जयरथ ('अलङ्कारसर्वस्व' की 'विमर्शिनी' व्याख्या के रचयिता) ने कतिपय ऐसी सूक्तियाँ उद्धृत की हैं जिनमें 'संसृष्टि' और 'संकर' की मान्यता की बड़ी सुन्दर समीक्षा की हुई है—

'अन्योन्यसंबन्धविवर्जितानामलंकृतीनां विनिवेशनं चेत्।
अनन्वितत्वाद्दशदाडिमादिवाक्यादिवद् दूषणमेव तर्हि॥
अथान्वयोऽस्त्येव परस्परं तद् गुणप्रधानत्वमवश्यमेष्यम्।
तदा न संसृष्टिकथा गुणस्य पराङ्गतायां खलु संकरः स्यात्॥
एकत्र चेदङ्गिनि सङ्गतं स्याद् द्वयं तदन्योन्यसमीलनेन।
न संकरो नापि न वा गुणत्वे कार्यान्तरोत्पादनशक्तियोगात्॥

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २४६)

अर्थात् परस्पर निरपेक्ष अलङ्कारों की एकत्र योजना तो एक दोष है क्योंकि ऐसे अलङ्कार, जिनमें आपस में कोई संबन्ध नहीं, परस्पर असम्बद्ध पदों के प्रयोग की भाँति ही निरर्थक रहा करते हैं। यहाँ यदि यह कहा जाय कि एकत्र विनिविष्ट अलङ्कारों में संबन्ध रहा करता है तब तो इनमें 'गुणप्रधानभाव' की मान्यता अनिवार्य हो जाती है। किन्तु 'गुणप्रधानभाव' मानने पर, तिलतण्डुलवत् अलङ्कार-सम्मिश्रणरूप 'संसृष्टि-अलङ्कार' का मानना निरर्थक हो जाता है क्योंकि 'गुणप्रधानभाव' (अङ्गाङ्गिभाव) में 'संकर' की ही मान्यता युक्तियुक्त हो सकती है। और एक बात यह भी है कि यदि एक अङ्गिरूप काव्य-वाक्य में दो अङ्गभूत अलङ्कार निविष्ट हों तब इन्हें 'संकर' भी मानना असंभव है क्योंकि जब कि ये दोनों 'अङ्ग' हैं तब इनमें 'अङ्गाङ्गिभाव' की व्यवस्था कदापि युक्तियुक्त नहीं हो सकती।

किन्तु इस युक्ति का खण्डन भी आचार्य जयरथ ने ही किया है जो कि यह है—

'इयमेव हि संसृष्टिर्द्वयोर्बहूनां वाऽलङ्काराणां परस्परनिरपेक्षाणामपि संसर्गे सति चारुतातिशयप्रतिपत्तिः।,

'समुदितेषु तु भवति समग्रसंनिधानाख्यस्य धर्मस्य प्रत्यक्षमुपलम्भात्, तथैव भिन्नकक्ष्याणामलङ्काराणां संघटनाबलेन पूर्वापरैकीकारेणैकबुद्ध्यधिरोहादुपलभ्यत एव कश्चन संसर्गो नाम यस्य संसृष्टिसंकरव्यपदेशार्हत्वम्। अपि च रूपभेदेऽप्यविच्छेदादेकत्वम्। 'चित्रपट्टक' इत्यादिनीत्या चित्रास्तरणादौ यथा स्वरूपस्य रूपान्तराद् व्यावृत्तत्वेऽपि विच्छेदानवभासोदकघटश्लिष्टाकारप्रत्ययः। चित्ररूपमप्येकमेव वस्तुरूपं भासते। तथैव भिन्नकक्ष्याणामप्यलङ्काराणां संघटमानत्वेन प्रतीतावेकतावसाय इति युक्तमेव संसृष्ट्याद्यलङ्कारान्तरत्वम्। इक्ष्वादीनां च माधुर्यस्य भेदेऽपि संमीलनायां पानकादिरसनिष्पत्तावुपलभ्यत एव कश्चिद्वैचित्र्यातिशयस्तद्वदेषामपीति युक्तमलंकारान्तरत्वम्। न चास्य चारुतातिशयस्य शपथप्रत्ययत्वं वाच्यम्। एकत्रैवैकस्य द्वयोर्बहूनां वालंकाराणामवगमे यथायथमतिशयोत्कर्षस्य स्वसंवित्साक्षिकत्वेन वेद्यमानत्वात्।' (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी : 'संसृष्टि' प्रकरण)

अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार के अलङ्कारों के संसर्ग में एक अतिरिक्त वैचित्र्य का अनुभव स्वाभाविक है ! यह अतिरिक्त वैचित्र्य ही 'संसृष्टि' अथवा 'संकर' है। यह अतिरिक्त वैचित्र्य शपथ

(अलङ्कार-संमिश्रण का २य प्रकार : सङ्कर)

अङ्गाङ्गित्वेऽलङ्कृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ ।
सन्दिग्धत्वे च भवति सङ्करस्त्रिविधः पुनः ॥ ९८ ॥

अङ्गाङ्गिभावो यथा—

'आकृष्टिवेगविगलद्भुजगेन्द्रभोग-
निर्मोकपट्टपरिवेष्टनयाम्बुराशेः ।
मन्थव्यथाव्युपशमार्थमिवाशु यस्य
मन्दाकिनी चिरमवेष्टत पादमूले ॥'

अत्र निर्मोकपट्टापह्नवेन मन्दाकिन्या आरोप इत्यपह्नुतिः । सा च मन्दाकिन्या वस्तुवृत्तेन यत्पादमूलवेष्टनं तच्चरणमूलवेष्टनमिति श्लेषमुत्थापयतीति तस्याङ्गम् । श्लेषश्च पादमूलवेष्टनमेव चरणमूलवेष्टनमित्यतिशयोक्तेरङ्गम्, अतिशयोक्तिश्च 'मन्थव्यथाव्युपशमार्थमिव' इत्युत्प्रेक्षाया अङ्गम् । उत्प्रेक्षा चाम्बुराशिमन्दाकिन्योर्नायकनायिकाव्यवहारं गमयतीति समासोक्तेरङ्गम् ।

लेकर नहीं सिद्ध किया जाता अपि तु स्वसंवेदनसिद्ध है। एक काव्य-वाक्य में एक अलङ्कार की चारुता की अपेक्षा दो अलङ्कारों की चारुता एक और ही वस्तु है। लौकिक अलङ्कारों के संसर्ग की ही भाँति काव्य के अलङ्कारों का संसर्ग एक अन्य प्रकार का ही सौन्दर्य हुआ करता है। इसलिये 'संसृष्टि' और 'संकर' को शब्द और अर्थ के समस्त अलङ्कारों की अपेक्षा अन्य अलङ्कार-प्रकार मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

अनुवाद—'सङ्कर' वह अलंकार है जिसे (दो या दो से अधिक) अलंकारों का ऐसा संमिश्रण कहा करते हैं जिसमें वे (१) या तो अङ्गाङ्गिभाव-सम्बन्ध से सम्बद्ध रहा करते हैं, (२) या एकत्र अवस्थित रहा करते हैं, (३) या संदेह के विषय बन जाया करते हैं। अलंकारों की इसी त्रिविध संकीर्णता के कारण 'संकर' भी तीन प्रकार का हुआ करता है—(१) अङ्गाङ्गिभावरूप संकर, (२) एकत्रावस्थानरूप संकर और (३) संदिग्धरूप संकर।

जैसे कि (अनेक अलंकारों का) अङ्गाङ्गिभाव रूप संकर—

'यही वह समुद्र है जिसकी मन्थनव्यथा की शान्ति के लिये, मानो मन्दाकिनी (गङ्गा) उसके पादमूल (एक देश अथवा चरण) पर पड़ी रहती है और मन्थन-काल में, देव और असुरवृन्द द्वारा, एक दूसरे की ओर खींचा-तानी के कारण छूट कर गिरी नागराज वासुकि की केंचुल के बहाने, उसके व्रण के उपचार के लिये, बंधी पट्टी सी दिखायी दिया करती है।'

यहाँ 'अङ्गाङ्गिभाव संकर' स्पष्ट है। पहले तो 'निर्मोकपट्ट' (वासुकि की केंचुल) पर उसके अपह्नव अथवा अपलाप के साथ, 'मन्दाकिनी' के आरोप में 'अपह्नुति' (प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः) की रूप-रेखा उभर रही है। यह अपह्नुति' यहाँ के 'श्लेष' की अङ्गभूत सी प्रतीत हो रही है क्योंकि इसी के द्वारा मन्दाकिनी के वास्तविक 'पादमूलवेष्टन' (समुद्र के किसी एक भाग को सम्पर्क) और 'पदमूलवेष्टन') चरणों पर पड़ने) की श्लिष्टता का अभिप्राय निकल रहा है (क्योंकि 'पादमूल' शब्द दोनों अर्थों का वाचक है)। यह 'श्लेष' भी यहां 'अतिशयोक्ति' का अङ्ग है क्योंकि इसी के

यथा वा—

'अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।
अहो ! दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः ॥'

अत्र समासोक्तिर्विशेषोक्तेरङ्गम् ।

सन्देहसङ्करो यथा—

'इदमाभाति गगने भिन्दानं सन्ततं तमः ।
अमन्दनयनान्दकरं मण्डलमैन्दवम् ॥'

अत्र किं मुखस्य चन्द्रतयाध्यवसानादतिशयोक्तिः, उत इदमिति मुखं निर्दिश्य चन्द्रत्वारोपाद्रूपकम्, अथवा इदमिति मुखस्य चन्द्रमण्डलस्य च द्वयोरपि प्रकृतयोरेकधर्माभिसम्बन्धात्तुल्ययोगिता, आहोस्विच्चन्द्रस्याप्रकृतत्वाद्दी-

---

द्वारा पादमूलवेष्टन' (समुद्र के एक देश के संसर्ग) के साथ 'पादमूलवेष्टन' (चरण-स्पर्श) अभेदाध्यवसाय में 'अतिशयोक्ति' का चमत्कार उत्पन्न किया जा रहा है। यह 'अतिशयोक्ति' भी यहाँ 'मन्थव्यथा की मानो शान्ति के लिये' इस 'उत्प्रेक्षा' का अङ्ग है और अन्ततोगत्वा यह 'उत्प्रेक्षा' भी यहाँ 'अम्बुराशि' और 'मन्दाकिनी' में 'नायक' और 'नायिका' के व्यवहारसमारोप की प्रतीति कराती हुई दिखायी दे रही है जिसे देखते इसे यहां की 'समासोक्ति' का अङ्ग मानना स्वाभाविक ही है।

अथवा जैसे कि (दो अलंकारों का) यह अङ्गाङ्गिभावसंकर—

'संध्या अनुराग से भरी है और दिन उसके आगे खड़ा है। किन्तु दैवगति इतनी विचित्र है कि इतना होने पर भी दोनों का परस्पर समागम नहीं हो पाता।'

यहाँ (संध्या और दिन पर नायिका और नायक के व्यवहार-समारोप में) 'समासोक्ति' की सुन्दरता दर्शनीय है किन्तु यह 'समासोक्ति' यहाँ की 'विशेषोक्ति' (सन्ध्या में अनुराग और दिन में सन्ध्या के सम्मुख उपस्थानरूप कारण-सद्भाव में भी समागम-रूप कार्य के अभाव-वर्णन में होने वाली विशेषोक्ति) के अङ्गरूप से अवस्थित है।

इसी प्रकार 'संदेहसंकर'—

'सघन अन्धकार को दूर करता, लोकलोचन का आनन्ददायक, यह चन्द्रमण्डल आकाश में सुशोभित हो रहा है।'

यहाँ 'संदेहसंकर' स्पष्ट है क्योंकि यहां यह निश्चय करना असंभव है कि कौन अलङ्कार है। क्या यहाँ इस दृष्टि से 'अतिशयोक्ति' मानी जाय कि (किसी सुन्दरी के) 'मुख' का 'चन्द्र' रूप से अध्यवसाय हो रहा है (जिसमें उपमेय का स्वरूप निगीर्ण पड़ा है)? या इस दृष्टि से 'रूपक' माना जाय कि 'इदम्' पद के द्वारा निर्दिष्ट 'मुख' पर 'चन्द्र' का अभेदारोप किया जा रहा है? अथवा, क्या इस दृष्टि से कि यहाँ 'इदम्' पद से निर्दिष्ट 'मुख' और 'चन्द्रमण्डल' रूप दो प्रकृत पदार्थों में (अमन्दनयनानन्दकरत्व आदि) समानधर्म का संबन्ध सिद्ध है, 'तुल्ययोगिता' का दर्शन किया जाय? या यह देखते कि यहां ('इदम्' पद द्वारा निर्दिष्ट 'मुख' प्रकृत है और) 'चन्द्रमण्डल' अप्रकृत है (और प्रकृत और अप्रकृत में एक धर्म का अभिसंबन्ध है) 'दीपक' की रूपरेखा देखी जाय? अथवा कहीं ऐसा तो नहीं कि यहां 'समासोक्ति' का सौन्दर्य हो, क्योंकि (नयनानन्दकरत्व आदि) विशेषण की समता से प्रस्तुतरूप चन्द्रमण्डल द्वारा अप्रस्तुतरूप मुख की प्रतीति

पकम् , किं वा विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य मुखस्य गम्यत्वात्समासोक्तिः, यद्वाप्रस्तुतचन्द्रवर्णनया प्रस्तुतस्य मुखस्यावगतिरित्यप्रस्तुतप्रशंसा, यद्वा मन्मथोद्दीपनः कालः स्वकार्यभूतचन्द्रवर्णनामुखेन वर्णित इति पर्यायोक्तिरिति बहूनामलङ्काराणां सन्देहात्सन्देहसङ्करः।

यथा वा—'मुखचन्द्रं पश्यामि' इत्यत्र किं मुखं चन्द्र इव इत्युपमा ? उत चन्द्र एवेति रूपकमिति सन्देहः साधकबाधकयोर्द्वयोरेकतरस्य सद्भावे न पुनः सन्देहः।

यथा—

'मुखचन्द्रं चुम्बति' इत्यत्र चुम्बनं मुखस्यानुकूलमित्युपमायाः साधकम्। चन्द्रस्य तु प्रतिकूलमिति रूपकस्य बाधकम्।

'मुखचन्द्रः प्रकाशते, इत्यत्र प्रकाशाख्यो धर्मो रूपकस्य साधको मुखे उपचरितत्वेन संभवतीति नोपमाबाधकः।

स्वभावतः हो रही है ? या यहाँ 'अप्रस्तुत प्रशंसा' क्यों न हो जब कि अप्रस्तुतरूप 'चन्द्रमण्डल' के वर्णन से प्रस्तुतरूप 'मुख' की प्रतीति में कोई संदेह नहीं ? अथवा कहीं ऐसा तो नहीं कि यहाँ 'पर्यायोक्त' की योजना हो क्योंकि कामोद्दीपक (रात्रि के) समय का वर्णन यहाँ उसके कार्यरूप से अवस्थित चन्द्रबिम्ब के वर्णन द्वारा प्रतीत हो रहा है ? इस प्रकार यहाँ यह स्पष्ट है कि इन अनेकानेक अलंकारों के संदेह में संभूत 'संदेह-संकर' का सौन्दर्य अवश्य विराजमान है।

इसी प्रकार दो अलंकारों का 'संदेह-संकर' भी यत्र-तत्र दिखायी दिया करता है। जैसे कि 'मुखचन्द्रं पश्यामि' इस उक्ति में ही यह संदेह हो उठता है कि क्या यहाँ इस दृष्टि से 'उपमा' मानी जाय कि 'मुख' को 'चन्द्र के सदृश' कहा गया है ? या इस दृष्टि से 'रूपक' माना जाय कि 'मुख' को 'चन्द्ररूप' कहा गया है (यहाँ यह संदेह स्वाभाविक है क्योंकि यहाँ न तो 'उपमा' का साधक कोई हेतु उपनिबद्ध है जिससे 'रूपक' बाधित हो जाय और न 'रूपक' का ही साधक कोई हेतु उपनिबद्ध है जो कि 'उपमा' की संभावना को दूर हटा सके)।

अलंकारों में संदेह की संभावना तब नहीं होती जब कि या तो किसी एक का साधक और दूसरे का बाधक हेतु उपनिबद्ध हो या किसी एक के साधक अथवा दूसरे के बाधक हेतु का ही उपनिबन्ध किया गया हो। जैसे कि यदि यह कहा जाय कि 'वह मुखचन्द्र का चुम्बन कर रहा है' तब 'उपमा' का साधक हेतु मिल जाता है जो कि 'चुम्बन' के रूप में उपनिबद्ध है क्योंकि 'चुम्बन' 'चन्द्र' का नहीं अपि तु 'मुखः का ही किया जा सकता है (जिससे 'मुखं चन्द्र इव मुखचन्द्रस्तम् मुखचन्द्रम्' यह 'उपमा' स्पष्ट हो जाती है)। 'चुम्बन' का संबन्ध चन्द्रमा से असंभव है जिससे यहाँ 'रूपक' का बाधित होना निःसंदिग्ध सिद्ध है (इस प्रकार 'उपमा' के साधक और 'रूपक' के बाधक 'चुम्बन' रूप हेतु के उपनिबन्ध में यहाँ 'उपमा' और 'रूपक' में संदेह कदापि नहीं हो सकता)।

किसी एक (अलंकार) के साधक हेतु के उपनिबन्ध में भी दूसरे अलंकार का संदेह नहीं हुआ करता। जैसे कि यदि यह कहा जाय कि 'मुखचन्द्र चमक रहा है' तब 'प्रकाश' के रूप में 'रूपक' (मुखमेव चन्द्रः मुखचन्द्रः) का साधक हेतु स्पष्ट दिखायी दे जाता है

'राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम् ।'

अत्र योषित आलिङ्गनं नायकस्य सादृश्ये नोचितमिति लक्ष्म्यालिङ्गनस्य राजन्यसंभवादुपमाबाधकम्, नारायणे संभवाद्रूपकम्।

एवम्—

'वदनाम्बुजमेणाक्ष्या भाति चञ्चललोचनम् ।'

अत्र वदने लोचनस्य सम्भवादुपमायाः साधकता, अम्बुजे चासंभवाद्रूपकस्य बाधकता। एवं 'सुन्दरं वदनाम्बुजम्' इत्यादौ साधारणधर्मप्रयोगे उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्यप्रयोगे' इति वचनादुपमासमासो न संभवतीत्युपमाया

(जिससे 'रूपक' का स्वरूप झलक उठता है) किन्तु यह हेतु 'उपमा' (मुखं चन्द्र इव मुखचन्द्रः) का बाधक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उपचारतः 'मुख' में भी 'प्रकाश'रूप धर्म का संबन्ध संभव है (जिससे यहाँ 'रूपक' और 'उपमा' का संदेह-सकर कदाचित् असंभव नहीं)।

इसी प्रकार किसी एक (अलंकार) के बाधकहेतु के उपनिबन्ध में भी दूसरे का निश्चय स्वाभाविक है। जैसे कि—

'लक्ष्मी आप जैसे राजनारायण का बड़े प्रेम से आलिङ्गन करती है।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि जब कि किसी नायिका के लिये नायक के सदृश किसी पुरुष का आलिङ्गन अनुचित है तब लक्ष्मी के द्वारा नारायण के सदृश (राजा नारायण इव राजनारायणस्तम्) राजा का आलिङ्गन भी कोई औचित्य नहीं रखता। इसलिये यहाँ 'उपमा' का बाध निर्विवाद सिद्ध है। किन्तु लक्ष्मी के द्वारा नारायण (विष्णु) के आलिङ्गन में कोई अनौचित्य न होने से यहाँ 'रूपक' (राजा एव नारायणः राजनारायणस्तम्) की संभावना में कोई आपत्ति नहीं (इसलिये यहाँ 'उपमा' और 'रूपक' का संकर नहीं माना जा सकता)।

(इसी प्रकार विशेषण भी जहाँ-तहाँ एक अलंकार के साधक और दूसरे के बाधक रूप में प्रयुक्त किया जाया करता है जिससे अलंकार-संकर की संभावना दूर हो जाया करती है।) जैसे कि इस सूक्ति अर्थात्—

'इस मृगनयनी का मुखकमल चञ्चल नेत्र के साथ बड़ा सुन्दर लग रहा है।'

आदि में 'चञ्चललोचन'रूप विशेषण 'उपमा' (वदनमम्बुजमिव वदनाम्बुजम्) का तो साधक बन रहा है क्योंकि 'मुख' में 'लोचन' की स्थिति निर्विवाद सिद्ध है किन्तु इसमें 'रूपक' (वदनमेवाम्बुजं वदनाम्बुजम्) बाधकता भी निःसंदिग्ध रूप से दिखायी दे रही है क्योंकि 'कमल' में 'लोचन' की सम्भावना असम्भव है (इसलिये यहाँ भी सन्देहसंकर का कोई अवसर नहीं)।

इसी प्रकार यदि साधारणधर्म भी किसी एक अलंकार के बाधक और दूसरे के साधकरूप में प्रतीत हो तो अलंकार-साङ्कर्य की संभावना हट जाती है। जैसे कि 'यह वदनाम्बुज (मुखकमल) सुन्दर है' आदि उक्तियों में, जब कि 'सौन्दर्य'रूप साधारणधर्म के उपादन के कारण, 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (अष्टाध्यायी २-१-५६)— व्याघ्र आदि उपमानवाचक पदों के साथ उपमेय का समास तभी हुआ करता है जबकि साधारणधर्म का प्रयोग न किया जाय) इस समास-नियम के अनुसार उपमा-समास

बाधकः। एवं चात्र मयूरव्यंसकादित्वाद्रूपकसमास एव। एकाश्रयानुप्रवेशो यथा मम—

'कटाक्षेणापीषत्क्षणमपि निरीक्षेत यदि सा
तदानन्दः सान्द्रः स्फुरति पिहिताशेषविषयः।
सरोमाञ्चोदञ्चत्कुचकलशनिर्भिन्नवसनः
परीरम्भारम्भः क इव भविताम्भोरुहदृशः॥'

अत्र कटाक्षेणापीषत्क्षणमपीत्यत्रच्छेकानुप्रासस्य निरीक्षेतेत्यत्र क्षकारमादाय वृत्त्यनुप्रासस्य चैकाश्रयेऽनुप्रवेशः। एवं चात्रैवानुप्रासार्थापत्त्यलङ्कारयोः।

यथा वा—

'संसारध्वान्तविध्वंस–' इत्यत्र रूपकानुप्रासयोः।

की संभावना हट गयी तब यह स्पष्ट है कि 'उपमा' बाधित हो गयी और मयूरव्यंसकादयश्च' (अष्टाध्यायी २-१-७२) इस समास-नियम के अनुसार रूपक-समास (वदनमम्बुजं वदनाम्बुजम्) के सिद्ध हो जाने पर 'रूपक' अलङ्कार की मान्यता युक्ति-युक्त बन गयी (जिससे यहाँ भी 'उपमा' और 'रूपक' का 'संदेह संकर' निर्मूल हो गया)।'

अब 'एकाश्रयानुप्रवेश'रूप संकर का उदाहरण देखिये—

'यदि वह सुन्दरी अपनी तिरछी निगाहों से भी, मुझे, क्षणभर के लिये देख ले तो ऐसा अद्भुत आनन्द मिलने लगता है कि सब कुछ भूल पड़ता हूँ। फिर, उस कमलनयनी के आनन्द-रोमांच से भरे किंवा अनावृत उन्नत उरोजों के आलिङ्गन का आनन्द कैसा होगा, यह तो भगवान् ही जाने।'

इस स्वरचित सूक्ति में 'कटाक्षेणापीषत्क्षणमपि' में ('क्ष्' के स्वरूपतः और क्रमतः एक वार साम्य के कारण) 'छेकानुप्रास' और 'कटाक्षेणापीषत्क्षणमपि निरीक्षेत' में ('क्ष' के स्वरूपतः और क्रमतः तीन बार साम्य के कारण) 'वृत्त्यनुप्रास' दोनों स्पष्ट हैं और दोनों 'क्ष्' रूप व्यञ्जन पर आश्रित होने के कारण 'एकाश्रयानुप्रवेशरूप' संकर का वैचित्र्य उत्पन्न कर रहे हैं। यहीं 'अनुप्रास' (छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास) और 'अर्थापत्ति' ('दण्डापूपिकयाऽन्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते' जैसे कि कटाक्ष से देखने पर तो यह हाल है पूरी निगाह से देखने पर पता नहीं, क्या हो, जरा सा देखने पर तो यह हाल है पूरा देखने पर पता नहीं क्या हो, क्षणभर देखने पर तो यह हाल है देर तक देखने पर पता नहीं क्या हो—इस त्रिविध अर्थापत्ति) का भी 'एकाश्रयानुप्रवेश'रूप संकर स्पष्ट प्रतीत हो उठता है (क्योंकि जो पद 'अर्थापत्ति' के उत्थापक हैं उन्हीं में 'अनुप्रास' की भी छटा विराजमान है।)

अथवा 'एकाश्रयानुप्रवेश'रूप संकर का उदाहरण देखिये (जहां 'एकपद'रूप एक आश्रय में विभिन्न रूप के विविध अलंकार अनुप्रविष्ट हैं)—

'संसारध्वान्तविध्वंसहंसः···'। यहां 'रूपक' (संसार एव ध्वान्तं तमस्तस्य विध्वंसे हंसः सूर्यः संसारध्वान्तविध्वंसहंसः) और 'अनुप्रास' ('ध्' और 'व्' व्यञ्जनों के स्वरूपतः और क्रमतः सकृत् साम्य के कारण छेकानुप्रास) को एकपद में अनुप्रवेश होने से, अर्थालंकार और शब्दालंकार का 'एकाश्रयानुप्रवेशरूप' संकर बड़ा सुन्दर लग रहा है।

यथा वा—

'कुरबकारवकारणतां ययुः' इत्यत्र रबका रवका इत्येकं बकारवकार इत्येकमिति यमकयोः।

यथा वा—

'अहिणअपओअरसिएसु पहिअसामाइएसु दिअहेसु।
रहसपसारिअगीआणं णच्चिज मोरविन्दाणम्॥'

[अभिनवपयोदरसितेषु पथिकसामाजिकेषु दिवसेषु।
रभसप्रसारितग्रीवाणां नित्यं मयूरवृन्दानाम्॥

अथवा

अभिवनपयोदरसितेषु पथिकश्यामायितेषु दिवसेषु।
रभसप्रसारितग्रीवाणां नृत्यं मयूरवृन्दानाम्॥]

अत्र 'पहिअसामाइएसु' इत्येकाश्रये पथिकश्यामायितेत्युपमा, पथिकसामाजिकेष्विति रूपकं प्रविष्टमिति।

अथवा 'एकाश्रयानुप्रवेश' रूप संकर का यह उदाहरण (जिसमें समान रूप के एक से अधिक अलंकार अनुप्रविष्ट हैं)—

('विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः।
मधुलिहां मधुदानविशारदाः) कुरवकारवकारणतां ययुः॥'

यहां (रघुवंश ९. २९ की सूक्ति में) 'रबकारवका' या यमक और 'बकावका' का 'यमक' दोनों एकपाद-रूप एक आश्रय में अनुप्रविष्ट होकर 'एकाश्रयानुप्रवेश' रूप संकर की सृष्टि करते स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं।

अथवा 'एकाश्रयानुप्रवेश' रूप संकर का यह उदाहरण—

नये-नये मेघों की (मृदङ्ग सरीखी) गर्जना से शब्दायमान किंवा (पथिकश्यामायितेषु, पथिकसामाजिकेषु वा) विरहव्याकुलप्रेमी जन के दुःखदायी अथवा विरहव्याकुल प्रेमी जनरूपी सामाजिक वृन्द को उत्सुक बनाने वाले, इन वर्षा के दिनों में, गर्दन ऊँची किये, मयूरों का नृत्य कितना सुन्दर लग रहा है।'

यहां 'पहिअसामाइएसु' इस एक प्राकृत पद में, (जहां 'पथिकश्यामायितेषु' और 'पथिकसामाजिकेषु' दोनों छाया-पाठसंभव हैं) 'पथिकश्यामायितेषु' (पथिकान् वियोगिनः तान् प्रति श्यामा रात्रय इवाचरन्तीति क्यङ् तेषु) की 'उपमा' और 'पथिकसामाजिकेषु' (पथिका एव सामाजिकास्तेषु) के 'रूपक'—दोनों का अनुप्रवेश स्पष्ट है (जिसमें 'एकानुप्रवेश' रूप संकर का एक अतिरिक्त वैचित्र्य दिखाई दे रहा है)।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पण का 'संकर' विवेचन अलंकारसर्वस्व के 'संकर' निरूपण का एक मण्डन है। 'अलंकारसर्वस्व' के अनुसार 'संकर' का स्वरूप यह है—

(ग्रन्थ-समाप्ति)

श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनु-
श्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम् ।
साहित्यदर्पणममुं सुधियो विलोक्य
साहित्यतत्त्वमखिलं सुखमेव वित्त ॥ ९९ ॥

'क्षीरनीरन्यायेन तु संकरः—

मिश्रत्व इत्येव । अनुत्कटभेदत्वमुत्कटभेदत्वं च संकरः । तत्र मिश्रत्वमङ्गाङ्गिभावेन, संशयेन, एकवाचकानुप्रवेशेन च त्रिधाभवत् संकरं त्रिभेदमुत्थापयति ।'

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २४८)

अर्थात् अलंकारों का पानी और दूध सा मिश्रण 'संकर' अलंकार की रूपरेखा का जनक है । यह मिश्रण तीन प्रकार का है—अङ्गाङ्गिभावरूप, संशयरूप और एकवाचकानुप्रवेशरूप । और इसीलिए 'संकर' अलंकार के भी ये तीन प्रकार हैं—

(ख) अलंकारसर्वस्वकार ने एक वाचकानुप्रवेशरूप 'संकर' में शब्दालंकार और अर्थालंकार, दोनों की संकीर्णता स्वीकार की है जो कि काव्यप्रकाशकार को मान्य नहीं । काव्यप्रकाशकार के अनुसार 'एकवाचकानुप्रवेश' संकर शब्दालंकार और अर्थालंकार का संकर हुआ करता है—

'स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालंकृतिद्वयम् ।
व्यवस्थितं च·········'

उदाहरणम्—

'स्पष्टोल्लसत्किरणकेसरसूर्यबिम्ब-विस्तीर्णकर्णिकमथो दिवसारविन्दम् ।
श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुखावतार-बद्धान्धकारमधुपावलि संचुकोच ॥'
अत्रैकपदानुप्रविष्टौ रूपकानुप्रासौ ।' (काव्यप्रकाश : संकर-प्रकरण)

किन्तु साहित्यदर्पणकार ने 'एकवाचकानुप्रवेश' संकर में दो शब्दालंकारों के संकर, एक शब्दालङ्कार और एक अर्थालङ्कार के संकर तथा दो अर्थालङ्कारों के संकर की सम्भावना की है और उदाहरण द्वारा इसे प्रदर्शित भी किया है । वस्तुतः साहित्यदर्पणकार 'अलङ्कारसर्वस्व' के 'एकवाचकानुप्रवेशरूप' संकर के विवेचन से प्रभावित हैं । अलङ्कारसर्वस्वकार ने एकवाचकानुप्रवेश' रूप संकर के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है—

'तृतीयस्तु प्रकार का एकवाचकानुप्रवेशलक्षणः । यत्रैकस्मिन् वाचकेऽनेकालंकारानुप्रवेशः, न च संदेहः । यथा—

मुरारिनिर्गता नूनं नरकप्रतिपन्थिनी । तवापि मूर्ध्नि गङ्गेव चक्रधारा पतिष्यति ॥

अत्र मुरारिनिर्गतेति साधारणविशेषणहेतुका उपमा, नरकप्रतिपन्थिनीति श्लिष्टविशेषण समुत्थश्चोपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषश्चैकस्मिन्नेव शब्देऽनुप्रविष्टौ, तस्योभयोपकारित्वात् ।··· तुल्यजातीययोरप्यलंकारयोरेकवाचकानुप्रवेशसम्भवात् ।'

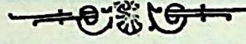
(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २५५)

साहित्यदर्पणकार, इस विवेचन की दृष्टि से, काव्यप्रकाश के समर्थक नहीं हो सकते ।

अनुवाद—काव्य-साहित्य के बुद्धिमान् पाठक, महाकवि श्री चन्द्रशेखर के पुत्र

यावत्प्रसन्नेन्दुनिभानना श्रीर्नारायणस्याङ्कमलङ्करोति ।
तावन्मनः संमदयन् कवीनामेष प्रबन्धः प्रथितोऽस्तु लोके ॥१००॥

इत्यालङ्कारिकचक्रवर्तिसान्धिविग्रहिकमहापात्रश्रीविश्वनाथकविराजकृते
साहित्यदर्पणे दशमः परिच्छेदः ।



श्री कविराज विश्वनाथ की कृति, इस 'साहित्यदर्पण'का अवलोकन करें और काव्य-साहित्य के तत्वों का अनायास ज्ञान प्राप्त करें—यही अन्तिम निवेदन है।

यह 'साहित्यदर्पण', आशा है, जब तक प्रसन्नचन्द्रवदना लक्ष्मी नारायण के अंक में सुशोभित है, तब तक, कविजन और रसिक-समाज के हृदय में आनन्द का सञ्चार करता रहेगा और साहित्य-जगत् में, अपनी अनश्वर कीर्ति में विराजमान बना रहेगा।

अन्तमङ्गलम्

साहित्यस्य विमर्शे यत् स्वात्मविश्रान्तिजं सुखम् ।
विश्वनाथस्य सम्भूत् सर्वेषां तद् भवेत् सदा ॥

साहित्यदर्पण : दशम परिच्छेद समाप्त



समाप्तश्चाऽयं ग्रन्थः



उदाहृतश्लोकानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठाङ्क
अ	
अकलङ्कं मुखं तस्याः	७७०
अकस्मादेव तन्वङ्गी	१९२
अङ्गानि खेदयसि	४८७
अचला अबला वा स्युः	६०३
अजस्य गृह्णतो जन्म	८१९
अजायत रतिस्तस्याः	६११
अतिगाढगुणायाश्च	७७१
अत्ता एत्थ णिमज्जइ	१८
अत्युन्नतस्तनयुगा	३१५
अत्रान्तरे किमपि वाक्	१८४
अत्रासीत्फणिपाश	४९८
अत्रास्मार्षमुपाध्याय	६२७
अथ तत्र पाण्डुतनयेन	२२२
अद्य प्रचण्डभुजदण्ड	५२५
अद्यापि देहि वैदेहीं	४९९
अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे	५९७
अधःकृताम्भोधरमण्ड	८७१
अधरः किसलयरागः	४७९
अधरे करजक्षतं मृगाक्ष्याः	६०५
अध्यासितुं तव चिरात्	५२४
अनङ्गमङ्गलभुवः	६४५
अनणुरणन्मणिमेखलम्	६१९
अनलंकृतोऽपि सुन्दर !	१६४
अनन्यसाधारणधीधृता	३०५
अनन्वये च शब्दैक्य	७११
अनातपत्रोऽप्ययमत्र	८६८
अनायासकृशं मध्यम्	८१४
अनुयान्त्या जनातीतम्	७७६
अनुरागवती सन्ध्या	८८६
अनुरागवन्तमपि	६२०
अनुलेपनानि कुसुमानि	७५८
अनेन लोकगुरुणा	३२६
अनेनच्छिन्दता मातुः	५८९
अनेन पर्यासयताश्रु	७९७

विषय	पृष्ठाङ्क
अन्तःपुरीयसि रणेषु	६९८
अन्तश्छिद्राणि भूयांसि	७९३
अन्तिकगतमपि मामिय	१९५
अन्यदेवाङ्गलावण्यम्	८५४
अन्यासु तावदुपमर्दसहासु	२२३
अन्यास्ता गुणरत्नरोहण	५८४
अप्रधानं विधिर्यत्र	५६७
अप्रियाणि करोत्वेष	४४४
अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा	४२३
अमितः समितः प्राप्तैः	२९०
अमुं कनकवर्णाभम्	३०९
अमुक्ता भवता नाथ !	५६७
अयि ! मयि मानिनि !	५८३
अयमुदयति मुद्रा	६६२
अयं मार्त्तण्डः किम् ?	७२९
अयं रत्नाकरोऽम्भोधि	८२४
अयं स रशनोत्कर्षी	३९१
अयं सर्वाणि शास्त्राणि	६७७
अरविन्दमिदं वीक्ष्य	७१३
अरातिविक्रमालोक	७०३
अरुणे च तरुणि !	८५२
अर्घ्यमर्घ्यमिति	२०६
अलमलमतिमात्र	३८४
अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन्	३०९
अलिअ पसुत्तअ	२३९
अलिकुलमञ्जुलकेशी	५२८
अविदितगुणापि भणितिः	७६३
अविरलकरवालकम्पनैः	८७५
अव्यूढाङ्गमरूढपाणि	६५२
अशक्नुवन् सोढुमधीर	२७५
अश्रुच्छलेन सुदृशः	७४८
अश्वत्थामा हत इति	४३१
असमाप्तजिगीषस्य	७७७
असावन्तश्चञ्चद्विकच	४८३
असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टे	१८०

विषय	पृष्ठाङ्क
असशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा	२१९
अस्माकं सखि वाससी	१४४
अस्य वक्षः क्षणेनैव	४९५
अस्याः सर्गविधौ	७५४
अहमेव गुरुः सुदारुणानाम्	८५७
अहमेव मतो महीपतेः	१५२
अहिणअपओअर	८९०
आ	
आकृष्टिवेगविगलद्	८८५
आक्षिपन्त्यरविन्दानि	४७५
आचरति दुर्जनो यत्	६३३
आज्ञा शक्रशिखा	६०६
आत्मा जानाति यत् पापम्	५१२
आदाय बकुलगन्धान्	६६८
आदित्योऽयं स्थितो मूढाः	३०९
आनन्दममन्दमिमम्	८००
आनन्दयति ते नेत्रे	५७१
आनन्दयति ते नेत्रे योऽधुना	५७२
आनन्दाय च विस्मयाय च	४६१
आनन्दितस्वपक्षोऽसौ	६०९
आपतन्तममुं दूराद्	२९२
आपातसुरसे भोगे	६०८
आमीलितालसविवर्त्ति	८७४
आवर्त्त एव नाभिस्ते	६०७
आशीःपरम्परां वन्द्याम्	५६३
आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैः	२१२
आसमुद्रक्षितीशानाम्	५६६
आसादितप्रकटनिर्मल	३७३
आसीदञ्जनमत्रेति	८६७
आहवे जगदुद्दण्ड !	७१७
आहारे विरतिः समस्त	३१३
आहूतस्याभिषेकाय	१५४
आहूतेषु विहङ्गमेषु	६२०
इ–ई	
इति गदितवती रुषा	१७५
इति यावत्कुरङ्गाक्षी	५४८
इत्थमाराध्यमानोऽपि	८००
इदं किलाव्याज	४८०
इदं वक्त्रं साक्षात्	७२५
इदमाभाति गगने	८८६
इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन	७९०
इन्दुर्विभाति कर्पूर	५८७
इन्दुर्विभाति यस्तेन	५७४
इन्द्रजिच्चण्डवीर्योऽसि	४९५
इयं स्वर्गाधिनाथस्य	४७८
इह पुरोऽनिलकम्पित	७३७
इहैव त्वं तिष्ठ द्रुतम्	८३२
ईक्षसे यत् कटाक्षेण	५८८
उ–ऊ	
उअ णिच्चल णिप्पन्दा	८९
उत्कृत्यो कृत्य कृत्तिम्	२६१
उत्क्षिप्तं करकङ्कणद्वय	१७०
उत्तिष्ठ दूति यामो	१६२
उत्फुल्लकमलकेसर	५०५
उत्साहातिशयं वत्स	४१९
उदन्वच्छिन्ना भूः	५९४
उदेति सविता ताम्रः	५९३
उदेति पूर्वं कुसुमं ततः	४८९
उद्दामोत्कलिका	३८८
उद्यत्कमललौहित्यैः	५७०
उन्नमितैकभ्रूलत–	४३३
उन्मज्जज्जलकुञ्जरेन्द्र	६४९
उन्मीलन्मधुगन्धलुब्ध	६६८
उन्मीलन्ति नखैर्लुनीहि	८३७
उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते	५५
उपदिशति कामिनीनाम्	६९
उर्व्यसावत्र तर्वाली	५८६
उवाच मधुरां वाचम्	५८२
उवाच मधुरं धीमान्	"
ऊरुः कुरङ्गकदृशः	७४०
ए–ऐ	
एकं ध्याननिमीलनात्	६३७
एकः कपोतपोतः	७९२
एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया	२४०
एकस्यैव विपाकोऽयम्	४३५

मुद्रक : स्काई लार्क प्रिंटर्स, ११३५५, ईदगाह रोड़, नई दिल्ली-110055

विषय	पृष्ठाङ्क
एकत्रासनसंस्थितिः	१६४
एतद्विभाति चरमाचल	७३५
एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यैः	५९३
एवंवादिनि देवर्षौ	३१६
एष दुश्च्यवनं नौमि	६४०
एष मूर्त्तो यथा धर्मः	६१६
एसा कुडिलघणेण	२२२
एसो ससहरबिम्बो	६२८
ऐन्द्रं धनुः पाण्डु	७८२
ऐशस्य धनुषो भङ्गम्	६०६
ओ–औ	
ओवट्टइ उल्लट्टइ	५८०
औत्सुक्येन कृतत्वरा	६३५
क	
कटाक्षेणापीषत्	८८९
कटिस्ते हरते मनः	५६२
कथमीक्षे कुरङ्गाक्षी	२३४
कथमुपरि कलापिनः	७५४
कदली कदली करभः	२८२
कदा वाराणस्यामिह	२६६
कपोलफलकावस्याः	७४१
कपोले जानक्याः	६३९
कमलालिङ्गितस्तार	६१७
कमले चरणाघातम्	५६३
कमलेण विअसिएण	२२४
कमलेव मतिर्मतिरिव	७१२
करमुदयमहीधरस्तनाग्रे	१९९
करिहस्तेन सम्बाधे	६२३
कर्त्ता द्यूतच्छलानां	५२३
कर्पूरखण्ड इव राजति	६१५
कलयति कुवलयमाला	७६६
कलुषञ्च तवाहितेष्वकस्मात्	८५२
कस्स व ण होइ रोसो	३४७
कानने सरिदुद्देशे	८३०
कामं प्रिया न सुलभा	३६६
कान्तास्त एव भुवन	२७४
कान्ते तथा कथमपि	१५९
काप्यभिख्यातयोरासीद्	६१८
कामं प्रिया न सुलभा	४२२
कार्त्तार्थ्यं यातु तन्वङ्गी	५६०
कालरात्रिकरालेयं	४९७
कालान्तककरालास्यं	४३७
काले कोकिलवाचाले	६७४
काले वारिधराणाम्	७३६
कालो मधुः कुपित एष च	८८
का विसमा देव्वगई	८४४
किङ्करोषि करोपान्ते	३४८
किं रुद्धः प्रियया कया	१७४
किं शीकरैः क्लम	४८५
किं तारुण्यतरोरियम्	७२९
किं तावत् सरसि	,,
किं भूषणं सुदृढमत्र	८४२
किमधिकमस्य ब्रूमः	८२८
किमाराध्यं सदा पुण्यम्	८४२
किरणा हरिणाङ्कस्य	६७६
किसलयमिव मुग्धं	२२४
कुचं हन्ति कृशोदरी	५७७
कुपिताऽसि यदा तन्वि !	८०८
कुमारस्ते नराधीश	६०३
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेः	५८२
कुर्वन्त्वाशा हतानां	४४०
कूजन्ति कोकिलास्साले	६९१
कृतप्रवृत्तिरन्यार्थे	५७०
कृतमनुमतं दृष्टं वा	२५६
कृत्वा दीननिपीडनां	२२३
कृष्टा केशेषु भार्या	४३८
के द्रुमास्ते क्व वा ग्रामे	१९०
के यूयं स्थल एव	६७४
केयूरायितमङ्गदैः	७४९
केशः काशस्तवकविकासः	६७०
कोऽत्र भूमिवलये	७६५
कोकिलोऽहं भवान् काकः	७९३
क्रूरग्रहः स केतुः	३७८
क्वचित्ताम्बूलाक्तः	१६१
क्व वनं तरुवल्कलभूषणम्	८२४
क्व सूर्यप्रभवो वंशः	७६८
क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः	६३६
क्षात्रधर्मोचितैर्धर्मैं	४८०
क्षिपसि शुकं वृषदंशक	७६८

विषय	पृष्ठाङ्क
क्षिप्तो हस्तावलग्नः	६३७
क्षीणः क्षीणोऽपि शशी	७७२
क्षीरोद्जावसति जन्मभुवः	५६५
क्षेमं ते ननु पक्ष्मलाक्षि	२५०
ख	
खड्गः क्ष्मासौविदल्लः	७२२
ग	
गङ्गाम्भसि सुरत्राण !	७४१
गच्छ गच्छसि चेत् कान्त !	८११
गच्छामीति यथोक्तया	७९१
गता निशा इमा बाले	५८१
गमनमलसं शून्या दृष्टिः	४५९
गर्दभति श्रुतिपरुषम्	७०२
गाङ्गमम्बु सितमम्बु	८६१
गाढकान्तदशनक्षतव्यथा	२९२
गाढालिङ्गनवामनीकृतकुच	६३१
गाण्डीवी कनकशिला	५७७
गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि	७३४
गीतेषु कर्णमादत्ते	५५४
गुरुजनपरतन्त्रतया वत	८९
गुरुतरकलनूपुरानुनादं	१८८
गुरोर्गिरः पञ्चदिनान्यधीत्य	२५२
गृहिणी सचिवः सखी	८३०
गृहीतं येनासीः	६०३
गृह्यतामर्जितमिदं	४३१
ग्रथ्नामि काव्यशशिनम्	६१५
घ	
घटितमिवाञ्जनपुञ्जैः	७४५
घोरो वारिमुचां रवः	५९५
च	
चकोर्य एव चतुरा	७६३
चक्राधिष्ठिततां चक्री	६२१
चञ्चद्भुजभ्रमित	४१६
चण्डाल इव राजाऽसौ	६१५
चण्डीशचूडाभरण	६०९
चन्द्रं मुञ्च कुरङ्गाक्षि !	५९८
चन्द्रमण्डलमालोक्य	६११
चन्द्रायते शुक्लरुचापि	७०९
चरणपतनप्रत्याख्यानात्	२७७

विषय	पृष्ठाङ्क
चरणानतकान्तायाः	५९२
चलण्डामरचेष्टितः	५८६
चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि	३११
चारुणा स्फुरितेनायं	४९३
चिन्तयन्ती जगत्	३०६
चिन्ताभिः स्तिमितं मनः	२४४
चिररतिपरिखेदप्राप्त	२११
चित्रं चित्रमनाकाशे	६२५
चिरं जीवतु ते सूनुः	६१८
ज	
जह्नि संहरज्जह्नि	४८२
जत्रुर्विसं धृतविकाशि	५८३
जगाद वदनच्छद्म	८६०
जघनस्थलनद्धपत्रवल्ली	२७७
जनस्थाने भ्रान्तं	३२१
जन्मेन्दोर्विमले कुले	४३१
जन्मान्तरीणरमण	८७
जन्मेदं बन्ध्यतां नीतम्	७६३
जलकेलितरलकरतल	३५३
जस्सरणन्ते उरए	७७
जाता लज्जावती मुग्धा	६१२
जानीमहेऽस्या हृदि	८०६
जीयन्ते जयिनोऽपि	४६१
जुगोपात्मानमत्रस्तः	५६८
ज्ञातिप्रीतिर्मनसि	४३१
ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ	७४०
ज्योत्स्ना इव सिता कीर्त्तिः	६१८
ज्योत्स्नाचयः पयःपूरः	५८
ज्वलतु गगने रात्रौ	१८
ण	
णवरिअ तं जुअजुअलं	२०
त	
ततश्चचार समरे	६०
तत्पश्येयमनङ्गमङ्ग	४९
तदङ्गमार्दवं द्रष्टुः	७५
तदवितथमवादीर्यन्मम	१६
तदप्राप्तिमहादुःख	३०
तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरु	५७
तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता	८५

विषय	पृष्ठाङ्क
तद्विच्छेदकृशस्य	६२१
तद्वेशोऽसदृशोऽन्याभिः	६१९
तनुस्पर्शादस्यादर	२०२
तन्वङ्गयाः स्तनयुग्मेन	७४२
तव कितव किमाहितैः	१७५
तव विरहे मलयमरुत्	८१८
तव विरहे हरिणाक्षी	८१०
तवास्मि गीतरागेण	३७४
तस्य च प्रवयसो जटायुषः	८४०
तस्या मुखेन सदृशम्	७०१
तस्यास्तद्रूपसौन्दर्य	५२९
तह ते झति पउत्ता	१७९
तां जानीथाः परिमितकथां	१७३
तामिन्दुसुन्दरमुखीम्	५७३
तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं	६११
तारुण्यस्य विलासः	१८१
तिष्ठेत् कोपवशात्	६३२
तीर्थे तदीये गजसेतु	५९६
तीर्णे भीष्ममहोदधौ	४४२
तीव्राभिषङ्गप्रभवेण	२११
तृष्णापहारी विमलो	४८३
ते हिमालयमामन्त्र्य	५९४
त्यागः सप्तसमुद्र	२५७
त्रस्यन्ती चलशफरी	१९२
त्रिभागशेषासु निशासु	२३४
त्वया तपस्विचाण्डाल	४९३
त्वद्वाजिराजिनिर्धूत	२७१
त्वया सा शोभते तन्वी	८२९
त्वयि दृष्टे कुरङ्गाक्ष्याः	७६४
त्वयि सङ्गरसम्प्राप्ते	८३४
त्वामस्मि वच्मि विदुषां	३०२
त्वामामनन्ति प्रकृतिम्	६२४
द	
दत्ते सालसमन्थरं भुवि	१५७
दत्त्वा कटाक्षमेणाक्षी	८४०
दत्त्वाभयं सोऽतिरथो	४८६
दधद्विद्युल्लेखामिव	४४९
दन्तप्रभापुष्पचिता	७८०
दलति हृदयं गाढोद्वेगो	४४१
दलिते सत्पले एते	५८५
दशाननकिरीटेभ्यः	२९४
दानं वित्तादृतं वाचः	७५९
दासे कृतागसि भव	७२१
दिङ्मातङ्गघटाविभक्त	६३४
दिनं मे त्वयि सम्प्राप्ते	५६४
दिवमप्युपयातानाम्	८३०
दिवाकराद्रक्षति यो	६१६
दिवि वा भुवि वा	२७१
दिशि मन्दायते	२९२
दीधीवेवीङ्समः कश्चित्	६२७
दीपयन् रोदसीरन्ध्र	३२४
दीयतामर्जितं वित्तम्	८४८
दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति	१२४
दुर्गालङ्घितविग्रहो	८०
दुल्लहजणाणुराओ	४२४
दूरं समागतवति	७६०
दूरागतेन कुशलं	१८९
दृप्तारिविजये राजन् !	५६१
दृशा दग्धं मनसिजम्	६६९
दृश्येते तन्वि ! यावेतौ	४८८
दृष्टा दृष्टिमधो ददाति	१५७
दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि !	२९२
दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रय	१५३
दृष्ट्या केशवगोपराग	३२८
दृष्ट्वैकासनसंस्थिते	१६५
देवः पायादपायान्नः	८८२
देशः सोऽयमराति	५००
देहि मे वाजिनं	६००
दोर्दण्डाञ्चितचन्द्र	२९२
द्वयं गतं सम्प्रति शोच	५९०
द्वीपादन्यस्मादपि	३७३
ध	
धनिनोऽपि निरुन्मादा	८१६
धन्यः स एव तरुणो	३०२
धन्यासि या कथयसि	१६०
धन्याऽसि वैदर्भि ! गुणैः	७६२
धन्याः खलु वने वाताः	७९२
धम्मिल्लमर्धमुक्तं	१९१
धम्मिल्लस्य न कस्य	५७१
धम्मिल्ले नवमल्लिका	२९४

विषय	पृष्ठाङ्क
धवलयति शिशिररोचिषि	६१२
धातुमत्तां गिरिर्धत्ते	५७५
धिन्वन्त्यमूनि मदमूर्च्छद	३१६
धीरो वरो नरो याति	५८१
धुनोति चासिम्	८५२
धृतायुधो यावदहं	२१३
न	
न खलु वयममुष्य दान	१७५
न च मेऽवगच्छति	१६९
न चेह जीवितः	३०९
न तज्जलं यन्न सुचारु	८३५
न तथा भूषयत्यङ्गम्	२१४
न धत्ते शिरसा गङ्गाम्	८०४
न ब्रूते परुषां गिरं	१८३
नमयन्तु शिरांसि	८४८
न मे शमयिता कोऽपि	५७४
नयनज्योतिषा भाति	६१७
नयनुगासेचनकम्	८१९
नवजलधरः सन्नद्धोऽयम्	५६८
नवनखपदमङ्गं	२४१
नवपलाशपलाशवनम्	६७३
नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणना	१४९
नाभिप्रभिन्नाम्बुरुहासनेन	८७२
नाशयन्तो घनध्वान्तं	५८७
नाहं रक्षो न भूतो	४४३
निजनयनप्रतिबिम्बैः	६५१
निरर्थकं जन्म गतं	७७६
निर्म्माणकौशलं धातुः	७२१
निर्वाणवैरदहनाः	२७८
निर्वीर्यं गुरुशापभाषित	४८६
निःशेषच्युतचन्दनं	८८
निसर्गसौरभोद्भ्रान्त	७८०
निश्वासान्ध इवादर्शः	२८३
निहताशेषकौरव्यः	४३८
नीतानामाकुलीभावम्	६७८
नेत्रे खञ्जनगञ्जने सरसिज	१५९
नेत्रैरिवोत्पलैः	७०८
नेदं नभोमण्डलमम्बु	७३५
नो चाटु श्रवणं कृतं न च	१७१
न्यक्कारो ह्ययमेव मे	५

विषय	पृष्ठाङ्क
प	
पणअकुविआणँ दोण्हवि	२३९
पद्मोदयदिनाधीशः	७१७
पन्थिअ ण एत्थ सत्थर	२८९
पन्थिअ पिआसिओ	१९६
परापकारनिरतैः	८०३
परिषदियमृषीणां	४२९
परिस्फुरन्मीनविघ	२२०
परिहरति रतिं मतिं	६१३
पर्वतभेदिपवित्रं जैत्रम्	६२२
पल्लवोपमिति साम्य	१८७
पल्लवाकृतिरक्तोष्ठी	५८१
पश्यन्त्यसंख्यपथगां	३०६
पश्यामि शोक	४९२
पश्येत् कश्चिच्चल चपल रे !	८७९
पाणिः पल्लवपेलवः	५७६
पाणिरोधमविरोधित	१८६
पाण्डवानां सभामध्ये	६९१
पाण्डु क्षामं वदनं हृदयं	२३५
पादाघातादशोकस्ते	६०५
पादाहतं यदुत्थाय	७८९
पान्तु वो जलदश्यामाः	७१७
पारे जलं नीरनिधेरपश्यन्	७४९
पुण्या ब्राह्मणजातिरन्वय	४६५
पुंस्त्वादपि प्रविच	७९२
पूरिते रोदसी ध्वानैः	६३०
पूर्यन्तां सलिलेन	४४३
पृथुकार्त्तस्वरपात्रम्	६२१
पृथ्वि ! स्थिरा भव	७११
प्रज्वलज्जलधारावत्	६१५
प्रणमत्युन्नतिहेतोः	८२०
प्रणयिसखीसलील	२१०
प्रतिकूलतामुपगते	६७४
प्रधानैकत्वं विधेयंत्र	५६६
प्रयाणे तव राजेन्द्र !	७६१
प्रवर्त्तयन् क्रियाः साध्वीः	७७८
प्रविद्धं यद्वैरं मम खलु	४१
प्रससार शनैर्वायुः	५६१
प्रसाधय पुरीं लङ्कां	४७०
प्रसाधिकालम्बितमग्र	१९१
प्रथमं नखैः कृतं	२४१

विषय	पृष्ठाङ्क
प्रागेव हरिणाक्षीणाम्	७५५
प्राणप्रयाणदुःखार्त्तं	४९९
प्राणेशेन प्रहितनखरे	२१८
प्रातिभं त्रिसरकेण गतानां	२०९
प्रासावेकरथारूढौ पृच्छन्तौ	४३६
प्रायश्चित्तं चरिष्यामि	२१५
प्रायेणैव हि दृश्यन्ते	४७९
प्रिय इति गोपवधूभिः	७३२
प्रियजीवितताक्रौर्य	५२९
प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः	२३३
प्रोज्ज्वलज्ज्वलनज्वाला	५८५
ब	
बलमार्त्तभयोपशान्तये	८४३
बलावलेपादधुनापि	७६०
बालअ ! णाहं दूदी	८१०
बाले ! नाथ ! विमुञ्च	१६३
बृहत्सहायः कार्यान्तम्	७९९
ब्राह्मणातिक्रमत्यागो	३२५
भ	
भक्तिर्भवे न विभवे	८४३
भग्नं भीमेन भवतो	३८८
भम धम्मिअ वीसत्थो	२८४
भल्लापवर्जितैस्तेषाम्	७०७
भातिकर्णावतंसस्ते	६३१
भाति पद्मः सरोवरे	५६२
भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग	६०२
भिक्षो ! मांसनिषेवणं	५२४
भिसिणीअलसअणीए	२३५
भुक्तिमुक्तिकृदेकान्त	३०४
भुजङ्गकुण्डलीव्यक्त	६६६
भुजलतां जडतामबलाजनः	६७३
भूतयेऽस्तु भवानीशः	५६५
भूमौ क्षिप्तं शरीरं	४४६
भूयः परिभवक्लान्ति	४२०
भो लङ्केश्वर ! दीयतां	२५८
भ्रातर्द्विरेफ भवता	२१७
भ्रूभङ्गे रचितेऽपि दृष्टि	२४०
म	
मखशतपरिपूतं	४४१
मञ्जुलमणिमञ्जीरे	६७५
मत्वा लोकमदातारं	४८४
मथ्नामि कौरवशतं	३२३
मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे	२७
मधुपानप्रवृत्तास्ते	८७८
मधुरः सुधावदधरः	६३६
मधुरया मधुबोधित	६६१
मधुरवचनैः सभ्रूभङ्गैः	१६१
मध्यं तव सरोजाक्षि !	७३०
मध्यस्य प्रथिमानमेति	१५७
मध्येन तनुमध्या मे	८५५
मनः प्रकृत्यैव चलं	४३२
मनोजराजस्य सितातपत्रं	७१८
मन्थायस्तार्णवाम्भः	६६३
मन्दं हसन्तः पुलकं	६७०
मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायः	७४९
मया नाम जितं	४२६
मयि सकपटं किंचित्क्वापि	२१८
मर्हदे सुरसन्धम्मे	६७९
मल्लिकाचितधम्मिल्लाः	८५९
मल्लिकामुकुले चण्डि !	२९६
मल्लीमतल्लीषु वनान्तरेषु	२७५
महिलासहस्सभरिए	२९६
मा गर्वमुद्वह कपोलतले	१८९
मातः किमप्यसदृश	४९७
मानं मा कुरु तन्वङ्गि !	६१२
मानमस्या निराकर्त्तुम्	८५४
मानोन्नतां प्रणयिनां	३२१
मामाकाशप्रणिहितभुजं	२१२
मारमा सुषमा चारु	६८८
मुक्तोत्करः शङ्कटशुक्ति	७४९
मुखं चन्द्र इवाभाति	६१८
मुखं तव कुरङ्गाक्षि !	७२४
मुखमिन्दुर्यथा पाणिः	६९७
मुखमेणीदृशो भाति	७४१
मुग्धा दुग्धधिया	७३०
मुञ्च मानं हि मानिनि !	५७७
मुनिर्जयति योगीन्द्रः	८६७
मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं	३१२
मुहुरुपहसितामिवा	१७५
मूर्द्धन्याधूयमान	६२२
मृगरूपं परित्यज्य	४९१
मृणालव्यालवलया	१८४

विषय	पृष्ठाङ्क
मृत्कुम्भवालुकारन्ध्र	२०५
म्रियते म्रियमाणे या	४९४
य	
यः कौमारहरः स एव	१४
यः स ते नयनानन्दकरः	५७२
यं सर्वशैलाः परिकल्प्य	७७३
यत्र ते पतति सुभ्रु!	५६६
यत्र पतत्यबलानां दृष्टिः	८०६
यत्रोन्मदानां प्रमदाजनानां	३३१
यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति	८०२
यत्सत्यव्रतभङ्ग	४१८
यथारुचि यथार्थित्वं	७३२
यदाह धात्र्या प्रथमोदितं	२६७
यदि मय्यर्पिता दृष्टिः	५८२
यदि समरमपास्य	५००
यदि स्यान्मण्डले	७५५
यदेतच्चन्द्रान्तर्जलद	७५२
यद्यद्विरहदुःखं मे	५७४
यद्वीर्यं कूर्मराजस्य	४८४
यद्वञ्चतमिव	४८१
यमुनाशम्बरमम्बरम्	५६४
ययातेरिव शर्मिष्ठा	४९०
ययोरारोपितस्तारः	८३९
यशसि प्रसरति भवतः	७०५
यशोऽधिगन्तुं सुखलि	५९४
यस्य न सविधे दयिता	६७१
यस्यालीयत शल्कसीम्नि	२७
यां विनामीवृथा प्राणा	५८८
या जयश्रीर्मनोजस्य	५८७
याम: सुन्दरि! याहि	२४४
यासां सत्यपि सद्गुणा	१८५
यान्ति नीलनिचोलिन्यः	६७७
यावदर्थपदां वाचम्	७५९
युक्तः कलाभिस्तमसां विवृद्ध्यै	६२४
युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः	८२८
युष्माकं कुरुतां भवार्त्तिशमनम्	८४८
युष्मान् ह्रेपयति क्रोधाल्लोके	४१७
येन ध्वस्तमनोभवेन	६७९
ये[illegible]	७८५
यो[illegible]	६६८
योगेन दलिताशयः	५६२
यो यः शस्त्रं बिभर्ति	४३२
र	
रक्तोत्फुल्लविशाललोल	२७५
रक्षांस्यपि पुरःस्थातुम्	५६६
रजनीषु विमलभानोः	२९४
रञ्जिता नु विविधास्तरु	७५१
रतिकेलिकलः किञ्चित्	४८८
रतिलीलाश्रमं भिन्ते	५८२
रथ्यान्तश्चरतस्तथा	२६३
रमणे चरणप्रान्ते	५९८
राजते मृगलोचना	७०५
राजनारायणं लक्ष्मीः	८८८
राजन्! राजसुता	७९७
राजानः सुतनिर्विशेष	४५१
राजीवमिव राजीवम्	७११
राज्यं च वसु देहश्च	२५८
राज्ये सारं वसुधा	८३६
राममन्मथशरेण ताडिता	२१४
रामो मूर्ध्नि निधाय	३७३
रावणस्यापि रामास्तः	७४२
रावणावग्रहक्लान्तम्	७१९
रोलम्बाः परिपूरयन्तु	२३६
ल	
लङ्केश्वरस्य भवने	३८०
लक्ष्मणेन समं रामः	७७४
लक्ष्मीवक्षोजकस्तूरी	८५८
लग्नं रागावृताङ्ग्या	६१०
लज्जापज्जत्तपसाहणाइ	१५६
लताकुञ्जं गुञ्ज	६४५
लतेव राजसे तन्वि!	६१८
लाङ्गूलेनाभिहत्य	८६५
लाक्षागृहानलविषान्न	४१५
लावण्यं तदसौ कान्ति	३०२
लावण्यमधुभिः पूर्णम्	७२०
लिम्पतीव तमोऽङ्गानि	७४६
लीलागतैरपि तरङ्गयतो	४३४
व	
वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैः	८६३
वत्सस्य मे प्रकृति	४९६

विषय	पृष्ठाङ्क
वदनं मृगशावाक्ष्याः	७०२
वदनमिदं न सरोजम्	७३८
वदनाम्बुजमेणाक्ष्या	८८८
वनेऽखिलकलासक्ताः	८७४
वनेचराणां वनितासखा	७२७
वर्ण्यते किं महासेनः	५७६
वर्षत्येतदहर्पतिर्न तु	९०१
वल्लभोरुसङ्गसङ्गेन	८१९
वसन्तलेखैकनिबद्धभावं	७६४
वाचमुवाच कौत्सः	५८२
वाणीरकुडङ्गुड्डीणसउणि	३२७
वाप्यो भवन्ति विमलाः	८३५
वारिजेनेव सरसी	७०९
वासवासामुखे भाति	५८६
विकसन्नेत्रनीलाब्जे	६७७
विकसितसहकार भार	५८३
विकसितमुखीं रागा	७७८
विकासिनीलोत्पल	७४९
विचरन्ति विलासिन्यः	८३८
विदधे मधुपश्रेणीमिह	७२४
विदूरे केयूरे कुरु	१७३
विधवति मुखाब्जमस्याः	७०३
विनयति सुदृशो दृशोः	२४१
विना जलदकालेन	७३५
विपिने क्व जटानिबन्धनं	२५४
विपुलेन सागरशयस्य	८२५
विभाति मृगशावाक्षी	५१४
विमल एव रविर्विशदः	७६२
विरहे तव तन्वङ्गी	८११
विराजति व्योमवपुः	८३५
विललाप स बाष्पगद्गदम्	८४६
विलोकनेनैव तवामुना	२७१
विलोक्य वितते व्योम्नि	५९९
विवृण्वती शैलसुतापि	१७९
विषयस्यानुपादाने	७५३
विसृज सुन्दरि !	४५९
विसृष्टरागादधरान्निवर्तितः	८३९
वीक्षितुं न क्षमा श्वश्रूः	८४४
वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं	३७१
वृद्धोऽन्धः पतिरेषमञ्चक	२०७

विषय	पृष्ठाङ्क
व्यतिक्रमलवं कं मे	५९२
व्यपोहितुं लोचनतो	१९२
व्यवहारोऽथवा तत्त्व	७८३
व्याजस्तुतिस्तव पयोद !	७९५
व्याधूय यद्वसनम्	७७७
श	
शठान्यस्याः	१४४
शशिनमुपगतेयम्	८२६
शशी दिवसधूसरः	८५१
शिरीषमृद्वी गिरिषु	७१४
शिखरिणि क्व नु नाम	२९५
शिरसि धृतसुरापगे	३७०
शिरामुखैः स्यन्दत	२५८
शीतांशुर्मुखमुत्पले	४३४
शुश्रूषस्व गुरून् कुरु	४८२
शून्यं वासगृहं	२६
शूरा अमरतां यान्ति	५६१
शेफालिकां विदलितां	२३६
शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजा	८६४
शोणं वीक्ष्य मुखं	१४३
श्रवणैः पेयमनेकैः	३६७
श्राद्धभोजनशीलो हि	५६९
श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः	४२७
श्रीहर्षो निपुणः कविः	३७४
श्रुतं कृतधियां स	८३३
श्रुताप्सरोगीतिरपि	१५४
श्रुत्वा यान्तं बहिः	१८८
श्वासान् मुञ्चति भूतले	१९०
स	
संकेतकालमनसं	९०
संधौ सर्वस्वहरणं	३२६
संगमविरहविकल्पे	७३१
संग्रामे निहताः शूराः	५७६
संततमुषलासङ्गात्	८१८
स एकस्त्रीणि जयति	८१६
स एव सुरभिः कालः	१७८
सकलकलं पुरमेतत्	६८३
सज्जनो दुर्गतौ मग्नः	९०६
सज्जेहि सुरहिमासो	२९३
सतीमपि ज्ञातिकुलैक	४९६

विषय	पृष्ठाङ्क
सत्पक्षा मधुरगिराः	६८६
सदा चरति खे भानुः	६०२
सदाशिवं नौमि	[illegible]
सदैव शोणोत्पलकुण्डलस्य	८५९
सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रम्	८२४
सद्यः पुरीपरिसरेऽपि	[illegible]
सद्यो मुण्डितमत्तहूण	६५५
सद्वंशसम्भवः शुद्धः	४७६
सममेव नराधिपेन सा	७७४
सममेव समाक्रान्तम्	७५५
समय एव करोति	५९०
समाश्लिष्टाः समाश्लेषैः	१८२
समीक्ष्य पुत्रस्य चिरात्	२२१
सम्प्रति सन्ध्यासमयः	६२८
सरसिजमनुविद्धं शैवले	१८२
सरागया स्रुतघनघर्मं	६३६
सरोविकसिताम्भोजम्	८३५
सर्वक्षितिभृतां	५२२
सर्वस्वं हर सर्वस्य	६७८
स वः शशिकलामौलिः	५७३
सहकारः सदामोदः	७९१
सह कुमुदकदम्बः	७७४
स हत्वा वालिनं वीरः	५७३
सहभृत्यगणं सबान्धवं	४८४
सहसा विजनैः स्निग्धः	६१६
सहसा विदधीत	६०४
सह्याधरदलेनास्या	७५४
सान्द्रानन्दमनन्त	५४७
सा पत्युः प्रथमापराध	१५८
सा बाला वयमप्रगल्भमनसः	८२२
सायं स्नानमुपासितं	३०५
सार्थकानर्थकपदं	२१५
सार्धं मनोरथशतैः	१६३
सुचरणविनिविष्टैः	६५०
सुतनु ! जहिहि कोपं	२७६
सुधेव विमलश्चन्द्रः	६१८
सुनयने नयने निधेहि	६२५
सुभग ! त्वत्कथारम्भे	१८७
सुभगे ! कोटिसंख्यत्वमुपेत्य	२९५
सूचीमुखेन सकृदेव	६४८
सूर्याचन्द्रमसौ यस्य	४८७
सैषा स्थली यत्र	७४३
सौजन्याम्बुमरुस्थली	७२५
सौरभमम्भोरुहवत्	६९५
स्तनयुगमुक्ताभरणाः	७९५
स्तोकेनोन्नतिमायाति	६८२
स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु	८३८
स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता	१४२
स्निग्धश्यामलकान्ति	७०
स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः	७९६
स्मरशरशतविधुरायाः	८१०
स्मरार्त्यन्धः कदा लप्स्ये	५७०
स्मितेनोपायनं दूरात्	७२६
स्मेरं विधाय नयनम्	७०८
स्मेरराजीवनयने	६७१
स्रगियं यदि जीवितापहा	६७१
स्वपिहि त्वं समीपे मे	६००
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनविधौ	५६६
स्वच्छाम्भः स्नपनविधौ	१८५
स्वामिन् भंगुरयालकं	१६१
स्वामी निःश्वसिते	१६६
स्वामी मुग्धतरो वनं	२७३
स्वेच्छोपजातविषयोपि	६८३
ह	
हंसश्चन्द्र इवाभाति	७६०
हंहो धीर समीर ! हन्त जननम्	८५०
हते जरति गाङ्गेये	४८८
हनूमदाद्यैर्यशसा मया	७७२
हन्त ! सततमेतस्याः	५८४
हन्त सान्द्रेण रागेण	८६१
हन्त हन्त गतः कान्तः	६२५
हन्तुमेव प्रवृत्तस्य	६०१
हरन्ति हृदयं यूनाम्	६००
हरवन्नीलकण्ठोऽयम्	६१५
हरस्तु किञ्चित्	२७१
हसति परितोषरहितं	४८१
हा पूर्णचन्द्रमुखि !	४४२
हारोऽयं हरिणाक्षीणाम्	८४६
हितान्न यः संशृणुते	५९६
हिममुक्तचन्द्र	२९८
हीरकाणां निधेरस्य	६०७
हृदि विसलताहारः	७३८

कतिपय परीक्षोपयोगी प्रकाशन

रसगङ्गाधरः । आचार्य बदरीनाथ कृत 'चन्द्रिका' संस्कृत टीका आचार्य मदनमोहन झा कृत हिन्दी टीका सहित । १-३ भाग सम्पूर्ण
प्रथमाननपर्यन्त : प्रथम भाग
द्वितीयानन का उत्प्रेक्षानिरूपणान्त : द्वितीय भाग
अतिशयोक्त्यलङ्कारादिसमाप्तिपर्यन्त : तृतीय भाग

दशरूपकम् । धनिककृत 'अवलोक' संस्कृत टीका एवं डॉ० भोलाशंकर व्यास कृत 'चन्द्रकला' हिन्दी टीका सहित

काव्यमीमांसा । 'प्रकाश' हिन्दी टीका सहित । डॉ० गङ्गासागर राय

काव्यालङ्कारः । रुद्रट । नमिसाधु कृत संस्कृत टिप्पण सविमर्श 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या सहित । श्री रामदेव शुक्ल

अलङ्कारानुशीलन । डॉ० राजवंशसहाय 'हीरा'

अलङ्कारशास्त्र की परम्परा । डॉ० राजवंशसहाय 'हीरा'

अलङ्कार मीमांसा । डॉ० राजवंशसहाय 'हीरा'

कौटिलीय-अर्थशास्त्रम् । हिन्दीव्याख्योपेतम् । वाचस्पति गैरोला

अलङ्कार-सार-मञ्जरी । सान्वय परीक्षोपयोगि हिन्दी व्याख्या सहित म० म० पण्डितराज श्री गोपालशास्त्री 'दर्शनकेशरी'

काव्यमीमांसा । परीक्षोपयोगि संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकार—पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी । १–५ अध्याय ३–५

नैषधीयचरितम् । 'चन्द्रकला' सं० हि० व्याख्या । शेषराजशर्मा । १-९ सर्ग २५–००

स्वप्नवासवदत्तं । 'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या । शेषराजशर्मा रेग्मी: ६–००

भट्टिमहाकाव्यम् । 'काव्यमर्मविमर्शिका' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम् । द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण । म० म० श्रीगोपालशास्त्री 'दर्शनकेशरी'
प्रथम भाग ७–०० द्वितीय भाग ८–००, तृतीय भाग ८–००

निरुक्त । १–७ अध्याय । विवेचनात्मक विस्तृत हिन्दी व्याख्या, भूमिकादि सहित । व्याख्याकार—प्रो० उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि' १६–००

पुराणपर्यालोचनम् । डॉ० श्रीकृष्णमणित्रिपाठी । प्रथम : विवेचनात्मक भाग [illegible]
द्वितीय : सर्गात्मक भाग [illegible]

भक्तिरत्नावली । डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी १५–००

काव्यप्रकाशः । 'शशिकला' हिन्दी व्याख्या । डॉ० सत्यव्रत सिंह २५–००

कुवलयानन्दः । 'अलङ्कारसुरभि' हिन्दी व्याख्या । डॉ० भोलाशंकरव्यास २०–००

साहित्यदर्पणम् । 'शशिकला' हिन्दी व्याख्या । डॉ० सत्यव्रत सिंह
१–६ परिच्छेद २२–५० ७–१० परिच्छेद १२–५० सम्पूर्ण ३५–००

ध्वन्यालोकः । अभिनवगुप्त कृत 'लोचन' संस्कृत टीका एवं आचार्य जगन्नाथ पाठक कृत 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या । प्र० उद्योत १०–०० सम्पूर्ण ३५–००

सर्वविध पुस्तक प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा विद्याभवन, चौक, पो० बा० नं० ६९, वाराणसी–२२१००१